विश्व
का
भौतिक
इतिहास

(द्वितीय भाग)

इतिहास समिति प्रकाशन-५

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(द्वितीय भाग)

केवली व पूर्वधर-खण्ड

लेखक एव निर्देशक

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक मण्डल

पं० रत्न मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी महाराज
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
पं० शशिकान्त झा
डॉ० नरेन्द्र भानावत
प्रेमराज बोगावत
गजसिंह राठोड़, न्याय-व्याकरण-तीर्थ
(मुख्य-सम्पादक)

प्रकाशक

जैन इतिहास समिति

जयपुर (राजस्थान)

समर्पण

पुण्ये शताब्दि-सु-महे तव पंचविंशे,

श्री वर्द्धमान ! जिननाथ ! समर्पयामि ।

जैनेतिहासकुसुमस्तबकं द्वितीयम्,

ते हस्तिमल्लमुनिपोऽहमतीव भक्त्या ॥

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय

विश्वबंधु भगवान् महावीर के २५००वे निर्वाण महोत्सव के परम पावन ऐतिहासिक पर्व के अवसर पर धर्म एव इतिहास के प्रति अभिरुचि, प्रेम अथवा श्रद्धा रखने वाले जिज्ञासु पाठकवृन्द के कर-कमलों मे जैन इतिहास ग्रन्थमाला का यह पाँचवा पुष्प – "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, द्वितीय भाग" प्रस्तुत करते हुए हमे असीम आनन्द, परम संतोष एव गौरव का अनुभव हो रहा है।

विगत अनेक वर्षो से एक सर्वागसंपूर्ण शृंखलाबद्ध जैन इतिहास का अभाव जैन जगत् मे तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था। उस अभाव की पूर्ति का भार इस युग के महान् मनीषि जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा ने अपने दृढ एव सबल कन्धों पर उठाया। आपने इस महान् कार्य को सम्पन्न करने हेतु सुदूरस्थ प्रदेशों में उग्र विहार कर जैन सस्कृति के निधि-स्वरूप अनेक हस्तलिखित ग्रन्थागारो – ज्ञानभण्डारो से विपुल ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित की। इन कर्मठ-योगी ने धर्माचार्य के अपने दैनिक कर्त्तव्यो के निर्वहन के साथ-साथ एक के बाद एक ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की। आप श्री की ही सद्-प्रेरणा से गठित इस जैन इतिहास समिति ने उन इतिहास ग्रन्थों का प्रकाशन सन् १९६९–७० से प्रारम्भ किया।

इतिहास समिति इस अवधि मे आचार्यश्री द्वारा प्रणीत क्रमशः (१) पट्टावली प्रबन्ध सग्रह, (२) आचार्य चरितावली, (३) जैन धर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम भाग), तीर्थंकर खण्ड और (४) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर (तीर्थंकर खण्ड का ही अतिम अंश) – इन चार ग्रन्थों का प्रकाशन कर उन्हे विज्ञ एवं श्रद्धालु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर चुकी है। इतिहास समिति के सामान्यत. उपर्युक्त सभी प्रकाशनो तथा विशेषत· मौलिक इतिहास के प्रथम भाग का जो समाज द्वारा हार्दिक अभिनन्दन एवं विद्वानो द्वारा सार्वत्रिक स्वागत किया गया (देखे परिशिष्ट), उससे हमारा उत्साह बढा है। इतिहास समिति इसके लिए अपने को गौरवान्वित भी अनुभव करती है।

आचार्यश्री ने जैन इतिहास के इस महान् ऐतिहासिक कार्य को सम्पन्न करने की दिशा मे जो भागीरथ-प्रयास किया है, उसके लिये समाज आपका चिर-ऋणी रहेगा। "मौलिक इतिहास" के इस "द्वितीय भाग" को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते समय हम यह अनुभव करते है कि इतिहास समिति ने अपने कन्धो पर जिस प्रकाशन कार्य का गुरुतर भार उठाया था, उसका आचार्यश्री के अनन्य अनुग्रह एव आप सभी महानुभावो के आर्थिक एवं हार्दिक सहयोग से अब

अनुमानत: आधा भार हल्का हो चुका है। कुलकर-काल एव प्रथम तीर्थंकर ऋषभ-देव से प्रारम्भ कर अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर तक का इतिहास प्रथम भाग मे और वीर निर्वाण स० १ से १००० तक के काल का इतिहास इस द्वितीय भाग मे दिया जा चुका है। डेढ हजार वर्ष का इतिहास तीसरे और चौथे भाग मे प्रकाशित करना शेष रहा है। इस प्रकार अब केवल आधा भार ही अवशिष्ट रहा है। हमे आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि यह अवशिष्ट आधा भार भी आचार्यश्री की कृपा तथा आप सभी सहृदय समाजसेवियो के सहयोग से शीघ्र ही दिव्य, सुरभित-सुमनवत् सुखद एव सुवाह्य हो जायगा।

अगाध कृपासिन्धु आचार्य देव ने जैन जगत् की इस बहुत बडी कमी को पूरा करने के अपने दृढ सकल्प के पश्चात् यत्र-तत्र बिखरी ऐतिहासिक सामग्री के सकलन मे, इतिहास की टूटी कडियो को जोडने और प्रथम भाग की प्रामाणिक आधारो पर सरचना मे कितना बडा बौद्धिक एव शारीरिक श्रम किया, इसका थोडा-सा दिग्दर्शन – "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग" के प्रकाशकीय तथा संपादकीय मे कराया जा चुका है। द्वितीय भाग को सर्वांगपूर्ण एव प्रामाणिक बनाने मे भी श्रद्धेय आचार्यश्री को उससे कही अधिक श्रम करना पडा है। इतिहास के इन दोनों भागो के अध्ययन से ऐसा आभास होता है कि आचार्यश्री की वाणी की तरह लेखनी में भी अद्भुत चमत्कार है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इतिहास जैसे नीरस एव जटिल विषय का भी बडी ही सरस, सरल और लालित्यपूर्ण भाषा मे निरूपण करते हुए आचार्यश्री ने जिस सहज, सुन्दर रचना-शैली को अपनाया है, उसे समतल भूमि मे सहज प्रवाह से बहती हुई कलकलनिनादिनी, सर्वजनमन, मुदमगल-प्रदायिनी सुरसरिता से उपमित करने हेतु प्रत्येक पाठक का मन सहज ही व्यग्र हो उठता है। प्रावाहिक एव प्रासादिक भाषा मे वर्णित इस ग्रन्थ के सुसबद्ध, सुसस्कृत एव सुपरिमित प्रामाणिक विवरणों को पढते-पढते इतिहास को शुष्क विषय समझने वाले पाठको की धारणा अनायास ही बदल जाती है। वस्तुत आचार्यश्री की लेखनी के इसी प्रसाद-गुण के कारण इस पुस्तक को एक बार हाथ मे लेने के पश्चात् पाठक का मन छोडने को नही होता।

प्रस्तुत ग्रन्थ की अपनी अनेक विशेषताएँ है। इसमे जहाँ एक ओर वीर निर्वाण सम्वत् १ से १००० तक की अवधि मे हुए प्रभावक आचार्यो, युग प्रधानाचार्यो, श्रमण-श्रमणिश्रेष्ठो, धर्म के प्रहरी श्रावक-श्राविकाओ के अनुकरणीय आदर्श जीवनवृत्त के साथ-साथ एक हजार वर्ष का जैन धर्म का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है, वहाँ दूसरी ओर धर्म के विकास अथवा ह्रास से बहुत कुछ सन्निकट का सम्बन्ध रखने वाली तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियो के सचालक राजवशो, विदेशी आक्रान्ताओ, मातृभूमि की स्वतत्रता के लिये जूझने वाले देशभक्तो का भी यथाप्रसग सक्षिप्त पर शृंखलाबद्ध इतिहास दिया गया है। इस सुप्रयास मे भारतीय इतिहास के कतिपय अधकाराच्छन्न तथ्य भी प्रकाश मे आये है। इस ग्रन्थ मे, प्रगति के इच्छुक प्रत्येक कोटि के साधक, समाजसेवी, सद्गृहस्थ

एवं देशभक्त के लिये इस प्रकार की विपुल सामग्री विधिवत् निहित है, जिससे प्रेरणा लेकर प्रत्येक पाठक यथारुचि यथेप्सित सफलता प्राप्त करने में इस ग्रन्थराज से लाभान्वित हो सकता है।

इतिहास समिति आज जिस तत्परता के साथ ऐसे उपयोगी ग्रथो के प्रकाशन कार्य मे सफल हो रही है, उसका बहुत बड़ा श्रेय समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष न्यायमूर्ति स्वर्गीय श्री इन्द्रनाथजी मोदी और समिति के भूतपूर्व मत्री स्वर्गीय श्री सोहनमलजी कोठारी को है, जिन्होंने समाजसेवा की उत्कट भावना से अनवरत प्रयास कर समिति को सक्षम एव स्वावलम्बी बनाने मे अपनी ओर से किसी प्रकार की कोई कोर-कसर नही रखी। स्वर्गीय श्री कोठारी तो वस्तुतः इतिहास समिति एव आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार के प्राण ही थे। श्री कोठारी का सुगौर, सुडौल, भव्य व्यक्तित्व, सस्मित प्रसन्न वदन, वचन माधुरी, स्नेहिल व्यवहार एवं अह से अछूता स्वाभिमान यदा-कदा स्मृति-पटल पर उभर कर प्रत्येक परिचित को व्यग्र कर देता है। हमारी प्राचीन सस्कृति का प्रतीक, अध्यात्मविद्या का अक्षय भण्डार "आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार" (शोध प्रतिष्ठान), जिस पर सम्पूर्ण समाज को गर्व है, वह स्वर्गीय श्रीसोहनमलजी कोठारी की निस्वार्थ समाज सेवा, सच्ची लगन और पक्की धुन की ही देन है। जब तक जैन इतिहास समिति और आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार सही दिशा बोध के साथ-साथ समाज में आध्यात्मिक आलोक का प्रचार-प्रसार करते रहेगे, तब तक इनके साथ श्री कोठारी का नाम भी अमर रहेगा एव जैन समाज इन दोनो समाज सेवियों का ऋणी रहेगा। इतिहास समिति के सभी माननीय सदस्यों की ओर से हम स्वर्गीय श्री मोदीजी तथा कोठारी जी के प्रति निस्सीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हे भावभरी श्रद्धाजलि समर्पित करते है।

जिन-धर्म प्रेमी महानुभावों ने आर्थिक सहायता प्रदान कर इस गुरुतर कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने मे समिति को सक्षम बनाया है, हम उन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करते है। उनकी सूची इसी ग्रथ के परिशिष्ट में दी जा रही है। हम इस भगीरथ कार्य मे विशिष्ट आर्थिक सहयोग देने एवं जुटाने वाले महानुभाव सर्वश्री श्रीचन्दजी गोलेछा, सोहननाथजी मोदी, पूनमचन्दजी बडेर, नथमलजी टीकमचन्दजी हीरावत एव उमरावमलजी सेठ के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए पूर्ण आशान्वित है कि भविष्य में भी इसी उत्साह से आप सब का सहयोग हमे यथापूर्व मिलता रहेगा।

हम दिल्ली के प्रसिद्ध समाजसेवी सेठ श्री मणिलालजी डोसी के प्रति भी आन्तरिक आभार प्रकट करते है, जिनसे केवल हमारी इतिहास समिति ही नही, अपितु सम्यग्ज्ञान का प्रचार प्रसार करने वाली अन्य समाजसेवी सस्थाओ को भी सदा पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा है। श्रीमान् डोसीजी मूलतः मारवाड़ के निवासी हैं। आपकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही है कि आप विना किसी भेद-भाव के सभी समाजसेवी संस्थाओं को समान रूप से सहयोग प्रदान करते रहते है।

पूर्ण विश्वास है कि इतिहास के तीसरे और चौथे भाग के प्रकाशन मे भी आपका उदार सहयोग हमे इसी तरह प्राप्त होता रहेगा।

हम सम्पादक मण्डल के सभी सम्माननीय सदस्यो – प० मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म० सा०, श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प० शशिकान्त झा, डॉ० नरेन्द्र भानावत, श्री प्रेमराज बोगावत और मुख्य सम्पादक श्री गजसिंह राठोड के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते है। साथ ही ग्रन्थ के प्रकाशन एव उसकी सर्वांग-सुन्दर छपाई के कार्य मे जयपुर प्रिण्टर्स के सचालक श्री सोहनलालजी जैन व प्रेस के अन्य अधिकारियो एव कार्यकर्त्ताओ विशेषत सर्वश्री सूरजप्रकाशजी शर्मा, प्रकाशचंद्रजी गोयल, राधेश्यामजी, मूलचंदजी, दौलतरामजी, नीलारामजी एव कवरलालजी का पूर्ण सहयोग रहा, अत हम समिति की ओर से उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते है।

अन्त मे हम आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमलजी म० साहब के प्रति प्रगाढ निष्ठा एव श्रद्धा भक्ति के साथ अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जो धर्म की अभिवृद्धि के अन्यान्य अनेक ठोस कार्यो के साथ-साथ इतिहास लेखन के इस महान् कार्य के द्वारा समाज पर असीम उपकार करने मे निरत हैं।

इन्द्रचन्द्र हीरावत — अध्यक्ष
चन्द्रराज सिघवी — मत्री

जैन इतिहास समिति

धुन के कर्मठ धनी

इतिहास समिति के प्राण

स्वर्गीय श्री सोहनमलजी कोठारी

जन्म १६ अगस्त, १६१८ निधन २६ मई, १६७३

आचार्यश्री की सद्प्रेरणासे अनुप्राणित होकर अपने अनथक प्रयास से जैन जगत् को "आचार्यश्री विनयचद्र ज्ञान भण्डार" एव "जैन इतिहास" रूपी दो अक्षय निधिया उपलब्ध कराने मे जिनका अनुपम योगदान रहा एव जिनकी धर्म, साहित्य एव सस्कृति के क्षेत्र मे की गई अपूर्व सेवाए भावी पीढी को अनुप्राणित करती रहेगी।

सम्पादकीय

प्रात' स्मरणीय आचार्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज की स्वनामधन्य एवं सुविख्यात सम्प्रदाय के यशस्वी विद्वान् आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब द्वारा लिखित – "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक ग्रन्थमाला के प्रथम भाग की तरह द्वितीय भाग के सम्पादक मण्डल में भी मेरा नाम सम्मिलित कर मुझे जो सम्मान प्रदान किया गया है, उसके लिये मै आचार्य श्री के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस युग के उच्च कोटि के विद्वान्, प्रमुख इतिहासज्ञ एव आगमनिष्णात आचार्य की कृति के सम्पादन में अन्य किसी व्यक्ति को वस्तुतः विशेष श्रम करने की आवश्यकता नही रहती। सम्पादकमण्डल मे पाच लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की विद्यमानता मे मेरा श्रम कितना स्वल्प रहा होगा, इसका पाठक सहज ही अनुमान लगा सकते है।

इतना सब कुछ होते हुए भी वर्तमान युग के अकारणकरूणाकर महर्षि ने असीम अनुग्रह कर मुझ जैसे अकिचन व्यक्ति को इस परम महत्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य सौपा, तो मेरा पुनीत कर्त्तव्य हो गया कि मैं पूर्ण निष्ठा के साथ अपने सामर्थ्यानुसार पूरी शक्ति लगा कर इस ग्रन्थरत्न को अधिकाधिक, सर्वांग सुन्दर, सर्व साधारण के लिये सुगम और शोधकर्त्ताओं के लिये समुपादेय बनाने का प्रयास करू। इस सब के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुरूप ही अध्ययन की आवश्यकता थी, जिसका मुझ मे नितान्त अभाव था। लगभग ३५ वर्ष पहले, विद्यार्थी जीवन मे किये गये कुछ आगमिक अध्ययन का जो धुधला रेखाचित्र स्मृति पटल पर अकित था, वह प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के सम्पादनकाल मे थोडा उभर चुका था। उसी के वल पर सम्पादन एवं प्रगाढ प्रसुप्त स्वान्त करण के जागरण – इन दोनों ही कार्यो के लिये समान रूप से परमोपयोगी आगम तथा आगमेतर साहित्य के अध्ययन का क्रम वढाया। मैं कृतज्ञ हूँ आचार्य श्री विनय चन्द्र ज्ञानभण्डार के भूतपूर्व मत्री स्व० श्री सोहनमलजी कोठारी, वर्तमान अध्यक्ष श्री श्रीचन्दजी गोलेछा और पुस्तकालयाध्यक्ष श्री मोतीलालजी गांधी का, जिन्होने मुझे विशाल ज्ञानभण्डार के उपयोग की पूर्ण सुविधा प्रदान करने के साथ-साथ आवश्यकतानुसार मांग करते ही तत्काल सैकडों सन्दर्भ ग्रन्थ उपलब्ध करवाये।

इस अध्ययन से प्रत्यक्ष – परोक्ष अनेक लाभ हुए। सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे आचार्य श्री द्वारा जिन ऐतिहासिक तथ्यो का प्रमाण पुरस्सर प्रतिपादन किया गया था, उन्हे आगमिक, आर्ष, आप्त एव प्राचीन मूल ग्रन्थों के एकाधिक उद्धरणो को आवश्यकतानुसार टिप्पण अथवा मूल मे देकर

पुष्ट किया गया । दूसरा लाभ यह हुआ कि इतिहास की अनेक जटिल गुत्थियो को सुलझाने, अनेक भ्रान्त धारणाओ के निराकरण, विवादास्पद विषयो का निर्णयात्मक निष्कर्ष निकालने तथा अनेक स्थलो पर – इतिहास की टूटी कडियो के सधान मे इस तुलनात्मक अध्ययन से वडी सहायता मिली । किसी उलझी हुई ऐतिहासिक गुत्थी पर उत्कट चिन्तन की अवस्था मे "परोक्षप्रिया वे देवा" इस तथ्य की भी अनुभूति हुई । अत उस अचिन्त्य शक्ति के प्रति भी अपना आन्तरिक आभार प्रकट करता हूँ ।

"श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद" के सचालक प० श्री दलसुखभाई मालवणिया ने "तित्थोगालिय पइण्णा", भद्रेश्वरसूरी की "कहावली" जैसे अलभ्य ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियो को पढने एव उनके महत्वपूर्ण स्थलो को लिख लेने की सुविधा प्रदान की, उसके लिये मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ । श्री मालवणिया साहव व भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर मे कार्य करने वाले अधिकारियो का सुमधुर स्नेह, सौहार्द और सहयोग मेरे हृदयपटल पर सदा अंकित रहेगा । "तित्थोगालिय पइण्णा" वस्तुत. कतिपय महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यो के प्रतिपादन मे प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य श्री के लिये वडी सहायक सिद्ध हुई ।

लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ एव आगमवेत्ता वयोवृद्ध विद्वान् मुनि श्री कल्याण-विजयजी म सा ने अप्राप्य ग्रन्थ "हिमवन्त स्थविरावली" की हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि करने की सुविधा प्रदान कर एव अपना प्रेरणा प्रदायी आत्मवृत्त सुना तथा दिशानिर्देश कर मुझे अनुप्राणित किया, उस उपकार के प्रति अपने अन्तर के उद्गार प्रकट करने मे मैं उसी प्रकार असमर्थ हूँ जिस प्रकार कि प्रथम वार गुड का रसास्वादन करनेवाला गूगा गुड का स्वाद वताने में । एक अजैन कुल मे उत्पन्न हुआ शिशु सुयोग और सुससर्ग पाकर कितना वडा धर्म-प्रभावक वन सकता है, इस तथ्य के साक्षात् दर्शन कर आह्लाद के साथ-साथ अतर मे एक अदम्य द्वन्द्व आन्दोलित हो उठा । कितना साम्य था हमारे प्रारम्भिक जीवन का । सम्भवत दोनो के किशोरवय के भोले निश्छल मानस मे समान अध्ययन के फल-स्वरूप बहुत कुछ कर गुजरने की एक समान ही उमगे उठी होगी । पर "गहना कर्मणो गति" इस शाश्वत सत्य को चरितार्थ करती हुई एक ओर वे उमगे दृढ सकल्प के सहारे अनुकूल वातावरण मे उत्तरोत्तर फली-फूली और सुरतरु का स्वरूप धारण कर गई । दूसरी ओर सच्ची लगन के अभाव मे मेरे कच्चे हृदय मे उठी उसी तरह की उमगे प्रतिकूल वातावरण की प्रचण्ड अग्नि मे जलभुन कर राख वन गई । सव कुछ प्राप्त करके भी मै अति कटीला वौना ववूल ही वना रहा । भयावह आत्मग्लानि से कराह उठा अन्तर –

> त्वत्त सुदुष्प्राप्यमिद मयाप्त, रत्नत्रय भूरिभवभ्रमेण ।
> प्रमादनिद्रावशतो गत तद्, कस्याग्रतो नायक ! पूत्करोमि ।।

अन्तर मे धुकधुकाती त्रिविध ताप की भट्टी पश्चात्ताप के पानी से कुछ

शान्त हुई। सोचा इतिहास की अतिस्थूल परतो के नीचे न मालूम कितने असंख्य मुझ से अभागो के इतिवृत्त दबे पडे होगे, जो अमोघ वीतराग-वाणी की वीचियों से शोभायमान सुधासागर के तट पर पहुँच कर भी निपट प्यासे ही रह गये।

मैं अपने अध्यापक प० हीरालालजी शास्त्री (ब्यावर) के प्रति भी श्रद्धा-सिक्त आभार प्रदर्शित करता हूँ। पडित सा० ने दिगम्बर परम्परा के हस्तलिखित एव मुद्रित अनेक ग्रन्थ प्रदान करने के साथ-साथ मार्गदर्शन एव दिगम्बर परम्परा के विद्वानों से परिचय करवाया, जिससे मुझे अपने कार्य में बडी सफलता मिली।

मैं हैरत में हूँ कि श्रीमान् दरबारीलालजी कोठिया के प्रति किन शब्दों में आभार प्रकट करू। प० हीरालालजी और कोठियाजी मे मैने एक अनूठी आत्मीयता देखी। "नन्दीसघ-प्राकृतपट्टावली" में वर्णित अगधारी आचार्यो के विवादास्पद काल, नाम आदि के सम्बन्ध मे मुझे यथाशक्य अधिकाधिक सामग्री एकत्रित करनी थी। श्री कोठियाजी ने स्व० श्री नेमिचन्दजी, ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित निर्वाणोत्तर काल की आचार्य परम्परा विषयक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि और दिगम्बर परम्परा की १७ पट्टावलिया मुझे प्रदान की। मुद्रणाधीन पुस्तक की पाण्डुलिपि उसी विषय के एक अपरिचित शोधार्थी को दिखा देने की उदारता कोठियाजी जैसे असाधारण सौजन्य के धनी ही कर सकते है। कोठियाजी ने मुझे एक अनन्य आत्मीय तुल्य सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के तृतीय एव चतुर्थ भाग के लिये उपयोगी उन १७ पट्टावलियो की मैने प्रतिलिपि कर ली पर २५०० पृष्ठ की पाण्डुलिपि मे से मैने केवल ६०–७० पृष्ठ ही पढ़े। स्वर्गीय प० नेमिचन्दजी ने निर्वाणोत्तर काल की आचार्य परम्परा का बहुमूल्य पानीदार शीशे में क्रमश: प्रतिबिम्बित होने वाले मनमोहक दृश्यो की तरह सजीव चित्रण किया था। पुस्तक बड़ी रोचक थी किन्तु मै जिस वस्तु की खोज में था, वह उसमें नही थी अत. पाण्डुलिपि का जितना भाग मेरे पास आया था, न उसे ही पूरा पढा और न अवशिष्ट अश कोठियाजी के आग्रह के उपरान्त भी लिया ही।

मै जैन परम्परा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्री अगरचन्दजी नाहटा का भी बडा आभारी हूँ कि उन्होने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से ३ दिन का समय निकाल कर प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के प्रारूप को सुना और अनेक उपयोगी सुझाव दिये।

मै अपने सहपाठी श्रेष्ठिवर श्री आनन्दराज मेहता, न्याय व्याकरणतीर्थ एवं बालसखा श्री प्रेमराज बोगावत, व्याकरणतीर्थ के सौहार्द को कभी नहीं भुला सकता। मेरे इन दोनो मित्रों ने ठडी, मीठी और उत्साहवर्द्धक वाक्चातुरी से समय २ पर मेरा उत्साह बढाकर मुझे अकर्मण्य होने से बचाया।

प्रस्तुत ग्रन्थ और इसके विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन मे श्रद्धेय आचार्यश्री ने वीर निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष के जैन इतिहास पर इतना विशद रूप से प्रकाश

डाला है कि अब इस सम्बन्ध मे मेरे जैसे व्यक्ति के लिये एक शब्द भी कहने अथवा लिखने की आवश्यकता नही रह जाती। तथापि जैन इतिहास के इन दो बडे ग्रन्थो के सम्पादनकाल मे सनातन, जैन और बौद्ध, इन भारत की तीन महान् सस्कृतियो के आर्ष एव आर्षेतर साहित्य तथा भारत के सार्वभौम इतिहास ग्रन्थो का अध्ययन तथा तुलनात्मक चिन्तन-मनन करते समय मुझे जो अनुभूतिया हुई है उन्हे केवल अपनी व्यक्तिगत मान्यताओ के रूप मे यहा इस दृष्टि से प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि सभवत वे समष्टि के लिये न सही, कतिपय नवीन विचारको के लिये उपयोगी सिद्ध हो।

१ हमारा देश आर्यावर्त विगत अचिन्त्य लम्बे अतीत मे आध्यात्मिक एव सार्वजनीन हित साधक ऐहिक ज्ञान का केन्द्र रहा है। एक ही धरातल पर फली-फूली सनातन, जैन एव बौद्ध आदि सस्कृतियो के धर्म एव इतर विषयो के ग्रन्थो मे इन तीनो सस्कृतियो के अनेक तथ्य सपृक्त रूप मे निहित है। जहा तक इतिहास जैसे जटिल एव विस्तीर्ण विषय का प्रश्न है, कतिपय अशो मे इन तीनो सस्कृतियो का साहित्य परस्पर एक दूसरे की कमियो का पूरक है। उदाहरण स्वरूप शिशु-नागवश और नदवश का पूरा एव वास्तविक इतिहास इन तीनो परम्पराओ के ग्रन्थो मे वर्णित एतद्विषयक उल्लेखो के तुलनात्मक अध्ययन और उनमे से सार भूत पूरक तथ्यो को ग्रहण करने से ही पूरा होता है। इन तीनो मे से किसी एक को ही आधार मान लेने पर भारत के इन दो प्रमुख राजवशो का इतिहास अधूरा ही नही अपितु पर्याप्त रूपेण भ्रामक ही रह जाता है।

इसी प्रकार हमारे देश आर्यावर्त का नाम भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर 'भारत' पडा, इस तथ्य की निष्पक्ष एव सर्वमान्य साक्षी सनातन परम्परा के पुराणो से ही उपलब्ध होती है।

वाराणसी पर इक्ष्वाकु-राजवश का कब मे किस समय तक राज्य रहा और भगवान् पार्श्वनाथ के पिता महाराज अश्वसेन के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् वाराणसी पर किस प्रकार शिशुनागवश का आधिपत्य हुआ, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख जैन परम्परा के ग्रन्थो मे नही है। सनातन परम्परा के पुराणो मे इस विषय के स्रोत बीज रूप मे उपलब्ध होते है, जिनसे एतद्विषयक प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने मे बडी सहायता मिलती है।

इसी प्रकार जहा तक अहिसा एव अपरिग्रह जैसे विश्वकल्याण-मूलक महान् सिद्धान्तो का प्रश्न है, महाभारत के शान्तिपर्व मे वर्णित अहिसा विषयक उपरिचर वसु और तुलाधार तथा अपरिग्रह विषयक उञ्छवृत्ति के आख्यान इस तथ्य को प्रमाणित करते है कि जैन परम्परा की तरह सनातन परम्परा मे भी अहिसा एव अपरिग्रह आदि महान् सिद्धान्तो का बहुत बडा महत्व रहा है।

इन तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे धर्म, सस्कृति अथवा किसी पुरातन घटनाचक्र का इतिहास लिखते समय विद्वान् लेखक प्रमुखत इन तीनो सस्कृतियो के ग्रन्थो का

निष्पक्ष दृष्टि से तुलनात्मक एवं तलस्पर्शी अध्ययन करे, तभी वह इतिहास प्रामाणिक, सर्वागसुन्दर एवं समष्टि के लिये उपयोगी तथा उपादेय होगा। भारतीय इतिहास पर नवीन शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखने वाले विद्वान् लेखको के लिये तो इस प्रक्रिया को अपनाना परमावश्यक हो जाता है। इन तीनो परम्पराओ के ऐतिहासिक स्रोतो का इतिहासविदो द्वारा समान रूप से उपयोग न किये जाने के कारण आज जितने भारतीय इतिहास उपलब्ध है, उनमे से अधिकाश को सर्वागपूर्ण इतिहास की सज्ञा नही दी जा सकती।

२. आचार्यश्री ने जिस प्रकार जैन काल-गणना को ६० वर्ष पीछे की ओर धकेलने वाली शताब्दियो पुरानी एक भ्रांत मान्यता का सदा के लिए अत किया है, उसी प्रकार के निष्पक्ष एव ठोस प्रमाणो द्वारा दो-तीन बडी महत्वपूर्ण समस्याओ का समाधान परमावश्यक है। समस्याएं बडी ही जटिल है, अतः उनको सुलझाने के लिए आज स्व० श्री नाथूराम प्रेमी के समान शोधप्रिय, अध्ययनशील एव पूर्वाग्रहो से मुक्त निष्पक्ष चिन्तकों की तथा सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। पीढियो से वैदिक परम्परा के गहरे रग मे रगे हुए वैदिक परपरा के उद्भट आचार्य गौतम आदि ११ गणधर वीर प्रभु की वाणी द्वारा सत्य का बोध होते ही तत्काल निःसकोच अपनी परम्परागत आस्थाओ-मान्यताओ का पूर्णतः परित्याग कर सत्य को आत्मसात् कर लेते है, तो सहस्राब्दियो से उन्ही के अनुयायी कहलाने वाले विद्वानो के लिए सत्य की खोज मे निष्पक्ष दृष्टि से सामूहिक प्रयास करना कोई कठिन कार्य नही।

पहली और सबसे जटिल समस्या हमारे समक्ष यह है कि आर्य जम्बू के पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यो की नामावली मे भेद क्यो है? चार आचार्यो के पश्चात् पाचवे श्रुतकेवली भद्रबाहु का नाम दोनो परपराओ मे पुनः किस कारण सर्वमान्य हो गया? भद्रबाहु के पश्चात् पुनः नदी की दो बिछुड़ी हुई, कभी न मिलने वाली दो भिन्न धाराओ की तरह दो पृथक् धाराएं किस कारण चल पड़ी? वास्तव मे अब एक दूसरे पर दोषारोपण करने वाली ये निस्सार बाते सुनने के लिए कोई तैयार नही कि —

> "अमुक परम्परा के साधु नग्न रहते थे, पोथी-पन्ना उनके पास था नही, इसलिए वे अपनी परम्परा के इतिहास को सुरक्षित नही रख सके — कालान्तर मे जैसा मन मे आया वैसा लिख दिया" अथवा "अमुक परंपरा के साधु दुष्काली मे ढीले पड गये, अर्द्धफालक-डडा-पात्र धारण कर गृहस्थो से भीख माग कर उनके घरो मे बैठकर खाने लग गये। फिर तो शिथिलाचार मे मजा आ गया, गुरु ने ज्यादा कहा तो उनकी खोपड़ी पर लट्ठ का प्रहार कर गुरुहत्या कर दी।"

कोटि कोटि काचन मुद्राओं और कनकलता सी कामिनी के प्रलोभन से तिल मात्र भी नही डिगने वाले, भीषण दुष्काल के समय विद्यापिण्ड के उपभोग की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझने वाले ५०० शिष्यो के साथ सथारा एवं समाधिपूर्वक

पण्डितमरण का वरण करने वाले आर्य वज्रस्वामी आदि के दशपूर्वधर पूर्वाचार्यों के लिए इस प्रकार की बात कहना विश्वबन्धु महावीर के अनुयायियो के लिए किसी भी दशा मे शोभाजनक नही हो सकता ।

भगवान् महावीर की २५वी निर्वाण शताब्दी के इस पावन-प्रसग पर इन सब थोथी बातो को गहन गर्त मे फैंक कर वास्तविक तथ्यो की खोज करना प्रत्येक जैन विद्वान् का पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है । तिलोयपण्णत्तीकार और पुन्नाट सघीय विद्वान् आचार्य जिनसेन से लेकर पश्चाद्वर्ती सभी बडे-बडे दिगम्बराचार्यो ने जम्बूस्वामी के पश्चात् विष्णु और भद्रबाहु के पश्चात् विशाखाचार्य से आचार्यो की पट्टावली प्रारम्भ की है । दिगम्बर परम्परा के वीरसेन, इन्द्रनन्दी, जम्बूदीव प्रज्ञप्तिकार आचार्यो ने गौतम से लेकर अतिम अगधर लोहार्य तक जो आचार्यो की नामावली दी है, उसे आचार्य परम्परा की पट्टावली के नाम से अभिहित न कर, उसका श्रुतावतार की परम्परा के नाम से उल्लेख किया है । इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आचार्यो की श्रुतावतार परम्परा और पट्टधर आचार्य-परम्परा परस्पर दो भिन्न-भिन्न परम्पराएँ है । यदि भिन्न है तो पट्टानुक्रम से आचार्य परम्परा की पट्टावली कौन-सी है और कहा है ? पट्टानुक्रम की अन्य पट्टावली के अभाव मे यही मानना श्रेयस्कर है कि यह श्रुतावतार परम्परा की नामावली ही आचार्य परम्परा की पट्टावली है । जहा तक मुझे याद पडता है मेरी जिज्ञासा के उत्तर मे दिगम्बर परम्परा के एक माने हुए विद्वान् ने इसे श्रुतावतार पट्टावली ही बताया था । पर वस्तुत यह श्रुतावतार पट्टावली ही पट्टधर पट्टावली होनी चाहिए । अन्यथा अनेक इस प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होगी, जिनका निराकरण किसी प्रकार सभव नही ।

श्वेताम्बर परम्परा की दो मुख्य स्थविरावलिया है – एक तो कल्पसूत्र के अत मे दी हुई स्थविरावली और दूसरी नदीसूत्र के प्रारम्भिक मगल पाठ मे दी हुई वाचक-परम्परा की पट्टावली । मथुरा के ककाली टीले से निकले आयागपट्टो, मूर्तियो, स्तम्भो आदि पर उट्टकित शिलालेखो से कल्पस्थविरावली और नन्दीस्थविरावली की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है । इसी प्रकार के प्रामाणिक उल्लेखो की खोज चतुर्दश पूर्वधर आचार्य विष्णु से लेकर अतिम अगधर लोहाचार्य के सम्बन्ध मे करने की महती आवश्यकता है । श्रवणबेलगोल, पार्श्वनाथ बसति के कुछ शिलालेखो मे विष्णु आदि आचार्यो के उल्लेख है पर वह अपूर्ण, कतिपय अशो मे परस्पर विरोधी और पर्याप्त पश्चाद्वर्ती काल के है ।

इन सब विवादास्पद प्रश्नो का कोई सर्वमान्य हल आज उपलब्ध समस्त जैन वाङ्मय मे कही दृष्टिगोचर नही होता । यदि यापनीय सघ के यापनीय – तन्त्र तथा साहित्य की सामूहिक रूप से खोज की जाय और उस सघ के आचार्यो की कोई पट्टावली खोज निकाली जाय तो उस निष्पक्ष साक्ष्य के आधार पर इस प्रकार की अनेक समस्याओ को हल करने मे बडी सहायता मिल सकती है । ऐसा लगता है कि यापनीय सघ का जो विपुल एव महत्त्वपूर्ण साहित्य था, उसका

पर्याप्त अश दक्षिणी लिपियों में कही न कहीं अवश्य अन्धकार में पड़ा हुआ है । आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस दिशा मे प्रयास करेगे तो अवश्य सफलता प्राप्त होगी ।

३. एकादशागी की विद्यमानता अथवा विच्छेद के सम्बन्ध मे भी निष्पक्ष दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है । जहा एक ओर श्वेताम्बर परम्परा की यह दृढ मान्यता एव आस्था है कि एकादशागी का कतिपय अशो मे ह्रास तो हुआ है पर वह विच्छिन्न नही हुई है, तो दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थो मे इस प्रकार की मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि वीर नि० स० ६८३ मे अतिम आचारागधर लोहाचार्य के स्वर्गस्थ होने के साथ ही एकादशागी का विच्छेद हो गया । इन दोनो परम्पराओ से भिन्न जैनसघ की तीसरी परम्परा – यापनीय सघ के 'ग्रन्थ भगवती आराधना' एव 'विजयोदया टीका' मे एकादशागी की विद्यमानता के स्पष्ट उल्लेख आज भी उपलब्ध है । ऐसी स्थिति मे एकादशागी की विद्यमानता विषयक श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता का पक्ष भारी पडता है ।

तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रणेता उच्चनागर शाखोद्भव वाचक[1] उमास्वाति (स्व० प्रेमीजी की मान्यतानुसार वीर नि० की दशवी शताब्दी) ने इस सूत्र पर निर्मित स्वोपज्ञ भाष्य की प्रशस्ति मे एकादशागी की विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख किया है :–

वाचकमुख्यस्य शिवश्रिय प्रकाशयशस प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशागविद ।।१।।
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्न· प्रथितकीर्ते· ।।२।।
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे-कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनाघ्र्यम् ।।३।।
अर्हद्वचन गुरुक्रमेणागत समुपधार्य ।
दु खार्त च दुरागमविहतमति लोकमवलोक्य ।।४।।
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकंपया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ।।५।।
यस्तत्त्वाधिगमाख्य ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाध सुखाख्यं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ।।६।।

अर्थात् – यशस्वी वाचकश्रेष्ठ शिवश्री के प्रशिष्य, एकादशागधर घोषनन्दिक्षमण के शिष्य, वाचना (विद्या) दान की दृष्टि से महावाचक मुण्डपादक्षमण के प्रशिष्य तथा कीर्तिशाली मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य, पिता स्वाति एवं माता वात्सी के पुत्र, न्यग्रोधिका मे उत्पन्न (जन्म ग्रहण करने वाले)

---

[1] वाचको हि पूर्ववित्···· [तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य की सिद्धसेनीया टीका, अ० ६, सूत्र ६]

कौभीपरिणगोत्रीय, उच्चनागर शाखा के वाचक उमास्वाति ने पाटलीपुत्र में विचरण करते समय लोगो को दु खो से त्रस्त एव दुरागमो से हतबुद्धि देख गुरु परम्परा से प्राप्त अर्हद्वचनो को समीचीनतया अवधारण कर अनुकम्पापूर्वक इस तत्त्वार्थाधिगम नामक स्पष्ट शास्त्र की रचना की। जो व्यक्ति इस तत्त्वार्थाधिगम को हृदयगम कर इसके अनुसार आचरण करेगा, वह शीघ्र ही अव्याबाध सुख, मोक्ष को प्राप्त करेगा।

उच्चनागर शाखा श्वेताम्बर सघ के आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से प्रचलित कोटिक गण की एक अतिप्रसिद्ध शाखा थी, यह तो अब सर्वसम्मत तथ्य के रूप मे सिद्ध हो चुका है। इसके साथ ही साथ वाचकमुख्य, महावाचक, क्षमण और वाचक शब्द श्वेताम्बर परम्परा के पूर्वधर आचार्यों के लिये प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थो मे प्रयुक्त किये हुए मिलते है। दिगम्बर परम्परा के आचार्यो के लिये इन शब्दो का प्रयोग कही दृष्टिगोचर नही होता। धवला मे आर्य मगू और आर्य नागहस्ती के लिये 'खमासमण' और महावाचक शब्दो का प्रयोग किया गया है।[1] वे दोनो आचार्य भी श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य प्रतीत होते है क्योकि दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय मे खोजने पर भी किसी पट्टावली अथवा ग्रन्थ मे ये दो नाम नही मिलते।

उमास्वाति ने अपने शिक्षा गुरु आचार्य मूल के लिये 'वाचकाचार्य' तथा प्रगुरु मुण्डपाद क्षमण के लिये महावाचक शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वाचक उमास्वाति तथा उनके शिक्षा-गुरु वाचकाचार्य मूल एक पूर्व के ज्ञाता थे और वाचकाचार्य मूल के गुरु महावाचक मुण्डपाद एक से अधिक पूर्वो के ज्ञाता। धवलाकार द्वारा एकाधिक पूर्व के ज्ञाता आर्य मखु (मगु) के लिये प्रयुक्त महावाचक विशेषण से भी मेरे इस अनुमान की पुष्टि होती है।

इन सब उल्लेखो पर तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि उमास्वाति दिगम्बर आचार्य नही थे। स्वर्गीय प्रेमीजी ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य सूत्र पाठ मे – 'एकादशजिने'[2] 'दशाष्टपचद्वादशविकल्पा कल्पोपपन्नपर्यन्ता'[3] और 'पुलाकबकुश' 'सयमश्रुत'[4] आदि सूत्रो को दिगम्बर परम्परा की मान्यताओ से विपरीत, एव श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य मे उल्लिखित ७ बातो को श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओ के प्रतिकूल बता कर

---

[1] (क) महावाचयाणमज्जमखुसमणाणमुवदेसेण लोगे पुण्णे आउअसम करेदि।
[षट्खडागम, भा० १६, पृ० ५१८]

(ख) कम्मट्ठिदित्ति अणियोगदारम्हि भण्णमाणे वे उवएसा होति ..अज्जणागहत्थि खमासमणा भणति। अज्ज मखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदि सचिद सतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदि परूवणेति भणति [वही]

[2] तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, अ० ६, [3] वही अ० ४ [4] वही अ० ६

तथा तत्त्वार्थाधिगम के स्वोपज्ञ भाष्य के ४ उल्लेखों की यापनीय आचार्य शिवार्य द्वारा रचित भगवती आराधना तथा यापनीय आचार्य अपराजित द्वारा रचित भगवती आराधना की विजयोदया टीका में किये गये उल्लेखो से समानता बताते हुए[1] यह संभावना प्रकट की है तत्त्वार्थाधिगम सूत्र एव इसके स्वोपज्ञ भाष्य के निर्माता वाचक उमास्वाति यापनीय आचार्य हो सकते है ।[2]

स्वर्गीय प्रेमीजी की इस सभावना पर विचार करने से पहले इस तथ्य को ध्यान मे रखना सब विद्वानों के लिये आवश्यक हो जाता है कि वीर निर्वाण सम्वत् २९१ मे आर्य सुहस्ती के स्वर्गस्थ होने के कुछ ही वर्षो के पश्चात् उनके पट्टधर शिष्य गणाचार्य आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध से कोटिक गण और उच्चनागरी शाखा का प्रादुर्भाव हुआ । यह श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद से ३०० वर्ष से भी पूर्व की घटना है । मथुरा के ककाली टीले से निकले कुषाणकालीन १० शिलालेखो मे उच्चनागरी शाखा का उल्लेख है । ये लेख कनिष्क स० ५ से ९८ (शालिवाहन शाक सवत्सर ५ से ९८) अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् ६१० से ७०३ तक के है ।[3] इन १० शिलालेखो मे से लेख सं० १९, २०, २२, २३, ३१, और ३५ इन ७ लेखों में स्पष्टत: कोटिक गण ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा का, लेख स० ३६ और ६४ में केवल उच्चनागरी शाखा का तथा लेख स० ७० में कोटिक गण उच्चनागरी शाखा का उल्लेख है । इन शिलालेखों से कल्पसूत्रीया स्थविरावली की प्राचीनता एव प्रामाणिकता सिद्ध होती है ।

वाचक उमास्वाति ने स्वोपज्ञ भाष्य सहित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना के समय उसकी प्रशस्ति मे स्पष्टत: अपना परिचय एकादशागविद् गुरु के शिष्य तथा उच्चनागर शाखा के वाचक के रूप मे देते हुए यह स्वीकार किया है कि गुरु परम्परा से आगत तीर्थंकर महावीर (अर्हत्) की वाणी को हृदयंगम कर इस शास्त्र की रचना की। इससे यही सिद्ध होता है कि वे कल्पस्थविरावली मे वर्णित उच्चनागरी शाखा के अर्थात् प्रभु की मूल श्रमण परम्परा के वाचनाचार्य थे । वाचनाभेद, गुरुपरम्परागत पाठभेद, स्मृतिदोष, लिपिदोष आदि अनेक कारणो से कुछ छोटे-बड़े मान्यता भेद सभव है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत एकादशागी से कितना साम्य एव सामीप्य है तथा एकादशांगी के किन-किन स्थलो से किस-किस सूत्र को लेकर तत्त्वार्थाधिगम के सूत्रों की रचना की गई है, इस पर स्वर्गीय आचार्य आत्मारामजी महाराज, आचार्य घासीलालजी म० आदि विशद प्रकाश डाल चुके है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र का एकादशागी के विभिन्न प्राकृत सूत्रों से साम्य भी इस अनुमान को बल देता है कि उमास्वाति महावीर स्वामी की मूल श्रमण परम्परा के ही आचार्य थे ।

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास (श्री नाथूराम प्रेमी), पृ० ५३४ से ५४०

[2] जैन साहित्य और इतिहास, पृ ५३३

[3] जैन शिला लेख सग्रह भाग २, पृ १८-४७

एक बडे महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर मै विचारको का ध्यान दिलाना चाहता हूँ जिससे यह प्रमाणित होता है कि उमास्वाति जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा के आचार्य नही थे, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आचार्य भी नही थे । तत्त्वार्थाधिगम के अष्टम अध्याय के अन्तिम सूत्र – "सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्" – की व्याख्या करते हुए आचार्य सिद्धसेन गणि ने अपनी तत्त्वार्थ टीका मे लिखा है –

"कर्मप्रकृतिग्रन्थानुसारिणस्तु द्वाचत्वारिंशत्प्रकृती पुण्या कथयन्ति ।...... आसा च मध्ये सम्यक्त्वहास्यरति पुरुषवेदा न सन्त्येवेति कोऽभिप्रायो भाष्यकृत को वा कर्मप्रकृतिग्रन्थप्रणयिनामिति सम्प्रदायविच्छेदान्मया तावन्न व्यज्ञायीति ।"

अर्थात् "कर्म-प्रकृति ग्रन्थ का अनुसरण करने वाले जिन ४२ प्रकृतियो को पुण्यरूप मानते है, उनमे सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद का उल्लेख नही है । सम्प्रदाय के लुप्त हो जाने के कारण मै नही कह सकता कि इस प्रकार के भिन्न कथन मे भाष्यकार का अभिप्राय क्या था और कर्मप्रकृतिग्रन्थकारो का क्या ।"

सिद्धसेन के उपर्युक्त कथन मे 'सम्प्रदायविच्छेदात्' पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । सिद्धसेन के इस कथन से यही प्रकट होता है कि उमास्वाति जिस सम्प्रदाय, जिस उच्चनागरी शाखा के महाश्रमण थे, वह सम्प्रदाय सिद्धसेन के समय से पूर्व ही नष्ट हो चुका था । उस सम्प्रदाय की मान्यताओ का विश्लेषण – विशद व्याख्यान करने वाला कोई उनके समय मे अवशिष्ट नही रहा था ।

यदि वाचक उमास्वाति यापनीय सघ के होते तो सिद्धसेन सम्प्रदाय-विच्छेद की बात कदापि नही लिखते । क्योकि उनसे लगभग ७००-८०० वर्ष पश्चात् तक यापनीय सघ की विद्यमानता अनेक प्रमाणो से और स्वय प्रेमीजी के अभिमत से प्रमाणित होती है । प्रेमीजी की मान्यतानुसार सिद्धसेन गणि का समय विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दी[1] और यापनीयो की विद्यमानता का समय विक्रम की १५वी-१६वी शताब्दी[2] है ।

उमास्वाति की तरह यापनीय आचार्य अपराजित ने भी भगवती आराधना की टीका मे अपने – "सद्वेद्य सम्यक्त्व रतिहास्यपुवेदा शुभे नाम गोत्रे शुभ चायु पुण्य, एतेभ्योऽन्यानि पापानि ।"[3] – इस कथन द्वारा सम्यक्त्व, रति, हास्य और पुरुषवेद को पुण्य रूप माना है – यदि इस आधार पर वाचक उमास्वाति को यापनीय मान लिया जाय तो फिर सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद देवनदी को दिगवर परम्परा के आचार्य मानने मे वाधा उपस्थित की जायगी । क्योकि पूज्यपाद ने भी अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' मे, तथासम्भावित यापनीय उमास्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगम स्वोपज्ञभाष्य' मे वर्णित पुलाक, वकुश, कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और कषाय

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५४१

[2] वही, पृ० ५७

[3] देखिये – तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य – ६/४८, ६/४६ । सर्वार्थसिद्धि – ६/४७

कुशील – इन पांच निर्ग्रन्थ मुनियों के विवरण को, प्राय· उसी रूप मे स्थान दिया है,[१] जैसाकि दिगम्बर परम्परा के अन्य किसी ग्रथ मे नही है ।

इतना सब कुछ होते हुए भी स्व० श्री प्रेमीजी द्वारा जो सम्भावना प्रकट की गई है, उसके सम्बन्ध मे प्रामाणिक निर्णय उसी समय लिया जा सकता है जव कि हमारे सामने यापनीय संघ की कोई पट्टावली अथवा एतद्विषयक कोई साहित्य हो । इस दृष्टि से भी यापनीय सघ के साहित्य की सम्मिलित रूपेण खोज करना अत्यावश्यक हो गया है ।

४. यापनीय सघ द्वारा मान्य एकादशागी, अगबाह्य, आगम, यापनीयतंत्र, पट्टावलिया आदि आगमेतर साहित्य की वर्तमान मे अनुपलब्धि के कारण आज यापनीय सघ की ठीक वही दशा हो रही है, जो दो दलो के खेल मे गेद की । एक ओर श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथ यापनीयो की उत्पत्ति दिगम्बर सघ से बताते है तो दूसरी ओर दिगम्वर परम्परा के ग्रन्थ श्वेताम्बरो से ।[१]

तीनों परम्पराओ के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा अनुमान किया जाता है कि यापनीय सघ भी अपने आप मे पूर्ण, सुसंगठित एव स्वतन्त्र धर्मसंघ था ।

आचारांग द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पाचवे अध्ययन के वस्त्रैषणा तथा छठे अध्ययन के पात्रैषणा विषयक उद्देशको के साथ यापनीयो के उपलब्ध ग्रन्थ भगवती आराधना और उस पर अपराजितसूरि की विजयोदया टीका के तुलनात्मक अध्ययन से विद्वान् यह अनुभव करेगे कि यापनीय मुनियों का आचार सर्वथा आचारांग के निर्देशों के अनुसार ही था ।

मै विश्वास करता हूँ कि इन कतिपय तथ्यो पर विद्वान् चिन्तक निष्पक्ष दृष्टि से गवेषणा कर प्रकाश डालेगे ।

सम्पादन काल में वस्तुस्थिति के चित्रण में सजीवता लाने का प्रयास करते समय यदि कही साधुभाषा का अतिक्रमण हो गया हो तो वह मेरा दोष है । विद्वान् पाठक मेरे उस प्रमाद के लिये मुझे क्षमा करेगे ।

गर्जासिंह राठोड़,
न्याय, व्याकरण-तीर्थ,
मुख्य सम्पादक

---

[१] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ६१५-६१६

प्राक्कथन

पीठिका

जैन धर्म का मौलिक[1] इतिहास, प्रथम भाग इतिहास-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया जा चुका है। उसमे भगवान् ऋषभदेव से प्रभु महावीर तक चौवीसो तीर्थकरों के जनक, जननी, च्यवन, जन्म, गृहस्थ जीवन, अभिनिष्क्रमण, दीक्षा छद्मस्थ-जीवन, कैवल्योपलब्धि, तीर्थप्रवर्तन, केवली-चर्या, गणधर, साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका एव प्रभु द्वारा प्राणिमात्र के प्रति किये गये महान् उपकार एवं निर्वाण आदि का पावन परिचय प्रस्तुत किया जा चका है। उसे पढ कर सत-सतियो, लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो, इतिहासप्रेमियो, श्रद्धालु पाठकों एव समाज के प्राय: सभी वर्गो ने परम प्रमोद प्रकट किया है। त्रैलौक्यवन्धु तीर्थकरों के भवतापहारी इतिवृत्त को पढकर सहस्रो श्रद्धालुओं ने आध्यात्मिक आनन्द का रसास्वादन किया। इससे हम संतोष का अनुभव करते है कि हमारा परिश्रम सफल एव लक्ष्य सार्थक हुआ। हमें इस वात पर वडी प्रसन्नता हुई कि कतिपय अध्ययनशील महानुभावों ने इसे अति सूक्ष्म एवं शोधपूर्ण दृष्टि से पढकर अपनी शकाएं एव सुझाव भेजे है। इस प्रकार की शोधप्रिय रुचि वस्तुत: सराहनीय है।

प्रथम भाग मे जो विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसमे से कुल मिलाकर केवल पाच प्रसंगो के सबध मे जिज्ञासुओं द्वारा जो शकाए उठाई गई है, वे शकाए तथा उनके समाधान निम्न प्रकार है :-

प्रथम भाग के पृष्ठ ६१-३२ पर भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारण का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है - "भगवान् (ऋषभदेव) ने वैशाख शक्ला तृतीया को वर्ष-तप का पारणा किया।"

यहा यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि भगवान् ऋषभदेव ने चैत्रकृष्णा अष्टमी को वेला-तप के साथ दीक्षा ग्रहण की और दूसरे वर्ष की वैशाख शुक्ला तृतीया को श्रेयास कुमार के यहा प्रथम पारणा किया तो इस प्रकार चै. कृ. ६ से वै. शु ३ तक उनकी यह तपस्या १३ मास और १० दिन की हो गई। ऐसी स्थिति में-'सवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण' - इस गाथा के अनुसार आचार्यो ने प्रभु आदिनाथ के प्रथम तप को सवत्सर तप कहा है, वह कहां तक ठीक है? क्योकि वह तप १२ मास का नही अपितु १३ मास और १० दिन का तप था।

वस्तुत: यह कोई आज का नवीन प्रश्न नही। यह एक वहुचर्चित प्रश्न है। 'सवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण।' यह एक व्यवहार वचन

[1] मूलतो भव मौलिकम्।

मानना चाहिये। व्यवहार मे ऊपर के दिन अल्प होने के कारण गणना मे उनका उल्लेख न कर मोटे तौर पर सवत्सर तप कह दिया गया है। कल्प किरणावली मे स्पष्ट उल्लेख है कि शुद्धाहार न मिलने के कारण प्रभु की तपश्चर्या का एक वर्ष व्यतीत हो गया। फिर उस अतराय कर्म के क्षयार्थ उन्मुख होने पर प्रभु ने सावत्सरिक तप का पारण किया।[1] वसुदेव हिंडी मे भी इसी से मिलता जुलता उल्लेख किया गया है।[2] इससे भी यही प्रकट होता है कि एक वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी कुछ समय तक शुद्धाहार नही मिला।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ हरिवश पुराण मे ६ मास की अवधि के अनशन तप के साथ प्रभु के दीक्षित होने तथा ६ मास के तप की अवधि के समाप्त हो जाने के अनन्तर भी आहारदान की विधि से लोगो के अनभिज्ञ होने के कारण भिक्षाचरी के लिये भ्रमण करने पर भी छ मास तक शुद्धाहार न मिलने एव अन्ततोगत्वा श्रेयाश द्वारा इक्षुरस के दान और प्रभु के पारणक का कल्प किरणावली से मिलता-जुलता उल्लेख किया गया है। प्रभु के उस प्रथम तप की अवधि एक वर्ष से कुछ अधिक रही। इस प्रकार का स्पष्ट आभास 'हरिवश पुराण' के उल्लेख से प्रकट होता है।[3]

इन उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि प्रभु ऋषभदेव का प्रथम तप १ वर्ष से अधिक समय का रहा पर व्यवहार मे ऊपर के दिनो को गौण मान कर इसे वर्षी तप ही कहा गया है। जिस प्रकार प्रभु महावीर का केवलज्ञान काल ३० वर्ष माना जाता है परन्तु उनके ४२ वर्ष के सयमित जीवन में से १२ वर्ष और १३ पक्ष से कुछ समय छद्मस्थकाल का निकाल देने पर वस्तुत· उनके केवलज्ञान का काल २९ वर्ष और ६ मास से थोडा न्यून होता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ मे श्रेयासकुमार द्वारा भगवान् आदिनाथ का प्रथम पारणा कराये जाने के कारण पारणक दिवस अक्षयतृतीया के रूप मे पर्व माना जाता है। यद्यपि भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणक दिवस की तिथि का कही प्राचीन उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता परन्तु परम्परा से दोनो

---

[1] शुद्धाहारमलभमानस्य एक वर्ष जगाम। तदा च तस्मिन् कर्मणि क्षयाय उन्मुखे सति··· ततस्तेन भगवान् सावत्सरिकतप पारणक कृतवान्। [कल्प किरणावली, पत्र १५४(९)]

[2] भयव पियामहो निराहारो परमधिति-बल-सत्तसायरो सयभुसागरो इव थिमिओ अणाउलो सवच्छर विहरइ, पत्तो य हत्थिणउर। [वसुदेव हिंडी, प्रथमोऽश, पृ १६४]

[3] षण्मासानशनस्यान्ते, सहृतप्रतिमास्थिति।
प्रतस्थे पदविन्यासैं, क्षिति पल्लवयन्निव ।।१४२।।
तथा यथागम नाथ, षण्मासानविषण्णधी।
प्रजाभि पूज्यमान सन्, विजहार महिं क्रमात् ।।१५६।।
सम्प्राप्तोऽथ · ..···· ·········
वृत्तवृद्ध्यै विशुद्धात्मा, पाणिपात्रेण पारणम्।
समपादस्थितश्चक्रे, दर्शयन् क्रियया विधिम् ।।१८९।। [हरिवश पुराण, सर्ग ९]

सम्प्रदायों मे इस प्रकार की मान्यता प्रचलित है। शोधक इस सम्बन्ध मे कोई प्राचीन उल्लेख प्रस्तुत कर सके तो उत्तम होगा।

दूसरी शका ब्राह्मी और सुदरी के विवाह एवं दीक्षा के सम्बन्ध में उठाई गई है। परम्परागत मान्यतानुसार इन दोनों बहिनो को बालब्रह्मचारिणी माना गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में इन दोनों को स्पष्ट रूपेण अविवाहित बताया गया है। हरिवंश पुराणकार ने लिखा है कि वे दोनों कुमारिकाए अर्थात् अविवाहिता थी :-

ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे, कुमार्यौं धैर्यसगते।
प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते ॥२१७॥[1]

इसी प्रकार आदि पुराणकार ने भी ब्राह्मी के लिये राजकन्या का विशेषण प्रयुक्त कर इन दोनो बहिनो के अविवाहित होने का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है -

भरतस्यानुजा ब्राह्मी, दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनीपदमार्याणां, सा भेजे पूजितामरैः ॥१७५॥

रराज राजकन्या सा, राजहसीव सुस्वना।
दीक्षाशरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी ॥१७६॥
... . ।
सुन्दरी चात्त-निर्वेदा, तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत ॥१७७॥[2]

ब्राह्मी और सुन्दरी को हरिवंश पुराणकार ने तो 'कुमार्यौं' विशेषण के द्वारा स्पष्टरूपेण अविवाहितावस्था मे दीक्षित होना बताया है। आदि पुराणकार ने भी ब्राह्मी को राजकन्या बताया है। इससे यही सिद्ध होता है कि दोनो बहिने बालब्रह्मचारिणी थी।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में तो ब्रह्मी और सुदरी इन दोनों बहिनो के अविवाहित होने एव साथ साथ प्रव्रजित होने की मान्यता प्रचलित है। परन्तु श्वेताम्वर परम्परा के ग्रन्थों मे निम्नलिखित तीन प्रकार की विभिन्न मान्यताए उपलब्ध होती है :-

१. भगवान् ऋषभदेव के धर्म-परिवार का विवरण प्रस्तुत करते हुए कल्प सूत्र में ब्राह्मी और सुदरी का तीन लाख श्रमणियों की प्रमुख साध्वियां होने का उल्लेख किया है।[3] साथ ही श्राविका समूह की प्रमुखा सुभद्रा को बताया

---

[1] हरिवश पुराण, सर्ग ९ पृ १८३,

[2] आदि पुराण, भा १, पर्व २४

[3] उसभस्स ण अरहओ कोसलियस्स बभी सुदरिपामोक्खाणि अज्जियाण तिण्णि सयसाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया सपया होत्था। [कल्पसूत्र, सूत्र १९७ (पुण्य विजय जी)]

गया है न कि सुदरी को ।[1] कल्प सूत्र के इस उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि उन दोनो बहिनो ने तीर्थ-प्रवर्तन के समय साथ साथ दीक्षा ली ।

२ आवश्यक मलय और त्रिपष्ठिशलाका पुरुप चरित्र आदि मे दूसरी यह मान्यता उपलब्ध होती है कि भगवान् ऋपभदेव ने जिस समय धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया, उस समय ब्राह्मी प्रव्रजित हो गई । सुन्दरी भी उसी समय प्रव्रजित होना चाहती थी परन्तु भरत ने उसे यह कह कर प्रव्रजित होने से रोक दिया कि चक्रवर्ती बन जाने पर उसे (सुन्दरी को) अपनी पत्नी (स्त्रीरत्न) के पद पर स्थापित करेगा । भरत श्रावक बना और सुन्दरी श्राविका ।[2] पश्चाद्वर्ती प्राय सभी ग्रन्थकारो ने इसी मान्यता को आश्रय दिया है ।

३ तीसरी मान्यता यह प्रचलित है कि भगवान् ऋपभदेव ने श्रमण-धर्म मे दीक्षित होने से पूर्व भरत की सहोदरा ब्राह्मी का सम्बन्ध बाहुबली के साथ और बाहुबली की सहोदरा सुन्दरी का विवाह भरत के साथ कर दिया था । कैवल्योपलब्धि के पश्चात् जब प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना की तो उस समय बाहुबली की आज्ञा के ब्राह्मी श्रमणीधर्म मे प्रव्रजित हो गई । सुन्दरी भी अपनी बडी बहिन के साथ ही प्रव्रजित होना चाहती थी पर भरत ने यह कहते हुए उसे दीक्षीत होने से रोक दिया कि वह उसे चक्रवर्ती बनने पर अपना स्त्रीरत्न बनायेगा ।

वस्तुत यह तीसरे प्रकार की मान्यता 'दत्ता' शब्द का सम्यग् अर्थ न समझने के कारण उत्पन्न हुई भ्रान्त धारणा के फलस्वरूप प्रचलित हुई है । इसके पीछे कोई प्रामाणिक आधार नही है । एतद्विपयक समस्त जैन वाङ्मय के पर्यालोचन से प्रकट होता है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ मे ब्राह्मी तथा सुन्दरी के विवाह का उल्लेख नही है । यहा विवाह और वाग्दान का अतर समझना चाहिये ।

विवाह एव वाग्दान (सगाई) इन दोनो परम्पराओं के प्रचलित होने का प्रारम्भिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए आवश्यक निर्युक्ति मे निम्नलिखित रूप से उल्लेख किया गया है –

दट्ठु कय विवाह, जिणस्स लोगो वि काउमारद्धो ।
गुरुदत्तिया य कन्ना, परिणिज्जते ततो पाय ।।२२३।।[3]

---

[1] उसभस्स ण अरहओ कोसलियस्स सुभद्दापामोक्खाण समणोवासियाण, पचसयसाहस्सीओ चउपन्न च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियासपया होत्था ।

[कल्पसूत्र, सूत्र १९७ (पुण्य विजयजी)]

[2] . . तत्थ उसभसेणो नाम भरहपुत्तो पुव्वभववद्धगणहर-नामगुत्तो जायसवेगो पव्वईओ, बभी य पव्वइया । भरहो सावओ जाओ सुदरी पव्वयती भरहेण ईत्थीरयण भविस्सइ त्ति रुद्धा, सा वि साविया जाया । [आवश्यक, मलय]

[3] आवश्यक निर्युक्ति ।

आचार्य मलयगिरि ने इस गाथा की व्याख्या करते हुए आवश्यक मलयवृत्ति मे लिखा है :–

"जिनस्य भगवत ऋपभस्वामिनो कृत विवाहं दृष्ट्वा लोकोऽपि स्वापत्याना विवाह् कर्त्तुमारब्धवान् । गत विवाहद्वार । दत्ति द्वारमाह् – भगवता युगलधर्म – व्यवच्छेदाय भरतेन सह् जाता ब्राह्मी वाहुबलिने दत्ता, वाहुवलिना सह् जाता मुन्दरी भरतायेति दृष्ट्वा तत आरभ्य प्रायो लोकोऽपि कन्या पित्रादिना दत्ता सती परिणीयते इति प्रवृत्त ।"[1]

अर्थात् — ऋषभदेव का विवाह् किया गया, यह् देख कर लोगो ने अपनी अपनी सतति का विवाह करना प्रारम्भ किया । विवाह् का प्रसग समाप्त हुआ । अव दत्ति अर्थात् वाग्दान (सगाई) के प्रसग अथवा प्रक्रिया पर कहते है– भगवान् ने युगलधर्म को समाप्त करने के अभिप्राय से भरत के साथ उत्पन्न हुई अपनी पुत्री ब्राह्मी की सगाई वाहुबली के साथ तथा वाहुवली के साथ उत्पन्न हुई सुन्दरी की सगाई भरत के माथ की ।

निर्युक्तिकार एव वृत्तिकार ने विवाह् और वाग्दान इन दो भिन्न प्रथाओ के प्रारम्भ होने का जिस प्रकार पृथक् रूप से उल्लेख किया है, उससे निर्विवाद रूपेण यही सिद्ध होता है कि प्रभु ने अपनी पुत्रियो – ब्राह्मी और सुन्दरी – का केवल वाग्दान ही किया था विवाह् नही । यदि विवाह् किया होता तो वृत्तिकार "ब्राह्मी वाहुवलिने दत्ता" के स्थान पर "ब्राह्मी वाहुवलिने दत्ता परिणीता च" इस प्रकार का प्रयोग करते । वस्तुत इन दोनों वहिनो का वाग्दान ही किया गया था न कि विवाह् इसीलिये केवल 'दत्ता' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

सघदासगणि-कृत् वसुदेव हिण्डी नामक ई सन् ६०४ के आसपास की रचना मे भी 'दत्ता' शब्द का प्रयोग वाग्दान के अर्थ मे किया गया है । यथा –

एयम्मि य देस याले रुप्पिणी सिसुपालस्स दमघोससुयस्स दत्ता ।[2]

अर्थात् उस समय रुक्मिणी राजा दमघोष के पुत्र शिशुपाल को दी गई । यहा 'दत्ता' शब्द वाग्दान के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है । यह् एक निर्विवाद एव सर्वसम्मत तथ्य है कि रुक्मिणी का विवाह् श्री कृष्ण के साथ हुआ । वसुदेव हिण्डी मे इन दोनो वहिनो के विवाह् का तो दूर वाग्दान तक का उल्लेख नही किया गया है । उसमे ब्राह्मी के प्रव्रजित होने तथा श्रमणी समूह की प्रमुखा वनाये जाने का तो उल्लेख है किन्तु सुन्दरी की दीक्षा आदि के सम्बन्ध मे कोई सूचना नहीं दी गई है ।[3]

---

[1] आवश्यक मलयवृत्ति, पत्र २०० (१)

[2] वसुदेव हिंडी, प्रथमोऽश., पृ. ८०

[3] वही, पृ १६२, १६३, १८३, १८७, १८८

उक्त सब उल्लेखो को दृष्टि मे रखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् ऋषभदेव की दोनो पुत्रिया बालब्रह्मचारिणी थी। उनका केवल वाग्दान ही किया गया था, न कि विवाह।

जहा तक ब्राह्मी और सुन्दरी के एक साथ अथवा पूर्वापर क्रम से प्रव्रजित होने का प्रश्न है वहा कल्पसूत्र, आवश्यक मलय वृत्ति एव त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के उपरिचर्चित परस्पर भिन्न उल्लेखो को देखते हुए ऐसा अनुमान किया जाता है कि सघ मे इनके दीक्षाकाल को ले कर पूर्व समय मे दो प्रकार की परम्पराए प्रचलित थी। एक परम्परा दोनो बहिनो का साथ-साथ दीक्षित होना मानती थी। दूसरी परम्परा ब्राह्मी की दीक्षा के अनन्तर बडे लम्बे व्यवधान के पश्चात् सुन्दरी द्वारा दीक्षा ग्रहण किया जाना मानती थी।

तीसरी शका उपस्थित की गई है – चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार के स्वर्गगमन के सम्बन्ध मे। प्रस्तुत ग्रन्थ-माला के भाग १, पृष्ठ १९३ पर चक्रवर्ती सनत्कुमार के लिये उल्लेख किया गया है कि वह तीसरे सनत्कुमार देवलोक मे उत्पन्न हुआ। सैद्धान्तिक परम्परा मे सनत्कुमार चक्री का मोक्षगमन माना गया है। वस्तुत प्रथम भाग मे इस प्रकार का उल्लेख टीकाकार अभयदेव सूरि कृत स्थानाग की टीका[1] और आचार्य हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर किया गया है।

स्थानाग सूत्र मे चार प्रकार की अत-क्रियाओ का जो सोदाहरण विवरण दिया गया है, उसका साराश इस प्रकार है –

प्रथम – अल्पकर्म-प्रत्यया अत-क्रिया, जिसमे भरत की तरह अल्प तप, अल्प वेदना और दीर्घ पर्याय से सिद्ध होना।

दूसरी – महाकर्म प्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमे गज सुकुमाल की तरह तथा प्रकार के तप और वेदना के साथ निरुद्ध पर्याय से अल्प काल मे ही सिद्धि प्राप्त करना।

तीसरी – वही महाकर्मप्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमे सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह दीर्घकालीन तप, रोग के कारण दीर्घकालीन दारुण वेदना के साथ दीर्घ पर्याय से सिद्ध होना।

चौथी – अल्पकर्मप्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमे भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी के समान तथाविध तप वेदना और सयम ग्रहण करते ही निरुद्ध पर्याय से सिद्धि प्राप्त कर लेना।[2]

---

[1] यथासौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती स हि महातपा महावेदनश्च सरोगत्वात् दीर्घ-पर्यायेण च सिद्धस्तद्भवे सिद्धयभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति।
[स्थानाग, ठाणा ४, टीका-अभयदेव सूरि (राय धनपत सिंह प्रकाशन) भाग १, पत्र १९९]

[2] स्थानाग, ठाणा ४

जिस रूप में इन चारों अन्त-क्रियाओं का वर्णन स्थानांग सूत्र में किया गया है, उसे देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि इन सभी अंत-क्रियाओं के उदाहरण तद्भव की अपेक्षा बतलाये गये है। जब प्रथम द्वितीय एवं चतुर्थ अंत-क्रिया में उदाहृत भरत, गजसुकुमाल और मरुदेवी तीनो उसी भव मे सिद्ध हुए माने गये है तो तीसरी अंत-क्रिया के उदाहरण में निर्दिष्ट सनत्कुमार को भी उसी भव में सिद्ध हुआ मानना उचित प्रतीत होता है क्यों कि तीसरी अंत-क्रिया और साधुपर्याय सनत्कुमार चक्रवर्ती की बताई गई है न कि आचार्य अभय देव एव हेमचन्द्राचार्य द्वारा वर्णित सनत्कुमार देव लोक की देवायु भोगने के पश्चात् महा विदेह क्षेत्र में साधुपर्याय पाल कर सिद्ध होने वाले किसी साधक की।

'सूत्रों के अर्थ विचित्र होते है'–इस प्रसिद्ध एव प्राचीन उक्ति के अनुसार आचार्य अभय देव जैसे आगम निष्णात टीकाकार के समक्ष क्या इस प्रकार का कोई परम्परागत प्राचीन उल्लेख रहा है, जिसके आधार पर उन्होंने सनत्कुमार चक्री का तद्भव में मोक्ष न मान कर तीसरे देव लोक की देवायु पूर्ण कर महा-विदेह में जन्म लेने तथा वहां दीर्घ काल तक श्रमणपर्याय से सिद्ध होने का उल्लेख किया ? यह प्रश्न भी निष्पक्ष विचारक के मस्तिष्क मे सहज ही उद्भूत हो सकता है। पर इस प्रकार के निर्णायक प्रमाण के अभाव में स्थानाग सूत्र के एतद्विषयक मूल पाठ की शब्द रचना और पूर्वापर सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए सनत्कुमार का तद्भव मे मोक्ष मानना ही उचित प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा में भी चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार का उसी भव मे मुक्त होना माना गया है।[1]

चौथी शका महाबल मुनि द्वारा स्त्री नाम गोत्र कर्म का उपार्जन किये जाने के सम्बन्ध मे उठाई गई है। प्रथम भाग, भगवान् मल्लिनाथ के प्रकरण मे उनके पूर्वभव का परिचय देते हुए पृष्ठ १२६ पर लिखा है :–

"इस प्रकार छद्मपूर्वक तप करने से उन्होंने स्त्रीवेद का और बीस स्थानो की आराधना करने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया।"

यहा यह शका उपस्थित की जाती है कि भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने अपने तीसरे, महाबल के पूर्व भव मे जो स्त्रीवेद का उपार्जन किया वह तीर्थंकर नामगोत्र कर्म के उपार्जन से पूर्व किया अथवा पश्चात्।

ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र के एतद्विषयक मूल पाठ का सम्यग्रूपेण अवलोकन करते ही स्वतः इस शंका का समाधान हो जाता है। मूल पाठ में स्पष्ट उल्लेख है कि राजा महाबल अपने छः बालसखाओं के साथ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर एकादशांगी का अध्ययन और विविध तपश्चरण से आत्मा को भावित

---

[1] क्षपकश्रेणिमारुह्य, ध्यानद्वय सुसाधन।
घातिकर्माणि निर्दूय, कैवल्यमुदपादयन्।।१२७।।
.. सर्वकर्मक्षयावाप्यमावापन्मोक्षमक्षयम्।।१२६।। [उत्तर पुराण, पर्व ६१, पृ १३७]

करता हुआ विचरण करने लगा। एक दिन उन सातो मुनियो ने परस्पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सब साथ-साथ एक ही प्रकार का तपश्चरण करेगे। प्रतिज्ञानुसार वे सब उपवासादि समान तप करने लगे। पर मुनि महाबल ने इस (आगे बताये जाने वाले) कारण से स्त्री-नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन कर लिया।[1]

यदि महाबल अणगार के वे छ मित्र मुनि एक उपवास की तपस्या करते तो महाबल दो उपवास की। यदि वे दो उपवास, तीन उपवास, चार, अथवा पाच उपवास की तपस्या करते तो मुनि महाबल उनसे अधिक क्रमश तीन, चार, पाच और छ उपवासो की तपश्चर्या करता।[2]

इस प्रकार मूल आगम मे मुनि महाबल द्वारा प्रथमत स्त्रीनाम-गोत्र-कर्म का बन्ध किये जाने का उल्लेख किया गया है। वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है –

"तत्काले च मिथ्यात्व सास्वादन वा अनुभूतवान्, स्त्रीनामकर्मणो मिथ्यात्वानन्तानुबन्धी प्रत्ययत्वात्।"[3]

अर्थात् – उस समय महाबल मुनि ने मिथ्यात्व अथवा सास्वादन गुणस्थान का अनुभव किया, क्योकि मिथ्यात्व एव अनन्तानुबन्धी माया के कारण ही वस्तुत स्त्रीनामकर्म का बन्ध होता है।

महाबल अणगार बनने से पूर्व अधिनायक था और उसके छहो मित्र उसके अधीनस्थ। उपर्युक्त प्रतिज्ञा को भग करने के पीछे उसका यही उद्देश्य हो सकता है कि इन छहो से विशिष्ट प्रकार का तपश्चरण कर के वह आगामी भव मे भी उन छहो की अपेक्षा अधिकाधिक ऐश्वर्यादि प्राप्त करे। इस आन्तरिक आकाक्षा की पूर्ति हेतु महाबल ने अपनी प्रतिज्ञा के विपरीत माया-छलछद्मपूर्वक उन छहो मुनियो से विशिष्ट तप किया। शका, आकाक्षा, वितिगिच्छा, परपापड-प्रशसा और परपापड-सस्तव – ये सम्यक्त्व के पाच दोष है। महाबल के अन्तर मे अपने मित्रो की अपेक्षा विशिष्ट व्यक्तित्व की प्राप्ति हेतु आकाक्षा उत्पन्न हुई और उसके फलस्वरूप उसका सम्यक्त्व दूषित हो गया। मै इन छहो से बडा हूँ और आगे भी बडा बना रहूँ – इस अभिमान ने महाबल के अन्तर मे माया को जन्म दिया। माया स्त्रीनाम-कर्म की जननी है, अत महाबल ने स्त्रीनामकर्म का अर्थात् स्त्रीवेद का बध किया। 'गहना कर्मणो गति' – कर्मगति विचित्र है। अपने लिये उपयुक्त अवकाश पाते ही कर्म अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते है। यहा

---

[1] पडिसुणित्ता बहूहिं चउत्थ जाव विहरति, तएण से महब्बले अणगारे इमेण कारणेण इत्थिणामगोय कम्म निव्वत्तिसु ।।सू ४।।
[ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र (श्री घासीलाल जी म) अ ८]

[2] वही, सूत्र ५ का पूर्व भाग

[3] ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र-वृत्ति

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गुणस्थानो का मापदण्ड आन्तरिक भावना है न कि बाह्य लिग ।

ज्ञाताधर्मकथाग के पाचवे सूत्र के पूर्व भाग मे महाबल द्वारा स्त्री नाम-गोत्र-कर्म का उपार्जन कर लिये जाने के पश्चात् इसके उत्तर भाग मे वीस बोलो की उत्कृष्ट साधना से तीर्थंकर नामगोत्र कर्म के उपार्जित किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है ।[1] इससे स्पष्टत. यही सिद्ध होता है कि महाबल ने सयम ग्रहण करने के पश्चात् साधना की प्रारम्भिक अवधि मे अभिमान-मायाजन्य आकाक्षा नामक सम्यक्त्व के दोष के प्रभाव से उदित मिथ्यात्व अथवा सास्वादन गुणस्थान मे पहुच कर पहले स्त्रीनामगोत्र-कर्म का उपार्जन किया और तदनन्तर साधनापथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए वीसो ही बोलो की उत्कट आराधना से तीर्थंकरनाम गोत्र-कर्म का उपार्जन किया ।

मूलपाठ मे इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी वृत्तिकार ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि महाबल ने पहले तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और उसके पश्चात् स्त्रीनामकर्म का ।[2] वस्तुतः वृत्तिकार का यह अभिमत कम से कम महाबल के लिये किसी भी दशा मे इन दो प्रबल कारणो से मान्य नही हो सकता । प्रथम कारण तो यह है कि वृत्तिकार का यह अभिमत शास्त्र के मूल पाठ से विपरीत है । शास्त्र का निर्विवादास्पद एव स्पष्ट मूल पाठ सदा से सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता रहा है । दूसरा कारण यह है कि महाबल ने जिस साधना से तीर्थंकर नामगोत्र-कर्म का उपार्जन किया, वह अत्युत्कट साधना थी । शास्त्र में वर्णित वीस बोलों मे से किसी एक बोल की उत्कट आराधना से साधक तीर्थंकर नामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लेता है । ऐसी मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेव, और महावीर की तरह मल्लिनाथ ने भी अपने तीसरे पूर्वभव मे उन सभी वीस बोलो की उत्कट साधना की थी जब कि शेष २१ तीर्थंकरो के जीवो ने एक दो, तीन अथवा अधिक बोलों की ।[3] ऐसी स्थिति में वीसो बोलो की उत्कट साधना करने के पश्चात् साधक महाबल का सम्यक्त्व आकांक्षा दोष से दूषित हो

---

[1] इमेहि य ण वीसाएहि य कारणेहि आसेविय बहुलीकएहि तित्थयर नाम गोय कम्म निव्वत्तिसु त जहा –
अरहत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु ।······आदि ।
[ज्ञाता धर्मकथाग, सूत्र ५ का उत्तर भाग]

[2] जह मल्लिस्स महाबलभवम्मि, तित्थयरनामबधेऽवि ।
तव विसय-थोवमाया जाया, जुव इत्त हेउ त्ति ॥ [ज्ञाताधर्मकथागवृत्ति]

[3] (क) पुरिमेण पच्छिमेण य, एए सव्वे वि फासिया ठाणा ।
मज्झिमगेहि जिणेहि, एगं दो तिण्णि सव्वे वा ॥ [सगहीत गाथा]

(ख) आसेविय बहुलीकएहि प्रत्येक स्थानस्य सकृत् करणादासेवितानि बहुश. सेवनाद् बहुलीकृतानि तै उत्कोत्कृष्टरसायनपरिणामै तीर्थकरनामगोत्र कर्म उपार्जितवान् । इससे सिद्ध होता है कि महाबल ने बीसो बोलो की आराधना की ।

मिथ्यात्व अथवा सास्वादन के धरातल पर पहुंच गया हो, यह बात न बुद्धिसंगत ही प्रतीत होती है और न युक्तिसगत ही ।

इन सब तथ्यो से यही निष्कर्ष निकलता है कि महाबल मुनि ने तीर्थंकर नामगोत्र-कर्म के उपार्जन से पूर्व ही स्त्रीनामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लिया था ।

अतिम पाचवी शका मे यह कहा गया है कि तीन सघाटको मे भिक्षार्थ देवकी के यहा आये छ मुनियो का वास्तविक परिचय देवकी को भगवान् अरिष्ट नेमि के समवसरण मे स्वय प्रभु से प्राप्त हुआ था । पर प्रथम भाग मे 'चउपन्न महापुरिस चरित्र' के उल्लेखानुसार उन छहो मुनियो द्वारा देवकी को अपना पूरा परिचय दिये जाने का उल्लेख किया गया है । साथ ही साथ शास्त्रीय मान्यता को टिप्पण मे बताया गया है, क्या उससे शास्त्रीय अभिमत की गौणता प्रकट नही होती ?

वस्तुस्थिति यह है कि प्रथम भाग मे २०३ से २०६ पृष्ठ पर जो अनीकसेन आदि ६ मुनियो के सम्बन्ध मे विवरण दिया गया है, उसके शीर्षक और उस विवरण को यदि ध्यान पूर्वक आद्योपान्त पढ लिया जाता है तो इस प्रकार की शका उठाने की आवश्कता ही नही रह जाती ।

इस सारे विवरण का शीर्षक है – "अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन ।" यह शीर्षक ही एतद्विषयक शास्त्रीय मान्यता का स्पष्टत बोध करा देता है । इसके अतिरिक्त पृष्ठ २०८ के अन्तिम गद्यौघ (Paragraph) से पृष्ठ २०६ मे इस आख्यान से सम्बन्धित पूरी शास्त्रीय मान्यता का समीचीनतया दिग्दर्शन कराने के साथ साथ इसकी पुष्टि मे त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्रकार द्वारा किये गये वर्णन का भी उल्लेख कर दिया गया है । एक तथ्य का प्रतिपादन करने से पूर्व उसके विविध पक्षो को प्रस्तुत करने की परम्परा सदा से स्वस्थ मानी जाती रही है । उसी स्वस्थ परम्परा का अवलम्बन ले कर इस प्रकरण मे 'चउपन्नमहापुरिस चरिय' के रचयिता का पक्ष प्रस्तुत किया गया है, जो परम वैराग्योत्पादक और सरस होने के साथ साथ अधिकाश विज्ञो के लिये भी नवीन है । इस पक्ष को प्रस्तुत करते समय भी इस बात की पूरी सावधानी बरती गई है कि जिन दो स्थलो पर शास्त्रीय मान्यता से भिन्न प्रकार के उल्लेख आये है, वहा तथ्य के प्रकाशार्थ शास्त्रीय मान्यता के द्योतक टिप्पण दे दिये गये है ।

इस प्रकार केवल इस प्रकरण मे ही नही आलेख्यमान सम्पूर्ण ग्रन्थमाला मे शास्त्रीय उल्लेखो, अभिमतो अथवा मान्यताओ को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने के साथ साथ आवश्यक स्थलो पर उनकी पुष्टि मे अन्य प्रामाणिक आधार एव न्यायसगत, बुद्धिसगत युक्तिया प्रस्तुत की गई है ।

शास्त्रो के प्रति अगाध श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए शास्त्रीय अभिमतो की सर्वोपरि प्रामाणिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की प्रशस्त भावना से प्रेरित

हो जिन विज्ञ पाठकों ने जागरूकता दिखाई है, वे वस्तुत साधुवाद के पात्र है । यदि प्रत्येक जिनशासनानुयायी में इस प्रकार की जागरूकता उत्पन्न हो जाय तो आज जैनागमों के सम्बन्ध में तथाकथित सुधारवादियों द्वारा जो विषैला प्रचार किया जा रहा है, उसके कुप्रभाव और कुप्रवाह को रोका जा सकता है ।

आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रस्तुत द्वितीय भाग का आलेखन समाप्त करते करते प्रथम भाग से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण एव विचारणीय प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है । विज्ञ पाठकों, विद्वानो एव शोधार्थियों के विचारार्थ उसे यहा प्रस्तुत किया जा रहा है ।

यह एक शाश्वत नियम है कि सभी तीर्थंकर केवलज्ञान की उपलब्धि होते ही उसी दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है । हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से कभी कभी इस नियम के अपवाद के उदाहरण भी श्वेताम्बर परम्परा के आगम एव आगमेतर साहित्य में उपलब्ध होते है । प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल हुण्डावसर्पिणी माना गया है, जिसके प्रभाव से भगवान् महावीर ने, जिस दिन उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ, उसी दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन नही किया । श्वेताम्बर परम्परा के आगम एवं सर्वमान्य आगमेतर साहित्य में इसे १० आश्चर्यों मे से एक आश्चर्य मानते हुए यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि प्रभु महावीर ने प्रथम समवसरण के समय अपनी पहली देशना हृदयगम कर व्रत ग्रहण करने वाले भव्य प्राणी की अनुपस्थिति के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति के दूसरे दिन धर्मतीर्थ की स्थापना की ।

केवलज्ञान की उपलब्धि तथा तीर्थप्रवर्तन के बीच काल का व्यवधान तो दोनो परम्पराओं में माना गया है परन्तु यह व्यवधान जहा श्वेताम्बर परम्परा मे एक दिन का माना गया है वहा दिगम्बर परम्परा के मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रकृत 'गौतमचरित्र' नामक ग्रन्थ मे[1] केवल ३ घण्टो और शेष सभी ग्रन्थों में ६६ दिनो के व्यवधान का उल्लेख उपलब्ध होता है ।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे उल्लेख है कि साढे बारह वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् एक दिन महावीर छट्ठ भक्त की तपस्या किये हुए ऋजुबालुका नदी के तट पर अवस्थित जृंभिका ग्राम के बाहर श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से आतापन ले रहे थे, उस समय भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ । तत्काल देवेन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की गई और प्रभु ने वहां प्रथम देशना दी । पर वहा ऐसा कोई भव्य व्यक्ति विद्यमान नही था जो व्रतो को ग्रहण कर सकता । अतः रात्रि में ही जृंभिका ग्राम से विहार कर प्रभु पावापुरी के आनन्दोद्यान मे पधारे । वहां देवों ने समवसरण की रचना की । गौतमादि के उपस्थित होने पर प्रभु ने देशना दी और धर्मतीर्थ की स्थापना की ।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. २८, २९

केवलज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् भगवान् महावीर ने तीर्थ-प्रवर्तन कब किया, इस विषय मे दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थकारो ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उल्लेख किये है। तिलोय पण्णत्तीकार ने भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० के अपराह्न मे ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान की प्राप्ति होने[1] तथा उससे ६६ दिवस पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन[2] उनके द्वारा पचशैल (राजगृह) नगर के विपुलाचल पर्वत पर[3] धर्मतीर्थ की स्थापना का उल्लेख किया है।

धवलाकार ने भी केवलज्ञान एव तीर्थ प्रवर्तन की उपरिलिखित तिथिया बताते हुए लिखा है –

"... छउमत्थत्तणेण गमिय वइसाहजोण्णपक्खदसमीए उजुकूलणदी तीरे जिभियगामस्सबाहि छट्ठोववासेण सिलावट्टे आदावेतेण अवरण्हे पादछायाए केवलणाणमुप्पाइद।

एत्थुवउज्जतीओ गाहाओ –

गमइय छदुमत्थत्त, बारसवासाणि पच मासे य।
पण्णरसाणिदिणाणि य, तिरयणसुद्धो महावीरो ॥३२॥

उजूकूलणदीतीरे, जभियगामे वहि सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेतो, अवरण्हे पायछायाए ॥३३॥

वइसाहजोण्णपक्खे, दसमीए खवगसेडियारूढो।
हतूण घाइकम्म, केवलणाण समावण्णो ॥३४॥[4]

धवलाकार ने तीर्थप्रवर्तन के स्थल (क्षेत्र) का उल्लेख करते हुए लिखा है –

(१) "तत्थ खेत्तविसिट्ठोत्थकत्ता परूविज्जदि –
पचसेल पुरे रम्मे, विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे, देवदाणववदिदे ॥५२॥
महावीरेणत्थो कहिओ, भविअलोगस्स।[5]

(२) पचसेलउरणेरइदिसाविसयअइ– विउलविउलगिरिमत्थयत्थए गधउडि–पासायम्मि ट्ठियसीहासणारूढेण वड्ढमाणभडार-एणतित्थमुप्पाइद[6]।

---

[1] वइसाहसुद्धदसमीमाघारिक्खम्मि वीरणाहस्स।
रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवल णाण ॥७०१॥ [तिलोयपण्णत्ती, ४ महाधिकार]

[2] वासस्स पढममासे, सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६६॥ [वही, १ महाधिकार]

[3] सुरखेयरमणहरणे, गुणणामे पचसेलणयरम्मि।
विउलम्मिपव्वदवरे, वीर जिणो अट्ठकत्तारो ॥६५॥ [वही]

[4] षट्खण्डागम-धवला-, भाग ६, पृष्ठ १२४

[5] षट्खण्डागम, धवलासहित, भाग १, पृष्ठ ६२

[6] वही, भाग ६, पृष्ठ ११३

तीर्थोत्पत्ति का समय धवलाकार ने तिलोयपण्णत्ती की एतद्विषयक गाथा से पर्याप्त साम्य रखने वाली निम्नलिखित गाथा द्वारा श्रावण कृष्णा प्रतिपदा बताया है, जो प्रभु महावीर को केवलज्ञान होने की तिथि से ६६ दिन पश्चात् का ठहरता है :–

वासस्स पढममासे, पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले ।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे, तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ।।५६।।[1]

धवलाकार के प्रशिष्य आचार्य गुणभद्र ने अपने ग्रन्थ उत्तर पुराण में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराह्न मे जृम्भिका ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित मनोहर नामक वन मे बेले की तपस्या से सालवृक्ष के नीचे एक शिला पर विराजमान वीर प्रभु को केवलज्ञान की उपलब्धि का उल्लेख किया है। तत्काल चार प्रकार के देवों के साथ इन्द्र के आगमन, समवसरण की रचना, इन्द्र द्वारा इन्द्रभूति गौतम के लाये जाने, शकासमाधान के पश्चात् इन्द्रभूति के दीक्षित होने, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पूर्वाह्न मे प्रभु द्वारा अर्थतः द्वादशागी के उपदेश के अनन्तर इन्द्रभूति द्वारा रात्रि के पूर्व भाग में अंगो तथा पश्चिम भाग में पूर्वो की रचना किये जाने का विवरण तो उत्तर पुराण मे दिया गया है पर यह नही बताया गया है कि समवसरण की रचना किस स्थान पर की गई, किस स्थान पर प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना की तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति और तीर्थस्थापन के बीच ६६ दिन का व्यवधान किस कारण रहा। उत्तर पुराण के ७४ वे पर्व के श्लोक सख्या ३६६ का अतिम चरण—"श्रावणे बहुले तिथौ" को यदि हटा दिया जाय तो इस पूरे विवरण से स्पष्टतः यही प्रकट होगा कि वैशाख शुक्ला १० को ऋजुकूला नदी के तट पर ही समवसरण की रचना से लेकर इन्द्रभूति द्वारा द्वादशागी की प्रतिरचना तक की समस्त घटनाये घटित हुई।[2]

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती और षट्खण्डागम की धवला टीका मे वैशाख शुक्ला १० के दिन भगवान् महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भिका ग्राम के बाहर केवलज्ञान की उपलब्धि का और उससे ६६ दिन पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पचशेलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर उनके द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का तो उल्लेख किया गया है पर इस प्रकार का कही कोई उल्लेख नही किया गया है कि भगवान् जृम्भिका ग्राम से राजगृह के विपुलाचल पर कब, कितने समय पश्चात् तथा किस प्रकार पधारे और जब ऋजुकूला नदी के तट पर ही प्रभु को केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी थी तो उस कैवल्योपलब्धि के स्थल पर ही समवसरण की रचना किस कारण नही की गई ? ये ऐसे प्रश्न है, जिनका समुचित समाधान न किये जाने की दशा में जैनेतर एवं निष्पक्ष विद्वानो को अनेक प्रकार के ऊहापोह

---

[1] वही, भाग १, पृष्ठ ६४

[2] उत्तरपुराण, पर्व ७४, श्लोक ३४८ – ३७१

गया है कि प्रभु को केवलज्ञान होते ही तत्काल उस स्थान पर समवसरण, तीर्थ प्रवर्तन आदि की प्रक्रियाए क्यो न पूर्ण हुई ।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम स्थानाग में प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के १० आश्चर्यो का उल्लेख है। भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की उपलब्धि होते ही जृ भिका ग्राम के बाहर देवताओ द्वारा निर्मित समवसरण मे जो प्रथम देशना दी उसके परिणाम स्वरूप उसी दिन नियमत धर्म-तीर्थ की स्थापना हो जानी चाहिए थी। परन्तु ऐसा न होकर दूसरे दिन पावापुरी के महासेन उद्यान मे निर्मित समवसरण मे प्रभु द्वारा देशना एव तीर्थ की स्थापना की गई, इस घटना की भी उन १० आश्चर्यो मे गणना की गई है।[1] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने, कैवल्योपलब्धि और तीर्थप्रवर्तन के बीच व्यवधान विषयक मतवैभिन्य तथा घटना के चित्रण मे वैविध्य होने के कारण स्थिति बडी अस्पष्ट, अनिश्चित एव विवादस्पद सी प्रतीत होती है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर गम्भीर अन्वेषण के पश्चात् समुचित प्रकाश डालेगे ।

इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते समय इस तथ्य को दृष्टि मे रखना परमावश्क होगा कि दिगम्बर परम्परा के हरिवश पुराण आदि सभी मान्य ग्रन्थो मे स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर को छोड शेष ऋषभदेव आदि तेवीसो ही तीर्थकरो ने उसी दिन धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया, जिस दिन कि उन्हे केवलज्ञान की उपलब्धि हुई ।

कल्पसूत्र एवं नन्दी सूत्र की स्थविरावलियो की परम प्रामाणिकता :– आज सभी विद्वान् समवेत स्वर मे स्वीकार करते है कि श्वेताम्बर परम्परा की २ स्थविरावलिया कल्पसूत्रीया स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली (जिनको मूल आधार मान कर प्रस्तुत ग्रन्थ का आलेखन किया गया है), पूर्णत प्रामाणिक विश्वसनीय एव अति प्राचीन ऐतिहासिक स्थविरावलिया है। मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से निकले ई सन् ८३ से १७६ तक के, (आयागपट्टो, ध्वजस्तम्भो, तोरणो, हरिणैगमेषी देव की मूर्ति, सरस्वती की मूर्ति, सर्वतोभद्र प्रतिमाओ, प्रतिमापट्टो एव मूर्तियो की चौकियो पर उट्टकित) शिलालेखो से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वस्तुत· ये दोनो स्थविरावलिया अति प्राचीन ही नही, प्रामाणिक भी है ।

मथुरा के ककाली टीले की खुदाई का कार्य सर्व प्रथम ई सन् १८७१ मे जनरल कनिघम के तत्त्वावधान मे, दूसरी बार सन् १८८८ से १८९१ मे

---

[1] उवसग्ग गब्भहरण, इत्थितित्थ अभाविया-परिसा ।
कण्हस्स अवरकका, उत्तरण चद-सूराण ॥
हरिवसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पातो तह अट्ठसय सिद्धा ।
अस्सजतेसु पूआ, दस वि अणतेण कालेण ॥ [स्थानाग, स्थान १०]
विशेष विवरण के लिये देखिये, "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १", पृ ३४४–३४६
— सम्पादक

डा फ्यूरर के तत्त्वावधान में तथा तीसरी वार पं राधाकृष्ण के तत्त्वावधान मे करवाया गया । इन तीनो खुदाइयों में जैन इतिहास की दृष्टि से वडी महत्वपूर्ण विपुल सामग्री उपलब्ध हुई। वह सामग्री आज से १८९१ से ले कर १७९८ वर्ष पहले तक की प्राचीन एव प्रामाणिक होने के कारण वडी विश्वसनीय है। इन शिला लेखो मे कल्पसूत्र की स्थविरावली के छ गणो मे से तीन गणों, चार गणो के १२ कुलों, १० शाखाओं तथा नन्दीसूत्र के आदि मंगल के रूप मे दी हुई वाचक वंश (वाचनाचार्यो) की स्थविरावली[1] के पन्द्रहवे वाचनाचार्य आर्य समुद्र, सोलहवे आर्य मंगु, इक्कीसवे आर्य नन्दिल (आनन्दिल), बावीसवे आर्य नागहस्ती और उनतीसवे वाचनाचार्य भूत दिन्न के नाम विद्यमान है ।[2] आज से लगभग १८००–१९०० वर्ष पूर्व के इन शिलालेखो मे लगभग २२०० वर्ष पूर्व, वीर नि स. २९१ मे हुए आर्य स्थविर रोहण आदि सुहस्ति के शिष्यों के उद्देह प्रभृति ३ गणों, कालान्तर में प्रसृत हुए उनके १२ कुलों तथा १० शाखाओं, वीर नि० सं० ४१४ मे वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य समुद्र, वीर नि० स० ४५४ मे वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य मंगू, उनके पश्चात् हुए वाचनाचार्य नन्दिल, उनके अनन्तर अनुमानत· वीर नि० स० ५८४ तक वाचनाचार्य पद पर रहे आर्य नागहस्ती और वीर नि० स० ९०४ से ९८३ तक युग प्रधानाचार्य पद पर रहे आर्य भूतदिन्न के उल्लेखो से निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि आर्य सुधर्मा से प्रारम्भ हुई कल्प स्थविरावली और नन्दि-स्थविरावली – ये दोनो स्थविरावलियाँ परम प्रामाणिक और पूर्णत विश्वसनीय है। इन शिलालेखो मे दशपूर्वधर काल से लेकर सामान्य पूर्वधर काल की समाप्ति से १७ वर्ष पूर्व तक के कतिपय वाचनाचार्यो, गणों, कुलों आदि का उल्लेख इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये सवल ही नहीं अकाट्य प्रमाण है कि ये दोनो स्थविरावलिया क्रमवद्ध और पूर्णत· प्रामाणिक है ।

जिज्ञासु पाठको एव शोधार्थियो के लाभार्थ उन शिलालेखो का यहां संक्षेप मे परिचय दिया जा रहा है, जिनमें कि उपरिलिखित गणों एवं वाचनाचार्यो का उल्लेख है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४६४-६५ पर आर्य सुहस्ति के १२ शिष्यो मे से ६ के नाम से प्रचलित हुए गणों, उनकी शाखाओं और कुलो का विवरण दिया गया है । आर्य सुहस्ती के प्रथम शिष्य आर्य रोहण के नाम से निकले उद्देह गण और नागभूतिकीय (नागभूय) कुल का उल्लेख कनिष्क स० ७ के लेख स० २४ मे है ।[3] इसी प्रकार कुषाणवशी राजा वासुदेव के समय के कनिष्क स० ९८,

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ ४७१-७२

[2] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ७५५

[3] १ [सिद्धम् ॥] महाराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य षाहिकणिष्कस्य स० ७ हे १ दि १० ५ एतस्य पुर्व्वायां अर्य्योदेहिकियातो २ गणातो अर्य्यनागभूतिकियातो कुला तो गणिस्य अर्यबुद्धशिरिस्य शिष्यो वाचको अर्यसं[धि]कस्य भगिनि अर्य्यजया अर्य गोष्ठ····

तदनुसार वीर नि० स० ७०३ के लेख सं० ६९ मे उद्देह गरण, इसके परिधासिक (परिहासय) कुल और पेतपुत्रिका (पुण्य पत्रिका) शाखा का स्पष्ट उल्लेख है।[1]

इसी प्रकार आर्य सुहस्ती के चतुर्थ शिष्य आर्य कामर्धिगरणी से निकले वेसवाडिय गरण और उसकी शाखाओ का नाम तो मथुरा के शिलालेखो में स्पष्टत उट्ट कित नही है किन्तु इस गरण के चार कुलो मे से मेहिय (मेहिक) नामक कुल का उल्लेख कुछ त्रुटिताक्षरो मे लेख स० २९ और ६३ मे विद्यमान है।[2]

आर्य सुहस्ती के पाचवे एव छट्ठे प्रमुख शिष्य आर्य सुस्थित और सुप्रतिबद्ध से निकले कोटिक (कोडिय अथवा कोटिय) गरण का उल्लेख शिलालेख सख्या १८ तथा २५ में, कोटिय गरण, ब्रह्मदासिय (बभलिज्ज) कुल एवं उच्चनागरी (उचेनागरी) शाखा का उल्लेख लेख सख्या १९, २०, २२ एव २३ मे, कोटिय गरण के वत्थलिज्ज कुल का वच्छलियातो कुलातो के रूप मे लेख स० २७ मे, कोटिय गरण, ठानिय कुल (सभवत वारिणय अथवा वारिणज्य कुल का विकृत रूप), श्रीगृह संभोग, वज्री (वेरि) शाखा का उल्लेख लेख स० २९ एव ३० मे, कोटिय गरण, वम्भलिज्ज कुल (ब्रह्मदासिक कुल के रूप मे), उच्चनागरी शाखा तथा श्रीगृहसभोग का उल्लेख लेख स० ३१ मे, कोट्टिय गरण, ब्रह्मदासिक (वम्भलिज्ज) कुल तथा उचेनागरी शाखा का उल्लेख लेख स० ३५ मे, इस गरण की केवल उच्चनागरी शाखा का उल्लेख लेख स० ३६ मे, कोटिय गरण वेरि शाखा ठारिणय (वारिणय) कुल का उल्लेख लेख स० ४० एव ४१ मे, इस गरण के वभदासिक (वम्भलिज्ज) कुल और उच्चनागरी शाखा का उल्लेख लेख स० ५० मे, कोटिक गरण वेरा (वज्री) शाखा, स्थानिक कुल, श्रीगृह सभोग, वाचक आर्य घस्तुहस्ति (हस्तिहस्ति अर्थात् नागहस्ति)[1] के शिष्य मगुहस्ति का उल्लेख लेख स० ५४ मे, कोटियगरण, स्थानिय (वारिणय) कुल वैरा शाखा, श्रीगृह सभोग वाचक आर्य हस्तहस्ति (नागहस्ति) का उल्लेख लेख स० ५५ मे किया गया है।

१ काल की दृष्टि से गरण, कुल एव शाखा के उल्लेख से युक्त सबसे पहला शिला लेख है कुषारणवशीय राजा कनिष्क के राज्यकाल के ५ वे वर्ष (ई० सन् ८३ तदनुसार वीर नि० स० ६१०) का। इसमे लिखा है –

---

[1] सिद्ध (म्) ।। नमो अरहतो महावीरस्य दे' ' रस्य । राजवासुदेवस्या सवत्सरे ९० ८ वर्षमासे ४ दिवसे १० १ एतस्या २ पूर्वये अर्य्यदेहिकियातो ग (णातो) परिधासिकातो कुलातो पेतपुत्रिकातो शाखातो गरिणस्य अर्य्य देवदत्तस्य न ३ र्य्य क्षेमस्य ४ प्रकगिरिरण ५ कि हदिये प्रज ६ ' ' तस्य प्रवरकस्य धिनु वरुणस्य गन्धिकस्य वधूये मित्रस' 'दत्त गा [१] ७ ये' भगवतो महावीरस्य ।

जैन शिलालेख स०, भा० २ (मारिणकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्र० माला समिति), लेख स० २४ तथा ६९, पृ० २२ एव ४७

[2,3] जैन शिलालेख सग्रह भाग २

"देवपुत्र कनिष्क के ५वे वर्ष की हेमन्त ऋतु के पहले महिने के पहले दिन कोट्टियगण, ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के······श्रेष्ठि·· ·· सेन की धर्मपत्नी देव · ···पाल की पुत्री खुडा (क्षुद्रा) ने वर्धमान की प्रति (मा)।।[1] लेख सं० ५६ मे कोट्टिय गण, स्थानिकीय कुल,वे रि शाखा के आर्य वृद्ध हस्ति का उल्लेख है। कल्प स्थविरावली के २७वे गणाचार्य आर्य वृद्ध ही वस्तुत· इस शिलालेख के आर्य वृद्ध होने चाहिए। क्योंकि आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध द्वारा सूरिमन्त्र का एक करोड़ बार जाप किये जाने के कारण उनका विशाल श्रमण समूह कोटिक गण के नाम से विख्यात हुआ। आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध आचार्य सुहस्ति के पट्टधर आचार्य हुए अत: सुहस्ती की मुख्य शिष्य परम्परा कोटिक गण के नाम से ही अभिहित की जाने लगी। उस मुख्य परम्परा के आचार्य होने के कारण कल्प स्थविरावली के २७वे आचार्य आर्यवृद्ध[2] ही वे कोट्टिय गण ठाणिय अथवा वाणिय कुल और वज्री शाखा के आर्य वृद्धहस्ती होने चाहिए जिनका कि नाम इस लेख मे उत्कीर्ण किया हुआ है।

इसी प्रकार लेख सख्या ५६ मे भी कोट्टिय गण और वइरी (वज्री) शाखा के आर्य वृद्धहस्ती का उल्लेख है। वे भी निश्चित रूप से कल्प स्थविरावली के २७वे आचार्य आर्य वृद्ध ही होने चाहिए। इनके अतिरिक्त लेख सं० ६४ मे उच्चनागरी शाखा, लेख स० ६६ में कोट्टिय गण, पण्हवाहणय कुल एवं मझमा शाखा, लेख स० ६८ में कोट्टिय गण, ठानिय कुल और वइरी शाखा, लेख सं० ७० मे कोटिक गण और उच्चनागरी शाखा, लेख स० ७४ मे कोटियगण का उल्लेख विद्यमान है।

कल्पसूत्रीया स्थविरावली में उल्लिखित गणों, कुलों एव शाखाओं आदि के उल्लेखो वाले जो लेख मथुरा के कंकाली टीले से उपलब्ध हुए है, उनमे अतिम लेख है गुप्त स० ११३ तदनुसार ई० सन् ४३३ (वीर नि० स० ९६०) मे उत्कीर्ण, गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त[3] के शासन काल का लेख स० ९२।[4]

इस लेख स० ९२ मे कोट्टिय गण की विद्याधरी शाखा के आचार्य दतिल का उल्लेख किया गया है। वाचनाचार्य परम्परा की, युगप्रधानाचार्य परम्परा

---

[1] अ १. ··· ····दे (व) पुत्रस्य क (नि) ष्कस्य स० ५ हे १ दि १ एतस्य पूर्व्वं (ा) यं कोट्टियातो गणातो ब्रह्मदासिका (तो) (कु) लातो (उ) चेनागरितो शाखातो सेथि – ह – स्य ि – ि – ि – सेनस्य सहचरि खुडाये दे (व)
ब. १. पालस्य धि (त)·······
२. वधमानस्य प्रति (मा) ।।
[जैन शिलालेख संग्रह, भा २ माणकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति) लेख स० १९, पृ० स० १९] मथुरा का प्राकृत लेख कनिष्क स० ५.

[2] कल्पसूत्रीया स्थविरावली के आचार्यो की सूची, देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७३-७४

[3] कुमारगुप्त का शासन वीर नि० स० ९५१ से ५८२ तक रहा। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ६७२

[4] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, पृ० ५८

की और कल्पसूत्रीया स्थविरावली – इन तीनो स्थविरावलियो मे 'दत्तिल' नामक किसी आचार्य का नाम उपलब्ध नही होता है। हा वाचनाचार्य परम्परा की (नन्दीसूत्रीया) स्थविरावली के २९ वे (आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, रक्षित और गोविन्द – इन पाचो के नाम वाचनाचार्यो मे सम्मिलित न किये जाने की दशा मे २४ वे)[1] आचार्य तथा युगप्रधानाचार्य परम्परा की पट्टावली के २६ वे आचार्य का नाम भूत दिन्न है। लेख स० ६२ मे उट्टकित 'दत्तिल' और इन दोनो पट्टावलियो मे उल्लिखित 'दिन्न' ये दोनो (दत्तिल और दिन्न) शब्द वस्तुत दत्त शब्द के प्राकृत रूप है।[2] आर्य भूतदिन्न का युगप्रधानाचार्य काल वीर नि० स० ६०४ से ६८३ माना गया है।[3] इस लेख स० ६२ मे गुप्त स० ११३ उत्कीर्ण किया हुआ है, जो वीर नि० स० ६६० अर्थात् आचार्य भूत दिन्न के आचार्यकाल का ही समय है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपरिलिखित लेख स० ६२ मे कोट्टिय गरण की विद्याधरी शाखा के जिन दत्तिलाचार्य का उल्लेख है, वे वस्तुत नन्दि स्थविरावली के वाचनाचार्य और युगप्रधान पट्टावली के युगप्रधान आचार्य भूतदिन्न ही है।

युग प्रधानाचार्य भूतदिन्न की ही तरह लेख स० ५२ के गरिग समदि वस्तुत वाचक परम्परा के १५ वे वाचनाचार्य आर्य समुद्र, लेख स० ४१ और ६१ के आर्य नन्दिक व गरिगनन्दि १७ वे वाचनाचार्य नन्दिल और लेख स० ५४ और ५५ के क्रमश घस्तु हस्ति और हस्तहस्ति १८ वे वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती ही है। नन्दिसूत्रीया स्थविरावली मे इन चारो वाचनाचार्यो के नाम इसी क्रम से एक के पश्चात् एक है।

आर्य सुधर्मा से लेकर देवर्द्धि क्षमाश्रमरण तक एक हजार वर्ष की लम्बी कालावधि मे अनेक आचार्य एव उनके आज्ञानुवर्ती सहस्रो महान् प्रभावक श्रमरण हुए, सहस्रो प्रभाविका श्रमरिगया हुई, जिन्होने भारत जैसे अतिविशाल देश के कोने-कोने मे विचरण कर प्राणिमात्र को अभयदान देने वाले प्रभु महावीर के अहिसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह मूलक विश्वकल्याणकारी धर्म का प्रचार-प्रसार किया। कालान्तर मे क्रमश. हुए गरणभेद, परम्पराभेद, मान्यताभेद, सघ-विभाजन, गच्छोपगच्छ-कुलोपकुलजन्य विभिन्न भेद-प्रभेदो के अनन्तर एक ही समय मे एक-एक प्रदेश को, एक-एक क्षेत्र को पृथकत अपना कार्यक्षेत्र चुनकर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाले अनेक आचार्य हुए। उनमे से कतिपय महापुरुषो ने स्वर्णभूमि, सिहल आदि सुदूरस्थ एव दुर्गम देशो मे जाकर, वहा पर भी जनमानस मे जैन धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठा उत्पन्न की एव वहा के लोगो को जैनधर्मावलम्वी वनाया। उक्त १००० वर्ष की अवधि मे हुए अनेक राजाओ, महाराजाओं,

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४७२–७३

[2] दिन्न और दत्तिल दोनो शब्द दत्त शब्द के प्राकृत रूप होते हैं।
[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, भूमिका (डा० गुलावचन्द्र चौधरी), पृ० १८ टिप्पण २]

[3] प्रस्तुत गन्थ, पृ० ६६५

सामन्तो, श्रेष्ठियों एवं सभी वर्गो के श्रावको तथा श्राविकाश्रो ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ इसके दिगदिगन्तव्यापी प्रताप को चिरस्थायी वनाये रखने के लिए जो-जो महत्वपूर्ण कार्य किये, उन सबका क्रमबद्ध पूर्ण विवरण आज जैन वाङ्मय मे उपलब्ध नही है। फिर भी उनमे से कतिपय कार्यो का शिलालेखो, आयागपट्टो, ताम्रपत्राभिलेखो आदि मे उट्टंकित विवरण आज भी उपलब्ध होता है, जिनका प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। प्राक्कथन मे भी यथास्थान इस पर और अधिक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

कार्य की गुरुता एवं दुस्साध्यता – इतने सुदीर्घ अतीत के सुविस्तृत इतिहास का यथावत् निरूपण तो वस्तुत· केवल अतिशयज्ञानी ही कर सकते है। क्योकि उनमे से विभिन्न गणो के जिन गणाचार्यो, प्रभावक महाश्रमणो ने जीवन भर सुदूर दक्षिण के तमिलनाडु, वग, कलिग, आन्ध्र आदि प्रदेशो मे जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया, उनमें से अधिकांश के तो नाम तक भी आज कही उपलब्ध नही है। कल्पस्थविरावली मे आर्य सुहस्ती के पश्चात् जिन आचार्यो के नाम दिये गये है, उनमे से अधिकांश का नाम के अतिरिक्त किंचित्मात्र भी परिचय आज के उपलब्ध जैन वाङ्मय मे दृष्टिगोचर नही होता। इसी प्रकार नन्दीसूत्र के आदि मे दी गई वाचनाचार्यो की स्थविरावली के भी कतिपय आचार्यो का कोई परिचय कही उपलब्ध नही होता। जब मुख्य-मुख्य आचार्यो का भी पूरा परिचय उपलब्ध नही होता तो उस दशा में उनके समय में घटित घटनाओं का शृखलाबद्ध निरूपण करना कितना कठिन कार्य है, इसका विज्ञ स्वय सहज ही अनुमान लगा सकते है। यह स्थिति वर्तमान समय मे ही हो, ऐसी बात नही है। आज से अनेक शताब्दियो पहले भी कुछ इसी प्रकार की स्थिति की विद्यमानता के उल्लेख जैन साहित्य मे उपलब्ध होते हैं। इतिहासलेखन का कार्य कितना जटिल है, इस सम्बन्ध मे आज से लगभग ७०० वर्ष पूर्व हुए आचार्य प्रभाचन्द्र (वि० स० १३३४) द्वारा प्रकट किए गए निम्नलिखित उद्गारों से पर्याप्त प्रकाश पडता है :–

> श्रीवज्रानुप्रवृत्त(त्तौ) प्रकटमुनिपति प्रष्ठवृत्तानितत्तद्,
> ग्रन्थेभ्य· कानिचिच्च श्रुतधरमुखतः कानिचित्सकलय्य।
> दुष्प्रापत्वादमीषा विशकलिततयैकत्रचित्रावदातं,
> जिज्ञासैकाग्रहाणामधिगतविधयेऽभ्युच्चयं स प्रतेने ।।[१]

अर्थात् – आर्य वज्र और उनके अनुवर्ती आचार्यो का इतिवृत्त खण्ड-विखण्डित रूप मे इतस्तत· बिखरा हुआ एव अपूर्ण होने के कारण एक प्रकार से दुष्प्राप्य था। अत· उनमें से कतिपय आचार्यो का इतिवृत्त अनेक ग्रन्थो के परिशीलन से, कुछ आचार्यो का श्रुतधरो से सुनकर और कइयों का (जैन वाङ्मय मे से) संकलित कर मैंने (प्रभाचन्द्र ने) उसे सम्यक्रूपेण सुव्यवस्थित किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने "प्रभावक चरित्र" नामक अपने अत्यन्त महत्वपूर्ण

---

[१] प्रभावक चरित्र, ग्रन्थकारकृता स्वकीया प्रशस्तिः, पृष्ठ २१५, श्लोक १७

एव उपयोगी ग्रथ मे कुल मिलाकर २३ आचार्यो एव महाकवि धनपाल के जीवन की कतिपय प्रमुख घटनाओ का विवरण दिया है। आचार्य प्रभाचन्द्र के समय मे प्राचीन ग्रन्थ भी आज की अपेक्षा निश्चित रूप से कुछ अधिक मात्रा मे उपलब्ध रहे होगे। इतिहास साक्षी है कि आचार्य प्रभाचन्द्र के पश्चाद्वर्ती काल मे आततायी विदेशी आक्रान्ताओ ने भारतीय सस्कृति की अमूल्य निधि के रूप मे सुरक्षित ग्रन्थागारो, पुस्तकभण्डारो एव स्वर्णपत्र, ताम्रपत्र, प्रस्तर, भित्ति आदि पर शताब्दियो पूर्व उत्कीर्ण किए गए अभिलेखों को नष्ट-निक्षेप-करने मे किसी प्रकार की कोर- कसर नही रखी। एक यवन आक्रान्ता ने तो अपनी सैनिक-पाक शाला-मे शताब्दियो के अथक श्रम से लिखे गये भारतीय सस्कृति के प्राचीन ग्रथो को ईधन की जगह जलाने के काम मे लेकर छ महीनो तक विशाल सेना के लिए भोजन बनवाया, और स्नानार्थ पानी गरम करवाया।

वर्गविद्वेष, धार्मिक असहिष्णुता आदि के फलस्वरूप समय-समय पर भारत के विभिन्न प्रदेशो मे उत्पन्न हुए आन्तरिक कलहो ने भी भारतीय सस्कृति के अवशेषो, स्मारको, धर्मस्थानो, तीर्थस्थानो एव ग्रन्थागारो आदि को भयकर क्षति पहुचाई।

केवल २३ आचार्यो के जीवनवृत्त का आलेखन करते समय आचार्य प्रभाचद्र द्वारा अभिव्यक्त किए गए उपर्युल्लिखित उद्गारो और उनसे अवातरवर्ती काल मे हुई पुरातन साहित्य की दुखद महती क्षति के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर स्वत ही स्पष्ट हो जाता है कि ईसा पूर्व ५२७ से ई० सन् ४७३ (वीर नि० स० स० १ से १०००) तक का १००० वर्ष का जैन धर्म का सर्वागपूर्ण इतिहास शृखलाबद्ध रूप मे सम्पन्न करना कितना कठिन, कितना दुरूह, दुस्साध्य एव श्रमापेक्षी कार्य है। पर इन सब कठिनाइयो से हतोत्साहित हो इस दिशा मे प्रयास न करने की स्थिति मे तो प्रत्येक जैनी के हृदय मे खटकने वाली इतिहास के अभाव की कमी कभी दूर नही होने वाली है, यह विचार कर इस कार्य को हाथ मे लिया गया।

पुरातन प्रामाणिक आधार – हमने अगो, उपागो, निर्युक्तियो, चूर्णियो, टीकाओ, भाष्यो, चरित्रग्रन्थो, कथाकोषो, स्थविरावलियो, पट्टावलियो, जैन एव वैदिक परम्परा के पुराणो, विभिन्न इतिहास-ग्रन्थो, बौद्ध परम्परा के ग्रन्थो, शिलालेखो, प्रकीर्णक ग्रन्थो एव सभी प्रकार की उपलब्ध सामग्री के पर्यवेक्षण-पर्यालोचन के माध्यम से प्रामाणिक साधनो के आधार पर अथ से इति तक शृखलाबद्ध रूप मे जैन इतिहास के आलेखन की अमिट अभिलाषा लिये यथामति कुछ लिखने का प्रयास किया है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस ग्रन्थ के लेखन मे इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि थोथी कल्पनाओ और निर्मूल अनुश्रुतियो को महत्व न देकर प्राचीन ग्रन्थो एव अभिलेखो के आधार पर प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यो का ही निरूपण किया जाय। इसी प्रकार बहुत-सी चमत्कारिक रूप से चित्रित घटनाओ को भी इस ग्रन्थ मे समाविष्ट नही किया

गया है। मध्ययुगीन अनेक विद्वान् ग्रन्थकारो ने सिद्धसेन प्रभृति कतिपय प्रभावक आचार्यों के जीवन चरित्र का आलेखन करते हुए उनके जीवन की कुछ ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है, जिन पर आज के युग के अधिकाश चिन्तक किसी भी दशा मे विश्वास करने को उद्यत नही होते। त्यागी, तपस्वी महान् पुरुषो के प्रबल आत्मवल मे अचिन्त्य शक्ति होती है, इस बहुजन सम्मत तथा भारतीय सस्कृति के प्राय' सभी अध्यात्म विषयक प्राचीन ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित तथ्य से इतिहास के पाठकों को थोडा बहुत अवगत कराने की दृष्टि से श्रद्धास्पद पूर्वाचार्यो द्वारा विशद रूपेण वर्णित घटनाओ मे से एक दो चमत्कारिक घटनाओ का भी इस ग्रन्थ मे उल्लेख किया गया है। इस स्पष्टीकरण का मूलत मुख्य तात्पर्य यही है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे जो कुछ लिखा गया है, वह सब कुछ साधार है, विना आधार के एक भी बात नही लिखी गई है।

विशुद्ध उद्देश्य – केवल तथ्य की खोज : – यह एक निर्विवाद तथ्य है कि इतिहास के क्षेत्र मे केवल उन्ही विवरणो को पूर्ण प्रामाणिक माना जाता है, जिनको सत्य सिद्ध करने वाले ठोस आधार हो। कतिपय ऐतिहासिक घटनाओ के सम्बन्ध मे समय-समय पर वहुत से विद्वानो ने ऊहापोह, किवदन्ती, निरे अनुमान, केवल-कल्पना अथवा पारम्परिक मान्यता के नाम पर अपनी-अपनी मान्यताए रखी है। इस प्रकार के प्राचीन अथवा अर्वाचीन विद्वानो की वे व्यक्तिगत मान्यताए यद्यपि ऐतिहासिक घटनाक्रम, निष्पक्ष साक्ष्य एव समकालीन अन्य निर्विवादास्पद ऐतिहासिक घटनाचक्र से अन्यथा सिद्ध होती है, तथापि आज वे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो की मान्यता होने, वहुजनसम्मत होने, पक्ष विशेष की प्राचीनता की साधक होने अथवा अन्य कतिपय कारणों से निर्विवादास्पद मान्यताओं का रूप धारण करती जा रही है। इस तरह की कतिपय मान्यताओ को अप्रामाणिक-अमान्य सिद्ध कर देने वाले जो प्रवल तथ्य हमे उपलब्ध हुए है, उन्हे यथास्थान उल्लिखित कर हमने वास्तविकता को प्रकाश मे लाने का प्रयास किया है। ऐसे प्रसगो पर हमे कुछ इस प्रकार के तथ्य भी प्रस्तुत करने पडे है, जो कतिपय विद्वानो की मान्यताओ के अनुकूल नही पडते। ऐसा करने के पीछे हमारी किंचित्मात्र भी इस प्रकार की भावना नही रही है कि किसी के भावुक कोमल मन को किसी प्रकार की कोई ठेस पहुँचे। हमारी चेष्टा पक्षपात विहीन एव केवल यही रही है कि वस्तुस्थिति प्रकाश में लाई जाय।

सम्प्रदाय-मोह एव परम्परा विशेष के पूर्वाग्रह से विमुक्त हो तटस्थ भाव से लिखते हुए भी विचार-भेद अथवा दृष्टिभेदवशात् यदि कोई उल्लेख तथ्य की सीमा का किंचित्मात्र भी अतिक्रमण कर गया हो तो 'तं मे मिच्छामि दुक्कड।'

संघ-संचालन की प्रणाली :– कोई भी सगठन, चाहे वह धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा सास्कृतिक सगठन हो, उसके सचालन के लिए किसी एक प्रणाली को अपनाना आवश्यक हो जाता है। अनेक भेद-प्रभेदो के होते हुए भी इस प्रकार के सगठनो को सुचारु रूप से चलाने के लिए मुख्य रूप से

दो प्रणालिया प्रधान मानी गई है – प्रथम एकतन्त्रीय प्रणाली और दूसरी प्रजातन्त्रीय प्रणाली।

तीर्थप्रवर्तन-काल से लेकर आज तक के भगवान् महावीर के धर्मसघ के इतिहास का समीचीनतया पर्यालोचन करने के पश्चात् यही तथ्य प्रकट होता है कि प्रारम्भ से ही इसका सचालन एक ऐसी सुन्दर एव सुदृढ प्रणाली से किया जाता रहा है जिसे न विशुद्ध एकतन्त्री प्रणाली ही कहा जा सकता है और न पूर्ण प्रजातान्त्रिक ही। महावीर यद्यपि लिच्छवि राजकुमार थे। लिच्छवि गणतत्र उनके समय का एक प्रमुख प्रजातान्त्रिक गणराज्य था। पर कैवल्योपलब्धि के अनन्तर तीर्थ-प्रवर्तन के समय उन्होने अपने धर्म सघ के सचालन के लिए प्रजातान्त्रिक प्रणाली एव एकतन्त्रीय प्रणाली के केवल गुणो को ग्रहण कर मिश्र प्रणाली को अधिक उपयुक्त समझा। यद्यपि वे प्रजातान्त्रिक परम्परा से आये थे परन्तु त्रिकालदर्शी-सर्वज्ञ हो जाने पर उन्होने देखा कि उनका धर्म सघ एकान्तत प्रजातान्त्रिक अथवा एकतत्री प्रणाली का अनुसरण कर चिरकाल तक अपने वास्तविक स्वरूप मे अजस्र एव निर्द्वन्द्व रूप से नही चल सकेगा। केवल प्रजातान्त्रिक पद्धति से सघसचालन की व्यवस्था मे उन्हे अपने धर्म सघ का चिरस्थायी जीवन प्रतीत नही हुआ।

सघ-व्यवस्था के आद्योपान्त स्वरूप के अध्ययन से तथा भगवान् द्वारा की गई पद व्यवस्था से यही तथ्य प्रकट होता है कि भगवान् महावीर ने सघ-सचालन के लिए प्रजातान्त्रिक प्रणाली के अकुश सहित सुयोग्य वैयक्तिक अधिकार प्रधान एकतत्री व्यवस्था प्रणाली को अधिक श्रेयस्कर समझा। सघ तथा आचार के प्रति अनन्य निष्ठावान्, प्रत्युत्पन्नमति, शासननिपुण, ओजस्वी, प्रतिभाशाली व्यवहारकुशल एव योग्यतम अधिकारिक व्यक्ति के साकुश अधिनायकत्व मे अपने धर्म सघ का चिर जीवन तथा चिरस्थायी हित समझकर भगवान् महावीर ने सघ के सचालन के लिए एक मिश्रित प्रणाली निर्धारित की। अनादिकालीन 'पचपरमेष्ठि नमस्कारमत्र' के पाचो पदो से भी यही सिद्ध होता हे कि जैन धर्म सघ मे अनादि काल से दोनो प्रणालियो के दोषो से मुक्त एव गुणो से युक्त मिश्र शासन-व्यवस्था रही है। अर्हतो के पश्चात् आचार्यो का धर्म सघ मे सदा-सर्वदा सर्वोपरि स्थान माना जाता रहा है पर आचार्य सदा सघ के प्रति उत्तरदायी रहे है।

इतिहास साक्षी है कि जहा उदायी, अशोक, सप्रति और विक्रमादित्य जैसे एकतन्त्री शासक कर्त्तव्यपरायणतापूर्वक प्रजावत्सल न्यायनिष्ठ और सेवाव्रती बने रहे, वहा धर्म, समाज एव राष्ट्र ने सर्वतोमुखी प्रगति की। इसके विपरीत कुछ अपवादों को छोड यह कटुसत्य सर्वविदित है कि प्रजातात्रिकता मे अभाव, अभियोग, अनुत्तरदायित्व, अनिश्चितता, अस्थिरता, विषाक्त प्रतिस्पर्धाजन्य अशान्ति का आधिक्य रहा। प्रजातान्त्रिक प्रणाली मे जहा एक ओर अनेक गुण है वहा दूसरी ओर वहुत बडा अवगुण भी है। वहा अधिकारी और अधिकृत, वड़े

और छोटे के भेद का केवल कहने भर के लिए स्थान न रहने के कारण प्रत्येक व्यक्ति मे सबसे आगे उभरने की, अहमिन्द्र अथवा अधिनायक बनने की प्रतिस्पर्धा प्रबल वेग से जागृत रहती है। प्रत्येक व्यक्ति मे उत्पन्न हुई इस प्रकार की भावना के परिणामस्वरूप संगठन मे साठ-गाठ, जोड-तोड, दलबन्दी, अनुशासनहीनता, और कलह आदि विनाशकारी प्रवृत्तिया पनपने लगती है। इस प्रकार शनै.-शनै सामूहिक अपनत्व की भावना अधिनायकत्व, अहमिन्द्रत्व का रूप ग्रहण कर लेती है। एक डोर मे चलने वाले एक सम्पन्न-समृद्ध घर के सभी सदस्यों में अपनत्व के स्थान पर अहम्मन्यता और अधिनायकत्व की भावना के पनपने पर जो उस घर की दुर्दशा होती है, ठीक वही दशा अन्ततोगत्वा प्रजातान्त्रिक प्रणाली से चलने वाले सगठन की होती है। यो तो सभी स्थितियां सापवाद होती है। पर जहा तक धार्मिक संघ का प्रश्न है, कम से कम इसके सचालन मे तो एकांतिक प्रजातन्त्रीय प्रणाली न फब सकती है और न चिरकाल तक सफल ही सिद्ध हो सकती है। प्रारम्भिक दशा मे भले ही उससे कुछ लाभ दृष्टिगोचर हो पर उसमे चिरकालिक स्थैर्य नही आ पाता। परिवर्तन पर परिवर्तन आते है। उस सघ का वास्तविक स्वरूप बदलते-बदलते मूल स्वरूप से पूर्णत. भिन्न हो जाता है। धार्मिक संघ मूलत. आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए स्थापित किये जाते है पर उनके एकान्ततः प्रजातान्त्रिक प्रणाली से सचालित किये जाने के परिणामस्वरूप उस संघ के अधिकाश सदस्यों में उत्पन्न हुई विषाक्त प्रतिस्पर्धा के कारण आध्यात्मिक शान्ति तो दूर भौतिक शान्ति भी नही रह पाती। उस धर्म सघ की स्थापना के पीछे जो आध्यात्मिक शाति की अवाप्ति का मूल उद्देश्य रहता है, वह तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार 'नष्टे मूले कुतो शाखा' की उक्ति के अनुसार वह सघ निष्प्राण हो जाता है।

एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली मे भी अकुश के अभाव तथा सर्वाधिक सुयोग्य व्यक्ति को अधिनायक न बना उसके स्थान पर अयोग्य व्यक्ति के मनोनयन के भी बड़े भीषण परिणाम होते है।

बौद्ध सघ का दृष्टान्त हमारे समक्ष है। बौद्धसंघ की व्यवस्था किस प्रणाली पर आधारित थी, इसका यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नही होता तथापि पाली-पिटको के उल्लेखानुसार लिच्छवियो के बौद्ध संघ की ओर अधिक झुकाव से यह अनुमान किया जाता है कि प्रारम्भिक काल में बौद्ध सघ की संचालन प्रणाली एकतन्त्री प्रणाली के आधार पर न की जाकर कतिपय परिवर्तनो के साथ गणतन्त्र प्रणाली के अनुरूप प्रजातान्त्रिक आधार पर की गई थी। यह भी एक कारण हो सकता है कि गणतान्त्रिक व्यवस्था के अभ्यस्त, शासक और शासित, अधिनायक और अधीनस्थ आदि के बडे-छोटे के भेद के अनभ्यस्त लिच्छवियो का प्रारम्भ मे बौद्ध संघ की ओर अपेक्षाकृत अधिक झुकाव रहा हो। पर बौद्ध संघ मे वज्जिपुत्रक सघ के नाम से एक पृथक् सघ की स्थापना से यह प्रकट होता है कि प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप बौद्धसघ मे उत्पन्न हुई अनुशासनहीनता

अथवा विश्रृखलता को दूर करने के उद्देश्य से द्वितीय बौद्ध सगीति के समय सघ व्यवस्था के नियमो मे वैयक्तिक अधिकारो के आधार पर कुछ परिवर्तन किये जाने लगे तो वज्जीवशी 'वज्जि पुत्रक' नामक भिक्खु, जो कि लिच्छवी गणतन्त्र के अगभूत प्रजातान्त्रिक वज्जीसघ के सदस्य रह चुके थे, बौद्ध भिक्षु-सघ से पृथक् हो गये। जब वज्जिपुत्रक भिक्खु ने देखा कि बौद्ध-भिक्षुसघ पर व्यक्तिनिष्ठ अधिनायकवाद छा रहा है, भिक्षुओ की स्वतन्त्रता पर वैयक्तिक आधिपत्य छा जाना चाहता है तो उन्होने पृथकत, अपने विचारो से सहमत भिक्षुओ का, एक सघ स्थापित किया और उस सघ का नाम वज्जिपुत्रक सघ रखा।

इस प्रकार इतिहास साक्षी है कि प्रजातान्त्रिक प्रणाली के आधार पर निर्धारित की गई सघीय व्यवस्था के कारण बौद्ध भिक्षुसघ बुद्ध से थोडे समय पश्चात् ही विश्रृखल होने लगा। विदेशी कुषाणवशी सम्राट् कनिष्क (वीर नि० की सातवी शताब्दी का प्रारम्भिक काल) के समय तक विघटित होते होते अनेक खण्डो मे विभक्त होगया और कालान्तर मे तो वह आर्यधरा से प्राय विलुप्त ही हो गया। निस्सदेह, विदेशो मे बौद्धधर्म का असाधारण प्रचार और विस्तार हुआ पर सुयोग्य एव साकुश एकतन्त्री सचालन प्रणाली के अभाव मे परिवर्तन पर परिवर्तन होते रहने के कारण उसकी मौलिकता स्थिर नही रह पाई।

एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली मे भी अधिनायक के मनोनयन के समय यदि समुचित सतर्कता, जागरूकता न वर्ती जाय और उस पर सुयोग्य एव सजग अकुश न रखा जाय तो उसके बडे भयकर दुष्परिणाम हो सकते है। इतिहास मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध है कि सर्वाधिक सुयोग्य व्यक्ति के स्थान पर किसी अयोग्य व्यक्ति को किसी धर्म सघ, राज्य अथवा राष्ट्र का सर्व सत्ता सम्पन्न अधिनायक बना दिये जाने की स्थिति मे उस राज्य, राष्ट्र अथवा धर्म सघ को कितनी बडी-बडी क्षतिया उठानी पडी है। जहा तक एकतन्त्री राज्य सत्ता का प्रश्न है, उसमे इस प्रकार के दोषो और दुष्परिणामो की सभावना दो कारणो से अधिक रहती है। प्रथम कारण तो यह रहा है कि एक राजा की मृत्यु के पश्चात् वश परम्परागत प्रथा के अनुसार उसके पुत्र को, चाहे वह अयोग्य ही क्यो न हो राज्य सिहासन पर अभिषिक्त कर उसे राज्य का सर्व सत्ता सम्पन्न निरकुश अधिनायक बना दिया जाना। दूसरा कारण रहा है विदेशी आततायियो अथवा आक्रान्ताओ द्वारा राज्यसत्ता पर बलपूर्वक अपना आधिपत्य स्थापित कर लेना। ये दोनो ही स्थितिया राज्य, राष्ट्र और जन साधारण के लिये बडी दु खद, विनाशकारी एव भयावह होती है। पहली स्थिति मे अधिनायक शास्ता की अकर्मण्यता के कारण शासन मे दौर्बल्य प्रजा मे निराशा एव अविश्वास घर करने लगता है, अवाछनीय तत्त्व उभर कर सक्रिय हो उठते है, जनहित, उत्पादन, अभिवृद्धि, शक्ति सचय आदि के आवश्यक कार्य और राज्य की आय के स्रोत अवरुद्ध हो जाते है। दूसरे प्रकार की स्थिति मे विदेशी शासन का मुख्य उद्देश्य येन केन प्रकारेण धन सचय करना अपने शासन को चिरस्थायी बनाने के लिये अपनी

सेना में, राज्य के प्रमुख पदो पर और युद्ध की दृष्टि से देश के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अपने कुटुम्ब के, अपनी जाति के और अपने देश के लोगो को अधिकाधिक सख्या मे नियुक्त करना, जमाना और शासित देश की सैनिक जातियो एव शक्तियो को नष्ट करना मात्र रहता है। विदेशी शासक के अन्तर्मन में जन सेवा, प्रजा-वत्सलता और राष्ट्र को सशक्त, सुसम्पन्न, समृद्ध-समुन्नत बनाने की भावना वस्तुत. नाममात्र को भी नही रहती।

पर जहाँ तक धर्म सघ की व्यवस्था का प्रश्न है, उसकी साकुश एकतन्त्री शासन प्रणाली अर्थात् मिश्र शासन प्रणाली मे चैत्यवास-सस्थापन जैसे अत्यल्प अपवादो को छोड कर इस प्रकार के दोषो के उत्पन्न होने की सभावनाएँ नही रहती है। किसी राज्य अथवा राष्ट्र की एकतन्त्रीय शासन प्रणाली को सदोष एव अनिष्टकर वना-देने वाले मुख्यतया जो दो कारण वताये गये है, उसी राजवश के व्यक्ति को सिहासनारूढ करना और विदेशी आक्रान्ता द्वारा बलात् राज्यसत्ता को हथिया लेना, इन दोनो कारणो की एक धर्म सघ के सचालन की एकतन्त्री व्यवस्था प्रणाली मे तो कल्पना तक नही की जा सकती। ऐसी स्थिति मे एकतन्त्रीय शासन प्रणाली के इन दो विनाशकारी मूल दोषो से धर्म-सघ सर्वथा अछूता रह सकता है। इनके अतिरिक्त धर्मसघ की एक- तन्त्रीय व्यवस्था प्रणाली मे धर्मसघ को अध पतन की ओर ले जाने वाले साधारणत जिन दोषो की सभावना की जा सकती है, उनमे प्रथम है आचार्य पर सघ का अकुश न रखना अथवा किसी अयोग्य व्यक्ति को आचार्य पद पर अधिष्ठित कर देना। आचार्य मे जिन जिन गुणो का होना आवश्यक है उन गुणो से विपरीत जितने भी अवगुण है उनमे से प्रत्येक अवगुण किसी भी श्रमण को आचार्य पद के लिये अयोग्य ठहराने मे पर्याप्त माना जाता रहा है। जो उत्सूत्र प्ररूपक, अदूरदर्शी, शिथिलाचारी, स्वार्थी, निष्प्रभ, निस्तेज, अशक्त हो, अंग-वाचना, प्रवचन, धर्म प्रभावना, सघ-सचालन, सघोत्कर्ष मे अकुशल, हो उग्र एव अस्थिर स्वभाव वाला और अवशेन्द्रिय हो, मुख्यत. वह श्रमण आचार्य पद के लिये अयोग्य माना गया है।

वस्तुत: सर्वाधिक सुयोग्य एव आचार्य पद के लिये आवश्यक सर्वगुणो से सम्पन्न श्रमण को ही आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने का विधान रखा गया है।

किन-किन प्रकार के विशिष्ट गुणों से सम्पन्न श्रमण को आचार्य पद पर मनोनीत किया जाता था और इस कार्य मे किस प्रकार पूर्ण सतर्कता और जागरूकता से काम लिया जाता था, यह – "निर्वाणोत्तर काल मे सघ व्यवस्था का स्वरूप इस शीर्षक के नीचे आगे दिये जा रहे आचार्य के गुणो एव संपदाओ के विवरण से भली भाति प्रकट हो जाता है।

प्राय: सभी आचार्य अपने जीवन काल मे ही सतत प्रयत्नशील रहते थे कि ऐसे योग्यतम व्यक्ति को अपने उत्तराधिकारी के रूप मे शिक्षित-दीक्षित किया जाय, जिसके सुदृढ नेतृत्व मे सघ उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता रहे, विश्वकल्याणकारी अहिसा-धर्म का उद्योत दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो जाय, प्रत्येक

मानव विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत होकर स्व-पर के कल्याण मे निरत रहे। इस तथ्य का साक्षी है आचार्य प्रभव द्वारा अपने उत्तराधिकारी के सम्बन्ध मे अर्द्धरात्रि के समय चिन्तन, यज्ञानुष्ठान मे निरत ब्राह्मण, सद्गृहस्थ सय्यभव का चयन, प्रतिबोधन, दीक्षण, अध्यापन और आचार्य पद पर मनोनयन।[1] आचार्य प्रभव के आचार्य काल मे श्रमण सघ बडा विशाल था। उनके सुविशाल शिष्य समूह मे अनेक श्रमण द्वादशागी के पारगत और चतुर्दश पूर्वधर होगे पर तात्कालिक परिस्थितियो मे अपने पश्चात् आचार्यपद के लिये जिन प्रकृष्ट गुणो की आवश्यकता थी, वे गुण आचार्य प्रभव ने गृहस्थ सय्यंभव ब्राह्मण मे पाये और उन्होने आचार्य पद के लिये अपने दीक्षावृद्ध, ज्ञानवृद्ध और विद्वान् शिष्यो मे से किसी को न चुनकर उनसे पश्चाद् दीक्षित आर्य सय्यभव को चुना।

भगवान् महावीर द्वारा अपने धर्मसघ के सचालन के लिये जो प्रणाली निर्धारित की गई वह एक ऐसी सुन्दर, सुनियोजित, सहज सुव्यवहार्य, समीचीन, श्रेयस्कर एव स्वस्थ साकुश एकतन्त्री परम्परा थी, जिसमे सघ के सर्वोपरि अधिनायक आचार्य के प्रति अगाध श्रद्धा और पूर्ण विश्वास के उपरान्त भी उसमे पूर्वाग्रहविहीन उन्मुक्त चिन्तन के लिये पूर्ण अवकाश था। विचार स्वातन्त्र्य के लिये द्वार उन्मुक्त थे। निर्णय से पूर्व उस कार्य के औचित्यानौचित्य के सम्बन्ध मे अपना-अपना अभिमत प्रकट करने का सघ को पूर्ण अधिकार था।

यदि सक्षेप मे कहा जाय तो वह सघ के अंकुश सहित एक ऐसी एक-तन्त्रीय शासन प्रणाली थी, जिसमे एकान्तिकता अथवा निरकुशता नाम मात्र को भी नही थी। सव के विचारो के प्रति सम्मान और समादर रखा जाता था। सामष्टिक रूप से विवेक की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर ही पेचीदा प्रश्नो पर आचार्य द्वारा निर्णय लिया जाता था।

स्थविर आदि विशिष्ट श्रमणो के सुदूरस्थ प्रदेशो मे विचरण करने की दशा मे अथवा किसी प्रकार की अन्य अपरिहार्य परिस्थितियो मे जहा समष्टि का अभिमत लिया जाना सभव नही होता उस स्थिति मे यदि किसी आत्यन्तिक महत्त्व के प्रश्न पर आचार्य अपना निर्णय देते तो उनका निर्णय सर्वोपरि और सर्वमान्य होता था। तदनन्तर उपयुक्त अवसर उपस्थित होते ही सामूहिक रूप से उस पर पुनर्विचार करने की स्थिति मे यदि उस निर्णय मे परिवर्तन करना अनिवार्य समझा जाता तो निस्सकोच भाव से आचार्य की विद्यमानता मे आचार्य द्वारा और आचार्य के दिवगत हो जाने की दशा मे श्रमण सघ द्वारा उस निर्णय मे आवश्यक परिवर्तन भी कर दिया जाता था। किन्तु इस प्रकार की परिस्थितिया कादाचित्क ही होती थी क्योकि सघहित को सदा लक्ष्य मे रखने वाले दूरदर्शी आचार्य प्रत्येक कार्य के औचित्यानौचित्य पर पूरी तरह विचार करने के पश्चात् ही नि स्वार्थ, निर्लेप एव निर्मोह भाव से निर्णय लेते थे।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ ३१२-३१४

आचार्य अपने शिष्य वर्ग मे से योग्य शिष्यों की अनेक प्रकार से परीक्षाएं लेकर मन ही मन सर्वत: सर्वाधिक सुयोग्य शिष्य को अपने उत्तराधिकारी के रूप मे चुन कर उसे स्वार्जित समस्त ज्ञान की शिक्षा प्रदान करते और अन्त मे अपनी आयु-समाप्ति से पूर्व ही समस्त संघ के समक्ष उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया करते थे। जहाँ इस प्रकार के उत्तराधिकारी नियुक्त करने जैसे आत्यन्तिक महत्व के प्रश्न पर श्रमणवर्ग एव सघ मे मतवैभिन्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती वहाँ पर आचार्य किस प्रकार अपने श्रमण समूह और सघ का पूर्णत: परितोष और समाधान करते थे, इसका एक बडा सुन्दर उदाहरण श्वेताम्बर परम्परा के वाङ्मय में उपलब्ध होता है।

घटना वीर नि० स० ५९७ की है। अनुयोगो के पृथक्कर्त्ता महान् आचार्य रक्षित अपने अनेक शिष्यो के साथ दशपुर नगर के बाहर अपने दीक्षास्थल इक्षुगृह मे ठहरे हुए थे। चातुर्मासावाधि मे अपनी आयु का अन्तिम समय समीप समझ कर अपने शिष्य-समूह एव सघ के समक्ष अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया। आर्य रक्षित अपने अनेक सुयोग्य शिष्यों मे से केवल दुर्बलिका पुष्यमित्र को ही अपने उत्तराधिकारी आचार्य पद के लिये योग्य समझते थे पर उनके शिष्य समूह मे से कतिपय मुनि और सघ के कुछ प्रमुख व्यक्ति फल्गुरक्षित को तथा कुछ मुनि और संघ के प्रमुख व्यक्ति गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी बनाये जाने के पक्ष मे थे। उत्तराधिकारी की नियुक्ति के प्रश्न पर अपने शिष्यसमूह और सघ मे मतभेद देखकर भी आर्य रक्षित सघहित को सर्वोपरि समझ अपने महान् पावन उत्तरदायित्व के निर्वहन मे कृतसंकल्प रहे। प्रश्न वस्तुत: बडा जटिल था। आर्य फल्गुरक्षित बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान् श्रमण और आचार्य रक्षित के छोटे सहोदर थे। उन्होने किशोरावस्था में अपने ज्येष्ठ भ्राता रक्षित के केवल एक इंगित मात्र पर श्रामण्य अगीकार कर ससार के समक्ष महान् त्याग और भ्रातृस्नेह का अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया था। बहुमत फल्गुरक्षित के पक्ष मे था। गोष्ठामाहिल भी बड़े तार्किक और विद्वान् मुनि थे। उत्तराधिकार के इस प्रश्न के उपस्थित होने से कुछ समय पूर्व ही सघ की प्रार्थना पर उन्होने आर्य रक्षित का आदेश पा मथुरा मे दुर्दान्त अक्रिया-वादियो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर धर्म की महती प्रभावना करने के साथ साथ वडा यश अर्जित किया। अत गोष्ठामाहिल का पक्ष भी पर्याप्त रूपेण सवल था। परन्तु आचार्य रक्षित अपने सहोदर फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल की अपेक्षा दुर्बलिकापुष्यमित्र को आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की दशा मे सघ का सर्वतोमुखी विकास, हित और उज्जवल भविष्य देख रहे थे।

अपने सम्मुख उपस्थित समस्या का वे इस प्रकार का हल निकालना चाहते थे, जिससे सघ के भावी उत्कर्ष एवं उज्ज्वल भविष्य मे किंचित्मात्र भी कोर-कसर न रहे और सभी पक्षों का पूर्ण संतोषप्रद समाधान हो जाय। आचार्य रक्षित ने बड़ी ही सूझ-बूझ से काम किया। उन्होंने उपस्थित शिष्य समूह और

संघ-मुख्यों को सम्बोधित करते हुए पूछा—"यदि हम लोगों के सामने तीन घडे रखे जायँ जो क्रमश उडद, तेल और घृत से भरे हो। उन तीनो को क्रमश पृथक्-पृथक् तीन रिक्त घडो मे उडेल दिये जाने पर उनमे उडद, तेल और घृत कितनी-कितनी मात्रा मे अवशिष्ट रहेगे ?"

सभी ने एक स्वर मे उत्तर दिया – उडद के घडे मे एक भी दाना अवशिष्ट न रहेगा। तेल के घडे मे कुछ तेल और घी के घडे मे तेल की अपेक्षा अधिक मात्रा मे घृत अवशिष्ट रह जायगा।

आचार्य रक्षित ने निर्णायक स्वर मे कहा – "उडद के घडे की तरह मै अपना समस्त ज्ञान (द्वादशागी एव सघ सचालन का ज्ञान) दुर्वलिका पुष्यमित्र मे उडेल चुका हूँ। मेरे शेप सव शिष्यो की स्थिति घृत-घट और तेल-घट तुल्य है। जिस प्रकार तेलपूर्ण एव घृतपूर्ण घडे को एक वार अन्य घडे मे उडेल दिये जाने के अनन्तर भी न्यूनाधिक मात्रा मे तेल और घृत अवशिष्ट रह ही जाता है, उसी प्रकार दुर्वलिका पुष्यमित्र को छोड कर शेप शिष्य मेरे सम्पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नही कर सके है।"

महान् धर्म प्रभावक एव अनन्य उपकारी धर्माचार्य के सघहितैकनिष्ठ आन्तरिक उद्गारो को सुनते ही तत्क्षण समस्त सघ का सम्यक्रूपेण समाधान हो गया, सभी मतभेद समाप्त हो गये, सभी पक्षो को पूर्ण सतोप हुआ और तत्काल श्रमण समूह और समस्त सघ ने सर्व सम्मति से दुर्वलिका पुष्यमित्र को आर्य रक्षित के उत्तराधिकारी आचार्य के रूप मे स्वीकार किया। भविष्य ने भी सिद्ध कर दिया कि आचार्य रक्षित का निर्णय वस्तुत. वडा दूरदर्शिता पूर्ण, सर्वथा उपयुक्त, समीचीन एव भगवान् महावीर के धर्मसघ की भावी सकट से रक्षा करने वाला था। आचार्य रक्षित के स्वर्ग गमन के कुछ ही समय पश्चात् मुनि गोष्ठा माहिल जव उत्सूत्र प्ररूपक सातवा निह्नव वना और आचार्य दुर्वलिका पुष्यमित्र ने आर्य रक्षित द्वारा प्रदत्त दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के वल पर गोष्ठा माहिल जैसे शास्त्रार्थ कुशल दुर्जेय तार्किक को समस्त सघ के समक्ष हतप्रभ कर प्रभु महावीर के सिद्धान्तो एव सघ के प्रति जन-मानस मे समादर की अभिवृद्धि की[1] तो धर्म सघ के प्रत्येक सदस्य के मुख से यही उद्गार निकले – "आर्य रक्षित वस्तुत महान् भविष्य-द्रष्टा थे। उनका निर्णय अतीव अद्भुत, सर्वथा उपयुक्त और वडा दूरदर्शितापूर्ण था, जो उन्होने सर्वत सक्षम-समर्थ दुर्वलिका पुष्यमित्र को अपना उत्तराधिकारी वनाया। यदि हम लोगो को प्रसन्न रखने के लिये सघ-हित की उपेक्षा कर गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी घोषित कर देते तो प्रभु के विश्व कल्याणकारी धर्म सघ का कितना वडा अहित होता। कोटि-कोटि प्रणाम है उन दिवगत महान् दूरदर्शी आचार्य को।"

इस प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओ से यह भली-भाति प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर ने अपने धर्म सघ के सचालन के लिये जो, सघ के अकुश

[1] प्रस्तुत, ग्रन्थ, पृ० ५९८–६०२

सहित एकतन्त्रीय शासन प्रणाली निर्धारित की, उसमें इस प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थी कि उन व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करते रहने पर वह सदा निर्दोष और पूर्ण स्वस्थ परम्परा बनी रहे । उस व्यवस्था में संघ के सरक्षण, उत्कर्ष आदि के लिये पूर्णत उत्तरदायी एव साकुश सर्व सत्ता सम्पन्न जो आचार्य पद रखा, उस पद पर नियुक्ति का आधार निर्वाचन के स्थान पर मनोनयन रखा गया । सघ सचालन की इस प्रकार की एकतन्त्री प्रणाली मे कभी किसी प्रकार का दोष आने की सभावना तक न रहे, इस उद्देश्य से उसी श्रमण को आचार्य पद पर मनोनीत अथवा अधिष्ठित करने का कड़ा विधान किया गया, जिसमे निम्न-लिखित योग्यताएं हो :-

जो स्वय पूर्ण आचारवान्, दूसरो से विशुद्ध आचार का परिपालन करवाने वाला, सघ मे पूर्ण अनुशासन रखने की क्षमता वाला, श्रमण समूह को तलस्पर्शी तत्त्वज्ञान एव आगम वाचना देने मे सक्षय, साधक वर्ग को आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर करते रहने की असाधारण योग्यता वाला, जन्मजात मेधावी, सर्वातिशायी ओज-तेज-प्रतिभा-प्रभावसम्पन्न व्यक्तित्व का धनी, धीर-वीर-गम्भीर, सस्कार सम्पन्न, पुण्यात्मा, आत्मजयी, निष्कलक जाति-कुल-स्वभावसम्पन्न एवं निश्छल प्रकृति का हो ।

जैसा कि आर्य प्रभव एव आर्य रक्षित के उपरिलिखित उल्लेखो से स्पष्ट है वीर निर्वाण के पश्चात् समय-समय पर आचार्यो ने और चतुर्विध सघ ने किसी भी श्रमण को आचार्य पद पर अधिष्ठित अथवा मनोनीत करते समय अपने गुरुतर उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुए उपरिलिखित योग्यताओ से सम्पन्न सर्वाधिक योग्य श्रमण को ही आचार्य पद पर अधिष्ठित किया । मतवैभिन्य की स्थिति मे अथवा अन्य आत्यन्तिक महत्व के अवसरो पर आत्मार्थी आचार्यो ने समस्त सघ का विश्वास सपादन कर अन्तिम निर्णय वही दिया, जो उन्हे सघ एव समष्टि के लिये हितकर प्रतीत हुआ । जैसा कि फल्गुरक्षित को उत्तरा-धिकारी घोषित किये जाने के प्रश्न से प्रकट है, उन्हे उनके पुनीत कर्त्तव्य के पावन उत्तरदायित्व से न लघुसहोदर का सम्बन्ध विचलित कर सका और न अन्य निकट से निकटतम सम्बन्ध ही । उन निर्लेप-निष्पक्ष महामना महान् आचार्यो के सुयोग्य नेतृत्व, दूरदर्शितापूर्ण समुचित निर्णयो, उद्दात्त चारित्र और सही मार्गदर्शन का ही प्रतिफल है कि धर्मसंघ की साकुश एकतत्र शासन प्रणाली मे विनाशकारी दोष प्रवेश न पा सके और आज सहस्राब्दियां बीत जाने पर भी भगवान् महावीर का धर्मसघ एक प्रतिष्ठित धर्मसघ के रूप मे अक्षुण्ण और अजस्र धारा के प्रवाह की तरह चला आ रहा है ।

जब तक आचार्यो ने संघ के प्रति उत्तरदायी रहते हुए सघहित के अपने महान् उत्तरदायित्व का सच्चाई के साथ निष्पक्ष और निर्लेप रह कर निर्वहन किया तब तक सघ अभिवृद्ध एव समुन्नत होकर उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता रहा ।

कालान्तर में ज्यों-ज्यों काल-प्रभाव से आचार्यों के अपने पवित्र उत्तरदायित्वो का न्याय एव सच्चाई पूर्वक निर्वहन करने मे शैथिल्य आने लगा, पुनीत कर्त्तव्य की भावना शनै शनै. विलुप्त होने लगी, धर्म सघ के हितार्थ दिये गये अधिकारो का उपयोग केवल अपनी महानता और स्वामित्व को प्रदर्शित करने मात्र के लिये किया जाने लगा, त्यो-त्यो अनुशासन शिथिल तथा धर्म सघ विकीर्ण एव क्षीण होता गया। पर सौभाग्य से समय-समय पर अनेक महान् विभूतिया उन दुर्दिनो मे उभर कर आगे आई। उन्होने घोरातिघोर कष्ट सह कर भी अनेक बार क्रियोद्धार किये। उन महान् आत्माओ के त्याग का ही फल है कि अनेक परिवर्तनो के उपरान्त भी आज भगवान् महावीर का धर्म सघ अपने मूल स्वरूप को अपरिवर्तित एव अक्षुण्ण वनाये हुए है।

उत्तरवर्ती काल मे श्रमण सघ के चतुर्दिक प्रसार, सुदूरस्थ प्रदेशो मे धर्म-प्रचार की दृष्टि से गये हुए श्रमणो द्वारा उन क्षेत्रो मे धर्मोद्योत की प्रचुर सभावनाओ के कारण वही विहार करते रहने के कारण अथवा कालान्तर मे छोटी-वडी कतिपय मान्यताओ का भेद उत्पन्न हो जाने व समय प्रभाव से अपना पृथकत एक गण के रूप मे स्वतन्त्र अस्तित्व वनाये रखने की भावना के वलवती वन जाने के फलस्वरूप श्रमण सघ मे क्रमश अनेक सघ, गण, गच्छ, शाखा, उपशाखा, कुल तथा उपकुल आदि का अस्तित्व वढने लगा और मुख्यत: वे विभिन्न सघ, गण, गच्छ आदि अपने अपने स्वतन्त्र आचार्य के नेतृत्व मे धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। इस प्रकार भगवान् महावीर के धर्म सघ मे अनेक सघो, गणो तथा गच्छो के प्रादुर्भाव के कारण एक ही समय मे अनेक आचार्यों की प्रथा का प्रचलन तो हुआ पर उन सभी धर्म सघो, गणो अथवा गच्छो के सचालन की परम्परागत साकुश एकतन्त्री शासन-प्रणाली यथावत् रही। उत्तरोत्तर अकुश मे शैथिल्य के अतिरिक्त उसके मूल स्वरूप मे विशेप परिवर्तन नही आया। आज भी जैन धर्म के सभी श्रमण सघो एव सम्प्रदायो की सचालन व्यवस्था अपने उसी पुरातन स्वरूप साकुश एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली को लिये हुए है।

निर्वाणोत्तर काल मे संघ व्यवस्था का स्वरूप – यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान् महावीर का धर्म-संघ भारत के विभिन्न धर्म सघो मे सदा से प्रमुख, सुविशाल तथा वहुजन सम्मत रहा है। जैन वाड्मय मे निर्वाण-पूर्ववर्ती एव निर्वाणोत्तरकाल के अनेक ऐसे अन्य धर्मसघो का उल्लेख उपलब्ध होता है जो विशाल भी थे और वहुजन सम्मत भी। पर आज उन धर्म सघो मे से एक दो को छोडकर शेष का नाम के अतिरिक्त कोई अवशेप तक भी अवशिष्ट नही रहा है। इसके विपरीत भगवान् महावीर का धर्म सघ जिस प्रकार प्रभु महावीर के निर्वाण से पूर्व एक विशाल, वहुजन सम्मत एव सुप्रतिष्ठित धर्म सघ के रूप मे समीचीन रूप से चलता रहा, उसी प्रकार निर्वाणोत्तर काल मे भी चलता रहा। निर्वाणोत्तर काल के १००० वर्ष के इतिहास का विहगमावलोकन करने पर तो यह विश्वास करने के लिये अनेक

प्रमाण उपलब्ध होते है कि जैन धर्म सुदूरवर्ती प्रदेशों तथा देशो मे फैला, फला-फूला और एक लम्बे समय तक उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होता रहा। जहा अन्य अनेक बडे-बड़े धर्म-संघ विषम परिस्थितियो मे विशृंखल एवं संक्रान्ति-काल की चपेट से चकनाचूर हो धरातल से तिरोहित हो गये, वहां जैन-धर्म प्रभु महावीर द्वारा दी गई अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, अब्रह्मनिवृत्ति और अपरिग्रह रूपी अमर, अनमोल, महान् सिद्धान्तो की धरोहर को सुरक्षित रखे हुए आज भी अनवरुद्ध गति से एक अजस्र धारामयी सौख्य-सरिता के समान चल रहा है। काल प्रभाव से यह धारा पूर्वापेक्षया परिक्षीण तो अवश्य हुई है पर उसके शिवसौख्य प्रदायी मूल गुण मे किसी प्रकार की किंचित्मात्र भी न्यूनता नही आ पाई है।

आजीवक प्रभृति अनेक विशाल धर्म-सघ विलुप्ति की घोर अन्धकारपूर्ण गुफा मे विलीन होगये। आज उन धर्म सघों का अनुयायी तो दूर, चिन्ह तक कही दृष्टिगोचर नही होता। जैन धर्म पर भी अनेक बार विपत्ति के बादल मडराये, द्वादशवार्षिकी दुष्कालियों, राजनयिक उथल-पुथल, वर्ग विद्वेष, धर्मांधता-जन्य गृह कलह आदि संक्रान्तिकाल के अनेक दौर आये और चले गये। अनेक धर्म सघो का सर्वनाश करने वाले वे विप्लव भी जैन धर्म को समाप्त नही कर सके। अतीत की उन अति विकट सकटापन्न घड़ियों मे भी जैन धर्म किन कारणो से अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल हुआ ? इस प्रश्न की गहराई मे उतरने और खोज करने पर इसके कतिपय प्रबल कारण उभर कर सामने आते है। सबसे पहला और प्रबल कारण तो यह था कि सर्वज्ञ प्रणीत धर्म होने के फलस्वरूप इस धर्म सघ का सविधान सभी दृष्टियों से सुगठित और सर्वांग-पूर्ण था। अनुशासन, सगठन की स्थिरता, सुव्यवस्था, कुशलता पूर्वक संघ के सचालन की विधा आदि सघ के उस संविधान की अपनी अप्रतिम विशेषताए थी। दूसरा मुख्य कारण था इस धर्म संघ का विश्वबन्धुत्व का महान् सिद्धान्त, जिसमे प्राणिमात्र के कल्याण की सच्ची भावना सन्निहित थी। इन सब से वढ कर इस धर्म सघ की घोरातिघोर संकटो मे भी रक्षा करने वाला था इस धर्मसघ के कर्णधार महान् आचार्यो का त्याग-तपोपूत अपरिमेय आत्मबल। इस प्रकार ये ३ प्रमुख कारण थे, जिनके बल पर सघन काली मेघ घटाओं के विच्छिन्न हो जाने पर जिस प्रकार सूर्य पुन: अपनी प्रखर किरणों के प्रचण्ड तेज से जगती-तल को प्रकाशित करने लगता है, ठीक उसी प्रकार जैन धर्म-सघ भी समय-समय पर आये सकटो से उभर कर अपने अलौकिक ज्ञानालोक से जन-जन के मन-मन्दिर और मुक्ति पथ को प्रकाशित करता रहा।

जैन वाङ्मय के कतिपय अति प्राचीन प्रामाणिक उल्लेखों और पुरातन काल से चली आ रही पारम्परिक मान्यता के आधार पर यह अनुमान करने के अनेक कारण विद्यमान है कि श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के समय तक जैन धर्म-सघ का एक सर्वांगपूर्ण एवं अतिविशाल सविधान विद्यमान था। उस सविधान मे सभवत. पच महाव्रतधारी साधु-साध्वी, अणुव्रतधारी श्रावक-श्राविका

वर्ग के लिये ही नही अपितु सघ के प्रति निष्ठा-प्रेम रखने वाले साधारण से साधारण सदस्य के कर्त्तव्यो एव कार्यकलापो के लिये मार्ग दर्शक विधिविधान था। उसमे निर्दिष्ट विधि के अनुसार इस धर्म-सघ का प्रत्येक सदस्य अपने कर्त्तव्यो का पालन करते हुए अपने दायित्वो का निष्ठापूर्वक निर्वहन करता था।

वीर नि० स० १६० के आस-पास पाटलिपुत्र मे हुई प्रथम आगम-वाचना के समय दृष्टिवाद की रक्षार्थ सघ द्वारा साधुओ के एक सघाटक को भद्रबाहु की सेवा मे नेपाल भेज कर उन्हे मेधावी साधुओ को चोदह पूर्वो की वाचना देने की प्रार्थना करना, भद्रबाहु द्वारा प्रथमत संघ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और अन्ततोगत्वा बारह प्रकार के सभोगविच्छेद की सघाज्ञा के समक्ष झुक कर स्थूल भद्र आदि को पूर्वज्ञान की वाचना देने के उल्लेख[1] से भी यह अनुमान किया जाता है कि पूर्वकाल मे जैन सघ का एक सर्वाग सम्पन्न सविधान था, जिसमे श्रमण सघ की ही तरह साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इन चारो वर्गो का प्रतिनिधित्व करने वाले एक जैन सघ के कर्त्तव्यो एव दायित्वो के सम्बन्ध मे स्पष्ट एव विशद प्रावधान थे। चतुर्विध तीर्थ का प्रतिनिधित्व करने वाला इस प्रकार का सघ विशिष्ट प्रकार के सकट के समय विचार-विमर्श के पश्चात् किसी विकट समस्या के समाधान के लिये निर्णय लेता था। यदि इस प्रकार की व्यवस्था सविधान मे नही होती, तो न तो सघ ही एक आचार्य को इस रूप मे आज्ञा देने का अधिकारी हो सकता था और न आचार्य भद्रबाहु ही उस सघाज्ञा को मानने के लिये बाध्य होते। वह सघाज्ञा केवल श्रमणवर्ग की ही हो, यह भी उचित प्रतीत नही होता क्योकि भद्रबाहु आचार्य होने के नाते समस्त श्रमण वर्ग के शास्ता थे और श्रमण समूह उनका शासित वर्ग। शासित वर्ग शास्ता को आज्ञा दे, यह युक्तिसगत नही लगता। विद्वान् इतिहासज्ञ इस विषय मे गवेषणा करेगे ऐसी अपेक्षा है।

पहली आगम-वाचना के समय के उपरिवर्णित उल्लेख के अतिरिक्त आर्य वज्र की माता द्वारा अपने पुत्र वज्र को पुन उसे लौटाने के लिये राज्य के न्यायालय मे की गई प्रार्थना, आर्य रक्षित का उत्तराधिकारी घोषित करने विषयक उलझन जैसे अनेक प्रसगो पर सघमुख्यो के हस्तक्षेप, विचार विनिमय, सहयोग आदि के उदाहरण भी जैन वाङ्मय मे उपलब्ध होते है। इनसे यही प्रकट होता है कि सघमुख्यो के भी परम्परा से कुछ कर्त्तव्य, कतिपय दायित्व रहे है और उनका उल्लेख कही न कही था, जिसे आज की, भाषा मे सविधान की सज्ञा दी जा सकती है।

श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहु ने दृष्टिवाद के नौवे प्रत्याख्यान पूर्व से, श्रमण सघ के लिये आवश्यक विधि विधानो को निर्यूढ-उद्धृत कर, चुन चुन कर दशाश्रुत स्कन्ध, कल्प, व्यवहार इन तीन छेद सूत्रो तथा आचार-कल्प (निशीथ)

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३७७

इन आगमो का निर्माण किया[1] – यही एक सर्वसम्मत ऐतिहासिक घटना इस बात का विश्वास करने के लिये पर्याप्त एव प्रवल प्रमाण है कि भगवान् महावीर के धर्म-संघ का प्राचीन काल में एक विशाल एव अपने आप मे सर्वत· परिपूर्ण सविधान था।

इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण समीचीन व्यवस्था के कारण भगवान् महावीर का धर्म-सघ तत्कालीन क्रमागत आचार्यो के नेतृत्व मे सुसगठित रूप से चलता रहा। समय समय पर अनेक प्रतिकूल परिस्थितिया आई, आपत्कालीन स्थितिया भी उत्पन्न हुई, इस धर्म-संघ पर अनेक वार विपत्तियो के घने काले वादल भी मडराए पर दूरदर्शी अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न, तपोधन आचार्यों के कुशल नेतृत्व मे यह धर्म-सघ सुसगठित रहने के कारण उन परीक्षा की घडियो मे सदा उत्तीर्ण हुआ। उसने अपने अस्तित्व को ही नही अपितु अपनी प्रतिष्ठा को भी बनाये रखा।

इस धर्मसघ की वह सर्वांगपूर्ण एवं छिद्रविहीन सुव्यवस्था किस प्रकार की थी? इस धर्मसघ का सविधान क्रमबद्ध एवं पृथक् रूप से एकत्र ग्रथित था अथवा आज जिस प्रकार विविध छेद सूत्रो, भाष्यो एव महाभाष्यो आदि में विकीर्ण रूप मे दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार विभिन्न आगमो मे निहित था? आज आगम साहित्य मे मुख्यत: केवल श्रमण-श्रमणीवर्ग की दैनिकचर्या, दीक्षित होने के समय से लेकर प्राणोत्सर्ग-कालपर्यंत श्रमण-श्रमणियो के सभी उत्तर-दायित्वो, आवश्यक कर्त्तव्यो आचार-विचार, आहार-विहार-प्रायश्चित आदि के सम्बन्ध मे विधान उपलब्ध होता है। श्रावकवर्ग के आचार-विचार के सम्बन्ध मे तो कुछ स्थलो पर प्रत्यक्ष और कतिपय स्थलो पर अप्रत्यक्ष-रूप मे थोडा वहुत उल्लेख विद्यमान है किन्तु धर्मसघ के प्रति उनके दायित्वो, धर्मसघ के अभ्युत्थान हेतु उनके कर्त्तव्यो आदि का क्रमिक एवं विस्तृत उल्लेख कही दृष्टिगोचर नही होता। तो वस्तुत: श्रावक श्राविका वर्ग के लिये भी इस धर्मसंघ के पूर्वकालवर्ती सविधान मे विधिविधान, किसी प्रकार का नितो-निर्देश था अथवा नही? साधु-साध्वी वर्ग और श्रावक-श्राविकावर्ग के वीच का भी कोई वर्ग था अथवा नही? यदि था तो उसका स्वरूप क्या था और उस वर्ग के दायित्व क्या क्या थे? इन सव आत्यन्तिक महत्व के प्रश्नों के यत्किंचित् उत्तर तो आज हमे उपलब्ध जैन वाङ्मय मे खोजने पर मिल जाते है पर उन्हे पूर्ण संतोपप्रद नही कहा जा सकता। इस सवन्ध में गहन शोध के साथ-साथ शास्त्रीय आधार पर जैन संघ के सविधान के निर्माण की भी आवश्यकता है, जो सभी दृष्टियो से पूर्ण और स्पष्ट हो।

---

[1] (क) वन्दामि भद्दवाहु, पाईण चरिम सगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासुकप्पे य ववहारे ॥१॥ [दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति]

(ख) तत्तोच्चिय णिज्जूढं, अणुगहट्ठाए संपयजतीण।
तो सुत्तकारगो खलु, स भवति दसकप्प ववहारे ॥११॥ [पचकल्प महाभाष्य]

(ग) तेण भगवया आयार पकप्प-दसा-कप्प-ववहारा
य नवमपुव्वनीसदभूता निज्जूढा [पचकल्प चूर्णि, पत्र १]

छेद सूत्रो मे निर्वाणोत्तर कालीन श्रमण सघ की व्यवस्था का विस्तृत रूप से विवरण उपलब्ध होता है। धर्म संघ का श्रमण-श्रमणीवर्ग सुदृढ सगठन एव पूर्ण अनुशासन मे रहते हुए सम्यग् रीति से ज्ञानाराधना तथा साधना का निरन्तर-उत्तरोत्तर विकास, धर्म का प्रचार-प्रसार-प्रभावना-अभ्युत्थान और निर्दोष रूप से अपने सयम एव जीवन का निर्वाह कर सके, इस प्रकार धर्मसघ की व्यवस्था सहज भाव से सम्यक् रूपेण चल सके, इस उद्देश्य से श्रमण सघ मे निम्नलिखित पदो की व्यवस्था किये जाने के उल्लेख स्थानाग सूत्र की वृत्ति[1] एव वृहत्कल्पसूत्र[2] मे प्राप्त होते है –

१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४ स्थविर,
५ गणी, ६ गणधर, ७ गणावच्छेदक

श्रमण समूह के समान श्रमणी समूह भी आचार्य का ही आज्ञानुवर्ती रहता था। पर श्रमणीवर्ग की दैनन्दिन-व्यवस्था समीचीनतया चलती रहे, श्रमणो तथा श्रमणियो का अवाछनीय अतिसम्पर्क न हो और समलैगिकता के कारण श्रमणियो की व्यवस्था भी श्रमणो की अपेक्षा श्रमणिया सुविधापूर्वक कर सके, इस दृष्टि से श्रमणीवृन्द के लिये प्रवर्तिनी महत्तरा, स्थविरा और गणावच्छेदिका पदो की व्यवस्था निर्धारित की गई है। इन पदो पर अधिष्ठित किये जाने वाले महा श्रमणो की कायिक, वाचिक एव आध्यात्मिक सम्पदाओ, योग्यताओ, उत्तरदायित्वो, पुनीत कर्त्तव्यो और उनके द्वारा वहन किये जाने वाले गुरुतर कार्यभार आदि का यहा शास्त्रीय एव पुरातन आधार पर सक्षेप मे विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य – भगवान्-महावीर के धर्मसघ मे आचार्य (धर्माचार्य) का पद अप्रतिम गौरव-गरिमापूर्ण और सर्वोपरि माना जाता है। जैन धर्म सघ के सगठन, सचालन, सरक्षण, सवर्द्धन, अनुशासन एव सर्वतोमुखी विकास-अभ्युत्थान का सामूहिक एव मुख्य उत्तरदायित्व आचार्य पर रहता है। समस्त धर्म सघ मे उनका आदेश अन्तिम निर्णय के रूप मे सर्वमान्य होता है। यही कारण है कि जिनवाणी का यथातथ्य रूप से निरूपण करने वाले आचार्य को तीर्थंकर के समान और सकल सघ का नेत्र बताया गया है।[3]

आवश्यक चूर्णिकार ने 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा

---

[1] स्थानाग सूत्र, ४ ३, ३२३ (वृत्ति)

[2] वृहत्कल्प सूत्र, ४ १२३

[3] तित्थयर समो सूरि, सम जो जिणमय पयासेई।
आण अइक्कमतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥
स एव भवसत्ताण, चक्खुभूए वियाहिए।
दसेई जो जिणुदिट्ठ, अणुट्ठाण जहाहिय॥
[गच्छाचार पयन्ना, अधि० १]

है – "ग्राङ् मर्यादाभिविध्यो. चरिर्गत्यर्थे, मर्यादया चरन्तीत्याचार्या " ग्राचारेण वा चरन्तीत्याचार्या ।"

ग्रावश्यक मलय वृत्ति मे भी 'ग्राचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार उल्लिखित है – "चर गति – भक्षणयो· ग्राङ् पूर्व ग्राचर्य्यते कार्यार्थिभि: सेव्यते इत्याचार्य·, ऋवर्ण व्यंजनाद्यणिति ।"[1]

भगवती सूत्र की वृत्ति मे 'ग्राचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए इस पद की गरिमा पर निम्नलिखित रूप मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है –

"ग्रा मर्यादया तद्विपयविनयरूपया चर्य्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशतया तदाकाक्षिभिरित्याचार्या । उक्त च –

सुत्तत्थविऊलक्खण-, जुत्तो गच्छस्स मेढिभूग्रो य ।
गणतत्तिविप्पमुक्को, ग्रत्थ वाएइ ग्रायरिग्रो ।।त्ति।।

ग्रथवा ग्राचारो ज्ञानाचारादि: पञ्चधा । ग्रा मर्यादया वाचारो विहार, ग्राचारस्तत्र साधव: स्वय करणात्प्रभापणाप्रदर्शनाच्चेत्याचार्य्या । ग्राह च–

ग्रथवा ग्रा ईपदपरिपूर्णा इत्यर्थश्चाराहैरिका ये ते ग्राचाराश्चारकल्पा इत्यर्थ युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया ग्रतस्तेपु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतयेत्याचार्या ।"[2]

साराश यह है कि जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित ग्रागमज्ञान को हृदयगम कर उसे ग्रात्मसात् करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यो द्वारा जो विनयादिपूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हो, उनको ग्राचार्य कहते है । कहा भी है – जो सूत्र ग्रौर ग्रर्थ–उभय के ज्ञाता हो, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हो, सघ के लिये मेढि ग्रर्थात् ग्राधार स्तम्भ के समान हो, जो ग्रपने गण-गच्छ ग्रथवा सघ को समस्त प्रकार के सतापों से पूर्णत· विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो ग्रपने शिष्यो को ग्रागमो की गूढार्थ सहित वाचना देते हो, उन्हे ग्राचार्य कहते है ।

जो (ग्राचार्य) पाच प्रकार के ग्राचार ग्रर्थात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप ग्राचार एवं वीर्याचार का स्वय सम्यग् रूपेण पालन, प्रकाशन प्रसारण तथा उपदेश करते है ग्रौर ग्रपने ग्रन्तेवासियो से भी उसी प्रकार का ग्राचरण करवाते है, उन्हे ग्राचार्य कहा जाता है ।

राज प्रश्नीय सूत्र में ग्राचार्य के तीन भेद बताने के पश्चात् किस प्रकार के ग्राचार्य के प्रति किस तरह का विनय व्यवहारादि प्रदर्शित करते हुए कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए-इसका निम्नलिखित शब्दो मे सुन्दर उल्लेख किया है –

"केसीकुमार समणे पदेसि राय एवं वयासि – जाणासि ण तुम्ह पएसी केवइयारिया पण्णत्ता ? हता-जाणामि तग्रो ग्रायरिया । जाणासि ण तुम्हं

---

[1] ग्रावश्यक मलयवृत्ति, द्वितीय ।

[2] भगवती सूत्र, १. १. १. मगलाचरण (वृत्ति)

पएसी तेसि तिण्ह आयरियाण कस्स का विणय पडिवत्ती पउजियव्वा ? हता जाणामि कलायरियस्स, सिप्पायरियस्य उवलेवण वा समज्जण करेज्जा, पुप्फाणि वा आणावेज्जा, मडावेज्जा वा भोयवेज्जा वा विउल जीवियारिंह पीइदाण दलाएज्जा, पुत्ताण पुत्तिय वावि विकप्पेज्जा। जत्थेव धम्मायारिय पासेज्जा तत्थेव वदिज्जा, णमसेज्जा, सक्कारेज्जा, सम्माणेज्जा, कल्लाण मगल देवय चेइय पज्जुवासेज्जा, फासुएसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेज्जा, पाडिहारिएण पीठफलगसेज्जा सथारगेण उवनिमतिज्जा।[1]

अर्थात् – केशि कुमार श्रमण के प्रश्न के उत्तर मे राजा प्रदेशी ने कहा कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य ये ३ प्रकार के आचार्य होते है। उनमे से कलाचार्य तथा शिल्पाचार्य ऋतुओ के अनुकूल उबटन, मज्जन, पुष्प, वस्त्राभूषणादि, भोजन और उनके जीवनयापन योग्य प्रीतिदान से सम्मानार्ह होते है। उनके पुत्र पुत्रियो को भी इसी प्रकार सम्मानित किया जाना चाहिए। इन दोनो प्रकार के आचार्यो की तुलना मे धर्माचार्य अत्यधिक सम्मानार्ह होते है। जहा कही धर्माचार्य के दर्शन हो जाय वही उनको भक्ति भाव से वदन-नमस्कार करना चाहिए, उनका हार्दिक सत्कार कर उनके प्रति सम्मान प्रकट करना चाहिए। हे भगवन् ! आप महान् कल्याणकारी, सर्व मगल स्वरूप-मगल-प्रदायी और पूजनीय है – इस प्रकार के भक्ति पूर्ण आन्तरिक उद्गारो के साथ मधुर शब्दो से उनकी उपासना के पश्चात् उन्हे निर्दोष सात्विक अशनपानादि का दान देकर तख्ता (पीठ फलक) सस्तारक आदि आवश्यक वस्तुओ को ग्रहण करने के लिये निवेदन करना चाहिए।

सार रूप मे 'आचार्य' शब्द के अर्थ का प्रतिपादन निम्नलिखित श्लोक मे इस प्रकार किया गया है –

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥

अर्थात् – जो श्रमणाग्रणी सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रो के अर्थ का आचयन – मननपूर्वक सचयन अथवा सग्रहण करते है, स्वय विशुद्ध – निरतिचार आचार का सम्यक् रूपेण परिपालन करते है एव अपने शिष्य-शिष्याओ तथा भव्य भक्तो को आचार मे स्थापित करते है, इसी लिये उनको आचार्य कहा जाता है।

महानिशीथ, (अध्ययन ३) मे आचार्य का लक्षण इस प्रकार बताया गया है :–

"अट्ठारस सीलग-सहसाहिठिय तणू छत्तीसइविहिमायार जह-ट्ठियमगिलाए महत्ति साणुसमय आयरतित्ति वत्तयतित्ति आयरिया परमप्पणो य हियमायरति आयरिया सव्वसत्तसीसगणाण च हियमायरति आयरिया। पाणपरिच्चाए विउ

[1] राजप्रश्नीय सूत्र

पुढवादिए समारभ नायरति नारभति णाणुजाणन्ति आयरिया सुहुमावरद्धेवि ण कस्सई मणसावि पावमायरतित्ति वा आयरिया ।"[1]

फिर वही पर आचार्य के चार भेदो के निरूपण के साथ भावाचार्य को तीर्थकर के समान समझने का निर्देश किया गया है । यथा-

"कस्याज्ञा नातिक्रमणीयेत्यधिकृत्य गोयमा ! चउव्विहा आयरिया भवति, तजहा – नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया, तत्थण जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दठ्ठव्वा तेसि सतियाण णाइक्कमेज्जा ।"[2]

अगचूलिका मे आचार्य के तीन भेद बताने के पश्चात् धर्माचार्यो को उनके गुण कर्मानुसार चार वर्गो मे विभाजित किया गया है ।

"तओ आयरिया पण्णत्ता । सिप्पायरिया, कलायरिया, धम्मायरिया । जे ते धम्मायरिया, परलोगहियठ्ठाए निज्जरट्टाए आराहेयव्वा । अण्णे कलायरिया, सिप्पायरियाए कइएहि कित्तबुद्धिए आराहियव्वे ।

तत्थेगे धम्मायरिया सोवायकरडसमा । वद्धाइकथत्थप्पयगाहाइहि जे सुद्धसभाए वखाणिति ते सोवागकरडसमा । वेसाकरडसमा जो रीरी आहारण-सरिसजीहावक्खाणडबरेणं अतर सुअसार-विरहियावि सुद्ध सभाए जण विमोहि-ति णेरविति, अप्पाण थुतसि आलुच्च अणत्थे पाडिति गोयम ! गणहराण उवमाए ते वेसाकरडसमा । गाहावईकरडसमा जे सम समुवसिय-सुगुरुहितो सपत्त अंगोवगाइ सुत्तत्थेसु परिच्छिअच्छेयगथा स-समय-पर-समयणिच्छया परोवयार करणिक्कभल्लिच्छया । जणजोग विहीए अणुओगं करिति ते गाहावईकरडसमा । रायकरडसमा–जे गणहरा चउदसपुव्विणो वा घडाओ घडसय, पडाओ पडसयं इच्चाइ विहाइ सयसमणिया ते रायकरडसमा ।

गाहावई करंडसमाणे, रायकरडसमाणे दो विए आयरिए तित्थयर समाणे ।"[3]

दिगम्बर परम्परा के ख्यातनामा विद्वान् आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के आदिमगल पचपरमेष्ठि-मन्त्र के तीसरे पद की व्याख्या करते हुए 'धवला' में आचार्य शब्द की परिभाषा निम्नलिखित रूप में की है :–

"णमो आयरियाणं – पंचविधमाचार चरति चारयतीत्याचार्यः चतुर्दश-विद्यास्थानपारग एकादशागधर आचारागधरो वा तात्कालिकस्वसमयपर–समयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव वहिः क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः—आचार्य ।"

आचार्य शब्द की उपर्युक्त परिभाषा देने के पश्चात् आचार्य वीरसेन ने आचार्य के स्वरूप और उसके लिये आवश्यक अनुपम गुणों पर विशद प्रकाश डालने वाली निम्नलिखित तीन गाथाए उद्धृत की है :–

---

[1] महानिशीथ, अ० ३ [2] महानिशीथ, अ० १ [3] अग चूलिका

पवयणजलहि-जलोयर, पहायामल-वुद्धि-सुद्ध-छावासो ।
मेरुव्व णिप्पकपो, सूरो पचाणणो वज्जो ।।२६।।
देस-कुल – जाइ-सुद्धो, सोमगो सग-भग विम्मुक्को ।
गयणव्व णिरुवलेवो, आइरियो एरिसो होई ।।३०।।
सगह-णुग्गह-कुसलो, सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।
सारण-वारण-सोहण, किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ।।३१[1]।।

आचार्यो का गुरुतम उपकार – प्रस्तुत खण्ड मे जिन आचार्यो का पावन इतिवृत्त प्रस्तुत किया जा रहा है, उनका ससार के प्राणिमात्र पर इतना गुरुतम उपकार है कि उनके द्वारा किये गये महान् उपकार के प्रति आभार प्रकट करने मे न लाखो लेखनिया ही सक्षम है और न सहस्रो जिह्वाए एव ससार के समस्त शब्दकोश ही ।

आज से लगभग २५३० वर्ष पूर्व निखिल विश्वैकवन्धु श्रमण भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण ससार के जड, चेतन, रूपी-अरूपी, चर-अचर जीवाजीवादि त्रैकाल्यवर्ती समस्त भावो का हस्तामलक के समान सकल एव युगपद् साक्षात्कार कराने वाले केवलालोक की उपलब्धि के पश्चात् ससार-सागर के सेतु रूप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया । लगभग ३० वर्ष तक प्रभु अपने अमोघ उपदेशामृत से प्राणिमात्र का कल्याण और भव्यो का उद्धार करते रहे ।

प्रभु के निर्वाण पश्चात् की क्रमवद्ध आचार्य परम्परा मे हुए त्यागी तपस्वी आचार्यो ने भगवान् महावीर की दिव्य-ज्ञान की ज्योति को अपने अपने आचार्य-काल मे अनवरत अध्ययन,अध्यापन, प्रवचन-प्रख्यापन एव गहन चिन्तन-मनन के स्नेह से सिंचित कर अक्षुण्ण-अखण्डित वनाये रखा । इसी कारण निर्युक्ति-कार महान् नैमित्तिक आचार्य भद्रवाहु ने उन आचार्यो को निम्नलिखित शब्दो मे उस दीपक की उपमा दी है, जो स्वय प्रकाशित होते हुए औरो को भी प्रकाशित करता है और जिससे अन्य सैकडो-सहस्रो दीप प्रदीप्त किये जा सकते है –

जह दीवादीवसय पईप्पए, सो य दीप्पए दीवो ।
दीव समा आयरिया, अप्प च पर च दीवति ।।[1]

वीर निर्वाण के पश्चात् हुए इन परम परोपकारी आचार्यो ने भगवान् महावीर की सकल-भूत-हितानुकम्पामयी वाणी को न केवल अक्षुण्ण वनाये रखा अपितु अपने अपने समय मे उसे नगर-नगर डगर-डगर मे जन-जन तक पहुँचा कर अगणित लोगो को सम्यक्त्व प्रदान कर प्राणिमात्र पर कितना वडा उपकार किया है, इसका अनुमान आचार्य हरिभद्र के निम्नलिखित पदो से लगाया जा सकता है –

सयलमवि जीव लोए, तेण इह घोसिओ अमाघाओ ।
इक्क वि जो दुहत्त, सत्त वोहेइ जिण वयणे ।।६२।।

---

[1] आचाराग निर्युक्ति, गाथा ८

सम्मत्त दायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु ।
सव्वगुण मिलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडीहि ।।६३।।

अर्थात्–जो सत्पुरुष, दुखार्त्त किसी एक भी जीव को प्रतिबोधित कर वीतराग वाणी मे उसकी श्रद्धा उत्पन्न करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि उस सत्पुरुष ने सम्पूर्ण जीव लोक मे अमारि (अभय) की घोषणा करवा दी। क्योकि वह सम्यक्त्वधारी जीव पूर्ण अहिसक बनकर प्राणिमात्र को अभयदान देने वाला होता है ।

सम्यक्त्व प्रदान करने वाले सत्पुरुष के इस महान् उपकार से वह जीव अनेक जन्मों तक करोडो प्रकार के उपकार कर के भी उऋण नहीं हो सकता ।

दसणभट्ठो भट्ठो न हु भट्ठो होइ चरणपब्भट्ठो ।
दसणमणुपत्तस्स हु, परियडणं नत्थि संसारे ।।
दसणभट्ठो भट्ठो, दसण भट्ठस्स नत्थि णिब्वाणं ।
सिज्झति चरण रहिआ, दसण रहिआ न सिज्झंति ।।

इन आचार्यो ने प्रवचन को सुरक्षित रक्खा । प्रवचन के अभ्यास से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है :–

मेरुव्व णिप्पकप णट्ठट्ठमल तिमूढ उम्मुक्कं ।
सम्मदणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा ।।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र मे आचार्य की विशेषताओं का विस्तार में वर्णन किया गया है । वहा आचार्य की आठ सम्पदाये बतलाई गई है, जो निम्नाकित है ।[1]

१. आचार-सम्पदा
२ श्रुत-सम्पदा
३. शरीर-सम्पदा
४ वचन-सम्पदा
५. वाचना-सम्पदा
६. मति-सम्पदा
७ प्रयोग-सम्पदा तथा
८. सग्रह-सम्पदा

आचार-सम्पदा

आचार-प्रवणता आचार्य का मुख्य गुण है । आचार्य शब्द भी प्राय इसी आधार पर निष्पन्न हुआ है । आचार-सम्पदा मे इसी आचार पक्ष का विश्लेषण है, जिसके चार भेद कहे गये है :–

१. **संयम ध्रुवयोग युक्तता** – सयम के साथ आत्मा का ध्रुव या अविचल सम्बन्ध सयम-ध्रुवयोग कहा जाता है । आचार्य सयम ध्रुवयोगी होते है । वे अपनी सयम-साधना मे सदा अडिग रहते है ।

२. **असंप्रगृहीतात्मता** – जिसे जाति, पद, तप, वैदुष्य आदि का मद या अहकार होता है, उसे संप्रगृहीतात्मा कहा जाता है । आचार्य निरहंकार होते है जो गरिमाये उन्हे प्राप्त है, उनका जरा भी मद उन्हे नही होता । फलत: वे क्रोध, मानसिक

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र २

उत्ताप आदि से मुक्त होते है। अत वे असंप्रगृहीतात्मा कहे जाते है। अर्थात् उनकी आत्मा अहकार, मद एव क्रोध आदि से जकडी नही रहती।

३. **अनियतवृत्तिता** – जिनका आहार, विहार नियत या प्रतिवद्ध होता है, उनसे विशुद्ध आचारमय जीवन भली भाति सध नही पाता। अनेक प्रकार की औद्देशिकता का जुडना वहा सम्भावित होता है, जो निर्दोष सयम-पालन मे वाधक है। अत' आचार्य अनियत – वृत्ति होते है। शास्त्रीय आचार-परम्परा के अनुरूप उनका आचार अप्रतिवद्ध होता है।

४. **वृद्धशीलता** – युवा और चिरदीक्षित न होने पर भी आचार्य मे वयोवृद्ध और दीक्षा-मर्यादा मे ज्येष्ठ श्रमणो जैसा शील, सयम, नियम, चारित्र आदि पालने की विशेषता होती है। अत वे वृद्धशील कहे जाते हैं।

वृद्धशील का आशय यो भो हो सकता हे – आचार्य वृद्ध या रोग आदि के कारण जो वृद्ध की तरह अशक्त हो गये है, उन श्रमणो की सेवा या सुव्यवस्था मे सदा जागरूक रहते है।

श्रुत-सम्पदा

श्रुत-सम्पदा का भी चार प्रकार से विवेचन किया गया है[1] –

१ बहुश्रुतता   ३ विचित्र-श्रुतता
२ परिचित-श्रुतता   ४ घोपविशुद्धिकारिता

१. **बहुश्रुतता** – आचार्य बहुश्रुत होते है। वे अपने समय मे उपलव्ध आगम सम्यक्तया जानते है। अपने समय-सिद्धान्त या शास्त्रो के अतिरिक्त परसमय अन्य शास्त्रो के भी वेत्ता होते है। यो उनका श्रुत-शास्त्रीय ज्ञान वहुत विस्तीर्ण और व्यापक होता है।

२. **परिचित श्रुतता** – आचार्य आगमो के रहस्यवित्-मर्मज्ञ होते है। वे सूत्र और अर्थ – दोनो को भली-भाति आत्मसात् किये हुए होते है। उनमे क्रम से – आदि से अन्त तक और उत्क्रम से – अन्त से आदि तक धारा-प्रवाह रूप मे सूत्र-वाचन की क्षमता होती है। सक्षेप मे आशय यह है कि आगमो का उन्हे चिर-परिचय, सूक्ष्म परिचय और सम्यक् परिचय होता है।

३. **विचित्र-श्रुतता** – आचार्य बहुश्रुत के साथ विचित्रश्रुत भी होते है। उनके द्वारा अधिकृत श्रुत अनेक विचित्रताये या विभिन्नताये लिए होता है। आचार्य को जीव, मोक्ष आदि सूक्ष्म विषयो का निरूपण करने वाले विविध आगमो का अन्त.-स्पर्शी ज्ञान होता है। वे उत्सर्ग, अपवाद आदि विभिन्न पक्षो को विशद रूप से जानते है। जिस प्रकार अपने सिद्धान्तो का अग-प्रत्यङ्ग उन्हे अभिगत होता है, उसी प्रकार अन्य दर्शनो के सिद्धान्तो का भी उन्हे तलस्पर्शी वोध होता है।

४. **घोषविशुद्धिकारकता** – घोप का अर्थ शव्द या ध्वनि है। अपने आप मे

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ४

अलंकृत सत्य, प्रिय, हित, परिमित तथा प्रसंगानुरूप होना शब्द की सुषमा है। अनलकृतता, असत्यता, अप्रियता, अहितता, अपरिमितता तथा अप्रासगिकता शब्द के दोष है। इनके वर्ज से घोष या शब्द विशुद्ध कहा जाता है। आचार्य की यह सहज विशेषता होती है। वे सुन्दर, सत्य, प्रिय, हित, परिमित और प्रसगानुरूप शब्द बोलते है। श्रुत-सम्पदा के अन्तर्गत यह उनका शब्द-सौष्ठव है।

शरीर-सम्पदा

शरीर-सम्पदा या शारीरिक सुष्ठुता भी चार[1] प्रकार की मानी गई है।

१. आरोह परिणाह सम्पन्नता,
२ अनवत्राप्यशरीरता,
३. स्थिरसंहननता तथा
४. बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता

१. आरोह परिणाह सम्पन्नता – देह की समुचित लम्बाई और चौडाई को आरोह परिणाह कहा जाता है। अपने पुण्योदय के कारण आचार्य के देह की यह विशेषता होती है।

२. अनवत्राप्यशरीरता – अवत्राप्य का अर्थ लज्जायोग्य है। जो शरीर कुरूप, अंगहीन, घृणोत्पादक तथा उपहासजनक होता है, वह अवत्राप्यशरीर कहलाता है, जो हीन व्यक्तित्व का द्योतक है। आचार्य का शरीर इस प्रकार का नही होना चाहिये। यह सुरूप सांगोपाग, सुन्दर तथा आकर्षक होना चाहिये।

३. स्थिरसंहननता – आचार्य का दैहिक सहनन – शारीरिक गठन सुदृढ होना चाहिये। आचार्य पर जो संघ का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है, उसके निर्वाह के लिए सुदृढ, स्थिर और सशक्त देह का होना भी आवश्यक है। ताकि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो का अनाकुल भाव से निर्वाह किया जा सके।

४. बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता – नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियो का सर्वथा निर्दोष, अपने-अपने विषयों के ग्रहण मे सक्षम होना बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता कहा जाता है। आचार्य मे इसका होना अपेक्षित है। सर्वेन्द्रियपरिपूर्णता में जहाँ देह की प्रभावकता फलित होती है, वहा उससे व्यक्ति की गम्भीरता भी प्रकट होती है। आचार्य मे ऐसा होना चाहिए।

वचन-सम्पदा

वचन-सम्पदा चार[2] प्रकार की कही गई है :-

१. आदेयवचनता
२. मधुर वचनता
३. अनिश्चित वचनता
४. असन्दिग्ध वचनता

१. आदेयवचनता – जो वचन ग्रहण करने योग्य होता है, वह आदेय वचन कहा जाता है। ग्रहण करने योग्य वही वचन होता है, जिसमे उपयोगिता तथा

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ५

[2] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४ सूत्र ६

श्रद्धेयता हो। आचार्य में आदेयवचनता की विशेषता होनी चाहिए, जिससे श्रोतागरण उनके वचनो की ओर सहजतया आकृष्ट हो, लाभान्वित हो।

२. **मधुरवचनता** – हितकरता और उपादेयता के साथ यदि वचन मे मधुरता भी हो तो वह सोने मे सुगन्ध जैसी बात है। लौकिक जन सहज ही माधुर्य और प्रेयस् की ओर अधिक आकृष्ट रहते है। यदि उत्तम बात भी अमधुर या कठोर वचन द्वारा प्रकट की जाए तो सुनने वाला उससे झिजकता है। महान् कवि और नीतिविद् भारवि ने इसीलिए कहा था –

हित मनोहारि च दुर्लभ वच

अर्थात् ऐसा वचन दुर्लभ है, जो हितकर होने के साथ साथ मनोहर भी हो। आचार्य मे ऐसा होना सर्वथा वाछनीय है। इससे उनके आदेय वचनो की ग्राह्यता बहुत अधिक बढ जाती है।

३. **अनिश्रितवचनता** – जो वचन राग, द्वेष या किसी पक्ष विशेष के आग्रह पर टिका होता है, वह निश्रित वचन कहा जाता है। वैसा वचन न वक्ता के अपने हित के लिए है और न उससे श्रोतृगरण को ही कुछ लाभ हो सकता है। आचार्य निश्रितवचन प्रयोक्ता नही होते। वे अनिश्रित वचन बोलते है, जिससे सर्वसाधारण का हित सधता है, जिसे सब आदरपूर्वक अगीकार करते है।

४. **असदिग्धवचनता** – तथ्य का साधक और अतथ्य का बाधक जो न हो, वैसा ज्ञान सन्देह कहलाता है। जो वचन उससे लिप्त है, वह सन्दिग्ध है। आचार्य सन्दिग्ध वचन का प्रयोग नही करते। वैसा करने से उपासको की श्रद्धा घटती है। उनका किसी भी प्रकार से हित नही सधता। क्योकि वचन के सन्देहयुक्त होने के कारण वे उधर आकृष्ट नही होते फलत आचार्य चाहे व्यक्त न सही, अव्यक्त रूप मे उपेक्षरणीय हो जाते है।

वाचना-सम्पदा

वाचना-सम्पदा के निम्नाकित चार[1] भेद है –

१ विदित्वोद्देशिता
२ विदित्वा वाचिता
३ परिनिर्वाप्य वाचिता तथा
४ अर्थनिर्यापिकता

१ **विदित्वोद्देशिता** – पहले उल्लेख किया गया है कि आचार्य अन्तेवासियो को श्रुत की अर्थ-वाचना देते है। वाचना-सम्पदा मे इसी सन्दर्भ मे कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताये बतलाई गई है। उनमे पहली विदित्वोद्देशिता है। इसका सम्बन्ध अध्येता या वाचना लेने वाले अन्तेवासी से है। अध्येता का विकास किस कोटि का है, उसकी ग्राहक शक्ति कैसी है, किस आगम मे उसका प्रवेश सम्भव है, इत्यादि पहलुओ को दृष्टि मे रखकर आचार्य अन्तेवासी को पढाने का निश्चय करते है। इसका आशय यह है कि अध्येता की क्षमता को आकने की आचार्य मे विशेष सूझ-बूझ होती है।

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र अध्ययन ४ सूत्र ७

१. अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा – मति-ज्ञान के परिणति-क्रम के ये चार सोपान है। सबसे पहले ज्यो ही इन्द्रिय किसी पदार्थ का साक्षात्कार करती है, तब उस (पदार्थ) का अति सामान्य ज्ञान होता है।

सामान्य का तात्पर्य उस बोध से है, जहा पदार्थ के स्वरूप, नाम, जाति आदि की कल्पना नही रहती, वे अनिर्दिष्ट रहते है। वह मन स्थिति अवग्रह कही जाती है। अवग्रह की प्रशस्त क्षमता का होना अवग्रह सम्पदा है। आचार्य मे सहज ही यह विशेषता होती है।

२ ईहा मति-सम्पदा – अवग्रह मे ज्ञेय पदार्थ विषयक अस्पष्ट मन· स्थिति रहती है। तब निश्चोयन्मुख जिज्ञासा का स्पन्दन होता है। मन तदनुरूप चेप्टोन्मुख वनता है। अवग्रह द्वारा गृहीत स्वरूपादि के वैशद से रहित अति सामान्य ज्ञान के पश्चात् विशेप ज्ञान की ओर ईहा, मननात्मक चेष्टा, ज्ञान की निर्णीत स्थिति की औरं वढते क्रम का रूप है। ऐसी उदात्त स्फुरणा का होना ईहा-सम्पदा कहा जाता है। आचार्य इससे युक्त होते है।

३. अवाय-मति सम्पदा – ईसा का उत्तरवर्ती क्रम अवाय है। ईहा चेप्टात्मक है, अवाय निश्चयात्मक निर्णय। पदार्थ के साधक और वाधक प्रमाण या गुणागुण विश्लेषण के माध्यम से जो निश्चित मन स्थिति वनती है, वह अवाय है। रज्जू और सर्प के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। अधेरे मे सहसा निश्चय नही हो पाता कि जिज्ञासित पदार्थ सर्प है या रज्जू। जव साधक प्रमाण द्वारा या स्पष्टता करने वाले हेतु द्वारा यह निश्चित रूप से अवगत हो जाता है कि यह रज्जू है, तव अवाय की स्थिति आ जाती है। अवाय तक सूक्ष्मतापूर्वक पहुचना या यथावत् अवायात्मक – निश्चयात्मक स्थिति अभिगत कर लेने की विशिष्ट क्षमता अवाय-सम्पदा के नाम से अभिहित होती है, जो आचार्य मे स्वभावत होनी चाहिये।

४ धारणा मति सम्पदा – अवाय-क्रम मे ज्ञान जिस निश्चिति मे पहुचता है, उसका टिकना, स्थिर रहना, स्मरण रहना धारणा है। इसे वासना या स्मृति भी कहा जाता है। यह सस्कारात्मक है। मन के स्मृति-पट पर उस ज्ञान का एक भावात्मक रूप अकित हो जाता है। दूसरे किसी समय वैसे पदार्थ को देखते ही पहले के पदार्थ की स्मृति जाग उठती है। यह जागने वाली स्मृति उसी सस्कार का फल है, जो उस पदार्थ के मत्यात्मक मनन-क्रम मे मन पर अंकित हो गया था। धारणा, वासना या स्मृति का वैशिष्ट्य या वैभव धारणा-मति-सम्पदा है। आचार्य इसके धनी होने चाहिये।

जिसकी मननात्मक क्षमता जितनी अधिक विकसित होती है, उसे मति के इस उत्थान-क्रम मे उतना ही वैशिष्ट्य प्राप्त रहता है। आचार्य मे यह क्षमता अपनी विशेषता लिये रहनी चाहिये। उदात्त व्यक्तित्व की दृष्टि से आचार्य के लिए ऐसा होना आवश्यक भी है।

प्रयोग-सम्पदा

किसी विषय पर प्रतिवादी के साथ वाद या विचार करना यहा प्रयोग शब्द से अभिहित किया गया है। वाद सम्बन्धी विशेष पटुता या कुशलता का नाम प्रयोग-सम्पदा है। उसके निम्नलिखित चार[1] भेद है –

१. अपने आपको जान कर वाद का प्रयोग करना।
२. परिषद् को जान कर वाद का प्रयोग करना।
३. क्षेत्र को जान कर वाद का प्रयोग करना।
४ वस्तु को जान कर वाद का प्रयोग करना।

१. आत्म-ज्ञानपूर्वक वाद का प्रयोग – वादार्थ उद्यत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि पहले वह अपनी शक्ति, क्षमता, प्रमाण, नय आदि के सम्बन्ध मे अपनी योग्यता को आके। यह भी देखे कि प्रतिवादी की तुलना मे उसकी कैसी स्थिति है। वह तत्पश्चात् वाद मे प्रवृत्त हो। ऐसा न होने पर प्रतिकूल परिणाम आने की आशंका हो सकती है। अतः आचार्य मे इस प्रकार की विशेषता का होना आवश्यक है। यों सोच-विचार कर, अपनी क्षमता को आक कर बुद्धिमत्ता-पूर्वक वाद मे प्रवृत्त होना पहले प्रकार की प्रयोग-सम्पदा है।

२. परिषद्-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग – जिस परिषद् के बीच वाद होने को है, कुशल वादी को चाहिए कि वह उस परिषद् के सम्बन्ध मे पहले से ही जानकारी प्राप्त करे कि वह (परिषद्) गम्भीर वत्त्वो को समझती है या नही। यह भी जाने कि परिषद की रुचि वादी के अपने धार्मिक सिद्धान्तों मे है या प्रतिवादी के सिद्धान्तों मे। केवल तर्क और युक्ति-बल द्वारा ही प्रतिवादी पर सम्पूर्ण सफलता नही पाई जा सकती। जिन लोगों के बीच वाद प्रवृत्त होता है, उनका मानसिक झुकाव भी उसमे काम करता है। अतएव सफलता या प्रतिबादी पर विजय चाहने वाले वादी के लिए यह आवश्यक है कि पदिषद् की अनुकूलता और प्रति-कूलता को दृष्टि मे रखे। इस ओर सोचे-विचारे विना वाद मे प्रवृत्त न हो। आचार्य मे इस प्रकार की विशेष समझ के साथ वाद मे प्रवृत्त होने की सहज विशेषता होनी चाहिये।

३. क्षेत्र-ज्ञानपूर्वक वादप्रयोग – जिस क्षेत्र मे वाद होने को है, वह कैसा है, वहा के लोग दुर्लभ बोधि है या सुलभ वोधि, वहा का शासक विज्ञ है या अज्ञ, अनुकूल है या प्रतिकूल – इत्यादि बातों को भी ध्यान मे रखना वादी के लिए आवययक है। यदि लोग सुलभ बोधि, शासक विज्ञ तथा अनुकूल हों तो विद्वान् वादी को सफलता और गौरव मिलता है। क्षेत्र की स्थिति इसके प्रतिकूल हो तो वादी अत्यन्त योग्य होते हुए भी सफल बन सके, यह कठिन है। आचार्य मे क्षेत्र को परखने की अपनी विशेषता होती है।

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ९

४. **वस्तु-ज्ञान पूर्वक वाद का प्रयोग** – वस्तु का अर्थ वाद का विषय है। जिस विषय पर वाद या वैचारिक ऊहापोह किया जाना है, वह वादी के ध्यान में रहना आवश्यक है। उस विषय के विभिन्न पक्ष, उस सम्बन्ध मे विविध धारणा उनका समाधान इत्यादि दृष्टि मे रखते हुए वाद मे प्रवृत्त होना हितावह होता है। आचार्य मे यह विशेपता भी होनी चाहिए।

सक्षेप मे सार यह है कि आचार्य का सघ मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उनकी विजय सारे सघ की शोभा है, उनकी पराजय सारे सघ का अपमान। अत यह वाछनीय है कि आचार्य मे वाद-प्रयोग सम्बन्धी विशेपताए, जिनका उल्लेख हुआ है, हो। जिससे उनका अपना गौरव बढे, सघ की महिमा फैले।

संग्रहपरिज्ञा सम्पदा

जैन श्रमण के जीवन मे परिग्रह के लिए कोई स्थान नही है। वह सर्वथा निष्परिग्रही जीवन यापन करता है। यह होने पर भी जब तक साधक सदेह है, उसे जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए कतिपय वस्तुओ की अपेक्षा रहती ही है। शास्त्रीय विज्ञान के अनुरूप उन वस्तुओ को ग्रहण करता हुआ साधक परिग्रही नही बनता क्योकि उन वस्तुओं मे उसकी जरा भी मूर्च्छा या आसक्ति नही होती। परिग्रह का आधार मूर्च्छा या आसक्ति है। यदि अपने देह के प्रति भी साधक के मन मे मूर्च्छा या आसक्ति हो जाए तो वह परिग्रह हो जाता है। आत्म-साधना मे लगे साधक का जीवन अनासक्त और अमूर्च्छित होता है, होना चाहिए। यही कारण है कि उस द्वारा अनिवार्य आवश्यकताओ के निर्वाह के लिए अमूर्च्छित एव अनासक्त भाव से अपेक्षित पदार्थो का ग्रहण अदूपणीय है।

सग्रह का अर्थ श्रमण के वैयक्तिक तथा सामष्टिक सघीय जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ का अवलोकन, आकलन है या स्वीकार है। वस्तुओ की आवश्यकता, समीचीनता, एव सुलभता का ज्ञान सग्रह-परिज्ञा कहा जाता है। आचार्य पर सघ के सचालन, सरक्षण एव व्यवस्था का उत्तरदायित्व होता है अत उन्हे इस ओर जागरूक रहना अपेक्षित है कि कब किस वस्तु की आवश्यकता पड जाए और पूर्ति किस प्रकार सम्भव हो। इसमे जागरूकता के साथ-साथ सूझ-बूझ तथा व्यावहारिक कुशलता की भी आवश्यकता रहती है। यह आचार्य की अपनी असाधारण विशेपता है।

सग्रहपरिज्ञा-सम्पदा के चार[१] प्रकार बताये गये है –

१ क्षेत्र प्रतिलेखनापरिज्ञा
२ प्रातिहारिक अवग्रह परिज्ञा
३ काल सम्मान परिज्ञा तथा
४. गुरु सपूजनापरिज्ञा

१. **क्षेत्र प्रतिलेखनापरिज्ञा** – साधुओ के प्रवास और विहार के स्थान क्षेत्र कहे जाते है। जैन श्रमण वर्षा ऋतु के चार महीने एक ही स्थान पर टिकते है,

[१] दसाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र १०

कही विहार-यात्रा नही करते । इसे चातुर्मासिक प्रवास कहा जाता है । इसके अतिरिक्त वे जन-जन को धर्मोपदेश या अध्यात्म-प्रेरणा देने के निमित्त घूमते रहते है । रोग, वार्धक्य, दैहिक अशक्तता आदि अपवादो के अतिरिक्त वे कही भी एक मास से अधिक नही ठहरते ।

चातुर्मासिक प्रवास के लिए कौनसा क्षेत्र कैसा है, साधु-जीवन के लिए अपेक्षित निरवद्य पदार्थ कहाँ किस रूप मे प्राप्य है, अस्वस्थ साधुओं की चिकित्सा, पथ्य, आहार आदि की सुलभता, जलवायु व निवास-स्थान की अनुकूलता आदि वातो का ध्यान आचार्य को रहता है । चातुर्मासिक प्रवास मे इस वात का और अधिक महत्व है । वर्ष भर मे वर्षावास के अन्तर्गत ही श्रमणो का एक स्थान पर सबसे लम्बा प्रवास होता है । अध्ययन, चिकित्सा आदि की दृष्टि से वहाँ यथेष्ट समय मिलता है । इसलिए इन बातो का विचार बहुत आवश्यक है ।

धर्म-प्रसार की दृष्टि से भी क्षेत्र की गवेषणा का महत्व है । यदि किसी क्षेत्र के लोगो को अध्यात्म मे रस है तो वहाँ बहुत लोग धर्म भावना से अनुप्राणित होगे, धर्म की प्रभावना होगी ।

२. प्रातिहारिक अवग्रह-परिज्ञा – श्रमण अपनी आवश्यकता के अनुसार दो प्रकार की वस्तुएँ लेते है । प्रथम कोटि मे वे वस्तुएँ आती है, जो सम्पूर्णतया उपयोग में ली जाती है, वापिस नही लौटाई जाती, जैसे – अन्न, जल औपधि आदि । दूसरी वे वस्तुएँ है, जो उपयोग में लेने के वाद वापिस लौटाई जाती है, उन्हें प्रातिहारिक कहा जाता है । प्रातिहारिक का शाब्दिक अर्थ भी इसी प्रकार का है । पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक आदि इस कोटि मे आते है ।

आचार्य के दर्शन तथा उनसे अध्ययन आदि के निमित्त अनेक दूसरे साधु भी आते रहते है । उनके स्वागत-सत्कार, सुविधा आदि की दृष्टि से जव जैसे अपेक्षित हो, पीठ, फलक, आसन आदि के लिए आचार्य को ध्यान रखना आवश्यक होता है । कौन वस्तु कहाँ प्राप्य है, यह ध्यान रहने पर आवश्यकता पडते ही शास्त्रीय विधि के अनुसार वह तत्काल प्राप्त की जा सकती है । उसके लिए अनावश्यक रूप मे भटकना नही पडता ।

३. काल सम्मान परिज्ञा – काल के सम्मान का आशय साधुजीवनोचित क्रियाओ का समुचित समय पर अनुष्ठान करना है । ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ व्यवस्थित जीवन का परिचायक है, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन मे इससे अन्त· स्थिरता परिव्याप्त होती है । क्रियाओ के यथाकाल अनुष्ठान के लिए काल का 'सम्मान' करना – ऐसा जो प्रयोग शास्त्र मे आया है, उससे स्पष्ट है कि यथासमय धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का कितना अधिक महत्व रहा है । आचार्य सारे सघ के नियामक और अधिनायक होते है । उनके जीवन का क्षण क्षण अन्तेवासियो एवं अनुयायियो के समक्ष आदर्श के रूप मे विद्यमान रहता है । उसका उन पर अमिट प्रभाव होता है । इसलिए यथासमय सव क्रियाएं

सुव्यवस्थित रूप मे सपादित करना, उस ओर अनवरत यत्नशील रहना आचार्य के लिए आवश्यक है।

४. **गुरु-संपूजना-परिज्ञा**– जो दीक्षा-पर्याय मे अपने से ज्येष्ठ हो, उन श्रमणो का वन्दन, नमन आदि द्वारा वहुमान करने मे आचार्य सदा जागरूक रहते है। इसे वे आवश्यक और महत्वपूर्ण समझते है, ऐसा करना गुरु-सपूजना-परिज्ञा है।

आचार्य की यह प्रवृत्ति अन्तेवासियो को वडो का सम्मान करने, उनके प्रति आदर एव श्रद्धा दिखाने की ओर प्रेरित करती है। सघ के वातावरण मे इससे सौहार्द का सचार होता है। फलत सघ विकसित और उन्नत वनता है।

उपाध्याय

जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधृत है। सयम-मूलक आचार का परिपालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपेक्षित है कि वह ज्ञान की आराधना मे भी अपने को तन्मयता के साथ जोडे। सद्ज्ञान पूर्वक आचरित क्रिया मे शुद्धि की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-प्रसूत क्रिया की गरिमा है, उसी प्रकार क्रियान्वित या क्रिया-परिणत ज्ञान की ही वास्तविक सार्थकता है। ज्ञान और क्रिया जहाँ पूर्व और पश्चिम की तरह भिन्न दिशाओ मे जाते है, वहाँ जीवन का ध्येय सधता नही। अनुष्ठान द्वारा इन दोनो पक्षो मे सामंजस्य उत्पन्न कर जिस गति से साधक साधना-पथ पर अग्रसर होगा, साध्य को आत्मसात् करने मे वह उतना ही अधिक सफल वनेगा।

जैन-सघ के पदो मे आचार्य के वाद दूसरा पद उपाध्याय का है। इस पद का सम्वन्ध मुख्यत अध्यापन से है, उपाध्याय श्रमणो को सूत्र-वाचना देते हैं। कहा गया है –

वारसगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ वुहे।
त उवदिसति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चति ॥[1]

जिन प्रतिपादित द्वादशागरूप स्वाध्याय – सूत्र-वाङ्मय ज्ञानियो द्वारा कथित-वर्णित या ग्रथित किया गया है। जो उसका उपदेश करते है, वे (उपदेश-श्रमण) उपाध्याय कहे जाते है,

यहा सूत्र-वाङ्मय का उपदेश करने का आशय आगमो की सूत्र-वाचना देना है। स्थानाग वृत्ति मे भी उपाध्याय का सूत्रदाता[2] (सूत्रवाचनादाता) के रूप में उल्लेख हुआ है।

आचार्य की सम्पदाओ के वर्णन-प्रसग में यह वतलाया गया है कि आगमो की अर्थ-वाचना आचार्य देते है। यहा जो उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोप-

[1] भगवती सूत्र, १ १ १ मगलाचरण वृत्ति

[2] उपाध्याय सूत्रदाता। स्थानाग सूत्र, ३ ४ ३२३ वृत्ति

देश या सूत्रवाचना देने का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रो के पाठो-च्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने के हेतु उपाध्याय पारंपरिक व भाषा वैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अंतेवासी श्रमणो को मूलपाठ का सागोपाग शिक्षण देते है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे 'आगमत द्रव्यावश्यक' के सन्दर्भ में पठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परपरा जैन श्रमणों मे रही है। आगम-पाठ को यथावत् वनाये रखने में इससे बडी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नही है। अनुयोग द्वार में पद के शिक्षित, जित, स्थित, मित, परिजित, नामसम, घोषसम, अहीनाक्षर, अत्यक्षर, अव्याविद्धासर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्याम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण-घोष तथा कण्ठोष्ठविप्रमुक्त विशेषण दिये गये है।[1] सक्षेप मे इनका तात्पर्य यों है –

१	शिक्षित	:	साधारणतया सीख लेना।
२	स्थित	:	सीखे हुए को मस्तिष्क मे टिकाना।
३.	जित		अनुक्रमपूर्वक पठन करना।
४	मित	:	अक्षर आदि की मर्यादा, सयोजन आदि जानना।
५.	परिजित	.	अनुक्रम – व्यतिक्रम या अनुक्रम के विना पाठ करना।
६	नामसम	·	जिस प्रकार हर व्यक्ति को अपना नाम स्मरण रहता है, उस प्रकार सूत्र का पाठ याद रहना अर्थात् सूत्रपाठ को इस प्रकार आत्मसात् कर लेना कि जब भी पूछा जाए, यथावत् रूप मे बतलाया जा सके।
७	घोषसम	:	स्वर के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के रूप[2] मे जो उच्चारण सम्वन्धी तीन भेद वैयाकरणो ने किये है, उनके अनुरूप उच्चारण करना।
८	अहीनाचर	.	पाठक्रम में किसी भी अक्षर को हीन,-लुप्त या अस्पष्ट न कर देना।
९	अनत्यक्षर		अधिक अक्षर न जोड़ना।
१०	अव्याविद्धासर	·	अक्षर, पद आदि का विपरीत-उलटा पठन न करना।
११.	अस्खलित	·	पाठ में स्खलन न करना, पाठ का यथा प्रवाह उच्चारण करना।
१२	अमिलित	:	अक्षरो को परस्पर न मिलाते हुए उच्चारणीय पाठ के साथ किन्ही दूसरे अक्षरो को न मिलाते हुए उच्चारण करना।

[1] अनुयोग द्वार, सूत्र ८

[2] उच्चैरुदात्त । नीचैरनुदात्त । समाहार. स्वरित । – सिद्धान्त कौमुदी १ २ २९–३१

१३ अव्यत्याम्रेडित	अन्य सूत्रो, शास्त्रो के पाठ को समानार्थक जान कर उच्चार्य्य पाठ के साथ मिला देना व्यत्याम्रेडित है। ऐसा न करना अव्यत्याम्रेडित है।
१४ प्रतिपूर्ण	पाठ का पूर्ण रूप से उच्चारण करना, उसके किसी अग को अनुच्चारित न रखना।
१५ प्रतिपूर्णघोप	उच्चारणीय पाठ का मन्द स्वर, जो कठिनाई से सुनाई दे, द्वारा उच्चारण न करना, पूरे स्वर से स्पष्टता से उच्चारण करना।
१६. कण्ठोष्ठविप्रमुक्त	उच्चारणीय पाठ या पाठाश को गले और ओठो मे अटका कर अस्पष्ट नही वोलना।

सूत्र पाठ को अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य वनाये रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र-वाचना देने मे कितना जागरूक तथा प्रयत्नशील रहना होता था – यह उक्त विवेचन से स्पप्ट है।

लेखनक्रम के अस्तित्व मे आने से पूर्व वैदिक, जैन और वौद्ध सभी परपराओ मे अपने आगमो, आर्प शास्त्रो के कण्ठस्थ रखने की प्रणाली थी। मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण वना रहे, परिवर्तमान समय का उस पर प्रभाव न आए, इस निमित्त उन द्वारा ऐसे पाठ-क्रम या उच्चारण-पद्धति का परिस्थापन स्वाभाविक था, जिससे एक से सुन कर या पढ कर दूसरा व्यक्ति सर्वथा उसी रूप से शास्त्र को आत्मसात् वनाये रख सके। उदाहरणार्थ – मत्रपाठ, पदपाठ, जटापाठ आदि के रूप मे वेदो के पठन का भी वड़ा वैज्ञानिक प्रकार था, जिसने अव तक उनको मूल रूप मे वनाये रखा है।

एक से दूसरे द्वारा श्रुति परम्परा से आगम प्राप्तिक्रम के वावजूद जैनो के आगमिक वाड्मय मे कोई परिवर्तन आया हो, ऐसा सम्भव नही लगता। सामान्यत लोग कह देते है कि किसी से एक वाक्य भी सुनकर दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति को वताए तो यत्किंचित् परिवर्तन आ सकता है फिर यह कव सम्भव है कि इतने विशाल आगम-वाड्मय मे काल की इस लम्वी अवधि के वीच भी कोई परिवर्तन नही आ सका। साधारणतया ऐसी शका उठना अस्वाभाविक नही है। किन्तु आगम-पाठ की उपर्युक्त परपरा से स्वत. समाधान हो जाता है। जहा कि मूल पाठ की सुरक्षा के लिए इतने उपाय प्रचलित थे, वहा आगमो का मूल स्वरूप क्यो नही अव्याहत और अपरिवर्तित रहता।

अर्थ या अभिप्राय का आश्रय सूत्र का मूल पाठ है। उसी की पृष्ठभूमि पर उसका पल्लवन और विकास सम्भव है। अतएव उसके शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने के लिए सूत्र-वाचना या पठन का इतना वडा महत्व समझा गया कि सघ मे उसके लिए उपाध्याय का पृथक् पद प्रतिष्ठित किया गया।

प्रवर्तक

आचार्य के बहुविध उत्तरदायित्वों के सम्यक् निर्वहन मे सुविधा रहे, धर्म-संघ उत्तरोत्तर उन्नति करता जाए, श्रमणवृन्द श्रामण्य के परिपालन और विकास मे गतिशील रहे, इस हेतु अन्य पदों के साथ प्रवर्तक का भी विशेष पद प्रतिष्ठित किया गया। प्रवर्तक पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

तप· संयमयोगेषु, योग्य हि यो प्रवर्त्तयेत् ।
निवर्त्तयेदयोग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्त्तक· ।।[1]

प्रवर्तक गण या श्रमण-संघ की चिन्ता करते है अर्थात् वे उसकी गतिविधि का ध्यान रखते है। वे जिन श्रमणों को तप, सयम तथा प्रशस्त योगमूलक अन्यान्य सत्प्रवृत्तियों मे योग्य पाते है, उन्हे उनमें प्रवृत्त या उत्प्रेरित करते है। मूलत तो सभी श्रमण श्रामण्य का निर्वाह करते ही है पर रुचि की भिन्नता के कारण किन्ही का तप की ओर अधिक झुकाव होता है, कई शास्त्रानुशीलन मे अधिक रस लेते है, कई संयम के दूसरे पहलुओं की ओर अधिक आकृष्ट रहते है। रुचि के कारण किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर श्रमण का उत्साह हो सकता है पर हर किसी को अपनी यथार्थ स्थिति का भली-भाति ज्ञान हो, यह आवश्यक नही। अति उत्साह के कारण कभी कभी अपनी क्षमता का आक पाना कठिन होता है। ऐसी परिस्थिति मे प्रवर्तक का यह कर्त्तव्य है कि वे जिनको जिस प्रवृत्ति के लिए योग्य मानते हो, उन्हे उस ओर प्रेरित और प्रवृत्त करे। जो उन्हे जिस प्रवृत्ति के सम्यक् निर्वाह में योग्य न जान पडे, उन्हे वे उस ओर से निवृत्त करे। साधक के लिए इस प्रकार के पथ-निर्देशक का होना परम आवश्यक है। इससे उसकी शक्ति और पुरुषार्थ का समीचीन उपयोग होता है। ऐसा न होने से कई प्रकार की कठिनाइया उपस्थित हो जाती है। उदाहरणार्थ—कोई श्रमण अति उत्साह के कारण अपने को उग्र तपस्या मे लगाये पर कल्पना कीजिये, उसकी दैहिक क्षमता इस प्रकार की न हो, स्वास्थ्य अनुकूल न हो, मानसिक स्थिरता कम हो तो वह अपने प्रयत्न मे जैसा सोचता है, चाहता है, सफल नही हो पाता। उसका उत्साह टूट जाता है, वह अपने को शायद हीन भी मानने लगता है। अतएव प्रवर्तक, जिनमे ज्ञान, अनुभव तथा अनूठी सूझ-बूझ होती है, का दायित्व होता है कि वे श्रमणो को उनकी योग्यता के अनुरूप उत्कर्ष के विभिन्न भागो पर गतिशील होने मे प्रवृत्त करे, जो उचित न प्रतीत हो, उनसे निवृत्त करे।

उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए और भी कहा गया है :—

तवसंजमनियमेसु, जो जुग्गो तत्थ तं पवत्तेइ ।
असहू य नियत्तती, गणतत्तिल्लो पवत्तीओ ।।

तप· सयमयोगेपु मध्ये यो यत्र योग्यस्त तत्र प्रवर्त्तयन्ति, असहाश्च

[1] धर्मसग्रह, अधिकार ३, गाथा १४३

असमर्थाश्च निवर्त्तयन्ति, एव गणतृप्तिप्रवृत्ता प्रवर्तिन' ।[1]

सयम, तप आदि के आचरण मे जो धैर्य और सहिष्णुता चाहिए, जिनमे वह होती है, वे ही उसका सम्यक् अनुष्ठान कर सकते है। जिनमे वैसी सहनशीलता और दृढता नही होती, उनका उस पर टिके रहना सम्भव नही होता। प्रवर्तक का यह काम है कि किस श्रमण को किस ओर प्रवृत्त करे, कहा से निवृत्त करे। गण को तृप्त – तुष्ट – उल्लसित करने मे प्रवर्तक सदा प्रयत्नशील रहते है।

स्थविर

जैन सघ मे स्थविर का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्थानाग[2] सूत्र मे दश प्रकार के स्थविर बतलाये गये है, जिनमे से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेपत श्रमण-जीवन से है। स्थविर का सामान्य अर्थ प्रौढ या वृद्ध है। जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते है, वे जाति-स्थविर कहे जाते है। स्थानाग[3] वृत्ति में उनके लिए साठ वर्ष की आयु का सकेत किया गया है।

जो श्रुत-समवाय आदि अग-आगम व शास्त्र के पारगामी होते है, वे श्रुत-स्थविर[4] कहे जाते है। उनके लिए आयु की इयत्ता का निर्वन्ध नही है। वे छोटी आयु के भी हो सकते है। पर्याय स्थविर वे होते है, जिनका दीक्षा-काल लम्बा होता है। इनके लिए वीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का वृत्तिकार ने उल्लेख किया है।[5]

जिनकी आयु परिपक्व होती है, उन्हे जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते है। वे जीवन मे बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते है अत वे विपरीत परिस्थिति मे भी विचलित नही होते है। वे स्थिर बने रहते है। स्थविर शब्द स्थिरता का भी द्योतक है।

जिनका शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे भी अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्य के परिज्ञाता होते है। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन मे आध्यात्मिक स्थिरता और दृढता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय, सयम-जीवितव्य लम्वा होता है, उनके जीवन मे धार्मिक परिपक्वता, चारित्रिक वल एव आत्म ओज सहज ही प्रस्फुटित हो जाता है।

---

[1] व्यवहार भाष्य, उद्देशक १, गाथा ३४०

[2] स्थानाग सूत्र स्थान १० सूत्र ७६२

[3] जातिस्थविरा – षष्ठिवर्षप्रमाणजन्मपर्याया ।
– स्थानाग सूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ (वृत्ति)

[4] श्रुतस्थविरा – समवायाद्यगधारिण ।
– स्थानागसूत्र स्थान, १० सूत्र, ७६२ (वृत्ति)

[5] पर्यायस्थविरा – विंशतिवर्षप्रमाण प्रव्रज्यापर्यायन्त ।
– स्थानागसूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ (वृत्ति)

इस प्रकार के जीवन के धनी श्रमणो की अपनी गरिमा है। वे दृढधर्मा होते हैं और सघ के श्रमणों को धर्म मे, साधना में, संयम मे स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते है।

प्रवचनसारोद्धार (द्वार २) मे कहा गया है–

"प्रवर्तितव्यापारान् सयम योगेषु सीदत· साधून् ज्ञानादिषु ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनत. स्थिरीकरोतीति स्थविर ।"

जो साधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों मे प्रवृत्त होने लगते है, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन मे कप्ट का अनुभव करते है, ऐहिक और पारलौकिक हानि या दु ख दिखला कर उन्हे जो श्रमण-जीवन मे स्थिर करते हैं, उन्हे स्थविर कहते है। वे स्वय उज्ज्वल चारित्र्य के धनी होते है, अत· उनके प्रेरणा-वचन, प्रयत्न प्राय: निष्फल नही होते।

स्थविर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्थविर सविग्न – मोक्ष के अभिलाषी, मार्दवित, – अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी और धर्मप्रिय होते है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की आराधना में उपादेय अनुष्ठानो को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन मे अस्थिर बनता है, वे (स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की याद दिलाते है। पतनोन्मुख श्रमणो को वे ऐहिक और पारलौकिक अध पतन दिखला कर मोक्ष के मार्ग मे स्थिर करते है।[1]

इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

तेन व्यापारितेष्वर्थे – स्वनगाराश्च सीदतः।
स्थिरीकरोति सच्छक्ति, स्थविरो भवतीह सः ।।[2]

तप सयम, श्रुताराधना तथा आत्मसाधना आदि श्रमण-जीवन के उन्नायक कार्य जो सघ-प्रवर्तक द्वारा श्रमणो के लिए नियोजित किये जाते है, उन मे जो श्रमण अस्थिर हो जाते है, इनका अनुसरण करने में जो कष्ट मानते है या इनका पालन करना जिनको अप्रिय लगता है, भाता नही, उन्हे जो आत्म-शक्ति-सम्पन्न दृढचेता श्रमण उक्त अनुष्ठेय कार्यो मे दृढ बनाता है, वह स्थविर कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि सयम-जीवन जो श्रामण्य का अपरिहार्य अंग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते है। संघ मे उनकी बहुत प्रतिष्ठा तथा साख होती

---

[1] सविग्गो मद्दविओ, पियधम्मो नाणदसणचरित्ते।
जे अट्ठ परिहायइ, सावेतो ते हवई थेरो ।।
य सविग्नो मोक्षाभिलापी, मार्दवित. सञ्जातमार्दविक.। (१) प्रियधर्मा एकान्तवल्लभः, सयमानुष्ठाने यो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मध्ये यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानिं नयति तान् त स्मारयन् भवति स्थविर., सीदमानान्साधून् ऐहिकामुष्मिकापायप्रदर्शनतो मोक्ष-मार्गे स्थिरी करोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः।

[2] धर्मसग्रह, अधिकार ३, गाथा ७३

है। अवसर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बाते सुझा सकते है, जिन पर उन्हे (आचार्य को) भी गौर करना होता है।

सक्षेप मे सार यह है कि स्थविर सयम मे स्वय अविचल-स्थितिशील होते है और सघ के सदस्यो को वैसा बने रहने के लिए उत्प्रेरित करते रहते है।

गणी

गणी का सामान्य अर्थ गण या साधु समुदाय का अधिपति है। अतः आचार्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग देखने मे आता है। परन्तु यहा यह एक विशिष्ट अर्थ को लिये हुए है। सघ मे जो अप्रतिम विद्वान्, बहुश्रुत श्रमण होता था, उसे गणी का पद दिया जाता था। गणी के सम्बन्ध मे लिखा है–

अस्य पार्श्वे आचार्या सूत्रार्थमभ्यस्यन्ति।[1]

अर्थात् आचार्य उनके पास सूत्र आदि का अभ्यास करते है।

यद्यपि आचार्य का स्थान सघ मे सर्वोच्च होता है। उनमे आचार-पालने, मनवाने, सघ के श्रमणो को अनुशासन मे रखने, उनको तत्त्व-ज्ञान देने, उनका परिरक्षण तथा विकास करते रहने की असाधारण क्षमता होती है। उनके व्यक्तित्व मे सर्वातिशायि ओज तथा प्रभाव होता है। परन्तु यह आवश्यक नही कि सघगत श्रमणो मे वे सबसे अधिक विद्वान् एव अध्येता हो। गणी मे इस कोटि की ज्ञानात्मक विशेषता होती है। फलस्वरूप वे आचार्य को भी वाचना दे सकते है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि आचार्य-पद केवल विद्वत्ता के आधार पर नही दिया जाता। विद्या जीवन का एक पक्ष है। उसके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष है – जिनके बिना जीवन मे समग्रता नही आती। आचार्य के व्यक्तित्व मे वैसी समग्रता होनी चाहिए जिससे जीवन के सब अग परिपूरित लगे। यह सब होने पर भी आचार्य को यदि शास्त्राध्ययन की और अपेक्षा हो तो वे गणी से शास्त्राभ्यास करे। आचार्य जैसे उच्च पद पर अधिष्ठित व्यक्ति एक अन्य साधु से अध्ययन करे, इसमे क्या उनकी गरिमा नही मिटती – आचार्य ऐसा विचार नही करते। वे गुणग्राही तथा उच्च सस्कारी होते है अत जो-जो उन्हे आवश्यक लगता है, वे उन विषयो को गणी से पढते है। यह कितनी स्वस्थ तथा सुखावह परपरा है कि आचार्य भी विशिष्ट ज्ञानी से ज्ञानार्जन करते नही हिचकते। ज्ञान और ज्ञानी के सत्कार का यह अनुकरणीय प्रसग है।

गणधर

गणधर का शाब्दिक अर्थ गण या श्रमण सघ को धारण करने वाला, गण का अधिपति, स्वामी या आचार्य होता है। आवश्यक[2] वृत्ति मे अनुत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणो के गण – समूह को धारण करने वाले गणधर कहे गये है।

---

[1] कल्प सुबोधिका क्षण ६

[2] अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणाना गण धारयन्तीति गणधरा

– आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १०६२ वृत्ति

आगम-वाङ्मय में गणधर शब्द मुख्यत. दो अर्थों मे प्रयुक्त है।

तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य, जो उन (तीर्थंकर) द्वारा प्ररूपित तत्व-ज्ञान का द्वादशागी के रूप मे सग्रथन करते है, उनके धर्म-सघ के विभिन्न गणो की देख-रेख करते है, अपने-अपने गण के श्रमणो को आगम-वाचना देते है, गणधर कहे जाते है। अनुयोग-द्वार सूत्र मे भाव-प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान गुण के आगम[1] नामक प्रमाण-भेद मे बताया गया है कि गणधरो के सूत्र आत्मगम्य होते है। दूसरे शब्दो मे वे सूत्रो के कर्ता है।

तीर्थंकरों के वर्णन-क्रम मे उनकी अन्यान्य धर्म-संपदाओ के साथ-साथ उनके गणधरो का भी यथा प्रसंग उल्लेख हुआ है। तीर्थंकरो के सान्निध्य मे गणधरो की जैसी परपरा वर्णित है, वह सार्वत्रिक् नही है। तीर्थंकरो के पश्चात् अथवा दो तीर्थंकरों के अन्तर्वर्ती काल मे गणधर नही होते। अत उदाहरणार्थ गौतम, सुधर्मा आदि के लिए जो गणधर शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह गणधर के शाब्दिक या सामान्य अर्थ में अप्रयोज्य है।

गणधर का दूसरा अर्थ, जैसा कि स्थानाग[2] वृत्ति मे लिखा गया है, आर्याओ या साध्वियो को प्रतिजागृत रखने वाला अर्थात् उनके सयम-जीवन – के सम्यक् निर्वहण मे सदा प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आध्यात्मिक सहयोग करने वाला श्रमण गणधर कहा जाता है।

आर्या-प्रतिजागरक के अर्थ मे प्रयुक्त गणधर शब्द से प्रकट होता है कि संघ में श्रमणी-वृन्द की समीचीन व्यवस्था, विकास, अध्यात्म-साधना मे उत्तरोत्तर प्रगति – इत्यादि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। यही कारण है कि उनकी देख रेख और मार्गदर्शन के कार्य को इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि एक विशिष्ट श्रमण का मनोनयन केवल इसी उद्देश्य से होता था।

गणावच्छेदक

इस पद का सम्बन्ध विशेषत. व्यवस्था से है। सघ के सदस्यो का सयम जीवितव्य स्वस्थ एव कुशल बना रहे, साधु-जीवन के निर्वाह-हेतु अपेक्षित उपकरण साधु-समुदाय को निरवद्य रूप मे मिलते रहे इत्यादि संघीय आवश्यकताओ की पूर्ति का उत्तरदायित्व या कर्त्तव्य गणावच्छेदक का होता है। उनके सबध मे लिखा है –

> जो सघ को सहारा देने, उसे सुदृढ बनाये रखने अथवा सघ के श्रमणों की सयम-यात्रा के सम्यक् निर्वाह के लिए उपधि – श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक साधन-सामग्री की गवेषणा करने के निमित्त विहार करते है – पर्यटन करते है, प्रयत्नशील रहते है, वे गणावच्छेदक होते है।[3]

---

[1] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम – इन चार प्रमाणो का वहा वर्णन हुआ है।

[2] आर्थिक प्रतिजागरको वा साधुविशेष' समयप्रसिद्धः। – स्थानाग सूत्र ४, ३, ३२३ वृत्ति

[3] यो हि त गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्त विहरति
– स्थानाग सूत्र, स्थान ४, उद्देशक ३ (वृत्ति)

श्रामण्य-निर्वाह के लिए अपेक्षित साधन-सामग्री के आकलन, तत्सम्बन्धी व्यवस्था आदि की दृष्टि से गणावच्छेदक के पद का बहुत बडा महत्व है। गणावच्छेदक द्वारा आवश्यक उपकरण जुटाने का उत्तरदायित्व सम्हाल लिये जाने से आचार्य का सघ-व्यवस्था सम्बन्धी भार काफी हल्का हो जाता है। फलत उन्हे धर्म-प्रभावना तथा सघोन्नति सम्बन्धी अन्यान्य कार्यों की सम्पन्नता मे समय देने की अधिक अनुकूलता प्राप्त रहती है।

आधार · पृष्ठभूमि

पहले यह चर्चित हुआ है कि जैन परपरा मे पद-नियुक्ति का आधार निर्वाचन जैसी कोई वस्तु नही थी। वर्तमान आचार्य अपने उत्तराधिकारी आचार्य तथा अन्य पदाधिकारियो का मनोनयन सघ की सम्मति से करते थे। आज भी वैसा ही है। ज्ञातव्य है कि उत्तराधिकारी आचार्य का मनोनयन तो आवश्यक समझा गया पर दूसरे पदो मे से जितनो की, जब आचार्य चाहते, पूर्ति करते। ऐसी अनिवार्यता नही थी कि उत्तराधिकारी आचार्य के साथ-साथ अन्य सभी पदो की पूर्ति की जाए। आचार्य चाहते तो अवशेप सभी पदों का कार्य-निर्वाह स्वय करते अथवा उनमे से कुछ का करते, कुछ पर अधिकारी मनोनीत करते। मूलत समग्र उत्तरदायित्व के आधार-स्तम्भ तो आचार्य ही माने गये है।

व्यवस्था-सौकर्य के लिए प्राय. अन्य पदो पर उपयुक्त, योग्य अधिकारियो का मनोनयन भी आचार्य उपयोगी मानते रहे है। पर क्रमश पश्चाद्वर्ती समय मे वैसा क्रम रहा। कभी-कभी केवल आचार्य-पद पर अधिष्ठित एक ही व्यक्ति सारा कार्य-भार सम्हालते रहे। कभी आचार्य तथा उपाध्याय दो-पदो पर कार्य करते रहे। कभी सातो पदो मे से जब जो जो अपेक्षित समझे गये, तत्कालीन आचार्यो द्वारा भरे गये।

कुछ विशिष्ट योग्यताए

पदो पर मनोनीत किये जाने वाले श्रमणो मे कुछ विशेप योग्यताए वाछनीय समझी गई थी। असाधारण स्थितियो मे कुछ विशेप निर्णय लेने की व्यवस्था भी रही है। व्यवहार-सूत्र तथा भाष्य मे इस सन्दर्भ मे बडा विशद विवेचन हुआ है, जिसके कतिपय पहलू यहा उपस्थित करना उपयोगी होगा।

कहा[1] गया है कि जिन श्रमणो निर्ग्रन्थो को दीक्षा स्वीकार किये आठ वर्ष हो गये हो, जो आचार, सयम, प्रवचन, प्रज्ञा, सग्रह[2] तथा उपग्रह (श्रमणो के परिपोषण) मे कुशल हो, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल – अनाचार के धब्बो से रहित – अदूषित, अभिन्न – सर्वत सात्विक, असक्लिष्ट – सक्लेश-

---

[1] व्यवहार सूत्र, ३ उद्देशक, सूत्र ७

[2] श्रमणो के विहार के लिए समीचीन क्षेत्र, अपेक्षित उपकरण, उनकी आवश्यकताओ की यथोचित परिपूर्ति।

रहित हो अर्थात् जो चारित्र का सम्पूर्ण रूप मे आत्मोल्लासपूर्वक पालन करते हो, जो बहुश्रुत और विद्वान् हो, जो कम से कम अनिवार्यत. स्थानाग-सूत्र और समवायांग सूत्र के धारक–वेत्ता हो, उन्हे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक पद पर अधिष्ठित करना कल्पनीय-विहित है।

इसी को और स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणो मे उक्त गुण या विशेषताए न हो, उन्हे ये पद देना अकल्पनीय है – ये पद उन्हे नही दिये जाने चाहिए।

पदों के सम्बन्ध मे एक विकल्प यों है –

> जिन श्रमण-निर्ग्रन्थो को दीक्षा स्वीकार किये पाच वर्ष व्यतीत हो चुके हो, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, सग्रह तथा उपग्रह मे कुशल हों, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल-अदूषित, अभिन्न – एक जैसा सात्विक, असक्लिष्ट – सक्लेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान् हों, जो कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र के वेत्ता हों, उनके लिए आचार्य और उपाध्याय का पद कल्पनीय है – उन्हे आचार्य या उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना विहित है।[1]

उपाध्याय पद पर मनोनीत किये जाने योग्य श्रमणो का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणों, निर्ग्रन्थों, को दीक्षा स्वीकार किये तीन वर्ष व्यतीत हो गये हो, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल हो, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल – अदूषित, अभिन्न – सर्वत: सात्विक, असंक्लिष्ट – संक्लेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान् हो, जो कम से कम आचाराग और निशीथ के वेत्ता हो, उन्हे उपाध्याय के पद पर आसीन करना कल्पनीय है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणो मे जो दीक्षा–काल दिया गया है, वह न्यूनतम है। उससे कम समय का दीक्षित श्रमण साधारणत: ऊपर वर्णित पदों का अधिकारी नही होता।

पद और दीक्षा-काल

आठ वर्ष, पाच वर्ष और तीन वर्ष के दीक्षा-काल के रूप में ऊपर तीन प्रकार के विकल्प उपस्थित किये गये हैं। अन्य योग्यताये सबकी एक जैसी बतलाई गई है।

आठ वर्ष के दीक्षित श्रमण को आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक का पद दिया जाना कल्पनीय विहित कहा गया है। सात पदों

---

[1] व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ५

[2] आवश्यक सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ३

में से छ पदों का उल्लेख यहां हुआ है। गणधर का पद उल्लिखित नही है। पर, भावत उसे यहा अन्तर्गर्भित मान लिया जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस श्रमण का दीक्षा-पर्याय आठ वर्ष का हो चुका है और जिसमे यदि दूसरी अपेक्षित योग्यताएँ हो तो वह सभी पदो का अधिकारी है।

पाच वर्ष के दीक्षित श्रमण को, यदि अन्य योग्यताएँ उसमे हो तो आचार्य और उपाध्याय पद का अधिकारी बताया है।

तीन वर्ष के दीक्षित श्रमण को और योग्यताए होने पर उपाध्याय पद के लिए अनुमोदित किया है।

इन तीन विकल्पो मे से दो में आचार्य का उल्लेख हुआ है और उपाध्याय का तीनो मे ही। इसका आशय यह है कि आचार्य के लिए कम से कम पाच वर्ष का दीक्षा-काल होना आवश्यक है। तव यदि उनका आठ वर्ष का दीक्षा-काल हो तो और भी अच्छा। आठ वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता वस्तुत प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक के पद के लिए है। पहले विकल्प मे क्रमश सभी पदो का उल्लेख करना था अत. आचार्य का भी समावेश कर दिया गया।

उपाध्याय-पद के लिए कम से कम तीन वर्ष का दीक्षा-काल अनिवार्य है। फिर वह यदि पाच या आठ वर्ष का हो तो और भी उत्तम है। जैसा कि कहा गया है, आठ वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता आचार्य तथा उपाध्याय के अतिरिक्त अन्य पदों के लिए तथा पाच वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता केवल आचार्य पद के लिए है। पहले विकल्प मे सभी पदो का और दूसरे विकल्प मे दो पदो का उल्लेख करना था अत दोनो स्थानो पर उपाध्याय का समावेश किया गया।

श्रुत-योग्यता, आचार-प्रवणता, ओजस्वी व्यक्तित्व तथा जीवन के अनुभव – ये चार महत्वपूर्ण तथ्य है, जिनका सघीय पदो से अतरग सम्बन्ध है।

उपाध्याय का पद श्रुत-प्रधान या सूत्र-प्रधान है। आत्म-साधना तो जीवन का अविच्छिन्न अग है ही, उसके अतिरिक्त उपाध्याय का प्रमुख कार्य श्रमणो को सूत्र-वाचना देना है। यदि कोई श्रमण इस (श्रुतात्मक) विपय मे निष्णात हो तो अपने उत्तरदायित्व का भली भाति निर्वाह करने मे उन्हे कोई कठिनाई नही आती। व्यावहारिक जीवन के अनुभव आदि की वहा विशेप अपेक्षा नही रहती। वहा सूत्र सम्वन्धी व्यापक अध्ययन, प्रगल्भ पाण्डित्य तथा प्रकृष्ट प्रज्ञा होनी चाहिये। अत यदि तीन वर्ष के दीक्षित श्रमण मे भी ये योग्यताए हो तो वह उपाध्याय-पद का अधिकारी हो सकता है।

आचार्य पद के लिए योग्यता का आधार आचार-कौशल, शासन-नैपुण्य, ओजस्वी व्यक्तित्व, व्यवहार-पटुता, शास्त्रो का तलस्पर्शी, सूक्ष्म ज्ञान तथा जीवन के अनुभव है। इनमे अनुभव के अतिरिक्त जो विशेषताए बतलाई गई है, वे काल-सापेक्ष कम है, क्षयोपशम या सस्कार सापेक्ष अधिक। कतिपय व्यक्ति जन्मजात

मेधावी, प्रभावशील, ओजस्वी और कर्त्तव्यकुशल होते है तथा कतिपय ऐसे होते है कि वर्षो के अभ्यास तथा चिर प्रयत्न के बावजूद इस प्रकार का कुछ भी वैशिष्ट्य अर्जित नही कर पाते। प्रत्येक कार्य मे पुरुषार्थ और प्रयत्न तो चाहिये पर तरतमता की दृष्टि से वस्तुत. इन विशेषताओं का सम्बन्ध प्रयत्नो से कम और सस्कारों से अधिक है।

आचार्य सस्कारी और पुण्यात्मा होते है। उनमे ये विशेषताए स्वाभाविक होती है। पर, जीवन का अनुभव भी चाहिए। अत उनके लिए कम से कम पांच वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता बतलाई गई। सस्कारी एव प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए जीवन के बहुमुखी अनुभव अर्जित करने की दृष्टि के यह समय कम नही है।

प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक के पद जिस प्रकार के उत्तरदायित्व से जुडे है, उनके निर्वहण के लिए बहुत ही अनुभवी व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जो जीवन के अनुकूल-प्रतिकूल, मधुर-कटु, प्रिय-अप्रिय जैसे अनेक क्रम देख चुका हो, परख चुका हो। अनुभव-परिपक्वता की दृष्टि से उन पदो के अधिकारी होने योग्य श्रमण के लिए जो कम से कम आठ वर्ष का दीक्षा-काल स्वीकार किया गया है, वह वास्तव मे आवश्यक है।

इसी प्रसग मे व्यवहारसूत्र में एक विशेष बात कही गई है। बताया गया है कि विशेष परिस्थिति में एक दिन के दीक्षित श्रमण को भी आचार्य या उपाध्याय का पद दिया जा सकता है। यह बात विशेषत: निरुद्ध-वास-पर्याय-श्रमण को उद्दिष्ट कर कही गई है। निरुद्ध-वास-पर्याय का आशय उस श्रमण से है, जो पहले श्रमण-जीवन मे था पर दुर्बलता से उससे पृथक् हो गया। यद्यपि ऐसा व्यक्ति संयम से गिरा हुआ तो होता है पर उसके पास साधु-जीवन का लम्बा अनुभव रहता है। यदि वह सही रूप मे आत्मप्रेरित होकर पुन: श्रामण्य अपना लेता है तो उसका विगत श्रमण-जीवन का अनुभव उसके लिए, सघ के लिए क्यो नही उपयोगी होगा।

आचार्य का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों को लिए हुए होता है। अत: उक्त प्रकार के एक दिवसीय दीक्षित साधु मे, जिसे आचार्य या उपाध्याय का पद दिया जाना विहित कहा गया है, और भी कुछ असाधारण विशेषताए होनी चाहिए, जिनका निम्नाकित रूप मे उल्लेख किया गया है—

वह स्थविर ऐसे कुल का हो, जिसके प्रति सघ की प्रतीति हो अथवा जो सघ के लिए दान, सेवा आदि की भावना के कारण प्रीतिकारक हो, जो स्थेय हो—प्रीतिकर होने के नाते जो सघ की चिन्ता मे प्रमाणभूत हो, जो संघ के लिए, सबके लिए वैश्वासिक — विश्वास-स्थान हो — सम्मत हो, कठिनाई या सघर्ष आदि की स्थिति मे सहयोग करने के नाते जो सघ के लिए प्रमोदकारक हो, जो सघ के लिए अनुमत हो अथवा श्रमणो को दान देने में जहाँ परिवार के छोटे-बड़े-सभी

सदस्यो की अनुमति हो – सभी भिक्षा देने के अधिकारी हों, जो संघ द्वारा वहुसम्मत हो – सेवाशीलता, शालीनता तथा धर्म-भावना की वृत्ति के कारण जिस कुल का सघ मे बहुमान हो ।[1]

पारपरिक सस्कारो का मनुष्य-जीवन पर बहुत प्रभाव होता है । पारिवारिक और पैतृक सस्कार मानव के हृदय मे कुछ ऐसी धारणाएँ और मान्यताएँ प्रतिष्ठित कर देते है कि वह सहसा हीन पथ का अवलम्बन नही कर पाता । उसमे सहज ही धीरज, दृढता, स्थिरता और उदात्तता आदि कुछ ऐसी विशेपताएँ होती है, जिनके कारण सघ का गुरुतर उत्तरदायित्व वह वहन कर सकता है । अपनी पैतृक प्रतिष्ठा, सम्मान और गरिमा भी उसके मस्तिष्क मे रहती है, जो उसे किसी भी महान् कार्य मे साहस और निर्भीक भाव से जुट जाने को प्रेरित करती है । यही कारण है, यहाँ कुल की महत्ता पर इतना जोर दिया गया है ।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कुल के जो विशेपण ऊपर दिये गये है, उनका सीधा सम्बन्ध श्रमण सघ से है । जिस कुल से श्रमण सघ का इतना नैकट्य है, जिसके बच्चे-वच्चे के हृदय मे श्रमणो के प्रति अगाध श्रद्धा है, परिवार का प्रत्येक सदस्य श्रमणो को भक्ति और आदर के साथ सदा दान देने को तत्पर रहता है, वहाँ एक दो का अपवाद हो सकता है, पर उस मे उत्पन्न व्यक्ति सहज ही सघीय दायित्वो के प्रति वहुत जागरूक होगा । परपरा और सस्कार के कारण उसे लगभग वह सब प्राप्त होता है, जो काफी समय पूर्व दीक्षित साधु को होता है ।

यह विशेष परिस्थिति भी, कभी-कभी तव वनती है, जब अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का अवसर पाये विना ही आचार्य अचानक काल धर्म को प्राप्त हो जाते है ।

अनुमान किया जाता है कि वीर नि० स० १ से आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के समय तक की १००० वर्ष की अवधि मे आचार्य परम्परा की तरह उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर, गणी, गणधर गणावच्छेदक, महत्तरा, प्रवर्तिनी आदि पदो की भी क्रमबद्ध परम्पराएँ चली हो । अनेक परम उपकारी महान् श्रमणो ने अपने अपने समय मे श्रमण परम्परा के इन विशिष्ट उत्तरदायित्व पूर्ण पदो का कार्यभार सम्हाला । उन्होने जीवन भर स्व-पर-कल्याण मे निरत रहते हुए वडी लगन और योग्यता के साथ भगवान् महावीर के सर्वभूत हितकारी धर्मसघ की चहुमुखी प्रगति की । हमारी उत्कट अभिलापा थी कि आचार्य परम्परा की तरह उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक, महत्तरा आदि सभी परम्पराओ का क्रमवद्ध इतिहास दिया जाय । पर यथाशक्ति पूरी खोज और प्राप्त पुरातन सामग्री के पर्यवेक्षण के पश्चात् हमे वडे दु ख के साथ कहना पडता है कि हम प्रस्तुत ग्रन्थ मे उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि पदो को अतीत मे विभूषित करने वाले महापुरुषो का परिचय नही दे पा रहे है, क्योकि उनका नाम काल आदि साधारण परिचय

[1] व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ८

भी आज कही उपलब्ध नही है। यही कारण है कि इस द्वितीय भाग में मुख्यतः आचार्यों, वाचनाचार्यों, युग-प्रधानाचार्यों, कतिपय प्रभावक सतो एव महत्तरा सतियों का तथा उनके समय की विशिष्ट घटनाओ का ही परिचय प्रस्तुत कर पा रहे है।

भविष्य मे शोध करते समय इन उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि परम्पराओ का यदि परिचय प्राप्त हुआ तो उसे समुचित रूप से यथा स्थान देने का प्रयास किया जायगा।

अन्त परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ मे जैन धर्म का वीर नि० स० १ से १००० तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक पाठक निर्वाणोत्तर काल के एक हजार वर्ष के इतिहास को सहज ही हृदयगम कर स्मृति पटल पर अकित कर सके, इस दृष्टि से इसे निम्नलिखित चार प्रकरणो में विभक्त कर दिया गया है :-

१. केवलिकाल
२ श्रुतकेवलिकाल
३ दशपूर्वधरकाल
४. सामान्य पूर्वधरकाल

१ **केवलिकाल** – श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ द्वारा वीर निर्वाण के पश्चात् समान रूप से इन्द्रभूति गौतम, आचार्य सुधर्मा और आचार्य जम्बू ये तीन केवली माने गये है पर इन तीनों केवलियो के मुख्यतः पृथक्-पृथक् एव अशत. समुच्चय काल के सम्बन्ध मे दोनो परम्पराओ का परस्पर मान्यता भेद पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों मे इन्द्रभूति गौतम का १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा का ८ वर्ष और आर्य जम्बू का ४४ वर्ष, इस प्रकार कुल मिला कर ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है।

जब कि दिगम्बर परम्परा मे केवलिकाल विषयक दो प्रकार की मान्यताएं उपलब्ध होती है, उत्तर पुराण[1] और पुष्पदन्त-कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण[2] मे इन्द्रभूति गौतम का १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा का १२ वर्ष और जम्बू स्वामी का ४० वर्ष इस प्रकार कुल मिलाकर ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है। धवला,[3] श्रुतावतार[4], ब्रह्म हेमचन्द्रकृत श्रुतस्कन्ध[5] हरिवंश पुराण[6] और नन्दि सघ की प्राकृत पट्टावली[7] में समान रूप से इन तीनों केवलियों का पृथक्-पृथक् केवलिकाल क्रमश १२ वर्ष, १२ वर्ष और ३८ वर्ष उल्लिखित करते हुए समुच्चय केवलिकाल

---

[1] उत्तर पुराण, पर्व ७६, पृ० ५३७

[2] महा पुराण, सधि १००, पृ० २७४

[3] षट् खण्डागम, वेदना खण्ड-धवला, भा. ६, पृ० १३०-३१

[4] श्रुतावतार, श्लो० ७२-७६

[5] श्रुतस्कन्ध, गाथा ६६, ६७

[6] हरिवश पुराण, सर्ग ६६, श्लो २२

[7] नन्दि सघ की प्राकृत पट्टावली, गा. १, २

६२ वर्ष बताया है। तिलोय पण्णत्ती[1] में इन तीनों का केवलिकाल पृथक् २ न बताकर पिण्ड रूप से ६२ वर्ष लिखा है। तिलोयपण्णत्तिकार ने इन तीनो केवलियो को अनुवद्ध केवली की सज्ञा देते हुए अन्तिम केवली श्री धर[2] के कुडलगिरी पर सिद्ध होने का उल्लेख किया है। इस प्रकार का उल्लेख तिलोय पण्णत्ति और उत्तरवर्ती काल के श्रुतस्कन्ध[3] को छोडकर सम्पूर्ण प्राचीन जैन वाड्मय मे अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होता।

दिगम्बर परम्परा के ही वीर कवि रचित अपभ्रश भाषा के जम्बू सामि-चरिउ[4] तथा प० राजमल्ल रचित 'जम्बू चरित्र'[5] (सस्कृत) मे इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा इन दोनो का सम्मिलित रूप से १८ वर्ष और जम्बू का समय १८ वर्ष उल्लिखित करते हुए इन तीनो केवलियो का केवलिकाल कुल मिलाकर केवल ३६ वर्ष ही बताया गया है।

इस प्रकार उपरिलिखित उद्धरणो के अनुसार श्वेताम्वर परम्परा मे वीर नि० स० १ से ६४ तक कुल ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है। जवकि दिगम्वर परम्परा के ऊपर लिखे विभिन्न ग्रन्थो मे केवलिकाल विपयक तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मान्यताए उपलव्ध होती है। एक मान्यता केवलिकाल ६४ वर्ष का, दूसरी ६२ वर्ष का और तीसरी केवल ३६ वर्ष का ही वताती है। इस प्रकार के विभेदात्मक उल्लेखो के उपरान्त भी दिगम्वर परम्परा मे आज जो सर्वसम्मत मान्यता प्रचलित है, उसके अनुसार केवलिकाल ६२ वर्ष माना जाता है।

केवलिकाल विषयक इस साधारण मतभेद के अतिरिक्त श्वेताम्वर और दिगम्बर इन दोनो परम्पराओ मे दूसरा मान्यता भेद भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के सम्वन्ध मे है। जहा श्वेताम्वर परम्परा मे आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना गया है, वहा दिगम्वर परम्परा मे इन्द्रभूति गौतम को। भगवान् महावीर के धर्म सघ के आचार्यो की जितनी भी पट्टावलिया उपलव्ध हैं, उनमे से श्वेताम्वर परम्परा की सभी पट्टावलियां आर्य सुधर्मा से और दिगम्वर परम्परा की सभी पट्टावलिया इन्द्रभूति गौतम से प्रारम्भ होती है। दोनों परम्पराओ मे इस वात पर तो मतैक्य है कि जिस रात्रि मे भगवान् का निर्वाण हुआ उसी रात्रि मे प्रथम गणधर इन्द्रभूति को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई परन्तु श्वेताम्वर परम्परा के सभी प्रामाणिक ग्रन्थो में आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर और दिगम्वर परम्परा के ग्रन्थो मे इन्द्रभूति गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर एव तत्पश्चात् सुधर्मा को द्वितीय पट्टधर माना गया

[1] तिलोय पण्णत्ति, महा० ४, गा १४७८

[2] वही, गा. १४७९

[3] ब्रह्म हेमचन्द्ररचित श्रुतस्कन्ध, गा ६८

[4] जम्वुसामिचरिउ, वीर कवि रचित (सम्पादक डा वी पी जैन) १० २३

[5] जम्बू चरित्र, राजमल्ल रचित, सर्ग १२, श्लो १०९, ११०, ११२, १२० और १२१

है। वस्तुत भगवान् के प्रमुख गणधर और प्रधान शिष्य होने के कारण इन्द्रभूति गौतम उनके पट्टधर बनने के सर्वप्रथम अधिकारी थे, संभवतः इसी दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे एतद्विषयक किसी प्रकार के ऊहापोह, युक्ति अथवा प्रमाण के प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता न समझकर सहज रूप से यह उल्लेख कर दिया गया कि प्रभु के निर्वाण पश्चात् इन्द्रभूति गौतम उनके प्रथम पट्टधर बने।

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में इन्द्रभूति की विद्यमानता मे आर्य सुधर्मा को भगवान् का प्रथम पट्टधर बनाये जाने के सम्बन्ध मे सयौक्तिक एव सप्रमाण पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के "केवलिकाल" शीर्षकान्तर्गत प्रकरण मे इस विषय पर विस्तारपूर्वक जो विवेचन किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है :—

१. सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने तीर्थप्रवर्तन काल मे ही अपने ११ प्रमुख शिष्यों को गणधर पद प्रदान करते समय आर्य सुधर्मा को दीर्घजीवी समझकर – "मै तुम्हे धुरी के स्थान पर रखकर गण की अनुज्ञा देता हूँ"–यह कह कर एक प्रकार से अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

२ प्रभु के निर्वाण के थोडे समय पश्चात्, उसी निर्वाण रात्रि में इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई थी। केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व उत्तराधिकारी के पद पर नियुक्त व्यक्ति केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् उस पद पर बना रह सकता है पर जिसे केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी है, वह व्यक्ति किसी का उत्तराधिकारी नही बनाया जा सकता। इसका कारण यह है कि कोई भी पट्टधर अपने पूर्ववर्ती आचार्य के आदेशो, उपदेशों, आदर्शो एव सिद्धान्तो का प्रचार-प्रसार तथा आज्ञाओ का पालन करवाता है। परन्तु केवलज्ञानी निखिल चराचर के पूर्ण ज्ञाता एव साक्षात् द्रष्टा होने के कारण–"भगवान् ने जैसा कहा है, वही मैं कह रहा हूँ" यह कहने के स्थान पर "मै ऐसा देखता हूँ, मैं ऐसा कहता हूँ" यह कहने की स्थिति मे रहता है। ऐसी स्थिति मे तीर्थकर महावीर द्वारा अर्थतः प्ररूपित द्वादशांगी का श्रमण-समूह को ज्ञान कराते समय कोई केवलज्ञानी यह नही कह सकते कि भगवान् महावीर ने ऐसा देखा, ऐसा जाना और ऐसा कहा। वे तो प्रत्यक्ष ज्ञाता एवं द्रष्टा होने के कारण यही कहते कि मै ऐसा देखता हूँ, ऐसा जानता हूँ और जो देखता जानता हूँ वही कहता हूँ। उस दशा में अंतिम तीर्थकर द्वारा प्ररूपित श्रुत-परम्परा भगवान् महावीर की परम्परा न रहकर गौतम केवली की श्रुतपरम्परा कही जाती।

आर्य सुधर्मा उस समय तक चार ज्ञान और चतुर्दश पूर्वो के धारक थे। उन्हे वीर निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान् द्वारा उपदिष्ट द्वादशागी का उपदेश करते समय वे छद्मस्थ होने के कारण यही कहते

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ ३७०

कि भगवान् ने ऐसा देखा-जाना-उपदेश दिया और इस प्रकार की आज्ञाएं दी, जैसा मैने उनसे सुना वही कह रहा हूँ।

इन सब तथ्यो को दृष्टि मे रखते हुए तीर्थेश्वर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रुतपरम्परा को पचम आरक की समाप्ति पर्यन्त अविच्छिन्न एव उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने वाली उनकी आज्ञाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये केवली गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर न मान कर चतुर्दश पूर्वधर और मन: पर्यवज्ञानी सुधर्मा को माना गया।

धवलाकार (शक स० ७३८ अनुमानत) से ३५८ वर्ष पूर्व मुनि सर्वनन्दि (शक स० ३८०)[1] द्वारा रचित 'लोक-विभाग' (प्राकृत) के सस्कृत रूपान्तर-कार सिहसूरर्षि ने 'लोक-विभाग' (सस्कृत) की प्रशस्ति मे लिखा है —

देवो और मनुष्यो की सभा मे तीर्थंकर वर्द्धमान प्रभु ने भव्यजनो के हित के लिये जगत् का विधान कहा, जो सुधर्मा स्वामी आदि ने जाना और जो आचार्य-परम्परा से आज तक चला आ रहा है, उसे सिहसूर ऋषि ने भाषा-परिवर्तन कर विरचित किया उसका निपुण जनो ने सम्मान किया है।[2]

इससे अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर समाज मे भी प्राचीन काल मे आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर मानने की परम्परा प्रचलित थी।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य धर्मघोष ने अपनी 'दुस्समाकालसमण-सघथय' – नामक (ऐतिहासिक महत्व की) एक छोटी सी स्तुतिपरक पुस्तिका की अवचूरी मे वीर नि० १ से ६० तक पालक के ६० वर्ष के राज्यकाल मे हुए युगप्रधान पुरुषो का उल्लेख करते हुए लिखा है –

"तस्स य वरिस ६० रज्जे गोयम १२ सुहम्म ८ जबू ४४ जुगप्पहाणा।"[3]

कुछ विद्वानो का इस पर यह अभिमत हो सकता है कि इन तीनो का पृथक् पृथक् समय देते हुए जो कालक्रम की कडिया जोडी गई है, वह भगवान् महावीर के पट्टानुक्रम की ओर ही स्पष्ट इगित है। परन्तु इस प्रश्न पर सूक्ष्म दृष्टि से थोडी सी गम्भीरतापूर्वक विचार करते ही इस प्रकार की आशका निराधार सिद्ध हो जायगी। युगप्रधान पट्टावली मे इन्द्रभूति गौतम का कही

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ४५

[2] भव्येभ्य सुरमानुषोरुसदसि श्रीवर्द्धमानार्हता,
यत्प्रोक्त जगतो विधानमखिल ज्ञात सुधर्मादिभि·।
आचार्यावलिकागत विरचित तत् सिहसूरर्षिणा,
भाषाया परिवर्तनेन निपुणै सम्मानित साधुभि ॥

[3] आर्य जम्बू के अन्तिम ४ वर्षो की गणना अवचूरिकार ने आगे चलकर नन्द के राज्य मे कर ली है।

पादोपगमन सथारा कर सिद्ध हो गये ।[1] उनके सात गण आर्य सुधर्मा के गण मे विलीन हो गये ।

इन्द्रभूति गौतम भी वीर निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौपकर सिद्ध हुए । इस प्रकार भगवान् के दश गणधरो की शिष्य परम्परा और उनकी ८ वाचनाए उनके (गणधरो के) निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गई और परिणामत· केवल सुधर्मा स्वामी की शिष्य-परम्परा और द्वादशागी की वाचना अवशिष्ट रह गई ।[2]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे द्वादशागी की रचना के सम्बन्ध मे २ प्रकार की मान्यताएँ उपलब्ध होती है । धवलाकार से लगभग ढाई सौ – तीन सौ वर्ष पूर्व हुए आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी (विक्रम की छठी शताब्दी) ने तत्त्वार्थ सूत्र पर लिखी गई अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' नामक वृत्ति मे सभी गणधरो द्वारा द्वादशागी की रचना की जाने का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है –

"सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थकर ने अपने परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति की विशिष्टता द्वारा अर्थरूप से आगमो का उपदेश दिया । उन तीर्थकर के, अतिशय बुद्धि की ऋद्धि से सम्पन्न श्रुतकेवली गणधरो द्वारा भगवान् के उस उपदेश के आधार पर जो ग्रन्थो की रचना की गई, उसे अगपूर्व लक्षण अर्थात् द्वादशागी कहते है ।"[3]

इसी प्रकार धवलाकर के पूर्ववर्ती आचार्य अकलक देव (वि० ८ वी शती) ने तत्त्वार्थ सूत्र की राजवार्तिक टीका[4] मे तथा विक्रम की ६ वी शती के आचार्य विद्यानन्द ने 'तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक[5] नामक अपने ग्रन्थ मे इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है ।

---

[1] (क) परिणिव्वुया गणहरा जीवन्ते णायए णव जणाउ ।।६५८।। [आवश्यक निर्युक्ति]
(ख) यश्च यश्च काल करोति, स स सुधर्मस्वामिने गण ददाति
[आव० नि०, गा० ६५८ की मलयवृत्ति]

[2] (क) जे इमे अज्जताए समणा निग्गथा विहरति एए ण सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वुच्छिन्ना । [कल्प स्थविरावली]
(ख) अधुनैकादशाग्यस्ति, सुधर्मस्वामिभाषिता ।।१४४।।
[प्रभावकचरित्र, ८ वृद्धवादिचरित्र, पृ० ५७]

[3] तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत , आगम, उद्दिष्ट । · · तस्य साक्षात् शिष्यै बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तै गणधरै श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थ रचनम्–अगपूर्वलक्षणम् । [सर्वार्थसिद्धि, १।२०]

[4] अगप्रविष्टमाचारादि द्वादशभेद बुद्धयतिशयर्द्धि–युक्तगणधरानुस्मृत ग्रन्थ रचनम् ।१२।। भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवाग्गगाऽर्थविमलसलिलप्रक्षालितान्त करणै बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तै र्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम्–आचारादि द्वादशविधमगप्रविष्टमित्युच्यते । तद्यथा– आचार, सूत्रकृतम् स्थानम्, समवाय , व्याख्याप्रज्ञप्ति' । ।
[तत्वार्थवार्तिक, १।२० – १२, पृ० ७२]

[5] ······ ··· अर्हद्भाषितार्थ गणधरदेवै ग्रथितम्–इति वचनात् ।
[तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक, पृ० ६]

नामोल्लेख नही है। यदि युगप्रधान आचार्यो मे गौतम की गणना की गई होती तो उनका नाम युगप्रधान पट्टावली में अवश्य होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपरिलिखित रूप से अवचूरी मे आचार्य धर्मघोष द्वारा जो गौतम का नामोल्लेख किया गया है, वह वीर निर्वाण के पश्चात् हुए प्रथम केवली के नाते उनके प्रति सम्मान प्रगट करने की दृष्टि से उस युग के महान् पुरुष के रूप मे किया गया है न कि युगप्रधानाचार्य के रूप में।

आर्य सुधर्मा के प्रकरण मे – 'वर्तमान द्वादशागी के रचनाकार', 'द्वादशागी का परिचय', 'द्वादशागी का ह्रास एवं विच्छेद' और द्वादशागी विषयक दिगम्बर मान्यता' – इन उपशीर्षकों के अन्तर्गत पृष्ठ सं० ६८ से १८६ तक लगभग ११८ पृष्ठो मे द्वादशागी विषयक सुविस्तृत एव सर्वाङ्गपूर्ण परिचय दिया गया है। इस प्रकरण को सर्वसाधारण के लिए सुगम तथा शोधार्थियो के लिए उपयोगी बनाने के लिए इस ग्रथ के प्रधान सम्पादक श्री राठोड ने अलभ्य सामग्री उपलब्ध करा, एकादशांगी तथा द्वादशागी से सम्बन्धित उपलब्ध विपुल साहित्य के गहन अध्ययन के साथ जो अनेक उपयोगी परामर्श दिये है, उन्हे कभी नही भुलाया जा सकता।

इस प्रकरण मे द्वादशागी की रचना विषयक जो मान्यता-भेद इन दोनो – श्वेताम्बर और दिगम्बर – परम्पराओ में पाया जाता है, उस पर भी, यथाशक्य विशद प्रकाश डाला गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थो मे एक मत से निर्विवादरूपेण यह उल्लेख उपलब्ध होता है कि भगवान् महावीर के इन्द्रभूति गौतम प्रभृति ग्यारहो गणधर अपने अपने सदेह का प्रभु से समाधान पाकर एक ही दिन भगवान् के पास श्रमणधर्म मे दीक्षित हुए। उसी दिन सर्वज्ञ प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान और गणधर पद प्राप्त करने पर तत्काल उत्पन्न हुई गणधर-लब्धि के प्रभाव से उन सबने प्रभु की वाणी के आधार पर सर्व प्रथम चतुर्दश पूर्वो और तदनन्तर शेष दृष्टिवाद सहित एकादशागी का पृथकत: ग्रथन-गुफन किया। तीर्थंकर महावीर की वाणी के आधार पर उन ग्यारहो गणधरो द्वारा स्वतन्त्ररूपेण ग्रथित द्वादशागी मे अर्थत: समानता रहते हुए भी वाचनाभेद रहा है।

जैसा कि आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प – "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग" – मे बताया जा चुका है, भगवान् के ११ गणधरो मे से सात के पृथकत:, प्रत्येक के एक गण के हिसाब से सात गण, आठवे तथा नौवे गणधर का सम्मिलित एक गण और दशवे एव ग्यारहवे गणधर का सम्मिलित एक गण – इस प्रकार कुल ९ गण थे। गणधरो की सख्या के अनुसार ग्यारह नही पर ९ गणो की दृष्टि से द्वादशागी की ९ वाचनाए मानी गई है। इन्द्रभूति गौतम एव सुधर्मा को छोडकर शेष ९ गणधर, भगवान् महावीर की विद्यमानता मे ही अपने अपने गण आर्य सुधर्मा को सम्हला, एक एक मास का

दियदस-पण्णावायरण-विवायसुत्त- दिट्ठिवादाणं- सामाइय-चउवीसत्थय-वदण-पडिक्कमण-वइणइय-किदियम्म-दसवेयालि-उत्तरज्झयण-कप्पववहार-कप्पाकप्प-महाकप्प-पुडरीय-महापुडरीय, णिसिहियाण, चोद्दसपइण्णयाणमगवज्जाण च सावण मास बहुलपक्ख जुगादिपडिवय पुव्वदिवसे जेण रयणा कदा तेणिंदभूदि भडारओ वड्ढमाण-जिणतित्थगथकत्तारो ।"

धवलाकार आचार्य वीरसेन के समकालीन पुन्नाट सघीय आचार्य जिनसेन ने धवला से पूर्वरचित अपने ग्रन्थ हरिवश पुराण मे धवला की अपेक्षा और अधिक विस्तार के साथ वताया है कि भगवान् महावीर ने द्वादशागी, पूर्वो तथा पूर्वो की चूलिकाओ के ज्ञान का उपदेश देने के पश्चात् सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा जिसमे सभी प्रायश्चित्तो का विधान है उस निषद्यका (निषीथ) का उपदेश दिया। तदनन्तर प्रभु ने अपनी देशना मे मति आदि पाचो ज्ञान के स्वरूप, विषय, फल, अपरोक्ष-परोक्षता, मार्गणा भेद, गुणस्थान विकल्पो, जीवस्थान के भेद-प्रभेदो सहित जीव द्रव्य का, सत्सख्यादि अनुयोगो आदि के द्वारा पुद्गलो एव उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व, बन्ध, मोक्ष, लोक, अलोक आदि का विशद ज्ञान दिया। प्रभु के उस उपदेश के आधार पर गौतम गणधर ने अग प्रविष्ट द्वादशागी एव उपागो की रचना की।[1]

---

[1] अगप्रविष्टतत्त्वार्थ, प्रतिपाद्य जिनेश्वर ।
अगबाह्यमवोचत्तत्प्रतिपाद्यार्थरूपत ॥१०१॥
सामायिक यथार्थाख्य सचतुर्विंशतिस्तवम् ।
वन्दना च तत पूता, प्रतिक्रमणमेव च ॥१०२॥
वैनयिक विनेयेभ्य कृतिकर्म ततोऽवदत् ।
दशवैकालिका पृथ्वीमुत्तराध्ययन तथा ॥१०३॥
त कल्पव्यवहार च कल्पाकल्प तथा महा-
कल्प च पुण्डरीक च, सुमहापुण्डरीककम् ॥१०४॥
तथा निषद्यका प्राय प्रायश्चित्तोपवर्णनम् ।
जगत्त्रयगुरु प्राह प्रतिपाद्य हितोद्यत ॥१०५॥
मत्यादे केवलान्तस्य, स्वरूप विषय फलम् ।
अपरोक्षपरोक्षस्य, ज्ञानस्योवाच सख्यया ॥१०६॥
मार्गणास्थानभेदैश्च, गुणस्थान विकल्पनै ।
जीवस्थानप्रभेदैश्च, जीव-द्रव्यमुपादिशत् ॥१०७॥
सत्सख्याद्यनुयोगैश्च, सन्नामादिकमादिभि ।
द्रव्य स्वलक्षणैर्भिन्न, पुद्गलादित्रिलक्षणम् ॥१०८॥
द्विविध कर्मबन्ध च, सहेतु – सुख दु खदम् ।
मोक्ष मोक्षस्य हेतु च, फल चाष्टगुणात्मकम् ॥१०९॥
बन्ध-मोक्षफल यत्र, भुज्यते तत्त्रिधाकृतम् ।
अन्त' स्थित जगौ लोकमलोक च बहिस्थितम् ॥११०॥
अथ सर्वद्धिसम्पन्न श्रुत्वार्थ जिनभाषितम् ।
द्वादशाग श्रुतस्कन्ध, सोपाग गौतमो व्यधात् ॥१११॥

[हरिवश पुराण, सर्ग २, पृ० २०]

दूसरी मान्यता यह है कि भगवान् से अर्थतः आगमों का उपदेश सुनकर इन्द्रभूति गौतम ने उसी दिन एक मुहूर्त में द्वादशांगी की प्रतिरचना की। तिलोयपन्नत्ति,[1] धवला,[2] जयधवला[3] इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार[4] और अंगपण्णत्ती[5] में इसी मान्यता का प्रतिपादन किया गया है।

धवलाकार ने उपरिवर्णित मान्यता के प्रतिपादन के पश्चात् आगे चलकर अपनी एक ऐसी मान्यता रखी है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय आदि सभी परम्पराओं के उपलब्ध समस्त जैन साहित्य में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। धवलाकार ने केवल द्वादशांगी को ही नहीं अपितु सामाइक, दशवैकालिक आदि १४ सूत्रों, १४ प्रकीर्णकों एवं अंगवर्ज्य आगमों को भी एक मात्र इन्द्रभूति द्वारा ही ग्रथित बताते हुए लिखा है :-

को होदि त्ति सोहम्मिद चालणादो (प्रश्नेन) जादसंदेहेण पच पंचसगंतेवासिसिहियभादुत्तिदयपरिवुदेण माणत्थंभदंसणेणेव पणट्ठमाणेण वड्ढमाणविसोहिणा वड्ढमाणजिणिददंसणेण णट्ठासंखेज्जभवज्जियगरुवकम्मेण जिणिंदस्स तिपदाहिणं करिय, पंचमुट्ठीय वदिय हियएण जिणं भाइय पडिवण्णसंजमेण विसोहिवलेण अतोमुहुत्तस्स उप्पण्णासेसगणिदलक्खणेण उवलद्धजिणवयणविणिग्गयबीजपदेण गोदमगोत्तेण बम्हणेण इंदभूइणा-आयार-सूदयडट्ठाण-समवाय-वियाहपण्णत्तिणाहधम्मकहोवासयज्भयणंतयड दस-अणुत्तरोववा-

---

[1] महावीर भासियत्थो तस्सि खेत्तम्मि तत्थकाले य ॥७६॥
विमले गोदमगोत्ते जादेण, इंदभूदिणामेण ॥७८॥
भावसुदपज्जएहिं परिणदमइणा य बारसंगाणं।
चोद्दस पुव्वाण तहा, एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदा ॥७९॥
[तिलोयपण्णत्ति, प्रथम अधिकार]

[2] पुणो तेणिंदभूदिणा भावसुद-पज्जयपरिणदेण बारहंगाणं चोद्दस-पुव्वाणं च गथाणमेवकेण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा। [धवला, १, १, १, पृ० ६६]

[3] तदो तेण गोयमगोत्तेण इंदभूदिणा अनोमुहुत्तेणावहारिय दुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगगंथरयणेण.......... [जय धवला]

[4] तेनेन्द्रभूति-गणिना, तद्दिव्यवचोवबुध्य तत्त्वेन।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे ॥६६॥ [इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार]

[5] सिरिवड्ढमाणमुहकय विणिग्गयं बारहंग-सुदणाण।
सिरिगोयमेण रइय अविरुद्धं सुगाह भवियजणा ॥४२॥ [अंग पण्णत्ती]

मणक मुनि के हितार्थ आचार्य शय्यभव द्वारा द्वादशागी मे से दशवैकालिक सूत्र के निर्यूढ किये जाने का स्पष्ट उल्लेख दशवैकालिक निर्युक्ति की निम्न-लिखित गाथा मे किया गया है –

मणग पडुच्च सज्जभवेण, निज्जूहिया दसज्झयणा ।
वेयालियाइ ठविया, तम्हा दसकालिय णाम ।।[1]

इस प्रकार श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनो ही परम्पराओ के प्राचीन एव प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थो के उपर्युद्धृत उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि गणधरो ने प्रभु महावीर के उपदेश के आधार पर केवल द्वादशागी की ही प्रति-रचना की । द्वादशागी वस्तुत गणधरो की कोई स्वतन्त्र रचना नही है । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र के धनी तीर्थंकर प्रभु महावीर ने जो निखिलार्थ प्रतिपादी अथाह ज्ञान का उपदेश दिया उस ही को कतिपय अशो मे हृदयगम कर गणधरो ने उसे द्वादशागी का रूप दिया, अत उनकी इस ग्रथन क्रिया के लिये रचना की अपेक्षा प्रतिरचना शब्द का प्रयोग विशेष उपयुक्त जचता है । वस्तुत द्वादशागी मे समस्त ज्ञेय को समाविष्ट कर दिया गया था । उसमे प्रतिपादित ज्ञान के अतिरिक्त कोई विशिष्ट ज्ञातव्य अवशिष्ट ही नही रह गया था, जिसके लिये द्वादशागी के अतिरिक्त और किसी आगम की प्रतिरचना की गणधरो को आवश्यकता रहती ।

"जस्स जत्तियाइ सीसाइ तस्स तत्तियाइ पइण्णगसहस्साइ" – नन्दीसूत्र के इस उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यो (गणधरो के अतिरिक्त) तथा प्रत्येक बुद्धो, शय्यभव और भद्रवाहु जैसे चतुर्दश-पूर्वधर तथा श्यामार्य जैसे दशपूर्वधर एव श्रुतार्थतत्त्वपारगामी देवर्द्धि जैसे आचार्यो द्वारा द्वादशागी के अथाह ज्ञान मे से साधको के लिये परमोपयोगी ज्ञान को चुन-चुन कर पृथक्-पृथक् प्रकीर्णको के रूप मे सकलित आगम ही अगबाह्य आगम है । यदि सक्षेप मे यह कहा जाय तो उपयुक्त होगा कि अगबाह्य आगम द्वादशागी रूपी अगाध अमृत-सागर मे से भर कर पृथकत रखे हुए अमृतघट तुल्य है ।

इन सब तथ्यो के पर्यालोचन के पश्चात् सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रभु की प्रथम देशना के पश्चात् उसी दिन गणधरो ने द्वादशागी की रचना की । तदनन्तर तीर्थंकर के समस्त अतिशयो से युक्त भगवान् महावीर ने ३० वर्ष तक विचरण करते हुए अपनी देशनाओ मे समसामायिक, भूत अथवा भावी घटनाओ, चरित्रो, दृष्टान्तो आदि प्रसगोपात्त विविध विषयो का जो दिग्दर्शन कराया उनके आधार पर स्थविरो ने आगमो की रचना की । जैसा कि 'उत्तराध्ययन' शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्टत प्रकट होता है कि यह सूत्र प्रभु महावीर द्वारा दिये गये उत्तरकालवर्ती उपदेशो के आधार पर ग्रथित अध्ययनो का सकलन है । समवायाग और कल्पसूत्र मे स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर

[1] दशवैकालिक निर्युक्ति, गा १५ (वही)

पूज्यपाद देवनन्दी ने तत्त्वार्थ सूत्र की अपनी सर्वार्थ-सिद्धिवृत्ति में दश-वैकालिक आदि अंगबाह्य आगमों को आरातीय आचार्यो की रचना बताते हुए लिखा है :–

"आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिवलशिष्यानुग्रहाथ दशवैकालिकाद्युपनिवद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजल घट-गृहीतमिव ।

पूज्यपाद देवनन्दी के इस उल्लेख से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय तक दिगम्बर परम्परा में भी दशवैकालिक एकादशांगी के समान परम प्रामाणिक माना जाता था ।"

दिगम्बर आचार्य अकलक देव ने भी तत्त्वार्थ वार्त्तिक में अग बाह्य आगमों को आरातीय आचार्यो द्वारा रचित बताते हुए लिखा है :–

"आरातीयाचार्य-कृतागार्थ-प्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम् ।।१३।।

यद्गणधर-शिष्य-प्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधा-युर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिवद्धं सक्षिप्तांगार्थवचनविन्यासं तदगबाह्यम् ।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ मूलाचार में सूत्र की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतिकेवली और सम्पूर्ण १० पूर्वो के धारण करने वाले आचार्यो द्वारा ग्रथित आगम को ही श्रुत के नाम से अभिहित किया जा सकता है । यथा :–

सुत्तं गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च ।[3]
सुदकेवलिणाकथिदं, अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ।।४।।

श्वेताम्वर परम्परा के टीका, चूर्णि भाष्य आदि मान्य ग्रन्थों मे अंग प्रविष्ट (द्वादशागी) को गणधरों द्वारा ग्रथित[4] एव अगबाह्य आगमों को विशुद्ध आगम वुद्धि सयुक्त (चतुर्दशपूर्वधर एवं अभिन्न दशपूर्वधर) आचार्यो द्वारा द्वादशागी के आधार पर रचित माना गया है ।[5]

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, १, २०, पृ० १२४

[2] तत्त्वार्थ वार्त्तिक, १. २०, पृ० ७८

[3] मूलाचार ३.८०

[4] जे अरहंतेहि भगवंतेहि अईयाणागयवट्टमाण – दव्वखेत्तकालभावजथावत्थितदसीहिं अत्था परूविया ते गणहरेहि परमबुद्धिसन्निवायगुणसपण्णेहिं सय चेव तित्थगरसगासाओ उवलभिऊणं सव्व-सत्ताण हितट्ठयाय सुतत्तेण उवणिवद्धा तं अंगपविट्ठं, आयाराइ दुवाल-सविहं । [आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० ८]

[5] ज पुण अण्णेहिं विसुद्धागमवुद्धिजुत्तेहि थेरेहिं अप्पाउयाणं मणुयाण अप्पबुद्धिसत्तीण च दुग्गाहकंति णाऊण तं चेव आयाराइ सुयणाणं परंपरागत अत्थतो गयतो य अति वहूंति णाऊण अणुकम्पाणिमित्तं दसवेतालियमादि परूवियं तं अणेगभेद अणंगपविट्ठ ।

सं० १७० (श्वे० मान्यतानुसार) अथवा वीर नि० सं० १६२ (दिगम्बर मान्यतानुसार) स्वर्गस्थ हुए श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवन की घटनाओ के साथ अनुमानत· वीर नि० स० ६३० से ६६० के बीच हुए नैमित्तिक भद्रवाहु के जीवन की घटनाओ को नाम साम्य के कारण जोड दिए जाने के फलस्वरूप दोनो परम्पराओ मे एक लम्बे समय से अनेक भ्रान्त धारणाए चली आ रही है। इस प्रकरण मे इन्ही दोनों परम्पराओं के प्राचीन एव मध्ययुगीन ग्रन्थो तथा शिलालेख के आधार पर दोनो परम्पराओ के हृदयो मे घर की हुई उन भ्रान्तियो का निराकरण किया गया है।

भगवान् महावीर का धर्मसघ श्वेताम्वर और दिगम्वर – इन दो परम्पराओ के रूप मे किस प्रकार विभक्त हुआ – इस विषय मे तो दोनो परम्पराओ की मान्यताओ मे आकाश-पाताल का सा अन्तर है। किन्तु यह मतभेद किस समय उत्पन्न हुआ – इस प्रश्न पर यदि मोटे तौर पर विचार किया जाय तो दोनो परम्पराओ की मान्यता मे कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नही होगा। केवल तीन वर्ष का अन्तर है। इस प्रकार का सम्प्रदायभेद दिगम्वर परम्परा की प्राचीन एव साधारणतया वर्तमान मे प्रचलित मान्यतानुसार वीर नि० स० ६०६ मे और श्वेताम्बर परम्परा की सर्वसम्मत मान्यतानुसार वीर नि० स० ६०९ मे उत्पन्न हुआ, माना जाता है।

दिगम्बर मत कब और किस प्रकार उत्पन्न हुआ इस सम्बन्ध मे श्वेताम्वर परम्परा के सभी ग्रन्थकार एकमत है। जबकि श्वेताम्वर मत की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई – इस विषय मे दिगम्वर परम्परा के ग्रन्थकारो मे मतैक्य नही है। इस सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा के जिन-जिन ग्रन्थो मे उल्लेख देखे गये है वे सब परस्पर एक दूसरे से न्यूनाधिक भिन्न ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उपरिलिखित प्रकरण मे पृष्ठ सख्या ३३७ से ३५८ तक २२ पृष्ठो मे एतद्विषयक दिगम्बर परम्परा की विभिन्न मान्यताओ का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है।

दिगम्बर-परम्परा के आचार्य देवसेनकृत 'भावसग्रह' (दर्शनसार के कर्त्ता से भिन्न) आचार्य हरिषेणकृत 'वृहत्कथाकोष' (वीर नि० स० १४५९), अपभ्रश भाषा के कवि रयधूकृत 'महावीर चरित्' (वि० स० १४९५ तदनुसार वीर नि० स० १९६५) और भट्टारक रत्ननन्दिकृत 'भद्रबाहु चरित्र' (वि० स० १६२५ तदनुसार वीर नि० स० २०९५) – इन चार ग्रन्थो मे श्वेताम्वर मत की उत्पत्ति का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे श्वेताम्वर परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सबसे प्राचीन उल्लेख 'दर्शनसार' का है। अपने से पूर्ववर्ती किसी प्राचीन आचार्य द्वारा रचित एक गाथा[1] को आचार्य देवसेन ने वि० स० ९९० मे रचित अपने

---

[1] छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो, सेवडसघो हु वल्लहीए ।। [दर्शनसार तथा भावसग्रह]

ने सोलह प्रहर की अपनी अन्तिम देशना में पुण्य फल के ५५, पाप फल विपाक[1] के ५५ एवं अपृष्ट व्याकरण (उत्तराध्ययन) के ३६ अध्ययन कहे और ३७ वे अध्ययन का उपदेश देते देते वे शैलेशी दशा मे पहुँच निर्वाण को प्राप्त हो गये ।[2]

इस प्रकार श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के उपरिचर्चित उल्लेखो के पर्यालोचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि द्वादशांगी की रचना किसी एक गणधर ने नही अपितु सभी गणधरो ने की और निर्वाणानन्तर पश्चाद्वर्ती काल मे समय समय पर आवश्यकतानुसार चतुर्दश पूर्वधर तथा कम से कम दशपूर्वधर आचार्यो ने अगबाह्य आगमो की दृष्टिवाद के पूर्वाग मे से सकलना की।

आचार्य वीरसेन ने गौतम द्वारा द्वादशांगी के साथ ही अगवर्ज्य १४ आगमो की रचना का जो उल्लेख धवला में किया है, उस पर एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह है कि दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकारो एव स्वय धवलाकार के उल्लेखानुसार वीर नि० स० ६८३ के पश्चात् सम्पूर्ण द्वादशांगी मे से किसी एक अग तक का ज्ञाता मुनि भी यहा विद्यमान नही रहा। क्रमिक ह्रास होते होते वीर निर्वाण सवत् ६८३ मे अवशिष्ट अतिम अंग आचाराग का भी आर्यधरा से लोप हो गया। तब प्रश्न उठता है कि अगवर्ज्य आगमों का क्या हुआ ? वे कुछ अवशिष्ट रहे, अथवा द्वादशागी के साथ ही सबके सब विलुप्त हो गये ? न तो धवलाकार ने इस विषय में कोई उल्लेख किया है और न किसी अन्य ग्रन्थकार ने ही। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर शोधप्रिय विद्वान् अवश्य प्रकाश डालेगे ऐसी आशा है।

२. **श्रुतकेवलिकाल** – पृष्ठ २६१ से ३८० तक कुल ८६ पृष्ठों के इस प्रकरण मे श्रुतकेवलिकाल के चतुर्दशपूर्वधर ५ आचार्यो के जीवन परिचय के साथ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा मे उन आचार्यो की समान सख्या कितु नामभेद, उनके समय मे घटित विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व की घटनाओ, दशवैकालिकसूत्र की रचना, प्रथम आगम वाचना, छेदसूत्रों की रचना, भद्रबाहु के इतिवृत्त को लेकर दोनो परम्पराओ मे व्याप्त कतिपय भ्रान्त धारणाओं, भिन्न समय मे हुए आचार्य भद्रबाहु और मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त को समकालीन ठहराने तथा उनके समय मे दिगम्बर श्वेताम्बर-भेद के तथाकथित बीजारोपण की केवल काल्पनिक (एवं नितान्त निर्मूल) मान्यता के जन्म तथा क्रमिक विकास, उपलब्ध निर्युक्तियो को श्रुतकेवली भद्रबाहु की रचना मानने विषयक भ्रान्ति, ओसवाल वश की उत्पत्ति, गोदास गण तथा सर्वप्रथम गोदासगण और उसकी शाखाओ के प्रादुर्भाव आदि महत्व के अनेक विषयों पर अनुसन्धानात्मक विवेचन प्रस्तुत कर यथाशक्य पूरा प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

यह प्रकरण वस्तुतः अनेक दृष्टियो से वड़ा ही महत्वपूर्ण है। श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनो ही परम्पराओं के परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा वीर निर्वाण

---

[1] ये दोनो विपाकसूत्र से भिन्न है, वर्तमान मे उपलब्ध नही होते।

[2] देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४७०

सं० १२४ से १३६ के बीच का और उस समय मे हुए नैमित्तिक भद्रबाहु से सम्बन्धित बताया गया है।

अवन्ती मे भावी द्वादशवर्षीय दुष्काल की नैमित्तिक भद्रबाहु द्वारा पूर्व सूचना पर सघ तथा भद्रबाहु मे दक्षिणगमन का जो विवरण आचार्य देव सेन ने प्राचीन गाथा के उल्लेख के साथ भाव सग्रह मे किया है, उसकी पुष्टि, श्रमण वेल्गोल पार्श्वनाथ वसति के शक स० ५२२ (वि० स० ६५७) के शिला लेख से होती है।[1]

अब तो गहन शोध के पश्चात् दिगम्बर परम्परा के अन्य अनेक विद्वान् भी स्पष्ट रूप से कहने लगे है कि दक्षिण मे प्रथम भद्रवाहु नही अपितु द्वितीय भद्रबाहु गये थे। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी, आचार्य, पुस्तकालयाध्यक्ष एव प्राध्यापक नवनालन्दा महाविहार (नालन्दा) ने लिखा है :-

"हम श्रवण वेल्गोल के एक लेख (प्र भा. न १) से जानते है कि दक्षिण भारत मे सर्वप्रथम भद्रवाहु द्वितीय आये थे और वहा जैन धर्म की प्रतिष्ठा इनसे ही हुई थी, पर कदम्बवशी नरेशो के एक लेख (६८) से मालूम होता है कि ईसा की ४-५ वी शताब्दी मे जैन सघ के वहा विशाल दो सप्रदाय – श्वेतपट महाश्रमण सघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ – का अस्तित्व था। इसी तरह इस वश के कई लेखो मे जैनो के यापनीय और कूर्चक नाम संघो का उल्लेख मिलता है, जो कि एक प्रकार से उक्त दोनों से भिन्न थे।

दक्षिण भारत मे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एव यापनीय तथा कूर्चक सप्रदायों की स्थापना किसने की, यह वात स्पप्ट रूप से हमे लेखो से विदित नही होती, पर यह कहने में शायद आपत्ति नही होगी कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय वहा भद्रवाहु (द्वितीय) द्वारा स्थापित हुआ।"[2]

उपरिलिखित प्राचीन गाथा, शिला लेख एव शोधकर्त्ताओ द्वारा समर्थित आचार्य देवसेन के विवरण के विपरीत आचार्य हरिपेण (वीर नि० स० १४५६) ने अपने 'कथाकोश' मे वीर नि० स० ६०६ के आसपास हुए निमितज्ञ भद्रवाहु के इस आख्यान को वीर नि० स० १६२ मे स्वर्गस्थ हुए श्रुत केवली भद्रवाहु के साथ जोडकर निम्नलिखित नवीन वाते और वढा दी है।

---

[1] "...... महावीर सवितरि परिनिर्वृत्ते...... गौत्तम... . लौहार्य जम्बुविष्णुदेवापराजित गोवर्द्धन-भद्रवाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृतिकाय-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-वुद्धिवादि गुरु परम्परीण वक्र (क्र) माभ्यागतमहापुरुष-सतति समवद्योतितान्वय भद्रबाहुस्वामिना उज्जयन्यामष्टागमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसवत्सरकालवैषम्य-मुपालभ्य कथिते सर्वसघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथ प्रस्थित।

[जैन शिलालेख सग्रह भा० १, शिलालेख स० १]

[2] [जैन शिलालेख सग्रह, भा ३ (माणिकचन्द्र दिग जैन ग्रथ माला समिति), प्रस्तावना, पृ. २३]

छोटे पर ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थ 'दर्शनसार' मे उल्लेख किया है। उसी गाथा को मूलाधार के रूप मे प्रथम स्थान देते हुए देवसेन[1] (दर्शनसार के रचयिता देवसेन से भिन्न) ने अपने ग्रन्थ 'भावसग्रह' में श्वेत पट सघ की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है उससे निम्नलिखित बाते स्पष्टतः प्रकट होती है :-

१. निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु नामक आचार्य विक्रम स० १२४ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् ५९४ मे उज्जयिनी मे ठहरे हुए थे।

२. उन्होने अपने निमित्तज्ञान के बल पर समस्त श्रमण सघो को सूचित किया कि अवन्ती सहित समस्त उत्तरापथ मे भीषण दुष्काल पडने वाला है जो १२ वर्ष तक चलेगा। अतः सभी श्रमण उत्तरापथ से विहार कर सुभिक्षा वाले क्षेत्रो की ओर चले जाय।

३. सभी आचार्य अपने-अपने संघ सहित उत्तरापथ से विहार कर अन्यत्र चले गये। शान्ति नामक आचार्य सौराष्ट्र प्रदेश के वल्लभी नगर मे पहुँचे पर वहा भी बडा भयकर दुष्काल पड़ गया। दुष्कालजन्य अपरिहार्य परिस्थितियो में शान्त्याचार्य के संघ के श्रमणों ने दण्ड, कम्बल, पात्र, श्वेतवस्त्रादि धारण कर श्रमणो के लिये वर्जित शिथिलाचार की शरण ली।

४. शेष श्रमणो के सघ जहा जहा गये वहा सभवत. सुभिक्ष रहा और उन्होने अपने विशुद्ध एवं कठोर श्रमणाचार मे किसी प्रकार का शैथिल्य नही आने दिया।

५. सुभिक्ष होने पर शान्त्याचार्य ने अपने शिष्य-समूह को सत्परामर्श दिया कि वे दण्ड, वस्त्र, पात्रादि का परित्याग कर प्रायश्चित ले और पूर्ववत् कठोर श्रमणाचार मे प्रवृत्त हो जाय। शान्त्याचार्य के कटुसत्य आदेश से क्रुद्ध हो उनके जिनचन्द नामक प्रमुख शिष्य ने उनके कपाल पर दण्ड प्रहार किया जिससे उनका प्राणान्त हो गया।

६. शान्त्याचार्य की हत्या कर जिनचन्द्र उनके सघ का आचार्य बन गया और उसने स्वेच्छानुसार अपने आचरण के अनुकूल नवीन शास्त्रों की रचना की।

७. दिगम्बर मान्यतानुसार वीर नि० सं० १६२ मे स्वर्गस्थ हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु का न कही इसमें उल्लेख है और न विशाखाचार्य, रामिल्ल, स्थूलवृद्ध, स्थूलाचार्य अथवा सम्राट् चन्द्रगुप्त का ही। यह पूरा विवरण वस्तुतः वि०

---

[1] 'भाव सग्रह' और 'सुलोयणा चरिउ' के रचनाकार देवसेन ने अपने आपको निवडिदेव का प्रशिष्य और विमलसेन (अपरनाम मलधारिदेव) का शिष्य बताया है। इन्होने 'सुलोयणा चरिउ' मे कवि-पुष्पदंत का, जिनका समय वि० स० १०२९ अर्थात् दर्शनसार के रचयिता देवसेन से ३९ वर्ष बाद का हे। इन शब्दो मे स्मरण किया हे :-
चउमुह-सयंभु-पमुहेहिं रविखय दुहिय पुप्फयतेण। सुरसइ सुरहीए पय मिरि देवसेणेण।

आदि के साधुओं की भर्त्सना, स्थूलाचार्य द्वारा अपने श्रमणो को विशुद्ध श्रमणाचार के पालन करने का परामर्श, क्रुद्ध साधुओ द्वारा स्थूलाचार्य की हत्या आदि ।

भट्टारक रत्ननन्दी से १३० वर्ष पूर्व हुए कवि रयधू (वीर नि. स १९६५) ने महावीर चरित् मे चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्ति को राजराजेश्वर बनाये जाने, चन्द्रगुप्ति के पुत्र बिन्दुसार, पौत्र अशोक प्रपौत्र णउकु (कुणाल) का वर्णन करते हुए सौतेली मा के षडयन्त्र द्वारा उसको अन्ध बना दिये जाने के उल्लेख के पश्चात् लिखा है कि अशोक ने अन्धे कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्ति को मौर्य साम्राज्य का अधिपति बनाया । कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्ति ने एक रात्रि मे १६ स्वप्न देखे। भद्रबाहु से अपने स्वप्नो का दारुण फल सुनकर चन्द्रगुप्ति (सम्प्रति) ने विरक्त हो उनकी सेवा मे निर्ग्रन्थ-श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली ।

रयधू ने इसके पश्चात् भद्रबाहु द्वारा दुष्काल की पूर्व-सूचना से लेकर सुभिक्ष के अनन्तर स्थूलाचार्य आदि के श्रमणो द्वारा शिथिलाचार मे प्रवृत्त रहने तक का शेष वर्णन रत्ननन्दी की तरह ही किया है। यहा यह उल्लेखनीय है कि हरिषेण, रत्ननन्दी आदि दिगम्बर परम्परा के आचार्यो ने जहा मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन बनाकर श्वेताम्बर दिगम्बर मतोत्पत्ति की घटना को वीर नि स १६२ मे घटित होना और आचार्य देवसेन ने चन्द्रगुप्ति, विशाखाचार्य वामिल्ल, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्राचार्य आदि किसी का किसी प्रकार उल्लेख न करते हुए वीर नि स. ५९४ मे विद्यमान भद्रबाहु नामक नैमित्तिक भद्रबाहु के समय मे सम्प्रदाय-भेद होना बताया है वहा रयधू ने मौर्य-सम्राट सम्प्रति (कुणालपुत्र) को चन्द्रगुप्ति के नाम से अभिहित करते हुए उसके अन्तिम समय मे वीर नि स ३३० के आसपास इस सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति होना बताया है । इससे स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा के पास कोई सर्वसम्मत प्रामाणिक आधार नही था, जिसके फलस्वरूप जिसने जैसा सुना, जिसके सामने जैसी किवदन्ती आई उसने उसी को आधार मान कर उसमे अपनी ओर से दो चार नाम और कुछ नई बाते बढाकर लिख डाला । (दिगम्बर परम्परा मे) यदि इस विषय मे कोई ठोस प्रामाणिक आधार होता तो 'जितने मुह उतनी बात' इस कहावत के अनुसार (दिगम्बर परम्परा के) विभिन्न ग्रथो मे इस प्रकार के आकाश-पाताल तुल्य अन्तर वाले परस्पर विरोधी उल्लेख कदापि नही किये जाते ।

दिगम्बर परम्परा के उपरिचर्चित उल्लेखो से कौन से उल्लेख मे कितनी सच्चाई है और कितनी कोरी कल्पना-यह निर्णय तो प्रत्येक उल्लेख को इतिहास की कसौटी पर कसने के अनन्तर ही किया जा सकता है। यह तो ऊपर बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के सब से प्राचीन शिलालेख (श्रवण बेलगोल-पार्श्वनाथ वसति, जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख स १) मे आचार्य सिद्धार्थ, धृतिषेण एव बुद्धिल आदि के बहुत काल पश्चात् हुए नैमित्तिक आचार्य

अवन्ती मे भावी बारह वर्षीय दुष्काल की सूचना श्रुतकेवली भद्रवाहु ने श्रमण संघ को देते हुए निर्देश दिया कि सब श्रमण उत्तरा पथ से दक्षिणापथ मे लवण समुद्र के तटवर्ती प्रदेश की ओर विहार कर जाय। दुष्काल का हाल सुनकर मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रवाहु के पास दीक्षा ग्रहण करली और १० पूर्वो का अध्ययन कर वे विशाखाचार्य के नाम से विख्यात हुए। उन्हे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर भद्रवाहु वही रहे और विशाखाचार्य ने श्रमण संघ सहित दक्षिण की ओर विहार किया।

वे दक्षिण के पुन्नाट प्रदेश मे पहुचे। रामिल्ल, स्थूलाचार्य एव स्थूलभद्र ये तीनो अपने संघ के साथ सिन्धु प्रदेश मे चले गये।

आचार्य भद्रवाहु उज्जयिनी के अन्तर्गत भाद्रपद नामक स्थान पर अनशन कर एवं समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए।

विशाखाचार्य (चन्द्रगुप्त) अपने श्रमण समूह के साथ जिस प्रदेश मे गये थे वहा सुभिक्ष रहा और वे विशुद्ध श्रमणाचार पालते रहे। सिन्धु प्रदेश मे भीषण दुष्काल के कारण रामिल्ल, स्थूलाचार्य एव स्थूलभद्र के श्रमण दण्ड कम्बल पात्रादि धारण कर शिथिलाचारी वन गये। सुभिक्ष होने पर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य इन तीनों ने निर्ग्रन्थ श्रमणाचार स्वीकार कर लिया पर हीन मनोबल वाले श्रमणो ने स्थविरकल्प परम्परा का प्रचलन किया।

भट्टारक रत्ननन्दी ने भी वीर निर्वाण सम्वत् २०६५ मे रचित अपने भद्रवाहु चरित्र नामक ग्रथ मे मुख्य रूप से हरिषेण का अनुसरण करते हुए निम्नलिखित कुछ बाते जोडी है :–

चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न, रामल्य, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र आदि साधुओ का अवन्ती से विहार कर उज्जयिनी के उपवनो मे ही रहना, भद्रवाहु का दक्षिण के लिये विहार, पर एक विस्तीर्णवन मे निमित्त ज्ञान से अपनी स्वल्पायु का बोध होने पर चन्द्रगुप्तिमुनि (राजा चन्द्रगुप्त) के साथ वही रुक जाना और विशाखाचार्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर समस्त श्रमणसंघ के साथ बारह वर्ष पर्यन्त दक्षिणी प्रदेशों मे विचरण करते रहने का निर्देश, चन्द्रगुप्ति और विशाखाचार्य को पृथक्-पृथक् दो मुनि बताना अर्थात् हरिषेण ने चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने पर उसका नाम विशाखाचार्य रखे जाने का जो उल्लेख किया है उसका निराकरण कर चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्ति मुनि बताना, चन्द्रगुप्ति मुनि को देव-निर्मित नगर से देवपिण्ड प्राप्त होते रहना, भद्रवाहु के स्वर्गगमन के अनन्तर उनके चरण-चिन्हों की सेवा, रामल्य, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्रादि श्रमणों का वेष परिवर्तन और शिथिलाचार, सुभिक्ष हो जाने पर विशाखाचार्य का पुनः अवन्ती की ओर विहार, मार्ग में चन्द्रगुप्ति से मिलन, देवपिण्ड का सब श्रमणो द्वारा ग्रहण, रहस्योद्घाटन, प्रायश्चित्त, विशाखाचार्य का अवन्ती मे आगमन, उनके द्वारा श्रमणाचार से विपरीत वेष और आचरण धारण करने वाले रामल्य

सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्टत भासमान इन ऐतिहासिक तथ्यो के प्रकाश मे वस्तुत दिगम्बर परम्परा के उपरिचर्चित हरिषेण, रत्ननन्दी आदि द्वारा किये गये श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य को समकालीन बताने वाले उल्लेख केवल काल्पनिक किवदन्ती मात्र ही सिद्ध होते है। क्योकि एक ओर तो दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थ, समस्त पट्टावलिया वीर नि० स० १६२ मे श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास होना मानती है और दूसरी ओर भारतीय, यूनानी एव विश्व-इतिहास से निर्विवादरूपेण यह सिद्ध है कि ईसा पूर्व ३२४ (वीर नि० स० २०३) मे अर्थात् श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ हो चुकने के ४१ वर्ष पश्चात् तक चन्द्रगुप्त साधारण सैनिक और नन्द मगध का शक्तिशाली सम्राट् था। 'तित्थोगालियपइन्ना' जैसे प्राचीन, प्रामाणिक एव निष्पक्ष ग्रन्थ से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि वीर नि० स० २१५ मे नन्द साम्राज्य का अन्त और मौर्य साम्राज्य का अभ्युदय हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हरिषेण और रत्ननन्दी ने जिस समय ये विवरण लिखे, उस समय ये प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य उनके ध्यान मे नही आये कि सम्प्रति के मगध सम्राट् बनने तक केवल पाटलिपुत्र ही मगध साम्राज्य की राजधानी रही, अवन्ती वस्तुत सम्प्रति के राज्यारोहण के पश्चात् १ वर्ष तक कुमार भुक्ति मे ही रही। इस इतिहास प्रसिद्ध तथ्य की ओर ध्यान न जाने के कारण ही हरिषेण आदि ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के अवन्ती मे रहने की बात का उल्लेख किया है।

इस प्रकार के उल्लेखो के पीछे पूर्वाग्रह का पुट रहा है अथवा नही, इस विषय मे तो साधिकारिक रूप से कुछ नही कहा जा सकता पर इतना तो सुनिश्चित है कि पश्चाद्वर्ती भद्रबाहु नामक आचार्य के जीवन से सम्बन्धित घटनाओ को नामसाम्यजनित भ्रान्तिवशात् लगभग ४४४ वर्ष पूर्व हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन से सम्बद्ध कर दिया गया है।

नाम साम्य के कारण केवल दिगम्बर परम्परा मे ही इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न हुई हो ऐसी बात नही है। श्वेताम्बर परम्परा मे भी इस प्रकार की भ्रान्तिया उत्पन्न हुई और अवान्तर काल मे हुए नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित निर्युक्तियो, उवसग्गहरस्तोत्र और भद्रबाहु सहिता को तथा उनके जीवन की कतिपय घटनाओ को श्रुतकेवलीभद्रबाहु के जीवन से जोड़ दिया गया है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के प्रकरण मे विस्तारपूर्वक प्रमाण प्रस्तुत कर शताब्दियो से व्याप्त इस प्रकार की भ्रान्ति का निराकरण करने का प्रयास किया गया है।

श्रुतकेवलीकाल के ५ आचार्यो मे से भद्रबाहु को छोड शेष चार श्रुत-केवलियो के नाम दोनो परम्पराओ मे भिन्न क्यो पाये जाते है, इस प्रश्न पर यहा विशेष न कह कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहा तक आचार्यो के नाम का प्रश्न है – दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे भगवान् महावीर के गणधरो के नामो

भद्रबाहु द्वितीय द्वारा अवन्ती में भावी द्वादशवार्षिक दुष्काल की भविष्यवाणी के पश्चात् उनके श्रमण सघ सहित दक्षिण मे जाने का उल्लेख है न कि श्रुतकेवली भद्रबाहु का। यदि यह ऐतिहासिक महत्व की घटना श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित होती तो उस प्राचीन शिलालेख में इसका अवश्य उल्लेख होता। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, गहन अन्वेषण के पश्चात् दिगम्बर परम्परा के आधुनिक इतिहास गवेपक भी इसी निष्कर्ष पर पहुचे है कि दक्षिण मे प्रथम भद्रवाहु नही अपितु नैमित्तिक भद्रबाहु द्वितीय गये थे।

हरिषेण, रत्ननन्दी आदि विद्वानो द्वारा उल्लिखित श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति विषयक उपरिचर्चित विवरणों को ऐतिहासिक तथ्यो की कसौटी पर कसने के पश्चात् वे केवल किवदन्ती पर आधारित ही नही अपितु नितान्त काल्पनिक और तथ्यविहीन ही सिद्ध होते है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु तथा दशपूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र के प्रकरण मे भारत, यूनान और विश्व के इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे इस तथ्य को भली-भाति सिद्ध कर दिया गया है कि ईसा पूर्व ३२७ (वीर नि स. २००) में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। ईसा पूर्व ३२४ तक उत्तरी सीमावर्ती राजा एवं पजाव के छोटे-छोटे गणराज्य सिकन्दर से लोहा लेते हुए उसको आगे वढने से रोकते रहे। सिकन्दर के सर्वोच्च सेनानायकों तथा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों के आधार पर ईसा पूर्व तथा ईसा की प्रथम, द्वितीय शताब्दी में यूरोपीय विद्वानों ने जो रचनाएं की, उनमे स्पष्ट उल्लेख किया है कि पोरस तथा चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को शक्तिशाली नन्द साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया था। उन्होने सिकन्दर को बताया कि गंगादिराई का राजा बिल्कुल दुश्चरित्र शासक है, कोई उसका सम्मान नही करता आदि आदि। ईसा की दूसरी शताब्दी के विद्वान् जस्टिन ने अपनी रचना 'एपिटोम' (सारसग्रह) में स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने भारतीयों मे यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भड-काई। उसने लुटेरों का दल गठित किया और हाथी पर सवार हो वह यूनानियों से लड़ता रहा।

इस प्रकार विदेशी निष्पक्ष साक्षियो से समर्थित केवल निर्विवाद ही नही अपितु सर्व सम्मत ऐतिहासिक तथ्य से यह अन्तिम रुप से सिद्ध हो जाता है कि ईसा पूर्व ३२७ से ३२४ (वीर नि० स० २०० से २०३) तक चन्द्रगुप्त एक देशभक्त साधारण सैनिक के रूप मे और नवम नन्द मगध के महाशक्तिशाली सम्राट् के रूप में विद्यमान था। सिकन्दर के पश्चाद्‌वर्ती यूनानी शासक सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे किये गये यूनानी लेखको के उल्लेखो के सन्दर्भ मे चन्द्रगुप्त, चाणक्य और मगध सम्राट् नवम नन्द विषयक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि चाणक्य ने ईसा पूर्व ३१२ तदनुसार वीर नि० स० २१५ मे नन्द साम्राज्य का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र के साम्राज्य का अधिपति बनाया।

(नन्दीसूत्र के आदि मगल के रूप मे दी गई पट्टावली), गणाचार्य परम्परा (आर्य सुहस्ती-परम्परा की कल्पसूत्रीया स्थविरावली) के उपर्युक्त ४१४ वर्ष की अवधि मे हुए आचार्यो और उनके समय मे घटित उल्लेखनीय घटनाओ, राजवशो एव विदेशी आक्रमणो आदि का सक्षेप मे सारभूत परिचय दिया गया है।

यह प्रकरण भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकरण मे जैन काल गणना की एक जटिल गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, जो विगत एक सहस्र वर्षों से विचारको के लिये एक जटिल समस्या बनी हुई थी।

तित्थोगालिय पइण्णा जैसे प्रामाणिक एव प्राचीन ग्रन्थ मे जैन परम्परा की कालगणना का स्पष्ट तथा निर्विवाद उल्लेख होने के उपरान्त भी ईसा की १०वी शताब्दी के पश्चात् के दिगम्बर एव श्वेताम्बर – दोनो ही परम्पराओ के कतिपय ग्रन्थो मे श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के ४५ वर्ष (तिलोयपण्णत्ती हरिवशपुराण, धवला आदि की दृष्टि से ५३ वर्ष) पश्चात् नन्द साम्राज्य का अन्त कर मगध साम्राज्य के राजसिहासन पर आसीन होने वाले मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन बताया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के कुछ एक ग्रन्थो मे जहाँ चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु का श्रद्धालु श्रावक बताया गया है वहाँ दिगम्बर परम्परा के हरिषेणकृत कथाकोश, रत्ननन्दीकृत भद्रबाहुचरित्र प्रभृति कथासाहित्य के ग्रन्थो मे चन्द्रगुप्त द्वारा श्रुतकेवली भद्रबाहु के पास निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा ग्रहण किये जाने तक का उल्लेख किया गया है[१]। दिगम्बर परम्परा मे यह सर्वसम्मत मान्यता प्रचलित रही है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु वीर निर्वाण स० १६२ मे स्वर्गस्थ हुए। दिगम्बर परम्परा के सर्व ग्रन्थो मे भी इसी प्रकार का उल्लेख विद्यमान है। श्वेताम्बर परम्परा के एतद्विषयक सभी ग्रन्थो मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु वीर नि० स० १७० मे स्वर्गवासी हुए।

दूसरी ओर यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर निर्वाण स० २१५ मे नन्द साम्राज्य का अन्त कर मगध साम्राज्य के राज्यसिहासन पर आरूढ हो मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। पर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के उपरिवर्णित उल्लेखो के अनुसार यदि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का श्रावक अथवा श्रमणशिष्य माने तो इस दशा मे या तो श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गारोहण काल को वीर निर्वाण स० २१५ के १०-२० वर्ष पश्चात् लाना पडेगा[२] या फिर नन्द साम्राज्य के अत एव मौर्य साम्राज्य के जन्म काल को वीर नि० स० १६२ अथवा १७० से न्यून से न्यूनतम १५-१६ वर्ष पीछे की ओर ले जाना पडेगा। जैन साहित्य मे दोनों प्रकार के उदाहरण उपलब्ध है। दिगम्बर परम्परा के कवि

---

[१] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३५१

[२] दिगम्बर परम्परा के कवि रयधू ने श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गगमन काल को वीर नि० स० ३३० के आसपास ला रखा है।

के सम्बन्ध में भी कही मतैक्य नही मिलता।[1] यही कारण है कि इस युग के दिगम्वर विद्वानो ने श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकारों द्वारा सम्मत गणधरों के नाम, ग्राम आदि परिचय को अपने ग्रन्थो में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया है।[2]

श्रुतकेवली काल की समाप्ति के पश्चात् एक नवीन तथ्य सामने आता है जो विद्वानों के लिये विचारणीय और गवेषको के लिये गहन गवेषणा का विषय प्रतीत होता है। तीर्थ प्रवर्तन के समय से लेकर आर्य सुस्थित एवं सुप्रतिबद्ध के आचार्य काल के प्रारम्भिक कुछ काल तक भगवान् महावीर का धर्म संघ निर्ग्रन्थ संघ के नाम से लोक मे विश्रुत रहा। आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल से आर्य भद्रबाहु (श्रुतकेवली) के आचार्य काल तक इसमें किसी गण विशेष का नाम कही दृष्टिगोचर नही होता। पर आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् कल्पस्थविरावली जैसी प्राचीन और प्रामाणिक पट्टावली में उनके प्रथम शिष्य गोदास के नाम से गोदास गण के प्रचलित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। निर्ग्रन्थ संघ मे गण की विद्यमानता का यह सबसे पहला उल्लेख होने के कारण वस्तुतः विचारणीय है। कल्पस्थविरावली में गोदासगण की चार शाखाओ – तामलित्तिया, कोडिवरिसिया, पंडुवद्धणिया और दासी खव्वडिया – का भी उल्लेख है जो संभवत' सुदूरस्थ बंग प्रदेश के ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष, पौण्ड्रवर्धन आदि स्थानो में धर्म का प्रचार-प्रसार करने के फलस्वरूप उन स्थानो के नाम से प्रसिद्ध हुई प्रतीत होती है।

यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या स्थविर गोदास के समय मे श्रमण संघ इतना विशाल स्वरूप धारण कर गया था कि श्रमणों के समीचीन अध्यापन, अनुशासन आदि की दृष्टि से गोदासगण के नाम से पृथक् गण स्थापित करने की आवश्यकता पडी अथवा स्थविर गोदास और उनके विशाल शिष्य समूह के निरन्तर अति दूर बग प्रदेश मे ही विचरण करते रहने के फलस्वरूप केवल पहिचान मात्र के लिये उनके साधु समूह की गोदासगण के नाम से प्रसिद्धि हुई। वहुत सोच विचार के पश्चात् हमें तो गोदासगण के उल्लेख के पीछे उपरि अनुमानित दो कारणो मे से अतिम कारण ही उचित प्रतीत होता है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर गवेषणा कर विशेष प्रकाश डालेगे।

इस उल्लेख से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य भद्रवाहु के प्रमुख शिष्य गोदास ने अपने शिष्य समूह सहित दक्षिण में पहुँच कर वहा जैन धर्म का प्रचार एव प्रसार किया।

३. **दशपूर्वधर-काल** :– वीर निर्वाण स० १७० से ५८४ तक के इस काल मे आर्य स्थूलभद्र से लेकर आर्य वज्र तक ११ दशपूर्वधर आचार्यो, आर्य सुहस्ती से प्रारम्भ हुई युग-प्रधान-परम्परा, आर्य वलिस्सह से प्रारम्भ हुई वाचकवंश परम्परा

---

[1] देखिये हरिवश पुराण, सर्ग ३, श्लोक ४१ से ४३, उत्तर पुराण,

[2] वीरोदय काव्य (प० हीरालालजी शास्त्री द्वारा सपादित)

स० २१५ मे शासनारूढ हुए चन्द्रगुप्त को वीर नि० सं० १५५ मे ६० वर्ष पहले ही मगध सम्राट् बना दिया।[1] आचार्य हेमचन्द्र द्वारा की गई यह राज्यकाल गणना विषयक त्रुटि उन्ही के द्वारा किये गये महाराजा कुमारपाल के काल के उल्लेख से पकड ली गई।[2]

दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत-विक्रम सवत्, ई० सन्, शक सवत् तथा वीर नि० सवत् – इन सब कालगणनाओ के तुलनात्मक विवेचन के अनन्तर पूर्णत: प्रामाणिक सिद्ध हुई राज्यकालगणना मे दोनो परम्पराओ के हरिषेण, हेमचन्द्र आदि चार आचार्यो ने जो ६० वर्ष का अन्तर डालकर भ्रान्ति उत्पन्न की है, उस भ्रान्ति का निराकरण न किये जाने की दशा मे न केवल जैन इतिहास पर ही अपितु भारत के विगत २३०० वर्षो के इतिहास पर भी बडा विपरीत प्रभाव पडता है। यद्यपि इस लम्बे काल से चले आ रहे बहुचर्चित प्रश्न पर हमने आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रथम भाग (भगवान महावीर के प्रकरण) मे पर्याप्त प्रकाश डाला है तथापि द्वितीय भाग के लेखन काल मे हमे इस भ्रान्ति का सदा के लिये अन्तिम रूप से निवारण करने वाले जो तथ्य उपलब्ध हुए है उनका इस प्रकरण मे निष्पक्ष विदेशी साक्ष्य के साथ उल्लेख कर इस उलझी हुई गुत्थी को सदा के लिये सुलझाने का प्रयास किया है। हमारा यह प्रयास कहा तक सफल रहा है, इसका निर्णय पाठक तटस्थ दृष्टि से करे।

ईसा पूर्व ३२७ मे भारत पर आक्रमण के समय सिकन्दर के साथ आये हुए सेनाध्यक्षो द्वारा लिखे गये सस्मरणो तथा उनके उल्लेख के साथ प्रसिद्ध यूनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये सस्मरणो के आधार पर विदेशी विद्वान् जस्टिन (ईसा की दूसरी शती) ने 'एपिटोम' (सारसग्रह) नामक पुस्तक लिखी। उस पुस्तक मे सिकन्दर के सेनानियो द्वारा कतिपय आँखो देखी तथा प्रत्यक्ष अनुभूत घटनाओ का विवरण है। आज से २३०० वर्ष पूर्व की अति प्राचीन, कतिपय अशो मे पूर्णत निष्पक्ष एव प्रामाणिक साक्षी के उन उल्लेखो से इस प्रकरण मे यह सिद्ध कर दिया गया है कि ईसा से ३२४ वर्ष पूर्व तक नन्दवश का शक्तिशाली साम्राज्य, सम्राट् नवम नन्द और विदेशी आततताइयो को भारत की भूमि से बाहर खदेडने का दृढ सकल्प लिये रणागण मे युद्धरत युवा देशभक्त योद्धा चन्द्रगुप्त – ये सभी विद्यमान थे। इस प्रकार के प्रवल प्रमाणो से पुष्ट ऐतिहासिक तथ्य के समक्ष चन्द्रगुप्त मौर्य को श्रुतकेवली भद्रवाहु का समकालीन, शिष्य श्रमण अथवा साक्षात् श्रावक बताने वाले कथानक का मूल्य एक निराधार किवदन्ती अथवा कपोलकल्पित कथानक से अधिक नही हो सकता।

---

[1] पालगरण्णो सट्ठी, पणपणसय वियाणि णदाण।
मुरियाणमट्ठिसय, तीसा पुणपूसमित्ताण ।। [तित्योगालिय पइण्णा]

[2] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४३६।

रयधू ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को अशोक के पौत्र-रणयलु (कुणाल) के पुत्र चन्द्रगुप्ति (सम्प्रति) का समकालीन बता कर श्रुतकेवली भद्रबाहु का आचार्यकाल वीर नि० स० ३३० के आसपास ला रखा है। दूसरा उदाहरण है श्वेताम्बर परपरा के आचार्य हेमचन्द्रसूरि और दिगम्बर आचार्य हरिषेण तथा रत्ननन्दी का, जिन्होने श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को समकालीन बताकर आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गगमन काल क्रमश वीर नि० सं० १७० तथा १६२ और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का समय वीर नि० स० १६२ के पूर्व और हिमवन्त स्थविरावलीकार ने तो शब्दो मे वीर नि० स० १५४ मे ला रखा है।

काल गणना में इस प्रकार का ६० वर्ष का अन्तर कव और किस कारण आया इस पर निष्पक्ष दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो एक कारण प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ईसा की ११ वी शताब्दी के दिगम्बर आचार्य हरिषेण ने सभवत: दिगम्बर परम्परा को अति प्राचीन और श्वेताम्बर परम्परा को उससे अर्वाचीन सिद्ध करने के अभिप्राय से वीर नि० स० ६०६ मे उत्पन्न हुए सम्प्रदाय भेद की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु से सम्बद्ध किया हो। इसके साथ ही साथ यह भी सभव है कि दिगम्बर परम्परा की लोक मे प्रभावना हो इस दृष्टि से भद्रबाहु के पास मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने तथा दीक्षित चन्द्रगुप्त का ही नाम विशाखाचार्य रखे जाने का उल्लेख किया हो। चन्द्रगुप्त मौर्य जैसा बडा सम्राट् भी जैन धर्मावलम्बी और श्रुतकेवली भद्रबाहु का अनन्य श्रद्धालु श्रावक था – यह जान कर लोगों मे जैन-धर्म की प्रभावना होगी इस उद्देश्य से दिगम्बर परम्परा के आचार्य हरिषेण का अनुसरण करते हुए श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यो ने भी मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का समकालीन एव परमभक्त श्रावक बताया हो।

दोनों परम्पराओं के एतद्विषयक सभी उल्लेखो का समीचीनतया पर्यालोचन करने पर एक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश मे आता है कि दिगम्बर परम्परा के हरिषेण रत्ननन्दी आदि आचार्यो ने भद्रबाहु चन्द्रगुप्त विषयक कथानकों मे इन दोनों के सवत् काल आदि का कही उल्लेख तक नही किया है। इस दृष्टि से भी इतिहास के क्षेत्र में इन कथानको का एक किवदन्ती से अधिक महत्व नही रह जाता।

आचार्य हेमचन्द्र ने भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त को समकालीन वताकर स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया है कि आचार्य भद्रबाहु वीर नि सं १७० मे स्वर्गस्थ हुए। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा किये गये इस उल्लेख से यह स्पष्टरूपेण प्रकट होता है कि इन दोनो को समकालीन बताते समय उन्होंने आचार्य परम्परा की काल गणना का तो पूरा ध्यान रखा है पर राज्य काल गणना में पालक के राज्यकाल के ६० वर्षो की गणना करना वे एकदम भूल गये[1] और इस प्रकार वीर नि०

[1] एव च श्री महावीर, मुक्तेर्वर्षशतेगते।
पचपचाशदधिके, चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥३३६॥ [परिशिष्ट पर्व]

मे आर्य रेवतीनक्षत्र से लेकर आर्य देवर्द्धिगरणी क्षमाश्रमण तक १० वाचनाचार्यो, आर्य रक्षित से आर्य सत्यमित्र तक १० युगप्रधानाचार्यो, आर्य रथ, चन्द्र, सामतभद्र वृद्धदेव, प्रद्योतन, मानदेव आदि गणाचार्यो का परिचय दिया गया है। इस प्रकरण मे अनुयोगो के पृथक्करण, शालिवाहन शाक-सवत्सर, जैन-शासन मे सम्प्रदायभेद, दिगम्बर परम्परा मे सघभेद, यापनीय सघ, गच्छो की उत्पत्ति, चैत्यवास, स्कन्दिलीया एव नागार्जुनीया – इन दोनो आगमवाचनाओ, वीर नि० स० ९८० मे वल्लभी नगर मे हुई अन्तिम आगमवाचना के समय आगम-लेखन, आर्य देवर्द्धि की गुरु-परम्परा, सामान्य पूर्वधर काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता, प्रज्ञापना सूत्र और पट्खण्डागम का तुलनात्मक परिचय, नन्दिसघ की प्राकृत पट्टावली को लेकर दिगम्बर परम्परा मे व्याप्त कालनिर्णय विपयक भ्रान्ति आदि कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यो पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

वीर नि० स० ६०५ तदनुसार ई० सन् ७८ से प्रारम्भ हुए शालिवाहन शाकसवत्सर के सम्बन्ध मे यद्यपि इस प्रकरण मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है तथापि इस सम्बन्ध मे एक स्पष्टीकरण परमावश्यक है। कतिपय विद्वानो का अभिमत है कि भारत मे कुषाण राज्य की नीव डालने वाले कुषाण राजा कनिष्क ने ई० सन् ७८ मे सिहासनारूढ होते ही अपने नाम से जिस कनिष्क सवत् का प्रचलन किया, वही शक सवत्सर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सयोग की बात है कि भारत भूमि से शक सत्ता का अन्त कर जिस वर्ष सातवाहनवशीय गौतमीपुत्र सातकर्णि ने शकारि विक्रमादित्य की उपाधि धारणकर शालीवाहन शाक-सवत्सर की स्थापना की उसी वर्ष मे भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर अधिकार कर कनिष्क ने भी अपने राज्यारोहण की स्मृति मे कनिष्क सवत् का प्रचलन किया। इस प्रकरण मे यह स्पष्टत उल्लेख कर दिया गया है कि कुषाणवशी कनिष्क पार्थियन था। उसने शको को उत्तरी भारत मे परास्त कर भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश कच्छ एव सौराष्ट्र की ओर खदेड दिया।[1] ऐसी स्थिति मे शको के शत्रु एक कुषाणवशी (पार्थियन) राजा द्वारा शको के नाम पर किसी सवत्सर के प्रवर्तन की कल्पना तक नही की जा सकती। उस समय की ऐतिहासिक घटनाओ के पर्यवेक्षण से यही सिद्ध होता है कि वर्तमान मे प्रचलित शक सवत्सर शको द्वारा स्थापित नही अपितु शकारि विक्रमादित्य के विरुद से विभूषित गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा, अवन्ती, सौराष्ट्र एव पश्चिमी भारत से शको की विदेशी सत्ता को समाप्त किये जाने के उपलक्ष मे स्थापित शक्ति का प्रतीक शाक सवत्सर है। उसी वर्ष कुषाणवशी राजा कनिष्क ने भी कनिष्क सवत् चलाया, अत इन दोनो सवत्सरो की पृथकत पहिचान के लिए सातकर्णि द्वारा स्थापित शाक सवत्सर के साथ शालिवाहन अथवा सातवाहन (सातकर्णि का वश) विशेषण जोडा गया।

जिस प्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु के प्रकरण मे दिगम्बर परम्परा के हरिषेण, रत्ननन्दी, देवसेन आदि आचार्यो तथा कवि रयधू द्वारा श्वेताम्बर

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ६२९

इस प्रकरण के – "आर्य स्थूलभद्र द्वारा अति दुष्कर अभिग्रह" और "उत्कट साधना का अनुपम प्रतीक अवन्ति सुकुमाल" – ये दो ऐसे अमर आख्यान है, जो साधना-पथ पर अग्रसर होने वाले आध्यात्मिक पथ के पथिको को सदा सर्वदा शशि सूर्य की तरह पथप्रदर्शन करते रहेगे। ससार के साहित्य मे अन्यत्र इस प्रकार के अप्रतिम आख्यान संभवत: खोजने पर भी उपलब्ध नही होगे। मौर्य सम्राट् चन्द्र-गुप्त, कलिगपति महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल, गर्दभिल्ल, विक्रमादित्य आदि राजाओ के जीवन एव राज्य का जो परिचय दिया गया है, उससे न केवल जैनधर्म ही अपितु भारतीय इतिहास के कतिपय नवीन तथ्यो पर भी प्रकाश पडता है।

इस प्रकरण के – "भ्रम का निराकरण" नामक उपशीर्षक के अन्तर्गत किये गये विवेचन मे साम्प्रदायिक व्यामोहवशात् कुछ एक आधुनिक विद्वानो द्वारा अहिसा के महान् सिद्धान्तो पर किये गये दोषारोपण का निराकरण किया गया है। इसमे न केवल भारतीय अपितु विश्व इतिहास के कतिपय ऐतिहासिक तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे यह बताया गया है कि सही अर्थ मे अहिसा के महान् सिद्धात ही शूरवीरता का पाठ पढाते है। अहिसा मे कायरता के लिए कही लेशमात्र भी स्थान नही है। भारत मे जब तक अहिसा के महान् सिद्धान्तो का अन्तर्मन से पालन होता रहा, तब तक मानवता सर्वतोमुखी समृद्धि के साथ समुन्नत होती हुई श्रेयष्कर समुत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर आसीन रही, देश सर्वत सुसम्पन्न, स्वतन्त्र, शक्तिशाली और सुखी बना रहा। निर्वाण पश्चात् उदायी, नन्दिवर्धन, अशोक और विक्रमादित्य जैसे विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत एव अहिसा के पुजारी राजाओ के राज्यकाल विश्व इतिहास मे इस बात के प्रतीक है कि सच्ची अहिसा का अनुपालन ही वस्तुत: सौख्य-समृद्धि एव कल्याण की कुंजी है। अहिसा के सिद्धान्तो ने विश्व की केवल मानवता पर ही नही अपितु विश्व के समस्त भूतसघ पर असीम उपकार किया है। ज्यों-ज्यो मानव अहिसा के विश्वकल्याणकारी सिद्धान्तो को भूलता गया त्यो-त्यो वह मानवीय गुणो से विहीन हो दासता, और दारुण दु ख द्वन्द्व के निबिडतम बन्धनो मे आबद्ध हो रसातल मे गिरता गया।

इस प्रकरण के – "आ. सुहस्ती के बाद की सघ व्यवस्था" – इस उपशीर्षक के अन्तर्गत गणों, शाखाओं, गणधर वश परम्परा, वाचनाचार्य परम्परा और युग-प्रधानाचार्य परम्परा के उद्भव प्रयोजन और क्रमिक विकास का एक सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है। कालवशात् अवश्यभावी गणबाहुल्य एव अनेक आचार्यो के पृथक् अस्तित्व को, मान्यता प्रदान करते हुए उस समय के श्रमण श्रेष्ठों ने जो दूरदर्शिता पूर्ण बुद्धिकौशल प्रदर्शित किया और उसके फलस्वरूप भगवान् महावीर का धर्म-संघ विविधता मे भी अपनी एकरूपता बनाये रख सका, उसका भी इस प्रकरण मे विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

४. **सामान्य पूर्वधर-काल** – श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० स०५८४ से १००० तक का काल सामान्य पूर्वधरकाल माना गया है। इस प्रकरण

गुत्थियो को (राजनैतिक) इतिहास ग्रन्थो एव जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो के तुलनात्मक अध्ययन से सुलझाने का प्रयास करना।

४ स्वतन्त्रता तथा धर्मनिष्ठ शासको के शासन काल मे धर्म की सर्वतोमुखी अभ्युन्नति एव जन-जीवन की समृद्धि मे शासक-वर्ग द्वारा दिये गये योग के सुफल से पाठको को परिचित कराना।

५ अधर्मिष्ठ कुशासको एव विदेशी आततायो के शासन मे परतन्त्र प्रजा के सर्वतोमुखी पतन एव धर्म के ह्रास के कुफल से पाठको को परिचित कराना।

६ धार्मिक, सामाजिक आर्थिक एव राजनैतिक दृष्टि से सुशासक अथवा स्वशासित सुशासन जहा सर्वतोमुखी समुन्नति की मूल कुजी है, वहा कुशासन अभाव-अभियोगो एव घोर अवनति का जनक, इस तथ्य का निरूपण।

७ प्रत्येक जैन को सुनागरिक के उन सभी परमावश्यक कर्त्तव्यो से अवगत कराना, जिनके पालन से देश मे लोक कल्याणकारी सुशासन सशक्त एव समुन्नत होता और उन कर्त्तव्यो से च्युत होने की दशा मे कुशासन के पनपने के साथ साथ देश अवनति के गहरे गड्ढे मे गिरता है।

८ भारतीय इतिहास के जिस-जिस समय को ऐतिहासिक घटनाओ की अनुपलब्धि के कारण अन्धकारपूर्ण बताया गया है, उस समय की ऐतिहासिक घटनाओ को जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो, शिलालेखो आदि के ठोस आधार पर प्रकाश मे लाकर भारतीय इतिहास की टूटी कडियो को जोडना और इस प्रकार अन्धकारपूर्ण समय को प्रकाशपूर्ण बनाना।

९ स्वातन्त्र्य मूलक सुशासन की सुखद शीतल छाया मे ही भौतिक तथा आध्यात्मिक सौख्य-समृद्धि का कल्पतरु अकुरित, पुष्पित, पल्लवित एव सुफल समन्वित होता है। इससे विपरीत पारतन्त्र्य मूलक कुशासन के अपावन पक में सुरतरु के स्थान पर वैषम्य का विष-वृक्ष अकुरित हो देखते ही देखते वीभत्स रूप धारण कर लेता है। उस विषवृक्ष के असितुल्य पत्र, दुर्वासना की दुस्सह्य दुर्गन्धपूर्ण पुष्प, पग-पग पर कुत्सित क्लेशजनक अति तीक्ष्ण त्रिशूलतुल्य कण्टक और अभाव, अभियोग, अशान्ति, ईर्ष्या, कलह, अन्याय, अनीति, अनाचार रूपी विषाक्त फलों से मानव वस्तुत मानवता को भूल कर किस प्रकार नारकीय कीट से भी निकृष्ट बन जाता है – इस तथ्य से प्रत्येक पाठक को अवगत कराने के अभिप्राय से ही प्रस्तुत खण्ड मे धर्म एव धर्माचार्यो के इतिहास के साथ साथ उसके समसामायिक इतिहास का भी दिग्दर्शन कराया गया है। मानवता को दानवता मे परिवर्तित कर देने वाली भूतकालीन भूलो की पुन किसी भी दशा मे इस धर्मप्राण देश के निवासी पुनरावृत्ति न करे, वस्तुत यही मुख्य लक्ष्य इस वर्णन के पीछे रहा है। आशा है केवल जैन ही नही प्रत्येक देशवासी इससे प्रेरणा लेकर सदा धर्म, देश और समाज के प्रति अपने दायित्वो के निर्वहन मे जागरूक बना रहेगा।

मतोत्पत्ति के सम्बन्ध मे किये गये उल्लेखों को यथावत् उन्ही के मृदु अथवा कटु शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है, उसी रूप मे इस प्रकरण में भी "जैन-शासन मे सम्प्रदायभेद" – नामक उपशीर्षक मे दिगम्बर मतोत्पत्ति विषयक श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थो के उल्लेख को यथावत् प्रस्तुत किया गया है। इसमे हमारा उद्देश्य दोनों ओर के उल्लेखों को यथावत् रूप मे इतिहासज्ञो, अनुसन्धाताओ एव पाठको के समक्ष रखना मात्र है। वस्तुस्थिति को रखने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की भावना नही रही है।

इसी प्रकार प्रज्ञापना सूत्र और षट्खण्डागम का तुलनात्मक विवेचन तथा नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली को दिगम्बर परम्परा के कतिपय चोटी के विद्वानो द्वारा तिलोयपण्णत्ती, हरिवश पुराण, उत्तर पुराण, धवला, जय धवला आदि प्राचीन ग्रन्थो से भी अधिक महत्व देने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई भ्रान्त मान्यता का निराकरण करते समय हमे कतिपय ऐसे विद्वानों की मान्यताओ को अप्रामाणिक सिद्ध करना पडा है जिन्होने जैन इतिहास, साहित्य एव शोध के क्षेत्र मे उल्लेखनीय सेवाएं देकर बड़ी ख्याति प्राप्त की है। ऐसा करने मे हमारा विशुद्ध लक्ष्य तथ्यों को प्रकाश मे लाना मात्र रहा है।

इस प्रकरण के अन्त मे "केवलिकाल से पूर्वधर काल तक की साध्वी-परम्परा" विषयक शीर्षक मे आर्य सुधर्मा से देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक की १००० वर्ष की अवधि में हुई परम प्रभाविका प्रवर्तिनियों एव साध्वियों का यथोपलब्ध परिचय दिया गया है।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में वीर नि० स० १ से १००० तक का जैनधर्म का इतिहास दिया गया है। उसमें आचार्यो, आगमों, साधु-साध्वियो, गणो, गच्छो, कुलों शाखा-उपशाखाओ, जन-साधारण से लेकर शासकवर्ग तक के श्रावक-श्राविकाओ, उन आचार्यो के समय में घटित हुई प्रमुख धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व की घटनाओ के उल्लेख के साथ-साथ उक्त अवधि में हुए राजवशों, उनकी परम्पराओ, राज्यविप्लवो, विदेशियो द्वारा भारत पर किये गये आक्रमणो आदि का भी यथावश्यक जो सक्षिप्त अथवा विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है, उसकी पृष्ठभूमि मे मुख्यत. निम्नलिखित उद्देश्य रहे है :–

१ समसामयिक धार्मिक एव राजनैतिक घटनाचक्र का साथ-साथ विवरण प्रस्तुत कर धार्मिक इतिहास को विश्वसनीय एव सर्वागपूर्ण बनाना।

२. जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो के परिप्रेक्ष्य मे ऐतिहासिक घटनाओं का पर्यवेक्षण कर निहित स्वार्थ इतिहासकारो द्वारा उत्पन्न की गई अथवा उत्पन्न की जाने वाली भ्रान्तियो का निराकरण।

३. जैन धर्म के इतिहास की विविध कारणों से

और श्वेताम्बर परम्परा मे कैवल्यालोकशाली हो जाने के कारण गौतम के प्रति पट्टधर से भी अत्यधिक सर्वोच्च सम्मान प्रदर्शित करते हुए आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना गया है। दोनो परम्पराओ के सुविशाल साहित्य मे कही किचितमात्र भी इस प्रकार का उल्लेख नही है, जिससे निर्वाण पश्चात् के ६४ अथवा ६२ वर्ष के केवलिकाल मे पारस्परिक कलह, मतभेद अथवा धर्म सघ मे विघटन का आभास तक प्रकट होता हो।

पूर्वकाल मे जैन और वौद्ध धर्मावलम्वियो मे वडे लम्वे समय तक परस्पर प्रतिस्पर्धा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् महायीर के समक्ष उनके प्रथम निह्नव जमाली के साथ इन्द्रभूति गौतम का जो वादविवाद हुआ उस ही को अतिशयोक्तिपूर्ण विकृत रूप देकर वौद्धपरम्परा के ग्रन्थ मज्झिमनिकाय मे उपरोक्त उल्लेख कर दिया गया है। किसी धर्मग्रन्थ द्वारा अपने प्रमुख प्रतिस्पर्धी धर्म के सम्बन्ध मे किया गया कटु उल्लेख वस्तुत कितना प्रामाणिक और विश्वसनीय होता है यह किसी विचारक से छुपा नही है।

आर्य जम्बू के पश्चात् पॉच श्रुतकेवली आचार्यो मे से भद्रबाहु को छोड शेष चारो के नाम दोनो परम्पराओ मे पूर्णत भिन्न देखकर कुछ विद्वान् यह अनुमान लगाते है कि आर्य जम्बू के पश्चात् भगवान् महावीर के धर्मसघ मे मत-भेद उत्पन्न हो गया था। पर वस्तुत चार श्रुतकेवलियो के नाम भेद के अतिरिक्त दोनो परम्पराओ के साहित्य मे इस प्रकार का एक भी स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता जिससे उन विद्वानो के इस अनुमान की पुष्टि होती हो।

स्वय भगवान् महावीर के लिये, उनकी श्रमण एव श्रमणी परम्परा के लिये शास्त्रो मे प्रयुक्त "णिग्गठ" विशेषण को देख कर जिन विद्वानो ने अपनी यह धारणा बना ली है कि प्रभु महावीर ने तीर्थप्रवर्तन के प्रथम दिन से ही श्रमणो के लिए एकान्तत जिनकल्प का—नग्नत्व का ही विधान किया था, वे विद्वान् आर्य शय्यभव द्वारा द्वादशागी मे से विर्यूढ अथवा सकलित दसवैका-लिकसूत्र मे मुनियो के लिये वस्त्र, पात्र, कम्वल एव पादपूँछन का उल्लेख देखकर यह अनुमान लगाते है कि अन्तिम केवली जम्बू के निर्वाण के पश्चात् भगवान् महावीर के सघ मे नग्नता और सोपधिता को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार का अनुमान लगाते समय वे विद्वान् सभवत इस बात को भूल जाते है अथवा नजरदाज कर देते है कि शास्त्रो मे जिस प्रकार श्रमणो के लिये निग्गठ शब्द का प्रयोग किया है, उसी प्रकार श्रमणियो के लिये भी "णिग्गठिओ" विशेषण प्रयुक्त किया गया है[1]।

---

[1] (क) गोयमा जेण णिग्गथे वा णिगथी वा फासुएसणिज्ज······ [भगवती सूत्र, शतक ७, ३, १, क्षेत्रातिक्रान्तादि दोष]

(ख) निगन्थो धिइमतो, णिगथीवि न करेज्ज छहिं चेव।·········॥३४॥

[उत्तराध्ययन, अध्ययन २६]

इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने मे हमने सम्पूर्ण आगम-साहित्य, पुराणादि आगमेतर जैन वाङ्मय, श्रुति, स्मृति, पुराण, कोश, व्याकरण, पिटकादि बौद्ध साहित्य, प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यो तथा प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानो की सामाजिक धार्मिक एव ऐतिहासिक कृतियो की सहायता ली है। उन सभी ग्रन्थो एव ग्रन्थकारो का यहां नाम निर्देश किया जाना सभव नही अत. केवल संदर्भ ग्रन्थों की सूची उनके लेखको के नाम के साथ परिशिष्ट मे दी जा रही है। हम उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करते है।

संघभेद विषयक विभिन्न विचार

भगवान् महावीर के धर्मसंघ मे विचार भेद, मान्यताभेद अथवा सघभेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कतिपय विचारको एव इतिहासविदो द्वारा समय-समय पर अनेक प्रकार के विचार प्रकट किये जाते रहे है, जिनमे से अधिकाश को, एतद्विपयक सभी तथ्यों पर गहन विचार-विमर्श के पश्चात् मात्र अटकलबाजी की सज्ञा दी जा सकती है। कतिपय विद्वानों ने अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के तत्काल पश्चात् ही उनके धर्म संघ मे विघटन प्रारम्भ हो गया था। अपने इस कथन की पुष्टि मे वे बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थ मज्झिम निकाय के निम्नलिखित उद्धरण को प्रस्तुत करते है :

"एकं समय भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निग्गन्थो नात पुत्तो पावाय अधुना कालकतो होति। तस्य कालकिरियाय भिन्न-निग्गथद्वेधिक जाता, भडन जाता, कलह जाता, विवादापन्ना अण्णमण्णा मुख-सत्तीहि वितुदता विहरति।"– (मज्झिम निकाय, भाग २, पृ १४३)

उक्त ग्रन्थ का उपरिलिखित उल्लेख कई कारणो से विवादास्पद ही नही अविश्वसनीय भी है। प्रथम कारण तो यह है कि उक्त ग्रन्थ भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण से शताब्दियो पश्चात् की रचना है। दूसरा कारण यह है कि केवल अन्य साहित्य ही नही बौद्ध परम्परा के धर्म ग्रन्थो मे भी उपर्युक्त उल्लेख के विपरीत इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध होते है, जिनसे यह स्पष्टत· सिद्ध होता है कि बुद्ध का महावीर के निर्वाण से लगभग २२ वर्ष पूर्व ही परिनिर्वाण हो चुका था।[1] ऐसी स्थिति मे मज्झिमनिकाय का उपरोक्त उल्लेख स्वत ही निराधार एव तथ्यविहीन सिद्ध हो जाता है। श्वेताम्बर एव दिगम्बर–दोनो ही परम्पराओं के सभी ग्रन्थो मे आर्य सुधर्मा से अन्तिम केवली जम्बू तक एक ही प्रकार की सर्वसम्मत पट्ट परम्परा का उल्लेख विद्यमान है। केवल इतना ही अन्तर है कि दिगम्बर परम्परा मे इन्द्रभूति गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर माना गया है

---

[1] विशेप विवरण के लिये देखिये –

(क) जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ५४८--५५३

(ख) वीर निर्वाण सवत् और जैन काल गणना

(ग) आगम और त्रिपिटक – एक अनुशीलन

आर्य रक्षित ने वस्त्रधारी अपने पिता खन्त मुनि से किस प्रकार पूर्णत. वस्त्र का त्याग करवाया, इसका उल्लेख प्रभावक चरित्र मे है ।[1]

आर्य वज्र और आर्य रक्षित के आख्यानो से यह सिद्ध होता है कि उनके समय तक वस्त्रधारी और निर्वस्त्र दोनो ही प्रकार के मुनियो की परम्पराए विद्यमान थी । उन दोनो परम्पराओ के मुनि परस्पर एक दूसरे का पूरा सम्मान ही नही अपितु द्वादशागी का अध्ययन अध्यापन भी करते रहते थे । सवस्त्रता और निर्वस्त्रता उनके पारस्परिक श्रमणोचित ऋजु-मृदु सम्वन्धो मे कभी कही बाधक नही वनी ।

इन सव ऐतिहासिक तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे अनेक विद्वानो द्वारा प्रकट किये गये सम्प्रदाय भेद विपयक विभिन्न अभिमतो पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर उनके सभी अभिमत प्रमाणाभाव मे निराधार और अटकलवाजी मात्र सिद्ध होते है । सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य मे केवल एक ही ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध होता है, जिससे कुछ क्षणो के लिये सघ मे विचार भेद की झलक प्रकट होती है । वह है आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति के वीच सम्भोग विच्छेद की क्षणस्थायी घटना । उस अचिरस्थायिनी घटना के पीछे भी मूल कारण विशुद्ध पिण्डैपणा का था, न कि सचीवरत्व-अचीवरत्व का ।

इन सव प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि वस्तुत सम्प्रदाय भेद दिगम्वर परम्परा की मान्यतानुसार वीर निर्वाण सम्वत् ६०६ और श्वेताम्वर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० स० ६०९ मे हुआ ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे प० मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी, श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री तथा सम्पादक मण्डल के अन्य सभी सदस्यो का समय २ पर सहयोग मिलता रहा । इसके लेखन एव सूची निर्माण आदि कार्यो मे श्री हीरामुनि, श्री शीतल मुनि सेवा सहयोग से लघु लक्ष्मीचन्द्रजी, मान मुनि, शुभ मुनि, चपक मुनि आदि का सहयोग भी भुलाया नही जा सकता । आचार्यो के साथ-साथ उनके समसामयिक राज-वशो के क्रमबद्ध इतिहास के आलेखन तथा कतिपय आचार्यो के काल-निर्णय मे इस ग्रन्थ के मुख्य सम्पादक श्री राठोड ने वडी सहायता की । लगन और निष्ठा पूर्वक गवेषणा तथा उपलब्ध साहित्य के आलोडन के अतिरिक्त इतिहासज्ञ

---

[1] पुरा प्रत्यूहसघातो, वेदमत्रैर्मया हत ।
समस्तस्यापि राज्यस्य, राष्ट्रस्य नृपतेस्तथा ।। १७६ ।।
तत सवोढुरस्याशे, शव शबरथस्थितम् ।
आचकर्षुर्निर्वसन, शिशव पूर्वशिक्षिता ।। १७७ ।।
गुरूणाप्रच्छि कि नग्नस्तात ! सोऽप्युत्तर ददौ ।
उपसर्ग समुत्तस्थौ, त्वद्वचो ह्यनृत नहि ।। १७९ ।।
तथाकर्ण्य पिता प्राह, द्रष्टव्य दृष्टमेव यत् ।
को नः परिग्रहस्तस्मात् नाग्न्यमेवास्त्वत परम् ।। १८१ ।। (प्रभावक चरित्र, पृ० १५)

वस्तुतः "णिग्गंठ" शब्द का संस्कृत रूप है निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ है ग्रन्थ रहित–ग्रन्थी रहित अर्थात् भवप्रपच में बाधकर रखने वाली हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह आदि की गाठों से रहित। यह एक बडा महत्वपूर्ण और विचारणीय तथ्य है कि यदि "णिग्गठ" (निर्ग्रन्थ) शब्द का अर्थ एकान्ततः नग्नता ही होता तो श्रमणियों के लिये "णिग्गठिओ" शब्द का प्रयोग शास्त्रों में कदापि नहीं किया जाता।

दशवैकालिक सूत्र की जिन गाथाओं में मुनियों द्वारा वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादपुछनक के उपयोग में लाने का उल्लेख है, वे गाथाएं इस प्रकार है :

जपि वत्थ व पायं वा, कंबलं पायपुछणं।
त पि संजमलज्जट्ठा, धारति परिहरति य ॥२०॥
न सो परिग्गहो वुत्तो", नायपुत्तेण ताइणा।
"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो", इइ वुत्तं महेसिणा ॥२१॥[1]

अर्थात् – संयम के निर्वहन हेतु अथवा लज्जानिवारणार्थ मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कबल अथवा पादपुछनक (आदि) धारण अथवा परित्यक्त करते है, उसे, भवसागर से भव्यों का त्राण करने वाले ज्ञात पुत्र भगवान् महावीर ने परिग्रह नही बताया है। वस्तुतः किसी वस्तु पर ममत्व भाव रखना परिग्रह है, ऐसा महर्षि (महावीर) ने कहा है।

इन गाथाओं पर तटस्थ दृष्टि से गहन चिन्तन करने पर स्पष्टत यही सिद्ध होता है कि तीर्थ प्रवर्तन के समय से ही प्रभु महावीर ने श्रमणों के लिये मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण का रखना तो अनिवार्य रखा और अचीवरत्व तथा सचीवरत्व को ऐच्छिक रखा। आर्य सुधर्मा से देवर्द्धि तक के एक हजार वर्ष के इतिहास के सिहावलोकन से भी यही तथ्य प्रकट होता है कि आर्य रक्षित के समय तक भगवान् महावीर के धर्म संघ के श्रमण इन दोनों प्रकार के द्रव्य लिगो मे से ऐच्छिक रूपेण किसी एक का आलम्बन लेते रहे। इस द्रव्यलिग के विभेद से न उनमे किसी प्रकार के गुरुत्व लघुत्व का भाव रहता था और न किसी प्रकार का मतभेद ही। अपने गुरु और अन्य श्रमणों की अनुपस्थिति में श्रमणों के सस्तारकों को पक्तियो में रख एवं उन सस्तारको मे ही शिक्षार्थी श्रमणो की कल्पना कर बालक मुनि वज्र ने शास्त्र की वाचना दी – इस प्रकार के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि आर्य वज्र की गुरु परम्परा के श्रमण वस्त्र पात्रादि रखते थे।[2]

---

[1] दशवैकालिक सूत्र, अध्याय ६

[2] अवकाश च बाल्यस्य, ददच्चापलतस्तदा।
सर्वेषामुपधीनर्मिग्राह भूमौ निवेश्य च ॥ १११ ॥
वाचना प्रददौ वज्र, श्रुतस्कन्धव्रजस्य सः।
प्रत्येक गुरुवक्त्रेण कथितस्य महोद्यमात् ॥ ११२ ॥
वज्रोऽपि त गुरोर्ध्वानि, श्रुत्वा लज्जाभयाकुल.।
सन्निवेस्य यथास्थान, वेण्टिका समुखोऽम्यगात् ॥ ११६ ॥
(प्रभावक च० वज्रचरितम्, पृ० ७)

विद्वान् श्री जिन विजयजी, विद्वान् मुनि पं० कल्याण विजयजी, क्षुल्लक जिनेन्द्र-वर्णी, पं० दलसुख मालवणिया, प० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, डा० मोहनलाल मेहता, परामर्शदाता श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री दरबारीलालजी कोठिया आदि विद्वानों के साथ विविध विवादास्पद विषयो पर चर्चा कर प्रामाणिक निर्णय प्रस्तुत करने मे भी राठोड ने पूर्ण सहयोग दिया। श्री राठोड के अहर्निश गवेषण का ही फल है कि इतिहास का आलेखन इतना सुन्दर-सरस-प्रमाणयुक्त बन पाया है।

दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक ग्रन्थों-हरिवंश पुराण, धवला, श्रुतावतार, आदि पुराण, महापुराण पट्टावलियां, श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों आदि के गहन अध्ययन के उपरान्त ही दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के काल तथा परिचय आदि के सम्बन्ध में विवरण एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में हम एक बात स्पष्ट करना आवश्यक समझते है। यद्यपि हमारा यह सतत प्रयास रहा है कि निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष के इस इतिहास मे किसी भी धार्मिक अथवा ऐतिहासिक महत्व की कोई घटना आलेखन से बची न रह जाय तथापि संभव है किसी महत्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख आदि के दृष्टिगोचर न होने प्रभृति अनेक कारणो से कतिपय महत्व-पूर्ण घटनाओं का आलेखन न किया गया हो। आशा है कि विद्वान् पाठक इस प्रकार की अथवा अन्य किसी प्रकार की कमियो को भविष्य मे पूरा करने के लिये पूरा सहयोग प्रदान करेंगे।

शिवमस्तु सर्वजगतः।

मुनिः हस्तिमल्लः

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(द्वितीय भाग)

केवली व पूर्वधर-खण्ड

रही और तीर्थंकरो के ३४ अतिशयो एव अष्ट महाप्रातिहार्यो[1] से यह मर्त्यलोक स्वर्गलोक से भी अतिशय सुन्दर, कमनीय, रमणीय और सुखद बना रहा। वह असख्य वर्षो का काल इस भारतवर्ष का उत्कृष्ट स्वर्णिमकाल था। पर भरत खण्ड के इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भारतवर्ष तीर्थंकरो के इन ३४ अतिशयो, वाणी के ३५ गुणो और उनके अष्ट महाप्रातिहार्यो की उस अनिर्वचनीय अलौकिक शोभा से शून्य हो गया।

उस स्वर्णिमकाल का आद्योपान्त सक्षिप्त विवरण 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' नामक आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रथम भाग मे प्रस्तुत किया जा चुका है। अब भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से लेकर एक पूर्वधर आचार्यो के काल तक का ऐतिहासिक विवरण इस द्वितीय भाग मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

[1] देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास", प्रथम भाग, पृ० ३३, टि० २

स्वर्णिमकाल

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण तक के काल को भारतवर्ष का तीर्थंकर-काल माना गया है। इसे हम भरतखण्ड का स्वर्णिमकाल भी कह सकते है।

उस स्वर्णिमकाल मे भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौवीस तीर्थंकर हुए। उन्होने जन्म-जरा-व्याधि एव मृत्यु के घोर दु खो से पूर्ण, अनादिकाल से चलती आ रही करालकाल की विशाल चक्की में पिसते हुए अनन्त प्राणियों की दारुण एव दयनीय दशा से रक्षा करने और भवताप से उनका उद्धार करने हेतु अपने-अपने समय में धर्मतीर्थ की स्थापना की।[1]

उन्होने मानव को न केवल मानव के प्रति अपितु ससार के समस्त प्राणियों के प्रति सौहार्द, आत्मीयता, निश्छल-विशुद्ध प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व का सक्रिय पाठ पढाते हुए वास्तविक मानवता का प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया। 'सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउ'[2] तथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो'[3] के अन्तस्तलस्पर्शी दिव्य घोषो से तीर्थंकरों ने जाति, वर्ण, वर्ग एव रग-भेद से विहीन एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना की, जिसमे न केवल मानव के ही प्रति अपितु निखिल विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता का अथाह प्रेम लबालब भरा हुआ था।

उन करुणाकर तीर्थंकरों ने जगह-जगह अप्रतिहत विहार कर भीषण भवज्वालाओ में निरन्तर झुलसते हुए ससार के अमित प्राणियो को अपनी पीयूषवर्षिणी अमृततुल्य अमोघ वाणी से आप्यायित करते हुए उनका उद्धार कर उन्हे अनन्त-अक्षय सुखसागर, शिवधाम का अधिकारी बनाया।

उस अनिर्वचनीय सुखमय तीर्थंकर-काल में तेवीस अन्तरालो और पौने तीन पल्यो के तीर्थोच्छित्तिकाल को छोडकर शेष सम्पूर्ण समय मे इस भरतखण्ड के धरातल और गगनमण्डल मे तीर्थंकरो की ३५ अतिशय युक्त दिव्य वाणी गूजती

---

[1] (क) सव्व जग-जीव रक्खरण- दयट्ठयाए भगवया पावयरण सुकहिय।

[प्रश्नव्याकरण-सूत्र, द्वितीय भाग, प्रथम सवर द्वार]

(ख) सद्धर्म-तीर्थं कुर्वन्तीति तीर्थंकरा············कृतिनोऽपि तीर्थंकरनामोदयात् भव्य-सत्त्वानुकम्पापरतया च सद्धर्म-तीर्थप्रदेशनशीला·········

[विशे भा., स्वोपज्ञ टीका, (भा. सं. वि. अहमदाबाद) गा. १०४४, पृ० १९९]

[2] दशवैकालिक सू., अ. ६, गा. ११

[3] दशवैकालिक सू., अ. १, गा. १

केवलिकाल

इन्द्रभूति गौतम

निर्वाण – वीर निर्वाण सम्वत् १२

आर्य सुधर्मा

आचार्यकाल – वी. नि स. १ से २०

आर्य जम्बू

आचार्यकाल – वी. नि स २० से ६४

केवलिकाल का प्रादुर्भाव

चौबीसवे तीर्थंकर श्रमरण भगवान् महावीर का निर्वारण होते ही हमारे देश से तीर्थंकरकाल की समाप्ति हुई। तदनन्तर केवलिकाल प्रारम्भ होता है। तीर्थंकरकाल और केवलिकाल मे यह अन्तर है कि केवलिकाल मे तीर्थंकरकाल की तरह तीर्थंकरो के ३४ अतिशय, ३५ वारणी के अतिशय और अष्ट महाप्रातिहार्य नही रहते। भगवान् महावीर के धर्म-शासन मे उनके सबसे ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम हुए। गुरुभक्ति के प्रगाढ शुभराग के कारण इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के जीवनकाल मे केवलज्ञान की उपलब्धि नही हुई।

कोटि-कोटि सूर्यो से भी अधिक प्रकाश वाले अनन्त केवलज्ञान के धारक भगवान् महावीर के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते ही आर्य वसुधा से ज्ञानसूर्य अस्त होगया। विशिष्ट अतिशय और अनन्तज्ञानी तीर्थंकर भगवान् महावीर का निर्वारण होते ही सारा भूमण्डल अन्धकारपूर्ण हो गया।[1] उसी रात प्रथम गरणधर महामुनि इन्द्रभूति गौतम के अन्तर मे केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय हुआ, उससे फिर समस्त भूमण्डल केवलज्ञानालोक से आलोकित हो गया।

इन्द्रभूति गौतम से केवलिकाल प्रारम्भ होता है अत पहले यहा उनका परिचय दिया जा रहा है।

---

[1] तिहिं ठारोहिं लोगधयारेसिया त जहा अरहतेहि वोच्छिज्जमारोहिं, अरहतपण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमारो, पुव्वगए वोच्छिज्जमारो। [स्थानाग, स्थान ३]

केवलिकाल

जिस प्रकार भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर के निर्वाण तक का काल तीर्थकर-काल माना जाता है, उसी प्रकार तीर्थकर-काल के पश्चात् का, वीर निर्वाण सवत् १ से वीर निर्वाण सवत् ६४ तक का काल जैन जगत् और जैन इतिहास मे केवलिकाल के नाम से पहिचाना जाता है।

आज से लगभग ढाई हजार (२५००) वर्ष पहले कार्तिक कृष्णा अमावस्या की अर्द्धरात्रि के पश्चात् – प्रत्यूषकाल की वेला मे भगवान् महावीर मोक्ष पधारे।[1] भगवान् महावीर के उस निर्वाण समय से ही वीर निर्वाण सवत्सर का प्रारम्भ हुआ।

वीर निर्वाण सवत् के प्रारम्भिक प्रथम दिन मे ही अत्यन्त ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित तीन प्रमुख घटनाए घटी :–

(१) उसी निर्वाण रात्रि को म० बुद्ध के समवयस्क अवन्ती के महाराजा चण्डप्रद्योत (जिनका म० बुद्ध के जन्मदिन को ही जन्म हुआ था) का ५८ वर्ष की आयु मे देहावसान और अवन्ती के राज्यसिहासन पर चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक का राज्याभिषेक।[2]

(२) प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति।[3]

(३) पचम गणधर सुधर्मा स्वामी को भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप मे आचार्य-पद प्रदान।

---

[1] पच्चूसकाल समयसि सपलियक निसन्ने 'कालगए' सव्वदुक्खप्पहीणे।
[कल्पसूत्र, सू० १४६ सिवाना सस्करण]

[2] (क) सिरि जिणनिव्वाणगमणरयणिए उज्जेणीए चण्डपज्जोअमरणे पालओ राया अहिसित्तो। [सिरि दुसमाकाल समणसघ थयं, अवचूरि (पट्टावली समु०, भा० १)]

(ख) ज रयणि सिद्धिगओ अरहा, तित्थयरो महावीरो।
त रयणिमवतिए अहिसित्तो पालओ राया॥
[तित्थोगाली पइन्ना, गा० ६२०]

(ग) जक्काले वीरजिणो, णिस्सेयससपय समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो, पालयणामो अवतिसुदो॥१५०५॥
[तिलोयपण्णत्ती, अधिकार ४]

[3] (क) ज रयणि च ण समणे भगव महावीरे काल गए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे त रयणि च ण जेट्ठस्स इदभूइस्स'''' केवलनाणदसणे समुप्पन्ने। [कल्प सू०, सू० १२६ (सिवाना स०)]

(ख) जादो सिद्धो वीरो, तद्दिवसे गोदमो परमणाणी। जादो......॥ १४७६ ॥
[तिलोयपण्णत्ती, अधिकार ४]

कुशाग्रबुद्धि होने के कारण इन्द्रभूति स्वल्प समय मे ही उपर्युक्त चौदह विद्याओ के परम पारगत विद्वान् बन गये ।

वेद–विद्या के आचार्य एवं उनके छात्र

जैन वाङ्मय के अनेक ग्रन्थो मे इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि इन्द्रभूति गौतम वेद-विद्या के एक प्रख्यात विद्वान् आचार्य थे और उनके पास ५०० छात्र अध्ययन करते थे। हमारे विचार से इनके आचार्य रूप से अध्यापनकाल का क्रम इस प्रकार हो सकता है कि लगभग २५ वर्ष की वय मे अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् उन्होने ५ वर्ष तक विभिन्न प्रदेशो मे घूम कर वहाँ के विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित किया हो। जैसा कि टीकाकार ने गौतम के द्वारा कहलवाया है– "मैने तीनो जगत् के हजारो विद्वानो को वाद मे पराजित किया है।"[1]

सभवत इस प्रकार ख्याति प्राप्त कर लेने के पश्चात् वे वेद-वेदाङ्ग के आचार्य बने हो। उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल जाने के कारण यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि सैकडो की सख्या मे शिक्षार्थी उनके पास अध्ययनार्थ आये हो और यह सख्या उत्तरोत्तर बढते-बढते ५०० ही नही अपितु इससे कही अधिक बढ गई हो। इन्द्रभूति के अध्यापनकाल का प्रारम्भ उनकी ३० वर्ष की वय से भी माना जाय तो २० वर्ष के अध्यापनकाल की सुदीर्घ अवधि मे अध्येता बहुत बडी सख्या मे स्नातक बन कर निकल चुके होगे और उनकी जगह नवीन छात्रो का प्रवेश भी अवश्यभावी रहा होगा। ऐसी स्थिति मे अध्येताओ की पूर्ण सख्या ५०० से अधिक होनी चाहिए। ५०० की सख्या केवल नियमित रूप से अध्ययन करने वाले छात्रो की दृष्टि से ही अधिक सगत प्रतीत होती है।

गार्हस्थ्य जीवन

आर्य सुधर्मा के विवाह का कुछ आचार्यो ने उल्लेख किया है, पर इन्द्रभूति गौतम का विवाह हुआ अथवा नही, यदि हुआ तो कहा हुआ, इस सम्बन्ध मे सभी परम्पराए मौन है। इन्द्रभूति का ५० वर्ष की वय तक गृहवास मे रहना सभी को मान्य है किन्तु उस अवस्था तक ब्रह्मचारी रूप मे रहे या गृहस्थ रूप मे एतद्विषयक कोई स्पष्ट उल्लेख कही पर दृष्टिगोचर नही होता। निर्युक्तिकार ने भी "सव्वे य माहणा जच्चा," इस गाथा के माध्यम से केवल इतना ही कहा है कि सब गणधर जाति से ब्राह्मण, सभी विद्वान् प्राध्यापक, सब द्वादशागी के ज्ञाता और सभी चतुर्दश पूर्वधर थे। गवेषणाशील विद्वान् इस सम्बन्ध मे प्रयत्न कर तथ्य प्रकट करे, यह इष्ट है।

याजकाचार्य के रूप मे

कर्मकाण्ड एव यज्ञ–यागादि क्रियाओ के अनुष्ठान मे अतिनिष्णात और वेदविद्या के पारगत आचार्य इन्द्रभूति की यशोगाथा दशो दिशाओ मे फैल चुकी

---

[1] चित्र चैव त्रिजगति सहस्रशो निर्जिते मया वादै ।
[कल्प सुवोधिका, श्लो १५, पृ० ३८८]

इन्द्रभूति गौतम

महागणनायक इन्द्रभूति गौतम के अलौकिक गौरवपूर्ण विराट व्यक्तित्व का यथातथ्य रूप से चित्रण करने का प्रयास, अनन्त उन्मुक्त आकाश को अपने बाहुपाश में आबद्ध कर लेने और उत्तुग तरगो से उद्वेलित सागरो की अपार जलराशि को एक गागर मे भर लेने के समान हास्यास्पद प्रयास है फिर भी सत्य के अनन्य उपासक, प्राणिमात्र के परम हितैषी और अनुपम लोकोपकारी उस महामानव द्वारा मानव जाति ही नही अपितु प्राणिमात्र के लिये किये गये अनन्त उपकारो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने हेतु कुछ लिखना आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य है। इसीलिये यहा गौतमस्वामी का यत्किंचित् परिचय दिया जा रहा है।

जन्म और वंश आदि

जैन वाङ्मय मे इन्द्रभूति गौतम का उनके श्रमण-जीवन से पूर्व का कोई विशिष्ट तो नही किन्तु थोडा आवश्यक निर्युक्ति मे जन्मभूमि, नक्षत्र, माता-पिता, गोत्र, गृहवास और फिर श्रमण-जीवन के छद्मस्थकाल, केवलिकाल, पूर्ण आयु, ज्ञान, निर्वाणकालीन तप, निर्वाण, सहनन तथा सस्थान का वर्णन उपलब्ध होता है,[1] जो इस प्रकार है –

इन्द्रभूति गौतम का जन्म ईसा से ६०७ वर्ष पूर्व मगध राज्य के सत्ताकेन्द्र राजगृह के समीपवर्ती गोब्बर ग्राम (गौवर्यग्राम) नामक एक ग्राम के गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे हुआ। गौतम गोत्र ७ प्रकार का है।[2] आपके जन्म के समय ज्येष्ठा नक्षत्र था। आपके पिता का नाम वसुभूति गौतम और माता का नाम पृथ्वी था। इनके अग्निभूति और वायुभूति नामक दो सहोदर थे। इन तीनो भाइयों मे इन्द्रभूति सबसे बड़े, अग्निभूति मझले और वायुभूति सबसे कनिष्ठ थे।

शिक्षा

इन तीनो भाइयों ने विद्वान् शिक्षा-गुरु की सेवा मे रह कर ऋग्, यजु, साम एव अथर्व इन चारो वेदो; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष – इन छहो वेदागो और मीमासा, न्याय, धर्मशास्त्र एव पुराण – इन चारों उपागो का – इस प्रकार कुल मिलाकर सम्पूर्ण चौदह विद्याओ का सम्यक् अध्ययन किया।[3]

---

[1] आवश्यक मलयवृत्ति, गा ६४३ से ६५६, पृ ३३७–३९

[2] जे गोयमा ते सत्तविहा पण्णत्ता। त जहा – ते गोयमा, ते गागा, ते भारद्दाया, ते अगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदत्ताभा। [स्थानाग, ७ ठाणा]

[3] अगानि वेदाश्चत्वारो, मीमासा न्याय–विस्तर।
धर्मशास्त्र पुराण च, विद्यास्त्वेता चतुर्दशा॥
शिक्षा कल्पो व्याकरण, निरुक्त छन्दसा चय.।
ज्योतिषामयन चैव, वेदांगानि षडेव तु॥

[आवश्यक, मलयवृत्ति, पृ० ३३९]

"भगवन् ! यह सब आप जैसे समर्थ वेदाचार्य की कृपा और करुणा का ही प्रसाद है।" अपने रोम-रोम से असीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए पुलकितमना सोमिल ने गद्गद् स्वर मे कहा।

"नही, सोमिल ! यह सब वेदमन्त्रो का प्रताप है।" इन्द्रभूति गौतम ने अपने प्रोन्नत भाल को और समुन्नत करते हुए कहा और वे कनखियो से आकाश की ओर देखते हुए पुन शतगुणित उत्साह एव उच्च स्वरो से वेदमन्त्रो के पाठ के साथ आहूतियो पर आहूतिया देने लगे।

पहले की अपेक्षा कही अधिक उच्च स्वर मे की जाने वाली मत्रध्वनि और स्वाहा के घोष आकाश को अधर उठाने लगे। हजारो ही नही, लाखो नेत्र आकाशमार्ग से आते हुए सहस्रो देवविमानो की ओर अपलक देख रहे थे।

उसी समय यज्ञस्थल को लाघ कर देवविमान आगे बढ गये। सहसा मत्र-पाठ की ध्वनि मद पड गई। उत्साह का स्थान अचानक ही निराशा ने ले लिया। हताश लाखो लोचन मूक जिज्ञासा लिये कभी इन्द्रभूति गौतम के मुख की ओर, तो कभी जाते हुए विमानो की ओर देखने लगे। सर्वत्र निस्तब्धता छा गई।

स्वाभिमान

"अरे ! ये देवगण उस ओर पास ही के किस स्थान पर आकाश से नीचे की ओर उतर रहे है ?" सहसा अति विस्मित सहस्रो कण्ठो से यह प्रश्न फूट पडा।

जिस प्रकार प्राय सभी नदिया समुद्र की ओर दौडी जाती है ठीक उसी प्रकार यज्ञमण्डप मे एकत्रित अधिकाश जनसमूह देवविमानो के सम्पातस्थल की ओर उमड पडा।

इन्द्रभूति ने आश्चर्य, निराशा और झुझलाहट भरे स्वर मे कहा – "अरे ! ये देवगण कही मार्ग तो नही भूल गये है ? आखिर ये इस महान् यज्ञ को छोड कर अन्यत्र जा कहा रहे है ? वेदमन्त्रो द्वारा आहूत एव आमन्त्रित हो कर भी ये भ्रान्तिवश आगे कहा बढे जा रहे है ? इसकी छानबीन कर शीघ्र ही कोई मुझे सूचित करे।"

कुछ ही समय पश्चात् कतिपय व्यक्तियो ने आकर इन्द्रभूति से कहा – "आचार्य प्रवर ! समीपस्थ आनन्दोद्यान मे सर्वज्ञ श्रमण भगवान् महावीर पधारे है। उन्हे हाल ही मे सकल चराचर का साक्षात्कार करने वाला समस्त लोकालोक को हस्तामलक की भाति देखने-जानने वाला केवलज्ञान हुआ है। अत सभी देवगण भगवान् महावीर के समवसरण मे जा रहे है।"

इतना सुनते ही इन्द्रभूति गौतम क्षुब्ध हो उठे। उनकी आखो से क्रोध की चिनगारिया सी बरसने लगी। उन्होने हुकार भरे स्वर मे कहा – "अरे ! तुम यह क्या कह रहे हो ? क्या मेरी उपस्थिति मे और भी कोई सर्वज्ञ बनने का साहस कर

थी। इसके फलस्वरूप अनेक वैभवशाली गृहस्थ बडे-बडे यज्ञो का अनुष्ठान कराने के लिये उन्हे अपने यहा आमन्त्रित करने लगे।

जिन दिनो श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि हुई उन्हीं दिनों अपापा नगर के निवासी सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण ने अपने यहा एक बडे यज्ञ का आयोजन किया। सोमिल अपने यज्ञ के अनुष्ठान हेतु इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास नामक उस समय के लोकमान्य प्रसिद्ध कर्मकाण्डी आचार्यो को बडे आग्रह और आदर के साथ अपापा ले गया। सोमिल ब्राह्मण ने और भी अनेक विद्वानों को उस यज्ञ में आमन्त्रित किया। यज्ञ के सुविशाल आयोजन एव इन्द्रभूति आदि उपर्युक्त उद्भट आचार्यो की कीर्ति से आकृष्ट हो कर दूर-दूर के प्रदेशों से अपार जनसमूह अपापा नगर की ओर यज्ञ की शोभा देखने उमड़ पड़ा।

इन्द्रभूति गौतम को उनकी अप्रतिम विद्वत्ता और यशोकीर्ति के कारण यज्ञ के अनुष्ठान हेतु मुख्य आचार्य के पद पर अभिषिक्त किया गया एवं उनके तत्वावधान मे बडी धूमधाम के साथ यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ। सहस्रो कण्ठों से उच्चरित वेदमन्त्रों की ध्वनि तथा यज्ञवेदियो मे हजारो श्रुवाओ से दी जाने वाली आहूतियो की सुगन्ध एवं धूम्र के घटाटोप से धरा, नभ और समस्त वातावरण एक साथ ही गुजरित, सुगन्धित तथा मेघाच्छन्न सा हो उठा। अति विशाल यज्ञ-मण्डप मे उपस्थित जनता-जनार्दन आनन्द-विभोर हो एक अद्वितीय मस्ती के साथ झूमने लगा।

सहसा यज्ञमण्डप मे उपस्थित सभी लोगों की आखे एक साथ नीलगगन की ओर उठी। आकाश के दृश्य को देख कर यज्ञ मे उपस्थित लोगो की आखे चौधिया गई। सबने बार-बार आखो को मलते हुए स्पष्टत. देखा कि सहस्रों सूर्यो की तरह दैदीप्यमान सहस्रो विमानो से नभमण्डल जगमगा रहा है। देव-विमानो को यज्ञमण्डप की ओर अग्रसर होते देख उपस्थित विशाल जनसमूह के हर्ष का पारावार न रहा।

यज्ञ के प्रमुख आचार्य इन्द्रभूति गौतम ने घनगम्भीर सगर्व स्वर मे अपने यजमान को सम्बोधित करते हुए कहा "सोमिल! हमने सत्ययुग के दृश्य को साक्षात्-साकार उपस्थित कर दिया है। तुम महान् भाग्यशाली हो। देखो! अपना अपना पुरोडाश ग्रहण करने हेतु स्वय इन्द्रादि सभी देव सशरीर तुम्हारे यज्ञ मे उपस्थित हो रहे है।"[1]

---

[1] तदा च तत्र समवसृतं वीर विवन्दिषून्।
सुरानापतत प्रेक्ष्य, बभाषे गौतमो द्विजान् ॥६२॥
मत्रेणास्माभिराहूता, प्रत्यक्षा नन्वमी सुरा।
इह यज्ञे समायान्ति, प्रभाव पश्यत क्रतोः ॥६३॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ५]

करने के लिये सूर्य कभी प्रतीक्षा मे नही रहता। अग्नि किसी के करस्पर्श, सिंह अपनी ग्रीवा के बालो के कर्षण को और क्षत्रिय अपने शत्रु को कभी चुपचाप सहन नहीं कर सकता। मैंने बडे से बडे दिग्गजवादियो को शास्त्रार्थ मे हरा कर उनका मुह सदा के लिये बन्द कर दिया है तो यह गेहेनर्दी गृहशूर सर्वज्ञ मेरे समक्ष चीज ही क्या है ? जिस अग्नि ने गगनचुम्बी गिरीन्द्रो को भस्मसात् कर राख की ढेरी बना दिया हो उस अग्नि के समक्ष बेचारे वृक्षो और घास-फूस की क्या सामर्थ्य ? जिस प्रचण्ड पवन के झोको ने हाथियो के झुण्डो को आकाश मे उडा दिया हो उसके समक्ष क्या कभी रूई की फुरहरी ठहर सकती है ?

मेरे भय से अग देश के विद्वान् अपना पारम्परिक निवासस्थान छोड कर सुदूर देशो की ओर भाग गये, वग देश के विद्वान् मेरे भय से त्रस्त और जर्जर हो गये, अवन्ती देश के विद्वान् मेरे भय से मानो मर ही गये और तिलग देश के विद्वान् तो मेरे भय के ही कारण तिलकण के रग की तरह काले हो गये है। अरे ओ लाट देश के विद्वानो ! तुम सबके सब कहा चले गये हो ? मनुष्यो मे सर्वोत्कृष्ट चतुर द्रविड विद्वानो ! तुम मारे लज्जा के किस गिरिगह्वर मे जा छिपे हो ? खेद ! महाखेद ! शास्त्रार्थ के लिये परम आतुर, कण्डूयमान जिह्वा वाले इस इन्द्रभूति के लिये तो आज समस्त जगत् मे वादियो का भयकर दुष्काल और एकान्तत अभाव हो गया है। ऐसे मुझ इन्द्रभूति के समक्ष सर्वज्ञता का दम्भ लिये हुए यह नया वादी कौन आया है ?"

वस्तुत मानव-स्वभाव मे अह इतना सपृक्त और घुला-मिला रहता है कि उसे मानव के सहजन्मा की सज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। अधिकाशत यह देखा जाता है कि मानव थोडा-सा ज्ञान अर्जित कर अपने उस पल्लवग्राही पाण्डित्य से ही अपने आपको सकल विद्यानिधान, अद्वितीय प्रकाण्ड पण्डित और यहा तक कि सब कुछ जानने देखने वाला सर्वज्ञ तक घोषित करने का दुराग्रह एव दम्भ कर बैठता है। यह हमे प्रत्यक्ष मे और पुरातन इतिहास के पन्नो मे यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

मानव-मानस मे उद्भूत इस अह की विपवल्लरी के साथ-साथ जब दम्भ अथवा दुराग्रह का विपवृक्ष अकुरित-पल्लवित तथा पुष्पित हो जाता है तो वह उस मानव के साथ-साथ कभी-कभी समग्र मानव जाति के अध पतन का कारण भी बन जाता है।

अपने समय मे अपने समकक्ष अन्य किसी विद्वान् को न पा कर मानव स्वभाव के कारण इन्द्रभूति के मन मे भी कुछ क्षणो के लिये अह के अकुरित होने की सभावना सहज प्रतीत होती है। पर पूर्वाग्रह, दुराग्रह अथवा दम्भ का उद्भव उनके मानस मे किंचित्मात्र भी नही हो पाया था। उनका अन्तर्मन तथ्य को ग्रहण करने के लिये सदा पूर्वाग्रह, दुराग्रह एव दम्भ आदि से उन्मुक्त और अछूता रहा। यही कारण है कि तथ्य की प्रबल जिज्ञासा और सत्य को ग्रहण

सकता है ? प्रतीत होता है, वह कोई बहुत बड़ा ऐन्द्रजालिक है[1] जिसने बुद्धिमान कहे जाने वाले देवो तक को छल लिया है और वे देव उसे सर्वज्ञ समझ कर उसकी वन्दना एव स्तुति करने जा रहे है। मुझे तरस आता है इन देवताओं की बुद्धि पर कि जिस प्रकार कौवे तीर्थजल का, मेढक पद्मसरोवर का, मक्खिया सुगन्धित गोशीर्ष चन्दन का, उष्ट्र अगूर की वल्लरियो का, ग्राम शूकर क्षीरोदन का और उलूक प्रकाश का परित्याग कर अन्यत्र चले जाते है, ठीक उसी प्रकार ये देवगण भी इस पवित्र हविष्यान्न और मेरे जैसे सर्वज्ञ को छोड़ कर कही अन्यत्र भागे जा रहे है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार का वह नामधारी सर्वज्ञ है उसी प्रकार के ये देव भी है। ग्राम्य नट और मूर्ख ग्रामीणो जैसा यह कैसा हास्यास्पद सयोग है। खैर, कुछ भी हो पर मै किसी भी दशा मे इस सर्वज्ञता के ढोगपूर्ण नाटक को चुपचाप बैठे नही देख सकता। क्या आज तक कभी नील गगन मे एक साथ दो सूर्य उदित हुए है ? क्या एक ही गिरिगह्वर मे कभी दो मृगराज एक साथ रह पाये है ? नही, नही, कदापि नही। तो ठीक उसी प्रकार मुझ जैसे सर्वज्ञ के रहते अन्य कोई सर्वज्ञ नही हो सकता। देवताओ और दानवो के देखते ही देखते अभी मै जटिल प्रश्नो की झडी लगा उसे हतप्रभ कर उसकी सर्वज्ञता के छद्म आवरण को उतार फैकता हू।"

ठीक उसी समय इन्द्रभूति के आदेश से वस्तुस्थिति का पता लगा कर कुछ व्यक्ति समवसरण से लौटे। उनकी आखो से उनके मनोगत भावो को पढते हुए इन्द्रभूति ने बडी व्यग्रता के साथ पूछा – "क्यो ? देख आये उस मायावी को ? कैसा है वह ऐन्द्रजालिक ?"

उनमे से एक ने कहा – "हजारो जिह्वाओ से भी उस अलौकिक विभूति का वर्णन नही किया जा सकता। जिस प्रकार सम्पूर्ण त्रिलोकी के समस्त प्राणियो की गणना करने मे कोई समर्थ नही हो सकता, ठीक उसी प्रकार करोडो सूर्यो के समान दैदीप्यमान श्रमण भगवान् महावीर के अनन्त गुणो का वर्णन नही किया जा सकता। ईश्वर के समस्त गुणो का वर्णन करने मे असमर्थ वेदो के "नेति, नेति" इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ वस्तुतः आज ही हमारी समझ में आया है। भगवान् महावीर की गुणगाथा वर्णनातीत है, वह तो केवल आत्मानुभवगम्य ही है।"

अपने ही लोगो के मुख से श्रमण भगवान् महावीर की इस प्रकार की प्रशसा सुन कर इन्द्रभूति तिलमिला उठे और बोले – "अवश्यमेव यह कोई महान् धूर्त, माया का आदि-आवास है। बडे आश्चर्य का विषय है कि सभी लोगों को इसने भ्रम मे डाल दिया है। मै तो निमेषमात्र के लिये भी इस महामायावी की सर्वज्ञता के दावे को सहन नही कर सकता। क्योकि घोर अन्धकार को विनष्ट

[1] एस मा इदजालियो'त्ति कलिऊणसमुप्पण्णतिव्वाहिणिवेसो "अवणेमि से विउसवाय"त्ति भणिऊण .... .
[चउपन्न महापुरिसचरिय, पृ० ३०१]

देवो द्वारा यज्ञभूमि का उल्लघन कर भगवान् महावीर के समवसरण मे जाने की घटना पर कुछ क्षण विचार करने के अनन्तर इसे अपने अह पर वज्राघात समझ कर इन्द्रभूति ने आवेशपूर्ण स्वर मे कहना प्रारम्भ किया – "इस मायावी ने अपने आपको सर्वज्ञ घोषित कर के अकारण ही मेरी क्रोधाग्नि को भडका दिया है। यह तो इसका वस्तुत वैसा ही दुस्साहस है जैसे मानो कोई मेढक भयकर काले विषधर को चपत लगाना, स्वर्गलोक के निवासी देव पर धरती पर रहने वाला बैल अपने सीगो से प्रहार करना, एक हाथी अपने दातो से गिरिराज को उखाड कर धराशायी करना और एक अकिचन शशक सिह के कन्धे के वालो को खीचना चाहता हो। जिस प्रकार कोई मूढ व्यक्ति शेषनाग के मस्तक की मणि को लेने के लिये हाथ बढा कर अपने काल को स्वय बुलावा देता है उसी प्रकार इसने अपनी सर्वज्ञता का आडम्बर रच कर मेरे क्रोध को भडका दिया है। जिस प्रकार कोई मूर्ख व्यक्ति घने जगल मे आग लगा कर उसके मध्य भाग मे बैठ जाता है अथवा कोई बुद्धिहीन व्यक्ति सुखप्राप्ति की अभिलाषा से कटकलता का आलिगन करता है, ठीक उसी प्रकार इसने मेरी उपस्थिति मे सर्वज्ञता का ढोग रच कर अपने लिये सकट को निमन्त्रित किया है। खद्योत तभी तक टिमटिमाता और चन्द्र तभी तक चमकता है जव तक कि प्रखर किरणो वाला प्रचण्ड मार्तण्ड उदित नही हो जाता। सूर्योदय हो जाने पर न कही खद्योत का पता चलता है और न कही चन्द्रमा का ही। ओ हाथियो! हरिणो और वन्य पशुओ के झुण्डो! अव इस जगल से शीघ्रातिशीघ्र भाग निकलो। देखो! क्रोध से अपनी ग्रीवा की वडी-वडी केसर का आटोप वनाये तुम्हारा काल वह सिह आ रहा है।"

"ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे सौभाग्य से ही यह वादी यहाँ आया है। आज मै निश्चित रूप से इसकी जिह्वा की खुजली सदा के लिये मिटा दूगा।"

शास्त्रार्थ के लिये प्रयाण

इस प्रकार का निश्चय कर इन्द्रभूति गौतम ने यज्ञोपवीत, पीला चोला आदि बारह विशिष्ट चिह्न धारण कर अपने ५०० शिष्यो के साथ श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान किया।

इन्द्रभूति के अनेक शिष्य अपने हाथो मे विविध प्रकार के उपकरण लिये हुए थे। कई शिष्य कमण्डलु और कई विजय के द्योतक पवित्र दर्भ हाथो मे लिये हुए थे। वे सभी ५०० शिष्य अपने गुरु इन्द्रभूति की महिमा के द्योतक "सरस्वतीकण्ठाभरण की जय हो", "वादिविजयलक्ष्मीशरण की जय हो", "वादिमदगजन–वादिमुखभजन की जय हो", "वादिगजसिह की जय हो"[1] आदि

---

[1] कल्पसूत्र की सुबोधावृत्ति (पृ० ३८६) के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति गौतम को अनेक शास्त्रार्थो में विजयोपलब्धि के फलस्वरूप उस समय की परम्पराविशेष के विद्वद्समाज द्वारा निम्नलिखित उपाधियो से सबोधित किया जाता था –

(१) सरस्वती कण्ठाभरण, (३) वादि-मद-गजन,
(२) वादिविजयलक्ष्मीशरण, (४) वादि-मुख-भजन,

कर उसे आत्मसात् करने की उनकी उदार मनोवृत्ति ने उनके एकागीरण व्यक्तित्व को आगे चल कर समष्टि के विराट् व्यक्तित्व का स्वरूप प्रदान किया।

भ० महावीर से शास्त्रार्थ का विचार

अपने अहं के पूर्णरूपेरण जागृत होने के फलस्वरूप इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने हेतु भगवान् के समवसरण की ओर जाने के लिये उद्यत हुए।

इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के पास जाने के लिये उद्यत देख कर उनके अनुज अग्निभूति ने उनसे कहा – "ज्येष्ठार्य ! जिस प्रकार कोमल कमलनाल को उखाडने के लिये इन्द्र के हस्तिशिरोमरिण ऐरावत का उपयोग करना अनावश्यक है उसी प्रकार इस नगण्य साधारण वादी के लिये आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नही। मै ही वहा जा कर अभी उसे परास्त किये देता हू।"

इन्द्रभूति ने कहा – "वत्स ! यह सर्वज्ञप्रलापी यो तो मेरे किसी भी छात्र के द्वारा भी जीता जा सकता है पर किसी भी प्रतिवादी का नाम सुनने के पश्चात् मै चुपचाप बैठ नही सकता। जिस प्रकार तिलराशि को पेरते समय कोई एक तिल का दाना, धान्य को दलते समय कोई एक धान्यकरण, घास को काटते समय कोई एक तृण और अन्न को पीसते समय कोई तुसकरण बचा रह जाता है, उसी प्रकार ससार के समस्त वादियों को परास्त करते समय किसी न किसी तरह यह वादी बचा रह गया है। अपने आपको सर्वज्ञ बताने वाले इस वादी को मै किसी भी तरह सहन नही कर सकता। अब यदि इस एक वादी को मै पराजित नही करता हू तो मेरे द्वारा पराजित समस्त वादी अपराजित हो जायेगे। क्योकि सती स्त्री यदि एक बार अपने सतीत्व से स्खलित हो जाती है तो वह सदा के लिये दुराचारिरणी कही जाती है।"

"वत्स ! मुझे बडा आश्चर्य हो रहा है कि मैने त्रैलोक्य के हजारों प्रतिवादियो को पराजित कर दिया फिर भी पाकशाला की हडिया मे पकाये गये अन्न में बिना पके एक कोरडू की तरह यह एक वादी अपराजित कैसे बचा रह गया ? इस एक के अनिर्जित रहने पर तो मेरा विश्वविजयित्व का समग्र यश ही नष्ट हो जायगा। क्योकि शरीर मे रहा हुआ एक साधारण शल्य भी, यदि उसका शमन नही किया जाय तो एक न एक दिन असाध्य बन कर प्रारगो का अपहरण कर लेता है। वत्स ! क्या एक जलयान मे किसी भी तरह हुआ एक छोटा सा छिद्र भी उसे समुद्र मे नही डुबो देता ? क्या एक आधारभूत ईंट को खीच लेने पर सारा दुर्ग ढह नहीं पडता ?"[1]

---

[1] अस्मिन्नजिते सर्व, जगज्जयोद्भूतमपि यशो नश्येत्।
अल्पमपि शरीरस्थ शल्य प्रारणान् वियोजयति ॥१६॥
छिद्रे स्वल्पेऽपि पोत: किं पयोधौ न निमज्जति।
एकस्मिन्निष्टके कृष्टे, दुर्ग: सर्वोऽपि पात्यते ॥१७॥
[कल्प सुबोधिका पृ० ३८८]

अपने मन मे इस प्रकार के विचारो के उत्पन्न होते ही इन्द्रभूति सशक हो उठे। स्फटिक सिहासन पर विराजमान तथा देव-देवेन्द्रो एव नर-नरेन्द्रो द्वारा सेव्यमान त्रिलोकपूज्य भगवान् महावीर को देख कर इन्द्रभूति मन ही मन सोचने लगे —"शोक ! महाशोक ! मैने स्वय अपने लिये एक वडी विकट समस्या उत्पन्न कर ली है। मेरा समस्त पूर्वोपार्जित यश अव धूलि मे मिलने जा रहा है। जिस प्रकार एक मूर्ख व्यक्ति एक साधारण कील को प्राप्त करने के लिये अपने विशाल, भव्य भवन को गिरा देने जैसी भयकर मूर्खता कर वैठता है, ठीक उसी प्रकार की मूर्खता मै आज कर बैठा हूँ। इस एक वादी को न जीतने की दशा मे मेरे मान-सम्मान को कहाँ ठेस पहुचती थी ? अपने विश्वविजयी नाम की लज्जा अव मैं किस प्रकार रखूगा। मैने मदान्ध हो अपनी अदूरदर्शिता के कारण विना विचारे ही यह मूर्खता की, जो मै इन त्रिलोकीनाथ को जीतने की दुराशा लिये यहा चला आया। इनके समक्ष मैं वोलने का साहस ही किस प्रकार कर सकूगा ? अव मै यहा आकर पीछे की ओर भी किस प्रकार लौटू ? क्योकि मेरे इस प्रकार लौटने को ससार मे पलायन की सज्ञा दी जायगी। पलायनजन्य अपकीर्त्ति तो मृत्यु से भी अधिक घोर कष्टप्रद होती है। मैने अपने आपको घोर सकट मे डाल लिया है। अव तो इस सकट से भगवती भवानी ही मेरी रक्षा कर सकती है। यदि सद्भाग्य से किसी न किसी प्रकार आज मेरी विजय हो जाय तव तो निश्चित रूप से त्रैलौक्य के विद्वानो का शिरोमणि होने का मेरा विरुद सुरक्षित रह सकता है।"

स्थाणु के समान निश्चल इन्द्रभूति गौतम जिस समय मन ही मन इस प्रकार विचारसागर मे गोते लगा रहे थे, ठीक उसी समय सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर ने अमृत से भी अति-मधुर अनिर्वचनीय आनदप्रदायिनी वाणी मे उन्हे उनके नाम – गोत्रोच्चारण पूर्वक सम्वोधित करते हुए कहा— "हे इन्द्रभूति गौतम ! सागय 'सु आगत' स्व-पर कल्याणकारी होने से – तुम्हारा आगमन अच्छा है, लाभकारी है।"[1]

इतना सुनते ही इन्द्रभूति सोचने लगे — "आश्चर्य है ! ये तो मेरा नाम भी जानते है।" पर क्षण भर मे आश्वस्त हो उन्होने मन ही मन विचार किया – "इसमे आश्चर्य की कोई वात नही। तीनो लोको मे विख्यात लब्ध-प्रतिष्ठ इन्द्रभूति गौतम को भला कौन नही पहिचानता ? सूर्य भी कभी कही किसी आवाल-वृद्ध से छुपा रह सकता है ? यदि ये मेरे मन मे छुपे मेरे गुप्ततम सन्देह को प्रकट कर दे तो मै इन्हे सर्वज्ञ मान सकता हूँ, अन्यथा मेरी दृष्टि मे ये नगण्य ही रहेगे।"

---

[1] आभट्ठो य जिणेण, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केण।
नामेण य गुत्तेण य, सव्वन्नू सव्वदरिसिणा ॥५६६॥
हे इदभूइ ! गोअम ! सागयमुत्ते जिणेण चितेइ।
नामपि मे विआणइ, अहवा को म न याणेइ ॥१२५॥
[आवश्यक, मलय, (समवसरण), पत्र ३१३]

जयघोषो से गगनमण्डल को गुजाते हुए इन्द्रभूति के पीछे-पीछे भगवान् महावीर के समवसरण की ओर बढ चले।

भ० महावीर को देख कर विचार

मार्ग मे अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प करते हुए इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के समवसरण के सन्निकट पहुचे। अष्ट महाप्रातिहार्यो और श्रमण भगवान् महावीर के महाप्रतापी अलौकिक ऐश्वर्य को देख वे अत्यन्त आश्चर्य से स्तभित हो सीढियो पर निश्चल खड़े रह कर निर्निमेष दृष्टि से प्रभु की ओर देखते ही रह गये।[१] वे मन ही मन सोचने लगे "कही ये साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु अथवा शकर तो नही है। चन्द्र तो ये निश्चित रूप से नही है, क्योकि चन्द्र तो सकलक होता है और इनका स्वरूप, शान्त, स्वच्छ एव निष्कलक है। ये सूर्य भी नही है, क्योकि सूर्य तो सतापकारी प्रखर किरणो वाला है, पर इनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य, सुखद, शीतल, मनोहारि और नयनाभिराम है।"

"ये सुमेरु पर्वत भी नही है क्योकि अति कठोर सुमेरु की तुलना मे ये अत्यन्त सुकोमल है। न ये विष्णु ही हो सकते है, क्योकि विष्णु तो सस्यश्यामल वर्णवाले है और इनका स्वरूप तपाये हुए स्वर्ण के समान बडा ही मनोहारि है। यह ब्रह्मा भी नही है क्योकि ब्रह्मा बुड्ढा है और ये युवा है। ये कामदेव भी नही हो सकते क्योकि वह तो वृद्धावस्था से सदा भयभीत रहने वाला और अशरीरी है।"

"तो निश्चित रूप से मुझे यह विश्वास करने के लिये बाध्य होना पड रहा है कि उन सब दोषो से रहित और समस्त गुणों से सम्पन्न ये अन्तिम तीर्थंकर है।"

---

(५) वादि-गज-सिह,
(६) वादीश्वरलीह,
(७) वादिसिहाष्टापद,
(८) वादिविनयविशद,
(९) वादिवृन्दभूमिपाल,
(१०) वादिशिर काल,
(११) वादिकदलीकृपाण,
(१२) वादितमोभाण,
(१३) वादिगोधूमघरट्ट,
(१४) मर्दितवादिमरट्ट,
(१५) वादिघटमुद्गर,
(१६) वादिघूकभाष्कर,
(१७) वादिसमुद्रागस्ति,
(१८) वादितरून्मूलनहस्ती,
(१९) वादिसुरसुरेन्द्र,
(२०) वादिगरुडगोविन्द,
(२१) वादिजनराजान,
(२२) वादिकसकान्ह,
(२३) वादिहरिणहरि,
(२४) वादिज्वरधन्वन्तरि,
(२५) वादियूथमल्ल,
(२६) वादिहृदयशल्य,
(२७) वादिगणजीपक,
(२८) वादिशलभदीपक,
(२९) वादिचक्रचूडामणि,
(३०) पण्डितशिरोमणि,
(३१) विजितानेकवाद, और
(३२) सरस्वतीलब्धप्रसाद।

[सम्पादक]

[१] इय वुत्तूण पत्तो, दट्ठु तेल्लुक्कपरिवुड वीरं।
चउतीसाइसयनिहिं, स सकिओ चिट्ठिओ पुरओ ॥१२४॥

[आवश्यक, मलय, पत्र ३१३]

स्वत सिद्ध है ।[1] जो प्रत्यक्षत. सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही । जिस प्रकार अनुभूति, इच्छा, सशय, हर्ष, विषाद आदि भाव अमूर्त-अरूपी होने के कारण बाह्य चक्षुओ से दृष्टिगोचर नही होते उसी प्रकार जीव भी अमूर्त-अरूपी होने के कारण चर्मचक्षुओ से नही दिखाई देता ।[2] गौतम ! प्रत्येक व्यक्ति द्वारा वर्तमान, भूत और भविष्य के अपने कार्यकलापो के सम्बन्ध मे इस प्रकार की अनुभूति की जाती है कि "मै सुन रहा हू", "मैने सुना था", "मै सुनूगा" । इस प्रकार की अनुभूतियो मे "मै" की प्रतिध्वनि से प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीव का प्रत्यक्षानुभव होता है ।"

भगवान् महावीर प्राणिमात्र के मनोगत भावो को जानने वाले थे अत गौतम के मन मे जो भी शका उठी, गौतम द्वारा उस शका के प्रकट किये जाने से पहले ही भगवान् ने उसे गौतम के समक्ष रख कर उसका तत्काल समाधान कर दिया और इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति को अपनी शकाओ के समाधान के लिये बोलने की आवश्यकता ही नही पडी ।

भगवान् ने फरमाया – "गौतम ! प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की गई–'मै प्रसन्न हू' अथवा 'मै पीडित हू' इत्यादि अनुभूतियो मे प्रयुक्त 'मै' पद से आत्मा का ही बोध होता है । 'मै नही हू' इस प्रकार की अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति कोई व्यक्ति नही करता ।"

आगम प्रमाण के सम्बन्ध मे गौतम के अन्तर्मन मे उठी शका का तत्काल समाधान करते हुए प्रभु ने कहा – "गौतम ! तुम्हारे मन मे जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सशय उत्पन्न होने का मूल कारण यह है कि तुम वेद की ऋचाओ के वास्तविक अर्थ को नही समझ पाये हो । एक ओर –

'न ह वै सशरीरस्यसत प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीर वा वसत प्रियाप्रिये न स्पृशत '[3] तथा –

'स्वर्गकामो यजेत'

---

[1] (क) अत्थि णिरुत्त जीवो, इमेहि सो लक्खणेहि मुणियव्वो ।
चित्त-चेयण-सण्णा विण्णाणादीहि चिधेहि ।।४२०।।
[चउपन्नमहापुरिस चरिय, पृ० ३०१]

(ख) गोयम पच्चक्खुच्चिय, जीवो ज ससयाइ विन्नाण ।
पच्चक्ख च न सज्झ, जह सुह-दुक्खा सदेहम्मि ।।१५५४।।
[विशेपावश्यक भाष्य]

[2] नाणादओ न देहस्स, मुत्तिमत्ताइओ घडस्सेव ।
तम्हा नाणाइ गुणा जस्स, स देहाइओ जीवो ।।१५६२।।
[विशेपावश्यक भाष्य]

[3] छान्दोग्योपनिषद्, ४४५

भगवान् महावीर द्वारा उद्बोधन

इन्द्रभूति गौतम अपने मन में इस प्रकार के विचार कर ही रहे थे कि प्रभु महावीर ने उनसे कहा–"गौतम ! तुम्हारे मन में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सन्देह है। तुम यह सोचते हो कि जीव घट-पट आदि की तरह प्रत्यक्ष दिखाई नही देता और जो वस्तु प्रत्यक्ष मे किसी भी तरह दिखाई नही देती उसका आकाशकुसुम अथवा खर-विषाण की तरह ससार मे कोई अस्तित्व नही होता।[1]

वेदवाक्यों के गूढार्थ को अच्छी तरह समझ नही पाने के कारण तुम्हारे मन में यह सशय उत्पन्न हुआ है। लो सुनो, मै तुम्हे वेद की ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझाता हूं।"

कभी किसी पर प्रकट नही किये गये अपने मन के निगूढ़तम सदेह को भगवान् द्वारा प्रकट कर दिये जाने पर इन्द्रभूति गौतम साश्चर्य निर्निमेष दृष्टि से भगवान् की ओर देखने लगे। वे मन ही मन सोचने लगे – "आज तक किसी भी व्यक्ति के सम्मुख प्रकट नही किया गया मेरा मनोगत गूढतम सशय इन्हे कैसे विदित हो गया ? सर्वज्ञ के अतिरिक्त मनोगत भावों को कौन जान सकता है ? वस्तुतः क्या मैं किसी सर्वज्ञ के सम्मुख खडा हू ?"

जीव प्रत्यक्ष-सिद्ध है

इन्द्रभूति मन ही मन इस प्रकार के ऊहापोह में लीन थे, उसी समय प्राणिमात्र के मनोगत भावों को जानने वाले महावीर प्रभु की घनरव गम्भीर वाणी उनके कानों में गूज उठी – "इन्द्रभूते ! मैं सर्वज्ञ होने के कारण जीव को प्रत्यक्ष देख रहा हू। जीव तुम्हारे लिये भी प्रत्यक्ष है। तुम्हारे अन्तर में जीव के अस्तित्वानस्तित्व विषयक शका जिसको हुई है, वही वस्तुतः जीव है। चित्त, चेतना, सज्ञा, विज्ञान, उपयोग,[2] सशय, जिज्ञासा, सुखदु.खादि की अनुभूति, चिकीर्षा, जिगमिषा, दु खों से सदा दूर भागने और बचे रहने की प्रवृत्ति, सुखपूर्वक चिरजीवी रहने की लिप्सा आदि समस्त लक्षण देहधारी प्रत्येक आत्मा में स्पष्टतः प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते है अत' आत्मा का अस्तित्व भी प्रत्यक्ष प्रमाण से

---

[1] (क) जीवे तुव सदेहो, पच्चक्ख ज न घिप्पइ घडोव्व।
अच्चन्तापच्चक्ख च, नत्थि लोए खपुप्फ व ॥१५४९॥ [विशेषा० भा०]

(ख) जपइ पुणोवि भयवं, तुह हियए ससओ समुप्पण्णो।
जीवो किं अत्थि ण वात्थि एत्थ त सुणसु परमत्थ ॥
[चउप्पन्न म० पु० चरिय, पृ० ३०१]

[2] वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेण दसणेण च, सुहेण य दुहेण य ॥१०॥
नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य, एय जीवस्स लक्खण ॥११॥ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २८]

उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् पट को देखने पर आत्मा का ध्यान घट की ओर से हट कर पट की ओर आकर्षित हुआ। उस दशा मे घट के दृष्टि से ओझल होने के साथ ही आत्मा का घटोपयोग नष्ट हो गया और उसका स्थान आत्मा मे पट-सम्बन्धी ज्ञान होने के कारण पटोपयोग ने ले लिया और इस तरह पटोपयोग के आविर्भूत हो जाने पर आत्मा मे घटोपयोग की प्रेत्य अर्थात् पूर्व की सज्ञा—जानकारी नही रहती।"

"ज्ञान वस्तुत भूतो का धर्म नही है क्योकि वह वस्तु के अभाव मे भी विद्यमान और वस्तु की विद्यमानता मे अविद्यमान भी रहता है। जिस प्रकार घट से पट एक भिन्न वस्तु है, उसी प्रकार भूतो से ज्ञान नितान्त भिन्न वस्तु है। घट और पट दोनो भिन्न-भिन्न दो वस्तुए होने के कारण जिस प्रकार घट के अभाव मे पट की और पट के अभाव मे घट की विद्यमानता रहती है, उसी प्रकार मुक्तावस्था मे वस्तुओ का अभाव होने पर भी उनका ज्ञान विद्यमान रहता है और मृत शरीर मे भूतो की विद्यमानता रहने पर भी ज्ञान नही रहता। वस्तुत शरीर और जीव एक दूसरे से भिन्न दो वस्तुए हैं। शरीर जीव का आधार और जीव शरीर का आधेय है। उपयोग, अनुभूति, सशयादि विज्ञान जीव के लक्षण अरूपी-अमूर्त है, पर शरीर मूर्त है। किसी मूर्त का गुण अमूर्त नही हो सकता, अत विज्ञानादि अमूर्त गुण मूर्त शरीर के नही अपितु अमूर्त आत्मा के ही हो सकते है। जिस प्रकार दूध मे घी, तिल मे तेल, काष्ठ मे अग्नि, पुष्प मे सुगन्ध, चन्द्रकान्त मणि मे सुधा घुलीमिली प्रतीत होने पर भी वस्तुत दुग्ध आदि से भिन्न है, उसी प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अग-प्रत्यगो मे व्याप्त आत्मा भी निश्चित रूपेण शरीर से भिन्न है।"[1]

एकात्मवाद का निराकरण

तदनन्तर—"पुरुष एवेद सर्व यद् भूत यच्च भाव्य, उतामृतत्वस्येशान यदन्नेनातिरोहति, यदेजति, यन्नेजति, यद्दूरे, यदुअन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य, यत् सर्वस्यास्य बाह्यत ।

[ईशावास्योपनिषद्]

तथा —

एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते प्रतिष्ठित ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।

यथा विशुद्धमाकाश तिमिरोपप्लुतो जन ।
सकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ।।

तथेदममल ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्न, भेदरूप प्रकाशते ।।

---

[1] क्षीरे घृत तिले तैल काष्टेऽग्नि सौरभ सुमे ।
चन्द्रकान्ते सुधा यद्वत्तथात्माप्यगत पृथक् ।। [गणधरवाद की टीका]

इन वेद-पदो से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरी ओर –

'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य सज्ञास्ति'[1]

इस वाक्य से तज्जीव तच्छरीरवाद की प्रतिध्वनि व्यक्त होती है। वेद के इन वाक्यो को परस्पर विरोधी मानने के कारण तुम्हारे मन मे जीव के अस्तित्व के सम्वन्ध मे सशय उत्पन्न हुआ है। गौतम! उपर्युक्त अतिम वेदवाक्य का वस्तुत तुम अर्थ ही नही समझे हो। मै तुम्हे इसका सही अर्थ समझाता हू।"

विज्ञानघन का वास्तविक अर्थ

"इस वाक्य मे ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोगरूप विशिष्ट ज्ञानपुज से युक्त आत्मा को विज्ञानघन कहा गया है, क्योकि आत्मा स्वय ज्ञानपुज है। विज्ञान आत्मा से पृथक् नही है। विज्ञान की दृष्टि से आत्मा सर्वव्यापी है। वह आत्मविज्ञान घटपटादि भूतों के ज्ञान से विज्ञान के रूप मे उत्पन्न होता है। जब वे घटपटादि भूत शनै शनै विज्ञानघन आत्मा का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित होने के कारण विज्ञेय के भाव से नष्ट – तिरोहित हो जाते है तो वह आत्मा का विज्ञान स्वरूप अपने उस पूर्वोपलब्ध घटपटादि के ज्ञान की दृष्टि से उन घटपटादि के विनष्ट अर्थात् तिरोहित होते ही उन्ही के साथ नष्ट हो जाता है।"

उक्त वेदवाक्य का तात्पर्य यह है कि विज्ञानघन आत्मा को घटपटादि भूतो के देखने से जो घटविषयक अथवा पटविषयक ज्ञान होता है, वह क्रमश अन्य वस्तुओ की ओर ध्यान आकर्षित होने पर नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर वृक्ष, फूल, फलादि अन्य वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है। किसी वस्तु के प्रथम दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके अनन्तर दूसरी वस्तु के दर्शन से तद्विपयक नवीन ज्ञान होते ही पूर्व वस्तुओ से सम्वन्ध रखने वाले ज्ञान का स्थान नवीन वस्तुओं का ज्ञान ग्रहण कर लेता है। यही क्रम आगे से आगे चलता रहता है। इस प्रकार पहले देखी हुई वस्तु का ज्ञान उसके पश्चात् देखी हुई वस्तु के ज्ञान के साथ ही नष्ट हो जाता है। वस्तुत. आत्मा नष्ट नही होती, अपितु पूर्ववर्ती ज्ञान का स्थान पश्चाद्वर्ती ज्ञान द्वारा ले लिये जाने पर वह पूर्ववर्ती घटपटादि ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञाता विज्ञान ही नष्ट होता है। एक ज्ञेय के पश्चात् अन्य ज्ञेय का ज्ञान विज्ञानघन आत्मा मे अविकल रूप से क्रमश चलता रहता है अत आत्मा के नष्ट होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।"

वेदपद में प्रयुक्त प्रेत्य संज्ञा का वास्तविक अर्थ

"न प्रेत्य सज्ञास्ति" इस वेदपद का अर्थ समझाते हुए प्रभु महावीर ने कहा–"घट को देखते ही आत्मा मे घटोपयोग अर्थात् ज्ञेयभूत घट का विज्ञान

[1] वृहदारण्यकोपनिपद् (१२–५३८) मे "न प्रेत्य सज्ञास्ति" इससे आगे "इत्वरे ब्रवीति होवाच याज्ञवल्क्य"–देकर वाक्य की पूर्ति की गई है।   [सम्पादक]

पूर्वक प्रमाणसगत एव हृदयग्राही युक्तियो से आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे इन्द्रभूति गौतम के मनोगत सम्पूर्ण सशयो का मूलोच्छेद कर दिया। हृत्तल के निविडतम अज्ञानान्धकार को विनष्ट कर दैदीप्यमान ज्ञानालोक प्रकट करने मे समर्थ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर के अमोघ वचनो का, परम सत्य को पहिचान कर उसे आत्मसात् करने की उत्कट अभिलाषा रखने वाले इन्द्रभूति के पूर्वाग्रहो से विनिर्मुक्त स्वच्छ निश्छल अन्तर्मन पर अत्यन्त अद्भुत प्रभाव पडा। प्रभु की दिव्य ध्वनि से न केवल उनके अन्तर्मन के सदेह ही दूर हुए अपितु उनका अन्तर अचिन्त्य, अनिर्वचनीय अद्भुत एव अलौकिक उल्लास से ओत प्रोत हो गया।

हृदयपरिवर्तन

इन्द्रभूति गौतम ने अपनी आखो से असीम कृतज्ञता प्रकट करने के साथ-साथ अपने आपको प्रभुचरणो पर न्योछावर करते हुए हर्षगद्गद् स्वर मे कहा—"भगवन् ! अव मैं सम्पूर्णरूपेण आपकी शरण मे हूँ। प्रभो ? आज का दिन मेरे लिये परम सौभाग्यशाली दिन है। आज मेरा सकल जीवन सफल हो गया क्योकि आज मुझे आप जैसे महान् जगत्गुरु प्राप्त हुए है।[1] आपने मेरे हृदय मे व्याप्त घोर अन्धकार को विनष्ट कर दिया है। आपकी युक्तिपूर्ण, सुधासिक्त शाश्वत-सत्य वाणी से मेरे मन के समस्त सशयो का समूल नाश हो गया है। मैं आपको पूर्णरूपेण सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार करता हूँ तथा आपके वचनो एव सिद्वान्तो पर प्रगाढ श्रद्धा रखता हूँ। आपके कृपाप्रसाद से मैने वास्तविक सत्य को पा लिया है।"

पश्चात्ताप भरे स्वर मे आत्मनिन्दा करते हुए इन्द्रभूति कहने लगे-"शोक ! महाशोक ! विश्व मे मिथ्यात्व वस्तुत पाप का वहुत वडा भण्डार है। अपने जीवन का आज तक का इतना अमूल्य समय मैने मिथ्यात्व का सेवन करते हुए व्यर्थ ही खो दिया है।"[2]

इस प्रकार सर्वज्ञ प्रभु महावीर की अतुल प्रभावोत्पादक तर्क एव युक्तिसगत अमोघ वाणी द्वारा इन्द्रभूति गौतम की सत्यान्वेषिणी, सरल, स्वच्छ एव अनाग्रहपूर्ण मनोभूमि मे वोया हुआ एव परिसिंचित आध्यात्मिकता का वीज सहसा अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो उठा।

पूर्वाग्रहो के प्रति किंचित्मात्र भी मोह न होने तथा सत्य के प्रति परम निष्ठा के साथ-साथ सत्य को अपने जीवन मे ढालने का प्रवल साहस होने के

---

[1] अद्याहमेव धन्योऽह (स्मि), सफल जन्म मेऽखिलम् ।
यतो मयातिपुण्येन, प्राप्तो देवो जगद्गुरु ॥१३४॥
— [वीर वर्धमानचरित्र-भट्टारक श्री सकलकीर्त्ति]

[2] अहो मिथ्यात्व मार्गोऽय, विश्वपापाकरोऽशुभ ।
चिर वृथा मया निन्द्य, सेवितो मूढचेतसा ॥१३३॥ [वही]

आदि एकात्मवादपोषक उक्तियो के अनुसार समग्र ससार मे भिन्न-भिन्न आत्माए नही अपितु आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त एक ही आत्मा है –"

इन्द्रभूति गौतम के हृदय मे उत्पन्न हुए इस प्रकार के सशय का भी बडी युक्तिपूर्ण मधुर वाणी से समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया— "इन्द्रभूते ! यदि निर्मल अनन्त आकाश के समान विराट् एक ही आत्मा सब पिण्डों में विद्यमान होता तो जिस प्रकार आकाश सभी भिन्न-भिन्न पिण्डो मे एक ही रूप से विद्यमान है, आकाश की नानारूपता, विचित्रता और विलक्षणता उन पिण्डों मे दिखाई नही देती उसी प्रकार जीव भी सब भूतसघो मे नानारूपता, वैचित्र्य एव विलक्षणता से रहित एकरूपता मे ही दिखाई देता पर प्राणी-समूह मे ऐसी समानरूपता एव एकरूपता का नितान्त अभाव है। सबसे बडी बात तो यह है कि एक प्राणी के लक्षणो से दूसरे प्राणी के लक्षण बिलकुल ही भिन्न दिखाई देते है। इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि सब प्राणियो मे एक ही आत्मा नही अपितु भिन्न-भिन्न आत्माएं है। लक्षणभेद होने पर लक्ष्यभेद स्वत· ही सिद्ध हो जाता है। यदि सभी देहसमूहो मे आकाश की तरह सर्वव्यापी एक ही आत्मा होता तो कर्त्ता, भोक्ता, मन्ता, एव सुख-दु.ख, बन्ध-मोक्ष आदि की विभिन्न दशाएं प्राणियो मे विद्यमान नही रहती। पर वस्तुस्थिति सर्वथा प्रत्यक्ष है कि सुख-दु ख आदि की समानता प्राणिवर्ग मे दृष्टिगोचर नही होती। आज अनेको प्राणी दु ख के कारण छटपटाते और कई प्राणी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह अन्तर इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि समस्त भूतसंघो मे व्योम की तरह कोई विराट् एक आत्मा नही बल्कि अलग अलग अनन्त आत्माएँ है।"

"जीव का प्रमुख लक्षण है उपयोग। वह उपयोग प्रत्येक प्राणी मे एक दूसरे से भिन्न-भिन्न, स्वल्पाधिक मात्रा मे और विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक देहधारी मे उपयोग के उत्कर्ष-अपकर्ष एव न्यूनाधिक्य भेद के कारण ससार मे आत्माओं की सख्या भी अनन्त है। वस्तुतः आत्मा अविनाशी-ध्रौव्य है। ससारी आत्माओ मे घटपटादि के इन्द्रियगोचर होने पर जो घटोपयोग, पटोपयोग आदि ज्ञान-पर्यायें उत्पन्न होती है उस दृष्टि से आत्मा के उत्पाद स्वभाव का तथा उसमे पटोपयोग के उत्पन्न हो जाने पर पूर्व के घटोपयोग रूपी ज्ञान-पर्याय का व्यय अर्थात् विनाश हो जाने के कारण आत्मा के व्यय स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। पर उत्पाद और व्यय की उन दोनो ही परिस्थितियो मे आत्मा का अविनाशी स्वभाव सदा सर्वदा अपने शाश्वत ध्रुव स्वरूप मे विद्यमान रहता है अत· आत्मा ध्रौव्य स्वभाव वाला माना गया है। ज्ञान-पर्यायो के उत्पाद एव व्यय के कारण ही आत्मा उत्पाद और व्यय रूप मे परिलक्षित होता है अन्यथा वह शाश्वत-ध्रौव्य-अविनाशी है।"

इस प्रकार पचभूतवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, एकात्मवाद आदि का निरसन करते हुए भगवान् महावीर ने अपनी गुरुगम्भीर मृदुवाणी द्वारा अनुपम कुशलता-

शुक्ला ११ के दिन स्वय के श्रीमुख से सर्वविरति श्रमण-दीक्षा अर्थात् पच महाव्रतो की भागवती-दीक्षा प्रदान की ।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र" मे उल्लेख किया है कि इन्द्रभूति आदि श्रमणों को वस्त्र, पात्र, उपकरणादि कुबेर द्वारा प्रदान किये गये। उन्होने धर्मोपकरण ग्रहण करने की आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला है।[1]

अपने ५०० शिष्यो सहित, श्रमण भगवान् महावीर के पास, इन्द्रभूति के प्रव्रजित होने का सवाद सुनकर क्रमश अग्निभूति, वायुभूति, आर्य व्यक्त, आर्य सुधर्मा प्रत्येक अपने पाच-पांच सौ शिष्यो, मण्डित तथा मौर्यपुत्र अपने साढे तीन तीन सौ शिष्यो और अकम्पित, अचलभ्राता, मैतार्य एवं आर्य प्रभास अपने तीन-तीन सौ शिष्यो के साथ श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण मे आये और अपने मनोगत सशयो का भगवान् महावीर द्वारा पूर्णरूपेण समाधान पाकर अपने-अपने शिष्यमण्डल सहित श्रमण भगवान् महावीर के पास मुडित होकर विधिवत् निर्ग्रन्थ बन गये ।

अनेक आचार्यो ने उल्लेख किया है कि गणधरो की दीक्षा के समय देवगण ने पच-दिव्यो की वर्षा कर अपनी प्रसन्नता एव धर्म की महिमा प्रकट की ।[2]

इस प्रकार एक ही देशना मे वेद-वेदान्तो के विख्यात ज्ञाता ग्यारह विद्वान् आचार्यों और उनके ४४०० शिष्यो ने शाश्वत सत्य को हृदयगम कराने वाले भगवान् महावीर के परम तात्त्विक उपदेश से धर्म के सत्य स्वरूप को पहिचान कर प्रभु के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण की ।

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के अनन्तर भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को अग्निभूति आदि अपने १० प्रमुख शिष्यो के साथ उत्पाद (उप्पन्नेइ वा), व्यय (विगमेइ वा) और ध्रौव्य

---

[1] (क) उपनीत कुबेरेण धर्मोपकरण तत ।
त्यक्तसगोऽप्याददानो गौतमोऽथेत्यचिन्तयत् ।।८४।।

निरवद्यव्रतत्राणे, यदेतदुपयुज्यते ।
वस्त्रपात्रादिक ग्राह्य, धर्मोपकरणं हि तत् ।।८५।।

छद्मस्थैरिह षड्जीवनिकाययतनापरैः ।
सम्यक् प्राणिदया कर्तुं, शक्येत कथमन्यथा ।।८६।।

(ख) जलज्वलनवायूर्वीतरुत्रसतया बहून् ।
जीवास्त्रातु कथमल, धर्मोपकरण विना ।।९१।।

इन्द्रभूतिर्विभाव्यैव, शिष्याणा पचभि शतैः ।
सम जग्राह धर्मोपकरण त्रिदशार्पितम् ।।९३।।
[त्रिषष्टि श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग ५]

[2] आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि श पु च, महावीर चरित्र आदि ।

कारण इन्द्रभूति गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर द्वारा परम सत्य का बोध होते ही तत्क्षण विना किसी प्रकार की हिचक के सहर्ष अपना सर्वस्व श्रमण भगवान् महावीर के चरणो मे समर्पित कर दिया। उन्होने अपने समाज मे अर्जित उज्ज्वल यश, धार्मिक जगत् एव विद्वत्समाज मे वर्षो के अथक प्रयास से अर्जित अपनी प्रतिष्ठा और शिष्यसघ के हृदयो में ओत प्रोत अपने प्रति प्रगाढ श्रद्धा, उत्कट निष्ठा व सर्वोच्च समादर आदि की किंचित्मात्र भी चिन्ता किये विना उन्होने प्रभु-चरणो मे प्रव्रजित होने का दृढ सकल्प कर लिया।

उन्होने साजलि शीश झुका कर प्रभु से प्रार्थना भरे स्वर मे कहा—"प्रभो ! मुझे आपके चरणो मे पूर्ण आस्था है। मुझे दृढ विश्वास हो गया है कि आपके द्वारा वताये गये प्रशस्त मार्ग का अवलम्वन करने पर ही प्राणी सब प्रकार के दु खो और बन्धनो से विनिर्मुक्त हो अपने चरम एव परम लक्ष्य शिवपद को प्राप्त कर सकता है। मै अब आजीवन आपके चरणो की शरण मे रहना चाहता हूँ, अत आप मुझे अपने परम कल्याणकारी धर्म मे श्रमण-दीक्षा प्रदान कर कृतार्थ कीजिये।"

शिष्यमंडल सहित प्रव्रज्या

परम दयालु प्रभु महावीर ने "अहासुहं देवाणुपिया !" इस सुधासिक्त सुमधुर वाक्य से इन्द्रभूति को यथेप्सित सुखद कार्य करने की अनुज्ञा प्रदान की।

तदनन्तर इन्द्रभूति गौतम ने अपने ५०० शिष्यो को सम्वोधित करते हुए शान्त, सहज, सरल एव गम्भीर स्वर मे कहा—"आयुष्मन् अन्तेवासियो ! मुझे प्रभुकृपा से वास्तविक सत्य का बोध हो गया है। मै अब सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर से श्रमण-दीक्षा अगीकार कर शिष्यरूपेण इनकी शरण ग्रहण करना चाहता हूँ। अत. अब आप लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार जैसे आपको अच्छा लगे, वही कर सकते है।"

इस पर इन्द्रभूति गौतम के ५०० शिष्यो ने एक स्वर मे कहा—"परम श्रद्धास्पद गुरुदेव ! हमारी आन्तरिक प्रगाढ़ श्रद्धा के एकमात्र केन्द्रविन्दु आप जैसे महान् आचार्य जब भगवान् महावीर के पास शिष्यभाव से दीक्षित हो रहे है तो हम लोग आपको छोड़ कर अन्यत्र कहाँ और क्यों जाय ? हम सब लोग भी आपके चरणचिन्हो पर चलते हुए आपकी एवं प्रभु की सेवा करते हुए अपना आत्मकल्याण करेगे।"[1]

श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने हेतु समुद्यत इन्द्रभूति गौतम के अन्तर्मन की पुकार और प्रार्थना को सुन कर भगवान् महावीर ने उन्हे अपना भावी प्रथम गणधर जान कर प्रमुख शिष्य के रूप मे ईसा पूर्व ५५७ एव विक्रमपूर्व ५०० वैशाख

---

[1] एत्थ समतो सवुद्धो य भणइ पच खडितसते, एस सव्वन्नु अह पव्वयामि तुब्भे जहिच्छिय करेहि। ते भणन्ति जदि तुब्भे एरिसगा होता पव्वयह तो अम्हे का अन्ना गतित्ति। एवं सो पचसयपरिवारो पव्वतितो। [आवश्यक चूर्णि, पृ० ३३६]

त्मक स्वभाव को जानने वाला प्रवुद्धचेता, ज्ञानवान् व्यक्ति समस्त तत्त्वो की उत्पाद – व्यय अवस्था मे हर्ष – विषाद से परे रह कर उनके ध्रौव्य स्वभाव का विचार कर तटस्थ रहता हुआ आत्मकल्याण मे निरत रहता है।

सरल, निर्मल और तीक्ष्ण बुद्धि के कारण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर की विशिष्ट ३५ अतिशययुक्त अमोघ वाणी के प्रभाव से अपने अन्तर में अनिर्वचनीय दिव्य ज्ञानालोक का अनुभव किया।

उत्पाद – व्यय – ध्रौव्यात्मक त्रिपदी के रूप मे समस्त विश्व के त्रिकालवर्ती सपूर्ण ज्ञान – विज्ञान की कुन्जी प्राप्त कर वेद-वेदाग के पारगत विद्वान् इन्द्रभूति गौतम आदि के अन्तर मे रुधे हुए ज्ञान के समस्त स्रोत अजस्ररूपेण फूट पडे और ज्ञान का अथाह सागर उनके हृदयो मे हिलोरे लेने लगा। उनके हृदय की समस्त कु ठाए, रिक्तताए, शकाए, अनिश्चितताए एव सभी प्रकार की कमिया क्षण भर मे ही दूर हो गई। उन्होने अनुभव किया कि अज्ञान के एक घने काले आवरण के हट जाने के कारण उनके अन्तर मे दिव्य तेजोमय प्रकाशपुज ज्ञान का सहस्ररश्मि आलोक जगमगाने लगा है।

तीर्थंकर भगवान् महावीर की अतिशययुक्त दिव्य वाणी के प्रभाव से तथा पूर्वजन्म मे कृत उत्कट साधना के परिणामस्वरूप इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारहो सद्य प्रव्रजित विद्वानो के श्रुतज्ञानावरण कर्म का तत्क्षण विशिष्ट क्षयोपशम हुआ और वे उसी समय समग्र श्रुतज्ञानसागर के विशिष्ट वेत्ता वन गये। उन्होने सर्वप्रथम चौदह पूर्वो की रचना की, जो इस प्रकार है

१ उत्पादपूर्व	८ कर्मप्रवाद पूर्व
२ अग्रायणी पूर्व	९ प्रत्याख्यान पूर्व
३ वीर्यप्रवाद पूर्व	१०. विद्यानुप्रवाद पूर्व
४ अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व	११ कल्याणवाद पूर्व
५ ज्ञानप्रवाद पूर्व	१२. प्राणावाय पूर्व
६ सत्यप्रवाद पूर्व	१३. क्रियाविशाल पूर्व
७ आत्मप्रवाद पूर्व	१४ लोकविन्दुसार पूर्व

अतिविशाल चौदह पूर्वो की रचना आचारागादि द्वादशांगी से पूर्व की गई, अत इन्हे पूर्वो के नाम से अभिहित किया गया।[१]

चौदह पूर्वो की रचना के पश्चात् अंगशास्त्रो की रचना की गई।

---

[१] (क) जम्हा तित्थगरो तित्थपवत्तण काले गणधराण सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्व पुव्वगय सुत्तत्थ भासइ तम्हा पुव्वत्ति भणिया, ' '' [नन्दी – हारिभद्रीया वृत्ति पृ० १०७]

(ख) सूत्रितानि गणधरैरंगेभ्य पूर्वमेव यत्।
पूर्वाणीत्यभिधीयते, तेनैतानि चतुर्दश ॥१७१॥
[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ५]

(धुवेइ वा) इस त्रिपदी का सविस्तार उपदेश देकर उन्हे ससार के समस्त तत्त्वों के उत्पन्न, नष्ट एवं स्थिर रहने के स्वभाव तथा स्वरूप का सम्यक्रूपेण सम्पूर्ण ज्ञान करवाया ।

भगवान् महावीर ने फरमाया – "उत्पाद – व्यय – ध्रौव्यात्मक सार्वभौम सिद्धान्त संसार के समस्त जड़ – चेतन तत्त्वों पर परिघटित होता है । संसार के समस्त तत्त्व उत्पाद – व्यय – ध्रौव्यात्मक स्वभाव वाले है ।"[1]

त्रिपदी का साररूप में अर्थ बताते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया –

"उत्पाद – स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः ।" अर्थात् किसी द्रव्य द्वारा अपने मूल स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे रूपान्तर का ग्रहण कर लेना उस द्रव्य का 'उत्पाद' स्वभाव कहा जाता है ।

"व्यय — तथा पूर्वभावविगमो व्यय. ।" अर्थात् किसी द्रव्य द्वारा रूपान्तर करते समय पूर्वभाव – पूर्वावस्था – का परित्याग करना द्रव्य का 'व्यय' स्वभाव कहा गया है ।

"ध्रौव्य — ध्रुवे स्थैर्य कर्मणि ध्रुवतीति ध्रौव्यः ।" अर्थात् उत्पाद और व्यय स्वभाव की परिस्थितियों में भी पदार्थ का अपने मूल गुण, धर्म और स्वभाव मे बने रहना उस द्रव्य का 'ध्रौव्य' (ध्रुवत्व – ध्रुवस्वभाव) कहलाता है ।

उदाहरण के रूप मे स्वर्ण का एक पिण्ड है । उस स्वर्णपिण्ड को गला कर उससे कंकण का निर्माण किया गया तो कंकण का उत्पाद हुआ और स्वर्ण पिण्ड का व्यय हुआ । दोनों ही परिस्थितियों में स्वर्ण द्रव्य की विद्यमानता उस स्वर्ण का ध्रौव्य है ।

इसी प्रकार आत्मा, मनुष्य, देव या तिर्यच रूप में उत्पन्न होता है तो वह आत्मा का मनुष्य, देवादि रूप में उत्पन्न होने की अपेक्षा से उत्पाद और देव तिर्यचादि पूर्व शरीर के त्याग की अपेक्षा से व्यय है । दोनो अवस्थाओं मे आत्म-गुण की विद्यमानता के कारण ध्रौव्य समझना चाहिये । पहली दो अवस्थाओ में अर्थात् उत्पाद और व्यय मे वस्तु के पर्याय की प्रधानता है, जबकि अन्तिम ध्रौव्य अवस्था में द्रव्य के मूल रूप की प्रधानता है ।

स्वर्ण के कंकण को तोड़ कर मंगलसूत्र बनाने की दशा मे जिस प्रकार ककण के प्रति ममता रखनेवाली स्त्री के मन में विषाद, मगलसूत्र के प्रति ममता रखने वाली सुहागिन के मन में हर्ष और स्वर्ण के मूल्य को समझने वाली तटस्थ स्त्री के मन मे मूल द्रव्य स्वर्ण के यथावत् स्थिति में विद्यमान रहने के कारण तटस्थ भाव रहता है[2] । उसी प्रकार सांसारिक तत्वों के उत्पाद–व्यय - ध्रौव्या-

---

[1] उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त सत् । [तत्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २८]

[2] घटमौलिसुवर्णार्थी – नाशोत्पादस्थितिप्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम् ।।५६।। [आप्त मीमासा]

दीक्षा पर दोनों परम्पराओं का समन्वय

इन्द्रभूति गौतम की श्रमण-दीक्षा को लेकर श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्परा मे मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा प्रभु महावीर की केवल ज्ञानोपलब्धि के दूसरे ही दिन इन्द्रभूति की दीक्षा मानती है, जबकि दिगम्बर परम्परा ६६ दिन बाद।

भगवान् महावीर और गौतम गणधर को समान रूप से आदरणीय मान कर भी दोनो परम्पराए सामान्य मतभेद के कारण एक प्रकार से कुछ अलग, कुछ दूर सी दृष्टिगोचर होती है।

श्वेताम्बर - दिगम्बर परम्परा के इस मतव्यभेद के कारण धर्मशासन के सचालन मे एकरूपता नही रही। पर यह प्रसन्नता की बात है कि हमे दोनो परम्पराओ में समन्वय का एक आधार मिल रहा है।

दिगम्बर परम्परा के मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कृत 'गौतमचरित्र' मे भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण और धर्मसघ आदि विषयो मे श्वेताम्बर - दिगम्बर, दोनो परम्पराओ मे कोई खास मतभेद नही है। केवल गर्भापहरण, कुमारत्व, तीर्थस्थापन जैसे कुछ प्रसगो मे सामान्य परम्परा - भेद है, जो प्राय प्रसग को नही समझने अथवा अर्थभेद की दृष्टि से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। समन्वय दृष्टि से विचार करने पर कई विषयो के हल निकल आते है। उदाहरण के तौर पर 'कुमार' का अर्थ अविवाहित की तरह अनभिषिक्त भी मान लिया जाय तो समन्वय हो सकता है।

वैसे श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परानुसार वैशाख शुक्ला ११ को और दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रावण कृष्णा १ (प्रतिपदा) को तीर्थस्थापना और गौतमादि की दीक्षा मानी गई है, पर उसका समन्वय भी प्राप्त होता है।

प्राय सभी दिगम्बर ग्रन्थो मे प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति के ६६ दिन पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को इन्द्रभूति आदि की दीक्षा का होना माना गया है; जबकि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कृत 'गौतमचरित्र' मे एक नवीन समन्वयकारी तथ्य दृष्टिगोचर होता है।

गौतमचरित्र मे लिखा है —

> "ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृ भक नामक ग्राम के पास शालवृक्ष के नीचे शिला पर विराजमान भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० के दिन सायंकाल की वेला मे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन्द्र की आज्ञा से तत्काल कुबेर द्वारा समवसरण की रचना की गई। भगवान् महावीर सिहासन पर विराजमान हुए किन्तु याममात्र अर्थात् तीन घण्टे व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु की दिव्यध्वनि प्रकट नही हुई।"[1]

---

[1] याममात्रे व्यतिक्रान्ते, सिंहासनप्रसस्थिते।
अथ श्री वीरनाथस्य, नाभवद् ध्वनिनिर्गम. ।।७२।।

भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारहों प्रमुख शिष्यो ने भगवान् की वाणी को जो द्वादशागी के रूप मे ग्रथित किया उसमें इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, आर्यसुधर्मा, मडित और मौर्यपुत्र इन सात गणधरो की अलग-अलग रूप से सात वाचनाएं थी। आठवी वाचना के रूप में अकम्पित एव अचल भ्राता की सम्मिलित रूप से एक वाचना थी, तथा नवमी वाचना के रूप मे मेतार्य और प्रभास की भी सम्मिलित रूप से एक वाचना थी। इस प्रकार क्योकि पृथक्-पृथक् रूप से ९ वाचनाए थी, अत पृथक्-पृथक् वाचनाभेद की दृष्टि से भगवान् महावीर के ९ गण विख्यात हुए एवं अलग-अलग व्यक्तियो की दृष्टि से ११ गणधर कहलाये।[1]

भगवान् महावीर के ९ गणो के स्थान पर समवायाग सूत्र मे बताई गई ११ गण सख्या, गणधरो के अधीन ११ साधु समुदायों की अपेक्षा से होनी सभव है।[2]

दीक्षा-समय पिता की विद्यमानता

श्वेताम्बर साहित्य में इन्द्रभूति गौतम के दीक्षाकाल मे उनके पिता के विद्यमान होने अथवा न होने का कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता। दिगम्बर परम्परा के भी अधिकांश आचार्य इस विषय मे मौन है। किन्तु दिगम्बर कवि 'रयधु' ने जो अपभ्रंश भाषा में महावीर-चरित्र लिखा है उसके अनुसार इन्द्रभूति के दीक्षाकाल मे उनके पिता शाडिल्य विद्यमान थे। जब देवपति शक्रेन्द्र के साथ इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान करने लगे तव उनके दोनो भाई अग्निभूति और वायुभूति भी अपने छात्रमडल सहित उनके साथ हो लिये। यह देख कर इन्द्रभूति के पिता शाडिल्य ब्राह्मण चिल्ला - चिल्ला कर कहने लगे - "हाय रे दुर्दैव ! मेरा तो सर्वस्व लुट गया। मेरे इन पुत्रो के जन्म-समय नैमित्तिक ने अपनी भविष्यवाणी मे कहा था कि तुम्हारे ये पुत्र जैनधर्म की महती प्रभावना कर परम-सौख्यदायी मार्ग को प्रशस्त करने वाले होगे। आज उस ज्योतिषी की बात सत्य होने जा रही है। हाय ! यह मायावी महावीर यहा कहा से आ गया है ?"[3]

---

[1] समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस गणहरा होत्था।
[कल्प सूत्र (स्थविरावली) सूत्र २०१]

[2] समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस गणा एक्कारस गणहरा होत्था - त जहा......
[समवायाग सूत्र, समवाय ११]

[3] ता सडिल्ले विप्पे सिट्ठउ, हा हा हा कहु काज विणट्ठउ।
एयहि जम्मणदिणि मइ लक्खिउ, णेमित्तिएण मज्भु णिउ अक्खहु ।।
ए तिण्णि वि जिणसमय - पहावण, पयड करेसहिं सुहगइ दावण।
त अहिहाणु एहु पुणु जायउ, कुवि मायावि इहु णिस आयउ ।।
[महावीर चरित, (अप्रकाशित) पत्र ५० ए]

मूल आगम – शास्त्रो मे इस प्रकार की किसी प्रक्रिया का कही किंचित्मात्र भी उल्लेख उपलब्ध नही होता। ऐसी दशा मे यह नही कहा जा सकता कि आचार्यो द्वारा आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थो मे उपरोक्त उल्लेख किस आधार पर किया गया है।

गणधर-पद की महत्ता

इन्द्रभूति गौतम ने चरमशरीरी गणधर पद की प्राप्ति की। इससे उनके द्वारा पूर्वजन्म मे की गई उत्कट साधना और प्रभूत पुण्योपार्जना का परिचय मिलता है। जैन परम्परा के आगम और आगमेतर साहित्य मे विश्ववद्य, त्रैलोक्यश्रेष्ठ तीर्थकर-पद के पश्चात् गणधर-पद को ही श्रेष्ठ माना गया है।[1]

जिस प्रकार कोई विशिष्ट साधक अत्युच्च कोटि की साधना के द्वारा त्रैलोक्यपूज्य तीर्थकर नामगोत्र का उपार्जन करता है उसी प्रकार गणधर-पद को प्राप्त करने के लिये भी साधक को उच्चकोटि की साधना करनी पडती है। तीर्थकर नामगोत्र के उपार्जन के लिये तो आगमो मे स्पष्ट उल्लेख है कि अमुक १६ या २० स्थानो मे से किसी एक अथवा एक से अधिक स्थानो की उत्कट साधना करने से साधक तीर्थकर नाम कर्म का उपार्जन करता है।[2] किन्तु गणधर नाम-कर्म की उपार्जना किस-किस प्रकार की उत्कृष्ट कोटि की साधना करने पर होती है, इसका कोई उल्लेख आगम साहित्य मे दृष्टिगोचर नही होता। आवश्यक मलयगिरि वृत्ति मे इस प्रकार का उल्लेख अवश्य उपलब्ध होता है कि भरत चक्रवर्ती का ऋषभसेन नामक पुत्र, जिसने कि पूर्व भव मे गणधर नामगोत्र का उपार्जन किया था, ससार से विरक्त होकर दीक्षित हो गया।[3]

भद्रेश्वर ने ईसा की ग्यारहवी शती मे रचित अपने प्राकृत भाषा के "कहावली" नामक बृहद् ग्रन्थ मे भी भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर ऋषभसेन के प्रव्रजित होने का उल्लेख करते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि उन्होने अपने पूर्वभव में गणधर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया था। इस सम्बन्ध मे कहावलीकार भद्रेश्वर द्वारा उल्लिखित पक्तिया इस प्रकार है –

"सामिणो य समोसरणे ससुरासुरमणुयसभाए धम्मं साहिन्तस्सोसभसेणो-नाम भरहपुत्तो पुव्वभवनिवद्धगणहरनामगो जायसवेगो पव्वइओ।"

श्रमण भगवान् महावीर के इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधरो ने भी अपने-अपने पूर्वजन्म मे गणधर-पद की अवाप्ति के योग्य किसी न किसी प्रकार की विशिष्ट साधना की थी इस प्रकार का सकेत कतिपय आचार्यो ने किया है। यथा –

---

[1] अत्यन्ताप्तगोचरश्रद्धास्थैर्यवतोऽनुष्ठानात्तीर्थकृत्त्व, मध्यम श्रद्धा समन्वितात् गणधरत्वम्। [योगविन्दुसार]

[2] देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६

[3] "तत्थ उसभसेण नाम भरहपुत्तो पुव्वभवबद्धगणहरनामगुत्तो जायसवेगो पव्वइओ.।" [आवश्यक मलय, प्र०भा०]

इन्द्र ने अवधिज्ञान से दिव्यध्वनि प्रस्फुटित न होने का कारण जाना और वह इन्द्रभूति गौतम को लेने के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर उनके पास पहुचा। शक्र युक्तिपूर्वक गौतम को भगवान् के पास ले आया।

वृद्ध-ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र द्वारा पूछे गये श्लोक का अर्थ समझ मे न आने, मानस्तम्भ को देखते ही अपने मान के तत्काल विगलित हो जाने तथा प्रभु के अलौकिक आभासम्पन्न, त्रैलोक्य विमोहक दिव्य तेजोमय स्वरूप को देखने के कारण इन्द्रभूति प्रतिबुद्ध हुए और प्रभुचरणो में दीक्षित हो गये।

६६ दिन पश्चात् ही इन्द्रभूति के दीक्षित होने की मान्यता को अभिव्यक्त करना यदि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र भट्टारक को अभीष्ट होता तो वे "याममात्रे व्यतिक्रान्ते" पद का प्रयोग नही करते। संभव है उनके समक्ष एकादशी के दिन इन्द्रभूति के दीक्षित होने की समाज मे मान्य कोई प्राचीन परम्परा रही हो।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में समन्वय प्राप्त होता है। समन्वयप्रेमी विद्वान् इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे।

गणधर-पद प्रदान की विधि

वर्तमान काल में आचार्यादि पद प्रदान के अवसर पर जिस प्रकार कुछ विधि-विधान और मंगल उत्सव होते है उसी तरह शास्त्र मे तीर्थंकर भगवान् द्वारा वासक्षेपादि किसी विशेष विधिपूर्वक गणधर नियुक्त करने का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। संभव है त्रिपदी-ज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर भगवान् विशिष्ट योग्यता वाले मुनियों को चतुर्विध सघ के समक्ष गणधर रूप से घोषित करते हों और उपस्थित चतुर्विध सघ एव देव-देवी समूह हर्षध्वनिपूर्वक मंगल-महोत्सव मनाकर अभिनन्दन तथा अनुमोदन अभिव्यक्त करते हो।

आवश्यक चूर्णि, महावीर चरित्र और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे इस प्रकार का उल्लेख है कि इन्द्रभूति आदि ग्यारहो गणधर प्रभु महावीर के सम्मुख कुछ झुक कर परिपाटी से खड़े हो गये। कुछ क्षण के लिए देवों ने वाद्यनिनाद बंद किये। उस समय जगद्गुरु प्रभु महावीर ने सर्वप्रथम इन्द्रभूति गौतम को लक्ष्य कर यह कहते हुए कि "मै तुम्हें तीर्थ की अनुज्ञा देता हूं" – इन्द्रभूति के सिर पर स्वय के करकमलों से सौगन्धिक रत्नचूर्ण डाला। तदनन्तर प्रभु ने क्रमश. अन्य सब गणधरों के सिर पर भी उसी प्रकार चूर्ण डाला। तत्पश्चात् प्रभु महावीर ने अपने पचम गणधर आर्य सुधर्मा को चिरंजीवी समझ कर सब गणधरों के आगे खडा किया और श्रीमुख से फरमाया – "मै तुम्हें धुरी के स्थान पर रख कर गण की अनुज्ञा देता हूं।"[1]

---

[1] (क) आवश्यक चूर्णि पृष्ठ ३७०

(ख) त्रिषष्टि श० पु० च०, पर्व १० सर्ग ५, श्लोक १७६–८०

(ग) महावीर चरित्र (गुणचन्द्रगणि) पत्र २५८ (१)

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अर्थ रूप मे कही गई वाणी को इन्द्रभूति आदि ने सूत्ररूप मे ग्रथित कर द्वादशागी की रचना की। जैसा कि कहा है –

अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण।

अब यहा सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भगवान् महावीर के गणधर ११ है तो उनके गण भी ११ ही होने चाहिये। गण ११ न होकर ६ ही क्यो ?

वस्तुस्थिति यह है कि ग्यारह गणधरो की शास्त्र-वाचना ६ प्रकार की रही। इन्द्रभूति आदि प्रथम ७ गणधरो की – प्रत्येक की पृथक् वाचना होने के कारण प्रत्येक के साधु-समुदाय की पृथक् गण के रूप मे गणना की गई। पर आठवे और नौवे गणधर – अकपित एव अचलभ्राता की समान वाचना थी। उसी प्रकार मेतार्य और प्रभास इन दोनो – क्रमश दसवे और ग्यारहवे गणधरो की भी वाचना एक थी। अत वाचना के साम्य से अतिम चार गणधरो मे से दो-दो गणधरो की एक-एक वाचना होने के कारण ग्यारह गणधरो के ६ गण कहलाये।

समवायाग सूत्र मे भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर और गण भी ग्यारह बताये गये है। सभव है वहा व्यवस्था की दृष्टि से ११ गणधरो के शिष्यमडल अलग-अलग होने के कारण ग्यारह गण के रूप मे माना गया है।

इन्द्रभूति और सुधर्मा को विशिष्ट पद

भगवान् महावीर के ग्यारह प्रमुख शिष्यो द्वारा चतुर्दश पूर्वो की रचना के पश्चात् प्रभु ने उन्हे गणधर घोषित किया।

आवश्यक चूर्णि और महावीर चरित्र आदि के अनुसार वैशाख शुक्ला एकादशी को भगवान् महावीर ने अपनी प्रथम देशना मे ही अपने ११ प्रमुख शिष्यो को, जिसका जितना शिष्य समुदाय था उसको उतना गणरूप से प्रदान किया और वे गणधर कहलाये। चूर्णिकार आदि ने लिखा है कि आर्य सुधर्मा अन्य गणधरो की अपेक्षा दीर्घजीवी है और उनसे आगे धर्म-तीर्थ चलेगा, ऐसा जान कर प्रभु ने उनके लिये गण की अनुज्ञा दी और इन्द्रभूति को द्रव्य गुण, पर्यायो से तीर्थ की अनुज्ञा दी। अर्थात् इन्द्रभूति को तीर्थनायक और सुधर्मा को गणनायक के सम्मानित पद पर स्वय प्रभु ने अपने हाथ से अभिषिक्त किया।

यहा पर यह विचार होता है कि जब शासनपति — तीर्थपति भगवान् स्वय विराजमान हो तब इन्द्रभूति और सुधर्मा को क्रमश तीर्थ एव गण की अनुज्ञा देना क्या अर्थ रखता है ? उत्तर स्पष्ट है कि जैसे किसी सम्राट की शासन व्यवस्था मे उसको सर्व सत्तासम्पन्न शासक मान कर भी शिक्षा, न्याय आदि की व्यवस्था अन्यान्य अधिकारियो द्वारा सम्पन्न करवाई जाती है और वे भी शासक कहलाते है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् को पूर्ण सत्तासम्पन्न शासनपति मान

"........मध्यमा नाम नगरी, तत्र सोमिलार्यो नाम ब्राह्मण, स-यज्ञं यष्टुमुद्यतः, तत्र चैकादशोपाध्याया खल्वागता, ते च चरमशरीरा भवान्तरोपार्जितगणधरलब्धयश्च, तान् विज्ञाय..........मध्यमनगर्या महसेनवनोद्यानं सप्राप्त । [आवश्यक मलय । प्रवचनसारोद्धार]

विक्रम स० ११३९ मे विरचित "महावीरचरियं" नामक ग्रन्थ मे गुणचन्द्रगणि ने भगवान् महावीर के ११ गणधरो द्वारा अपने-अपने पूर्वजन्म मे गणधर-पद की अवाप्ति के योग्य की गई साधना का निम्नलिखित शब्दो में वर्णन किया है –

"ते हि या पुव्वभवब्भत्थसमत्थपरमत्थसत्थवित्थारवियक्खणत्तणेण तक्कालुप्पन्नपन्नाइसयमुव्वहतेहि तयणुसारेण विरइयाइं दुवालसअंगाइ ।"
[महावीर चरियं पृष्ठ २५७]

जैन सिद्धान्त मे कर्मवाद का प्रमुख एव महत्वपूर्ण स्थान है और यह एक निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक प्राणी जिस जिस प्रकार के कर्म करता है उन्ही कर्मो के अनुसार वह संसार मे सामान्य अथवा विशिष्ट स्थान, स्थिति एव सत्ता प्राप्त करता है । तदनुसार तीर्थंकर पद की प्राप्ति के लिये साधक को जिस प्रकार की कठोर साधना के दौर से गुजरना पडता है उसी प्रकार निश्चित रूप से तीर्थंकर पद के पश्चात् सर्वोच्च गरिमापूर्ण पद की प्राप्ति के लिये भी साधक को उससे कुछ ही कम कठोर साधना की कसौटी को पार करना होगा । भद्रेश्वरसूरि ने गणधर ऋषभसेन के लिये जो "पुव्वभवनिबद्ध गणहरनामगो" का विशेषण प्रयुक्त किया है, इससे पूर्वकाल में प्रख्यात पर पश्चाद्वर्त्ती काल मे विलुप्त एक परम्परा का आभास होता है कि तीर्थंकरो के जो गणधर होते है वे अपने पूर्वभव मे एक विशिष्ट प्रकार की उच्चतम साधना से गणधर नामकर्म का उपार्जन कर लेते है ।

गण और गणधर

एक ही प्रकार की वाचना वाले साधु-समुदाय को गण और उस साधु-समुदाय की व्यवस्था का सचालन करने वाले मुनि को गणधर कहा गया है ।

श्रमण भगवान् महावीर के ११ प्रमुख शिष्यों ने प्रभु के मुख से 'त्रिपदी' सुन कर तीन निषद्याओ मे चौदह पूर्वो की रचना की और वे गणधर कहलाये । आवश्यक चूर्णि मे वतलाया गया है कि गौतम स्वामी ने किस तरह 'त्रिपदी' का ज्ञान ग्रहण किया । वहा कहा गया है कि तीन निषद्याओ से गणधरो ने १४ पूर्वो की रचना की । 'निषद्या' का अर्थ वंदन करके पूछना लिखा है । 'उत्पाद' आदि प्रत्येक पद पर गणधर पृच्छा करते है और प्रभु से उत्तर सुन कर सूत्रो की रचना करते है ।[1]

---

[1] त कह गहित गोयम सामिणा ? तिहि निसेज्जाहि चोद्दस पुव्वाणि उप्पादिताणि । 'निसेज्जा" णाम पणिवतिऊण जा पुच्छा......ते य ताणि पुच्छिऊण एगतम ते सुत्त करेति, जारिस जहा भणित । [आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पत्र ३७०]

१. तीर्थंकर भगवान् को विश्राम देना एव शिष्यो की योग्यता का वढाना ।

२ श्रोताग्रो को विश्वास दिलाना कि गणधर भी तीर्थंकर जैसा ही उपदेश देते है एव गुरु-शिष्य के वचनों मे कोई विरोध नही है ।

३ यह वताना कि भगवान् ने ग्रर्थरूप वाणी फरमाई, उस वाणी को गणधरो ने सूत्र रूप मे ग्रथित किया एव गणधरो द्वारा सूत्र रूप मे ग्रथित भगवान् की उसी वाणी को वाचना मे सुनाया जाता है ।[1]

ग्राचार्य हेमचन्द्र के ग्रनुसार जव भगवान् महावीर गणधरो को सद्य. स्थापित चतुर्विध तीर्थ के सचालन की ग्रनुमति प्रदान कर देवच्छद मे पधार गये तव प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् के सिहासन के पास पादपीठ पर ग्रासीन हो द्वितीय प्रहर मे परिषद को उपदेश दिया ।[2]

"सेन प्रश्न" के ग्रनुसार तीर्थस्थापना-दिवस के ग्रतिरिक्त भी सर्वदा द्वितीय पौरुषी मे प्रथम या ग्रन्य गणधर का व्याख्यान करना माना गया है ।[3]

ग्रागमकालीन परम्परा मे कही ऐसा स्पष्ट निर्देश नही है कि तीर्थंकर भगवान् प्रथम प्रहर मे ही धर्मोपदेश करते है । प्रथम प्रहर का ही देशना का नियम माना जाय तो जहा प्रथम प्रहर के वाद ही भगवान् का पदार्पण हुग्रा होगा वहा उस दिन देशना नही हुई होगी । पर ऐसा ग्रागमकालीन स्पष्ट उल्लेख नही मिलता । सभव है उत्तरकालीन परम्परा मे ऐसा माना गया हो । गणधर द्वारा द्वितीय प्रहर के धर्मोपदेश मे जो 'खेद-विनोद' का हेतु प्रस्तुत किया गया है वहा ग्रनन्तशक्ति सम्पन्न भगवान् के लिये खेद की सभावना विचारणीय है । सभव है भगवान् से सुने हुए भावो को गणधर सूत्र रूप से फिर वहीं पर सुनाते हो । जैसा कि चूर्णिकार ने कहा है –

"भगवता ग्रत्थो भणितो, गणहरेहि गथो कग्रो, वाइग्रो य इति ।"

[ग्रावश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३३४]

समवायाग सूत्र मे स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर ग्रपनी निर्वाण-रात्रि मे कल्याणफल विपाक एव पापफल विपाक के क्रमश. ५५-५५ ग्रध्ययनो का उपदेश देकर सिद्ध हुए । इस तरह ग्राचार्यो ने १६ प्रहर तक निरन्तर भगवान् महावीर द्वारा देशना देना मान्य किया है ।[4] इससे प्रमाणित होता है कि तीर्थंकर प्रथम प्रहर मे ही देशना देते है, ऐसा नियम नही है ।

---

[1] भगवता ग्रत्थो भणितो, गणहरेहिं गथो कग्रो वाइग्रो य इति । [ग्राव० चू, पृ० ३३४]

[2] त्रिषष्टि०, पर्व १०, सर्ग ५, श्लो० १८४

[3] ज्येष्ठो ग्रन्यो वा [१७५ प्रश्न, सेन प्र०, ३]

[4] (क) समणे भगव महावीरे ग्रतिम राइयसि पणपन्न ग्रज्भयणाइ कल्लाणफल विवागाइ पणपन्न ग्रज्भयणाइ पावफल विवागाइ वागरित्ता सिद्धे, बुद्धे जावप्पहीणे । [समवायाग-समवाय ५५]

(ख) जैन धर्म का मौलिक इतिहास–प्रथम भाग, पृ० ४७०

कर उनकी आज्ञा मे आगम-वाचना और साधु-समुदाय के आचार-पालन आदि की व्यवस्था इन दो गणधरो के आधीन रखी गई हो। इस दृष्टि से इन्द्रभूति और सुधर्मा का काम भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रुत की रक्षा के लिये शिक्षा एव साधु-समुदाय की व्यवस्था सम्हालना हो सकता है।

क्योकि आगमप्रणेताओ मे इन्द्रभूति प्रमुख रहे है, इसीलिये उन्हे भगवान् द्वारा श्रुत-तीर्थ का दायित्व सम्हलाना उचित लगता है। आगमों मे भी जहा किसी विषय का भगवान् द्वारा निरूपण उपलब्ध होता है, वहा प्राय' गौतम को सम्बोधित कर के ही भगवान् ने अधिकाश निरूपण किये है। "समयं गोयम ! मा पमायए" की तरह "समय सुहम्म मा पमायए" का उल्लेख कही भी उपलब्ध नही होता।

सुधर्मा को गणाधिनायक चुनने का अभिप्राय सुधर्मा द्वारा दश गणधरो के आश्रित साधु-समुदाय को छोड कर अवशिष्ट साधु समूह को सयम-मार्ग में स्थिर करने का दायित्व सम्हलाना था। सुधर्मा से पूर्व निर्वाण प्राप्त करने वाले सभी गणधरो द्वारा अपने निर्वाणकाल से पूर्व अपने-अपने गण सुधर्मा को सम्हलाना इस तथ्य की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये अत्यन्त प्रबल और पुष्ट प्रमाण है।

जैन वाङ्मय मे इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख मिलते है कि सुधर्मा की अपेक्षा शेष गणधर अल्पायु थे और वे अपने पीछे अपने-अपने गण की व्यवस्था सम्हालने का काम सुधर्मा को सौप कर सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त हुए।

इस तरह चूर्णि आदि मे कही गई इन्द्रभूति के लिये तीर्थ की अनुज्ञा और सुधर्मा के लिये गण की अनुज्ञा वस्तुत. सगत हो सकती है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि सघ मे इन्द्रभूति और सुधर्मा को क्रमश तीर्थनायक और गणाधिनायक नियुक्त कर भगवान् महावीर सघ-सचालन से पूर्णरूपेण विरत हो गये।

देशना के पश्चात् इन्द्रभूति का उपदेश

आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थो के अनुसार पौरुषी के पश्चात् तीर्थकर भगवान् के उठ जाने पर प्रभु के सिहासन के नीचे पादपीठ पर आसीन होकर गौतमस्वामी अथवा अन्य गणधर धर्मोपदेश करते थे।[1]

तीर्थकर भगवान् ही द्वितीय प्रहर मे भी धर्मदेशना क्यो नही करते इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर मे प्राचीन आचार्यो ने भगवान् की देशना के पश्चात् मुख्य गणधर अथवा अन्य गणधरो द्वारा द्वितीय प्रहर मे उपदेश दिये जाने के निम्न-लिखित तीन प्रयोजन बताये है –

---

[1] (क) तित्थगरो पढमपोरुसीए धम्म ताव कहेति जाव पढमपोरुसी उग्घाडवेला।
[आव चूर्णि, भाग १, पृ० ३३२]

(ख) उवरि पोरुसीए उट्ठिते तित्थकरे गोयमसामी अन्नो वा गणहरो वितीय पोरुसीए धम्म कहेति। [वही, पृ० ३३३]

वे सर्वाक्षर-सन्निपात जैसी विविध लब्धियो के धारक और महान् तेजस्वी थे। वे भगवान् महावीर से न अति दूर न अति समीप ऊर्ध्वजानु और अधोसिर हो बैठते थे, सब ओर से अवरुद्ध अपने ध्यान को केवल प्रभु के चरणारविन्द मे केन्द्रित किये हुए सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।[1] वे अतिशय ज्ञानी होकर भी परम गुरुभक्त और आदर्श शिष्य थे।

उपासकदशासूत्र के अनुसार वे छट्ठ-छट्ठ तप के निरन्तर पारणा करने वाले थे।[2] आपका विनय इतना उच्चकोटि का था कि जब भी उन्हे कोई प्रश्न पूछना होता तो वे तत्परता से उठकर भगवान् के पास जाते और श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना-नमस्कार करते और तदनन्तर मर्यादित क्षेत्र मे सम्मुख बैठ कर सेवा करते हुए, विनय से प्राजलियुक्त भगवान् से पूछते।[3] सक्षेप मे कहा जाय तो वे "जाइसपन्ने, कुलसम्पन्ने, बलसम्पन्ने, विणयसपन्ने, णाणसम्पन्ने, दसणसपन्ने, चरित्तसपन्ने, ओयसी-तेयसी जससी" आदि ससार के समस्त सर्वोच्च कोटि के गुणो के अक्षय भडार थे। कितना उच्चकोटि का व्यक्तित्व था इन्द्रभूति गौतम का!

इन्द्रभूति द्वारा देवशर्मा को प्रतिबोध

जब भगवान् महावीर ने अपना निर्वाण-काल निकट देखा तो उन्होने अपने प्रति निस्सीम स्नेह व प्रगाढ राग रखने वाले गणधर इन्द्रभूति गौतम को अपने निर्वाण समय मे अपने से दूर रखना आवश्यक समझ कर देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने हेतु एक गाव मे भेज दिया। गुरु-आज्ञा पालन मे अहर्निश तत्पर रहने वाले परम आज्ञाकारी इन्द्रभूति गौतम ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर तत्क्षण देवशर्मा के ग्राम की ओर प्रस्थान कर दिया।

भद्रेश्वरसूरि ने कहावली मे इस प्रकार का उल्लेख किया है कि भगवान् ने इन्द्रभूति गौतम को चम्पा नगरी के मार्गस्थ ग्राम मे देवशर्मा को

---

[1] तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इदभूई णाम अणगारे गोयम गुत्तेण सत्तुस्सेहे समचउरससठाणसठिए, वज्जरिसह-नारायसघयणे, कणय-पुलयनिसहपम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले, घोरे, घोरगुणे, घोर-तवस्सी, घोरबभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, सखित्तविउलतेउलेस्से, चोद्दसपुव्वी, चउनाणोवगए, सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामते उड्ढजाणू अहोसिरे ज्झाणकोट्ठोवगए सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।
[भगवती सूत्र, शतक १]

[2] छट्ठ छट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरई।

[3] तए ण से भगव गोयमे जायसड्ढे जायससए' ' ' उट्ठाए उट्ठेइ, उठ्ठित्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ करेइत्ता वदइ नमसइ नमसइत्ता नच्चासन्न नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमसमाणे अभिमुहे विणएण पजलिउडे पज्जुवासमाणे एव वयासी।
[भगवती सूत्र, शतक १, उ० १]

भगवान् की देशना विषयक दिगम्बर-मान्यता

तीर्थंकर भगवान् की देशना-रूप दिव्य ध्वनि कब और कितने समय तक प्रकट होती है, इस सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि तीर्थंकर भगवान् की दिव्य ध्वनि त्रिकाल मे नवमुहूर्त तक और इसके अतिरिक्त गणधर, देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपण हेतु शेष समय में भी प्रकट होती है।[1]

इन्द्रभूति का उच्चतम व्यक्तित्व

व्यक्ति का महत्व धन, वैभव अथवा किसी उच्च पद से नही किन्तु उसके उच्च व्यक्तित्व से होता है। आकृति से भी व्यक्ति की महत्ता समझी जाती है पर कई बार इसमे भ्रान्ति भी हो जाती है। शास्त्र मे कहा है कि कुछ व्यक्ति रूप-सपन्न होते है पर शीलसंपन्न नही। कुछ व्यक्ति शीलवान्-गुणवान् होकर भी रूपवान् नही होते। परन्तु महामुनि इन्द्रभूति भव्य आकृति के साथ शात-सौम्य प्रकृति के भी धनी थे। लोकोक्ति में कहा है :—

"सुलभा आकृतिर्रम्या, दुर्लभ हि गुणार्जनम्।"

इन्द्रभूति गौतम इसके अपवाद थे। गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति का शरीर ऊचाई मे सात हाथ का, आकार समचतुरस्र-लक्षण युक्त, बल वज्रऋषभनाराच—वज्र सा मजबूत, वर्ण तपाये हुए कुन्दन अथवा पद्मकमल सा गौर। इन्द्रभूति की भव्य और सुन्दर आकृति को देखकर मनुष्य तो क्या देव भी मोहित हो जाते थे। विशाल भाल और कमलपुष्प सम खिले नयनो की रमणीकता देख दर्शकजन के नयन अपलक निहारते ही रह जाते थे।

शरीर की तरह उनका अन्तर्मन भी अनुपम शान्ति का आकर था। प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ इन्द्रभूति के विमल आचार और तपस्तेज ने उनके जीवन को शतगुना चमका रखा था।

इन्द्रभूति के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए भगवती और उपासकदशा सूत्र मे कहा है—श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति अणगार उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप और महातप के धारक थे। घोर गुणी और घोर ब्रह्मचारी थे। शरीर से ममता-रहित, तप की साधना से प्राप्त तेजोलेश्या को गुप्त रखने वाले, ज्ञान की अपेक्षा से चतुर्दश पूर्वधारी और चार ज्ञान के धारक थे।

---

[1] पठादीए अक्खलिओ, सझत्तिदय णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो, दिव्वझुणी जाव जोयणय ॥९०३॥

सेसेसु समएसु, गणहरदेविदचक्कवट्टीण।
पण्हाणुरूवमत्थ, दिव्वझुणी अ सत्तभगीहि ॥९०४॥

[तिलोयपण्णत्ती, महाधिकार ४]

प्रश्न रखूगा ? प्रभो ! अब मै किसको भदन्त एव भगवन् कह कर पुकारू गा और मुझे अब प्रगाढ स्नेह एव अनन्त आत्मीयता से ओत प्रोत अमृत से भी अत्यत मधुर वाणी मे "गौतम !" इस सम्बोधन से कौन सम्बोधित करेगा ?"[1]

"हा, हा ! करुणैकसिन्धो ! आपने यह क्या किया जो अपने सदा-सर्वदा के दास को अवसान की इस अन्तिम वेला मे अपने से दूर भेज दिया ? प्रभो ! हठी बालक की तरह क्या मै बलात् आपकी गोद मे बैठने वाला था ? क्या मै आपके केवलज्ञान मे से कोई हिस्सा बटा लेता ? क्या मुझे साथ ले जाने से मोक्ष मे स्थान की अवकुण्ठा आने वाली थी और क्या मै आपके लिये कोई भाररूप हो रहा था जो आप दास को इस प्रकार असहाय छोड कर मोक्ष मे पधार गये ?"

इस प्रकार पूर्ण मनोयोग के साथ-साथ "वीर ! वीर !" का निरन्तर उच्चारण एव ध्यान करते-करते इन्द्रभूति स्वय वीरमय हो गये, वीर की अनन्त वीतरागता का उद्गम उनके अन्तर मे हुआ और उनकी उत्कट विचारधारा ने अपना प्रवाह पलटा। उन्हे अनुभव हुआ –

"अरे ! वीर तो परम वीतराग थे। वीतराग प्रभु मे किसी के प्रति अनुराग नही होता, यह तथ्य मेरे परम दयालु प्रभु ने मुझे कितनी बार समझाया है। यह तो मेरा ही अपराध था कि मैंने इस तथ्य की ओर किंचित्मात्र भी अपना उपयोग नहा लगाया और एकपक्षीय अनुराग-सागर मे पूर्णत निमग्न रहा। धिक्कार है मेरे इस एकपक्षीय राग को, एकपक्षीय स्नेह को। सचमुच इस प्रकार का एकागीण स्नेह-राग ही शिवसुख की प्राप्ति मे शैलाधिराज के समान सबल अवरोध है। अब मै इस अनुराग को, इस स्नेह को सदा-सर्वदा के लिये तिलाजलि देता हूँ। वस्तुत मै एकाकी हूँ। न तो मै स्वय किसी का हूँ और न कोई मेरा।"

इन्द्रभूति गौतम ने स्नेह की वज्रश्रृ खलाओ को एक ही झटके मे तोड डाला। वे उत्कट चिन्तन से तत्क्षण उच्चतर ध्यान की परम उच्च सीढी पर पहुँचे और उन्हे निखिल विश्व की त्रिकालवर्ती सकल चराचर वस्तुओ के समस्त भावो को देखने-जानने वाले केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई।

---

[1] प्रसरति मिथ्यात्वतमो, गर्जन्ति कुतीर्थिकौशिका अद्य।
दुर्भिक्षडमरवैरादि राक्षसा प्रसारमेष्यन्ति ॥
ग्रहग्रस्तनिशाकरमिव गगन, दीपहीनमिव भवनम्।
भरतमिद गतशोभ, त्वया विनाद्य प्रभो ! जज्ञे ॥
कस्याह्रिपीठे प्रणत पदार्थान्, पुन पुन प्रश्नपदी करोमि।
क वा भदन्तेति वदामि को वा, मा गौतमेत्याप्तगिराथ वक्ता ॥
[कल्पसुबोधिका, ८ क्षण]

प्रतिबोध देने और उसे प्रतिबोध देने के पश्चात् चम्पा नगरी मे जाकर सुभद्रा श्राविका को धर्म-सदेश सुनाने का आदेश देकर भेजा था । भगवान् की आज्ञानुसार देवशर्मा को प्रतिबोध देकर जब इन्द्रभूति गौतम चम्पा नगरी मे सुभद्रा श्राविका के घर पहुचे तो वहा सुभद्रा श्राविका ने उन्हे भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त कर लेने का समाचार सुनाया ।[1]

परम्परागत मान्यता यह है कि अर्द्धरात्रि के पश्चात् निर्वाणोत्सव मनाने हेतु देवो के आकाशमार्ग से गमनागमन को देखकर ज्ञानोपयोग से इन्द्रभूति गौतम को विदित हो गया कि भगवान् महावीर ने निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया है ।[2]

"मेरे आराध्य देव श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया है", इस बात का विचार आते ही इन्द्रभूति गौतम क्षण भर के लिये स्तब्ध रह गये । इन्द्र-भूति गौतम का श्रमण भगवान् महावीर के प्रति प्रगाढ अनुराग होने के कारण वे शोकसागर में निमग्न हो गये और उनके शोकसतप्त अन्तरग से हठात् इस प्रकार के करुणोद्गार प्रकट होने लगे :-

भगवान् महावीर के निर्वाण पर इन्द्रभूति का चिन्तन

"शोक ! महाशोक ! आज मिथ्यात्व अपना निबिडान्धकार फैलाने मे समर्थ हो गया । रात्रि के अन्धकार मे जिस प्रकार उलूक बोलते है 'उसी तरह अब मिथ्या-मत के प्रवर्तक गर्जना करने लगेगे । अब दुर्भिक्षादि का यत्र-तत्र प्रसार होगा । जिस प्रकार राहु द्वारा सूर्य के ग्रस्त कर लिये जाने पर गगन मे और दीपक के बुझ जाने पर भवन में अन्धकार व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार हे त्रैलोक्य-प्रभाकर प्रभो ! आपके निर्वाणपद को प्राप्त हो जाने के कारण आज समस्त भरतक्षेत्र तिमिराच्छन्न और श्रीहीन हो गया है । नाथ ! अब मै किनके चरण-कमलो पर अपना मस्तक रखकर अपने अन्तर मे उद्भूत हुई शंकाओं के समाधान हेतु

---

[1] दुहविवगमोहहारी, सामी भणइ गोयम ।
पुहविवाग मोहं त, पेच्छन्तो तह चेव से ।।
वच्च गोयम चपाए, बोहतो मग्गसट्ठियं ।
देव समट्टिय ततो, चप पत्तो पुरि तुम ।।
पत्ता उ छणएण मे, सभासिज्जेसु मायरं ।
सुद्धधम्मं जिणणाए, सुभद्द नाम साविय ।।
सोउ च गोयमो धीम, वोत्तु (वोत्तु) भते तहत्ति य ।
तत्तो सिग्घ विणायप्पा, निव्वियप्पो गओ तहि ।।
गोयमेण विमगत्थ देवसम्म माहण सबोहित्ता चपाए गतु महावीर-भणिय साहिऊण सविसेस भासिया सुभद्दा तीए वि विण्णाय परमत्थाए भणिय सिद्धो सामी……
[कहावली (अप्रकाशित)]

[2] देखिये, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७०

पूर्वभव मे इन्द्रभूति गौतम

कर्म के अनुसार अनन्तकाल से प्रत्येक प्राणी ससार मे जन्म–मरण ग्रहण करता आ रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रभूति गौतम का जीव भी पूर्वभव मे विविध गति, जाति और शरीरों को धारण करता आया था, इसमे कोई सन्देह नही। पर ऐसी उत्तम करणी करने वाला यह जीव पहले कौन था और भगवान् महावीर से उनका पहले कहा-कहा और कैसा–कैसा सम्बन्ध रहा, इस सम्बन्ध मे जिज्ञासा होनी सहज है।

श्वेताम्बर साहित्य मे आगमकार इतना तो स्पष्टत उल्लेख करते है कि भगवान् महावीर और गौतम का पहले अनेको भवो का प्रेमसम्बन्ध रहा था। भगवती सूत्र मे इस प्रकार का उल्लेख आता है कि एक वार इन्द्रभूति गौतम के द्वारा इस बात पर खेद प्रकट करने पर कि उनके समक्ष दीक्षित अनेक मुनियो ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया पर उनको स्वय को केवलज्ञान की प्राप्ति किस कारण से नही हुई, श्रमण भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति को आश्वस्त करते हुए कहा –

> "गौतम! तेरा और मेरा अनेक भवो मे प्रेमसम्बन्ध रहा है। तुम चिरकाल से मेरे साथ स्नेहसूत्र मे बँधे हो। तुम चिरकाल से मेरे द्वारा प्रशसित, परिचित, सेवित एव मेरे अनुवर्ती रहे हो। कभी देव भव मे, तो कभी मनुष्य भव मे मेरे साथ रहे हो। यही नही, अव यहा से मरणानन्तर हम दोनो परस्पर तुल्य रूप वाले, भेदरहित, कभी न विछुडने वाले एव सदा एक साथ रहने वाले सगी–साथी वन जायेगे।[1] अभी तक तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ धर्मानुराग रहने के कारण तुम्हे केवलज्ञान की उपलब्धि नही हो पाई है किन्तु चिन्ता जैसी कोई बात नही है।"

भगवती सूत्र के उपरिवर्णित उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के साथ इन्द्रभूति गौतम का अनेक भवां का सम्बन्ध होना प्रमाणित होता है। किन्तु भगवान् महावीर के त्रिपृष्ठ वासुदेव के पूर्वभव मे इन्द्रभूति गौतम के जीव का उनके सारथी के रूप मे उनके साथ होने के अतिरिक्त अन्य किसी भव का श्वेताम्वर साहित्य मे कही कोई परिचय उपलब्ध नही होता।

दिगम्वर परम्परा के कवि 'रयधू' कृत अपभ्र श भापा के "महावीर चरित्र" और भट्टारक धर्मचन्द्रकृत "गौतम चरित्र" मे इन्द्रभूति, अग्निभूति

---

[1] रायगिहे जाव परिसा पडिगया गोयमादि। समणे भगव महावीरे गोयम आमतेत्ता एव वयासी– "चिरससिट्ठोसि मे गोयमा! चिरसथुतोसि मे गोयमा! चिरपरिचितोसि मे गोयमा! चिरजुसिओसि मे गोयमा! चिराणुगओसि मे गोयमा! चिराणुवत्तीसि मे गोयमा! अणतर देवलोए अणतर माणुस्सए भवे कि पर मरणकायस्स भेदा, इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

[भगवती सूत्र, शतक १४, उद्देशा ७]

उसी दिन से लोक मे ये दो उक्तिया प्रचलित हो गई –

मुक्खमग्गपवन्नाण, सिणेहो वज्जसिखला ।
वीरे जीवन्तए जाग्रो, गोयमो जं न केवली ।।

अर्थात् मोक्ष पथ के पथिकों के लिये स्नेह वज्रश्रृ खलाओं के समान है । इसका ज्वलंत उदाहरण है इन्द्रभूति गौतम का भगवान् महावीर के प्रति सीमातीत स्नेह, जिसके कारण वीरप्रभु की विद्यमानता मे गौतम केवली न हो सके ।

अहकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये ।
विषाद: केवलायाभूत् चित्र श्री-गौतम प्रभो. ।।

अर्थात् ससार के प्राणियो के लिये अहंकार, राग और विषाद नितान्त अनर्थकारी है; पर बडे आश्चर्य की बात है कि गौतम स्वामी के लिये तो ये तीनों महान् अनर्थकारी सिद्ध होने के स्थान पर महान् लाभकारी सिद्ध हो गये क्योकि अहकार उन्हें शास्त्रार्थ हेतु भगवान् महावीर के पास लाया और उनके लिये बोधिप्राप्ति मे परम सहायक कारण हुआ । राग के कारण उनके हृदय मे गुरुभक्ति उत्तरोत्तर बढती ही गई और वे गुरुभक्तो के प्रतीक माने जाने लगे । विषाद वस्तुत: सबके लिये दु.खदायी है पर गौतम इन्द्रभूति के लिये तो भगवान् महावीर के निर्वाण से उनके अन्तर मे उत्पन्न हुआ विषाद भी उन्हे केवलज्ञान की उपलब्धि कराने मे कारण बना ।

इन्द्रभूति की निर्वाणसाधना

। पचास वर्ष की वय मे इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की । दीक्षा के प्रथम दिन में ही वे चतुर्दश पूर्वो के ज्ञाता बन गये । वे निरन्तर ३० वर्ष तक विनय भाव से भगवान् की सेवा करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर जिनशासन की प्रभावना करते रहे । उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के ३० वर्ष पश्चात् जब पावापुरी में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ-तब आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए उन्होने घाति-कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया । उन्होने बारह वर्ष तक केवलीभाव से पृथ्वीमण्डल पर विचरण करते हुए जिनमार्ग की प्रभावना की और अन्त में वीर निर्वाण स० १२ के अंत में उन्होने अपना अवसान काल निकट जान कर राजगृह के गुणशील चैत्य में आमरण अनशन स्वीकार किया। एक मास के अनशन की आराधना के पश्चात् समाधिपूर्वक काल कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये । आपकी पूर्ण आयु ९२ वर्ष की थी। आपका मंगल नामस्मरण आज भी जन-जन के हृदय को आह्लादित व आनंदित करता है । प्रतिदिन लाखो जन आज भी प्रभात की मंगल वेला मे भक्तिपूर्वक भावविभोर हो बोलते है –

अंगूठे अमृत बसे, लब्धि तरणा भण्डार ।
श्री गुरु गौतम समरिये, वांछित फल दातार ।।

मे पहुंच कर रात्रि के समय अपनी वासनापूर्ति के लिये ध्यानस्थ मुनि को ध्यान से विचलित करने के अनेक उपाय किये। मुनि को ध्यान से विचलित करने के सभी उपायो के निष्फल हो जाने पर उन तीनो स्त्रियों ने वडी निर्दयतापूर्वक मुनि पर दण्डो और पत्थरो के प्रहार किये।

मुनि को दी गई घोर पीडा के फलस्वरूप वे तीनो स्त्रिया अति भीषण कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो अन्ततोगत्वा पचम नरक मे उत्पन्न हुई। १७ सागर तक नरक के असह्य दारुण दु खो को भोग कर वे तीनो क्रमश. विल्ली, शूकरी, कुतिया और मुर्गी के भव कर म्लेच्छ कुल मे कन्याओ के रूप मे उत्पन्न हुई। सद्य जात अवस्था मे माता-पिता और शैशवावस्था मे अभिभावकों तक के मर जाने के कारण वे तीनो कन्याए दर-दर की ठोकरे खाती हुई वडा दु खमय जीवन विताने लगी। उन तीनो का स्वरूप वडा ही अमनोज्ञ था। उनके शरीर से निरन्तर ऐसी कुत्सित दुर्गन्ध निकलती रहती थी कि कोई उन्हे पास तक नही फटकने देता था। कुरूप होने के साथ-साथ उनमे से एक कानी, दूसरी लगडी और तीसरी कौवे की तरह नितान्त काली-कलूटी थी। इस प्रकार असहायावस्था मे भूखी-प्यासी इधर-उधर भटकती हुई वे तीनो कन्याए एक नगर के वाहर विराजमान अगभूषण नामक मुनि के पास पहुची और वदन-नमस्कार के पश्चात् उनका उपदेश श्रवण करने लगी।

उपदेश-श्रवण के पश्चात् अवन्ती के महाराज महीचन्द्र ने मुनि से प्रश्न किया – "भगवन् ! इन अत्यन्त घृणित शरीर वाली नितान्त कुरूप कन्याओ के प्रति मेरे मानस मे आत्मीय भाव से स्नेह किस कारण जागृत हो रहा है ?"

उत्तर मे अगभूपण मुनि ने कहा – "राजन् ! पूर्वभव मे यह कानी कन्या तुम्हारी विशालाक्षी नाम की रानी और ये दोनो उसकी दासिया थी। मुनि को भीषण यातना देने के फलस्वरूप ये तीनो दुर्गतियो मे भटकती हुई शूद्रकन्याओ के रूप मे उत्पन्न हुई है। पूर्वभव के सम्बन्ध के कारण तुम्हारे मन मे इनके प्रति स्नेह जागृत हो उठा है।"

पश्चात्ताप के आसू वहाती हुई कन्याओ की प्रार्थना पर मुनि ने उन्हे "लब्धिविधान" नामक व्रत करने का उपदेश दिया। मुनिराज के उपदेश और महाराज महीचन्द्र के सहयोग से उन तीनो ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और लब्धिविधान व्रत एव तप करती हुई वे तीनो कन्याएं धर्माचरण मे निरत रहती। अन्त मे वे तीनो कन्याए अपनी स्त्रीलिग की कर्मप्रकृतियो को विनष्ट कर समाधि-पूर्वक आयु पूर्ण कर पचम देवलोक मे महर्द्धिक देवो के रूप मे उत्पन्न हुई।

पचम स्वर्ग के अनुपम सुखो का १० सागर की सुदीर्घ अवधि तक उपभोग करने के अनन्तर विशालाक्षी का जीव भरत क्षेत्रान्तर्गत मगध देश के ब्राह्मण नगर के निवासी शाडिल्य नामक वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण की ज्येष्ठ भार्या स्थडिला के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। गर्भाधान की रात्रि मे स्थडिला ने एक महा-

एव वायुभूति के सात भवो का परिचय उपलब्ध होता है, पर उनमें से किसी एक भव में भी भगवान् महावीर के जीव के साथ उनका किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही बताया गया है ।

पाठको की जानकारी हेतु उस कथा-भाग का यहा सार प्रस्तुत किया जा रहा है :-

एक वार भगवान् महावीर विभिन्न देशो के अनेक भव्यो का उद्धार करते हुए राजगृह नगर के विपुलाचल पर पधारे। वहा मगधाधिपति श्रेणिक ने सविधि वदन के पश्चात् अत्यन्त विनीत एव मधुर स्वर मे त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान् महावीर से प्रश्न किया – "भगवन् ! आपके प्रमुख शिष्य एव प्रथम गणधर आर्य इन्द्रभूति गौतम ने ऐसी अद्भुत और अचिन्त्य आध्यात्मिक सपदा किस महान् सुकृत के फलस्वरूप प्राप्त की है ?"

भगवान् महावीर ने महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया – "श्रेणिक ! प्राणी पाप – प्रकृतियों के बन्ध से अवनति की ओर तथा पुण्य – प्रकृतियों के वन्ध से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। यह इन्द्रभूति गौतम के पूर्वभवो से भलीभाति विदित हो जाता है।"

अति प्राचीन समय मे काशी देश के महाराज विश्वलोचन एक बड़े प्रतापी राजा हुए है। उनकी पटरानी का नाम विशालाक्षी था जो परम सुन्दरी पर स्वभाव से वडी चचल एव अजितेन्द्रिया थी। एकदा रात्रि के समय रगिका और चामरी नाम की अपनी दो दासियों के साथ रानी विशालाक्षी ने एक नाटक देखा। नाटक के शृ गाररसपूर्ण उत्तेजक अभिनयो को देख कर विशालाक्षी की कामवासना इतने प्रचण्ड वेग से जागृत हो उठी कि वह स्वैरिणी की तरह स्वेच्छा-विहार की भावना लिये राजमहलो से भाग निकलने को छटपटाने लगी। दोनों दासियो की दुरभिसधि एव सहायता से वह मध्यरात्रि मे छल-छद्मपूर्वक महलो से भाग निकलने मे सफल हुई। नगर से दूर जगल मे पहुंचने पर उन्होने योगिनियो का रूप धारण किया और चोरी-छिपे काशी राज्य की सीमा पार की। तदनन्तर वे तीनो योगिनियो का वेष धारण किये हुए विभिन्न ग्रामो एव नगरो आदि मे उन्मत्त भाव से काम-सेवन करती हुई यथेच्छ विचरने लगी। उधर महलो मे रानी को न पा कर राजा विश्वलोचन बड़ा चिन्तित हुआ और लज्जा, वियोग एव शोक से सतप्त हो कुछ ही दिनो पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।[1]

उधर योगिनियो के वेष मे स्वच्छन्दतापूर्वक भटकती हुई वे तीनो अवन्ती देश मे पहुची। एक दिन किसी तपस्वी मुनि को नगर की ओर नग्न रूप मे आते देख वे तीनो क्रुद्ध हो मुनि को भला-बुरा सुनाने लगी। अन्तराय समझ कर मुनि बिना भिक्षा ग्रहण किये ही लौट पडे। उन कामान्ध तीनो स्त्रियो ने जगल

---

[1] तत स निधन प्राप्तस्तद्वियोगप्रपीडित ।· · –गौतम चरित्र, अधिकार २, श्लो० १८५

है कि भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा बने, न कि इन्द्रभूति गौतम ।

दिगम्बर परम्परा का वह अतिप्राचीन ग्रन्थ मूलत प्राकृत भाषा मे था । वह तो विलुप्त हो चुका है परन्तु उसी प्राकृत भाषा के 'लोकविभाग' ग्रन्थ के आधार पर बना सस्कृत 'लोक विभाग' उपलब्ध होता है । संस्कृत 'लोकविभाग' के कर्त्ता सिहसूरर्षि ने मूल लोकविभाग का सस्कृत मे अनुवाद करते समय ग्रन्थ के प्रारम्भ मे लिखा है –

> लोकालोकविभागज्ञान्, भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान् ।
> व्याख्यास्यामि समासेन, लोकतत्वमनेकधा ।।

अन्त मे प्रशस्ति मे लिखा है –

> भव्येभ्य' सुरमानुषोरुसदसि श्री वर्द्धमानार्हता,
> यत्प्रोक्त जगतो विधानमखिल ज्ञात सुधर्मादिभि. ।
> आचार्यावलिकागत विरचित तत् सिहसूरर्षिणा ।
> भाषाया परिवर्तनेन निपुणै सम्मानित साधुभि' ।।

अर्थात् लोक और अलोक के विभागो को जानने वाले जिनेश्वरो की भक्ति-सहित स्तुति कर के लोकतत्व का सक्षेप मे व्याख्यान करता हूँ ।

अन्तिम प्रशस्ति मे लिखा है कि देवो और मनुष्यों की सभा मे तीर्थंकर वर्द्धमान ने समस्त जगत् का विधान भव्यजनो के लिये कहा, जो सुधर्मा स्वामी आदि ने जाना और जो आचार्य परम्परा से आज तक चला आ रहा है, उसे सिहसूर-ऋषि ने भाषा-परिवर्तन कर के विरचित किया, उसका निपुण साधुजनो ने सम्मान किया है ।

प्रशस्ति के श्लोक मे प्रयुक्त – "ज्ञात सुधर्मादिभि " और "आचार्यावलिकागत" – इन दोनो पदो पर सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इनका स्पष्टरूप से यही अर्थ निकलता है कि – 'सुधर्मा' आदि ने उसे सुना, सुधर्मा आचार्य ने अपने उत्तराधिकारी आचार्य को वह ज्ञान दिया और क्रमश. उनके उत्तराधिकारी आचार्य अपने-अपने उत्तराधिकारी आचार्यो को वह ज्ञान देते रहे । इस प्रकार आचार्य परम्परा से वह ज्ञान आज तक चला आ रहा है ।

भगवान् महावीर से ज्ञान प्राप्त करने वालो के नामोल्लेख के समय प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नामोल्लेख करने के स्थान पर सुधर्मा का नामोल्लेख किया जाना और "आचार्यावलिकागत" – इस पद से पहले "ज्ञात सुधर्मादिभि "– इस पद का प्रयोग वस्तुत प्रत्येक विचारक को यह विश्वास करने के लिये प्रेरित करता है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आचार्य सुधर्मा स्वामी हुए, न कि इन्द्रभूति गौतम । उपरोक्त श्लोक के पदविन्यास से "लोकविभाग" के रचनाकार की यही भावाभिव्यक्ति स्पष्ट प्रतिध्वनित होती है कि महावीर के प्रथम पट्टधर

इन्द्रभूति गौतम नही, अपितु सुधर्मा स्वामी हुए। उपरोक्त श्लोक मे छन्द की दृष्टि से गौतम इन्द्रभूति का नामोल्लेख करने में ग्रन्थकार को कठिनाई आई होगी इसलिये उसके द्वारा सुधर्मा का नाम रखा गया – इस प्रकार की लचर दलील दे कर इस श्लोक के अर्थ को यदि तोड़-मरोड कर अन्य रूप से रखने का प्रयास किया जाय तो निश्चित रूप से मूलग्रन्थकार और संस्कृत मे उसका अनुवाद करने वाले– इन दोनों ही ग्रन्थकारो के प्रति अन्याय होगा।

मूल "लोकविभाग" की रचना मुनि सर्वनन्दि ने पाण्ड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम मे की और शक सवत् ३८०, तदनुसार विक्रम स० ५५५ में इसे समाप्त किया[1] इस प्रकार का उल्लेख संस्कृत "लोकविभाग" के रचयिता ने किया है।

इस प्रकार के प्राचीन ग्रन्थ मे भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के सम्बन्ध में परोक्ष रूप से जो यह उल्लेख किया गया है यह इतिहास के विद्वानों के लिये विचारणीय है।

---

[1] विश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे, राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्यराष्ट्रे, शास्त्र पुरा लिखितवान्मुनि सर्वनन्दिः ॥२॥
सवत्सरे तु द्वाविंशे, कांचीशसिंहवर्मणः।
अशीत्यग्रे शकाब्दाना, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥　　[लोकविभाग]

पूर्ण सविधान भी शनै शनै विस्मृति के गर्त मे विलीन हो क्षीण होने लगा। परन्तु सुधर्मा स्वामी द्वारा द्वादशागी के रूप मे ग्रथित भगवान् महावीर की वाणी से अनेक महापुरुषो ने अचिन्त्य-अपरिमेय शक्ति का सचय कर समय-समय पर क्रियोद्धार किया और प्रभु महावीर के धर्मसघ की गौरव-गरिमा को समुज्ज्वल एव अक्षुण्ण बनाये रखा।

आर्य सुधर्मा की विशिष्टता

सभी गणधरो मे चतुर्दश पूर्व के ज्ञान की समानता होने पर भी उनकी अपनी अलग-अलग विशिष्टताए थी। निरन्तर प्रभु–सेवा मे रह कर शास्त्रीय विषयो की गम्भीर छानवीन करना इन्द्रभूति की विशिष्टता थी, अत उन्हे जिस प्रकार प्रभु द्वारा श्रुततीर्थ की अनुज्ञा प्रदान की गई उसी प्रकार आर्य सुधर्मा मे भी कोई विशिष्टता होनी चाहिये जिससे त्रिकालदर्शी भगवान् महावीर ने उन्हे गण-सचालन की अनुज्ञा दी। हजारो साधुओ के गणो का व्यवस्थितरूपेण सचालन एव परिपालन करना और प्रभु के निर्वाण पश्चात् सपूर्ण सघ को सगठित एव सुशासित रखना कोई साधारण योग्यता की बात नही थी। आर्य सुधर्मा मे सघ को सुदृढ, सुसगठित, सुशासित और सशक्त बनाये रखने की अपूर्व क्षमता थी। सभव है उनकी इसी विशिष्ट योग्यता के कारण भगवान् महावीर ने सब गणधरो को अपने-अपने गण सम्हलाते समय आर्य सुधर्मा के सबल कन्धो पर अवशिष्ट साधु-समुदाय के गण-सचालन का गुरुतर भार रखा। आवश्यक चूर्णिकार ने उपर्युक्त प्रसग का निम्नलिखित शब्दो मे वर्णन किया है –

> . .. .पच्छा सामी जस्स जत्तिओ गणो तस्स तत्तिय अणुजाणति, आतीए सुहम्म करेति, तस्स महल्ल आउय, एत्तो तित्थ होहितित्ति। ....अज्ज सुहम्मस्स निसिरतिगण।
>
> [आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३३७]

> . . .. .ताहे गोयमसामीप्पमुहा एक्कारसवि गणहरा तीसी ओणता परिवाडीए ठायति,.. .....पुव्व तित्थ गोयमसामिस्स दव्वेहि पज्जवेहि अणुजाणा मित्ति.. .. ..गण च सुहम्म सामिस्स धुरे ठावेत्ता ण अणुजाणति।"
>
> [वही, पृ ३६०]

जन्म स्थानादि

आर्य सुधर्मा का जन्म ईसा से ६०७ वर्ष पूर्व विदेह प्रदेश के कोल्लाग नामक ग्राम मे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे हुआ। यह एक अद्भुत सयोग की बात है कि भगवान् महावीर की तरह आर्य सुधर्मा का जन्म-नक्षत्र भी उत्तराफाल्गुनी और जन्मराशि कन्याराशि थी। जिस प्रकार पुण्य अथवा पाप-प्रकृतियो का बन्ध प्राणी द्वारा किये गये पुण्य अथवा पापपूर्ण कार्यो मे उसके अपने पौरुष के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक होता है, ठीक उसी प्रकार उन पुण्य या पापमयी प्रकृतियो के उदय के समय प्राणी को पूर्व मे किये गये अपने कार्यो का शुभाशुभ

आर्य सुधर्मा

(भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर)

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् वीर संवत् के प्रारम्भकाल मे अर्थात् शक संवत् से ६०५ वर्ष पूर्व कार्तिक शुक्ला १ के दिन चतुर्विध सघ ने आर्य सुधर्मा को भगवान महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप में नियुक्त किया।

भगवान् महावीर के समय संघ की व्यवस्था में अनुशासन एवं संगठन आदि की जो प्रमुख विशेषताएं थीं, उन्हे भगवान् के निर्वाण पश्चात् भी आर्य सुधर्मा ने बडी ही कुशलता के साथ यथावत् बनाये रखा।

आचार्य सुधर्मा के प्रशासन-कौशल, दूरदर्शिता और तपस्तेज का ही चमत्कार है कि उनके उत्तरवर्ती काल मे अनेक बार अगणित प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी भगवान् महावीर का धर्मसंघ इतने सुदीर्घ काल तक एक महान् सघ के रूप मे समीचीन रूप से चलता रहा और आज तक विविध बाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी वह अपने मूलभूत महान् सिद्धान्तो को अमूल्य थाली के रूप मे सुरक्षित रख पाया है। धर्म संघ की वह पतितपावनी अध्यात्म-सरिता आज भी निर्बाध गति से निरन्तर चलती आ रही है।

लगभग ढाई हजार वर्ष के अति दीर्घ अतीत की लम्बी अवधि मे अगणित आपत्तियो, विषम परिस्थितियो, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक क्रान्तियो, विप्लवों तथा दिल दहला देने वाले कई द्वादशवर्षीय दुष्कालो ने प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मसघों को बुरी तरह झकझोरा। उन सकटों की विकट घड़ियों मे बौद्ध धर्म जैसे अनेक धर्मसंघ इस आर्य धरा से विलुप्त हो गये, किन्तु भगवान् महावीर द्वारा त्याग-तप व संगठन की सुदृढ नीव पर खड़े किये गये इस निर्ग्रन्थ संघ की आर्य सुधर्मा ने प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित नीति का पालन करते हुए ऐसी चिरस्थायी और दृढ व्यवस्था की कि भीषण से भीषण एव प्रलयकर क्रान्तियां भी इस धर्मसंघ की गहरी जड़ो को नही हिला सकी।

फिर भी यह नही कहा जा सकता कि इन प्रतिकूल परिस्थितियों का भगवान् महावीर के धर्मसंघ पर बिलकुल ही प्रभाव नही पड़ा। लगातार आपत्तियों पर आपत्तियां आने के कारण अन्ततोगत्वा इस धर्मसघ मे भी अनेक विकृतिया उत्पन्न हुई और पर्याप्त हानियां उठानी पडी। आचार्य भद्रबाहु के समय, आचार्य सुहस्ती के समय एव आर्यवज्र के समय में पड़े दीर्घकालीन दुष्कालों के विनाशकारी कुप्रभाव के कारण श्रमणो के केवल स्मृतिपटल पर अकित रहने वाले श्रुतशास्त्र मे ही नही; अपितु आचरण में भी मन्दता आई। इस मंदता से धर्मसघ का सर्वाग-

कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छ वेदांगो तथा मीमासा, न्याय, धर्मशास्त्र एव पुराण इस प्रकार कुल मिला कर चौदह विद्याओ का सम्यक्-रूपेण अध्ययन किया। तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार पारगामी विद्वान् बनने के पश्चात् आर्य सुधर्मा ने अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। उनके पास ५०० छात्रो के नियमित अध्ययन से यह अनुमान लगाया जाता है कि उनकी गणना उस समय के बहुत उच्चकोटि के विद्वानो मे की जाती रही होगी।

उस समय की शिक्षा-प्रणाली के तलस्पर्शी विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन जनमानस मे ज्ञान-पिपासा और शिक्षा के प्रति अभिरुचि पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान थी, पर वस्तुत लोगों का शास्त्रीय पाण्डित्य की ओर जितना अधिक झुकाव था उतना अध्यात्म-चिन्तन की ओर नही था।

तत्कालीन धार्मिक स्थिति

ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनो कतिपय अशो मे ब्राह्मण क्रियाकाण्डो और यज्ञ-यागादि का धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे बडा महत्व माना जाता था और यज्ञानुष्ठान को ही सबसे बडा धर्म समझा जाने लगा था। यही कारण था कि उस समय यत्र-तत्र, यदा-कदा बडे-बडे आयोजनो के साथ समारोहपूर्वक यज्ञ किये जाते थे। उन यज्ञो मे यजमानो द्वारा यज्ञानुष्ठान कराने वाले विद्वानो और ब्राह्मणो को निमन्त्रित कर बडी-बडी दक्षिणाए दी जाती थी। वेद-वेदागो के प्रकाण्ड पण्डित आर्य सुधर्मा को उस समय किये जाने वाले अनुष्ठानो मे बुलाया जाता रहा होगा। इस प्रकार का विश्वास करने के लिये उनका सोमिल द्वारा अनुष्ठित यज्ञ मे सम्मिलित होना पर्याप्त प्रमाण है। ५०० विद्यार्थी सदा आर्य सुधर्मा की सेवा मे रह कर उनसे विद्याध्ययन करते थे, यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि आर्य सुधर्मा प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ पर्याप्तरूपेण साधन-सम्पन्न एवं समृद्ध भी थे।

दीक्षा से पूर्व का जीवन

श्रमण भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने से पूर्व के किसी भी गणधर के जीवन का पूर्ण विवरण जैन वाङ्मय मे उपलब्ध नही होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति मे भगवान् महावीर के ग्यारहो गणधरो के नाम, ग्राम, गोत्र, जन्म-नक्षत्र, जाति, माता-पिता के नाम, शैक्षणिक योग्यता, शिष्य-परिवार, तात्त्विक शका और दीक्षा के समय उनकी आयु आदि का विवरण दिया गया है। इससे अधिक, दीक्षा से पूर्व का गणधरो के गृहस्थ-जीवन का कोई विवरण आज जैन अथवा जैनेतर ग्रन्थो मे उपलब्ध नही होता। यदि इस दिशा मे प्रयास किये जाय तो अन्धेरे मे छिपे अनेक ऐतिहासिक महत्व के तथ्य प्रकाश मे लाये जा सकते है।

इन्द्रभूति गौतम के जीवन-परिचय मे अपभ्र श भाषा के कवि रयधू द्वारा रचित "महावीरचरित" के आधार पर जिस प्रकार कुछ नये तथ्य विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत किये गये है उसी प्रकार आर्य सुधर्मा के गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध मे

फल भी तदनुकूल भोगना पडता है। जन्म-नक्षत्र एव जन्मराशिया उन पुण्य तथा पापबन्धो के भावी उदयकाल की पूर्वसूचना के माध्यम माने जा सकते है। भगवान् महावीर की जन्मराशि और जन्म-नक्षत्र से जिस प्रकार यह पूर्वाभास होता है कि प्रभु महावीर का शासन २१ हजार वर्ष तक चलता रहेगा, ठीक उसी प्रकार आर्य सुधर्मा के जन्म-काल मे उसी राशि और उसी नक्षत्र का होना भी यह पूर्व सूचना देता है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर द्वारा ग्रथित आगम परम्परा, उनके द्वारा की हुई सघ-व्यवस्था और उनकी शिष्य-परम्परा भी २१ हजार वर्ष तक बिना किसी व्यवधान के निरन्तर चलती रहेगी।

प्राचीन काल मे भारतवर्ष का वह भू-भाग – जिसको पूर्व मे कौशिकी नदी, पश्चिम मे गंडकी नदी, उत्तर मे हिमालय और दक्षिण मे गगानदी घेरे हुए थी – विदेह के नाम से विख्यात था। जिस कोल्लाग सन्निवेश मे आर्य सुधर्मा का जन्म हुआ वह लिच्छवी गणराज्य की राजधानी वैशाली के आस-पास ही बसा हुआ था। पुरातत्त्ववेत्ताओ द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि आजकल जो कोल्लुआ ग्राम अवस्थित है, वही उस समय सभवत: कोल्लाग ग्राम बसा हुआ होगा।[1]

माता-पिता

आर्य सुधर्मा के पिता का नाम धम्मिल्ल और माता का नाम भद्दिला था। अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण आर्य धम्मिल्ल वेद-वेदाग के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। अनुमान से यह कहना भी अधिक संगत प्रतीत होता है कि अपने समय मे गुरुकुल प्रणाली के आचार्यो मे उनकी गणना की जाती हो। कोल्लाग सन्निवेश में एक ही समय में आर्य व्यक्त और आर्य सुधर्मा जैसे दो विद्वानो के सान्निध्य में पाच-पांच सौ छात्रों का अहर्निश सेवा मे रहते हुए विद्याध्ययन करना इस बात का द्योतक है कि उन दिनों वैशाली और उसके आस-पास का क्षेत्र शिक्षा का बहुत बडा केन्द्र बना हुआ था एव आर्य व्यक्त तथा आर्य सुधर्मा को अपने-अपने पिता से गुरुकुल पद्धति के आचार्य-पद की प्राप्ति हुई थी। वैशाली और नालन्दा जैसे विशाल एव समुन्नत शिक्षा केन्द्रों के कारण ही अतीत मे आर्य-धरा की गौरव-गाथाओं के गरिमापूर्ण स्वर निम्नलिखित रूप मे विश्व के विस्तीर्ण गगन मे गूज रहे थे एव आज भी उन स्वरो की गूज मिटी नही है :–

एतद्देशप्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवा. ।।[2]

शिक्षण

विद्यानुरागी समाज और विद्वद्वश-परम्परा के सस्कारो मे पले-पुसे सुधर्मा ने अपने विद्यार्थी जीवन मे ऋक्, साम, यजु और अथर्व इन चार वेदो, शिक्षा,

[1] Suburb Kollaga (कोल्लाग सन्निवेश)—Perhaps Modern Kollua. [The Journal of The Royal Asiatic Society, 1902 P 283]

[2] मनुस्मृति, अ० २, श्लो० २०

स्वर्गीय मुनि मणिलालजी द्वारा आर्य सुधर्मा के जीवन-परिचय के सम्बन्ध मे दिया गया वह विवरण यहा यथावत् दिया जा रहा है –

"प्रभु वीर पट्टावली

भगवान् महावीर नी पहेली पाट पर श्री सुधर्म स्वामी विराज्या। तेमनो जन्म "कोल्लाग सन्निवेश" नामक स्थल मा 'धम्मिल' नामना विप्र ने त्यां थयो हतो। बाल्यावस्था थीज धर्म प्रत्ये तेमनी अथाग रुचि होवा थी तेमनु नाम "सुधर्म" तरीके जनता मे प्रसिद्ध थयु। यौवन वय प्राप्त थई त्यारे पोतानी अनिच्छा छता तेमने माता-पिताए "वात्स्य गोत्र" मा उत्पन्न थयेली एवी एक कन्या साथे तेमनु पाणिग्रहण कराव्यु। उदासीन भावे ससार मा रहेता तेमने एक पुत्री थई हती। सतत ज्ञानाभ्यास मा रहेता तेओ चार वेद, श्रुति, स्मृति वगेरे अढार पुराण मा सम्पूर्ण पारगत थया। दिन प्रतिदिन ससार पर तेमनी अरुचि वधती गई, अने समय परिपक्व थता सर्व नी अनुमति लई तेमणे सन्यासपणु अगीकार कर्यु अने छेवटे शकराचार्य नी पदवी प्राप्त करी, पोताना शिष्य परिवार साथे फरता-फरता ज्यारे तेओ "जभिका" नामनी नगरी मा आव्या, त्यारे तेमने प्रभु महावीर नो समागम थयो। ज्या तेमने शकाओनु समाधान थयु अने प्रभु वीर पासे तेमणे भागवती दीक्षा अगीकार करी।"[१]

आर्य सुधर्मा के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विवरण देते हुए स्व० मुनि मणिलालजी ने जो नवीन तथ्य रखने का प्रयास किया है, उन तथ्यो को रखते समय उनके समक्ष क्या आधार था इसे जानने के लिये हमारी ओर से पूरा प्रयास किया गया, पर अभी तक वृद्ध पट्टावली के उपरिलिखित आलेख के अतिरिक्त और कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नही हुआ है, जिसके आधार पर आर्य सुधर्मा के जीवन के सम्बन्ध मे जो नवीन बाते मुनि श्री मणिलालजी ने रखी है उन्हे पूर्ण प्रामाणिक माना जा सके।

इस सम्बन्ध मे विद्वानो द्वारा अप्रकाशित पुस्तको की खोज की जाय तो जैन और वैदिक दोनो ही परम्पराओ के इतिहास मे कुछ नवीन उपलब्धिया हो सकती है। आशा है इस सम्बन्ध मे इतिहास के विद्वान् तथ्य को खोजने का प्रयास करेंगे।

आर्य सुधर्मा के गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध मे जो प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता है, उससे यह तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि विद्वत्ता के साथ-साथ वे आर्थिक दृष्टि से भी पर्याप्तरूपेण सम्पन्न थे। यज्ञानुष्ठानादि से उन्हें विपुल अर्थ की उपलब्धि होती रही होगी तभी उनकी सेवा मे ५०० छात्र सदा विद्यमान रहते थे।

---

[१] श्री जैन धर्म नो प्राचीन सक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावलि, (पच भाई नी पोळ, अहमदाबाद)।

भी खोज करने पर कुछ अपुष्ट विवरण प्रकाश मे आये है। शोधार्थियो की सुविधा और विद्वानों के विचार हेतु उन्हे यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी ने "जैन साहित्य सशोधक", खड १, अक ३ के परिशिष्ट मे 'वीर वशावलि अथवा तपागच्छ वृद्ध पट्टावलि' प्रकाशित की है। उसके पृष्ठ १-२ मे आर्य सुधर्मा के श्रमणजीवन से पूर्व का विवरण देते हुए लिखा गया है –

"१. सुधर्मा स्वामी

पछी श्री वीर पाटे पाचवा गणधर श्री सुधर्मा स्वामी पहले पाटे थया। तथा हि –

कोल्लाग सन्निवेशे धम्मिल्ल नामा विप्र तेहनी स्त्री भद्दिला नामे। ते हरिद्रायण गोत्र थी उपनी। तेहनो पुत्र। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे जन्म हुओ सुधर्मा नाम दीधु। अनुक्रमे यौवनावस्था मे वक्षस (वत्स) गोत्र थकी उपनी एक कन्या परणावी। तेहसु सासारिक सुख भोगवता एक पुत्री हुई। ते सुधर्मा चार वेद-वेदाग नो पाठी छे। तेहूने पासे पांच सये विद्यार्थी बाडवसुत विद्याभ्यास (२–१) करे छे। पिण ते सुधर्मा ना चित्तने विषे एक महा सदेह छे। ते किस्यो ? जे जेहवो ते तेहवो। ते सदेह श्री वीरवचने नि सदेह हुओ। तिवारे पाच सय छात्र युक्त वर्ष ५० गृहस्थ पणु भोगवी ससयच्छेदक श्री वीर हस्ते दीक्षा लीधी।"

इस प्रकार उपर्युक्त तपागच्छ वृद्ध पट्टावलि मे दिये गये सुधर्मा स्वामी के गृहस्थ-जीवन सबधी वृत्त मे निम्नलिखित जो तीन बातो का उल्लेख किया गया है, वह अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता :–

१. आर्य सुधर्मा की माता का हरिद्रायण गोत्र होना।
२. यौवनावस्था में आर्य सुधर्मा का वक्षस (वत्स्य) गोत्र की कन्या के साथ विवाह होना। और
३. सुधर्मा की वत्स्य गोत्रीया पत्नी से एक पुत्री का जन्म होना।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त लीबडी संघवी उपाश्रय के पूज्य श्री मोहन लालजी स्वामी के शिष्य स्वर्गीय मुनि श्री मणिलालजी महाराज द्वारा लिखित "श्री जैन धर्म नो प्राचीन सक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली" नामक ग्रन्थ मे आर्य सुधर्मा का प्रव्रजित होने से पूर्व का जो जीवन-परिचय दिया गया है उसमे तपागच्छ पट्टावली मे उल्लिखित ऊपर दी हुई तीन बातो मे से पहली को छोड कर शेष दो के उल्लेख के साथ दो और नये तथ्य दिये गये है।

मुनि मणिलालजी ने लिखा है कि आर्य सुधर्मा ने वत्स गोत्रीया कन्या के साथ विवाह करने और उससे एक कन्या का जन्म होने के पश्चात् ससार से विरक्त हो सन्यास ग्रहण किया और उन्हे कालान्तर मे शकराचार्य की सम्माननीय उपाधि से अलकृत किया गया था।

उपर्युक्त सद्गुणो का अभाव एव हिसा, असत्य-भाषण, चौर्य, दुराचरण, क्रोध, मान, मद, मोह, मात्सर्य और लोभादि दुर्गुणोका प्राचुर्य हो तो वह मर कर कृमि-कीट-पतग एव नारकीय अथवा निगोद के रूप मे भी उत्पन्न हो सकता है।

एक प्राणी जिस योनि मे है, वह यदि उसी योनि मे उत्पन्न कराने वाले कर्मो का बन्ध करे तो पुन उस योनि मे भी उत्पन्न हो सकता है, पर एकान्तत यह मानना सत्य नही है कि जो प्राणी वर्तमान मे जिस योनि मे है, वह सदा-सर्वदा के लिये निरतर उसी योनि मे उत्पन्न होता रहे।"

प्रतिबोध और दीक्षा-ग्रहण

श्रमण भगवान् महावीर की निर्दोष एव अमोघ वाणी को सुन कर आर्य सुधर्मा के मन मे प्रभु के प्रति प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनके समस्त सशय छिन्न-भिन्न हो गये, उनके हृदय की सभी ग्रथिया स्वत ही खुल गई। त्रैलोक्यैकनाथ प्रभु महावीर के दर्शन और कृपाप्रसाद के फलस्वरूप आर्य सुधर्मा पर उपनिषद्कार की निम्नलिखित उक्ति पूर्णरूपेण घटित हो गई :–

"भिद्यते हृदयग्रथिश्छिद्यते सर्वसशया ।"

ज्ञानी सद्गुरु की सगति हृदय की मोहजन्य गाठ का भेदन कर सकल सशयो का छेदन करती है। जगद्गुरु प्रभु महावीर की कृपा से आर्य सुधर्मा के अन्तर्मन मे उद्भूत ज्ञानालोक जगमगा उठा और उन्हे अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि हुई।

उन्होने भावविभोर हो प्रभु के चरणो पर अपना सिर रखते हुए गद्गद् स्वर मे कहा – "प्रभो ! आपने मेरे अन्तस्तल मे व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर कर दिव्य आलोक से मेरे हृदय को प्रकाशमान कर दिया है। मै आपकी वीतराग वाणी मे पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखता हूँ। मै आपकी निर्दोष वाणी मे पूर्ण प्रीति करता हूँ। करुणाघन ! आपने मुझे सही दिशा और मेरे चरम लक्ष्य का बोध करा दिया है। मै अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आपके चरणो की शरण मे श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर आजीवन आपकी सेवा करना चाहता हूँ।"

इस प्रकार आर्य सुधर्मा की सरल, निर्लेप, मुमुक्षु एव सत्योपासक वृत्ति का परिचय मिलता है। भगवान् महावीर के मुखारविन्द से सत्य का परिज्ञान होते ही उन्होने अपनी चिरपरिपालित परम्परा, बडे परिश्रम से अर्जित प्रतिष्ठा, शिष्यो और अनुयायियो के मोह आदि का परित्याग कर दिया और वे तत्काल श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने के लिये तत्पर हो गये।

इससे यह स्पष्टत प्रकट होता है कि आर्य सुधर्मा के हृदय मे सत्य को जानने की प्रबल जिज्ञासा और सत्य को आत्मसात् करने की अनुपम तत्परता थी। उनकी बुद्धि सत्य को ग्रहण करने हेतु सदा उन्मुक्त-द्वार एव तत्पर रहती थी। उन्नति के पथ पर अग्रसर होने से रोकने वाली सभी दुर्बलताओ, विचारो एव बाधाओ को झटक कर उन्होने अपने मन से दूर फेक दिया।

सोमिल ब्राह्मण द्वारा मध्यम पावा में यज्ञानुष्ठान के लिये आमन्त्रित आर्य सुधर्मा अन्य १० विद्वानों के साथ जिस समय यज्ञानुष्ठान कर रहे थे, उसी समय मध्यम पावा नगरी के आनन्दोद्यान में भगवान् महावीर का समवसरण हुआ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इन्द्रभूति तथा अग्निभूति गौतम भगवान् महावीर को शास्त्रार्थ में जीतने की अभिलाषा लिये और वायुभूति तथा आर्य व्यक्त अपनी-अपनी शकाओ के समाधानार्थ प्रभु के समवसरण मे अपने शिष्य-समूह के साथ क्रमशः गये और भगवान् महावीर द्वारा अपनी गूढ शंकाओ का समुचित समाधान पा कर उनके चरणों में दीक्षित हो गये।

आर्य सुधर्मा ने जब यह सुना कि इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और आर्य व्यक्त जैसे उच्चकोटि के विद्वान् अपने-अपने मन की शकाओ का समाधान पा कर भगवान् महावीर के पास श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गये है, तो उनके मन में भी उत्कट अभिलाषा• उत्पन्न हुई कि क्यो न वे भी नर, नरेन्द्र, देवेन्द्रादि द्वारा पूजित सर्वज्ञ प्रभु महावीर से अपने मन मे चिरकाल से संचित निगूढ शंका का समाधान कर लें। वे तत्काल अपने ५०० शिष्यो के साथ प्रभु के समवसरण मे पहुचे।[1] उन्होने श्रद्धावनत हो प्रभु के चरणों में नमन किया।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने नाम–गोत्रोच्चारणपूर्वक आर्य सुधर्मा को सम्बोधित करते हुए घनरव–गम्भीर स्वर मे कहा–"आर्य सुधर्मन्! तुम्हारे मन मे यह शंका है कि प्रत्येक जीव वर्त्तमान भव मे मनुष्य, तिर्यच आदि जिस गति मे है, वह मरने के पश्चात् भावी भवो में भी क्या उसी गति मे उसी प्रकार के शरीर मे उत्पन्न होगा? अपनी इस शंका की पुष्टि मे तुम मन ही मन यह युक्ति देते हो कि जिस प्रकार एक खेत में जौ बोये जाय तो जौ और गेहूं बोये जायं तो गेहू पैदा होगे। यह संभव नही कि जौ बोने पर गेहू उत्पन्न हो जायं अथवा गेहू बोने पर जौ उत्पन्न हो जायं। सौम्य सुधर्मन्! तुम्हारी यह शका वस्तुत समुचित नही है। क्योकि प्रत्येक प्राणी त्रिकरण एवं त्रियोग से जिस प्रकार की अच्छी अथवा बुरी क्रियाएं करता है, उन्ही कार्यो के अनुसार उसे भावी भवों मे अच्छी अथवा बुरी गति, शरीर, सुख-दु ख, संपत्ति-विपत्ति, सयोग-वियोगादि की प्राप्ति होती रहती है और कृतकर्मजन्य यह क्रम अजस्ररूपेण तब तक चलता रहता है जब तक कि वह आत्मा अपने–अच्छे-बुरे–सभी प्रकार के समस्त कर्मो का समूल नाश कर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नही हो जाता।

एक मनुष्य अपने वैराग्य, सदाचार, आर्जव, मार्दव आदि गुणों से मनुष्य-आयु का बन्ध कर अगले जन्म में पुनः मानव-भव प्राप्त कर सकता है। यदि उस मनुष्य मे त्याग-तप-दया आदि सद्गुणों का बाहुल्य हो तो वह देवायु का बन्ध कर, मरने पर देव रूप से उत्पन्न हो सकता है। परन्तु वही मनुष्य, यदि उसमें

[1] ते पव्वइए सोउं, सुहम्मो आगच्छइ जिणसगास।
वच्चामि णं वंदामि, वदित्ता पज्जुवासामि ।।६१४।। [आव० नि० १]

गणधर के पद पर नियुक्त करते समय उन्हे दीर्घजीवी और पचम आरक के अन्त तक अनवच्छिन्न शिष्य-सन्तति वाला समझ कर गणनायक घोषित किया। आर्य सुधर्मा ने तीस वर्ष तक भगवान् महावीर की सेवा मे रह कर अपने गण के श्रमणो को द्वादशागी का अध्यापन कराने के साथ-साथ प्रभु वीर के समस्त श्रमण-सघ की समीचीन रूप से व्यवस्था और अभिवृद्धि की। वे चतुर्दश पूर्वधर-द्वादशागी के सूत्र, अर्थ और विवेचन आदि के ज्ञाता एवं व्याख्याता ही नही अपितु रचयिता भी थे।

भव्य-विराट व्यक्तित्व

आर्य सुधर्मा ब्राह्मण-परम्परा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एव आचार्य तो थे ही पर श्रमण-परम्परा मे दीक्षित होने के पश्चात् उनकी प्रतिष्ठा विश्वमान्य हो चली थी। वे नरेन्द्र-सुरेन्द्रो के भी पूजनीय और समस्त विश्व के वन्दनीय बन गये थे।

आर्य सुधर्मा के शरीर की ऊँचाई सात हाथ थी। आकार-प्रकार से समचतुरस्र सस्थान[1] और वज्रऋषभनाराच सहनन[2] से सुगठित उनकी देह अत्यन्त बलिष्ठ, सुन्दर, सौम्य और आकर्षक थी। तपाये हुए सोने के समान उनका तेजोमय लालिमा लिये सुन्दर एव सुगौर वर्ण दर्शक के मन को हठात् विमुग्ध कर देता था। वे अतुल बल, अदम्य उत्साह, अटल धैर्य, अथाह गाम्भीर्य और अक्षोभ्य क्षमा एव शान्ति के सागर थे।

आर्य सुधर्मा का बहिरग व्यक्तित्व जितना आकर्षक, सम्मोहक और सुन्दर था उससे कई गुना अधिक आकर्षक, सम्मोहक और सुन्दर उनका आभ्यतर व्यक्तित्व था। वे क्षमा, दया, आर्जव, मार्दव आदि गुणो के आगार तथा विनय, त्याग और तप की प्रतिमूर्त्ति थे। उन्होने तन, मन और इन्द्रियो का निग्रह कर काम, क्रोध, मोह, अहकार, निद्रा एव परीषहो पर विजय प्राप्त कर ली थी। वे स्वसमय तथा परसमय के पूर्ण ज्ञाता, जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वो के विशेषज्ञ, उग्र तपस्वी, घोर तपस्वी, घोर ब्रह्मचारी, अनासक्त, विमल ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के धनी, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे। उनकी साधना उस चरमोत्कृष्ट कोटि तक पहुच चुकी थी जिसमे जीवन की कामना और मृत्यु से भय का लवलेशमात्र भी अवशिष्ट नही रहता।

'णायाधम्मकहाओ' के अध्ययन प्रथम, सूत्र दो मे आर्य सुधर्मा को 'आर्य', 'स्थविर' आदि जिन सम्मानसूचक विशेषणो से सम्बोधित किया गया है, उनसे आर्य सुधर्मा के प्रतिभाशाली विराट व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुत आर्य सुधर्मा का विराट बहिरग व्यक्तित्व समस्त श्रमण

---

[1] शरीर लक्षणोक्त प्रमाणाविसवादिन्यश्चतस्रो यस्य तत्समचतुरस्रम्।
[भगवती (टीका) १।१ व प्रश्नोत्थान पृ० ३४]

[2] भगवती, शतक १ प्रश्नोत्थान पृ० ३४

स्वयं द्वारा चिरपोषित, चिरपरिपालित परपरा की अनुपादेयता और अयथार्थता का ज्यों ही उन्हे बोध होता है वे तत्काल उसका सदा के लिये उसी प्रकार परित्याग कर देते है जिस प्रकार कि सांप अपनी केंचुल का।

"तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा', क्षार जलं कापुरुषा पिवन्ति"

इस उक्ति के अनुसार कदाग्रही कायर व्यक्ति ही अपनी रूढ मान्यता को सदोष समझ कर भी उससे चिपटे रहते है। सत्योपासक एव तत्त्वदर्शी पुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे सत्य का दर्शन होते ही तत्काल निर्भीकता के साथ असत्य का परित्याग कर सत्य को आत्मसात् कर लेते है।

आर्य सुधर्मा पूर्वाग्रहो से परे, सत्य के परमोपासक और प्रबुद्धचेता विद्वान् थे। उन्होने प्रभु द्वारा अपनी प्रार्थना के स्वीकृत होते ही भगवान् महावीर के कर-कमलो से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य सुधर्मा के साथ उनके ५०० शिष्यों ने भी सत्य मार्ग को पहिचाना और अपने शिक्षा-गुरु के पदचिन्हों पर चलते हुए श्रमणधर्म स्वीकार कर प्रभुचरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया।

दीक्षा के पश्चात् आर्य सुधर्मा

जिस समय आर्य सुधर्मा ने भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की, उस समय उनकी आयु ५० वर्ष थी। वे वय मे भगवान् महावीर से लगभग ८ वर्ष बड़े थे। वेद-वेदांगादि के धुरधर विद्वान् होने के साथ-साथ वे पूर्ण अनाग्रही भी थे। उनकी बुद्धि पर्याप्तरूपेणं परिपक्व हो चुकी थी पर वे बड़े जिज्ञासु वृत्तिके विद्वान् थे। महान् अतिशयों से युक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थकर महावीर को गुरुरूप मे पा कर उनकी जिज्ञासु-वृत्ति बड़े वेग के साथ जागृत हो उठी।

गौतम प्रभृति अन्य गणधरो के साथ-साथ आर्य सुधर्मा ने भी एकाग्र चित्त हो जब भगवान् महावीर से त्रिपदी का ज्ञान सुना तो वे अथाह ज्ञान के भण्डार बन गये। सभी गणधरों ने प्रभु के मुख से सुने उपदेश के आधार पर सर्वप्रथम चतुर्दश पूर्वो की रचना की और तदनन्तर एकादशांगी का ग्रथन किया। चतुर्दश पूर्व जो पहले संस्कृत भाषा में थे, वे काल-प्रभाव से विच्छिन्न हो गये है। आज जो आचारांगादि एकादशाग उपलब्ध होते है, वे आर्य सुधर्मा की वाचना के ही माने जाते है।[1]

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने ग्यारहों गणधरों द्वारा द्वादशांगी की रचना के पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपने पंचम

---

[1] यदिति श्रुतमस्माभि , पूर्वेषां सम्प्रदायत.।
चतुर्दशापि पूर्वाणि, सस्कृतानि पुराभवन् ।।११३।।
प्रज्ञातिशय साध्यानि, तान्युच्छिन्नानि कालत.।
अधुनैकादशांग्यस्ति, सुधर्मस्वामिभाषिता ।।११४।।
[प्रभावक चरित्र, ८, वृद्धवादिसूरिचरित्र, पृ० ५८]

आर्य सुधर्मा मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान – इन चार ज्ञान के धारक थे। आगम और आगमेतर साहित्य मे जिस प्रकार इनके केवलज्ञान की उपलब्धि का समय मिलता है उस प्रकार इन्हे चार ज्ञान कब हुए, इसका कही कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्य सुधर्मा भगवान् महावीर की विद्यमानता मे ही चार ज्ञान के धारक हो चुके थे और वर्षो चार ज्ञान के धारी रहे।

सुधर्मा के गण और साधु

अग्निभूति आदि ९ गणधर आर्य सुधर्मा को दीर्घजीवी समझ कर उन्हे अपना-अपना गण सम्हला कर भगवान् महावीर की विद्यमानता मे ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये, अत क्रमश उनके निर्वाण से एक-एक मास पूर्व उनके गणो का भी आर्य सुधर्मा के गण मे विलय हो गया और उन ९ गणधरो के गणो के सभी श्रमण आर्य सुधर्मा के अन्तेवासी कहलाने लगे।[1]

९ गणधरों का निर्वाणकाल और सुधर्मा के साधु

भगवान् महावीर के निर्वाण से पूर्व जिन ९ गणधरो का निर्वाण हुआ एव जिनके गण आर्य सुधर्मा के गण मे विलीन हुए उनके नाम व निर्वाणकाल निम्न प्रकार से है –

गणधर-नाम	निर्वाण-काल
द्वितीय गणधर अग्निभूति	वीर-निर्वाण से २ वर्ष पूर्व
तृतीय गणधर वायुभूति	वीर-निर्वाण से २ वर्ष पूर्व
चतुर्थ गणधर आर्य व्यक्त	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
छट्ठे गणधर आर्य मण्डित	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
सातवे गणधर आर्य मौर्यपुत्र	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
आठवे गणधर आर्य अकम्पित	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
नवमे गणधर अचलभ्राता	वीर-निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व
दशवे गणधर मेतार्य	वीर-निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व
ग्यारहवे गणधर आर्य प्रभास	वीर-निर्वाण से ६ वर्ष पूर्व

ये ९ ही गणधर एक मास की सलेखना से राजगृह मे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

इसके परिणामस्वरूप आर्य सुधर्मा के शिष्य-श्रमणो की सख्या भगवान् महावीर की विद्यमानता मे ही ३९०० तक पहुच गई।

ग्यारह गणधरो के श्रमणो की कुल सख्या ४४०० आगम एव आगमेतर साहित्य मे बताई गई है और भगवान् महावीर के सघ मे कुल साधु १४,००० थे। उनमे से इन्द्रभूति के ५०० श्रमणो को छोड कर शेष साधु-समुदाय

---

[1] परिणिव्वुया गणहरा जीवते णायए णव जणाउ। ६५८
[आवश्यक निर्युक्ति, भा० १]

परम्परा का आकर्षण केन्द्र और उनका उदात्त आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत आभ्यतर व्यक्तित्व हमारी सम्पूर्ण श्रमण सस्कृति का पुजीभूत तेजोमय स्वरूप सा प्रतीत होता है।

छद्मस्थकालीन साधना

आर्य सुधर्मा वेद-वेदागादि चतुर्दश विद्याओं के कुशल ज्ञाता थे। सकल शास्त्र के पारगामी विद्वान् होने पर भी उन्हे कठोर परिश्रम से अर्जित अपनी विशाल ज्ञानराशि मे एक प्रकार की न्यूनता, अपूर्णता एवं रिक्तता का अनुभव होता था। ज्ञान की यह रिक्तता उनके अन्तर्मन में अहर्निश एक शल्य की तरह खटकती रहती थी। वे सत्य की गवेषणा मे सतत प्रयत्नशील थे। जब उन्हे भगवान् महावीर के प्रथम दर्शन हुए तो वे उनकी सौम्य मुखमुद्रा के दर्शन और उनकी वीतरागतापूर्ण वाणी के श्रवण से पूर्णरूपेण प्रभावित हुए।

प्रभुदर्शन से उनके मानस में आशा की किरण प्रस्फुटित हुई और उन्हे यह अनुभव हुआ कि उनकी वह रिक्तता-अपूर्णता विश्व की महान् विभूति — भगवान् महावीर के द्वारा अवश्य ही भर दी जायगी — पूर्ण कर दी जायगी।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने अन्तर्मन की निगूढतम शका को सुन कर तो वे आश्चर्य से अभिभूत हो गये और उनकी वह आशा तत्क्षण आस्था के रूप मे परिणत हो गई। भगवान् महावीर की तर्कसंगत एव युक्तिपूर्ण अमोघ वाणी से अपने सन्देह का सम्पूर्ण रूप से समाधान होते ही आर्य सुधर्मा ने परम सन्तोष का अनुभव करते हुए श्रमण दीक्षा ग्रहण कर अपने आपको प्रभु की चरण-शरण मे समर्पित कर दिया। भगवान् महावीर द्वारा दिये गये 'त्रिपदी' के ज्ञान से आर्य सुधर्मा ने अपने अन्तर में भरे अक्षय्य ज्ञान भण्डार के बन्द कपाटो की मानो कुजी ही प्राप्त कर ली। अभ्यन्तर के कपाट खुलते ही उनके मनोमदिर मे अनन्तकाल से आधिपत्य जमाया हुआ निबिडतम अज्ञानान्धकार क्षण भर मे तिरोहित हो गया और उसके स्थान पर अनिर्वचनीय, शुभ्र, दिव्य प्रकाश जगमगा उठा।

आर्य सुधर्मा ने प्रभु के प्रथमोपदेश से सामायिक चारित्र के महत्व को आत्मसात् कर अपने लोकजनीन प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रवाह को थोथे कर्मकाण्ड की ओर से मोड कर सम्पूर्ण सावद्य — त्यागरूप सामायिक चारित्र की दिशा मे जोड दिया। पूर्ण ज्ञानी त्रिलोकगुरु भगवान् महावीर के उपदेशो से उन्होने अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के साथ-साथ श्रमणसघ की सुव्यवस्था, उन्नति एव अभिवृद्धि करते हुए आर्य जम्बू और प्रभव जैसे सहस्रों भव्यो को श्रमणधर्म मे दीक्षित किया। शासन-सेवा की तरह आप कठोर और दीप्त तप की साधना मे भी पीछे नही रहे। उपशम भावपूर्वक घोर तपस्या के प्रभाव से उन्हे अनेक प्रकार की आश्चर्यकारी लब्धिया भी शक्तिरूप से प्राप्त हो गई। परन्तु आपने सदा शान्त, दान्त एव गम्भीर भाव से उन सिद्धियो को अपने अभ्यन्तर मे ही दबाये रखा।

होता है कि आचार्य वसु की तरह अन्य भी जो पूर्वधारी एव विशिष्ट योग्यता वाले मुनि थे उनके आधीन साधु-समुदाय की व्यवस्था का कार्य रखा गया हो।

निरयावलिका सूत्र मे लिखा है कि आर्य सुधर्मा ५०० साधुओ के परिवार से राजगृह नगर मे पधारे।[1] सभव है उन ५०० साधुओ के अतिरिक्त अवशिष्ट जो साधु आर्य सुधर्मा के शासन में थे उन सब को विभिन्न संघाटको मे बाट दिया गया हो और उनकी व्यवस्था सुयोग्य सघाटकपतियो के आधीन रखी गई हो। वे सघाटकपति आचार्य, उपाध्याय अथवा स्थविर आदि किसी पद के अधिकारी हो सकते है। आचार्य वसु और आर्य सुधर्मा के ५०० साधुओ के परिवार से विहार को दृष्टिगत रखते हुए यह निश्चय करना अनुचित नही होगा कि स्वय प्रभु महावीर की विद्यमानता मे और उनके पश्चात् भी गणधरो के अतिरिक्त आचार्य, स्थविर आदि पदो पर सुयोग्य साधुओ को नियुक्त करने की व्यवस्था थी।

आर्य सुधर्मा भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर संघनायक

जैसा कि इस ग्रन्थमाला के प्रथम भाग मे बताया जा चुका है, ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रम सवत् से ४७० वर्ष और शक सवत् से ६०५ वर्ष पूर्व, वर्षाकाल के चौथे मास एव सातवे पक्ष मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि मे भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उसी रात्रि को इन्द्रभूति गौतम ने केवलज्ञान की उपलब्धि की।

दूसरे ही दिन कार्तिक शुक्ला १ के दिन आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप मे धर्मसघ का अधिनायक-आचार्य नियुक्त किया गया। वर्तमान, अनन्त-अनागत और विगतकाल की सभी बातो को प्रत्यक्ष जानने-देखने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थकर भगवान् ने अपने निर्वाण से लगभग ३० वर्ष पूर्व तीर्थस्थापना के दिन ही आर्य सुधर्मा को दीर्घायु एव योग्य जान कर गण की अनुज्ञा दे रखी थी, इस बात से चतुर्विध तीर्थ भलीभाति परिचित था। इसके साथ ही साथ चतुर्विध तीर्थ को यह भी विदित था कि श्रमण भगवान् महावीर की विद्यमानता मे अग्निभूति आदि जिन ९ केवलज्ञानी गणधरो ने निर्वाण प्राप्त किया, उन्होने अपने-अपने निर्वाण से एक मास पूर्व ही आर्य सुधर्मा को गणनायक एव दीर्घायुष्मान् जान कर अपने-अपने गण सम्हला दिये थे।

इन दो सर्वविदित तथ्यो के अतिरिक्त भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भगवान् के पट्टधर बनने के सभी दृष्टियो से योग्यतम अधिकारी भगवान् के ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम को कुछ ही याम पश्चात् उसी रात्रि मे केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी थी, अतः वे भगवान् के उत्तराधिकारी नही बन सकते थे।

---

[1] तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी अज्जसुहम्मे नाम अणगारे जाइसपन्ने जहा केसी जाव पचहि अणगारसएहिं सद्धि सपरिवुडे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे ·· जेणेव रायगिहे नयरे जाव अहापडिरूव उग्गह ओगिण्हित्ता सजमेण जाव विहरइ। [निरयावलियाओ, अ० १]

आर्य सुधर्मा के ही नेतृत्व मे आ जाता है। क्योकि भगवान् महावीर ने सुधर्मा को गणधर नियुक्त करते समय गण की अनुज्ञा प्रदान कर दी थी। उसकी सार्थकता सुधर्मा के ५०० शिष्यों के अतिरिक्त अन्य साधु-समुदाय के मिलाने पर ही हो सकती है। अत: और गणधरो के गणों के अतिरिक्त शेष श्रमणों को सुधर्मा के गण मे ही समझना चाहिये। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् आर्य सुधर्मा गणधर के स्थान पर संघाधिनायक आचार्य कहलाये क्योंकि वे भगवान् महावीर के पट्टधर हो चुके थे।

क्या सुधर्मा के आधीन अन्य आचार्य भी थे ?

प्रश्न उपस्थित होता है कि हजारों श्रमणों के उस अतिविशाल समुदाय की शिक्षा-दीक्षा और दैनिकचर्या की समुचित व्यवस्था का सचालन तप-स्वाध्याय-निरत और शास्त्र की वाचना देने वाले आर्य सुधर्मा स्वय ही करते थे अथवा सघ-सचालन मे उनके सहायक कोई अन्य आचार्य आदि भी थे।

शास्त्रीय प्रकरणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन एव अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के शासनकाल मे जिस प्रकार गणधर और स्थविर आदि श्रमणसंघ की व्यवस्था का कार्य करते थे, उसी प्रकार आर्य सुधर्मा के काल मे भी आचार्य, स्थविर आदि सघ की व्यवस्था में आर्य सुधर्मा का हाथ बटाते थे।

शास्त्र मे स्थान-स्थान पर उल्लेख आता है :-

"थेराण अतिए सामाइयमाइआई एक्कारस अगाई अहिज्जइ-अहिज्जित्ता" आदि।

निर्युक्ति, चूर्णि आदि प्राचीन ग्रन्थो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समय मे भी अलग-अलग आचार्यो के नेतृत्व मे साधुओं का अध्ययन-अध्यापन एव विचरण होता था।

भगवान् महावीर के शासन मे ३०० चतुर्दश पूर्वधर और ४०० वादी थे, तो उनके साथ रहने वाले साधुओं के अध्ययन आदि की व्यवस्था उनके द्वारा अवश्य की जाती होगी। आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थों से हमारे इस अनुमान की पूर्ण पुष्टि होती है जैसाकि निर्युक्ति मे कहा है – "राजगृही के गुणशील उद्यान मे चतुर्दश पूर्वी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त से 'जीवप्रदेश' दृष्टि उत्पन्न हुई। आमलकल्पा के मित्रश्री ने उसको प्रतिवोध देकर समझाया।"[1] इससे यह सिद्ध

---

[1] (क) "जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।" [आव० निर्युक्ति गाथा]
रायगिहे गुणसिलए वसु चोद्दसपुव्वि तीसगुत्ताओ।
आमलकप्पा णयरी, मित्तसिरि कूरपिडाई ॥१२८॥ [मूलभाष्य]

(ख) "त्रित्तिओ सामिणा सोलसवासाइ उप्पाडितस्स णाणस्स तो उप्पण्णो। तेणं कालेणं तेण समएण रायगिहे गुणसिलए चेतिए वसू नाम भगवतो आयरिया चोद्दसपुव्वी समोसड्ढा, तस्स सीसो तीसगुत्तो नाम··· [आव० चू०, भा० १, पृ० ४१९-२०]

(ग) राजगृहे गुणशीलके उद्याने वसुराचार्यश्चतुर्दशपूर्वी समवसृत, तच्छिष्यात्तिष्यगुप्तादेपा दृष्टिरुत्पन्ना·· ।" [आवश्यकनिर्युक्तेरवचूर्णि, भा० १]

ऐसी स्थिति मे उपरिवर्णित तीन प्रमुख कारणों से चतुर्विध तीर्थ के समक्ष भगवान् महावीर का पट्टधर किसको नियुक्त किया जाय, इस प्रकार का कोई प्रश्न अथवा विवाद उत्पन्न होने जैसा प्रसग ही उपस्थित नही हुआ। अत भगवान् महावीर के निर्वाण के दूसरे ही दिन चतुर्विध तीर्थ ने आर्य सुधर्मा को सर्वसम्मति से भगवान् महावीर का सर्वसत्तासम्पन्न प्रथम पट्टधर, सघनायक-आचार्य नियुक्त कर दिया। उसी दिन से आज तक सुधर्मा स्वामी की शिष्य-परम्परा चलती आ रही है।[1]

आज जितने भी श्रमण एवं श्रमणिया विद्यमान है, वे सब आर्य सुधर्मा की शिष्य परम्परा के है। क्योंकि शेष सभी गणधरों ने निर्वाण प्राप्त करने से पहले ही अपने-अपने शिष्यमण्डल आर्य सुधर्मा को शिष्य रूप मे समर्पित कर निर्वाण प्राप्त किया था।[2]

भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा ही क्यों ?

साधारण से साधारण और प्रबुद्ध से प्रबुद्ध व्यक्ति के मन मे भी यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम की विद्यमानता मे उनको छोड पंचम गणधर आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का पट्टधर क्यों बनाया गया ? इन्द्रभूति ने तीर्थ-स्थापना काल से लेकर प्रभु के निर्वाण समय तक उनकी अहर्निश सेवा की। भगवान् के प्रति उनकी भक्ति एवं प्रीति भी अप्रतिम थी। फिर क्या कारण था कि इन्द्रभूति को भगवान् का उत्तराधिकारी नही बनाया गया ?

उत्तर साफ है कि उत्तराधिकारी अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य आदि के अधिकार को आगे चलाने वाला होता है। यह जानी हुई बात है कि पट्टधर अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य के आदेश, उपदेश और सिद्धान्तों को दृष्टि मे रखकर उसका प्रचार-प्रसार करने के साथ-साथ अनुयायी समाज से उनकी आज्ञा का पालन करवाते है। किन्तु केवलज्ञानी स्वय समस्त चराचर के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण जो कुछ

---

[1] सोहम्मं मुणिनाह, पढमं वदे सुभत्ति सजुत्तो।
जस्सेसो परिवाउ, कप्परुक्खुव्व वित्थरिउ ॥२॥ [हिमवन्त स्थविरावली]

[2] (क) जे इमे अज्जताए समणा निग्गंथा विहरति एए ण सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वुच्छिन्ना [कल्पसूत्र स्थविरावली]

(ख) परिणिव्वुया गणहरा जीवते णायए णव जणाउ ॥६५८ [आवश्यक निर्युक्ति]

(ग) जीवति ज्ञातके – ज्ञातकुलोत्पन्ने वीरे भगवति नव जना. इन्द्रभूति सुधर्मस्वामिवर्जा परिनिर्वृत्ता, इन्द्रभूति सुधर्मश्च स्वामिनि वीरे निर्वृत्ते परिनिर्वृत्त, तथापि प्रथममिन्द्रभूति. पश्चात्सुधर्मा स्वामी यश्च यश्च काल करोति, स स सुधर्मस्वामिनो गण ददाति तेषा तथाभूत सन्तानप्रवृत्ति हेतुभूताचार्यसम्भवात्‥ ‥।
[आव० नि०, गा० ६५८ की मलयगिरिवृत्ति]

दिगम्बर परम्परा के उपरोक्त दोनो विद्वानो ने जम्बुकुमार को ससार से विरक्ति होने के प्रकरण मे चौथे और पाचवे गणधर के क्षत्रिय होने का जो उल्लेख किया है वह इस प्रकार है –

"एक दिन जम्बुकुमार ने अपने मन मे विचार किया कि विपुल वैभव एव यश की जो उन्हे प्राप्ति हुई है वह किस सुकृत के प्रताप से हुई हे ? अपनी इस आन्तरिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जम्बुकुमार ने एक मुनि को सविधि वन्दन करने के पश्चात् प्रश्न किया–भगवन् ! मै यह जानना चाहता हूँ कि वास्तव मे मै कौन हूँ, कहा से आया हूँ और जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है, वह किस पुण्य के फल से प्राप्त हुआ है ? आप दया कर मुझे मेरे पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाइये ।"

"सौधर्म नामक उन मुनि ने, जो कि धर्मोपदेशक थे, उत्तर दिया – 'वत्स ! सुन, मै तुझे पूर्व-भवो का वृत्तान्त सुनाता हूँ ।'[1] इसी मगध देश के वर्द्धमान नामक ग्राम मे किसी समय भवदत्त और भवदेव नामक दो सहोदर रहते थे । उन दोनो ने क्रमश जैन श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और बहुत वर्षो तक श्रमणाचार का पालन किया एव दोनो भाई मृत्यु के पश्चात् सनत्कुमार स्वर्ग मे देव रूप से उत्पन्न हुए । देवायु पूर्ण होने पर वडे भाई भवदत्त का जीव महाविदेह क्षेत्र मे वज्रदन्त नामक राजा के पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ । उसका नाम सागरचन्द्र रखा गया । छोटे भाई भवदेव का जीव देवलोक से च्युत हो महाविदेह क्षेत्र मे महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ । सागरचन्द्र सयम ग्रहण कर कठोर तपश्चर्या करने लगा और शिवकुमार माता-पिता के अत्यधिक अनुरोध के कारण घर मे रहते हुए भी श्रमणाचार का पालन एव उग्र तपश्चरण करने लगा । अन्त मे क्रमश समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे दोनो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग मे देव हुए ।"

"दश सागर की देवायु पूर्ण होने पर वडे भाई भवदत्त का जीव मगध देश के सवाहनपुर नामक नगर के राजा सुप्रतिष्ठ की रानी धर्मवती की कुक्षि से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ । उसका नाम सौधर्म रखा गया ।[2] सौधर्मकुमार क्रमश सभी विद्याओ मे निष्णात हुआ । एक दिन राजा सुप्रतिष्ठ अपने परिवार सहित भगवान् महावीर के दर्शन-वन्दन, उपदेश-श्रवण के लिये प्रभु के समवसरण मे पहुँचा । भगवान् की भवरोग विनाशिनी देशना सुनकर राजा सुप्रतिष्ठ ने ससार से विरक्त हो प्रभु के पास निर्ग्रथ–दीक्षा ग्रहण कर ली । थोड़े ही दिनो मे वह सुप्रतिष्ठ मुनि समस्त श्रुतशास्त्र के ज्ञाता वन गये और भगवान् महावीर ने उन्हे अपने चतुर्थ गणधर के पद पर नियुक्त किया ।"[3]

---

[1] अथोवाच मुनिर्नाम्ना, सौधर्मा धर्म देशक । शृणु वत्स वदे तेऽथ, वृत्तान्त पूर्वजन्मन ।।
[जम्बूस्वामीचरितम् (प० राजमल्ल) सर्ग ६]

[2] [वही, सर्ग ६, श्लो० १८-२३]

[3] दिवसै कतिभिर्भिक्षु श्रुतपूर्णोऽभवन्मुनि ।
गणधरस्तुर्यो जातो वर्द्धमानजिनेशिन ।।२८।। [वही]

हो सकते । इन्द्रभूति का अपरनाम लोहार्य हो इस प्रकार का उल्लेख दिगम्बर एव श्वेताम्बर परम्परा के किसी ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होता जब कि आर्य सुधर्मा के लिये कषायपाहुड़ तथा षट्खडागम की टीकाओ मे एव दिगम्वर परम्परा के अन्य ग्रन्थो मे लोहार्य नाम का प्रयोग किया गया है ।

दिगम्बर परम्परा मे केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य नही अत. केवलज्ञान के पश्चात् भगवान् को आहार देने वाले साधु का नाम लोहार्य था इस अभिमत की दिगम्बर परम्परा मे तो कल्पना तक नही की जा सकती । पर श्वेताम्बर परम्परा मे केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य है । ऐसी स्थिति मे "आवश्यक मलयवृत्ति" मे भगवान् को कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् आहार ला कर देने वाले, "खतिखमो, पवरलोह सरिवन्नो" इन उत्कृष्ट विशेषणो से सम्बोधनीय साधु सभवत· आर्य सुधर्मा हो सकते है। तत्कालीन साधुओ मे लोहज्ज (लोहार्य) नामक अन्य किसी साधु का श्वेताम्वर परम्परा के ग्रन्थो मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता। इन सब तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि आर्य सुधर्मा का अपरनाम लोहार्य हो ।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम मे और यापनीय परम्परा (जो विलुप्त हो चुकी है) के "केवलिभुक्ति"[1] नामक उपलब्ध ग्रन्थ मे केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य है । भगवान् स्वय भिक्षार्थ नही पधारते । ऐसी दशा मे भगवान् को आहार ला कर देने वाला कोई न कोई साधु अवश्य होना चाहिए । भगवान् को आहार ला कर देने के लिये कोई एक ही साधु नियत था अथवा विभिन्न इस सम्वन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता । सीहा अरणगार ने मेढियाग्राम मे रेवती गाथापत्नी के घर से बीजोरापाक ला कर दिया और उसके सेवन से भगवान् का रोग शान्त हुआ, इस प्रकार का उल्लेख भगवती सूत्र मे उपलब्ध होता है ।[2] यह एक विशिष्ट परिस्थिति मे घटित हुई घटना है । इससे यह निर्णय नही किया जा सकता कि भगवान् को आहार ला कर देने का कार्य किसी एक साधु के जिम्मे था या अनेक के ।

क्या आर्य सुधर्मा क्षत्रिय राजकुमार थे ?

यद्यपि श्वेताम्वर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के मान्य ग्रन्थो मे भगवान् महावीर के ग्यारहो गणधरो को ब्राह्मण जाति का बताया गया है किन्तु दिगम्बर परम्परा के वीर नामक कवि ने वि० स० १०७६ मे रचित अपने अपभ्रंश भाषा के महाकाव्य "जम्बूसामिचरिउ" मे और कवि राजमल्ल ने वि० स० १६३२ मे रचित सस्कृत भाषा के अपने काव्य "जम्बूस्वामिचरितम्" मे चौथे और पाचवे – दो गणधरो के क्षत्रिय होने का उल्लेख करते हुए पाचवे गणधर आर्य सुधर्मा को चौथे गणधर सुप्रतिष्ठ का पुत्र वताया है ।

[1] केवलिभुक्ति, यापनीय आचार्य शाकटायन (पाल्यकीर्त्ति) रचित (विक्रम की ६ वी शताब्दी)

[2] भगवती सूत्र, शतक १५, सू० ५५७

मानती है।[1] ऐसी दशा मे उपरोक्त दोनो कवियो ने चतुर्थ एव पंचम गणधर को क्षत्रिय माना है; इस सम्बन्ध मे विशेष खोज करने की आवश्यकता है। यहा सबसे बडी विचारणीय बात तो यह है कि भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो मे सुप्रतिष्ठ नाम के कोई भी गणधर नही थे। ऐसी स्थिति मे वीर कवि और प० राजमल्ल ने चतुर्थ गणधर का नाम आर्यव्यक्त के स्थान पर सुप्रतिष्ठ और आर्य सुधर्मा को सुप्रतिष्ठ का पुत्र बताते हुए जो कथानक प्रस्तुत किया है, वह सारा कथानक ही तब तक प्रामाणिक नही माना जा सकता जब तक कि इसकी पुष्टि मे कोई प्राचीन ठोस प्रमाण उपलब्ध नही हो जाता।

आर्य सुधर्मा का निर्वाण

आर्य सुधर्मा ने ५० वर्ष की अवस्था मे भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर तप-सयम की आराधना और निरन्तर ३० वर्ष तक एक परम विनीत शिष्य के रूप मे भगवान की आज्ञा का पालन करते हुए गण की महती सेवा की। उन्होने प्रभु के निर्वाण के पश्चात् प्रभु के प्रथम पट्टधर के रूप मे २० वर्ष तक सघाधिनायक रहकर सघ का सचालन किया। वीर-निर्वाण सवत् १२ मे इन्द्रभूति गौतम के निर्वाण के पश्चात् उन्होने चार घाति-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार आर्य सुधर्मा ने १२ वर्ष छद्मस्थचर्या मे सघाधिनायक रहते हुए तथा ८ वर्ष तक केवली रूप से सघाधिनायक रहते हुए कुल मिलाकर २० वर्ष तक भगवान् महावीर के शासन की अमूल्य सेवाए की, जो इस पचम आरक की समाप्ति तक जिनशासन के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो से अकित की जाती रहेगी।

अन्त मे वीर नि० सवत् २० के अन्तिम चरण मे ईसा से ५०७ वर्ष पूर्व राजगृह नगर के गुणशील चैत्य मे आर्य सुधर्मा ने पादोपगमन सथारा किया।

आर्य सुधर्मा ने पचास वर्ष का एक लम्बा आदर्श, पवित्र और सफल जीवन जीते हुए वीर निर्वाण सवत् २० के अन्तिम चरण मे एक मास के पादोपगमन सथारे से १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर अपने जीवन का चरम और परम लक्ष्य—निर्वाण प्राप्त किया जिसके लिये वे पचास वर्ष की आयु मे अपना सर्वस्व त्याग कर साधनापथ पर आरूढ हुए थे।

विश्व-कल्याणकारी उन महान् आचार्यप्रवर को कोटि-कोटि प्रणाम!

वर्तमान द्वादशांगी के रचनाकार

समस्त जैन परम्परा की मान्यतानुसार तीर्थंकर भगवान् अपनी देशना मे जो अर्थ अभिव्यक्त करते है, उनको उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ

---

[1] सव्वे य माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विऊ।
सव्वे दुवालसगीआ, सव्वे चउदस पुव्विणो ॥६५७॥
[आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्र ३३६ (२)]

"सौधर्मकुमार ने कुछ दिनों पश्चात् अपने पिता सुप्रतिष्ठ को भगवान् के गणधर के रूप मे देखा तो उसे भी ससार से विरक्ति हो गई और वह भी प्रव्रजित हो गया। थोडे समय के पश्चात् वह भी भगवान् का पाचवा गणधर वन गया। सुधर्मा नाम का वह पचम गणधर मै ही हूँ जो कि तुम्हारे भवदेव के भव में तुम्हारा भवदत्त नामक बडा भाई था।[1] तुम (छोटे भाई भवदेव के जीव) ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के श्रेष्ठी अर्हद्दास की पत्नी जिनमती की कुक्षि से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए। तुम्हारा नाम जम्बूकुमार रखा गया।"[2]

कवि वीर और पं० राजमल्ल ने भगवान् महावीर के चतुर्थ एव पचम गणधर को किस आधार पर क्षत्रिय वशोद्भव वताया है इसे खोज निकालने का पर्याप्त प्रयास किये जाने के उपरान्त भी अभी तक किसी भी अन्य ग्रन्थ मे इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नही हो सका है।

यह पहले वताया जा चुका है कि श्वेताम्वर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराये एक मत से भगवान् महावीर के सभी गणधरो को ब्राह्मण कुलोद्भव

---

[1] (क) सौधर्मोऽपि तथा पश्चाद्वीक्ष्य त गणनायकम्।
जातसर्वागनिर्वेद प्रवव्राज महामुनि. ।।२६।।
क्रमात्सोऽप्यभवत्तस्य पचमो गणनायक ।
सोऽह सुधर्म्मनामा त्वया भवद्भ्रातृचरोऽधुना ।।३०।। [वही]

(ख) त पुरु सुपइट्ठियनिवइ जिणचरणमइ परिपालइ समरे बलुद्धरु।
...तहो सुहलक्खणभायणा, गुरदेवच्चणकयमणा।
सिगारासयसिप्पिणी, पढमकलत्त रुप्पिणी।
भवयत्तु जेट्ठु जो विहि मि चिरु सुरु सायरचद्दु पुणो वि सुरु।
सो जाउ पुत्तु जणजाणियहे नरनाहे रुप्पिणीराणियहे।
सउहम्मनामुविज्जापवरु, नीसेससत्थविण्णाणधरु।
एक्कहि दिणे सुप्पइट्ठु निवइ सकलत्तु सनदणु सुद्धमई।
गउ वदणभत्तिए भवतरणु सिरिवीरजिणदसमोसरणु।
निसुणेवि परमेट्ठिहि दिव्वझुणि पव्वज्ज लेवि हुउ परममुणि।
गणहरु चउत्थु तवतवियतणु सिद्धिवहुनिवेसियविमलमणु।
पेक्खेवि जणेरु निवसिरि चइउ सउहम्मकुमारु वि पव्वइउ।
गणहरु पचमु नासियदुहहो अविणट्ठथाणु सासयसुहहो।
सो हुउ रिसिसघविराइयउ विहरतुज्जाणि पराइयउ ।।
[जवूसामिचरिउ (वीर विरचित) ८-३, ८-४]

[2] त्व हि ततो दिवश्च्युत्वा, विद्युन्मालिचरोऽमर ।
अर्हद्दासगृहे सूतुर्जात सर्वसुखाकर ।।३३।।
[जम्बूस्वामिचरितम् (प० राजमल्ल रचित), सर्ग ६]

तो प्रभु की निर्वाणरात्रि मे ही केवली बन गये और १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौप कर निर्वाण को प्राप्त हुए। अत आर्य सुधर्मा को छोडकर शेष दशो गणधरो की शिष्य-परम्परा और वाचनाए उनके निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गई, आगे नही चल सकी।

ऐसी अवस्था मे भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके धर्मतीर्थ के उत्तराधिकार के साथ-साथ भगवान् के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार भी आर्य सुधर्मा को प्राप्त हुआ और केवल आर्य सुधर्मा की ही अगवाचना प्रचलित रही। वारहवे अग दृष्टिवाद का आज से वहुत समय पहले विच्छेद हो चुका है। आज जो एकादशागी उपलब्ध है, वह आर्य सुधर्मा की ही वाचना है।[1] इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण आगमो मे उपलब्ध है उनमे से कुछ प्रमाण यहा प्रस्तुत किये जा रहे है :–

आचाराग सूत्र के उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य मे – "सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय।" अर्थात् – हे आयुष्मन् (जवू) मैने सुना है, उन भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है ....। इस वाक्य रचना से यह विल्कुल स्पष्ट है कि इस वाक्य का उच्चारण करने वाला गुरु अपने शिष्य से वही कह रहा है जो स्वय उसने भगवान् महावीर के मुखारविन्द से सुना था।

आचाराग सूत्र की ही तरह समवायाग, स्थानाग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति आदि अग-सूत्रो मे तथा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अगवाह्य श्रुत मे भी आर्य सुधर्मा द्वारा विवेच्य विपय का निरूपण – "सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय" इसी प्रकार की शव्दावली से किया गया है।

अनुत्तरोपपातिक सूत्र, ज्ञाताधर्म कथा आदि के आरभ मे और भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है –

> " ....तेण कालेण तेण समएण रायगिहे नयरे, अज्ज सुहम्मस्स समोसरण ... परिसा पडिगया ॥२॥
>
> जवू जाव पज्जुवासइ एव वयासी जइण भते ! समणेण जाव सपत्तेण अट्ठमस्स अगस्स अतगडदसाण अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स ण भते ! अगस्स अणुत्तरोववाइयदसाण समणेण जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते ॥३॥
>
> तएण से सुहम्मे अणगारे जवू अणगार एव वयासी – एव खलु जवू ! समणेण जाव सपत्तेण नवमस्स अगस्स अणुत्तरोववाइयदसाण तिण्णि वग्गा पण्णत्ता ॥४॥"

आर्य जम्बू ने अपने गुरु आर्य सुधर्मा से समय-समय पर अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते हुए पूछा – "भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने अमुक अग का क्या अर्थ वताया ?"

अपने शिष्य जम्बू के प्रश्न के उत्तर मे उन अगो का अर्थ वताने का उपक्रम करते हुए आर्य सुधर्मा कहते है – "आयुष्मन् जवू ! अमुक अग का जो

अपनी शैली मे सूत्रवद्ध करते है। वे ही बारह अग प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल मे द्वादशागी-सूत्र रूप मे प्रचलित एव मान्य होते है।[1] द्वादशांगी का गणिपिटक के नाम से भी उल्लेख किया गया है।[2] सूत्र गणधर-कथित या प्रत्येकबुद्ध-कथित होते है। वैसे श्रुतकेवलि-कथित और अभिन्न दशपूर्वी-कथित भी होते है।[3]

यद्यपि विभिन्न तीर्थकरो के धर्मशासन मे तीर्थस्थापना के काल मे ही गणधरो द्वारा द्वादशागी की नये सिरे से रचना की जाती है तथापि उन सब तीर्थंकरो के उपदेशों मे जीवादि मूल भावो की समानता एवं एकरूपता रहती है क्योकि अर्थ रूप से जैनागमो को अनादि-अनत अर्थात् शाश्वत माना गया है। जैसा कि नन्दीसूत्र के ५८वे सूत्र मे तथा समवायागसूत्र के १८५वे सूत्र मे कहा गया है :—

"इच्चेइयं दुवालसग गणिपिडग न कयाई नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुवि च भवइ य भविस्सइ य, धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे।"

समय-समय पर अगशास्त्रो का विच्छेद होने और तीर्थंकरकाल मे नवीन रचना के कारण इन्हें सादि और सपर्यवसित भी माना गया है।[4] इस प्रकार द्वादशांगी के शाश्वत और अशाश्वत दोनो ही रूप शास्त्रो मे प्रतिपादित किये गये है। इस मान्यता के अनुसार प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम चौवीसवे तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के दिन जो प्रथम उपदेश इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को दिया गया, भगवान् की उस वाणी को अपने साथी अन्य सभी गणधरो की तरह आर्य सुधर्मा ने भी द्वादशागी के रूप मे सूत्रवद्ध किया।

ग्यारहो गणधरो द्वारा पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रथित बारह ही अगों मे शब्दो और शैली की न्यूनाधिक विविधता होने पर भी उनके मूल भाव तो पूर्णरूपेण वही थे जो भगवान् महावीर ने प्रकट किये।

पहले बताया जा चुका है कि भगवान् महावीर के ११ गणधरो की वाचनाओ की अपेक्षा से ९ गण थे और उनकी पृथक्-पृथक् ९ वाचनाए थी। ११ मे से ९ गणधर तो भगवान् महावीर के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हो गये। केवल इन्द्रभूति और आर्य सुधर्मा ये दो ही गणधर विद्यमान रहे। उनमें भी इन्द्रभूति गौतम

---

[1] अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तइ ॥१९२॥
[आ० निर्युक्ति, गा० १९२, धवला भा० १ पृ० ६४,७२]

[2] "दुवालसगे गणिपिडगे" [समवायाग सूत्र १ व १३६, नदी० ४०]

[3] सुत्त गणहरकथिद, तहेव पत्तेयवुद्धकथिद च।
सुदकेवलिणा कथिदं, अभिण्णदसपुव्वकथिद च ॥४॥ [मूलाचार, ५-८०]

[4] इच्चेइय दुवालसग गणिपिडग वुच्छित्तिनयट्ठाए साइय सपज्जवसिय, अवुच्छित्तिनयट्ठाए अणाइय अपज्जवसिय। [नन्दी सू०, सू० ४२]

श्लोकवार्त्तिक मे इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है कि तीर्थंकर आगमो का अर्थत उपदेश देते है और उसे सभी गणधर द्वादशागी के रूप मे शब्दत ग्रथित करते है।

धवला मे यह मन्तव्य दिया गया है कि आर्य सुधर्मा को अगज्ञान इन्द्रभूति गौतम ने दिया। परन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के प्राचीन ग्रथो मे कही इस प्रकार का उल्लेख नही मिलता। ऐसी दशा मे यही कहा जा सकता है कि धवलाकार की यह अपनी स्वय की नवीन मान्यता है।

श्वेताम्बर आचार्यो की ही तरह धवलाकार के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन दिगम्बर आचार्यो की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर ने सभी गणधरो को अर्थत द्वादशागी का उपदेश दिया। जयधवला मे जब यह स्पष्टत उल्लेख किया गया है कि आर्य सुधर्मा ने अपने उत्तराधिकारी शिष्य जम्बूकुमार के साथ-साथ अन्य अनेक आचार्यो को द्वादशागो की वाचना दी थी[1] तो यह कल्पना धवलाकार ने किस आधार पर की कि श्रमण भगवान् महावीर ने अर्थत द्वादशागी का उपदेश सुधर्मादि अन्य गणधरो को न देकर केवल इन्द्रभूति गौतम को ही दिया ?

ऐसी स्थिति मे अपनी परपरा के प्राचीन आचार्यो की मान्यता के विपरीत धवलाकार ने जो यह नया मन्तव्य रखा है कि आर्य सुधर्मा को द्वादशागी का ज्ञान भगवान् महावीर ने नही अपितु इन्द्रभूति गौतम ने दिया इसका औचित्य विचारणीय है।

ऊपर उल्लिखित प्रमाणो से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि अन्य गणधरो के समान आर्य सुधर्मा ने भी भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर द्वादशागी की रचना की। अन्य दश गणधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण से पूर्व ही अपने-अपने गण उन्हे सम्हला कर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे अत आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशागी ही प्रचलित रही और आज वर्तमान मे जो एकादशागी प्रचलित है वह आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित है। शेष गणधरो द्वारा ग्रथित द्वादशागी वीर निर्वाण के कुछ ही वर्षो पश्चात् विलुप्त हो गई।

द्वादशांगी का परिचय

समवायाग[2] और नन्दीसूत्र[3] मे द्वादशागी का परिचय दिया गया है।

---

[1] तद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जबूसामीयादीणमणेयाणमाइरियाण वक्खाणिददुवालसगो घाइचउक्कखयेण केवली जादो। [जयधवला, पृ० ८४]

[2] सुय मे आउस तेण भगवया एवमक्खाय ॥सू० १॥
इह खलु समणेण भगवया महावीरेण आइगरेण तित्थगरेण " " " इमे दुवालसगे गणिपिडगे पण्णत्ते, त जहा-आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, वियाहपन्नत्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरण, विवागसुए, दिट्ठिवाए।" [समवायाग, प्रारम्भिक पाठ]

[3] अगपविट्ठ दुवालसविह पण्णत्त। त जहा-आयारो, सूयगडो, ठाण, समवायो, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरण, विवागसुय दिट्ठिवाओ, ॥सू० ४४॥ [नदीसूत्र]

अर्थ भगवान् महावीर ने फरमाया वह मैने स्वय ने सुना है। उन प्रभु ने अमुक अग का अमुक अध्ययन का, अमुक वर्ग का यह अर्थ फरमाया है…"

अपने शिष्य जम्बू को आगमो का ज्ञान कराने की उपरिवर्णित परिपाटी सुखविपाक, दुखविपाक आदि अनेक सूत्रो मे भी परिलक्षित होती है।

नायाधम्मकहाओ के प्रारम्भिक पाठ से भी यही प्रमाणित होता है कि वर्तमान काल मे उपलब्ध अग-शास्त्र आर्य सुधर्मा द्वारा गुफित किये गये है।[1]

आगमो में उल्लिखित – "उन भगवान् ने इस प्रकार कहा –" इस वाक्य से यह स्पष्टत प्रकट होता है कि इन आगमो मे जो कुछ कहा जा रहा है उसमे किंचित्मात्र भी स्वकल्पित नही अपितु पूर्णरूपेण वही शब्दवद्ध किया गया है जो श्रमण भगवान् महावीर ने उपदेश देते समय अर्थत श्रीमुख से फरमाया था।

केवल धवला को छोडकर सभी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों मे भी यही मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि अर्थ रूप मे भगवान् महावीर ने उपदेश दिया और उसे सभी गणधरो ने द्वादशागी के रूप मे ग्रथित किया। आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने विक्रम की छठी शताब्दी मे तत्वार्थ पर सर्वार्थसिद्धि की रचना की उसमे उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा है कि परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति से विभूषित सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थकर ने अर्थरूप से आगमों का उपदेश दिया। उन तीर्थकर भगवान् के अतिशय वुद्धि सम्पन्न एव श्रुतकेवली प्रमुख शिष्य गणधरो ने अग-पूर्व लक्षण वाले आगमो (द्वादशागी) की रचना की।[2]

इसी प्रकार आचार्य अकलक देव (वि. ८वी शती) ने तत्त्वार्थ पर अपनी राजवार्त्तिक टीका मे[3] और आचार्य विद्यानन्द[4] (वि. ६वी शती) ने अपने तत्त्वार्थ

---

[1] "तेण कालेणं तेण समएण अज्ज सुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अतेवासी अज्ज जबू नामे अणगारे…………………… अज्ज सुहम्मस्स थेरस्स नच्चासन्ने नाइदूरे,…………विणएण पज्जुवासमाणे एवं वयासी जइण भते समणेण भगवया महावीरेणं……………पचमस्स अगस्स अयमट्ठे पन्नत्ते छट्ठस्स ण भते! नायधम्मकहाणं के अट्ठे पन्नत्ते? जवूत्ति अज्जसुहम्मे थेरे अज्ज जबू नाम अणगार एवं वयासी…………….।"

[नायाधम्मकहाओ १–५]

[2] तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्ट।……… तस्य साक्षात् शिष्यै बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तै गणधरै श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनम्-अगपूर्वलक्षणम्।

[सर्वार्थसिद्धि १-२०]

[3] बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम्-आचारादि द्वादशविधमगप्रविष्टमुच्यते।

[राजवार्तिक १-२० १२, पृ० ७२]

[4] (क) तस्याप्यर्थत सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धे अर्हद्भाषितार्थं गणधर देवै ग्रथितम् इति वचनात्।

[तत्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ६]

(ख) द्रव्यश्रुत हि द्वादशागं वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञान तु भावश्रुत, तदुभयमपि गणधरदेवाना भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपमशमातिशयाच्च उत्पद्यमान कथमाप्तायत्त न भवेत्?

[तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक]

पच्चीस अध्ययनात्मक आचाराग के जो ८५ उद्देशन और ८५ समुद्देशनकाल माने गये है उसका कारण यह है कि दोनो श्रुतस्कन्धों के कुल मिला कर ८५ उद्देशक होते है। उनमे से प्रत्येक उद्देशक का वाचनाकाल एक-एक मान कर उद्देशकों के अनुसार ही उद्देशनकाल कहे गये है, जो इस प्रकार है –

प्रथम अध्ययन के ७, दूसरे के ६, तीसरे और चौथे के चार-चार, पाँचवे के ६, छठे के ५, सातवे के ८, आठवे के ७, नौवे के ४, दशवे के ११, ग्यारहवे एव बारहवे के तीन-तीन, तेरहवे, चौदहवे, पन्द्रहवे और सोलहवे – इन चारो के क्रमश दो-दो उद्देशक तथा शेष ६ अध्ययनो मे से प्रत्येक के एक-एक उद्देशक। इस प्रकार कुल ८५ उद्देशकों के अनुसार उद्देशनकाल और समुद्देशनकाल भी ८५-८५ है।[1]

उपर्युक्त ये सभी जिनोक्त जीवादि पदार्थ जो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शाश्वत एव पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत है, उन सब का समस्त जीवो पर दया व उनके कल्याण की दृष्टि से आचाराग मे समीचीन एव समग्ररूपेण विवेचन किया गया है।

आचाराग मे गद्य और पद्य इन दोनो ही शैलियो मे प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन होने के कारण यह गद्य-पद्यात्मक अगशास्त्र है। इसके त्रिष्टुभ, जगती आदि पद्य वैदिक पद्यो से पर्याप्त सादृश्य रखते है। वर्तमान मे दोनो श्रुतस्कन्धरूप आचाराग का पद[2] –परिमाण २५०० श्लोक प्रमाण है।

---

[1] सत्त य छ चउ चउरो, छ पच अट्ठेव सत्त चउरो य।
एक्कारा ति ति दो दो, सत्तेक्क एक्को य॥ [सग्रह गाथा]
गणना एव छन्द की दृष्टि से चतुर्थ चरण मे "सत्तेक्केक्क एक्को य" इस प्रकार का पाठ होना चाहिए। – सम्पादक

[2] पद के परिमाण का पता लगाने के लिये पूर्वाचार्यो ने पूरा प्रयास किया है। विशेषावश्यक भाष्य की गाथा १००३, अनुयोगद्वारवृत्ति, अगस्त्यसिह की दशवैकालिकचूर्णि, दशवैकालिक की हारिभद्रीया वृत्ति (अध्ययन १ की गाथा १) तथा शीलाकाचार्य-कृत आचाराग-वृत्ति (श्रुतस्कन्ध १, सूत्र १) मे पद शब्द पर प्रकाश डाला गया है। पर शास्त्रो मे प्रयुक्त 'पद" का युक्तिसगत वास्तविक अर्थ क्या होना चाहिए इसका निर्णय अभी तक नही हो पाया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि को पहले कर्मग्रन्थ की ७वी गाथा के अन्तर्गत "पद" की व्याख्या करते समय लिखना पडा कि "जिससे पूरे अर्थ का बोध हो उसे "पद" माना गया है।" दिगम्बरपरम्परा के मान्य ग्रन्थ "अग पण्णत्ती" मे एकादशागी के कुल श्लोको और पदो की जो सख्या दी है उसके अनुसार श्लोक-सख्या मे पदसख्या का भाग लगाने पर ५१०८८४६२१ श्लोको का एक पद बनता है। ऐसी स्थिति मे द्वादशागी मे प्रयुक्त पद के परिमाण के सम्बन्ध मे आज हमारे समक्ष ऐसी कोई सर्वमान्य परम्परा नही है जिससे कि पद का निश्चित स्वरूप जाना जा सके। – सम्पादक

समवायाग सूत्र मे सागरोपम कोटाकोटि समवाय के पश्चात् बारह अगों का क्रम और प्रत्येक का विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है।

केवल समवायाग ही नही अपितु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थो मे द्वादशागी का क्रम निम्नलिखित रूप मे दिया गया है :—

१. आचाराग
२. सूत्रकृताग (गोम्मटसार के अनुसार सुद्दयड)
३. स्थानाग
४. समवायांग
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (अगपण्णत्ति के अनुसार विपाकप्रज्ञप्ति)
　　(गोम्मटसार के अनुसार-विक्खापरणत्ति)
६. ज्ञाताधर्मकथा (अगपण्णत्ति के अनुसार ज्ञातृधर्मकथा)
　　(गोम्मटसार के अनुसार-नाहस्स धम्मकहा)
७. उपासकदशा (अगपण्णत्ति के अनुसार-उपासकाध्ययन)
८. अतकृद्दशा (गोम्मटसार के अनुसार-अतयडदसा)
९. अनुत्तरोपपातिक दशा (अगपण्णति के अनुसार-अनुत्तरोपत्पाद)
१०. प्रश्न व्याकरण
११ विपाकसूत्र (विपाकश्रुत, विवायसुय, विवागसुय और विवागसुत्त ये सभी समानार्थक नाम है।)
१२ दृष्टिवाद

१. आचारांग

(१) आचाराग – मे श्रमरण निर्ग्रंथो के आचार, गोचर, विनय, कर्मक्षयादि विनय के फल, कायोत्सर्ग, उठना-बैठना, सोना, चलना, घूमना, भोजन-पान-उपकरण की मर्यादा एव गवेषरण आदि, स्वाध्याय, प्रतिलेखन आदि, पाच समिति, तीन गुप्ति का पालन, दोषो को टाल कर शय्या, वसति, पात्र, उपकरण, वस्त्र, अशन-पानादि का ग्रहरण करना, महाव्रतो, विविध व्रतो, तपों, अभिग्रहो, अगो-पागो के अध्ययनकाल मे आचाम्ल आदि तप, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एव वीर्याचार – इन सब बातो का सम्यक्रूपेण विचार किया गया है।

आचाराग मे वाचनाए, अनुयोगद्वार, प्रतिपत्तिया वेष्टक, श्लोक, निर्युक्तिया – ये सभी सख्यात है। अगो के क्रम की अपेक्षा से आचाराग का प्रथम स्थान है अत यह प्रथम अग माना गया है। श्रुत-पुरुष का प्रमुख अग आचार होने के कारण भी इसे प्रथम अग कहा गया है।

आचाराग मे दो श्रुतस्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल एव ८५ ही समुद्देशनकाल कहे गये है। इस प्रथम अग मे १८,००० पद, सख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, और इसकी वर्णन परिधि मे आने वाले असख्यात त्रस एव अनन्त स्थावर माने गये है।

शीलाक ने भी अध्ययनो का यही क्रम दिया है । स्थानाग[1] और समवायाग[2] मे महापरिज्ञा अध्ययन को सातवे स्थान पर न रख कर नवम स्थान पर रखा गया है । नदिसूत्र की हारिभद्रीया तथा मलयवृत्ति मे महापरिज्ञा अध्ययन को आठवे और उपधानश्रुत को नौवे स्थान पर रखा है । इस प्रकार इन अध्ययनो के क्रम मे थोडा बहुत अतर उपलब्ध होता है पर सख्या मे कही कोई अतर नही दिया गया है ।

६ अध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कध मे पाच प्रकार के आचार–ज्ञान आचार, दर्शन आचार, चारित्र आचार, तप आचार और वीर्य आचार का वर्णन किया गया है ।

प्रथम अध्ययन

प्रथम श्रुतस्कन्ध के शस्त्र-परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन मे ७ उद्देशक है, जिसमे विश्वबन्धुत्व का सजीव चित्र खीचते हुए बताया गया हे कि प्रत्येक जीव अपने ही समान चेतना वाला है और सब को अपना-अपना जीवन प्रिय है अत प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् समझ कर किसी जीव की हिसा नही करनी चाहिए । क्योकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय मे से किसी भी जीव की हिसा करना दुर्गति और अनन्त भवभ्रमण का कारण है । वनस्पति काय की सजीवता बताने के लिये अध्ययन मे मनुष्य-देह के साथ वनस्पति की तुलना की गई है ।

प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा रखा गया है, उसका अर्थ यह है कि द्रव्य-शस्त्र-लाठी, तलवार, तोप आदि तथा भाव-शस्त्र काम, क्रोध, मद, मोहादि की भयकरता एव उनके द्वारा अजस्त्ररूपेण वृद्धिगत होने वाले अनन्त भवभ्रमण के भयावह स्वरूप को समझ कर द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र दोनो प्रकार ने शस्त्रो का परित्याग करना । द्रव्य और भावशस्त्रो को जान कर उनका परित्याग करना साधना का प्रथम चरण और मुक्ति का प्रथम सोपान है ।

द्वितीय अध्ययन

दूसरे "लोकविजय" नामक अध्ययन मे ६ उद्देशक है । लोकविजय का अर्थ है लोक अर्थात् ससार पर विजय । लोक दो प्रकार का है–पहला, चार प्रकार की गतियो मे भ्रमण रूप द्रव्यलोक, और दूसरा राग-द्वेषादि भावलोक । राग-द्वेषादि भावलोक के कारण ही जीव चतुर्गतिरूप द्रव्यलोक मे परिभ्रमण करता है । इस अध्ययन मे राग-द्वेष-विषय-कषायदि पर विजय प्राप्त करके लोक अर्थात् भवभ्रमण पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। इसमे ससार के बीजरूप मूल कारण क्रोध, मान, माया व लोभ का नाश कर वैराग्य एव सयम मे दृढचित्त होने तथा सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भो मे ममत्वत्याग का निर्देश

---

[1] णव बभचेरा पण्णत्ता तजहा – सत्थपरिन्ना, लोगविजओ जाव उवहाणसुय महापरिण्णा ।
[स्थानाग सूत्र, स्थान ६]

[2] आयारस्स ण भगवओ सचूलिआगस्स पणवीस अज्झयणा पण्णत्ता तजहा–
सत्थपरिण्णा लोगविजओ सीओसणीअ सम्मत्त ।
आवति धुय विमोह उवहाणसुय महपरिण्णा ।। [समवायाग, समवाय २५]

समवायाग सूत्र[1] और नन्दी सूत्र[2] के मूल पाठ मे आचारांग की (दोनों श्रुतस्कन्धो को मिला कर) पदसंख्या उल्लिखित है। इसके विपरीत आचारांग निर्युक्तिकार[3], आचाराग – वृत्तिकार शीलाकाचार्य और समवायाग की टीका मे नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि[4] आदि ने आचारांग के केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की पदसख्या १८,००० मानी है। इस सम्बन्ध में यथास्थान आगे विवेचन किया जायगा।

प्रथम श्रुतस्कन्ध

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम नवब्रह्मचर्य है और इसमे निम्न-लिखित ६ अध्ययन है :-

शस्त्रपरिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, लोकसार (आवति), धूत, महापरिज्ञा, विमोक्ष (विमोह) और उपधानश्रुत। आचाराग सूत्र मे ये ६ अध्ययन इसी क्रम से दिये हुए है। आचाराग निर्युक्तिकार[5] तथा वृत्तिकार

---

[1] (क) से ण अगट्टाए पढमे अगे दो सुयक्खधा, पणवीस अज्झयणा, पचासीइ उद्देसण-काला, पचासीइ समुद्देसणकाला, अट्ठारस पदसहस्साइ पदग्गेण
[समवायाग, (पू० घासीलालजी म०) पृ० ६५७]

(ख) आयारस्स ण भगवओ सचूलिआगस्स अट्ठारसपयसहस्साणि पयग्गेण पण्णत्ताइ
– वही, पृ० २३२

[2] से ण अगट्ठयाए पढमे अगे, दो सुयक्खधा, पणवीस अज्झयणा, पचासीई उद्देसणकाला, पचासीइ समुद्देसणकाला, अट्ठारस पयसहस्साइ पयग्गेण
[नन्दी सूत्र, (पू० घासीलालजी म०) पृ० ५४८]

[3] नव बभचेरमइयो अट्ठारस पयसहस्सियो वेओ।
हवइ य सपच चूलो बहु – बहुत्तरओ पयग्गेण ॥　　[आचाराग निर्युक्ति]

[4] स च नव ब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्धरूप तस्यैव चेद पदप्रमाण न चूला-नाम्, यदाह – "नव बभचेरमइओ अट्ठारस पयसहस्सिओ वेओ, हवइ य सपच चूलो बहु-बहुत्तरओ पयग्गेण ॥१॥ त्ति। यच्च सचूलिकाकस्येति विशेषण तत्तस्य चूलिकासत्ता प्रतिपादनार्थम् न तु पदप्रमाणाभिधानार्थम्। यतोऽवाचि नन्दी टीकाकृता" – "अट्ठारस पयसहस्साणि पुण पढमसुयक्खधस्स, नव बभचेरमइयस्स पमाण विचित्तत्थाणिय सुत्ताणि गुरूवएसओ तेसि अत्थो जाणिअव्वो। [समवायाग टीका (आचार्य अभयदेव सूरि)]

[5] सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीउसणिज्ज सम्मत्त।
तह लोगसार नाम, धुत्त तह महापरिण्णा य ॥ ३१ ॥
अट्ठसए य विमोक्खा उवहाण सुय च नवमग भणिय।
... . ॥ ६२ ॥
[आचाराग निर्युक्ति]

अथाह सागर तुल्य जैन दर्शन को इस एक ही सूत्र रूप गागर मे समाविष्ट कर दिया गया है । सच्ची मानवता का प्रतीक यह सूत्र जैन धर्म को विश्व धर्म के गौरवगरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिये पर्याप्त है ।

द्वितीय उद्देशक मे आस्रव एव सवर द्वारो का विवेचन करते हुए बताया गया है कि आस्रव एव सवर एकान्तत स्थान और क्रिया पर नही अपितु मूलत साधक की क्रमश शुभाशुभ तथा विशुद्ध भावना पर निर्भर करते है अत साधक को राग द्वेप से रहित विशुद्ध भावना रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

तृतीय उद्देशक मे साधक को उपदेश दिया गया है कि वह भाव-विशुद्धि द्वारा नये कर्मो के आगमन को रोकने के साथ-साथ पूर्वसचित कर्मो का नाश करने के लिये यथाशक्य तप-साधना मे निरत रहे ।

चौथे उद्देशक मे साधनामार्ग को कठोर और वीरो का मार्ग बताते हुए साधक को उपदेश दिया गया है कि वह समस्त ऐहिक सुखो और अपने शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग कर सम्यक्त्व द्वारा अहिसा, सवर और निर्जरा पर प्राप्त हुई अपनी श्रद्धा को सदा अपने आचरण मे उतारने का प्रयत्न करता रहे । चारो उद्देशको का यही विपयक्रम निर्युक्ति एव वृत्ति मे निर्दिप्ट है और यही क्रम आचाराग मे आज भी विद्यमान है ।

पंचम अध्ययन

पाँचवे अध्ययन का नाम लोकसार अध्ययन है । इसके आदि, मध्य और अत मे 'आवति' शब्द आया है इस दृष्टि से इसका दूसरा नाम 'आवति अध्ययन' भी रखा गया है । इसमे समग्र लोक के सारभूत धर्म-मर्म का निरूपण करते हुए बताया गया है कि लोक मे सारभूत-तत्व धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार सयम और सयम का सार मोक्ष है । प्रस्तुत अध्ययन मे ६ उद्देशक है ।

प्रथम उद्देशक मे प्राणिहिसा को कर्मबन्ध एव भवभ्रमण का कारण बताते हुए कहा गया है कि जो कोई व्यक्ति किसी प्रयोजन अथवा बिना किसी प्रयोजन के प्राणियो की हिसा करता है, वह निरन्तर उन्ही जीवो मे घूमता हुआ दुस्सह दु खो का अनुभव करता है । हिसा, सशय एव भोगो का परित्याग किये बिना कोई प्राणी ससारसागर से पार नही हो सकता ।

द्वितीय उद्देशक मे बताया गया है कि सभी प्राणी जीना और सुखी रहना चाहते है, मरना कोई नही चाहता, अत· सच्चा मुनि वही है जो किसी जीव की हिसा नही करता और हिसाजन्य पाप से सदा दूर रहता है ।

तृतीय उद्देशक मे साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सर्वथा अपरिग्रही रह कर कामोन्मुख एव भोगासक्त अपनी आत्मा के साथ युद्ध करते हुए अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करे । बाह्य युद्धो को अनार्य-युद्ध की सज्ञा देते हुए आत्म-विजय हेतु किये जाने वाले युद्ध को ही आर्य-युद्ध एव सच्चा युद्ध बताया गया है ।

है। इसके साथ ही साथ इसमे साधक को अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परिस्थितियों मे समभाव रखने और सयमपालन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ पर विजय प्राप्त कर आत्मलक्षी वनने का उपदेश है।

तृतीय अध्ययन

तीसरे शीतोष्णीय नामक अध्ययन में ४ उद्देशक है। शीत का अर्थ है अनुकूल परीषह और उष्ण का अर्थ प्रतिकूल परीषह। इस अध्ययन मे साधनापथ के पथिक-भिक्षु को उपदेश दिया गया है कि वह अनुकूल परीषहजन्य सुख की स्थिति मे अथवा प्रतिकूल परीषहजन्य दु:ख की स्थिति मे समभाव रखते हुए साधनापथ पर निरन्तर गतिशील रहे। इसके प्रथम उद्देशक में असयमी को सुप्त की संज्ञा दे कर द्वितीय उद्देशक मे बताया गया है कि सुप्त व्यक्ति निरन्तर घोर दु ख भोगते रहते है। इसके तृतीय उद्देशक में देह-दमन के साथ-साथ श्रमण के लिये चित्तशुद्धि करना परमावश्यक ही नही अनिवार्य बताया गया है। चौथे उद्देशक मे कषाय तथा पापकर्म के त्याग एव संयम मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष करते रहने का उपदेश है।

निर्युक्तिकार द्वारा भी तृतीय अध्ययन के इन चारो उद्देशको का विषयक्रम उपर्युल्लिखित रूप मे ही बताया गया है और यही विषयक्रम वर्तमान मे उपलब्ध होता है।

चतुर्थ अध्ययन

चौथे अध्ययन का नाम सम्यक्त्व अध्ययन है। सम्यक्त्व का अर्थ है शाश्वत सत्य धर्म मे विश्वास, आस्था-श्रद्धा-निष्ठा। इस चौथे सम्यक्त्व नामक अध्ययन मे ४ उद्देशक है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र मे शाश्वत सत्य धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है – "अतीत, वर्तमान और आगामी काल के सभी अर्हन्तो-तीर्थकरो का यही कथन है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व की न तो हिसा करनी चाहिए न करवानी ही चाहिए और न उसको किसी प्रकार की पीडा पहुंचानी चाहिए। अहिसा रूप यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। सम्पूर्ण लोक के समस्त जीवो के दु खो को जानने वाले महा-पुरुषो ने इस (धर्म) का वर्णन किया है। यह अहिसामूलक धर्म उन सव लोगो को सुनाना चाहिए जो इसको सुनने के लिये उद्यत अथवा अनुद्यत, उपस्थित अथवा अनुपस्थित, मन, वचन एव काय रूप दण्ड से उपरत अथवा अनुपरत, सोपधिक अथवा निरुपधिक और सयोगरत अथवा सयोग से उपरत हो, क्योकि यही सच्चा धर्म है, यही मोक्षप्रदायी है।"[1]

[1] से वेमि जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा अरहता भगवतो ते सव्वे एवमाइक्खति, एव भासति, एव पण्णविति, एव परूविति – सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए समिच्च लोय खेयण्णेहि पवेइए, तजहा – उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदडेसु वा अणुवरयदडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा सजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा तच्च चेय तहा चेय, अस्सि चेय पवुच्चइ ॥२२७॥ [आचारांग, अध्ययन ४, उद्देशक १, सूत्र प्रथम]

छट्टे उद्देशक मे बताया गया है कि जो साधक जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सयमधर्म का अपने आचार्य की आज्ञानुसार अप्रमत्तरूप से निरन्तर पालन करता है और सब प्रकार के कर्मबन्धो के भाव-स्रोतो से पूरी तरह बचते हुए साधनारत रहता है वह क्रमश चार घातिकर्मो का क्षय कर अन्त मे जन्म-मरण के बन्धन से निर्मुक्त हो निरञ्जन-निराकार, सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्धत्व को प्राप्त करता है। इसमे सिद्ध भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है– "वह जन्म-मरण के मार्ग से परे, मुक्तावस्था मे रत, शब्दो द्वारा अनिर्वचनीय, तर्क द्वारा अगम्य, मति द्वारा अग्राह्य, केवल विशुद्ध चैतन्य, अनन्त ज्ञान-दर्शनयुक्त, अनन्त अक्षय सुख एव अनन्त शक्ति सम्पन्न, मोक्ष का क्षेत्रज्ञ, परमपद का अध्यासी, है। न वह दीर्घ है न ह्रस्व, न वर्तुलाकार, न त्रिकोण, न चतुष्कोण, न परिमडलाकार, न कृष्ण, न नील, न रक्तवर्ण, न पीत, न श्वेत, सुगन्ध एव दुर्गन्ध रहित, न तिक्त, न कटु, न कषायरस वाला, न खट्टा, न मधुर, कर्कश अथवा कोमल स्पर्श रहित, न भारी न हल्का, न उष्ण न शीत, न स्निग्ध, न रूक्ष, काया-लेश्या तथा कर्मबीज से रहित, नितान्त निस्सग, न स्त्री, न पुरुष और न नपुसक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, निरुपम, अरूपी सत्ता वाला और अपद होने के कारण वह सिद्ध भगवान् किसी भी पद के द्वारा अनिर्वचनीय-अनिरूपणीय है।[1]

छट्ठा अध्ययन

छट्ठे अध्ययन का नाम धूत अध्ययन है। धूत का अर्थ है किसी वस्तु पर लगे मैल को दूर करके उसे स्वच्छ बना देना। इस अध्ययन मे आत्मा पर लगे कर्म-मैल को तप-सयम द्वारा दूर कर आत्मा को समुज्वल बनाने का उपदेश दिया गया है। इस अध्ययन के ५ उद्देशक है।

इसके प्रथम उद्देशक मे बताया गया है कि जिस प्रकार शैवाल से समाच्छादित जलाशय का कछुआ बाहर की वस्तुओ एव बाहर जाने के मार्ग को नही जान सकता, जिस प्रकार एक वृक्ष अपना अधोभाग पृथ्वी मे गडा हुआ होने के कारण शीतोष्णादि सकटो से अपना बचाव करने हेतु अन्यत्र नही जा सकता,

---

[1] अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्ग विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तसे न चउरसे न परिमडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिदे न सुक्किल्ले न सुरभिगधे न दुरभिगधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न सीए न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रूहे न सगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पय नत्थि।।

[आचाराग सूत्र, अ० ५ उ० ६, सू० १७१]

मुण्डकोपनिषद्, १, १, ६ मे भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन है –

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्र तदपाणिपादम्। नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय तद्भूतयोनिं परिपश्यति धीरा।

–सम्पादक

चतुर्थ उद्देशक मे उस मुनि के लिये एकाकी विचरण वर्जनीय बताया गया है जो कि वय एवं ज्ञान की दृष्टि से अपरिपक्व अथवा परीषहो को सहन करने मे सक्षम न हो ।

पचम उद्देशक के प्रारम्भ मे आचार्य की उस निर्मल जल से भरे उपशान्त जलाशय से तुलना की गई है जो अपने स्वच्छ जल से समस्त जलचर जन्तुओ की रक्षा करते हुए समभूमि मे अवस्थित है । इसमे बताया गया है कि आचार्य भी उस स्वच्छ जलपूर्ण जलाशय के समान सदगुणो से ओत प्रोत, उपशान्त, मन एव इन्द्रियो को वश मे रखने वाले, प्रबुद्ध, तत्वज्ञ, और श्रुत से अपना तथा पर का कल्याण करने वाले है । जो साधक सशय रहित हो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्वज्ञान को सत्य समझ कर ऐसे महर्षियों की आज्ञानुसार सयम का पालन करता है वह समाधि को प्राप्त करता है ।

इस पाचवे उद्देशक के पाचवे सूत्र में हिसा से उपरत रहने का जिन मार्मिक और अन्तस्तलस्पर्शी शब्दो मे जो महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है वह उस रूप मे सभवत अन्यत्र विश्व के किसी दर्शन मे उपलब्ध नही होगा । इसमे बताया गया है – '(ओ मानव !) जिसे तू मारने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू अपना आज्ञावर्ती बनाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप पहुचाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू पकडने-बाधने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू प्राणो से वियोजित कर देने योग्य समझता है वह भी तू ही तो है । इस प्रकार के वास्तविक तथ्य को पहिचान कर प्रत्येक जीव को अपनी आत्मा के समान समझने वाला सरलवृत्ति युक्त साधु किसी भी जीव की न तो स्वय हिसा करे न किसी दूसरे से हिसा करवाये और न किसी प्राणी की हिसा का अनुमोदन ही करे । दूसरे की हिसा के फलस्वरूप होने वाला घोर दु ख मेरी आत्मा को ही भोगना पडेगा इस प्रकार का विचार कर वुद्धिमान् अपने मन मे किसी प्राणी की हिसा का विचार तक न आने दे ।'[1]

इस सूत्र मे निहित उद्बोधन के माध्यम से स्पष्टरूपेण प्रत्येक प्राणी को सतर्क किया गया है कि किसी प्राणी के वध, बन्धन, उत्पीडन आदि का विचार करना वस्तुत. स्वय का वध, बन्धन, उत्पीडन करना है । इस प्रकार के विचार करने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम स्वय ही अपने विचारो का निशाना बनता है । क्योकि दूसरे प्राणी को पीडा पहुंचाने के सकल्पमात्र से, इस प्रकार का सकल्प करने वाले प्राणी के आत्मगुणो का हनन हो जाता है । आत्मगुणो का हनन वस्तुत आत्मघात तुल्य है ।

---

[1] तुमसि नाम सच्चेव ज हतव्वति मन्नसि, तुमसि नाम सच्चेव ज अज्जावेयव्वति मन्नसि, तुमसि नाम सच्चेव ज परियावेयव्वति मन्नसि एव ज परिघित्तव्वति मन्नसि, ज उद्दवेयति मन्नसि अजू चय पडिवुद्धजीवी, तम्हा न हता नवि घाअए, अणुसवेयणमप्पाणेण ज हतव्व नाभिपत्थए ।
[आचाराग ५।५]

है उसी प्रकार साधक घोरातिघोर परीषहो को निर्भय और स्थिरभाव से सहन करते हुए मृत्युकाल उपस्थित होने पर पादोपगमन आदि अनशन कर जब तक आत्मा शरीर से पृथक् न हो जाय तब तक आध्यात्मिक चिन्तन मे स्थिरभाव से दत्तचित्त रहे।

सातवां अध्ययन

सात उद्देशको वाला "महापरिज्ञा" नामक सातवा अध्ययन वर्तमान काल मे उपलब्ध नही है। ऐसी स्थिति में उसके अन्तर्गत किन-किन विषयो पर विवेचन किया गया था इस पर साधिकारिक रूपेण कोई प्रकाश नही डाला जा सकता। यह महापरिज्ञा अध्ययन किस समय विलुप्त हुआ, इसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से तो नही कहा जा सकता परन्तु कुछ तथ्यो के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विक्रम सवत् ५६२ के पश्चात् विक्रम स० ९३३ से पहले किसी समय मे महापरिज्ञा अध्ययन उच्छिन्न हुआ होगा।

शीलाचार्य अपर नाम तत्वादित्य[1] ने शक सवत् ७९८ की वैशाख शुक्ला ५ के दिन आचाराग की टीका का लेखन सम्पूर्ण किया।[2] आचाराग सूत्र की टीका मे प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन की टीका सम्पूर्ण करने के पश्चात् लिखा है– " छठे अध्ययन की टीका समाप्त हुई। अब सातवे अध्ययन की टीका करने का अवसर समुपस्थित है किन्तु सातवा अध्ययन विच्छिन्न हो चुका है अत उसे छोड कर आठवें अध्ययन के सम्बन्ध मे कहा जा रहा है।"[3]

आचाराग टीका मे उपलब्ध उपरोक्त उल्लेखो से यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि शक स० ७९८ तदनुसार विक्रम स० ९३३ मे महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान नही था और उससे पहले ही यह विलुप्त हो चुका था।

अब यह देखना है कि महापरिज्ञा अध्ययन किस समय तक विद्यमान था। आज दुर्भाग्यवश महापरिज्ञा अध्ययन तो उपलब्ध नही पर सौभाग्य से इस पर लिखी हुई नवगाथात्मक निर्युक्ति उपलब्ध है।

आचाराग-निर्युक्ति मे महापरिज्ञा नामक सातवे अध्ययन के विलुप्त होने का कोई उल्लेख न होना और उसमे इस अध्ययन की निर्युक्ति का अस्तित्व, इन दो प्रबल प्रमाणो से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्ति की रचना के समय निर्युक्तिकार के समक्ष महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था।

---

[1] ब्रह्मचर्याख्य श्रुतस्कधस्य निर्वृ त कुलीनश्री शीलाचार्येण तत्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधु-सहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति श्लोकतो ग्रन्थमान ९७६।
[आचाराग, प्र० श्रु० स्क०, शीलाकाचार्यकृत टीका, पृ० ४२७]

[2] शकवृपकालातीतसवत्सरशतेषु सप्तसु अष्टानवतीत्यधिकेषु वैशाखशुक्ल पचम्या २ आचार-टीका कृतेति। [वही, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पृ० २८१]

[3] उक्त षष्टमध्ययनमधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरस्तच्च व्यवच्छिन्नमिति-कृत्वातिलघ्याप्टमस्य सवन्धो वाच्य·। [वही, पृ० ३४२ धनपतिसिंह आगमसग्रह]

उसी प्रकार मोह मे आसक्त व्यक्ति न तो सत्य-मार्ग को देख सकता है और न प्रशस्त पथ पर चल कर शान्ति के स्थल पर ही पहुंच सकता है । इसके परिणाम-स्वरूप वह जन्म-मरण और संसार के दु.खों की चक्की मे निरन्तर पिसता रहता है । अत: साधक को चाहिये कि वह सासारिक मोह एव आसक्ति से सर्वथा बचा रह कर सदा साधनारत रहे ।

द्वितीय उद्देशक मे बताया गया है कि जो साधक परीषहों से डर कर साधुत्व एव वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुछनक, रजोहरणादि सयमसाधना के उपकरणों का परित्याग कर देते है वे दीर्घकाल तक भवभ्रमण करते रहते हैं और जो साधक परीषहो को समभाव से सहन करते हुए संयमपूर्वक साधना में निरत रहते है वे अन्ततोगत्वा संसारसागर को पार कर निर्वाण प्राप्त कर लेते है ।

तृतीय उद्देशक मे साधु को उपदेश दिया गया है कि वह धर्मोपकरणों के अतिरिक्त अन्य उपकरणों को कर्मबन्ध का कारण समझे । वह कभी मन में इस प्रकार का विचार न करे कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है अत नये वस्त्र की याचना करूगा, अथवा सूई-धागे की याचना कर फटे हुए वस्त्र को सीऊंगा अपितु वह उन धीर-वीर महापुरुषों के चरित्र का चिन्तन करे, जिन्होंने निर्वस्त्र रह कर अनेक पूर्वो अथवा वर्षो तक सयम-मार्ग में स्थिर रह परीषहो को सहन कर परमपद प्राप्त किया । साधक उन महापुरुषो की तरह परीषहों को सहन करने की शक्ति अपने अन्तर में उत्पन्न करने की कामना करे । परीषहो को सहन करते-करते जिस साधक की भुजाए कृश हो जाती है, मास तथा रुधिर स्वल्प मात्रा मे अवशिष्ट रह जाता है और जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर समत्वभाव प्राप्त कर लिया है वह साधक ससारसागर को पार कर लेता है । इसके पश्चात् सयमनिष्ठ साधु को असन्दीन (जल से कभी न भरने वाले) द्वीप की उपमा देते हुए सब जीवो की रक्षा करने वाला तीर्थकरप्रणीत धर्मतीर्थस्वरूप बताया गया है ।

चतुर्थ उद्देशक में बताया गया है कि जो साधु ज्ञान और आचार दोनों से ही भ्रष्ट हो जाते है वे अनन्त काल तक भवभ्रमण करते हुए ससार मे भटकते रहते है अत: साधक को चाहिये कि वह अहर्निश ज्ञान और क्रिया की साधना में निरत रह कर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होता रहे ।

पचम उद्देशक मे उपदेष्टा के लक्षणो का निरूपण करते हुए बताया गया है कि उपदेष्टा वस्तुत: कष्टसहिष्णु, वेदवित् अर्थात् आगमज्ञान मे निष्णात, सर्वभूतानुकम्पी, सकल चराचर जीवनिकाय का शरण्यभूत हो । उसका उपदेश समष्टि के लिये और समष्टि का हितसाधक तथा शान्ति, क्षमा, अहिसा, विरति, कषायो के उपशमन, निर्वाण, निर्दोष व्रताचरण, सरलता, मृदुता एव लाघवता आदि विषयो पर आगमानुसार होना चाहिये । उपदेश देते समय मुनि स्वयं की तथा अन्य की आशातना-अवहेलना न करे । जिस प्रकार धीर, वीर योद्धा सग्राम मे सबसे आगे रह कर शत्रुओ के साथ घोर युद्ध करता हुआ विजय प्राप्त करता

परीषह अथवा उपसर्ग उत्पन्न हो जायं तो उसे चाहिये कि वह उन्हे दृढता के साथ समीचीन रूपेण सहन करे ।[1]

आचाराग निर्युक्ति मे महापरिज्ञा अध्ययन पर जो ९ गाथाएं दी हुई है उनमे से पहली दो गाथाओ मे यह वताया गया है कि साधक अपनी दैनदिनी क्रिया से लेकर अतक्रिया सलेखना तक मे अपने सम्मुख उपस्थित होने वाले अनुकूल परीषहो तथा साध्वाचार के समस्त अतिचारो को उत्कृष्ट कोटि के आदर्श एव विशिष्ट ज्ञान से समझ कर उनसे किंचितमात्र भी विचलित न होते हुए सयममार्ग मे स्थिर रहे ।

इनसे आगे की तीन गाथाओ मे वताया गया है कि महा शब्द का प्राधान्य अर्थ मे और परिमाण अर्थ मे भी प्रयोग होता है । इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की दृष्टि से जो प्राधान्यता मे महान् हो वहा महा शब्द प्राधान्यता का द्योतक और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से जहा, आकार, प्रकार, परिमाण, भार आदि का वोध कराने के लिये महा शब्द का प्रयोग किया जायगा वहा वह परिमाण का वोधक होगा ।

इससे आगे की तीन गाथाओ मे परिज्ञा के द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की दृष्टि से भेद उपभेद वताने के पश्चात् भावपरिज्ञा को मूलगुण एव उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार का, मूल गुण भावपरिज्ञा को पाच प्रकार का और उत्तर गुण भावपरिज्ञा को दो प्रकार का वताया गया है और यह कहा गया है कि प्राधान्यता की दृष्टि से दोनो प्रकार की परिज्ञाओ मे जो सर्वोत्तम परिज्ञान होता है उसे महापरिज्ञा कहते है ।

इस अध्ययन की निर्युक्ति की अतिम गाथा मे साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह मन, वचन और काय से पूर्णतया देवांगना, मानवागना एव तिर्यचागना का परित्याग करे ।[2]

---

[1] सप्तमे त्वय-सयमादि गुणयुक्तस्य कदाचिन्मोहसमुत्था परीषहोपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्या । [आचाराग, शीलाकाचार्यकृत टीका, पृ० ८]

[2] सत्तमि य तिण्णिपलिया, सीयपरीसह हीयासण धुवण ।
सूईमादियाण, सन्निही अट्ठवडिया ।।६०।।

आसदीय अकरण उवएसाण निकायणा चेव ।
सलेहणिया णेया, भत्तपरिणतकिरिया य ।।६१।।

पाहत्थे महासद्दो परिमाणे चेव होइ नायव्वो ।
पाहणे परिमाणे य छव्विहो होइ निक्खेवो ।।६२।।

दव्वे खेत्ते काले, भावमि य होति या पहाणाउ ।
तेसिं महासद्दो खलु, पाहणेण तु निप्पन्नो ।।६३।।

इस तथ्य के स्पष्ट हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचारांग-निर्युक्ति की रचना किस समय की गई ? परम्परागत जनश्रुति के आधार पर बहुत प्राचीन काल से यह मान्यता चली आ रही है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने आचारागादि १० सूत्रो पर निर्युक्तियो की रचना की। श्रुतकेवली भद्रबाहु का आचार्यकाल वीर नि० स० १५६ से १७० तक का है। निर्युक्तियो मे उल्लिखित अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यो, घटनाओ और व्यक्तियो से सम्बन्धित विवेचनो पर गम्भीरतापूर्वक पर्यालोचन के पश्चात् प्रत्येक निष्पक्ष विचारक की यह निश्चित धारणा बन जाती है कि परम्परागत मान्यता के अनुसार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु भले ही मूल निर्युक्तियों के रचनाकार रहे हो पर वर्तमान मे जो स्वरूप इन निर्युक्तियों का उपलब्ध होता है, वह स्वरूप विक्रम स० ५६२ के आस-पास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु ने प्रदान किया। इसी ग्रन्थ के आगे के श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के प्रकरण मे एतद्विषयक महत्वपूर्ण तथ्यों पर यथास्थान पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

उपर्युल्लिखित तथ्यो पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचारांग सूत्र का महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन निर्युक्तियो को अन्तिम रूप देने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु के समय में वि० स० ५६२ तक विद्यमान था और इसके पश्चात् वि० सं० ५६२ से वि० सं० ९३३ के बीच की ३७१ वर्ष की अवधि मे किसी समय वह लुप्त हो गया।

विषय-वस्तु

यह तो पहले बताया जा चुका है कि महापरिज्ञा अध्ययन मे किन-किन विषयो का समावेश था, यह आधिकारिक रूप से विस्तारपूर्वक नही बताया जा सकता क्योकि मूलत: यह अध्ययन विलुप्त हो चुका है। फिर भी प्रथम श्रुत-स्कन्ध के अध्ययनों की विषय-परिचायिका गाथाओ मे, और शीलांकाचार्यकृत इनकी टीका मे किंचित् सकेत के रूप मे और आचारांग निर्युक्ति में उसकी अपेक्षा थोडे विस्तार के साथ महापरिज्ञा अध्ययनान्तर्गत विषय का परिचय दिया गया है।

आचाराग निर्युक्ति मे प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययनों के विषय का परिचय देते हुए सातवे महापरिज्ञा अध्ययन का विषय बताया गया है– "मोहजन्य परीषह उपसर्ग।"[1] इस गाथा-पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलाक ने लिखा है – "सयमादि गुण युक्त साधु के समक्ष यदि कभी मोहजन्य

---

[1] जियसजमो य लोगो, जह वज्झइ जह य त पज्जहियव्व।
मुहदुक्खतितिक्खा वि य, संमत्त लोगसारो य ॥३३॥
निस्संगया य छट्ठे, मोहसमुत्था परीसहोवसग्गा।
निज्जाणं अट्ठमए, नवमे य जिणेण पयनि ॥३४॥
[आचाराग-निर्युक्ति, (प्रथम श्रुतस्कध)]

उन नवब्रह्मचर्याध्ययनो मे से, उक्त, अनुक्त अथवा संक्षेप से कही गई बातो को लेकर द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप आचाराग्र की विस्तारपूर्वक रचना की।[1]

निर्युक्तिकार और टीकाकार के इस कथन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशको मे जिन विपयो का विवेचन विवक्षित था अथवा जिन विपयो का सक्षेपत उल्लेख किया गया उन्ही सातो अध्ययनो मे प्रतिपादित विपयो के आधार पर आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की द्वितीया चूला के सात अध्ययनो की रचना की गई। इसका सीधा सा अर्थ यह हुआ कि द्वितीया चूला के सात अध्ययनो मे जो विपय है वे तो कम से कम, सक्षेपत अवश्य ही महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशको मे प्रतिपादित किये गये थे।

महापरिज्ञा अध्ययन में मंत्र-विद्या

यद्यपि आचाराग निर्युक्ति, शीलाकक्रत आचाराग टीका, जिनदास गरिण द्वारा रचित आचाराग चूर्णि और अन्य आगमिक ग्रन्थो मे इस प्रकार का उल्लेख उपलव्ध नही होता पर पारम्परिक प्रसिद्ध जनश्रुति के आधार पर यह मान्यता चली आ रही है कि आचाराग सूत्र के "महापरिज्ञा" अध्ययन मे अनेक मन्त्रो और वडी महत्वपूर्ण विद्याओ का समावेश था। उन मन्त्रो और विशिष्ट विद्याओ का स्वल्प सत्त्व, धैर्य एव गाम्भीर्य वाले साधक कही दुरुपयोग न कर ले इस जन-हित की भावना से पूर्वकाल के आचार्यो ने अपने शिष्यों को इस अध्ययन की वाचना देना वन्द कर दिया और इसके परिणामस्वरूप शनै शनै कालक्रम से महापरिज्ञा अध्ययन विलुप्त हो गया। इस परम्परागत प्रसिद्ध जनश्रुति को एकान्तत अविश्वसनीय किवदन्ती की गणना मे भी नही रखा जा सकता क्योकि आचार्य वज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या की उपलब्धि की, इस प्रकार का उल्लेख अनेक ग्रन्थो मे आज भी उपलव्ध होता है।[2] आचाराग चूर्णिकार ने लिखा है – "विना आज्ञा, विना अनुमति के महापरिज्ञा अध्ययन

---

१ (क) आयाराउ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो ॥३॥

[आचाराग-निर्युक्ति, श्रुतस्कध २]

(ख) तत्राद्ये श्रुतस्कन्धे नवब्रचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि तेपु च न समस्तोऽपि विवक्षितोऽर्थोऽभिहितो "सक्षेपोक्तस्य प्रपचाय तदग्रभूताश्चतस्र-श्चूडा" शिष्यहित भवत्विति कृत्वा अनुग्रहार्थं तथा अप्रकटोऽर्थ प्रकटो यथास्यादित्येवमर्थं च कुतो निर्व्यूढ ? आचारात् सकाशात् समस्तोऽप्यर्थ आचाराग्रेपु विस्तरेण प्रविभक्त इति।

[शीलाकाचार्यकृत टीका, श्रु० २, पृ० ४]

२ (क) जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाओ।
वदामि अज्ज वइर, अपच्छिमो जो सुअधराण ॥७६६॥

[आवश्यक मलय, उपोद्घात, पृ० ३९० (१)]

(ख) महापरिज्ञाध्ययनाद्, आचारागान्तरस्थितात्।
श्री वज्रेणोद्धता विद्या तदा गगनगामिनी ॥१४८॥ (प्रभावक चरित्र]

महापरिज्ञा अध्ययन पर दी हुई उपरिलिखित ६ निर्युक्ति-गाथाओ से इस अध्ययन के विषय पर स्पष्ट रूप से पूर्ण प्रकाश तो नही पड़ता पर इतना सकेत अवश्य मिलता है कि इस अध्ययन मे साधक को अपने सम्पूर्ण साधक जीवन मे प्रतिपल प्रतिपद पर सजग रहने, साध्वाचार तथा साध्वाचार के अतिचारों को विशिष्ट प्रज्ञा द्वारा भलीभांति समझकर तीव्र मोह के उदय से उत्पन्न सभी प्रकार के यौन अथवा अन्य परीषहों एवं उपसर्गो से किंचित्मात्र भी चलित न हो ब्रह्मनिष्ठ, आत्मनिष्ठ और सयमनिष्ठ रहने का उपायो सहित उपदेश दिया गया था।

लुप्त हुए "महापरिज्ञा" अध्ययन में किन-किन विषयो का निरूपण किया गया था इस सम्बन्ध मे उपर्युल्लिखित टीका, चूर्णि एव निर्युक्ति के उल्लेखो के अतिरिक्त एक और बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख आचाराग-द्वितीय श्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति तथा टीका मे उपलब्ध होता है। उसमे यह बताया गया है कि आचाराग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की "सप्तसप्तिका" नाम की द्वितीया चूला के सातों अध्ययनों की रचना आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा नामक सातवे अध्ययन के सातों उद्देशकों के आधार पर की गई है।[1]

निर्युक्तिकार और टीकाकार, दोनों ने ही आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को आचाराग और द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र बताते हुए कहा है कि नव-ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचारांग में साधुओं के जानने योग्य सभी बाते नही बताई जा सकी है तथा अनेक बाते संक्षेप मे बताई गई है। शिष्यों को उन सब आवश्यक ज्ञेय वस्तुओ का स्पष्टरूपेण बोध हो जाय इस दृष्टि से चतुर्दशपूर्वधर स्थविरो ने

दव्वे खेत्ते काले भावमिय जे भवे महताउ।
तेसु महासद्दो खलु, पमाणउ होति निप्पण्णो ॥६४॥
दव्वे खेत्ते काले, भावे परिण्णा य बोधव्वा।
जाणण उववक्खणउ य, दुविहा पुणेक्केक्का ॥६५॥
भावपरिण्णा दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूलगुणे पंचविहा, दुविहा पुण उत्तरगुणेसु ॥६६॥
पाहणाण उपमयं भाव, परिण्णाए तह य दुविहाए।
परिण्णाणेसु पहाणे, महापरिण्णा तउ होइ ॥६७॥
देवीणं मणुईणं, तिरिक्खजोणिगयाण इत्थीण।
तिविहेण परिव्वाउ, महापरिण्णाए निज्जुत्ती ॥६८॥

[आचाराग-निर्युक्ति (प्रथम श्रुतस्कंध)]

[1] सत्तेकाणि सत्तवि, णिज्जूढाई महापरिण्णाओ।..........॥६॥

[आचाराग निर्युक्ति, श्रुत० २]

(ख) तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निर्व्यूढा।

[शीलांकाचार्यकृत आचारांग टीका, पृ० ४]

पाचवे उद्देशक मे बताया गया है कि दो वस्त्र एवं एक पात्रधारी, एक साटकधारी अथवा अचेल साधक समभाव से परीपहो को सहन करे। विभिन्न अभिग्रहधारी साधु जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को अच्छी तरह जानता हुआ अपने अभिग्रह का यथार्थरूप से पालन करे और भक्तपरिज्ञा द्वारा अन्त मे समाधिपूर्वक प्राणत्याग करे।

छठे उद्देशक मे साधु को उपदेश दिया गया हे कि यदि उसने एक वस्त्र और एक पात्र रखने का अभिग्रह किया है तो शीतादि परीपहो के समुपस्थित होने पर दूसरे वस्त्र अथवा पात्र की काक्षा न करे। इस उद्देशक मे वस्त्र, पात्र आदि की लाघवता एव आत्मलाघवता अर्थात्– मैं एकाकी हू, न तो मेरा कोई है और न मैं किसी का हू– इस प्रकार की भावना को तप और आत्मविकास का साधन बताया गया है। इसमे साधु को यह भी उपदेश दिया गया है कि वह रस का आस्वादन नही करते हुए आहार करे और जब उसे विश्वास हो जाय कि सयमसाधना के कठोर क्रियानुष्ठानो का पालन करते हुए अथवा रोगादि के कारण उसका शरीर अत्यत क्षीण एव अशक्त हो गया है तो वह किसी गृहस्थ से निर्दोप घास की याचना कर जीवजन्तु रहित एकान्त स्थान मे भूमि को परिमार्जित कर तृणशय्या बिछाये और उस पर शान्ति एव समतापूर्वक इगितमरण स्वीकार करे।

सातवे उद्देशक मे बताया गया हे कि जो प्रतिमासम्पन्न अचेलक साधु सयम मे अवस्थित हे उसके मन मे यदि इस प्रकार के विचार उत्पन्न हो कि वह तृणस्पर्श, शीत, उष्ण, डास मच्छर आदि के परीपहो को सहन करने मे तो समर्थ है पर लज्जा को जीतने मे असमर्थ है तो उस स्थिति मे उसे कटिबन्ध धारण करना कल्पता है।[1] सयमसाधना अथवा रोगादि के कारण बल तथा शरीर के अत्यधिक क्षीण हो जाने की दशा मे साधु के लिये इस उद्देशक मे विधान किया गया है कि वह गुफा आदि प्राशुक स्थान मे गृहस्थ से याचना कर लाये हुए तृणो की शय्या बिछा उस पर कटी हुई लकडी की तरह निश्चल हो पादोपगमन अनशन करे।

आठवे उद्देशक मे पडितमरण का बडा ही हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुए बताया गया है कि निरन्तर सयम की कठोर साधना करते हुए अथवा असाध्य रोग से शरीर इतना निर्बल हो जाय कि स्वाध्यायादि सयमसाधना का भी सामर्थ्य न रहे तो मुनि पूर्ववर्णित विधि से जीवजन्तुरहित एकान्त स्थान मे तृणासन बिछा कर बाह्याभ्यतर ग्रन्थियो के परित्याग के साथ शान्त चित्त से अनशन स्वीकार करे। भक्त प्रत्याख्यान, इगित मरण और पादोपगमन-इन तीन प्रकार के सन्थारो

---

[1] जे भिक्खु अचेले परिवुसिए तस्स ण भिक्खुस्स एव भवइ चाएमि अह तणफास अहियासित्तए, सीयफास अहियासित्तए..... .... हिरिपडिच्छायण च ह नो सचाएमि अहियासित्तए, एव मे कप्पेइ कडिबन्धण धारित्तए ॥२२०॥ (आचा०, अ० ८ उ० ७)

नही पढा जाता (था)।" इससे भी थोड़ा आभास होता है कि महापरिज्ञा अध्ययन में कुछ इस प्रकार की विशिष्ट बाते थी जिनका बोध साधारण साधक के लिये वर्जनीय था।

आठवां अध्ययन

आठवे अध्ययन के दो नाम है विमोक्ष और विमोह। इसके मध्य मे "इच्चेयं विमोहाययण" तथा "अणुपुव्वेण विमोहाइं" और अन्त में-"विमोहन्नयर हियं" – इन पदो मे विमोह शब्द का प्रयोग होने के कारण सभवतः इस अध्ययन का नाम विमोह अध्ययन रखा गया हो। अर्थतः इन दोनों शब्दो मे कोई विशेष अन्तर प्रतीत नही होता क्योंकि विमोक्ष का अर्थ है सब प्रकार के सग से पृथक् हो जाना और विमोह का अर्थ है मोह रहित होना। इस अध्ययन मे ये दोनो शब्द समस्त ऐहिक ससर्गो के परित्याग के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है।

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे श्रमणों के लिये निर्देश है कि वे अपने से भिन्न आचार, भिन्न धर्मवाले साधुओं के साथ न अशन-पान करे और न वस्त्र, पात्र, कवल, पादपुछनक, निमन्त्रण, आदर-समादर, सेवा-शुश्रूषा आदि का आदान-प्रदान ही करे। इसमे सदा सब प्रकार के पापों से बचते रहने के आदेश के साथ कहा गया है कि विवेकपूर्वक सब पाप-कर्मो को सम्यक्रूपेण समझते हुए किसी भी दशा मे पाप न करना ही वास्तविक धर्म है।

द्वितीय उद्देशक में साधु को यह उपदेश दिया गया है कि वह अकल्पनीय वस्तु को किसी भी दशा मे ग्रहण न करे और उस प्रकार की स्थिति में यदि कोई गृहस्थ अप्रसन्न हो कर ताडन-तर्जन आदि भयंकर कष्ट भी दे तो साधु शान्तचित्त और समभाव से उन परीषहों को सहन करे।

तीसरे उद्देशक में एकचर्या, भिक्षुलक्षण आदि का उल्लेख करने के पश्चात् कहा गया है कि यदि किसी साधु के शरीर-कम्पन को देख कर किसी गृहस्थ के मन मे इस प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाय कि कामोत्तेजना के कारण उसका शरीर काप रहा है तो उस साधु को चाहिये कि उस गृहस्थ की उस शका का समीचीन रूपेण समाधान करे।

चौथे उद्देशक मे एक अभिग्रहधारी मुनि के वस्त्र, पात्र आदि की मर्यादा के उल्लेख के साथ साधु को निर्देश दिया गया है कि वह जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित मुनि की सचेलक तथा अचेलक अवस्थाओ को समभावपूर्वक अच्छी तरह से जाने और समझे। इसमे साधक को निर्देश दिया गया है कि उन विषम परिस्थितियों मे जब कि संयम की रक्षा सभी तरह से असंभव प्रतीत होने लगे अथवा स्त्री आदि का अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर उसे अपने संयम के भंग होने की पूरी संभावना हो तो उस प्रकार की विषम परिस्थितियो मे वह विवेक एवं समभावपूर्वक प्राणों के मोह का परित्याग कर सहर्ष मृत्यु का वरण करे।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

निर्युक्तिकार के मतानुसार आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की ५ चूलिकाए मानी गई है उनमे से प्रथम चार चूलिकाए ही विद्यमान है तथा निशीथ नाम की पाचवी चूलिका विस्तृत होने के कारण सभवत निर्युक्तियो के रचनाकाल से पहले ही आचाराग से अलग की जा कर निशीथ नामक शास्त्र के रूप मे प्रतिष्ठापित कर दी गई थी। क्योकि नन्दिसूत्र मे इसका निशीथ के नाम से तथा स्थानाग, समवायाग एव निर्युक्ति मे इसका आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प के नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है।

प्रथम चूलिका मे पिण्डैषणा आदि सात अध्ययन और उनके कुल मिला कर २५ उद्देशक है। पिण्डैषणा नामक इसके प्रथम अध्ययन मे निर्दोष आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना, भिक्षा के समय किस प्रकार चलना, किस प्रकार की भाषा बोलना, किस प्रकार आहार प्राप्त करना आदि का वर्णन है। शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन मे सदोष-निर्दोष उपाश्रय का विचार किया गया है। तीसरे ईर्यैषणा अध्ययन मे चलने की विधि और अपवाद काल मे नाव मे बैठने की विधि बताई गई है। चौथे भाषैषणा अध्ययन मे वक्ता के लिये १६ वचनो की जानकारी आवश्यक बताते हुए क्रोधोत्पत्ति के कारणो का निषेध किया गया है। पाचवे वस्त्रैषणा अध्ययन मे यह बताया गया है कि साधु को किस प्रकार वस्त्र ग्रहण करने चाहिये। छट्ठे पात्रैषणा नामक अध्ययन मे पात्र-ग्रहण की विधि का निरूपण किया गया है। सातवे अवग्रहैषणा नामक अध्ययन मे यह बताया गया है कि श्रमण को अपने सावधि निवासार्थ किस तरह का मर्यादित स्थान किस प्रकार प्राप्त करना और उसमे किस प्रकार रहना आदि। यह पूरी चूलिका गद्यात्मक है।

द्वितीय चूलिका मे भी स्थान, निषीधिका आदि ७ अध्ययन है जो सभी उद्देशकरहित है। पहले अध्ययन मे कायोत्सर्ग (ध्यान) आदि की दृष्टि से उपयुक्त स्थान तथा दूसरे अध्ययन मे निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध मे निर्देश दिया गया है। तीसरे अध्ययन मे दीर्घशका तथा लघुशका के स्थान के बारे मे निरूपण है। चौथे तथा पाचवे अध्ययन मे क्रमश शब्द और रूप के प्रति राग-द्वेष रहित रहने का श्रमण के लिये विधान है। द्वितीय चूलिका भी पूरी गद्यमय है।

तीसरी "भावना" नामक चूलिका मे भगवान् महावीर के गर्भावतरण, गर्भ-साहरण, जन्म, जन्मोत्सव, नामकरण, तीन नाम, माता-पिता-पितृव्य के नाम, बहिन, भाई, भार्या, पुत्री एव दोहित्री के नाम, माता-पिता का स्वर्गवास, वर्षीदान और साधना का वर्णन किया गया है। इसमे प्रत्येक महाव्रत की पाच-पाच भावनाओ का भी प्रतिपादन किया गया है। इस चूलिका मे चौवीस गाथाए और शेष सब गद्य-पाठ है।

में पहले से दूसरे और दूसरे से तीसरे को श्रेष्ठ बताते हुए साधक को निर्देश दिया गया है कि वह जीवन और मरण दोनो में समान रूप से अनासक्त रहते हुए न जीने की अभिलाषा करे और न मरने की प्रार्थना ही। वह आत्मचिन्तन के अतिरिक्त मानसिक, वाचिक एव कायिक सभी प्रकार के व्यापार को बन्द कर केवल आत्म-रमण करता हुआ घोर से घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी शान्त, दान्त एव स्थिर रहे। अनशनावस्था में उसके शरीर के मांस का यदि हिस्र पशु भक्षण करे या उसके रक्त का पान करे तो उस हिसा-जन्य वेदना को अपनी आत्मा के लिये अमृतसिचन तुल्य समझ कर समभाव से अतिम सांस तक अपने कर्मो की निर्जरा करता रहे। यदि उसे उस अवस्था मे मानवोपभोग्य अथवा देवोपभोग्य कमनीय से कमनीय भोगों का भी प्रलोभन दिया जाय तो वह उनको ग्रहण करने की इच्छा तक न करे और मोहरहित हो कर उपरोक्त तीन प्रकार के अनशनो मे से यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझ कर स्वीकार करे।

नौवां अध्ययन

नौवे उपधानश्रुत नामक अध्ययन में मुख्य रूप से भगवान् महावीर की साधना का वर्णन है। यह पूरा अध्ययन गाथात्मक है। इसमे एक भी सूत्र नही है। इसके ४ उद्देशक है। प्रथम उद्देशक में भगवान् महावीर द्वारा दीक्षा से दो वर्ष पूर्व सचित्त का त्याग, दीक्षानन्तर विहार, परपात्र एव परवस्त्र का त्याग और १३ मास पश्चात् देवदूष्य वस्त्र का परित्याग बताया गया है। इसमे यह बताया गया है कि भगवान् महावीर ने केवल पूर्व-तीर्थकरो की परम्परा का निर्वहन करने के लिये ही देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया पर शीत एव दस-मशकजन्य परीषहों से बचने के लिये उन्होंने उसका कभी उपयोग नही किया।

दूसरे और तीसरे उद्देशक मे यह बताया गया है कि भगवान् महावीर को किन-किन विकट क्षेत्रों में विहार कर कैसे-कैसे स्थानो मे रहना पडा और उन्हें वहां कितने असह्य एव घोर परीषह सहन करने पड़े।

चौथे उद्देशक मे भगवान् महावीर की घोर तपश्चर्याओ के वर्णन के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि उन्हें भिक्षा मे किस-किस प्रकार का रूक्ष एवं नीरस भोजन मिला, कितना समय उन्होने निराहार रह कर तथा कितना समय बिना पानी के बिताया। अनार्य देश मे विहार के समय वहाँ के निवासियों द्वारा प्रभु को दिये गये भीषण कष्टो के हृदयद्रावी वर्णन के साथ इसमे बताया गया है कि भगवान् महावीर उन असह्य परीषहो से किंचित्मात्र भी विचलित नही हुए।

इस प्रकार आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे ६ अध्ययन और नवो अध्ययनो के कुल ५१ उद्देशक है। महापरिज्ञा अध्ययन और उसके सातो उद्देशकों के विलुप्त हो जाने के कारण वर्तमान मे प्रथम श्रुतस्कन्ध के ८ अध्ययन और ४४ उद्देशक ही उपलब्ध है।

नही किया जाता। इस प्रकार की स्पष्ट एवं निर्विवाद स्थिति मे इस तरह के किसी प्रश्न के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नही रहता कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन है। वस्तुत मूल आगम मे कही ऐसा उल्लेख उपलब्ध नही होता जिससे स्वल्पमात्र भी ऐसा आभास होता हो कि आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कध आचाराग का अभिन्न अग न हो कर आचाराग्र, आचाराग का परिशिष्ट अथवा पश्चाद्वर्ती काल में जोडा हुआ भाग हो।

ऐसी स्पष्ट स्थिति मे यह प्रश्न कब और किस प्रकार उत्पन्न हुआ इस पर सभी दृष्टियो से समीचीनतया विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचाराग सूत्र की पदसख्या के सम्बन्ध मे विचार करते समय आचाराग-निर्युक्तिकार ने सर्वप्रथम अपना यह अभिमत रखा कि समवायाग और नन्दी सूत्र मे आचाराग का जो पद परिमाण १८००० पद बताया गया है– "वह केवल नवब्रह्मचर्याध्ययन नामक आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही पदपरिमाण है। पाच चूलिकाओ सहित आचाराग की पदसख्या तो १८००० से बहुत अधिक और अधिकतर है।"[1]

"१८,००० पदसख्या आचाराग के केवल नव ब्रह्मचर्याध्ययनो की ही है न कि द्वितीय श्रुतस्कध सहित आचाराग की"–अपनी इस आगमो के उल्लेखो से विपरीत मान्यता की पुष्टि मे न तो निर्युक्तिकार ने किसी आगमिक आधार का ही उल्लेख किया है और न अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य के एतद्विषयक अभिमत का ही। यही नही, उन्होने आगम के उस मूलपाठ की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के सम्बन्ध मे भी निर्युक्ति मे अपना कोई मन्तव्य अभिव्यक्त नही किया है जिसमे स्पष्ट रूप से एक चूलिका वाले आचाराग की निम्नलिखित शब्दो मे १८,००० पदसख्या बताई गई है –

"आयारस्स ण भगवओ सचूलिआगस्स अट्ठारसपयसहस्साणि पयग्गेण पण्णत्ताई।"[2]

यदि यह कहा जाय कि इस निर्णायक और अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्य पर निर्युक्तिकार का मौन वस्तुत उनके पक्ष की निर्बलता का बहुत बडा प्रमाण है, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। सभवत समवायाग के उपरोक्त सूत्र को ध्यान मे रखते हुए ही आचार्य शीलाक ने आचाराग टीका मे इस प्रश्न पर अपना कोई अभिमत व्यक्त नही किया है कि १८,००० पदप्रमाण केवल आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का है अथवा दो श्रुतस्कन्धात्मक सम्पूर्ण आचाराग का।

नन्दीसूत्र के चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार की मान्यता का समर्थन करते हुए कहा है – "१८,००० पदसंख्या नवब्रह्मचर्याध्ययनरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध की है, सूत्रो के अर्थ विविध-विचित्र होते है, गुरु के मुख से ही उनका अर्थ समझना चाहिये।"[3]

---

[1] आचाराग निर्युक्ति (१ श्रुतस्कध), गाथा ११

[2] समवायाग सूत्र, समवाय १८

[3] अट्ठारस पयसहस्साणि पुण पढमसुयक्खधस्स, नवबभचेरमइयस्स पमाण विचित्तत्थाणि य सुत्ताणि गुरूवएसओ तेसिं अत्थो जाणिअव्वो। [नंदी-चूर्णि]

चौथी "विमुक्ति" नामक चूलिका मे वीतराग स्वरूप का उपमाओं के साथ वर्णन किया गया है। इस चूलिका मे केवल ११ गाथाएं है।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धो के कुल मिला कर २५ अध्ययन और ८५ उद्देशक होते है पर प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा नामक सातवे अध्ययन के लुप्त हो जाने के कारण वर्तमान मे सम्पूर्ण आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध, २४ अध्ययन और ७८ उद्देशक ही उपलब्ध है।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अगपण्णत्ति, राजवार्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे आचाराग के विषयों का परिचय कराते हुए बताया गया है कि आचाराग में मन, वचन, काय, भिक्षा, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन एव विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियो का विधान है। समीचीनतया विचार किया जाय तो यह कथन आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध पर पूरी तरह घटित होता है। वस्तुत आचाराग के दूसरे श्रुतस्कन्ध मे आचार पर विशेष बल दिया जा कर उसके प्रत्येक पहलू पर पूर्णरूपेण प्रकाश डाला गया है। उदाहरणस्वरूप "पिण्डैषणा" नामक अध्ययन में श्रमणो को निर्देश दिया गया है कि उनका आहार किस प्रकार का होना चाहिये, उन्हे किस प्रकार, किस समय और किस स्थान पर आहार लेना एव उसका उपयोग करना चाहिये। शयैषणा नामक अध्ययन मे विस्तार के साथ पूर्ण स्पष्ट रूप से साधु को निर्देश दिये गये है कि उसे किस-किस प्रकार के निर्दोष स्थान मे ठहरना चाहिये और किस-किस प्रकार के स्थान से सदा बचते रहना चाहिये। इन सब निर्देशो के साथ ही साथ गमनागमन की दूरियो के सम्बन्ध मे, भाषा, पात्र, वस्त्र, अवग्रह एव स्थान का परिसीमन, खडे रहने के स्थान, मलोत्सर्गस्थान, शब्द के प्रति विरति, रूप के प्रति अनासक्ति, साधुओ की अहर्निश क्रियाए, महावीर-चरित्र और पंच महाव्रतो की भावनाओ का द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सम्यग्रूपेण प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन

यह पहले सप्रमाण बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण द्वादशागी अर्थतः भगवान् महावीर की और शब्दत· गणधरो की कृति है। इसके साथ ही साथ समवायाग[1] और नन्दिसूत्र[2] में जो आचारांग का परिचय दिया गया है उसमे समान रूप से दोनो श्रुतस्कन्धों, अध्ययनो, उद्देशनकालो, समुद्देशनकालो और पदसंख्या को आचारांग का अभिन्न स्वरूप मानते हुए स्पष्टरूपेण कहा गया है– "आचारांग अग की अपेक्षा से प्रथम अग है, इसमे दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल और १८००० पद है।" यदि आचाराग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्थतः भगवान् महावीर द्वारा कथित और शब्दत. गणधरो द्वारा ग्रथित नही होता तो इसे आगमो के मूल पाठ मे इस प्रकार आचारांग का अभिन्न अग कदापि स्वीकार

[1] समवायाग (राय धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित), पत्र १६६ (१)

[2] नन्दी सूत्र (पू घासीलालजी म) पृ० ५४८

चूलिका का अस्तित्व मात्र प्रकट करने के लिये ही किया गया है, इसका पदसख्या से सीधा कोई सबन्ध नही। वस्तुत' यह एक तथ्य है कि आचाराग की उस एक चूलिका के पदो की सख्या को दो श्रुतस्कंधात्मक आचाराग की पदसख्या मे सम्मिलित नही किया गया है क्योकि वह आचाराग से प्रगाढरूपेण सम्बन्धित होते हुए भी पूर्व-ज्ञान का अश होने के कारण आचाराग से पूर्णत पृथक् एव भिन्न है। आगम मे कही उल्लेख नही है कि आचाराग की पाच चूलिकाएं है। यह तो निर्युक्तिकार की अपनी स्वय की स्वतन्त्र कल्पना है। आगम द्वारा असमर्थित निर्युक्तिकार की इस स्वकल्पित मान्यता से प्रभावित होने के कारण ही अभयदेव सूरि ने आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को पचचूलात्मक माना है और अपनी इस पहले से ही बनी हुई धारणा के फलस्वरूप उन्होने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है – "द्वितीय श्रुतस्कन्धरूपी पाच चूलाओ वाले प्रथम श्रुतस्कन्धात्मक आचाराग भगवान् के १८ हजार पद है।"

यदि वे मूल आगम (समवायाग एव नन्दी सूत्र) के द्वादशागी परिचायक पाठ से प्रभावित होते तो इस सूत्र का अर्थ निम्नलिखित रूप मे करते –

"एक चूलिका वाले दो श्रुतस्कधात्मक आचाराग भगवान् के १८,००० पद है।" यही अर्थ सही और सगत भी होता क्योंकि "आयारस्स भगवओ" – यह पद दो श्रुतस्कधात्मक आचाराग का परिचायक है न कि एक श्रुतस्कधात्मक आचाराग का। और आचारप्राभृत आचाराग की एक ऐसी चूला है जिसकी पदसख्या आचाराग की पदसख्या मे न कभी सम्मिलित थी और न है।

"सूत्रों के अर्थ विचित्र और गूढार्थ भरे होते है, गुरु के उपदेश से ही उनके अर्थ को समझना चाहिये"–इस प्रकार की उक्ति का अवलम्बन लेकर मूल आगम के पाठ की तुलना मे निर्युक्तिकार के अभिमत को प्रश्रय देते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही १८००० पदवाला पूर्ण आचाराग तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध को उसका पचचूलात्मक आचाराग्र अथवा परिशिष्ट मात्र वताते समय टीकाकार के पास निर्युक्ति के अतिरिक्त और क्या आधार था, यह विचारणीय होते हुए भी स्पष्ट है।

केवल इस सूत्र मे ही नही इस सूत्र से आगे कोटाकोटि समवाय के पश्चात् आगमो का परिचय देते हुए समवायाग मे और नन्दी सूत्र मे जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि आचाराग मे दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल और ८५ समुद्देशनकाल है तथा उसकी पदसख्या १८,००० है। दोनो श्रुतस्कन्धात्मक आचाराग के १८ हजार पद है – इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख आगम के मूल पाठो मे दो स्थान पर किये जाने के उपरान्त भी "विचित्तत्थाणि य सुत्ताणि" इस पद का अवलम्बन लेकर सहज-सुगम स्पष्ट सूत्रो का अर्थ इस प्रकार बदलने की प्रक्रिया को यदि मान्य किया जाने लगे तो निश्चित रूप से इसका परिणाम अन्ततोगत्वा बड़ा भयावह होगा।

इस प्रकार नन्दी-चूर्णिकार ने भी कोई आगमिक अथवा अन्य आधार प्रस्तुत नहीं किया है कि किस आधार पर वे अपना यह मन्तव्य अभिव्यक्त कर रहे है। उपरोक्त सूत्र मे प्रयुक्त "सचूलिआगस्स" – इस पद पर भी उन्होने कोई प्रकाश नही डाला है।

नवागी टीकाकार अभयदेव सूरि ने समवायाग सूत्र की समवाय संख्या १८ के उपरोक्त सूत्र की टीका मे निर्युक्तिकार की मान्यता का समर्थन करते हुए एक नवीन युक्ति भी प्रस्तुत की है – "चूलिकाओं सहित आचार नामक प्रथम अग की द्वितीय श्रुतस्कंधात्मिका पिण्डैषणा आदि पाच चूलाएं है। वह प्रथम अग आचार नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कंध स्वरूप ही है। उस ही का यह पदप्रमाण है न कि चूलाओं का। जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है –

नवबंभचेरमइओ, अट्ठारस पयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपच चूलो, बहु बहुतरओ पयग्गेण ।। त्ति ।।

जो 'सचूलिकाकस्य' शब्द का इस सूत्र मे प्रयोग किया गया है वह इस प्रथमाग का विशेषण है और वह चूलिकाओ के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त किया गया है न कि चूलिकाओ का पदप्रमाण बताने के लिये।" इसके पश्चात् उन्होने नन्दी-टीकाकार (चूर्णिकार) के उपरोक्त अभिमत को दोहराया है।[1]

केवल प्रथम श्रुतस्कंध को ही १८००० पदसख्या वाला आचारांग तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध को पचचूलात्मक बता कर उसे आचारांग से भिन्न आचाराग्र अथवा आचाराग का परिशिष्ट सिद्ध करने की दृष्टि से "केवल चूलिकाओ का अस्तित्व बताने के लिये विशेषण के रूप में 'सचूलिकाकस्य' शब्द का प्रयोग इस सूत्र मे किया गया है" – नवागी टीकाकार द्वारा इस सूत्र का इस प्रकार का किया गया अर्थ साधारण से साधारण भाषाविद् को भी मान्य नही हो सकता। यदि आगमकार को इस सूत्र का इस प्रकार का अर्थ अभिप्रेत होता तो वे निश्चित रूप से "सचूलिकाकस्य" के स्थान पर इस सूत्र मे "चूलिकावर्जस्य" शब्द का प्रयोग करते। पर न इस सूत्र की शब्द रचना को देखते हुए इस प्रकार का अर्थ किया जाना सभव है और न सूत्रकार का ही इस प्रकार का अभिप्राय था। आगमकार तो यही बताना चाहते थे कि चूलिकावाले आचाराग का पदपरिमाण १८,००० पद है और उन्होने अपने इस अभिप्राय को इस सरल सूत्र के माध्यम से स्पष्ट शब्दो मे प्रकट कर दिया – "आयारस्स ण भगवओ सचूलिआगस्स अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेणं पण्णत्ताइं।"

नवागी टीकाकार द्वारा प्रस्तुत की गई युक्ति के केवल कुछ ही अंश से हम साभार सहमत है। उपरोक्त सूत्र मे "सचूलिआगस्स" शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से दो श्रुतस्कंधात्मक आचाराग के विशेषण के रूप मे केवल उसकी एक

[1] समवायाग-टीका (अभयदेवसूरिकृता), राय धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित पत्र ५४ (२)

है जिसमें नवब्रह्मचर्याध्ययनों से सम्बन्धित, उल्लिखित तथ्यों का विशद व्याख्यात्मक विवेचन मात्र है। केवल यही नहीं उन्होंने अपनी ओर से यह मान्यता भी प्रकट की है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध ५ चूलाओं में विभक्त है। इसकी पदसंख्या प्रथम श्रुतस्कन्ध से अधिक और अधिकतर है।[1]

निर्युक्तिकार आदि के आगमों से भिन्न इस अभिमत का अनुसरण करते हुए हर्मन जैकोबी आदि आधुनिक विद्वान् विचारकों ने भी अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि भाषा एवं शैली की दृष्टि से आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अति प्राचीन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध उससे पश्चाद्वर्ती काल की रचना है।[2]

पद-प्रमाण सम्बन्धी निर्युक्ति की मान्यता को मूल आगम के उल्लेखों से बाधित तथा आधारविहीन सिद्ध करते हुए ऊपर यह सप्रमाण बताया जा चुका है कि आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों का पदपरिमाण १८,००० पद है न कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का।

आचारांग की पदसंख्या के प्रश्न को हल करने के प्रयास में ही निर्युक्तिकार तथा चूर्णिकारों ने इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविरकृत एवं चूलात्मक आचाराग्र माना। इस कारण से दोनों प्रश्न परस्पर सम्पृक्त हैं अतः द्वितीय श्रुतस्कन्ध की मौलिकता के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह देखना परमावश्यक है कि यह पदसंख्या का प्रश्न किस कारण उत्पन्न हुआ।

एतद्विषयक सभी तथ्यों का समीचीनतया पर्यालोचन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि निशीथ को आचारांग की पांचवीं चूला मानने और उसके पश्चात् उसे आचारांग से पृथक् किया जाकर स्वतन्त्र छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने की मान्यता के कारण पदसंख्या विषयक मतभेद और उसके फलस्वरूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचारांग से भिन्न उसका परिशिष्ट अथवा आचाराग्र मानने की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। समवायांग सूत्र की समवाय संख्या १८ में आये हुए "चूलिकासहित आचारांग भगवान् के १८,००० पद हैं।" इस उल्लेख के कारण अधिकांशतः जनमानस में यही धारणा बनी हुई थी कि चूलिका सहित आचारांग की पदसंख्या १८,००० है। समवायांग की समवाय संख्या २५ में आचारांग के २५ अध्ययनों के नाम दो गाथाओं में गिना चुकने और गाथाओं की परिसमाप्ति के पश्चात् "निसीहज्झयणं पणवीसइम" – इस

---

[1] आचारांग निर्युक्ति (प्रथम श्रु० स्कन्ध), गा० ११ तथा आचा० नि० (२ श्रु० स्कंध), गा० २ से ७

[2] The Acharanga Sutra contains two books, or Srutskandhas, very different from each other in style and in the manner in which the subject is treated. The subdivisions of the second book being called Chulas (चूलाज), or appendices, it follows that only the first book is really old ... . .

The first book, then, is the oldest part of the Acharanga Sutra, it is probably the old Acharanga itself to which other treatises have been added

[Sacred Book of the East, Vol. 22, Introduction, P 47, – By Hermann Jacobi]

आचारांग की ही तरह दो श्रुतस्कन्ध वाले अन्य भी आगम है पर उनके सम्बन्ध मे प्रथम श्रुतस्कन्ध से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पृथक् पदसख्या की इस प्रकार की मान्यता को कही नही अपनाया गया है। सूत्रकृताग, ज्ञातृधर्मकथा, प्रश्न-व्याकरण और विपाक–इन चारों अगो के पदपरिमाण प्रत्येक के दोनो श्रुतस्कन्धों को मिला कर ही माने गये है। ऐसी स्थिति में केवल आचारांग के दोनों श्रतस्कंधो का पदपरिमाण पृथक्-पृथक् बताते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही पदपरिमाण १८,००० पद किस कारण माना है, यह समझ में नही आता। इसका स्पष्टीकरण न निर्युक्तिकार ने किया है, न चूर्णिकार ने अथवा किसी वृत्तिकार ने और न इसका कोई आधार कही खोजने पर उपलब्ध ही होता है।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ धवला और अगपण्णत्ती मे भी आचारांग की पदसख्या १८,००० मानी गई है तथा उन ग्रन्थो में आचाराग के विषयो का जो परिचय दिया गया है वह आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे प्रतिपादित विषयों से प्राय: पूरी तरह मिलता-जुलता है।

इन सब तथ्यो पर गम्भीरता और निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि आगमों के मूल पाठ मे दो श्रुतस्कन्ध और २५ अध्ययनात्मक सम्पूर्ण आचाराग की जो १८,००० पदसख्या बताई गई है वही पूर्णरूपेण, सही, प्रामाणिक और मान्य है। यह कहने की आवश्यकता नही कि आगम सर्वोपरि है और निर्युक्तियो, चूर्णियो और टीकाओं की तुलना मे निश्चित रूप से सर्वत. सर्वाधिक प्रामाणिक भी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु (द्वितीय) तथा टीकाकार आचार्य अभयदेव और चूर्णिकार जैसे आगमनिष्णात, एवं विद्वान् परमर्षियों ने आगम के उल्लेख से भिन्न इस प्रकार की मान्यता आखिरकार क्यों अभिव्यक्त की ? क्योकि उन्होने इसका कोई आधार या कारण अपनी रचनाओ मे नही लिखा है इसलिये निश्चित रूप से तो कुछ भी नही कहा जा सकता किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है जो शताब्दियो से विचारको के मस्तिष्क मे अनेक प्रकार की कल्पनाओं और ऊहापोहो का जनक बना हुआ है। इस प्रश्न का समीचीनतया समाधान न हो पाने के कारण ही आगमिक इतिहासविदो के समक्ष आज भी एक उलझन भरी ऐतिहासिक गुत्थी अनबुझी पहेली का रूप धारण किये उपस्थित है। वह जटिल ऐतिहासिक गुत्थी यह है कि – आचारांग के पदपरिमाण विषयक प्रश्न को हल करने के प्रयास में सर्वप्रथम निर्युक्तिकार ने और तदनन्तर निर्युक्तिकार का अनुसरण करते हुए चूर्णिकार, टीकाकार और वृत्तिकार आदि ने बिना किसी प्रामाणिक आधार के अपनी एक ऐसी मान्यता अभिव्यक्त कर दी जो आगम के उल्लेखों से विपरीत है। निर्युक्तिकार, वृत्तिकार आदि ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि गणधरकृत आचाराग तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक ही है और केवल उसी का पदपरिमाण १८,००० पद है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचाराग नही अपितु स्थविरकृत आचाराग्र

प्रत्येक अग के श्रुतस्कन्धो, अध्ययनो, उद्देशको, पदो एव अक्षरो तक की संख्या वताई गई है और प्रथम चार पूर्वो की चूलिकाओ तथा उनकी सख्या का उल्लेख किया गया है वहा आचाराग की चूलिका के सम्वन्ध मे किसी प्रकार का उल्लेख न होना इस वात का स्वत सिद्ध प्रमाण है कि वस्तुत आचाराग की एक भी चूलिका नही थी। द्वादशागी के इस परिचय से यह प्रमाणित होता है कि दृष्टिवाद के उपरोक्त चार पूर्वो को छोड कर अन्य किसी भी अग की एक भी चूलिका नही थी। चूलिकाओ की वस्तुत: एकादशागी के लिये आवश्यकता भी नही थी, क्योकि दृष्टिवाद मे एकादशागी के प्रत्येक अग से सम्वन्धित, उनमे उक्त, अनुक्त एव सक्षेपत उक्त सभी विषयो का वडे विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया था।[1] तदनुसार जहा आचाराग मे आचार-धर्म (साध्वाचार) के विधिमार्ग का प्रतिपादन किया गया है वहा नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक वीसवे प्राभृत मे साध्वाचार के अपवादो और उनकी शुद्धि हेतु सम्पूर्ण विधि-विधानो का विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया गया था।

चतुर्दश पूर्व जव तक विच्छिन्न नही हुए तव तक उपरोक्त वीसवा प्राभृत आचाराग का अभिन्न अग नही होते हुए भी आचारसुमेरु के शिखर (चूला) के रूप मे आचाराग का सहायक अथवा पूरक माना जाता रहा। कालान्तर मे काल-दोषजन्य वुद्धिमान्द्य के कारण पूर्वज्ञान क्षीण होने लगा और पूर्वधर आचार्यो ने ज्ञानवल से यह देखा कि सन्निकट काल मे ही पूर्वो का ज्ञान विच्छिन्न होने वाला है तो विशाख नाम के आचार्य ने प्रत्याख्यान-पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक वीसवे प्राभृत से सारभूत अशो को उद्धृत कर 'आचार प्रकल्प' अर्थात् निशीथ का निष्पादन किया और उसे छेदसूत्र के रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया।[2] पूर्वज्ञान

---

[1] पाटलीपुत्र मे हुई प्रथम अगवाचना के समय एकादशागी के पाठो को व्यवस्थित करने के पश्चात् जव वहा उपस्थित स्थविरो को यह विदित हुआ कि 'दृष्टिवाद' उनमे से किसी श्रमण के स्मृतिपटल पर अकित नही है तो उन्होने खिन्न हो जो शोकोद्गार प्रकट किये उन्हे "तित्थोगालिय पइन्ना" मे निम्नलिखित रूप से प्रकट किया गया है –

ते विंति सव्वसारस्स दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारो।
कह पुव्वगएण विणा, पवयणसार धरेहामो ।।

अर्थात् जव उन्हे विदित हुआ कि परम सारभूत दृष्टिवाद उनमे से किसी की स्मृति मे नही रहा है तो उन्होने खिन्न हो परस्पर एक दूसरे से पूछा – "अरे! अव हम लोग पूर्वज्ञान के विना प्रवचन के सार को किस प्रकार धारण करेगे ?" इस गाथा से प्रकट होता है कि दृष्टिवाद मे प्रत्येक अगशास्त्र के सम्वन्ध मे परमोपयोगी तथ्यो का प्रतिपादन किया गया था। – सम्पादक

[2] दसण नाणजुत्तो, गुत्तो गुत्तीसु (परि) सम्मणहिए।
नामेण विसाहगणी, महत्तरओ गुणाणमजूसी ।।
तस्स लिहिय निस्साहि धम्मधुराधरण पवर पुज्जस्स।
[हस्तलिखित निशीथ की कुछ प्रतियो की प्रशस्ति]

प्रकार के विवादास्पद पाठ को देखकर और समवाय संख्या ५७ मे "आयार-चूलियावज्जाण" इस पद के द्वारा आचाराग के २५ अध्ययनों मे से एक अध्ययन के चूलिकास्वरूप होने तथा आचाराग के अध्ययनो से पृथक् रखने के संकेत से यह अनुमान लगा लिया गया कि निशीथ आचाराग की चूलिका के रूप मे जब विद्यमान था उस समय आचाराग की पदसख्या १८,००० थी और जब निशीथ को आचाराग से पृथक् किया जाकर छेदसूत्र के रूप मे उसकी प्रतिष्ठापना हो चुकी है तो उस दशा मे स्वत ही आचाराग की पदसख्या १८,००० से कम हो गई।

वस्तुत आचारांग की ५ तो क्या एक भी ऐसी चूलिका नही थी जो आचाराग का अभिन्न अग हो और उसके पदों की सख्या की गणना आचारांग की पदसख्या मे सम्मिलित मानी गई हो। इस ओर न तो निर्युक्तिकार का ही ध्यान गया और न वृत्तिकार, चूर्णिकार अथवा डॉ० हर्मन जैकोबी का ही। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी ने अपने इस अभिमत के समर्थन में जो युक्तियां दी है उनको देखने से स्पष्टत यह प्रकट होता है कि वे निर्युक्तिकार, वृत्तिकार तथा टीकाकार के विचारो से और विशेषत: आचाराग चूर्णिकार द्वारा प्रारम्भ में प्रस्तुत मगल प्रकरण से अत्यधिक प्रभावित हुए है जिसमें चूर्णिकार ने प्रथम श्रुतस्कन्ध के – "सुयं मे आउस तेण भगवया एवमक्खाय" इस प्रथम सूत्र को आदिमगल तथा "से बेमि जे य अतीता अरहता भगवता" एव "से बेमि से जहा विहरे" – इन मध्यवर्ती सूत्रो को मध्यमगल और "अभिनिव्वुडे अमाई य" – प्रथम श्रुतस्कन्ध के इस अतिम पद को अंत-मंगल बताते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही परिपूर्ण आचाराग मानने विषक अपना अभिमत व्यक्त किया है।

तथ्यो पर गहराई से विचार करने पर उपरोक्त सभी विद्वानो की मान्यता प्रमाण के स्थान पर केवल कल्पना पर आधारित नितान्त निराधार धारणा ही सिद्ध होती है। वस्तुत. आगमो के रचनाकाल मे आचाराग की एक भी ऐसी चूला विद्यमान नही थी जिसे आचाराग का अभिन्न अग मानकर उसके कलेवर की आचाराग के १८,००० पदपरिमाण मे गणना की गई हो। इसका प्रबल प्रमाण आगम का मूल पाठ है। यह पहले बताया जा चुका है कि समवायाग और नन्दी सूत्र मे जो द्वादशांगी का सर्वागपूर्ण परिचय दिया है उसमें आचारांग का स्वरूप – दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समुद्देशनकाल और १८,००० पदयुक्त बताया गया है। उपरोक्त दो सूत्रो के अतिरिक्त अन्य किसी आगम मे द्वादशागी का इतना विस्तृत परिचय नही मिलता।

द्वादशागी के इस परिचय मे बारहवे अग 'दृष्टिवाद' के तृतीय भेद 'पूर्वगत' के १४ पूर्वो मे से आदि के चार पूर्वो को छोड़ कर शेष किसी भी अग की चूलिकाओ का अस्तित्व नही बताया गया है।[1] जहा द्वादशांगी के परिचय मे

[1] चत्तारि दुवालस, अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्ह, सेसाण चूलिया नत्थि॥ [नन्दीसूत्र (द्वादशागी प्रकरण)]

मे २५वे अध्ययन को चूलिकास्वरूप और २५वी समवाय मे विमुक्ति अध्ययन को आचाराग का पच्चीसवा अध्ययन बताने के पश्चात् जो निशीथ को भी २५वा अध्ययन बताया गया है, इसका वास्तविक अर्थ क्या है, इसमे किसी लिपिकार की भूल है अथवा सकलनाकाल मे इन दोनो सूत्रो के पाठ मे किसी प्रकार की भूल हुई है यह तो अतिशय ज्ञानी ही बता सकते है पर इस प्रकार के पाठो से यह अवश्य प्रकट होता है कि नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक वीसवे प्राभृत को आचाराग का अग न होते हुए भी परमावश्यक होने के कारण जो आचाराग की चूला माना गया है उसके प्रस्तुतीकरण (Interpretation) को लेकर मान्यता-भेद उत्पन्न हो गया था ।

अब हमे निष्पक्ष दृष्टि से यह देखना है कि निशीथ वस्तुत आचाराग का ही अग है अथवा उससे पूर्णत पृथक् । इस सम्बन्ध मे आगम और आगम से सम्बद्ध इतर साहित्य के पर्यालोचन से यह प्रकट होता है कि निशीथ आचार-प्रकल्प अथवा प्रकल्प का ही दूसरा नाम है । ये तीनो शब्द समानार्थक और एक दूसरे के पर्यायवाची है ।

स्थानाग[1] और समवायाग[2] मे आचार प्रकल्प के क्रमश· ५ और २८ भेदो का निरूपण करते हुए जो नाम दिये है उनसे यह प्रकट होता है कि आचारप्रकल्प और आचाराग इन दोनो की विषयवस्तु विभिन्न होने के कारण ये दोनो अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है । प्रश्नव्याकरण सूत्र मे भी आचारप्रकल्प २८ प्रकार का बताया गया है ।[3] आवश्यक वृहद्वृत्ति मे २८ प्रकार का आचारप्रकल्प बताते हुए २५ नाम तो वही गिनाये गये है जो कि आचाराग के २५ अध्ययनो के है । इन पच्चीस के साथ निशीथ के तीन भेद जोडकर २८ प्रकार के आचार-प्रकल्प की सख्या पूरी की गई है ।[4] इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार-प्रकल्प आचाराग का अभिन्न अग नही अपितु इससे भिन्न है ।

---

[1] पचविहे आयारकप्पे प० त० मासिए उग्घाइए मासिए अणुग्घाइए, चउमासिए उग्घाइए, चउमासिए अणुग्घाइए, आरोवणा ।। [स्थानाग, ठाणा ५]

[2] अट्ठावीसविहे आयारकप्पे प० त० मासिया आरोवणा (१) ···अकसिणा आरोवणा (२८) [समवायाग, सम० २८]

[3] अट्ठावीसा आयारकप्पा । [प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ५]

[4] सत्थपरिन्ना लोगविजओ अ सिओसणिज्ज समत्त ।
आवति धुअ विमोहो, उवहाणसुअ महपरिन्ना ।। ५१
पिंडेसणसिज्जिरिज्जा, भासज्जाया य वत्थपाएसा ।
उग्गहपडिमासत्तिक्कसत्तय भावण विमुत्ति ।।५२
उग्घायमणुग्घाय आरोवण तिविहमो निसीह तु ।
इति अट्ठावीसविहो, आयरपकप्पनामोय ।।५३ [आवश्यक वृहद्वृत्ति, अ० ३]

के विच्छिन्न हो जाने के पश्चात् भी परपरागत धारणा के अनुसार पूर्वगत से उद्धृत होने की स्थिति मे भी निशीथ को आचाराग की चूला ही माना जाता रहा। जिस प्रकार गगा के जल को यमुना जल और यमुना के जल को गंगाजल नही कहा जा सकता उसी प्रकार आचाराग और निशीथ को एक नही माना जा सकता। क्योकि दोनो का परस्पर प्रगाढ सम्बन्ध होने के उपरान्त भी आचारांग श्रुत-गगा की एकादशागी रूप एक धारा का जल है तो निशीथ चतुर्दश पूर्व रूपी दूसरो धारा का जल। स्वय निर्युक्तिकार ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि आचारप्रकल्प (निशीथ) प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवे प्राभृत से निर्व्यू ढ किया गया है।[1]

उपरिलिखित तथ्यो से यह निस्सदिग्धरूपेण सिद्ध हो जाता है कि आचाराग की अभिन्न अग के रूप मे कोई चूला न तो पूर्वकाल मे कभी थी और न वर्तमान मे ही है। इसका प्रबल प्रमाण है समवायांग और नन्दी सूत्र में उल्लिखित द्वादाशागी का परिचय जिसमे कि आचाराग की किसी चूला के अस्तित्व का संकेत तक नही किया गया है।

आचाराग की अभिन्न अंग के रूप में चूलिका का अस्तित्व न होते हुए भी अपवाद की स्थिति मे साध्वाचार मे लगे अतिचारो के विशुद्धिकरण की दृष्टि से पूर्वकाल मे आचारप्राभृत को और पश्चाद्वर्तीकाल मे उसी के सारभूत स्वरूप निशीथ को परमावश्यक समझ कर आचाराग की वस्तुतः चूला न होते हुए भी चूला माना जाता रहा। यही कारण है कि समवायांग सूत्र की समवाय सख्या १८, २५ और ८५ मे "आयारस्स भगवओ सचूलियागस्स" – इस पद के द्वारा एक चूलिका की सत्ता का सकेत किया गया। यहा सकेत शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि मूल आगम मे उस चूलिका के नाम का कही भी उल्लेख नही किया गया है। समवाय सख्या ५७ मे जो–"आयारचूलावज्जाण" इस पद के प्रयोग से सूत्रकृताग के २३, स्थानाग के १० और आचारांग के २५ अध्ययनों मे से चूलिकात्मक एक अध्ययन को छोड़ कर शेष २४ को मिला कर प्रथम के तीन अंगो के ५७ अध्ययन बताये गये है।[2] इस सूत्र मे आचारांग का २५ वा अध्ययन चूलात्मक बताया गया है पर समवायांगसूत्र को समवाय सख्या २५ में आचारांग के प्रथम अध्ययन "शस्त्रपरिज्ञा से लेकर विमुक्ति नामक २५वे अध्ययन तक के २५ नामो का उल्लेख करने के पश्चात् "निसीह पणवीसइम" इस प्रकार का पद देकर निशीथ को आचाराग का २५वा अध्ययन बताया गया है। २५वी समवाय मे जो आचाराग के २५ अध्ययनो के नाम गिनाये गये है उन्ही नामो के २५ अध्ययन वर्तमान काल में आचारांग मे विद्यमान है। ऐसी स्थिति में जो ५७वे समवाय

---

[1] आगारपकप्पोउ, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधेज्जा, विसइमा पाहुडच्छेया॥　　[आचाराग–निर्युक्ति, श्रु० २]

[2] तिण्ह गणिपिडगाण आयारचूलियावज्जाण सत्तावन्नं अज्झयणा पण्णत्ता तजहा आयारे सूयगडे ठाणे।　　[समवायाग, समवाय ५७]

उपरोक्त सभी तथ्यो पर गम्भीरतापूर्वक मनन के पश्चात् सिद्ध हो जाता है कि वस्तुत आचाराग की ऐसी एक भी चूला नही थी और न है, जिसकी कि गणना आचाराग के दो श्रुतस्कन्धो, २५ अध्ययनो, ८५ उद्देशको अथवा सम्पूर्ण आचाराग के १८००० पदो में सम्मिलित की जा सके। प्रारम्भ से आचारप्राभृत, अपर नाम आचारप्रकल्प, प्रकल्प अथवा निशीथ जो कि पूर्वज्ञान का अश है, आचाराग की ऐसी चूला माना जाता रहा है जिसकी पदसख्या आचाराग की पदसख्या मे सम्मिलित नही मानी जाती।

इस प्रकार आगमो मे उपलब्ध आचाराग की चूलिका से सम्बन्धित उल्लेखो के पर्यवेक्षण से जो स्थिति स्पष्टत प्रकट होती है वह इस प्रकार है –

१ समवायाग और नन्दीसूत्र मे आगमो के परिचय के प्रकरण मे जो आचाराग का परिचय दिया गया है उसमे आचाराग की एक भी चूलिका के अस्तित्व का उल्लेख नही किया गया है। उसमे यह स्पष्ट उल्लेख है कि दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशन काल, तथा ८५ समुद्देशनकाल वाले आचाराग की पदसख्या १८००० है।

२ पूरे नन्दी सूत्र मे एक भी ऐसा उल्लेख नही हे जिससे कि आचाराग की एक भी चूलिका का अस्तित्व प्रकट होता हो।

३ समवायाग की समवाय सख्या १८, २५ और ८५ मे आचाराग की चूलिका के अस्तित्व का उल्लेख अवश्य है। उसके अतिरिक्त चूलिका के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का उल्लेख नही किया गया है। समवाय सख्या २५ मे शस्त्रपरिज्ञा से प्रारम्भ कर २५वे विमुक्ति नामक अध्ययन तक आचाराग के पच्चीसो अध्ययनो के नामो का उल्लेख करने के पश्चात् सन्देहास्पद स्थिति मे जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है – "निसीह पणवीसइम" – अर्थात् पच्चीसवा अध्ययन निशीथ।

४ समवाय सख्या ५७ मे "आयारचूलावज्जाण" अर्थात् "आचार चूला को छोडकर" – इस उल्लेख के साथ आचाराग के २५ अध्ययनो मे से आचार-चूला स्वरूप एक अध्ययन को छोडकर शेप २४ अध्ययनो के साथ सूत्रकृताग के २३ और स्थानाग के १० अध्ययनो को मिलाकर प्रथम तीन अगो के अध्ययनो की सख्या ५७ बताई गई है। इस समवाय मे भी यह स्पष्ट नही किया गया है कि आचार-चूला आचाराग का कौनसा अध्ययन है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि आचाराग के जिन २५ अध्ययनो के नाम समवाय सख्या २५ मे उल्लिखित किये गये है वे पच्चीसो ही अध्ययन उन्ही नामो के साथ आचाराग मे आज भी विद्यमान है।

५ सभव है समवाय स० २५ और ५७ मे परिलक्षित होने वाली चूलिका-विषयक सदेहास्पद स्थिति ही पदसख्याविपयक, चूलिकाविपयक और आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचारांग से भिन्न आचाराग की चूलिकाए-आचाराग्र एव

व्यवहारकल्प[1] और पंचकल्पभाष्य[2] मे भी आचाराग-निर्युक्तिकार की तरह आचारप्रकल्प को नवम पूर्व से निर्व्यूढ माना गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचारप्रकल्प (निशीथ) आचाराग का अंग नही अपितु अपना पृथक अस्तित्व रखता है।

"धर्म प्रकरण" में "आचारप्रकल्प" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है :– "आचार आचारागम्, प्रकल्पो निशीथाध्ययनम्-तस्यैव पंचमचूला, आचारेण सहितः प्रकल्प आचारप्रकल्प. निशीथाध्ययनसहिते आचारागे।

नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने समवायांग-टीका मे 'आचारप्रकल्प' शब्द का दो प्रकार से अर्थ करते हुए लिखा है– "आचार प्रथमागस्तस्य प्रकल्पोऽध्ययनविशेषो निशीथमित्यपराभिधानस्य, वा साध्वाचारस्य ज्ञानादि विषयस्य प्रकल्पोऽध्यवसायमित्याचारप्रकल्प ।"

उपरोक्त व्याख्याओ में दोनों टीकाकारो ने आचार शब्द का आचाराग और प्रकल्प का अर्थ निशीथाध्ययन किया है, इससे भी दोनो का एक दूसरे से पार्थक्य तो सिद्ध होता ही है। निर्युक्तिकार के अभिमत से प्रभावित होकर उन्होने निशीथ को आचारांग का अध्ययनविशेष अथवा पाचवी चूला लिख दिया है पर जो २८ प्रकार का आचारप्रकल्प ऊपर बताया गया है उससे भी निशीथ के आचाराग का अध्ययन होने की सगति बिल्कुल नही बैठती। क्योकि २८ प्रकार के आचारप्रकल्प मे शस्त्रपरिज्ञा से लेकर विमुक्ति तक के आचाराग के २५ अध्ययन और उग्घाइये, अणुग्घाइये और आरोवणा – ये निशीथ के तीन प्रकार – इस तरह कुल मिलाकर २८ भेद गिना दिये गये है अत· निशीथ की आचाराग के २५ अध्ययनों में किसी भी तरह गणना नही की जा सकती। आगम मे आचाराग के २५ अध्ययन होने का उल्लेख है न कि २६ का। ऐसी दशा मे यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि आचारांग से आचारप्रकल्प अर्थात् निशीथ सदा से पृथक् ही माना जाता रहा है।

आचारांग और निशीथ के पृथक्-पृथक् और भिन्न-भिन्न होने का एक सबसे अधिक सशक्त और, अकाट्य प्रमाण यह है कि आचाराग कही से निर्व्यूढ नही है, उद्धृत नही है जब कि निशीथ को निर्युक्तिकार, वृत्तिकार, चुर्णिकार आदि सभी विद्वान् एकमत हो नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक वीसवे प्राभृत से उद्धृत अथवा निर्व्यूढ मानते हैं। ऐसी स्थिति में निशीथ को आचाराग का अध्ययन अथवा अंग नही माना जा सकता। हा, साध्वाचार के लिये परमोपयोगी होने के कारण इसे आचाराग की चूला माना जा सकता है, वह भी पाचवी नही अपितु पहली और अंतिम अर्थात् एक मात्र।

---

[1] आयारपकप्पो उ नवमे पुव्वंमि आसि सोधीय।
तत्तोव्वि य निज्जूढो, इहाणियतो कि न सद्धिभवे ।। [व्यवहारकल्प]

[2] आयारदसाकप्पो ववहारो नवमपुव्वाणिसदा चारित्तरक्खणट्ठा नुयकऽस्सुवरिठविताऽ··· [पंचकल्पभाष्य]

उसी प्रकार आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी द्वादशागी का अभिन्न अग होने के कारण अर्थत तीर्थकरप्रणीत और शब्दत गणधरो द्वारा ग्रथित है। उपर्युल्लिखित प्रमाणो के अतिरिक्त अन्य आगमो मे भी इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध है जिनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है।

"प्रश्नव्याकरण सूत्र" मे जिस स्थल पर यह विवेचन आया है कि अमुक-अमुक प्रकार का सावद्य आहार ग्रहण करना साधु को नही कल्पता, वहा शिष्य ने प्रश्न किया है—"तो फिर किस प्रकार का आहार ग्रहण करना कल्पता है?" इस प्रश्न के उत्तर मे आचाराग के दशवे, तदनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पहले पिण्डपात अध्ययन का उल्लेख करते हुए बताया गया है – " 'पिण्डपात' अध्ययन के ११ उद्देशको मे जो आहार ग्रहण करने की निर्दोष विधि बताई गई है उसके अनुसार साधु को आहार ग्रहण करना चाहिये।"[1]

"स्थानाग सूत्र" चतुर्थ स्थान मे[2] आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के शय्या, वस्त्रैषणा, आदि चार अध्यायनो मे वर्णित विषयो का तथा सातवे स्थानक मे आचाराग – द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात सप्तैकका अध्ययनो तथा पिण्डैषणा आदि का उल्लेख किया गया है।[3]

'दशवैकालिक सूत्र' का 'छज्जीवणिकाय' नामक चौथा अध्ययन आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक पन्द्रहवे अध्ययन के आधार पर निर्मित किया गया है। दशवैकालिक का 'पिण्डैषणा' नामक पाचवा अध्ययन तो वस्तुत आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'पिण्डैषणा' नामक प्रथम अध्ययन का सुगठित रूपान्तर है। दोनो आगमो के इन अध्ययनो का नामसाम्य और विषयसाम्य इस तथ्य के सबल साक्षी है कि दशवैकालिक के सकलयिता अथवा निर्माता – आचार्य सय्यभव (भ० महावीर के चतुर्थ पट्टधर) के समक्ष आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध विद्यमान था। इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र का 'सुवक्कसुद्धी' नामक सातवा अध्ययन भी आचाराग – द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भाषैषणा' नामक चतुर्थ अध्ययन का पद्यानुवाद प्रतीत होता है।

अल्पायुष्क मणकमुनि के हित को दृष्टि मे रखते हुए आचाराग के द्वितीय श्रुत० अथवा पूर्वो के आधार पर आ० सय्यम्भव ने "दशवैकालिक सूत्र" का ग्रथन किया अत वह आचार्य सय्यभव की रचना माना जाता है। निर्युक्तिकार के कथनानुसार यदि शिष्यो के हित के लिए किसी स्थविर ने आचाराग के द्वितीय

---

[1] अह केरिसय पुणाइ कप्पइ ? ज त इक्कारस पिडवायसुद्ध ·

[प्रश्नव्याकरण, सवरद्वार ५]

[2] चत्तारि सेज्जापडिमाओ प० चत्तारि वत्थपडिमाओ प० चत्तारि पायपडिमाओ प० चत्तारि ठाणपडिमाओ प० ॥४२४॥ [स्थानाग, ठा० ४।३]

[3] सत्त पिडेसणाओ प० ६६३। सत्त पाणेसणाओ प० ।६६४
सत्त उग्गहपडिमाओ प० ॥६६५॥ सत्त सत्तिक्कया प० ॥६६६ - [स्थानाग, स्थान ७]

आचाराग का परिशिष्ट मात्र मानने विषयक और निशीथ को आचाराग की चूलिका मानने विषयक विवादों की जननी हो ।

६. आचाराग की चूलिका के सम्बन्ध मे उपरोक्त उल्लेखो के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का उल्लेख आगमों मे दृष्टिगोचर नही होता ।

७. आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पंच चूलात्मक होने अथवा आचाराग से भिन्न आचाराग्र, चूलिकास्वरूप, अथवा परिशिष्टमात्र होने का आगम मे कही कोई उल्लेख नहीं है ।

८. मूल आगम में कही एक भी ऐसा उल्लेख उपलब्ध नही होता जिससे यह प्रकट होता हो कि आचाराग के केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की पदसख्या १८००० है ।

९ समवाय संख्या २५ में निशीथ विषयक सदिग्ध पाठ और समवाय सख्या ५७ मे "आयारचूलावज्जाण" इस पद द्वारा आचाराग के २५ अध्ययनो में से १ अध्ययन को आचारचूला मान कर उसे अध्ययनो की गणना मे न रखने विषयक पाठ संभवतः चूलिका के स्वरूप के प्रस्तुतीकरण (Interpretation) मे किसी प्रकार की भ्रान्ति के प्रतिफल हों ।

१०. द्वादशागी के रचनाकाल मे आचारांग के जो २५ अध्ययन थे उनमे से महापरिज्ञा सातवा अध्ययन विलुप्त हो चुका है और शेष २४ अध्ययन आज भी आचाराग मे विद्यमान है ।

११. आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही गणधरकृत मानते हुए निर्युक्तिकार ने आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को जो स्थविरकृत और आचाराग से भिन्न पंचचूलात्मक आचाराग्र सिद्ध करने की मान्यता प्रकट की है वह मूल आगम की भावना से विपरीत और आगमिक आधारविहीन होने के कारण काल्पनिक अमान्य मान्यताओ की कोटि में परिगणित की जा सकती है ।

१२. आगम मे जिन-जिन स्थलो पर दो श्रुतस्कन्धो, २५ अध्ययनो, ८५ उद्देशनकालों, ८५ समुद्देशनकालो और १८ हजार पदो से युक्त स्वरूप वाले आचाराग को उद्दिष्ट कर के कोई भी बात कही गई है, केवल उन्ही स्थलो पर "आयारस्स भगवाओ", "से कि आयारे" और "आयारे" इन पदो का प्रयोग किया गया है[१] और जहा केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को लक्ष्य कर कोई बात कही गई है वहा इन पदो मे से किसी भी पद का प्रयोग न किया जाकर "नवण्ह बभचेराणं" अर्थात् "नवब्रह्मचर्याध्ययनो का" – इस पद का प्रयोग किया गया है ।[२]

उपरोक्त प्रमाणो से यह भलीभाति सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण द्वादशागी अर्थत. तीर्थकरप्रणीत और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित है

---

[१] (क) नदी एव समवायाग के द्वादशांगी परिचय प्रकरण ।
(ख) समवायाग, सम० १८, २५ और ८५

[२] नवण्ह वभचेराण एकावन्नं उद्देसणकाला पण्णत्ता । [समवायाग, सम० ५१]

१ आचाराग के दोनो श्रुतस्कन्ध द्वादशागी के रचनाकाल मे गणधरो द्वारा सर्वप्रथम ग्रथित किये गये थे। आगम मे जो आचाराग की पदसख्या १८,००० उल्लिखित है वह वस्तुत दोनो श्रुतस्कन्धो सहित सम्पूर्ण आचाराग की है न कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की।

२ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पंचचूलात्मक एव आगमो के रचनाकाल से पश्चाद्वर्ती काल मे स्थविरकृत आचाराग्र मात्र होने तथा प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मूल आचाराग मानते हुए केवल उसी की पदसख्या १८,००० होने की जो मान्यता निर्युक्तिकार आदि द्वारा अभिव्यक्त की गई है वह आगमिक एव अन्य किसी आधार पर आधारित न होने के कारण निराधार, काल्पनिक एव अमान्य है।

३ वर्तमानकाल मे आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के स्वरूप के सम्बन्ध मे जो यह मान्यता प्राय सर्वत्र प्रचलित है कि सपूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध चार चूलाओ मे विभक्त है, यह मान्यता किसी शास्त्र द्वारा सम्मत न होने के कारण शास्त्रीय मान्यता की कोटि मे नही आती। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि आचाराग की मूलत अभिन्न अग के रूप मे एक भी चूला न तो कभी थी और न है ही। आगमो के रचनाकाल से लेकर निशीथ के छेदसूत्र के रूप मे प्रतिष्ठापित किये जाने तक नवम पूर्व की तृतीय वस्तु का आचार नामक वीसवा प्राभृत संभवत आचाराग की चूलिका के रूप मे माना जाता रहा और कालान्तर मे उस प्राभृत की निशीथ छेदसूत्र के रूप मे प्रतिष्ठापना के पश्चात् निशीथ को आचाराग की चूलिका माना जाने लगा। इतना होने पर भी न कभी आचार-प्राभृत की पद-सख्या आचाराग की पदसख्या के सम्मिलित मानी गई थी और न निशीथ की ही।

आचारांग का स्थान एवं महत्व

आचार जीवन को समुन्नत बनाने का साधन, साधना का मूलाधार और मोक्ष का सोपान है अत आचाराग का जैन वाङ्मय मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। "ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष" – इस सर्वजनसुविदित सुविख्यात सूक्ति के अनुसार सर्वप्रथम सदसद् का ज्ञान तथा तदन्तर उस ज्ञान के माध्यम से विवेकपूर्वक असद् अर्थात् हेय का परित्याग एव सद् अर्थात् उपादेय का विवेकपूर्वक आचरण करने पर ही साधक द्वारा मोक्ष की उपलब्धि की जा सकती है। आचाराग मे मोक्ष-प्राप्ति के बाधक असद् का एव मोक्ष-प्राप्ति मे परम सहायक सद् का ज्ञान कराते हुए समस्त हेय के परित्याग का और उपादेय के आचरण का उपदेश दिया गया है। इस दृष्टि से आचाराग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण ही समवायाग और नन्दी सूत्र मे द्वादशागी का परिचय देते हुए इसे द्वादशागी के क्रम मे सर्व-प्रथम स्थान पर रखा गया है।[1]

---

[1] से ए अगट्ठाए पढमे अगे। [समवायाग एव नन्दीसूत्र]

श्रुतस्कन्ध की रचना की होती तो इसके साथ भी इसके रचनाकार का नाम अवश्य जुड़ा हुआ होता और प्रश्नव्याकरण-सूत्र, स्थानाग, समवायाग आदि एकादशागी के प्रमुख अगो मे इसके अध्ययन, विषय आदि का उल्लेख एव परिचय उपलब्ध नही होता।

आचारांग के दोनो श्रुतस्कन्धों की शैली और भाषा मे द्विरूपता देखकर कतिपय विद्वानो ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध से पश्चाद्वर्तीकाल की कृति है। वस्तुत. यह तर्क एकान्तत. सभी जगह उपयोग मे नही लाया जा सकता क्योकि ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध है जहा एक ही सूत्र में समास और व्यास दोनो ही प्रकार की वर्णनशैलियां और क्लिष्ट एव सरल-सुगम भाषाशैलिया अपनाई गई है। ज्ञाताधर्मकथाङ्ग के प्रथम १६ अध्ययनो की वर्णनशैली और इनके पीछे के अध्ययनो की वर्णनशैली मे इस प्रकार का अन्तर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। ज्ञाताधर्मकथाग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रत्येक अध्ययन में विषयवस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन है जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध मे अतिसंक्षेपतः धर्मकथाओ का उल्लेख है। केवल इस आधार पर ज्ञाताधर्मकथाग के दोनो श्रुतस्कन्धो के भिन्नकर्तृक होने की कल्पना नही की जा सकती। इसी तरह आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में पांच प्रकार के आचार का दार्शनिक एव तात्विक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है। दार्शनिक एव तात्विक विवेचन प्रायः सूत्र शैली मे ही पाये जाते है। सागर को गागर मे समा देने की क्षमता सूत्रशैली मे ही है। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सूत्रशैली को अपनाया गया है अत' वहा भाषा, भाव और शैली में गाम्भीर्य एव गूढार्थता-जन्य क्लिष्टता का आजाना अनिवार्य ही था। द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे यह सब कुछ दृष्टिगोचर नही होता। इसका कारण यह है कि इसमे साध्वाचार के लिये आवश्यक छोटी से छोटी और वडी से बडी सभी बातो का साधक को समीचीनतया ज्ञान कराने के लिए सरल भाषा मे उचित विस्तार के साथ समझाया गया है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे दार्शनिक एव तात्विक विषय का प्रतिपादन किया गया है अत' उसमे सूत्रशैली अपनाई गई है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे साधु के आचार के प्रत्येक पहलू को व्याख्यात्मक ढग से समझाना आवश्यक था इसलिये यहा सरल और सुगम व्यास शैली को अपनाया गया है। वस्तुतः सूत्रात्मक समास शैली के माध्यम से साध्वाचार की सब बाते साधारण साधक को सरलता के साथ हृदयंगम नही कराई जा सकती।

दोनों श्रुतस्कन्धो मे दृष्टिगत होने वाली दो शैलियो का यही कारण है। वस्तुत ये दोनो श्रुतस्कन्ध आर्य सुधर्मा की ही कृति है।

निष्कर्ष

उपरिचर्चित सभी तथ्यो के समीचीनतया पर्यालोचन से जो निष्कर्ष निकलता है वह इस प्रकार है -

आचार्य मलयगिरि[1] ने उपरोक्त मान्यता के समर्थन मे अपना अभिमत व्यक्त करने के पश्चात् इस प्रकार की मान्यता का उल्लेख भी किया है कि आचाराग स्थापना की दृष्टि से पहला अङ्ग और रचनाक्रम की दृष्टि से १२ वा अङ्ग माना गया है।

मूल आगम समवायाग मे तथा नन्दी सूत्र मे स्पष्ट उल्लेख है – "से रा अङ्गट्ठाए पढमे अङ्गे"। इस सूत्र की सस्कृत छाया इस प्रकार होगी – तन्ननु अङ्गार्थे प्रथममङ्गम्।" इस सूत्र मे प्रयुक्त "ण" शब्द को केवल वाक्यालंकार के लिए प्रयुक्त न मानकर निश्चयार्थक माना जाय तो इस सूत्र का अर्थ होता है – "वह आचाराग अङ्गक्रम की दृष्टि से निश्चितरूपेरा प्रथम अङ्ग है।"

मूल आगम मे इस प्रकार के निश्चयात्मक स्पष्ट उल्लेख के पश्चात् इस प्रकार के प्रश्न के लिए किञ्चित्मात्र भी अवकाश नही रहना चाहिये था कि आचाराग स्थापना की दृष्टि से प्रथम अङ्ग है अथवा रचना की दृष्टि से। पर यह प्रश्न पूर्वाचार्यो के समक्ष उठा और आज तक इसका कोई सर्वसम्मत समाधान नही हो पाया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक छोटी सी भ्राति के कारण ही सभवत इस प्रश्न का प्रादुर्भाव हुआ है। यद्यपि आगम मे तो स्पष्ट उल्लेख है कि अङ्गो के क्रम मे आचाराग का प्रथम स्थान है परन्तु आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने "त्रिषष्टि-शलाकापुरुपचरित्र"[2] मे इस प्रकार का उल्लेख किया है कि प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त होने पर गौतमादि गराधरो ने सर्वप्रथम चौदह पूर्वो की रचना की और तदनन्तर द्वादशागी की। गराधरो द्वारा द्वादशागी की रचना से पहले ही चतुर्दश पूर्वो की रचना की गई, इस कारण चतुर्दश पूर्वो की रचना को पूर्व के नाम से अभिहित किया गया है।

इस प्रकार की स्थिति मे गहराई से विचार करने से पहले यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि जब पूर्वो की रचना अङ्गो से पहले कर ली गई तो द्वादशागी के क्रम मे आचाराग का प्रथम स्थान किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर यह है कि पूर्वो की प्रथम रचना से आचाराग का द्वादशांगी के क्रम मे प्रथम स्थान मानने मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होती।

---

[1] इह तीर्थंकरस्तीर्थप्रवर्त्तनकाले गराधरान् सकलश्रुतार्थावगाहनसमर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगत सूत्रार्थं भाषते, ततस्तानि पूर्वाण्युच्यन्ते, गराधरा पुन सूत्ररचना विदधत आचारादिक्रमेरा विदधति स्थापयन्ति वा (च), अन्ये तु व्याचक्षते–पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते, गराधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्र विरचयन्ति पश्चादाचारादिम्, अत्र चोदक आह नन्विद पूर्वापरविरुद्ध यस्मादादौ निर्युक्तावुक्त "सव्वेसि आयारो पढमो" इत्यादि, सत्यमुक्त, किन्तु तत्स्थापना-मधिकृत्योक्तम्, अक्षररचनामधिकृत्य पुन पूर्वं पूर्वारिग कृतानि, ततो न कश्चित् पूर्वापरविरोध।" [नन्दी-मलयगिरिकृता वृत्ति, पृ० ४८१ (धनपतिसिंह)]

[2] सूत्रितानि गराधरैरङ्गेभ्यः पूर्वमेव यत्।
पूर्वारगीत्यभिधीयते तेनैतानि चतुर्दश ॥१७२॥ [त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ५]

निर्युक्तिकार, टीकाकार और चूर्णिकार ने भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम मे सर्वप्रथम स्थान माना है। निर्युक्तिकार के उल्लेखानुसार तीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम आचाराग का और तदनन्तर शेष अंगो का प्रवर्तन-प्रचलन करते है।[1] गणधर भी उसी क्रम से अगों की रचना करते है। आचाराग को अगों के क्रम मे प्रथम स्थान देने का कारण बताते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि आचारांग मे मोक्ष के उपायो का प्रतिपादन किया गया है और यही प्रवचन का सार है, इसलिए इसको द्वादशागी के क्रम में प्रथम स्थान दिया गया है।[2]

आचाराग के चूर्णिकार और टीकाकार दोनों ने ही आगम और निर्युक्ति के उपरोक्त उल्लेखो का समर्थन करते हुये निम्नलिखित रूप मे आचारांग की सर्वाधिक महत्ता प्रकट की है :-

"अनन्त अतीत मे जितने भी तीर्थंकर हुए है, उन सब ने सर्वप्रथम आचाराग का ही उपदेश दिया, वर्तमान काल के तीर्थंकर जो महाविदेह क्षेत्र में विराजमान है, वे भी सर्वप्रथम आचाराग का ही उपदेश देते है और अनागत अनन्त काल मे जितने भी तीर्थंकर होने वाले है वे भी सर्वप्रथम आचाराग का ही उपदेश देंगे, तदनन्तर शेष ११ अगो का। गणधर भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए इसी अनुक्रम से द्वादशांगी को ग्रथित करते है।"[3]

समवायांग की टीका मे अभयदेव सूरी ने[4] और नन्दी सूत्र की वृत्ति में

---

[1] सव्वेसिमायारो तित्थस्य पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइं अगाइ, एक्कारस अणुपुव्वीए ।।८।। [आचाराग निर्युक्ति]

[2] आयारो अगाण, पढममग दुवालसण्ह पि।
इत्थ य मोक्खो वाओ, एस य सारो पवयणस्स ।।९।। [वही]

[3] (क) सव्व तित्थगरा वि य आयारस्स अत्थ पढम आइक्खति ततो सेसगाण एक्कारसण्ह अगाण ताए चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्त गु थति। (आचाराग चूर्णि, पृ० ३)
(ख) कदा पुनर्भगवताचार प्रणीत; इत्यत आह सव्वेसिमित्यादि-सर्वेषा तीर्थंकराणा तीर्थप्रवर्तनादावाचारार्थ प्रथमतयाभूद्, भवति, भविष्यति च तत शेषागार्थ इति गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रथ्नतीति।
[आचाराग शीलाकाचार्यकृत टीका, पृ० ६ राय धनपतिसिंह]

[4] अथ कि तत् पूर्वगत ? उच्यते, यस्मात्तीर्थंकर. तीर्थप्रवर्तनकाले गणधराणा सर्वसूत्राधारत्वेन पूर्व पूर्वगत सूत्रार्थ भापते तस्मात्पूर्वाणीति भणितानि, गणधरा. पुन. सूत्ररचना विदधाना आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति च, मतान्तरेण तु पूर्वगतसूत्रार्थ. पूर्वमर्हता भाषितो गणधरैरपि पूर्वगतश्रुतमेव पूर्व रचित पश्चादाचारादि, नन्वेव यदाचारनिर्युक्त्या सव्वेसि आयारो पढमो इत्यादि, तत्कथम् ? उच्यते, तत्र स्थापनामाश्रित्य तथोक्तमिह त्वक्षररचनां प्रतीत्य भणित पूर्व पूर्वाणि कृतानीति।"
[समवायाग टीका (अभयदेवसूरि विरचिता) पत्र १९९१(१)]

है कि वस्तुत आचाराग विश्वधर्म का प्रतीक है। विश्वबन्धुत्व की भावनाओ से ओत प्रोत सच्चे और आदर्श मानवीय सिद्धान्तों का इसमे सजीव वर्णन होने के कारण आचाराग का केवल द्वादशागी मे ही नही अपितु ससार के समग्र धर्मशास्त्रो मे एक बड़ा ऊचा एव महत्वपूर्ण स्थान है।

आचाराग के ह्रास एव तथाकथित विच्छेद विषयक विविध मान्यताओ पर "द्वादशागी का ह्रास" शीर्षक आगे के प्रकरण मे यथाशक्य समुचित प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

२. सूत्रकृतांग

द्वादशागी के क्रम मे सूत्रकृताग का दूसरा स्थान है। निर्युक्तिकार ने इस अंग के सूयगड के अलावा सूतगड, सुत्तकड और सुयगड–ये तीन और नाम भी बताये है।[1] समवायाग मे आचाराग के पश्चात् सूत्र कृताग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमे स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष आदि तत्वो का निरूपण एव नवदीक्षितो के लिए हितकर उपदेश है। इसमे एक सौ अस्सी क्रियावादी मतो, चौरासी अक्रियावादी मतो, सडसठ अज्ञानवादी मतो एव बत्तीस विनयवादी मतो–इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ त्रेसठ अन्य मतो पर चर्चा की गई है। इन सब की समीक्षा के पश्चात् यह बताया गया है कि अहिसा ही धर्म का मूल स्वरूप और श्रेष्ठ तत्व है।

सूत्र कृताग के दो श्रुतस्कन्ध है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध मे सोलह, और द्वितीय श्रुतस्कध मे सात इस तरह कुल २३ अध्ययन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल तथा ३६,००० पद है। समवायाग सूत्र की २३ वी समवाय मे सूत्र कृताग के तेबीस अध्ययनो का नामोल्लेख भी किया गया है।

नदिसूत्र में सूत्रकृताग का परिचय देते हुए बताया गया है कि इसमे लोक, अलोक, लोकालोक, जीव अजीव, स्वसमय, तथा परसमय का निदर्शन और क्रियावादी, अक्रियावादी आदि ३६३ पाषण्ड मतो पर विचार किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के अग पण्णत्ति, धवला, जयधवला, राजवार्त्तिक आदि मान्य ग्रन्थो मे जो सूत्रकृताग का परिचय दिया गया है वह काफी अशो मे श्वेताम्बर परम्परा द्वारा दिये गए इस अग के परिचय से मिलता-जुलता है।

दिगम्बर परम्परा के "प्रतिक्रमण ग्रथत्रयी" नामक ग्रथ मे सूत्रकृताग के २३ अध्ययन है, इस प्रकार का उल्लेख – "तेवीसाए सुद्दयड[2] ज्झाणेसु" – इस पद से किया है। इस पाठ की प्रभाचन्द्रकृत वृत्ति मे इन तेवीस अध्ययनो के नाम

---

[1] सूयगड अगाण बितिय, तस्स य इमाणि नामाणि।
सूतगड, सुत्तकड, सुयगड चेव गोण्णाइ ॥ २ ॥
[सूत्रकृताग आ० जवाहरलालजी म० द्वारा सपादित, प्रस्ता० पृ० ६]

[2] सूत्र का प्राकृत रूप सुद्द या सुत्त और कृत का प्राकृत रूप यड या कड, इस प्रकार सस्कृत शब्द सूत्रकृत का प्राकृत स्वरूप सुद्दयड होता है। [सम्पादक]

क्योकि बारहवां अङ्ग 'दृष्टिवाद' है न कि पूर्व। वस्तुत: पूर्व तो दृष्टिवाद के पाच विभागो मे से एक विभाग है।[1] सबसे पहले पूर्वो की रचना गणधरो ने कर ली पर बारहवे अङ्ग दृष्टिवाद के शेष बहुत बड़े भाग का तो ग्रथन आचारांगादि के क्रम से बारहवे स्थान पर ही हुआ। इस प्रकार का तो एक भी उल्लेख उपलब्ध नही होता जिसमें बताया गया हो कि बारहवे अङ्ग दृष्टिवाद का गणधरो द्वारा सबसे पहले ग्रथन किया गया। ऐसी स्थिति में आगम के उल्लेख के अनुसार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रचना एव स्थापना दोनो ही दृष्टियो से द्वादशांगी के क्रम मे आचाराग का प्रथम स्थान है।

आचारांग को द्वादशांगी में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है, वस्तुत' वह सब दृष्टियो से विचार करने पर पूर्णत: संगत प्रतीत होता है। आचार को निर्युक्तिकार द्वारा अङ्गो का सार माना गया है।[2] क्योंकि अक्षय अव्याबाध शिवसुख की प्राप्ति का मूलाधार आचार है। उस आचार अर्थात् साध्वाचार का आचारांग में सागोपांग समीचीनरूपेण निरूपण होने के कारण इसे द्वादशागी मे प्रथम स्थान दिया गया है। आचाराग सूत्र के विशिष्ट ज्ञाता मुनि को ही उपाध्याय और आचार्य पद के योग्य माना जाय, इस प्रकार के अनेक उल्लेख आगम साहित्य मे उपलब्ध होते है। आचारांग का सर्वप्रथम अध्ययन करना साधु-साध्वियो के लिए अनिवार्य रखने के साथ-साथ इस प्रकार का भी विधान किया गया था कि यदि कोई, साधु अथवा साध्वी, आचाराग का सम्यक्रूपेण अध्ययन करने से पूर्व ही अन्य आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता है तो वह लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का अधिकारी बन जाता है।[3] इतना ही नही आचाराग का अध्ययन एव ज्ञान प्राप्त नही करने वाले साधु को किसी भी प्रकार का पद नही दिया जाता था। आचाराग के अध्ययन के पश्चात् ही प्रत्येक साधु धर्मानुयोगऔर द्रव्यानुयोग पढने का अधिकारी समझा जाता था। नवदीक्षित मुनि की उपस्थापना भी आचाराग के "शस्त्र-परिज्ञा" अध्ययन द्वारा की जाती थी। वह पिण्डकल्पी (भिक्षा लाने योग्य) भी आचारांग का अध्ययन करने के पश्चात् माना जाता था। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वादशागी मे आचाराग का कितना महत्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है।

वर्तमान मे आचाराग के स्थान पर दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन, आगमो के अध्ययनक्रम मे सर्वप्रथम प्रचलित होने के कारण आचाराग की सबसे पहले वाचना की अनिवार्यता नही रही है।

आचाराग के परिशीलन एव निदिध्यासन के पश्चात् बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से प्रभावित हुए निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर अन्तर्मन यही साक्षी देता

---

[1] परिकर्म-सूत्र-पूर्वानुयोग-पूर्वगत-चूलिका. पच।
स्युर्दृष्टिवादभेदा', पूर्वाणि चतुर्दशापि पूर्वगते ॥१६०॥ [अभिधानचिन्तामणि]

[2] अगाण किं सारो ? आयारो,······ [आचाराग निर्युक्ति]

[3] निशीथ सूत्र, १९ – २०।

दशवे – "समाधि" अध्ययन मे हिसानिषेध, सयमपालन और समत्व का उपदेश दिया गया है। धार्मिक व्यक्ति को पाप से सदा उसी प्रकार डरते रहने का उपदेश दिया गया है जिस प्रकार कि मृग सिह से डरता रहता है।

ग्यारहवे "मार्ग" अध्ययन मे मोक्ष-मार्ग पर विचार किया गया है।

बारहवे "समवसरण" अध्ययन मे अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी, और क्रियावादी ऐसे ४ समवसरणो का वर्णन है। इसमे मुक्ति, एकान्तक्रियावाद से नही किन्तु सर्वज्ञसम्मत ज्ञान-क्रिया से बताई गई है।

तेरहवे अध्ययन मे यथातथ्य स्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि क्रोध के दुष्परिणाम समझकर सुशिष्य को पापभीरू, लज्जावान्, श्रद्धालु, अमायी और आज्ञापालक होना चाहिये। इसमे यह भी बताया गया है कि अभिमानी का तप निरर्थक होता है और ज्ञान एव लाभ का मद करने वाला अज्ञानी है अत मद नही करने वाला ही पण्डित एव मोक्षगामी कहा गया है।

चौदहवे – "ग्रथ अध्ययन" मे जीवननिर्माण की विविध शिक्षाओ के रूप मे बताया गया है कि साधक को प्रथम गुरुकुलवास–गुरुजनो का सहवास आवश्यक है। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आज्ञापालन और अप्रमाद साधना के प्रमुख अग है। इसमे आगे कहा गया है कि साधक को हास्य, अप्रिय सत्य, प्रतिष्ठा की चाह और कषाय से बचते रहना आवश्यक है।

पन्द्रहवे – "आदान अध्ययन" मे स्त्री लिग-त्याग और निष्काम-साधना का उपदेश देते हुए रत्नत्रय की आराधना से भवभ्रमण मिटना बतलाया गया है।

सोलहवे – "गाथा अध्ययन" मे साधु के "माहन", "श्रमण", "भिक्खु" और "निर्ग्रन्थ" ये चार नाम देकर इनकी व्याख्या की गई है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध मे ७ अध्ययन मे। प्रथम "पुण्डरीक" अध्ययन मे बताया गया है कि ससार सरोवर मे साधु रूक्ष वृत्ति से रहता हुआ राजा आदि अधिकारी को निस्पृह भाव से धर्मोपदेश करते हुए स्व-पर कल्याण का अधिकारी होता है। अन्त मे श्रमण के सोलह पर्यायवाची शब्द बताये गये है।

दूसरे-"क्रियास्थान अध्याय" मे १३ क्रियाओ का वर्णन किया गया है। क्रिया के सन्दर्भ मे धर्मस्थान को उपशान्त और अधर्म को अनुपशान्त स्थान कहा गया है। सक्षेप मे ससारी जीवो के तीन भाग किये गये है। इनमे निरारम्भी मुनि-जीवन को धर्मपक्ष कह कर उपादेय और महा आरम्भी गृहस्थो के अधर्मपक्ष को और मिश्र पक्ष को हेय बतलाया गया है। किन्तु धार्मिक गृहस्थो का धर्माधर्ममिश्रित जीवन उपादेय कहा गया है।

तीसरे "आहार परिज्ञा अध्ययन" मे जीवो के आहार का विचार किया गया है। वनस्पति के आहार पर विस्तृत विचार है। वनस्पतिया पृथ्वीयौनिक, वृक्षयौनिक रूप से मुख्यत दो प्रकार की बताई गई है। वृक्षो की उत्पत्ति का कारण आहारक शरीर और उनके विभिन्न १० अगो मे भिन्न-भिन्न जीव बतलाये गये

दिये गये है, जिनका श्वेताम्बर परम्परा की आवश्यक वृत्ति मे दिये गए नामो से नगण्य अन्तर को छोड पूर्ण साम्य है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध – इसके १६ अध्ययनो मे से प्रथम "समय" अध्ययन मे पर-समय का परिचय देकर उसका निरसन किया गया है। यहा परिग्रह को बन्ध और हिसा को वैरवृद्धि का कारण बताकर कुछ परवादियो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। उनमे भूतवाद, आत्माद्वैतवाद, एकात्मवाद, देहात्मवाद, अकारक-वाद (सांख्य), आत्म षष्टवाद, पंच स्कन्धवाद, क्रियावाद, कर्त्तृत्ववाद और त्रैराशिक आदि का परिचय देकर उन वादो का निरसन किया गया है।

दूसरे अध्ययन मे पारिवारिक मोह से निवृत्ति, परीषहजय, कषायजय, आदि का उपदेश, सूर्यास्त के पश्चात् विहार का निषेध और काम-मोह से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

तीसरे उपसर्ग अध्ययन मे अनुकूल, प्रतिकूल परीषह सहन का उपदेश देते हुए अनुकूल परीषह से प्रतिकूल परीषह की अपेक्षा अधिक हानि वताई गई है। साथ ही इसमें उस समय की विभिन्न मान्यताओ का परिचय देते हुए कहा गया है कि कुछ लोग जहाँ जल से, कुछ लोग आहार ग्रहण करने से, कुछ आहार ग्रहण न करने से मुक्ति मानते है, वहां आसिल, द्वीपायन आदि ऋषि पानी पीने और वनस्पति भक्षण से सिद्धि मानते है। इस अध्ययन के अन्त मे ग्लान-सेवा और उपसर्ग-सहन का उपदेश दिया गया है।

"स्त्री परिज्ञा" नामक चतुर्थ अध्ययन मे स्त्री सम्बन्धी परीषहो को सहने का उपदेश दिया गया है।

पांचवे नरकविभक्ति नामक अध्ययन के दो उद्देशको मे यह बताते हुए कि भोगों से नरक गति होती है–नरक के दु खो का वर्णन किया गया है।

छटे "वीरस्तुति" नामक अध्ययन मे भगवान् महावीर के गुणानुवाद और उपमाओ का वर्णन किया गया है।

सातवे "कुशील" नामक अध्ययन मे बताया गया है कि जो हिसक जिस जीव-काय की हिसा करता है, वह उसी जीवनिकाय मे उत्पन्न होकर वेदना भोगता है। यहा उपसर्गसहन एव रागद्वेष की निवृत्ति से कर्मक्षय और मोक्ष का लाभ बताया गया है।

आठवे, वीर्य अध्ययन मे बाल और पंडित वीर्य के भेद से मनुष्य की शक्ति के उपयोग की दृष्टि से २ प्रकार बतलाये गये है। इन्हे कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य भी कहा गया है।

नौवे–"धर्म" अध्ययन मे धर्म का स्वरूप वतलाते हुए बाह्य और आभ्यतर परिग्रह का त्याग तथा हिसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और कषाय को कर्मबन्ध का कारण बतलाकर इनके त्याग एव अनाचारवर्जन का उपदेश भी दिया गया है।

"स्वामिन ! मेरे कुल का सर्वनाश मत करिये। मेरे पास जितनी सम्पत्ति है वह सब लेकर भी मेरे पुत्रो को जीवनदान दे दीजिये।"

राजा ने कुपित हो कहा – "पापिष्ठ ! राजा की आज्ञा का उल्लघन राजा के प्राणहरण तुल्य है। तेरे पुत्रो ने मेरी आज्ञा की अवहेलना की है अत मै उन्हे किसी भी तरह क्षमा नही कर सकता।"

श्रेष्ठी ने पुन: करुण स्वर मे प्रार्थना की – "स्वामिन् ! यदि प्राणदण्ड ही देना है तो मेरे ६ पुत्रो मे से किसी एक को प्राणदण्ड देकर शेष को दण्डमुक्त कर दीजिये।"

राजा ने श्रेष्ठी की इस प्रार्थना को भी स्वीकार नही किया। तत्पश्चात् श्रेष्ठी ने क्रमश चार, तीन और दो पुत्रो को छोडने की प्रार्थनाए की पर राजा ने उसकी एक भी प्रार्थना स्वीकार नही की। अन्त मे श्रेष्ठी ने घबडाकर प्रतिष्ठित नागरिको के माध्यम से अत्यन्त विनयपूर्वक प्रार्थना की – "स्वामिन् ! आप प्रजा के पिता है अत हमारी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। हम आपकी शरण मे है, चाहे तारो या मारो।" इस प्रकार कहते हुए वह श्रेष्ठी राजा के पैरो पर गिर पडा।

श्रेष्ठी की सानुनय प्रार्थना से द्रवित हो राजा ने भी उसके ६ पुत्रो मे से एक ज्येष्ठ पुत्र को मुक्त कर दिया। सर्वनाश की अपेक्षा एक ज्येष्ठ पुत्र बचा इसी से सतोष मानकर श्रेष्ठी अपने घर गया।

जिस प्रकार राजा द्वारा श्रेष्ठी के सभी पुत्रो को मृत्युदण्ड देने का आग्रह करने पर श्रेष्ठी ने अपने एक पुत्र के दण्डमुक्त होने मे भी बडा सतोष माना। यहा पर पाच पुत्रो की मृत्यु मे श्रेष्ठी को दोषी नही माना जा सकता क्योकि श्रेष्ठी के मन मे उनकी मृत्यु के लिए किचित्मात्र भी अनुमति नही अपितु विवशता थी। उसी प्रकार साधु द्वारा षट्कायिक जीवो की हिसा से बचाने का उपदेश होने पर भी गहस्थ राजा के समान केवल त्रसकाय की हिसा का ही त्याग करता है, ५ स्थावरकाय के जीवो की हिसा नही छोडता, इसमे व्रतदाता मुनि दोप का भागी नही माना जा सकता।

सूत्र कृताग वस्तुत प्रत्येक साधक के लिये दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति मे वडा पथप्रदर्शक है। मुनियो के लिये इसका अध्ययन, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन परमावश्यक है। इसमे उच्च आध्यात्मिक सिद्धान्तो को जीवन मे ढालने, सभी प्रकार के अन्य मतो का परित्याग करने, विनय को प्रधान भूषण मानकर आदर्श श्रमणाचार का पालन करने आदि की वडी प्रभावपूर्ण ढग से प्रेरणाए दी गई है। दार्शनिक दृष्टि से यह आगम उस समय की चिन्तन प्रणाली का बडा ही मनोहारी दिग्दर्शन प्रस्तुत करता है।

सूत्रकृताग मे बताया गया है कि साधना के क्षेत्र मे आने वाले भीषण से भीषण उपसर्गो से विचलित, परिचितो के स्नेहसिक्त मधुर सलापो से पतित न

है। कुछ वनस्पतिया उदकयौनिक भी वताई गई है। अन्त मे प्राणभूत जीव तत्व की अनेक योनियो मे उत्पत्ति, आहार, शरीर और तत्वो के स्वरूप को पहिचान कर मुनि को "आहारगुप्त" रहने की शिक्षा दी गई है।

चौथे – "प्रत्याख्यान अध्ययन" मे, यह वताते हुए कि प्रत्याख्यान नही करने से सर्वदा पाप-कर्मो का उपार्जन होता है, प्रत्याख्यान करने की शिक्षा दी गई है।

पाचवे – "आचारश्रुत अध्ययन" मे एकान्त वचन का निषेध करते हुए अनाचार के त्याग का उपदेश दिया गया है।

छठे आर्द्रकुमार के अध्ययन मे आर्द्रकुमार के गोशालक, ब्राह्मणो और हस्तितापसो के साथ सवाद का वर्णन किया गया है। प्रसगोपात्त शाक्य भिक्षुओ की भोजनचर्या का भी इसमे वर्णन है।

सातवे – "नालन्दीय अध्ययन" मे लेप गाथापति के धार्मिक जीवन और उसके द्वारा भवन-निर्माण से बची हुई सामग्री से बनाई गई "सेसदविया" नाम की एक उदक्शाला का उल्लेख है।

इसके पश्चात् उस उदक्शाला से ईशान कोणस्थ वनखण्ड के एक भाग मे विराजमान इन्द्रभूति गौतम के साथ पार्श्वापत्य पैढालपुत्र का सवाद और गौतम से प्रतिबोध पाकर पैढालपुत्र द्वारा भगवान् महावीर के पास चातुर्याम धर्म का परित्याग कर पंचमहाव्रत-धर्म स्वीकार करने का उल्लेख है।

उपरोक्त सवाद मे प्रश्नोत्तर के सदर्भ में एक स्थान पर यह बताया गया है कि जो लोग सम्पूर्ण पापो का परित्याग नही कर सकने की स्थिति मे देश-विरति धर्म स्वीकार कर त्रस जीवों की हिसा का त्याग करते है वह त्याग भी उनके लिये कुशल एव लाभ का कारण होता है। इसमे स्थावर काय की हिसा के खुले रखने का त्याग कराने वाले को दोष नही लगता। इस बात को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रकार है .–

रत्नपुर के राजा ने एक दिन कौमुदी महोत्सव के अवसर पर अपने नगर मे घोषणा करवाई कि महोत्सव के दिन कोई भी पुरुष नगर मे न रहे। यदि कोई व्यक्ति रात्रि के समय नगर मे रहा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जायगा। राजाज्ञानुसार कौमुदी-महोत्सव के दिन सभी लोग सध्या होते-होते नगर से बाहर चले गये लेकिन एक व्यापारी के छ: पुत्र कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समय पर नगर से बाहर नही जा सके। सूर्यास्त के पश्चात् जब वे श्रेष्ठिपुत्र नगर से वाहर जाने के लिए उद्यत हुए तो उन्होने नगर के सव द्वार बन्द पाये। परिणामत. भयभीत होकर वे छहो भाई किसी गुप्त स्थान मे छुप बैठे।

दूसरे दिन गुप्तचरो द्वारा राजा को जव यह ज्ञात हुआ कि रात्रि मे ६ श्रेष्ठिपुत्र राजाज्ञा का उल्लघन कर नगर के अन्दर ही रहे, तो वह वडा क्रुद्ध हुआ। राजा ने छहो वणिक्पुत्रो के वध की आज्ञा दी। अपने पुत्रो के वध की सूचना मिलते ही श्रेष्ठी बड़ा दुखित हुआ। उसने राजा के पास जाकर प्रार्थना की –

इस अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण मे दश-दश वस्तुओ का वर्णन किया गया है। जिस सख्या की वस्तु का निरूपण जिस प्रकरण मे किया गया है, उसी सख्या के आधार पर इसके प्रकरणो का नाम प्रथम स्थान, द्वितीय स्थान, तृतीय स्थान और इसी अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण का नाम दशम स्थान रखा गया है।

जिस प्रकरण मे तत्सख्याविषयक निरूपणीय सामग्री का प्राचुर्य हो गया, वहा उस प्रकरण के उपविभाग कर दिये गये है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे – इन तीनो प्रकरणो के, प्रत्येक के चार-चार उपविभाग और पाचवे प्रकरण के ३ उपविभाग है। प्रथम तथा छठे से दशवे तक इन ६ स्थानो मे पृथक् कोई उप-विभाग नही है। १५ उद्देशको और ६ अध्ययनो के, प्रत्येक के एक-एक उद्देशनकाल के हिसाब से स्थानाग सूत्र के कुल मिला कर २१ उद्देशनकाल और २१ ही समुद्देशनकाल होते है।

प्रस्तुत सूत्र मे भगवान् महावीर के निर्वाण-पश्चात् दूसरी से छठी शताब्दी तक के अवान्तर काल की कुछ घटनाओ का उल्लेख किया गया है। उसे देखकर कुछ इतिहास के विद्वानो को इस प्रकार की भ्राति होती है कि स्थानाग सूत्र की रचना गणधरो द्वारा नही अपितु किसी अर्वाचीन आचार्य द्वारा की गई है। अपने इस अभिमत की पुष्टि मे वे यह तर्क प्रस्तुत करते है–"स्थानागसूत्र के नौवे स्थान मे गोदास से कोडिन्न तक के ६ गणो का उल्लेख है पर वस्तुत वे गण भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग २०० वर्ष पश्चात् अस्तित्व मे आये। इसी प्रकार ७ वे स्थान मे जो ७ निन्हवो का उल्लेख है उनमे रोहगुप्त नामक निन्हव वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के अन्त मे हुआ है। भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग २०० और ६०० वर्षो पश्चात् घटित हुई घटनाओ का स्थानाग मे उल्लेख होना यह प्रमाणित करता है कि इसकी रचना भगवान् महावीर की विद्यमानता मे गणधरो द्वारा नही अपितु भगवान् के निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् किन्ही आचार्यो द्वारा की गई है।"

किन्तु इस प्रकार केवल इन उल्लेखो के आधार पर यह मान्यता बना लेना कि स्थानाग सूत्र की रचना ही किसी परवर्ती आचार्य ने की है, किसी भी दशा मे न्यायोचित नही कहा जा सकता। द्वादशागी के विलुप्त हो जाने की मान्यता अभिव्यक्त करने वाली दिगम्बर परम्परा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि द्वादशागी का अर्थत उपदेश भगवान् महावीर ने दिया और गणधरो ने उसी को शब्द रूप मे ग्रथित किया। ऐसी स्थिति मे किसी पश्चाद्वर्ती घटना का स्थानाग मे उल्लेख देखकर बिना विचारे ही यह कह देना कि यह गणधर की कृति नही किसी पश्चाद्वर्ती आचार्य की कृति है – कदापि न्यायसगत प्रतीत नही होता। इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ मे दो बाते विशेष विचारणीय है। प्रथम तो यह कि अतिशयज्ञानी सूत्रकार ने कतिपय भावी घटनाओ की पूर्वसूचना बहुत पहले ही दे दी हो तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही जैसे कि स्थानाग के नवम स्थान मे आगामी उत्सर्पिणी काल के भावी

होते हुए आध्यात्मिक साधना के पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होने वाला साधक ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल होता है। सूत्रकृताग मे आध्यात्मिक विषयो पर दिये गये सुन्दर एव सोदाहरण विवेचनो से भारतीय जीवन, दर्शन और अध्यात्मतत्व का भलीभाति बोध हो जाता है।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व हमारे यहां भारतवर्ष मे कौन-कौन से धर्म एव सप्रदाय प्रचलित थे और उनकी किस-किस प्रकार की मान्यताए थी, इस सम्बन्ध मे सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पहले एव बारहवे तथा द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के 'पुण्डरीक', 'आर्द्रकीय' और 'नालदीय' अध्ययनो मे बडा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। वह वस्तुत ऐतिहासिक, धार्मिक एव सास्कृतिक आदि अनेक दृष्टियो से परमोपयोगी है।

३. स्थानांग

द्वादशागी मे स्थानाग का तीसरा स्थान है। समवायाग एव नन्दी सूत्र मे जो आगमो का परिचय दिया गया है उसमे स्थानाग का परिचय निम्नलिखित रूप मे उल्लिखित है :—

स्थानाग नामक तीसरे अङ्ग मे स्वसमय, परसमय, स्व-पर उभय समय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। इसमे जीवादिक पदार्थो का उनके द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल और पर्याय की दृष्टि से विचार किया गया है। इसमे एक स्थान, दो स्थान, यावत् दश स्थान से दशविध वक्तव्यता की स्थापना तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि द्रव्यो की प्ररूपणा की गई है। स्थानाग मे वाचनाए, अनुयोगद्वार, प्रतिपत्तिया, वेष्टक, निर्युक्तियां और सग्रहणिया – ये प्रत्येक सख्यात-सख्यात है। अग की अपेक्षा यह तीसरा अंग है। इसमे एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, २१ उद्देशनकाल, २१ समु-द्देशनकाल, ७२,००० पद, अक्षर सख्यात, गम अनन्त, पर्याय अनन्त, तथा इसकी वर्णन-परिधि मे असख्यात त्रस और अनन्त स्थावर है। वर्तमान मे उपलब्ध इस सूत्र का पाठ ३७७० श्लोक परिमाण है।

स्थानांग एव समवायाग – ये दो सूत्र अन्य दश अङ्गो से भिन्न प्रकार के सकलनात्मक अङ्ग है। इन दोनो अङ्गों मे जैन प्रवचनसम्मत तथा लोकसम्मत तथ्यो के रूप मे ससार की प्राय. सभी वस्तुओ का सख्या के क्रम से कोश-शैली मे सग्रहात्मक निरूपण किया गया है। अगणित तथ्यो को स्थायी रूप से चिरकाल तक स्मृतिपटल पर अङ्कित रखने और अथाह ज्ञानार्णव मे से अभीष्ट तथ्य को तत्काल खोज निकालने की अद्भुत क्षमताशालिनी जिस शैली का इन दो अङ्गो की रचना मे उपयोग किया गया है वह वस्तुत. अद्वितीय और बडी ही उपयोगी शैली है।

स्थानाग मे सख्याक्रम से द्रव्य, गुण एव क्रियाओं आदि का निरूपण किया गया है। इसके प्रथम प्रकरण मे एक-एक, दूसरे मे दो-दो, तीसरे मे तीन-तीन,

(४) चौथे प्रकरण में स्त्री-पुरुष, आचार्य श्रावक आदि के चार-चार विकल्प कर सैकड़ों प्रकार की चौभंगियां बताई गई हैं। जैसे–खजूर ऊपर से मृदु और अन्दर से कठोर (१), बादाम जिस प्रकार ऊपर से कठोर अन्दर कोमल (२), जिस प्रकार सुपारी अन्दर और बाहर दोनों ही ओर से कठोर (३) और द्राक्षा–जिस प्रकार ऊपर से भी मृदु तथा अन्दर से भी मृदु (४)।

चार पुरुष–रूपवान-गुणहीन, (१) गुणवान-रूपहीन, (२) रूप और गुण दोनों से रहित (३), तथा रूप और गुण उभय-सम्पन्न (४)।

चार प्रकार की नारियां–रूपवती पर शीलविहीन (१), शीलवती पर रूपविहीन (२), रूप और शील उभयसम्पन्न, (३) रूप और शील उभय-हीन (४)।

चार प्रकार के कुंभ – अमृत का कुंभ-मुख पर विष (१) विषकुंभ-मुख पर अमृत (२), विषकुंभ और विषभरा ढक्कन (३), तथा अमृत का घड़ा-अमृत का ढक्कन (४)।

चार प्रकार के पुरुष – कार्य करे पर मान नहीं, (१), मान करे कार्य नहीं (२), कार्य भी करे और मान भी करे (३) और न कार्य करे न मान करे (४) इत्यादि।

(५) पांचवें प्रकरण में जीवादि पदार्थों को ५ प्रकार से बतलाया है। जीव के ५ प्रकार–एकेन्द्रिय (१), द्वीन्द्रिय (२), त्रीन्द्रिय (३), चतुरिन्द्रिय (४) और पंचेन्द्रिय (५)।

विषय पांच – शब्द विषय (१), रूप (२), गन्ध (३), रस (४) और स्पर्श विषय (५)।

इन्द्रियां ५ – श्रवणेन्द्रिय (१), चक्षु इन्द्रिय (२), घ्राणेन्द्रिय (३), रसनेन्द्रिय (४) और स्पर्शन-इन्द्रिय (५)।

जीव के ५ गुण – उत्थान (१), कर्म (२), बल (३), वीर्य, (४) और पुरुषकार-पराक्रम (५)।

अजीव के पांच प्रकार – धर्मास्तिकाय (१), अधर्मास्तिकाय (२), आकाशास्तिकाय (३), पुद्गलास्तिकाय (४), और काल द्रव्य (५)।

आस्रव के पांच प्रकार – मिथ्यात्व (१), अविरति (२), प्रमाद (३), कषाय (४) और अशुभयोग-आस्रव (५)।

पांच प्रकार का मिथ्यात्व – आभिग्रहिक (१), अनाभिग्रहिक (२), अभिनिवेश (३) संशय मिथ्यात्व (४) और अनाभोग मिथ्यात्व (५) इत्यादि।

(६) छठे प्रकरण में जीवादि पदार्थों का छः-छः की संख्या में वर्णन किया गया है। जैसे – जीव छः प्रकार का – पृथ्वीकायिक जीव (१), अप्कायिक जीव (२), तेजस्कायिक जीव (३), वायुकायिक जीव (४), वनस्पतिकायिक जीव

तीर्थंकर महापद्म का चरित्रचित्रण किया गया है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्रुति-परम्परा से चला आने वाला आगमपाठ स्कदिलाचार्य और देवर्द्धि गणी द्वारा आगमवाचना मे स्थिर किया गया। सभव है उस स्थिरीकरण के समय मूल भावो को यथावत् सुरक्षित रखते हुए भी उसमे प्रसंगोचित समझ कर कुछ आवश्यक पाठ बढाया गया हो। यह भी सभव है कि भविष्यकाल की घटनाओ के रूप मे जिन घटनाओ का आगम मे उल्लेख किया गया था, आगमवाचना के समय तक वे घटनाए घटित हो चुकने के कारण भावी घटनाए न रह कर भूत की घटनाए बन चुकी थी अत. उन्हे यथावत् भविष्य की घटनाओ के रूप मे ही उल्लिखित किये जाने की अवस्था मे कही भ्राति न हो जाय इस दृष्टि से आगम-वाचना के समय सर्वसम्मति से संघ द्वारा भविष्य काल की क्रिया के स्थान पर भूतकाल की क्रिया का प्रयोग कर दिया गया हो। शासनहित मे सामयिक सवर्द्धन करने का गीतार्थ आचार्यो को पूर्ण अधिकार था।

ऐसी स्थिति मे यह शका करना कि स्थानाग मौलिक नही है– यह सर्वथा अदूरदर्शितापूर्ण एव अनुचित है।

स्थानाग के १० स्थानो मे क्रमश· जो विवरण दिया गया है उसको सक्षेप मे यहा प्रस्तुत किया जा रहा है .–

(१) प्रथम स्थान मे आत्मा, अनात्मा, धर्म, अधर्म, बंध और मोक्ष आदि को सामान्य दृष्टि से एक बतलाया गया है। गुण-धर्म एवं स्वभाव की समानता के कारण अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थो को एक बताया गया है। आर्द्रा चित्रा और स्वाति का एक-एक तारा बताकर प्रकरण पूरा किया गया है।

(२) दूसरे प्रकरण मे बोध की सुलभता के लिये जीवादि पदार्थो के दो-दो प्रकार किये है। जैसे आत्मा के दो प्रकार – सिद्ध और ससारी। धर्म दो प्रकार का आगार धर्म, अनागार धर्म, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म। बध के दो प्रकार – रागबन्ध एव द्वेषबंध। वीतराग के दो प्रकार – उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय। काल के दो प्रकार–अवसर्पिणी काल एव उत्सर्पिणी काल। राशि दो – जीवराशि तथा अजीव राशि। दो प्रकार के मरण – बालमरण और पण्डितमरण।

(३) तीसरे विभाग मे कुछ और स्थूल दृष्टि से विचार किया गया है। जैसे–दृष्टि ३–सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्र दृष्टि। तीन वेद – स्त्रीवेद, पुवेद और नपुसकवेद। पक्ष तीन – धर्म पक्ष, अधर्म पक्ष और धर्माधर्म पक्ष। लोक तीन – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। आहार के तीन प्रकार – सचित्त आहार अचित्त आहार और मिश्र आहार। तीन प्रकार का परिग्रह – सचित्त परिग्रह, दास-दासी–पशु आदि, अचित्त परिग्रह – सोना, चादी आदि, मिश्र परिग्रह – आभूषणयुक्त दासदासी। अशुभ दीर्घायु के तीन कारण – प्राणघात करना, मृषा बोलना एव तथारूप श्रमण की हीलना, निन्दा तथा तिरस्कार करना एवं अमनोज्ञ अशनादि से प्रतिलाभ देना इत्यादि।

राष्ट्रधर्म (६), पाषण्डधर्म (७), श्रुतधर्म (८), चारित्रधर्म (९) और अस्ति-कायधर्म-वस्तुधर्म (१०)। दश प्रकार का दान–अनुकम्पा दान (१), सग्रहदान (२), भयदान (३), शोकदान (४), लज्जादान (५), अहकारदान (६), अधर्मदान (७), धर्मदान (८), भविष्य के लाभ हेतु दान (९) और उपकार के बदले कृतज्ञतादान (१०)। दश प्रकार का सुख – शरीर की निरोगता (१), दीर्घ आयु (२), आढ्यता (३), शब्द एव रूप का कामसुख (४), इष्ट गन्ध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श रूप भोगसुख (५), सतोष (६), आवश्यकता की पूर्ति (५), सुखयोग (मानसिक) (८), निष्क्रमण – त्याग-ग्रहण (९) और निराबाध सुख मोक्ष (१०)। इसमे १० प्रकार की लोक स्थिति, क्रोधोत्पत्ति के १० कारण, अभिमान के १० कारण, १० प्रकार की समाधि, आलोचना के १० दोष, १० प्रकार का प्रायश्चित्त, सुकाल-दुकाल के १०-१० लक्षण, १० प्रकार के कल्पवृक्ष, शतायु पुरुष की १० दशा, ज्ञान वृद्धि के १० नक्षत्र और १० आश्चर्यो का उल्लेख किया गया है।

स्थानांग की महत्ता

विपय की गम्भीरता एव नयज्ञान की दृष्टि से स्थानाग सूत्र की बहुत बडी महत्ता मानी गई है। इसमे जो कोश-शैली अपनाई गई है वह बडी ही उपयोगी और विचारपूर्ण है। बौद्ध परम्परा के अगुत्तरनिकाय, पुग्गलपण्णत्ती, महाव्युत्पत्ति एव धर्मसग्रह मे तथा वैदिक परम्परा के महाभारत (वनपर्व, अध्याय १३४) मे भी इसी शैली से सग्रह किया गया है। इसके गम्भीर भावो को समझने वाला श्रुतस्थविर माना गया है। जैनागम मे बताये गये तीन प्रकार के स्थविरो मे से श्रुतस्थविर के लिए "ठाणसमवायधरे" इस प्रकार के विशेषण द्वारा स्थानाग और समवायाग के धारक होने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

इसके विषयो और विचारो की गम्भीरता एव दुरूहता के कारण स्वय टीकाकार अभयदेवसूरी ने इसकी व्याख्या करते समय अपनी कठिनाई का उल्लेख करते हुए लिखा है – "प्रस्तुत पूत्र की व्याख्या के समय सिद्धान्तज्ञान की सही परम्परा का अभाव है और आवश्यक तर्कशक्ति का भी योग नही है। स्व तथा पर शास्त्रो का अवलोकन भी यथावत् नही हो सका और न दृष्ट एव श्रुत विषयो का पूर्ण स्मरण ही रहा है। इसके उपरात वाचनाओ की अनेकता, आदर्श पुस्तको का अशुद्ध-लेखन, सूत्र की अतिशय गम्भीरता और स्थान-स्थान पर मतभेदो के कारण इसकी समीचीन रूप से व्याख्या करने मे स्खलनाए सभव है। विवेकशील विचारक इससे केवल शास्त्रसम्मत अर्थ को ही ग्रहण करे।"[1]

---

[1] सत्सप्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगत ।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धत ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यात्, मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥
क्षूणानि सभवन्तीह, केवल सुविवेकिभि ।
सिद्धान्तानुगमो योऽर्थ सोऽस्मात् ग्राह्यो न चेतर ॥३॥ [स्थानाग-वृत्ति प्रशस्ति]

(५) और त्रसकायिक जीव (६)। जीव की छः प्रकार की लेश्या (मनोवृत्ति)–कृष्ण लेश्या (१), नील लेश्या (२), कापोत लेश्या (३), तेजो लेश्या (४), पद्म लेश्या (५) और शुक्ल लेश्या (६)। आहार-ग्रहण के छः कारण, छ प्रकार का बाह्यतप, छ प्रकार का आन्तरिक तप इत्यादि।

सातवे प्रकरण मे पूर्वोक्त पदार्थो का सात की सख्या मे वर्णन किया गया है। जैसे – जीव के सात प्रकार–सूक्ष्म एकेन्द्रिय (१), बादर एकेन्द्रिय (२), द्वीन्द्रिय (३), त्रीन्द्रिय (४), चतुरिन्द्रिय (५), असज्ञी पचेन्द्रिय (६) और सज्ञी पचेन्द्रिय (७)। सात भय के स्थान–इस लोक का भय (१), परलोक का भय (२), आदान भय (३), आकस्मिक भय (४), अयश भय (५), आजीविका भय (६) और मरण भय (७)। सप्त स्वर का स्वर मण्डल मे विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसमे जमालि आदि सात निन्हवों का भी उल्लेख किया गया है।

(८) आठवे स्थान मे आत्मा आदि का आठ सख्या से वर्णन किया गया है। जैसे – आत्मा आठ प्रकार का – द्रव्य आत्मा (१), कषाय आत्मा (२), योग आत्मा (३), उपयोग आत्मा (४), ज्ञान आत्मा (५), दर्शन आत्मा (६), चारित्र आत्मा (७) और वीर्य आत्मा (८)। आठ प्रकार का मदस्थान – जाति मद स्थान (१), कुल मद स्थान (२), बल मद (३), रूप मद (४), लाभ मद (५), तप मद (६), श्रुत मद (७) और ऐश्वर्य मद स्थान (८)। आठ प्रकार की समिति– ईर्या-समिति (१), भाषा-समिति (२), एषणा-समिति (३), आदान-निक्षेपणा-समिति (४), परिष्ठापना-समिति (५), मन-समिति (६), वाक्समिति (७) और काय-समिति (८)।

(६) नौवे स्थान मे प्रत्येक पदार्थ का ६ की सख्या मे वर्णन किया गया है। इसमे नव तत्त्व, नव ब्रह्मचर्य-गुप्ति और चक्रवर्ती की ६ निधियो का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। पुण्य के ६ प्रकार – अन्न पुण्य (१), पान पुण्य (२), लयन पुण्य (३), शयन पुण्य (४), वस्त्र पुण्य (५), मन पुण्य (६), वचन पुण्य (७) काय पुण्य (८) और नमस्कार पुण्य (६)। ६ पाप के स्थान – प्राणातिपात (१), मृषाभाषण (२), चौर्य (३), अब्रह्म (४), परिग्रह (५), क्रोध (६), मान (७) माया (८) और लोभ (६)। नव कोटि प्रत्याख्यान– हिसा करना नही, कराना नही, करने वाले को भला जानना नही (३), पकाना नही, पकवाना नही और पकाने वाले का अनुमोदन करना नही (६), न खरीदना, न खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना (६)। इत्यादि।

(१०) दशवे प्रकरण मे प्रत्येक वस्तु का १०-१० की संख्या से वर्णन किया गया है। धर्म के १० प्रकार– क्षान्ति (१), मुक्ति-निर्लोभता (२), आर्जव-धर्म (३), मार्दवधर्म (४), लाघवधर्म (५), सत्यधर्म (६), सयमधर्म (७), तपधर्म (८), त्यागधर्म (६) और ब्रह्मचर्यवास (१०)। १० प्रकार का धर्म–ग्रामधर्म (१), नगरधर्म (२), कुलधर्म (३), गणधर्म (४), संघधर्म (५),

स्थिति वाले नारक, देव, आदि का, असख्य वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यच पचेन्द्रियो एव मनुष्यो आदि का विवरण दिया गया है।

समवाय सख्या २ मे अर्थदण्ड एव अनर्थ दण्ड–दो प्रकार के दण्ड, रागबन्ध एव द्वेषबन्ध–दो प्रकार के बन्ध इस रूप मे दो सख्या वाली वस्तुओ का उल्लेख करते हुये अन्त मे कुछ भवसिद्धिको की दो भव से मुक्ति होना बताया गया है।

तीसरी समवाय मे – मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड–ये तीन दण्ड, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति – तीन प्रकार की गुप्ति, तीन प्रकार के शल्य, तीन प्रकार के गौरव और तीन प्रकार की विराधना का उल्लेख करने के पश्चात् उन नक्षत्रो के नाम दिये गये है जिनमे तीन-तीन तारे है। इसके अनन्तर प्रथम, द्वितीय एव तृतीय नरक के नारकीयो, असुरकुमारो, भोगभूमि के सज्ञी पचेन्द्रियो, सौधर्म, ईशान देवलोको के कुछ देवो एव आभकर आदि १४ विमानो के देवो की स्थिति का वर्णन किया गया है। इस समवाय के अन्त मे बताया गया है कि उपरोक्त १४ विमानो मे उत्पन्न होने वाले उन देवो मे से कुछ देव तीन भव करने के पश्चात् शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त करेगे।

चौथी समवाय मे कषाय, ध्यान, विकथा, सज्ञा, बन्ध के चार-चार भेद, योजन का परिमाण और चार तारो वाले नक्षत्रो का उल्लेख करने के पश्चात् चार पल्योपम और चार सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का नामोल्लेख किया गया है।

पाचवी समवाय मे क्रिया, महाव्रत, कामगुण, आस्रवद्वार, सवरद्वार, निर्जरास्थान, समिति और अस्तिकाय – इनमे से प्रत्येक के पाच-पाच भेदो का निरूपण किया गया है। तदनन्तर पाच तारो वाले नक्षत्र, पाच पल्योपम, पाच सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का उल्लेख किया गया है।

छठे समवाय मे लेश्या, जीवनिकाय, बाह्य तप, आभ्यतर तप, छाद्मस्थिक समुद्घात एव अर्थावग्रह – इन सबके छ छ प्रकारो का नामोल्लेख करने के पश्चात् कृत्तिका तथा आश्लेषा नक्षत्र को छ-छ तारो वाला बताया गया है। इस समवाय मे यह भी बयाया गया है कि रत्नप्रभा पृथिवी मे कतिपय नारकीयो की स्थिति छ पल्योपम, तृतीय पृथ्वी मे कतिपय नारकीयो की स्थिति छ सागरोपम, असुर कुमार देवो मे से कतिपय देवो की स्थिति ६ पल्योपम, सौधर्म और ईशानकल्प के कुछ देवो की स्थिति ६ पल्योपम तथा सनत्कुमार एव माहेद्र-कल्प के कितने ही देवो की स्थिति छ सागरोपम होती है।

इस समवाय के अन्त मे बताया गया है कि स्वयभू, स्वयभूषरण, घोष, सुघोष आदि बीस विमानो के देवो की उत्कृष्ट स्थिति छ सागरोपम की होती है। इन विमानो के देव ६ अर्द्ध मासो के अन्त मे बाह्य तथा आभ्यतर उच्छ्वास ग्रहण करते है। उन्हे छ हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उन देवो मे कतिपय देव ६ भवो मे सिद्धि प्राप्त करने वाले है।

४. समवायांग

द्वादशागी के क्रम में समवायाग का चौथा स्थान है। इसमे कोटाकोटि-समवाय के पश्चात् जो द्वादशागी का परिचय दिया गया है, उसमे और नन्दीसूत्र मे समवायाग का परिचय निम्नलिखित रूप मे उल्लिखित है :-

"समवायाग की परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढा (छन्दविशेष), सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तिया, सख्यात सग्रहणिया, सख्यात प्रतिपत्तिया, एक श्रुतस्कन्ध, एक अध्ययन, एक उद्देशनकाल, एक ही समुद्देशन-काल, १,४४,००० पद और सख्यात अक्षर है। इसकी वर्णनपरिधि मे अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित भावो का वर्णन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदेश आता है।"

समवायाग का वर्तमान मे उपलब्ध पाठ १६६७ श्लोक-परिमाण है। इसमे सख्याक्रम से सग्रह की प्रणाली के माध्यम से पृथ्वी, आकाश, और पाताल—इन तीनो लोको के जीवादि समस्त तत्वो का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की दृष्टि से सख्या एक से लेकर कोटानुकोटि सख्या तक बडा महत्वपूर्ण परिचय दिया गया है। इसमे आध्यात्मिक तत्वो, तीर्थकरो, गणधरो, चक्रवर्तियो और वासुदेवो से सम्बन्धित उल्लेखो के साथ-साथ भूगर्भ, भूगोल, खगोल-सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एव तारो आदि के सम्बन्ध मे बडी ही उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की गई है।

स्थानाग की तरह समवायाग मे भी सख्या के क्रम से तथा कही-कही उस प्रणाली को छोडकर वस्तुओ के भेदोपभेद का वर्णन किया गया है। समवायाग सूत्र की प्रत्येक समवाय मे समान सख्या वाले भिन्न-भिन्न विषयो एव वस्तुओ से सम्बधित सामग्री का सकलनात्मक संग्रह होने के कारण विषयानुक्रम से इसका परिचय दिया जाना सभव नही है अत मोटे रूप मे समवाय के क्रम को दृष्टिगत रखते हुए इसका सक्षिप्त परिचय यहा दिया जा रहा है।

समवायाग मे द्रव्य की अपेक्षा से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, आदि का (१), क्षेत्र की अपेक्षा से लोक, अलोक, सिद्धशिला आदि का (२), समय, आवलिका, मुहूर्त आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, और पुद्गलपरावर्तन आदि काल की अपेक्षा से देवो, मनुष्यो, तिर्यंचो और नारक आदि जीवो की स्थिति आदि का (३), तथा भाव की अपेक्षा से ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि जीव-भाव और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, गुरु, लघु आदि अजीव-भाव का (४) वर्णन किया गया है।

समवायाग की पहली समवाय मे एक सख्या वाले जीव, अजीव आदि तत्वो का उल्लेख करते हुये आत्मा, लोक, धर्म, अधर्म आदि को संग्रह नय की अपेक्षा से एक-एक बताया गया है। इसके पश्चात् एक लाख योजन की लम्वाई चौडाई वाले जम्वूद्वीप, सवार्थसिद्ध विमान, एक तारा वाले नक्षत्र, एक सागर की

९ सागरोपम होने का उल्लेख है। इसमे यह भी बताया गया है कि पक्ष्म, सुपक्ष्म, पक्ष्मावर्त आदि ३५ विमानो के देवो मे से कतिपय देव ९ भवो मे अजरामर मोक्षपद को प्राप्त कर लेगे।

यो तो इन समवायो मे दी हुई पूरी की पूरी सामग्री महत्वपूर्ण है किन्तु इनमे से प्रत्येक समवाय मे अनेक ऐसे तथ्यो का प्रतिपादन किया गया है जो आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, तात्विक और साहित्यिक सभी दृष्टियो से अत्यधिक महत्व रखते है।

१० वी समवाय मे ज्ञानवृद्धि के मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वा आषाढा, पूर्वा भाद्रपदा, मूळा, आश्ळेषा, हस्त और चित्रा – इन १० नक्षत्रो का उल्लेख किया गया है।

११ वी समवाय मे ११ उपासक पडिमाओ का उल्लेख है तथा लोकान्त से ज्योतिषचक्र का अन्तर ११११ योजन बताया गया है।

१२ वी समवाय मे १२ भिक्षु-प्रतिमाओ, श्रमणो के १२ प्रकार के व्यवहार-सभोग, एव रामबळदेव की १२०० वर्ष की आयु आदि का उल्लेख है।

१३ वे समवाय मे विलुप्त हुये प्राणायुपूर्व की १३ वस्तु और १३ प्रकार के चिकित्सा स्थान आदि का निरूपण किया गया है।

१४ वे समवाय मे १४ प्रकार के भूतग्राम-जीवसमूह, अग्रायणी पूर्व की १४ वस्तुओ, भगवान् महावीर की १४,००० उत्कृष्ट श्रमण सपदा, १४ जीव स्थान-मिथ्यात्व आदि का उल्लेख है।

१५ वे समवाय मे राहु द्वारा कृष्ण पक्ष मे नित्य प्रति चन्द्र के १५ वे भाग का आवरण, अमावस्या को पूरे १५ ही भागो का आवरण और इसी क्रम से शुक्ल पक्ष मे अनावरण करना बताया गया है। इसमे विलुप्त हुए विद्यानुप्रवादपूर्व की १५ वस्तुओ का भी उल्लेख है।

१६ वे समवाय मे आत्मप्रवाद पूर्व की १६ वस्तुओ का, १७ वे समवाय मे १७ प्रकार के मरण का, १८ वे समवाय मे अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व की १८ वस्तुओ का, श्रमण निर्ग्रन्थो के १८ स्थानो आदि का और १९वे समवाय मे शुक्र ग्रह का १९ नक्षत्रो के साथ भ्रमण करना और पश्चिम मे अस्त होना तथा १९ तीर्थकरो का गृहस्थवास मे रहकर दीक्षित होना बताया गया है। २० वे समवाय मे प्रत्याख्यान पूर्व की २० वस्तुओ तथा २१ वे समवाय मे २१ प्रकार के दोषो का उल्लेख किया गया है।

२२ वे समवाय मे दृष्टिवाद के २२ सूत्र छिन्नछेद नय वाले २२ सूत्र आजीविक की अपेक्षा अछिन्नछेद नय सम्बन्धी, २२ सूत्र त्रैराशिक सूत्र की परिपाटी से और २२ सूत्र चतुर्नयिक स्वसमय सूत्र की दृष्टि वाले कहे गये है।

२३ वे समवाय मे भगवान् अजितनाथ आदि २३ तीर्थकर पूर्व भव मे एकादशागधर और मडलिक राजा बताये गये है। २४ वे समवाय मे ऋषभ आदि

सातवे समवाय मे सात प्रकार के भयस्थान एव सात ही प्रकार के समुद्घात का उल्लेख करने के पश्चात् निम्नलिखित तथ्यो का उल्लेख है :—श्रमरण भगवान् महावीर का शरीर सात रत्नि (मुड हाथ) प्रमारण ऊचा था। जम्बूद्वीप मे सात वर्षधर और सात ही क्षेत्र है। बारहवे गुरणस्थानवर्ती वीतराग भगवान् मोहनीय कर्म को छोड कर शेष सात कर्मप्रकृतियो का अनुभव करते है। मघा नक्षत्र ७ तारो वाला है। कृत्तिका आदि सात नक्षत्र पूर्वद्वार वाले, मघा आदि सात नक्षत्र दक्षिरण द्वार वाले, अनुराधा आदि सात नक्षत्र पश्चिम द्वार वाले और घनिष्ठा आदि ७ नक्षत्र उत्तर द्वार वाले बताये गए है। इस समवाय मे नारकीयो असुरकुमारो और देवो मे से कतिपय की आयु ७ पल्योपम और कतिपय की उत्कृष्ट आयु ७ सागरोपम की बताने के पश्चात् यह उल्लेख भी किया है कि सम, समप्रभ आदि आठ विमानो के कतिपय देव सात भवों मे सिद्ध होने वाले है।

आठवे समवाय मे ८ मदस्थान और आठ प्रवचनमाताओ के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि व्यन्तरदेवो के चैत्यवृक्षो, जम्बूद्वीप की जगती, और देवकुरूक्षेत्र स्थित गरुड जातीय वेरगुदेव के आवास की ऊचाई आठ योजन है। इसमे आठ समय के केवलिसमुद्घात का विवररण देते हुये बताया गया है कि प्रथम समय मे वे दण्ड, द्वितीय समय मे कपाट, और तीसरे समय मे मथान करते है। चतुर्थ समय मे वे मथान के छिद्रों को पूरित, पाचवे समय मे उन छिद्रो को सकुचित और छटे समय मे मथान को प्रतिसहरित करते है। सातवे समय मे कपाट को और आठवे समय मे दड को सकोचते है और तदनन्तर वे पुन स्वशरीरस्थ हो जाते है। इस समवाय मे भगवान् पार्श्वनाथ के ८ गरण और ८ गरणधरो के उल्लेख के पश्चात् यह वताया गया है कि जब चन्द्रमा कृत्तिका, रोहिरणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा इन आठ नक्षत्रो के साथ रहता है तब प्रमर्द नाम का योग होता है। इस समवाय मे कुछ नारकीयों, असुरकुमारो और देवो की मध्यम स्थिति ८ पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति ८ सागरोपम की वताने के पश्चात यह उल्लेख किया गया है कि अर्चि, अर्चिमालि, वैरोचन आदि ११ विमानो के देवो मे से कतिपय देव आठ भवो मे सिद्धि प्राप्त करने वाले है।

नौवे समवाय मे ९ ब्रह्मचर्यगुप्तियो, ९ अब्रह्मचर्यगुप्तियो, आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययनो के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ के शरीर की ऊचाई ९ रत्नि (मुण्ड हाथ) थी। इसमे तारा-मण्डल को रत्नप्रभा पृथिवी के सम भाग से ९०० योजन दूरी पर बताया गया है। इसमे जम्बूद्वीप की जगती मे ९ योजन के छेदों के उल्लेख के साथ यह भी वताया गया है कि ९ योजन की लम्बाई-चौडाई के मच्छ लवरगसमुद्र में से जम्वूद्वीप मे पहले भी आये है, आते है और आते रहेगे। इस समवाय मे जम्वूद्वीप सम्बन्धी विजयद्वार के पार्श्व मे नौ-नो भोमो, व्यन्तरो की सुधर्मसभा की ऊचाई ९ योजन, दर्शनावरगीय कर्म की ९ उत्तरप्रकृतियो और कतिपय नारकीयो, असुरकुमारो, देवो की मध्यम स्थिति ९ पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति

और अनन्तनाथ के ५४ गणधर थे। ५५ वे समवाय मे बताया गया है कि भगवान् मल्लिनाथ ५५००० वर्ष आयु पूर्ण कर सिद्ध हुये। ५६ वे समवाय मे विमलनाथ के ५६ गण एव ५६ गणधर बताने के साथ-साथ ५६ सख्या वाले अनेक तथ्यो का उल्लेख किया गया है।

५७ वे समवाय मे मल्लिनाथ के ५७०० मनपर्यवज्ञानी, ५८ वे मे ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय – इन पाच कर्मो की ५८ उत्तरप्रकृतिया होने का उल्लेख है। ५९ वी समवाय मे बताया गया है कि चन्द्र सवत्सर मे एक ऋतु ५९ अहोरात्र की होती है। ६० वे समवाय मे सूर्य का ६० मुहूर्त तक एक मडल मे रहना बताया गया है।

६१ वे समवाय मे एक युग के ६१ ऋतुमास कहे गये है। ६२ वे समवाय मे भगवान् वासुपूज्य के ६२ गण और ६२ ही गणधर बताये गये है। ६३ वे समवाय मे भगवान् ऋषभदेव के ६३ लाख पूर्व तक राज्य-सिहासन पर रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। ६४ वे समवाय मे चक्रवर्ती की ऋद्धि मे अमूल्य अलभ्य मणिरत्नादि के ६४ हारो का उल्लेख है। ६५ वे समवाय मे बताया गया है कि गणधर मौर्यपुत्र ६५ वर्ष तक गृहवास मे रहने के पश्चात् दीक्षित हुए। ६६ वे समवाय मे उल्लेख है कि भगवान् श्रेयासनाथ के ६६ गण और ६६ गणधर थे तथा मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर की होती है। ६७ वे समवाय मे बताया गया है कि एक युग मे नक्षत्रमास की गणना से ६७ मास होते है। ६८ वे समवाय मे उल्लेख है कि धातकीखण्ड द्वीप मे चक्रवर्ती की ६८ विजय (प्रदेश), ६८ राजधानिया और उत्कृष्टत ६८ ही अरिहतादि उत्तम पुरुष होते है तथा भगवान् विमलनाथ के ६८००० साधु थे। ६९ वे समवाय मे बताया गया है कि मनुष्यलोक मे मेरु को छोडकर ६९ वर्ष और ६९ वर्षधर पर्वत है। ७० वे समवाय मे उल्लेख है कि श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास के १ मास और वीस रात्रि वीतने और ७० रात्रि दिन शेष रहने पर पर्युषण किया तथा भगवान् पार्श्वनाथ ७० वर्ष सयम-पालन कर सिद्ध-मुक्त हुए।

७१ वे समवाय मे यह बताया गया है कि भगवान् अजितनाथ और सगर चक्रवर्ती ७१ लाख पूर्व तक गृहवास मे रहकर दीक्षित हुए। ७२ वी समवाय मे श्रमण भगवान् महावीर और उनके गणधर अचल भ्राता की ७२ वर्ष की आयु बताई गई है। इसमे चक्रवर्ती के ७२००० नगर होने का तथा ७२ कलाओ का भी उल्लेख किया गया है। ७३ वे समवाय मे बताया गया है कि विजय नामक बलदेव ७३ लाख पूर्व आयु पूर्ण कर सिद्ध हुए। ७४ वी समवाय मे गणधर अग्निभूति द्वारा ७४ वर्ष के आयुभोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। ७५ वे समवाय मे भगवान् सुविधिनाथ के ७५०० केवली, शीतलनाथ के ७५ लाख पूर्व और भगवान् शान्तिनाथ के ७५ हजार वर्ष गृहवास का उल्लेख है। ७६ वे समवाय मे विद्युत्कुमार आदि के ७६–७६ भवन बताये गये है। ७७ वे समवाय मे भरत चक्री के ७७ लाख पूर्व कुमारावस्था मे रहने के पश्चात् महाराज पद पर

२४ देवाधिदेव कहे गये है। २५ वे समवाय मे पाच महाव्रतो की २५ भावनाओ और आचाराग के २५ अध्ययन तथा २५ सख्या वाली वस्तुओ का उल्लेख किया गया है। २६ वे समवाय मे अभव्य के मोह की २६ प्रकृतिया सत्ता में मानी गई है। २७ वे समवाय मे साधु के २७ गुण आदि का वर्णन किया गया है। २८ वे समवाय मे मोहकर्म की २८ प्रकृतियो और मतिज्ञान के २८ भेद आदि का वर्णन है। २९ वे समवाय मे २९ पापश्रुत तथा आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पोष, फाल्गुन और वैशाख – ये छ मास २९ दिन के बताये गये है।

३० वे समवाय मे महामोह-वन्ध के ३० कारण, तीस मुहूर्त के ३० नाम और मडित पुत्र गणधर का तीस वर्ष का दीक्षाकाल आदि बताया गया है। ३१ वे समवाय मे सिद्धो के ३१ गुण आदि का वर्णन किया गया है। ३२ वे समवाय मे ३२ योगसग्रह और ३२ देवेन्द्र आदि बताये गये है।

३३ वे समवाय मे गुरु की ३३ प्रकार की आशातना आदि, ३४ वे समवाय मे तीर्थंकर के ३४ अतिशय और ३५ वे समवाय में तीर्थंकर की वाणी के ३५ अतिशयो (नाम नही) का उल्लेख किया गया है। ३६ वे मे उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ अध्ययन आदि, ३७ वे में कुथुनाथ स्वामी के ३७ गण और गणधर आदि, ३८ वे समवाय मे पार्श्वनाथ की ३८,००० आर्यिकाएं आदि, ३९ वे मे नमिनाथ के ३९०० अवधिज्ञानी, समय क्षेत्र मे ३९ कुलपर्वत आदि, ४० वे मे अरिष्ठनेमि की ४०,००० आर्यिकाए आदि, ४१ वे मे नमिनाथ की ४१,००० आर्यिकाए आदि और ४२ वे समवाय मे श्रमण भगवान् महावीर के ४२ वर्ष साधिक श्रामण्य पालकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने तथा नाम कर्म के ४२ भेद – गति, जाति आदि का उल्लेख किया गया है।

४३ वे समवाय मे कर्मविपाक के ४३ अध्ययन आदि ४४ वे में ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन आदि और ४५ वे में मनुष्य क्षेत्र, सीमतक नरकावास उडुविमान और सिद्धशिला इन चारो मे से प्रत्येक को ४५ लाख योजन विस्तार वाला बताया गया है।

४६ वे समवाय मे दृष्टिवाद के ४६ मातृकापद और ब्राह्मीलिपि के ४६ मातृकाक्षर बताये गये है। ४७ वे समवाय मे स्थविर अग्निभूति के ४७ वर्ष तक गृहवास मे रहने का उल्लेख है। ४८ वे समवाय मे चक्रवर्ती के ४८,००० पाटण और भगवान् धर्मनाथ के ४८ गण एव ४८ गणधर बताये गए है। ४९ वे समवाय मे तीन इन्द्रिय वाले जीवो की ४९ अहोरात्र की स्थिति आदि, ५० वे मे भगवान् मुनिसुव्रत की ५०,००० आर्यिका, ५१ वे मे नवब्रह्मचर्य अध्ययन के ५१ उद्देशन-काल, ५२ वे समवाय मे मोहनीय के ५२ नाम आदि का उल्लेख है।

५३ वे समवाय मे श्रमण भगवान् महावीर के ५३ साधुओ के एक वर्ष की दीक्षा से अनुत्तर विमान मे जाने का उल्लेख है। ५४ वे मे बताया गया है कि भरत तथा ऐरवत मे क्रमश. ५४-५४ उत्तम पुरुष हुए, अरिष्टनेमि ५४ रात्रि छद्मस्थ रहे

भोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। समवाय सख्या ९६ मे प्रत्येक चक्रवर्ती के ९६ करोड गाव होने का उल्लेख है। ९७ वी समवाय मे आठ कर्मो की ९७ उत्तर-प्रकृतिया तथा भगवान् नमिनाथ के समय मे हुए हरिषेण चक्रवर्ती के ९७०० वर्ष से कुछ कम गृहवास मे रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। ९८ वी समवाय मे रेवती से ज्येष्ठा पर्यन्त के १९ नक्षत्रो के ९८ तारे बताये गये है। ९९ वी समवाय मे मेरू पर्वत को भूमि से ९९ हजार योजन ऊचा बताया गया है। १०० वे समवाय मे शतभिपा के १०० तारे और भगवान् पार्श्वनाथ एव स्थविर आर्य सुधर्मा की पूर्ण आयु १००–१०० वर्ष बताई गई है।

उपरोक्त १०० समवायो के पश्चात् क्रमश डेढ सौ, दो सौ, ढाई सौ, तीन सौ, साढे तीन सौ, चार सौ, साढे चार सौ, पाच सौ यावत् एक हजार, ११००, दो हजार से १० हजार, एक लाख से आठ लाख तथा कोटि सख्या वाली विभिन्न वस्तुओ का उल्लिखित सख्या के अनुसार पृथक्-पृथक् ३२ समवायो मे सकलनात्मक विवरण दिया गया है। कोटि समवाय मे भगवान् महावीर के तीर्थकर भव से पहले छट्ठे पोटिल के भव का एक करोड वर्ष का श्रामण्य-पर्याय बताया गया है। तदनन्तर कोटाकोटि समवाय मे भगवान् ऋषभ देव से भगवान् महावीर के बीच का अन्तर एक कोटाकोटि सागर बताया गया है।

कोटाकोटि समवाय के पश्चात् १२ सूत्रो मे द्वादशागी का "गणिपिटक" के नाम से सारभूत परिचय दिया गया है।

तदनन्तर १५७ वे सूत्र मे समवसरण के वर्णन तथा जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अतीत उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी के कुलकरो तथा वर्तमान अवसर्पिणी के कुलकरो तथा उनकी भार्याओ का वर्णन करने के पश्चात् वर्तमान अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थकरो के सम्बन्ध मे बडा ही महत्वपूर्ण विवरण दिया गया है।

तीर्थकरो से सम्बन्धित उस विवरण मे चौबीसो तीर्थकरो के पिता तथा माता के नाम, तीर्थकरो के पूर्वभवो के नाम, तीर्थकरो की शिविकाओ, जन्म-भूमियो, देवदूष्य, दीक्षा-साथी, दीक्षा-तप, प्रथम भिक्षादाता, प्रथम भिक्षा का समय, प्रथम भिक्षा मे मिले पदार्थ, तीर्थकरो के चैत्यवृक्ष, उन चैत्यवृक्षो की ऊचाई, चौबीस तीर्थकरो के प्रथम शिष्यो और प्रथम शिष्याओ के सम्बन्ध मे सक्षिप्त एव परमोपयोगी विपुल जानकारी दी गई है। इसमे यह भी बताया गया है कि तीर्थकर अन्यलिग, गृहलिग अथवा कुलिग मे कभी नही होते।

सूत्र सख्या १५८ मे चक्रवर्तियो, बलदेवो और वासुदेवो के सम्बन्ध मे आवश्यक परिचय और प्रतिवासुदेवो के नाम मात्र दिये गये है। यह उल्लेखनीय है कि समवायाग मे प्रतिवासुदेवो की महापुरुषो मे गणना नही की गई है।

सूत्र सख्या १५९ मे सर्वप्रथम जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र मे हुये इस अवसर्पिणी के २५ तीर्थकरो, भरत क्षेत्र की आगामी उत्सर्पिणी के सात कुलकरो, ऐरवत क्षेत्र की भावी उत्सर्पिणी के १० कुलकरो और भरतक्षेत्र तथा ऐरवत क्षेत्र के आगामी

आरूढ होने तथा अगवश के ७७ राजाओ के दीक्षित होने का उल्लेख है। ७८ वे समवाय मे बताया गया है कि गणधर अकपित ७८ वर्ष की पूर्ण आयु भोग कर सिद्ध हुए। ७९ वे समवाय मे बताया गया है कि छट्टी नरक के मध्य भाग से छट्टे घनोदधि के नीचे के चरमान्त का अन्तर ७९ हजार योजन है। ८० वे समवाय मे भगवान् श्रेयासनाथ, त्रिपृष्ठ वासुदेव और अचल राम की ८० धनुष ऊचाई का और त्रिपृष्ठ वासुदेव के ८० लाख वर्ष तक महाराज पद पर रहने का उल्लेख है।

समवाय स० ८१ मे भगवान् कुथुनाथ के ८१०० मन.पर्यवज्ञानी बताये गये है। ८२ वे समवाय में उल्लेख है कि ८२ रात्रिया बीतने पर भगवान् महावीर का गर्भातर मे साहरण किया गया। ८३ वें समवाय मे यह बताया गया है कि भगवान् शीतलनाथ के ८३ गण और ८३ गणधर, स्थविर मण्डित के ८३ वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध होने तथा भरत चक्रवर्ती के ८३ लाख पूर्व गृहवास में रहकर केवली होने का उल्लेख है। ८४ वे समवाय मे सातो नारक पृथ्वियों के ८४ लाख नरकावासो, भगवान् ऋषभदेव की ८४ लाख पूर्व की आयु, भगवान् श्रेयासनाथ द्वारा ८४ लाख वर्ष का आयु पूर्णकर सिद्ध होने और त्रिपृष्ठ वासुदेव के ८४ लाख वर्ष की आयु के उपभोग के अनन्तर अपइट्ठाणा नरक मे जाने का उल्लेख है। इसमे यह भी वताया गया है कि पूर्व से लेकर शीर्ष प्रहेलिका तक की सख्याओ मे परवर्ती संख्या अपनी पूर्ववर्तिनी सख्या से ८ गुना अधिक होती है। इसमे भगवान् ऋषभ देव के ८४ गण, ८४ गणधर और ८४००० साधु बताये गये है। ८५ वे समवाय में आचाराग के ८५ उद्देशनकाल बताये गये है। ८६ वे समवाय मे भगवान् सुविधिनाथ के ८६ गण और ८६ गणधर तथा भगवान् सुपार्श्वनाथ के ८६०० वादी बताये गये है। ८७ वे समवाय मे आठ कर्मो मे से प्रथम और अन्तिम को छोड़कर शेष छ' कर्मो की ८७ उत्तर-प्रकृतिया बताई गई है। ८८ वें समवाय मे प्रत्येक सूर्य तथा चन्द्र के साथ ८८-८८ महाग्रह बताये गये है। ८९ वे समवाय मे तीसरे आरे के ८९ पक्ष शेष रहने पर भगवान् ऋषभ-देव के मोक्ष पधारने, दशवे हरिषेण चक्रवर्ती के ८९ हजार वर्ष चक्रवर्ती पद पर रहने और भगवान् शान्तिनाथ की ८९००० साध्वियां होने का उल्लेख है। समवाय सख्या ९० में भगवान् अजितनाथ और शान्तिनाथ इन दोनो तीर्थंकरो के ९०–९० गण और उतने ही गणधर बताये गये है।

समवाय सख्या ९१ में भगवान् कुथुनाथ के अवधिज्ञानी साधुओ की सख्या ९१००० बताई गई है। ९२ वी समवाय मे बतलाया गया है कि स्थविर इन्द्रभूति ९२ वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर सिद्ध हुए। ९३ वी समवाय मे भगवान् चन्द्रप्रभ के ९३ गण और ९३ गणधर तथा शान्तिनाथ के ९३०० चतुर्दश पूर्वधर होने का उल्लेख है। ९४ वी समवाय मे भगवान् अजितनाथ के ९४०० अवधिज्ञानी वताये गये है। ९५ वे समवाय मे भगवान् सुपार्श्वनाथ के ९५ गण एव ९५ गणधर होने, भगवान् कुथुनाथ के ९५००० वर्ष और स्थविर मौर्यपुत्र के ९५ वर्ष के आयु-

५. वियाह-पण्णत्ति

पाचवा अग व्याख्या प्रज्ञप्ति है। इसे भगवती सूत्र के नाम से भी पहिचाना जाता है।

समवायाग सूत्र मे व्याख्या प्रज्ञप्ति का निम्नलिखित रूप से परिचय उपलब्ध होता है –

"व्याख्या प्रज्ञप्ति मे जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्व-पर-समयोभय, लोक, अलोक और लोकालोक विषयक विस्तृत व्याख्या–चर्चा की गई है। इसकी परिमित वाचनाए है। इसमे सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढा (छदविशेष), सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तिया, सख्यात सग्रहणिया और सख्यात प्रतिपत्तिया है। व्याख्या प्रज्ञप्ति मे १ श्रुतस्कन्ध, १०१ अध्ययन, १० हजार उद्देशनकाल, दश हजार समुद्देशनकाल, ३६ हजार प्रश्न एव उनके उत्तर, २,८८,००० पद और सख्यात अक्षर है। व्याख्या प्रज्ञप्ति की वर्णन-परिधि मे अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते है। इसमे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित भावो का वर्णन, प्ररूपरा, निदर्शन और उपदेश दिया गया है।"

व्याख्या प्रज्ञप्ति के अध्ययन शतक के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान मे इसके ४१ शतक और उनमे से ८ शतक १०५ अवान्तर शतकात्मक है। इस प्रकार शतक और अवान्तर शतक इन दोनो की सम्मिलिन सख्या १३८ और उद्देशको की सख्या १८८३ है। व्याख्या प्रज्ञप्ति अन्य सब अगो की अपेक्षा अतिविशाल अग है। वर्तमान मे इसका पद परिमाण १५७५१ श्लोकप्रमाण है। व्याख्या प्रज्ञप्ति के – वियाह पण्णत्ति, विवाह पण्णत्ति और विबाह पण्णत्ति – ये तीन नाम उपलब्ध होते है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इसके "वियाह पण्णत्ति" नाम को सर्वाधिक महत्व देकर सर्व प्रथम इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है – "वि-विविधा, आ-अभिविधिना, ख्या-ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्या ता प्रज्ञाप्यन्ते, भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।"

अर्थात् गौतमादि शिष्यो को उनके प्रश्नो के उत्तर मे भगवान् महावीर ने अत्युत्तम विधि से जो विविध विषयो का विवेचन किया, वह सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने शिष्य जम्बू को प्ररूपित किया गया विशद विवेचन जिसमे दिया हुआ हो वह व्याख्या प्रज्ञप्ति है।

यद्यपि इस अग का सस्कृत मे जहा कही भी नाम आया है वहा "व्याख्या प्रज्ञप्ति" ही आया है तथापि वृत्तिकार ने इसके 'विवाह पण्णत्ति' और 'विबाह पण्णत्ति' इन दोनो रूपो की भी व्याख्या की है।

'विवाह पण्णत्ति' – की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है – "वि-वाह-प्रज्ञप्ति' – अर्थात् जिसमे विविध प्रवाहो की प्रज्ञापना की गई है – वह विवाह-पण्णत्ति।

उत्सर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो, बलदेवो एव वासुदेवो के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी तथा प्रतिवासुदेवो के नाम दिये गये है ।

उपसहारात्मक अन्तिम सूत्र मे समवायाग की एक सक्षिप्त विषयसूची दी गई है ।

यो तो समवायाग की प्रत्येक समवाय, प्रत्येक मूत्र प्रत्येक विषय के जिज्ञासुओ एव शोधार्थियो के लिए ज्ञातव्य महत्वपूर्ण तथ्यो का महान् भडार है पर समवायाग के अन्तिम भाग को एक प्रकार से "सक्षिप्त जैन पुराण" की सज्ञा दी जा सकती है । वस्तुत वस्तुविज्ञान, जैन सिद्धान्त और जैन इतिहास की दृष्टि से समवायाग एक आत्यतिक महत्व का श्रुताग है ।

समवायाग की समवाय सख्या ६२ मे इन्द्रभूति गौतम के ६२ वर्ष की आयु पूर्ण करने पर सिद्ध होने तथा समवाय सख्या १०० मे आर्य सुधर्मा के १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध होने के उल्लेख को तर्क के रूप मे प्रस्तुत कर अनेक विद्वान् अपना यह अभिमत प्रकट करते है कि समवायाग सूत्र की रचना आर्य सुधर्मा के मोक्षगमन के पश्चात् की गई है । वस्तुस्थिति यह है कि पश्चाद्वर्ती आचार्यो ने इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा जैसे महापुरुषो की आयु के सम्वन्ध मे कही आगे चल कर किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय, इस दृष्टि से उपरोक्त दोनो समवायो मे इस प्रकार के उल्लेख अभिवृद्ध किये है । केवल इन दो उल्लेखों को देखकर पूरे समवायाग के लिये इस प्रकार की कल्पना कर लेना कि इसकी रचना पश्चाद्वर्नी काल मे की गई है वस्तुत किसी भी दशा मे उचित नही कहा जा सकता । स्थानाग सूत्र के परिचय मे इस प्रकार की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है ।

इस तथ्य को स्वीकार करने मे तो किसी भी निष्पक्ष विचारक को किसी प्रकार की हिचक अथवा झिझक नही हो सकती कि समवायांग सूत्र का, इसके प्रणयनकाल से लेकर सम्पूर्ण एकादशागधरों के काल तक जो वृहद् आकार और विशाल स्वरूप था वह आकार और स्वरूप काल के प्रभाव से सिमटते सिकुडते आज वहुत छोटा रह गया है । समवायाग, नन्दी आदि मूत्रो तथा दिगम्बर ग्रन्थो मे दी गई इस अंग की पदसख्या के साथ वर्तमान में उपलब्ध इसकी पदसख्या का मिलान करने पर यह भलीभाति प्रकट हो जाता है कि इस अग का बहुत वडा भाग विलुप्त हो चुका है ।

आगमों के वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने समवायाग-वृत्ति की प्रशस्ति मे बडे ही मार्मिक शब्दो मे शोक प्रकट करते हुये इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्राचीनकाल मे समवायाग का १,४४,००० पदप्रमाण था पर कालप्रभाव से अब उसका वहुत ही छोटा आकार अवशिष्ट रह गया है ।[1]

---

[1] यस्य ग्रन्थवरस्य वाक्यजलधेर्लक्ष सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो चतुर्भिरधिका मान पदानामभूत् ।
तस्यौच्चैश्चुलुकाकृति निदधत कालादि दोपात् तथा,
दुर्लेखात् खिलता गतस्य कुधिय कुर्वन्तु कि माहशा. ।। [समवायागवृत्ति (अतस्थ प्रशस्ति)]

आदि स्थान, सूर्यलोक, अलोक, क्रिया, महावीर और रोहक के प्रश्नोत्तर, लोक-स्थिति मे मशक का उदाहरण, जीव और पुद्गल के सम्बन्ध मे सछिद्रा नाव का उदाहरण, जीवादि का गुरुत्व-लघुत्व विचार, सामायिक आदि पदो के अर्थ, उपपात विरह आदि का इसमे वर्णन है।

दूसरे शतक मे १० उद्देशक है जिनमे श्वासोच्छ्वास का विचार, स्कन्दक परिव्राजक के लोक और मरण सम्बन्धी प्रश्न, समाधान के लिये स्कन्दक का महावीर के पास आगमन, गौतम द्वारा स्वागत, समाधान पाकर स्कन्दक द्वारा दीक्षा–ग्रहण, तुगिया के श्रावको द्वारा पार्श्वापत्यो से प्रश्नोत्तर, समुद्घात, सात पृथ्विया, इन्द्रियवर्णन, उदग्गर्भविचार, तिर्यग्गर्भ, मानुषी गर्भ, मनुष्य और तिर्यच स्त्री के बीज की स्थिति, एक जीव के पिता-पुत्र का उत्कृष्ट परिमाण आदि का उल्लेख है।

तीसरे शतक मे १० उद्देशक है जिनमे तामली तापस की साधना, नियाण नही करने से दूसरे स्वर्ग मे उत्पाद, प्रणामा प्रव्रज्या, दूसरे उद्देशक मे चमरेन्द्र के पूर्वभव पूरण तापस की दानाभा प्रव्रज्या, सौधर्म देवलोक जाना, महावीर की शरण मे आना आदि, उद्देशक ३ मे क्रिया-विचार, उद्देशक ४ मे अनगार वैक्रिय, उद्देशक ५, ६ मे भी विक्रिया, उद्देशक ७ मे लोकपाल सोम आदि और उनके कार्य का उल्लेख है।

शतक ४ मे १० उद्देशक है।

पाँचवे शतक के १० उद्देशको मे से ७वे उद्देशक मे नारदपुत्र और निग्रन्थीपुत्र का सम्वाद है।

शतक ६ मे वेदना आदि १० उद्देशक है, उनमे महावेदना मे भी नरक की अल्प निर्जरा, श्रमण निर्ग्रन्थ की महानिर्जरा, निर्जरा के लिये कर्दम राग और खजन राग के वस्त्र का उदाहरण, अग्नि मे सूखे तृणो की पूली और तपे हुए तवे पर जलाबन्दु के समान श्रमण के कर्मभोग महानिर्जराजनक होते है, अल्पवेदन – महानिर्जरा की सोदाहरण चौभगी, मुहूर्त के श्वासोच्छ्वास और कालमान, आवलिका से उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, पृथ्विया, बध आदि का उल्लेख है।

७वे शतक मे आहार आदि १० उद्देशक है। उनमे आहारक-अनाहारक कर्म की गति, पच्चखाण के भेद और स्वरूप, साता-असाता के बन्ध-कारण और छठे आरे का छठे उद्देशक मे वर्णन किया गया है। महाशिला कण्टक और रथमूसल सग्राम का वर्णन, वरुण नाग का अभिग्रह और दिव्य गति – ये इस शतक के महत्वपूर्ण उल्लेख है।

८वे शतक मे १० उद्देशक है। प्रथम मे पुद्गल, दूसरे मे आशीविष और ज्ञानलब्धि, तीसरे मे वृक्ष, पाचवे मे ३९ भागा, श्रावक और आजीवक उपासक की तुलना, छठे मे तीन प्रकार के दान, एकान्त निर्जरा आदि, आठवे मे आचार्य आदि के प्रत्यनीक, ५ व्यवहार बन्ध आदि, ९वे और १०वे उद्देशको मे बन्ध आदि का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार 'विबाह पण्णत्ति' शब्द की व्याख्या में लिखा है – 'वि-बाधा-प्रज्ञप्ति' – अर्थात् जिसमे निर्बाध रूप से अथवा प्रमाण से अबाधित निरूपण किया गया है वह विबाह पण्णत्ति है।

इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों का इस सूत्र के सस्कृत नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति से किसी भी प्रकार का मेल नही बैठता। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आगम का प्राकृत नाम मूलत. वियाहपण्णत्ति ही रहा होगा किन्तु लिपिको एव प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण कही विवाह पण्णत्ति और कही विबाह पण्णत्ति भी लिख दिया गया होगा।

व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक इस पचम अग की शैली प्रश्नोत्तर के रूप मे है। इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किये और उन प्रश्नो का भगवान् द्वारा उत्तर दिया गया है। इसी प्रश्नोत्तर के रूप में यह सुविशाल आगम आज विद्यमान है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इन प्रश्नोत्तरो की सख्या ३६००० बताई है। उनमे से अनेक प्रश्न और उनके उत्तर छोटे-छोटे है। यथा :–

प्रश्न – भगवन्! ज्ञान का क्या फल है?
उत्तर – विज्ञान।
प्रश्न – विज्ञान का क्या फल है?
उत्तर – प्रत्याख्यान।
प्रश्न – प्रत्याख्यान का क्या फल है?
उत्तर – सयम।

अनेक प्रश्नोत्तर बहुत बड़े-बड़े है। कही-कही तो एक ही प्रश्न ऐसा है कि उसके उत्तर मे पूरा का पूरा एक शतक भर गया है। उदाहरण के रूप मे मखलि गोशालक के सम्बन्ध मे जो प्रश्न किया गया है उसके उत्तर मे पूरा का पूरा पन्द्रहवा शतक आ गया है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति के ग्रथन मे जो प्रश्नोत्तर की शैली अपनाई गई है वह वस्तुत: अति प्राचीन प्रतीत होती है। भट्ट अकलक ने अचेलक परम्परा के ग्रन्थ राजवार्तिक मे व्याख्या प्रज्ञप्ति की इस शैली का उल्लेख किया है।[1]

भगवती सूत्र के ४१ मूल शतक है। प्रथम शतक मे चलन आदि १० उद्देशक है। प्रारम्भ मे नमस्कार मत्र और ब्राह्मी लिपि व श्रुत के नमस्कार द्वारा मगलाचरण किया गया है। प्रश्नोत्थान मे महावीर और गौतम का सक्षिप्त परिचय है। तत्पश्चात् चलित आदि ६ प्रश्न, २४ दण्डक के आहार, स्थिति एव श्वासोच्छ्वास काल का विचार, आत्मारम्भ आदि, सवृत-असवृत, अनगार और असयत की देवगति का कारण बताया गया है। स्वकृत दु ख का वेदन, उपपात के असयत आदि १३ बोल, काक्षामोहनीय आदि २४ दण्डको के आवास - स्थिति

[1] "एव हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदडकेषु उक्तम्"……
…… इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्।　　[राजवार्तिक, अ० ४, सू० २६, पृ० २४५]

राजगृह मे, दान की महिमा देखकर गोशालक का आगमन और छ वर्ष तक भगवान् के साथ विहार, तिल के पौधे को देख कर गोशालक की भगवान् से पृच्छा से लेकर गोशालक को तेजोलेश्या की प्राप्ति एव उसके द्वारा भविष्य-कथन तक का वृत्तात है।

१६ वे शतक के १४ उद्देशक है, जिनमे से पहले मे अधिकरण, दूसरे मे जरा, शोक, अवग्रह, शक्रेन्द्र की भाषा आदि, तीसरे उद्देशक मे कर्म-क्रियाविचार, चौथे मे अधिक निर्जरा के हेतु, पाचवे मे गगदेव, छठे मे स्वप्नविचार, सातवे मे उपयोग, आठवे मे लोक, नौवे मे बली इन्द्र, दशवे मे अवधिज्ञान, ग्यारहवे मे द्वीपकुमार, बारहवे मे उदधिकुमार, तेरहवे मे दिशाकुमार और चौदहवे उद्देशक मे स्तनितकुमार का वर्णन है।

१७ वे शतक मे १७ उद्देशक है। पहले उद्देशक मे उदायी हस्ती और क्रियाविचार, दूसरे मे धार्मिक-अधार्मिक, धर्म, अधर्म, धर्माधर्म, जीव–बाल, पडित और बालपण्डित आदि, तीसरे मे शैलेषी विचार, चौथे मे क्रिया, पाचवे मे सुधर्मा सभा, छठे-सातवे मे पृथ्वीकायिक, आठवे और नौवे मे अप्कायिक, दशवे-ग्यारहवे मे वायुकायिक, १२ वे मे एकेन्द्रिय, तेरहवे मे नागकुमार, चौदहवे मे स्वर्णकुमार, पन्द्रहवे मे विद्युत्कुमार, १६ वे मे वायुकुमार और १७ वे मे अग्निकुमार का वर्णन है।

१८ वे शतक मे १० उद्देशक है। पहले उद्देशक मे प्रथम तथा अप्रथम का विचार, दूसरे मे विशाखा नगर के कार्तिक सेठ की तपस्या, तीसरे मे माकदीपुत्र का स्थविरो से प्रश्नोत्तर, चार मे प्राणातिपात, पाच मे असुरकुमार, छ मे गुड आदि के वर्ण प्रभृति, सात मे केवली, उपधि, परिग्रह, मद्रुक श्रावक के साथ अन्य-तीर्थिक के प्रश्नोत्तर, देवासुरसग्राम, आठवे मे अनगार क्रिया, नौवे मे भव्य, द्रव्य, जीव, दशवे मे सोमिल का भगवान् महावीर से शकासमाधान, साधना, निर्वाण आदि का वर्णन किया गया है।

१६ वे शतक मे १० उद्देशक है।

२० वे शतक मे १० उद्देशक है। पहले उद्देशक मे द्विन्द्रिय आदि जीवो के शरीर बन्ध आदि, दूसरे मे आकाश, तीसरे मे प्राणिवध आदि १८ पाप और पापविरक्ति आदि, चौथे मे इन्द्रियोपचय, पाचवे मे परमाणु आदि, छठे मे अन्तर आदि, सातवे मे बन्ध, आठवे मे कर्मभूमि अकर्मभूमि, तीर्थकर और अन्तरकाल, कालिक सूत्र का विच्छेद-अविच्छेद, पूर्वज्ञान की स्थिति, तीर्थ, तीर्थकर आदि, नौवे उद्देशक मे चारणमुनि, और दशवे उद्देशक मे सोपक्रम, निरुपक्रम आयु आदि का वर्णन है।

२१ वे शतक मे ८ वर्ग और प्रत्येक वर्ग मे दश-दश के हिसाब से ८० उद्देशक है।

२२ वे शतक मे ६ वर्ग और छहो वर्गो मे – प्रत्येक वर्ग के दश-दश उद्देशक के हिसाब से कुल ६० उद्देशक है।

९वे शतक मे ३४ उद्देशक है, जिनमे असोच्चा केवली, गागेयभग और ऋषभ दत्त – देवानन्दा व जमाली के बोध आदि का वर्णन है ।

१०वे शतक मे २८ अन्तर्द्वीप आदि के ३४ उद्देशक है ।

११वे शतक मे १२ उद्देशक है । इनमे शिवराज ऋषि की प्रव्रज्या, सुदर्शन श्रेष्ठी के कालविषयक प्रश्न का उत्तर, महाबल का वर्णन, आलंभिका के इसिभद्रपुत्र श्रावक पुद्गल का वर्णन आदि है । यह परिव्राजक पुद्गल भगवान् महावीर के पास दीक्षित होकर सिद्ध बुद्ध हुए ।

१२वे शतक मे शख आदि १० उद्देशक है । इसमे सावत्थी के शख एव पोखली श्रावक और उनके द्वारा सामूहिक रूप से खा पीकर पाक्षिक पौषध-विचार, उपासिका उत्पला का पुष्कली श्रमणोपासक के प्रति शिष्टाचार आदि का वर्णन है ।

दूसरे उद्देशक मे श्रमणोपासिका जयन्ती द्वारा भगवान् महावीर से तात्विक प्रश्नोत्तर, उदायी राजा द्वारा भगवद्वन्दन आदि का तथा तृतीय उद्देशक मे सात पृथ्विया और चौथे उद्देशक मे पुद्गलपरिवर्तन का विचार है । पाचवे उद्देशक मे रूपी-अरूपी, छठे में राहु का, सातवे उद्देशक में लोक, आठवे उद्देशक में नाग के रूप मे देव की उत्पत्ति और उसका एकाभवावतारीपन, नौवे मे ५ देव, तथा दशवे मे ८ प्रकार की आत्मा का वर्णन है ।

१३वे शतक मे १० उद्देशक है । प्रथम ६ उद्देशको मे क्रमश सात पृथ्वियो मे नारक जीवों की उत्पत्ति आदि, चार जाति के देव, नारक, पृथ्वी, नारक का आहार, उपपात, राजा उद्दयन द्वारा भगवद्वन्दन, प्रव्रज्या का विचार, पुत्र अभीचि के हितार्थ केशी का राज्याभिषेक, उदयन की दीक्षा, अभीचि कुमार का मनोमालिन्य और कूणिक के पास गमन, अभीचिकुमार द्वारा श्रावकधर्मग्रहण और अनालोचनापूर्वक मरण के कारण असुर योनि मे उत्पन्न होने का वर्णन है । सातवे उद्देशक मे भाषा, मन, काय और मरण का विचार है । आठवे उद्देशक मे कर्मप्रकृति, ९वे उद्देशक मे अनगार की विक्रिया और दसवे मे ६ समुद्घात का वर्णन है ।

१४ वे शतक मे १० उद्देशक है । प्रथम उद्देशक मे भावितात्मा अनगार की देवावास मे उत्पत्ति, नैरयिकों की शीघ्र गति और आयुबन्ध, दो मे उन्माद आदि, तीन मे मध्यगति, विनय और पुद्गल आदि, ४ मे पुद्गल, पाच मे अग्नि, छ मे आहार, ७ में गौतम को केवलज्ञान की अप्राप्ति से खिन्नता और भगवान् द्वारा उन्हे केवलज्ञान-प्राप्ति होने व अपने समान ही अक्षय पदप्राप्ति का आश्वासन आदि, आठवे उद्देशक मे अन्तर, शालवृक्ष की पूजा, अम्बड़ परिव्राजक, जृम्भक देव आदि, नौवे मे अनगार और दशवे मे केवली के ज्ञान का वर्णन है ।

पन्द्रहवे शतक मे कोई उद्देशक नही है । इसमे गोशालक का परिचय, भगवान् महावीर की दीक्षा, भगवान् का प्रथम वर्षावास अस्थिग्राम मे, दूसरा

के ६-६ उद्देशक के हिसाब से इस तेतीसवे शतक के कुल १२४ उद्देशक है। प्रथम एकेन्द्रिय शतक के प्रथम उद्देशक मे एकेन्द्रिय के पृथ्वी, अप, तेज वायु और वनस्पति ये पाच भेद और उनके उपभेद बताते हुए उनके कर्मप्रकृतियो के बन्धन एव वेदन का और शेष १० उद्देशको मे क्रमश अनन्तरोपपन्न एकेन्द्रिय, परम्परोपपन्न एकेन्द्रिय अनन्तरावगाढ पचकाय, परम्परावगाढ पचकाय, अनन्तराहारक पचकाय, परम्पराहारक पचकाय, अनन्तर पर्याप्त पचकाय, परम्पर पर्याप्त पचकाय, चरम पचकाय और अचरम पचकाय आदि के सम्बन्ध मे सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

द्वितीय एकेन्द्रिय शतक (अवान्तरशतक) मे कृष्णलेश्यी, तृतीय मे नील लेश्यी चौथे मे कापोतलेश्यी, पाचवे मे भवसिद्धिक, छठे मे कृष्णलेश्यायुक्त भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, सातवे मे नील लेश्या के साथ, आठवे मे कापोतलेश्या के साथ, नौवे मे अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवे मे कृष्णलेश्यी, ग्यारहवे मे नीललेश्यी और बारहवे मे कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय अभव्य का विवेचन किया गया है।

३४ वे शतक मे १२ अवान्तरशतक और प्रथम आठ अवान्तर शतको के ११-११ उद्देशक और अन्तिम चार अवान्तरशतको के ६-६ उद्देशक के हिसाव से इस ३४ वे शतक मे कुल १२४ उद्देशक है।

प्रथम एकेन्द्रिय शतक समुच्चय मे अनन्तरोपपन्न से अचरम तक ११ उद्देशक है। दूसरे मे कृष्णलेश्यी, तीसरे मे नीललेश्यी, चौथे मे कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय, पाचवे मे भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, छठे मे कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक, सातवे मे नीललेश्यायुक्त मन, आठवे मे कापोतलेश्यायुक्त मन का विवेचन है। इन आठो अवान्तरशतको के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक है।

नौवे अवान्तर शतक मे अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवे अवान्तरशतक मे कृष्णलेश्यी, ग्यारहवे मे नीललेश्या, वारहवे मे कापोतलेश्यायुक्त अभवसिद्धिक का वर्णन है। इन चारो अवान्तर शतको के प्रत्येक के ६-६ उद्देशक है।

३५ वे शतक मे भी प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म शतक से लेकर द्वितीय, तृतीय यावत् द्वादश एकेन्द्रिय महायुग्म शतक तक बारह अवान्तरशतक है। इनमे पहले के ८ अवान्तरशतको मे ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और अन्त के ४ अवान्तरशतको के ६-६ उद्देशक है। इस प्रकार इस ३५ वे शतक के कुल मिलाकर १२४ उद्देशक है।

प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म शतक (अवान्तरशतक) के पहले उद्देशक मे महायुग्म के १६ भेद, उनके हेतु, कृतयुग्म राशिरूप एकेन्द्रिय का उपपात, एक समय के उपपात, जीवो की सख्या, कृतयुग्म-कृतयुग्म राशिरूप एकेन्द्रियो के आठ कर्मो के वन्ध-वेदन, साता असाता वेदन, इनकी लेश्याए – शरीर के वर्ण – अनुवन्धकाल, सर्व जीवो के इस राशि मे उत्पाद आदि २० स्थानो का निरूपण किया गया है। द्वितीय उद्देशक मे प्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रियो के उत्पाद और अनुवन्ध का निरूपण, तृतीय उद्देशक मे अप्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म

२३ वे शतक मे ५ वर्ग और प्रत्येक वर्ग के दश-दश उद्देशक के हिसाब से कुल ५० उद्देशक है।

२४ वे शतक मे २४ उद्देशक है।

२५ वें शतक मे १२ उद्देशक है। पहले में लेश्या और योग का, दूसरे मे द्रव्य का, तीसरे में संस्थान, गणिपिटक, अल्पबहुत्व, चार में युग्म और पर्याय, अल्प बहुत्व आदि, पांचवे मे कालपर्यव और दो प्रकार के निगोद, छठे मे पाच प्रकार के निर्ग्रन्थ का ३६ द्वारो से वर्णन, सातवे मे पाच प्रकार के संयम का ३६ द्वार से वर्णन करके दश प्रतिसेवना, दश आलोचना दोष, दश आलोचनायोग्य, दश समाचारी, दश प्रायश्चित्त, और तप के बारह भेदो का विस्तृत वर्णन है। आठवे उद्देशक में समुच्चय नारक, नौवे मे भव्य नारक, दशवे में अभव्य नारक, ग्यारहवे में समदृष्टि और बारहवे मे मिथ्यादृष्टि नारक की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध मे विचार किया गया है।

२६ वे शतक मे ११ उद्देशक है। पहले मे जीव के पापबन्ध का विचार दूसरे मे अनन्तरोपपन्न, तीसरे में परंपरोपपन्न, चौथे मे अनन्तरावगाढ, पांचवे उद्देशक मे परम्परावगाढ, छठे में अनन्तराहारक, सातवे में परम्पराहारक, आठवे मे अन्तर्पर्याप्त, नौवे में परम्परपर्याप्त, दशवे में चरम और ११ वे मे अचरम चौवीस दण्डक के जीवो मे वन्ध कहा गया है।

२७ वे शतक मे ११ उद्देशकों से पाप कर्म के बन्ध का विचार किया गया है।

२८ वे शतक में ११ उद्देशक है। पहले उद्देशक में भूतकाल के वन्ध आदि का वर्णन किया गया है और शेष १० उद्देशक २६ वे शतक के उद्देशको के समान है।

२९ वे शतक मे ११ उद्देशक है जिनमे से पहले अध्ययन में पाप कर्मो के वेदन का विवरण दिया गया है और शेष १० उद्देशक छब्बीसवे शतक के उद्देशको के समान है।

३० वे शतक मे ११ उद्देशक है। पहले उद्देशक मे चार समवसरण और जीव के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। शेष दश उद्देशक २६ वे शतक के उद्देशको के समान है।

३१ वे शतक मे २८ उद्देशक है जिनमें चार युग्म से नरक के उपपात का विवरण दिया गया है।

३२ वे शतक मे २८ उद्देशक है जिनमे नारक का उद्वर्तन ३१ वे शतक के समान वताया गया है।

३३ वे शतक मे १२ अवान्तरशतक है जिन्हे १२ एकेन्द्रिय शतक के नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रथम ८ अवान्तरशतको के ११-११ और अंतिम ४

का असयम आदि का वर्णन करने के पश्चात् सलेश्य और सक्रिय आत्म असयमी और क्रिया रहित की सिद्धि आदि का निरूपण किया गया है ।

द्वितीय उद्देशक मे त्र्योज राशि प्रमाण चौवीस दण्डक के जीवो का उपपात, तृतीय मे द्वापर और चतुर्थ मे कल्योज राशि प्रमाण चौवीस दण्डको के जीवो के उपपात के विषय मे विवरण दिया गया है ।

पचम उद्देशक मे कृष्णलेश्या वाले कृतयुग्म प्रमाण, छठे मे कृष्ण लेश्या त्र्योज राशि प्रमाण, सातवे मे कृष्ण लेश्या वाले द्वापर युग्म प्रमाण और आठवे मे कृष्ण लेश्या वाले कल्योज प्रमाण चौवीस दण्डको के जीवो के उपपात का वर्णन किया गया है ।

नवमे से १२ वे उद्देशक मे नीललेश्या वाले, तेरहवे से सोलहवे उद्देशक मे कापोत लेश्या वाले, सत्रहवे से बीसवे उद्देशक मे तेजोलेश्या वाले, २१ वे से चौवीसवे उद्देशक मे पद्म लेश्या वाले, और पच्चीसवे से २८ वे उद्देशक मे शुक्ललेश्या वाले चार राशि युग्म प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवो के उपपात का वर्णन किया गया है ।

२९ वे से ५६ वे उद्देशक मे चार राशि युग्मप्रमाण भवसिद्धिक, ५७ से ८४ वे उद्देशक मे चार राशि युग्मप्रमाण अभवसिद्धिक, ८५ से ११२ वे उद्देशक मे चार राशि युग्मप्रमाण सम्यग्दृष्टि भवसिद्धिक, ११३ वे से १४० वें उद्देशक मे चार राशि युग्मप्रमाण मिथ्यादृष्टि भवसिद्धिक कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या वाले चौवीस दण्डक के जोवो के उपपात का वर्णन किया गया है ।

१४१ वे से १६८ वे उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण कृष्णपक्षी और १६९ वे से १९६ उद्देशक मे चार राशि युग्मप्रमाण शुक्लपक्षी चौवीस दण्डको के जीवो के उपपात का वर्णन किया गया है ।

व्याख्या प्रज्ञप्ति मे भगवान् महावीर के जीवन का, उनके शिष्यो, भक्तो, गृहस्थ अनुयायियो, अन्य तीर्थिको एव उनकी मान्यताओ का विस्तृत परिचय दिया गया है । गौशालक के सम्बन्ध मे जितना विस्तृत परिचय इस अङ्ग मे मिलता है उतना अन्यत्र कही नही मिलता । इसके साथ ही साथ भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायियो तथा चातुर्याम धर्म के सम्बन्ध मे व्याख्या प्रज्ञप्ति मे स्थान-स्थान पर विवरण मिलते है । भगवान् महावीर के पचमहाव्रत धर्म से प्रभावित होकर अनेक पार्श्वापत्यो ने चातुर्याम धर्म के स्थान पर पचमहाव्रत धर्म अगीकार किया, इस प्रकार के विवरण व्याख्या प्रज्ञप्ति मे बहुलता से उपलब्ध होते है ।

इसके अतिरिक्त कूणिक और महाराज चेटक के बीच हुए महाशिलाकण्टक सग्राम एव रथमुसल सग्राम नामक दो महायुद्धो का व्याख्याप्रज्ञप्ति मे बडा ही

प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का, चौथे में चरम समय, पाचव में अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण के एकेन्द्रियो के उत्पाद का, छठे में प्रथम समय, सातवें मे प्रथम अप्रथम समय, आठवे मे प्रथम चरम समय, नौवे में प्रथम अचरम समय, दशवे में चरम-अचरम समय और ग्यारहवे में चरम-अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियो के उत्पाद का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय चतुर्थ यावत् बारहवे अवान्तरशतक मे क्रमशः कृष्णलेश्य, नीललेश्य, कापोतलेश्य, भवसिद्धिक, कृष्णलेश्य भवसिद्धिक, नीललेश्य भवसिद्धिक कापोतलेश्य भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, कृष्णलेश्य अभवसिद्धिक, नीललेश्य अभवसिद्धिक और कापोतलेश्य अभवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियो के उत्पाद का प्रथम अवान्तरशतक के समान वर्णन किया गया है।

३६ वे शतक मे १२ अवान्तर शतक और उनके कुल मिलाकर १२४ उद्देशक है। इन बारहो अवान्तर शतको में बेइन्द्रिय महायुग्म के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है अत इनके नाम प्रथम, द्वितीय, यावत् द्वादश बेइन्द्रिय महायुग्म शतक रखे गये है। इनमें से प्रथम आठ अवान्तर शतको के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और शेष चार के ६-६ उद्देशक है। इन सब अवान्तरशतको के उद्देशको मे ३५ वे शतक के एकेन्द्रिय महायुग्म अवान्तर शतको के उद्देशकों के समान ही बेइन्द्रियों के उत्पाद अनुबन्ध और लेश्याओं के अनुक्रम से कृतयुग्म-कृतयुग्म बेइन्द्रियो का वर्णन किया गया है।

३७ वे शतक में भी १२ अवान्तर शतक है। इसमें कुल मिलाकर १२४ उद्देशक है। इस शतक मे कृतयुग्म-कृतयुग्म त्रीन्द्रिय जीवो के उत्पाद आदि का पैंतीसवे शतक के समान ही वर्णन किया गया है।

३८ वे शतक में १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक है। इस शतक मे ३४ वे शतक के समान कृतयुग्म-कृतयुग्म चतुरिन्द्रियों के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है।

३९ वे शतक मे भी १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक है जिनमे ३४ वे शतक के सनान ही असज्ञी पचेन्द्रियो के उपपात आदि का वर्णन किया गया है।

४० वे शतक मे २१ अवान्तरशतक और प्रत्येक के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक के हिसाब से कुल मिलाकर २३१ उद्देशक है। इस शतक मे सज्ञी पचेन्द्रिय महायुग्मो के उत्पाद आदि का ३४ वे शतक के अनुसार ही वर्णन किया गया है।

४१ वे (अन्तिम) शतक मे कुल मिलाकर १९६ उद्देशक है। प्रथम उद्देशक मे राशियुग्म के चार भेद, उन भेदो के हेतु कृतयुग्म राशि प्रमाण चौवीस दण्डको के जीवो के उपपात, सान्तर अथवा निरन्तर उपपात, कृतयुग्म के साथ अन्य राशियो के सम्बन्ध का निषेध जीवो के उपपात की पद्धति, उपपात का हेतु, आत्मा

इस प्रकार की शका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सामान्य रूप से जिस ग्रन्थ मे किसी अन्य सूत्र अथवा सूत्रकार का नाम उपलब्ध होता है उसे, जिस ग्रन्थ मे उसका उल्लेख है उस ग्रन्थ की रचना से पूर्ववर्ती माना जाता है किन्तु जैन सूत्रो पर इस प्रकार की बात घटित नही होती। कारण कि रचना के पश्चात् भी सूत्र शताब्दियो तक गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक चलते रहे। वीर-निर्वाण ६८० मे सूत्र अन्तिम रूप से लिपिबद्ध किये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि आगमो को लिपिबद्ध करते समय इस नियम का पालन करना आवश्यक नही समझा गया कि जिस अनुक्रम से आगमो की रचना हुई है उसी क्रम से उनको लिपिबद्ध किया जाय। इसके परिणामस्वरूप पश्चाद्वर्ती काल मे रचित कतिपय आगमो का लेखन सुविधा की दृष्टि से पहले सम्पन्न कर लिया गया। तदनन्तर रचनाक्रम की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि स्थान पर माने जाने वाले आगमो का लेखन किया गया तो पश्चाद्वर्ती आगम होते हुए भी जो पहले लिपिबद्ध कर लिये गये थे और उनमे पूर्ववर्ती जिन आगमो के जो-जो पाठ अकित हो चुके थे उन पाठो की पुनरावृत्ति न हो इस दृष्टि से बाद मे लिपिबद्ध किये जाने वाले पूर्ववर्ती आगमो मे "जहा नन्दी" आदि पाठ देकर पश्चाद्वर्ती आगमो और आगमपाठो का उल्लेख कर दिया गया। यह केवल पुनरावृत्ति को बचाने की दृष्टि से किया गया। इससे मूल रचना की प्राचीनता मे किसी प्रकार की किंचित्मात्र भी न्यूनता नही आती। हो सकता है उस समय आगमो को लिपिबद्ध करते समय पुनरावृत्ति के दोष से बचने के साथ-साथ इस विशाल पचम अग व्याख्या प्रज्ञप्ति के अति विशाल स्वरूप एव कलेवर को थोडा लघु स्वरूप प्रदान करने की भी उन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यो की दृष्टि रही हो।

इसके अतिरिक्त अन्य भी मन्दमेघा आदि कारण व्याख्या प्रज्ञप्ति के कलेवर को छोटा बनाने के हो सकते है अथवा नही इस पर इतिहास के विशेषज्ञ मुनि एव विद्वान् प्रकाश डालने का सद्प्रयास करेंगे, ऐसी आशा है।

अपरनाम – भगवती

इस पचम अग का अपर नाम भगवती सूत्र भी है जो वियाह पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) नाम की अपेक्षा प्रसिद्ध एव प्रचलित है। अन्य सभी अगो की अपेक्षा अधिक विशाल इस व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पचम अग मे भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर द्वारा प्रभु के समक्ष प्रस्तुत किये गये प्रश्नो एव भगवान् द्वारा दिये गये उनके तात्विक उत्तरो का सुविशाल सकलन होने के कारण इसके प्रति सर्वाधिक, सम्मान, आदर और पूज्यभाव प्रकट करने हेतु बहुत सम्भव है कि विगत कतिपय शताब्दियो से वियाहपण्णत्ति नामक इस पचम अग को भगवती सूत्र इस अति सम्माननीय नाम से सम्बोधित किया जाने लगा हो। आज तो चतुर्विध तीर्थ मे यह पचम अग भगवती सूत्र के नाम से ही लोकप्रिय है।

मार्मिक वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि उन दोनों महायुद्धों मे क्रमशः ८४ लाख और ९६ लाख योद्धा दोनो पक्षो के मारे गये।[1]

व्याख्या प्रज्ञप्ति के २१ वे, २२ वे और २३ वे शतकों मे जो वनस्पतियो का वर्गीकरण किया गया है वह अनुपम है।

इस प्रकार व्याख्या प्रज्ञप्ति मे ३६ हजार प्रश्नोत्तरो के रूप में विविध विषयो का अथाह ज्ञान सकलित कर लिया गया है जो जैन सिद्धान्त, इतिहास, भूगोल, राजनीति आदि अनेक दृष्टियो से बडा ही महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ आध्यात्मिक तत्व की कुँजी की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। तत्कालीन, धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक एव राजनैतिक परिस्थितियो पर व्याख्या प्रज्ञप्ति मे दिये गये अनेक विवरण समीचीन रूप से साधिकारिक प्रकाश डालते है।

इस पचम अग मे देवगति प्राप्त करने वाले प्राणियो के सम्बन्ध मे विचार करते हुए यह बताया गया है कि सयम का निरतिचार रूप से पलन करने वाले केवल बाहरी रूप से संयम का पालन करने वाले, असंयत, सयम के विराधक, श्रावकधर्म का न्यूनाधिक रूपेण पालन करने वाले, असज्ञी जीव, तापस जो जिन प्रवचनों का पालन नही करते, कादर्पिक, चरक अर्थात् त्रिदण्डी, लगोटधारी परिव्राजक, कपिल के शिष्य, ज्ञानियो, साधुओं तथा धर्माचार्यो की निन्दा करने वाले, किल्विषिक अर्थात् बाह्य रूप से जैन श्रमणाचार का पालन करने वाले और जिन-मार्गानुयायी तिर्यच कम से कम और अधिक से अधिक किन-किन देवयोनियो में उत्पन्न हो सकते है। इस विवरण मे बौद्ध भिक्षुको का कोई उल्लेख नही किया गया है, यह केवल विचारणीय ही नही अपितु गहन शोध का विषय भी है। क्या वस्तुतः इस अग की रचना के समय तक बौद्ध धर्म का इतना प्रचार-प्रसार नही हो पाया था अथवा कोई अन्य कारण रहा है जिससे कि बौद्ध धर्म के भिक्षुओ का इस प्रकरण में नामोल्लेख तक नही किया गया है ?

सभी विद्वानो का यह तो निश्चित अभिमत है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति का विषयवर्णन अति प्राचीन और आचार्य-परम्परागत है तथापि इसमे द्वादशागी के पश्चाद्वर्ती काल मे रचित आगमो-रायपसेणइज्ज, उववाइय, पण्णवणा, जीवा-भिगम तथा नदी आदि का उल्लेख करके अनेक स्थलो पर इसके विवरणों को तथा पूरे के पूरे उद्देशको को सक्षिप्त कर दिया गया है।[1] यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि जव रायपसेणइज्ज आदि उपर्युक्त आगमो की रचना द्वादशागी के पश्चात् हुई है तब पूर्वरचित व्याख्या प्रज्ञप्ति में बाद की रचनाओ के उल्लेख किस कारण किये गये है ? नन्दीसूत्र तो निश्चित रूप से वीर-निर्वाण स० ९८० के आस-पास की, वल्लभी-वाचना के सूत्रधार एव नायक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की सकलना मानी गई है।

---

[1] विस्तृत जानकारी के लिये देखिये "जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग", पृ० ५१६–५२३

८४ लाख पद बताई गई है।[1] नवागी टीकाकार अभयदेव सूरि ने व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका मे इस पर "विशिष्टसम्प्रदायगम्यानि" केवल इतना ही लिखा है। इससे आगे की गाथा मे सघ की समुद्र के साथ तुलना करते हुए उसकी स्तुति की गई है।[2] इसके पश्चात् गौतम आदि गणधरो को, भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति और द्वादशागी रूप गणिपिटक को नमस्कार किया गया है। तदनन्तर प्रतिलिपिकार ने कच्छप के समान सुगुप्त चरणो वाली कोरट वृक्ष के अम्लान (नवविकसित) कुसुम की कली के समान मनोहर भगवती श्रुतदेवी से प्रार्थना की है कि वह उसके अज्ञानान्धकार को विनष्ट करे।[3]

श्रुतदेवी की स्तुति के पश्चात् व्याख्याप्रज्ञप्ति के पठन-पाठन के क्रम के साथ-साथ विधि आदि का उल्लेख किया गया है।

अन्त मे प्रतिलिपिकार द्वारा तीन गाथाओ मे श्रुतदेवी आदि की निम्न-लिखित रूप मे स्तुति की गई है –

प्रखर बुद्धि वाले विद्वानो द्वारा सदा अभिवदित, अज्ञानान्धकार विध्वसिनी नवविकसित शतदलकमल वरद हस्त मे लिये हुए श्रुताधिष्ठातृ देवी मुझे भी बुद्धि प्रदान करे। जिसके कृपा प्रसाद से ज्ञान सीखा है उस श्रुतदेवता को हम प्रणाम करते है। शान्तिप्रदायिनी प्रवचनदेवी को भी मै नमस्कार करता हू। श्रुतदेवता, कुम्भधरयक्ष, ब्रह्मशान्ति, वैरोटचादेवी, विद्यादेवी और अतहुडी लेखक की सब प्रकार के विघ्नो से रक्षा करे। व्याख्याप्रज्ञप्ति की मगलसहित ग्रन्थाग्र० सख्या १५७५१ बताई गई है। व्याख्या प्रज्ञप्ति की समाप्ति के पश्चात् जो "णमोगोय-माइण" आदि जितने भी नमस्कारपरक उल्लेख है उनके सम्बन्ध मे टीकाकार ने लिखा है कि ये सब लिपिकार अथवा प्रतिलिपिकार द्वारा किये गये नमस्कार है।[5]

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अत मे जो इसके पठन-पाठन का क्रम दिया गया है वह किसी श्रुतस्थविर द्वारा साधको के हितार्थ किया गया उल्लेख प्रतीत होता है।

---

[1] चुलसीयसयसहस्सा, पयाण पवरवरणाणदसीहि।
भावाभावमणता, पन्नत्ता एत्थमगमि ॥ ४१वे श० के अन्त मे

[2] तवनियमविणयवेलो, जयइ सया नाणविमलविउलजलो।
हेउसयविउलवेगो, सघसमुद्दो गुणविसालो ॥ वही–

[3] (कुसुम) कुम्मसुसठियचलणा, अमलियकोरटवेटसकासा।
सुयदेवया भगवई, मम मइतिमिर पणासेउ ॥ वही–

[4] वियसियअरविंदकरा, नासियतिमिरा सुयाहिवा देवी।
मज्झ पि देहु मेह, बुधविबुहणमसियाणिच्च ॥१॥
सुयदेवयाए पणमिमो जीए पसाएण सिक्खिय नाण।
अण्ण पवयणदेवी सतिकरी त णमसामि ॥२॥
सुयदेवया य जक्खो कुभधरो बभसति वेरोट्टा।
विज्जा य अतहुडी, देउ अविग्घ लिहतस्स ॥३॥
–(व्याख्याप्रज्ञप्ति की समाप्ति के अनन्तर)

[5] णमो गोयमाइण' मित्यादय पुस्तकलेखककृता नमस्कारा प्रकटार्थाश्चेति।
– (व्याख्याप्रज्ञप्ति, टीका)

व्याख्याप्रज्ञप्ति का उपलब्ध स्वरूप

व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पचम अग के आरम्भ मे, तथा १५, १७, २३ एव २६ इन चार शतको के प्रारम्भ मे और इस अग के सम्पूर्ण होने पर अन्त मे – इस प्रकार कुल मिलाकर ६ स्थानो पर मगलाचरण किया गया है ।

इस सूत्र के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम पचपरमेष्ठिनमस्कारमत्र से और तदनन्तर "णमो वभीयस्स लिवियस्स" तथा "णमो सुयस्स" इन पदो द्वारा मगलाचरण किया गया है। इसके पश्चात् शतक सख्या १५, १७, २३ और २६ के प्रारम्भ मे– "णमो सुयदेवयाए भगवईए"– इस पद के द्वारा मगलाचरण किया गया है ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अन्त मे दिये गए "इक्कचत्तालीसइम रासी जुम्मसय समत्त"– इस समाप्तिसूचक पद से यह स्पप्टत प्रकट होता है कि इस पचम अग के १०१ शतक (अध्ययन) थे उनमे से केवल ४१ शतक ही अवशिष्ट रहे है शेष सब विलुप्त हो चुके है ।

उपरोक्त समाप्तिसूचक पद के पश्चात् यह उल्लेख किया गया है कि भगवती मे सब शतको की (अवान्तरशतको को मिलाकर) सख्या १३८ और उद्देशको की सख्या १९२५ है ।[1]

प्रथम शतक से ३२वे शतक तथा ४१वें शतक के कोई अवान्तरशतक नही है। ३३वे शतक से ३९वे शतक तक के ७ शतक वारह-बारह अवान्तर शतको के तथा ४०वा शतक २१ अवान्तर शतको का समूह है अत इन ८ शतको की गणना १०५ अवान्तर शतको के रूप मे की गई है। इस प्रकार अवान्तर शतक रहित उपरोक्त ३३ शतको और १०५ अवान्तरशतकात्मक शेष ८ शतको को मिलाकर व्याख्याप्रज्ञप्ति के शतको तथा अवान्तर शतको की सम्मिलित सख्या १३८ बताई गई है वह तो ठीक है परन्तु उपरोक्त सग्रहणी पद मे जो उद्देशको की सख्या १९२५ बताई गई है, उसका आधार खोजने पर भी उपलब्ध नही होता। व्याख्या प्रज्ञप्ति के मूल पाठ मे इसके शतको एव अवान्तरशतको के उद्देशको की सख्या दी गई है, केवल ४०वे शतक के २१ अवान्तरशतको मे से अन्तिम १६ से २१ इन ६ अवान्तरशतको के उद्देशको की सख्या स्पष्ट रूप मे नही दी गई है परन्तु जिस प्रकार इस शतक के पहले से १५वे अवान्तर शतक तक प्रत्येक की उद्देशक सख्या ११ बताई गई है उसी प्रकार उक्त शेष ६ अवान्तर शतको मे से प्रत्येक की उद्देशक सख्या ११-११ मान ली जाय तो व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुल उद्देशको की सख्या १८८३ होती है। कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे केवल "उद्देसगाण" इतना ही पाठ देकर सख्या का स्थान रिक्त छोड दिया गया है ।

इसके पश्चात् एक गाथा द्वारा इस पचम अग व्याख्या प्रज्ञप्ति की पदसख्या

---

[1] सव्याए भगवईए अट्ठतीस सय सयाण (१३८) उद्देसगाण १९२५
(व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक ४१ के पश्चात्)

करने वाले बन गये। इस छठे अग मे उन धीर-वीर साधको का भी वर्णन है जो घोरातिघोर परीषहो के उपस्थित होने पर भी सयम मार्ग से किचित्मात्र भी विचलित नही हुए। इसमे देवलोको के भोगोपभोग सुखादि का, देवलोक से च्यवन के पश्चात् मानव जीवन मे पुन साधनापथ पर अग्रसर होने वालो का, सयम-विराधनाजन्य दोषो और सयमाराधन के गुणो का, लोकमुनि शुक परिव्राजक के जिन-शासन मे आने का तथा शाश्वत मोक्षसुख प्राप्त करने वाले साधको आदि का वर्णन है।

ज्ञातृधर्मकथा की परिमित वाचनाए, अनुयोग द्वार, वेढा छन्द, श्लोक, निर्युक्तियाँ, सग्रहणिया और प्रतिपत्तिया प्रत्येक सख्यात-सख्यात है। इसमे दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दश वर्ग है। दोनो श्रुतस्कन्धो के २६ उद्देशनकाल, २६ समुद्देशनकाल, पाच लाख ७६ हजार पद, सख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित शाश्वत भाव कहे गए है। इसका वर्तमान मे उपलब्ध पदपरिमाण ५५०० श्लोक प्रमाण है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनो के सक्षेप मे चरित्र और कल्पित ये दो प्रकार बताये है। मेघ कुमार आदि के जो चरित्र बताये गये है वे सत्य उदाहरण है और तुम्ब आदि के उदाहरण कल्पित है जो भव्यजनो को प्रतिबोधित करने की दृष्टि से प्रस्तुत किये गए है।

धर्मकथाओं के जो दश वर्ग है उनमे से प्रत्येक धर्मकथा मे ५००–५०० आख्यायिकाएं, एक-एक आख्यायिका मे पाच सौ-पाच सौ उपाख्यायिकाए और उनमे से एक-एक उपाख्यायिका मे पाच सौ-पाच सौ आख्यायिका-उपाख्यायिकाए है। इस प्रकार इन सबको मिलाकर कुल साढे तीन करोड़ उदाहरणस्वरूप कथाए इसमे दी गई है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे ज्ञातृरूप-उदाहरणस्वरूप १६ अध्ययन तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे धर्मकथाओ के १० वर्ग कहे गए है। उनका साराश इस प्रकार है –

प्रथम श्रुतस्कन्ध के मेघकुमार नामक प्रथम अध्ययन मे राजपुत्र मेघकुमार की भगवान् महावीर की सेवा मे दीक्षा तथा शय्यापरीषह से उसके खिन्न होने पर प्रभु द्वारा उसे सयम मे स्थिर करने का वर्णन किया गया है। महावीर ने कहा – "मेघ! मेरुप्रभ हाथी के भव मे तुमने दारुण दावानल से भयभीत खरगोश पर अनुकम्पा कर उसके प्राणो की रक्षार्थ अपने प्राण दे दिए थे। उस अनुकम्पा के फलस्वरूप ही हाथी के भव से मरकर तुम इस भव मे महाराज श्रेणिक के पुत्ररूप मे उत्पन्न हुए हो।" भगवान् की वाणी से उद्बोधित हो कर मेघमुनि ने श्रमणवर्ग की सेवार्थ अपना तन-मन-सर्वस्व समर्पित कर दिया और समीचीन रूपेण सयम का परिपालन कर आत्मकल्याण किया।

दूसरे धन्ना सार्थवाह के अध्ययन मे विजय चोर और धन्ना के उदाहरण के माध्यम से साधक को यह समझाया गया है कि सुदीर्घकाल तक समीचीनतया

व्याख्याप्रज्ञप्ति के शतको, वर्गो, अवान्तरशतकों एवं उद्देशको की सख्या इस प्रकार है :—

शतक	वर्ग	अवा० श०	उद्देशक	शतक	वर्ग	अवा० श०	उद्देशक
१	—	—	१०	२२	६	—	६०
२	—	—	१०	२३	५	—	५०
३	—	—	१०	२४	—	—	२४
४	—	—	१०	२५	—	—	१२
५	—	—	१०	२६	—	—	११
६	—	—	१०	२७	—	—	११
७	—	—	१०	२८	—	—	११
८	—	—	१०	२९	—	—	११
९	—	—	३४	३०	—	—	११
१०	—	—	३४	३१	—	—	२८
११	—	—	१२	३२	—	—	२८
१२	—	—	१०	३३	—	१२	१२४
१३	—	—	१०	३४	—	१२	१२४
१४	—	—	१०	३५	—	१२	१२४
१५	—	—	००	३६	—	१२	१२४
१६	—	—	१४	३७	—	१२	१२४
१७	—	—	१७	३८	—	१२	१२४
१८	—	—	१०	३९	—	१२	१२४
१९	—	—	१०	४०	—	२१	२३१
२०	—	—	१०	४१	—	—	१९६
२१	८	—	८०				

इस प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति मे ४१ शतक, वर्ग १९, अवान्तरशतक १०५, शतक और अवान्तरशतक दोनों मिलाकर १३८ तथा उद्देशक १८८३ है। शतक सख्या ३३ से ४० तक के ८ शतक अवान्तरशतको से गठित है। अत शतको और अवान्तरशतको की गणना मे इन आठ शतकों की पृथक् गणना नही करने के कारण शतको एवं उपशतकों की सम्मिलित सख्या १३८ होती है।

६. नायाधम्मकहाओ

नायाधम्मकहाओ का संस्कृत नाम ज्ञातृधर्मकथा है। द्वादशागी के क्रम मे इसका छठा स्थान है। इसमें उदाहरणप्रधान धर्मकथाए दी हुई है, जिनमे मेघ-कुमार आदि के नगरो, उद्यानों, चैत्यो, वनखण्डो, राजाओ, माता-पिता, समव-सरणों, धर्माचार्यो, धर्मकथाओ, ऐहिक एव पारलौकिक ऋद्धियो, भोग परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रह, उत्कृष्ट तपस्याओ, पर्यायो, सलेखनाओ, भक्तप्रत्याख्यानों, पादपोपगमनो, स्वर्गगमन, उत्तम कुल मे जन्म, बोधिलाभ, अन्तक्रिया आदि विपयो का वर्णन तथा भगवान महावीर के विनयमूलक श्रेष्ठ शासन मे प्रव्रजित उन साधकों का वर्णन है जो ग्रहण किये हुए व्रतों के परिपालन मे दुर्बल, शिथिल, हतोत्साहित, विषयसुखमूर्छित, संयम के मूल गुणो एवं उत्तरगुणो की विराधना

निर्वाण प्राप्त करने तक का पूर्ण विवरण भी इसमे दिया गया है। मल्ली भगवती ने गृहस्थ अवस्था मे उस समय की प्रसिद्ध परिव्राजिका चोखा को शुचिमूलधर्म की सदोषता बतलाते हुए विनयमूल धर्म की शिक्षा दी और कहा कि जिस प्रकार रक्तरंजित वस्त्र रक्त से धोने पर स्वच्छ नही किया जा सकता, उसी प्रकार हिसा आदि से मलीनात्मा यज्ञ-यागादि की हिसा से शुद्ध नही किया जा सकता। इस अध्ययन मे प्रसगोपात्त दिया गया अरणक श्रावक और ६ राजाओ का परिचय भी द्रष्टव्य है।

नौवे "माकन्दी अध्ययन" मे बताया गया है कि वासना से चलचित्त होने वाला साधक जिनरक्षित के समान अपने प्राण गवाता और स्थिरचित्त रहने वाला साधक जिनपालित की तरह सदा सुरक्षित रहकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफलकाम होता है।

दशवे "चन्द्र अध्ययन" मे कृष्ण और शुक्लपक्षीय चन्द्रमा की हानि-वृद्धि के उदाहरण से जीव के ज्ञानादि गुणो की हानि-वृद्धि समझाई गई है कि आत्मारूपी चन्द्र का ज्ञान रूपी उद्योत कर्मावरणो के कारण क्षीण और कर्मावरणो के क्षयोपशम से वृद्धिगत होता है।

ग्यारहवे "द्रावद्रव" नामक अध्ययन मे जिनमार्ग की आराधना और विराधना पर विचार व्यक्त किये गए है। वन के वृक्षो की तरह साधक-श्रमण अन्य तीर्थिको की सगति द्वारा आराधना से विचलित होता है तथा सम्यग्ज्ञानियो के ससर्ग से साधनामार्ग मे स्थिर होकर आराधक बनता है।

बारहवे "खातोदक अध्ययन" मे श्रावक सुबुद्धि प्रधान द्वारा जितशत्रु राजा को पुद्गलो के परिवर्तनशील परिणामी स्वभाव को समझाने का उल्लेख किया गया है। मन्त्री ने खाई के गन्दे जल को शुद्धिकारक प्रयोगो द्वारा स्वच्छ, सुस्वादु और सुपेय बना कर यह प्रमाणित किया कि कोई भी वस्तु एकान्तत शुभ अथवा अशुभ नही होती। ससार का प्रत्येक पदार्थ शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ रूप मे परिवर्तित होता रहता है अत एक पर राग और दूसरे पर द्वेष रखना अज्ञान का सूचक है।

तेरहवे "दर्दुर अध्ययन" मे राजगृह नगर के श्रावक नन्द मणिकार का परिचय देते हुए बताया गया है कि सत्सग के अभाव मे नन्द-मणिकार व्रत-नियम करते हुए भी श्रद्धा से विचलित हो गया। उसने अष्टम तप के समय प्यास से व्याकुल होने पर नगरी के बाहर पुष्करिणी बनवाने का निर्णय किया और चार शालाओ के साथ वापी का निर्माण करवा दिया। अन्त मे वापी के प्रति अत्यधिक ममत्व और आर्तध्यान की दशा मे मरकर नन्दन मणिकार ने उसी बावडी मे दर्दुर के रूप मे जन्म ग्रहण किया। एक बार भगवान् महावीर के राजगृह नगर मे पदार्पण की बात सुनकर दर्दुर वन्दन हेतु निकला और मार्ग मे एक घोडे की टाप से घायल हो गया। गम्भीररूपेण घायल होने पर भी दर्दुर ने प्रभु चरणो मे अपना

साधना मे निरत रहने के एक मात्र उद्देश्य को दृष्टि मे रखते हुए साधक आहारादि से किस प्रकार अपने शरीर को प्राण धारण करने योग्य बनाए रखे ।

तीसरे 'मयूराण्ड' नामक अध्ययन मे सार्थवाहपुत्रो के उदाहरण के माध्यम से शास्त्रवाणी मे शका न करने का उपदेश दिया गया है ।

चौथे 'कूर्म-अध्ययन' मे दो कछुओ के उदाहरण से इन्द्रियों को वश मे करने और न करने के लाभ एव हानि का दिग्दर्शन कराते हुए साधक को इन्द्रिय-विजय का उपदेश दिया गया है ।

पाचवे 'थावच्चापुत्र' के अध्ययन मे श्रीकृष्ण वासुदेव के परिवार मे समुद्रविजय आदि दश दशार्ह, उग्रसेन आदि १६ हजार राजा, प्रद्युम्नकुमार आदि साढे तीन करोड कुमार, २१ हजार वीर, ५६ हजार वलवान् और रुक्मिणी आदि ३२ हजार रानियो का उल्लेख किया गया है । इस अध्ययन मे श्रीकृष्ण द्वारा गाथापतिपुत्र थावच्चापुत्र की दीक्षा का समुचित प्रबन्ध करने का, थावच्चापुत्र मुनि द्वारा सेलक राजा को उसके पाच सौ साथियो सहित दीक्षित करने, शुकदेव सन्यासी के साथ धर्मचर्चा का, शुकदेव परिव्राजकाचार्य के प्रतिबुद्ध हो शिष्यो सहित श्रमणधर्म मे दीक्षित होने एव पन्थक मुनि द्वारा सेलक राजर्षि के प्रमाद-परिहार का वर्णन किया गया है ।

छट्ठे अध्ययन मे जीव का तूँबे के उदाहरण से हल्के और भारी होने का स्वरूप समझाया गया है । जिस प्रकार मिट्टी के लेप से भारी बना हुआ तूवा जल मे डूब जाता है और मिट्टी का लेप हट जाने पर ऊपर आकर तैरने लगता है, उसी प्रकार कर्मबन्धन से बन्धा हुआ आत्मा ससारसमुद्र मे डूबता और बन्धन कटने पर हल्का होकर भवसागर को पार कर लेता है ।

सातवे अध्ययन मे धन्ना सार्थवाह की ४ पुत्रवधुओ के उदाहरण से सयमी साधु की योग्यता का मापदण्ड बताया गया है । जैसे श्रेष्ठी की पुत्रवधुओ मे से एक ने श्रेष्ठी द्वारा दिये गए ५ शालीकणों को फैंक दिया, दूसरी ने प्रसाद समझकर खा डाला, तीसरी ने यथावत् सुरक्षित रखा और चौथी ने कृषि के माध्यम से उन पाच शालीकणो को सहस्रो गुना बढाकर श्रेष्ठी के घर मे सम्मान प्राप्त किया उसी प्रकार जो शिष्य गुरु द्वारा दिये गए व्रतों को प्रमाद और खानपान के भोग मे न गवाकर सुरक्षित रखता है अथवा प्रचार-प्रसार के द्वारा बढाता है, वह भी गुरु द्वारा सम्मान प्राप्त करता है ।

आठवे मल्ली अध्ययन में १९ वे तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान् के जन्म, बालक्रीडा, विवाह के लिए ६ राजाओं के आगमन, मल्ली भगवती द्वारा स्वर्ण-पुतलिका के माध्यम से राजाओ को प्रतिबुद्ध कर दीक्षित करने और दीक्षाग्रहण के दिन ही मल्लिनाथ भगवान् द्वारा घाति-कर्मो को क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करने एव चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर भावतीर्थंकर बनने का वर्णन किया गया है । मल्लिनाथ के धर्मपरिवार, विहारक्षेत्र, सहनन, सस्थान, वर्ण और

श्रमण को सहज बने अचित्त आहार के ग्रहण करने मे रागरहित होकर अधिकाधिक साधना हेतु शरीर को बनाये रखने का ही लक्ष्य रखने की शिक्षा दी गई है।

उन्नीसवे पुण्डरीक अध्ययन मे भोगासक्ति का कटु फल बताते हुए विदेह क्षेत्र के पुण्डरीक और कुण्डरीक नामक दो राजकुमारो का उपाख्यान प्रस्तुत किया गया है। उसमे बताया गया है कि पुण्डरीकिणी नगरी के महाराज महापद्म जब ससार की नश्वरता को समझकर श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गये तब उनके ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक राज्य का सचालन करने लगे और उनके छोटे भाई कुण्डरीक युवराज के रूप मे सुखोपभोग करते रहे।

कालान्तर मे मुनि महापद्म विचरण करते हुए पुण्डरीकिणी नगरी मे पधारे, तब महाराज कुण्डरीक और उनके लघु भ्राता दर्शन-वन्दन आदि के लिये मुनि सेवा मे पहुचे। उपदेश श्रवण कर पुण्डरीक ने मुनि महापद्म की सेवा मे श्रामण्य स्वीकार कर लिया। बहुत काल पश्चात् अनेक स्थानो में भ्रमण करते हुए कुण्डरीक मुनि पुन उस नगर मे आये। उस समय उनके शरीर मे दाहज्वर का प्रकोप था। राजा ने उनकी मुनिधर्म के अनुकूल औषधोपचारादि की समुचित व्यवस्था कर दी। परिणामत मुनि कुण्डरीक कुछ ही समय मे पूर्णत स्वस्थ हो गये। जब मुनि स्वस्थ हो जाने पर भी विहार के प्रति उपेक्षा एव उदासीनता दिखलाने लगे तो राजा ने उन्हे समझा-बुझाकर विहार करवाया। अनिच्छा होते हुए भी मुनि ने विहार तो कर दिया पर उनका मन राज्य भोगो मे विलुब्ध हो चुका था अत कुछ ही काल के पश्चात् वे पुन पुण्डरीकिणी नगरी मे लौटे और नगरी के बाहर एक उद्यान मे विराजमान हुए। मुनि के आगमन की सूचना प्राप्त होते ही राजा उन्हे वन्दन-नमन करने हेतु उद्यान मे पहुचा और मुनि को चितित देखकर बोला – "महाराज! आप धन्य है, जो विषय-कपायो के प्रगाढ बन्धन काट कर सयमसाधना करते हुए विचरण कर रहे है। मै अधन्य हूँ, जो अभी तक राज्य के प्रपचो मे उलझा हुआ हूँ।"

राजा द्वारा इस प्रकार की बात के पुन पुन दोहराये जाने पर भी मुनि ने जब उस पर कोई ध्यान नही दिया तो राजा ने मुनि से पूछा – महाराज! आपको भोग से प्रयोजन है अथवा योग से?"

मुनि कुण्डरीक ने दबे स्वर मे कहा – "भोग से।"

अनेक प्रकार से समझाने पर भी जब कुण्डरीक सयम-मार्ग मे स्थिर नही हुए तो राजा पुण्डरीक ने अपने छत्र, चामरादि राजचिन्ह मुनि कुण्डरीक को देकर उसे राज्य सिहासन पर आसीन किया और स्वय शासनहित और वश की प्रतिष्ठा को उज्ज्वल बनाये रखने हेतु राज्यवैभव का तृणवत् त्याग कर कुण्डरीक के धर्मोपकरण धारण कर सयम मार्ग मे दीक्षित हो गये।

मुनि पुण्डरीक विहार करते हुए स्थविरो के पास पहुचे और उनसे चातुर्याम धर्म स्वीकार कर निरन्तर छट्ठ-छट्ठ तप करते हुए तप की जाज्वल्यमान ज्वाला

वित्त स्थिर रखा और अन्त मे समाधिपूर्वक प्राण-त्याग कर वह स्वर्ग का अधिकारी बना।

चौदहवे 'तेतलीपुत्र' के अध्ययन मे बताया है कि दु खावस्था मे मनुष्य को सत्सग और धर्म जितना प्रिय लगता है उतना सुखावस्था मे नही लगता। इसमे मित्र और प्रेमी का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह अपने सखा एव प्रियजन को सब प्रकार से धर्ममार्ग पर लगाने का प्रयत्न करे। पोटिल देव ने तेतली प्रधान को विविध प्रकार के कष्ट पहुंचाकर भी सयम-धर्म के अभिमुख किया। वस्तुत इसी को उपकारियों के प्रत्युपकार का सही मार्ग बताया गया है।

पन्द्रहवे नन्दीफल अध्ययन मे बतलाया गया है कि नन्दीफल की तरह अज्ञातफल मे लुभाने वाले को जीवन से हाथ धोना पडता है। इसमे यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञानी को किसी भी दशा मे रसना के अधीन नही होना चाहिये।

सोलहवे "अमरकंका अध्ययन" मे पाण्डवपत्नी द्रौपदी का पद्मनाभ द्वारा हस्तशीर्ष नगर से अपहरण और श्रीकृष्ण द्वारा अमरकंका मे जाकर पद्मनाभ को पराजित करना, द्रौपदी को पुन. प्राप्त करना, लौटते समय कारणवशात् अप्रसन्न हो श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवो का निर्वासन, कुन्ती की प्रार्थना से द्रवित हो समुद्रतट पर मथुरा बसा कर पाण्डवो को वहाँ रहने की अनुमति, स्थविरो की वाणी सुनकर पाण्डवो द्वारा मुनिव्रत ग्रहण और संयम एव तप की साधना से निर्वाण-प्राप्ति बतलाई गई है। इसमे यह भी बताया गया है कि द्रौपदी ने अपने पूर्वभव मे नागश्री ब्राह्मणी के रूप मे तपस्वी मुनि को कड़वे तूँबे का साग बहरा कर दुर्लभ-वोधि की स्थिति का उपार्जन किया और उसके फलस्वरूप अनेक भवों मे जन्म-मरण के दु ख सहन कर वही नागश्री द्रौपदी के रूप मे उत्पन्न हुई और अन्त मे साधना कर ब्रह्मलोक मे उत्पन्न हुई। द्रौपदीहरण के प्रसग मे यहा "कछुल्ल नारद" की करतूतो का भी परिचय मिलता है।

सत्रहवे अध्ययन मे समुद्री अश्व के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है कि शब्द-रूप आदि विषयों मे लुभाने वाले व्यक्ति समुद्री अश्व की तरह पराधीन होते है और विषयो से विरक्त रहने वाले स्वाधीन होकर आत्मसुख के अधिकारी होते है।

अठारहवे "सुसुमा" नामक अध्ययन मे धन्ना सार्थवाह के उदाहरण से वताया गया है कि साधक को जीवन-निर्वाह के लिये उदासीन भाव से आहार ग्रहण करना चाहिये। धन्ना सार्थवाह और उसके पुत्रो ने सुसुमा के अपहरणकर्त्ता चौरराट् का भीषण-अटवियो में निरन्तर पीछा करते हुए जिस प्रकार भूख के कारण मरणासन्न स्थिति मे चिलात द्वारा मार कर पटकी हुई सुसुमा दारिका की मृत देह से अपनी क्षुधानिवृत्ति की, उसमे आत्मीयता के कारण मृत दारिका के मासभक्षण मे धन्ना आदि के मन मे किंचित्मात्र भी राग का अश नही हो सकता, केवल प्राणरक्षा का ही विचार हो सकता है। ठीक उसी प्रकार साधक
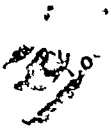
इसके १० अध्ययनो मे आनन्द आदि विभिन्न जाति व व्यवसाय वाले श्रावको की जीवनचर्या का वर्णन किया गया है।

प्रथम अध्ययन मे आनन्द गाथापति के सामाजिक जीवन का परिचय देते हुए उसकी १२ करोड सम्पदा को तीन भागो मे बाट कर रखने, ४० हजार पशु और स्व-पर समाज मे उसकी आदर्श प्रामाणिकता का परिचय दिया गया है। आनन्द द्वारा भगवान् महावीर के पास अहिंसादि ५ अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप द्वादशविध श्रावकधर्म स्वीकार करने का उल्लेख है। करोडो की सम्पदा के होते हुए भी उस समय के नागरिक-जीवन मे आहार-विहार एव परिधान का कैसा सादापन था, इसका आनन्द के जीवन से सही परिचय प्राप्त होता है। इसमे आगे बताया गया है कि श्रावकधर्म ग्रहण करने के १४ वर्ष पश्चात् आनन्द ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर कोल्लाग सन्निवेश की निजी पौपधशाला मे पडिमाधारी जीवन से विरक्ति मार्ग की साधना की और अन्त समय मे अवधिज्ञान के साथ आजीवन अनशनपूर्वक काल कर वह प्रथम स्वर्ग का अधिकारी बना।

दूसरे अध्ययन मे उपासक कामदेव के व्रतग्रहण और साधनापूर्ण जीवन का परिचय देते हुए बतलाया गया है कि कामदेव ने देवता द्वारा उपस्थित किये गए पिशाच, सर्प, हाथी आदि के विविध उपसर्गो मे भी अविचल रहकर अपनी धार्मिक दृढता का परिचय दिया। देव ने पिशाच एव हाथी आदि के रूप से उसे खूब डराया, धमकाया और मारणान्तिक कष्ट देने मे भी किसी प्रकार की कमी नही रखी पर कामदेव पूर्णत अचल रहा, जिसकी भगवान् महावीर ने भी श्रमण-मण्डल के सम्मुख प्रशसा की।

तीसरे अध्ययन मे चुलणीपिता श्रावक की जीवनचर्या का वर्णन है। इसमे बताया गया है कि चुलणीपिता के यहा ८ गोकुल (८० हजार पशु) एव २४ करोड की सम्पदा थी।

चौथे और पाचवे अध्ययन मे क्रमश सुरादेव और चुलणिशतक के छ-छ गोकुलो (६०-६० हजार पशुओ) और आठ-आठ करोड की सम्पदा का उल्लेख है। इन तीनो श्रावको ने भगवान् महावीर से धर्म-श्रवण किया और अन्त मे ५ वर्ष तक पडिमाधारी के रूप मे विरक्तजीवन की साधना करते हुए समाधि-मरण से आयु पूर्ण कर प्रथम स्वर्ग मे देवत्व प्राप्त किया।

छठे अध्ययन मे उपासक कुण्डकौलिक के साथ अशोकवनिका मे नियति-वादी देव के सवाद की चर्चा की गई है। देव ने श्रावक की नामाकित मुद्रिका और ओढने का चादर उठाकर आकाश मे स्थित हो कुण्डकौलिक से कहा — "भगवान् महावीर का उत्थान, क्रम, बलवीर्य वाला मार्ग ठीक नही है। गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है। क्योकि उसमे उत्थान, क्रम, बलवीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम की आवश्यकता नही होती।"

मे अपने कर्मसमूह को जलाने लगे। प्रतिकूल, अन्त प्रान्त और निस्सार आहार के कारण मुनि पुण्डरीक के शरीर मे प्रबल व्याधि उत्पन्न हो गई पर वे संयम मार्ग में पूर्णरूपेण स्थिर रहे। मुनि पुण्डरीक ने जब देखा कि उनका शरीर असाध्य रोग से ग्रस्त होने के कारण उपचार की स्थिति मे नही है तो उन्होने सभी प्रकार के मोह-ममत्व का परित्याग कर स्थितप्रज्ञ हो आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया और वे समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान मे तेतीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप मे उत्पन्न हुए।

इधर कुण्डरीक राज्यसिहासन पर आरूढ होते ही स्वच्छन्द रूप से यथेप्सित भोगोपभोगो मे निरन्तर आसक्त रहने लगा। विषयासक्ति और आहारादि के असयम के परिणामस्वरूप भीषण दाहज्वर की असह्य पीड़ा ने उसे धर दबाया। राज्य, राष्ट्र और अन्त पुर के भोगो मे मूच्छित बना हुआ वह रौद्रभाव मे करालकाल का कवल बनकर सातवी नरक मे उत्पन्न हो घोर दु खो का भागी बना।

इस प्रकार सयम लेकर पुन· भोगो मे आसक्त होने वाला व्यक्ति कुण्डरीक की तरह घोर दु खो का भागी बनता है, यह इस अध्ययन मे बताया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गो मे चमरेन्द्र, बलीन्द्र, धरणेन्द्र, पिशाचेन्द्र, महाकालेन्द्र, शक्र एव ईशानेन्द्र की अग्रमहीषियो के रूप मे उत्पन्न होने वाली साध्वियो की पुण्य कथाएं विविध अध्ययनो के रूप में दी गई है। दशो वर्गो मे कुल २०६ अध्ययन है। इनमे वर्णित अधिकाश वृद्धकुमारिया भगवान् पार्श्वनाथ के शासन मे दीक्षित होकर उत्तरगुण की विराधना के कारण देवियो के रूप मे उत्पन्न हुई वताई गई है। उन साधिकाओ के देवियो के रूप मे उत्पन्न होने पर भी उनका उन्ही नामों से परिचय दिया गया है जो नाम उनके मानवभव मे थे।

इस अग मे उल्लिखित धर्मकथाओ मे पार्श्वनाथकालीन जनजीवन, विभिन्न मतमतान्तर, प्रचलित रीतिरस्म, नौका सम्बन्धी साधन सामग्री, कारागार पद्धति, राज्य व्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक एव धार्मिक परिस्थितियो आदि का वडा सजीव वर्णन किया गया है।

७. उवासगदसाओ

उवासगदसाओ – नामक सातवें अंग मे नाम के अनुसार दश उपासक गृहस्थो का वर्णन किया गया है। उनके अध्ययन भी दश है अत शास्त्र का नाम उपासकदशा युक्तिसंगत है।

इसमे १ श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, १० उद्देशनकाल और १० ही समुद्देशन-काल कहे गये है। इसमे संख्यात हजार पद, सख्यात अक्षर, संख्यात निरुक्तियां, सख्यात सग्रहणिया, सख्यात प्रतिपत्तिया और सख्यात श्लोक वताये गए है। वर्तमान मे इस आगम का परिमाण ८१२ श्लोक-प्रमाण है।

महावीर उस समय राजगृह नगर मे ही विराजमान थे। उन्होने अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम द्वारा महाशतक को भूलसुधार के लिए प्रेरित किया।

नौवे अध्ययन मे नन्दिनीपिता और दशवे अध्ययन मे सालिहीपिता नामक दो श्रावको के जीवन का परिचय दिया गया है। उन दोनो के यहा चालीस-चालीस हजार पशु और वारह-वारह करोड की सम्पदा थी। अन्त मे इन दोनो श्रावको ने भी पडिमाधारीपन की साधना कर आरम्भ-परिग्रह से विरक्ति स्वीकार की और अन्त समय मे अनशनपूर्वक काल कर प्रथम स्वर्ग मे महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुए।

शास्त्र मे वर्णित ये सभी श्रावक वारह व्रतधारी उपासक थे। महाशतक को छोड सवने एक-एक पत्नी के अतिरिक्त मैथुन-सेवन का त्याग कर रक्खा था। सवने १४ वर्ष तक उपासक धर्म की पालना कर १५ वे वर्ष श्रमणधर्म के निकट पहुचने की भावना से अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रो को गार्हस्थ्य सम्हला कर श्रावक के वेश मे शनै शनै आरम्भ-परिग्रह का त्याग वढाकर अन्त मे श्रमण-भूत प्रतिमा मे साधु की तरह त्रिकरण त्रियोग से पाप-निवृत्ति की साधना की।

आनन्द की साधना उपसर्ग रहित रही पर अन्य उपासको – कामदेव से महाशतक तक को देवकृत उपसर्ग और शेष तीन को स्त्री का उपसर्ग होना वताया गया है। सवने २० वर्ष की अवधि तक श्रावक धर्म का पालन कर सद्गति प्राप्त की और आगामी भव मे महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर वे सब मोक्ष के अधिकारी बनेगे।

उपासकदशा का महत्व

सद्गृहस्थो – श्रावक-श्राविकाओ के गृहस्थ धर्म पर समीचीनतया पूर्ण रूपेण प्रकाश डालने वाला यह सातवा अग उपासकदशा वस्तुत सभी गृहस्थो के लिए वडा ही उपयोगी है। इसमे जिस प्रकार के सदाचार का दिग्दर्शन कराया गया है, उसके अनुसार यदि प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवन को ढालने का प्रयास करे तो यह मानवता के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है।

इसमे तत्कालीन भारत और भारतीयो के अतुल धनवैभव, अनुकरणीय सदाचार, उन्नत विचार, सुखपूर्ण आदर्श जीवन और प्रगाढ धर्मानुराग के दर्शन होते है।

८. अतगडदसाओ

आठवा अग अन्तकृत्दशा है। इसमे १ श्रुतस्कध, ८ वर्ग, ९० अध्ययन, ८ उद्देशनकाल और ८ ही समुद्देशनकाल तथा परिमित वाचनाए है। इसमे अनुयोगद्वार, वेढा, श्लोक, निर्युक्तिया, सग्रहणिया, एव प्रतिपत्तिया सख्यात-सख्यात है। इसके पद-सख्यात हजार और अक्षर-सख्यात वताये गये है। वर्तमान मे यह अगशास्त्र ९०० श्लोकपरिमाण का है। इसके आठो वर्ग क्रमश १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३ और १० अध्ययनो मे विभक्त है। प्रस्तुत सूत्र मे

इस पर कुण्डकौलिक श्रावक ने देव से पूछा – "तुमने देवभव किस तरह से प्राप्त किया है ?"

गृहस्थ श्रावक भी उस समय धर्म-मर्म के ज्ञाता और दृढ श्रद्धालु होते थे, इसका कुण्डकौलिक के जीवन से सहज ही परिचय हो जाता है ।

सातवे अध्ययन मे कुम्भकार सद्दालपुत्त की जीवनचर्या का वर्णन किया गया है । यह पहले मखलिपुत्र गोशालक का उपासक था । फिर एक देव द्वारा प्रेरणा पाकर भगवान् महावीर को वन्दन करने गया । उनकी देशना सुनने पर उसके हृदय मे कुछ श्रद्धा एव जिज्ञासा जागृत हुई । उसने भगवान् कहावीर को अपनी कुम्भकारशाला मे पधारने की प्रार्थना की । प्रभु भी अवसर देखकर वहा पधारे और उन्होने सकडालपुत्र के साथ नियतिवाद की यथार्थता पर चर्चा की । प्रभु ने पूछा – "सकडाल ! घडा कैसे बनता है ?"

सकडाल ने घटनिर्माण की सारी प्रक्रिया कह सुनाई । प्रभु ने कहा – "यदि कोई दुर्मति पुरुष धूप मे सूखते हुए तेरे घडों को पत्थर मारकर फोडने लगे और तेरी प्रिय पत्नी अग्निमित्रा के साथ छेडछाड एवं कुचेष्टा करे तो तू क्या करेगा ? यदि तेरी मान्यता के अनुसार यह सब कुछ नियतिकृत है तो तुझे उन दुष्ट पुरुषो पर रुष्ट होने एव उनको मारने-पीटने की चेष्टा करना उचित नही । यदि तू उन पर रोष करता है और अपराध का दण्ड देने के लिए उन्हे मारता-पीटता है तो नियतिवश सब कार्य का होना मानना टीक नही ।"

प्रभु महावीर के इस प्रकार के हृदयग्राही एव तर्कपूर्ण विचारों से प्रभावित हो सकडाल महावीर भगवान् की धर्मप्रज्ञप्ति का अनुयायी बन गया ।

सकडाल के यहा ३० हजार पशु और १ करोड की सम्पदा एव ५०० दुकाने थी । गोशालक सकडाल के मतपरिवर्तन की सूचना पाकर उसे समझाने आया पर सकडाल पुरुषार्थवाद की सम्यक् श्रद्धा पर इतना दृढ हो गया था कि उसने गोशालक को आदर से देखा तक नही । गोशालक ने भगवान् महावीर की स्तुति कर उसे आकर्षित करने का प्रयत्न किया । अन्त मे ५ वर्ष तक पडिमाधारी रूप से विरक्तभाव की साधना कर सकडाल ने भी अनशनपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया ।

आठवे अध्ययन में उपासक महाशतक की चर्या का वर्णन किया गया है । उसके ८० हजार पशु, २४ करोड की सम्पदा और रेवती आदि १३ स्त्रियों का परिवार था । पापकर्म के उदय से रेवती अनार्य कर्म करने लगी । मोहोदय से उसको महाशतक का धार्मिक जीवन अप्रीतिकर लगने लगा । एक बार वह मद्य के उन्माद मे उन्मत्त होकर धर्मसाधना मे निरत महाशतक के पास जाकर यद्वा-तद्वा बोलने लगी । महाशतक ने परिवार से विरक्त हो एकान्तसेवन चालू कर रखा था अत. रेवती के दुर्वचनो को सुनकर भी वह कुछ काल तक शान्त रहा पर रेवती जब अपने असंगत प्रलाप से बाज नही आई तो रुष्ट हो महाशतक ने उसे सातवे दिन मर कर छट्ठी नरक में जाने का अनिष्ट भविष्य सुना डाला । भगवान्

के अधिकारी हो सकते है। निरन्तर ६ मास तक सात-सात मनुष्यो की हत्या करने वाला अर्जुन माली भी क्षमतापूर्वक तप की साधना से ६ माह की अल्प अवधि मे ही मुक्ति का अधिकारी हो गया। सचमुच ही वीतराग-मार्ग पतितपावन है। अवस्था की दृष्टि से अतिमुक्त कुमार जैसा ७ वर्ष का बालक भी सयममार्ग की साधना के माध्यम से नर से नारायण और जीव से शिव पद की प्राप्ति का अधिकारी बताया गया है।

सातवे और आठवे वर्ग के २३ अध्ययनो मे नन्दा नन्दमती एव काली, सुकाली आदि श्रेणिक की २३ रानियो के साधनामय जीवन का वर्णन है। इन सब महासतियो ने मुक्तावली, रत्नावली, कनकावली, लघुसिहविक्रीडित, और महासिह-विक्रीडित, लघुसर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर एव आयबिल वर्द्धमान जैसे तपो के द्वारा कर्मक्षय कर सिद्धि प्राप्त की।

अन्तकृत् दशा सूत्र की यह विशेपता है कि इसमे तद्‌भवमोक्षगामी जीवो का ही वर्णन किया गया है। यह भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय थी कि राजघराने के नरनारी विपुल ऐश्वर्य एव अपरिमित भोगो को त्यागकर बडी सख्या मे त्याग की ओर अग्रसर हुए।

अन्तकृत् दशा के उपलब्ध अध्ययनो के अतिरिक्त स्थानाग सूत्र मे अन्य १० अध्ययनो का भी उल्लेख मिलता है। जैसे

नमी मयगे सोमिल्ले, रामगुत्ते सुदसणे।
जमाली अ भगाली अ किकमे पल्लए इअ॥
फाले अ अट्ठपुत्ते य एमे ते दस आहिया॥

[स्थानागसूत्र, स्थान १०]

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा मे भी अन्तकृत्दशा और अनुत्तरोववाइय दशा के इन दश अध्ययनो के नाम उपलब्ध होते हैं। आचार्य अकलक ने अपने ग्रन्थ राजवार्तिक मे प्राय इसी रूप मे इन अध्ययनो का उल्लेख किया है। धवला, जयधवला, अगपण्णत्ती[1] आदि मे भी इन दोनो अगो के अध्ययनो का उल्लेख है और वे राजवार्तिक तथा स्थानाग मे लिखित नामो से मिलते-जुलते हैं।

वर्तमान मे उपलब्ध अन्तकृत् दशा मे इन नाम वाले १० अध्ययनो का बिल्कुल उल्लेख न होकर अन्य पात्रो का जो वर्णन मिलता है इसका प्रमुख कारण वाचना-भेद ही हो सकता है।

६ अणुत्तरोववाइयदसा

द्वादशागी के क्रम मे अनुत्तरोपपातिकदशा नौवा अग है। इसमे १ श्रुतस्कध ३ वर्ग, ३ उद्देशनकाल, ३ समुद्देशनकाल, परिमित वाचनाए, सख्यात अनुयोगद्वार,

---

[1] मायग रामपुत्तो सोमिल जमलीकणाम किक्कवी।
सुदसणो बलीको य णमी अवसट्ठ पुत्तया॥ ५१॥ [अंग पण्णत्ती]

भवभ्रमण का अन्त करने वाले साधकों की साधनादशा का वर्णन होने के कारण इसका नाम अन्तकृद्दशा रखा गया है।

अंतकृद्दशा के प्रथम दो वर्गो मे गौतम आदि वृष्णि कुल के १८ राजकुमारो की साधना का वर्णन है। उनमे से १० का दीक्षा काल १२-१२ वर्ष का और शेष ८ का १६-१६ वर्ष बताया गया है। इन सभी उच्चकुलीन राजकुमारो ने गुणरत्नसवत्सर जैसे कठोर तप की आराधना कर एक-एक मास की सलेखना से सब दु खो का अन्त कर मुक्ति प्राप्त की।

तीसरे वर्ग के १३ और चौथे वर्ग के १० अध्ययनो मे वर्णित २३ चारित्रात्मा भी श्री वसुदेव, श्री कृष्ण, श्री बलदेव और श्री समुद्रविजय के राजकुमार बताये गये है। उन सभी ने भगवान् नेमिनाथ की सेवा मे मुनिव्रत ग्रहण कर अनेक वर्षो तक सयमधर्म की पालना और कठोर तपश्चरण करते हुए समस्त कर्मो का अन्त कर अजरामर सिद्धपद प्राप्त किया।

इनमे से श्रीकृष्ण के अनुज गजसुकुमाल ने बिना दीर्घकाल की श्रमणपर्याय के एक ही दिन की साधना द्वारा आत्मस्वरूप में लीन होकर समस्त कर्मो का एक अन्तर्मुहूर्त मे ही अन्त कर दिया। सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल के शिर पर भीगी मिट्टी की पाज बाध कर खैर के प्रदीप्त अगारे रख दिये पर वे तन मन से अडोल निष्कप, शान्त और आत्मस्वरूप मे लीन रहे। कैसी अद्भुत क्षमता थी ? केवल कुछ ही क्षणो की ज्ञानाराधना थी पर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की उत्कृष्टतम आराधना द्वारा उन्होने अन्तर्मुहूर्तकाल मे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति कर ली। गजसुकुमाल की अति स्वल्पकालीन सफल साधना इस वात का ज्वलत प्रमाण है कि सम्यग्ज्ञान स्वल्पतर होते हुए भी यदि अन्तस्तलस्पर्शी अथवा अन्तर्मुखी है तो वह बिना दीर्घकाल की तपस्या के भी सिद्धि प्रदान कर सकता है।

पचम वर्ग मे वताया गया है कि राजकुमारो की तरह राजरानिया भी सयमसाधना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकती है, स्त्रियो को भी पुरुषो के समान ही तद्भव मोक्षगमन का अधिकार है। श्रीकृष्ण की पद्मावती आदि रानियो और पुत्रवधुओ ने भी बीस २ वर्ष के दीक्षाकाल मे ११ अगो का ज्ञान प्राप्त कर दीर्घकालीन कठोर तपश्चर्या द्वारा सकल दु खो का अन्त कर शाश्वत शिवपद प्राप्त किया।

उपरोक्त पाच वर्गो मे वर्णित सब साधक-साधिकाओ ने भगवान् नेमिनाथ के धर्मशासन मे मुक्ति प्राप्त की फिर भी उन सबका साधनापूर्ण जीवन साधनापथ मे मार्गदर्शक है, इसलिये उनके उत्कृष्ट जीवनचरित्र भगवान् महावीर के शासनवर्ती "अन्तगडसूत्र" मे सम्मिलित किये गये है।

छठे वर्ग में भगवान् महावीर के शासनवर्ती विभिन्न श्रेणी के १६ साधको का वर्णन हे। इन अध्ययनो से प्रमाणित किया गया है कि साधना मे कुल, जाति व अवस्था का वर्गभेद नही होता। गाथापति, माली, राजा और बालक भी साधना

१०. पण्हावागरण

दशवा अग प्रश्नव्याकरण (पण्हावागरण) है, इसका द्वादशागी के क्रम मे दशवा स्थान है। समवायाग, नन्दीसूत्र और स्थानाग तथा दिगम्बर परम्परा के अगपण्णत्ति आदि ग्रन्थो मे प्रश्नव्याकरण सूत्र का जिस प्रकार का परिचय दिया गया है उससे वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण का मेल नही बैठता, यह एक विचारणीय विपय है। समवायाग सूत्र मे प्रश्नव्याकरण का परिचय निम्नलिखित रूप मे दिया गया है –

"प्रश्नव्याकरण सूत्र मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न[1], विद्यातिशय, नागकुमार, सुपर्णकुमार अथवा यक्षादि के साथ साधको के जो दिव्य सवाद हुआ करते है – उन सव विपयो का निरूपण किया गया है। स्वकीय तथा परकीय सिद्धान्त के प्रज्ञापक प्रत्येक बुद्धो ने विविध अर्थ वाली भापाओ द्वारा जिन प्रश्नो का प्रतिपादन किया, विशिष्ट लब्धिसम्पन्न, उपशान्तकपाय, अनेक गुणो और योग्यताओ से सम्पन्न महान् आचार्यो ने जिन प्रश्नो का कथन किया, जिनशासन मे हुए अनेक महर्पियो ने जिन प्रश्नो को अनेक प्रकार के विस्तार के साथ कहा है, जगत् के उपकारक जो प्रश्न दर्पण, अगुष्ट, वाहु, खड्ग, मरकतादि मणि, अतसी अथवा कपास से निर्मित वस्त्र, सूर्य, भित्ति, शख घण्टा आदि से सम्वन्ध रखते है, उन सव प्रश्नो का, देवसहायप्राप्त महाप्रश्न विद्याओ तथा मन प्रश्न विद्याओ का, लब्ध्यतिशय से सवको विस्मय मे डाल देने वाले प्रश्नो का, अनन्त अतीत मे हुए तीर्थकरो की सत्ता को सिद्ध करने मे समर्थ प्रश्नो का और प्रश्न-विद्याओ के अद्‌भुत गुणो का निरूपण प्रश्नव्याकरण मे किया गया है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे १ श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, सख्यातसहस्र पद, सख्यात अक्षर, परिमित वाचनाए, सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तिया, सख्यात सग्रहणिया और सख्यात ही प्रतिपत्तिया है।"

नदीसूत्र मे प्रश्नव्याकरण सूत्र का परिचय देते हुए वताया गया है – "दशवे अग प्रश्नव्याकरण मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एव १०८ प्रश्नाप्रश्न – जेसे कि अगुष्ठप्रश्न, वाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि (जिनमे मत्र अथवा विद्या के प्रभाव से अगुष्ठ, भुजा एव दर्पण आदि शुभाशुभ का कथन कर देते है) विचित्र प्रभावशाली विद्याओ का वर्णन तथा साधको के साथ नाग कुमारो, सुपर्णकुमारो आदि भुवनपति देवो के सवादों का वर्णन है। इसमे १ श्रुतस्कन्ध, ४५ अध्ययन,

---

[1] नदी-मलय वृत्ति के अनुसार जिन मत्रो-विद्याओ द्वारा अगुष्ठ, वाहु आदि के प्रश्न के माध्यम से शुभाशुभ का कथन किया जाता है, उन्हे प्रश्न, और जिन विद्याओ अथवा मत्रो के द्वारा विना किसी प्रकार का प्रश्न किये ही शुभाशुभ का कथन किया जाता है उन्हे अप्रश्न और जिन मत्रो अथवा विद्याओ द्वारा अगुष्ठ आदि के प्रश्न तथा अप्रश्न दोनो से सम्वन्ध रखकर शुभाशुभ का कथन किया जाता है उन्हे प्रश्नाप्रश्न कहा गया है।

[सम्पादक]

सख्यात वेढा छन्द, सख्यात श्लोक, सख्यात निरुक्तिया, सख्यात सग्रहणिया, सख्यात प्रतिपत्तिया, संख्यात हजार पद और सख्यात अक्षर है। वर्तमान मे यह सूत्र १९२ श्लोकपरिमाण का है।

इस अग मे ऐसे महापुरुषो का चरित्र दिया गया है जिन्होने घोर तपश्चरण और विशुद्ध सयम की साधना के पश्चात् मरण प्राप्त कर अनुत्तरविमानो मे देवत्व प्राप्त किया और वहा से च्यवन कर मनुष्य भव मे सयमधर्म की सम्यग् आराधना कर मुक्ति प्राप्त करेगे।

अनुत्तरोपपातिक दशा के तीन वर्गो मे क्रमश १०, १३ और १० इस प्रकार कुल मिला कर ३३ अध्ययनो मे ३३ चरित्रात्माओ का सक्षिप्त वर्णन है। उन ३३ महापुरुषो मे से प्रथम जालीकुमार आदि २३ तो मगधसम्राट् श्रेणिक के पुत्र थे। उन २३ राजकुमारो मे से कतिपय राजकुमारो की माता धारिणी, कुछ की चेलना तथा कतिपय की नन्दा थी।

तीसरे वर्ग के धन्य आदि १० चरित्रात्मा काकन्दी नगरी की सार्थवाहपत्नी भद्रा के पुत्र थे। इसमे धन्ना के यहा करोडो की सम्पदा और ३२ पत्निया होने का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुन कर धन्ना को वैराग्य उत्पन्न हुआ। प्रभु चरणो मे दीक्षित होने के पश्चात् धन्ना अणगार ने जीवन भर के लिए छट्ठ-छट्ठ तप से पारणा करने की प्रतिज्ञा की। बेले के पारणे मे भी आयम्बिल (आचाम्ल) का रूक्ष भोजन जो गृहस्थ के यहा बाहर फैकने योग्य होता उसे धन्ना मुनि ग्रहण करते। घोर तपश्चरण के कारण उनका रक्त एव मास सूख गया और उनका शरीर केवल अस्थिपंजर सा प्रतीत होता था।

एक बार मगधाधिपति श्रेणिक द्वारा यह पूछने पर कि १४,००० साधुओ में से कौनसा मुनि दुष्करकारक है, भगवान् महावीर ने धन्ना मुनि को ही अपने समस्त श्रमणोत्तमों मे सर्वोत्तम श्रमण वताया।

धन्ना अणगार ने ९ मास की स्वल्पकालीन साधना से ही आयु पूर्ण की। तपस्या से मुनि धन्ना का शरीर इतना क्षीण हो गया था कि उसमे रक्त-मास का कही पता तक नही लगता था। वे अपने चर्मावनद्ध अस्थिमात्रावशिष्ट शरीर को ही मनोबल से चलाते रहे। अन्त मे सलेखनापूर्वक एक मास के अनशन से वे सर्वार्थसिद्ध विमान मे देव रूप से उत्पन्न हुए।

स्थानाग, राजवार्तिक और अगपण्णत्ती[1] आदि मे इसके १० अध्ययनो के नाम दिये गए है, उनमे से कुछ वर्तमान मे उपलब्ध अनुत्तरोपपातिकदशा मे मिलते है।

---

[1] .... , उजुदासो सालिभद्दक्खो।
सुणक्खत्तो अभयो वि य धण्णो वरवारिसेणणंदणया।
णंदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तह अण्णो ।। ५५ ।। [अग पण्णत्ती]

निकाल दी गई और उनके स्थान पर आश्रव एव सवर का समावेश कर दिया गया।" [1]अभयदेव सूरि का यह कथन ठीक प्रतीत होता है।

आगम के मूलपाठ से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि भूतकाल की घटनाओ एव अतीन्द्रिय विपयो के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष के समान प्रतीति कराने वाली चमत्कारपूर्ण दर्पणप्रश्न; अगुष्ठप्रश्न, वाहुप्रश्न आदि अनेक विद्याए इस अग मे विद्यमान थी। उन प्रश्नो द्वारा अत्यन्त निगूढ मनोगत प्रश्नो तक का पूर्ण प्रतीतिकारक वास्तविक उत्तर दे दिया जाता था और इस प्रकार के अत्यद्भुत चमत्कार से लोगो के हृदय मे दृढ विश्वास उत्पन्न हो जाता था कि अतीत काल मे तीर्थंकर निश्चित रूप से हुए है तभी उन्होने इस प्रकार के अलौकिक प्रश्नो का प्रतिपादन किया है। यदि अतिशय ज्ञानी तीर्थंकर नही हुए होते तो इस प्रकार के प्रश्नो (विद्याओ) का प्रादुर्भाव ही नही होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन सिद्धान्त के अनुरूप आरम्भ-समारम्भ पूर्ण विद्याओ एव निमित्तकथन आदि से सर्वथा वचते हुए आध्यात्मिक अभ्युन्नति, प्रतीति अथवा धर्माभ्युदय हेतु अपवाद रूप से ही इस प्रकार की विद्याओ का उपयोग किया जाता होगा। परन्तु कालप्रभाव से परिवर्तित परिस्थितियो मे पूर्वाचार्यो को आध्यात्मिक अभ्युत्थान मे सहायक उन विद्याओ के दुरुपयोग की आशका हुई तो उन्होने उन विद्याओ को इस अग मे से निकाल दिया।

वास्तविकता क्या है, यह वस्तुत विद्वानो के लिए गहन शोध का एक अच्छा विषय है। वर्तमान मे प्रश्नव्याकरणसूत्र १३०० श्लोकप्रमाण कहा जाता है।

वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरणसूत्र के दोनो श्रुतस्कन्धो मे प्रतिपादित विषय का साराश इस प्रकार है :–

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे ५ आश्रव द्वारो का निरूपण किया गया है।

१. प्रथम 'अधर्मद्वार' मे हिसा का पाच प्रकार से वर्णन किया गया है। वीतराग जिनेश्वर ने हिसा को पापरूप, अनार्य (कर्म) और नरक गति मे ले जाने वाला बताया है। प्राणवध आदि इसके ३० नाम दिये गए है। इसमे यह समझाया गया है कि असयमी, अविरति और मन, वाणी तथा कार्य के अशुभ योग वाले जीव, पशु-पक्षी-कीटादि जीवो की हिसा करते है। त्रस जीवो की हिसा

---

[1] अथ प्रश्नव्याकरणाख्य दशमाग व्याख्यायते। अथ कोऽस्याभिधानस्यार्थ ? उच्यते प्रश्ना अगुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियतेऽस्मिन्निति प्रश्नव्याकरण। क्वचित्प्रश्नव्याकरणदशा इति दृश्यते तत्र प्रश्नाना विद्याविशेषाणा यानि व्याकरणानि तेषा प्रतिपादनपरादशा-दशाध्ययनप्रतिवद्धा' ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशाः। अय च व्युत्पत्यर्थोऽस्य-पूर्वकालेऽभूदिदानी त्वाश्रवपचक सवरपचकव्याकृतिरेवेहोपलभ्यतेऽतिशयाना पूर्वाचार्यैर्-दयुगीना पुष्टालबनप्रतिषेविपुरुषापेक्षयोत्तारितत्वादिति।

[प्रश्नव्याकरण, अभयदेवसूरिकृता टीका, पृ० १ (धनपतिसिंह)]

४५ उद्देशनकाल, सख्यातसहस्र पद[1], सख्यात अक्षर, परिमित वाचनाए, सख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिया, सख्यात सग्रहणिया और सख्यात ही प्रतिपत्तिया है।"

स्थानाग सूत्र मे प्रश्नव्याकरणसूत्र के निम्नलिखित १० अध्ययनों का उल्लेख है –

उपमा (१), संख्या (२), ऋषिभाषित (३), आचार्यभाषित (४), महावीरभाषित (५), क्षोभक प्रश्न (६), कोमल प्रश्न (७), अद्दाग प्रश्न (८), अगुष्ठ प्रश्न (९) और बाहु प्रश्न (१०)।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ अगपण्णत्ति[2] और राजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे भी स्थानाग से कुछ मिलता-जुलता इस अग के विपयो का उल्लेख किया गया है।

वर्तमान मे उपलब्ध इस दशम अग प्रश्नव्याकरण मे न तो उपरिवर्णित विषय ही है और न ४५ अध्ययन ही। आज जो प्रश्नव्याकरण उपलब्ध है वह दो खण्डो में विभाजित है। इसके प्रथम खण्ड मे ५ आश्रवद्वारो का वर्णन है और दूसरे खण्ड मे पाच सवरद्वारो का। ५ आश्रवद्वारो मे हिसादि पाच पापो और सवरद्वारो में हिसादि पापो के निपेधरूप अहिसादि ५ व्रतो का सुव्यवस्थित विवरण दिया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के समवायाग, स्थानाग और नन्दीसूत्र मे तथा दिगवर परम्परा के मान्य ग्रन्थो राजवार्तिक, धवला, अंगपण्णत्ति आदि मे प्रश्न-व्याकरणसूत्र के जिन विषयो का उल्लेख किया गया है उन विपयो का उपलब्ध प्रश्नव्याकरणसूत्र मे नामशेष भी दृष्टिगोचर न होकर जो उनसे सर्वथा भिन्न विषयो का निरूपण मिलता है, उसके सम्वन्ध मे वृत्तिकार अभयदेव सूरि का निम्नलिखित स्पष्टीकरण द्रष्टव्य है –

"इस समय का कोई अनधिकारी व्यक्ति प्रश्नव्याकरण सूत्र मे वर्णित विद्याओ का दुरुपयोग न कर बैठे इस आशका से वे सब विद्याए इस सूत्र मे से

---

[1] ... नवर सख्येयानि पदसहस्राणि द्विनवतिलक्ष्य: षोडशं सहस्रा इत्यर्थ'।

[नदी-मलयवृत्ति, पृ० ४७२, धनपतिसिंह]

[2] पण्हस्स दूदवयणणट्ठपमुट्ठिमगुत्थयसरुवस्स।
धादुणरमूलजस्स वि अत्थो तियकालगोचरयो ॥५७॥

धणधण्णजयपराजयलाहालाहादिसुहदुह णेय।
जीवियमरणत्थो वि य जत्थ कहिज्जइ सहावेण ॥५८॥

पढमाणुयोगकरणाणुयोगवरचरणदव्वअणुयोग।
सठाणं लोयस्स य, यदि सावयधम्मवित्थारं ॥६०॥

ससारदेहभोगा रागो जीवस्स जायदे तम्हा।
अनुहाण कम्माणं, बधो तत्तो हवे दुक्ख ॥७५॥ [अगपण्णत्ति]

परराष्ट्र पर अधिकार करने के लोभवश आक्रमण करने वाले राजा लोग, अश्वचोर, पशुचोर और दासचोर आदि के एतद्विषयक सभी उपक्रम चोरी की परिधि मे सम्मिलित है। इसमे चोरी के उपकरणो और प्रकारो का भी विस्तार-पूर्वक वर्णन के साथ-साथ छोटे-बडे सभी तरह के चोरो का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि परद्रव्य-हारी अनुकम्पारहित एव निर्लज्ज होते है। चोरी के अपराध मे दिये जाने वाले कठोर दण्ड – ताडन, तर्जन, छेदन-भेदन, अग त्रोटन, कारावास, बन्धन आदि का भी इसमे विस्तार सहित वर्णन है। इसके उपरान्त चौर्यकर्म के फलस्वरूप परलोक मे नरक एव तिर्यंच गति के अनेक प्रकार के दारुण दु खो के परवश अवस्था मे भोगने का भी इसमे उल्लेख किया गया है। इस अध्ययन के अन्त मे बताया गया है कि चोर को इहलोक, परलोक मे कही पर भी शान्ति नही मिलती। वह सदा भयभीत बना हुआ छुपकर इधर-उधर भटकता हुआ दु खमय एव अशान्त जीवन व्यतीत करता है।

चौथे अध्ययन मे चौथे अधर्म स्थान मैथुन-कुशील को जरा, मरण, राग, शोक विवर्द्धक और मोहवृद्धि का प्रमुख कारण बताया गया है। इसके भी अब्रह्म आदि ३० नाम दिये गये है। मैथुन–कुशील की आसेवना एव आसक्ति मे मोह-मुग्धमति देव-देवी, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि, मनुष्यो मे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, माडलिक राजा, यौगलिक मानव आदि अनुपम-अपार भोग-सामग्री को सुदीर्घ काल तक भोग कर भी बिना तृप्ति के कराल काल के कवल बन जाते है। मैथुनासक्त नर दूसरे के धन, जीवन आदि का विनाश करने मे नही सकुचाते। हाथी, घोडे, महिषादि पशु और पक्षिगण मैथुनासक्ता-वस्था मे एक दूसरे को मार डालने के लिए तत्पर रहते है। प्राचीन समय मे मैथुनासक्ति के कारण जो अनेक जनक्षयकारी युद्ध हुए उनमे से सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कचना, सुभद्रा, अहिल्या, सुवर्णगुलिका, किन्नरी, सुरूपा विद्युन्मती और रोहिणी के लिए हुए सग्रामो का इसमे उल्लेख किया गया है। इसमे प्रसगवशात् स्त्रियो के सौन्दर्य का भी वर्णन किया गया है। मैथुन-सेवन के दारुण दु खपूर्ण फल का उल्लेख करते हुए इसमे बताया गया है कि मैथुनासक्ति के कारण प्राणी इस लोक और परलोक दोनो मे ही नष्ट होकर त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर भेद वाले नरक आदि चतुर्गति रूप ससार मे दीर्घ काल तक भटकता हुआ जरा-मरण, रोग-शोक आदि दु खो को भोगता रहता है।

५ पचम अध्ययन मे विविध प्रकार के चल, अचल तथा मिश्र परिग्रह का उल्लेख किया गया है। इसमे वृक्ष के रूपक के माध्यम से परिग्रह का वर्णन है। इसमे परिग्रह के ३० नामो का उल्लेख करते हुए सचय, उपचय, लोभात्मा आदि शब्दो को एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची बताया गया है। इस अध्ययन मे यह भी स्पष्ट किया गया है कि चार जाति के देवगण और ८८ ग्रहो के देव-देवी आदि भी ममत्व रखते है तथा कर्म भूमि के मनुष्य – चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक, ईश्वर, तलवर, श्रेष्ठी, सेनापति, इभ्य आदि परिग्रह का सचय करते

के विविध कारणों मे से मुख्य कारणो का उल्लेख करते हुए इसमें बताया गया है कि अस्थि, मांस, चर्म आदि प्राण्यगो के लिए तथा शरीर एव भवन आदि की शोभा बढाने हेतु मुख्यतः त्रस जीवो की हिसा की जाती है। पृथ्वी, जल आदि स्थावरकायिक जीवो की हिसा के कारणों का उल्लेख करने से पहले इसमे कहा गया है कि मन्दबुद्धि लोग जानते हुए और अनजान मे भी स्थावरकायिक जीवो की हिसा करते है। पृथ्वीकाय की हिसा के कारणो को बताते हुए यह कहा गया है कि कृषि, कुआ, बावडी, चैत्य, स्मारक, स्तूप, घर, भवन, मन्दिर, मूर्ति और भाण्डोपकरण आदि के लिए मंदबुद्धि प्राणी हिसा करते है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक आदि हिसा के अतरग कारणो का उल्लेख करते हुए इसमे बताया गया है कि धर्म, अर्थ और काम के निमित्त से मन्द बुद्धिवाले प्राणी प्रयोजनवशात् तथा निष्प्रयोजन ही जीवो की हिसा करते है।

हिसा करने वालों में शिकारी, पारधि, धीवर आदि क्रूरकर्मी तथा शक, यवन आदि ५० प्रकार के अनार्यो को गिनाया गया है।

हिसाजन्य पाप के फलस्वरूप होने वाले दु खो मे नरक और तिर्यचो के विविध दु.खो का उल्लेख किया गया है। जो लोग चैत्य, मदिर, मठ और यज्ञ-यागादि धर्मकार्यो मे होने वाली हिसा को हिसा नही मानते उन्हे प्रश्नव्याकरण के इस अध्ययन का ध्यानपूर्वक पठन एव मनन करना चाहिए। इसमे अर्थ और काम निमित्त की जाने वाली हिसा की ही तरह धर्म हेतु की जाने वाली हिसा को भी अधर्म बताया गया है। इसमे हिसा, हिसा के विविध कारण और हिसक अनार्य जातियो का विस्तृत परिचय दिया गया है।

२. द्वितीय अध्ययन मे झूठ को भयकर और अविश्वासकारक बताते हुए झूठ बोलने वालों के ३० नाम दिये गये है, जिनमे मृषाभाषी, क्रोधी, लोभी, भयग्रस्त, हास्यवश झूठ बोलने वाले, अधिकाश गवाह, चोर, भाट, जुआरी, वेषधारी, मायावी, अवैध माप-तौल करने वाले, स्वर्णकार, वस्त्रकार, चुगलखोर, दलाल, लोभी, स्वार्थी आदि के नाम बताये गए है। धार्मिक दृष्टि से नास्तिको, एकान्तवादियो और कुदर्शनियो को भी मृषाभाषी बताया गया है।

नरक, तिर्यच गति की अजस्र एवं असह्य वेदना, दुर्मति और अशुभवचन आदि को मृषाभाषण का फल बताते हुए इसमे कहा गया है कि मृषावादी इस लोक और परलोक-उभयत्र ही सब प्राकर के कष्टो और अविश्वास का पात्र होता है।

३ तीसरे अध्ययन मे चोरी को चिन्ता एव भय की जननी तथा साधुपुरुषो द्वारा विनिन्दित बताते हुए इसके चोरी, परहरण आदि ३० नामों का उल्लेख किया गया है। चोरी कौन लोग किस प्रकार करते हैं – यह बताते हुए कहा गया है कि अत्यधिक लालसा वाले, परधन और परकीय भूमि पर आसक्त,

और क्रयदोष से रहित हो, उद्गम, उत्पादना एव एषरणा दोष से रहित, नवकोटि-शुद्ध हो, वह भिक्षा साधु के ग्रहरण करने योग्य बताई गई है। कथाप्रयोजन से लाई हुई भिक्षा तथा मत्र, मूल, भैषज्य, स्वप्नफल और ज्योतिष आदि बताने के उपलक्ष मे दी जाने वाली भिक्षा को साधु के लिए अग्राह्य और निषिद्ध बताया गया है। अहिसा का प्रवचन भगवान् ने प्रारिणमात्र के हित और उनके जन्मान्तर के कल्यारण के लिए दिया है। इसमे अहिसा-व्रत की रक्षा के लिए ५ भावनाए बताई गई है। प्रथम भावना मे त्रस-स्थावर जीवो की दया हेतु ईर्या-समिति से अर्थात् देख कर चलना। दूसरी मनसमिति मे अशुभ एव अधार्मिक विचार नही करना। तीसरी वाक्समिति मे सावद्य वचन से बचकर निर्दोष भाषा बोलना। चौथी एषरणासमिति मे भिक्षैषरणा मे नियुक्त मुनि को निर्देश दिया गया है कि वह घर-घर से थोडी-थोड़ी भिक्षा ग्रहरण करे और गुरु के समक्ष भिक्षा निवेदित कर आलोचना करे। तदनन्तर प्रमादरहित एवं प्रशान्तरूपेरण बैठकर क्षरण भर शुभ योगो का चिन्तन करे और उसके पश्चात् छोटे-बडे सभी साधुओ को निमन्त्रित एव शरीर को साफ कर मूर्च्छारहित हो आहार करे। खाते समय सुरसुर अथवा अन्य किसी प्रकार का शब्द न करे अर्थात् भोजन करते समय मुह न बोलावे, भूमि पर भोजन का अश नही गिरावे, केवल साधना हेतु प्रारण धाररण करने के लिए रागद्वेषविहीन भाव से आहार करे। पाचवी आदान-निक्षेपरणासमिति मे पीठ, फलक और मुँहपत्ती आदि उपकरणो को रागद्वेषरहित भावना से यतनापूर्वक ग्रहरण करने का निर्देश है। इसमे बताया गया है कि आजीवन इस प्रकार के योग से चलने वाला साधक आज्ञा का आराधक होता है।

२ दूसरे अध्ययन मे दूसरे धर्मद्वार सत्य की इहलोक और परलोक मे उभयत्र महिमा बताते हुए कहा गया है कि सत्यवादी न समुद्र मे डूबता है और न अग्नि मे ही जलता है। पर्वत से गिरा दिये जाने पर भी वह सुरक्षित ही रहता है क्योकि पुण्ययोग से देव भी उसकी रक्षा करते है। सत्य भगवान् का तीर्थकरो ने भी कथन किया है। दश प्रकार का सत्य देव, दानव और मानवो का वन्दनीय और पूजनीय है। दूसरे की निन्दा, आत्मप्रशसा एव अपवादपूर्ण भाषरण को सत्य मे सम्मिलित नही किया गया है। हिसाकारी सत्य भी अवाच्य बतलाया गया है। सत्यवादी मुनि के लिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक बताया गया है। नामसत्य, रूपसत्य एव स्थापनासत्य जैसे भेदो को वास्तविकता नही होने पर भी व्यवहार मे बोलचाल की दृष्टि से सत्य माना है। सत्यधर्म के रक्षरणार्थ भी ५ भावनाए बताई गई है। प्रथम भावना मे बताया गया है कि सयमी हित-मित-पथ्य वारणी विचार कर बोले। बिना विचारे नही बोले। क्रोधावेश मे नही बोले। लोभवश झूठ बोला जाता है अत लोभ का परित्याग कर सयत भाषा बोले। रोग, व्याधि, जरा आदि से भयभीत होकर नही बोले। हास्य को भी झूठ का काररण बताते हुए इसमे कहा गया है कि पचम भावना मे हास्य से सदा चत रहे। हास्य का प्रसंग उपस्थित हो जाने पर मौन रखे पर हास्य-वश किसी

है। इसमे बताया गया है कि पग-पग पर वध-वन्ध-क्लेशादि की वाहुल्यता को उपस्थित करने वाले अशाश्वत परिग्रह के लिये ही प्राणी सैकडो प्रकार के शिल्प और अनेक प्रकार की कलाओं को सीखता है। परिग्रह की वृद्धि के लिये ही पुरुष की वहत्तर कलाओ एवं ६४ महिला-गुणो तथा शिल्प, सेवा आदि का शिक्षण प्राप्त किया जाता है। परिग्रह के हेतु ही मानव हिसा, झूठ, अदत्तहरण आदि दुष्कर्म तथा भूख, प्यास, अपमान आदि विविध कष्टो को सहन करता है। परिग्रह से बढकर मनुष्यलोक मे अन्य कोई बन्धन नही है। परिग्रह से क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है। परिग्रह मे संसक्त प्राणी इस लोक मे भी महान् दु खी वनता है और परलोक मे भी त्रस-स्थावर आदि जीव-योनियो मे दीर्घकाल तक भ्रमण करता हुआ दारुण दु खो का भागी वनता है। अध्ययन के अन्त मे बताया गया है कि परिग्रह वस्तुत मोक्षमार्ग मे अवरोध उत्पन्न करने वाला अर्गला रूप अन्तिम अधर्म द्वार है।

इन पाच प्रकार के आश्रवो से कर्मरज का संचय कर जीव चतुर्गतिक ससार मे अनन्त काल तक भटकते रहते है। भव-भ्रमण मे निरन्तर भटकते हुए प्राणियो की दयनीय दशा पर गहरा दु ख प्रकट करते हुए सूत्रकार ने कहा है – "सव दु खों को दूर करने वाला जिनवाणी रूपी औषध सभी को नि शुल्क दिया जा रहा है पर जगजीव उसका सेवन नही करके असह्य दु ख भोग रहे हैं, क्या किया जाय ?"

दूसरे श्रुतस्कन्ध मे ५ धर्मद्वारो अर्थात् संवरद्वारो का वर्णन किया गया है। अहिसा (१), सत्य (२), दत्तादान (३), ब्रह्मचर्य (४) और अपरिग्रह (५) ये पाच धर्मद्वार है।

१ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन मे अहिसा को प्रथम धर्म बताते हुए कहा गया है कि यह देव, मनुष्य और असुरादि लोक मे दीप के समान प्रकाशक और सब की शरणभूत है। दया, शान्ति, उत्सव, यज्ञ, पूजा आदि शब्दो को अहिसा के ही पर्यायवाची शब्द बताते हुए इसके ६० नाम दिये गए हैं। अहिसा को पक्षियो के लिए आकाश और समुद्र मे जहाज के समान जगजीवो का आधार माना गया है। जीव मात्र के लिए अहिसा को क्षेमकरी बताते हुए कहा गया है कि अहिसा अपरिमितज्ञानी, त्रिलोकपूज्य तीर्थंकरो द्वारा सुदृष्ट, अवधि-ज्ञानियो द्वारा ज्ञात, ऋजुमति, विपुलमति के धारको द्वारा जानी गई, पूर्वधारियो द्वारा पढी गई और विविध प्रकार के ज्ञान, तप और लब्धिधर साधको द्वारा अनुपालित एव उपदिष्ट है। बड़े-वडे महात्माओं द्वारा भगवती अहिसा प्रशसित है। इस अध्ययन मे अहिसा के रक्षण हेतु आहारशुद्धि को परमावश्यक बताया गया है। षट्कायिक जीवो की दया के लिए शुद्ध आहार की गवेषणा का इसमे उपदेश दिया गया है। अहिसक मुनि को कैसे और किस प्रकार के आहार की गवेषणा करनी चाहिए, यह इसमे वडे विस्तार के साथ बताया गया है। जो आहार साधु के लिए कृत, कारित और बुला कर दिया गया न हो, औद्देशिक

सूक्ष्म अथवा स्थूल, सजीव अथवा निर्जीव – किसी प्रकार का द्रव्य ग्रहण नही करता। पूर्ण अपरिग्रही को दात, शृग, काच, पत्थर एव चर्म आदि के पात्र प्रभृति तथा फल-फूल, कन्द-मूल आदि ग्रहण करने का इसमे निषेध किया गया है और यह वताया गया है कि अपरिग्रही साधक भोजन के लिए भी हिसा नही करता। वह कारण से ही आहार को ग्रहण करता और कारणवशात् ही आहार का त्याग करता है। निष्परिग्रही साधक शरीर-रक्षा और धर्मसाधना के लिए जो वस्त्र, पात्रादि ग्रहण करता है वह भी आवश्यकतानुसार निर्ममत्व भाव से ही ग्रहण एव धारण करता है। इसमे अपरिग्रही साधु को ३१ उपमाओ से उपमित किया गया है।

अन्य व्रतो की तरह अपरिग्रह व्रत की भी पाच भावनाओं से सुरक्षा बताई गई है।

अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का इतना विस्तृत और बहुमुखी विश्लेषण अन्य किसी शास्त्र मे एकत्र उपलब्ध नही होता। हिसा, मृषा, अदत्तादान, कुशील और परिग्रह – इन पाच आश्रव-द्वारो तथा अहिसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाच सवर-द्वारो का सर्वागपूर्ण बोध प्राप्त करने के लिए प्रश्नव्याकरण के इन दोनो श्रुतस्कन्धो का पठन-पाठन एव मनन बडा ही उपयोगी है। विचारको के लिए तो प्रश्नव्याकरण वस्तुत एक महान् निधि के समान है।

११. विवागसुयं

विपाकसूत्र – यह ग्यारहवा अग है। इसमे दो श्रुतस्कन्ध, २० अध्ययन, २० उद्देशनकाल, २० समुद्देशनकाल, सख्यात पद, सख्यात अक्षर व परिमित वाचनाए, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढा छन्द, सख्यात श्लोक, सख्यात निरुक्तिया, सख्यात सग्रहणिया और सख्यात प्रतिपत्तिया है। वर्तमान मे इसका स्वरूप १२१६ श्लोक-परिमाण है। विपाकसूत्र का मुख्य लक्ष्य कर्म के शुभाशुभ फल-विपाक को समझाना है।

विपाक सूत्र के, दु खविपाक और सुखविपाक ये दो विभाग है। कर्मसिद्धात वस्तुत जैनधर्म का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त के उदाहरणो के लिए यह आगम अत्यन्त उपयोगी है।

इसके पहले भाग दु ख विपाक मे ऐसे १० व्यक्तियो का वर्णन है जिन्हे अशुभ कर्मानुसार अनेक कष्ट सहन करने पड़े और जो कष्ट से मुक्ति प्राप्त कर सके।

पहले भाग के १० अध्ययनो मे से प्रथम मृगापुत्र के अध्ययन मे वताया गया है कि राष्ट्रकूट की तरह कठोर एव क्रूर शासन करने वाले को मृगा लोढा की तरह कैसा विकलाग और निन्द्य जीवन जीना पडता है।

दूसरे अध्ययन मे गो-मास भक्षण और मद्यपान के दुखद फलो को वताते हुए उज्झित कुमार का परिचय दिया गया है।

भी दशा मे मृषा न बोले । इस प्रकार सदा सावधान रहकर बोलने वाला भाषा का आराधक बताया गया है ।

३. तीसरे अध्ययन मे दत्तादान अर्थात् अचौर्य नामक तीसरे धर्मद्वार का वर्णन किया गया है । इसमें बताया गया है कि पूर्ण संयमी साधक ही अचौर्यधर्म का सम्यक्रूपेण आराधन कर पाते है । अचौर्यव्रत का स्वरूप बताते हुए इसमे कहा गया है कि ग्राम, नगरादि में कोई वस्तु पडी हुई हो, कोई भूल गया हो तो उस वस्तु को नही लेना । खेत अथवा जंगल के फल, फूल, तृणादि भी खेत अथवा वन के स्वामी की बिना आज्ञा के तोडना अदत्तादान बताया गया है ।

इसमें सयमी के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि वह पीठ, फलक, शय्या और वस्त्र, उपकरण आदि का सहधर्मियों मे समान रूप से विभाग करके उपयोग करे । अचौर्यव्रत का आराधक उसे माना गया है जो बाल, दुर्बल, वृद्ध, तपस्वी और आचार्य आदि की विना किसी प्रकार की अपेक्षा किये १० प्रकार की सेवा करता है एवं जो अप्रीतिकारक घर तथा उसके यहां के आहार, उपकरण आदि का सेवन नही करता और निषिद्ध आचरणों से सदा दूर रहता है ।

तीसरे अदत्तादान-विरमण व्रत की रक्षा के लिए ५ भावनाए बताई गई है, जो इस प्रकार है :—

स्त्री, पशु, पण्डकरहित निर्दोष वसति में वास करना (१), प्रतिदिन उस वसति मे निवास के लिए आज्ञा प्राप्त करना तथा बिना आज्ञा के उसमे से किसी भी वस्तु को ग्रहण नही करना (२), पीठ, फलक आदि के लिए आरम्भ नही करना (३), साधारण पिण्ड की गवेषणा कर विधिपूर्वक आहार करना (४) और सहधर्मी के प्रति विनय प्रदर्शित करना (५) ।

४ चौथे अध्ययन में चौथे धर्मद्वार ब्रह्मचर्य का वर्णन किया गया है । इसमे ब्रह्मचर्य को तप एवं संयम का मूल और सुगति का पथप्रदर्शक बताया गया है । इसे "ब्रह्मचर्य भगवान्" कह कर ३२ उपमाओं से उपमित किया गया है । इसमे ब्रह्मचर्य को देवेन्द्र-नरेन्द्रों से पूजित और सद्गुणो में मुकुट के समान श्रेष्ठ वताया गया है । ब्रह्मचारी के आहार, विहार एव जीवनचर्या का वर्णन करने के पश्चात् इसमे इस व्रत की रक्षा के लिए आवश्यक ५ भावनाओ का उल्लेख किया गया है । ब्रह्मचारी के लिए सादा वेश और सात्विक परिमित भोजन आवश्यक वताया गया है ।

५. पाचवे अध्ययन मे पांचवे धर्मद्वार अपरिग्रह का निरूपण करते हुए बताया गया है कि अपरिग्रही सव प्रकार के आरम्भ-समारम्भ और परिग्रहो मे पूर्णरूपेण विरत और जिनप्रणीत भावो में शका-कांक्षा रहित होता है । इसमे अपरिग्रह का संवर वृक्ष के रूप मे वर्णन किया गया है । अपरिग्रही के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए इसमे बताया गया है कि अपरिग्रही थोड़ा अथवा बहुत,

१२ दृष्टिवाद

दिट्ठिवाय-दृष्टिवाद-दृष्टिपात – यह प्रवचनपुरुष का बारहवा अग है, जिसमे ससार के समस्त दर्शनो और नयो का निरूपण किया गया है[1] अथवा जिसमे सम्यक्त्व आदि दृष्टियो अर्थात् दर्शनों का विवेचन किया गया है ।[2]

दृष्टिवाद नामक यह बारहवा अग विलुप्त हो चुका है अत आज यह कही उपलब्ध नही होता । वीर नि० स० १७० मे श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् दृष्टिवाद का ह्रास प्रारम्भ हुआ और वी० नि० स० १००० मे यह पूर्णत. (शब्द रूप से पूर्णत और अर्थ रूप से अधिकाशत) विलुप्त हो गया ।[3]

स्थानागसूत्र मे दृष्टिवाद के दश नाम बताये गए है जो इस प्रकार है :–

१. दृष्टिवाद, २. हेतुवाद, ३ भूतवाद, ४. तथ्यवाद, ५ सम्यक्वाद, ६ धर्मवाद, ७ भाषाविचय अथवा भाषाविजय, ८ पूर्वगत, ९ अनुयोगगत और १०. सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह ।[4]

समवायाग एव नन्दीसूत्र के अनुसार दृष्टिवाद के पाच विभाग कहे गये है – परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ।[5] इन पाचो विभागो के विभिन्न भेदप्रभेदो का समवायाग एव नन्दीसूत्र मे विवरण दिया गया है, जिनका साराश यह है कि दृष्टिवाद के प्रथम विभाग परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और सर्वागपूर्ण गणित विद्या का विवेचन था । इसके दूसरे भेद सूत्र-विभाग में छिन्न-छेद नय, अछिन्न-छेद नय, त्रिक नय तथा चतुर्नय की परिपाटियो का विस्तृत विवेचन था । नय की इन चार प्रकार की परिपाटियो मे से प्रथम – छिन्न-छेद नय और चतुर्थ-चतुर्नय – ये दो परिपाटिया निर्ग्रन्थो की और अछिन्न-छेद नय एव त्रिकनय की परिपाटिया आजीविको की कही गई थी ।

---

[1] दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा । प्रवचनपुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे
[स्थानाग वृत्ति, ठा० ४, उ० १]

[2] दृष्टिर्दर्शन सम्यक्त्वादि, वदन वादो, दृष्टिना वादो दृष्टिवाद ।
[प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४४]

[3] गोयमा ! जवुद्दीवे ण दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए मम एग वाससहस्स पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ,······ ·
[भगवतीसूत्र, शतक २०, उ० ८, सू० ६७७ सुत्तागमे, पृ० ८०४]

[4] दिट्ठिवायस्स ण दस नामधिज्जा पण्णत्ता । त जहा दिट्ठिवाएइ वा, हेतुवाएइ वा, भूयवाएइ वा, तच्चावाएइ वा, सम्मावाएइ वा, धम्मावाएइ वा, भासाविजएइ वा, पुव्वगएइ वा, अणुओगगएइ वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा ।
[स्थानाग सूत्र, ठा० १०]

[5] से किं दिट्ठिवाए ? से समासओ पचविहे पण्णत्ते त जहा परिकम्मे, सुत्ताइ, पुव्वगए, अणुओगे चूलिया । (नन्दी)

तीसरे अध्ययन मे अभगसेन चोर के माध्यम से बताया गया है कि मद्यपान एव अण्डो का विक्रय करने वाला किस प्रकार वध-बन्ध के दु.खो का भागी होता है ।

चौथे शकट अध्ययन मे मासविक्रय और व्यभिचार के फल बतलाते हुए 'छागलिक' कसाई के जन्म-जन्मान्तर के दु.ख और राजपुरुषो द्वारा निर्दयतापूर्वक उसे वध हेतु ले जाये जाने का उल्लेख है ।

पाचवे अध्ययन मे यज्ञ की हिसा और परस्त्रीगमन के कटु फलो का वर्णन करते हुए 'महेश्वरदत्त' पुरोहित के माध्यम से नरकादि दुर्गतिरूप हिसा व व्यभिचार का फल बताया गया है ।

छठे अध्ययन मे तत्कालीन विविध प्रकार के दण्डविधान का परिचय दिया गया है, और कठोर दण्ड देने वाले को नन्दीषेण की तरह वध, बन्ध और नरकगमन के कैसे कटु फल भोगने पडते है, यह बताया गया है ।

सातवे अध्ययन मे मास और प्राणी-अगों से चिकित्सा करने का फल बताते हुए 'उमरदत्त' के १६ रोग एक साथ उत्पन्न होने और दीर्घकाल तक उसके भवभ्रमण का परिचय दिया गया है।

आठवे अध्ययन मे मच्छीमार के व्यवसाय का दु खद फल बताते हुए एक मच्छीमार के विविध कष्टपूर्ण नरकादि दुर्गतियों मे भ्रमण करने और भयकर कष्ट पाने का उल्लेख किया गया है ।

नौवें अध्ययन मे ईर्ष्या का फल बताते हुए राजकुमार 'सिहसेन' का उल्लेख किया गया है । 'सिहसेन' ने 'श्यामा' रानी मे आसक्त होकर ४९९ रानियो को द्वेषवश महल मे बन्द कर जला दिया । इसके परिणामस्वरूप उसको अनेक जन्मो तक नरकादि दुर्गतियो मे वध-बन्ध के कष्ट भोगने पड़े, यह बताया गया है ।

दशवे अध्ययन मे वेश्यावृत्ति के फलस्वरूप होने वाले दारुण दु खो का चित्रण करते हुए बताया गया है कि अजुश्री को व्यभिचार के कारण किस प्रकार असह्य एवं असाध्य योनिशूल की वेदना भोगनी पडी और अनेक जन्मों तक कष्ट भोगने के पश्चात् अन्ततोगत्वा अत्यन्त कठिनाई से उसे बोधि प्राप्त हुई ।

दूसरे श्रुतस्कन्ध मे सुबाहु, भद्रनन्दि आदि १० राजकुमारो के सुखमय जीवन का वर्णन है । इन सबने पूर्वभव में तपस्वी मुनि को पवित्र भाव से निर्दोष आहार का प्रतिलाभ देकर संसार का अन्त किया और उत्तम कुल मे जन्म लेकर सुखपूर्वक साधना से मुक्ति प्राप्त की । इन १० अध्ययनो मे कुछ सुबाहु की तरह १५ भव कर मोक्ष जाने वाले और कुछ तद्भव-मोक्षगामी बताये गये है ।

एव अन्तरिक्ष, भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन और छिन्न – इन आठ महानिमित्तो द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन किया गया था। इस पूर्व के पदो की सख्या १ करोड १० लाख वताई गई है।

११. अवन्ध्यपूर्व–वन्ध्य शब्द का अर्थ है निष्फल अथवा मोघ। इसके विपरीत जो कभी निष्फल न हो अर्थात् जो अमोघ हो उसे अवन्ध्य कहते है। इस अवन्ध्यपूर्व मे ज्ञान, तप आदि सभी सत्कर्मों को शुभफल देने वाले तथा प्रमाद आदि असत्कर्मो को अशुभ फलदायक वताया गया था। शुभाशुभ कर्मो के फल निश्चित रूप से अमोघ होते है, कभी किसी भी दशा मे निष्फल नही होते इसलिए इस ग्यारहवे पूर्व का नाम अवन्ध्यपूर्व रखा गया। इसकी पदसख्या २६ करोड वताई गई है।

दिगम्बर परम्परा मे ग्यारहवे पूर्व का नाम "कल्याणवाद पूर्व" माना गया है। दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार कल्याणवाद नामक ग्यारहवे पूर्व मे तीर्थकरो, चक्रवर्तियो, वलदेवो, वासुदेवो और प्रतिवासुदेवो के गर्भावतरणोत्सवो, तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन कराने वाली सोलह भावनाओ एव तपस्याओ का तथा चन्द्र व सूर्य के ग्रहण, ग्रह-नक्षत्रो के प्रभाव, शकुन, उनके शुभाशुभ फल आदि का वर्णन किया गया था। श्वेताम्वर परम्परा की तरह दिगम्वर परम्परा मे भी इस पूर्व की पदसख्या २६ करोड ही मानी गई है।

१२ प्राणायु पूर्व – इस पूर्व मे श्वेताम्वर परम्परा की मान्यतानुसार आयु और प्राणो का भेद-प्रभेद सहित वर्णन किया गया था।

दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार इसमे काय-चिकित्सा प्रमुख अष्टाग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जागुलि, प्रक्रम, साधक आदि आयुर्वेद के भेद, इला, पिगलादि प्राण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्वो के अनेक भेद, दश प्राण, द्रव्य, द्रव्यो के उपकार तथा अपकार रूपो का वर्णन किया गया था।

श्वेताम्वर परम्परा की मान्यतानुसार प्राणायुपूर्व की पदसख्या १ करोड ५६ लाख और दिगम्वर मान्यतानुसार १३ करोड थी।

१३ क्रियाविशालपूर्व – इसमे सगीतशास्त्र, छन्द, अलकार, पुरुषो की ७२ कलाए, स्त्रियो की ६४ कलाए, चौरासी प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भाधानादि कायिक क्रियाओ तथा सम्यग्दर्शन क्रिया, मुनीन्द्रवन्दन, नित्यनियम आदि आध्यात्मिक क्रियाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। लौकिक एव लोकोत्तर सभी क्रियाओ का इसमे वर्णन किया जाने के कारण इस पूर्व का कलेवर अति विशाल था।

श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनो ही परम्पराए इसकी पद सख्या ६ करोड मानती है।

१४ लोकविन्दुसार – इसमे लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याओ का एव सम्पूर्ण रूप से ज्ञान निष्पादित कराने वाली सर्वाक्षरसन्निपातादि

दृष्टिवाद का तीसरा विभाग – पूर्वगत विभाग अन्य सब विभागो से अधिक विशाल और बडा महत्वपूर्ण माना गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित १४ पूर्व थे –

१. उत्पादपूर्व – इसमे सब द्रव्य और पर्यायो के उत्पाद (उत्पत्ति) की प्ररूपणा की गई थी।[1] इसका पदपरिमाण १ कोटि पद माना गया है।

२ अग्रायणीयपूर्व – इसमे सभी द्रव्य, पर्याय और जीवविशेष के अग्र-परिमाण का वर्णन किया गया था। इसका पद-परिमाण ९६ लाख पद माना गया है।

३. वीर्यप्रवाद – इसमे सकर्म एवं निष्कर्म जीव तथा अजीव के वीर्य-शक्तिविशेष का वर्णन था। इसकी पद सख्या ७० लाख मानी गई है।

४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व – इसमे वस्तुओं के अस्तित्व तथा नास्तित्व के वर्णन के साथ-साथ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का अस्तित्व और खपुष्प आदि का नास्तित्व तथा प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप से अस्तित्व एव पररूप से नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था। इसका पदपरिमाण ६० लाख पद बताया गया है।

५ ज्ञानप्रवादपूर्व – इसमें मतिज्ञान आदि ५ ज्ञान तथा इनके भेद-प्रभेदो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसकी पदसख्या १ करोड मानी गई है।

६. सत्यप्रवादपूर्व – इसमे सत्यवचन अथवा संयम का, प्रतिपक्ष (असत्यो के स्वरूपो) के विवेचन के साथ-साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसमे कुल १ करोड और ६ पद होने का उल्लेख मिलता है।

७ आत्मप्रवादपूर्व – इसमे आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन सम्बन्धी विवेचन अनेक नयमतो की दृष्टि से किया गया था। इसमे २६ करोड पद माने गये है।

८. कर्मप्रवादपूर्व – इसमे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो का, उनकी प्रकृतियों, स्थितियो, शक्तियो एव परिमाणो आदि का बन्ध के भेद-प्रभेद सहित विस्तारपूर्वक वर्णन था। इस पूर्व की पदसख्या १ करोड ८० हजार पद बताई गई है।

९ प्रत्याख्यान-प्रवादपूर्व – इसमे प्रत्याख्यान का, इसके भेद-प्रभेदो के साथ विस्तार सहित वर्णन किया गया था। इसके अतिरिक्त इस नौवे पूर्व मे आचार-सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये गए थे। इसमे ८४ लाख पद थे।

१०. विद्यानुप्रवादपूर्व – इसमे अनेक अतिशय शक्तिसम्पन्न विद्याओ एव उपविद्याओं का उनकी साधना करने की विधि के साथ निरूपण किया गया था, जिनमे अगुष्ठ-प्रश्नादि ७०० लघु विद्याओ, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओ

---

[1] पढम उप्पायपुव्व, तत्थ सव्वदव्वाण पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पण्णवणा कया। [नन्दी चूर्णि]

द्वादशांगी में मंगलाचरण

परममगल स्वरूप परमार्हत् प्रभु महावीर के मुखारविन्द से प्रकट हुई सकल अघ-अमंगल-विघ्नविनाशिनी एव समस्त महामगल प्रदायिनी वाणी का प्रत्येक पद, वाक्य, शब्द और अक्षर तक परमोत्कृष्ट मंगलाचरण ही है। ऐसी स्थिति मे द्वादशागी के आदि, मध्य अथवा अन्त मे पृथक्रूपेण किसी मगलाचरण की आवश्यकता ही नही रह जाती। निसर्गत: मगल स्वरूप आगम के लिए भी यदि मगलाचरण किया जाता है तो इससे निश्चितरूपेण 'अनवस्था दोष' उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि महावीरवाणी (द्वादशागी) को सूत्र रूप मे ग्रथित करते समय भगवान् के गणधरो ने द्वादशागी के किसी भी अग के आदि, मध्य अथवा अत मे स्तुति-नमस्कृति-परक मगलाचरण के रूप मे कोई पृथक् मगलपाठ नही दिया है।

द्वादशागी के पाचवे अग 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' के आदि मे पचपरमेष्ठि-नमस्कारमत्र, 'णमो वभीए लिवीए' और 'णमो सुयस्स'[1] – इन प्रकार के उल्लेखो से, शतक सख्या १५, १७, २३ और २६ के प्रारम्भ मे 'णमो सुयदेवयाए भगवईए' इस पद से तथा अत मे सघ-स्तुति के पश्चात् गौतमादि गणधरो, भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति, द्वादशागी रूप गणिपिटक, श्रुतदेवता, प्रवचनदेवी, कुभधर यक्ष, ब्रह्मशान्ति, वैरोट्यादेवी, विद्यादेवी और अतहुडी को नमस्कार किया गया है। इस प्रकार 'व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र' मे आदि से अंत तक नमनादि के रूप मे कुल मिलाकर १८ वार मगलाचरण किया गया है।

उपरोक्त मगलाचरणो मे पचपरमेष्ठिनमस्कारमत्र से लेकर सघस्तुति तक के ८ मगलाचरणो को नवागी टीकाकार आचार्य अभय देव सूरि ने यद्यपि स्पष्ट शब्दो मे सूत्रकार द्वारा किये गए मगलाचरण नही वताया है तथापि अपनी टीका मे इन्हे स्थान देकर और शेप १० मगलाचरणो के लिए – "णमो गोयमाइण गणहराणमित्यादय पुस्तक-लेखककृता नमस्कारा" यह कह कर एक प्रकार से सूत्रकार द्वारा किये गए मगलाचरण ही माना है। परन्तु वस्तुत. सम्बन्धित तथ्यो पर समीचीनतया विचार करने पर उपरोक्त १८ मगलाचरणो मे से एक भी मगलाचरण सूत्रकार द्वारा किया हुआ प्रतीत नही होता। निम्नलिखित तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति मे दिये गए मगलाचरण सूत्रकार द्वारा किये गए मगलाचरण नही है :–

१ यदि द्वादशागी की रचना के समय सूत्रकार ने मगलचरण का पाठ दिया होता तो द्वादशागी के क्रम मे प्रथम स्थान पर माने जाने वाले तथा द्वादशागी मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचाराग सूत्र मे सर्वप्रथम इस प्रकार पृथक् रूप से मगलाचरण का पाठ दिया जाता। पर वस्तुस्थिति इससे विपरीत है।

[1] अनेक प्राचीन प्रतियो मे "णमो सुयस्स" – यह पाठ उल्लिखित नही किया गया है। [सम्पादक]

विशिष्ट लब्धियो का वर्णन था। अक्षर पर बिन्दु की तरह सब प्रकार के ज्ञान का सर्वोत्तम सार इस पूर्व मे निहित था। इसी कारण इसे लोकबिन्दुसार अथवा त्रिलोकबिन्दुसार की सज्ञा से अभिहित किया गया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओं की मान्यता के अनुसार इसकी पद सख्या साढे बारह करोड़ थी।

उपर्युक्त १४ पूर्वो की वस्तु (ग्रन्थविच्छेदविशेष) सख्या क्रमश १०, १४, ८, १८, १२, २, १६, ३०, २०, १५, १२, १३, ३० और २५ उल्लिखित है।[1]

चौदह पूर्वो के उपरोक्त ग्रन्थविच्छेद-वस्तु के अतिरिक्त आदि के ४ पूर्वो की क्रमश. ४, १२, ८ और १० चूलिकाए (चुल्ल-क्षुल्लक) मानी गई है। शेष १० पूर्वो के चुल्ल अर्थात् क्षुल्ल नही माने गये है।[2]

जिस प्रकार पर्वत के शिखर का पर्वत के शेष भाग से सर्वोपरि स्थान होता है उसी प्रकार पूर्वो मे चूलिकाओ का स्थान सर्वोपरि माना गया है।[3]

अनुयोग – अनुयोग नामक विभाग के मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग ये दो भेद बताये गए है। प्रथम मूल प्रथमानुयोग मे अरहन्तो के पचकल्याणक का विस्तृत विवरण तथा दूसरे गंडिकानुयोग मे कुलकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषो का चरित्र दिया गया था।

दृष्टिवाद के इस चतुर्थ विभाग अनुयोग मे इतनी महत्वपूर्ण विपुल सामग्री विद्यमान थी कि उसे जैन धर्म का प्राचीन इतिहास अथवा जैन पुराण की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा मे इस चतुर्थ विभाग का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है।

चूलिका – समवायाग और नन्दी सूत्र मे आदि के चार पूर्वो की जो चूलिकाए बताई गई है, उन्ही चूलिकाओ का दृष्टिवाद के इस पचम विभाग मे समावेश किया गया है। यथा – "से कि त चूलियाओ ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्ह पुव्वाण चूलिया, सेसाइं अचूलियाइ, से तं चूलियाओ।" पर दिगम्बर परम्परा मे जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत – ये पांच प्रकार की चूलिकाए वताई गई है।

---

[1] दस चोद्दस अट्ठ अट्ठारसेव वारस दुवे य वत्थूणि।
सोलस तीसा वीसा पण्णरस अणुप्पवायम्मि।
वारस इक्कारसमे वारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे चोद्दसमे पण्णवीसा उ॥

[2] चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्ह सेसाण चूलिया नत्थि।
[श्रीमन्नन्दीसूत्रम् (पू० हस्तीमलजी म० सा० द्वारा अनूदित) पृ० १४८]

[3] ते मव्वुवरि ठिया पढिज्जति य.अतो तेसु य पव्वय चूला इव चूला। [नन्दीचूर्णि]

आगमवाचना के समय मे आगमो को लिपिबद्ध करते समय व्याख्याप्रज्ञप्ति अग की आदि मे पचपरमेष्ठि को नमस्कार और ब्राह्मी लिपि आदि को नमस्कार के पाठ प्रविष्ट हुए हो ।

इसे स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रश्न तो ज्यों का त्यो बना ही रहता है कि नमस्कारादि के रूप मे यह मगलाचरण प्रथम अग आचाराग मे तथा द्वादशांगी के अन्य किसी अग मे उल्लिखित न किए जाकर केवल व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पाचवे अग मे क्यो उल्लिखित किए गए है ?

वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि द्वादशागी की रचना करते समय गणधरो ने द्वादशागी के प्रत्येक अक्षर को महामगलकारी मानते हुए किसी भी अग के आदि, मध्य अथवा अत मे पृथकत' मगलाचरण उल्लिखित नही किया । कालान्तर मे मगलचरण प्रणाली के अत्यधिक लोकप्रिय बन जाने की स्थिति मे चूर्णिकारो वृत्तिकारो आदि ने जैन आगमो के आदि, मध्य और अन्त के कुछ सूत्रपाठो को ही मगलाचरणात्मक सिद्ध करते हुए आदि मगल, मध्य मगल और अन्त मगल की कल्पना विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत की ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के आदि, मध्य और अन्त में पृथकत कुल मिला कर १८ मगलाचरण प्रस्तुत करने की नूतन पद्धति के पीछे क्या कारण हो सकता है, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह ध्यान मे आता है कि भगवती सूत्र मे इष्टलाभ, लोकपाल वर्णन, चरमोत्पात, देवसहाय प्राप्त रथ-मूसल एव महा-शिलाकण्टक सग्राम और गोशालक द्वारा प्रभु महावीर के समवसरण मे तेजोलेष्या द्वारा श्रमण-निग्रन्थो के दहन जैसे अनिष्ट और भयोत्तेजक प्रसगो का चित्रण हुआ है । सभव है किसी मन्द सत्वशाली शिष्य को किसी तरह इसके पठन-पाठन के समय किसी प्रकार का कोई विघ्न न हो जाय अत' शिष्यहिताय, विघ्नोपशान्ति और समाधिलाभ के लिए आचार्यो ने इस सूत्र मे साक्षात् मगल विधान किया हो और तदनन्तर लिपिकारो एव उनका अनुसरण करते हुए प्रतिलिपिकारो ने इन मगलाचरणो की सख्या मे वृद्धि की हो ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ के मगलाचरण के पश्चात् २ से १४ तक के शतको मे मगलाचरण न करके १५ वे शतक मे – जो कि गोशालक का प्रकरण है, पुन मगलाचरण किया गया है । इससे भी इस विचार को पुष्टि मिलती है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति मे गोशालक के रौद्र और अप्रीतिकारक प्रकरण आदि की विद्यमानता के कारण ही इतनी अधिक सख्या मे मगलाचरण किये गए हो ।

वस्तुत ये मगलाचरण सूत्रकार द्वारा नही अपितु पश्चाद्वर्ती काल मे सभवत आचार्यो की अनुमति से लिपिकारो एव प्रतिलिपिकारो द्वारा ही किये गए है । इस सम्बन्ध मे आगमनिष्णात मुनि और विद्वान विचारक अवश्य और प्रकाश डालेगे, ऐसी आशा है ।

आचारांग सूत्र के आदि, मध्य अथवा अन्त मे इस प्रकार का कोई पृथक् मंगलपाठ नही दिया हुआ है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग को छोड़ कर द्वादशांगी के शेष किसी अग में मगलाचरण का न होना इस वात को प्रमाणित करता है कि व्यख्या-प्रज्ञप्ति के आदि, मध्य तथा अन्त में उल्लिखित उपरोक्त १८ मगलाचरण सूत्रकार द्वारा कृत नही अपितु किसी लिपिकार अथवा प्रतिलिपिकार द्वारा किये गए मगलाचरण है।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति अग के प्रारम्भ मे दी हुई सग्रहगाथा[1] से स्पष्टत: यह प्रकट होता है कि इस अंग का प्रारम्भ राजगृह शब्द से हुआ है, न कि मगला-चरण से। यदि मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा कृत और सूत्र का अभिन्न अंग होता तो सग्रह गाथा निश्चितरूपेण "णमो अरहताण" इस पद से पहले उल्लिखित की जाती और उसमे 'रायगिह' शब्द के स्थान पर "णमो" शब्द होता।

३. "णमो बभीए लिवीए" यह किसी भी दशा में सूत्रकार द्वारा किया हुआ मंगलाचरण नही हो सकता क्योकि श्रुतरचना के समय गौतम-सुधर्मा आदि द्वादशागी के सूत्रकारो ने न तो ब्राह्मी लिपि का ही उपयोग किया और न अन्य किसी लिपि का ही। ऐसी स्थिति मे सूत्रकार आर्य सुधर्मा द्वारा ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किये जाने के इस प्रकार के उल्लेख का कोई औचित्य दृष्टिगोचर नही होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्रव्यश्रुत का भावश्रुत के समकक्ष महत्व स्थापित करने अयवा द्रव्यश्रुत के माध्यम से भावश्रुत की पूजा अर्चा आदि के विधान को लोक मे प्रचलित करने की दृष्टि से 'णमो बंभीए लिवीए' – इस पद को चैत्यवास के समय मे अथवा अन्य किसी काल मे जोड़ा गया हो।

प्राचीन प्रतियों में 'णमो बभीए लिविए' इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस पद को द्रव्यश्रुत की पूजा का आधारभूत मान कर चर्चास्थल बनाया गया हो और उसके निराकरण हेतु "सुत्तागमे" के सपादक मुनि 'पुप्फभिक्खु' ने "णमो बभीयस्स लिवीयस्स"[2] इस प्रकार का पाठ प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया हो कि यह वस्तुत. ब्राह्मी लिपि को नमस्कार नही लेकिन ब्राह्मी को लिपि-विज्ञान की शिक्षा देने वाले भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है। परन्तु इस प्रकार की पाठपरिवर्तन की परम्परा चाहे वह किसी दृष्टि से प्रारम्भ की जाय उचित नही।

जहा तक "णमो बभीए लिवीए" – इस पद के यहा उल्लिखित किये जाने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वीर नि० स० ६८० मे, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में, वल्लभी मे हुई अन्तिम

---

[1] रायगिह चलण १ दुक्खे २ कख पओसे य ३ पगइ ४ पुढवीओ ५।
जावते ६ णेरइए ७ वाले ८ गुरुएय ९ चलणाओ १०॥

[2] सुत्तागमे, भाग १, पृ० २८४।

श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांगी की पदसंख्या

अग का नाम	समवायाग के अनुसार	नदीसूत्र	सम० वृत्ति	नदी वृत्ति
१ आचाराग	१८०००	,,	,,	,,
२ सूत्रकृताग	३६०००	,,	,,	,,
३ स्थानाग	७२०००	,,	,,	,,
४ समवायाग	१४४०००	,,	,,	,,
५ व्याख्याप्रज्ञप्ति	८४०००	२८८०००	८४०००	२८८०००
६ ज्ञाताधर्मकथा	सख्यात हजार	सख्यात हजार	५७६०००	५७६०००
७ उपासकदशा	,,	,,	११५२०००	११५२०००
८ अतकृद्दशा	,,	,,	२३०४०००	२३०४०००
९ अनुत्तरोपपातिकदशा	,,	,,	४६०८०००	४६०८०००
१०. प्रश्नव्याकरण	,,	,,	९२१६०००	९२१६०००
११ विपाकसूत्र	,,	,,	१८४३२०००	१८४३२०००
१२. दृष्टिवाद	,,	,,	–	–

दिगम्बर परम्परानुसार[1] द्वादशांगी की पद, श्लोक एवं अक्षर-संख्या

अग का नाम	पद सख्या	श्लोक सख्या	अक्षर सख्या
१ आचाराग	१८०००	९१९५९२३११८७०००	२९९२६९५४१९८४०००
२ सूत्रकृत	३६०००	१८३९१८४६३७४०००	५८८५३९०८३९६८०००
३ स्थानाग	४२०००	२१४५७१५४१०३०००	६८६६२८९३१२९६०००
४ समवायाग	१६४०००	८३७८५०७७९२६०००	२६८११२२४९३६३२०००
५ विपाकप्रज्ञप्ति	२२८०००	११६४८१६९३७०२०००	३७२७४१४१९८४६४०००
६ ज्ञातृधर्मकथाग	५५६०००	२८४०५१८४९५५४०००	९८९६५९१८५७२८०००
७ उपासकाध्ययन	११७०००	५९७७३५००७१५५०००	१९१२७५२०२२८९६००००
८ अतकृद्दशाग	२३२८०००	११८९३३९३९८८५२०००	३८०५८८६०७६३२३४०००
९ अनुत्तरोपत्पाद	९२२४४०००	४७२२६१७४४१४६०००	१५११२३७५८११९६७०००
१० प्रश्नव्याकरण	९३१६०००	४७५९४०११३३८९४०००	१५२३००८३६२८४६०८०००
११ विपाकसूत्राग	१८४०००००	९४००२७७०३५६०००००	३००८०८८६५१३९२०००००
१२ दृष्टिवादाग	१०८६८५६००५	५५५२५८०१८७३९४२७१०७	१७७६८२५६५९९६६१६६७४४०

[1] अगपण्णत्ति

द्वादशांगी का ह्रास एवं विच्छेद

द्वादशागी के सम्बन्ध मे इससे पूर्व जो तथ्य प्रस्तुत किये गए है उनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि निखिल विश्वसत्वैकबन्धु सर्वभूतानुकम्पी चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर की पतितपावनी, सर्वोत्कृष्ट मगलप्रदायिनी उस अमोघ वारणी का नाम ही द्वादशागी है जिसे उनके ११ गणधरो ने सूत्र रूप से ग्रथित किया। यह भी बताया जा चुका है कि आर्य सुधर्मा गणधरो मे दीर्घायुष्क थे अत शेष सब गणधरो ने अपने-अपने गण आर्य सुधर्मा के अधीन कर मोक्ष प्राप्त किया और इसके परिणामस्वरूप न उनकी शिष्य-सतति ही अवशिष्ट रही और न उनके द्वारा ग्रथित द्वादशागी ही। भगवान् महावीर की निर्वाणरात्रि में ही इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई अत भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर पद पर आर्य सुधर्मा को ही आसीन किया गया। ऐसी दशा मे यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार आज की श्रमण-परम्परा आर्य सुधर्मा की शिष्य परम्परा है उसी प्रकार आज की श्रुतपरम्परा भी आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही है।

भगवान् महावीर ने विकट भवाटवी के उस पार पहुंचाने वाला, जन्म, जरा, मृत्यु के अनवरत चक्र से परित्राण करने वाला अनिर्वचनीय शाश्वत सुखधाम मोक्ष का जो प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया था, उस मुक्तिपथ पर अग्रसर होने वाले असख्य साधको को आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशागी प्रकाशदीप की तरह २५०० वर्ष से आज तक पथप्रदर्शन करती आ रही है। इस ढाई हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि मे भीषण द्वादशवार्षिक दुष्कालो जैसे प्राकृतिक प्रकोपो, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सास्कृतिक एव राजनैतिक क्रान्तियो आदि के कुप्रभावो से आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशागी भी पूर्णत· अछूती नही रह पाई। इस सब के अतिरिक्त कालप्रभाव, बुद्धिमान्द्य, प्रमाद, शिथिलाचार, सम्प्रदायभेद, व्यामोह आदि का घातक दुष्प्रभाव भी द्वादशागी पर पडा। यद्यपि आगमनिष्णात आचार्यो, स्वाध्यायनिरत श्रमण-श्रमणियो एवं जिनशासन के हितार्थ अपना सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने वाले सद्गृहस्थो ने श्रुतशास्त्रो को अक्षुण्ण और सुरक्षित वनाये रखने के लिये सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से समय २ पर प्रयास किये, अनेक बार श्रमण-श्रमणीवर्ग और संघ ने एकत्रित हो आगम-वाचनाए की किन्तु फिर भी काल अपनी काली छाया फैलाने मे येन केन प्रकारेण सफल होता ही गया। परिणामत उपरिवर्णित दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियो के कारण द्वादशागी का समय-समय पर बड़ा ह्रास हुआ।

द्वादशागी का कितना भाग आज हमारे पास विद्यमान है और कितना भाग हम अब तक खो चुके है, इस प्रकार का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यह वताना आवश्यक है कि मूलत अविच्छिन्नावस्था मे द्वादशागी का आकार-प्रकार कितना विशाल था। इस दृष्टि से आर्य सुधर्मा के समय मे द्वादशागी का जिस प्रकार का आकार-प्रकार था, उसकी तालिका यहा प्रस्तुत की जा रही है।

इस प्रकार पूर्व के अर्थ की अनन्तता होने के कारण वीर्य की भी पूर्वार्थ के समान अनन्तता (सिद्ध) होती है।[1]

नदी बाळावबोध मे प्रत्येक पूर्व के लेखन के लिए आवश्यक मसि की जिस अतुल मात्रा का उल्लेख किया गया है उससे पूर्वो के सख्यात पद और अनन्तार्थ-युक्त होने का आभास होता है।[2] ये तथ्य यही प्रकट करते है कि पूर्वो की पदसख्या असीम अर्थात् उत्कृष्टसख्येय पदपरिमाण की थी।

इन सब उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि द्वादशागी का पूर्वकाल मे बहुत बडा पद-परिमाण था। कालजन्य मन्दमेधा आदि कारणो से उसका निरन्तर ह्रास होता रहा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को कभी गर्व न करने का उपदेश देते हुए जो धूलि की राशि का दृष्टात दिया उस दृष्टात से सहज ही यह समझ मे आ जाता है कि वस्तुत द्वादशागी का ह्रास किस प्रकार हुआ। कालकाचार्य ने अपनी मुट्ठी मे धूलि भर कर उसे एक स्थान पर रखा। तत्पश्चात् उन्होने उस धूलि की राशि को उस स्थान से हटाकर क्रमश दूसरे, तीसरे तथा चौथे स्थान पर और फिर पाचवे स्थान पर रखा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को सम्बोधित करते हुए कहा–"वत्स! जिस प्रकार यह धूलि की राशि एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे स्थान पर रखने के कारण निरन्तर कम होती गई है, ठीक इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् महावीर से गणधरो को जो द्वादशागी का ज्ञान प्राप्त हुआ था वह गणधरो से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्यो को, उनसे उनके शिष्यो और प्रशिष्यो आदि को प्राप्त हुआ, वह द्वादशागी का ज्ञान एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी क्रम से अनेको स्थानो मे आते-आते निरन्तर ह्रास को ही प्राप्त होता चला आया है।" ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण और अनन्त ज्ञान-दर्शन-चरित्र के धारक प्रभु महावीर ने अपनी देशना मे अनन्त भावभगियो की अनिर्वचनीय एव अनुपम तरगो से कल्लोलित जिस श्रुतगगा को प्रवाहित किया, उसे द्वादशागी के रूप मे आवद्ध करने का गणधरो ने यथाशक्ति पूरा प्रयास किया पर वे उसे निश्शेष

---

[1] यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या तद्यथा –

सव्व नईण जा होज्ज वालुया गणणमागया सन्ती।
तत्तो वहुयतरागो, एगस्स अत्थो पुव्वस्स ॥१॥
सव्व समुद्दाणजल, जइ पत्थमिय हविज्ज सकलिय।
एत्तो वहुयतरागो, अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥२॥

तदेव पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति।

[सूत्र कृताग, (वीर्याधिकार) शीलाकाचार्यकृता टीका, आ श्री जवाहरलालजी म द्वारा सपादित, पृ ३३५]

[2] नदीसूत्र (धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित) पृ ४८२–८४

पूर्वो की पदसंख्या

पूर्वनाम	श्वेताम्बर परम्परानुसार	दिगम्बर परम्परानुसार
१. उत्पादपूर्व	एक करोड पद	एक करोड पद
२. अग्रायणीय	छियानवे लाख	छियानवे लाख
३. वीर्यप्रवाद	सत्तर लाख	सत्तर लाख
४. अस्तिनास्ति प्रवाद	साठ लाख	साठ लाख
५. ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड	एक कम एक करोड पद
६ सत्यप्रवाद	एक करोड ६ पद	एक करोड छ पद
७. आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड पद	छब्बीस करोड पद
८. कर्मप्रवाद	१ करोड़ अस्सी हजार	१ करोड़ ८० लाख पद
९ प्रत्याख्यान पद	८४ लाख पद	८४ लाख पद
१०. विद्यानुवाद	१ करोड १० लाख पद	१ करोड १० लाख पद
११. अवध्य	२६ करोड पद	२६ करोड पद[1]
१२. प्राणायु	१ करोड ५६ लाख पद	१३ करोड पद[2]
१३. क्रियाविशाल	९ करोड पद	९ करोड़ पद
१४. लोक बिन्दुसार	साढ़े बारह करोड पद	साढ़े बारह करोड़ पद

उपर्युल्लिखित तालिकाओं मे अकित दृष्टिवाद और चतुर्दश पूर्वो की पद-सख्या से यह स्पष्टत प्रकट होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के आगमों एव आगम सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थो मे दृष्टिवाद की पदसख्या संख्यात मानी गई है। शीलाकाचार्य ने सूत्रकृताग की टीका मे पूर्व को अनन्तार्थ युक्त बताते हुए लिखा है :—

"पूर्व अनन्त अर्थ वाला होता है और उसमे वीर्य का प्रतिपादन किया जाता है अत· उसकी अनन्तार्थता समझनी चाहिए।"

अपने इस कथन की पुष्टि मे उन्होने दो गाथाए प्रस्तुत करते हुए लिखा है— "समस्त नदियों के वालुकणो की गणना की जाय अथवा सभी समुद्रो के पानी को हथेली मे एकत्रित कर उसके जलकणों की गणना की जाय तो उन वालुकणो तथा जलकणो की सख्या से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होगा।

---

[1] दिगम्बर परम्परा मे ११ वे पूर्व का नाम कल्याण है।

[2] श्वेताम्बर परम्परानुसार पूर्वो की उपरोक्त पदसख्या समवायांग एव नन्दी-वृत्ति के आधार पर तथा दिगम्बर परम्परानुसार पदसख्या धवला, जयधवला, गोम्मटसार एव अग पण्णत्ति के अनुसार दी गई है। [सम्पादक]

अंतकृद्दशा	संख्यात हजार पद, सम० नदी वृत्ति के अनुसार २३,०४०००	६००
अनुत्तरोपपातिकदशा	सख्यात हजार पद, सम०, नदी वृ० के अनुसार ४६,०८०००	१९२
प्रश्नव्याकरण	सख्यात हजार पद, सम० एव नदी वृ० के अनुसार ९२,१६,०००	१३०० समवायाग और नदी सूत्र मे प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो परिचय दिया गया है, वह उपलब्ध प्रश्न-व्याकरण मे विद्यमान नही है।
विपाकसूत्र	सख्यात हजार पद, सम० और नदीवृत्ति के अनुसार १,८४,३२,०००	१२१६
दृष्टिवाद	सख्यात हजार पद	पूर्वो सहित बारहवा अग वीर निर्वाण स० १००० मे विच्छिन्न हो गया।

वस्तुस्थिति यह है कि द्वादशागी का बहुत बडा अश कालप्रभाव से विलुप्त हो चुका है अथवा विच्छिन्न-विकीर्ण हो चुका है। इस क्रमिक ह्रास के उपरान्त भी द्वादशागी का जितना भाग आज उपलब्ध है वह अनमोल निधि है और साधना-पथ मे निरत मुमुक्षुओ के लिए बराबर मार्ग-दर्शन करता आ रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि दु पमा नामक प्रवर्तमान पचम आरक के अन्तिम दिन के पूर्वाह्न काल तक भगवान् महावीर का धर्मशासन और महावीर वाणी-द्वादशागी अशत विद्यमान रह कर भव्यो का उद्धार करते रहेगे। इस प्रकार की मान्यता के उपरान्त भी श्वेताम्बर परम्परा के एक प्राचीन ग्रन्थ 'तित्थोगाली पइन्ना" मे भगवान् महावीर के निर्वाण पश्चात् २१००० वर्ष पर्यन्त पचम आरक के अन्तिम दिन तक 'दशवैकालिक सूत्र का अर्थ' 'आवश्यक सूत्र', 'अनुयोगद्वार' और 'नदीसूत्र'–चार सूत्रो के अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहने के उल्लेख के साथ[1] द्वादशागी के विछिन्न होने के सम्बन्ध मे निम्नलिखित रूप मे विवरण दिया गया है –

---

[1] वासाण सहस्सेण य, इक्कवीसाए इह भरहवासे।
दसवेयालियसुत्तो दुप्पसहजइम्मि नासिहिति ॥५०॥
इगवीस सहस्साइं वासाण वीरमोक्खगमणाओ।
पव्वोच्छिन्न होही आवस्सग जाव तित्थं तु ॥५२॥

रूप से तो आबद्ध नही कर पाये । तदनन्तर आर्य सुधर्मा से आर्य जम्बू ने, जम्बू से आर्य प्रभव ने और आगे चल कर क्रमश एक के पश्चात् दूसरे आचार्यो ने अपने-अपने गुरू से जो द्वादशागी का ज्ञान प्राप्त किया उसमे एक स्थान से दूसरे स्थान मे आते-आते द्वादशागी के अर्थ के कितनी वडी मात्रा मे पर्याय निकल गए, छूट गए अथवा विलीन हो गए, इसकी कल्पना करना भी कठिन है ।

आर्य भद्रबाहु के पश्चात् (वी० नि० स० १७०) अन्तिम चार पूर्व अर्थत. और आर्य स्थूलभद्र के पश्चात् (वी० नि० स० २१५) शब्दत विलुप्त हो गए ।

द्वादशागी के किस-किस अश का किन-किन आचार्यो के समय मे ह्रास हुआ यह यथास्थान बताने का प्रयास किया जायगा । आर्य सुधर्मा से प्राप्त द्वादशागी मे से आज हमारे पास कितना अंश अवशिष्ट रह गया, यहां केवल यही बताने के लिए एक तालिका दी जा रही है, जो इस प्रकार है :–

अग का नाम	मूल पद सख्या	उपलब्ध पाठ (श्लोक प्रमाण)
आचाराग	१८,०००	२५०० महापरिज्ञा नामक ७ वा अध्ययन विलुप्त हो चुका है।
सूत्रकृताग	३६,०००	२१००
स्थानाग	७२,०००	३७७०
समवायाग	१,४४,०००	१६६७
व्यख्याप्रज्ञप्ति	२,८८,००० (नदीसूत्र)[1] ८४,००० (समवायाग)[2]	१५७५२ १०१ शतको मे से आज ४१ शतक ही उपलब्ध है ।
ज्ञातृधर्मकथा	समवायाग और नन्दी के अनुसार संख्येय हजार पद और इन दोनो अगो की वृत्ति के अनुसार ५,७६,०००	५५०० इस अग के अनेक कथानक वर्तमान मे उपलब्ध नही है।
उपासकदशा	सख्यात हजार पद सम० एव नदी के अनुसार पर दोनों सूत्रो की वृत्ति के अनुसार ११,५२,०००	८१२

[1] दो लक्खा अट्ठासीइ पयसहस्साइ पयग्गेण··· [नदी, पृ० ४५८, राय धनपतिसिह]

[2] चउरासीइपयसहस्साइ पयग्गेण पण्णत्ता ·· [समवायाग, पृ० १७६ (अ), राय धनपतिसिह]

वीर-निर्वाण स० १३०० मे माढर गोत्रीय सभूति नामक श्रमण की मृत्यु होने पर द्वादशागी के चतुर्थ अग समवायाग सूत्र का विच्छेद हो जायगा।[1]

वीर-नि० स० १३५० मे आर्जव मुनि के स्वर्गगमन के पश्चात् जिनेन्द्र भगवान् ने स्थानाग सूत्र के विच्छिन्न होने का निर्देश किया है।[2]

वीर-नि० स० १५०० मे गौतम गोत्रीय महासत्वशाली श्रमण फल्गुमित्र के निधन पर दशाश्रुतस्कध का विच्छेद होना वताया गया है।[3]

वीर-निर्वाण स० १६०० मे भारद्वाज गोत्रीय महाश्रमण नाम से विख्यात श्रमण के पश्चात् 'सूत्रकृताग' का विच्छेद हो जायगा।[4]

वीर-नि० स० २०,००० मे हारित गोत्रीय विष्णु मुनि का निधन हो जाने पर आचाराग का विच्छेद हो जायगा। दु षमा नामक पंचम आरक का थोडा-सा समय अवशिष्ट रहने पर क्षमा, तप आदि गुणो के भण्डार दु प्रसह नाम के अणगार होगे। वे भरत क्षेत्र मे अन्तिम आचारागधर होगे। उनके निधन के साथ ही चारित्र सहित आचाराग समूल नष्ट हो जायगा। अनुयोग सहित आचाराग ही श्रमणगण को आचार का वोध कराने वाला है अत आचाराग के प्रणष्ट हो जाने पर सर्वत्र अनाचार का साम्राज्य व्याप्त हो जायगा। आचार सूत्र के प्रणष्ट हो जाने पर फिर श्रमणो का नाम मात्र भी अवशिष्ट नही रहेगा।[5]

---

[1] समवाय ववच्छेदो, तेरसहि सतेहि होहि वासाण।
माढर गोत्तस्स इह, सभूतिजतिस्स मरणमि ॥८१०॥ [तित्थोगाली पइन्ना]

[2] तेरसवरिस सतेहिं पण्णासा समहिएहिं वोच्छेदो।
अज्जव जतिस्स मरणे ठाणस्स जिणेहिं निद्दिट्ठो ॥८११॥ [वही]

[3] भणिदो दसाण छेदो पनरससएहि होइ वरिसाण।
समणम्मि फग्गुमित्ते, गोयमगोत्ते महासत्ते ॥८१३॥ [वही]

[4] भारद्दायसगुत्ते, सूयगडगं महासमण नामे।
अगुणव्वीससतेहि जाही वरिसाण वोच्छित्ति ॥८१४॥ [वही]

[5] विण्हु मुणिम्मि मरते, हारित गोत्तम्मि होति वीसाए।
वरिसाण सहस्सेहिं, आयारगस्स वोच्छेदो ॥८१६॥
अह दुसमाए सेसे, होही नामेण दुप्पसह समणो।
अणगारो गुणगारो, खमागारो तवागारो ॥८१७॥
सो किर आयारधरो, अपच्छिमो होहीति भरहवासे।
तेण सम आयारो, निस्सिही सम चरित्तेण ॥८१८॥
अणुओगच्छिण्णायारो, अह समणगणस्स दावियायारो।
आयारम्मि पणट्ठे, होहीति तइया अणायारो ॥८१९॥
चकमिउ वरतर तिमिसगुहाए तमधकाराए।
न य तइया समणाण, आयार-सुत्ते पणट्ठमि ॥८२०॥ [वही]

"भगवान् महावीर के आठवे पट्टधर (आर्य स्थूल भद्र) के समय मे १४ पूर्वो मे से अन्तिम ४ पूर्व प्रणष्ट हो गए। उनके समय मे अनवष्टप तप और पारचित तप ये दोनो तप भी नष्ट हो गए क्योकि चतुर्दश पूर्वधरों के काल तक ही ये दोनो तप विद्यमान रहते है। शेष सब (तप) तीर्थ की अवस्थिति तक विद्यमान रहते है।[1]

सकडाल कुल के यश को वढाने वाले धीरवर आर्य स्थूलभद्र प्रथम दशपूर्वधर और श्रेष्ठ श्रमणगुणों के धारक सत्यमित्र नामक श्रमण अन्तिम दशपूर्वधर होगे।[2]

वीर-निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् उत्तरबलिस्सह के वाचकवश मे हुए वृपभतुल्य आचार्य (देवर्द्धि क्षमाश्रमण) के स्वर्गगमन के साथ ही पूर्वो का ज्ञान विच्छिन्न हो जाएगा।[3]

वीर-निर्वाण सवत् १२५० मे दिन्नगणि-पुष्यमित्र के स्वर्गगमन के साथ 'वियाहपण्णत्ति' का विच्छेद हो जायगा। श्रामण्य के परिपालन मे निपुण वीर-वर श्रमण पुष्यमित्र 'वियाह पण्णत्ति' के धारको मे अन्तिम होगे। गुणो से ओत-प्रोत ८४ हजार पदो से सुशोभित 'वियाहपण्णत्ति' रूपी वृक्ष के विच्छिन्न हो जाने पर लोग गुण रूपी फल से वचित हो जायेगे।[4]

इगवीस सहस्साइ, वासाण वीरमोक्खगमणाओ।
अणुओगदार-नदी, अव्वोच्छिन्नाउ जा तित्थ ॥५३॥
[विजयदानसूरि द्वारा अपने ग्रन्थ 'विविध प्रश्नोत्तर' मे तीर्थोद्गाली के नाम से उद्धृत]
ये ३ गाथाए हमारे पास उपलब्ध तित्थोगालीपइन्ना मे नही है।   [सम्पादक]

[1] एतेण कारणेण उ, पुरिसजुगे अट्ठमम्मि वीरस्स।
सयराहेण पणट्ठाइ, जाण चत्तारि पुव्वाइ ॥७९८॥
अणवट्ठपो य तवो, तव पारची य दोवि वोच्छिन्ना।
चउदस पुव्वधरम्मि, धरति सेसा उ जा तित्थ ॥७९९॥ तित्थोगाली पइन्ना

[2] पढमो दस पुव्वीण, सकडाल कुलरस जसकरो धीरो।
नामेण थूलभद्दो, अविहि साधम्मभद्दोत्ति ॥८०१॥
नामेण सच्चमित्तो, समणो समणगुणनिउणविचतिओ।
होही अपच्छिमो किर, दसपुव्वीधारओ वीरो ॥८०२॥
[तित्थोगालीपइण्णा]

[3] वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥८०५॥ [वही]

[4] पण्णासा वरिसेहि य वारसवरिससएहि वोच्छेदो।
दिण्णगणिपूसमित्ते, सविवाहाण छल माण ॥८०७।
नामेण पूसमित्तो, समणो समणगुणनिउणचित्तो।
होही अपच्छिमो किर, विवाहसुयधारको वीरो ॥८०८॥
तमि य विवाहरुक्खे, चुलसीति पयसहस्सगुणकिलिओ।
सहसच्चिय सभतो होही गुणनिप्फलो लोगो ॥८०९॥ [वही]

पाठ वल्लभी मे हुई अन्तिम वाचना मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों द्वारा वीर निर्वाण स० ६८० मे निर्धारित किया गया था। इस अन्तिम आगम-वाचना से १५३ वर्ष पूर्व वीर नि० स० ८२७ मे, लगभग एक ही समय मे दो विभिन्न स्थानो पर दो आगम-वाचनाए, पहली आगम-वाचना आर्य स्कदिल की अध्यक्षता मे मथुरा मे और दूसरी आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे, वल्लभी मे हो चुकी थी। उपरिवर्णित द्वितीय मान्यता के अनुसार द्वादशागी का मूलस्वरूप ८२७ वर्षो तक यथावत् बना रहा हो और केवल १५३ वर्षो की अवधि मे ही इतने स्वल्प परिमाण मे अवशिष्ट रह गया हो, यह विचार करने पर स्वीकार करने योग्य प्रतीत नही होता। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवनकाल मे वीर नि० स० १६० के आसपास की अवधि मे हुई प्रथम आगम-वाचना के समय द्वादशागी का जितना ह्रास हुआ, उसे ध्यान मे रखते हुए विचार किया जाय तो हमे इस कटु सत्य को स्वीकार करना होगा कि वी० नि० स० ८२७ मे हुई स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओ के समय तक द्वादशागी का प्रचुर मात्रा मे ह्रास हो चुका था तथा एकादशागी का आज जो परिमाण उपलब्ध है, उससे कोई बहुत अधिक परिमाण स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओ के समय मे नही रहा होगा।

इन सब तथ्यो पर विचार करने के पश्चात् पहले प्रश्न का यही वास्तविक उत्तर प्रतीत होता है कि कालप्रभाव, प्राकृतिक प्रकोपो एव अन्य प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण प्रमुख सूत्रधरो के स्वर्गगमन के साथ-साथ श्रुत का भी शनै शनै ह्रास होता गया।

द्वादशागी का कौन कौन सा अग किस किस समय मे विच्छिन्न हुआ, इस सम्बन्ध मे जो तित्थोगाली मे विवरण दिया गया है, उसके अनुसार जिस अग के जिस समय मे विच्छिन्न होने का उल्लेख है, उस समय मे वह अग पूर्णत लुप्त हो गया अथवा अशत ही लुप्त हुआ, इस दूसरे प्रश्न पर अब हमे विचार करना है। इस सन्दर्भ मे हमे उन सव गाथाओ पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा जो आचाराग के विच्छेद के विषय मे ऊपर दी गई है। गाथा सख्या ८१६ मे बताया गया है कि वी० नि० स० २०,००० मे आचाराग का विच्छेद हो जायगा। इसके पश्चात् गाथा सख्या ८१७ मे बताया गया है कि दु षमा नामक पचम आरक का कुछ समय शेष रहने पर दु प्रसह नामक आचार्य अतिम आचारागधर होगे। उन दु प्रसह आचार्य के निधन के साथ ही साथ चारित्र सहित आचाराग नष्ट हो जायगा। अत मे गाथा सख्या ८२० मे वताया गया है कि आचारसूत्र के नष्ट हो जाने के पश्चात् श्रमणो का नाम तक अवशिष्ट नही रहेगा और लोग अधकार-पूर्ण तिमिस्र गुफा मे रहेगे।

इन गाथाओ पर गहन चिन्तन से यही निष्कर्प निकलता है कि वी० नि० स० २०००० मे आचाराग के बहुत बडे भाग का लोप हो जायगा किन्तु वह पूर्णत विलुप्त नही होगा। अशत एव अर्थत आचाराग, आचारसूत्र के रूप मे उक्त विलोप के पश्चात् भी १००० वर्प तक विद्यमान रहेगा और वीर निर्वाण

इस प्रकार द्वादशागी मे से पाच अङ्गो के विच्छेद के समय का उल्लेख तित्थोगाली मे किया गया है। इस प्रकरण को पढने के पश्चात् समीचीनतया विचार करने पर दो मुख्य प्रश्न उपस्थित होते है। पहला प्रश्न यह है कि इसमे जो अङ्गो के विच्छिन्न होने का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुत उस श्रुत के नष्ट होने के सम्बन्ध मे उल्लेख है अथवा प्रधान सूत्रधर के नष्ट होने के सम्बन्ध मे ? दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जिन-जिन अङ्गो के जिस-जिस समय मे विच्छिन्न होने का उल्लेख किया गया है, वे अङ्ग-शास्त्र उस समय मे पूर्णत नष्ट हो गए अथवा अशत ?

जहा तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है यह प्रश्न बडे लम्बे समय से बहुचर्चित रहा है। व्यवहारभाष्य मे भी इस प्रकार का उल्लेख है :–

"तित्थोगाली मे अनुक्रम से यह विवरण दिया हुआ है कि किस-किस अग का किस-किस समय मे विच्छेद होगा।"[1] श्रुत-विच्छेद के सम्बन्ध मे दो प्रकार के अभिमत रहे है, इस प्रकार का आभास नन्दीसूत्र की चूर्णि से स्पष्टत प्रकट होता है। नन्दीसूत्र-थेरावली की ३२ वी गाथा की व्याख्या मे नन्दीचूर्णिकार ने इन दोनो प्रकार के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है – "बारह वर्षीय भीषण दुष्काल के समय आहार हेतु इधर-उधर भ्रमण करते रहने के फलस्वरूप अध्ययन एव पुनरावर्तन आदि के अभाव मे श्रुतशास्त्र का ज्ञान नष्ट हो गया। पुन॰ सुभिक्ष होने पर स्कदिलाचार्य के नेतृत्व मे श्रमणसघ ने एकत्रित हो, जिस जिस साधु को आगमो का जो जो अंश स्मरण था, उसे सुन-सुन कर सम्पूर्ण कालिक श्रुत को सुव्यवस्थित एव सुसगठित किया। वह वाचना मथुरा नगरी मे हुई इसलिए उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलाचार्य सम्मत थी अत स्कदिलीय अनुयोग के नाम से पुकारी जाती है। दूसरे (आचार्य) कहते है – सूत्र नष्ट नही हुए, उस दुर्भिक्षकाल मे जो प्रधान-प्रधान अनुयोगधर (श्रुतधर) थे, उनका निधन हो गया। एक स्कन्दिलाचार्य बचे रहे। उन्होने मथुरा में साधुओ को पुन. शास्त्रो की वाचना-शिक्षा दी, अतः उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलीय अनुयोग कहा जाता है।"[2]

नन्दी चूर्णि मे जो उक्त दो अभिमतो का उल्लेख किया गया है, उन दोनो प्रकार की मान्यताओं को यदि वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाय तो वस्तुत पहली मान्यता ही तथ्यपूर्ण और उचित ठहरती है। "सूत्र नष्ट नही हुए" – इस प्रकार की जो दूसरी मान्यता अभिव्यक्त की गई है वह तथ्यो पर आधारित प्रतीत नही होती। द्वादशागी की प्रारम्भिक अवस्था के पद-परिमाण और वर्तमान मे उपलब्ध इसके पाठ की तालिका इसका पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है। इस सम्बन्ध मे विशेप चर्चा की आवश्यकता नही क्योकि वर्तमान मे उपलब्ध द्वादशागी का

[1] तित्थोगाली एत्थ, वत्तव्वा होई आणुपुव्वीए।
जे तस्स उ अगस्स, वुच्छेदो जहि विणिद्दिट्ठो॥ व्या० भा० १०,७०४

[2] नदीचूर्णि, पृ० ६ (पुण्यविजयजी म० द्वारा सपादित)।

एक श्रुतधर के निधन के साथ जिस अगशास्त्र के व्यवच्छेद का तित्थोगाली के रचयिता ने उल्लेख किया है, उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यही विचार सगत प्रतीत होगा कि एक श्रुतधर के दिवगत होने पर उस श्रुत का पूर्णत नही अपितु अशत लोप हो गया। क्योकि किसी भी अगशास्त्र को सूत्र और अर्थसहित कण्ठस्थ रखने वाले उस शास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता किसी एक समय मे कोई एक श्रुतधर हो सकते है पर उसके सामान्य सूत्र और अर्थ को कण्ठस्थ रखने वाले हजारो नही तो सैकडो मुनि उस समय मे अवश्य रहे होगे। ऐसी दशा मे एक विशिष्ट सूत्रधर के निधन के साथ उस सूत्र का विशिष्ट ज्ञान विलुप्त हो सकता है न कि वह सम्पूर्ण शास्त्र ही। अपने समय के उन प्रधान और विशिष्ट श्रुतधर के न्यूनाधिक मेधावी शिष्य भी रहे होगे जिन्होने सम्पूर्ण न सही पर कुछ न कुछ तो आचाराग का अध्ययन उन श्रुतधर आचार्य के पास अवश्य किया होगा। उन शिष्यो के अतिरिक्त विशाल श्रमरण-श्रमरिणयो के सघो मे प्रत्येक साधु अथवा साध्वी ने थोडा बहुत तो आचाराग का अध्ययन अवश्यमेव किया होगा। क्योकि उस समय तक प्रत्येक श्रमरण-श्रमरणी के लिये आचाराग के अध्ययन की अनिवार्य प्राथमिकता मानी जाती थी। ऐसी स्थिति मे एक श्रुतधर के निधन पर किसी भी श्रुत का स्वल्प अथवा अधिक अश तो विलुप्त हो सकता है पर वह पूरा का पूरा अगशास्त्र ही एक श्रुतधर के न रहने पर सम्पूर्णरूपेण विलुप्त हो जाय यह किसी भी तरह तर्कसगत प्रतीत नही होता।

उपरोक्त सब तथ्यो से यही प्रकट होता है कि तित्थोगाली मे जो अगो के विच्छेद का विवरण दिया गया है वह वस्तुत अगो के अशत विच्छेद का ही विवरण है न कि सम्पूर्णत विच्छेद का। द्वादशागी का जो ह्रास हुआ है उसका चित्र आज हमारे समक्ष प्रत्यक्ष विद्यमान है।

द्वादशांगी विषयक दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर परम्परा वर्तमान काल मे द्वादशागी के किसी एक भी अग का अस्तित्व नही मानती। उसकी मान्यतानुसार वी० नि० स० ६८३ मे ही द्वादशागी विलुप्त हो गई। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रथ तिलोयपण्णत्ति, अगपण्णत्ति श्रुतावतार, आदिपुराण, उत्तरपुराण आदि मे द्वादशागी के विनष्ट होने का थोडे-बहुत मतभेद के साथ जो विवरण दिया गया है, उसका मोटे तौर पर निम्न-लिखित रूप से निष्कर्ष निकलता है –

१ वीर निर्वाण स० ६२ तक केवलज्ञान विद्यमान रहा। वीर नि० स० १ से १२ तक गौतम, वी० नि० स० १२ से २४ तक आर्य सुधर्मा और वी० नि० स० २४ से ६२ तक जम्बू स्वामी केवली रहे।

२ वीर नि० स० ६२ से १६२ तक १०० वर्ष का काल चतुर्दश पूर्वधर-काल रहा। इन १०० वर्षो मे नदी (विष्णुकुमार), नदीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये ५ श्रुतकेवली हुए।

सं० २१,००० के लगभग जिस दिन पंचम आरक समाप्त होगा, उस दिन के प्रथम प्रहर में आचार्य दु:प्रसह के स्वर्ग-गमन के साथ ही आचाराग का भी पूर्णत उच्छेद हो जायगा। यदि वीर नि० सं० २०,००० मे ही आचाराग का पूर्णत उच्छेद हो जाता है तो वीर निर्वाण के लगभग २१००० वर्ष पश्चात् पचम आरक की समाप्ति के अंतिम दिन मे स्वर्गस्थ होने वाले दु.प्रसह आचार्य को अतिम आचारधर किस प्रकार बताया जा सकता है ? यदि कहा जाय कि यहा 'आचारधर' शब्द का प्रयोग आचारागधर के अर्थ मे नही अपितु आचारधर के अर्थ मे किया गया है तो यह कथन किसी भी दशा मे उचित नही ठहरता। क्योकि गाथा मे निर्दिष्ट – "तेण सम आयारो, निस्सिही सम चरित्तेणं" – इस पद मे 'चरित्तेण' इस शब्द से चारित्र अर्थात् आचार का और 'आयारो' इस शब्द से आचाराग का स्पष्ट शब्दो मे पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। यदि तित्थोगाली के रचनाकार को 'आयारो' शब्द से चारित्र-आचार अर्थ अभीष्ट होता तो वे 'सम चरित्तेण' इस पद से चारित्र का पुन. पृथक् रूप से उल्लेख नही करते। वस्तुत. उन्होने 'आयारो' शब्द का प्रयोग इस गाथा मे आचाराग के लिये ही प्रयुक्त किया है और इससे आगे की गाथा सख्या ८२० के – "न य तइया समणाण, आयारसुत्ते पणट्ठम्मि" – इस पद मे अपने अभिप्रेत कथन को यह कह कर सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट कर दिया है कि आचार-सूत्र के विनष्ट होने के पश्चात् श्रमणो का एकान्तत अभाव हो जायगा।

इन सब तथ्यो से यह प्रमाणित होता है कि 'तित्थोगाली' मे जो अगशास्त्रो के विच्छेद का पृथक्-पृथक् समय दिया गया है, उस-उस समय मे आचारागादि अग शास्त्रो का पूर्णत नही अपितु अशत. विच्छेद बताया गया है। तित्थोगाली के प्रणेता आचार्य का उक्त प्रकरण मे यही बताने का अभिप्राय है कि गणधर-काल मे द्वादशांगी का जो विशाल स्वरूप था उसका प्रचुर मात्रा मे विच्छेद हो गया अथवा होगा पर अशत छोटे-बड़े यत्किंचित् रूपेण द्वादशागी पचम आरक की समाप्ति के अतिम दिन में चतुर्विध तीर्थ की विद्यमानता तक निश्चित रूप से विद्यमान रहेगी।

तित्थोगाली के उपरोक्त प्रकरण की गाथाओ को ध्यानपूर्वक देखने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि जहा किसी अंगशास्त्र के सम्पूर्ण रूप से विलुप्त होने का उल्लेख करना ग्रन्थकार को अभीप्सित था वहा उन्होंने 'नासिही', 'निस्सिही' और 'पणट्ठम्मि' शब्दो का प्रयोग किया है और जहा उन्हे किसी अगशास्त्र के कुछ अंश, कुछ भाग के विलुप्त होने का उल्लेख करना अभीष्ट था वहां उन्होने "वोच्छेदो", "वोच्छित्ती" – इन शब्दो का प्रयोग किया है। इससे भी ग्रन्थकार के अभिप्राय का स्पष्ट आभास होता है कि अंगशास्त्रों के विच्छेद का जो विवरण उन्होने तित्थोगाली मे प्रस्तुत किया है उसमे उन्होने कतिपय अगो के अंशतः लोप का और अत मे दुप्पसह आचार्य की मृत्यु के पश्चात् आचारांग के सम्पूर्णत विनष्ट होने का उल्लेख किया है।

अग्रसर कर अमृतत्व प्रदान करने वाले, जैन धर्म के आधारस्तम्भोपम मूल सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने वाले अमृत से भी अधिक मधुर निम्नलिखित अमोल वचन किसी छद्मस्थ आचार्य के मस्तिष्क की कल्पना से उद्भूत है –

१ सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघितव्वा न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सासए………… ।

२ तुमसि नाम सच्चेव ज हंतव्वंति मन्नसि………… ।

३ धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमोतवो । इत्यादि ।

ये शाश्वत सत्य प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित है, इसमें किसी को किसी भी प्रकार की शका नही होनी चाहिए । महावीर वाणी (द्वादशागी) के पूर्णत विनष्ट हो जाने की वात कहना वस्तुत एक प्रकार से जिन शासन की प्रतिष्ठा के लिये हितकर नही अपितु अहितकर ही सिद्ध हो सकता है । क्योकि इस प्रकार की मान्यता अभिव्यक्त करने पर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि प्रभु महावीर की वाणी का एक भी शब्द विद्यमान नही है तो आज जो जैन धर्म और जैन सिद्धान्तो का स्वरूप विद्यमान है वह किनके शब्दो पर अवलवित एव आधारित है ? जो कुछ आज हमारे पास विद्यमान है क्या वह सव महावीर वाणी की देन नही है ?

द्वादशागी के वहुत वडे भाग का विच्छेद हुआ है, इस तथ्य को कोई भी विचारक अस्वीकार नही कर सकता । द्वादशागी की भाषा मे भी थोडा वहुत परिवर्तन आना सम्भव है पर वस्तुत आर्य सुधर्मा द्वारा प्रभु की दिव्य ध्वनि के आधार पर ग्रथित एकादशागी और पूर्वज्ञान आज भी अशत विद्यमान है और पचम आरक की समाप्ति से कुछ समय पूर्व तक ये विद्यमान रहेगे ।

३ वी० नि० सं० १६२ से ३४५ पर्यन्त अर्थात् १८३ वर्ष तक १० पूर्वधरो का काल रहा । इस अवधि मे विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, देव और धर्मसेन ये ११ दश पूर्वधर हुए ।

४. वी० नि० स० ३४५ से ५६५ पर्यन्त २२० वर्षो का काल एकादशागधरों का काल रहा । इस २२० वर्ष की अवधि में नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कसार्य ये ५ एकादशागधर हुए ।

५. तत्पश्चात् वी० नि० स० ५६५ से ६८३ तक ११८ वर्ष का आचारागधर काल रहा । इस अवधि मे समुद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) और लोहार्य ये ४ आचारागधर हुए ।

इसके पश्चात् कोई अगधर नही रहा और इस प्रकार वी० नि० स० ६८३ मे द्वादशागी विलुप्त हो गई ।

यद्यपि तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण आदि दिगम्बर परम्परा के प्राचीन और मान्य ग्रथो मे स्पष्ट रूप से इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि द्वादशागी का वी० नि० स० ६८३ मे विच्छेद हो जाने के उपरान्त भी वी० नि० स० २०३१७ तक अर्थात् दु षमा काल की समाप्ति के कतिपय वर्ष पूर्व तक द्वादशागी अशत विद्यमान रहेगी,[१] तथापि दिगम्बर परम्परा मे आज यह मान्यता आमतौर से प्रचलित है – "वीर नि० स० ६८३ मे ११ अगो का, १४ पूर्वो का, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र का और समस्त मूल जिनागम साहित्य का सम्पूर्ण रूप से विनाश हो गया । प्रभु महावीर की दिव्य ध्वनि से प्रकट हुआ एक भी शब्द आज विद्यमान नही रहा है ।"

इस प्रकार की प्रचलित मान्यता का कोई ठोस आधार दिगम्बर परम्परा के किसी मान्य प्राचीन ग्रथ मे खोजने पर भी उपलब्ध नही होता ।

भगवान् महावीर के अनुयायी सभी विद्वानो, विचारको और प्रत्येक जैन के लिए यह निष्पक्ष रूप से चिन्तन का विषय है कि क्या भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्य अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और भावनाओ आदि के अमर सिद्धान्त आर्यधरा से विलुप्त हो चुके है ? क्या अमरता की ओर

---

[१] (क) वीससहस्स तिसदा, सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थ ।
धम्मपयट्टण हेदू, वोच्छिसदि काल दोसेण ।।१४९३।।
[तिलोयपण्णत्ति, म ४]

(ख) श्रुत तपोभृतामेषा प्रणेश्यति परम्परा ।
शेषैरपि श्रुतज्ञानस्यैको देशस्तपोधनै ।।५२७।।
जिन सेनानुगैर्वीरसेनै प्राप्तमहर्द्धिभि ।
समाप्ते दुष्षमाया प्राक्प्रायशो वर्तयिप्यते ।।५२८।।
[महापुराण (उत्तरपुराण, पर्व ७६)]

आर्य जम्बू के पूर्वभव :

आर्य जम्बू ने ऐसी अद्भुत आत्मशक्ति, इतनी अपरिमित धन-सम्पत्ति एव सर्वप्रिय-सम्मोहक भव्य व्यक्तित्व किस प्रकार प्राप्त किया, यह उनके पूर्वभव के वृत्तान्त से भलीभाति जाना जा सकता है अत यहा उनके पूर्वभवो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

भगवान् महावीर, निर्वाणगमन से १६ वर्ष पूर्व, एक समय राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान मे पधारे हुए थे। भगवान् की दिव्य देशना सुनने हेतु अपार जनसमूह प्रभु के समवसरण की ओर उमड पडा। मगध-सम्राट् श्रेणिक भी अपने परिजन-पुरजन आदि के साथ तीर्थंकर महावीर के दर्शन-वन्दन एव उपदेश-श्रवण की उत्कण्ठा लिए प्रभु-सेवा मे उपस्थित हुए। दर्शनार्थ जाते समय श्रेणिक ने मार्ग मे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को चिलचिलाती धूप मे ध्यानमग्न देखा। उनके उग्र तप से प्रभावित श्रेणिक त्रिभुवनतिलक भगवान् महावीर से महर्षि प्रसन्नचन्द्र के घोर तप के फलस्वरूप होने वाली उनकी भावी गति के सम्बन्ध मे ऊहापोहात्मक अनेक प्रश्न कर रहे थे। भगवान् महावीर श्रेणिक के प्रश्नो के उत्तर मे राजर्षि प्रसन्नचन्द्र द्वारा अपने तीव्र अशुभ एवं शुभ अध्यवसायो के कारण किए जा रहे नारक एव देवायु के उपार्जन तथा क्षय के सम्बन्ध मे फरमा रहे थे। उसी समय श्रेणिक ने देवदुन्दुभि-श्रवण एव देवो के सम्पात को देखकर साश्चर्य प्रभु से उसका कारण पूछा। प्रभु ने फरमाया – "राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञानोपलब्धि हो गई है।"

देवो ने पच-दिव्य वर्षा कर केवली प्रसन्नचन्द्र का केवल-ज्ञानोत्सव मनाया और उसके पश्चात् वे दर्शन हेतु प्रभु के समवसरण मे आये। उन देवो ने प्रभु के पादपद्मो मे प्रणाम किया। उसी समय विद्युन्माली नामक एक महासमृद्धिशाली देव ने समवसरण मे उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करते हुए सूर्य एव चन्द्रमा के समान जगमगाती हुई मणियो से जटित मुकुट से सुशोभित अपना मस्तक प्रभु के पदारविन्द मे झुकाया। विद्युन्माली का सौन्दर्य और शरीर की कान्ति अन्य सब देवो से इतनी अधिक तेजस्वी सौम्य, नयनाभिराम और मनोहारी थी कि परिषद् मे उपस्थित अधिकाश लोग विस्फारित नेत्रो से उसकी ओर एक-टक देखते ही रह गये।

महाराज श्रेणिक ने प्रभु को साजलि शीश झुकाते हुए प्रश्न किया – "विश्वेकनाथ ! सब देवो मे अत्यधिक तेजस्वी यह कौनसा देव है ? इसने किस महान् सुकृत के प्रताप से ऐसा अद्भुत कान्तिमान् एव मनमोहक सौन्दर्य प्राप्त किया है ?

भगवान् महावीर ने मगधसम्राट् के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया – "राजन् ! इसी मगध जनपद मे सुग्राम नामक ग्राम मे आर्जव नामक एक राष्ट्रकूट अथवा राठोड (रट्ठउडो) रहता था।[1] उसकी पत्नी रेवती की कुक्षि

---

[1] तत्थासि तत्थवाणी अज्जव अज्जवति रट्ठउडो। ॥२॥ [उपदेशमाला, दोघट्टी वृत्ति]

आर्य जम्बू

(भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर)

भगवान् महावीर स्वामी के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य आर्य जम्बू ईसा से ५०७ वर्ष पूर्व, वीर निर्वाण सवत् २० मे धर्म-संघ के द्वितीय आचार्य बने ।

भगवान् महावीर के शासन मे आर्य जम्बू एक महान् समर्थ आचार्य हुए है। जिस प्रकार उनके अनुपम त्याग की महत्ता प्रकट करने के लिए ससार मे कोई उपमा उपलब्ध नही होती, ठीक उसी प्रकार उनकी शरीर-सम्पदा, वैराग्य, तप, गुरुभक्ति, सरलता और आध्यात्मिक ज्ञान आदि का चित्रण करने के लिए अथक परिश्रम से भी कोई उपयुक्त शब्दावली प्राप्त नही होती ।

अत्यन्त सुकुमार, स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल और सशक्त, स्वर्ण के समान कान्तिमान सुमनसर-सुरोपम शरीर, मादक यौवन मे प्रथम पाद-निक्षेप, समस्त विद्याओ एव ७२ कलाओं मे निपुणता, कुबेरोपम अक्षय-अतुल धन-वैभव, सुरसुन्दरियो के समान रूप-लावण्यसम्पन्न आठ कोकिलकण्ठिनी नववधुएं, विपुल विलासोपकरण, सुन्दर-सुखद वातावरण, सुख के समस्त साधन – ये सब कुछ सहजप्राप्त ऐहिक प्रलोभन जिस मुक्तिपथ के पथिक को किंचित्मात्र भी लुब्ध न कर सके, उस महान् साधक की विराटता का वास्तविक वर्णन लेखनी अथवा शब्दो से किया जाना एक प्रकार से असम्भव है। उद्दाम यौवन मे अपने समक्ष भोगार्थ प्रस्तुत असीम भोग सामग्री को ठुकरा कर जम्बू कुमार का स्वेच्छा से कण्टकाकीर्ण त्याग-पथ पर आरूढ होना, यह अपने आप मे एक ऐसा असाधारण आश्चर्यजनक उदाहरण है जो सम्भवत ससार के इतिहास मे खोजने पर भी अन्यत्र नही मिलेगा ।

प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिए प्रकाशस्तम्भ की तरह पथ-प्रदर्शक जम्बूकुमार का उत्कट विरक्तिपूर्ण, आध्यात्मिक साधना की अमिट लौ युक्त अखण्ड ज्योति से जगमगाता हुआ परम उद्दीप्त,परम उद्दात्त साहसी जीवन एक लम्बे काल से कवियो, कलाकारो, एवं लेखको के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है और उनके द्वारा समय-समय पर जम्बूकुमार के जीवन के सम्बन्ध मे प्रचुर मात्रा मे अनेक भाषाओ एव विविध विधाओ मे साहित्य का सृजन किया जाता रहा है।

आर्य जम्बू वर्तमान अवसर्पिणी काल मे भरतक्षेत्र के अन्तिम केवली एव अन्तिम मुक्तिगामी माने गए है। श्रद्धालु कवि ने निम्नलिखित सुन्दर शब्दो मे एतद्विषयक अपनी भावाभिव्यजना की है –

लोकोत्तर हि सौभाग्य, जम्बूस्वामि महामुने ।
अद्यापि य पति प्राप्य, शिवश्रीर्नान्यमिच्छति ।।

रख दिया[1] और साथी श्रमणो के साथ वे अपने आश्रमस्थल की ओर लौट पडे। भवदेव और अन्य परिजनो सहित अनेक ग्रामवासी भी मुनियो को पहुंचाने हेतु उनके पीछे-पीछे चल दिये। साधुओ को थोडी दूरी तक पहुचा कर महिलाए अपने अपने घरो की ओर लौट गई। तदनन्तर कुछ और दूरी पर साधुओ को पहुचाकर पुरुष-वर्ग भी लौटने लगा। उन लोगों ने वरवेशधारी भवदेव को भी लौटने का आग्रह करते हुए कहा – "जैन श्रमण, "अब तुम लौट जाओ"–इस प्रकार का सदोष वचन कभी नही बोलते, अत भवदेव ! अब तुम भी लौट चलो।"

"पर बिना भैया के कहे मै कैसे लौटू" – यह सोचकर भवदेव उन लोगो के साथ नही लौटा और भवदत्त के पीछे-पीछे आगे की ओर बढता ही गया। ग्राम से पर्याप्त दूरी पर निकल जाने के पश्चात् एक उपाय भवदेव के ध्यान मे आया कि बातचीत का क्रम चालू करने पर बहुत सम्भव है उसके बडे भाई उसे लौटने का कुछ सकेत करे। वह बातचीत का सिलसिला चलाते हुए बोला – "श्रेष्ठार्य ! यह खेत अपना है, यह वनखण्ड और वह तालाब भी अपने ही है। वह जो उस पार का खेत है वह अपने पडौसी का और उस छोर वाला आम्रकुज आपके परमसखा का है।"

इस प्रकार की अनेक बाते भवदेव ने कही पर भवदत्त ने "हा-हा, मै जानता हू", इन वाक्यो के अतिरिक्त और कुछ भी नही कहा। इस प्रकार बातो ही बातो मे वे अपने गाव की सीमा से बहुत आगे बढ गये और कुछ ही समय मे वे आचार्यश्री की सेवा मे पहुँच गये।

वरोचित वेश मे भवदेव को देखकर आचार्य सुस्थित ने पूछा – "यह सौम्य युवक कैसे आया है ?"

भवदत्त ने दृढता के साथ उत्तर दिया – "प्रव्रज्यार्थ।"

आचार्य श्री ने भवदेव की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए पूछा – "क्या यही बात है ?"

कही बडे भाई की अवहेलना न हो जाय इस विचार से भवदेव ने स्वीकृति-सूचक मुद्रा मे मस्तक झुकाते हुए कहा – "यही बात है भगवन् !"

आचार्यदेव द्वारा भवदेव को उसी समय जैनी भागवती-दीक्षा दे दी गई। कुछ ही क्षणो पूर्व भोग-मार्ग की ओर उठे हुए चरण त्यागमार्ग पर चल पडे। सभी श्रमणो के मुख से सहसा निकल पडा – "आर्य भवदत्त ने जो कहा वही कर दिखाया।"

कालान्तर मे मुनि भवदत्त ने अनशनपूर्वक समाधि के साथ नश्वर शरीर का त्याग किया और वे सौधर्मेन्द्र के सामानिक देव बने।

उधर भवदेव दीक्षित हो जाने पर भी सदा अपनी पत्नी का चिन्तन किया करता था। वह बहिरग रूप से तो श्रमणाचार का पालन कर रहा था परन्तु

[1] समप्पिय च भक्खभायण भवदेवस्स करे··· [जबुचरिय (गुणपाल), पृ० १८]

से भवदत्त और भवदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। युवावस्था मे पदार्पण करते ही भवदत्त ने संसार से विरक्त हो सुस्थित नामक आचार्य के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली और उनके साथ विभिन्न क्षेत्रो, नगरो एव ग्रामो मे विचरण करते हुए सयम की साधना करने लगा।

एक वार आचार्य सुस्थित का एक शिष्य उनसे आज्ञा प्राप्त कर कुछ श्रमणो के साथ अपने छोटे सहोदर को दीक्षित होने की प्रेरणा देने हेतु अपने ग्राम पहुँचा। ग्राम मे उसके छोटे भाई का विवाह निश्चित हो चुका था अत वह प्रव्रजित नही हुआ और फलत' मुनि को बिना कार्यसिद्धि के ही लौटना पडा। मुनि भवदत्त ने अपने साथी मुनि से बात ही बात मे कह दिया – "आपके भाई के हृदय मे यदि आपके प्रति प्रगाढ प्रीति और सच्चा भ्रातृप्रेम होता तो बडे लम्बे समय के पश्चात् आपको देख कर अवश्यमेव वह आपके पीछे २ चला आता।"

मुनि भवदत्त के इस कथन को अपने भ्राता के स्नेह पर आक्षेप समझ कर उस मुनि ने कहा – "मुने! कहना जितना सरल है, वस्तुत करना उतना सरल नही। यदि आपको अपने भाई के प्रति इतना दृढ विश्वास है तो आप उन्हे प्रव्रजित करवा कर दिखाइये।"

भवदत्त मुनि ने कहा – "यदि आचार्यश्री मगध जनपद की ओर विहार करे तो कुछ ही दिनो पश्चात् आप मेरे लघु भ्राता को अवश्य ही मुनिवेश मे देखेंगे।

सयोगवश आचार्य सुस्थित अपने शिष्यों सहित विचरण करते हुए मगध जनपद मे पहुच गए। मुनि भवदत्त भी अपने गुरु से आज्ञा लेकर कुछ साधुओ के साथ अपने ग्राम मे पहुचे। मुनि भवदत्त के दर्शन कर उनके परिजन व परिचित परम प्रसन्न हुए और उन्होने सब श्रमणो को निरवद्य आहारादि का दान देकर अपने आपको कृतकृत्य समझा। जिस समय भवदत्त अपने परिवार के लोगो के बीच पहुचे उससे कुछ ही समय पहले भवदेव का विवाह नागदत्त एव वासुकी की कन्या नागिला के साथ सम्पन्न हुआ था। अपनी सखी-सहेलियो के बीच वैठी नववधु नागिला को जिस समय भवदेव शृंगारालकारादि से अलंकृत कर रहा था, उसी समय उसे अपने अग्रज भवदत्त के शुभागमन का समाचार मिला। वह तत्काल उनके दर्शन एव वन्दन हेतु उठ बैठा। यद्यपि नववधु की सखियो ने उसे वहुतेरा समझाया कि नवविवाहिता पत्नी को प्रसाधनादि से अर्द्धशृ गारितावस्था मे छोडकर उसे नही जाना चाहिए तथापि भवदेव क्षण भर भी विना रुके सुदीर्घ-काल से विछुडे अपने वडे भाई से मिलने की उत्कण्ठा लिए यह कह कर चल दिया – "कुलवालाओ! मै अपने ज्येष्ठार्य को प्रणाम कर अभी-अभी लौटता हूँ।"

तदनन्तर भवदेव वडी शीघ्रतापूर्वक अपने वडे भाई भवदत्त के पास पहुंचा और उसने असीम हर्षोल्लास से भावविभोर हो अपना मस्तक उनके चरणो पर रख दिया। मुनि भवदत्त ने घृत से भरा अपना एक पात्र भवदेव के हाथो पर

को अवश्य पहिचानती होगी। मेरी वह नागिला कैसी है ? उसका रूपलावण्य कैसा है और देखने मे वह कैसी लगती है ?"

श्राविका बोली – "वह ठीक ऐसी ही दिखती है जैसी कि मै। उसमे और मुझमे कोई विशेषता नही है। पर एक बात मै समझ नही पाई कि आप तो पवित्रश्रमणाचार का पालन कर रहे है, अब आपको उस नागिला से क्या कार्य है?"

भवदेव – "पाणिग्रहण के तत्काल पश्चात् ही मै उसे छोडकर चला गया था।"

श्राविका – "यह तो पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रताप से आपने बहुत अच्छा किया कि भवभ्रमण की विषवल्लरी को बढने से पहले ही सुखा डाला।"

भवदेव – "क्या नागिला शील, सदाचारादि – श्राविका के व्रतो का पालन करती हुई आदर्श जीवन बिता रही है ?"

श्राविका – "नागिला न केवल स्वय ही आदर्श श्राविका के व्रतो का पालन करती है अपितु अन्य अनेक महिलाओ से भी पालन करवा रही है।"

भवदेव – "जिस प्रकार मै उसका अहर्निश स्मरण करता हूँ, उसी प्रकार क्या वह भी मेरा स्मरण करती रहती है ?"

श्राविका – आप साधु होकर भी अपने कर्त्तव्य को भूल गए है पर वह श्राविका नागिला कल्याणकारी साधना-पथ पर चलती हुई आपकी तरह भूल नही कर सकती। वह श्राविका के योग्य उच्च भावनाओ का अनुचितन करती हुई कठोर तपस्याए करती है, उत्तम आत्मार्थी साधु-साध्वियो के उपदेशामृत का पान करती है और प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि से भवभ्रमण की महाव्याधि के समूलनाश के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है।"

भवदेव – "श्राविके ! मै नागिला को एक बार अपनी इन आखो से देखना चाहता हूँ।"

श्राविका – "अशुचि के भाजन उसके शरीर को देखने से महामुने! आपका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है ? मुझे आपने देख ही लिया है। मुझ मे और उसमें कोई अन्तर नही है। जो नागिला है वही मै हूँ और जो मै हूँ वही वह नागिला है।"

भवदेव – "तो सच कहो श्राविके ! क्या तुम्ही नागिला हो ?"

श्राविका – भते ! मै ही हूँ वह अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली और रुधिर, मास, मज्जा, मूत्र, पुरीषादि अशुचि से परिपूर्णगात्रा नागिला।"

भवदेव श्राविका नागिला की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ चित्र-लिखित सा मौन खडा रहा।

नागिला ने वातावरण की निस्तब्धता को भंग करते हुए कहना आरम्भ किया – "महामुने ! मैने अपनी पूज्या गुरुणीजी से एक बडा सुन्दर और शिक्षा-

आभ्यंतर मे सदा उसकी प्राणप्रिया पत्नी ही बसी रहती थी। वह अहर्निश मन ही मन अपनी पत्नी के सम्बन्ध में सोचता रहता – "हाय! मै अपनी सद्य-परिणीता, अर्द्धशृंगारिता और भोली-भाली प्रिया को प्रवंचिता सी छोडकर प्रव्रजित हो गया। मेरी वह परित्यक्ता पत्नी मुझे किन-किन शब्दो मे कोसती होगी? उस पर न मालूम क्या-क्या बीती होगी? वह कैसी होगी, किस प्रकार रहती होगी? जल से निकाल कर प्रतप्त मरुभूमि पर पटकी हुई मीन की भाति बहुत सम्भव है वह कब की ही अपने प्राणों का परित्याग कर चुकी होगी अथवा अत्यन्त कृश हो वह अस्थिपजरमात्रावशिष्ट रह गई होगी।"

इस प्रकार पूत पंचगव्य और अपवित्र मदिरा को एक साथ रखने वाले मूर्ख व्यक्ति की तरह भवदेव अपनी जीवनचर्या मे प्रतिपल बाह्यरूपेण श्रमणाचार और अन्तर्मनसा कामिनी की चाह को साथ-साथ संजोये रखता था।

भवदत्त के स्वर्गगमन के पश्चात् भवदेव के मन मे नागिला को देखने की बडी तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई। वह पाज के टूट जाने पर बध मे रोके हुए पानी की तरह बड़े वेग से स्थविरों की आज्ञा लिए बिना ही अपने ग्राम सुग्राम की ओर चल पडा। ग्राम के पास पहुँच कर वह एक चैत्यघर के पास विश्राम हेतु बैठ गया।

थोडी ही देर मे एक सभ्रान्त घर की महिला एक ब्राह्मणी को साथ लिए हुए वहा पहुँची। उसने भवदेव मुनि को वन्दन-नमस्कार किया। मुनि भवदेव ने उस महिला से पूछा – "श्राविके! क्या आर्जव राष्ट्रकूट और उनकी पत्नी रेवती जीवित है?"

उस महिला ने उत्तर दिया – "मुनिवर! उन दोनों को तो इहलीला समाप्त किए बहुत समय बीत चुका है।"

यह सुनते ही मुनि के मुखमण्डल पर शोक की काली छाया छा गई। कुछ क्षण मौन एव विचारमग्न रहने के पश्चात् उन्होने थोडी हिचक के साथ पुन. प्रश्न किया – "धर्मनिष्ठे! क्या भवदेव की पत्नी नागिला जीवित है?"

इस प्रश्न को सुनकर वह महिला चौकी। उसने साश्चर्य मुनि के मुख की ओर देखते हुए अनुमान लगाया कि बहुत सम्भव है यह भवदेव ही हों।

उस महिला ने प्रश्न किया – "आप आर्य भवदेव को किस प्रकार जानते है और यहा एकाकी किस कार्य से आये है?"

भवदेव ने कहा – "मै आर्य आर्जव का छोटा पुत्र भवदेव हूँ। अपने वडे भाई भवदत्त की इच्छा के कारण अपनी नवविवाहिता पत्नी को बिना पूछे तथा अन्तर्मन से न चाहते हुए भी मै लज्जावश प्रव्रजित हो गया था। कही मेरी गणना अकुलीनो मे न कर ली जाय, इस हेतु मैं नागिला के मुखकमल को देखने की चिरलालसा से प्रेरित हो यहा आया हूँ। "श्राविके! तुम तो नागिला

किया। वे अपना पूर्व का खन्त मुनि का वेश बनाकर महिप के सम्मुख उपस्थित हुए और मुनिचर्या से दुखित हो उनके पुत्र ने जो वाक्य कहे थे उन्ही वाक्यो को महिप के समक्ष वार-वार दोहराने लगे – "खन्त ! मै यह नही कर सकता, वह नही कर सकता।"

खन्त के स्वरूप को देखकर महिप ने विचार किया – "मैने ऐसा स्वरूप कही देखा है और ये वाक्य भी परिचित से प्रतीत होते है।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए महिप को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उस महिप ने उस ही क्षण मन ही मन देशविरति श्रावकधर्म धारण कर जीवन भर के लिए अशन-पान का परित्याग कर दिया। कुछ ही समय पश्चात् वह भैसा मरकर अनशन और शुभ अध्यवसायो के फलस्वरूप सौधर्म देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न हुआ।"

नागिला ने प्रश्न किया – "मुने ! इस प्रकार तिर्यंच योनि मे पडे हुए उस ब्राह्मणपुत्र का उसके पिता ने उद्धार किया। आश्चर्य की वात है कि देवरूप से उत्पन्न हुए आपके वडे भाई भवदत्त ने अभी तक आपको प्रतिवोधित करने का विचार तक क्यो नही किया ?"

अन्त मे नागिला श्राविका ने कहा – "महात्मन् ! यह जीवन जलबुद्बुद् के समान क्षणविध्वसी है। यदि आप श्रमणधर्म से विचलित हो गये तो ससार मे अनन्तकाल तक परिभ्रमण करते रहेगे। अत अव भी सम्हलिए। अपने गुरु के पास लौट जाइए और प्रायश्चित्त लेकर पच महाव्रतो का पूरी तरह से पालन कीजिए। तप और सयम से आप अन्ततोगत्वा समस्त कर्मो का क्षय कर अवश्य ही अक्षय, अव्यावाध, अनन्त शिवसुख प्राप्त करने मे सफल हो सकेंगे।"

ठीक उसी समय नागिला के साथ आई हुई ब्राह्मणी का पुत्र वहा आया और उसे किसी कारण से वमन हो गया। थोडी ही देर पहले खाई हुई खीर वालक के मुँह से वाहर आ गिरी। यह देख कर ब्राह्मणी ने अपने पुत्र से कहा – "वत्स ! इधर-उधर से चावल माग कर मैने तेरे लिए वडे ही चाव से अत्यन्त स्वादु खीर वनाई थी। यह खीर वडी ही स्वादिष्ट और मीठी है अत इस वमन की हुई खीर को तुम पुन खा लो।"[१]

---

[१] (क) जाय कुओ वि कारणओ वमण। भणिय वभणीए – जाय ! जाइऊण तडुलाइणि मए कओ पायसो एसो ता भुञ्जो वि भुजेसु। अइ लट्ठ मिट्ठमेय ति।
[जम्बूस्वामी चरित (रत्नप्रभसूरिरचित)]

(ख) वसुदेवहिण्डी मे दक्षिणा के लोभ से वमन करने की वात कही गई है।
"एयम्मि देसयाले तीए माहणीए दारगो पायस भुजिऊण आगतो भणइ – अम्मो ! आणेह कोलाल जाव पायस वमामि, ततो पुणो भुजीह अईव मिट्ठो, पुणो दक्खिणा हेउ अन्नत्थ भुजामि। तीए भणिय – पुत्त वत न भुजेइ पुणो अल ते दक्खिणाए, वच्च अच्छसु सुहति। [सम्पादक]

प्रद आख्यान सुना है। वह मै आपको सुनाना चाहती हूँ। कृपया ध्यान से सुनिए –

भवाटवी के सकटो से सत्रस्त एक मुमुक्षु ब्राह्मण अपने पुत्र के साथ एक महाश्रमण के पास पंचमहाव्रतो की दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करने लगा। वह कठिन श्रमणाचार का पूरी तरह से पालन करता हुआ भिक्षा मे प्राप्त रूखे-सूखे भोजन से तप के पारणे करता। पर उसका पुत्र कठोर साधुमार्ग से विचलित होकर वार-वार उससे कहता – "खन्त ! मै यह रूखा-सूखा भोजन नही खा सकता। खन्त ! मै इस स्वादरहित और विरस, भिक्षा मे मिले पेय पदार्थ – पानी आदि भी नही पी सकता।"

उस श्रमण ने अपने पुत्र को अनेक प्रकार से समझाया कि पच महाव्रतो का पालन करने से दिव्य सुखो की उपलब्धि और अन्त मे अक्षय शिव-सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कुछ समय तक तो वह छोटा मुनि अपने पिता के समझाने-बुझाने से येन-केन प्रकारेण श्रमणाचार का पालन करता रहा पर एक दिन उसने अपने पिता से स्पष्ट शब्दों मे कह दिया कि शुष्क एव नीरस खान-पान से उसकी शारीरिक शक्ति पूर्णरूपेण क्षीण हो चुकी है अत वह अब एक क्षण के लिए भी कठोर श्रमणाचार का पालन नही कर सकता। यह कह कर उसने साधु-वेश का परित्याग कर दिया और वह एक परिचित ब्राह्मण के घर पर काम-काज करने लगा।

वृद्ध मुनि ने निरतिचार श्रमण-धर्म का पालन करते हुए समाधिपूर्वक आयु पूर्ण की और वे सौधर्मेन्द्र के सामानिक देव हुए। इधर कुछ समय पश्चात् ब्राह्मण ने उस युवक के साथ अपनी कन्या का पाणिग्रहण करा दिया। विवाह के समय डाकुओ ने ब्राह्मण के घर पर आक्रमण किया और नवविवाहित दम्पती उन डाकुओ द्वारा मौत के घाट उतार दिये गए। श्रमणधर्म से च्युत भोगलोलुप वह ब्राह्मणपुत्र आर्तध्यान से मर कर महिष के रूप मे उत्पन्न हुआ। वडे होने पर उस भैसे को एक क्रूर व्यक्ति ने खरीद लिया और उससे भार ढोने का कार्य लेने लगा। वह उस पर अधिक से अधिक भार लादता और उस पर स्वय वैठकर डडो के प्रहार करता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता। एक वार ग्रीष्मकाल की मध्याह्नवेला मे उस भैसे के स्वामी ने उस पर अत्यधिक भार लादा और उस पर यष्टिप्रहारो की वौछार करता हुआ एक गाव से दूसरे गांव की ओर वढा। ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप के कारण मार्ग की वालू आग की तरह जल रही थी। दुर्वह भार, लगुड-प्रहार, भीषण गर्मी और प्रतप्त वालु-कणो के कारण भैसे की जिह्वा वाहर निकल आई और वह आग की तरह जलती हुई धरती पर धडाम से गिर पडा। भैसे के स्वामी ने इस पर क्रुद्ध हो पूरी शक्ति के साथ यष्टिप्रहार प्रारम्भ कर दिये। वेवस भैसा मरणासन्न सा हो गया।

सौधर्म देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न हुए ब्राह्मण मुनि ने महिप रूप मे उत्पन्न हुए अपने पुत्र की दयनीय दशा देख कर उसे प्रतिवोध देने का निश्चय

वाललीलाओ से माता-पिता और परिजनो के आनन्दोल्लास को बढाते हुए वालक ने शैशवावस्था को पार किया। सुयोग्य कलाचार्यो एव अध्यापकों से वालक ने समस्त कलाओ और विद्याओ मे कुशलता प्राप्त की। युवा होने पर राजकुमार सागरदत्त का अनेक सर्वाङ्गसुन्दरी कुलीन कन्याओ के साथ पाणिग्रहण कराया गया। वह सुररमणियो के समान रूपवती पत्नियो के साथ विविध भोगोपभोगो का उपभोग करता हुआ वडा ही सुखमय जीवन बिताने लगा।

एक दिन शरद ऋतु मे राजकुमार सागर अपनी पत्नियो के साथ प्रासाद के झरोखे मे बैठा हुआ प्राकृतिक छटा का निरीक्षण कर रहा था। उसने देखा कि क्षितिज के एक छोर से वादल उभरा और देखते ही देखते उसने ऐसा विशाल रूप धारण कर लिया कि वह समस्त नभमण्डल पर छा गया। समस्त अम्बर सघन काली घनघटा से गहडम्वर वन गया। सहसा दक्षिण-दिशा से पवन का एक झौका आया और कुछ ही क्षणो मे घनघोर मेघघटा छिन्न-भिन्न होकर न मालूम कहा विलीन हो गई।

राजकुमार की विचारधारा ने इससे एक नया मोड लिया। वह सोचने लगा – "जिस प्रकार वादलो का वह नयनाभिराम मनोहारी दृश्य क्षण भर मे ही जलवुद्‌वुद् की तरह शून्य मे विलीन हो गया, ठीक उसी प्रकार यह राज्यलक्ष्मी, ऐश्वर्य, भोगोपभोग, सुख के सारे साज और शरीर तक भी एक न एक दिन अचानक ही नष्ट होने वाले है। दृश्यमान समस्त सासारिक वस्तुओ का वादल के समान विनाश सुनिश्चित है – अवश्यभावी है। विनाशशील वस्तुओ मे मोह वस्तुत महामूर्खता का द्योतक है। भोगी और भोग्य ये दोनो ही क्षणभगुर है। इनमे आसक्ति का अर्थ है आत्मनाश–अपना सर्वनाश। भवभ्रमण बढाने वाले इन विषयभोगो मे लुब्ध होकर मैने अपने मानव-जीवन की लाखो अमूल्य घडिया व्यर्थ ही बिता दी है। अब मुझे सजग होकर आत्मोद्धार के लिए अनवरत प्रयास करना चाहिए। वृद्धावस्था इस देह-पजर को जर्जरित न कर दे, उससे पहले ही मुझे प्रव्रजित होकर अपनी आत्मा के उद्धार-कार्य मे जुट जाना चाहिए।"

इस प्रकार चिन्तन करते हुए राजकुमार सागरदत्त को ससार से पूर्ण विरक्ति हो गई और उन्होने दूसरे ही दिन अपने परिवार के अनेक सदस्यो के साथ अभयसार नामक आचार्य के पास भागवती-दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन्होने परम विनीत भाव से अपने आचार्य और ज्येष्ठ श्रमणो की लगन के साथ सेवा की और अध्ययन करते हुए गुरुकृपा से मुनि सागरदत्त स्वल्प समय मे ही शास्त्रो के पारगामी बन गये। शास्त्राध्ययन के साथ-साथ उन्होने घोर तपश्चरण भी किया जिसके परिणामस्वरूप उन्हे अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई। वे अपने गुरु की सेवा और भव्य प्राणियो का उद्धार करते हुए अनेक क्षेत्रो मे विचरण करने लगे।

उधर भवदेव का जीव भी देवायु पूर्ण होने पर सौधर्म देवलोक से च्यवन कर उसी पुष्कलावती विजयान्तर्गत वीतशोका नगरी के नृपति पद्मरथ की रानी

ब्राह्मणी की बात सुनकर मुनि भवदेव ने कहा – "धर्मशीले ! तुम बालक को यह क्या कह रही हो ? वमन की हुई वस्तु को खाने वाला व्यक्ति तो अत्यन्त निकृष्ट और घृणापात्र होता है ।"

इस पर नागिला ने मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा – "महात्मन् ! आप अपने अन्तर्मन को टटोलिए कि कही आप भी वमितभोजी तो नही बनने जा रहे है ? क्योकि एक बार परित्यक्त मेरे इस मास, मज्जा, अस्थि आदि से बने शरीर को अपने उपभोग मे लेने की अभिलाषा से आप यहां आये है । आप बुरा न माने तो मै आपसे एक वात पूछूं ? चिरपरिपालित प्रव्रज्या का परित्याग करने का जो विचार आपके मन मे आया है क्या इस बारे में आपको किंचित्मात्र भी लज्जा का अनुभव नही होता ? यदि लज्जा का अनुभव होता है तो अब आप बाह्यरूपेण चिरकाल तक परिपालित श्रमणाचार का अन्तर्मन से पूर्णरूपेण परिपालन कीजिए । जो कुत्सित विचार आपके मन में आये है उनके लिए आचार्य सुस्थित के पास जाकर प्रायश्चित्त लीजिए ।"

नागिला के हितप्रद एवं बोधपूर्ण वचन सुन कर भवदेव के हृदयपटल पर छाये हुए मोह के घने वादल तत्क्षण छिन्न-भिन्न हो गए और उसका अज्ञान-तिमिराच्छन्न अन्त करण ज्ञान के दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठा ।

उसने नागिला के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए शान्त निश्छल स्वर मे कहा – "श्राविके ! तुमने मेरी अन्तर्चक्षुओं को उन्मीलित कर दिया है। तुम्हारे उपदेश से मैने अपने चिरपालित संयम मार्ग को हृदय से अपना लिया है । वस्तुत तुमने मुझे अन्धकूप में गिरने से बचा लिया है । तुम मेरी सच्ची सहोदरा और गुरुणी तुल्य हो । तुमने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है । मै अब तुम्हारे कथनानुसार निर्दोष साधुधर्म का त्रिकरण-त्रियोग से पालन करू गा ।"

यह कह भवदेव वहा से प्रस्थान कर आचार्य सुस्थित के पास पहुँचे और अपने दोषो के लिए प्रायश्चित्त कर कठोर तपश्चरण मे निरत हो गये । अनेक वर्षो तक श्रमणधर्म का पालन करने के पश्चात् समाधिपूर्वक काल कर वह सौधर्मेन्द्र के सामानिक देव हुए । इधर नागिला भी अपनी गुरुणी के पास दीक्षित हो सयमधर्म की साधना करती हुई देवगति की अधिकारिणी वनी ।

सागरदत्त और शिवकुमार

सौधर्म देवलोक की आयु पूर्ण होने पर भवदत्त का जीव वहा से च्युत हो महाविदेह क्षेत्रान्तर्गत पुष्कलावती विजय मे पुण्डरीकिणी नगरी के चक्रवर्ती सम्राट् वज्रदत्त की महारानी यशोधरा के गर्भ मे आया । गर्भकाल मे महादेवी को सागरस्नान का दोहद उत्पन्न हुआ जिसे चक्रवर्ती वज्रदत्त ने वडे समारोह के साथ पूर्ण किया । गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने अत्यन्त मनोहर एव शुभलक्षणसम्पन्न पुत्र को जन्म दिया । गर्भकाल मे सागर-स्नान के दोहद के कारण माता-पिता ने पुत्र का नाम सागरदत्त रखा । अपनी परमाह्लादकारिणी

हमारे इकलौते पुत्र हो। हमारे लिये एक मात्र तुम ही स्वर्ग, अपवर्ग, त्राण, शरण और प्रकाशपूर्ण कुलप्रदीप हो। हमारे प्राण तुम्हारे सहारे से ही देहपजर मे रुके हुए है। तुम यह निश्चित समझो कि तुम्हारे प्रव्रजित होते ही हमारे प्राण बिना नीड के पक्षी की तरह उड़ कर अनन्त शून्य मे विलीन हो जायेंगे।"

बहुत कुछ समझाने-बुझाने और अनुनय-विनय के पश्चात् भी जब शिवकुमार को अपने माता-पिता से प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्राप्त नही हुई तो वह समस्त सावद्य योगो का परित्याग कर विरक्त भाव से धीर-गम्भीर मुद्रा धारण किये राजप्रासाद मे ही श्रमण की तरह स्थिर आसन जमा कर बैठ गया। उसने हास-परिहास, आमोद-प्रमोद, खेल-कूद, बोल-चाल, और खान-पान तक का परित्याग कर दिया। वह एकाग्रचित्त हो अन्त पुर के एक कोने मे इस प्रकार निर्लिप्तभाव से रहने लगा मानो किसी सुनसान बियावान निर्जन वन मे निवास कर रहा हो। माता-पिता, परिजन, एव प्रतिष्ठित पौरजनो ने शिवकुमार को समझाने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखी पर सब व्यर्थ। विरक्ति-मार्ग से कुमार को कोई किंचित्मात्र भी विचलित नही कर सका। सभी प्रकार के उपायो के निष्फल हो जाने पर राजा पद्मरथ बडा चिंतित हुआ। उसने अन्त मे दृढधर्म नामक एक अत्यन्त विवेकशील श्रावक को बुलाया और उसे सारा वृत्तान्त सुना कर कहा–"श्रेष्ठिपुत्र! तुम अपने बुद्धिबल से येन-केन-प्रकारेण राजकुमार को अन्न-जल ग्रहण करने के लिये सहमत कर हमे नवजीवन प्रदान करो।"

"राजन्! मै यथाशक्ति पूरा प्रयास करूगा।" यह कह कर श्रेष्ठिपुत्र दृढधर्मा राजकुमार शिवकुमार के पास पहुचा। "निसीहि" "निसीहि" के उच्चारण के साथ दृढधर्मा ने राजकुमार के पास पहुच कर आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक साधुओ के समान सविधि वन्दन किया। तत्पश्चात् राजकुमार की अनुज्ञा प्राप्त कर स्थान को सावधानी से देख कर दृढधर्मा शिवकुमार के पास बैठ गया।

राजकुमार ने यह सब देख कर मन ही मन विचार किया कि इस श्रावक ने मुझे ठीक साधु की तरह नमस्कार क्यो किया है? अपनी शका के निवारण हेतु उसने दृढधर्मा से पूछा–"श्रेष्ठिपुत्र! मै साधु नही हू। फिर भी तुमने मुझे साधु की तरह नमस्कार किया, इसका क्या कारण है?"

श्रेष्ठिपुत्र दृढधर्मा ने उत्तर मे कहा–"भाग्यवान्! श्रमणो के समान आपके आचरण को देख कर मुझे बडी प्रसन्नता हुई है। यद्यपि इस प्रकार वन्दन-नमन मुनियो को ही किया जाना उचित है तथापि समस्त सदोष कार्यो का परित्याग करने के कारण आप भाव-यति बन गये है अत आपके समान त्यागियो को भी उस प्रकार नमन करना विनयमूलक जैनधर्म के अनुसार अनुचित नही है।"

इतना कहने के पश्चात् श्रावक दृढधर्मा ने शिवकुमार से प्रश्न किया–"साधकश्रेष्ठ! मुमुक्षु राजकुमार! आपने अशन-पान, सभाषणादि का परित्याग क्यो कर दिया है?"

वनमाला की कुक्षि से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। माता-पिता द्वारा उसका नाम शिवकुमार रखा गया। युवा होने पर शिवकुमार का अनेक राजकन्याओ के साथ पाणिग्रहण हुआ और वह देवोपम भोगो का उपभोग करने लगा।

एक समय मुनि सागरदत्त ग्राम-नगरो मे विचरते हुए वीतशोका नगरी पधारे। धर्मोपदेश के पश्चात् उन्होने मासोपवास का पारणा एक सार्थवाह के यहा किया। दान की महिमा मे आकाश से पच-दिव्यो की वृष्टि हुई। वसुधारा की बात सुनकर राजकुमार शिवकुमार भी दर्शनार्थ मुनि सागरदत्त की सेवा मे पहुँचा। उसने बडी श्रद्धा से मुनि को वन्दन किया और उपदेश सुन कर प्रसन्न हुआ। उपदेश के पश्चात् शिवकुमार ने मुनि से पूछा – "श्रमणशिरोमणे ! मुझे आपको देखते ही अत्यधिक हर्ष और परम उल्लास का अनुभव क्यो हो रहा है ? क्या मेरा आपके साथ कोई पूर्वभव का सम्बन्ध है ?"

मुनि सागरदत्त ने अवधिज्ञान से जान कर कहा – "शिवकुमार ! इससे पहले के तीसरे भव मे तुम मेरे भवदेव नामक अनुज थे। तुमने मेरा मन रखने के लिए सद्य परिणीता नववधु को छोडकर मेरी इच्छानुसार श्रमणत्व स्वीकार कर लिया। श्रमणाचार का पालन करते हुए आयु पूर्ण कर तुम सौधर्म देवलोक मे महान् ऋद्धिसम्पन्न देव हुए। वहा भी हम दोनो मे परस्पर प्रगाढ स्नेह था। उन दो भवो के स्नेहपूर्ण सम्बन्ध के कारण आज भी तुम्हारे हृदय मे मेरे प्रति स्नेहसागर उमड रहा है। वीतरागमार्ग का पथिक होने से मेरे मन पर अब राग अथवा द्वेष का कोई प्रभाव नही होता। क्योकि अब मै ससार के समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझता हू।"

राजपुत्र शिवकुमार ने हर्षविभोर हो साजलि मस्तक झुकाया और मधुर स्वर मे कहा–"भगवन् ! आपने जो फरमाया वह तथ्य है। मै इस भव मे भी प्रव्रजित हो आपकी पर्युपासना एवं आत्मकल्याण की साधना करना चाहता हू। मै अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर अभी आपकी सेवा मे उपस्थित होता हू।"

मुनि सागरदत्त ने कहा – "देवप्रिय ! शुभ कार्य मे प्रमाद नही करना ही श्रेयस्कर है।"

तदनन्तर शिवकुमार ने राजभवन मे पहुच कर माता-पिता के सम्मुख अपनी आन्तरिक अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा – "अम्ब-तात ! मैने आज एक अवधिज्ञानी मुनीश्वर से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुना। मुझे ससार से पूर्ण विरक्ति हो गई है। मै श्रमण बन कर आत्मकल्याण करना चाहता हू। अत. आप मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर मेरी आध्यात्मिक साधना मे सहायक बनिये।"

अपने पुत्र की बात सुन कर महाराज पद्मरथ और महारानी वनमाला वज्रप्रहार से प्रताडित की तरह अवाक् निषण्ण रह गये। आखो से अश्रुधाराए प्रवाहित करते हुए अत्यन्त करुण और दीन स्वर मे वे वोले – "वत्स ! तुम

वह अतिशय रूप सम्पन्न अमरसुन्दरियो के साथ अनेक प्रकार के दिव्य भोगो का उपभुजन करता हुआ अत्यन्त सुखमय जीवन व्यतीत करने लगा। अपनी देवियो के साथ जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण मे जाकर वह प्रभु की अमृतोपम अमोघ वाणी के श्रवण का भी आनन्दानुभव करने लगा।"

त्रिकालज्ञ भगवान् महावीर ने मगध सम्राट् श्रेणिक को इस प्रकार आर्य जम्बू के चार पूर्वभवो का वृत्तान्त सुना कर फरमाया—"मगधेश ! यह वही भवदेव का जीव विद्युन्माली देव है। आज से सातवे दिन यह देवायु की समाप्ति कर इसी राजगृह नगर के श्रेष्ठिमुख्य ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी के गर्भ मे अवतरित होगा। गर्भकाल की समाप्ति पर धारिणी इसे पुत्र रूप मे जन्म देगी और इसका नाम जम्बूकुमार रखा जायगा। जम्बूकुमार विवाहित होकर भी अखण्ड ब्रह्मचारी रहेगा और विवाह के पश्चात् दूसरे ही दिन विपुल धन-सम्पत्ति का परित्याग कर अपनी सद्य परिणीता आठो पत्नियो, अपने और उन पत्नियो के माता-पिता, पल्लीपति प्रभव और प्रभव के ५०० साथियो के साथ प्रव्रजित होगा।

जम्बूकुमार इस अवसर्पिणी काल मे भरत क्षेत्र का अन्तिम केवली और चरमशरीरी मुक्तिगामी होगा। उसके मोक्षगमन के पश्चात् भरत क्षेत्र से इस अवसर्पिणीकाल मे और कोई मुक्त नही होगा।"

इस पर श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—"प्रभो ! देवायु की समाप्ति का समय सन्निकट आने पर देवो के शरीर की कान्ति अक्सर तेजोविहीन हो जाती है पर इसके विपरीत विद्युन्माली देव का शरीर अत्यन्त तेजस्वितापूर्ण और परम कमनीय प्रतीत हो रहा है। ऐसा क्यो ? इसका क्या कारण है ?"

प्रभु ने फरमाया—"आचाम्ल तप के प्रभाव से विद्युन्माली के शरीर की कान्ति इस समय जैसी तुम देख रहे हो उससे लक्ष-लक्ष गुनी अधिक कमनीय और तेजपूर्ण थी। देवायु पूर्ण होने का समय समीप आ जाने से वह कान्ति अब बहुत कम हो गई है।"

भगवान् महावीर के मुख से विद्युन्माली देव के भूत और भावी भवो का वृत्तान्त सुनकर राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का केवल-ज्ञानोत्सव मनाने के पश्चात् प्रभु दर्शनो के लिए आया हुआ अनाधृत देव हर्षातिरेक से आनन्द विभोर हो अपने स्थान से उठा। उसने तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् महावीर को बडी ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वन्दन किया और मधुर स्वर मे कहने लगा—"अहो ! धन्य है मेरा उत्तम कुल।"[1]

---

[1] एव च भयवओ सोऊण वयण—अणाढिओ जबूदीवाहिवई .... तिविह वदिऊण अप्फोडेऊण, महुरेण सद्देण—"अहो मम कुल उत्तम ति।

[वसुदेव हिंडी, प्रथम अश, पृष्ठ २५]

शिवकुमार ने उत्तर दिया – "इभ्यकुमार ! मैने पच महाव्रतो के पालन का दृढ संकल्प कर लिया है किन्तु मेरे माता-पिता मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान नही करते अत जब तक कि वे मुझे अनुज्ञा नही देते तब तक के लिये भाव-श्रमणत्व को धारण किये मै घर मे ही रह रहा हू। मै सभी प्रकार के सावद्य-कर्म के परित्याग की प्रतिज्ञा कर चुका हू। ऐसी दशा मे मै सदोष अशन, वसन, पानादि ग्रहण नही कर सकता और न इन स्वजन-परिजनो के साथ सभाषण ही कर सकता हू।

श्रेष्ठिपुत्र दृढधर्मा ने शिवकुमार के वैराग्य की प्रशसा करते हुए कहा– "कुमार ! साधनामार्ग मे आपका दृढ निश्चय वस्तुत स्तुत्य है पर इस प्रकार अनशन करना तो उन्ही महापुरुषो के लिये लाभप्रद हो सकता है जो कि कृतकृत्य हो चुके है। आप तो साधक है। कर्मनिर्जरा हेतु आप अपने भावचारित्र का निर्वहन अशन-पानादि के परिहार से तो अधिक समय तक नही कर सकेगे। अन्न-जल के बिना तो शरीर कुछ ही समय मे विनष्ट हो जायगा। यदि आप आवश्यक मात्रा मे अशन-पानादि ग्रहण करते रहेगे तो चिरकाल तक संयम का परिपालन कर कर्मसमूह को विनष्ट करने मे अधिकाधिक सफल हो सकेगे। अतः आपके लिये यही श्रेयस्कर है कि जब तक माता-पिता आपको प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्रदान न करे तब तक निरवद्य अशन-पानादि आवश्यकतानुसार ग्रहण करते हुए अपने घर मे ही रह कर साधु तुल्य जीवन व्यतीत करे।"

शिवकुमार ने कहा–"सुश्रावक ! आप जो कह रहे है, वह ठीक है किन्तु यहा राजप्रासाद मे रहते हुए प्राशुक अशन-पान-वसनादि का मिलना असभव समझ कर ही मैने इन सब का परित्याग किया है।"

दृढधर्मा ने कहा–"आप इसके लिये निश्चिन्त रहे। मै यथासमय पूर्णरूपेण प्राशुक आहार-पानी-वस्त्रादि भिक्षा से प्राप्त कर आपको देता रहूंगा और आप जैसे साधुतुल्य महापुरुष की एक विनीत शिष्य की तरह सभी प्रकार से सेवा करता रहूगा।"

इस पर शिवकुमार ने अपनी सहमति प्रकट करते हुए एव अपने अतिकठोर अभिग्रह से दृढधर्मा को परिचित कराते हुए कहा – "श्रावकोत्तम ! आप मेरे हित मे यह आवश्यक समझते है कि मै अशन-पान ग्रहण करता रहू, तो मै जीवन पर्यत छट्ठभक्त की तपस्या करता रहूगा और तप के पारणे के दिन भी आचाम्ल व्रत करूंगा।"

इस प्रकार शिवकुमार और श्रावक दृढधर्मा ने परस्पर एक दूसरे का कहना मान लिया और वे दोनो अपनी-अपनी प्रतिज्ञानुसार कार्य में निरत हो गये।

राजप्रासाद मे रहते हुए भी शिवकुमार ने निस्पृहभाव से एक महाश्रमण की तरह वारह वर्ष तक घोर तपश्चरण किया और अंत मे पण्डित-मरण से आयु पूर्ण कर वह पाचवे ब्रह्म देवलोक मे ब्रह्मेन्द्र के समान दश सागरोपम की आयु वाले महर्द्धिक और महान् तेजस्वी विद्युन्माली नामक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ। वहा

त्रिकालदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुख से विद्युन्माली के पूर्वभवो और भावी-भव का वृत्तान्त सुन कर सबने प्रभु को नमन किया और वे अपने २ स्थान की ओर लौट गये। उस देव की चारो देवियो ने केवली प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को साजलि शीश भुकाते हुए अत्यन्त विनम्र एव सभ्रम भरे स्वर मे पूछा – "देव ! कृपा कर हमे भी बताइये कि [illegible] सुरलोक की आयु पूर्ण कर हम चारो कहा-कहा उत्पन्न होगी ? विद्युन्माली देव से विछोह हो जाने पर क्या पुन. हमारा उनसे सयोग होगा ?"

राजर्षि ने फरमाया – "देवियो ! तुम चारो स्वर्ग से च्यवन कर इसी राजगृह नगर के निवासी वैश्रमण, धनद, कुबेर तथा सागरदत्त नामक समृद्धि-शाली श्रेष्ठियो के यहा पुत्रियो के रूप मे उत्पन्न होओगी। वहा जम्बू कुमार के रूप मे जन्म ग्रहण किये हुए इस देव के जीव के साथ तुम चारो का पाणिग्रहण सस्कार होगा। जम्बूकुमार के साथ-साथ तुम भी प्रव्रज्या ग्रहण करोगी और सयम की सम्यक् रूपेण साधना कर तुम चारो आयु पूर्ण होने पर ग्रैवेयको मे देव रूप से उत्पन्न होवोगी।"

केवली प्रसन्नचन्द्र से यह सुनकर कि भावी-भव मे भी उनका परस्पर वियोग नही होगा – देविया बडी प्रसन्न हुई। उन्होने श्रद्धावनत हो मुनि को नमन किया और वे सब [illegible] स्वर्ग [illegible] की ओर लौट गई।

आर्य जम्बू के माता-पिता

धन-जन और सद्गुण-समृद्ध मगध राज्य की राजधानी राजगृह नगर जिन दिनो उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरूढ था, उन दिनो मगध सम्राट् महाराज श्रेणिक बिम्बसार मगध पर शासन करते थे। श्रेणिक बडे धर्मनिष्ठ, न्यायप्रिय एव लोकप्रिय नरेश थे। राजगृह नगर मे ऋषभदत्त नाम के एक अति समृद्ध इभ्य (श्रेष्ठी) रहते थे। उनके पास उनके पूर्वपुरुषो द्वारा न्याय से उपार्जित विपुल सम्पत्ति थी। वह बड़े दयालु, दृढ प्रतिज्ञ, दानशील, दक्ष, विनयी और विद्वान् थे। पत्नी का नाम धारिणी था जो विशुद्ध शीलालकार से अलकृत और निष्कलक एव स्वच्छ स्फटिक मणि के समान निर्मल स्वभाव वाली थी। श्रेष्ठी ऋषभदत्त और उनकी पत्नी धारिणी का जिन-शासन के प्रति बडा अनुराग था। वे ऐहिक भोगो का उपभोग करते हुए बडे संतोष से गृहस्थ जीवन बिता रहे थे। सभी दृष्टियो से सम्पन्न होते हुए भी सतति के अभाव मे वे दोनो सदा चिंतित रहते थे। इभ्य-पत्नी धारिणी को निस्सतान होने का बहुत बडा दु ख था। वह यदा-कदा इस शोक से सतप्त हो मन ही मन विचार किया करती कि उन स्त्रियो का सुरसुन्दरियो के समान अनुपम रूप-लावण्य, सौन्दर्य और लक्ष्मी के समान अक्षय वैभव एव सुखोपभोग की विपुल सामग्री किस काम की, जिनकी कुक्षि से एक भी सतति का जन्म नही हुआ। जिन दिनो इभ्य पत्नी धारिणी अहर्निश इस प्रकार की चिन्ता मे घुल रही थी उन्ही दिनो एक समय

अनाधृत देव के उपरोक्त वचन सुन कर सम्राट् श्रेणिक ने आश्चर्य भरे स्वर मे भगवान् से पूछा – "प्रभो ! यह देव अपने आन्तरिक आनन्दोल्लास को प्रकट करते हुए अपने कुल की किस कारण प्रशसा कर रहा है ? इसका वह कौनसा कुल है और यहा उसकी प्रशसा का क्या प्रसग है ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "मगधेश ! यह जम्बूद्वीप का अधिपति 'अनाधृत' नामक देव है। यह अपने देवभव से पहले के भव मे इसी राजगृह नगर के गुप्तिमति नामक श्रेष्ठी का 'जिनदास' नामक छोटा पुत्र था। जिनदास के बडे भाई का नाम 'ऋषभदत्त' है जिसका आज भी राजगृह नगर के समृद्ध श्रीमन्तो मे प्रमुख स्थान है। सदाचारसम्पन्न होने के कारण ऋषभदत्त तो सर्वत्र सम्मानित होने लगा किन्तु उसका छोटा भाई जिनदास मद्यपी, वेश्यागामी और जुआरी बन गया। ऋषभदत्त द्वारा अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी जब जिनदास ने दुर्व्यसनो का परित्याग नही किया तो तग आकर ऋषभदत्त ने अपने आत्मीयो, परिजनो और परिचितो को यह ज्ञापित कर जिनदास का परित्याग कर दिया – "अनेक दुर्व्यसनो से ग्रस्त जिनदास आज से न तो मेरा भाई है और न अब उसके साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध है।"

इतना सब कुछ होते हुए भी जिनदास अपनी बुरी आदतो का परित्याग करने के स्थान पर और अधिक दुर्व्यसनो का सेवन करने लगा। एक दिन जिनदास सेना के एक उच्च अधिकारी के साथ द्यूतक्रीड़ा मे निरत था। द्यूत मे हार-जीत की धनराशि के सम्बन्ध मे जिनदास ने कुछ आनाकानी की इस पर सेनाधिकारी ने क्रुद्ध हो उस पर घातक हमला कर दिया। जिनदास शस्त्रप्रहार से आहत होकर वही गिर पडा। ऋषभदत्त ने जब भाई के घायल होने की बात सुनी तो वह उसके पास पहुँचा। भाई को देखकर घायल जिनदास को अपने दुष्कृत्यो पर बडा पश्चात्ताप हुआ। उसने ऋषभदत्त के चरणो पर अपना शिर रख दिया और उससे क्षमा-प्रार्थना करते हुए वह निराश एव करुण स्वर मे बोला – "भैया ! अब मै परलोक के लिए प्रयाण करने वाला हूँ। मुझे आपका कहा न मानने और दुर्व्यसनो मे निरत रहने का बडा दु ख है। अब अन्तिम समय मे आप मुझे धर्म का उपदेश देकर मेरा लोकान्तर सुधारने मे मेरी कुछ सहायता कीजिये।"

अपने भाई को मरणासन्न देख कर ऋषभदत्त ने उसे धैर्य दिलाते हुए आजीवन चतुर्विध आहार और आरम्भ – परिग्रह आदि का त्याग कराते हुए पचपरमेष्टि-नमस्कार महामन्त्र का पाठ सुनाना प्रारम्भ किया। शुभ परिणाम एव नमस्कार महामन्त्र के प्रभाव से जिनदास मृत्यु के पश्चात् जम्बूद्वीप का अधिपति देव हुआ।"

"मेरे वडे भाई का पुत्र भरत क्षेत्र से इस अवसर्पिणीकाल मे अन्तिम केवली और मुक्तिगामी होगा" – यह जानकर इसे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। इसी कारण इसने आनन्दविभोर होकर अपने कुल की प्रशसा की है।"

अनुकूल करना चाहिये। उसी समय सुधर्मा स्वामी ने वह सारा वृत्तान्त सुनाया कि किस प्रकार ऋषभदत्त का छोटा भाई मरते समय 'पचपरमेष्टि-नमस्कारमत्र के प्रताप से जम्बूद्वीप का अधिपति अनाधृत देव बना। धारिणी ने अपने अन्तर मे उठे प्रश्न का इसे उत्तर समझा।[1]

सुधर्मा स्वामी की देशना के अनन्तर ऋषभदत्त अपनी पत्नी धारिणी के साथ अपने घर लौट आया। धारिणी ने अनाधृतदेव के साथ अपने परिवार का अत्यन्त सन्निकट का सम्बन्ध होने के कारण उसकी आराधना प्रारम्भ की। धारिणी ने जम्बूद्वीपाधिपति देव के नाम पर १०८ आचाम्ल व्रत किये।[2]

जैसाकि श्रमण भगवान् महावीर ने मगधपति श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर मे बताया था – उस दिन से ठीक सातवे दिन विद्युन्माली देव ब्रह्मलोक से च्यवन कर ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी के गर्भ मे अवतरित हुआ। रात्रि के अन्तिम चरण मे अर्द्ध-जागृतावस्था मे सोई हुई धारिणी ने स्वप्न मे मृगराजकिशोर एव सुन्दर, सरस-सुगन्धित जम्बूफल आदि को देखा।[3]

---

[1] मुनिवर गुणपाल रचित जम्बूचरिय मे – "भगव। किं मम पुत्तो होही नव त्ति ?" इस रूप मे स्वय धारिणी द्वारा सुधर्मा स्वामी के सम्मुख प्रश्न उपस्थित करने तथा जसमित्र द्वारा उत्तर देने का उल्लेख है। इसमे बताया गया है कि जसमित्र ने धारिणी से कहा – "अहो श्राविके! श्रमण निर्ग्रंथ जानते हुए भी इस प्रकार के सावद्य प्रश्नो का उत्तर नही देते। मै तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, आचार्य, उपाध्याय, साधु, बलदेव, वासुदेव तथा जम्बूद्वीप समुद्र आदि की चर्चा के पश्चात् यह प्रश्न किया गया है अत निश्चित रूप से तुम महाभाग्यवान् पुत्र को जन्म दोगी। स्वप्न मे जम्बूफल को देखने के पश्चात् तुम्हे मेरी बात पर विश्वास हो जायगा।" [सम्पादक]

[2] (क) भयव! जइ इम एव, ता अह जम्बूदेवयाए नामेण अट्ठुत्तरसय अविलाण काहामि [जम्बुचरिय, गुणपाल, पृ० ५६]

(ख) सयमट्ठोत्तरमायविलाण मन्नेई धारिणी धीरा।
सिरिजबुदेवयाए, तह तन्नामेण सुयनाम ॥१६६॥ जबुचरित्र, रत्नप्रभसूरि

[3] (क) "मगहापुरे उसभदत्तो नाम इब्भो धारिणी नाम भारिया ·· सा कयाइ सयणगया सुत्त – जागरा पच सुमिणे पासित्ता पडिबुद्धा, त जहा – विधूम हुयवह १, पउमसर वियसिय – कमलकुमुदकुवलयउज्जल २, फलभारनमिय च सालिवण ३, गय च गलित – जलवलाहकपडुर समुसियचउविसाण ४, जबुफलाणि य वण्णरसगधोववेयाणि ५ त्ति। (वसुदेवहिण्डी, प्रथमोऽश, पृ० २)

तथा –

[कल्पान्तर्वाच्यानि, पत्र ४१–४८, (हस्तलिखित, सवत् १५६६) अलवर भडार]

(ख) सा अन्नया कयाई पच्छिमजाममि पेच्छए सुमिण।
सीह सर समुद्द दाम जलण च जम्बुफले॥ [जम्बुचरिय, गुणपाल]

(ग) अह मयरायकिसोर, सेय सुमिणमि पासिऊणेसा।
पडिबुद्धा गन्तूण, त साहइ उसभदत्तस्स ॥१७१॥
(जबुचरित्र रत्नप्रभसूरि)

भगवान् महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा का वैभारगिरी पर पदार्पण हुआ। राजगृह नगर के नर-नारियो के समूह आर्य सुधर्मा के दर्शनार्थ वैभारगिरी की ओर उमड पड़े। श्रेष्ठी ऋषभदत्त भी अपनी पत्नी धारिणी के साथ सुधर्मा के दर्शनार्थ वैभारगिरी की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग मे उन्हे जसमित्र नामक एक निमित्तज्ञ श्रावक मिले जो ऋषभदत्त के परम मित्र थे।

निमित्तज्ञ जसमित्र ने क्षेम-कुशल के समाचारों के आदान-प्रदान के अनन्तर ऋषभदत्त से पूछा – "मित्रराज! भाभी का मुख प्रगाढ चिन्ता से सतप्ता के समान श्यामल किस कारण हो रहा है?"

"तुम ही अपनी भाभी से पूछ लो" – ऋषभदत्त के मुख से अपने प्रश्न का यह उत्तर सुनकर 'जसमित्र' ने धारिणी से उसकी चिन्ता का कारण पूछा।

धारिणी ने अपनी आन्तरिक चिन्ता को हसी की ओट मे छुपाने का प्रयास करते हुए कहा – "देवर! तुम्हारा निमित्तज्ञान वडा अद्भुत है। यह कैसी निमित्तज्ञता कि पूछने पर ही तुम्हे दूसरे के मन की वात विदित होती है? इस प्रकार तो प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको निमित्तज्ञ कहला सकता है। मेरे मन की वात तुम अपने निमित्तज्ञान से विचार कर ही वताओ तव मै समझूं कि वास्तव मे मेरा देवर निमित्तज्ञ है।"

अपनी प्रिय कला पर परिहास के तीखे प्रहार से जसमित्र का अन्तर्मन सहसा तडप उठा। अपने निमितज्ञान का चमत्कार बताने की जसमित्र के मन मे एक प्रबल लहर उठी। कुछ ही क्षणो के गणन-चिन्तन के पश्चात् उसने वडी दृढतापूर्वक गम्भीर स्वर मे कहा "भाभी! आप पुत्रवती नही है अत. उत्तम पुत्र को जन्म देने की अभिलाषा लिये आपका चित्त रातदिन प्रगाढ चिन्ता से सतप्त रहता है। सिद्धिप्रदायक शकुन हो रहा है। अव आपका मनोरथ सफल होने वाला है। आपकी कुक्षि से एक महान् प्रतापी पुत्र का जन्म होगा, जो हमारे इस भरत क्षेत्र का अन्तिम केवली होगा। आप स्वप्न मे एक मूछो वाले सिह को शीघ्र ही देखेगी। उससे आपको मेरे कथन पर और अपनी कार्य-सिद्धि पर विश्वास हो जायगा। भाभी! आपके इस कार्य मे एक छोटा सा अतराय-विघ्न अवश्य है, वह किसी देवता की आराधना से दूर हो सकता है। पर वह देव कौन सा है यह मैं नही जानता।"

जसमित्र द्वारा की गई भविष्यवाणी को सुनकर हर्पातिरेक से इभ्यपत्नी धारिणी का मन-मयूर नाच उठा। वह जसमित्र से वाते करती हुई ऋषभदत्त के साथ उपवन मे पहुँची जहा सुधर्मा स्वामी विराजमान थे। ऋषभदत्त जसमित्र और धारिणी ने श्रद्धावनत हो भक्तिपूर्वक सुधर्मा स्वामी को वन्दन-नमन किया और तदनन्तर यथास्थान वैठकर सुधर्मा स्वामी का उपदेश सुनने लगे। उपदेश श्रवण करने समय धारिणी ने मन ही मन सुधर्मा स्वामी से पूछने का विचार किया कि इस पुत्र प्राप्ति मे हो रही अन्तराय को दूर करने के लिए किस देव की

अनाधृत देव की कृपा एव सान्निध्य के कारण सर्व लक्षण-सम्पन्न पुत्र का नाम जम्बू रखा गया।[1]

विद्युन्माली देव के ब्रह्मलोक से धारिणी के गर्भ मे आने के कुछ ही समय पश्चात् उसकी चारो देविया भी अपनी-अपनी देवी-आयु पूर्ण कर राजगृह नगर के अति समृद्ध श्रेष्ठियो के यहा पुत्रियो के रूप मे उत्पन्न हुईं। उन चारो कन्याओ और उनके माता-पिता के नाम इस प्रकार है –

	पुत्री का नाम	पिता का नाम	माता का नाम
१.	समुद्रश्री	समुद्रप्रिय	पद्मावती
२.	पद्मश्री	समुद्रदत्त	कमलमाला
३.	पद्मसेना	सागरदत्त	विजयश्री
४.	कनकसेना	कुबेरदत्त	जयश्री

लगभग उन्ही दिनो चार अन्य कन्याओं ने भी राजगृह के सम्पन्न कुलो मे जन्म ग्रहण किया। उनके तथा उनके माता-पिता के नाम इस प्रकार है –

	पुत्री का नाम	पिता का नाम	माता का नाम
५.	नभसेना	कुबेरसेन	कमलावती
६.	कनकश्री	श्रमणदत्त	सुषेणा
७.	कनकवती	वसुषेण	वीरमती
८	जयश्री	वसुपालित	जयसेना

जम्बुकुमार जिस समय धारिणी के गर्भ मे आये उसी दिन से श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त की समृद्धि एव सम्मान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई।

जिस प्रकार कल्पवृक्ष का पौधा क्रमश वृद्धिगत होता है, ठीक उसी प्रकार पाच निपुण धात्रियो की सार–सम्हाल एव देख-रेख मे बालक जम्बुकुमार बढने लगे।

योग्य आयु होने पर बालक जम्बुकुमार के लिये सुयोग्य कलाचार्य के सान्निध्य मे शिक्षा की व्यवस्था की गई। कुशाग्र बुद्धि जम्बुकुमार ने दत्तचित्त हो पूर्ण विनय के साथ अपने सुयोग्य आचार्य के पास शिक्षा प्राप्त की और युवावस्था मे पदार्पण करने से पहले ही समस्त विद्याओ और कलाओ में दक्षता प्राप्त कर ली।

जम्बुकुमार के साथ उपरिवर्णित आठ श्रेष्ठि कन्याओ ने भी युवावस्था मे पदार्पण किया। जम्बुकुमार की अति कमनीय सौम्य मुखाकृति उनके दयालुता,

---

[1] (क) कयजायकम्मस्स य से जवुफललाभ – जवुदीवाधिपतिकयसन्नेभनिमित्त कय नाम 'जवु' त्ति। – वसुदेव हिण्डी, प्र० अश, पृ० ३

(ख) महया महूसवेण, से नाम निम्मिय सुह मुहुत्ते।
दिन्नो जम्बू देवेण, जवुणामोत्ति तो होउ॥ ।७६।
जम्बूचरित्र (उपदेश माला, दोघट्टि से समुद्धृत)

स्वप्न देखने के तत्काल पश्चात् धारिणी जग उठी और पति के पास जाकर अतीव प्रसन्न मुद्रा मे अपने स्वप्न का हाल सुनाते हुए बोली – "प्राणनाथ ! देवर जसमित्र के कथनानुसार मैने स्वप्न मे केसरीसिह को देखा है। अब मुझे पक्का विश्वास हो गया है कि हमारी चिराभिलषित मनोकामना पूर्ण होगी।

अन्धे को दो आखे मिल जाने पर जिस प्रकार की प्रसन्नता होती है उसी प्रकार की प्रसन्नता ऋषभदत्त को हुई और उसने कहा – "देवी ! जैसा कि भगवान् महावीर ने फरमाया था, तुम वैसे ही महाप्रतापी पुत्र को जन्म दोगी।"[1]

धारिणी बडे ही प्रमोद के साथ गर्भ को धारण करती हुई अपने आपको धन्य समझने लगी। गर्भकाल मे धारिणी को दीनदुखियो के दु खो को दूर करने एव श्रमण – निर्ग्रथो को अशन-पानादि से प्रतिलाभित करने आदि के अनेक दोहद उत्पन्न हुए। ऋषभदत्त और धारिणी ने मुक्तहस्त से अपार धनराशि व्यय कर उन दोहदो की बडे हर्षोल्लास के साथ पूर्ति की।[2]

अनुक्रम से ज्यों-ज्यो गर्भ बढने लगा त्यो-त्यो गर्भगत महापुण्यशाली प्राणी के प्रभाव से श्रेष्ठिपत्नी धारिणी की धर्म के प्रति अभिरुचि उत्तरोत्तर बढने लगी।

गर्भकाल के परिपक्व होने पर धारिणि ने एक महातेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। नवजात शिशु का वर्ण कर्णिकार कुसुम की केसर के समान और शरीर की कान्ति बालसूर्य के समान कमनीय थी। पुत्र-जन्म की खुशी मे सेठ ऋषभदत्त के भव्य भवन मे हर्षोल्लास का सुखद वातावरण व्याप्त हो गया। मगलगीतो और विविध वाद्यवृन्दो की कर्णप्रिय धुनो से गगनमण्डल गुजरित हो उठा। लय और ताल पर नृत्य के साथ-साथ मगल गान गाती हुई कोकिल-कठिनी सुरवधूपम सुन्दरियो के नूपुरो की झकारो और सुकोमल कठारवो से मादकता मुखरित हो उठी। श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने अपने अनुचरो, वन्दीजनो, याचको एव दीन-दरीद्रो को दिल खोल कर इतना द्रव्य लुटाया कि उनका दारिद्र्य सदा के लिए दूर हो गया। उसने अपने सम्बन्धी एव स्वजनो को भी द्रव्यालकारादि से सम्मानित एव संतुष्ट किया। बारह दिन तक बडे ही ठाट-बाट के साथ अहर्निश मगल महोत्सव मनाये गये। एक शुभ दिन एव शुभ मुहूर्त मे विशिष्ट समारोह के साथ शिशु का नामकरण किया गया। परिजनो एव परिचितो को परम स्वादिष्ट षड्रस भोजन से तृप्त करने के पश्चात् पुत्र का नामकरण किया गया। माता द्वारा स्वप्न मे जम्बूफल देखने और जुम्बद्वीपाधिपति

---

[1] तेण वि भणिया – पहाणो ते पुत्तो भविस्सति जहा वागरियो

– वसुदेव हिंडी, प्र० अश, पृ० २-३

[2] समुप्पन्नोय से दोहलो जिणसाहुपूयाए सोय विभवओ सम्माणिओ।

–वही, पृ० ३

दृढ निश्चय के साथ प्रयत्नशील रहते है। जो प्राणी इस वास्तविकता को न समझ कर अथवा समझते हुए भी मोह के बन्धनो से जकडे हुए रह कर प्रमाद एव आलस्य के वशीभूत हो अपनी आध्यात्मिक उन्नति के कार्य मे अकर्मण्य रहते है, वे इस भयावह विकट भवाटवी मे सदा सर्वदा असहायावस्था मे भीषण एव दारुण दु खो को भोगते हुए भटकते रहते है।"

आर्य सुधर्मा स्वामी के इस हृदयस्पर्शी उपदेश को सुनकर जम्बुकुमार का हृदय वैराग्य से ओतप्रोत हो गया। अपने अन्तर मे असीम आत्मतोष का अनुभव करते हुए वे आर्य सुधर्मा के समीप आये और सविधि वन्दन के साथ आर्य सुधर्मा के पावन चरणो मे अपना शीश रखते हुए अति विनीत स्वर में बोले–"स्वामिन् ! मैने आपसे सच्चे धर्म का स्वरूप सुना। मुझे वह बडा रुचिकर और आनन्दप्रद लगा। आपके द्वारा बताये गए धर्म के स्वरूप पर मेरे हृदय मे प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हुई है। मै अब अपने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर आपके चरणो की शरण में दीक्षित हो आत्म कल्याण करना चाहता हूँ।"

आर्य सुधर्मा ने कहा – "सौम्य ! जिससे तुम्हे सुख हो, वही कार्य करो, शुभ कार्य में विलम्ब करना उचित नही।"

जम्बुकुमार ने आर्य सुधर्मा को प्रणाम किया और रथारूढ हो वे द्रुतगति से अपने भवन की ओर लौटे। नगर के द्वार पर अनेक रथो, यानो और वाहनो की भीड देख कर विलम्ब की आशका से सारथी को दूसरे द्वार से नगर मे प्रवेश करने का आदेश दिया। सारथी ने 'जो आज्ञा' कह कर शीघ्र ही रथ को मोडकर नगर के दूसरे द्वार की ओर बढा दिया।

अति घोर प्रतिज्ञा

शत्रुओ का संहार करने के लिए उस द्वार पर मजबूत रस्सो से शिलाए, शतघ्नी, कालचक्र आदि सहारक शस्त्र लटकाये हुए थे। जम्बुकुमार ने उनको दूर से ही देख कर मन ही मन सोचा – "इन शस्त्रो मे से यदि कदाचित एक भी शस्त्र मेरे रथ पर गिर जाए तो बिना व्रत ग्रहण किए ही मेरी मृत्यु सुनिश्चित है और मै दुर्गति का अधिकारी हो सकता हू।"[1]

इस प्रकार का विचार आते ही जम्बुकुमार ने गुणशील चैत्य की ओर रथ लौटाने का सारथी को आदेश दिया। "यथाज्ञापयति देव !" कह कर सारथी ने भी रासों के सकेत से रथ को घुमाया और आशुगामी अश्व रथ को लिए गुणशील चैत्य की ओर सरपट चले। कुछ ही क्षणो मे रथ उपवन के द्वार पर जा रुका। जम्बुकुमार रथ से उतर कर आर्य सुधर्मा की सेवा मे पहुँचे और सविधि वन्दन के पश्चात् उन्होने निवेदन किया – "भगवन् ! मै आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ।"

---

[1] कल्पान्तर्वाच्यानि, पत्र ४१–४८ (हस्तलिखित), अलवर भण्डार

दूरदर्शिता आदि अनेक अनुपम सद्गुणो की अभिव्यक्ति कर रही थी। प्रगाढ पूर्व-सम्बन्ध के कारण जम्बुकुमार की यशोगाथाए सुनते ही आठो श्रेष्ठि कन्याओ ने जम्बुकुमार को पतिरूपेण वरण करने का मन ही मन अटल निश्चय कर लिया। सखी-सहेलियो के माध्यम से अपनी पुत्रियो की आन्तरिक अभिलाषाओ के ज्ञात होते ही आठो बालाओ के माता-पिता ने परम हर्ष का अनुभव करते हुए जम्बु-कुमार के माता-पिता के पास उनके इकलौते पुत्र जम्बुकुमार के साथ अपनी पुत्रियों के विवाह-प्रस्ताव रखे। ऋषभदत्त और धारिणी ने भी उनके उस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

जम्बू की विरक्ति

उन्ही दिनो भगवान् महावीर के दिव्य सदेश को ग्रामो, नगरो तथा जनपदो में पहुंचाते हुए एव मुमुक्षु भव्य प्राणियो के अन्तर्मन को प्रफुल्लित करते हुए आर्य सुधर्मा अपने श्रमणसघ के साथ राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में पधारे। सुधर्मा स्वामी के आगमन का शुभ संवाद सुनते ही जम्बुकुमार के हर्ष का पारावार न रहा। वे एक शीघ्रगामी एव धार्मिक अवसरोचित रथ पर आरूढ हो सुधर्मा स्वामी की सेवा मे पहुचे। उन्होने सुधर्मा स्वामी को अगाध श्रद्धा और परमाभक्ति से विधियुक्त वन्दन-नमन किया और धर्मपरिषद् में यथास्थान बैठ गये।

अमृत की घनघटा से जिस प्रकार अमृतवर्षा की ही अपेक्षा की जाती है, उसी प्रकार अर्हत् भगवान् के समान समस्त तत्वो की विशद् व्याख्या करने वाले आर्य सुधर्मा ने धर्मपरिषद् को उद्दिष्ट कर आध्यात्मिक उपदेश देना प्रारम्भ किया। उन्होने अपनी देशना मे जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बध, सवर निर्जरा तथा मोक्ष के स्वरूप का सब के लिये बोधप्रद विशद् विवेचन किया। मानवभव की महत्ता बताते हुए उन्होने फरमाया – "भव्यो ! विश्वहितैषी भगवान् महावीर के उपदेशानुसार आचरण करके भव्य प्राणी भवसागर को पार करने मे सफल हो सकते है। अत मानव मात्र को इस प्राप्त अवसर का लाभ उठाना चाहिये।

आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव मे मानव भौतिक एषणाओ के पीछे अहर्निश भागता है और भव सागर मे आर्थिक हानि-लाभ के उतार-चढावो के कारण उठी उत्तुग तरगो की थपेडे खाता हुआ अनन्त काल तक भवभ्रमण करता रहता है। काम भोगो के क्षणिक एव दुखात काल्पनिक सुख मे लुब्ध मानव यह नही सोचता कि पवन के प्रबल झोको से झकझोरित वृक्षो से तडातड झडते हुए पत्तो की तरह प्राणियो का जीवन क्षणिक और अनिश्चित है। बादल मे से जिस प्रकार पानी तीव्र वेग से झरता है उसी प्रकार मानव की आयु प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। जो प्रियजनो का सयोग है वह वस्तुतः वियोगान्त है और लक्ष्मी बिजली की चमक के समान क्षणिक, चचल एव अस्थिर है। बुद्धिमान मानव वही है जो आयु, यौवन, कामभोग, लक्ष्मी एव शरीर को क्षण विध्वसी समझ कर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयी को ग्रहण कर इनकी सम्यक्रूपेण आराधना-पालना करते हुए अनन्त, अव्याबाध, शाश्वत शिवसुख की प्राप्ति हेतु

ऐसी दशा मे तुमने आज एक ही दिन मे ऐसी कौनसी विशिष्टता उपलब्ध करली है जिसके कारण तुम प्रव्रजित होने की बात कह रहे हो ?"

इस पर जम्बुकुमार ने कहा – "तात-मात ! ससार मे कई लोग ऐसे होते हैं जो बहुत समय के पश्चात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय कर पाते है और कुछ लोग अति स्वल्प समय मे विशिष्ट परिज्ञा प्राप्त कर लेते है।" विशिष्ट परिज्ञा के उदाहरणस्वरूप जम्बुकुमार ने अपने माता-पिता को एक श्रेष्ठिपुत्र का निम्नलिखित आख्यान सुनाया –

"किसी समय एक प्रसिद्ध नगर मे अप्सरा के समान सुन्दर गुणज्ञा नाम की एक गणिका रहती थी। प्रदीप पर पतगो की तरह उसके रूप-लावण्य की छटा पर विमुग्ध हो देश-विदेश के अनेक रसिक राजपुत्र, अमात्यपुत्र और इभ्यपुत्र उसके यहा आकर अपना सर्वस्व लुटाते रहते थे। उस गणिका के प्रेम मे पागल से बने वे तरुण जब अपना समस्त वैभव व्यय कर अपने-अपने घरो की ओर लौटने के लिए समुद्यत होते तब वह उन्हे कहती–"आप तो मुझे छोडकर जारहे है लेकिन मैं कृतघ्ना नही हू। मेरे स्मृतिचिह्न के रूप मे आप मेरे पास से कोई न कोई वस्तु अवश्य लेते जाइये।"

विदाई की वेला मे गणिका की उपर्युक्त बात सुनकर वे लोग गणिका द्वारा उपभुक्त करककण, हार, भुजबन्ध आदि आभूषणो मे से कोई एक आभूषण लेकर अपने घर की राह पकडते।

अपना सर्वस्व लुटा चुकने के पश्चात् एक बार एक इभ्यपुत्र की वहा से विदाई का समय आया तो गणिका ने उसके समक्ष भी अपनी वही बात दोहराई। वह श्रेष्ठी-पुत्र एक निष्णात रत्नपरीक्षक था। उसने गणिका का अमूल्य पचरत्नो से जटित स्वर्णनिर्मित पादपीठ देखा और कहा – "सुमुखि ! मैं तुम्हे अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ अत तुम से कुछ भी लेना अपने सम्मान के अनुकूल नही समझता। फिर भी तुम्हारे सुकोमल हृदय को ठेस न पहुचे इस दृष्टि से तुम्हारी इच्छा रखने हेतु चाहता हूँ कि सदा तुम्हारे पैरो नीचे रहने वाला यह पाद पीठ दे दिया जाय। बस, तुम्हारे स्मृति-चिह्न के रूप मे मेरे लिए यही पर्याप्त है।"

गणिका ने बडे आग्रहपूर्ण शब्दो मे कहा – "आपने ऐसी स्वल्प मूल्य की वस्तु क्या मागी ? कोई और बहुमूल्य वस्तु मांगिये।"

श्रेष्ठिपुत्र रत्नो का कुशल पारखी था। उसने पादपीठ को गणिका के घर की सारभूत वस्तु समझकर कहा – "मुझे तो सदा तुम्हारे पैरो के नीचे रहने वाली यही साधारण वस्तु प्रिय है।"

अन्ततोगत्वा गणिका ने अपना पादपीठ श्रेष्ठिपुत्र को दे दिया। श्रेष्ठि-पुत्र उस पादपीठ को लेकर अपने घर लौट आया। उसने पादपीठ के कीमती

जम्बुकुमार की प्रार्थना पर आर्य सुधर्मा ने भी उन्हे जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण करवाया। व्रत ग्रहण के पश्चात् जम्बुकुमार ने पुन बडी श्रद्धा से आर्य सुधर्मा को प्रणाम किया और रथ मे बैठकर अपने घर पहुचे।

माता-पिता के समक्ष प्रव्रजित होने का प्रस्ताव

अपने विशाल भवन के प्रागण मे पहुँचते ही जम्बुकुमार रथ से उतर कर सीधे अपने माता-पिता के पास पहुचे। माता-पिता को प्रणाम कर जम्बुकुमार ने उनसे निवेदन किया – "अम्ब तात! मैने आज आर्य सुधर्मा स्वामी के पास जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सारभूत धर्मोपदेश सुना।"

माता धारिणी ने अपने प्राणप्रिय पुत्र जम्बू की बलैया लेते हुए स्नेह-सिक्त स्वर मे कहा – "वत्स! तुम परम भाग्यशाली हो कि तुमने ऐसे महान् धर्म-धुरीण धर्मोपदेशक के दर्शन, वन्दन-नमन एव उपदेशश्रवण से अपने नेत्रो, शिर, कर्णरन्ध्रो, अन्त करण एव जीवन को सफल किया।"

जम्बुकुमार ने पुन कहा – "अम्ब-तात! सुधर्मा स्वामी के उपदेश को सुनकर मेरे अन्तर के पट खुल गये, मुझे मेरे कर्त्तव्य का और सत्पथ का बोध हो गया, मेरे अन्तर मे उस अक्षय-अमर-परमपद को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई है, जहा जन्म, जरा, मृत्यु और रोग-शोक आदि के लिए कोई स्थान नही है। सकट के समय शत्रु से नगर की रक्षार्थ नगर के द्वार पर विशाल शिलाखण्ड एव गोले यन्त्रों मे रखे हुए है। उन्हे देख कर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यदि उनमे से एक भी शिला खण्ड अथवा गोला मेरे ऊपर गिर जाय तो अव्रती दशा मे मेरी मृत्यु हो सकती है। अत मै लौट कर पुन सुधर्मा स्वामी की सेवा मे उपस्थित हुआ और उनसे मैने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण किया। पूज्यो! मै सुधर्मा स्वामी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर उस परमपद की प्राप्ति हेतु प्रयास करने का दृढ निश्चय कर चुका हूँ। कृपा कर आप मुझे दीक्षित होने की आज्ञा प्रदान कीजिये।"

अपने प्राणप्रिय एक मात्र पुत्र के मुख से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने एव प्रव्रजित होने की बात सुनते ही ऋषभदत्त और धारिणी के हृदय पर वज्राघात सा लगा और वे कुछ क्षणो के लिए मूर्छित हो गये। मूर्च्छा दूर होने पर वे दोनो अपनी आखो से अविरल अश्रुधाराए बहाते हुए बड़े दीन स्वर मे बोले – "प्रिय पुत्र! तुम ही हमारे मनोरथो को पूर्ण करने वाले हो। तुम्हारे बिना हमारा जीवन दूभर हो जायगा। तुमने आर्य सुधर्मा स्वामी से जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्मोपदेश सुना, यह तो बहुत अच्छा किया। परम्परा से हमारे अनेक पूर्वज भी जिन शासन के श्रद्धालु भक्त रहे हैं पर जहा तक हमने सुना है, उनमे से किसी ने प्रव्रज्या ग्रहण नही की। हम दोनो भी बहुत समय से जिनोपदेश सुनते आ रहे हैं पर आज तक हमारे मन मे कभी इस प्रकार का निश्चय उत्पन्न नही हुआ।

दार्ष्टान्तिक रूप मे घटित करते हुए कुमार ने कहा – "अम्वतात ! अभी तो मुझे वाल भाव के कारण केवल भोज्य पदार्थों की ही अभिलाषा रहती है। अभी रसनेन्द्रिय के आस्वाद-सुख से ही प्रतिबद्ध हूँ जिससे कि मैं अभी अपने आपको बडी आसानी मे उन्मुक्त कर सकता हूँ। किन्तु यदि मै पाचो ही इन्द्रियो के विषय सुखो मे आसक्त हो गया तो मै भी उस विषयलोलुप वन्दर की तरह दयनीय एव दु खपूर्ण मृत्यु को प्राप्त हो अन्ततोगत्वा अनन्त भव भ्रमण के भवर मे फस कर अनन्त दु खो का भागी बन जाऊगा। अम्व-तात ! मै भवभ्रमण की विभीपिका से भयभ्रान्त हूँ। कृपा कर मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कीजिए। जिस प्रकार मकडी के जाल के तन्तु मच्छर आदि क्षुद्र कीटो को तो अपने पाश मे आवद्ध कर लेते है किन्तु मत्त गजेन्द्र को नही बाँध सकते, ठीक उसी प्रकार ऐहिक तुच्छ विषय सुख केवल कापुरुषो को ही अपने वशवर्ती बना सकते है, प्रबुद्ध चेतस को नही।[1]"

जम्बू द्वारा कही गई उपरोक्त बाते सुन कर मा धारिणी इस भय से अधीर हो उठी कि अब तो उसका पुत्र निश्चित रूप से प्रव्रजित हो जायगा। उसने करुण रुदन करते हुए कहा – "पुत्र मै चिरकाल से अपने हृदय मे इस आशा को सजोये बैठी हू कि एक वार वरवेश मे तुम्हारा मुख-कमल देखूँ। यदि तुम मेरे चिराभिलषित इस मनोरथ को पूर्ण कर दो तो मै भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा ग्रहण कर लूँगी।"

उत्तर मे जम्बुकुमार ने कहा – "अम्ब ! यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो मै उसकी पूर्ति करने को तैयार हूँ। परन्तु इसके साथ एक शर्त है कि आपकी मनोरथपूर्ति के उस शुभदिन के पश्चात् फिर आप मुझे प्रव्रजित होने से नही रोकेंगी।"

धारिणी ने सतोष की सास ली, मानो डूबते हुए को तिनके का सहारा मिल गया हो। मा के ममता भरे मन मे इस विचार से आशा की किरण प्रकट हुई कि बडे से बडे योगियो को विचलित कर देने के लिए एक ही रमणी पर्याप्त होती है। परम रूप-लावण्य एव सर्व गुणसम्पन्न उसकी आठ बधुए अपने सम्मोहक हाव-भावो एव नेत्र-बाणो से उसके पुत्र को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने मे अवश्य ही सफल हो जायेगी।

उसने हर्षमिश्रित स्वर मे कहा – "वत्स ! जो तुम कह रहे हो वही होगा। हम लोगो ने पहले से ही तुम्हारे अनुरूप सर्व गुणसम्पन्न अतिशय रूपवती आठ श्रेष्ठि कन्याओ का तुम्हारे साथ विवाह करने हेतु वाग्दान स्वीकार कर रखा है। वे आठो ही श्रेष्ठी-परिवार जिन शासन मे श्रद्धा-अनुराग रखने वाले एव सम्पन्न है। मै अभी उन आठो सार्थवाहो को सूचना भिजवाती हूँ।"

---

[1] विषयगण कापुरुषं करोति वशवर्तिन न सत्पुरुषम्।
बध्नाति मशकमेव हि लतातन्तुर्न मातङ्गम्॥ [नीति शास्त्र]

रत्नो से विपुल अर्थोपार्जन किया और वह दीर्घ काल तक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करता रहा।

विशेष परिज्ञा वाले श्रेष्ठिपुत्र के दृष्टात की दार्ष्टान्तिक रूप मे व्याख्या करते हुए जम्बूकुमार ने कहा – "जिस प्रकार उस श्रेष्ठिपुत्र ने सारभूत वस्तु को ग्रहण कर लम्बे समय तक सुखोपभोग किया, उसी प्रकार मै भी सुधर्मा स्वामी के उपदेश मे से सारभूत अमूल्य वस्तु – प्रव्रज्या को ग्रहण कर अनन्त, शाश्वत सुख स्वरूप परमपद मोक्ष को प्राप्त करना चाहता हूँ। अत· आप मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर परमपद प्राप्त करने के मेरे लक्ष्य मे सहायक बनिये।"

जम्बुकुमार द्वारा सहज भाव से प्रकट किये गये इन उद्गारो एव अन्तस्तल से प्रस्तुत की गई तथ्यपूर्ण युक्तियों से श्रेष्ठिदम्पति को विश्वास हो गया कि जम्बू के अंत करण मे प्रव्रजित हो, परमपद प्राप्त करने की उत्कट एव अमिट अभिलाषा उत्पन्न हो चुकी है, वह अब किसी भी दशा मे गृहस्थाश्रम मे रहने वाला नही है। फिर भी उन्होने अत्यधिक स्नेह के कारण जम्बुकुमार को और कुछ दिन गृहवास मे रहने का अनुरोध करते हुए आग्रहपूर्ण स्वर मे कहा – "पुत्र! इस बार तो तुम प्रव्रजित होने का विचार त्याग दो। हा, जव विभिन्न क्षेत्रों मे विचरण करते हुए सुधर्मा स्वामी पुन· यहा पधारे तब तुम उनके पास दीक्षित हो जाना।"

जम्बुकुमार ने अपने लक्ष्य से किंचित्मात्र भी विचलित हुए बिना विविध युक्तियो से धर्म की महत्ता एवं दुर्लभता सिद्ध करने वाली अपनी बात को प्रारम्भ रखते हुए कहा – "तात-मात! यदि मै अभी प्रव्रजित हो जाऊ तो निश्चित रूपेण अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे सिद्ध हो सकूँगा। काल का क्या भरोसा? अत मेरे हित को ध्यान में रखते हुए आप मुझे अभी ही प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर दीजिए।"

अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र के भावी विछोह को टालने का एक और प्रयास करते हुए श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने पुनः बडे दुलार भरे स्वर मे कहा – "वत्स? तुम्हारे पास सभी प्रकार के सुखोपभोग का अनन्यतम साधन – विपुल वैभव विद्यमान है। मानव-मन जिन सुखो के उपभोग के लिए सदा लालायित रहता है, जिन सुखोपभोगो को प्राप्त करने मे अधिकांश मानव जीवन भर अहर्निश अथक परिश्रम करते रहने के उपरान्त भी सफल नही होते, वे सव सुखोपभोग तुम्हे तुम्हारे प्रवल पुण्य के प्रताप से सहज ही प्राप्त है। अत यथेप्सित विषय – सुखो एव विविध भोगोपभोगो का जी भर आनन्द लूटने के पश्चात् तुम दीक्षित हो जाना।"

इस पर जम्बुकुमार ने अपने माता-पिता को विषय-लोलुपता की भयावहता बताते हुए एक बन्दर का दृष्टात सुनाया जो विषयासक्ति के कारण शिलाजीत से चिपक कर मर गया था। विषयासक्ति के कारण हुई बन्दर की मृत्यु के दृष्टांत को

अपने लाडले लाल को अनुपम रूप-लावण्यवती आठ पुत्रवधुओ के साथ देख-देख कर प्रफुल्लवदना मा धारिणी परम प्रसन्न मुद्रा मे उनकी बलैया ले रही थी। श्रेष्ठी ऋषभदत्त और धारिणी ने अपने पुत्र के विवाहोत्सव की खुशी के उपलक्ष मे मुक्तहस्त हो स्वजनो, स्नेहियो, आश्रितो और अपाहिजो को मनचाहा द्रव्य देकर सतुष्ट किया।

निशा के आगमन के साथ ही बहुमूल्य वस्त्राभूषणो से अलकृत जम्बुकुमार ने आठो नव वधुओ के साथ अपने भवन मे सजाये गये सुन्दर शयन-कक्ष मे प्रवेश किया। विशाल कक्ष के मध्य भाग मे अत्यन्त सुन्दर कला-कृतियो के प्रतीक ६ सुखासन एक दूसरे के सन्निकट गोलाकर मे रखे हुए थे। जम्बुकुमार ने उनमे से मध्यवर्ती सिहासन पर बैठते हुए सहज मृदु एव शान्त स्वर मे अपनी पत्नियो को आसनो पर बैठने को कहा। प्रथम मिलन की वेला मे मुख पर मधुर मुस्कान और अन्त करण मे अगणित अरमान लिये कुछ सकुचाती कुछ लजाती हुई सी वे आठो अनुपम सुन्दरिया अपने प्राणवल्लभ के दोनो पार्श्व मे बैठ गईं।

पत्नियों को प्रतिबोध

वातावरण की मादकता, माधुरी और मोहकता चरम सीमा तक पहुच चुकी थी। उत्कृष्ट कोटि के सुगधित द्रव्यो की महक से कक्ष गमक रहा था। प्रथम मिलन की रात, रूप सुधा से ओत-प्रोत सरिताओ के समान इठलाती, वल खाती, कनकलतातुल्य आठ कामिनिया, अगडाइया लेता हुआ नवयौवन, एकान्त कक्ष, सहज सुलभ सभी भोग्य सामग्रिया किन्तु जम्बुकुमार के मन पर इन सब का किचित्मात्र भी प्रभाव नही। वे तो जलगत कमल के समान बिल्कुल निर्लिप्त, वीत-दोष की तरह विरक्त एव निर्विकार बने रहे। नववधुए अपने जीवनधन जम्बुकुमार के अति कमनीय, परमकान्त मुखचन्द्र की ओर निर्निमेष दृष्टि से अपनी सभी सुध बुध भूले इस प्रकार निहार रही थी मानो वर्षो से चद्रिका की प्यासी आठ चकोरिया पूर्ण चन्द्र की ओर अपलक देखती हुई अपनी आखो की प्यास बुझा रही हो।

वातावरण की निस्तब्धता को भग करते हुए जम्बुकुमार ने अपनी आठो पत्नियो को सम्बोधित किया – "भव्यात्माओ! आपको विदित ही है कि मै कल प्रात काल प्रव्रजित होकर मुक्तिपथ का पथिक होने जा रहा हूँ। सभवत आप आश्चर्य कर रही होगी कि मै विषयोपभोग योग्य इस तरुण वय मे अपार वैभव का परित्याग कर भोगो से विमुख हो त्याग मार्ग की ओर उन्मुख क्यो हो रहा हूँ। मेरे द्वारा त्याग मार्ग अपनाने के औचित्य को आप शीघ्र ही भलीभाति समझ सके इसलिए मै सर्व प्रथम एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वह यह है कि ये सासारिक विषय भोग मानव को उसी समय तक सुखप्रद प्रतीत होते है जब तक कि उसके हृदय मे तत्वबोध न होने के कारण मूढता व्याप्त है। जीवाजीवादि तत्वो का बोध होते ही मानव के हृदय मे व्याप्त विमूढता विनष्ट हो जाती है और वह तत्वविद् व्यक्ति प्रबुद्धचेता बन जाता है। तत्ववेत्ता बन

श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने तत्काल विश्वस्त सदेशवाहको के साथ उन आठो सार्थवाहो के पास सदेश भेजा । उसमे यह स्पष्ट कहला दिया कि विवाह हो जाने के पश्चात् जम्बुकुमार प्रव्रजित हो जायेगे, अत. सभी बातो पर सुचारु रूप से विचार कर शीघ्र उत्तर दिया जाय ।

सदेश मे जम्बुकुमार के दीक्षित होने की बात सुन कर उन सभी सार्थवाहो के हृदय पर गहरा आघात पहुचा । वे अपनी पत्नियो के साथ इस विषय मे विचार करने लगे कि समुपस्थित समस्या का हल किस प्रकार किया जाय ।

आठो श्रेष्ठि-कन्याओ ने भी जम्बुकुमार के दीक्षित होने और अपने माता-पिता के पास श्रेष्ठि ऋषभदत्त के यहा से प्राप्त सदेश की बात सुनी । समान निश्चय वाली उन सभी कन्याओ ने अपने माता-पिता से स्पष्ट शब्दो मे कह दिया – "आपने हमे उन्हे वाग्दान मे दे दिया है । अब धर्म से वे ही हमारे स्वामी है । वे जिस पथ का अवलम्बन करेगे, चाहे वह कितना ही दुर्गम अथवा कण्टकाकीर्ण क्यो न हो, हमारे लिये भी वही प्रशस्त पथ होगा । आप और किसी बात का विचार नही करे ।"

कन्याओ के दृढ निश्चय को सुन कर उनके पिता सार्थवाहो ने ऋषभदत्त को विवाह की स्वीकृति का सदेश प्रेषित कर दिया । दोनो ओर विवाह की तैयारिया होने लगी ।

जम्बू का विवाह

विवाह की मागलिक वेला मे अमूल्य झूल एव अलकारो से सुसज्जित हाथी की पीठ पर देव विमान के समान सुन्दर अम्बावारी मे वरवेषधारी जम्बुकुमार आरूढ हुए । अपने समय के धनकुबेर श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त के प्राणाधिक प्रिय इकलौते पुत्र जम्बुकुमार की वर-यात्रा को देखने राजगृह नगर के नर-नारियो के समूह के समूह सुन्दर परिधान पहने उमड पड़े । गवाक्षो से सुन्दरिया सुमन-वृष्टि करने लगी । समस्त वातावरण को गुजरित कर देने वाले विविध वाद्यवृन्दो की मधुर ध्वनि के साथ वर-यात्रा मुख्य बाजारो से आगे बढी । पूर्णचन्द्र जिस प्रकार तारिकाओ के समीप जाते है उसी प्रकार वरवेष मे सजे परम कान्तिमान जम्बूकुमार कन्याओ के घर पहुंचे । मगल आरतियो के साथ वर को वधुओ के घर मे प्रवेश करवाया गया और सम्पूर्ण वैवाहिक विधि-विधान के साथ जम्बूकुमार का आठो वधुओ के साथ पाणिग्रहण एक ही साथ करवाया गया । पाणिग्रहण सम्पन्न होने पर उन आठो सार्थवाहो ने अपने जामाता जम्बुकुमार को दहेज मे भोगोपभोग योग्य वसनालकारादि विपुल सामग्रियो के साथ प्रचुर मात्रा मे स्वर्ण मुद्राएं प्रदान की । तदनन्तर जम्बुकुमार अपनी आठो वधुओ के साथ भवन की ओर लौटे । कुटुम्बियो और नागरिको ने वधुओ सहित वर का हार्दिक अभिनन्दन किया । नव वधुओ के साथ अपने गृह मे प्रवेश करते हुए जम्बुकुमार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे अष्ट सिद्धियो को अपने साथ उस घर में लाये हो ।

विद्याओ से कोई प्रयोजन नही । वस्तुत मै कोई विद्या नही जानता । मै तो पच-परमेष्टिमत्र को ही सबसे बडा मत्र जानता हू ।"

जम्बूकुमार की निस्पृहता और प्रव्रजित होने की बात सुन कर प्रभव को बडा विस्मय हुआ । उसने आग्रहपूर्ण स्वर मे कहा – "सौम्य ! कुवेरोपम सपत्ति और सुरबालाओ के समान इन सुन्दर नववधुओ को छोड कर अभी आप प्रव्रजित न होइये । आप इन रमणी-रत्नो के साथ इस विपुल वैभव का समीचीनतया सुखोपभोग करने के पश्चात् वृद्धावस्था मे प्रव्रजित हो जाना ।"

जम्बूकुमार ने पूर्ण कुशलता के साथ युक्तिपूर्वक प्रभव को प्रतिबोध दिया ।[१] जम्बूकुमार के उपदेश से प्रबुद्ध हो प्रभव तथा उसके ५०० साथियो ने भी जम्बूकुमार के साथ ही प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की और जम्बूकुमार की सहमति प्राप्त होने पर अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करने हेतु वह अपने साथियो सहित श्रेष्ठि ऋषभदत्त के घर से चला गया ।

पत्नियों के साथ चर्चा

जम्बूकुमार की समुद्रश्री आदि आठ नवविवाहिता पत्नियो ने विरक्त जम्बूकुमार को सयम मार्ग से रोकने और सहज प्राप्त विपुल सुख-सामग्री का सुखपूर्वक उपभोग करने की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना करते हुए क्रमश आठ दृष्टान्त सुनाये । उनके उत्तर मे जम्बूकुमार ने भी अपनी आठो पत्नियो द्वारा प्रस्तुत किये गये आठ मार्मिक दृष्टान्तो के उत्तर मे आठ दृष्टान्त सुनाये । जम्बूकुमार और उनकी पत्नियो के बीच हुआ सवाद बडा प्रेरणादायक, बोधप्रद, रोचक और अनादि काल से अज्ञानावरणो के कारण पूर्णत निमीलित अन्तर्चक्षुओ को सहसा उन्मीलित कर देने वाला है । उन दृष्टान्तो मे से एक पद्मश्री द्वारा तथा उसके उत्तर मे जम्बूकुमार द्वारा प्रस्तुत किया गया, ये दो दृष्टान्त यहा अविकल रूप से दिये जा रहे है –

जम्बूकुमार की प्रथम पत्नी समुद्रश्री के पश्चात् दूसरी पत्नी पद्मश्री ने अपने प्राणेश्वर को सम्बोधित करते हुए अति विनम्र एव मधुर स्वर मे कहा – "प्राणनाथ ! पूर्वजन्म के पुण्यप्रताप से आपको विपुल वैभव और छाया के समान सदा आपकी अनुगामिनी ८ पत्निया मिली है, इस सबसे और अधिक सुखोपभोग की सामग्री प्राप्त करने की आशा मे इस सब का परित्याग कर आपको भी कही उस वानर की तरह घोर पश्चात्ताप और दारुण दुख सहन नही करना पडे जो मानवस्वरूप पा कर भी देवत्व की प्राप्ति के प्रयास मे पुन वानर बन गया ?"

जम्बूकुमार ने सस्मित स्वर मे पूछा – "मुग्धे ! वानर को किस प्रकार का पश्चात्ताप करना पडा ?" इस पर पद्मश्री ने निम्नलिखित दृष्टान्त सुनाया –

---

[१] विस्तृत विवरण के लिये आचार्य प्रभव सम्बन्धी इतिवृत्त मे देखिये । –सम्पादक

जाने के पश्चात् उस व्यक्ति के मन में विषय, सुख एव मूढता के लिए कोई स्थान अवशिष्ट नही रह जाता ।[1]

मैने सुधर्मा स्वामी की कृपा से तत्वबोध प्राप्त कर लिया है अत अब मै विषय भोग के सुख को और समस्त सासारिक वैभव को विपवत् हानिप्रद और हेय समझता हूं। वस्तुतः ये सब विषय-भोग क्षणभगुर है। इन विषय भोगो से प्राप्त होने वाले सुख भी क्षणिक होने के साथ-साथ अनन्त दुखानुबन्धी होने के कारण अनन्त काल तक भवभ्रमण कराने वाले और भीषण दुखदायी हैं। इस ससार रूपी विपवृक्ष के जन्म, जरा, रोग, शोक, भीषण यातनाए और मृत्यु ये दु खप्रद फल है। विषय भोगो मे फसे रहने के कारण हम लोग अनन्तकाल से भवभ्रमण करते हुए दुस्सह दारुण दुःख उठाते आ रहे है।"

प्रभव का ५०० चोरों के साथ गृह प्रवेश

जिस समय जम्बूकुमार अपनी आठो पत्नियो को इस प्रकार शिक्षा दे रहे थे, उसी समय प्रभव नामक एक कुख्यात चोर अपने ५०० साथी चोरो के साथ ऋषभदत्त के घर मे चोरी करने के लिये आ पहुचा। प्रभव ने अवस्वापिनी विद्या के प्रयोग से घर के सभी लोगों को प्रगाढ निद्रा मे सुला दिया और तालोद्घाटिनी विद्या के प्रयोग से सभी कक्षो के ताले खोल डाले। प्रभव के साथ आये हुए चोरो ने जब सेठ ऋषभदत्त और उनके यहा आये हुए श्रीमन्त अतिथियो के वहुमूल्य रत्न एवं आभूपण आदि उतार कर ले जाने की तैयारी की तो शात गम्भीर स्वर मे चोरो को सम्बोधित करते हुए जम्बूकुमार बोले – "अय तस्करो! तुम लोग हमारे यहा अतिथि के रूप में आये हुए इन लोगो की सम्पत्ति को कैसे चुरा कर ले जा रहे हो ?"

जम्बूकुमार के इतना कहते ही ५०० चोर जहां, जिस रूप मे थे, उसी रूप मे चित्रलिखित से स्तभित हो गये। यह देख कर प्रभव को वडा आश्चर्य हुआ कि उसकी अमोघ अवस्वापिनी विद्या का जम्बूकुमार पर किस कारण से प्रभाव नही हुआ। उसने जम्बूकुमार के पास जा कर कहा – "श्रेष्ठिपुत्र ! मै जयपुर नरेश विन्ध्यराज का ज्येष्ठ पुत्र प्रभव आपके साथ मित्रता करना चाहता हू। आप मुझे स्तभिनी और मोचिनी विद्याएं[2] सिखा कर उनके वदले मे मुझ से अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याएं प्राप्त कर लीजिये।"

प्रभव को प्रतिबोध

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! मै तो प्रात.काल होते ही सव सम्पत्ति और परिवार का परित्याग कर प्रव्रजित होने वाला हू। मुझे इन पापकारी

---

[1] ददति तावदिमे विपया. सुखं, स्फुरति यावदियं हृदि मूढता।
मनसि तत्वविदां तु विचारके, क्व विपयाः क्व सुखं क्व च मूढता ॥

[2] 'देसु मम' एयाओ विज्जाओ थंभ – मोक्खणीयाओ। ॥८७॥
[जंबूचरिय (गणपाल) प० ८२]

वानर को रोते हुए देख कर राजमहिषी ने कहा – "वानर ! अब तो तुम अपने स्वामी की आज्ञानुसार अपनी वानरी विद्या का प्रदर्शन करते रहो, इसी मे तुम्हारी भलाई है। अब उस वृक्ष पर से द्रह मे दो बार कूदने की घटना को बिल्कुल भूल जाओ। अब पश्चात्ताप से कोई लाभ नही होने वाला है।"

पद्मश्री ने कटाक्षनिक्षेपपूर्वक सस्मित स्वर मे जम्बू कुमार की ओर देखते हुए कहा – "कान्त ? मुझे भय है कि अनिश्चित अनागत के अद्भुत सुखो की अवाप्ति की आशा मे आप भी कही वर्तमान मे प्राप्त इन सुखद भोगोपभोगो का परित्याग कर उस वानर की तरह पश्चात्ताप से सतप्त न हो जाये ?"

पद्मश्री की बात सुनकर मुस्कुराते हुए जम्बू कुमार ने कहा – 'पद्मश्री ! मुझे अगारकारक की तरह विषयों की किंचित्मात्र भी तृष्णा अथवा चाह नही है। सुनो –

अंगारकारक का दृष्टांत

"एक अगारकारक (कोयले बनाने वाला) अपने साथ पर्याप्त मात्रा मे पीने का पानी लेकर दूरस्थ किसी जगल मे कोयले बनाने के उद्देश्य से पहुचा। वहा उसने लकडियो को जलाना प्रारम्भ किया। ग्रीष्म ऋतु की तेज धूप और जलती हुई लकडियो की ज्वाला के कारण उसे तीव्र प्यास और असह्य जलन का अनुभव होने लगा। उसने बार-बार पानी पीना प्रारम्भ किया पर इससे भी उसकी प्यास और शरीर की तपन शान्त नही हुई। प्यास और तपन से पीडित हो वह बार-बार अपने शरीर पर और मुँह मे पानी डालने लगा। इस प्रकार उसके पास जितना जल था, वह सब समाप्त हो गया। अब उसकी प्यास और शरीर की जलन तीव्र रूप धारण करने लगी। वह जल की तलाश मे निकल पडा। थोडी ही दूर चलने के अनन्तर असह्य तृष्णा और ताप की पीडा से वह एक वृक्ष के नीचे पहुंचते-पहुचते मूर्छित हो वृक्ष की छाया मे गिर पडा। वृक्ष की शीतल छाया से उसे कुछ शान्ति का अनुभव हुआ और थोडी देर के लिए उसे निद्रा ने आ घेरा।

उस अगारकारक ने स्वप्नावस्था मे ससार के समस्त वापी, कूप, तडाग आदि जलाशयो का मन्त्रदिग्ध आग्नेयास्त्र की तरह समस्त जल पी डाला पर उसकी तृष्णा एव तपन किंचित्मात्र भी कम नही हुई। उसकी निद्रा भग हुई और वह वहां से चल कर एक वापी के पास पहुचा। उस वावडी मे उतर कर उसने अजलि से पानी पीना चाहा पर वहा पानी के स्थान पर केवल कीचड़ पाया।

तृषा और तपन से व्याकुल वह अंगारकारक झुक कर अपनी जिह्वा से उस वापी के कीचड को चाटने लगा पर इससे न उसकी प्यास ही बुझी और न तपन ही मिटी।"

तदनन्तर पद्मश्री को सम्बोधित करते हुए जम्बूकुमार ने कहा – "बाले ! हम सब लोगो के जीव अगारकारक की तरह है और ससार के समस्त विषयसुख

वानर का कथानक

किसी सर्वकामप्रदायी द्रह के तट पर स्थित एक विशाल वृक्ष पर वानर और वानरी का युगल (एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूद-फाद करते हुए) क्रीडा कर रहा था । वानर किसी तरह फाल चूक गया और उस द्रह मे जा गिरा । उस दिव्य द्रह के जल के प्रभाव से वानर तत्काल अति सुन्दर युवा मनुष्य बन गया । इस अद्भुत रूप-परिवर्तन को देख कर वानरी ने भी द्रह मे छलाग लगाई और वह भी तत्काल अति सुन्दर रूप- लावण्यवती मानवकन्या बन गई । वे दोनो एक दूसरे के अति कमनीय मानव स्वरूप को देख कर अतीव प्रमुदित हुए ।

युवा पुरुष के रूप मे परिवर्तित हुए वानर ने अपनी पत्नी से कहा – "सुमुखि ! हम कितने सौभाग्यशाली है कि इस द्रह मे कूदने के कारण हमे मनोहारी मानवतनु मिल गये । अव हम इस वृक्ष पर चढ कर एक वार पुन इस द्रह मे कूदे । अब की बार हम निश्चित रूप से देव तथा देवी वन जायेगे और सहस्रो वर्षो तक दिव्य सुखो का उपभोग करेगे ।"

मानवी देहधारिणी वानरी ने कहा – "प्रिय ! मानवदेह हमे मिल गई है । इसी मे सतोप करके हमे मानवोचित सुखो का उपभोग करना चाहिये । सशयास्पद देवत्व की प्राप्ति के प्रयास मे कही हम अपना यह मानवतन भी न खो बैठे ।"

अपनी प्रिया द्वारा बहुत कुछ समझाये जाने के उपरान्त भी मानवतनधारी वह वानर वृक्ष पर चढ कर द्रह मे कूद गया । यह देख कर उसे बडा दु ख हुआ कि वह पुन वानर वन गया है । द्रह से निकल कर वानर अनेक वार उस वृक्ष पर चढा और द्रह मे कूदा पर सव निष्फल, वह तो वानर ही बना रहा । अपनी असतोपी वृत्ति पर पश्चात्ताप करता हुआ वह रोने लगा ।

दूसरी ओर वनक्रीडार्थ वहा आये हुए एक महाराजा ने जव उस अनुपम सुन्दरी को देखा तो वह उसे अपने राजमहलो मे ले गया और उसने उसे अपनी पट्टमहिषी वना दिया । वह एक बडे नरपति की अग्रमहिषी के रूप मे राजकीय विविध सुखो का उपभोग करने लगी ।

उधर उस वानर को एक मदारी पकड कर ले गया और उसे अनेक प्रकार की वानर-कलाए सिखा कर ग्रामो व नगरो मे उसकी कलाओ का प्रदर्शन करने लगा । एक दिन वह मदारी उस वानर को ले कर उसी राजा के यहा पहुचा जहा पर उस वानर की महिला रूपधारिणी वानरी पट्ट महिषी के रूप मे अनेक प्रकार के सुखो का उपभोग कर रही थी । मदारी ने राजा, रानी और रनिवास की रमणियो के समक्ष वानर के खेल दिखाने का उपक्रम किया पर वह वानर राजा के अर्द्ध सिहासन पर बैठी हुई अपनी पूर्वपत्नी को देख कर रोने लगा । मदारी द्वारा बहुतेरा ताडन-तर्जन किये जाने पर भी वानर ने किसी प्रकार का नाट्य नही दिखाया, वह तो राजमहिषी की ओर देख-देख कर रोता ही रहा ।

से पूछा – "चिरजीव ! अपने आत्मीयो के भविष्य और अन्य समस्त परिस्थितियो पर गम्भीरतापूर्वक चितन तथा नववधुओ के साथ विचार विनिमय के पश्चात् तुम अवश्य ही किसी न किसी निश्चय पर पहुचे होगे ?"

जम्बूकुमार ने कहा – "हा, पितृदेव ! आपकी आठो कुलवधुओ और मैने आत्मोद्धार हेतु यही दृढ निश्चय किया है कि आपकी अनुमति पाकर हम प्रात काल श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेगे । हमे अब केवल आपकी अनुमति की ही आवश्यकता है । कृपा कर अब विना विलव के आप हमे दीक्षित होने की अनुमति प्रदान कर दीजिये ।"

तदनन्तर मोहग्रस्त श्रेष्ठि-दम्पतियो को मोहनिद्रा से जागृत करते हुए जम्बूकुमार ने शान्त, मधुर पर दृढ स्वर मे सम्बोधित किया – 'मातृपितृदेवो ! जिस प्रकार लवणसमुद्र अपार क्षारयुक्त जलराशियो से पूर्ण रूपेण भरा हुआ है ठीक उसी प्रकार भवसागर शारीरिक एव मानसिक असख्य दु खो से भरा हुआ है । वस्तुत इस ससार मे सुख नाम की कोई वस्तु नही है । दु ख मे सुख के विभ्रम, एव दु ख मे सुख की मिथ्या कल्पना द्वारा दु ख मूलक सुखाभास को ही विपयासक्त प्राणियो ने सुख समझ रखा है । शहद से सिक्त तलवार की तीक्ष्ण धार को जिह्वा से चाटने पर जिस प्रकार शहद के क्षणिक एव तुच्छ सुख के साथ जिह्वा कटने की असह्य व्यथा सपृक्त है – जुडी हुई है, शतप्रतिशत वही स्थिति इन सासारिक विषयोपभोगजन्य सुखो पर घटित होती है । इसके अतिरिक्त गर्भवास के घोर दु ख की कल्पना तक नही की जा सकती । वह नारकीय दु खो से भी अत्यधिक दुखद, और भट्टी की तीव्रतम ज्वालाओ से भी अधिक दाहक है । इस ससार मे एकान्तत दु ख ही दु ख है, सुख नाम मात्र को भी नही है । यदि आपके अन्तर्मन मे वास्तविक सुख प्राप्ति की अभिलापा है तो आप सब प्रात काल होते ही मेरे साथ मुक्तिपथ के पथिक वन जाइये ।"

कितना सजीव एव सच्चा चित्रण था ससार का ? जम्बूकुमार के इन नितान्त विरक्तिपूर्ण वचनो मे अद्भुत् चमत्कार था । श्रेष्ठिदम्पतियो के अन्त - करण मे प्रविष्ट हो इन वाक्यो ने उनकी अन्तश्चेतना को जागृत कर उनके अन्तर्चक्षुओ को उन्मीलित कर दिया । उन्हे अपने अन्तस्तल मे अद्भुत आलोक का अनुभव हुआ । ससार के वास्तविक स्वरूप को समझते ही अठारहो भव्य जीवो ने दीक्षित होने का निश्चय कर लिया ।

सहसा सबके मुख से एक ही स्वर प्रतिध्वनित हुआ – 'वत्स ! तुमने हमारी मोहनिद्रा को भगा दिया है । अब हम तुम्हारे साथ ही प्रव्रजित हो आत्मकल्याण करेगे ।"

जम्बूकुमार द्वारा माता-पिता आदि ५२७ व्यक्तियो के साथ दीक्षा

प्रात काल होते ही सारे राजगृह नगर मे यह समाचार विद्युत्वेग की तरह घर-घर पहुच गया कि जम्बूकुमार कुबेरोपम अपार वैभव का परित्याग कर

एव भोगोपभोग वापी, कूप, तड़ागादि के जल के समान है। हमारा जीव चक्रवर्ती देव, देवेन्द्रों के दिव्य भोगों से भी तृप्त नही हुआ तो अब उसे वापी के कीचड़ के समान तुच्छ मानवी भोगों से तृप्त करने की इच्छा करना मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नही।"

अपनी नव विवाहिता पत्नियो द्वारा भोग मार्ग की ओर आकर्षित करने हेतु प्रस्तुत किये गए मार्मिक दृष्टातों एव तर्कों के उत्तर में जम्बूकुमार ने हृदयग्राही दृष्टात सुनाते हुए अकाट्य एव प्रबल युक्तियो से ससार की निस्सारता, भोगो की क्षणभगुरता और भवाटवी की भयावहता का ऐसा मार्मिक चित्रण किया कि जम्बूकुमार को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित करने का प्रयास छोड कर समुद्रश्री आदि आठों कुसुम-कोमलागिनिया कुलिश-कठोर योग-मार्ग पर चलने के लिये उद्यत हो गई। जम्बूकुमार के अन्तर्मन के सच्चे उद्गारों को सुनकर उन आठों ही रमणियो की मोहनिद्रा भग हो गई। उन आठों रमणी-रत्नों ने श्रद्धापूर्वक मस्तक झुकाते हुए जम्बूकुमार से निवेदन किया – "आर्य ! आपकी कृपा से हमे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है। हमारे मन में अब सांसारिक भोगोपभोगो एव सुखों के प्रति किंचित्मात्र भी आकर्षण नही रह गया है। हमे यह ससार वस्तुत भीषण ज्वालामालाओ से आकुल एक अति विशाल भट्टी के समान प्रतीत हो रहा है। हम आपके पदचिह्नों का अनुसरण करती हुई अपने समस्त कर्म-समूहो को ध्वस्त कर शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए लालायित है। हम अच्छी तरह समझ चुकी है कि आप जिस पथ के पथिक बनने जा रहे हैं, वही पथ वस्तुत हमारे लिए श्रेयस्कर है। अज्ञानवश हमने आपको भोग-मार्ग की ओर आकृष्ट करने के जो प्रयास किये है उनके लिए हम आपसे क्षमा-प्रार्थना करती है। हम सब आपके साथ ही प्रव्रजित होना चाहती है अतः आप हमें अपने साथ ही प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर पाणिग्रहण की लौकिकी क्रिया को सही मायनो मे सार्थक कीजिए।"

जम्बूकुमार की अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात् समुद्रश्री आदि आठों रमणियो ने अपने-अपने माता-पिता के पास अपने निश्चय की सूचना करवा दी कि प्रात' काल होने पर वे भी अपने पति के साथ प्रव्रजित हो जायेगी।

अपनी पुत्रियों के प्रव्रजित होने की वात सुनते ही आठो श्रेष्ठि-दम्पति तत्काल जम्बूकुमार के भवन पर आये। उस समय तीन प्रहर रात्रि वीत चुकी थी, केवल अन्तिम प्रहर अवशिष्ट था।

परिवार को प्रतिबोध

प्रभवादि दस्युमण्डल और अपनी आठो पत्नियो को प्रतिवोध देने के पश्चात् जम्बूकुमार प्रतिदिन के नियमानुसार अपने माता-पिता के पास गये। उन्होने अपने माता-पिता और उनके पास वैठे सास-श्वसुरो को विनय पूर्वक प्रणाम किया। आशीर्वचन के पश्चात् श्रेष्ठि ऋषभदत्त ने स्नेहसिक्त स्वर में जम्बूकुमार

मगधेश्वर कूरिणक अपनी चतुरगिणी सेना और समस्त राज्यर्द्धि के साथ जम्बूकुमार के दर्शनार्थ अभिनिष्क्रमणोत्सव मे समिलित हुए ।[1] मगधनरेश कूरिणक और जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अनाधृत देव से परिवृत्त जम्बूकुमार वर्षाकालीन घनघोर घटा की तरह द्रव्य की वर्षा कर रहे थे ।[2] कूरिणक ने जम्बूकुमार से कहा – "धीरवर ! मेरे योग्य कोई कार्य आप उचित समझते हो, उसे करने की मुझे भी आज्ञा दीजिये ।" कूरिणक का इतना कहना था कि प्रभव कुमार अपने पाच सौ साथियो के साथ वहा आ पहुचा[3] और उसने गुरुचरणो मे मस्तक झुका कर नमस्कार किया । जम्बूकुमार ने महाराज कूरिणक से कहा – "राजन् ! इस प्रभव ने जो भी अनराध किये हो, उन्हे आप क्षमा कर दीजिये । विगत रात्रि मे यह मेरे घर मे चोरी करने हेतु आया था । उस समय मैने इसकी समस्त ऐहिक एषणाओ को शान्त कर दिया । अब यह मेरे साथ सयम ग्रहण करेगा ।" इस पर कूरिणक ने कहा – "इन महानुभाव ने आज तक जितने भी अपराध किये है, उनके लिये मै इन्हे क्षमा करता हू । ये निर्विघ्न रूप से श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करे ।[4]

जम्बूकुसार का अभिनिष्क्रमण जनौघ (जुलूस) राजगृह नगर के मुख्य मार्गो से क्रमश आगे बढता हुआ नगर के बाहर उस आराम के पास पहुचा जहा सुधर्मा स्वामी अपने श्रमण सघ के साथ विराजमान थे । शिविका से उतर कर जम्बूकुमार ५२७ मुमुक्षुओ के साथ सुधर्मा स्वामी के सम्मुख पहुँचे और उनके चरणो पर अपना मस्तक रख कर प्रार्थना करने लगे – "प्रभो ! आप मेरे परिजनो सहित मेरा उद्धार कीजिए ।"

दीक्षार्थियो द्वारा दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व की जाने वाली सभी आवश्यक क्रियाओ के सम्पादन के अनन्तर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बूकुमार, उनके माता-पिता, आठो पत्नियो, पत्नियो के माता-पिता, प्रभव तथा प्रभव के ५०० साथियो

---

[1] गुरुसेन्न मिलियसहरिसखुररवसपायदलिय भूवीढो ।
जबुस्स दसणत्थ, समागओ कोणिय नरिदो ।।५०३।।
[जबुचरिय, गुणपाल रचित, १६ उ०]

[2] धणओ व्व पूरमाणो, दविणमहासचएण पणइयण ।
कोणिय नरनाहेण, सहिओ य अणाढिय सुरेण ।।५१५।।
[जम्बुचरिय (गुणपाल) १६ उ०]

[3] पभवो पभूयपहाणपुरिसपरिवारवुडो पत्तो ।
नरनाहाणुन्नाओ, सिवियाए सहेव सचलिओ ।।८४३।।
[जम्बुचरिय – रत्नप्रभसूरि विरचित]

[4] नरनाहेण भणिय कुणसु अविग्घेण एस सामण्ण ।
खमिय सव्व पि मए, एयस्स महाणुभावस्स ।।५२६।। [जबुचरिय, उ० १६]

अपने माता-पिता, आठो नवविवाहिता पत्नियो, आठो पत्नियो के माता-पिता तथा कुख्यात चौरराज प्रभव एव उसके ५०० साथियों के साथ आज ही दीक्षित हो रहे है। दीक्षा समारोह के अपूर्व ठाट को देखकर अपने नेत्रों को पवित्र करने की अभिलाषा लिये सभी नर-नारी शीघ्रतापूर्वक अपने आवश्यक कार्यो से निवृत्त एव सुन्दर वस्त्रालकारों से सुसज्जित होने लगे। अभिनिष्क्रमण सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था वडी शीघ्रता के साथ सम्पन्न कर ली गई। श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त एवं माता धारिणी ने अपने पुत्र को स्वय सुगन्धित उवटनो के विलेपन के पश्चात् स्नान कराया और अगराग एव बहुमूल्य वस्त्रालकारो से विभूषित किया। उसी समय जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अनाधृत देव भी जम्बूकुमार की सन्निधि मे आये।

अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रो की मधुर ध्वनि के बीच जम्बूकुमार अपने माता-पिता के साथ एक हजार पुरुषो द्वारा वहन की जाने वाली शिविका मे आरूढ हुए।[1] जयघोपो और वाद्यवृन्दो की कर्णप्रिय धुनो के साथ जम्बूकुमार की अभिनिष्क्रमण यात्रा प्रारम्भ हुई। कल ही जिनकी वरयात्रा का मनोरम दृश्य देखा गया था, उन्ही जम्बूकुमार को अभिनिष्क्रमण यात्रा को देखने के लिए राजगृह के विशाल राजपथो पर चारो ओर जनसमुद्र उमड पडा। राजगृह के गगनचुम्बी भवनो की अट्टालिकाओ एवं सुन्दर गवाक्षो मे अति मनोज्ञ वस्त्राभूषणो से सुसज्जित कोकिलकण्ठिनी कुलवधुओ द्वारा गाये जा रहे मगल गीतो की सुमनोहर स्वरलहरियो से गगनमण्डल गुजरित हो रहा था। शिबिकारूढ जम्बूकुमार सावन-भादो की घनघटा से जलवर्षा की तरह अमूल्य मणि-काचन-मिश्रित वसुधाराओ की अनवरत वर्षा कर रहे थे। उन्होंने लोक कल्याणकारी कार्यो के लिये अपनी सम्पत्ति का बहुत वडा भाग दान कर डाला[2] और सम्पूर्ण चल-अचल सम्पदा का सर्प कंचुकवत् परित्याग कर दिया। अगणित कठो द्वारा उद्भूत 'धन्य', 'धन्य' की ध्वनि से राजगृह नगर का समस्त वायु-मण्डल प्रतिध्वनित हो रहा था। नगर के सभी नर-नारी विस्मित एव विमुग्ध थे, नव-वय मे जम्बूकुमार द्वारा किये गये अपूर्वत्याग पर। उनके द्वारा करोडो स्वर्णमुद्राओ और आठ नारी-रत्नो के त्याग पर प्रत्येक नागरिक आश्चर्य प्रकट कर रहा था। आबालवृद्ध द्वारा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जम्बूकुमार पर की गई गुलाल एव सुगन्धित द्रव्यो की निरतर वृष्टि के कारण नगर के मुख्य मार्ग ऐसे मनोहर प्रतीत हो रहे थे मानो उन पर लाल-लाल मखमली कालीन बिछा दिये गये हो।

---

[1] जम्बूरनाधृतेनाथ, देवेन कृतसन्निधि ।
उद्वाह्या नृसहस्रेण, शिविकामारुरोह च ।। २८३ ।।
परिशिष्ट पर्व, सर्ग ३

[2] दान विश्वजनीन स, ददान . कल्पवृक्षवत् । ` ` ।।२८४।।
परिशिष्ट पर्व, सर्ग ३

दिया है। वह प्रशसनीय है। बहुत से लोग सिह के समान व्रत लेकर श्रृगालवत् कायरतापूर्वक सयम का पालन करते है। कुछ व्यक्ति श्रृगाल की तरह डरते हुए सयम ग्रहण करते है और उसका पालन भी श्रृगाल की ही तरह कायरतापूर्वक करते है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो श्रृगाल के समान डरते हुए सयम ग्रहण करते हैं किन्तु सयम ग्रहण करने के पश्चात् सिह के समान वीरता से सयम का पालन करते है। कुछ ऐसे भी पराक्रमी पुरुष होते है जो सिह के समान पूरे साहस एव उत्साह के साथ ही सयम ग्रहण करते और उसी प्रकार पूर्ण साहस और पराक्रम के साथ जीवन भर सयम का पालन करते है। आप लोगो को चाहिये कि जिस प्रकार सिह के समान साहसपूर्वक सयम ग्रहण किया है उसी प्रकार सिह तुल्य पराक्रम प्रकट करते हुए ही जीवन भर सयम का पालन करते रहे जिससे कि आप लोगो को शीघ्र ही परमपद निर्वाण की प्राप्ति हो सके। जीवन के प्रत्येक क्षण को अमूल्य समझते हुए प्रमाद का पूर्णत परिहार कर अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया मे पूरी तरह यतना रखिये जिससे कि आप पाप-बन्ध से बचे रह सके। वस्तुत प्रमाद साधक का सबसे बडा शत्रु है। चतुर्दश पूर्वधर, आहारक लब्धि के धारक, मन पर्यवज्ञानी और रागरहित बडे-बडे साधक भी प्रमाद के वशीभूत हो जाने पर देव, मानव, तिर्यच और नारक गति रूप दु खपूर्ण ससार मे भटकते रहते है।"[1]

जम्बूकुमार सहित सभी नव दीक्षितो ने अपने श्रद्धेय गुरु सुधर्मा स्वामी के उपर्युक्त उपदेश को शिरोधार्य किया और वे ज्ञानार्जन एव तपश्चरण के साथ साथ श्रमणाचार का बडी दृढता से पालन करने लगे।

महामेधावी जम्बू अणगार ने अहर्निश अपने गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा मे रहते हुए परम विनीत भाव से बडी लगन, निष्ठा और परिश्रम के साथ सूत्र, अर्थ और विवेचन – विस्तारसहित सम्पूर्ण द्वादशागी का ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया।

कूणिक की जिज्ञासा

कालान्तर मे सुधर्मा स्वामी ने अपने जम्बू आदि शिष्य परिवार सहित राजगृह से विहार किया और विभिन्न क्षेत्रो मे अगणित भव्यात्माओ के अन्तर्मन को उपदेशामृत से निर्मल बनाते हुए एक दिन वे चम्पानगरी के "पूर्णभद्र" चैत्य मे पधारे। उद्यानपाल के माध्यम से सुधर्मा स्वामी के शुभागमन की सूचना प्राप्त होते ही मगधाधिपति कूणिक अपने पुरजन-परिजन आदि सहित अपने राज्योचित वैभव के साथ उनके दर्शन एव उपदेश-श्रवण के लिए उद्यान मे पहुँचा। उद्यान के द्वार पर ही अपने वाहन, खड्ग, छत्र, चामर एव समस्त राज्य चिह्न तथा पुष्पमाला मोजडी आदि का परित्याग कर सुधर्मा स्वामी की सेवा मे

---

[1] चउदसपुव्वी, आहारगावि मणनाणी विरागा य।
होति पमायपरवसा, तयणतरमेव चउगइआ ॥ [स्थानाग]

को विधिवत् भागवती दीक्षा प्रदान की ।[1] इस प्रकार ९९ करोड स्वर्ण मुद्राओ एव ८ रमणी-रत्नो को त्याग कर जम्बूकुमार ५२७ मुमुक्षुओ के साथ सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुए ।[2] दीक्षा देने के पश्चात् सुधर्मा स्वामी ने जम्बूकुमार की माता, उनकी आठ पत्नियों और आठों पत्नियों की माताओ को सुव्रता नामक आर्या की आज्ञानुवर्त्तिनी बना दिया ।[3] अपने साथियो सहित प्रभवमुनि सुधर्मा द्वारा जम्बू मुनि को शिष्य रूप से सौपे गये ।

अपार धन-सम्पदा, सुरम्य विशाल भवन, कोटि-कोटि काचनमुद्राओ और सुररमणियों के समान अतीव सुन्दर आठ रमणी-रत्नो का परित्याग कर जम्बू कुमार अति कठोर त्यागपथ के पथिक बने, इस प्रकार के घटनाचक्र मे सहज ही पाठक को एक चमत्कार सा प्रतीत हो सकता है, कौतूहल भी हो सकता है । पर जिस प्रकार जीवन और जीवन के मूल्य कालक्रम से बदलते रहते है, उसी प्रकार हमे भी प्रत्येक युग की, प्रत्येक काल की परिस्थितियों एव तज्जनित जीवन के मूल्यों के प्रकाश में ही उस समय के जनजीवन का मूल्याकन करना चाहिए । सर्वज्ञ प्रभु महावीर के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशों से जनमानस में एक नवीन चेतना जागृत हुई । इस चेतना के जागृत होने पर जनमानस जिज्ञासु और चिन्तनशील वना । भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश से जीवन की वास्तविकता और सार्थकता का बोध होते ही जन-जीवन में सच्ची सस्कृति साकार हो उठी और जीवन के उच्चतम आदर्शो, उच्चतम सस्कारो को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रबल वेग से प्रबुद्ध व्यक्तियो के मानस में घर करने लगी । ऐसी स्थिति में वास्तविक सत्य का वोध हो जाने के पश्चात् उसको आत्मसात् कर लेना और उसे अपने जीवन मे मूर्त स्वरूप देना असम्भव अथवा आश्चर्यजनक नही । आज के अर्थमूलक युग में आज के भौतिक मापदण्ड से तत्कालीन आध्यात्मिक प्रवृत्तियो एवं सास्कृतिक मूल्यों पर आधारित परिस्थितियों का मूल्याकन करना वस्तुतः उचित नही होगा ।

दीक्षानन्तर नवदीक्षित श्रमण श्रमणियो को सम्बोधित करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने फरमाया – 'आयुष्मन् श्रमण-श्रमणियो ! आप सबने विषय, कषायादि के बन्धनो को काटकर श्रमणधर्म मे दीक्षित हो जो वीरता का परिचय

---

[1] आचार्य हेमचन्द्र ने जम्बूकुमार की दीक्षा के पश्चात् दूसरे दिन अथवा कुछ दिनो पश्चात् प्रभव द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख किया है । यथा :–

पितृनापृच्छ्य चान्येद्यु प्रभवोऽपि समागत । जम्बूकुमारमनुयान्परिव्रज्यामुपाददे । २९०
[परिशिष्ट प० ३]

[2] नवाणुई कचणकोडिग्राउ, जेणुज्झिग्रा अट्ठ य वालिग्राग्रो ।
सो जवू सामी पढमो मुणीण, अपच्छिमो नंदउ केवळीण ।।
[कल्पान्तर्वाच्यानि, पत्र ४१–४८ (हस्तलिखित – सवत् १५९९) अलवर भण्डार]

[3] सम्भव है कि श्रमणी सघ की मुख्या चदनवाला की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा साध्वी का नाम सुव्रता हो । प्राय साध्वी का नाक स्मरण न होने की दशा मे अपनी रचनाओ मे विभिन्न रचनाकारो द्वारा सुव्रता नाम लिख दिया गया है । [सम्पादक]

श्रेणिक और भगवान् महावीर के बीच यह प्रश्नोत्तर की घटना चम्पा नगरी मे हुए भगवान् की केवलीचर्या के १३ वे चातुर्मास से पूर्व की घटना है। शास्त्रीय उल्लेख के अनुसार चम्पा नगरी मे हुए इस चातुर्मास से पहले कूणिक मगध का शासक बन चुका था और मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर वह चम्पा मे ले आया था।

इस दृष्टि से विचार करने पर जम्बूकुमार का जन्म भगवान् महावीर की केवलीचर्या के १४ वे वर्ष मे होना अनुमान किया जा सकता है और इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण के समय मे जम्बू कुमार की आयु १६ वर्ष की होना प्रमाणित हो जाता है।

जम्बू कुमार के विवाह की घटना का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व मे लिखा है –

क्रमेण प्रतिपेदे च, वयो प्रथममार्पभिः।
अभूत्पाणिग्रहार्हश्च, पित्रोराशालतातरुः ॥ ७४ ॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग २]

विवाह योग्य वय सोलह वर्ष से कम की नही हो सकती। ऐसी दशा मे आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जम्बूकुमार का विवाह १६ वर्ष की अवस्था मे हुआ और विवाह होने के पश्चात् दूसरे दिन ही उन्होने आर्य सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

इसके पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट रूप से 'परिशिष्ट पर्व' मे यह उल्लेख करते है कि – भगवान् महावीर के निर्वाण से ६४ वर्ष पश्चात् जम्बूकुमार ने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

इन सब तथ्यो से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्य जम्बूकुमार ने १६ वर्ष की वय मे दीक्षा ग्रहण की और ६४ वर्ष तक श्रमणधर्म का परिपालन करने के पश्चात् ८० वर्ष की आयु मे निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा परिशिष्ट पर्व मे उल्लिखित उपरोक्त तथ्यो से यह भलीभाति सिद्ध हो जाता है कि आर्य जम्बूकुमार ने भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् १६ वर्ष की वय मे दीक्षा ग्रहण की। ऐसी दशा मे आर्य सुधर्मा स्वामी का जम्बू श्रमण सहित भगवान् महावीर की सेवा में पहुचने का जो उल्लेख किया गया है, वह सगत प्रतीत नही होता।

भगवान् महावीर का निर्वाण जम्बूकुमार की दीक्षा से कुछ मास पूर्व हो चुका था, इस प्रकार के उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के प्राचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है।

---

[1] श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि, चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बू।
कात्यायन प्रभवमात्मपदे निवेश्य, कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ॥६॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४]

पहुँचा। उसने भगवान् महावीर के पट्टधर आर्य सुधर्मा स्वामी को बडी श्रद्धापूर्वक एव भक्ति सहित वन्दन-नमन के पश्चात् समस्त साधुसघ को वदन किया।

तपोपूत युवा श्रमण जम्बू के अत्यन्त तेजस्वी दिव्य स्वरूप को देखकर कूणिक को बडा विस्मय हुआ। कूणिक ने आश्चर्य प्रकट करते हुए सुधर्मा स्वामी से पूछा – "भगवन् ! आपके शिष्य श्रमणसमूह मे यह तारामण्डल मे पूर्णचन्द्र के समान कान्तिमान, घृतसिंचित अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वाला की तरह दुर्निरीक्ष्य और महान् तेजस्वी स्वरूप वाले युवा श्रमण कौन है ? इन्होने किस तपश्चरण, शीलपालन अथवा महान् दान के प्रभाव से इस प्रकार का अत्यन्त आकर्षक एव दैदीप्यमान सुन्दरतम स्वरूप पाया है ?"

इस पर सुधर्मा स्वामी ने कूणिक को जम्बू कुमार के पूर्वभवो का वह पूरा वृत्तान्त कह सुनाया जो विद्युन्माली देव के सम्बन्ध मे श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने जम्बू कुमार के गर्भावतरण से ७ दिन पूर्व सुनाया था।

आचार्य हेमचन्द्र ने "परिशिष्ट पर्व" मे इस बात का उल्लेख किया है कि कूणिक को जम्बू श्रमण का पूर्व वृत्तान्त आदि सुनाने के पश्चात् आर्य सुधर्मा अपने शिष्य मण्डल सहित चम्पा से विहार कर श्रमण भगवान् महावीर की सेवा मे उपस्थित हुए और उनके साथ विचरण करते रहे।[1] पर आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन तथ्यों की कसौटी पर खरा नही उतरता। क्योकि स्वयं उनके द्वारा परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित कतिपय तथ्यो से आर्य जम्बू का दीक्षा-काल भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् का ही ठहरता है।

जन्म, निर्वाण आदि कालनिर्णय

सम्बन्धित घटनाक्रम पर विचार करने से यह विदित होता है कि जम्बू कुमार का जन्म महावीर की केवली चर्या के १४ वे वर्ष मे हुआ। जम्बू कुमार के जन्म से ७ दिन पूर्व महाराज श्रेणिक ने भगवान् महावीर से पूछा – "भगवन्! भरत क्षेत्र मे केवलज्ञान किसके पश्चात् समाप्त हो जायगा।"

भगवान् ने उत्तर दिया – "देखो ! चार देवियो से परिवृत्त ब्रह्मेन्द्र के समान ऋद्धिवाला जो यह विद्युन्माली देव है, यही आज से सातवे दिन ब्रह्म स्वर्ग से च्यवन कर तुम्हारे नगर राजगृह मे श्रेष्ठी ऋषभदत्त के यहा समय पर पुत्र रूप से उत्पन्न होगा और यही भरत क्षेत्र का इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम केवली होगा।[2]

---

[1] सुधर्मापि तत स्थानाज्जगाम सपरिच्छद ।
श्री महावीर पादान्ते, तत्सम विजहार च ।। [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४]

[2] नाथोऽप्यकथयत्पश्य, विद्युन्माली सुरो ह्यसौ ।
सामानिको ब्रह्मेन्द्रस्य, चतुर्देवीसमावृत ।।
अह्नोऽमुष्मात्सप्तमेऽह्नि, च्युत्वा भावी पुरे तव ।
श्रेष्ठिऋषभदत्तस्य जम्बू पुत्रोऽन्त्यकेवली ।।६४।। [वही]

मुनिवर गुणपाल द्वारा रचित "जम्बूचरिय" मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि जिस समय जम्बूस्वामी ने दीक्षा-ग्रहण की उससे पहले ही भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका था। जम्बूकुमार को दीक्षार्थ जाते हुए देख कर राजगृह नगर के नर-नारियो ने जो अपने अन्तर्मन के उद्गार अभिव्यक्त किये थे उनका चित्रण करते हुए जम्बूचरिय के रचनाकार ने स्पष्ट लिखा है –

"जिस प्रकार सूर्य से विहीन नभ-मण्डल और भगवान् महावीर के निर्वाण से भारतवर्ष शून्य (सुनसान) प्रतीत होता है उसी प्रकार जम्बूकुमार के दीक्षित हो चले जाने पर समस्त मगधपुर (राजगृह) शून्य हो जायगा।[1]

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जम्बू स्वामी की दीक्षा के समय भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका था।

जम्बू श्रमण की प्रश्न-परम्परा :

श्रमणधर्म मे दीक्षित होने के पश्चात् आर्य जम्बू अहर्निश अपने आराध्य गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा मे श्रुताराधन करने लगे। कठोर तपश्चरण के साथ विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए वे एकाग्रचित्त हो आगमो के अध्ययन मे निरत रहते।

जिस प्रकार प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम अपने अन्तर मे उत्पन्न हुई जिज्ञासाओ, शकाओ इव कुतूहलो के समाधान हेतु पूर्ण श्रद्धा के साथ जगद्गुरु भगवान् महावीर के समक्ष परम विनीत भाव से उपस्थित होते थे, ठीक उसी प्रकार जम्बू अणगार भी, अपने मन मे कभी किसी प्रकार की शका अथवा जिज्ञासा उत्पन्न होती तो अपने श्रद्धास्पद गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा मे उपस्थित होते और अपनी जिज्ञासाओ की शान्ति के लिये अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते। आर्य सुधर्मा भी भगवान् महावीर से प्राप्त अथाह ज्ञान के अनुसार अपने परम विनीत और सुयोग्य शिष्य जम्बू की सभी शकाओ, जिज्ञासाओ और कुतूहलो का समिचीन रूप से समाधान कर उन्हे पूर्णरूप से सतुष्ट करते।

इस प्रकार प्रगाढ श्रद्धा, विनय और निष्ठा के साथ अध्ययन करते हुए तीक्ष्ण बुद्धि जम्बू स्वामी ने स्वल्प समय मे ही द्वादशागी रूप अगाध श्रुतसागर का अर्थ, व्याख्या और विस्तारादि सहित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुरु द्वारा अपने शिष्य को आगमो का ज्ञान देने की वह परम्परा अविच्छिन्न रूप से आगे से आगे पश्चाद्वर्ती काल मे भी चलती रही। जैनागमो को आज तक यथावत् रूप मे बनाये रखने का सारा श्रेय आगमज्ञान के आदानप्रदान की उस पुनीत परम्परा को ही है। इसी परम्परा के कारण भगवान् महावीर द्वारा अनुप्राणित,

---

[1] नहभोय रविरहिय, भारहवास व जिणवरविहीण।
एएण विणा एय होही सुन्न व मगहपुर ॥४७०॥
[जम्बूचरिय (गुणपाल), उ० १६]

(१) श्वेताम्बर परम्परा की प्राय. सभी पट्टावलियो मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि जम्बूकुमार की दीक्षा वीर निर्वाण सवत् १ मे हुई ।

(२) दिगम्बर परम्परा के आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित महापुराण के द्वितीय विभाग उत्तरपुराण में श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अर्हदास और जिनदासी का पुत्र जम्बूकुमार बडा ही भाग्यशाली और कान्तिमान होगा । अनाधृत देव उसकी पूजा करेगा । वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विनीत होगा । वह यौवन के प्रारम्भ से ही विकार से रहित होगा । जिस समय भगवान् महावीर स्वामी पावापुर मे मोक्ष प्राप्त करेगे उसी समय मुझे भी केवलज्ञान होगा । तदनन्तर सुधर्माचार्य गणधर के साथ अनेक क्षेत्रो मे विचरण करता हुआ मै पुन· इस नगर के विपुलाचल पर्वत पर आऊँगा । मेरे आने का समाचार सुन कर इस नगर का राजा चेलिनी का पुत्र कूणिक अपने परिवार सहित वन्दन तथा उपदेश-श्रवणार्थ आवेगा । उसी समय जम्बूकुमार भी ससार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण करने के लिये समुत्सुक होगा । माता-पिता-कुटुम्बीजनों के आग्रह को स्वीकार कर वह ४ कन्याओ के साथ विवाह करेगा । जम्बूकुमार द्वारा प्रतिवोध पाकर उसकी चारो पत्निया, उनके तथा जम्बू के माता-पिता और उसके घर मे चोरी करने हेतु आया हुआ अपने पाच सौ साथियो सहित विद्युच्चोर भी ससार से विरक्त हो दीक्षित होने का दृढ संकल्प करेगा । जम्बूकुमार को दीक्षा लेने के लिये उत्सुक देखकर उसके सब परिजन, अपनी अठारह प्रकार की सेनाओ के साथ कूणिक और अनाधृत देव जम्बू के पास आकर उसका मांगलिक दीक्षा महोत्सव करेंगे । वे सब लोग विपुल वैभव के साथ विपुलाचल पर हमारे पास आवेगे और जम्बू ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनो वर्णो के अनेक लोगो, विद्युच्चोर और उसके ५०० साथियो के साथ सुधर्माचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करेगा ।[1]

---

[1] इभ्यात्कृती सुतो भावी, जिनदास्या महाद्युति · ।
जम्ब्वाख्योऽनाधृताद्देवादाप्तपूजोऽतिविश्रुतः ।।३७।।
विनीतो यौवनारम्भेऽप्यनाविष्कृतविक्रिय ।
वीर पावापुरे तस्मिन्, काले प्राप्स्यति निर्वृतिम् ।।३८।।
तत्रैवाहमपि प्राप्य बोध केवलसज्ञकम् ।
सुधर्माख्यगणेशेन सार्ध ससारवह्निना ।।३९।।
करिष्यन्नतितप्ताना ह्लाद धर्मामृताम्बुना ।
इदमेव पुर भूय·, सप्राप्यात्रैव भूधरे ।।४०।।
स्थास्याम्येतत्समाकर्ण्य कुणिकश्चेलिनीसुत ।
तत्पुराधिपति सर्वपरिवारपरिष्कृत ।।४१।।
आगत्याभ्यर्च्य वन्दित्वा श्रुत्वा धर्मं ग्रहीष्यति ।
[उत्तरपुराण पर्व ७६]

मुखारविन्द से निकलती हुई श्रुत धारा को ग्रहण किया। वही आज आर्यधरा के मुमुक्षुओं के मानस मे प्रवाहित हो रही है। यह प्रवाह चलता रहेगा पचम आरक के अन्त तक।

आर्य जम्बू स्वामी की विशेषता

जम्बू स्वामी के अनुपम गुणो के सम्बन्ध मे विशेष वर्णन की आवश्यकता नही क्योकि ऊपर दिये हुए नायाधम्मकहाओ सूत्र के मूल पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे परम श्रद्धालु, परम विनीत, उत्कट जिज्ञासु और आर्य सुधर्मा के सुयोग्य ज्येष्ठ शिष्य थे। उनके महान् प्रतिभाशाली विराट व्यक्तित्व का, शारीरिक ओज, तेज और कान्ति का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि मगधपति कूणिक ने जब जम्बू अरणगार को आर्य सुधर्मा के शिष्य समूह मे देखा तो वे आश्चर्य से हठात् स्तब्ध हो गये।

आर्य जम्बू स्वामी के जीवन की सबसे बडी विशेषता यह रही कि उनके जीवनकाल मे आर्य वसुन्धरा कोटि-कोटि सूर्यो से भी अनन्तगुनित कान्तिमान केवलालोक से निरन्तर प्रकाशमान रही और उनके शुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूप मे लीन होते ही आगामी उत्सर्पिणी काल की चौवीसी के प्रथम जिन को केवल्योपलब्धि होने तक के लिये केवलालोक से वचित बन गई।

जब जम्बू स्वामी का जन्म हुआ उस समय सर्वज्ञ-सर्वदर्शी २४वे तीर्थंकर श्रमरण भगवान् महावीर विराजमान थे। जम्बू स्वामी की दीक्षा के समय इन्द्रभूति गौतम, उनकी दीक्षा के १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा स्वामी और दीक्षा के २० वर्ष पश्चात् स्वय जम्बू स्वामी अपने केवलालोक से समस्त लोकालोक को आलोकित करते रहे। पर जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही आर्यावर्त से केवलज्ञान का सूर्य इस अवसर्पिणी काल मे सदा के लिये अस्त हो गया।

आर्य जम्बू स्वामी का निर्वाण

आर्य जम्बू स्वामी सोलह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय मे रहे। फिर दीक्षा ग्रहण कर वीस वर्ष तक गुरु-सेवा के साथ-साथ ज्ञानोपार्जन, तपश्चरण और सयम साधना मे निरत रहे। वीर निर्वाण सवत् २० की समाप्ति पर भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने निर्वाण-गमन के समय आर्य जम्बू को अपने उत्तराधिकारी के रूप मे भगवान् महावीर का द्वितीय पट्टधर नियुक्त किया। आर्य जम्बू स्वामी ने आचार्यपद पर आसीन होने के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त किया। अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र से भव्यजीवो का कल्याण करते हुए आप ४४ वर्ष तक भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर के रूप मे आचार्य पद पर रहे। अन्त मे आर्य प्रभव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर, वीर नि० स० ६४, तदनुसार

गणधरो द्वारा आकलित, और भगवान् के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा द्वारा अपने सुयोग्य शिष्य आर्य जम्बू के मानस मे प्रवाहित पुनीत श्रुतसरिता आज भी अपने मूल स्वरूप को बिना छोड़े मुमुक्षुओ के अन्तस्तल में प्रवाहित हो रही है ।

उपलब्ध आगमो का जो स्वरूप आज विद्यमान है, यह उस समय की मूल परम्परा को सही रूप में समझने का एक आधार है । आगमो के प्रारम्भिक स्थलो को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर की वाणी को अर्थरूप से सुनकर आर्य सुधर्मा ने जिस प्रकार शब्द रूप से ग्रथित किया, और जिस रूप मे जम्बू स्वामी ने पृच्छा कर आगमज्ञान को प्राप्त किया, उसी अपरिवर्तित स्वरूप मे आज विद्यमान है । इसकी पुष्टि मे "ज्ञाता-धर्मकथा' का निम्नलिखित उपोद्घात सूत्र दृष्टव्य है :—

"उस काल उस समय मे आर्य सुधर्मा अरणगार के ज्येष्ठ (प्रमुख) शिष्य सात हाथ की ऊँचाई वाले कश्यपगोत्रीय जम्बू नामक अरणगार आर्य सुधर्मा से न बहुत दूर और न बहुत समीप घुटने ऊँचे तथा सिर नीचा किये, धर्मध्यान एव शुक्ल ध्यान रूपी कोष्ठ (आकर अथवा प्रकोष्ठ) मे स्थित, सयम एव तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचर रहे थे । सयोगवश आर्य जम्बू के मानस मे श्रद्धा, सशय और कुतूहल उत्पन्न हुआ । श्रद्धा, सशय और कुतूहल उत्पन्न होने पर वे उठे और जहा आर्य सुधर्मा थे वहा आये । आर्य सुधर्मा को वन्दन नमस्कार किया और उनके न अधिक समीप न अधिक दूर, सुनने की इच्छा से उनकी ओर अभिमुख हो, उनको सुश्रूषा करते हुए, नमन करते हुए, साजलि शीश झुकाते हुए विनयपूर्वक बोले – "भगवन् ! श्रमरण भगवान् महावीर ने पाँचवे व्याख्याप्रज्ञप्ति अग का यह अर्थ बताया । प्रभु ने छठे अग-ज्ञाता धर्मकथा का क्या अर्थ बताया था ?"

आर्य सुधर्मा ने जम्बू अरणगार को संबोधित करते हुए इस प्रकार कहा – "हे जम्बू ! श्रमरण भगवान् महावीर ने छठे अंग ज्ञाताधर्मकथांग के दो श्रुतस्कन्ध प्ररुपित किये है । वे यह है, पहला ज्ञाता और दूसरा धर्म कथा ।"[1]

छठे अग ज्ञाताधर्मकथा के इस उपरिलिखित उद्धरण के एक-एक शब्द से यह स्पष्टत. प्रतिध्वनित होता है कि भगवान् महावीर ने विश्व के प्राणियो का कल्याण करने के लिये जो श्रुत-सरिता प्रवाहित की थी उसका समग्ररूपेण पान करने की उत्कण्ठा लिये आर्य जम्बू अपने श्रद्धेय गुरु सुधर्मा स्वामी के पास जाते है और उनसे जिस रूप मे उन्होंने भगवान् महावीर से श्रुतसरितावतरण प्राप्त किया, उसी रूप मे श्रुतसरित् को प्रवाहित करने की प्रार्थना करते है । अपने ज्ञानपिपासु, और उत्कट जिज्ञासु सुयोग्य शिष्य जम्बू की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य सुधर्मा भी उसी रूप मे, प्रवल वेग के साथ श्रुतसरिता को प्रवाहित करते है । आर्य जम्बू ने महान् उल्लास के साथ अपने निर्मल मानस मे आर्य सुधर्मा के

---

[1] नायाधम्मकहाओ, १ ५

इन १० विशिष्ट आध्यात्मिक शक्तियो का जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् विच्छेद हो गया।[1]

आर्य जम्बू स्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं मे अन्तिम केवली माना गया है।

इस प्रकार जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही वीर निर्वाण स० ६४ मे केवलिकाल समाप्त हो गया।

केवलिकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

श्वेताम्वर और दिगम्बर दोनो ही शाखाओ की यह परम्परागत एव सर्व-सम्मत मान्यता रही है कि २४ वे तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, आर्य सुधर्मा स्वामी और आर्य जम्बू स्वामी—ये तीन केवली हुए और जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही केवली काल की परिसमाप्ति हो गई।[2]

ये तीनो महापुरुष कितने-कितने समय तक केवली रहे, इस सम्बन्ध मे इन दोनो परम्पराओ मे मान्यताभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थो एव पट्टावलियों मे इन्द्रभूति गौतम का केवली काल १२ वर्ष, सुधर्मा स्वामी का ८ वर्ष और आर्य जम्बू स्वामी का ४४ वर्ष, इस प्रकार सब मिलाकर ६४ वर्ष का केवली काल माना गया है। किन्तु इस सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा के ग्रथो मे मतैक्य नही पाया जाता।

दिगम्वर परम्परा के प्राचीन तथा परममान्य ग्रथ तिलोयपण्णत्ति (डा० ए० एन० उपाध्ये के मतानुसार ई ५७३ से ६०९ के बीच की कृति) मे इन तीनों केवलियो का अलग-अलग केवली काल न देकर पिण्डरूप से ६२ वर्ष दिया है।[3] दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों मे गौतम स्वामी का कैवल्यकाल १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा स्वामी का १२ वर्ष और जम्बूस्वामी का ३८ वर्ष इस प्रकार कुल मिला कर ६२ वर्ष का केवली काल माना गया है। इसी प्रकार षट्खण्डागम के धवला

---

[1] मन परावधीश्रेण्यौ, पुलाकाहारकौ शिवम्।
कल्पत्रिसयमा ज्ञान, नासन् जम्बूमुनेरनु॥ [परिशिष्ट पर्व]

[2] तिलोयपण्णत्ति मे गौतम, सुधर्मा स्वामी और जम्बु स्वामी के ६२ वर्ष के केवली काल का उल्लेख करने के पश्चात् यह स्वीकार करते हुए कि जम्बू स्वामी के पश्चात् कोई अनुवद्ध केवली नही हुआ, यह भी उल्लेख किया गया है कि केवलज्ञानियो मे अन्तिम केवली श्रीधर कुडलगिरी से सिद्ध हुए। यथा :–

कुडलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।
चारणरिसीसु चरिमो सुपासचदाभिधाणो य॥४॥ १४७९॥

इस प्रकार का उल्लेख (समस्त प्राचीन जैन वाङ्मय मे) अन्यत्र देखने मे नही आता।
[सम्पादक]

[3] वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवताण।
धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेण॥४॥१३७८॥ [तिलोयपण्णत्ति]

ईसा पूर्व ४६३ मे आर्य जम्बू ने ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर अक्षय अव्याबाध निर्वाणपद प्राप्त किया ।[1]

मुनिवर गुणपाल (विक्रम की ६ वी शताब्दी) ने जम्बूचरिय मे लिखा है कि जम्बूस्वामी ने अपनी आयु अल्प समझकर एक मास के पादपोपगमन संथारे से शैलेशी दशा प्राप्त की और अपूर्वकरण द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो शरीर त्याग एक समय की अविग्रह गति से निर्वाण प्राप्त किया ।[2]

मुनिवर गुणपाल ने अपने इस अभिमत की पुष्टि में किसी प्राचीन आचार्य द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की पांच गाथाए प्रस्तुत करते हुए लिखा है .–
भणिय च पुव्वसत्थेसु –

भयवं पि जंबुणामो, बहूणि वासाणि विहरिऊण जिणे ।
भत्तं पच्चक्खायइ, वालाहगसेलसिहरेसु ।।[3]

दश बोलों का विच्छेद

जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र से निम्नलिखित १० वस्तुए विलुप्त हो गई –

मण परमोहि पुलाए, आहार खवग उवसमे कप्पे ।
सजमतिग केवल सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा ।।

अर्थात् – (१) मन पर्यव ज्ञान, (२) परमावधि ज्ञान, (३) पुलाक लब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) क्षपक श्रेणि, (६) उपशम श्रेणि, (७) जिनकल्प, (८) तीन प्रकार के चारित्र, अर्थात् – परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात चारित्र, (९) केवलज्ञान और (१०) मुक्तिगमन –

---

[1] बीओ जवूत्ति, श्रीसुधर्म्मस्वामिपट्टे द्वितीय श्री जम्बू स्वामी । स च नवनवतिकोटिसयुक्ता अष्टौ कन्यका परित्यज्य श्रीसुधर्म्मस्वाम्यन्तिके प्रव्रजित । स च षोडश वर्षाणि गृहस्थपर्याये, विंशतिवर्षाणि व्रतपर्याये, चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि युगप्रधानपर्याये चेति सर्वायुरशीति वर्षाणि परिपाल्य श्री वीरात् चतु षष्टि वर्षे सिद्ध ।
[तपागच्छ पट्टावली, स्वोपज्ञ वृत्ति, पन्यास श्री कल्याणविजयजी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ५]

[2] भयव पि·············सपत्तो विमलुत्तुंगगयणगणासण्णिहं त वलाहगसेलसिहरं ति । तओ भगवया नाऊण अत्तणो थोवाउयत्तण कय सव्व भत्तपच्चक्खाण पायवोवगमणाइय जहाविहिं जहाकरणीय । ठिओ य तत्थ सिलायलोवगओ मासमेग पाओवगमणेण ।·········सेलेसिं सपत्तो, विमुक्को अउव्वकरणेण एक्कसमएणेव विमुक्कवुन्दी नेव्वाणपुरवर सपत्तो त्ति ।"
[जंबुचरियं, (गुणपाल) पृ० १९६–९७]

[3] [वही]

प्रहर दिन व्यतीत होने पर जम्बू स्वामी को केवलज्ञान हुआ ।[1] तत्पश्चात् जम्बू स्वामी १८ वर्ष तक केवली रूप से विचरण करते रहे और अन्त मे विपुलाचल के शिखर पर आठो कर्मो का क्षय कर सिद्ध हुए ।[2] इस प्रकार इन दोनो विद्वानो ने गौतम और सुधर्मा इन दोनो का मिलाकर १८ वर्ष केवल्य काल, जम्बू स्वामी का कैवल्य काल केवल १८ वर्ष और इन तीनो का मिलाकर कुल ३६ वर्ष का ही कैवल्यकाल माना है, जो आज तक उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री एव श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनो परम्पराओ द्वारा स्वीकृत कालक्रम से बिल्कुल विपरीत पडता है, अत प्रामाणिक न होते हुए भी विचारणीय अवश्य है ।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ द्वारा मान्य उपरि-वर्णित अधिकाश ऐतिहासिक तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि जम्बूस्वामी का जन्म वीर-निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व, दीक्षा वीर निर्वाण स० १ मे, केवलज्ञान की प्राप्ति वीर नि० स० २० मे और निर्वाण वीर नि० स० ६४ मे हुआ ।

अन्य मान्यता भेद

आर्य जम्बू स्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ मे अन्तिम केवली माना गया है । जम्बू स्वामी के अपूर्व त्याग, उत्कट वैराग्य और कठोर साधना के प्रति अगाध श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए दोनो परम्पराओ के प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक विद्वानो ने समय-समय पर इस महाश्रमण के जीवन पर अनेक ग्रन्थ लिखे है ।

यद्यपि दोनो परम्पराओ के विद्वानो द्वारा जम्बू स्वामी के जीवनवृत्त पर लिखे गये ग्रन्थो मे कतिपय घटनाओ, दृष्टान्तो और नामादि का साधारण वैविध्य है, तथापि जम्बूस्वामी के जीवन की महत्वपूर्ण एव मूल घटनाओ के सम्बन्ध मे दोनो परम्पराओ के विद्वानो का परस्पर पर्याप्त मतैक्य पाया जाता है । श्वेताम्बर परम्परा मे जम्बू स्वामी के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी बताया गया है, जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे पिता का नाम अर्हद्दास और माता का नाम जिनमती उल्लिखित है । श्वेताम्बर मान्यता के ग्रन्थो मे जम्बूकुमार का आठ श्रेष्ठि-कन्याओ के साथ पाणिग्रहण होना बताया गया है, जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे ४ श्रेष्ठि-कन्याओ के साथ । श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार प्रभव चोर अपने ५००

---

[1] (क) तत्रैवाह्नि यामार्धव्यवधानवती प्रभो ।
उत्पन्न केवलज्ञान जम्बूस्वामिमुनेस्तदा ।।११२।। [जम्बू च० (राजमल्ल), सर्ग १२]

(ख) जम्बूस्वामिचरिउ, १० २४, पृ० २१५

[2] (क) कुर्वन् धर्मोपदेश स केवलज्ञानलोचन ।
वर्षाष्टादशपर्यन्त स्थितस्तत्र जिनाधिप ।।१२०।।
ततो जगाम निर्वाण केवली विपुलाचलात् । [जम्बूस्वामिचरितम् (राजमल्ल)]

(ख) जम्बूसामिचरिउ (वीर विरचित), १० २४, पृ० २१५

टीकाकार वीरसेन ने और हरिवंशपुराणकार तथा श्रुतावतारकार ने भी वीर निर्वाण १ से १२ वर्ष पर्यन्त गौतम स्वामी का, गौतम स्वामी के पश्चात १२ वर्ष तक सुधर्मास्वामी का और सुधर्मास्वामी के निर्वाण पश्चात् ३८ वर्ष तक जम्बू स्वामी का केवली काल माना है जो कुल मिलकर ६२ वर्ष होता है। इसके विपरीत आचार्य गणभद्र ने अपने ग्रथ महापुराण-उत्तरपुराण[1] मे तथा पुष्पदन्त ने अपभ्रश भाषा के अपने महापुराण[2] मे गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी का क्रमश: बारह-बारह वर्ष और जम्बू स्वामी का ४० वर्ष – इस प्रकार कुल ६४ वर्ष का केवली काल माना है, जिससे श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य ६४ वर्ष के केवली काल की मान्यता की पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति में ६४ वर्ष का केवली काल दोनो परम्पराओ में मान्य होने के कारण अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

इन सब से विपरीत वीर कवि ने अपने अपभ्रंश महाकाव्य "जम्बूचरिउ" और प० राजमल्ल ने अपने सस्कृत काव्य – "जम्बूस्वामिचरितम्" में जम्बूस्वामी के केवलिकाल के सम्बन्ध में एक नया ही अभिमत रखा है। गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी के केवलज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और जिस दिन गौतमस्वामी का निर्वाण हुआ उसी दिन सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान हुआ। सुधर्मा स्वामी के निर्वाण के समय जम्बूस्वामी को दीक्षा ग्रहण किये १८ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।[3] और सुधर्मा स्वामी के निर्वाण पश्चात् अर्द्ध

---

[1] सुधर्मगणभृत्पार्श्वे समचित्तो गृहीष्यति ।
केवल्यं द्वादशाब्दान्ते मय्यन्त्या गौतमागते ।।११८।।
सुधर्मा केवली जम्बूनामा च श्रुतकेवली ।
भूत्वा पुनस्ततो द्वादशाब्दान्ते निर्वृतिगते ।।११९।।
सुधर्मण्यन्तिम ज्ञान जम्बूनाम्नो भविष्यति ।
तस्य शिष्यो भवो नाम, चत्वारिंशत्समा महान् ।
इह धर्मोपदेशेन, धरित्र्या विहरिष्यति ।
इत्यवादीत्तदाकर्ण्य स्थितस्तस्मिन्ननावृत: ।। [उत्तरपुराण, ७६ पर्व, पृ० ५३७]

[2] पत्तइ-बारहमइ सवच्छरि, चित्तारिट्ठि वियलियमच्चरि ।
पचमु णाणु एहु पावेसइ भवु णामेण महारिसि होसइ
तेण समउ महियलि विहरेमइ दहगुणियइ चत्तारि कहेसइ ।
वरिसइ धम्मु सव्वभव्वोहह विद्धंसियवहु मिच्छामोहह
अतिम केवली उप्पज्जेसइ महु पहुवसहु उण्णई होसइ ।
[महापुराण, पुष्पदंत, सधि १००, पृ० २७४]

[3] (क) जम्बूसामिचरिउ (वीरविरचित, डॉ० वी० पी० जैन द्वारा सम्पादित), १०·२३
(ख) एवमष्टादशाब्दाना, व्यतिक्रान्ता इव क्षण ।
जम्बूस्वामिनि धोरोग्र, तप: कुर्वति नैकधा ।।१०९
तपोमासे सिते पक्षे सप्तम्या च शुभे दिने ।
निर्वाणं प्राप सौधर्मो, विपुलाचल मस्तकात् ।।११०
[जम्बू च० (राजमल्ल), सं० १२]

इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले बताया जा चुका है श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थो मे जम्बू स्वामी का वीर नि० स० ६४ मे निर्वाण होना माना गया है और दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रथ तिलोयपण्णत्ती तथा पट्टावलियो मे वीर नि० स० ६२ मे तथा अनेक दिगम्बर ग्रन्थो मे वीर नि०स० ६४ मे निर्वाण होना माना गया है ।

वीर कवि और जम्बू

वीर कवि ने अपने महाकाव्य "जम्बूसामिचरिउ" मे जम्बू स्वामी के जीवन की कतिपय घटनाओ का विवरण देते हुए तिथियो एव समय का उल्लेख भी किया है जो विवादास्पद तथ्यो के निर्णय मे शोध की दृष्टि से बडा सहायक सिद्ध हो सकता है अत उनका सक्षेप मे यहा उल्लेख किया जाना आवश्यक है ।

जम्बू स्वामी के जन्म दिन के सम्बन्ध मे वीर कवि ने अपने महाकाव्य "जम्बूसामिचरिउ" में लिखा है कि वसतमास मे शुक्लपक्ष की पचमी के दिन जिस समय चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र मे स्थित था उस समय वसतपचमी के दिन प्रत्यूपकाल मे जिनमती ने जम्बू स्वामी को जन्म दिया ।[1]

सागरदत्त आदि चारो श्रेष्ठियो ने अपने बालसखा अर्हद्दास को परस्पर की गई पूर्वप्रतिज्ञा की याद दिलाते हुए कहा – "मित्र ! तुम्हे भलीभाति स्मरण होगा कि कुमारावस्था मे क्रीडा करते समय हम लोगो ने एक दिन यह प्रतिज्ञा की थी कि हम पाचो मित्रो में से किसी एक भाग्यवान् मित्र के यदि पुत्र उत्पन्न हो जाय और शेप चारो के कन्याए हो जाय तो हम लोग अपनी कन्याओ का पाणिग्रहण अपने मित्र के पुत्र के साथ ही करेंगे ।[2] पुण्य के प्रताप से तुम्हारे घर पुत्र का जन्म हुआ और हम चारो मित्र पुत्रियो के पिता बने है । अत. हमे अपनी प्रतिज्ञानुसार चारो कन्याओ का जम्बूकुमार के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये । अर्हद्दास ने अपने चारो मित्रो का प्रस्ताव सहर्प स्वीकार कर लिया और ज्योतिषी से परामर्श कर उन पाचो मित्रो द्वारा अक्षय तृतीया का दिन विवाह के लिये निश्चित किया गया ।[3]

---

[1] पचमिहे वसते पक्खे धवले, रोहिणिठिए मयलछणे विमले ।
पच्चूसे पसूय सलक्खणउ, कुलमगलु जयवल्लहु तणउ ।।
[जम्बूसामिचरिउ, ४७, पृ० ६८]

[2] सायरदत्तपमुहवणिउत्तहिं, वुच्चई अरहयासु नयजुत्तहिं ।
मित्त कुमारभावे रइवतहिं, किय पइज्ज पचहि मि रमतहिं ।
एक्कहो पुत्तु होइ जइ धण्णउ, इयरह चउहु मि जयहि कण्णउ ।
तो तहो पियरहि दुहियउ देवउ, तेण वि वरेण ताउ परिणेवउ ।
[जम्बूसामिचरिउ (वीरकविरचित, डा० विमलप्रसाद जैन द्वारा सम्पादित, १४-४-७, पृ० ७६)]

[3] ठविउ विवाहलग्गु धणरासिए अक्खय तइय दिवसे जोइसए । [वही]

साथियो के साथ जम्बूकुमार के घर मे चोरी करने हेतु घुसा, वहाँ दिगम्बर परम्परा प्रभव के स्थान पर विद्युच्चर चोर का, चोरी करने के अभिप्राय से जम्बूकुमार के घर मे प्रवेश करना मानती है। सयोग की वात है कि दोनों ही परम्पराए जम्बूकुमार के घर मे चोरी करने हेतु प्रविष्ट होने वाले चौरराट् को क्षत्रिय राजकुमार मानती है। श्वेताम्बर परम्परा में आर्य प्रभव को विन्ध्य की तलहटी के जयपुर नामक राज्य का राजकुमार और दिगम्बर ग्रन्थकारो ने विद्युच्चर को हस्तिनापुर जैसे शक्तिशाली राज्य का राजकुमार बताया है।[1] दिगम्बर परम्परा के विद्वान् कवि राजमल्ल ने विद्युच्चर के साथ दीक्षित हुए प्रभव आदि ५०० चोरो के सम्बन्ध में लिखा है कि वे सभी राजकुमार थे। उन्होने जम्वूस्वामीचरित्र मे प्रभव का दो स्थलो पर नामोल्लेख करते हुए लिखा है कि विद्युच्चर के साथ प्रभव आदि चोर भी दीक्षित हुए और भूत-प्रेत-राक्षसादि द्वारा उपस्थित किये गये घोरातिघोर परीषहो से भी विचलित न हो कर द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करते हुए विद्युच्चर सर्वार्थसिद्ध मे और प्रभव आदि ५०० मुनि सुरलोक मे देवरूप से उत्पन्न हुए।[2] अपभ्रश के कवि वीर ने वि० स० १०७६ मे रचित "जम्बूसामिचरिउ" मे प्रभव का कही नामोल्लेख भी नही किया है। श्वेताम्वर परम्परा मे जैसा कि आगे बताया जायगा आर्य प्रभव का बहुत ऊँचा स्थान है। उन्हे जम्वू स्वामी का उत्तराधिकारी और भगवान् महावीर का तृतीय पट्टधर माना गया है। पर दिगम्बर परम्परा मे जम्वू स्वामी का उत्तराधिकारी विद्युच्चर अथवा प्रभव को न मान कर आर्य विष्णु को माना गया है[3]।

दिगम्वर परम्परा के ग्रथो मे जम्वूकुमार द्वारा महाराज श्रेणिक की हस्तिशाला मे से बन्धन तुडा कर भागे हुए मदोन्मत्त हाथी को वश मे करने का और विद्याधर मृगाक की सहायतार्थ विद्याधरराज रत्नचूल से युद्ध करने और युद्ध मे उसे दो बार पराजित करने का उल्लेख किया गया है। किन्तु श्वेताम्वर परम्परा द्वारा मान्य किसी ग्रथ मे इन दोनो घटनाओं का कही कोई उल्लेख प्राप्त नही होता।

---

[1] अथात्र मगधे देशे, विद्यते नगर महत्।
हस्तिनापुर नाम्ना, स्वर्लोकैकपुरोपमम् ॥२८॥
तत्रास्ति सवरो नाम्ना, भूपो दोर्दडमडित।
तस्य भार्यास्ति श्रीषेणा, कामयष्टि. प्रियवदा ॥२९॥
तयो सूनुरभून्नाम्ना, विद्वान् विद्युच्चरो नृप·।
शिक्षिता सकला विद्या, वर्द्धमानकुमारतः ॥३०॥ [जम्बू० च०सर्ग ५]

[2] शतानां पचसख्याका प्रभवादिमुनीश्वरा
अते सल्लेखना कृत्वा दिव जग्मुर्यथायथम् ॥१६९॥ [वही सर्ग १३]

[3] निरिगोदयेण दिण्ण गुरुणमगणाहस्स तेण जवुस्स।
विण्हू णदिमित्तो ततो य पराजिदो ततो ॥४३॥ [अगपण्णत्ती]

इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले बताया जा चुका है श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थो मे जम्बू स्वामी का वीर नि० स० ६४ मे निर्वाण होना माना गया है और दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रथ तिलोयपण्णत्ती तथा पट्टावलियो मे वीर नि० स० ६२ मे तथा अनेक दिगम्बर ग्रन्थो मे वीर नि०सं० ६४ मे निर्वाण होना माना गया है ।

वीर कवि और जम्बू

वीर कवि ने अपने महाकाव्य "जम्बूसामिचरिउ" मे जम्बू स्वामी के जीवन की कतिपय घटनाओ का विवरण देते हुए तिथियो एव समय का उल्लेख भी किया है जो विवादास्पद तथ्यो के निर्णय मे शोध की दृष्टि से बडा सहायक सिद्ध हो सकता है अत उनका सक्षेप मे यहा उल्लेख किया जाना आवश्यक है ।

जम्बू स्वामी के जन्म दिन के सम्बन्ध मे वीर कवि ने अपने महाकाव्य "जम्बूसामिचरिउ" मे लिखा है कि वसंतमास मे शुक्लपक्ष की पचमी के दिन जिस समय चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र मे स्थित था उस समय वसतपचमी के दिन प्रत्यूषकाल मे जिनमती ने जम्बू स्वामी को जन्म दिया ।[1]

सागरदत्त आदि चारो श्रेष्ठियो ने अपने बालसखा अर्हद्दास को परस्पर की गई पूर्वप्रतिज्ञा की याद दिलाते हुए कहा – "मित्र ! तुम्हे भलीभाति स्मरण होगा कि कुमारावस्था मे क्रीडा करते समय हम लोगो ने एक दिन यह प्रतिज्ञा की थी कि हम पाचो मित्रो मे से किसी एक भाग्यवान् मित्र के यदि पुत्र उत्पन्न हो जाय और शेष चारो के कन्याए हो जाय तो हम लोग अपनी कन्याओ का पाणिग्रहण अपने मित्र के पुत्र के साथ ही करेगे ।[2] पुण्य के प्रताप से तुम्हारे घर पुत्र का जन्म हुआ और हम चारो मित्र पुत्रियो के पिता बने है । अत हमे अपनी प्रतिज्ञानुसार चारो कन्याओ का जम्बूकुमार के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये । अर्हद्दास ने अपने चारो मित्रो का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया और ज्योतिषी से परामर्श कर उन पाचो मित्रो द्वारा अक्षय तृतीया का दिन विवाह के लिये निश्चित किया गया ।[3]

---

[1] पत्तमिहे वसंते पक्खे धवले, रोहिणिठिए मयलञ्छणे विमले ।
पच्चूसे पसूय सलक्खणउ, कुलमंगलु जयवल्लहु तणउ ।।
[जम्बूसामिचरिउ, ४.७, पृ० ६८]

[2] सागरदत्तपमुहवणिउत्तहि, वुत्तउ अरुहयासु नयजुत्तहि ।
मित्त कुमारभावे खेल्लंतहि, [illegible] पइज्ज पर्हि मि रमंतहि ।
एक्कहो पुत्तु होइ जइ [illegible], [illegible] जर्हि [illegible] ।
तो [illegible] पुत्तिउ देवउ, [illegible] परिणेवउ ।
[जम्बूसामिचरिउ (वीरकविरचित, डा० विमलप्रकाश जैन द्वारा सम्पादित, १९६८, पृ० ७६)]

[3] [illegible] [वही]

जम्बू स्वामी द्वारा महाराज श्रेणिक की हस्तिशाला से बन्ध तुडा कर भागे हुए मदोन्मत्त हाथी को वश मे करने और केरल के विद्याधरराज मृगाक के शत्रु हसद्वीप के शक्तिसाली विद्याधरपति चन्द्रचूल को युद्ध में पराजित करने की घटनाएं वीर कवि के उल्लेखानुसार जम्बू स्वामी के विवाह का दिन निश्चित हो जाने के पश्चात् की है ।

स्वय वीर कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि आर्ष-ग्रन्थों अथवा उनके पूर्ववर्त्ती जम्बूचरित्रों मे वसतवर्णन, हाथी का मदमर्दन और केरल में रत्नचूल विद्याधर के साथ जम्बूस्वामी के युद्ध का वर्णन नही है । अपने ग्रन्थ में केवल स्वय द्वारा किये गये इस प्रकार के वर्णन के लिये गुरुजनो से क्षमायाचना करते हुए उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि काव्य के अंग व रसों को समृद्ध करने हेतु घटित अथवा अघटित रचनाओं का विचारक कवियो द्वारा जो युक्तिसगत वर्णन किया जाता है वह सच्चरित्रो मे घटित होना संभव माना जाता है । कवि वीर के इस कथन का स्पष्ट और सीधा अर्थ यह है कि ये घटनाए वीर कवि ने अपने इस काव्य को एक महाकाव्य के सभी लक्षणो से सुसमृद्ध करने की दृष्टि से अपनी कल्पनाशक्ति से आविष्कृत की है । ऐतिहासिक तथ्यो के सम्यक् पर्यवेक्षण से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि जिस समय जम्बूकुमार युवा हुए उससे अनेक वर्षो पहले ही मगध-सम्राट् श्रेणिक का देहावसान हो चुका था । महाराज श्रेणिक की मृत्यु के कुछ ही दिन अनन्तर कूणिक ने मगध की राजधानी राजगृह नगर से हटा कर चम्पा नगरी मे स्थापित कर दी थी । ऐसी दशा में जम्बूकुमार द्वारा श्रेणिक के पट्टहस्ती को वश में करना, श्रेणिक की राज्यसभा मे गगनगति नामक विद्याधर का आना, विद्याधर मृगाक द्वारा अपनी पुत्री का महाराज श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण कराने का निश्चय करना, जम्बूकुमार का गगनगति के साथ विमान मे बैठकर रत्नचूल से युद्ध करने हेतु प्रस्थान तथा महाराज श्रेणिक का सेना सहित जम्बू की सहायतार्थ केरल की ओर प्रयाण करना, युद्ध मे जम्बूकुमार की विजय, मृगाक द्वारा अपनी पुत्री का श्रेणिक के साथ विवाह करना, जम्बूकुमार के साथ महाराज श्रेणिक का राजगृह नगर मे प्रवेश करने से पूर्व उपवन मे सुधर्मास्वामी के दर्शन कर उन्हें वन्दन-नमन करना और जम्बूस्वामी के अभिनिष्क्रमण के समय महाराज श्रेणिक द्वारा जम्बूकुमार को पालकी में बैठाकर उनके साथ-साथ उपवन मे आर्य सुधर्मा के पास जाना आदि श्रेणिक के सम्बन्ध मे वीर कवि द्वारा अपने इस महाकाव्य मे दिया गया सभी विवरण कवि की कल्पनामात्र है ।

---

[3] आरिसकहाए अहिय महुकीला करि-नरिदपत्थाण ।
सगामो वित्तमिणं ज दिट्ठ त खमतु मह्र गुरुणो ।।१।।
कव्वगरससमिद्ध चिततारण कईण सव्व पि ।
वित्तमहवा न वित्त सच्चरिए घडइ जुत्तमुत्तं ज ।।२।।
[वही, संधि ८-१]

हंसद्वीपपति विद्याधरराज रत्नचूल को विजित कर तथा केरलपति विद्याधरेश मृगांक की कन्या विलासवती का महाराज श्रेणिक के साथ पाणि-ग्रहण कराने के पश्चात् जम्बूकुमार ने राजगृह के बाहर स्थित एक उपवन मे गणाधिपति सुधर्मस्वामी से उनके प्रति अपने हृदय मे उमडते हुए स्नेहसागर का कारण और अपने पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा। उस समय भी आर्य सुधर्मा स्वामी ने एक निश्चित समय का उल्लेख करते हुए जम्बूकुमार से कहा कि आज से दसवे दिन तुम्हारा उन चार श्रेष्ठिकन्याओ के साथ पाणिग्रहण होगा, जो कि ब्रह्मस्वर्ग के देव भव मे तुम्हारी चार देविया थी।[1]

भगवान् महावीर के पचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी के निर्वाणकाल के सम्बन्ध मे वीर कवि ने लिखा है कि दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जम्बूस्वामी को बारह प्रकार के महातप करते हुए जब १८ वर्ष व्यतीत हो गये, उस समय माघ शुक्ला सप्तमी के दिन प्रात काल की वेला मे सुधर्मा स्वामी ने विपुलाचल पर निर्वाण प्राप्त किया।[2] सुधर्मा स्वामी के निर्वाण पश्चात् अर्द्ध प्रहर दिन व्यतीत होने पर जम्बूस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[3]

जम्बूस्वामी के निर्वाण के सम्बन्ध मे वीर कवि ने लिखा है कि कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् जम्बूस्वामी १८ वर्ष तक भव्यजनो का उद्धार करते रहे और अत मे (दीक्षा ग्रहण करने के ३६ वर्ष पश्चात्) उन्होने विपुलाचल के शिखर पर अष्टकर्मो का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[4]

जंबू द्वारा विद्युत् चोर को प्रतिबोध

महापुराण (उत्तरपुराण) मे दिगम्बर आचार्य गुणभद्र ने विद्युच्चोर का परिचय देते हुए श्रेष्ठी अर्हद्दास के गृह मे चोरी करने की इच्छा से अपने ५०० साथियो के साथ उसके प्रवेश का जो वर्णन किया है वह सक्षेप मे इस प्रकार है –

---

[1] ज त तउ चिरु देविचउक्क, छम्मासावहि-पियममुक्क।
चिरुभवनेहनिबद्ध आय, सायरदत्ताईण जाय॥
....
दिण्ण तुज्झ ताए त सव्व, दसमए वासरे परिणेयव्व।
[ज० चरिउ, ८–५, पृ० १५१–१५२]

[2] अट्ठारहवरिसह कालु गउ माहहो सियसत्तमि पसरे तउ।
विउलइरिसिहरे विसुद्धगुणि निव्वाणु पत्तु सोहम्मु मुणि॥२३॥
[वही १०-२३, पृ० २१५]

[3] तत्थेव दिवसि पहरद्धमाणि आउरियजोए सुक्कझाणि।
पलियकासीणहो निम्ममासु जबूकुमार मुणिपुगमासु।
उप्पण्णउ केवलु पुणु निरधु अवलोयउ तिहुयणु एक्कखधु।
[वही, १०-२४]

[4] भव्वयणचित्तचूरियकुतक्कु, अट्ठारहवरिसह जाम थक्कु।
विउलइरिसिहरि कम्मट्ठचत्तु सिद्धालय सासयसोक्खपत्तु॥
[वही, १०-२४, पृ० २१५]

जम्बू स्वामी द्वारा महाराज श्रेणिक की हस्तिशाला से बन्ध तुडा कर भागे हुए मदोन्मत्त हाथी को वश मे करने और केरल के विद्याधरराज मृगाक के शत्रु हसद्वीप के शक्तिसाली विद्याधरपति चन्द्रचूल को युद्ध मे पराजित करने की घटनाए वीर कवि के उल्लेखानुसार जम्बू स्वामी के विवाह का दिन निश्चित हो जाने के पश्चात् की है।

स्वय वीर कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि आर्ष-ग्रन्थो अथवा उनके पूर्ववर्त्ती जम्बूचरित्रों मे वसंतवर्णन, हाथी का मदमर्दन और केरल में रत्नचूल विद्याधर के साथ जम्बूस्वामी के युद्ध का वर्णन नही है। अपने ग्रन्थ मे केवल स्वय द्वारा किये गये इस प्रकार के वर्णन के लिये गुरुजनो से क्षमायाचना करते हुए उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि काव्य के अग व रसो को समृद्ध करने हेतु घटित अथवा अघटित रचनाओं का विचारक कवियों द्वारा जो युक्तिसगत वर्णन किया जाता है वह सच्चरित्रो मे घटित होना संभव माना जाता है। कवि वीर के इस कथन का स्पष्ट और सीधा अर्थ यह है कि ये घटनाएं वीर कवि ने अपने इस काव्य को एक महाकाव्य के सभी लक्षणो से सुसमृद्ध करने की दृष्टि से अपनी कल्पनाशक्ति से आविष्कृत की है। ऐतिहासिक तथ्यो के सम्यक् पर्यवेक्षण से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि जिस समय जम्बूकुमार युवा हुए उससे अनेक वर्षो पहले ही मगध-सम्राट् श्रेणिक का देहावसान हो चुका था। महाराज श्रेणिक की मृत्यु के कुछ ही दिन अनन्तर कूणिक ने मगध की राजधानी राजगृह नगर से हटा कर चम्पा नगरी मे स्थापित कर दी थी। ऐसी दशा मे जम्बूकुमार द्वारा श्रेणिक के पट्टहस्ती को वश में करना, श्रेणिक की राज्यसभा मे गगनगति नामक विद्याधर का आना, विद्याधर मृगाक द्वारा अपनी पुत्री का महाराज श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण कराने का निश्चय करना, जम्बूकुमार का गगनगति के साथ विमान मे बैठकर रत्नचूल से युद्ध करने हेतु प्रस्थान तथा महाराज श्रेणिक का सेना सहित जम्बू की सहायतार्थ केरल की ओर प्रयाण करना, युद्ध मे जम्बूकुमार की विजय, मृगाक द्वारा अपनी पुत्री का श्रेणिक के साथ विवाह करना, जम्बूकुमार के साथ महाराज श्रेणिक का राजगृह नगर मे प्रवेश करने से पूर्व उपवन मे सुधर्मास्वामी के दर्शन कर उन्हें वन्दन-नमन करना और जम्बूस्वामी के अभिनिष्क्रमण के समय महाराज श्रेणिक द्वारा जम्बूकुमार को पालकी मे बैठाकर उनके साथ-साथ उपवन मे आर्य सुधर्मा के पास जाना आदि श्रेणिक के सम्बन्ध में वीर कवि द्वारा अपने इस महाकाव्य मे दिया गया सभी विवरण कवि की कल्पनामात्र है।

---

[3] आरिसकहाए अहिय महुकीला करि-नरिंदपत्थाण।
सगामो वित्तमिण ज दिट्ठ त खमतु महु गुरुणो ॥१॥
कव्वगरससमिद्ध चितताण कईण सव्व पि।
वित्तमहवा न वित्त सच्चरिए धडइ जुत्तमुत्त ज ॥२॥
[वही, संधि ८-१]

स्नेह रत हो गया एवं दूसरे दिन अपने पांच सौ साथियों सहित जम्बूकुमार के साथ ही दीक्षित हो गया।[1]

वीर कवि रचित अपभ्रंश भाषा के महाकाव्य 'जम्बूचरिउ' के आधार पर दिगम्बर परम्परा के विद्वान् कवि राजमल्ल ने विक्रम संवत् १६३२ में रचित 'जम्बूस्वामिचरितम्' में जम्बूकुमार को संसार से विरक्ति होने के कारण का विवरण देते हुए अनेक नई बातों पर प्रकाश डाला है, जिनका श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है। ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से वे बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं अतः उनका यहां साररूप में उल्लेख किया जा रहा है।

कवि राजमल्ल ने अपने उक्त काव्य के छठे सर्ग में जम्बूकुमार द्वारा मदोन्मत्त हाथी को वश में करने, सातवें सर्ग में जम्बूकुमार द्वारा विद्याधर राजा रत्नचूल को पराजित कर मृगांक नामक विद्याधरराज की उससे रक्षा करने और आठवें सर्ग में विद्याधरराज पर विजय पा लौटे जम्बूकुमार और महाराज श्रेणिक के नगरप्रवेश का वर्णन करने के पश्चात् 'जम्बूस्वामिपरिणयनोत्सववर्णनम्' नामक नवम सर्ग के प्रारम्भ में उनको विरक्ति होने की घटना का वृत्तान्त दिया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है :—

---

[1] सुतो ममायं रागेण प्रेरितो विहितं भजन् ।
स्मितहासकटाक्षेक्षणादिभाभिः सर्वथा ॥५१॥
त्वयात्मानं निरोधाय पश्यन्ती स्पन्दति स्मिता ।
माता तस्य तदैवैक पापिष्ठ प्रश्नमाशक ॥५२॥
सुरम्यविषये ख्यातपोदनाख्यपुरेशिन ।
विद्युद्राजस्य सुविद्युत्प्रभो नाम महाग्रणी ॥५३॥
तीक्ष्णो विमलवत्याश्च सुत्वा केनापि हेतुना ।
निजाग्रजाय निर्गत्य तस्मात्पञ्चशतैर्भटैः ॥५४॥
विद्युच्चोराह्वय कृत्वा स्वयं प्राप्य पुरीमिमाम् ।
जानन्नदृश्यदेहत्वकपाटोद्घाटनादिकम् ॥५५॥
चोरशास्त्रोपदेशेन तन्त्रमन्त्रविशारद. ।
अर्हद्दासगृहाभ्यन्तरस्य चोरयितु धनम् ॥५६॥
प्रविश्य नष्टनिद्रान्ता जिनदासी विलोक्य त ।
निवेद्यात्मानमेव कि, विनिद्रासीति वक्ष्यति ॥५७॥
सूनुर्ममैक एवाय प्रातरेव तपोवनम् ।
अह गमीति सकल्प्य स्थितस्तेनास्मि शोकिनी ॥५८॥
धीमानसि यदीम त्व, च्यावयस्वाग्रहात्तत ।
उपायैरद्य ते सर्व धन दास्याम्यभीप्सितम् ॥५९॥
इति वक्त्री भवेत्सापि सोऽपि सम्प्रतिपद्य तत् ।
एव सम्पन्नभोगोऽपि किलैष विरिरंसति ॥६०॥
[उत्तरपुराण, पर्व ७६]

"पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नाम की अपनी चारो नव-विवाहिता पत्नियों के साथ जम्बूकुमार प्रथम-मिलन की रात्रि मे अपने प्रासाद के अत्यन्त मनोरम ढग से सुसज्जित शयनकक्ष मे बैठे हुए थे। जम्बूकुमार की माता जिनदासी के हृदय की धडकन रात्रि के एक-एक क्षण के व्यतीत होने के साथ-साथ निरन्तर वढती जा रही थी। यह रात्रि उसकी कुलपरम्परा, गार्हस्थ्य जीवन और उसके जीवन के समस्त प्रकार के आकर्षण और भविष्य के लिये अन्तिम निर्णायक रात्रि थी। वह अपने अन्तर मे अनन्त उत्सुकता लिये वार-वार दवे पावो अपने शयनकक्ष से निकल कर अपने नयनतारे जम्बू के शयनकक्ष के द्वार पर आती और वन्द कपाटो पर कान रख कर यह जानना चाहती थी कि अप्सराओ के समान अनुपम सुन्दर उसकी चार नव-कुलवधुए अपनी रूपसुधा से उसके लाल को मदविह्वल कर अपने स्नेह-सूत्र के प्रगाढ वन्धन मे आवद्ध करने मे सफल हुई अथवा नही। अपने पुत्र और पुत्रवधुओं के वार्त्तालाप का जो थोडा वहुत अश उसके कर्णरन्ध्रो मे पडता उससे उसकी आशाओ पर तुषारापात हो जाता और वह अपरिसीम वेदना से छटपटाती हुई पुन अपने कक्ष की ओर लौट जाती। उसे सारा ससार अन्धकारपूर्ण प्रतीत होने लगता। कुछ ही क्षणो पश्चात् वह पुन आशा का सम्वल लिये जम्वूकुमार के शयनागार के द्वार पर पहुचती। मातृस्नेह ने इस क्रम को निरन्तर वनाये रखा। वह श्वासोच्छ्वास को अवरुद्ध किये अपने लाडले लाल के शयनगृह के द्वार पर कान लगाये खडी थी।

उसी समय विद्युत्प्रभ नामक एक अतिसाहसी कुख्यात चोर ने अपने ५०० साथी चोरो के साथ अर्हद्दास के घर मे प्रवेश किया। वह चोर पोदनपुर नगर के राजा विद्युत्राज और रानी विमलमती का पुत्र था। विद्युत्प्रभ किसी कारणवश अपने वड़े भाई से रुष्ट हो अपने पाच सौ योद्धाओ के साथ पोदनपुर से निकल गया और चौर्यकर्म से अपनी आजीविका चलाता था। वह अदृश्य होने और तालो तथा कपाटो को खोलने की विद्या मे निपुण था। जिनदासी को विनिद्र और चिन्तितावस्था मे कपाट के पास खडी देख कर विद्युत्प्रभ ने उससे उसका कारण पूछा।

माता जिनदासी ने अपनी अथाह अन्तर्व्यथा को उडेलते हुए संक्षेप मे अपनी चिन्ता का कारण विद्युच्चोर को वता दिया। विद्युच्चोर ने जव यह सुना कि कुवेरोपम अपार काचनराशि और कामिनियों का परित्याग कर युवा जम्बू-कुमार दीक्षित होना चाहता है तो उसके अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसे अपने चौर्यकर्म से और स्वयं अपने आपसे घृणा हो गई। उसने जिनदासी को आश्वस्त करते हुए जम्बूकुमार के शयनकक्ष मे प्रवेश किया और उन्हे त्यागमार्ग से विमुख तथा भोगमार्ग की ओर उन्मुख करने हेतु अपनी समस्त वाक्चातुरी, सुतीक्ष्ण बुद्धि और नैपुण्य का प्रयोग किया। विद्युच्चोर और जम्बूकुमार के बीच काफी देर तक संवाद चला और अन्ततोगत्वा विद्युच्चोर जम्बूकुमार के विरक्ति के रग मे

सौधर्मकुमार ने कुछ दिन पश्चात् अपने पिता सुप्रतिष्ठ को भगवान् के गणधर के रूप मे देखा तो उसे भी ससार से विरक्ति हो गई और वह भी प्रव्रजित हो गया। थोडे समय के पश्चात् वह भी भगवान् का पाचवा गणधर बन गया। सुधर्मा नाम का वह पचम गणधर मैं ही हू जो कि तुम्हारे भवदेव के भव मे तुम्हारा भावदेव नामक बड़ा भाई था।[1] तुम (छोटे भाई भवदेव का जीव) ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के श्रेष्ठी अर्हद्दास की पत्नी जिनमती की कुक्षि से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए। तुम्हारा नाम जम्बूकुमार रखा गया।[2]

विद्युन्मालि देव के भव मे जो तुम्हारी चार देविया थी वे भी क्रमश पचम स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के वार्द्धिदत्त आदि श्रेष्ठियो के घर मे पुत्रियो के रूप मे उत्पन्न हुई है। वे भी पूर्वभव के स्नेह के कारण तुम्हें प्राणपण से चाहती है और वे तुम्हारी लोकधर्मानुसार विवाहित पत्निया बनेगी।"

वर्तमान, भूत और भविष्यत् को प्रत्यक्ष की तरह देखने वाले चार-ज्ञानधारी सुधर्मा स्वामी के मुख से अपने पूर्वभवो का वृत्तान्त सुनकर सासारिक विषय-भोगो के प्रति जम्बूकुमार के हृदय मे उत्कट वैराग्य की भावनाए उद्भूत हुई। उनका अन्तर्मन प्रबुद्ध हो गया अब उन्हे भवभ्रमण भयावह प्रतीत होने लगा और उनके मन मे अपने शरीर तक के प्रति किसी प्रकार का व्यामोह अवशिष्ट न रहा।

जम्बूकुमार ने विनयपूर्वक सुधर्मा स्वामी को प्रणाम करते हुए प्रार्थना की – "दयासिन्धो! जिस प्रकार आपने पूर्वभव मे निश्छल, स्वच्छ और सच्चे बन्धुत्व का निर्वहन करते हुए मेरा उद्धार किया था, उसी प्रकार आप अब भी मुझे निर्ग्रंथ श्रमणधर्म मे दीक्षित कर मेरा इस भवसागर से उद्धार कीजिये।"

भोगो के प्रति निस्पृह एव आत्मकल्याण के लिये समुत्सुक जम्बूकुमार को आसन्नभव्य (निकट भविष्य मे मुक्ति प्राप्त करने वाला) जानते हुए भी आर्य सुधर्मा ने कोमल स्वर मे कहा – "जम्बू! कहा तो तुम्हारी यह सुकुमारावस्था और कहा बडे-बडे साधको के लिये भी कठिनतापूर्वक पाला जाने वाला यह श्रमणाचार? फिर भी यदि तुम्हारे हृदय मे दीक्षित होने की उत्कट अभिलाषा है तो एक बार अपने बन्धुवर्ग को पूछकर, उनका समाधान करके फिर दीक्षा ग्रहण करो।"

यह सुनकर जम्बूकुमार कुछ क्षणो के लिये विचार मे पड गये। अन्त मे उन्होने गुरु आज्ञा के समक्ष हठ करना उचित न समझ माता-पिता की आज्ञा

---

[1] सौधर्मोऽपि तथा पश्चाद् वीक्ष्य त गणनायकम्।
जातसवेगनिर्वेद प्रवव्राज महामुनि. ॥२९॥
क्रमात्सोऽप्यभवत्तस्य पचमो गणनायक।
सोऽह सुधर्म्मनामा स्या भवद्भ्रातृचरोऽधुना ॥३०॥ [जबूस्वामिचरितम् (प० राजमल्ल)]

[2] त्व हि ततो दिवश्च्युत्वा विद्युन्मालिचरोऽमर।
अर्हद्दासगृहे सूनुर्जात सर्वसुखाकर ॥३३॥ [वही]

"एक दिन जम्बूकुमार ने अपने मन में विचार किया कि विशाल वैभव और विपुल यश की जो उन्हे प्राप्ति हुई है वह किस सुकृत के प्रताप से हुई है ? अपनी इस आन्तरिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जम्बूकुमार एक मुनि के पास गये और उन्होने मुनि को सविधि वन्दन करने के पश्चात् प्रश्न किया – "भगवन् ! मै यह जानना चाहता हूं कि मै वास्तव में कौन हू, कहा से आया हूं और जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है वह किस पुण्य के फल से हुआ है ? आप दया कर मुझे मेरे पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाइये।"

सौधर्म नामक उन मुनि ने, जो कि धर्मोपदेशक थे, उत्तर दिया – "वत्स ! सुन मै तुझे पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनाता हू।[1] इसी मगध देश मे वर्द्धमान नामक ग्राम में किसी समय भावदेव और भवदेव नामक दो सहोदर रहते थे। उन दोनो ने क्रमश. जैनश्रमण दीक्षा ग्रहण की और बहुत वर्षो तक श्रमणाचार का पालन कर मृत्यु के पश्चात् सनत्कुमार नामक स्वर्ग में दोनों भाई देव रूप मे उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् देवायु पूर्ण होने पर बडे भाई भावदेव का जीव वज्रदन्त नामक राजा के पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ और उसका नाम सागरचन्द्रमा रखा गया। छोटे भाई भवदेव का जीव देवलोक से च्युत हो महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ। सागर चन्द्र सयम ग्रहण कर कठोर तपश्चर्या करने लगा और शिवकुमार माता-पिता के अत्यधिक अनुरोध के कारण घर मे रहते हुए भी पूर्णरूपेण श्रमणाचार का पालन करते हुए षष्ठभक्त, अष्ठभक्त, अर्द्धमासिक, मासिक आदि घोर तपश्चरण और इन तपस्याओ के पारण के दिन आचाम्लव्रत करने लगा। इस प्रकार शिवकुमार ने घर मे रहते हुए ही ६४,००० वर्ष तक घोर तपश्चरण किया। अन्त में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर क्रमश दोनो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग मे देव हुए। दश सागर की देवायु पूर्ण होने पर बडे भाई भावदेव का जीव मगध देश के सवाहनपुर नामक नगर के अधिपति राजा सुप्रतिष्ठ की रानी धर्मवती की कुक्षि से पुत्ररूप मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम सौधर्म रखा गया।[2]

सौधर्मकुमार क्रमश सभी विद्याओ मे निष्णात हुआ। एक दिन राजा सुप्रतिष्ठ अपने परिवार सहित भगवान् महावीर के दर्शन-वन्दन-नमन एव उपदेश-श्रवण के लिये प्रभु के समवशरण मे पहुचा। भगवान् की भवरोगविनाशिनी देशना सुनकर राजा सुप्रतिष्ठ ने प्रभु के पास निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण कर ली। थोडे ही दिनो में वह सुप्रतिष्ठ मुनि समस्त श्रुतशास्त्र के ज्ञाता बन गये और भगवान् ने उन्हे चतुर्थ गणधर के पद पर नियुक्त किया।[3]

---

[1] अथोवाच मुनिर्नाम्ना सौधर्मो धर्मदेशक·।
शृणु वत्स वदे तेऽद्य, वृत्तान्त पूर्वजन्मन ॥८॥
[जम्बूस्वामिचरितम् (प० राजमल्ल-रचित) सर्ग ६]

[2] जम्बूस्वामिचरितम् (प० राजमल्लरचित), सर्ग ६, श्लो० १८–२३

[3] दिवसै कतिभिर्भिक्षुः श्रुतपूर्णोऽभवन्मुनि ।
गणधरस्तुर्यो जातो वर्द्धमानजिनेशिन. ॥२८॥ [वही]

गृह मे विषयासक्त रहने वाला विद्युच्चर चोर स्तब्ध रह गया। वह और सावधान होकर नवविवाहित वर-वधुओ की वाते वड़े ध्यान से सुनने लगा।

जम्बूकुमार और उनकी चार नववधुओ का परस्पर जो सवाद हो रहा था उसे विद्युच्चर स्पष्टरूप से सुन रहा था। उसे वडा आश्चर्य हो रहा था कि यह नव तारुण्य की भोगयोग्य वय, सभी प्रकार की भोग्य सामग्री सहजरूपेण समुपलब्ध, सुरसुन्दरियों के समान अनुपम रूपलावण्यवती चार नवविवाहिता लोकधर्मानुसार न्यायत प्राप्त पत्नियां, एकान्त स्थान, विषयभोगो के उपभोग की पूर्ण सामर्थ्य, कुबेरोपम वैभव, भोगोपभोगो के लिये अनुरोध और आग्रहभरा आमन्त्रण किन्तु यह तरुण निर्विकार, निर्लिप्त और निश्चल बना हुआ है। ऐसा अभूतपूर्व आश्चर्य उसके दृष्टिगोचर होना तो दूर उसके कर्णरन्ध्रो मे भी कभी नही पडा है। वह अपने चोर-कार्य को भूल कर नवदम्पति के अद्‌भुत और अन्तस्तलस्पर्शी सवाद को सुनने में आत्मविस्मृत हो तल्लीन हो गया।

माता जिनमती के लिये यह रात्रि उसके कुटुम्ब एव वश-परम्परा के भविष्य के लिये निर्णायक रात्रि थी। उसके हृदय मे यह जानने की उत्कण्ठा बार-बार बलवती बनती जा रही थी कि उसकी रूप-यौवन और सर्वगुण सम्पन्ना चार पुत्रवधुएँ उसके इकलौते लाडले लाल को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने मे सफल हुई है या नही। इस उत्कट उत्कण्ठा को अपने अन्तर मे लिये वह बार-बार छुपे पावो जम्बूकुमार के शयनकक्ष के द्वारो के पास आकर कान लगा कर अपने पुत्र और पुत्रवधुओ के वार्तालाप को सुनती और अपने पुत्र को अपने निश्चय पर अचल समझ कर हताश हो पुन अपने शयनकक्ष की ओर लौट जाती। धारिणी का यह क्रम बीच-बीच मे कुछ क्षणो के व्यवधानो से निरन्तर चल रहा था। इस बार वह दबे पावो जम्बूकुमार के शयनकक्ष के उस द्वार की ओर आई जहा चोर विद्युच्चर अपनी सुध-बुध भूले नव वर और वधुओ का सलाप सुन रहा था।

द्वार पर सटे चोर पर दृष्टिपात होते ही जिनमती ने आश्चर्य एव भय मिश्रित स्वर मे पूछा – "अरे! इस समय यहा तुम कौन हो?"

विद्युच्चर ने मन्द किन्तु निर्भय स्वर मे उत्तर दिया – "बहिन! तुम विह्वल न होना। मै विद्युच्चर नामक चोर हू जो तुम्हारे इसी राजगृह नगर मे रहते हुए चोरिया करता रहता हू। मैने तुम्हारे इस भवन से भी अनेक बार रत्न-स्वर्ण और विपुल धन चुराया है। उसी चौर्यकार्य के लिये मै आज भी यहा आया था।"

मा जिनमती ने स्नेहसिक्त स्वर मे कहा – "वत्स! मेरे इस घर मे से जो कुछ तुम्हे अच्छा लगे वही ले जा सकते हो।""

विद्युच्चर ने कहा – "बहिन! सच मानो, आज चोरी करने की इच्छा ही नही हो रही है। आज मैने अपने जीवन मे पहली बार यह अदृष्टपूर्व-अश्रुतपूर्व अत्यन्त अद्‌भुत कुतूहलपूर्ण दृश्य एव सवाद देखा और सुना है कि दिव्य रूप-लावण्यमयी युवतियो के कटाक्षो और करुण-कोमल प्रार्थना स्वरो से इस युवक का

प्राप्त करने के पश्चात् ही दीक्षित होने का निश्चय किया। तदनुसार वे अपनी माता के पास गये और अपनी आन्तरिक इच्छा उनके समक्ष प्रकट की। शोकाकुल हो माता-पिता ने उन्हे समझाने का पूरा प्रयास किया पर व्यर्थ। जम्बूकुमार को उनके दीक्षित होने के दृढ निश्चय से किंचितमात्र भी विचलित न होते देख अर्हद्दास ने वार्द्धिदत्त आदि चारो श्रेष्ठियो के पास जिनकी कि पुत्रियो के साथ जबूकुमार का विवाह होना निश्चित हो चुका था – सदेश भेजकर उन्हे जम्बूकुमार के दीक्षित होने के दृढ निश्चय से अवगत कराया। उन चारो श्रेष्ठियो ने अपनी पुत्रियों को जम्बूकुमार के दीक्षित होने का निश्चय सुनाते हुए उन्हे अन्य किसी वर से विवाह करने का सुझाव दिया। चारो कन्याओ ने अपने-अपने माता-पिता को कहा कि वे अन्तर्मन से जम्बूकुमार को अपना पति चुन चुकी है अत जम्बूकुमार के साथ ही उनका विवाह कर दिया जाय। यदि वे विवाहोपरान्त अपने पति को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर सकी तो ठीक, अन्यथा वे भी उनके साथ-साथ दीक्षित हो जाएगी।

अन्ततोगत्वा जम्बूकुमार ने अर्हद्दास और जिनमती के अनन्य अनुरोध से इस शर्त पर उन चारो कन्याओ के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया कि विवाहोपरान्त उन्हे दीक्षित होने से रोका नही जायगा।

बडी धूमधाम और समारोहपूर्वक जम्बूकुमार का पद्मश्री आदि चार कन्याओ के साथ विवाह सम्पन्न हुआ।

विवाहोपरान्त पद्मश्री आदि नववधुएं अपने पति जम्बूकुमार को विविध उपायो, युक्तियो, दृष्टान्तो आदि से भोगमार्ग की ओर आकर्षित करने का और जम्बूकुमार अपनी पत्नियो को विषयभोगो की दु खान्तता और भवभ्रमरण की विभीषिका के विषय मे समझाने का प्रयास करने लगे। रम्भा तुल्य चारो नववधुओ ने समोहक विविध हाव-भावो एव चेष्टाओ से जम्बूकुमार के मन मे कामाग्नि प्रदीप्त करने का पूर्णरूपेण प्रयास किया किन्तु जम्बूकुमार निस्तरग अथाह पाथोधि की तरह शान्त तथा निश्चल बने रहे।

जिस समय जम्बूकुमार और उनकी चारो पत्नियो मे परस्पर वार्तालाप हो रहा था, उस समय विद्युच्चर नामक एक चोर अर्हद्दास के घर मे चोरी करने के लिये घुसा। जम्बूकुमार के घर मे धनागारो को देखते समय विद्युच्चर की दृष्टि बडे ही आकर्षक ढग से सजे हुए जम्बूकुमार के शयनागार पर पडी। उसके मन मे कुतुहल जागृत हुआ और उसने निश्चय किया कि रत्नादि बहुमूल्य वस्तुओ को तो यहा से लौटते समय ही ले लूगा, पहले जम्बूकुमार और उनकी नववधुओ का वार्तालाप ही सुन लू। यह विचार कर विद्युच्चर जम्बूकुमार के शयनागार के एक बन्द द्वार से अपना कान सटाकर खडा हो गया। सुहागरात्रि (प्रथम मिलन की रात्रि) के समय जम्बूकुमार के मुख से भोगो के प्रति निरासक्ति प्रकट करने वाली बाते सुनकर रात-दिन कामलता वेश्या के विलास-

प्रस्तुत किये गये प्रत्येक दृष्टान्त का उनसे भी अधिक युक्तिसंगत एवं प्रभावोत्पादक दृष्टान्त सुना कर सहज शान्त स्वर में उत्तर दिया। पर्याप्त समय तक यह रोचक संवाद चला। अन्ततोगत्वा परिणाम यह हुआ कि जो मामाजी भानजे पर अपना रंग जमाने आये थे वे स्वयं ही भानजे के वैराग्यरंग में पूर्णरूपेण रंग गये।

विद्युच्चर ने जम्बूकुमार के चरणों में अपना सांजलि मस्तक झुकाते हुए अति विनीत स्वर में कहा — "महाप्राज्ञ महात्मन्! आप धन्य हैं। आपकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम है। आप निर्विकार और निर्लेप हैं अतः आपके लिये इस भीषण भवोदधि को पार कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं।"

तदनन्तर विद्युच्चर ने जम्बूकुमार को अपना वास्तविक परिचय देते हुए कहा — "कुमार! मैं हस्तिनापुर के महाप्रतापी राजा संवर और उनकी महारानी श्रीषेणा का विद्युच्चर नामक पुत्र हूं। मैंने वर्द्धमान कुमार से सब प्रकार की विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की। उसके पश्चात् चौर्य-विद्या में निपुणता प्राप्त करने की मेरे मन में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम मैंने अपने ही राज्यकोष में से बहुमूल्य रत्न चुराये पर चोरी करते हुए मुझे किसी राजपुरुष ने देख लिया था अतः मेरे पिता महाराज संवर मेरे उस घृणित कार्य से अवगत हो गये। उन्होंने मुझे राज्य-सम्पत्ति का खुले रूप में यथेच्छ उपभोग करने की अनुज्ञा देते हुए सब प्रकार से समझाने का प्रयास किया कि मैं उभयलोक बिगाडने वाले अति गर्हणीय चौर्य कर्म का परित्याग कर दूं पर उस समय मेरे हृदय पर पूर्णरूपेण दुर्बुद्धि का आधिपत्य था अतः मैंने धृष्ठतापूर्वक उत्तर दिया — महाराज! राज्य की सम्पत्ति चाहे कितनी ही विपुल क्यों न हो, आखिर वह परिमित ही है किन्तु चौर्यकार्य के अन्तर्गत लक्ष्मी का कोई पार नहीं, वह अपरिमित है।

यह कह कर मैं इस राजगृह नगर में चला आया और कामलता नाम की वेश्या के यहां रात-दिन विषयोपभोगों में निरत रहते हुए चोरियां करने लगा। पर आज आपने मेरी अन्तर की चक्षुओं के निमीलित अक्षपटलों को उन्मीलित कर दिया है। अब मैं भी अपना आत्मकल्याण करूंगा।"

इसी समय प्रातःकाल हो गया। महाराज श्रेणिक को जम्बूकुमार के दीक्षित होने का समाचार मिलते ही वे अपने समस्त राजकीय वैभव के साथ अर्हद्दास के घर पर आये। जम्बूकुमार ने दीक्षा लेने हेतु वन की ओर प्रयाण किया। राजा श्रेणिक ने उन्हें शिविका में आरूढ किया।[1] जम्बूकुमार को दीक्षार्थ जाते देख राजगृह नगर में चारों ओर शोक का वातावरण फैल गया।

[1] ऐतिहासिक तथ्यों के विश्लेषण से जम्बूकुमार के समय में पण्डित राजमल्ल द्वारा उल्लिखित मगधपति महाराज श्रेणिक सम्बन्धी समस्त विवरण निराधार और कवि की कल्पनामात्र सिद्ध होता है क्योंकि जम्बूकुमार जिस समय घुटनों के बल भी नहीं चलते होंगे उससे पहले ही श्रेणिक का देहावसान हो चुका था।

मन किंचित्मात्र भी विचलित नही हुआ। मै यह जानना चाहता हू कि इस सब के पीछे कारण क्या है। आज से तुम मेरी धर्म बहिन हो और मै तुम्हारा सहोदरोपम भाई।"

अपने उद्वेलित अश्रुसमुद्र को हठात् रोकते हुए साहस बटोर कर जिनमती ने कहा – "भैया ! मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय और मेरे कुल का दीपक यह मेरा इकलौता पुत्र है। इसने जैन श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने का दृढ निश्चय कर लिया है। मोहवश हमने बड़े हठाग्रहपूर्वक इसका विवाह कर दिया है पर यह सूर्योदय होते ही सब कुछ छोड – छिटका कर जैन श्रमण बन जायगा। इसके इस अवश्यभावी वियोग के वज्र से मेरा हृदय खड-खड हो विचूर्णित हो रहा है।"

विद्युच्चर ने कहा – "बहिन ! यदि ऐसी बात है तो तुम अपने मन मे किसी प्रकार की चिन्ता न करो। मै अभी कुछ ही क्षणो में तुम्हारी मनोकामना पूर्ण किये देता हू। जम्बूकुमार को गृहस्थ धर्म की ओर प्रवृत्त करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिये एक साधारण सरल कार्य है। किसी न किसी तरह तुम मुझे एक बार जम्बूकुमार के पास पहुंचा दो। फिर देखना कि जिस कार्य को तुम नितान्त दुस्साध्य समझती हो, उसे मै किस प्रकार बात ही बात मे सुसाध्य ही नही, सिद्ध बना देता हू।"

कुछ ही क्षण गहन चिन्तन की मुद्रा मे खडी रहने के पश्चात् जिनमती ने अपने पुत्र के शयनागार के द्वार पर शनै शनै. तर्जनी-प्रहार किया। जम्बूकुमार ने तत्क्षण द्वार खोला और बडे आदर के साथ अपनी माता को एक उच्चासन पर बैठाकर विनम्र स्वर मे पूछा – "अम्ब ! इस समय आपने किस कारण स्वय पधारने का कष्ट किया ?"

जिनमती ने कहा – "पुत्र ! जिस समय तुम गर्भस्थ थे उस समय मेरा भाई व्यापारार्थ विदेश गया हुआ था। वह अब लौटा है। तुम्हारे विवाह की शुभ सूचना मिलते ही यह तुम्हे देखने की उत्कण्ठा लिये बड़ी दूर से चलकर आया है।"

जम्बूकुमार ने अपने मातुल से मिलने की अभिलाषा प्रकट की। विद्युच्चर को जिनमती तत्काल जम्बूकुमार के शयनकक्ष मे ले गई। जम्बूकुमार माया-मातुल (कृत्रिम मामा) को देखते ही अपने आसन से उठे और दोनो ने प्रफुल्लित हो एक दूसरे को अपने बाहुपाश मे आबद्ध कर लिया।

परस्पर कुशलक्षेम के प्रश्नोत्तर के पश्चात् अहर्निश चतुर वेश्या की सगति में रहने वाले चतुर विद्युच्चर ने अपनी वाक्चातुरी का चमत्कार दिखाते हुए जम्बूकुमार को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने का भरपूर प्रयास किया। उसने बडी चतुराई से जादूभरी शैली मे त्यागमार्ग के प्रति तत्काल अनास्था उत्पन्न कर भोगमार्ग की ओर आकृष्ट कर देने वाले अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये। कभी न उतरने वाले वैराग्य के रग मे रगे हुए प्रत्युत्पन्नमति जम्बूकुमार ने विद्युच्चर द्वारा

विमान मे ३३ सागर की आयु वाले देव बने और प्रभव आदि ५०० मुनि भी स्वर्ग मे महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुए ।[1]

केवलिकाल के राजवंश

ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय मे राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अधिकाशत बडा ही मधुर और प्रगाढ रहा । देश के सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक एव धार्मिक अभ्युत्थान मे जनसाधारण की तरह राजवशो ने भी समय-समय पर अपनी ओर से उल्लेखनीय योगदान किया, इसकी पुष्टि मे बडी ही प्रचुर मात्रा मे प्रमाण उपलब्ध होते है । प्राचीन काल मे जैन धर्म के पल्लवन से लेकर प्रचार-प्रसार, अभ्युत्थान आदि सभी कार्यो मे जब-जब और जो-जो भी लोकजनीन प्रयास किये गये, उनमे राजवशो ने भी जनसाधारण के साथ कधे से कधा मिला कर बडा महत्त्वपूर्ण सक्रिय सहयोग दिया है । वस्तुत प्राचीन काल के राजवशो का लोकजीवन के साथ ऐसा सपृक्त सम्बन्ध रहा कि भारत का राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक इतिहास लिखते समय यदि तत्कालीन राजवशो की उपेक्षा कर दी जाय तो कोई भी इतिहास न पूर्ण ही माना जा सकता है और न प्रामाणिक ही ।

इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए केवलिकाल के राजवशो का यहा सक्षेप मे परिचय दिया जा रहा है । वीर नि० स० १ से ६४ तक के केवलिकाल मे मुख्यत निम्नलिखित राजवश भारत के विभिन्न प्रदेशो मे सत्तारूढ रहे –

१ मगध मे शिशुनाग राजवश
२ अवती मे प्रद्योत राजवश
३ वत्स (कोशाम्बी) मे पौरव राजवश
४ कलिग मे चेदि राजवश

मगध का शिशुनाग-राजवश

शिशुनाग राजवश भारत के प्राचीन राजवशो मे बड़ा प्रतापी और प्रसिद्ध राजवश रहा है । इस वश मे अनेक न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी और शक्तिशाली राजा

---

[1] व्यतीते चोपसर्गेऽथ, मुनिर्विद्यु च्चरो महान् ।
व्यभ्रे व्योम्नि यथादित्यो, तेजपुज इवद्युत ।।१६४।।
प्रात कालेऽथ सजाते, प्रान्त्यसल्लेखनाविधौ ।
चतुर्विधाराधना कृत्वागमत्सर्वार्थसिद्धिके ।।१६५।।
शताना पच सख्याका., प्रभवादिमुनीश्वरा ।
अते सल्लेखना कृत्वा, दिव जग्मुर्यथायथम् ।।१६६।।
[जम्बूस्वामिचरित्र, सर्ग १३]

जम्बूस्वी चरित्र मे प० राजमल्ल ने दो बार प्रभव का उल्लेख किया है पर कही उनका परिचय नही दिया है । – सम्पादक

जम्बूकुमार ने सुधर्मा स्वामी के पास पहुच कर वस्त्राभूषणों का परित्याग किया और पचमुष्टि लुचन कर उनसे निर्ग्रन्थ श्रमरण-दीक्षा ग्रहण की। जम्बूकुमार के पश्चात् अनेक राजाओ ने दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर विद्युच्चर चोर ने प्रभव आदि ५०० राजकुमारो के साथ दीक्षा ग्रहण की जो सभी चौर्यकर्म मे निरत रहते थे।[1] इनके पश्चात् जिनदास ने भी समस्त ऐहिक सुख-वैभव का परित्याग कर सयम ग्रहण किया। तत्पश्चात् जम्बूकुमार की माता जिनमती ने और जम्बूकुमार की पद्मश्री आदि चारो पत्नियो ने भी सुप्रभा आर्यका के पास श्रमरणी-दीक्षा ग्रहण की।

जम्बूस्वामी के निर्वाण गमन के वर्णन के पश्चात् पण्डित राजमल्ल ने जम्बूस्वामिचरित्र मे विद्युच्चर मुनि द्वारा अपने प्रभव आदि ५०० साधुपरिवार सहित मथुरा नगरी की ओर विहार करने, मथुरा के महोद्यान मे ठहरने, सूर्यास्त-वेला मे चण्डमारि नाम की वनदेवी द्वारा उन्हे उस महोद्यान मे रात्रि के समय भूतप्रेतादि द्वारा घोर उपसर्ग देने की सम्भावना की पूर्वसूचना दिये जाने के साथ-साथ उन्हे वहा से विहार कर अन्यत्र चले जाने का परामर्श दिये जाने का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् यह बताया गया है कि उन मुनियो ने सूर्यास्त के पश्चात् विहार करना अनुचित समझ कर वही आवश्यक श्रमणक्रियाए करना प्रारम्भ कर दिया। रात्रि के समय भूतप्रेतादि द्वारा विद्युच्चर और उनके ५०० साथी साधुओ को ताड़न, तर्जन, मर्दन आदि घोर उपसर्ग दिये गये। पिशाचो द्वारा उन मुनियों को शूलादि तीक्ष्ण शस्त्रो के प्रहारो से क्षत-विक्षत किया गया, बार-बार आकाश मे ऊपर उठा कर पृथ्वी पर पटका गया। पर वे सभी मुनि शान्तभाव से उन दुस्सह्य परीषहों को सहते रहे।

महामुनि विद्युच्चर को उन प्रेतादि द्वारा सबसे अधिक कष्ट दिया गया पर उन्होने अनित्यानुप्रेक्षा आदि १२ प्रकार की अनुप्रेक्षाओ से अपने मन को निश्चल बनाये रखा।

प्रातःकाल होते ही उपसर्ग तो शान्त हुए, किन्तु उन मुनियो के शरीर ताडन, छेदन, भेदन आदि के कारण इतने जर्जरित हो गये थे कि उन्हे जीने की आशा न रही। उन ५०१ मुनियो ने सलेखनापूर्वक चार प्रकार की आराधना करते हुए देह त्याग किया। उत्कट भावशुद्धि के कारण मुनि विद्युच्चर सर्वार्थसिद्ध

---

[1] तत केचित्तु भूपाला, शुद्धसम्यक्त्वभूषिताः।
बभूवुर्मुनयो नून, यथाजातस्वरूपकाः ॥६४॥
अथ विद्युच्चरो दस्युर्विरक्तो भवभोगतः।
सर्वसगपरित्यागलक्षण व्रतमग्रहीत् ॥६६॥
सार्धं पंचशतैर्भूपपुत्रैरासीत्स सयमी।
दस्युकर्मरतैः सर्वे, प्रभवादिसुसज्ञिकैः ॥६७॥
[जम्बूस्वामिचरितम्, सर्ग १२]

अजातशत्रु कूणिक किस समय मगध के सिहासन पर बैठा और कितने वर्ष तक शासन करने के पश्चात् किस समय उसका देहान्त हुआ इस सम्बन्ध मे जैन वाङ्मय मे यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नही होता तथापि आगम मे उपलब्ध उल्लेख से यह अनुमान किया जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व वह मगध के राज्य सिहासन पर बैठा। कूणिक ने कितने वर्ष तक शासन किया इस सम्बन्ध मे मथुरा सग्रहालय मे उपलब्ध कूणिक की मूर्ति पर खुदे शिलालेख मे कूणिक का शासनकाल ३४ वर्ष ८ मास बताया गया है।[1] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वीर नि० स० १७ अथवा १८ के मध्यवर्ती काल मे कूणिक का देहावसान हुआ।

शिशुनागवंश का सक्षिप्त परिचय

शिशुनागवश कब से प्रचलित हुआ, इस वश का प्रवर्त्तक मूल-पुरुष कौन था और किस-किस समय मे इस वंश के किन-किन राजाओ का किस-किस राज्य पर शासन रहा, इस सम्बन्ध मे जैन ग्रन्थो मे प्रारम्भिक काल का विवरण नही के तुल्य उपलब्ध होता है। वस्तुत जैन ग्रन्थो मे "शिशुनागवश" नामक किसी वश का उल्लेख अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।

बिम्बसार (श्रेणिक), कूणिक (अजातशत्रु), उदायी (उदयाश्व), नद (नन्दिवर्धन) महानन्द आदि इतिहास प्रसिद्ध मगध के सम्राटो का भारतीय इतिहास के ग्रन्थो मे एव मत्स्यपुराण, वायुपुराण, और श्रीमद्भागवतपुराण आदि पुराणग्रन्थो मे शिशुनागवशी राजाओ के रूप मे परिचय दिया गया है। जब कि जैनग्रन्थो मे इन मगधसम्राटो एव इनके पुत्र-पौत्रो, महारानियो, युवराज्ञियो तक के जीवनवृत्त पर पर्याप्त प्रकाश डाले जाने के उपरान्त भी ये सम्राट् किस वश के थे इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया गया है। एक स्थल पर मागध दूत के द्वारा जिस समय कि श्रेणिक की अभिलाषा की पूर्त्ति हेतु वैशाली गणतन्त्र के अधीश्वर महाराजा चेटक के समक्ष उनकी पुत्री सुज्येष्ठा का विवाह मगधपति श्रेणिक के साथ करने का प्रस्ताव रखा गया, उस अवसर पर त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित्रकार – आचार्य हेमचन्द्र ने चेटक के मुख से कहलवाया है –

> चेटकोऽप्यब्रवीदेवमनात्मज्ञस्तव प्रभु ।
> वाहीककुलजो वाछन्, कन्या हैहयवशजाम् ।।२२६।।
> समानकुलयोरेव विवाहो, हन्त नान्ययो ।
> तत्कन्या न हि दास्यामि श्रेणिकाय प्रयाहि भो ।।२२७।।

---

[1] निभद प्रसेनी अज (ा) सत्रु राजो(सि)र (ी) ४,२० (य) १० (ड) – ८(हि अथवा ह्री) कूणिक सेवासि नागो मागधानाम् राजा। ३४(वर्ष) ८ (महिना) (शासन काल) — जनरल आफ दी बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी, दिसम्बर १९१९ वोल्यूम ५, भाग ४, पृ० ५५०

हुए है। मगध के उन प्रतापी शासकों ने समय-समय पर क्षितिप्रतिष्ठित नगर, चणकनगर, वृषभपुर, कुशाग्रपुर, राजगृह, चम्पा और पाटलीपुत्र (पटना) नगर बसा कर उन्हे मगध की राजधानी बनाया, इस प्रकार के उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध होते हैं।[1] इतिहासप्रसिद्ध इस वश के राजा प्रसेनजित् भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मतीर्थ के परमभक्त एव श्रद्धालु श्रावक थे। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम भाग मे विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि मगधाधीश प्रसेनजित् के पुत्र महाराज श्रेणिक (बिम्बसार) भगवान् महावीर के प्रमुख भक्त नराधिपो मे अग्रणी थे। उन्होने भगवान् महावीर के धर्मशासन की अत्युत्कट सेवा कर तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया। महाराजा श्रेणिक की अनेक रानियो,पुत्रो और कुटुम्बीजनो ने भगवान् महावीर के उपदेशों से प्रभावित हो श्रामण्य अगीकार कर आत्मकल्याण किया।

मगधाधिप महाराज श्रेणिक की मृत्यु (वीर निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व) के पश्चात् कूणिक (अजातशत्रु) ने मगध की राजधानी राजगृह नगर से हटा कर चम्पा मे स्थापित की। अपने पिता महाराज श्रेणिक की ही तरह कूणिक भी भगवान् महावीर का परमभक्त था।[2]

जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ और उस ही रात्रि के अवसान से पूर्व गौतम गणधर को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई, उस समय मगध पर महाराजा कूणिक का शासन था और मगध की राजधानी चम्पा नगरी थी। कूणिक द्वारा वैशाली के शक्तिशाली गणतन्त्र का अन्त कर दिये जाने के पश्चात् कूणिक की सम्राट् के रूप मे और मगधराज्य की एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप मे गणना की जाने लगी थी।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् सुधर्मास्वामी के आचार्यकाल में भी मगधेश्वर कूणिक केवलज्ञानी गौतमस्वामी के तथा आचार्य सुधर्मा स्वामी के दर्शन, वन्दन, उपदेशश्रवण आदि के लिये समय-समय पर उनकी सेवा मे आता रहा, इस प्रकार के उल्लेख जैन वाड्मय मे उपलब्ध होते है।

आर्य सुधर्मास्वामी के आचार्यकाल मे महत्त्वाकाक्षी मगधेश्वर कूणिक ने मगध राज्य का पर्याप्त विस्तार कर लिया था। कूणिक के पिता श्रेणिक ने अपने राज्यकाल मे ही अग राज्य पर विजय प्राप्त कर उसे मगध राज्य के अधीन कर लिया था अत कूणिक को मगध और अग का राज्य अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त हुआ। उसके अनन्तर कूणिक ने बग, विदेह, काशी, कौशल और कौशाम्बी पर भी विजय प्राप्त कर इन राज्यों को मगध के अधीन कर लिया था।

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १२८४ एव आवश्वक हारिभद्रीया वृत्ति, उत्तर भाग, पृ०स० ६७०-७१

[2] औपपातिक सूत्र, सूत्र ८

इस प्रकार इतिहासविद् श्री मजूमदार ने शिशुनागवशियो को तुर्किस्तान के निवासी और व्रिज्जी जाति के माना है और पाली ग्रन्थो ने वैशाली निवासी लिच्छवी क्षत्रिय।

भारतवर्ष के सगरकालीन अतिप्राचीन इतिहास का विहंगमावलोकन करने पर यह विदित होता है कि चन्द्रवंशी हैहय जाति के क्षत्रियो ने शक आदि अनेक जातियो की सहायता से अयोध्या के इक्ष्वाकुवशी राजा वाहुक पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर अयोध्या पर अधिकार कर लिया। राज्यच्युत राजा वाहुक अपनी रानियों के साथ वन मे चला गया। वनवासकाल मे वाहुक की एक रानी ने गर्भ धारण किया किन्तु पुत्र का मुख देखने से पूर्व ही वाहुक का देहावसान हो गया। समय पर वाहुक की रानी ने पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम सगर रखा गया। सगर शैशवकाल से ही वडा ओजस्वी था। उसने महर्षि और्व के पास समस्त विद्याओ का अध्ययन किया। अपने समय के अप्रतिम धनुर्धर सगर ने युवावस्था मे पदार्पण करते ही अपने शत्रुओं पर भीषण आक्रमण कर उन्हे परास्त कर दिया और अपने वशपरम्परागत अयोध्या के राज्य पर पुन अधिकार कर लिया। अयोध्या के राज्यसिहासन पर आरूढ होते ही सगर के अन्तर मे प्रतिशोध की अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो उठी। वह अपने पिता पर आक्रमण करने वाले हैहय आदि क्षत्रियो का सर्वनाश करने पर उतारू हो गया। सगर के भय के कारण उसके शत्रु सुदूर देशो की ओर पलायन कर गये। सगर ने वहा पर भी उनका पीछा किया और उन्हे वह चुन-चुनकर मारने लगा। अन्ततोगत्वा और्वऋषि द्वारा वीच-वचाव करने पर सगर ने उन क्षत्रियो को विरूप और वहिष्कृत कर उन्हे प्राण-दान दिया।[1] इस घटना के पश्चात् तालजंघो, हैहयो, शकों आदि क्षत्रियो को अन्य क्षत्रियो द्वारा कुछ हीन समझा जाने लगा। कालान्तर मे समय-समय पर परस्पर बिगडे हुए ये सम्बन्ध कुछ सुधरे पर यादवो के प्रति रुक्मी और शिशुपाल द्वारा प्रयुक्त किये गये कटु वाक्-प्रहारो, जातीय हीनतासूचक कटाक्षो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाभारत काल तक इक्ष्वाकु आदि जातियो के क्षत्रिय यदुवशियो, हैहयो आदि को अपने से हीन समझते रहे है।

---

[1] भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तस्यापि वाहुक ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥२॥
वृद्ध त पचता प्राप्त महिष्यनु मरिष्यती ।
और्वेण जानतात्मान प्रजावन्त निवारिता ॥३॥
आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह ।
सह तेनैव सजात सगराख्यो महायशा ॥४॥
सगरश्चक्रवर्त्यासीत सागरो यत्सुतै कृत ।
यस्तालजधान् यवनाञ्छकान् हैहयवर्वरान् ॥५॥
नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिण । [भागवत्, स्कन्ध ९ अ० ८]

मागध दूत के मुख से मगधपति श्रेणिक द्वारा अपनी सुज्येष्ठा नामक राजकुमारी की याचना का सदेश सुनकर महाराजा चेटक ने कहा –

"दूत ! तुम्हारे स्वामी को अपने स्वय के सम्बन्ध मे वास्तविक स्थिति का ज्ञान नही है। यही कारण है कि वाहीक[1] कुल मे उत्पन्न होकर भी वह हैहव वश की कन्या के साथ पाणिग्रहण करना चाहते है। समान कुल वालो मे ही परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध हो सकते है न कि असमान कुलो मे। अत मै अपनी कन्या श्रेणिक को नही दूगा। अब तुम यहा से यथेच्छ जा सकते हो।"

"वाहीककुलजो" इस वाक्याश से यह तथ्य प्रकट होता है कि उपरिवर्णित बिम्बसार आदि मगध सम्राट् वाहीक कुलोद्भव थे।

विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो शिशुनागवंश एक प्रतापी पुरुष के प्रताप का द्योतक होने के कारण कोई मूलवश नही किन्तु एक वश विशेष के व्यक्तियो की शाखा का बोधक है। किसी एक वशविशेष मे शिशुनाग नामक प्रतापी और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न हुआ, उसने एक राज्य की स्थापना की। उस वश के अन्यान्य सहस्रो अथवा लाखो व्यक्तियो से अपनी विशिष्टता अभिव्यक्त करने हेतु उस शिशुनाग की सतति अपना परिचय शिशुनागवशी के रूप मे देने लगी।

इसी प्रकार "वाहीक" भी कोई मूलवश नही। "वाहीक" शब्द के तीन अर्थ हो सकते है – (१) वाहीक अथवा वाल्हीक देश का रहने वाला, (२) वाहीक बाह्य देश का रहने वाला और (३) वाहीक-बाह्य-बहिष्कृत (जाति से बहिष्कार किया हुआ) व्यक्ति अथवा जाति। इन तीनो अर्थो मे से इन मगध सम्राटो पर कौनसा अर्थ लागू होता है यह एक विचारणीय विषय है।

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रयुक्त "वाहीककुलजो" पद को लेकर अनेक पाश्चात्य एव भारतीय इतिहासकारो ने कल्पना की बहुत लम्बी लम्बीउड़ाने भरी है। प्रसिद्ध इतिहासविद् ए के. मजूमदार ने अपनी पुस्तक "दी हिन्दू हिस्ट्री आफ इन्डिया" के पृष्ठ ४६६ पर लिखा है .–

"Shishunaga was formerly a vassal of the Turanian Vijjians He founded his dynasty of ten Kings and ruled for 250 years"

दी जरनल आफ दी ओरिसा-बिहार रिसर्च सोसायटी, पुस्तक संख्या १, पृष्ठ ७६ पर यह उल्लेख है –

"The Pali writers relate that the Sisunagas belonged to the family of Vaishali (Lichhavis).

---

[1] वहिश्चनाम हीकश्च, विपाशाया पिशाचकौ ॥४१॥
तयोरपत्य वाहीका, नैपा सृष्टि प्रजापते । [महाभारत, कर्णपर्व, अ० ४४]

मत्स्यपुराण, वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण और जैन तथा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थो मे मगध के इस प्रतापी राजवश के सम्बन्ध मे जो सामग्री उपलब्ध है, उसके सम्यक् पर्यालोचन से शिशुनाग द्वारा वाराणसी मे इस नवीन राजवश की स्थापना का समय तेवीसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के पिता काशिपति महाराज अश्वसेन के स्वर्गगमन के पश्चात् ईसा पूर्व ८वी शताब्दी के आसपास का निकलता है। श्रीमद्भागवतपुराण मे शिशुनाग से ले कर महानन्दी तक नागदशको (शिशुनागवशी दश राजाओ) का शासनकाल समष्टि रूप से ३६० वर्ष बताया गया है।[1] वायुपुराण मे इन नागदशको का राज्यकाल ३६२ वर्ष और क्रमश प्रत्येक राजा का राज्यकाल निम्नलिखित रूप से बताया गया है –

राजा का नाम	शासनकाल
१ शिशुनाक	४० वर्ष
२. शकवर्ण (काकवर्ण)	३६ ,,
३. क्षेमवर्मा	२० ,,
४ अजातशत्रु	२५ ,,
५ क्षत्रौजा (प्रसेनजित्)	४० ,,
६ बिंबिसार (श्रेणिक)	२८ ,,
७ दर्शक (कूणिक-अजातशत्रु)	२५ ,,
८. उदायी	३३ ,,
९ नन्दिवर्धन	४२ ,,
१० महानन्दी[2]	४३ ,,
इन दश का सब मिला कर शासनकाल	३३२ वर्ष

इस प्रकार इन शिशुनागवशी दस राजाओ का पृथक् पृथक् राज्यकाल उल्लिखित करने के पश्चात् वायुपुराणकार ने लिखा है –

इत्येते भवितारो वै, शैशुनाका नृपा दश।

शतानि त्रीणि वर्षाणि, द्विषष्ट्यभ्यधिकानि तु ॥१८०॥ अ० ६१

अर्थात् ये दश शिशुनागवशी राजा होगे जिनका कि ३६२ वर्ष (तीन सौ बासठ वर्ष) तक शासन रहेगा। किन्तु इन दशो राजाओ का पृथक् पृथक् जो शासनकाल दिया गया है, उस सबको जोडने पर ३६२ वर्ष के स्थान पर ३३२ वर्ष का ही होता है। वायु पुराणकार द्वारा इस प्रकार इन राजाओ का पृथक् २ जो शासनकाल बताया गया है, उसमे निश्चित रूप से किसी शासक का ३० वर्ष का शासनकाल जोडना रह गया है। इसी कारण समष्टि रूप से जो ३६२ वर्ष

[1] शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम्।७
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवी, कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपा। [भागवत्, स्कन्ध १२, अ० १]

[2] वायुपुराण, अ० ६१, श्लोक १७४ से १८०।

इस परम्परागत जातिविद्वेष के कारण तो वैशाली के महाराज चेटक मगधपति श्रेणिक को वाहीक नही कह सकते क्योकि वे स्वय हैहय वंश की लिच्छवी जाति के क्षत्रिय थे और मगधपति श्रेणिक वज्जी (व्रिज्जी) जाति के हैहयवशी क्षत्रिय। ऐसी दशा में चेटक द्वारा श्रेणिक के लिये "वाहीककुलजो" कहने के दो ही कारण हो सकते है। पहला यह कि महाराजा श्रेणिक महाराजा चेटक की इच्छानुसार गणराज्य व्यवस्था मे सम्मिलित नही हुए इसलिये उन्हे वाहीक कहा हो। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि श्रेणिक के पूर्वज हैहय-वंशी क्षत्रिय होने पर भी किसी संक्रान्तिकाल मे किसी (टर्की आदि) ऐसे प्रदेश मे रह चुके हो जिसे उस समय अनार्य देश समझा जाता हो।

युक्ति की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर यह दूसरा कारण केवल काल्पनिक ही ठहरता है, क्योकि सगर के समय मे कौन लोग कहां-कहा गये थे इसका लेखा-जोखा अनेक सहस्राब्दियों तक रखना नितात असाध्य ही समझा जायगा।

पहला कारण युक्तिसंगत माना जा सकता है। हैहयवशी समस्त कुलो के क्षत्रियो ने सगठित हो कर वैशाली गणराज्य की स्थापना की, उस समय उन सब लोगो ने मगध के हैहयवशी शासकों को उस सघ मे सम्मिलित होने के लिये बहुत आग्रह किया होगा पर मगध के शासको द्वारा उनकी प्रार्थना को पूर्णरूपेण ठुकरा दिये जाने के पश्चात् ६ मल्ली, ६ लिच्छवी राजाओ ने मगध के राज्यवश के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए उसे वाहीक (बहिष्कृत) घोषित कर दिया होगा। इस प्रकार की घोषणा के पीछे जातीय हीनता अथवा उच्चता कारण न वन कर राजनैतिक (सैद्धान्तिक) मतभेद ही कारण रहा होगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्रिज्जी शाखा के ये हैहयवंशी शासक शिशुनागवशी किस कारण से कहलाये। शिशुनागवश की स्थापना के सम्बन्ध मे वायुपुराण में विवरण दिया गया है कि वाराणसी मे शिशुनाक नामक राजा होगा। वह अपने पुत्र शकवर्ण (काकवर्ण) को वाराणसी के राज्य का स्वामी बना कर स्वय गिरिव्रज के राज्य का स्वामी बनेगा।[1]

---

[1] हत्वा तेषा यश· कृत्स्न शिशुनाको भविष्यति ।।१७३।।
वाराणस्या सुतस्तस्य, संप्राप्स्यति गिरिव्रजम् ।
शिशुनाकस्य वर्षाणि चत्वारिंशद् भविष्यति ।।१७४।।

[वायु पुराण, अ० ६१]

नोट : वायु पुराण मे शिशुनाक को प्रद्योतो के पश्चात् बताया गया है यह ठीक नही है। "श्लोक सख्या १६८ के तृतीय पाद"वृहद्रथेश्वतीतेषु" के सदर्भ मे ही 'शिशुनाको भविष्यति' पढना चाहिये। क्योकि प्रद्योत वश का सस्थापक चण्ड प्रद्योत भगवान् महावीर, बुद्ध और श्रेणिक का समकालीन था इस तथ्य को वौद्ध और जैन दोनो परम्पराए एक मत से स्वीकार करती है।

– सम्पादक

उस ३० वर्ष के शासनकाल को इसमे जोडने पर ईसा पूर्व ७६३ मे शिशुनागवश के सस्थापक एव मूलपुरुष शिशुनाग द्वारा वाराणसी के राज्य सिहासन पर ग्रासीन होना सिद्ध होता है। भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण ईसा पूर्व ७७७ मे हुआ। इन सब तथ्यों पर विचार करने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इक्ष्वाकुवशी वृहद्रथ राजाओ की परम्परा मे हुए वाराणसी के महाराजा अश्वसेन के स्वर्ग-गमन के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के १४ वर्ष पश्चात् शिशुनाग वाराणसी का राजा बना।

वाराणसी के राज्य सिहासन पर शिशुनाग ने किस समय में अधिकार किया इस समस्या का निर्णायक हल करने मे एक और तथ्य सहायक हो सकता है। वह यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के पचम पट्टधर आर्य केशी मगध सम्राट् बिबसार (श्रेणिक) के समय मे विद्यमान थे। वायुपुराण और भागवतपुराण के उल्लेखो के अनुसार श्रेणिक शिशुनागवश का छठा राजा और मत्स्यपुराण के उल्लेखानुसार ८वा राजा था। भगवान् पार्श्वनाथ के ५वे पट्टधर की विद्यमानता मे शिशुनागवश का छठा अथवा आठवा वशज विद्यमान हो इस अनुमान के सहारे यह मानना असगत नही कहा जा सकता कि शिशुनाग ने भगवान् पार्श्वनाथ के पिता वाराणसीपति महाराजा अश्वसेन के देहावसान के कुछ ही समय पश्चात् अथवा तत्काल पश्चात् वाराणसी के सिहासन पर अधिकार कर लिया हो।

इन सब तथ्यो पर समीचीनतया विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाराज अश्वसेन के स्वर्गगमन के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ की विद्यमानता मे ही शिशुनाग ने वाराणसी के राज्य पर अधिकार कर लिया था।

मगध पर उदायी का शासनकाल

मगध के महान् प्रतापी एव महत्त्वाकाक्षी महाराजा कूणिक की मृत्यु के पश्चात् वीर निर्वाण स० १८–१९ मे मगध के राज्यसिहासन पर कूणिक के पुत्र उदायी का अभिषेक किया गया। उदायी भी अपने पिता और पितामह की ही तरह बडा शक्तिशाली और न्यायप्रिय शासक था। जैनधर्म के प्रति उसकी प्रगाढ श्रद्धा और भक्ति थी। उसने न केवल प्रजा को सुशासन ही दिया अपितु पैतृक परम्परा से प्राप्त मगध के राज्य की शक्ति, सीमा, यशकीर्ति, श्री और समृद्धि मे भी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की।

जिस प्रकार कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् मगध राज्य की राजधानी राजगृह से हटाकर चम्पा मे प्रतिष्ठापित की, उसी प्रकार कूणिक की मृत्यु के पश्चात् उदायी ने भी मगध की राजधानी को चम्पा से किसी अन्य स्थान पर ले जाने का विचार किया। उस समय के विशाल मगधराज्य के अनुरूप ही राजधानी के लिये उपयुक्त स्थान की खोज हेतु विशेषज्ञो और नैमित्तिको के दल चारो ओर प्रेषित किये गये।

का इन नागदशकों का शासनकाल बताया है वह प्रत्येक राजा के पृथक्-पृथक् दिये गये शासनकाल को जोड़ने पर ३३२ ही होता है। इसी प्रकार की भूल नामों के सम्बन्ध में भी हुई है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न पुराणों मे उल्लिखित इन नागदशको के नामो मे भी विभेद पाया जाता है।

मत्स्य पुराण मे नागदशको के स्थान पर १२ नागवंशी राजाओ के नाम व शासनकाल के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया गया है, वह इस प्रकार है –

"वाराणसी का राज्यसिहासन अपने पुत्र काकवर्ण को सम्हलाकर शिशुनाग गिरिव्रज मे आयेगा। शिशुनाग का मगध पर ४० वर्ष, काकवर्ण का २६ वर्ष, क्षेमवर्मा का ३६ वर्ष, क्षेमजित् का २४ वर्ष, विन्ध्यसेन का २८ वर्ष, काण्वायन का ९ वर्ष, उसके पुत्र भूमिमित्र का १४ वर्ष, अजातशत्रु का २७ वर्ष, वशक का २४ वर्ष, उदासी (उदायी) का ३३ वर्ष, नन्दिवर्धन का ४० वर्ष और महानन्दी का ४३ वर्ष राज्य होगा। ये १२ शिशुनागवंशी राजा ३६० वर्ष तक राज्य करेंगे।[1] इन १२ शिशुनागवशी राजाओ के पृथक्-पृथक् शासनकाल को जोडने पर कुल ३४४ वर्ष ही होते है किन्तु समष्टिरूप से पुराणकार ने ३६० वर्ष का इनका शासनकाल लिखा है। यह सम्भव है कि काकवर्ण को वाराणसी का राज्य देने एव शिशुनाग द्वारा मगध के राज्य सिहासन पर अधिकार करने से पूर्व शिशुनाग का वाराणसी राज्य पर १६ वर्ष तक शासन रहा हो और पुराणकार ने वाराणसी पर शिशुनागवशियों के शासनकाल को मगध के शासनकाल के साथ जोड कर ३६० की गणना पूरी की हो।

उपर्युक्त तीनो पुराणो मे नागदशको का कुल मिला कर ३६० - ३६२ वर्ष का शासनकाल माना है।

अब हमे इन मगध के शासको के शासनकाल के सम्बन्ध मे जो जैन वाङ्मय मे उल्लेख उपलब्ध है, उनकी ओर दृष्टिपात करना होगा। भगवान् महावीर की केवलिचर्या के तेरहवे वर्ष मे मगध पर कूणिक के शासन का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस वर्ष से पहले अथवा इसी वर्ष मे कूणिक मगध की राजधानी को राजगृह से चम्पा में स्थानान्तरित कर चुका था।[2] इससे यह फलित होता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के समय अर्थात् ईसा पूर्व ५२७ मे शिशुनाग वश के ७वे शासक कूणिक के मगध पर शासनकाल के लगभग १७ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस प्रकार शिशुनाग के शासनकाल के ४० वर्ष, काकवर्ण के ३६, क्षेमवर्मा के २०, अजातशत्रु के २५, क्षत्रौजा (प्रसेनजित्) के ४०, बिम्बिसार (श्रेणिक) के २८ वर्ष और कूणिक के महावीर निर्वाणकाल तक १७ वर्ष इस प्रकार इन शिशुनागवशी ७ राजाओ का कुल मिला कर २०६ वर्ष का शासनकाल होता है और पुराणकार जो ३० वर्ष का समय जोडने में भूल बैठे

---

[1] मत्स्यपुराण, अ० २७१ श्लोक ५ से १२

[2] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४१७

देवदत्त अन्निका के गुणो और रूपराशि पर इतना विमुग्ध हो गया था कि उसने अपने वृद्ध माता-पिता का विचार किये विना ही जयसिह द्वारा रखी गई शर्त को स्वीकार कर लिया। अपनी शर्त के स्वीकृत हो जाने पर जयसिह ने देवदत्त के साथ अन्निका का विवाह कर दिया और नवदम्पती बडे आनन्द के साथ रहने लगे। अन्निका के प्रेमपाश मे आवद्ध देवदत्त ने अपने वृद्ध माता-पिता की वर्षों तक कोई सुध-वुध नही ली। पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने पर एक दिन देवदत्त के पास उत्तरमथुरा से उसके माता-पिता का पत्र आया। उस पत्र मे लिखा हुआ था – "चिरजीवीपुत्र ! अब हम दोनो चक्षुविहीन एव वृद्धावस्था के कारण शिथिलाग हो गये है और कराल काल के गाल मे जाने ही वाले है। हमारी मृत्यु के पहले यदि तुम एक वार आकर हमसे मिल लो तो हमारे हृदय को शान्ति मिल सकेगी।"

अपने वृद्धमाता-पिता का पत्र पढते ही देवदत्त की आखो से अश्रुओ की धाराए वहने लगी। वह वार-वार पत्र को पढने लगा और उसका अश्रुप्रवाह वढता ही गया।

अपने पति को दाम्पत्य जीवन मे पहली वार इस प्रकार रोते देखकर अन्निका ने उससे शोक का कारण पूछा और उससे किसी प्रकार का उत्तर न मिलने पर अन्निका ने देवदत्त के हाथ से वह पत्र लेकर एक ही सास मे पढ डाला। पत्र को पढते ही वह सारी स्थिति को समझ गई। अन्निका तत्काल अपने भाई के पास पहुची और उसे सब वात समझाकर उसने उत्तर मथुरा जाने की अनुमति प्राप्त करली।

देवदत्त और अन्निका जिस समय अपने सेवको के साथ उत्तर मथुरा की ओर प्रस्थित हुए, उस समय अन्निका गर्भवती थी। उत्तर मथुरा की ओर यात्रा करते हुए मार्ग मे अन्निका ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उत्तर मथुरा पहुचने पर शिशु के पितामह और पितामही ही इसका नाम रखेगे, यह सोच कर देवदत्त और अन्निका ने उस शिशु का कोई नाम नही रखा। साथ के लोग उसे अन्निकापुत्र कह कर सम्बोधित करने लगे। कुछ ही समय पश्चात् देवदत्त ने अपने घर पहुँच कर अपने वृद्ध माता-पिता को प्रणाम किया और उस शिशु को उनकी गोद मे रखते हुए कहा – "विदेश मे रहते हुए मैने जो कुछ अर्जित किया है, वह यह लीजिये।" पौत्र को गले से लगा कर वृद्ध दम्पती अति प्रसन्न हुए और अपना पहले का सब दु ख भूल गये। उन्होने अपने पौत्र का नाम सन्धीरण (धैर्य बधाने वाला) रखा पर सबको अन्निकापुत्र सम्बोधन बडा प्रिय लगता था अत वह बालक अन्निकापुत्र के नाम से ही पहचाना जाने लगा। लालन-पालन के साथ-साथ अध्ययन योग्य वय होने पर अन्निकापुत्र को शिक्षा दिलाने का समुचित प्रबन्ध किया गया। सभी विद्याओ मे निष्णाततता प्राप्त करने के साथ-साथ अन्निकापुत्र ने युवावस्था मे प्रवेश किया।

अन्निकापुत्र ने युवावस्था मे ही भोगो का विषवत् परित्याग कर आचार्य जयसिह के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् श्रमण

पाटलीपुत्र का निर्माण

उनमें से विशेषज्ञो का एक दल अनेक स्थानो के गुणदोष देखता हुआ गगा नदी के तट पर पहुंचा। वहा उन निमित्तशास्त्र के विशेषज्ञो ने सुन्दर पुष्पो से आच्छादित एक पाटली (केसूला-रोहीडा) वृक्ष देखा जिस पर (चाष) नीलकण्ठ पक्षी अपना मुख खोले बैठा हुआ था और चारो ओर से कीट-पतगे स्वत ही आ आकर उसके मुख में प्रवेश कर रहे थे। इस प्रकार का अद्‌भुत दृश्य देखकर नैमित्तिकों को वडा आश्चर्य हुआ। परस्पर विचार-विनिमय के पश्चात् उन लोगो ने यह मन्तव्य अभिव्यक्त किया कि इस स्थान मे कोई अद्‌भुत विशेषता है। जिस प्रकार इस चाष पक्षी के मुख मे कीट-पतगे स्वयमेव आ आकर गिर रहे है, ठीक उसी प्रकार यदि इस स्थान पर नगर बसा दिया जाय तो उस नगर मे रहने वाले पुण्यवान् नृपति के पास दूर-दूर से धन-सम्पत्ति स्वत. ही आ आकर एकत्रित होगी।[1]

वस्तुस्थिति पर विचार-विमर्श करते समय उनमे से एक अतिवृद्ध नैमित्तिक ने कहा – "बन्धुओ ! यह कोई सामान्य पाटलवृक्ष नही है। ज्ञानियो द्वारा इसकी वडी महिमा बतायी गई है :–

यह अन्निकापुत्र केवली के कपाल मे पड़े हुए पाटली बीज का ही विशाल रूप है।

प्राचीन काल मे दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा नामक दो नगरिया थी। उत्तरमथुरा का निवासी देवदत्त नामक एक युवा व्यवसायी देशाटन करता हुआ दक्षिण मथुरा मे पहुंचा। दक्षिण मथुरा के निवासी जयसिह नामक एक वणिक् पुत्र से देवदत्त की मित्रता हो गई। एक दिन जयसिह द्वारा निमन्त्रण पाकर देवदत्त जयसिह के घर भोजनार्थ गया। जयसिह की रूपगुणसपन्ना बहिन, कुमारी अन्निका ने अपने सहोदर और उसके सखा को षड्रसयुक्त स्वादिष्ट भोजन कराया। अन्निका के रूप-लावण्य को देखकर देवदत्त उस पर आसक्त हो गया।

दूसरे दिन देवदत्त ने जयसिह के पास एक प्रस्ताव भेजा, जिसमे उसने अन्निका के साथ अपना विवाह करने की प्रार्थना की। जयसिह ने इस शर्त के साथ विवाह करने का सन्देश भेजा कि उसकी वहिन अन्निका उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय है, वह एक क्षण के लिए भी उसे दूर नही रख सकता। यदि देवदत्त यह प्रतिज्ञा करे कि विवाह होने पर जव तक अन्निका पुत्रवती न हो तव तक वह अन्निका सहित उसके घर पर ही रहेगा, तो वह देवदत्त के साथ अपनी बहिन अन्निका का विवाह करने को तैयार है ?

---

[1] ने चिन्तयन्निहोद्देशे, पक्षिणोऽस्य यथा मुखे।
कीटिका: स्वयमागत्य, निपतन्ति निरन्तरम् ॥३८॥
तथास्मिन्नुत्तमे स्थाने, नगरेऽपि निवेशिते।
राज्ञ पुण्यात्मनोऽमुष्य, स्वयमेष्यन्ति सम्पद ॥३९॥ [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

आचार्य अग्निकापुत्र ने कहा – "श्राविके ! मैने कभी इस प्रकार के स्वप्न नही देखे पर बिना देखी हुई बाते भी जिनागमो से देखी हुई के समान मालूम हो जाती है। ससार मे एक भी ऐसी वस्तु नही, जो जैन आगमो के द्वारा नही जानी जा सकती हो।"

पुष्पचूला ने प्रश्न किया – "भगवन् ! इस प्रकार के घोर दु खो से पूर्ण नरको मे जीव किस कारण उत्पन्न होता है ?"

अग्निकापुत्र ने उत्तर दिया – 'घोर आरम्भ-परिग्रह, गुरु के प्रति अविनय, मद्य-माससेवन, द्यूत, परस्त्री-परपुरुष-गमन, विषयासक्ति, पचेन्द्रियवध आदि पापो के कारण जीव घोरातिघोर नरको मे उत्पन्न हो अनेक प्रकार के दारुण दु ख भोगता है ।"

अग्निकापुत्र द्वारा किये गये अपने स्वप्नो के समाधान से पुष्पचूला को पूर्ण सतोष प्राप्त हुआ और वह अपने राजप्रासाद मे लौट गई। उस रात्रि मे देव ने उसे स्वर्ग के अत्यन्त मनोहारी एव असीम आनन्दोत्पादक दृश्य दिखाये।"

प्रात काल पुष्पचूला ने अग्निकापुत्र से अपने इन नवीन सुखद स्वप्नो के सम्बन्ध मे पूछा। अग्निकापुत्र ने द्वादश देवलोको, अनुत्तरविमानो आदि के देवो की महर्द्धि, सुदीर्घायु, शक्ति, ऐश्वर्य एव सुख आदि का वर्णन करते हुए कहा कि अरिहत, गुरु, साधु और धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति रखने वाले प्राणी के लिये स्वर्गसुखो की प्राप्ति एक साधारण एव सुसाध्य कार्य है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र से प्राणी समस्त कर्मसमूह को ध्वस्त कर परमपद निर्वाण प्राप्त करता है।

अग्निकापुत्र द्वारा किये गये विवेचन से पुष्पचूला ने ससार का वास्तविक स्वरूप समझ लिया। उसने ससार के घोर दुखो से सदा के लिये अपना उद्धार करने का दृढ सकल्प अभिव्यक्त करते हुए अग्निकापुत्र से प्रार्थना की – "भगवन् ! मुझे इस ससार से विरक्ति हो गई है, मै अपने पति से आज्ञा लेकर आपके पास सयम ग्रहण करूंगी।"

पुष्पचूला ने राजप्रासाद मे लौट कर अपने पति के समक्ष अपनी आन्तरिक अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा – "देव ! मैने दृढ निश्चय कर लिया है कि मै प्रव्रजित हो तपश्चरणपूर्वक ससृति के दु खो के मूल कारण कर्मसमूह का समूल नाश करूगी। मुझे आज्ञा दीजिये, मै प्रव्रजित होना चाहती हू।"

पुष्पचूल ने अपनी पत्नी के दृढनिश्चय को देख कर कहा – "मै तुम्हे उस ही दशा मे प्रव्रजित होने की आज्ञा दे सकता हू जब कि तुम यह प्रतिज्ञा करो कि प्रव्रजित होने के पश्चात् भी तुम इस राजप्रासाद के ही किसी एक स्थान मे रहोगी और राजप्रासाद से ही भीक्षा ग्रहण करोगी।"

अन्निकापुत्र ने सभी शास्त्रो का समीचीन रूप से अध्ययन किया। निरतिचाररूप से विशुद्ध सयम का पालन करते हुए अन्निकापुत्र ने दुष्कर घोरातिघोर तपश्चरण द्वारा अपने पूर्वसचित कर्मसमूह को ध्वस्त करना प्रारम्भ किया। आचार्य जयसिह ने अन्निकापुत्र को सभी भाँति सुयोग्य समझ कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और उनके दिवगत होने पर अन्निकापुत्र आचार्य बने।

एक समय वे अपने श्रमणसघ के साथ विचरण करते हुए गगातट पर वसी हुई पुष्पभद्रा नगरी मे आये। उस समय पुष्पभद्रा नगरी पर पुष्पचूल नामक राजा का शासन था। उसकी रानी का नाम पुष्पचूला था जो कि वस्तुत. उस (पुष्पचूल) के साथ युगल रूप से उत्पन्न हुई उसकी सहोदरा थी। युगल रूप से उत्पन्न हुए उन दोनो वहिन-भाइयों मे प्रगाढ स्नेह था। उनके पिता महाराज पुष्पकेतु ने अपने पुत्र और पुत्री का प्रगाढ स्नेह देख कर लोकनियम के विरुद्ध उनका विवाह कर दिया। इस अनैतिक विवाह सम्बन्ध से दुखित हो पुष्पचूल और पुष्पचूला की माता पुष्पवती ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और अनेक वर्षो तक तपश्चरण करके अन्त मे समाधिमरण द्वारा देवत्त्व प्राप्त किया। राजा पुष्पकेतु की मृत्यु के पश्चात् पुष्पचूल पुष्पभद्रा के राज्य सिहासन पर बैठा और वे दोनो बहिन-भाई अनेक वर्षो तक पति-पत्नी रूप से दाम्पत्य जीवन बिताने लगे। देवरूप से उत्पन्न हुई पुष्पवती ने पूर्व स्नेहवश सोचा कि इस लोकविरुद्ध वैवाहिक सम्बन्ध और विषयभोगों में आसक्त रहने के कारण पुष्पचूला कही नरक मे न चली जाय। पुष्पचूला के भावी जीवन को सुधारने की इच्छा से प्रेरित हो उस देव ने पुष्पचूला को स्वप्नों मे नरक के दारुण दृश्य दिखाने प्रारम्भ किये। स्वप्न मे उन अत्यन्त दुखदायक दृश्यो को देखने के कारण पुष्पचूला अहर्निश कापती हुई शोकसमुद्र मे डूबी रहती। पुष्पचूल द्वारा चिन्ता का कारण पूछने पर पुष्पचूला ने स्वप्न मे देखे गये घोर कष्टदायक दृश्यो का विवरण सुनाया। पुष्पचूल ने अनेक प्रकार के शान्तिपाठ करवाये पर देव पुष्पचूला को स्वप्नो में नरक के पहले दिखाये गये दृश्यो से और अधिक भयंकर दृश्य दिखाने लगा। राजा ने अनेक पाखण्डियो को बुला कर पुष्पचूला द्वारा देखे गये स्वप्नो के सम्बन्ध मे पूछा पर कोई पुष्पचूला द्वारा देखे गये दृश्यो का *यथातथ्यरूपेण* चित्रण कर उसकी जिज्ञासा को शान्त करने मे समर्थ नही हो सका।

अन्निकापुत्र के आगमन का समाचार सुन कर राजा और रानी ने उनसे भी उन स्वप्नों के सम्बन्ध में पूछा। अन्निका पुत्र ने नरको के नामोल्लेख के साथ-साथ पुष्पचूला द्वारा देखे गये सभी स्वप्नों का ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया जिस प्रकार से उसने (पुष्पचूला ने) स्वप्नो मे देखा था।

अपने स्वप्नो का बिना किसी न्यूनाधिक्य से वास्तविक चित्रण सुन कर पुष्पचूला ने प्रश्न किया – "भगवन्! क्या आपने भी कभी इस प्रकार के स्वप्न देखे हैं, जिसके कारण आप उन स्वप्नो का ठीक उसी प्रकार से वर्णन कर रहे है, जैसा कि मैंने देखा था ?"

यह सुन कर अन्निकापुत्र केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गगा की ओर चल पडे। गगातट पर पहुच कर अन्निकापुत्र भी अन्य लोगों के साथ नाव मे बैठे। नाव गगानदी मे प्रवाहित की गई। नाव जब गंगा के मध्य-भाग मे पहुची तो अचानक उस ओर से पानी मे डूबने लगी जिस ओर कि अन्निकापुत्र बैठे हुए थे। यह देख कर अन्निकापुत्र नाव मे दूसरी ओर बैठे। उनके बैठते ही नाव उस ओर से पानी मे डूबने लगी। जिस-जिस ओर अन्निकापुत्र सरकते, नाव उस ही ओर से पानी मे डूबने लगती। अन्त मे अन्निकापुत्र नाव के बीच मे बैठे तो पूरी नाव ही पानी मे डूबने लगी। यह देख कर नाव मे बैठे हुए अन्य व्यक्तियो ने अन्निकापुत्र को उठा कर गगा के प्रवाह मे फैक दिया।[1] अन्निकापुत्र शान्तभाव से प्राणिमात्र पर दया रखते हुए विचार करने लगे – "मेरे इस शरीर के द्वारा पानी के कितने जीवो का विनाश हो रहा है?"

इस प्रकार का विचार करते-करते अन्निकापुत्र का चिन्तन क्षपकश्रेणी पर आरूढ हुआ और उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। केवलज्ञान की प्राप्ति के तत्काल पश्चात् अन्निकापुत्र शुक्लध्यान के तीजे और चौथे चरण मे प्रविष्ट हुए और उस ही समय समस्त कर्मो को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

मत्स्य, मच्छ आदि जलचर प्राणियो ने मुनि के पार्थिव शरीर को खा डाला और उनकी करोटी (ठुड्डी सहित कपाल) धड से अलग हो गगा की धाराओ मे इधर-उधर बहती हुई गगा के किनारे एक स्थान पर आ लगी। सयोगवश पाटली वृक्ष का बीज उस करोटी मे आ घुसा और कुछ ही समय पश्चात् उस करोटी की दाहिनी हनु (ठुड्डी) को फोड कर एक पाटल वृक्ष का छोटा सा पौधा अकुरित हुआ। वह पौधा समय पाकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर गया। यह वही पाटली का पवित्र वृक्ष है, जिस पर कि यह चाष पक्षी बैठा हुआ है।"

वृद्ध नैमित्तिक से पाटली वृक्ष के सम्बन्ध मे सारा विवरण सुन कर अन्य सभी नैमित्तिक आश्चर्यभरी दृष्टि से उस पाटली वृक्ष को देखने लगे।

---

[1] आवश्यक चूर्णि। आवश्यक हारिभद्रीया, पत्र ६८६

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि ज्यो ही अन्निकापुत्र को गगानदी मे फैका गया त्यो ही पूर्वजन्म मे वैर रखने वाली एक व्यन्तरी ने उन्हे शूल पर उठा लिया। शूल से बिंधे हुए अन्निकापुत्र ने उत्कट भावनाओ के माध्यम से केवलज्ञान प्राप्त किया और तत्काल वे मुक्त हुए।

यथा ततो नौस्थितलोकेन, सूरि चिक्षेपि वारिणि।
शूले न्यधात्प्रवचनप्रत्यनीकामरी च तम् ॥१६५॥
शूलप्रोतो पि गगान्त सूरिरेवमचिन्तयत्।
अहो वपुर्ममानेकप्राण्युपद्रवकारणम् ॥१६६॥ [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

पुष्पचूला ने अपने पति के उस आग्रह को स्वीकार कर दीक्षा ग्रहण कर ली एव पूर्णरूपेण निर्दोष श्रमणाचार का पालन करते हुए शास्त्रो का अध्ययन किया और वह राजप्रासाद मे रहकर घोर तपश्चर्याए करने लगी।

कालान्तर मे अन्निकापुत्र ने अपने ज्ञान से भावी द्वादशवार्षिक भीषण दुष्काल का आगमन जान कर अपने श्रमणसघ को अन्यत्र भेज दिया और वे जराजीर्ण शिथिलाग होने के कारण पुष्पभद्रा नगरी मे ही रहे।

वृद्धावस्था के कारण अन्निकापुत्र को चलने फिरने मे भी कठिनाई होती थी अत आर्या पुष्पचूला प्रतिदिन राजप्रासाद के अन्त पुर से निर्दोष आहार-पानी समय पर ला कर देती। ससार की असारता के चिन्तन एव अपने वृद्ध गुरु अन्निकापुत्र की बड़ी लगन के साथ उत्कट भावना से सेवा करने के फलस्वरूप पुष्पचूला को एक दिन केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब तो पुष्पचूला केवलज्ञान की धारिका होने के कारण अन्निकापुत्र के मन मे जिस-जिस कार्य अथवा वस्तु के लिये विचार उत्पन्न होता उसे तत्काल पूर्ण कर देती। एक दिन अन्निकापुत्र ने पूछा – "जिस वस्तु की जिस समय मै इच्छा करता हू, तत्काल वह वस्तु मुझे मिल जाती है। तुम्हे मेरे मनोगत विचारो का ज्ञान कैसे हो जाता है?"

पुष्पचूला ने उत्तर दिया – "भगवन्! मै आपकी रुचि को पहचानती हू।"

एक दिन वर्षा हो रही थी, उस समय पुष्पचूला ने आहार ला कर अन्निकापुत्र के समक्ष रखा। उन्होने कहा – "तुम तो श्रमणाचार को सुचारु रूप से जानने वाली और सम्यक्रूपेण पालन करने वाली हो, फिर इस वर्षा मे तुम आहार ले कर कैसे आई?"

पुष्पचूला ने कहा – "भगवन्! जिस मार्ग मे पानी अचित्त हो गया, उस मार्ग से मै आहार-पानी लायी हू। अत आहार लाने मे किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नही लगा है।"

"वत्से! तुमने यह कैसे जान लिया कि उस मार्ग मे अप्काय (जल) अचित्त (जीवरहित) हो गया है?" अन्निकापुत्र ने साश्चर्य प्रश्न किया।

केवली पुष्पचूला ने कहा – "भगवन्! मुझे केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई है।"

यह सुनते ही अन्निकापुत्र ने पश्चात्ताप भरे स्वर मे कहा – "भगवती! आप मुझे क्षमा करे। मैने केवलज्ञानी की आसातना की है। मेरा वह पाप निष्फल हो जाय।"

अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण स्वर मे अन्निकापुत्र ने केवली पुष्पचूला से पूछा – "प्रभो! मुझे निर्वाण की प्राप्ति होगी अथवा नही?"

केवली पुष्पचूला ने कहा – "आप चिन्ता न करे! गगा नदी को पार करते समय आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हो जायगी।"

उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृप ।
स वै पुरवर राजा पृथिव्या कुसुमाह्वय ।
गगाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ।।१७८।। [वा० पु० अ० ६१]

जैन एव बौद्ध ग्रन्थो, वैदिक परम्परा के पुराणग्रन्थो और गर्ग सहिता मे यही अभिमत सर्वसम्मत रूप से दिया गया है कि मगधपति उदायी, उदयाश्व अथवा उदाई भट्ट ने पाटलीपुत्र नगर बसाया । वायुपुराण मे कूणिक का दर्शक के नाम से परिचय दिया गया है ।

अशोक की राज्य-सभा मे यूनान की ओर से मेगेस्थनीज नामक राजदूत कई वर्षो तक पाटलीपुत्र मे रहा । उसने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे पाटलीपुत्र का वर्णन करते हुए लिखा है

"पाटलीपुत्र नगर का आवासस्थल ८० स्टुडिया अर्थात् ९½ माइल लम्बा, १५ स्टुडिया अर्थात् १ माइल और १२७० गज चौडा है । इसके चारो ओर लकडी का एक बडा सुदृढ परकोटा बना हुआ है जिसमे ५७० कोठे, (बुर्ज) और ६४ दरवाजे बने हुए है । इस परकोटे को चारो ओर से घेरे हुए एक खाई है, जो ६० फीट गहरी और २०० गज चौडी है ।"

वर्तमान मे परिवर्तित रूप से पाटलीपुत्र आज भी विद्यमान है, जिसको पटना कहते है ।

जो कोई भी नवागन्तुक पाटलीपुत्र को देखता, उसके मुख से सहसा यही उद्गार निकल पडते – "अरे ! यह तो असीम आकाश मे अवस्थित सुरलोक की राजधानी अलकापुरी ही अवनीतल पर अवतरित हो गई है ।"

इस प्रकार स्वल्प समय मे ही पाटलीपुत्र की ख्याति दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो गई । देश-देशान्तरो से बडे-बडे लक्ष्मीपति श्रेष्ठी, उद्योगपति, समस्त विद्याओ के पारगामी विद्वान्, ज्योतिर्विद, साहित्यिक, आयुर्वेद-विशारद, वैयाकरणी, सामन्त, शिल्पी और कलाकार आदि आ-आ कर पाटलीपुत्र के स्थायी निवासी बनने लगे ।

महाराज उदायी द्वारा पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बनाये जाने के पश्चात् पाटलीपुत्र भारतवर्ष का एक प्रमुख, सुन्दर, समृद्ध और अजेय नगर समझा जाने लगा । शनै शनै पाटलीपुत्र उद्योग, व्यापार, कलाकौशल, सस्कृति, शिक्षा और धर्म का एक बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया । उदायी ने स्वय द्वारा बसाये गये इस नगर की श्री-अभिवृद्धि मे किसी प्रकार की कोर-कसर न रखी । वह पाटलीपुत्र मे रहते हुए न्याय, नीति और धर्मपूर्वक शासन करने लगे । उन्होने अपनी मन्त्रिपरिषद, माण्डलिक राजाओ, सामन्तो, विद्वानो, विशेषज्ञो और महापौरो के परामर्श से सभी वर्गो के लोगो के लिये सभी प्रकार की सुख-सुविधाओ का समुचित रूप से यथासमय प्रबन्ध कर पाटलीपुत्र की बहुमुखी प्रगति करने मे बडी तत्परता से कार्य किया । उदायी बडा दुर्धर्ष योद्धा, नीति-निपुण और कुशल शासक था । उसने उद्दण्ड सामन्तो और युद्धप्रिय राजाओ को

तदनन्तर वह विशेषज्ञो का दल मगध की राजधानी के लिये नवीन नगर बसाने हेतु उस स्थान को सर्वश्रेष्ठ स्थान निश्चित कर महाराज उदायी के पास चम्पा पहुचा। उन लोगो से उस स्थान की विशेषता और महिमा सुन कर मगधपति उदायी बडा प्रसन्न हुआ। उसने मुख्यामात्य को आदेश दिया कि शुभ मुहूर्त मे गंगा के तट पर पाटली वृक्ष के पास नगर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाय।

महाराज उदायी के आदेशानुसार इस कार्य से सम्बन्धित मगध के उच्च निर्माण अधिकारी, स्थापत्य एवं वास्तुकला के लब्धप्रतिष्ठ शिल्पी, निमित्तज्ञ और हजारो कर्मकार गगातट पर पाटली वृक्ष के पास पहुचे। नगरी के लिये आवश्यक भूमि का माप करना प्रारम्भ किया गया। नाप करने के लिये साकले (जरीबें) डाली जाने लगीं। मुख्य नैमित्तिक ने कहा – "डोरी को पकडे हुए पहले पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर बढो। जब तक शृगाल न बोले तब तक पश्चिम दिशा की ओर बढते ही जाओ। शृगाल के बोलते ही वहा रुक जाओ और फिर पश्चिम दिशा से उत्तर दिशा की ओर बढते जाओ। उत्तर दिशा मे भी बढते हुए जिस जगह पहुचने पर शृगाल की ध्वनि सुनो वही रुक जाओ और फिर वहां से पूर्व दिशा की ओर बढो। शृगाल का शब्द सुनते ही पूर्व की ओर बढना भी रोक दो तथा वहा से दक्षिण दिशा की ओर बढना प्रारम्भ करो और शृगाल के बोलते ही वहा रुक जाओ।"

नैमित्तिक के परामर्शानुसार पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से उत्तर, उत्तर से पूर्व और अन्त मे पूर्व से दक्षिण की ओर डोरी डालने वाले बढ़े। शृगाल के बोलते ही उस दिशा की ओर बढना बन्द कर उपरिवर्णित दिशाक्रम से बढते गये और इस प्रकार नगर बसाने के लिए एक सुविस्तीर्ण भूखण्ड का माप किया जाकर उस पर चारों ओर चिन्ह अकित कर दिये एवं नगर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। उस नगर के निर्माण में छोटे-से-छोटे कर्मकार से लेकर बडे-से-बड़े शिल्पी ने अथक श्रम, अद्भुत कला-कौशल, और उत्कट कर्त्तव्यपरायणता का परिचय दिया। विस्तीर्ण राजपथो, सुन्दर मुख्य मार्गो, सीधे उपमार्गो, गगनचुम्बी राजप्रासादों, भव्य भवनो, विशाल व्यापारिक केन्द्रों, अति सुरम्य अतिथिगृहों, आकर्षक बाजारों, स्थान-स्थान पर वापियों, कूपो, तडागो एव वाटिकाओ आदि से सुशोभित अति कमनीय नगरी का निर्माण पूरा हुआ। शुभ मुहूर्त मे उदायी ने उस नगर का नाम पाटलीपुत्र रखा और मगध की राजधानी चम्पा से हटाकर इसी पाटलीपुत्र में प्रतिष्ठापित की।

सोन नदी और गगा नदी के सगम स्थल के पास गगा नदी के दक्षिणी तट पर पाटलीपुत्र नामक यह नगर मगधपति उदायी ने अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष में बनवाया, इस प्रकार का उल्लेख वायुपुराण मे किया गया है। यथा –

अष्टाविशत्समा राजा बिबिसारो भविष्यति।
पचविंशत्समा राजा दर्शकस्तु भविष्यति ॥१७७॥

पूर्ण विश्वास होने के कारण सुरक्षा व्यवस्था उन दिनो मे केवल पौषधशाला के बाहर ही रहती है । पौषधशाला के अभ्यन्तर कक्ष मे किसी प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था नही रहती । अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उस विद्रोही राजकुमार ने एक आचार्य की सेवा मे उपस्थित हो निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण की । अपने अन्तर मे प्रतिशोध की आग को गुप्त रखते हुए वह प्रकट मे सभी प्रकार के श्रमणाचार का समीचीन रूप से पालन करने लगा । विनय, परिचर्या आदि गुणो के कारण वह स्वल्प समय मे ही सब साधुओ का विश्वासपात्र और प्रीतिभाजन बन गया ।

इस प्रकार उस विद्रोही राजकुमार को श्रमणाचार का पालन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये । विविध क्षेत्रो मे विहार करते हुए जैनाचार्य एक दिन पाटलीपुत्र नगर मे पधारे । अष्टमी के दिन उदायी ने उन आचार्य को राजप्रासाद मे अवस्थित अपनी पौषधशाला मे उपदेश देने के लिये प्रार्थना की । उदायी की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उन आचार्य महाराज ने अपने उस छद्मवेषधारी शिष्य को उपकरणादि ले कर राजप्रासाद मे चलने के लिये कहा । अपने चिर-प्रतीक्षित कार्य की सिद्धि का समय सन्निकट आया समझ कर वह छद्मवेषधारी शिष्य मन ही मन बडा प्रसन्न हुआ । उसने अन्य उपकरणो के साथ-साथ अपनी दीक्षा के समय से ही छुपाकर साथ मे रखी हुई ककलोहनिर्मित छुरी भी अपने साथ रख ली और वह अपने धर्माचार्य का पदानुसरण करता हुआ राजप्रासाद मे पहुच गया । उदायी ने भक्तिपूर्वक आचार्य और उनके शिष्य को सविधि वन्दन कर पौषधव्रत ग्रहण किया । आचार्य श्री ने राजकीय पौषधशाला मे प्रवचन दिये । दिन भर उदायी ने आचार्य महाराज की सेवा मे रह कर उनसे धर्मचर्चा की । रात्रि मे भी एक प्रहर तक धर्मचर्चा का क्रम चलता रहा । तदन्तर अपने शिष्य सहित धर्माचार्य और महाराजा उदायी ने पौषधशाला मे ही शयन किया । महाराजा उदायी और आचार्य को निद्राधीन समझ कर वह छद्मवेषधारी साधु चुपके से उठा और बडी सावधानी से उदायी के पास आया । उसने १२ वर्ष पूर्व अपने पास छुपा कर रखी हुई तीक्ष्ण छुरी को दाहिने हाथ मे दृढतापूर्वक पकडा और उससे उदायी की गर्दन काट दी । उदायी की हत्या करने के पश्चात् वह साधु वेषधारी विद्रोही राजकुमार पौषधशाला से बाहर निकला । "यह साधु शारीरिक शका की निवृत्ति हेतु बाहर जा रहा होगा" यह समझ कर द्वारपालो ने उसे नही रोका और इस प्रकार वह उदायी का हत्यारा पाटलीपुत्र से भाग निकलने मे सफल हुआ ।

उदायी के धड और मस्तक से बहे रुधिर से आर्द्र होने पर आचार्य की निद्रा भग हुई । उदायी की कटी हुई ग्रीवा के पास ही लहू से लथपथ छुरी और अपने शिष्य की अनुपस्थिति को देख कर उन्हे वस्तुस्थिति को समझने मे अधिक विलम्ब नही हुआ । उन्हे तत्काल विश्वास हो गया कि उनके शिष्य के वेष मे वस्तुत उदायी का कोई घोर शत्रु छुपा हुआ था और वह उदायी की हत्या करने के पश्चात् वहाँ से पलायन कर गया है । जिनशासन और जिनवाणी को अपकीर्त्ति

युद्ध मे पराजित कर मगध के विशाल राज्य को निष्कटक-शत्रुविहीन बना कर प्रजा को सुशासन दिया।

कुशल राजनीतिज्ञ एव सुयोग्य शासक होने के साथ-साथ उदायी बड़े ही धर्मनिष्ठ थे। उनके हृदय मे जैनधर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा थी। वे प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन नियमित रूप से पौषध किया करते थे।

अपने शासन को सुदृढ बनाने हेतु उन्होने अनेक उद्धत राजाओ एव सामन्तों की सैन्यशक्ति को विच्छिन्न कर उन्हे राज्यच्युत किया। एक समय अपने वशवर्ती इसी प्रकार के एक उद्दण्ड राजा द्वारा उनके प्रति किये गये विद्रोह को दबाने के लिये उदायी ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। युद्ध मे वह विद्रोही राजा बुरी तरह पराजित हुआ और इसी शोक से कुछ ही समय पश्चात् उसका प्राणान्त हो गया। उस मृत विद्रोही राजा का बडा राजकुमार अपने पिता की मृत्यु और राज्य छिन जाने से क्रुद्ध हो उदायी से बदला लेने की सोचने लगा। भीषण प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो वह उज्जयिनी गया। उस समय उज्जयिनी मे चण्डप्रद्योत के पौत्र का राज्य था।

चण्ड प्रद्योत और श्रेणिक के समय से ही मगध और मालवा के राजवशो मे परस्पर शत्रुता एव स्पर्धापूर्ण सम्बन्ध चले आ रहे थे। अत राजकुमार ने मालवपति की सेवा मे उपस्थित हो उदायी से प्रतिशोध लेने का अपना संकल्प प्रकट किया। उदायी जैसे प्रबल प्रतापी एव शक्तिशाली राजा के साथ खुले रूप मे टक्कर लेने का मालवपति साहस न कर सका और उसने केवल मौखिक सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे यह कह कर विदा किया कि उपयुक्त अवसर आने पर ही कुछ किया जा सकता है।

विद्रोही राजकुमार के हृदय में प्रतिशोध की अग्नि प्रचण्ड वेग से प्रज्वलित हो रही थी। उचित अवसर की प्रतीक्षा करने का उसमे धैर्य नही रहा अत वह राजकुमार छद्म वेष मे पाटलिपुत्र पहुंचा और महाराजा उदायी पर कपट-पूर्वक प्राणघातक प्रहार करने की अन्तर मे दुराशा छुपाये रात-दिन किसी उपयुक्त अवसर की टोह मे रहने लगा। विद्रोही राजकुमार ने उदायी के प्राणो से अपनी प्यास बुझाने के मार्ग मे सभी प्रकार के छल-छद्म का सहारा लिया किन्तु राजकीय सुदृढ रक्षा व्यवस्था के कारण उसे अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में किंचित्मात्र भी सफलता प्राप्त नही हुई। अपनी असफलता पर हताश होने के स्थान पर वह प्रतिशोध लेने के लिये दिन प्रतिदिन और अधिक उत्तेजित रहने लगा। अहर्निश इस उधेड-बुन में रहते-रहते अन्ततोगत्वा उसने अपनी उद्देश्यपूर्त्ति के लिये एक जघन्य उपाय ढूंढ निकाला।

उसने देखा कि उदायी जैन साधुओ का अनन्य भक्त है। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को वह अपनी पौषधशाला में श्रमणो को आमन्त्रित करता है और उनसे पौषध ग्रहण कर अहर्निश उनकी सेवा मे रहता है। श्रमणो पर

सुनाया। उपाध्याय स्वप्नशास्त्र का मर्मज्ञ था। नन्द के मुख से उसके स्वप्नदर्शन की बात सुनकर वह उसे अपने घर ले गया। वहा उसने नन्द को नहला-धुला एव सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलकृत कर उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। उपाध्याय की पुत्री के साथ पाणिग्रहण सस्कार होने के उपरान्त नन्द उपाध्याय के घर पर ही रहने लगा। उपाध्याय ने नन्द के लिये एक सुन्दर पालकी का प्रवन्ध कर दिया, जिसमे बैठकर नन्द अपनी इच्छानुसार नगर मे परिभ्रमण करने लगा।

मगधपति उदायी के कोई पुत्र नही था, इसलिये उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी के रूप मे, किसको मगध के राज्यसिहासन पर अभिषिक्त किया जाय, यह प्रश्न मत्रियो एव अधिकारियो के समक्ष उपस्थित हुआ। बडे विचार-विनिमय के पश्चात् मन्त्रियो द्वारा उदायी के पट्टहस्ती, प्रमुख अश्व, छत्र, कुम्भकलश और चवरो को मन्त्राभिषिक्त किया गया एव उन्हे राज्यप्रासाद की परिधि मे घुमाया जाने लगा। कुछ समय तक प्रासाद के प्रागण मे घुमाने के पश्चात् पट्टहस्ती, प्रधान अश्व आदि पाचो दिव्य प्रासाद के वाहर आये। पालकी मे आसीन नन्द को उधर से निकलते हुए देखकर पट्टहस्ती ने चिघाड़ते हुए अपनी सूड से कुम्भकलश को उठाकर उसके जल से नन्द का अभिषेक कर दिया। प्रधानाश्व भी नन्द के पास पहुचा और नन्द को उसने अपनी पीठ पर बैठा लिया। ज्योही नन्द उस प्रधानाश्व की पीठ पर बैठा त्योही वह प्रधानाश्व हर्षातिरेक-वशात् बडे जोर-जोर से हिनहिनाने लगा। उदायी का राजछत्र भी स्वत ही नन्द के मस्तक पर तन गया और नन्द के दोनो ओर मन्त्राधिष्ठित वे दोनो चामर स्वत ही अदृश्य शक्ति से प्रेरित हो व्यजित होने लगे।

यह सब चमत्कार देखकर अमात्यो, मन्त्रियो, प्रमुख पौरो एव नागरिको ने मिलकर वडे आनन्दोल्लास एव उत्सव के साथ नन्द का मगध के राज्यसिहासन पर राज्याभिषेक कर दिया। नन्द का मगध के सिहासन पर यह राज्याभिषेक वीर निर्वाण के पश्चात् ६० वर्ष व्यतीत हो जाने पर वीर नि० स० ६१ मे हुआ।[१] प्रारम्भ मे नन्द के सामन्तो, द्वारपालो और अगरक्षको तक ने उसे नापितपुत्र समझकर उसका सम्मान, आज्ञापालन आदि नही किया किन्तु कुछ ही समय मे उसके प्रवल पुण्य के प्रताप से वे सभी उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरश पालन करने लगे। राजा नन्द किसी सुयोग्य एव विश्वासपात्र व्यक्ति को अपने कुमारा-मात्य के पद पर नियुक्त करना चाहता था। अत वह रातदिन किसी ऐसे व्यक्ति की खोज मे रहने लगा।

महान् अमात्य वंश का उद्भव

पाटलिपुत्र नगर मे मगध की राजधानी स्थानान्तरित हो जाने के अनन्तर कपिल नामक एक विद्वान् एव अग्निहोत्री ब्राह्मण अपनी गृहिणी के साथ पाटलि-

[१] अनन्तर वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
गताया षष्टिवात्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृप ।।२४३।। [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६]

से बचाने के लिये उन्होंने तत्काल अपना प्राणान्त करने का निश्चय किया। आलोचना-प्रतिक्रमण करके आचार्य महाराज ने उदायी के हत्यारे द्वारा घटना-स्थल पर छोडी गई छुरी से अपना मस्तक काट कर अपना प्राणान्त कर लिया।[1] इस प्रकार आवश्यक चूर्णि, आवश्यक वृत्ति, परिशिष्ट पर्व आदि प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण संवत् ६० में, आर्य जम्बूस्वामी के संघाधिनायकत्व काल मे ही शिशुनागवंश के अन्तिम राजा संततिविहीन उदायी की हत्या के साथ ही मगध राज्य पर शिशुनागवश का आधिपत्य समाप्त हो गया। उदायी का हत्यारा विद्रोही राजकुमार साधुवेष का परित्याग कर उज्जयिनी के अधीश्वर के पास पहुंचा और उसे स्वय द्वारा की गई उदायी की हत्या का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उज्जयिनी के महाराजा ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा – "बारह वर्ष की लम्बी अवधि तक महान् आचार्य की सेवा मे रहते हुए श्रमणाचार के पालन करने के अनन्तर भी तुम्हारी पाशविक मनोवृत्ति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन नही आया, इससे सिद्ध होता है कि तुम एकान्तत: अविश्वसनीय नराधम हो। तुम यथाशीघ्र मेरी राज्य-सीमा से बाहर निकल जाओ।"

अवन्तीपति द्वारा तिरस्कृत हो कर वह विद्रोही राजकुमार वहां से चला गया। वह जहा कही जाता लोगों द्वारा यह कह कर दुत्कारा जाता कि यह उदायीमारक है।

अनेक इतिहासज्ञो द्वारा आशका प्रकट की जाती है कि कौशाम्बी के राजा उदयन के जीवन की अन्तिम घटना को मगधपति उदायी के साथ किसी समय भ्रान्तिवश अथवा भूल से जोड दिया गया है। उनका अभिमत है कि वत्सपति उदयन पुत्र विहीन था और उसके किसी शत्रु ने साधु का छद्मवेष धारण कर उसकी हत्या की थी। मगधपति उदायी न तो पुत्र विहीन ही था और न उसकी किसी के द्वारा हत्या ही की गई थी। वस्तुत· यह एक गहन शोध का विषय है। भारतीय वाङ्मय से भिन्न 'महावशो' के एतद्विषयक कतिपय उल्लेखों से इस प्रश्न की जटिलता और भी बढ गई है।

नन्दवंश का अभ्युदय

प्राय. श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक चूर्णि आदि सभी ग्रन्थो में नन्दवश के अभ्युदय के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है :–

मगधपति महाराजा उदायी की हत्या से कुछ समय पूर्व वेश्या के गर्भ से उत्पन्न पाटलिपुत्र निवासी नन्द नामक एक नापित पुत्र ने रात्रि की अवसान वेला मे स्वप्न देखा कि उसने अपनी आतो से समस्त पाटलिपुत्र नगर को परिवेष्टित कर लिया है। नन्द ने प्रात काल होते ही अपने उपाध्याय को अपना स्वप्न

[1] रुहिरेण आयरिया पच्चालिया, उट्ठिया, पेच्छति रायाणग वावाइय, मा पवयणस्स उड्डाहो होहित्ति आलोइय पडिक्कतो अप्पणो सीस छिदेई, कालगओ से एव।
[आवश्यक हारिभद्रीया, पत्र ६९०]

सुनाया। उपाध्याय स्वप्नशास्त्र का मर्मज्ञ था। नन्द के मुख से उसके स्वप्नदर्शन की बात सुनकर वह उसे अपने घर ले गया। वहा उसने नन्द को नहला-धुला एव सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलकृत कर उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। उपाध्याय की पुत्री के साथ पाणिग्रहण सस्कार होने के उपरान्त नन्द उपाध्याय के घर पर ही रहने लगा। उपाध्याय ने नन्द के लिये एक सुन्दर पालकी का प्रवन्ध कर दिया, जिसमे बैठकर नन्द अपनी इच्छानुसार नगर मे परिभ्रमण करने लगा।

मगधपति उदायी के कोई पुत्र नही था, इसलिये उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी के रूप मे, किसको मगध के राज्यसिहासन पर अभिषिक्त किया जाय, यह प्रश्न मत्रियो एव अधिकारियों के समक्ष उपस्थित हुआ। वडे विचार-विनिमय के पश्चात् मन्त्रियो द्वारा उदायी के पट्टहस्ती, प्रमुख अश्व, छत्र, कुम्भकलश और चवरो को मन्त्राभिषिक्त किया गया एव उन्हे राज्यप्रासाद की परिधि मे घुमाया जाने लगा। कुछ समय तक प्रासाद के प्रागण मे घुमाने के पश्चात् पट्टहस्ती, प्रधान अश्व आदि पाचो दिव्य प्रासाद के वाहर आये। पालकी मे आसीन नन्द को उधर से निकलते हुए देखकर पट्टहस्ती ने चिघाडते हुए अपनी सूड से कुम्भकलश को उठाकर उसके जल से नन्द का अभिषेक कर दिया। प्रधानाश्व भी नन्द के पास पहुचा और नन्द को उसने अपनी पीठ पर वैठा लिया। ज्योही नन्द उस प्रधानाश्व की पीठ पर बैठा त्योही वह प्रधानाश्व हर्षातिरेक-वशात् वडे जोर-जोर से हिनहिनाने लगा। उदायी का राजछत्र भी स्वत· ही नन्द के मस्तक पर तन गया और नन्द के दोनो ओर मन्त्राधिष्ठित वे दोनो चामर स्वत ही अदृश्य शक्ति से प्रेरित हो व्यजित होने लगे।

यह सब चमत्कार देखकर अमात्यो, मन्त्रियो, प्रमुख पौरो एव नागरिको ने मिलकर वडे आनन्दोल्लास एव उत्सव के साथ नन्द का मगध के राज्यसिहासन पर राज्याभिषेक कर दिया। नन्द का मगध के सिहासन पर यह राज्याभिषेक वीर निर्वाण के पश्चात् ६० वर्ष व्यतीत हो जाने पर वीर नि० स० ६१ मे हुआ।[१] प्रारम्भ मे नन्द के सामन्तो, द्वारपालो और अगरक्षको तक ने उसे नापितपुत्र समझकर उसका सम्मान, आज्ञापालन आदि नही किया किन्तु कुछ ही समय मे उसके प्रवल पुण्य के प्रताप से वे सभी उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरश· पालन करने लगे। राजा नन्द किसी सुयोग्य एव विश्वासपात्र व्यक्ति को अपने कुमारा-मात्य के पद पर नियुक्त करना चाहता था। अत वह रातदिन किसी ऐसे व्यक्ति की खोज मे रहने लगा।

महान् अमात्य वश का उद्भव

पाटलिपुत्र नगर मे मगध की राजधानी स्थानान्तरित हो जाने के अनन्तर कपिल नामक एक विद्वान् एव अग्निहोत्री ब्राह्मण अपनी गृहिणी के साथ पाटलि-

[१] अनन्तर वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
गताया षष्टिवात्सर्यामेप नन्दोऽभवन्नृप ॥२४३॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६]

पुत्र नगर में आया और वह उस नगर से कुछ ही दूर पर घर बनाकर वहां निवास करने लगा। कालान्तर में एक स्थविर मुनि अपने शिष्यो सहित विचरण करते हुए कपिल ब्राह्मण के निवासस्थान पर पहुंचे। उस समय सूर्यास्त होने ही वाला था इसलिये वे मुनि कपिल से आज्ञा प्राप्त कर अपने शिष्यो सहित उसकी यज्ञशाला में रात्रिविश्राम के लिये ठहर गये।

कपिल के मन मे यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ये जैन साधु धर्म के गूढ रहस्य और तत्वों के ज्ञाता है या नही। वह रात्रि के समय उनके पास पहुंचा और उसने उन मुनि के साथ धर्मचर्चा प्रारम्भ की। मुनि के मुख से जीव, अजीवादि तत्वो और धर्म की अश्रुतपूर्व विशद व्याख्या सुनकर वह मुनि-चरणो में श्रद्धावनत हो गया और उन्हें अपना गुरु बनाकर उसने उनसे श्रमणोपासक धर्म अगीकार कर लिया।[1] दूसरे दिन वे मुनि वहां से विहार कर अन्यत्र विचरण करने लगे।

कपिल द्वारा श्रावकधर्म स्वीकार किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् एक अन्य आचार्य विहारक्रम से विचरण करते हुए वहा पहुचे और कपिल से अनुज्ञा प्राप्त कर उसके घर में ठहरे। दूसरे ही दिन कपिल की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उस नवजात शिशु को व्यन्तरियो ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर निश्चेष्ट कर दिया। कपिल जैन साधुओ के तप, त्याग एवं तेजस्विता से बडा प्रभावित था। उसने अपने उस निस्संज्ञ पुत्र को उठाकर साधुओ द्वारा सुखाने के लिये उल्टे रखे गये एक पात्र के नीचे रख दिया। उन तपोधन महर्षियो के पात्रजल के स्पर्शमात्र से ही शिशु व्यन्तरियों के दुष्ट प्रभाव से सदा के लिये विमुक्त हो पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गया। मुनियों द्वारा कल्प किये जाने वाले पात्रो के जल के प्रभाव से उस शिशु की जीवन-रक्षा हुई, इस स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये कपिल ने अपने उस पुत्र का नाम कल्पाक रखा। कल्पाक ने अपने पिता से समस्त विद्याओ एवं जैनागमो का अध्ययन किया। कालान्तर मे कल्पाक के माता और पिता का देहान्त हो गया।

कल्पाक अपने समय का एक उच्च कोटि का विद्वान् था। उसके घर पर विभिन्न विषयो के विद्यार्थियों की भीड़ रहने लगी। कल्पाक जब नगर मे जाता तो उसके पीछे उसके शिष्यों की भीड़ लग जाती। पाटलिपुत्र के निवासी कल्पाक का बड़ा सम्मान करते थे। अपने पिता द्वारा प्राप्त श्रावक धर्म के संस्कारों के कारण कल्पाक बड़ा सतोषी विद्वान् था। धन-सम्पत्ति के सग्रह करने का कभी कोई विचार तक भी उसके मन में उत्पन्न नही हुआ। अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी कन्याओ के साथ पाणिग्रहण कर लेने की प्रार्थनाएं कल्पाक से की पर कल्पाक ने विवाह करना स्वीकार नही किया।

---

[1] तस्यामेव हि तामस्या धर्मदेशनया तया ।
श्रावक. कपिलो जज्ञेऽथाचार्या ययुरन्यतः ॥१३॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ७]

कल्पाक जिस मार्ग द्वारा अपने घर से पाटलिपुत्र नगर मे जाता-आता था, उस ही मार्ग पर एक ब्राह्मण रहता था । उसकी एक कन्या जलोदर रोग से ग्रस्त थी अत· अनिन्द्य सुन्दरी होते हुए भी किसी ब्राह्मण कुमार ने उसके साथ विवाह करना स्वीकार नही किया। उस कन्या के रजस्वला होने पर ब्राह्मण बडा चिन्तित हुआ और अपने आपको भ्रूण हत्या करने वाले अपराधी के तुल्य पापी समझते हुए अपनी कन्या के विवाह का कोई उपाय सोचने लगा। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसे एक उपाय सूझा। उसने अपने घर के सम्मुख मार्ग के पास ही कूपतुल्य एक गड्ढा खोदा और कल्पाक को इस मार्ग से आते देखकर उसने अपनी कन्या को उस गड्ढे मे ढकेल दिया और जोर-जोर से चिल्लाने लगा – "जो व्यक्ति मेरी कन्या को इस गहरे गड्ढे मे से निकालेगा उस ही को मै अपनी यह कन्या दे दूगा।"

कल्पाक कन्या के गड्ढे मे गिर पडने की बात सुनते ही दौड़ कर गड्ढे के पास गया। उस ब्राह्मण के अन्तिम वाक्य को कल्पाक ने नहीं सुना। वह दया से द्रवीभूत हो गड्ढे मे उतरा और उस कन्या को पकड कर गड्ढे से बाहर ले आया। ब्राह्मण ने कल्पाक से कहा – "मैने उच्च-स्वर मे कहा था कि जो इस कन्या को इस कूपिका से निकालेगा उस ही को मै यह कन्या दूँगा। मेरी उस प्रतिज्ञा को सुन कर आपने इसे निकाला है अत आप इसके साथ पाणिग्रहण कीजिये। आप सत्यसन्ध है।" कल्पाक उस ब्राह्मण की बात सुन कर अवाक् खडा का खडा रह गया। अन्ततोगत्वा विवाह करने की इच्छा न होते हुए भी उसे उस ब्राह्मण-कन्या के साथ विवाह करने की स्वीकृति देनी पडी। सकल विद्यानिष्णात कल्पाक ने आयुर्वेदिक औषधियो के प्रयोग से उस ब्राह्मण कन्या को जलोदर रोग से विमुक्त कर उसके साथ विवाह कर लिया।

कल्पाक की विद्वत्ता और प्रत्युत्पन्नमती सम्बन्धी यशोगाथाए सुन कर महाराज नन्द ने उसे अपना कुमारामात्य बनाने का निश्चय कर अपने पास बुलाया और उसे मगध राज्य के प्रधानामात्य का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। कल्पाक ने नन्द की प्रार्थना को अस्वीकृत करते हुए कहा – "राजन् ! समय पर दो रोटी के अतिरिक्त मुझे और किसी प्रकार का परिग्रह बढाने की इच्छा नही है। महत्वाकाक्षाओ से विहीन मेरे जैसे धर्मभीरु व्यक्तियो के लिये अमात्य जैसे गुरुतर पद के कर्त्तव्यो का निर्वहन करना सम्भव नही। अत आप मुझे क्षमा प्रदान कीजिये, मै इस पद को ग्रहण करने मे असमर्थ हू।"

कल्पाक द्वारा अपनी आज्ञा की अवहेलना से नन्द को बडा क्षोभ हुआ और वह उसे अपनी इच्छानुसार अपना आज्ञावर्ती अमात्य बनाने के लिये अहर्निश कल्पाक मे किसी प्रकार के छिद्र का अन्वेषण करने मे प्रयत्नशील रहने लगा। बहुत प्रयास करने पर भी नन्द उस स्वल्पसन्तोषी निरभिलाषी कल्पाक मे किसी प्रकार का दोष न पा सका। बहुत सोच-विचार के पश्चात् नन्द ने अपने रजक

पुत्र नगर में आया और वह उस नगर से कुछ ही दूर पर घर बनाकर वहा निवास करने लगा। कालान्तर मे एक स्थविर मुनि अपने शिष्यो सहित विचरण करते हुए कपिल ब्राह्मण के निवासस्थान पर पहुचे। उस समय सूर्यास्त होने ही वाला था इसलिये वे मुनि कपिल से आज्ञा प्राप्त कर अपने शिष्यो सहित उसकी यज्ञशाला मे रात्रिविश्राम के लिये ठहर गये।

कपिल के मन मे यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ये जैन साधु धर्म के गूढ रहस्य और तत्वो के ज्ञाता है या नही। वह रात्रि के समय उनके पास पहुंचा और उसने उन मुनि के साथ धर्मचर्चा प्रारम्भ की। मुनि के मुख से जीव, अजीवादि तत्वो और धर्म की अश्रुतपूर्व विशद व्याख्या सुनकर वह मुनि-चरणो मे श्रद्धावनत हो गया और उन्हें अपना गुरु बनाकर उसने उनसे श्रमणोपासक धर्म अगीकार कर लिया।[1] दूसरे दिन वे मुनि वहा से विहार कर अन्यत्र विचरण करने लगे।

कपिल द्वारा श्रावकधर्म स्वीकार किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् एक अन्य आचार्य विहारक्रम से विचरण करते हुए वहा पहुचे और कपिल से अनुज्ञा प्राप्त कर उसके घर मे ठहरे। दूसरे ही दिन कपिल की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उस नवजात शिशु को व्यन्तरियो ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर निश्चेष्ट कर दिया। कपिल जैन साधुओ के तप, त्याग एव तेजस्विता से बडा प्रभावित था। उसने अपने उस निस्सज्ञ पुत्र को उठाकर साधुओ द्वारा सुखाने के लिये उल्टे रखे गये एक पात्र के नीचे रख दिया। उन तपोधन महर्षियो के पात्रजल के स्पर्शमात्र से ही शिशु व्यन्तरियों के दुष्ट प्रभाव से सदा के लिये विमुक्त हो पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गया। मुनियों द्वारा कल्प किये जाने वाले पात्रो के जल के प्रभाव से उस शिशु की जीवन-रक्षा हुई, इस स्मृति को चिरस्थायी वनाने के लिये कपिल ने अपने उस पुत्र का नाम कल्पाक रखा। कल्पाक ने अपने पिता से समस्त विद्याओ एव जैनागमो का अध्ययन किया। कालान्तर मे कल्पाक के माता और पिता का देहान्त हो गया।

कल्पाक अपने समय का एक उच्च कोटि का विद्वान् था। उसके घर पर विभिन्न विषयो के विद्यार्थियों की भीड रहने लगी। कल्पाक जव नगर मे जाता तो उसके पीछे उसके शिष्यो की भीड लग जाती। पाटलिपुत्र के निवासी कल्पाक का वडा सम्मान करते थे। अपने पिता द्वारा प्राप्त श्रावक धर्म के सस्कारो के कारण कल्पाक बडा सतोषी विद्वान् था। धन-सम्पत्ति के सग्रह करने का कभी कोई विचार तक भी उसके मन मे उत्पन्न नही हुआ। अनेक विद्वानो ने अपनी-अपनी कन्याओ के साथ पाणिग्रहण कर लेने की प्रार्थनाए कल्पाक से की पर कल्पाक ने विवाह करना स्वीकार नही किया।

---

[1] तस्यामेव हि तामस्या धर्मदेशनया तया।
श्रावकः कपिलो जज्ञेऽथाचार्या ययुरन्यतः ॥१३॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ७]

ने अपने वगल मे छुपाई हुई छुरी को निकाला। एक दो क्षण उस छुरी को अपने हाथ मे नचाते हुए कल्पाक ने ब्रह्मराक्षस की तरह भीषण अट्टहास किया और लपक-झपक कर उस छुरी के प्रहार से रजक का पेट चीर डाला। रजक धडाम से धरती पर गिर पडा और उसके उदर से रक्तधारा वह निकली। कल्पाक ने उस रजक के लहू मे अपनी पत्नी के वस्त्रो को रगा। अपने पति को निश्चेष्ट पृथ्वी पर छटपटाते देखकर रजकपत्नी ने करुण क्रदन करते हुए कल्पाक से कहा– "ब्राह्मण देवता ! आपने मेरे निरपराध पति को व्यर्थ ही मार डाला है। हमारा कोई अपराध नही, हमने तो महाराज नन्द की आज्ञा से अनुवद्ध होने के कारण आपको वस्त्र नही दिये।" यह कहकर रजकपत्नी फूट-फूटकर रोने लगी।

विलक्षण वुद्धि कल्पाक ने तत्क्षण वस्तुस्थिति को समझ लिया। उसने मन ही मन सोचा – "अच्छा, तो महाराज नन्द ने अपनी आज्ञा का अनुपालन करवाने हेतु यह पड्यत्र रचा है। इस रजक की हत्या के अपराध मे राजपुरुप मुझे पकड कर ले जाय, उससे पहले ही मुझे महाराज नन्द के समक्ष उपस्थित हो जाना चाहिये।"

इस प्रकार का निश्चय कर कल्पाक तत्काल त्वरित गति से मगधपति महाराज नन्द के राजभवन की ओर प्रस्थित हुआ। कल्पाक को दूर से देखते ही नन्द ने अनुमान लगा लिया कि उसका दूरदर्शितापूर्ण प्रपच आज रग ले आया है और उसकी मनोकामना आज पूर्ण होने जा रही है। वह मन ही मन अपार आनन्द का अनुभव करने लगा। ज्योही कल्पाक ने उसके कक्ष मे पैर रखा कि नन्द अपने सिहासन से उतर कर कल्पाक के सम्मुख आया। वडे आदर के साथ उसने कल्पाक को अपने पास ही के एक उच्च सिहासन पर वैठाया। नन्द ने कल्पाक के मुख के हाव-भावो से उसकी आभ्यतरेच्छा का परिज्ञान कर लिया। अपनी कार्यसिद्धि के लिये उपयुक्त अवसर देखकर नन्द ने अत्यन्त मधुर स्वर मे कल्पाक से प्रार्थना की – "विद्वन् ! आप मगधराज्य का प्रधानामात्य पद स्वीकार कर मगधराज्य की सर्वतोमुखी प्रगति एव श्रीवृद्धि कीजिये।"

"यथाज्ञापयति देव !" कहकर कल्पाक ने महाराजा नन्द की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

एक नीतिनिष्णात सुयोग्य विद्वान् को अपने प्रधानामात्य के रूप मे प्राप्त कर नन्द ने अपने आपको कृतकृत्य माना। नन्द ने अत्यन्त हर्षविभोर हो अपने हृदय मे सुदीर्घकाल से कण्टक के समान खटकने वाली अनेक विकट समस्याओ के समाधान के सम्वन्ध मे कल्पाक के सम्मुख कतिपय गूढ प्रश्न रखे। सुतीक्ष्ण-वुद्धि कल्पाक ने तत्क्षण उन समस्याओ के समाधान सम्बन्धी सहज उपाय नन्द के सम्मुख प्रस्तुत किये, जिन्हे सुनकर नन्द बडा प्रसन्न, प्रभावित एव चमत्कृत हुआ।

जिस समय महाराज नन्द और कल्पाक मन्त्रणा कर रहे थे, उस ही समय रजको का एक प्रतिनिधिमडल महाराज नन्द के दरबार मे कल्पाक के विरुद्ध

(रगरेज) से पूछा – "तुम्हारे ही घर की ओर कल्पाक पण्डित रहता है। वह तुमसे कभी अपने वस्त्र रगवाता है अथवा नही ?"

रजक ने साजलि शीश झुकाते हुए उत्तर दिया – "पृथ्वीनाथ ! वे अपने घर के वस्त्र मुझ से ही रगवाया करते है।"

नन्द ने आज्ञासूचक स्वर मे कहा – "अब जब कभी वह तुम्हे वस्त्र रगने के लिये दे तो उन वस्त्रो को उसे लौटाना मत।"

"जो आज्ञा महाराज !" कह कर रंजक ने नन्द की आज्ञा को शिरोधार्य किया और वह वहा से अपने घर चला गया।

एक दिन कौमुदी महोत्सव का समय समीप आया समझ कर कल्पाक की पत्नी ने अपने पति से कहा – "कान्त ! मेरे इन बहुमूल्य वस्त्रो को आप राजा के रजक से रगवा दीजिये।"

कल्पाक ने पहले तो यह सोच कर अपनी पत्नी की बात की उपेक्षा की कि त्यौहार के दिनों मे राजमान्य रजक किराये के लोभ मे किसी अन्य को वे सुन्दर वस्त्र दे सकता है किन्तु वह अपनी पत्नी के आग्रहपूर्ण अनुरोध को टाल न सका और अन्त मे उसने अपनी पत्नी के वस्त्र उस राज-रजक को रगने हेतु दे दिये।

उत्सव के दिन कल्पाक रजक के घर पर गया और उससे वस्त्र मागे। राजाज्ञा का अनुपालन करते हुए रजक ने कल्पाक को वस्त्र नही लौटाये। कल्पाक अनेक बार रजक के घर पर वस्त्र लेने गया पर हर बार रजक ने उसे कोई न कोई बहाना बना कर विना वस्त्र दिये ही लौटा दिया। इस प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। तृतीय वर्ष का प्रारम्भ होने पर एक दिन कल्पाक पुन· रंजक के घर पर पहुचा और उसने पूर्ववत् उससे अपने वस्त्रो की माग की। रंजक द्वारा पुनः एक नया बहाना बनाने और वस्त्र न लौटाने के कारण कल्पाक अत्यन्त क्रुद्ध स्वर में कहने लगा – "ओ परमाधम रजक ! तू बडा अद्भुत चोर है, अब तो मेरे वस्त्र भी जीर्ण होने आये है। तुमने मुझे बहुत परेशान किया है। पर याद रखना, अब तो मै अपने वस्त्र तेरे रक्त से रग कर ही ले जाऊगा।" यह कह कर कल्पाक क्रुद्ध सर्प की तरह फूत्कार करता हुआ अपने घर की ओर लौट गया।

दूसरे दिन सूर्यास्त हो जाने पर कल्पाक ने अपना छुरा अपनी बगल मे छुपाया और वह क्रुद्ध मुद्रा मे रंजक के घर की ओर बढा। रजक के द्वार पर पहुंच कर कल्पाक ने क्रोधावेश भरे स्वर में पुकारा – "ओ नराधम ! मै पिछले दो वर्षो से सेवक की तरह तेरे घर पर आता रहा हू। आज तू स्पष्ट उत्तर दे कि मेरे वस्त्र देता है अथवा नही ?" क्रुद्ध यमराज की तरह भृकुटी ताने हुए कल्पाक को देख कर रजक भय से सिहर उठा। उसने हडवड़ाहट भरे स्वर मे अपनी स्त्री से कहा – "ओ लक्ष्मी ! शीघ्रतापूर्वक आपके वस्त्र ला कर आपको दे दे।" "रजकपत्नी ने तत्काल गृह के अभ्यन्तर कक्ष से वस्त्र लाकर कापते हुए हाथो से कल्पाक के समक्ष रख दिये। अपनी पत्नी के वस्त्रों को देखकर कल्पाक

पुत्र अनुरुद्ध को राज्यभार सौपा जा कर यात्रा, आत्मसाधना मे निरत रहने का उल्लेख किया गया है।

लका मे लिखित बौद्ध ग्रथ महावश मे तथा एक अन्य बौद्ध कृति अशोकावदान मे मगधपति उदायी की मृत्यु के पश्चात् ६ वर्ष तक अनुरुद्ध और २ वर्ष तक मुन्द का मगध पर शासन रहने का उल्लेख किया गया है।

वायुपुराण मे मगधसम्राट् बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु कूणिक का दर्शक के नाम से परिचय दिया गया है और जैन ग्रथो की मान्यता के अनुरूप उसके पुत्र का नाम उदायी बताया गया है। उदायी के पश्चात् वायुपुराण मे नन्दिवर्द्धन को मगध का शासक बताते हुए लिखा गया है कि नन्दिवर्द्धन ने ४२ वर्ष तक मगध का शासन किया।[1]

श्रीमद्भागवत पुराण मे उदायी को अज और उसके उत्तराधिकारी मगध के राजा नन्दिवर्द्धन (नन्द) को आजेय के नाम से सम्बोधित किया गया है। गर्ग सहिता मे उदायी को "धर्मात्मा उदयन" के सम्मानपूर्ण सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। बौद्धो के सर्वमान्य धर्मग्रथ दीर्घनिकाय मे उदायी का "उदायी भद्द" नाम से परिचय दिया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वस्तुत उदायी बडा शान्त, निश्छल, सौम्य और बहुत अच्छी प्रकृति का राजा था।

ऐतिहासिक महत्त्व के "महावशो" नामक लका मे निर्मित ग्रथ मे उदायी के अनुरुद्ध और मुद नामक दो पुत्रो के होने का जो उल्लेख किया गया है, उस उल्लेख के आधार पर कतिपय विद्वानो ने यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि उदायी ने अथवा उदायी के निर्देश से उसके बड़े पुत्र अनुरुद्ध ने लका पर सैनिक अभियान किया एव वहा के राजा को युद्ध मे पराजित कर लका मे अनुरुद्धपुर नामक नगर बसाया और उसमे लका की राजधानी प्रतिष्ठापित की। 'महावशो' के आधार पर कतिपय विद्वानो ने उदायी के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र अनुरुद्ध का मगध साम्राज्य पर ६ वर्ष का और उसके पश्चात् उसके लघु सहोदर मुद का दो वर्ष का शासनकाल माना है। किन्तु इन तथ्यो की किसी भी प्रामाणिक अभिलेख अथवा ग्रथ आदि से न केवल पुष्टि ही नही होती अपितु प्राचीन जैन ग्रथो एव पौराणिक ग्रन्थो मे उदायी के पश्चात् दिये गये नन्द अथवा नन्दिवर्द्धन के राज्य के उल्लेखो से 'महावशो' की मान्यता का मूलत निराकरण होता है। आज तक एक भी ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाश मे नही आया है, जिसमे उदायी के पश्चात् और नन्द अथवा नन्दिवर्द्धन से पूर्व मगध पर अनुरुद्ध और मुद के शासन का उल्लेख हो। ऐसी दशा मे 'महावशो' के आधार पर कतिपय विद्वानो द्वारा अभिव्यक्त की गई मान्यता को काल्पनिक न सही पर विश्वसनीय कभी नही माना जा सकता।

---

[1] श्लोक सख्या १७७–१७८ तथा
द्वाचत्वारिंशत्समा भाव्यो राजा वै नन्दिवर्द्धन ।।१७६।। [वायुपुराण, अ० ६१]

अभियोग प्रस्तुत करने नन्द के प्रासाद में उपस्थित हुआ पर ज्यो ही उस प्रतिनिधि मडल के सदस्यो ने देखा कि कल्पाक महाराजा नन्द के अति सन्निकट एक उच्चासन पर बैठा है और राजा उसके साथ गूढ मन्त्रणा में निरत हैं, तो वे सभी रजक भय एव आश्चर्य से अभिभूत हो बिना कुछ बोले चुपचाप अपने-अपने घरो की ओर लौट गये ।

महाराज नन्द ने तत्काल अपने पहले के प्रधानामात्य को अपदस्थ कर कल्पाक को मगध का प्रधानामात्य बनाया । राजा ने कल्पाक को प्रधानामात्य की मुद्रा, चिन्ह, अधिकार एव सुख-सुविधा आदि प्रदान की । प्रधानामात्य का पदभार वहन करने के पश्चात् कल्पाक ने बड़ी कुशलता से शाम, दाम, दण्ड, भेद आदि के प्रयोग से क्रमश· नन्द के समस्त शत्रु राजाओ को वश में कर लिया और दूर-दूर तक मगध राज्य का विस्तार कर दिया । कल्पाक के नीतिनैपुण्य के कारण प्रथम नन्द की भारत के महान् शक्तिशाली महाराजाओं मे गणना की जाने लगी ।

मगध सम्राट् उदायी तथा उसके उत्तराधिकारी नन्द (नन्दिवर्द्धन) के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने परिशिष्ट पर्व मे[1], श्री जिनदास गणि महत्तर ने आवश्यक चूर्णि मे[2], श्री हरिभद्रसूरि ने आवश्यक वृत्ति मे[3] तथा अनेक पूर्वाचार्यो एव विद्वानों ने कतिपय ग्रन्थो एव पट्टावलियो मे मगधसम्राट् उदायी की अपुत्रावस्था में हत्या किये जाने का उल्लेख किया है । भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति मे एक स्थान पर उदायी की सततिविहीन दशा मे हत्या किये जाने का तथा दूसरे स्थल मे उदायी द्वारा अपने

---

[1] उदाय्यपुत्रगोत्रो हि परलोकमगादिति ।
तत्रान्तरे पचदिव्यान्यभिपिक्तानि मन्त्रिभि ॥२३६॥   [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

[2] रुधिरेण आयरिका छिक्का, पेच्छति राया विवावाडितो, मा पवयणस्स उड्डाहो होहितिति आलोइतपडिक्कंता अप्पणो सीस छिदति, तेवि कालगता, सोवि एय । इतो य ण्हाविय-दासो'' ' 'सीयाए णगर हिंडाविज्जति, सो य राया अतेपुरपालेहि सेज्जावतीए दिट्ठो, सहसा उ कूवित, णात, अपुत्तोत्ति अण्णेण दारेण णीतो, सक्कारितो······
[आवश्यकचूर्णि, भा० २, पृ० १८०]

[3] राजापि प्रसुप्त, तेनोत्थाय राज्ञ शीर्षे निवेशिता, · रुधिरेण आचार्या प्रत्यार्द्रिता, प्रेक्षन्ते राजान व्यापादित, मा प्रवचनस्य उड्डाहो भूदित्यालोचितप्रतिक्रान्ता आत्मन: शीर्ष छिन्दन्ति, कालगतास्त एव । इतश्च नापितशालाया नापितदास उपाध्यायाय कथयति-यथा ममाद्यान्त्रेण नगर वेष्टितं, प्रभाते दृष्ट, स स्वप्नशास्त्र जानाति, तदा गृह नीत्वा मस्तक धौत दुहिता च तस्मै दत्ता, दीपितुमारब्ध: शिबिकया नगर हिन्ड्यते, सोऽपि राजा अन्त पुरिकाशय्यापालिकाभिदृष्ट सहसा, कूजित, ज्ञात अपुत्र इत्यन्येन द्वारेण नीत सत्कारित , अश्वोऽधिवासित , अभ्यन्तरे हिण्डितो मध्ये हिण्डित बहिर्निर्गतो राजकुलात् त नापितदारक पृष्ठौ लगयति प्रेक्षते च त तेजसा ज्वलत राज्याभिषेकेणाभिपिक्तो राजा जात: ।
[आवश्यक हारिभद्रीया, पत्र ६९०]

उदायी दिये हुए है ।[1] इनसे पूर्व के इस वंश के राजाओ के नाम उपलब्ध जैन ग्रन्थो मे दृष्टिगोचर नही होते । ऐसी दशा मे वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थो मे जो नागदशको (शिशुनागवशी दश राजाओ) के नाम दिये गये है, उनमे प्रथम ३ राजाओ, शिशुनाग, काकवर्ण और क्षेमधर्मा के नाम इस सूची मे सर्वोपरि सम्मिलित करने और इस सूची के अन्त मे नन्दिवर्द्धन और महानन्दि के नाम शिशुनागवशियो मे सम्मिलित करने पर ही नागदशक राजाओ की सूची पूर्ण होती है ।

नागदशको की नामपूर्ति के लिये सनातन परम्परा के पुराणो मे वर्णित शिशुनागवशियो के उपरिलिखित तीन पूर्वजो के नामो को ग्रहण करने और प्रामाणिक मानने मे किसी को किचित्मात्र भी हिचकिचाहट नही होनी चाहिये क्योकि पूर्वकाल मे घटित घटनाक्रम के सकलन एव आलेखन का नाम ही इतिहास है । इतिहास मे किसी देश, धर्म, जाति अथवा सस्कृति का विभेद नही होता, वह तो वस्तुत. अनादिकाल से अनवरतरूपेण घटित होने वाली घटनाओ का अक्षय्य, अथाह एव अपार सागर है, जिसमे असख्य गगाओं के पूर के समान प्रतिदिन नवीनतम घटनाओ के प्रवाह आकर सम्मिलित एवं सचित होते रहते है । उस सबका सकलन आलेखन अथवा परिज्ञान त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ के अतिरिक्त और किसी मानव की शक्ति की परिधि मे नही आता । उस अथाह इतिहास सागर के गहन तल मे गोते लगा लगाकर प्राचीनकाल से महान् आचार्य महर्षि और परमार्थी विद्वान् अपने-अपने प्रिय एव अभीष्ट विषय का इतिहास खोज कर लिखते आये है । इस बात को हमे सदा ध्यान मे रखना होगा कि आगमो, पुराणो एव प्राचीन ग्रन्थो को उन आचार्यो, महर्षियो, महात्माओ और विद्वानो ने लिखा है – जिन्होने समस्त ऐहिक आकर्षणो, लोकेषणाओ और अपनी कर्मेन्द्रियो तथा भावेन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली थी । उनके समस्त आलेखन का उद्देश्य केवल "जनहिताय" ही रहा । किसी तथ्य की स्मृति से स्खलना, पारम्परिक मान्यताभेद, विस्मृति

---

[1] अतीताद्धाया क्षितिप्रतिष्ठित नगर, जितशत्रु राजा, तस्य नगरस्य वस्तून्युत्सन्नानि, अन्य नगरस्थान वास्तुपाठकैर्मार्गयति, तैरेक चणकक्षेत्र अतीव पुष्पै फलैश्चोपपेत दृष्ट्वा चणकनगर निवेशित ·· तत्र कुशाग्रपुर जात, तस्मिश्च काले प्रसेनजित् राजा तच्च नगर पुन पुन अग्निना दह्यते, तदा लोकभयजननिमित्त घोषयति यस्य गृहेऽग्निरुत्तिष्ठति स नगरात् निष्काश्यते, तत्र महानमिकाना प्रमादेन राज्ञ एव गृहात् अग्निरुत्थित , ते सत्यप्रतिज्ञा राजान निर्गतो नगरात् तस्मात् गव्यूतमात्रे स्थित , तदा दण्डिकभटभोजका वणिजश्च तत्र व्रजन्त भणन्ति क्व व्रजथ ? आह राजगृहमिति, कुत आयाथ ? राजगृहात् एव नगर राजगृह जात यदा च राज्ञो गृहेऽग्निरुत्थितस्तत कुमारा यद्यस्य प्रियमश्वो हस्ती वा तत्तेन निष्काशिते श्रेणिकेन ढक्का नीता । राजा पृच्छति केन किं नीतमिति ? अन्यो भणति – मया हस्ती, अश्व एवमादि ; श्रेणिक पृष्ट -भम्भा, तदा राजा भणति श्रेणिक – एप ते सारो भम्भेति? श्रेणिको भणति – ओम् स च राज्ञोऽत्यन्तप्रिय , तेन तस्य नाम कृत भम्भसार इति

[आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ६७०–७१ आदि]

वस्तुतः नन्द कौन था ?

आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, परिशिष्टपर्व तथा अनेक अन्य जैन ग्रन्थो मे मगधसम्राट उदायी के पश्चात् मगध के राज्यसिहासन पर आसीन होने वाले नन्द को नापितदास, नापितपुत्र, एवं वैश्यापुत्र बताया गया है। इसके विपरीत वायुपुराण[1] और श्रीमद्भागवत पुराण में[2] इस नन्द का नन्दिवर्द्धन के नाम से परिचय देते हुए इसे उदायी का पुत्र बता कर इसकी गणना नागदशकों मे की गई है। इस प्रकार सनातन परम्परा के इन दोनों मान्य पुराणो मे नन्दिवर्द्धन को शिशुनागवशी और उदायी का पुत्र माना गया है। जैन परम्परा के ग्रन्थो मे मगध के वाहीक कुलोद्भव शिशुनागवंशी राजाओ के नाम क्रमश जितशत्रु, प्रसेनजित्, श्रेणिक (बिम्बसार), कूणिक (अजातशत्रु) और

---

[1] हत्वा तेषा यश कृत्स्न, शिशुनाको भविष्यति ।।१७३।।
वाराणस्या सुतस्तस्य, सप्राप्स्यति गिरिव्रजम् ।
शिशुनाकस्य वर्षाणि, चत्वारिशद्भविष्यति ।।१७४।।
शकवर्ण सुतस्तस्य षट्त्रिशच्च भविष्यति ।
ततस्तु विशति राजा क्षेमवर्मा भविष्यति ।।१७५।।
अजातशत्रुर्भविता पचविशत्समा नृप ।
चत्वारिशत्समा राज्य क्षत्रौजा प्राप्स्यते ततः ।।१७६।।
अष्टाविशत्समा राजा बिंबिसारो भविष्यति ।
पचविशत्समा राजा दर्शकस्तु भविष्यति ।।१७७।।
उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिशत्समा नृप ।
द्वाचत्वारिशत्समा भाव्यो राजा वै नन्दिवर्द्धन ।
चत्वारिशत्त्रय चैव महानन्दो भविष्यति ।।१७९।।
इत्येते भवितारो वै शैशुनाका नृपा दश ।
शतानि त्रीणि वर्षाणि द्विषष्ट्यभ्यधिकानि तु ।।१८०।।

[वायुपुराण, अ० ६१]

स्पष्टीकरण रेखाकित पद के स्थान पर निम्नलिखित पद होना चाहिये क्योकि इन नागदशको का कुल मिला कर शासनकाल ३६२ वर्ष नही अपितु ३३२ वर्ष ही होता है:–
· ··· द्वात्रिंशदधिकानि तु ।।

– सम्पादक

[2] शिशुनागस्ततो भाव्य , काकवर्णस्तु तत्सुत ।
क्षेमधर्मा तस्य सुत, क्षेत्रज्ञ क्षेमधर्मजः ।।५।।
विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजय स्मृत ।।६।।
नन्दिवर्द्धन आजेयो, महानन्दि सुतस्तत ।
शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तर शतत्रयम्, ।।७।।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवी, कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपा ।

[श्रीमद्भागवत् महापुराण, स्कन्ध १२, अ०१]

"महानन्दी की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ कालोपेत (कृतान्तोपम) महापद्म नामक पुत्र समस्त क्षत्रियो के अनन्तर होगा। वह एकराट् और एकच्छत्र राजा होगा। उसके समय से ही प्राय सभी राजा शूद्र होगे। वह समस्त क्षत्रियो से बलपूर्वक कर ग्रहण कर विपुल धन एकत्रित करेगा और २८ वर्ष तक पृथ्वी पर शासन करेगा। उसके ८ पुत्र होगे जो महापद्म की मृत्यु के पश्चात् क्रमश राजा होगे और वे कुल मिलाकर १२ वर्ष तक राज्य करेगे।[1]"

इस प्रकार श्रीमद्भागवतपुराण और वायुपुराण के अनुसार नन्दिवर्द्धन और महानन्दी जिन्हे जैन परम्परा के ग्रन्थो मे प्रथम नन्द और द्वितीय नन्द बताया गया है, विशुद्ध नागवशीय राजा थे तथा महापद्म नन्द से शूद्र ६ नन्द राजाओ का राज्यकाल प्रारम्भ होता है।

धार्मिक प्रतिद्वंद्विता के कारण पुरातन काल मे हुए धार्मिक सघर्षो, दुष्कालो, विदेशी आक्रमणो आदि के कारण प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के कतिपय अशो मे नष्ट हो जाने की दशा मे यह सभव माना जा सकता है कि साहित्य का नव-निर्माण करते समय जैन विद्वानो ने शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न महापद्म नन्द के जीवन की घटनाओ को नन्दिवर्द्धन के जीवनवृत्त के साथ जोडकर उसे ही प्रथम नन्द समझ लिया हो। इस प्रकार की त्रुटि होना असभव नही है क्योकि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे यह बताया जा चुका है कि भगवान् महावीर के छठे एव सातवे गणधर आर्य मडित और मौर्यपुत्र को कतिपय ख्यातनामा आचार्यों ने सहोदर बताकर उनकी समान नाम वाली माताओ को एक ही महिला मान लिया और अपने इस कथन की पुष्टि मे यहा तक लिख दिया कि मडित के पिता धनदेव की मृत्यु के पश्चात् मडित की माता विजया ने मौर्य नामक एक ब्राह्मण नवयुवक से विधवा-विवाह कर लिया और मौर्य से विजया ने मौर्यपुत्र को जन्म दिया। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि आगमो मे और स्वय उन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थो मे मौर्यपुत्र को मडित से आयु मे १३ वर्ष ज्येष्ठ बताया गया है।

इस प्रकार की और भी अनेक भूले हुई है। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के प्रकरण मे आगे बताया जायगा कि किस प्रकार एकादशागी के अशधर,

---

[1] महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कालसवृत ।
उत्पत्स्यते महापद्म सर्वक्षत्रान्तरे नृप ।।१८५।।
तत प्रभृति राजानो भविष्या शूद्रयोनय ।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ।।१८६।।
अष्टाविंशतिवर्षाणि पृथिवी पालयिष्यति ।
सर्वक्षत्रात्हृतोद्धृत्य भाविनोऽर्थस्य वै बलात् ।।१८७।।
सहस्रास्तत्सुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपा ।
महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपा' क्रमात् ।।१८८।। [वायुपुराण, अ० ६१]
श्लोक १८८ के प्रथम पाद मे सहस्रा के स्थान पर साहसा होना चाहिये। —सम्पादक

अथवा लिपिक के दोष के कारण नामभेद, कालभेद आदि उन प्राचीन ग्रन्थो मे मिल सकते है। पर इसके लिये किसी प्रकार की दूषित भावना का दोषारोपण उन पर नही किया जा सकता।

इन सब वास्तविकताओ पर विचार करने के पश्चात् पुराणो में उदायी के उत्तराधिकारी मगधपति नन्दिवर्द्धन और नन्दिवर्द्धन की मृत्यु के अनन्तर मगध के राज्यसिहासन पर आरूढ होने वाले महानन्दी को जो विशुद्ध शिशुनागवशी बताया गया है, उस तथ्य को किसी भी दशा मे उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा जा सकता।

अब प्रश्न यहा यह उपस्थित होता है कि जैन परम्परा के ग्रन्थो मे उदायी को अपुत्र और उसके पश्चात् मगध के राज्यसिहासन पर बैठने वाले नन्द को नापित एव वेश्यापुत्र क्यो बताया गया है ? यद्यपि जैन ग्रन्थो में इस प्रकार का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नही है, जिसका आश्रय लेकर इस प्रश्न का सर्वमान्य रूप से समाधान किया जा सके किन्तु वायुपुराणादि मे उपलब्ध एतद्विषयक सामग्री के सन्दर्भ मे इस प्रश्न पर विचार करने और अनुमान प्रमाण का सहारा लेने पर इस प्रश्न का हल ढूढा जा सकता है।

शिशुनाग से लेकर महानन्दी तक के नागदशको का सक्षिप्त उल्लेख करने के पश्चात् भागवतकार और वायुपुराणकार ने लिखा है :-

मगधपति महानन्दी की शूद्रा पत्नी के गर्भ से नन्द नामक एक बडा बलवान् पुत्र होगा, जो महापद्म नामक निधि का स्वामी होगा और इसी कारण वह महापद्म नाम से भी विख्यात होगा। महापद्म समस्त क्षत्रिय राजाओ का अन्त करेगा। उस महापद्म के समय से ही राजा लोग प्राय शूद्र और अधार्मिक होगे। वह पृथ्वी का एकच्छत्र शासक होगा। उसकी आज्ञा का कोई उल्लघन नही कर सकेगा। क्षत्रान्तक होने के कारण वह एक प्रकार से दूसरा परशुराम होगा। उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होगे जो १०० वर्ष तक, पृथ्वी के राज्य का उपभोग करेगे।[1]"

वायुपुराण मे भी पर्याप्तरूपेण इससे मिलता-जुलता ९ नन्दो का परिचय दिया गया है, जो इस प्रकार है –

---

[1] महानन्दिसुतो राजन् शूद्रीगर्भोद्भवो बली ॥८॥
महापद्मपति कश्चिन्नन्द. क्षत्रविनाशकृत्।
ततो नृपा: भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिका ॥९॥
स एकच्छत्रा पृथिवीमनुल्लघितशासन।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गव ॥१०॥
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्य प्रमुखा: सुता।
य इमा भोक्ष्यन्ति मही, राजान स्म शतसमा. ॥११॥
[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अध्याय १]

बोधिलाभ हुआ, उसी दिन चण्डप्रद्योत उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर बैठा और जिस दिन चौबीसवे तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उस ही दिन चण्डप्रद्योत का देहावसान हुआ।[१]

जिस दिन पालक का राज्याभिषेक हुआ उस ही दिन गौतमस्वामी को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई और आर्य सुधर्मास्वामी श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर बने। वीर निर्वाण सवत् २० मे आर्य सुधर्मा स्वामी ने परमपद निर्वाण प्राप्त किया, उसी वर्ष मे अवन्ती के अधीश्वर पालक ने अपने बडे पुत्र को राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद दे आर्य सुधर्मा के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की[२] और पालक का बडा पुत्र अवन्तीवर्धन अवन्ती के राज्यसिहासन पर आरूढ हुआ।

युवराज राष्ट्रवर्धन राज्यसचालन मे अपने बडे भाई अनन्तीवर्धन को सहायता करने लगा। एक दिन अवन्तीवर्धन ने अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन की अतिरूपवती पत्नी धारिणी को उद्यान मे क्रीडा करते हुए देखा। उद्यान मे किसी पुरुष की उपस्थिति की उसे आशका नही थी, इसलिये वह निस्सकोचभाव से क्रीडा मे निरत थी। अवन्तीवर्धन अपनी भ्रातृजाया के अगप्रत्यगो के सौष्ठवपूर्ण गठन और अनुपम सौन्दर्य को प्रच्छन्न रूप से देख कर उस पर मुग्ध हो गया। उसने कामासक्त हो अपनी विश्वस्त दासी को धारिणी के पास भेज कर अपनी आन्तरिक अभिलाषा से उसे अवगत कराया। धारिणी ने अवन्तीवर्धन के पापपूर्ण प्रस्ताव को ठुकराते हुए क्रुद्ध हो कहा – 'उस कामुक से कहना कि क्या तुम्हे अपने भाई से भी लज्जा का अनुभव नही होता।''

राजा अवन्तीवर्धन ने कामान्ध हो षड्यन्त्र कर अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन की रहस्यमय हत्या करवा दी। अपने पति की मृत्यु से दुखित हो धारिणी ने अपने सतीत्व की रक्षा हेतु उज्जयिनी का परित्याग करना ही श्रेयस्कर समझा। रात्रि के अन्धकार मे अपने पोगण्ड-पुत्र अवन्तीसेन को सोते छोडकर धारिणी अपने और अपने मृत पति के मूल्यवान आभरण लेकर उज्जयिनी के राजप्रासादो से निकली और प्रच्छन्नरूप से किसी सार्थ के साथ कौशाम्बी की ओर चल पडी। कौशाम्बी पहुचने पर धारिणी कौशाम्बी के राजा की यानशाला मे ठहरी हुई साध्वियो की सेवा मे उपस्थित हुई और उसने उनके पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। इस डर से कि कही साध्विया उसे प्रव्रजित ही न करे, धारिणी ने उनके समक्ष यह बात प्रकट नही की कि वह गर्भिणी है। थोडे ही समय के पश्चात् महत्तरिका (गुरुणी) ने उसके गर्भ की बात ज्ञात होने पर धारिणी से उसके गर्भ के सम्बन्ध मे पूछा।

---

[१] देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ५४५ से ५५३ – सम्पादक

[२] इतो य उज्जेणीये पज्जोतसुता दोण्णि पालओ गोपालओ य, गोपालओ पव्वइतो पालगो रज्जे ठितो, तस्स दो पुत्ता पालको अवतिवद्धण राजाण रज्जवद्धण जुवरायाण ठवेत्ता पव्वइतो [आव० चूर्णि, भा० २ पृ० १८९]

(ख) तौ राज-युवराजौ च, कृत्वाभूत्पालको व्रती। [आवश्यक कथा]

नैमित्तिक भद्रबाहु और अंतिम श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को एक ही भद्रबाहु मानने की भूल पिछली अनेक सदियो से आज तक चली आ रही है।

ठीक उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वत्सपति उदयन की अपुत्रावस्था मे मृत्यु हुई और कालान्तर मे उदायी और उदयन नामो मे यत्किंचित् समानता होने के कारण उदायी के लिये यह मान्यता लोगो के मन मे घर कर गई कि उसकी मृत्यु सततिविहीन दशा मे हुई। इसके परिणामस्वरूप शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए महापद्मनन्द की घटना को उदायी के उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन के साथ जोडकर उसे ही प्रथम नन्द माना जाने लगा।

इन सब तथ्यो पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदायी का उत्तराधिकारी उदायी के पश्चात् मगध के राज्य सिहासन पर आसीन होने वाला नन्दिवर्द्धन शिशुनागवशीय ही था न कि नापितपुत्र अथवा वेश्यापुत्र।

नन्दिवर्द्धन के विशुद्ध शिशुनागवशीय होने का एक प्रबल प्रमाण यह है कि वत्सपति उदयन की पुत्री का विवाह नन्दिवर्द्धन के साथ सम्पन्न हुआ था।

अवन्ती का प्रद्योत राजवंश

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वीर निर्वाण सवत् के प्रारम्भ होते ही प्रथम दिन मे उज्जयिनी के अधीश्वर चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक का अवन्ती (मालव) राज्य के राजसिहासन पर राज्याभिषेक हुआ। उस समय महत्वाकाक्षी मगधपति कूणिक अपने राज्यविस्तार मे जुटा हुआ था। कूणिक द्वारा वैशाली के शक्तिशाली गणतन्त्र को भूलुण्ठित कर देने के पश्चात् मगध की गणना एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप मे की जाने लगी थी। मगधपति के प्रचण्ड प्रताप के कारण चण्डप्रद्योत के शासनकाल मे अर्जित अवन्ती राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा भी शनै शनै क्षीण होने लगी थी।

पालक के राज्यारोहण के कुछ ही समय पश्चात् उसके छोटे भाई गोपाल ने आर्य सुधर्मा के उपदेश से विरक्त हो उनके पास श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली थी। पालक के दो पुत्र थे, बडा अवन्तीवर्धन और छोटा राष्ट्रवर्धन। पालक ने उज्जयिनी मे रहते हुए अवन्ती राज्य पर २० वर्ष तक शासन किया। पालक के शासनकाल मे अवन्ती राज्य मे कोई विशेष रूप से उल्लेखनीय घटना घटित हुई हो, ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता।

वीर निर्वाण स० २० मे आर्य सुधर्मास्वामी के निर्वाणगमन से कुछ समय पूर्व पालक ने अपने बड़े पुत्र अवन्तीवर्धन को उज्जयिनी का राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद देकर आर्य सुधर्मा स्वामी के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

प्रद्योत राजवश की इन तीन पीढियो के घटनाक्रम का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। वह यह है कि जिस दिन चण्डप्रद्योत का जन्म हुआ उस ही दिन बौद्धधर्म के प्रवर्तक भ० बुद्ध का जन्म हुआ था। जिस दिन बुद्ध को

अवन्तीसेन द्वारा कौशाम्बी पर आक्रमण करने से कुछ समय पूर्व विजयवती नाम की महत्तरा की शिष्या विगतभया ने अनशन किया था। कौशाम्बी के श्रद्धालु श्रावक-श्राविका सघ ने उस अवसर पर साध्वी के त्याग की महिमा करते हुए बडे महोत्सव के साथ उसका अनेक प्रकार से सम्मान किया। इस घटना के थोडे ही दिनो पश्चात् धर्मघोप और धर्मयश नामक दो साधुओ ने अपना अन्तिम समय समीप समझ कर अनशन करने का निश्चय किया। धर्मघोष मुनि के मन में लोगो द्वारा सम्मान और प्रतिष्ठा पाने की उत्कण्ठा जागृत हुई और यह सोच कर कि जिस प्रकार विगतभया साध्वी की प्रतिष्ठा हुई थी उसी प्रकार की उसकी भी होगी, उन्होने कौशाम्बी नगरी मे अनशन किया। धर्मयश मुनि को मान-सम्मान की किसी प्रकार की चाह नही थी अत उन्होने अवन्ती और कौशाम्वी के मध्यमार्ग मे स्थित वत्सका नदी के तटवर्ती पर्वत की गुफा के एकान्त स्थान मे अनशन करने का निश्चय कर उस ओर विहार किया। जिन दिनो धर्मघोष मुनि कौशाम्बी मे अनशन कर रहे थे, उन्ही दिनो अवन्तीसेन ने कौशाम्वी पर आक्रमण कर दिया।

शत्रु के भय से लोग अपने घरो से वाहर निकलते हुए भी हिचकते थे अत अनशन धारण किये हुए धर्मघोप मुनि के पास कोई व्यक्ति नही गया और उनका प्राणान्त हो गया। नगर के चारो ओर अवन्तीराज की सेना का घेरा पडा था अत नगर के परकोटे के द्वार को खोलना खतरे से खाली नही था। यह सोच कर लोगो ने धर्मघोष मुनि के शव को परकोटे की दीवार पर से शहर के बाहर फैंक दिया।

दोनो ओर से युद्ध की पूरी तैयारिया हो चुकी थी। उस समय साध्वी धारिणी ने भीषण नरसहार को बचाने के लिये अपने निगूढ रहस्य का उद्घाटन करना आवश्यक समझा। धारिणी राजभवन मे मणिप्रभ के पास पहुची। साध्वी को देखते ही मणिप्रभ ने अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा मे प्रगाढ भक्ति के साथ उन्हे वन्दन किया। साध्वी ने कहा – "अपने सहोदर के साथ तुम्हारा यह युद्ध कैसा ?"

मणिप्रभ ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा – "पूज्ये ! यह आप क्या कह रही है ? यह शत्रु मेरा सहोदर किस प्रकार हो सकता है ?"

इस पर साध्वी धारिणी ने आदि से अन्त तक समस्त वृत्तान्त सुनाते हुए वताया कि उसने उसे जन्म देते ही किस प्रकार, किस स्थान पर, किन-किन आभरणो एव पहिचान के चिन्हो के साथ रखा और किस प्रकार कौशाम्बी के अधिपति महाराज अजितसेन उसे प्रागण से उठा कर अपने अन्त पुर मे ले गये।

कौशाम्बी की राजमाता ने अपने समक्ष घटित हुई उन सब बातो की पुष्टि की, जो साध्वी धारिणी ने वताई थी। नामाकित मुद्रिकाओ, राष्ट्रवर्धन तथा धारिणी के आभरणो पर अकित नाम एव राजचिन्हो आदि तथा मणिप्रभ

धारिणी ने अपना परिचय देते हुए अपने साथ घटित हुई सारी घटनाए अपनी गुरुणी के समक्ष निवेदित कर दी। गर्भकाल पूर्ण होने पर रात्रि के समय धारिणी ने एकान्त स्थान मे पुत्र को जन्म दिया। उसके पुत्र के सम्बन्ध मे लोको मे निरर्थक चर्चा न चल पडे, इस अभिप्राय से धारिणी ने अपनी नामाकित मुद्रिका, आभरण और अपने पति के आभरणो की गठरी प्रच्छन्न स्थान से खोद कर निकाली और उसके साथ उस बालक को कौशाम्बी के राजप्रासाद के प्रागण मे ले जा कर रख दिया। उसका पुत्र किसी उचित स्थान पर पहुचता है अथवा नही, यह देखने के लिये धारिणी एक अन्धकार-पूर्ण स्थान में बैठ गई। उसे वहा बैठे कुछ ही क्षण व्यतीत हुए होगे कि नवजात शिशु चिल्लाया। शिशु का रुदन सुन कर कौशाम्बी नरेश अजितसेन प्रासाद से नीचे आया और मणिरत्नाभरणो की गठरी सहित उस बालक को उठा कर अपने प्रासाद मे ले गया। अजितसेन ने नवजात शिशु को राजमहिषी के अक मे सुलाते हुए कहा – "देवि! दैव ने हमे इस राज्य का उत्तराधिकारी दिया है।" राजदम्पति निस्सतान था अत· पुत्र के समान ही उस शिशु का राजकीय ऐश्वर्य और लाड-प्यार के साथ लालन-पालन होने लगा। अवन्तीसेन ने उस शिशु को अपना पुत्र घोषित करते हुए उसका नाम मणिप्रभ रखा।

मन ही मन अपने पुत्र के भाग्य की सराहना करती हुई साध्वी धारिणी अपनी गुरुणी के पास लौट गई और उनसे निवेदन कर दिया कि मृत बालक का जन्म हुआ था अत वह उसे एकान्त मे छोड आई है। पुत्र के प्रति अपने उत्तर-दायित्व से उन्मुक्त हो धारिणी निरतिचार साध्वी धर्म का पालन करने लगी।

उधर उज्जयिनीपति अवन्तीवर्धन अनुताप की अग्नि मे जलने लगा। अपने निरपराध भाई की हत्या करवाने का और धारिणी के न मिलने का शोक उसे अहर्निश संतप्त करने लगा। उसने अपने उस जघन्य अपराध के प्रायश्चित्त-स्वरूप अपने भाई राष्ट्रवर्धन और देवी धारिणी के पुत्र अवन्तीसेन को उज्जयिनी का अधीश्वर बना कर लगभग वीर निर्वाण संवत् २४ मे आर्य जम्बूस्वामी के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करली।

धारिणी यदा-कदा कौशाम्बी जाने पर राजप्रासाद मे जाती रहती थी। कौशाम्बीराज के अन्त.पुर की सभी स्त्रिया साध्वी धारिणी के प्रति बडी श्रद्धा रखने लगी और बालक मणिप्रभ भी उसके प्रति बडा स्नेह रखने लगा। क्रमश मणिप्रभ युवा हुआ और अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् वह कौशाम्वी के राज्य-सिहासन पर आसीन हुआ।

कौशाम्वी-नृप शतानीक और अवन्तीपति चण्डप्रद्योत के समय से इन दोनो राजवशो मे वैर-विरोध चला आ रहा था। किसी एक कारण को ले कर अवन्तीसेन ने अपनी बडी शक्तिशाली सेना के साथ कौशाम्वी पर आक्रमण कर दिया।

पश्चात् ही मैने तुम्हारे जिस लघु सहोदर का परित्याग कर दिया था, वही तो आज का कौशाम्बीपति मणिप्रभ है । एक प्राण-दो शरीर-सहोदरो मे परस्पर यह युद्ध कैसा ?"

वास्तविकता से अवगत होते ही अवन्तीसेन ने स्नेहविह्वल स्वर मे कहा – "पूजनीये ! मै अज्ञानतावश अपने दक्षिण हस्त से स्वय के वाम हस्त को काटने जैसी मूर्खता कर रहा था । आपने हमे उपकृत किया है । क्षण भर पहले तलवार का प्रहार करने के लिये उद्यत मेरे वाहु-युगल अब मेरे लघु वान्धव को दुलार भरे प्रगाढ आलिगन मे आवद्ध करने के लिये लालायित हो रहे है । कहा है मेरा वह प्राणप्रिय सहोदर ?"

तत्पश्चात् दोनो भाइयो का पहली वार मिलन हुआ । चरणो पर झुकते हुए अपने छोटे भाई को अवन्तीसेन ने भुजपाश मे आवद्ध कर वड़ी देर तक अपने हृदय से चिपकाये रखा । दो राजवशो के पीढियो के वैर को दोनो नरेशो ने अपने प्रेमाश्रुओ के प्रवाह मे वहा दिया । क्षण भर मे ही यह समाचार दोनो सेनाओ के योद्धाओ और कौशाम्वी के घर-घर मे विद्युत् के सचार की तरह प्रसृत हो गया । योद्धाओ के हाथो की चमचमाती हुई तलवारे म्यानो मे रख दी गई, शतघ्नियो के कानो में कूँचिया डाली जाकर उनके मुख नीचे की ओर झुका दिये गये और रणभेरी सैधव आदि रणवाद्यों के घोरारव के स्थान पर मृदग, मशक, झाझ, वीणा, शहनाई आदि की कर्णप्रिय स्वरलहरियो की गूज से समस्त वातावरण मृदुल, मोहक और मादक वन गया । क्षण भर पहले अज्ञानवश जो सेनाए एक-दूसरे के खून से होली खेलने को उद्यत थी, वे अब अज्ञान का परदा हटते ही परस्पर एक दूसरे को अबीर-गुलाल के रग से शरावोर करने लगी । इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा दिये गये विश्वकल्याणकारी अहिसा के दिव्य सदेश को जन-जन तक पहुचाने वाली सजग साध्वी धारिणी ने उस समय की मानवता को एक भीषण नरसहार से वचा लिया ।

वडे आनन्दोल्लास और सम्मान के साथ अवन्तीसेन का कौशाम्बी मे नगर प्रवेश करवाया गया । थोडी ही देर पहले जो कौशाम्बी के नागरिक आतताई के रूप मे आये हुए अवन्तीसेन से आतकित थे वे अव उसे अपना प्रिय अतिथि समझकर उस पर आनन्दविभोर हो पुष्पो की वर्षा करने लगे । अपने छोटे भाई के आग्रह पर अवन्तीसेन को एक मास तक कौशाम्बी मे रुकना पडा । दोनो भाइयो ने सह-अस्तित्व की भावनाओ का समादर करते हुए दोनो राज्यो की प्रजा की सुख-समृद्धि मे अभिवृद्धि करने वाली अनेक नीतियो का निर्धारण किया । अवन्तीसेन ने कौशाम्बी राज्य की जनता के हित के लिये अनेक लोकोपयोगी कार्यो को सम्पन्न करने हेतु अपार धनराशि दी । एक मास तक कौशाम्वी मे अनेक प्रकार के मगलमय महोत्सव मनाये गये ।

अन्ततोगत्वा एक मास पश्चात् अवन्तीसेन ने उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया । उसने आग्रहपूर्वक अपने छोटे भाई मणिप्रभ को भी साथ लिया । दोनो

एवं साध्वी धारिणी की नासिका, ललाट एव लोचनों की साम्यता से सब को दृढ विश्वास हो गया कि धारिणी मणिप्रभ की माता है और मणिप्रभ उसका पुत्र ।

सहसा मणिप्रभ के हर्ष गद्गद् कण्ठ से हठात् उद्भूत हुए ससार के समस्त स्नेह और ममता के आगर – "मा ! मेरी मा !" इन मधुर स्वरो ने सभी उपस्थित नारियो के हृदयो को पिघला कर पानी-पानी कर दिया और वह पानी बने हृदय आसुओ की झडिया बन कर अति प्रबल प्रवाह के साथ प्रवाहित हो उठे । कुछ क्षणों तक सभी की अन्तरात्माए उस अथाह अश्रुसागर में स्नान करती हुई एक अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करती रही ।

मणिप्रभ ने नीरवता को भग करते हुए कुछ दुविधा भरे स्वर मे कहा – "पूज्ये ! मेरा रोम-रोम इसी समय ज्येष्ठार्य के चरणो पर लुठित होने हेतु उत्कण्ठित हो रहा है पर जब तक वे इस तथ्य से अवगत हो मुझे अपने हृदय से लगाने के लिये उद्यत न हो तब तक मेरी ओर से किया गया इकतरफा मैत्री प्रस्ताव कायरता का प्रतीक और कौशाम्बी के राजवश के लिये अपयश का जनक बन सकता है ।[1]"

"मै अभी अवन्तीसेन के पास जाकर उसे वस्तुस्थिति से परिचित किये देती हू ।" यह कह कर साध्वी धारिणी राजप्रासाद से प्रस्थित हो अवन्ती के सैन्यशिविर पर पहुची । प्रतिहार से साध्वी के आगमन का समाचार सुनते ही अपनी अगपरिचारिकाओ सहित अवन्तीसेन ने अपने शिबिरकक्ष के द्वार पर उपस्थित हो साध्वी को बडी श्रद्धा के साथ वन्दन किया । कुछ वृद्धा परिचारिकाओ ने धारिणी के चरण पर स्फुट प्राकृतिक चिह्न को देखते ही उसे तत्काल पहिचान लिया । एक परिचारिका ने विस्फारित नेत्रो से अवन्तीसेन की ओर देखते हुए आश्चर्य एव उत्सुकतामिश्रित स्वर मे कहा – "महाराज ! ये तो हमारी स्वामिनी और उज्जयिनी के महाप्रतापी – चिरायु राजराजेश्वर की मातेश्वरी है ।"

माता की ममतामयी गोद से चिरवचित पुत्र की, अपनी जननी को पहचानते ही क्या दशा हुई होगी, यह कल्पना की पहुंच के परे है । बडे-बड़े भूपतियो के भालों को भूलुण्ठित करने वाले अवन्तीपति अवन्तीसेन का मातृचरणो मे झुकता हुआ भाल सहसा भूमि से छू गया । शिशु के समान सुबकियां भरते हुए अवन्तीसेन ने कहा – "मा! तुम इतने वर्षो तक अपने लाड़ले से दूर क्यो रही ?"

साध्वी धारिणी ने अवन्तीसेन को आश्वस्त करते हुए सक्षेप मे समस्त घटनाचक्र का विवरण सुनाने के पश्चात् कहा – "अवन्तीसेन ! प्रसव के तत्काल

---

[1] पत्तीतो भणति-जदि ओसरामि ता मम अजसो, भणति तपि वहेहि,
[आवश्यक चूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १९०]

उज्जयिनी और कौशाम्बी राज्यो का दीर्घकाल तक वडा स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहा। पारस्परिक सहयोग, व्यापार तथा कला-कौशल एव विद्या के आदान-प्रदान के कारण दोनो राज्यो के कोष और प्रजा की सुख समृद्धि मे उन दिनो उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

कहा जाता है कि वत्सका नदी के तटवर्ती पर्वत पर आर्य सुधर्मा के श्रमण-सघ के मुनि धर्मयश के अनशनपूर्वक पण्डितमरण की स्मृति को चिरस्थायी वनाने के लिये उज्जयिनी के राजा अवन्तीसेन और कौशाम्वी के राजा मणिप्रभ ने एक स्तूप का निर्माण करवाया था जो आज साची के स्तूप के रूप में विख्यात है।[1] इस सम्बन्ध मे समीचीन रूप से शोध करने और ठोस प्रमाण एकत्रित करने की आवश्यकता है।

कौशाम्बी (वत्सराज्य) का पौरव राजवंश

केवलिकाल के प्रथम चरण मे कौशाम्वी पर पौरव राजवश का शासन रहा पर द्वितीय चरण मे जैसा कि उज्जयिनी के प्रद्योत राजवश के विवरण मे बताया जा चुका है — कौशाम्बी के राजा अजितसेन ने निसन्तान होने के कारण अवन्ती के राष्ट्रवर्द्धन के नवजात पुत्र को अपने पुत्र की तरह पाला और उसका नाम मणिप्रभ रखा।

अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् कौशाम्बी के राज्य सिहासन पर मणिप्रभ बैठा जो कि चण्ड प्रद्योत का प्रपौत्र था। इस प्रकार कौशाम्बी पर पौरव राजवश के स्थान पर प्रद्योत राजवश का अधिकार हो गया।

कौशाम्बी पति मणिप्रभ के राज्यकाल की कतिपय घटनाओ का प्रद्योत राजवश के परिचय मे उल्लेख कर दिया गया है। उन घटनाओं के अतिरिक्त केवलिकाल मे कौशाम्बी के राजवंश से सम्वन्धित कोई ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओ के घटित होने का उल्लेख उपलब्ध नही होता।

कलिंग का चेदि राजवंश

केवलिकाल मे वीर नि० स० १७ तक चेदि राजवश के राजा सुलोचन का राज्य रहा। हिमवन्त स्थिविरावली के उल्लेखानुसार वीर नि० स० १८ मे सुलोचन के अपुत्रावस्था मे निधन पर वैशाली गणराज्य के अधीश्वर महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय को कलिग के सिहासन पर अभिषिक्त किया गया। हिमवन्त स्थिविरावली मे यह उल्लेख किया गया है कि वैशाली के अधिपति चेटक ने कूणिक के साथ युद्ध मे अपनी पराजय के पश्चात् अनशन द्वारा स्वर्गारोहण किया। उनके पुत्रो मे से शोभनराय नाम का एक पुत्र अपने श्वसुर कलिगपति सुलोचन के पास कनकपुर चला गया। कलिगपति सुलोचन के कोई पुत्र

[1] जैन परम्परा नो इतिहास, भा० १, (त्रिपुटी महाराज) [पृ० ७४, ७६]

भाइयो की प्रार्थना पर साध्वी धारिणी ने भी अपनी महत्तरा और अन्य साध्वियो के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया। स्थान-स्थान पर पड़ाव डालते हुए अवन्तीसेन और मणिप्रभ कौशाम्वी तथा उज्जयिनी के बीच मे वत्सका नदी के तट पर पहुचे।

उस समय तक धर्मयश मुनि यथाशक्य विहारक्रम से वहा पहुच चुके थे और उन्होने वत्सका नदी के पास के एक पहाड की गुफा मे अनशन प्रारम्भ कर दिया था। उस निर्जन एकान्त स्थान मे अनशन प्रारम्भ करने पर भी लोगो से यह बात छुपी न रह सकी और अनशन मे स्थित धर्मयश मुनि के दर्शन करने के लिये दूर-दूर से श्रद्धालु नर-नारी बडी सख्या मे आने लगे।

बहुत बडी सख्या मे नर-नारियो के समूहो को अनवरत रूप से पहाड पर चढते-उतरते देखकर उन दोनों राजाओं ने चरों से वहां लोगों के आवागमन का कारण पूछा। धर्मयश मुनि द्वारा अनशन किये जाने के समाचार सुनकर दोनो भाइयो ने वत्सका नदी के तट पर दोनों सेनाओ का पड़ाव डाला। धारिणी आदि साध्विया, अवन्तीसेन, मणिप्रभ और उन दोनों राजाओ की सेनाओ ने पहाड़ पर चढकर गुफा में स्थित अनशन किये हुए मुनि के दर्शन किये। हजारो कण्ठो ने जयघोष कर मुनि के अपूर्व त्याग, वैराग्य और अनशन की महिमा का गान किया। मुनि के अनशन के अन्त तक साध्वी धारिणी की उसी स्थान पर ठहरने की इच्छा जानकर उन दोनो भाइयों ने भी अपनी सेनाओ के साथ उस ही स्थान पर रहने का निश्चय किया। मुनि धर्मयश के अनशन की यशोगाथाए दिग्दिगन्त मे दूर-दूर तक गाई जाने लगी। दिन भर उस पर्वत पर अनशनस्थ मुनि के दर्शनार्थ आने वाले यात्रियो का आवागमन बना रहता। अन्त मे मुनि ने लम्बे अनशन के पश्चात् देहत्याग किया। अपूर्व श्रद्धा और सम्मान के साथ धर्मयशमुनि के पार्थिव शरीर का राजकीय ऋद्धि के साथ अन्तिम संस्कार किया गया। इस प्रकार किंचित्मात्र भी यश की कामना न करने वाले धर्मयश मुनि का यश चारो ओर छा गया।[1]

तदनन्तर अवन्तीसेन और मणिप्रभ ने उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया। महत्तरिका ने भी धारिणी आदि साध्वियों के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया।

कौशाम्बीपति मणिप्रभ का बड़े महोत्सव के साथ अवन्तीसेन ने उज्जयिनी मे प्रवेश करवाया। मणिप्रभ के सम्मान मे राज्य और उज्जयिनी की प्रजा दोनों ही ओर से आनन्दोल्लास के साथ अनेक उत्सवो के आयोजन किये गये। कतिपय दिनो तक अपने अग्रज के साथ उज्जयिनी मे रहने के पश्चात् मणिप्रभ अपने राज्य की राजधानी कौशाम्वी मे लौट आया।

---

[1] . ताओ भगति-भत्तपच्चक्खातओ एत्थ ता अम्हे अच्छामो, ताहे ते दोवि रायाणो ठिता दिवे दिवे महिमं करेंति, कालगता एव ते गया रायाणो, एव तस्स अणिच्छमाणस्सवि जाता, इतरस्स इच्छमाणस्स न जाता पूजा। [आवश्यक चूणि, उत्तर भाग, पृ० १६१]

नही था अतः उन्होने अन्तिम समय मे अपने जामाता शोभनराय को कलिंग राज्य का अधिपति बनाकर परलोक गमन किया। शोभनराय जैन धर्म मे प्रगाढ श्रद्धा रखने वाला प्रमुख श्रमणोपासक था।[1]

केवलिकाल मे केवल कलिंग के राजवश का ही नही अपितु भारत के प्राय. सभी अन्य राजवशो का तेज शिशुनागवश के बढ़ते हुए प्रताप के समक्ष एक प्रकार से निस्तेज तुल्य ही रहा।

---

[1] अह वेसाली णयराहिवो चेडओ णिवो सिरि महावीर तित्थयरस्सुकिट्ठो समणोवासओ आसी। से णं णिय भाइणिज्जेण चंपाहिवेण कुणिगेण संगामे अहिणिक्खित्तो अणसणं किच्चा सग्गं पत्तो। तस्सेगो सोहणरायनामधिज्जो पुत्तो तओ उच्चलिओ णिय ससुरस्स कलिंगाहिवस्स सुलोयण णामधिज्जस्स सरणं गओ। सुलोयणो वि णिप्पुत्तो त सोहणराय कलिंग रज्जे ठावित्ता परलोगगामिहि जाओ। तेण कालेण तेण समएणं वीराओ अट्ठारस वासेसु विइक्कंतेसु से सोहणरायो कलिंग विसए कणगपुरम्मि अभिसित्तो। से वि य णं जिणधम्मरओ तत्थ तित्थभूए कुमरगिरिम्मि कयजत्तो उक्किट्ठो समणोवासगो होत्था।

[हिमवंत स्थविरावली, अप्रकाशित]

श्रुतकेवली-काल

(वीर निर्वाण संवत् ६४ से १७०)

श्रुतकेवली-काल के आचार्य :

आचार्य प्रभवस्वामी

आचार्यकाल – वी. नि. सं ६४ से ७५

आचार्य सय्यंभवस्वामी

आचार्यकाल – वी. नि. स ७५ से ९८

आचार्य यशोभद्रस्वामी

आचार्यकाल – वी. नि. स. ९८ से १४८

आचार्य संभूतविजयस्वामी

आचार्यकाल – वी. नि सं. १४८ से १५६

आचार्य भद्रबाहुस्वामी

आचार्यकाल – वी. नि. स १५६ से १७०

३. आचार्य प्रभवस्वामी

जम्बूस्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी के तृतीय पट्टधर आचार्य प्रभवस्वामी हुए। आप ३० वर्ष गृहस्थ-पर्याय मे, ६४ वर्ष सामान्य व्रतपर्याय मे और ११ वर्ष तक युगप्रधान-आचार्य के रूप मे रह कर शासन सेवा करते रहे। आपकी कुल व्रतपर्याय ७५ वर्ष और पूर्ण आयु १०५ वर्ष थी। आचार्य प्रभवस्वामी वीर निर्वाण सवत् ७५ मे स्वर्ग पधारे।[1] आपका जीवन परिचय सक्षेप मे इस प्रकार है –

प्रभवकुमार विन्ध्याचल की तलहटी मे स्थित जयपुर नामक राज्य के कात्यायन गोत्रीय क्षत्रिय महाराजा विन्ध्य के ज्येष्ठ पुत्र थे। राजकुमार प्रभव का जन्म ईसा पूर्व ५५७मे विन्ध्य प्रदेश के जयपुर नगर मे हुआ। इन के लघु भाई का नाम सुप्रभ था। दोनो का लालन-पालन राजकुल के अनुरूप बडे दुलार और प्यार के साथ हुआ। राजकुमार प्रभव को शिक्षा-योग्य वय मे राज्याधिकारी राजकुमारो के अनुरूप शिक्षा-दीक्षा दी गई। वे बडे साहसी और तेजस्वी राजकुमार थे।

जिस समय राजकुमार प्रभव किशोरावस्था पार कर १६ वर्ष के हुए उस समय उनके पिता जयपुर नरेश विन्ध्य किसी कारणवश उनसे अप्रसन्न हो गये। उन्होने क्रुद्ध हो राजकुमार प्रभव को राज्य के अधिकार से वचित कर दिया और अपने कनिष्ठ पुत्र सुप्रभ को अपने राज्य का उत्तराधिकारी युवराज घोषित कर दिया।

डाकू सरदार प्रभव

अपने न्यायोचित पैतृक अधिकार से वचित कर दिये जाने के कारण राजकुमार प्रभव को बडा मानसिक आघात पहुचा और वे पिता से रुष्ट हो घर-द्वार छोड कर विन्ध्य पर्वत के विकट और भयानक जगलो मे रहने लगे। विन्ध्याटवी मे रहने वाले लुटेरो ने साहसी एव युवा राजकुमार प्रभव के साथ सपर्क स्थापित किया। लूट के अभियानो मे राजकुमार प्रभव उन लुटेरो के साथ रहने लगे। प्रभव के पराक्रम और साहस को देख कर डाकुओ के गिरोह ने उन्हे अपना सरदार बना लिया। अब डाकू-सरदार प्रभव अपने ५०० डाकुओ के शक्तिशाली दल के साथ दिन-दहाडे बडे-बडे कस्बो और ग्रामो को आये दिन लूटने लगे। डाकू-सरदार प्रभव को डकैती के अभियानो मे ज्यो-ज्यो सफलताए प्राप्त होती गई त्यो-त्यो उसकी महत्वाकाक्षाए भी बढती गई। अपनी महत्वा-

---

[1] गुरुपट्टावली, तपागच्छ पट्टावली आदि अनेक ग्रन्थो मे गणना की भूल के कारण प्रभवस्वामी की सामान्य व्रतपर्याय ४४ वर्ष लिख दी है जब कि वह ६४ वर्ष होती है। गणना की इस त्रुटि के कारण आर्य प्रभव की कुल आयु भी उन स्थलो पर ८५ वर्ष ही लिखी है। वस्तुत आ० प्रभव की कुल आयु १०५ वर्ष ही ठीक बैठती है। – सपादक

श्रुतकेवली-काल

वीर नि० स० ६४ में केवलिकाल की समाप्ति के साथ ही श्रुतकेवलिकाल प्रारम्भ हुआ। श्रुतकेवली का मतलब है समस्त श्रुतशास्त्र अर्थात् द्वादशागी का केवली के समान पारगामी ज्ञाता एव व्याख्याता। आगम मे श्रुतकेवली को जीव, अजीव आदि समस्त तत्वों के व्याख्यान में केवली के समान ही समर्थ बताया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार श्रुतकेवलिकाल वीर नि० स० ६४ से वीर नि० सं० १७० तक रहा और श्रुतकेवलिकाल की उस १०६ वर्ष की अवधि में निम्नलिखित ५ श्रुतकेवली हुए .–

१. प्रभवस्वामी
२. सय्यभवस्वामी
३ यशोभद्रस्वामी
४ सभूतविजय–और
५ भद्रबाहुस्वामी

दिगम्बर मान्यता – दिगम्बर परम्परा के अधिकाश ग्रन्थो एवं प्राय: सभी पट्टावलियों मे वीर नि० सं० ६२ से वीर नि० स० १६२ तक कुल मिला कर १०० वर्ष का श्रुतकेवलिकाल माना गया है। दिगम्बर परम्परा द्वारा सम्मत ५ श्रुतकेवलियो के नाम एव उनका आचार्यकाल इस प्रकार है .–

१. विष्णुनन्दि अपरनाम नन्दि	वी० नि० सं० ६२ से ७६
२ नन्दिमित्र ,, ,,	वी० नि० स० ७६ से ९२
३. अपराजित	वी० नि० स० ९२ से ११४
४ गोवर्धन	वी० नि० स० ११४ से १३३
५ भद्रवाहु प्रथम	वी० नि० स० १३३ से १६२

उतारे जा रहे है, तो उन्होने घनरव गम्भीर स्वर मे कहा – "तस्करो ! तुम लोग इन अतिथियो के आभूषण क्यो उतार रहे हो ?"

जम्बूस्वामी के मुख से उपरोक्त वाक्य के निकलते ही प्रभव के सभी ५०० साथी चित्रलिखित की तरह, जहा जिस मुद्रा मे थे, वहा उसी रूप मे स्तभित हो गये ।[1]

अपने ५०० साथियो को चित्रलिखित से निश्चल मुद्रा मे खडे देख कर प्रभव को बडा आश्चर्य हुआ । उसने अपने उन साथियो मे से कई का नाम ले ले कर उन्हे पुकारा, उनके कधे पकड-पकड कर झकझोरा पर सब व्यर्थ । वे सब ज्यो के त्यो खडे के खडे ही रह गये । प्रभव ने इसका कारण जानने के लिये एक के बाद एक, सारे कक्षो को देख डाला पर सर्वत्र निस्तब्धता और निद्रा का साम्राज्य था । जब वह जम्बूकुमार के शयनकक्ष की ओर बढा तो उसने वहा तारिकाओ से घिरे हुए शरदपूर्णिमा के प्रकाशपुज पूर्णचन्द्र के समान अपनी आठ नववधुओ के साथ सुखासन पर विराजमान जम्बूकुमार को देखा । प्रभव ने जम्बूकुमार को प्रगाढ निद्रा मे सुला देने हेतु अपनी अवस्वापिनी विद्या का प्रयोग किया किन्तु उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उसकी कभी नही चूकने वाली उस विद्या का जम्बूकुमार पर कोई प्रभाव नही हो रहा है ।

प्रभव का जम्बू से निवेदन

प्रभव ने हाथ जोड कर जम्बूकुमार से कहा – "भाग्यवान् ! मुझे निश्चय हो गया है कि आप कोई महापुरुष हैं । आपने कदाचित् सुना होगा, मै जयपुर नरेश विन्ध्यराज का बडा पुत्र प्रभव हू । आपके प्रति मेरे हृदय मे मैत्री के भाव प्रबल वेग से उमड रहे है । मै आपके साथ मैत्री-सम्बन्ध चाहता हू । कृपा कर आप मुझे अपनी "स्तभिनी" और 'मोचनी" विद्याए सिखा दीजिये । मै आपको तालोद्घाटिनी और अवस्वापिनी नामक दो विद्याए सिखाये देता हू ।"

इस पर जम्बूकुमार ने कहा – "सुनो प्रभव ! वस्तुस्थिति यह है कि मै अपने समस्त कुटुम्बी जनो और अपरिमित वैभव का परित्याग कर कल ही प्रात काल प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हू । वैसे मैने भाव से सभी प्रकार के आरम्भ-समारम्भो का परित्याग कर दिया है । मै पचपरमेष्ठि का ध्यान करता हू अत मुझ पर किसी विद्या का अथवा देवता का प्रभाव नही हो सकता । मुझे इन पापानुबन्धी विद्याओ से कोई प्रयोजन नही है । क्योकि ये सब घोरातिघोर दु खपूर्ण दुर्गतियो मे भटकाने वाली हैं । न मेरे पास कोई स्तभिनी विद्या है और न विमोचनी ही । मैने तो आर्य सुधर्मा स्वामी से भवविमोचनी विद्या ग्रहण कर रखी है ।"

---

[1] वयणेण तेण तेणा ते, सव्वे थभिया तओ भवणे ।
चित्तलिहियव्व जाया, अहवा पाहाणघडियव्व ॥२१७॥ [जम्बू-चरित्र, रत्नप्रभसूरिरचित]

काक्षाओं की पूर्ति के लिये उसने तालोद्घाटिनी विद्या – (मजबूत से मजबूत तालो को अनायास ही खोल डालने की विद्या) और "अवस्वापिनी विद्या" – (लोगो को प्रगाढ निद्रा मे सुला देने वाली विद्या) – इन दो विद्याओं की भी प्रयत्नपूर्वक साधना कर ली। अपने शक्तिशाली डाकूदल और उपरोक्त दोनो विद्याओं के बल पर डाकू सरदार प्रभव बड़े से बडे शहरो मे रहने वाले धनाढ्यों के घरो मे निशक हो प्रवेश करता और बिना लहू की एक बूँद बहाये ही अपार सम्पत्ति लूटने में सफल हो जाता। चारो ओर डाकू सरदार प्रभव का भयकर आतक छा गया।

प्रभव द्वारा श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर डाका

एक दिन डाकू सरदार प्रभव को उसके चरो ने सूचना दी कि राजगृह नगर मे कुबेर के समान अपरिमित सम्पत्ति के स्वामी ऋषभदत्त श्रेष्ठी के पुत्र जम्बूकुमार का आठ बडे-बडे सम्पत्तिशाली श्रेष्ठियो की ८ कन्याओ के साथ विवाह हुआ है और विवाह के अवसर पर जम्बूकुमार को अन्य अपरिमित दहेज के साथ-साथ कई करोड स्वर्णमुद्राए भी प्राप्त हुई है।

चरो के मुह से जम्बूकुमार को दहेज में मिलने वाली सम्पत्ति और श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर मे विद्यमान विपुल सम्पत्ति का ब्यौरा सुन कर डाकुओ ने अपने सरदार प्रभवकुमार से कहा – "स्वामिन ! इस अवसर का लाभ उठाने पर एक ही बार मे इतनी सम्पत्ति मिल जायगी कि उससे हम सब लोगो की अनेक पीढिया सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकेंगी।"

प्रभव ने इसे स्वर्णिम अवसर समझ कर अपने ५०० साथियो के साथ शस्त्रास्त्रो से सजधज कर राजगृह की ओर प्रयाण कर दिया।

रात्रि के समय तालोद्घाटिनी विद्या के प्रयोग से मुख्य द्वार खोल कर प्रभव ने अपने ५०० साथियो के साथ जम्बूस्वामी के गृह में प्रवेश किया। उसने अवस्वापिनी विद्या के प्रयोग से विवाहोत्सव पर एकत्रित हुए सभी स्त्री-पुरुषों एवं घर के समस्त लोगों को प्रगाढ़ निद्रा मे सुला दिया। तालोद्घाटिनी विद्या के प्रभाव से जम्बूकुमार के सुविशाल भव्य भवन के सभी कक्षो के ताले तत्क्षण खुल गये। प्रभव एव उसके साथियो ने देखा कि सभी कक्ष अनमोल एव अपार सम्पत्ति से भरे पडे है।

चोरों का स्तंभन

प्रभव के ५०० साथियो ने अवस्वापिनी विद्या के प्रभाव से प्रगाढ निद्रा मे सोये हुए जम्बूस्वामी के अतिथियों के अग-प्रत्यंगो से रत्नजटित अनमोल आभूषण उतारना और विभिन्न कक्षो से बहुमूल्य सम्पत्ति एकत्रित करना प्रारम्भ किया।

जम्बूस्वामी पर अवस्वापिनी विद्या का किञ्चित्मात्र भी प्रभाव नही हुआ था। जब उन्होने देखा कि अतिथियो के अगप्रत्यंग पर से चोरो द्वारा आभूषण

कही कोई सुरक्षित स्थान मिल जाय। उसकी दृष्टि पास ही के एक वट वृक्ष पर पडी। उसने वट वृक्ष के प्ररोहो को पकडने के लिये कूप के पास पहुच कर छलाग मारी और वट वृक्ष के प्ररोहो को पकड लिया।

कुछ समय के लिये अपने आपको सुरक्षित समझ कर उसने बड की शाखा पर लटके-लटके ही कुए के अन्दर की ओर दृष्टि दौडाई, तो उसने देखा कि कुए के बीचोबीच एक बहुत बडा भयकर अजगर अपना मुह फैलाये, जिह्वा लपलपाते हुए उसकी ओर सतृष्ण नेत्रो से देख रहा है और उससे आकार-प्रकार मे छोटे चार अन्य सर्प कुए के चारो कोनो मे बैठे हुए उसकी ओर मुँह खोले देख रहे है। भय के कारण उसका सारा शरीर काप उठा। अब उसने ऊपर की ओर आखे उठाई तो देखा कि दो चूहे, जिनमे से एक काले रग का और दूसरा श्वेत रग का है, जिस शाखा के सहारे वह लटक रहा है, उसी को बडी तेजी से काट रहे है।

यह सब कुछ देखकर उसे पक्का विश्वास हो गया कि उसके प्राण निश्चित रूप से पूर्ण सकट मे है और अब उसके बचाव का कोई उपाय नही है। इधर उस व्यक्ति के पदचिन्हो की टोह लेता हुआ वह जगली हाथी भी कुए के पास पहुचा और उस वृक्ष को जोर-जोर से हिलाने लगा। वृक्ष पर मधुमक्खियो का एक बहुत बडा छत्ता था। वृक्ष के हिलने से मधुमक्खिया उड-उडकर उस आदमी के रोम-रोम मे डक लगाने लगी, जिसके कारण उसके शरीर मे असह्य पीडा और जलन होने लगी। अब तो साक्षात् मृत्यु उसकी आखो के समक्ष नाचने लगी। मृत्यु के भय से वह सिहर उठा।

सहसा मधुमक्खियो के छत्ते मे से एक शहद की वून्द टपक कर उसके मुह मे गिरी। उस घोर दुखदायी और सकटपूर्ण स्थिति मे भी मधु की एक बिन्दु के मधुर रसास्वाद पर मुग्ध हो वह अपने आपको सुखी समझने लगा।

ठीक उसी समय आकाशमार्ग से गमन करता हुआ एक विद्याधर उस ओर से निकला। उसने कुए मे लटकते हुए और सब ओर सकटो से घिरे उस व्यक्ति की दयनीय स्थिति पर दया कर उससे कहा – "ओ मानव ! तुम मेरा हाथ पकड लो। मै तुम्हे इस कुए मे से निकालकर और सब सकटो से बचाकर सुखद एव सुरक्षित स्थान पर पहुचा दूगा।"

शाखा पर लटके एव सकटो मे फसे हुए उस व्यक्ति ने उत्तर मे विद्याधर से कहा – "तुम थोडी देर प्रतीक्षा करो। देखो वह मधुबिन्दु मेरे मुह मे टपकने वाली है।"

उस दयालु विद्याधर ने अनेक बार उस व्यक्ति को अपना हाथ पकडने और कुए से बाहर निकलने के लिये कहा किन्तु हर बार उस व्यक्ति ने घोर दुखो मे फसे होते हुए भी यही उत्तर दिया – "थोडी देर और प्रतीक्षा करो, मै एक और मधुबिन्दु का आनन्द ले लू।"

जम्बूकुमार की बात सुन कर प्रभव आश्चर्यमग्न हो विस्फारित नेत्रो से उनकी ओर देखता ही रह गया। वह सोचने लगा—कैसा अश्रुतपूर्व महान् आश्चर्य है ? यौवन की मध्याह्नवेला मे बल, वैभव और सौन्दर्य की अतुल राशि को पाकर भी देवकन्याओ जैसी आठ-आठ रमणियो के बीच निर्लिप्त रहने वाला यह कौन शूरशिरोमणि है ? इन सब का इस महापुरुष ने तृणवत् परित्याग कर दिया। यह तो कोई अलौकिक अनुपम ज्ञानी, अद्भुत विरागी पुरुष है। वस्तुत यह वन्दनीय और पूजनीय है। सहसा प्रभव का साजलि शीश जम्बूकुमार के समक्ष झुक गया।

जम्बू और प्रभव का सवाद

प्रभव असीम आत्मीयता से ओतप्रोत स्वर मे कहने लगा – "जम्बूकुमार! आप स्वय विज्ञ है। फिर भी मै एक बात आपसे निवेदन करता हू। ससार मे रमा और रामा – ये दो अमृतफल है, जो देव को भी सहसा दुर्लभ है पर सौभाग्य से आपको ये दोनो अमृतफल प्राप्त है। आप इनका यथेच्छ, जी भर कर उपभोग कीजिये। भविष्य के गर्भ मे छुपे बड़े से बडे सुख की आशा मे, उपलब्ध सुख के परित्याग की पण्डितजन प्रशसा नही करते। अभी तो आपकी वय ससार के इन्द्रियजन्य सुखो के उपभोग करने की है। मेरी समझ मे नही आता कि इस असमय में भोग-मार्ग से मुख मोड कर आपने अपने मन मे प्रव्रजित होने की बात क्यों सोच रखी है ? जिन लोगों ने आनन्दप्रद सासारिक भोगोपभोगो का जी भर रसास्वादन कर लिया हो और जिनकी अवस्था परिपक्व हो चुकी हो, ऐसे व्यक्ति यदि धर्म का आचरण करे, तो उस स्थिति मे त्याग का औचित्य समझ मे आ सकता है।"

इस पर जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! तुम जिन्हे सुख समझते हो वे तथाकथित विषयसुख मधुबिन्दु के समान अति तुच्छ, नगण्य और क्षणिक है। इनका परिणाम अत्यन्त दु खदायी है।"

प्रभव ने पूछा – "बन्धुवर ! वह मधुबिन्दु क्या है ?"

इस पर जम्बूकुमार ने प्रभव को मधुबिन्दु का आख्यान सुनाया, जो इस प्रकार है –

मधुबिन्दु का दृष्टान्त

धनोपार्जन की अभिलाषा से एक सार्थवाह अनेको अन्य अर्थार्थियो को साथ लिये देशान्तर की यात्रा को चला। उसके साथ एक बुद्धिहीन निर्धन व्यक्ति भी था। दूरस्थ प्रदेश की यात्रा करता हुआ वह सार्थ एक जंगल में पहुंचा। वहा एक डाकुओ के दल ने सार्थ पर आक्रमण कर उसे लूटना चाहा। वह गरीब व्यक्ति भय के मारे वहा से किसी न किसी प्रकार अपने प्राण बचा कर भाग निकला। पर थोडी ही दूर चलने पर उसने देखा कि एक भयानक जगली हाथी उसका पीछा कर रहा है। अपने प्राणों की रक्षा हेतु उसने इधर-उधर देखा कि

प्रभव ! इस प्रकार की वस्तुस्थिति को समझ जाने के पश्चात् मै इस भवकूप मे से निकलने के कार्य मे किंचित्मात्र भी प्रमाद नही करूंगा ।"

प्रभव ने जम्बूकुमार द्वारा रखी गई वस्तुस्थिति की तथ्यता को स्वीकार करते हुए प्रश्न किया – "आपने जो कहा वह तो सब ठीक है किन्तु आपके समक्ष ऐसी कौनसी दुःखपूर्ण स्थिति उपस्थित हो गई है, जिसके कारण आप असमय मे ही अपने उन सब स्वजनो को छोडकर जा रहे है, जो आपको प्राणो से भी अधिक चाहते है ?"

संसार का बड़ा दुःख

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया "प्रभव ! गर्भवास का दुःख क्या कोई साधारण दुःख है ?" जो विज्ञ व्यक्ति गर्भ के दुःखो को जानता है, उसको ससार से विरक्त होने के लिये वही एक कारण पर्याप्त है, निर्वेद प्राप्ति के लिये उसे इसके अतिरिक्त अन्यान्य कारणो की कोई आवश्यकता नही रहती ।" यह कह कर जम्बूकुमार ने प्रभव को गर्भवास के दुःख के सम्बन्ध मे ललितांग का दृष्टान्त सुनाया, जो इस प्रकार है –

ललितांग का दृष्टान्त

"किसी समय वसन्तपुर नगर मे शतायुध नामक एक राजा राज्य करता था। शतायुध की एक रानी का नाम ललिता था। रानी ललिता ने एक दिन एक अत्यन्त सुन्दर तरुण को देखा और उसके प्रथम दर्शन मे ही वह उस पर प्राणपण से विमुग्ध हो, उसके ससर्ग के लिये छटपटाने लगी। रानी ने अपनी एक विश्वस्त दासी को भेज कर उस युवक के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त की और जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह युवक उसी वसन्तपुर नगर के निवासी समुद्रप्रिय नामक सार्थवाह का पुत्र है, तो उसने एक प्रेमपत्र लिखकर अपनी दासी के द्वारा उस युवक के पास पहुँचाया ।

छल-छद्म मे निपुण उस दासी ने येन-केन प्रकारेण युवक को रानी के भवन मे लाकर रानी से उसका साक्षात्कार करवा दिया । रानी और ललितांग वहा निश्शक हो विषयोपभोग मे निरत रहने लगे । एक दिन राजा को अपनी रानी और युवक ललितांग के अनुचित सम्बन्ध के बारे मे सूचना मिली, तो सहसा रानी के महल मे वस्तुस्थिति का पता लगाने के लिये छानबीन प्रारम्भ करा दी गई । चतुर दासी को तत्काल ही इसकी सूचना मिल गई और उसने अपने तथा अपनी स्वामिनी के प्राणो की रक्षा के निमित्त ललितांग को अमेध्यकूप (गन्दा पानी डालने का कुआ) मे ढकेल दिया । नितान्त अपवित्र एव दुर्गन्धपूर्ण उस कुए मे अपने आपको बन्द पाकर ललितांग अपनी दुर्बुद्धि और अज्ञानता पर अहर्निश पश्चात्ताप करते हुए विचार करने लगा – हे प्रभो ! अब अगर एक बार किसी न किसी तरह इस अशुचि स्थान से बाहर निकल जाऊ, तो इन भयकर दुखद परिणाम वाले काम-भोगो का सदा के लिये परित्याग कर दूगा ।"

पर्याप्त प्रतीक्षा करने के पश्चात् उस विद्याधर ने देखा कि घोर दु.खों से पीडित होते हुए और मृत्यु के मुह मे फसा होकर भी यह अभागा मधु-बिन्दु के लोभ को नही छोड़ रहा है, तो वह उसे वहां छोडकर अपने सुन्दर एव सुखद आवास की ओर चला गया और वह दु'खी व्यक्ति अनेक प्रकार की असह्य यातनाओं को भोगता हुआ अततोगत्वा काल का कवल बन गया।

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! इस दृष्टान्त मे वर्णित अर्थार्थी वणिक् – ससारी जीव, भयानक वन– संसार, हाथी–मृत्यु, कुआ– देवमानवभव, वणिज– ससार की तृष्णा, अजगर-नरक और तिर्यच गति, चार भीषण सर्प – दुर्गतियों मे ले जाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चार कषाय, वट वृक्ष की शाखा– प्रत्येक गति की आयु, काले और श्वेत रग के दो चूहे – कृष्ण और शुक्ल पक्ष, जो रात्रि और दिन रूपी अपने दातों से आयुकाल की शाखा को निरन्तर काट रहे है। वृक्ष-कर्मवन्ध के हेतुरूप अविरति और मिथ्यात्व, मधुबिन्दु–पाचो इन्द्रियों के विषय सुख और मधुमक्खिया–शरीर मे उत्पन्न होने वाली अनेक व्याधिया है। विद्याधर है सद्गुरु जो कि भवकूप में पडे हुए दु'खी प्राणियो का उद्धार करना चाहते है।"

प्रभव से जम्बूकुमार ने प्रश्न किया – "प्रभव ! अब तुम बताओ कि जिन परिस्थितियों मे वह व्यक्ति कुएं के अन्दर लटक रहा था, उसे कितना सुख था और कितना दु ख ?"

प्रभव ने क्षणभर के लिये विचार कर कहा – "लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् जो शहद की एक बून्द उसके मुख मे गिरती थी, बस यही एक थोडा-सा उसे सुख था, शेष सब दु.ख ही दु'ख थे।"

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! यही स्थिति ससार के प्राणियो के सुख और दु ख पर घटित होती है। अनेक प्रकार के भय से घिरे हुए उस व्यक्ति को वस्तुतः नाममात्र का भी सुख कहा ? ऐसी दशा मे मधुबिन्दु के रसास्वाद मे सुख की कल्पनामात्र कही जा सकती है, वस्तुतः सुख नही।"

जम्बूकुमार ने प्रभव से पुनः प्रश्न किया– "प्रभव ! इस प्रकार की दयनीय और सकटपूर्ण स्थिति मे कोई व्यक्ति फसा हुआ हो और उसे कोई परोपकारी पुरुष कहे – "ओ दु खी मानव ! ले मेरा हाथ पकड ले, मै तुझे इस घोर कष्टपूर्ण स्थान से बाहर निकालता हूं।" तो वह दु खी व्यक्ति उस परोपकारी महापुरुप का हाथ पकडकर बाहर निकलना चाहेगा या नही ?"

प्रभव ने उत्तर दिया – "दु खो से अवश्य बचना चाहेगा।"

जम्बूकुमार ने कहा – "कदाचित् मधुविन्दु के स्वाद के मोह में फस कर कोई मूढतावश कह दे कि पहले मुझे मधु से तृप्त होने दीजिये फिर बाहर निकाल लेना, तो वह दु खो से छुटकारा नही पा सकता, क्योकि उसकी इस प्रकार कभी तृप्ति होने वाली नही है। जिस शाखा के सहारे वह लटक रहा है, उस शाखा के काले और श्वेत मूशको द्वारा, कटते ही वह भयकर अजगर के मुह मे पड़ेगा।

अठारह प्रकार के नाते

जम्बूकुमार ने सहज शान्त स्वर मे कहा – "प्रभव ! ससार मे यह कोई निश्चित नियम नही है कि जो इस भव मे पत्नी अथवा माता है, वह आगामी भव मे भी पत्नी अथवा माता ही होगी। वास्तविकता यह है कि जो इस भव मे माता है, वह भवान्तर मे वहिन, पत्नी अथवा पुत्री भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का विपर्यास भी होता है कि पति पुत्र के रूप मे उत्पन्न हो सकता है, पिता भाई के रूप मे अथवा अन्य किसी भी रूप मे उत्पन्न हो सकता है। अपने कृतकर्मो के अनुसार जीव जन्मान्तरो मे स्त्री, पुरुष अथवा नपुसक रूप मे उत्पन्न होता रहता है। ऐसी दशा मे एक समय जो माता, वहिन अथवा पुत्री थी, उसके साथ पत्नी जैसा व्यवहार करते हुए किस प्रकार लालन-पालन परिपोषण किया जा सकता है ?"

प्रभव ने कहा – "महाभाग ! भवान्तरो के सम्बन्ध तो वस्तुत. दुर्विज्ञेय ही है, इसी कारण वर्तमान की स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि के सम्बन्ध समझे और कहे जाते है।"

जम्बूकुमार ने उत्तर मे कहा – "यह सब अज्ञान का दोष है। अज्ञान के कारण ही मानव अकार्य मे कार्यबुद्धि से प्रवृत्त होता है अथवा कार्याकार्य को समझते हुए भी भोगलोलुपता एव धन-सम्पत्ति के सुख से विमोहित हो अकरणीय दुष्कार्य मे प्रवृत्त तथा सलग्न होता रहता है।"

जम्बूकुमार ने अपनी वात को प्रारम्भ रखते हुए कहा – "प्रभव ! भवान्तर की वात को छोडो। एक ही भव मे किस तरह १८ प्रकार के सम्बन्ध हो जाते है और अज्ञानवश कितनी अनर्थपूर्ण घटनाए घटित हो जाती है, इसका वृत्तान्त मै तुम्हे सुनाता हू।

कुबेरदत्त एव कुबेरदत्ता का आख्यान

"किसी समय मथुरा नगर मे कुबेरसेना नामकी एक गणिका रहती थी। जब वह पहली बार गर्भवती हुई तो उसके पेट मे बडी पीडा रहने लगी। जब उसे वैद्य को वताया गया, तो उस अनुभवी वैद्य ने कहा – "इसके गर्भ मे दो बच्चे है, इसी कारण इसे अधिक पीडा हो रही है। वस्तुत इसे अन्य कोई रोग नही है।"

कुबेरसेना की माता ने अपनी पुत्री को बहुत समझाया कि वह गर्भस्राव की कोई अच्छी औषधि लेकर उस पीडा से छुटकारा पा ले किन्तु कुबेरसेना ने गर्भपात कराने की अपनी माता की बात को स्वीकार नही किया। समय पर कुबेरसेना ने एक पुत्र और एक पुत्री के युगल को एक साथ जन्म दिया। कुबेरसेना ने अपने पुत्र का नाम कुबेरदत्त और पुत्री का नाम कुबेरदत्ता रखा।

एक दिन कुबेरसेना की माता ने उससे कहा – "बच्चो की विद्यमानता मे तुम्हारा यह गणिका-व्यवसाय पूर्णत ठप्प हो जायगा अत तुम्हे इन बच्चो का किसी निर्जन स्थान मे परित्याग कर देना चाहिये।"

ललितांग पर दया कर के वह दासी प्रति दिन प्रचुर मात्रा में उस कुए में जूठन डालती और सार्थवाहपुत्र ललितांग उस जूठन एवं दुर्गन्धपूर्ण गन्दे पानी से अपनी भूख और प्यास शान्त करता।

अन्ततोगत्वा वर्षा ऋतु आई और वर्षा के कारण वह कुआ पानी से भर गया। सफाई का कार्य करने वाले कर्मचारियों ने गन्दे नाले से जुड़ी हुई उस कुए की मोरी को खोला। मोरी के खोलते ही पानी के तेज बहाव के साथ ललितांग गंदे नाले में बहकर दूर, नाले के एक किनारे जा पड़ा। ललितांग एक लम्बे समय तक गंदे और बंद कुए में रह चुका था अतः बाहर की हवा लगते ही वह मूर्च्छित हो गया। उसको गन्दे नाले के एक छोर पर मूर्च्छितावस्था में पड़े देख कर बहुत से नागरिक वहां एकत्रित हो गये। ललितांग की धाय भी मूर्च्छित युवक की बात सुन कर वहां पहुंची और बहुत समय से खोये हुए अपने ललितांग को पहिचान कर उसे सार्थवाह के घर ले आई। दीर्घकालीन उपचारों के पश्चात् ललितांग बड़ी कठिनाई से स्वस्थ हुआ।"

ललितांग के उपर्युक्त दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! इस दृष्टान्त में वर्णित ललितांग के समान संसारी जीव है, रानी के दर्शन के समान मनुष्यजन्म है। दासी का उपमेय इच्छा, अन्तःपुरप्रवेश–विषय-प्राप्ति, दुर्गन्धपूर्ण कूप में प्रवेश–गर्भवास का द्योतक, उच्छिष्टभोजन–माता द्वारा खा कर पचाये हुए अन्न तथा जल के स्राव के आहार का, कूप से बाहर निकलना–प्रसवकाल का और धात्री द्वारा परिचर्या–देह की पुष्टि करने वाले कर्मविपाक की प्राप्ति का प्रतीक है।"

जम्बूकुमार ने प्रभव से प्रश्न किया – "कहो प्रभव ! यदि वह रानी ललितांग को पुनः अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दे, तो क्या वह उसके निमन्त्रण को स्वीकार करेगा ?"

प्रभव ने दृढतापूर्ण स्वर में उत्तर दिया – "नहीं, कभी नहीं। इतना घोर नारकीय कष्ट उठा चुकने के पश्चात् वह कभी उस ओर मुंह भी नहीं करेगा।"

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! वह कदाचित् अज्ञान के वशीभूत हो, विषयभोगों के प्रति प्रगाढासक्ति के कारण पुनः रानी के निमन्त्रण पर जा सकता है किन्तु मैंने बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को समीचीन रूप से समझ लिया है अतः मैं तो किसी भी दशा में जन्म-मरण की मूल और भवभ्रमण में फंसाने वाली रागद्वेष की परम्परा को स्वीकार नहीं करूंगा।"

इस पर प्रभव ने कहा – "सौम्य ! आपने जो कुछ कहा है, वह यथार्थ है किन्तु मेरा एक निवेदन है, वह सुनिये। लोकधर्म का निर्वहन करते हुए पति को अपनी पत्नियों का लालन-पालन एवं परितोष करना चाहिये। यह प्रत्येक पति का नैतिक दायित्व है। तदनुसार इन नववधुओं के साथ कुछ वर्षों तक सांसारिक सुखोपभोग करने के पश्चात् ही आपका प्रव्रजित होना वस्तुतः शोभास्पद रहेगा।"

अगूठी निकाल कर कुबेरदत्त की उसी अगुली मे पहना दी जिसमे कि उसकी स्वय की नामाकित अगूठी विद्यमान थी।

दोनो अगूठियो मे पूर्ण साम्य देख कर कुबेरदत्त के मन मे भी उसी प्रकार के विचार उत्पन्न हुए और उसे भी विश्वास हो गया कि निश्चित रूप से उस समानता के पीछे कोई रहस्य छुपा हुआ है। कुबेरदत्त ने कुबेरदत्ता को उसकी अगूठी लौटा दी और अपनी अगूठी लेकर वह अपनी माता (धर्ममाता) के पास पहुचा। कुवेरदत्त ने अपनी माता को शपथ दिलाते हुए कहा – "मेरी अच्छी मा ! मुझे साफ-साफ और सत्य बात बता दो कि मै कौन हू, यह अगूठी मेरे पास कहा से आई ? कुबेरदत्ता के पास भी ऐसी ही अगूठी है जिस पर अकित अक्षर मेरी अगूठी पर अकित अक्षरो से पूर्ण रूपेण मिलते-जुलते है।"

श्रेष्ठिपत्नी ने आदि से लेकर अन्त तक की सारी घटना कुवेरदत्त को सुना दी कि वस्तुत वह उसका अगज नही है। उसके पति ने उसे यमुना के प्रवाह मे बहती हुई एक छोटी सी सन्दूक में रत्नो से भरी एक पोटली और उस अगूठी के साथ पाया था।

श्रेष्ठिपत्नी से पूरी घटना सुनने के पश्चात् कुबेरदत्त को पक्का विश्वास हो गया कि कुवेरदत्ता वस्तुत उसकी सहोदरा है। उसने पश्चात्ताप और उपालम्भभरे स्वर मे कहा – "मा तुमने जानते-बूझते भाई का बहिन के साथ विवाह करा कर ऐसा अनुचित और निन्दनीय कार्य क्यो किया ?"

श्रेष्ठिपत्नी ने भी पश्चात्तापभरे स्वर मे कहा – "पुत्र ! हमने जानते हुए भी मोहवश यह अनर्थ कर डाला है। पर तुम शोक न करो। वधू को केवल पाणिग्रहण का ही दोष लगा है। कोई महापाप नही हुआ है। जो होना था सो हो गया। अब मै पुत्री कुबेरदत्ता को उसके घर भेज देती हू। तुम कुछ दिनो के लिये दूसरे नगरो मे घूम आओ। वहा से तुम्हारे लौटते ही मै किसी दूसरी कन्या से तुम्हारा विवाह कर दूगी।"

तदनन्तर कुबेरदत्त की माता ने कुबेरदत्ता को उसके घर पहुचा दिया और कुबेरदत्त भी अपने साथ पर्याप्त सम्पत्ति एव पाथेय ले कर किसी अन्य नगर के लिये प्रस्थित हुआ।

कुबेरदत्ता ने भी अपने घर पहुच कर अपनी माता से अपने तथा उस अगूठी के सम्बन्ध मे शपथ दिला कर पूछा। श्रेष्ठिपत्नी ने भी यथाघटित सारी घटना उसे सुना दी।

सारी घटना सुन कर कुबेरदत्ता को ससार से विरक्ति हो गई। उसने प्रवर्तिनी साध्वी के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और निरतिचार पचमहाव्रतो का पालन करती हुई वह उनके साथ विभिन्न क्षेत्रो मे विचरण करने लगी। उसने प्रवर्तिनी से आज्ञा लेकर वह अगूठी जिसके कारण कि उसे निर्वेद हुआ था, अपने पास रख ली। विशुद्ध-चारित्र के पालन और कठोर तपश्चरण से कुछ ही वर्षो पश्चात्

माता द्वारा बार-बार बल दिये जाने पर कुबेरसेना ने कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता के नाम की अगूठिया बनवाई और जब वे दोनो शिशु ग्यारह दिन के हुए तब कुबेरसेना ने उनके नाम की अंगूठियां सूत्र मे पिरो कर उनके गले मे बाध दी और उन्हे बहुमूल्य रत्नो की दो गठरियो के साथ दो छोटी नावों के आकार के लकडी के सन्दूको मे रख दिया। रात्रि के समय कुबेरसेना ने अपने उन दोनो बच्चो सहित उन दोनो सन्दूको को यमुना नदी के प्रवाह मे वहा दिया।

नदी के प्रवाह मे तैरती हुई वे दोनों सन्दूके सूर्योदय के समय शोरिपुर नामक नगर के पास पहुंची। वहा यमुनास्नान करने हेतु आये हुए दो श्रेष्ठिपुत्रो ने जब नदी मे सन्दूकों को आते देखा तो तत्काल उन्होंने दोनो सन्दूको को नदी से बाहर निकाल लिया। उनमें दो शिशुओ को नामाकित मुद्रिकाओं एव रत्नों की पोटलियो के साथ देख कर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। परस्पर विचारविनिमय के पश्चात् एक श्रेष्ठिपुत्र बालक को और दूसरा बालिका को अपने घर ले गया। उन दोनो श्रेष्ठिपुत्रो एव उनकी पत्नियो ने उन शिशुओ को अपनी ही सतान के समान रखा और बडे दुलार एव प्यार से पालन-पोषरण करते हुए क्रमश: शिक्षरण देकर उन्हे योग्य बनाया।

जिस समय कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता ने युवावस्था में पदार्पण किया, उस समय समान वैभव वाले उन श्रेष्ठियों ने उन्हे एक दूसरे के अनुरूप और योग्य समझ कर बड़े समारोह के साथ उन दोनों का परस्पर पारिणग्रहरण करवा दिया।[1] विवाह के दूसरे दिन द्यूतक्रीड़ा की लौकिक रीति का निर्वहन करते समय कुबेरदत्ता की सहेलियों ने कुबेरदत्त की अंगूठी उतार कर कुबेरदत्ता की अगुली मे और कुबेरदत्ता की अंगूठी कुबेरदत्त की अंगुली मे पहना दी। कुबेरदत्ता ने अपनी अंगूठी के साथ उसकी साम्यता देख कर बड़े ध्यान से उसे देखा। यह देख कर उसे कुतूहल के साथ ही साथ बडा आश्चर्य हुआ कि दोनो अगूठियो की बनावट और उन पर अकित अक्षरो में किंचित्मात्र भी अन्तर नही है। वह सोचने लगी कि इन दोनो अंगूठियों की इस प्रकार की समानता के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। उसने स्मृति पर बल देते हुए मन ही मन कहा – "हमारे पूर्वजो में इस नाम का कोई पूर्वज हुआ हो, यह बात भी आज तक किसी के मुह से नही सुनी। इसके साथ ही साथ मेरे अन्तर्मन मे इस कुबेरदत्त के प्रति उस प्रकार की भावना स्वल्पमात्र भी उत्पन्न नही हो रही है, जिस प्रकार की कि एक पत्नी के मन मे अपने पति के प्रति उत्पन्न होनी चाहिये।"

उसके मन मे दृढ विश्वास हो गया कि इस सब के पीछे अवश्य ही कोई न कोई गूढ रहस्य होना चाहिये। यह विचार कर कुबेरदत्ता ने अपनी अंगुली मे से

---

[1] 'ततो नवीन यौवनिकानिकामरामरणीयकरजितहृदयाभ्यां ताभ्यामिभ्याभ्या सुसदृशरूपरेखा-विशेषो विशेषफलवानस्त्विति कृतस्तयोरेव परिणय।

[जम्बू चरित्र, (रत्नप्रभसूरिरचित) उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति]

आपको धिक्कारते हुए कहा – "शोक ! महाशोक ! अज्ञानवश मैने कैसा अकरणीय, अनर्थभरा घोर कुकृत्य कर डाला। आत्मग्लानि और शोक से अभिभूत हो कुबेरदत्त ने उस बालक को अपनी समस्त सम्पत्ति का स्वामी बना कर साध्वी कुबेरदत्ता को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमन करते हुए कहा – "आपने मुझे प्रतिबोध दिया है। यह आपका मुझ पर बहुत बडा उपकार है। अब मै अपना शेष जीवन आत्मसाधना मे ही व्यतीत करू गा।"

यह कह कर कुबेरदत्त घर से निकल गया। उसने एक स्थविर श्रमण के पास जा कर भागवती दीक्षा ग्रहण की और निश्चल-निर्वेद के साथ विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए अन्त मे वह समाधिमरण द्वारा आयु पूर्ण कर देवरूप से उत्पन्न हुआ।

कुबेरसेना भी बोध पाकर श्राविका-धर्म का एव गृहस्थ योग्य नियमो का पालन करती हुई अपने घर मे रहने लगी और साध्वी कुबेरदत्ता अपनी प्रवर्तिनी की सेवा मे लौट गई।"

उपर्युक्त आख्यान सुनाने के पश्चात् जम्बूकुमार ने प्रभव से प्रश्न किया – "प्रभव ! अब तुम ही बताओ कि उन तीनो को उपरिवर्णित वस्तुस्थिति का सही-सही बोध हो जाने के पश्चात् भी क्या कभी विषयभोगो के प्रति राग अथवा आसक्ति हो सकती है ?"

प्रभव ने कहा – "कभी नही।"

जम्बूकुमार ने त्यागमार्ग को अपनाने का अपना दृढ निश्चय दोहराते हुए कहा – "प्रभव ! कुबेरसेना आदि उन तीनो प्राणियो मे से कदाचित् कोई मूढता-वश प्रमत्त हो विषयसेवन की ओर प्रवृत्ति कर सकता है किन्तु मैने अपने गुरु के पास प्रमाण पुरस्सर विषयभोगो से होने वाले महान् अनर्थो को अच्छी तरह से समझ लिया है अत मेरे मन मे विषय-भोगों के लिये कभी लेशमात्र भी अभि-लाषा उत्पन्न नही हो सकती।"

प्रभव का मस्तक श्रद्धा से अवनत हो गया। उसने कहा – "श्रद्धेय ! तथ्यो से ओतप्रोत अतिशय सम्पन्न आपके वचनो को सुनकर ऐसा कौनसा चेतनाशील प्राणी है, जिसे प्रतिबोध नही होगा। किन्तु एक बात मैं आपसे कहना चाहता हू। वस्तुत धन वडे ही कठोर परिश्रम और प्रयत्नो से प्राप्त होता है। आपके पास अपार सम्पत्ति है। इस विपुल वैभव का उपभोग करने के लिये आप कम से कम एक वर्ष तक तो गृहवास मे रहिये और षड्ऋतुओ के अनुकूल विपयभोगो का आनन्द लेते हुए दीन-दु खियो की सेवा कर इस द्रव्य का सदुपयोग करिये। फिर मै भी आपके साथ प्रव्रजित होने को तैयार हू।"

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! पण्डित लोग सत्पात्रो को दान देने मे सम्पत्ति का सदुपयोग प्रशसनीय वताते है न कि विषय सुखो की कामनाओ की

कुबेरदत्ता को अवधिज्ञान की उपलब्धि हो गई। जब कुवेरदत्ता को अवधिज्ञान से यह विदित हुआ कि उसका भाई कुबेरदत्त अपनी माता कुबेरसेना के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर रहा है तो उसे सासारिक प्राणियो की गर्हणीय एव दयनीय स्थिति पर बडा आश्चर्य हुआ। उसने मन ही मन विचार किया – "अज्ञान के कारण मानव कितना घोर अनर्थ कर डालता है। कुबेरसेना और कुबेरदत्त को प्रतिबोध देने हेतु उसने प्रवर्तिनी की आज्ञा से कुछ आर्याओ के साथ मथुरा की ओर विहार किया। वहा पहुंच कर कुवेरसेना गणिका के घर मे ही एक निवासयोग्य स्थान माग कर कुवेरदत्ता ने वहा रहना प्रारम्भ किया। कुबेरदत्त से कुबेरसेना को एक वालक की प्राप्ति हुई थी। उस वालक को कुबेरसेना बार-बार साध्वी कुबेरदत्ता के पास लाने लगी।

कुबेरसेना और कुबेरदत्त को प्रतिबोध देने के लिये कुबेरदत्ता ने उस बालक को दूर से ही दुलारभरे स्वर में हुलराना प्रारम्भ किया – "अरे ओ नन्हे मुन्ने! रो मत, तू मेरा भाई है, देवर भी है, पुत्र भी है, मेरी सौत (विपत्नी) का पुत्र भी है। एक तरह से तू मेरा भतीजा भी है। काका भी है। ओ मुन्ने! जिसका तू पुत्र है वह मेरा भाई भी है, पति भी है, पिता भी, पितामह भी, श्वसुर भी और पुत्र भी है। अरे बालक! और भी सुन! मै एक और निगूढ तथ्य का उद्घाटन तेरे समक्ष करती हू – ओ बच्चे! जिस स्त्री के गर्भ से तू उत्पन्न हुआ है, वह मेरी माता है। वह मेरी सास भी, विपत्नी भी, भ्रातृजाया भी, पितामही भी और बहू भी है।"

साध्वी कुबेरदत्ता द्वारा अपने पुत्र का इस प्रकार का हुलराना सुन कर कुबेरदत्त चौका। उसने वन्दन करने के पश्चात् साध्वी से प्रश्न किया – "साध्वीजी! आप इस प्रकार की परस्परविरोधी और असम्बद्ध बाते क्यों और किस कारण से कह रही है? क्या आपकी बुद्धि में कोई भ्रान्ति हो गई है अथवा आप इस बालक के विनोद के लिये केवल क्रीडार्थ ऐसी अयोग्य बातें कह रही है?"

साध्वी कुबेरदत्ता ने उत्तर मे कहा – "श्रावक! मै जो वाते कह रही हू वे सब सच्ची है। मै तुम्हारी बहिन वही कुबेरदत्ता हू जिसके साथ तुम्हारा पाणिग्रहण हो गया था और यह है हम दोनों की माता कुबेरसेना।"

कुबेरसेना और कुबेरदत्त आश्चर्य से अवाक् हो साध्वी की ओर निहारते ही रह गये।

तत्पश्चात् साध्वी कुबेरदत्ता ने अपने अवधिज्ञान द्वारा देखी हुई अनेक वाते उन दोनो को प्रमाणपुरस्सर सुनाई और नामाकित मुद्रिका की बात कही, जिन पर कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता के नाम अकित थे।

साध्वी कुबेरदत्ता के मुख से समस्त यथातथ्य वृत्तान्त सुन कर कुबेरदत्त को ससार से तीव्र वैराग्य हो गया। उसने अत्यन्त विषादभरे स्वर मे अपने

यह कह कर गौ अपने बछडे के साथ अन्तर्धान हो गई।

पशुओ के मुह से अश्रुतपूर्व मानवभाषा सुन कर गोपयुवक को आश्चर्य के साथ-साथ उनकी बात की प्रामाणिकता पर भी विश्वास हुआ। उसने विचार किया कि डाकू लोगो ने उसकी माता का अपहरण किया था। बहुत सभव है कि वह गणिका बन गई हो। क्षणभर के ऊहापोह के पश्चात् उसने निश्चय किया कि वह उस गणिका के पास जाकर वास्तविकता का पता अवश्य लगायगा।

अपने निश्चय के अनुसार गोपयुवक उस गणिका के घर पहुचा। चतुर गणिका ने उस युवक के समक्ष स्वादिष्ट अशन-पानादि प्रस्तुत कर नृत्य-सगीत आदि से उसका मनोरजन करने का उपक्रम किया।

युवा गोप ने कहा—"यह सब कुछ रहने दो। सबसे पहले तुम मुझे यह बताओ कि तुम कौन हो और कहा की रहने वाली हो?"

गणिका ने उत्तर दिया—"तरुण! तुमने मेरे जिन गुणो पर मुग्ध होकर उनके शुल्क के रूप मे विपुल धन दिया है, उन गुणो के सम्बन्ध मे तुम अपने मतलब की बात करो। तुम्हे मेरी उत्पत्ति अथवा अन्य परिचय से क्या प्रयोजन है?"

युवक ने कहा—"तुम विश्वास करो, वास्तव मे मुझे तुम्हारी उत्पत्ति के परिचय से ही प्रयोजन है, अन्य बातो से नही। कृपा कर बिना छुपाये अपना सारा इतिवृत्त सच-सच सुना दो।"

युवक की बात सुन कर गणिका कुछ क्षणों के लिये ऊहापोहात्मक विचार-सागर मे डूबी रही पर अन्ततोगत्वा उसने अपने श्वसुर-पक्ष एव पितृपक्ष के मुख्य-मुख्य स्वजनो के नामोल्लेखपूर्वक अपने डाकुओ द्वारा अपहरण तथा गणिका द्वारा क्रय किये जाने आदि सभी घटनाओ का पूरा परिचय दे दिया।

युवा गोप लज्जित हो गणिका के चरणो पर गिर कर कहने लगा—"मा! मै ही तुम्हारा वह अभागा पुत्र हू, जिससे विलग कर तुम्हे डाकू उठा लाये थे। देव-कृपा से आज हम दोनो माता और पुत्र घोर अनाचार से बच गये है।"

तदनन्तर गोपकुमार वृद्धा गणिका को उसके कहे अनुसार मूल्य चुका कर अपनी मा को अपने साथ गोकुल मे ले गया।"

उपर्युक्त दृष्टान्त सुनाने के पश्चात् जम्बूकुमार ने प्रभव से पूछा—"प्रभव! यदि देवता द्वारा उस गोपयुवक को प्रतिबोध नही दिया जाता, तो उस दशा मे उस युवा गोप के धन का उपयोग कैसा होता?"

प्रभव ने कहा "अत्यन्त गर्हणीय और नितान्त निन्दनीय।

जम्बूकुमार ने एक और प्रश्न किया—"प्रभव! माता-पुत्र का सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर क्या वह युवक गणिका बनी अपनी उस माता के साथ कभी विषयोपभोग की अभिलाषा कर सकता है?"

पूर्ति मे।" तत्पश्चात् जम्बूकुमार ने अर्थ के अनुचित उपयोग के सम्बन्ध में एक गोपयुवक का दृष्टात सुनाया जो इस प्रकार है :—

गोपयुवक का दृष्टांत

"अंग जनपद के एक गोकुल में अनेक समृद्ध गोपालक रहते थे, जिनके पास अगणित गायें तथा भैसें थीं। एक बार डाकुओ के एक सशक्त एवं सशस्त्र दल ने उस गोकुल पर आक्रमण किया। डाकू लूट में मिले धन के साथ साथ एक अत्यन्त सुन्दरी गोपयुवती को भी अपने साथ ले गये जो एक पुत्र की मा थी। जाते समय डाकू उस युवती के पुत्र को गोकुल में ही छोड गये और उस गोपवधू को डाकू बेचने के लिये चम्पा नगरी में ले गये, जहा एक वेश्या ने उसे खरीद लिया।

वेश्या ने उस गोपवधू को नृत्य एवं सगीत कला तथा गणिकाकर्म की उच्चकोटि की शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया। कुछ ही वर्षो के प्रयास से वह गोपयुवति संगीत और नृत्य कला मे निष्णात एव निपुण गणिका बन गई। वृद्धा गणिका ने गणिका-कार्य में निपुण उस गोपवधू के साथ एक रात्रि सहवास करने का एक लाख रुपया मूल्य रखा।

उधर गोकुल में रहे उस गोपवधू के पुत्र ने भी युवावस्था मे प्रवेश किया। वह गोपयुवक घृतपात्रों से भरे अनेक गाडे लेकर बेचने के लिये एक दिन चम्पा नगरी में पहुंचा। घृत-विक्रय के पश्चात् उसने देखा कि अनेक युवक गणिकाओ के घरों मे नृत्य संगीत का आनन्द लूटते हुए यथेप्सित क्रीड़ाए कर रहे है। उसके मन में भी विचार उठा कि यदि सुन्दर से सुन्दर गणिका के साथ क्रीडा का आनन्द वह न ले सका तो फिर उसका सारा धन किस काम आयगा। यह विचार कर वह युवक अनेक गणिकाओ के सौन्दर्य को देखता हुआ गणिका बनी हुई उस गोपवधु के यहां जा पहुंचा। वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उसे मुह-मागा शुल्क दे और रात्रि के समय आने का कह कर अपने गाडो के पास चला आया।

संध्या के समय वह गोपयुवक स्नानादि से निवृत्त हो सुन्दर वस्त्राभूषण पहन कर उस गणिका के घर की ओर चल पड़ा। एक देवी ने अनुकम्पावश उस युवक को उस घोर अनाचार से बचाने के लिये सवत्सा गौ का रूप धारण किया और मार्ग के बीचो-बीच बैठ गई। मार्ग मे उस युवक का एक पैर मार्ग में पडे मानव के मल से लिप्त हो गया। उस व्यक्ति ने मैले से भरा अपना पैर उस गाय के बछडे की पीठ पर पोछ डाला। मनुष्य की भाषा मे बोलते हुए उस बछडे ने अपनी माता से पूछा – "मा! यह ऐसा कौन पुरुष है, जो विष्टा से भरा अपना पैर मेरे शरीर पर पोछ रहा है?"

गौ ने भी मानव की बोली में उत्तर दिया – "वत्स! इस निकृष्ट नराधम पर क्रोध मत करना, यह अभागा तो अपनी माता के साथ सम्भोग करने जा रहा है। इस प्रकार का दुष्कृत्य करने वाला मानव यदि तेरे शरीर पर अपना विष्टा-लिप्त पांव पोंछे, तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है।"

कारण मर कर उसी नगर मे महिष की योनि मे उत्पन्न हुआ और महेश्वरदत्त की माता भी पतिवियोग के शोक से सन्तप्त हो चिन्तावस्था मे काल कर उसी नगर मे कुतिया के रूप मे उत्पन्न हुई।

महेश्वरदत्त की युवा पत्नी गागिला अपने घर मे किसी वृद्धा का अकुश न रहने के कारण स्वेच्छाचारिणी बन गई। एक दिन उसने एक सुन्दर युवक पर आसक्त हो उसे रात्रि के समय अपने घर आने का सकेत किया। सध्याकाल के पश्चात् गागिला द्वार पर खडी हो अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करने लगी। कुछ ही क्षणो की प्रतीक्षा के अनन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलकृत एव शस्त्र धारण किये हुए वह जार पुरुष अपनी प्रतीक्षा मे खडी गागिला के पास पहुचा। सयोगवश उसी समय महेश्वरदत्त भी उन दोनो–प्रेमी एव प्रेमिका के मिलनस्थल पर जा पहुचा। जारपुरुष ने अपने प्राणो को सकट मे देख कर महेश्वरदत्त को मार डालने के उद्देश्य से उस पर तलवार का घातक वार किया। पर महेश्वरदत्त ने पटुतापूर्वक अपने आपको उसके प्रहार से बचाते हुए उस जारपुरुष को अपनी तलवार के प्रहार से आहत कर दिया। घातक प्रहार के कारण वह जारपुरुष कुछ ही कदम चल कर लडखडाता हुआ पृथ्वी पर गिर पडा। जारपुरुष ने अपने दुष्कृत्य के लिये पश्चात्ताप करते हुए विचार किया – "मेरे जैसे अभागे को अपने दुराचार का तात्कालिक फल प्राप्त हो गया।" सरल भाव से आत्मालोचन करते हुए उसकी मृत्यु हो गई और वह गागिला के गर्भ मे आया। गागिला ने समय पर उसे पुत्र रूप मे जन्म दिया। इस प्रकार महेश्वरदत्त का शत्रु वह जारपुरुष महेश्वरदत्त का लाडला लाल बन गया। महेश्वरदत्त उसे अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करने लगा।

कालान्तर मे महेश्वरदत्त ने अपने पिता का श्राद्ध करने का विचार किया और कुल परम्परानुसार उसने एक भैंसा खरीदा। सयोग की बात कि उसका पिता मर कर जिस भैंसे के रूप मे उत्पन्न हुआ था वही भैंसा उसने खरीदा। उसने उस भैंसे को मार कर उसके मास से तैयार की हुई भोज्य सामग्री से अपने पिता के श्राद्ध मे आमन्त्रित लोगो को भोजन खिलाया। श्राद्ध के पश्चात् दूसरे दिन महेश्वरदत्त मद्यपान के साथ उस भैंसे के मास को बडी रुचिपूर्वक खाने लगा। वह अपनी गोद मे बैठे हुए उस जार के जीव–अपने पुत्र को महिष-मास के टुकडे खिला रहा था और पास ही मे कुतिया के रूप मे बैठी हुई अपनी मा को लाठी से मार रहा था। उसी समय एक मुनि भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए महेश्वरदत्त के घर मे आये।

मुनि ने महेश्वरदत्त को अतिप्रसन्न मुद्रा मे महिषमास खाते, पुत्र को दुलार करते और कुतिया को मारते देखा। मुनि अपने अवधिज्ञान से वस्तुस्थिति को जान कर मन ही मन विचार करने लगे – "अहो! अज्ञान की कैसी विडम्बना है। अज्ञान के कारण इस मानव ने अपने शत्रु को तो गोद मे ले रखा है, मा को पीट रहा है और अपने पिता के श्राद्ध मे अपने पिता के जीव को ही मार कर

प्रभव ने तत्काल उत्तर दिया – "कभी नही, स्वप्न मे भी नही।"

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रतिबोध पाया हुआ प्रबुद्धचेता व्यक्ति ही सब प्रकार के अनाचारो से बच सकता है, न कि अज्ञाननिद्रा से विमूढ बना हुआ व्यक्ति। वस्तुत· ज्ञान द्वारा ही सब प्रकार के दुखो तथा दुष्कृत्यों से परित्राण हो सकता है।"

इस बार प्रभव ने जम्बूकुमार को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर अनुनयपूर्ण स्वर मे कहा – "स्वामिन्! आप लोकधर्म के अनुरूप सभी कर्त्तव्यो का निर्वहन करते हुए पुत्र उत्पन्न कीजिये। पुत्र उत्पन्न करने से पितृगण परम प्रसन्न होते है, क्योकि पुत्र द्वारा किये गये तर्पण के माध्यम से उनका महान् उपकार होता है। विचक्षण पुरुषो का यह कथन लोकविश्रुत है कि – पितृऋण से उन्मुक्त (पुत्र उत्पन्न करने वाला) व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग मे निवास करता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि अपुत्र की गति नही होती, उसे स्वर्ग की प्राप्ति नही होती।[1]

जम्बूकुमार ने प्रभव की युक्ति का उत्तर देते हुए कहा – "प्रभव! तुमने पितृ-ऋण से उन्मुक्त व्यक्ति के सम्बन्ध मे स्वर्ग प्राप्ति की जो बात कही है, वह वस्तुत· सच नही है। मरने के पश्चात् अन्य भव में उत्पन्न पिता का उपकार करने की बुद्धि से किये गये अपने कार्य द्वारा पुत्र उसका कभी-कभी बडा अपकार भी कर डालता है, जबकि दूसरे भव मे गये हुए पिता को पुत्र की ओर से वास्तव मे किसी भी प्रकार की शान्ति नही मिलती। क्योंकि सभी प्राणियों को स्वय द्वारा किये गये शुभा-शुभ कर्मो का ही सुख एवं दु ख रूप फल प्राप्त होता है, न कि किसी दूसरे के द्वारा किये गये कर्म का। पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र द्वारा उसकी तृप्ति अथवा शान्ति के लिये किये गये कार्य से मृत प्राणी को तृप्ति अथवा शान्ति तो किसी भी दशा मे नही मिल सकती। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक ग्रामान्तर मे रहे हुए मित्र की भी श्राद्ध मे ब्राह्मणो को खिलाये गये भोजन से तृप्ति नही होती, तो फिर लोकान्तर में स्थित जीव की इस प्रकार के तर्पण से कैसे तृप्ति हो सकती है? जलादि तर्पण से तृप्ति के विपरीत कभी कुथू अथवा चीटी आदि जैसे छोटे-छोटे जन्तुओ के रूप में उत्पन्न हुए पिता को पुत्र द्वारा उनके तर्पण हेतु छीटे गये जल से मृत्यु आदि का कष्ट अवश्य हो सकता है।

लोकधर्म की असगति के सम्बन्ध मे मै तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ, जो इस प्रकार है –

महेश्वरदत्त का आख्यान

"किसी समय ताम्रलिप्ति नामक नगर मे महेश्वरदत्त नामक एक सार्थवाह रहता था। उसका पिता समुद्रदत्त अत्यन्त छल-छद्म एव लोभपूर्ण प्रवृत्ति के

---

[1] अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा, स्वर्गं गच्छन्ति मानवा.॥ [वैदिक साहित्य]

दृष्टान्त के निष्कर्ष को समझाते हुए जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! लोकाचार की तो वस्तुत इस प्रकार की स्थिति है। अज्ञानान्धतम से आवृत्त मन वाले प्राणी ही इसे प्रमाणभूत मान कर अकरणीय कार्यो मे प्रवृत्ति और करने योग्य कार्यो मे निवृत्ति रखते है। परन्तु जिनके हृदय मे ज्ञान का विमल प्रकाश हो चुका है, वे लोग कभी ऐसे कार्यो मे प्रवृत्त नही होते।

यह ससार दु खो से ओत-प्रोत है, इस बात को जो प्राणी अनुभव करता है, उसे चाहिये कि वह ससार के समस्त प्रपचो का परित्याग कर मोक्षप्राप्ति के लिये अपनी पूरी शक्ति लगा कर निरन्तर प्रयत्न करता रहे।"

सुख के वास्तविक स्वरूप को समझने की जिज्ञासा लिये प्रभव ने जम्बू कुमार से अन्तिम प्रश्न किया – "स्वामिन् ! विषयसुख मे और मुक्तिसुख मे क्या अन्तर है ?

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया – "प्रभव ! मुक्ति का सुख अनिर्वचनीय और निरुपम है। उसमे क्षणमात्र के लिये भी कभी कोई बाधा व्यवधान नही आता इसलिये वह अव्यावाध है, उसका कोई छोर नही, उसकी कभी कही परिसमाप्ति नही अत वह अनन्त है और देवताओ के सुख से भी वह अनन्तगुना अधिक है, जिसका वर्णन नही किया जा सकता इसलिये वह अनिर्वचनीय है।

विषयजन्य तथाकथित सुख वस्तुत सुख नही है, वह तो सुख की कल्पना और विडम्बनामात्र है। अशन, पान, विलेपन आदि का उपभोग करते समय सुख की कल्पना करता हुआ मानव वस्तुत दुखो को ही निमन्त्रण देता है। अनुभवियो ने ठीक ही कहा है कि भोग मे रोग का भय है।"

दु ख मे सुख की कल्पना करने विषयक एक दृष्टान्त सुनाते हुए जम्बूकुमार ने कहा .–

वणिक् का दृष्टान्त

"एक समय एक व्यापारी माल से कई गाडे भर कर सार्थ के साथ देशान्तर जाता हुआ एक विकट अटवी मे पहुचा। उस व्यापारी ने मार्ग मे लेन-देन की सुविधा की दृष्टि से एक खच्चर पर खरीज (रेजगी, फुटकर सिक्के) से भरा एक बोरा लाद रखा था। जगल मे पहुचते-पहुचते फुटकर सिक्को से भरा वह बोरा किसी तरह फट गया। परिणामत बहुत से पैसे मार्ग मे ही बिखर गये। ज्ञात होने पर उस व्यापारी ने अपने सभी गाडो को रोक दिया और राह मे बिखरी हुई रेजगी को अपने आदमियो की सहायता से बीनने लगा। सार्थ के रक्षको ने उस व्यापारी से कहा - "क्यो कौडियो के बदले मे करोडो की सम्पत्ति को खतरे मे डाल रहे हो ? यहा इस भयावह वन मे चोरो का बडा आतक है अत गाडो को शीघ्रतापूर्वक आगे बढने दो।"

स्वयं खाता है और अन्य लोगो को भी खिलाता है ।[1]" वे 'अहो अकार्य' कह कर घर के द्वार से ही लौट गये ।

महेश्वरदत्त ने अपने मन मे विचार किया कि मुनि विना कुछ लिये ही "अहो अकार्य" कह कर घर के द्वार से ही लौट रहे है, क्या कारण है ? मुनि से इसका कारण पूछना चाहिये, ऐसा सोच कर वह मुनि को खोजता हुआ उस स्थान पर पहुंचा जहां वे ठहरे हुए थे । महेश्वरदत्त ने मुनि को प्रणाम कर उनसे अपने घर से विना भिक्षा लिये ही "अहो अकार्य" कह कर लौट आने का कारण पूछा ।

साधु ने उत्तर दिया – "भव्य ! मांसभोजियो के गृहो से, जहा मर्यादा का विचार न हो, भिक्षा ग्रहण करना हम श्रमणो के लिये कल्पनीय नही है ।[1] मासाशन नितान्त हिसापूर्ण और जुगुप्सनीय है अत: मांसभोजी कुलो मे मै भिक्षा ग्रहण नही करता । फिर तुम्हारे घर मे तो ....।[2]

अपने अन्तिम वाक्य को अपूर्ण छोड़ कर ही मुनि मौनस्थ हो गये । महेश्वरदत्त ने मुनि के चरणो मे अपना मस्तक रखते हुए बडे अनुनय-विनय के साथ वास्तविक तथ्य बताने की प्रार्थना की । इस पर मुनि ने अपने अवधिज्ञान द्वारा जाना हुआ महेश्वरदत्त के पिता, माता, जारपुरुष, महिष, कुत्ती और पुत्र का सारा वृत्तान्त सुना दिया ।

महेश्वरदत्त ने कहा – "भगवन् ! आपने जो कुछ कहा, वह सत्य है पर क्या इन तथ्यों की पुष्टि मे आप कोई प्रमाण प्रस्तुत कर सकते है ?" मुनि ने कहा – "कुतिया को तुम अपने भण्डार-कक्ष मे ले जाओ, उसे वहा जातिस्मरण ज्ञान हो जायगा और वह अपने पंजों से आगन खोद कर रत्नों से भरा कलश बता देगी ।[3]

मुनि के कथनानुसार महेश्वरदत्त कुतिया को अपने घर के भण्डारकक्ष मे ले गया । वहा जाते ही उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और उसने अपने पंजो से कच्चा आगन खोद कर रत्नो से भरा चरू बता दिया ।

मुनि द्वारा अति निगूढ रहस्यों का प्रमाणपुरस्सर अनावरण हो जाने पर महेश्वरदत्त को ससार से विरक्ति हो गई । उसने उन्ही अवधिज्ञानी मुनि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर अपना उद्धार किया ।

---

[1] किं न गृहीता भिक्षा भगवन्, मुनिराह कल्पतेऽस्माक ।
न खलु पिशिताशिवेश्मनि, महेश्वर: प्राह को हेतु : ॥२७८॥
[जम्बूचरित्र, रत्नप्रभसूरिकृत]

[2] तेन न भिक्षे भिक्षा, मामाशिकुलेष्वह जुगुप्सावान् ।
भवतो गृहे विशेषादित्युक्त्वा स स्थितस्तूष्णीम् ॥२८३॥ (वही)
अन्तर्गृह शुनी नीता, जातजातिस्मृति सती ।
रत्नजात तदेषा तन्निखात दर्शयिष्यति ॥ (वही)

शिष्य। आपने मुझे मोक्ष का मार्ग दिखा दिया है। मैने यह दृढ निश्चय कर लिया है कि मै अब आपके साथ ही प्रव्रजित हो कर जीवनभर आपकी सेवा करूगा। आप मुझे शिष्य रूप से स्वीकृत करे।"

जम्बूकुमार ने स्वीकृति सूचक स्वर में कहा – "अच्छा।" जम्बूकुमार द्वारा स्वीकृति सूचक शब्द के उच्चारण के साथ ही प्रभव के पाच सौ स्तभित साथी स्तभन से विमुक्त हो गये। प्रभव ने अपने सब साथियो को आदेश दे कर सब सम्पत्ति को जहा से हटाया था वहा यथास्थान रखवा दिया और वह जम्बूकुमार से अनुमति ले कर दीक्षार्थ अपने पिता की आज्ञा लेने हेतु तत्काल अपने साथियो सहित जयपुर नगर की ओर प्रस्थान कर गया।

प्रभव की दीक्षा और साधना

घर पहुच कर प्रभव कुमार ने अपने कुटुम्बियो से आज्ञा प्राप्त की और दूसरे ही दिन अपने ५०० साथियो के साथ सुधर्मा स्वामी की सेवा मे उपस्थित हो आर्य जम्बू के अनन्तर उनके २६ आत्मीयो एव अपने ५०० साथियो के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार डाकुओ एव लुटेरो के अग्रणी प्रभव साधको के अग्रणी प्रभवस्वामी वन गये। जैसा कि जम्बूस्वामी के प्रकरण मे पहले बताया जा चुका है, कुछ ग्रन्थकार जम्बू के पश्चात् कालान्तर मे प्रभव का दीक्षित होना मानते है पर इस सम्वन्ध मे कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नही होते। दीक्षा ग्रहण के समय आर्य प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी। आर्य प्रभव विवाहित थे अथवा अविवाहित, एतद्विषयक कही कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नही होता।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् आर्य प्रभव ने विनयपूर्वक आर्य जम्बूस्वामी के पास ११ अगो एव १४ पूर्वो का सम्यक् रूप से अध्ययन किया और अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याए कर के तपस्या की प्रचण्ड अग्नि मे अपने कर्मसमूह को ईधन की तरह जलाने लगे। दीक्षित होने के पश्चात् ६४ वर्ष तक उन्होने जम्बूस्वामी की सेवा करते हुए साधक के रूप मे श्रमण धर्म का पालन किया। तदनन्तर वीर निर्वाण सवत् ६४ मे आर्य जम्बूस्वामी द्वारा आचार्यपद प्रदान किये जाने और आर्य जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् प्रभवस्वामी आचार्य बने। अपनी आत्मा के उद्धार के साथ-साथ प्रभवस्वामी ने युगप्रधान आचार्य के रूप मे भगवान् महावीर के शासन की बडी निष्ठा और लगन के साथ महती सेवा एव प्रभावना की।

उत्तराधिकारी के लिये चिन्तन

एकदा रात्रि के समय आचार्य प्रभवस्वामी योगसमाधि लगाये ध्यान मे मग्न थे। शेष सभी साधु निद्रा मे सो रहे थे। अर्द्धरात्रि के पश्चात् ध्यान की परिसमाप्ति पर उनके मन मे विचार आया कि उनके पश्चात् भगवान् महावीर के सुविशाल धर्मसघ का सम्यक् रूपेण सचालन करने वाला पट्टधर बनाने योग्य

रक्षको की उचित सलाह को अस्वीकार करते हुए उस व्यापारी ने कहा – "भविष्य का लाभ सदिग्ध है, ऐसी दशा मे जो पास में है, उसका परित्याग करना बुद्धिमानी नही" और वह उन फुटकर सिक्को को बीनने मे जुट गया।

साथ के अन्य लोग और सार्थ के रक्षक उस व्यापारी के माल से भरे गाडो को वही छोड कर आगे बढ गये। व्यापारी राह मे बिखरे सिक्को को बीनता रहा और शेष सार्थ रक्षको के साथ-साथ उस घने जगल से पार हो गया।

उस व्यापारी के साथ रक्षकों को न देख कर चोरो के एक दल ने आक्रमण किया और वे व्यापारी का सारा माल लूट कर ले गये।"

जम्बूकुमार ने दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिकरूप से घटित करते हुए कहा – "जो मनुष्य विषयो के तुच्छ और नाममात्र के तथाकथित सुख में आसक्त हो भावी मोक्षसुख की प्राप्ति का प्रयास छोड़ देते है, वे ससार मे अनन्तकाल तक भ्रमण करते हुए उसी प्रकार शोक और दु ख से ग्रस्त रहते है, जैसे कौडियो के लोभ मे करोडो की सम्पत्ति गवा देने वाला यह व्यापारी।"

प्रभव का आत्मचिंतन

जम्बूकुमार द्वारा कही गई हित-मित-तथ्य-युक्ति और विरक्तिपूर्ण उपर्युक्त बातों को सुनने के पश्चात् प्रभव के अन्तर्चक्षु कुछ उन्मीलित हुए, उसके हृदय मे एक प्रकार की हलचल सी प्रारम्भ हुई। उसके अन्तर्मन मे विचारो का फव्वारा फूट पडा। उसने सोचा – "यह अतिशय कान्त, परम सुकुमार, सुधाशु से भी सौम्य, सर्वांगसुन्दर एव मनमोहक अनुपम स्वरूप, कुबेरोपम अपरिमित वैभव, सुरबालाओं के समान अनिन्द्य सौन्दर्य एवं सर्वगुण सम्पन्न आठ पत्निया, भव्य-भवन और सहज सुलभ प्रचुर भोग सामग्री – इन सब का तृणवत् परित्याग कर एक ओर जम्बूकुमार मुक्तिपथ के पथिक बन रहे है। इसके विपरीत दूसरी ओर मै अपने पाच सौ साथियो के साथ दूसरे लोगो की उनके द्वारा कठोर परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति लूटने के जघन्य दुष्कृत्य मे रात-दिन निरत हूँ। मैंने अगणित लोगो को उनकी प्रिय सम्पत्ति से वचित करके रुलाया है, उनके सर्वस्व का अपहरण कर उनके जीवन को दुखमय बना डाला है। हाय! मैंने लूट-मार और चोरी के अनैतिक, असामाजिक और घृणित कार्य को अपना कर घोरातिघोर पाप-पुजो का उपार्जन कर लिया है। निश्चित रूप से मेरा भविष्य बडा ही भीषण, दु खदायी और अन्धकारपूर्ण है।"

अपने कुकर्मो का फल कितना दारुण और भयावह होगा? यह विचार आते ही प्रभव सिहर उठा। उसने तत्काल दृढ निश्चय किया कि अब वह सब प्रकार के पापपूर्ण कार्यो का परित्याग कर एव समस्त विषयोपभोगों से विरक्त हो अपने बिगडे भविष्य को सुधारने मे और आत्मकल्याण मे जुट जायगा।

मन ही मन यह निश्चय कर प्रभव ने अपना मस्तक जम्बूकुमार के चरणों पर रखते हुए हाथ जोड कर कहा – "स्वामिन्! आप मेरे गुरु है और मै आपका

उपाध्याय ने काल के समान करवाल लिये अपने जजमान को सम्मुख देख कर सोचा कि अब सच्ची बात बताये बिना प्राणरक्षा असभव है। यह विचार कर उसने कहा अर्हत् भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म ही वास्तविक तत्व और सही धर्म है। इसका सही उपदेश यहा विराजित आचार्य प्रभव से तुम्हे प्राप्त करना चाहिये।"

उपाध्याय के मुख से सच्ची बात सुन कर सय्यभव बडा प्रसन्न हुआ। उसने समस्त यज्ञोपकरण और यज्ञ के लिये एकत्रित पूरी की पूरी सामग्री उपाध्याय को प्रदान कर दी और स्वय खोज करते हुए आचार्य प्रभव की सेवा मे जा पहुचा। सय्यभव भट्ट ने आचार्य प्रभव के चरणो मे प्रणाम करते हुए उनसे मोक्षदायक धर्म का उपदेश देने की प्रार्थना की।

आचार्य प्रभव ने सम्यक्त्व सहित अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप धर्म की महिमा समझाते हुए सय्यभव से कहा कि वस्तुत यही वास्तविक तत्व, सही ज्ञान और सच्चा धर्म है। इस वीतराग मार्ग की साधना करने वाला जन्म, जरा, मरण के बन्धनो से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा पा कर अक्षय सुख की प्राप्ति कर लेने मे सफल होता है।

आचार्य प्रभव के मुख से शुद्ध मार्ग का उपदेश सुन कर सय्यभव भट्ट ने तत्काल ही प्रभवस्वामी के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य प्रभव द्वारा सय्यभव भट्ट को प्रतिबोध दिये जाने का यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि हमारे महान् आचार्य अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ भविष्य मे आने वाली भव्य प्राणियो की पीढियो को कल्याण का मार्ग बताने वाली श्रमण परम्परा को सुदीर्घ काल तक स्थायी और सशक्त बनाने के लिये भी अहर्निश प्रयत्नशील रहते थे।

आर्य प्रभव का स्वर्गगमन

डाकुओ के अधिनायक प्रभव ने ३० वर्ष की भरपूर युवावस्था मे दीक्षित हो कर ६४ वर्ष के सुदीर्घ काल तक अतिकठोर सयम का पालन किया और ११ वर्ष तक श्रमणसघ के गौरव-गरिमापूर्ण आचार्य पद पर अधिष्ठित रह कर ७५ वर्ष तक स्व और पर का कल्याण किया। इस प्रकार के उदाहरण ससार के इतिहास मे विरले ही उपलब्ध होते है। अन्त मे १०५ वर्ष की आयु मे महान् राजर्षि आचार्य प्रभव ने अपना अन्त समय सन्निकट समझ अपने शिष्य सय्यभव को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और अनशनपूर्वक १०५ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर निर्वाण सवत् ७५ मे स्वर्गगमन किया।

दिगम्बर परम्परा की मान्यता

दिगम्बर मान्यता के सभी ग्रन्थो और पट्टावलियो मे भगवान् महावीर के धर्मसघ के आचार्यो की परम्परा मे आर्य जम्बू के पश्चात् आर्य प्रभव के स्थान पर विष्णु को आचार्य माना गया है।

कौन है ? उन्होने श्रमणसघ के अपने सभी साधुओ की ओर ध्यान दिया पर उनमे से एक भी साधु उन्हे अपनी अभिलाषा के अनुकूल नही जचा । तत्पश्चात् उन्होने अपने साधुसघ से ध्यान हटा कर जब अन्य किसी योग्य व्यक्ति को खोजने के लिये श्रुतज्ञान का उपयोग लगाया, तो उन्होने अपने ज्ञानबल से देखा कि राजगृह नगर मे वत्स गोत्रीय ब्राह्मण सय्यभव भट्ट, जो कि उन दिनो यज्ञानुष्ठान मे निरत है, वह भगवान् महावीर के धर्मसघ के सचालन के भार को वहन करने मे पूर्णरूपेण समर्थ हो सकता है ।

दूसरे ही दिन गणनायक प्रभवस्वामी अपने साधुओ के साथ विहार करते हुए राजगृह नगर पधारे । वहा पहुंचने पर उन्होने अपने दो साधुओ को आदेश दिया – "श्रमणो! तुम दोनो सय्यभव ब्राह्मण के यज्ञ मे भिक्षार्थ जाओ । वहा जब ब्राह्मण लोग तुम्हे भिक्षा देने से इन्कार कर दे तो तुम उच्च स्वर से निम्न श्लोक उन लोगो को सुना कर पुन· यहा लौट आना –

"अहो कष्टमहो कष्ट, तत्व विज्ञायते न हि ।'

अर्थात् – अहो ! महान् दु ख की बात है, बडे शोक का विषय है कि सही तत्व (परमार्थ) को नही समझा जा रहा है ।

इस प्रकार आचार्य के सकेतानुसार तत्काल दो साधु भिक्षार्थ राजगृह नगर की ओर प्रस्थित हुए और सय्यभव भट्ट के विशाल यज्ञ-मडप मे पहुंच कर भिक्षार्थ खडे हुए । वहा यज्ञ मे भाग लेने हेतु उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणो ने उन दोनो साधुओं को यज्ञान्न की भिक्षा देने का निषेध कर दिया ।

इस पर प्रभवस्वामी की आज्ञानुसार मुनि-युगल ने उच्च स्वर मे उपरिलिखित श्लोक का उच्चारण किया और वे अपने स्थान की ओर लौट पडे ।

मुनि-युगल द्वारा उच्चारण किये गये उपरोक्त श्लोक को जब यज्ञानुष्ठान मे निरत, पास ही मे बैठे हुए सय्यभव भट्ट ने सुना तो वह इस पर ईहापोह करने लगा । वह इस बात को भलीभाति जानता था कि जैन श्रमण किसी दशा मे असत्य-भाषण नही करते । अत उसके मन में वास्तविक तत्वज्ञान के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की शकाएं उठने लगी । सय्यभव के अन्तर्मन मे उठे अनेक प्रकार के सशयो के तूफान ने जब उसे बुरी तरह झकझोरना प्रारम्भ किया, तो उसने यज्ञ का अनुष्ठान करवाने वाले अपने उपाध्याय से प्रश्न किया – "पुरोहितप्रवर ! वास्तव मे तत्व का सही रूप क्या है ?"

उपाध्याय ने उत्तर मे कहा – "यजमान ! सही ज्ञान का सार यही है कि वेद स्वर्ग और मोक्ष देने वाले है । जिन्होंने तत्वज्ञान को जान लिया है, वे कहते है कि वेदो के अतिरिक्त और कोई तत्व नही है ।"

इस पर सय्यभव भट्ट ने क्रुद्ध स्वर मे कहा – "सच, सच बताओ कि तत्व क्या है, अन्यथा मै तुम्हारा सिर धड से अलग कर दूंगा ।" यह कह कर सय्यभव भट्ट ने अपनी तलवार म्यान से वाहर निकाल ली ।

कार्य नही। इस सम्बन्ध मे गहन शोध की आवश्यकता है। एतद्विपयक शोध-कार्य मे जो कतिपय तथ्य सहायक सिद्ध हो सकते है, उन तथ्यो को यहा रखा जा रहा है -

(१) दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे विष्णुनन्दि को जम्बूस्वामी का उत्तराधिकारी (पट्टधर) तो माना गया है पर कही पर यह स्पष्ट रूप से उल्लेख नही किया गया है कि वे जम्बूस्वामी के शिष्य थे अथवा और किसी के।

(२) जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे जम्बूस्वामी के पट्टधर प्रभवस्वामी का विस्तार के साथ परिचय दिया गया है, उस प्रकार दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे आर्य विष्णु का कोई परिचय नही दिया गया है।

(३) दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे प्रभव का उल्लेख किया गया है पर श्वेताम्बर परम्परा के एक भी प्राचीन ग्रन्थ मे जम्बूस्वामी के उत्तराधिकारी इन विष्णुनन्दि का कही नामोल्लेख तक उपलब्ध नही होता।

आशा है दोनो परम्पराओ के विद्वान् इस सम्बन्ध मे गहन शोध के पश्चात् समुचित प्रकाश डालने का प्रयास करेगे।

४. आचार्य सय्यंभव

भगवान् महावीर के तृतीय पट्टधर आचार्य प्रभवस्वामी के पश्चात् वीर निर्वाण सवत् ७५ मे चतुर्थ पट्टधर आचार्य सय्यभव हुए। आप वत्स गोत्रीय ब्राह्मण कुल के विशिष्ट विद्वान् थे। २८ वर्ष की वय मे आचार्य प्रभव स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर, जिस समय सय्यभव ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की, उस समय उनके परिवार मे केवल उनकी युवा पत्नी विद्यमान थी।

अपनी पत्नी को असहायावस्था मे छोडकर सय्यंभव के दीक्षित होने पर नगर के नागरिक बडे खेद के साथ निश्वास छोडते हुए बोले – "भट्ट सय्यभव जैसा ससार मे अन्य कौन इतना वज्रहृदय होगा जो अपनी युवती, सुन्दरी, सती स्त्री को एकाकिनी छोडकर सयम-मार्ग का पथिक बना हो। एक पुत्र भी यदि होता तो उस आशालता के सहारे इस युवती का जीवन इतना दूभर नही होता।"

बालर्षि मरणक

उसी दिन पास-पडौस की स्त्रियो ने सय्यभव की पत्नीसे पूछा – "सरले। क्या तुम्हे आशा है कि तुम्हारी कुक्षि मे भट्ट कुल का कुलप्रदीप आ चुका है ?"

लज्जा से अरुणमुखी सय्यभव की पत्नी ने अपने अचल मे मुह छुपाने का उपक्रम करते हुए ईषत् स्मित के साथ उस समय की बोलचाल की भाषा मे छोटा सा उत्तर दिया – "मरणग" (मनाक्) जिसका अर्थ होता है – हा, कुछ है।

यह पहले बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ उत्तर-पुराण (पर्व ७६) में जम्बूस्वामी के शिष्य के रूप मे भव नामक मुनि का और प० राजमल्ल ने 'जम्बूचरितम्' में प्रभव का उल्लेख किया है। जम्बूचरितम् मे यह भी बताया गया है कि जम्बूस्वामी के निर्वाण से कुछ दिन पश्चात् पिशाचादि द्वारा दिये गये घोर उपसर्गो के परिणामस्वरूप विद्युच्चर और उसके साथ दीक्षित हुए प्रभव आदि ५०० दस्यु राजकुमारो की मृत्यु हो गई और वे सब देव बने। उपरोक्त दोनो ग्रन्थो मे इससे अधिक प्रभव का कोई परिचय नही दिया गया है।

जम्बूस्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर के धर्मसघ के आचार्य, आर्य प्रभव बने अथवा आर्य विष्णु – अपरनाम नन्दि बने – यह एक बडा ही जटिल, महत्त्वपूर्ण और नाजुक प्रश्न है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् की आचार्य परम्परा के सम्बन्ध मे आर्य जम्बू तक सचेलक और अचेलक दोनो परम्पराओ मे प्राय: मतैक्य ही दृष्टिगोचर होता है। इन्द्रभूति गौतम को प्रथम पट्टधर मानने न मानने से कोई विशेष अन्तर नही पडता क्योकि उसमें विभेद की कोई गन्ध नही आती। अचेलक परम्परा इन्द्रभूति को प्रथम पट्टधर मानती है तो सचेलक परम्परा उन्हे पट्टधर पद से भी अधिक गरिमापूर्ण गौरव और सम्मान देती है। परन्तु जम्बूस्वामी का उत्तराधिकारी कौन बना इस प्रश्न को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के मतभेद का सूत्रपात होता है। यह मतभेद आचार्य विष्णु अपरनाम नन्दि से प्रारम्भ होकर नन्दिमित्र – अपरनाम नन्दि, अपराजित और आचार्य गोवर्धन तक चलता है। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को दोनो परम्पराए समान रूप से अपना अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य मानती हैं। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् पुन यह मतभेद प्रारम्भ होता है और उसके पश्चात् कही इन दोनों परम्पराओ मे एतद्विषयक मतैक्य के दर्शन नही होते। कालान्तर मे यतिवृषभ के गुरु आर्य मक्षु और नागहस्ति का काल ही एक ऐसा काल कहा जा सकता है जिसमे ये दोनो परम्पराएं संभवत एक दूसरी के निकट सपर्क मे आई हो।

जम्बूस्वामी के उत्तराधिकारी के नामभेद को देखकर अनेक विद्वानो ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि सभवत जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही भगवान् महावीर के धर्मसघ मे श्वेताम्बर और दिगम्बर – इस प्रकार के भेद के बीज का वपन हो चुका था। पर उन विद्वानो के इस अभिमत को दोनो परम्पराए समान रूप से अस्वीकार करती है। जम्बूस्वामी के पश्चात् आचार्यो के नाम के सम्बन्ध मे मतभेद होने के उपरान्त भी न श्वेताम्बर परम्परा इस बात को मानने के लिये तैयार है और न दिगम्बर परम्परा ही कि आर्य जम्बू के निर्वाण के पश्चात् ही श्वेताम्बर और दिगम्बर – इस प्रकार की दो शाखाओ में भगवान् महावीर का धर्मसघ विभक्त हो गया।

इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका समाधान करना कोई साधारण

प्रसन्नता हुई। उसने मुनि के पास पहुच कर बडे विनय से उन्हे वन्दन किया। मुनि भी कमल- नयन सुन्दर ग्राकृति वाले बालक को देखकर सहज स्नेह भरी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। एक दूसरे को देखकर अनायास ही दोनो के हृदय मे आनन्द की ऊर्मिया तरगित होने लगी।

बालक द्वारा वन्दन किये जाने के पश्चात् आचार्यश्री ने स्नेह-गद्गद् स्वर मे बालक से पूछा – "वत्स! तुम कौन हो, किसके पुत्र हो, कहा से आये हो और कहा जा रहे हो?"

उत्तर मे बालक मणक ने मधुर स्वर मे कहा – "देव! मै राजगृह नगर निवासी वत्स गोत्रीय ब्राह्मण सय्यभव भट्ट का पुत्र हूं। मेरा नाम मणक है। मै जिस समय माता के गर्भ मे था, उसी समय मेरे पिता घर-द्वार और मेरी माता के स्नेहसूत्र को तोडकर श्रमण-धर्म मे दीक्षित हो गये। मै राजगृह नगर से उन्हे अनेक नगरो और ग्रामो मे ढूढता हुआ यहा आया हू। भगवन् यदि! आप मेरे पिताजी को जानते हो तो कृपा कर मुझे बताइये कि वे कहा है? मुझे यदि वे एक बार मिल जाय तो मै उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण कर सदा के लिये उन्ही के चरणो की सेवा मे रहना चाहता हू।"

बालक मणक के मुह से यह सुनकर आचार्य सय्यभव की मनोदशा किस प्रकार की रही होगी, यह केवल अनुभवगम्य ही है।

समुद्र के समान गम्भीर आचार्य सय्यभव ने अद्भुत धैर्य के साथ स्नेह सनी निगूढ भाषा मे कहा – "आयुष्मन् वत्स! मै तुम्हारे पिता को जानता हू। वे केवल मन से ही नही अपितु तन से भी मुझ से अभिन्न है। तुम मुझे उनके तुल्य ही समझ कर मेरे पास प्रव्रज्या ग्रहण कर लो।"

मणक सय्यभवसूरि के साथ हो लिया और सूरि उसे अपने साथ लेकर आश्रय-स्थान की ओर लौटे।

उपाश्रय मे आने पर बालक मणक को जब अन्य मुनियो से यह ज्ञात हुआ कि जिनके साथ वह जगल से उपाश्रय मे आया है, वे ही आचार्य सय्यभव है, तो अपने आन्तरिक आनन्दातिरेक को बिना किसी पर प्रकट किये वह मन ही मन बडा प्रमुदित हुआ। भक्तिविह्वल एव हर्षविभोर हो वह अपने पिता के चरणो पर गिर कर प्रार्थना करने लगा – "भगवन्! मुझे शीघ्र ही श्रमण-दीक्षा प्रदान कीजिये, अब मै आपसे पृथक् नहीं रहूगा।"

बालक मणक की प्रबल भावना देखकर आचार्य सय्यभव ने भी उसे सम्पूर्ण सावद्य-विरतिरूप श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दी। बालक मणक जो कल तक खेलकूद मे प्रमोद मान रहा था, आज एक बालर्षि के रूप मे मुक्तिपथ का सच्चा पथिक बन गया। प्राक्तन संस्कारो का कितना जबरदस्त प्रभाव है कि उपदेश और प्रेरणा की भी आवश्यकता नही पड़ी?

कर्ण-परम्परा से विद्युत् वेग की तरह यह समाचार सय्यंभव भट्ट के परिजनो तथा पुरजनो मे फैल गया और सब ने परम हर्ष और सतोष का अनुभव किया।

समय पर माता के नीरस जीवन मे आशा-सुधा का सिचन करते हुए सय्यभव के घर मे पुत्र ने जन्म ग्रहण किया। माता के "मणग" शब्द से उस शिशु के आगमन की पूर्व सूचना लोगों को प्राप्त हुई थी अतः सब ने उस शिशु का नाम "मणक" रखा। माता ने अपने पुत्र मणक के प्रति माता और पिता दोनों ही रूप मे अपना कर्त्तव्य निभाते हुए बडे स्नेहपूर्वक उसका लालन-पालन किया।

द्वितीया के चन्द्र की तरह क्रमश. बढते हुए बालक मणक ने आठ वर्ष की वय मे पदार्पण किया और अपने समवयस्क बालकों के सग खेलने के साथ ही साथ अध्ययन भी करने लगा। बालक मणक प्रारम्भ से ही बडा भावुक और विनयशील था। उसने एक दिन अपनी माता से प्रश्न किया – "मेरी अच्छी मां! मैने मेरे पिता को कभी नही देखा, बतलाओ मेरे पिता कौन और कहा है ?"

माता ने अपनी आखों मे उमडते हुए अश्रुसागर को वलपूर्वक रोकते हुए धैर्य के साथ कहा – "वत्स! जिस समय तुम गर्भ मे थे, उसी समय तुम्हारे पिता ने श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। एकाकिनी मैने ही तुम्हारा लालन-पालन किया है। पुत्र! जिस प्रकार तुमने अपने पिता को नही देखा, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पिता ने भी तुम्हे नही देखा है। तुम्हारे पिता का नाम सय्यंभव भट्ट है। जिस समय तुम गर्भ मे आये थे, उस समय उन्होने एक यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया था। उसी समय दो धूर्त जैन श्रमण आये और उनके धोखे में आकर तेरे पिता ने उनके पीछे-पीछे जा मेरा और अपने घर-द्वार का परित्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली। यही कारण है कि तुम पिता-पुत्र परस्पर एक दूसरे को अभी तक नही देख सके हो।"

माता के मुख से अपने पिता का सारा वृत्तान्त सुनकर बालक मणक के हृदय में अपने पिता सय्यभव आचार्य को देखने की उत्कट अभिलाषा जाग उठी और एक दिन अपनी माता को पूछ कर वह अपने पिता से मिलने के लिये घर से निकल पडा।

आचार्य सय्यभव उन दिनों अपने शिष्य-समुदाय के साथ विविध ग्राम नगरो में विहार करते हुए चम्पापुरी पधारे हुए थे। सुयोग से बालक मणक भी पिता की खोज मे घूमता-घामता चम्पा नगरी जा पहुंचा। वास्तव में जिसकी जो सच्ची लगन होती है वह अन्ततोगत्वा पूरी होकर ही रहती है। कहा भी है –

"जिहि के जिहि पर सत्य सनेहू, सो तिहि मिलत न कछु सन्देहू।"

पुण्योदय से मणक की मनोकामना पूर्ण हो गई। उसने नगरी के बाहर शौच-निवृत्ति के लिये आये हुए एक मुनि को देखा। "अवश्य ही ये मेरे पिता के सहयोगी मुनि होंगे" – इस विचार के आते ही सहसा मणक के हृदय मे वड़ी

आचार्य के मुख से यह जान कर कि बालक मुनि मरणक उनके गुरु का पुत्र था, मुनिमण्डल को बडा पश्चात्ताप हुआ और उन्होने कहा – "भगवन् ! आपने इतने समय तक हमे इस बात से अज्ञात रखा कि आपका और बालक मुनि मरणक का परस्पर पिता-पुत्र का सम्बन्ध था। यदि हमे समय पर इस सम्बन्ध का पता चल जाता, तो हम लोग भी अपने गुरुपुत्र की सेवा का कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठाते।"

आचार्य सय्यभव ने कहा – "मुनियो ! यदि आप लोगो को बालमुनि का मेरे साथ पुत्ररूप सम्बन्ध ज्ञात हो जाता तो आप लोग मरणक ऋषि से सेवा नही करवाते और वह भी इस प्रकार आपके स्नेहपूर्ण व्यवहार के कारण ज्येष्ठ मुनियो की सेवा के महान् लाभ से वचित रह जाता। अत आपको इस बात का मन में खेद नही करना चाहिये। बालमुनि की अल्पकालीन आयु को देख कर मैने, ज्ञान और क्रिया का वह सम्यक् आराधन कर सके, इस हेतु पूर्व-श्रुत से सार निकाल कर एक छोटे सूत्र की रचना की। कार्य सम्पन्न हो जाने से अब मै उस दशवैकालिक सूत्र का पुन पूर्वो मे सवरण कर देना चाहता हू।"

आचार्य सय्यभव की बात सुन कर यशोभद्र आदि मुनियो ने और सघ ने आचार्यश्री की सेवा मे विनयपूर्वक प्रार्थना की – "पूज्य ! मरणक मुनि के लिये आपने जिस शास्त्र की रचना की है, वह आज भी मन्दमती साधु-साध्वियो के लिये आचारमार्ग का ज्ञान-सम्पादन करने के लिये उपयोगी है और भविष्य मे होने वाले अल्पबुद्धि साधु-साध्वी भी इसके द्वारा संयमधर्म का ज्ञान प्राप्त कर सरलता से साधना कर सकेगे अत· कृपा कर आप इस सूत्र का पूर्वो मे सवरण न कर इसे यथावत् रहने दे।"

सघ द्वारा की गई प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्य सय्यभव ने "दशवैकालिक सूत्र" को यथावत् स्थिति मे रहने दिया। सय्यभवस्वामी के इस कृपा-प्रसाद के फलस्वरूप आज भी साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ दशवैकालिक सूत्र से पूरा आध्यात्मिक लाभ उठा रहा है।

दशवैकालिक सूत्र के दश अध्ययन न केवल मुनियो के लिये अपितु प्रत्येक साधक के लिये अलौकिक ज्योतिर्मय प्रदीपस्तम्भ है। उन अध्ययनो मे प्रतिपादित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक विषयो का सार रूप मे विवरण इस प्रकार है –

१. द्रुमपुष्पक नामक प्रथम अध्ययन मे अहिसा, सयम और तप रूप धर्म का स्वरूप और महत्त्व बताया गया है। वस्तुत· आर्य सस्कृति के मूल सिद्धान्तो को पाच गाथाओ मे सूत्र रूपेण ग्रथित कर समर्थ आचार्य सय्यभव ने सागर को गागर मे भर दिया है।

२ श्रामण्यपूर्वक नामक द्वितीय अध्ययन मे सयम से विचलित मन को स्थिर करने के अतरग एवं बहिरग उपाय बताये गये है।

दशवैकालिक की रचना

मणक ने दीक्षित होकर जब आचार्य सय्यभव को आत्मसमर्पण कर दिया तो वे मणक के आत्मकल्याण की दिशा में विचार करने लगे। श्रुतज्ञान मे उपयोग लगा कर उन्होने देखा कि इस बालर्षि की आयु केवल ६ मास की ही अवशिष्ट रह गई है। इस अति स्वल्प काल मे बालक मुनि ज्ञान और क्रिया, दोनो ही का सम्यक्रूपेण आराधन कर के किस प्रकार अपना आत्मकल्याण साध सकता है इस पर चिन्तन करते हुए आचार्य सय्यभव को ध्यान आया कि "चतुर्दश पूर्वो का पारगामी विद्वान् मुनि या १० पूर्वधर कभी विशेष कारण के उपस्थित होने की दशा में स्व-पर कल्याण की कामना से पूर्व-श्रुत मे से आवश्यक ज्ञान का उद्धार कर सकते है। बालक मुनि मणक का अल्प समय मे आत्मकल्याण सम्पन्न करने के लिये मेरे समक्ष भी यह कारण है इसलिये मुझे भी पूर्वो मे से सार ग्रहण कर एक सूत्र की रचना करनी चाहिये।"

यह निश्चय कर आचार्य सय्यंभव ने विभिन्न पूर्वो से सार ले कर दश अध्ययनों वाले एक सूत्र की रचना की। सायकाल के विकाल मे पूर्ण किये जाने के कारण उस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। आचार्य सय्यंभव ने स्वय मणक मुनि को उसका अध्ययन और ध्यानादि का अभ्यास कराया। मुनि मणक अपनी विनयशीलता, आज्ञा- पालकता और ज्ञानरुचि के कारण आचार्यश्री की कृपा से अल्प समय मे ही ज्ञान और क्रिया का सम्यक् आराधक बन गया।

आचार्य सय्यभव ने जब मणक मुनि का अंतिम समय सन्निकट देखा, तो उन्होने उसकी अन्तिम आराधना के लिये आलोचनादि आवश्यक क्रियाए सम्यक् रीति से सम्पन्न करवाई। मणक मुनि ने भी ६ मास के अत्यल्प काल के निर्मल श्रमणधर्म की आराधना के पश्चात् समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गगति प्राप्त की। मणक मुनि के, इस स्वल्पकालीन साधना के पश्चात् सहसा देहत्याग पर आचार्य सय्यभव को सहज ही मानसिक खेद हुआ और उनके नेत्रों से हठात् अश्रुकण निकल पडे। जब यशोभद्र आदि मुनिमण्डल ने बालमुनि मणक की देहलीला-समाप्ति के साथ आचार्य सय्यभव के मुखकमल को म्लान और उनके नयनों मे अश्रुबिन्दुओ को देखा, तो उन्हें बडा आश्चर्य हुआ। उन्होने विनयपूर्वक अपने गुरुदेव से पूछा – "भगवन्! हमने आज तक कभी आपके मुखकमल पर किंचित्मात्र भी खिन्नता नही देखी पर आज सहसा आपके नयनों में अश्रु भर आने का क्या कारण है? आप जैसे परमविरागी एव शोकमुक्त महामुनि के मन में खेद होने का कोई खास कारण होना चाहिये। कृपया हमारी शका दूर करने का कष्ट करे।"

मुनिसंघ की बात सुन कर आचार्य सय्यभव ने मणक मुनि और अपने बीच के पिता-पुत्र रूप सम्बन्ध का रहस्य प्रकट करते हुए बताया – "इस बालमुनि ने इतनी छोटी वय में सम्यक्ज्ञान के साथ निर्मल चारित्र का पालन किया और साधना के मध्य मे ही वह परलोकगमन कर गया, इसलिये मेरा हृदय भर आया। अच्छा होता, यह कुछ आयु बल पा कर साधना को पूर्ण कर पाता।"

अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और अनशन एव समाधिपूर्वक वीर निर्वाण सवत् ६८ मे ६२ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने स्वर्गगमन किया।

दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो एव पट्टावलियो मे सय्यभव के स्थान पर नन्दिमित्र को आचार्य माना गया है। आचार्य नन्दिमित्र का भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे कोई परिचय उपलब्ध नही होता।

५ आचार्य यशोभद्र स्वामी

आचार्य सय्यभव के पश्चात् भगवान् महावीर के पचम पट्टधर श्री यशोभद्र स्वामी हुए। आपका विस्तृत जीवन-परिचय उपलब्ध नही होता। नन्दी स्थविरावली और युग प्रधान पट्टावली आदि मे जो थोडा बहुत परिचय प्राप्त होता है, उसके आधार पर यहा भी सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है –

आपका जन्म तुगियायन गोत्रीय याज्ञिक ब्राह्मण परिवार मे हुआ। आपने अपना अध्ययनकाल पूर्ण कर जब तरुण अवस्था मे प्रवेश किया, तब सहसा आचार्य सय्यभव के सत्सग का आपको सुयोग मिला। आचार्य सय्यभव की त्याग-विराग भरी वाणी सुन कर यशोभद्र की सोई हुई आत्मा जग उठी। उनके मन का मोह दूर हुआ और वे २२ वर्ष की भर तरुण अवस्था मे सासारिक मोह-माया का परित्याग कर आचार्य सय्यभव के पास दीक्षित हो मुनि बन गये। १४ वर्ष तक निरतर गुरु-सेवा मे ज्ञान-ध्यान की साधना करते हुए यशोभद्र ने चतुर्दश पूर्वो का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और गुरु-आज्ञा से अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए वे विधिवत् सयम धर्म का पालन करते रहे।

वीर नि० स० ९८ मे आचार्य सय्यभव के स्वर्गारोहण के पश्चात् आप युगप्रधान आचार्यपद पर आसीन हुए। ५० वर्ष तक आचार्य पद पर रह कर जिनशासन की अनुपम सेवा करते हुए आपने वीतराग मार्ग का प्रचार एव प्रसार किया। वीर निर्वाण स० १४८ मे अपने पश्चात् श्री सभूतविजय तथा भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आप समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्ग सिधारे।[1]

आचार्य यशोभद्र स्वामी ने अपने आचार्यकाल मे अपने प्रभावशाली उपदेशो से बडे-बडे याज्ञिक विद्वानो को प्रतिबोध दे कर जैनधर्मानुरागी बनाया। यह

---

[1] मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी।
चतुर्दशपूर्वधरौ, तस्य शिष्यौ बभूवतु ॥३॥
सूरि श्रीमान्यशोभद्र, श्रुतनिध्योस्तयोद्वयो।
स्वमाचार्यकमारोप्य, परलोकमसाधयत् ॥४॥ [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

३. क्षुल्लकाचार नामक तृतीय अध्ययन मे साधु के लिये अनाचरणीय कार्यो की तालिका दी गई है।

४ षड्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन में छ प्रकार के जीवनिकाय का सक्षिप्त स्वरूप और उनकी रक्षा हेतु यतना का निर्देश दिया गया है।

५ पिडैषणा नामक पचम अध्ययन मे मुनियों की आहारविधि एव भिक्षा-विपयक अन्य नियमों का विवेचन दो उद्देशकों द्वारा किया गया है।

६. धमर्थिकाम नामक छठे अध्ययन मे साधु के आचार धर्म का वर्णन करते हुए १८ स्थानो के वर्जन का उपदेश दिया गया है।

७. वचनशुद्धि नामक सातवे अध्ययन मे वाणी और भाषा के भेदों का विशद् वर्णन कर असत्य एव दोषपूर्ण भाषा से बचकर सत्य और निर्दोष वाणी बोले यह बताया गया है।

८ आचार प्रणिधान नामक अष्टम अध्ययन मे मुनियो के आचारो का वर्गीकरण सन्निहित है।

९. विनयसमाधि नामक नवम अध्ययन में चार उद्देशकों से विनय धर्म की शिक्षा दी गई है तथा (१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपसमाधि और (४) आचारसमाधि रूप से समाधि के चार कारण वतलाये है।

१०. "स· भिक्षु" नामक दशम अध्ययन मे – साधु-जीवन का अधिकारी कौन है, किस प्रकार सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, इसका माध्यम क्या है आदि आदर्श साधु-जीवन का सुन्दर विश्लेषण सारगर्भित एव सीमित शब्दावलि मे प्रस्तुत किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र पर नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहुस्वामी (श्रुतकेवली भद्र-बाहु से भिन्न) द्वारा रचित निर्युक्ति के अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाए और वृत्तिया आज भी उपलब्ध है। आत्मधर्म का जितना सुन्दर, व्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण विवेचन दशवैकालिक मे उपलब्ध है, उतना अन्यत्र एक ही स्थान मे उपलब्ध नही होता। समस्त श्रुतसागर के विलोडन के पश्चात् आचार्य सय्यभव ने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगम का गुंफन किया। इस सूत्र के अध्ययन और मनन को अपने दैनिक जीवन में प्रमुख स्थान देकर मणक मुनि ने अतीव स्वल्पतर समय मे दुस्साध्य मुनिधर्म का सम्यक् रीति से आराधन किया और आध्यात्मिक पथ पर अद्भुत प्रगति करते हुए स्वर्गगमन किया।

आचार्य सय्यंभव का स्वर्गगमन

आचार्य सय्यभव ने २८ वर्ष की युवा अवस्था मे (वी० नि० स० ६४ मे) दीक्षा ग्रहण की। वे ११ वर्ष तक सामान्य साधु रहे और २३ वर्ष तक युगप्रधान-आचार्य पद पर रहकर उन्होने महावीर के धर्मशासन की वडी तत्परता से सेवा की। अन्त मे अपना आयुकाल सन्निकट समझकर अपने प्रमुख शिष्य यशोभद्र को

रहते हुए भगवान् महावीर के सघ का सुचारु रूप से सचालन किया। चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता और वाग्लब्धिसम्पन्न होने के कारण आपने अपने उपदेशो से अनेक भोगीजनो को त्यागी-विरागी बनाया। आर्य स्थूलभद्र जैसे परम भोगी गृहस्थ आपके ही शिष्य थे, जिनकी महान् योगियो मे सर्वप्रथम गणना की जाती है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आपके निम्नलिखित मुख्य स्थविर शिष्य और शिष्याए थी :–

शिष्य

१ नदनभद्र, २ उपनदनभद्र, ३ तीसभद्द, ४ जसभद्द, ५ सुमिणभद्द, ६. मणिभद्द, ७ पुण्यभद्द, ८ स्थूलभद्र, ९ उज्जुमई, १०. जम्बू, ११ दीहभद्द और १२ पडुभद्द।[1]

शिष्याएं

१ जक्खा, २ जक्खदिण्णा, ३. भूया, ४ भूयदिण्णा, ५ सेणा, ६. वेणा और ७ रेणा। ये सातो ही आर्य स्थूलभद्र की बहिने थी।

वीर निर्वाण सवत् १५६ मे आर्य सभूतविजय ने अपनी आयु का अन्तिम समय सन्निकट जानकर अनशन किया और समाधिपूर्वक स्वर्गगमन किया।

यह यहा उल्लेखनीय है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा से लेकर आचार्य यशोभद्र स्वामी तक अर्थात् ५ पट्ट तक श्रमणसघ मे एक आचार्य परम्परा बनी रही। वाचनाचार्य आदि के रूप मे रहने वाले अन्य आचार्य एक ही पट्टधर आचार्य के तत्वावधान मे शासन-सेवा का कार्य करते आये थे पर आचार्य यशोभद्र ने सभूतविजय और भद्रबाहु नामक दो श्रुतकेवली शिष्यो को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। आचार्य यशोभद्र ने अपने पश्चात् दो आचार्यो की परम्परा किस कारण प्रारम्भ की, इसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से तो कुछ नही कहा जा सकता पर ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमणसघ के अत्यधिक विस्तार को देखकर सघ का सचालन समीचीन रूप से हो सके, इसी दृष्टि से आभ्यतर और वाह्य सचालन का कार्य दो अलग आचार्यो मे विभक्त कर दो आचार्यो की परम्परा प्रचलित की हो।

इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि आचार्य सभूतविजय वी० नि० स० १४८ से १५६ तक भगवान् महावीर के शासन के सर्वेसर्वा आचार्य रहे और उनके स्वर्गगमन के पश्चात् ही आचार्य भद्रबाहु ने सघ की बागडोर सम्पूर्ण रूप से अपने हाथ मे सम्भाली। सघ वस्तुत दो आचार्यो की नियुक्ति के पश्चात् भी

---

[1] नदणभद्दु १ वनदण-भद्दे २ तह तीसभद्दे ३ जसभद्दे।
थेरे य सुमणभद्दे ५ मणिभद्दे (गणिभद्दे) ६ पुण्णभद्दे ७ य।
थेरे अ थूलभद्दे ८ उज्जुमई ९ जवूनामधिज्जे १० य।
थेरे अ दीहभद्दे ११ थेरे तह पडुभद्दे १२ य॥ [कल्पसूत्र स्थविरावली]

आप ही की विचक्षण प्रतिभा का फल था कि एक ही आचार्य के शासनकाल मे सभूतविजय और भद्रबाहु जैसे दो समर्थ शिष्य चतुर्दश पूर्वधर-श्रुतकेवली बने ।

आचार्य यशोभद्रस्वामी २२ वर्ष गृहस्थ पर्याय मे रहे, १४ वर्ष सामान्य साधु-पर्याय मे और ५० वर्ष तक युगप्रधान-आचार्यरूप से जिन शासन की सेवा मे निरत रह ८६ वर्ष की कुल आयु पूर्ण कर वी० नि० स० १४८ मे स्वर्गवासी हुए ।

भगवान् महावीर के पश्चात् सुधर्मा स्वामी से आचार्य यशोभद्र तक जैन श्रमणसघ मे एक ही आचार्य की परम्परा बनी रही । वाचनाचार्य आदि रूप से संघ मे रहने वाले अन्य आचार्य भी एक ही शासन की व्यवस्था निभाते रहे । आचार्य यशोभद्र ने अपने शासनकाल तक इस परम्परा को सम्यक्रूपेण सुरक्षित रखा, यह आपकी खास विशेषता है ।

गुरुपट्टावली मे आचार्य यशोभद्र का जीवनकाल इस प्रकार बताया गया है –

"तत्पट्टे ५ श्री यशोभद्र स्वामी । स च २२ वर्षाणि गृहे, १४ वर्षाणि व्रते, ५० वर्षाणि युगप्रधानत्वे, सर्वायु षडषिति (८६) वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीरात् १४८ वर्षान्ते स्वर्ययौ ।" पट्टावली समुच्चय, पृ० १६४

दिगम्बर

दिगम्बर मान्यता के ग्रन्थो एव पट्टावलियो मे तीसरे श्रुतकेवली आचार्य यशोभद्र के स्थान पर अपराजित को तीसरा श्रुत-केवली आचार्य माना गया है । आपका भी कोई विशेष परिचय उपलब्ध नही होता ।

६. श्री सम्भूतविजय

आचार्य यशोभद्र स्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर के छट्ठे पट्टधर आचार्य श्री सम्भूतविजय और भद्रबाहु स्वामी हुए ।

आचार्य सम्भूतविजय का विशेष परिचय कही उपलब्ध नही होता । इनके सम्बन्ध मे केवल इतना ही ज्ञात है कि वे माढर गोत्रीय ब्राह्मण थे । तपागच्छ पट्टावली में इनके नाम की व्युत्पति बताते हुए लिखा गया है – "पदसमुदायोपचारात् सभूतेति श्री सभूतविजय. भद्दत्ति।"

आचार्य सभूतविजय का जन्म वीर नि० सं० ६६ मे हुआ । ४२ वर्ष तक गृहवास मे रहने के पश्चात् आचार्य यशोभद्र के उपदेश से आपने वीर नि० स० १०८ मे श्रमण दीक्षा अगीकार की । आपने विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए आचार्य यशोभद्र के पास द्वादशागी का समीचीन रूप से अध्ययन कर श्रुतकेवली पद प्राप्त किया । ४० वर्ष तक आपने सामान्य साधु पर्याय मे रहते हुए जिन-शासन की सेवा की और वीर निर्वाण सवत् १४८ से १५६ तक आचार्य पद पर

आचार्य भद्रबाहु अपने समय के घोर तपस्वी, महान् धर्मोपदेशक, सकल श्रुतशास्त्र के पारदृश्वा और उद्भट विद्वान् होने के साथ-साथ महान् योगी भी थे। आपने निरन्तर १२ वर्ष तक महाप्राण-ध्यान के रूप मे उत्कट योग की साधना की। इस प्रकार की दीर्घकालीन योगसाधना के उदाहरण भारतीय इतिहास मे विरले ही उपलब्ध होते है। आपने वी० नि० स० १५६ से १७० तक के १४ वर्ष के आचार्य-काल में भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे विचरण कर जिनशासन का प्रचार-प्रसार और उत्कर्ष किया।

जैन शासन में भद्रबाहु की महिमा

आपको श्वेताम्बर तथा दिगम्बर[1] दोनो परम्पराओ द्वारा पाचवे तथा अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है। भद्रबाहु स्वामी द्वारा की गई सघ एव श्रुत की उत्कट सेवा के कारण उनका स्थान जैन इतिहास मे बहुत ऊचा है। श्रुतशास्त्र विषयक आपके द्वारा निर्मित कृतिया लगभग २३ शताब्दियो से आज तक मुमुक्षु साधको के लिये प्रकाशमान दीपस्तम्भो का काम कर रही है। शासन-सेवा और अपनी इन अमूल्य कृतियो के कारण आप भगवान् महावीर के शासन के एक महान् ज्योतिर्धर आचार्य के रूप मे सदा से सर्वप्रिय और विख्यात रहे है। मुमुक्षु साधको पर किये गये इस उपकार के प्रति अपनी निस्सीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए अनेक आचार्यो और विद्वानो ने आपकी वडे भावपूर्ण शब्दो मे स्तुति की है।[2]

भद्रबाहु के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

अतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का जैन इतिहास मे बडा महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर आम्नाय के कतिपय ग्रन्थो मे इस प्रकार का उल्लेख किया गया है कि अतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवन के अन्तिम चरण मे ही दिगम्बर तथा श्वेताम्बर–इस प्रकार के मतभेद का सूत्रपात हो चुका था। इस दृष्टि से भी आचार्य भद्रबाहु के जीवन-चरित्र का एक बहुत बडा ऐतिहासिक

---

[1] सिरिगोदमेण दिण्ण सुहम्मणाहस्स तेण जवुस्स।
विण्हु णदीमित्तो तत्तो य पराजिदो य तत्तो ।।४३।।
गोवद्धणो य तत्तो भद्दभुओ अतकेवली कहिओ ।।४४।। [अगपण्णत्ती]

[2] वदामि भद्दबाहु, पाईण चरिमसगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसि, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।। [दशाश्रुतस्कन्ध-निर्यु क्ति]
येनैषा पिण्डनिर्यु क्तिर्यु क्तिरम्या विनिर्मिता।
द्वादशागविदे तस्मै नम श्री भद्रबाहवे ।। [मलयगिरि पिडनिर्यु क्ति टीका]
वदामि भद्दवाहु जेण य अईरसिय व्रहुकलाकलिय।
रइय सवायलक्ख चरिय वसुदेवरायस्स ।। [शान्तिनाथ चरित्र–मगलाचरण]
श्री कल्पसूत्रममृत विबुधोपयोग–
योग्य जरामरणदारुणदु खहारि।
येनोद्धृत मतिमता मथितात् श्रुताब्धे,
श्री भद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै ।। [क्षेत्रकीर्ति–बृहत्कल्प टीका]

वी० नि० स० १४८ से १५६ तक आचार्य सभूतविजय का आज्ञानुवर्ती और १५६ से १७० तक आचार्य भद्रबाहु की आज्ञा का अनुवर्ती रहा। ऐसी दशा मे यह कल्पना करना कि उस समय जैन सघ मे किसी प्रकार के मतभेद का बीजारोपरण हो चुका था, नितान्त निराधार कल्पना मात्र ही कहा जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा मे चौथा श्रुतकेवली आचार्य गोवर्धन को माना गया है। इनका भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो में कोई विशेष परिचय उपलब्ध नही होता।

७. आचार्य श्री भद्रबाहु

भगवान् महावीर के सातवे पट्टधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर के प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मरण परिवार मे वी० नि० स० ९४ मे हुआ। ४५ वर्ष गृहस्थाश्रम मे रहने के पश्चात् भद्रबाहु ने वीर नि० स० १३९ मे भगवान् महावीर के पाचवे पट्टधर आचार्य यशोभद्रस्वामी के पास निर्ग्रंथ श्रमरण-दीक्षा ग्रहरण की। अपने महान् यशस्वी गुरु यशोभद्र की सेवा मे रहते हुए आपने बडी लगन के साथ सम्पूर्ण द्वादशागी का अध्ययन किया और आप श्रुत-केवली वन गये। वीर नि० स० १४८ मे आचार्य यशोभद्रस्वामी ने स्वर्गगमन के समय श्री सम्भूतविजय के साय-साथ आपको भी आचार्य पद पर नियुक्त किया। वीर नि० स० १४८ से १५६ तक अपने बड़े गुरुभाई आचार्य सभूतविजय के आचार्यकाल मे आपने शिक्षार्थी श्रमरगो को श्रुतशास्त्र का अध्यापन कराने के साथ-साथ भगवान् महावीर के शासन की महती सेवा की।

भगवान् महावीर के छठे पट्टधर आचार्य संभूतविजय के स्वर्गगमन के पश्चात् आपने वीर निर्वाण सवत् १५६ मे सघ के संचालन की बागडोर पूर्ण-रूपेरण अपने हाथ मे सभाली। आचार्य भद्रवाहु ने दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार और निशीथ – इन चार छेद सूत्रो की रचना कर मुमुक्षु साधको पर महान् उपकार किया। अनेक पश्चाद्वर्ती आचार्यो ने इन अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को (१) आचाराग, (२) सूत्रकृताग, (३) आवश्यक, (४) दशवैकालिक, (५) उत्तराध्ययन, (६) दशाश्रुतस्कन्ध, (७) कल्प (८) व्यवहार, (९) सूर्यप्रज्ञप्ति और (१०) ऋषिभाषित – इन दश सूत्रो का निर्युक्तिकार, महान् नैमित्तिक और उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहु सहिता तथा सवा लाख पद वाले "वसुदेव चरित्र" नामक ग्रन्थ का कर्त्ता भी माना है। इस सबध मे आगे यथास्थान प्रमारण पुरस्सर विचार किया जायगा। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आर्य स्थूलभद्र जैसे योग्य श्रमरणश्रेष्ठ को दो वस्तु कम दश पूर्वो का सार्थ सम्पूर्ण ज्ञान और अन्तिम चार पूर्वो का मूल रूपेरण वाचन देकर पूर्व-ज्ञान को नष्ट होने से वचाया।

तित्थोगालियपइन्ना के अनुसार – लगभग विक्रम की पाचवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे रचित "तित्थोगालियपइण्णा" नामक प्राचीन ग्रन्थ मे निम्नलिखित रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है –

"आचार्य श्री सय्यभव के सर्वगुण सम्पन्न शिष्य जसभद्र हुए। जसभद्र के शिष्य यशस्वी कुल मे उत्पन्न श्री सभूत हुए। तदनन्तर सातवे आचार्य श्री भद्रबाहु हुए, जिनका भाल प्रशस्त एव उन्नत तथा भुजाए आजानु थी। वे धर्मभद्र के नाम से भी प्रख्यात थे। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होने बारह वर्ष तक योग की साधना की और (सुत्तत्थेण निबन्धइ अत्थ अज्झयणबन्धस्स) छेदसूत्रो की रचना की।

उस समय मध्यप्रदेश मे भयकर अनावृष्टि के कारण दुष्काल पडा। व्रत-पालन मे कही किसी प्रकार का किचित्मात्र भी दोष न लग जाय अथवा किसी प्रकार कर्मबन्ध न हो जाय – इस आशका से अनेक धर्मभीरु साधुओ ने अत्यन्त दुष्कर आमरण अनशन की प्रतिज्ञाए की और सलेखना कर समाधिपूर्वक प्राण-त्याग किये। अवशिष्ट साधुओ ने अन्यान्य प्रान्तो की ओर प्रस्थान कर समुद्र और नदियो के तटवर्ती क्षेत्रो मे विरक्त भाव से विचरण करना प्रारम्भ किया। आ० भद्रबाहु नैपाल पधारे और वहा योग साधना मे निरत हो गये।

दुर्भिक्ष के समाप्त होने पर अवशिष्ट साधु पुन मध्यप्रदेश की ओर लौटे।

"तित्थोगालियपइण्णा" मे उपर्युल्लिखित के पश्चात् पाटलीपुत्र मे हुई प्रथम आगमवाचना, साधुओ को चौदह पूर्वो की वाचना देने की प्रार्थना के साथ सघ द्वारा साधुओ के एक सघाटक का भद्रबाहुस्वामी की सेवा मे नैपाल भेजना, भद्रबाहुस्वामी द्वारा प्रथमत सघ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और अन्ततोगत्वा सभोगविच्छेद की सघाज्ञा के सम्मुख झुक कर स्थूलभद्र आदि साधुओ को वाचना देना, स्थूलभद्र द्वारा पाटलीपुत्र मे यक्षा आदि आर्याओ के समक्ष अपने विद्या-प्रदर्शन के कारण आचार्य भद्रबाहु द्वारा उन्हे अन्तिम चार पूर्वो की वाचना न देने का सकल्प, सघ द्वारा स्थूलभद्र के अपराध को क्षमा कर वाचना देने की प्रार्थना, आचार्य भद्रबाहु द्वारा चार पूर्वो की वाचना न देने के कारणो पर प्रकाश और अन्ततोगत्वा केवल मूलरूप से अन्तिम चार पूर्वो की भद्रबाहु द्वारा आर्य स्थूलभद्र को वाचना देने आदि का उल्लेख किया गया है।[1] यह सब विवरण स्थूलभद्रस्वामी के प्रकरण मे यथास्थान दिया जा रहा है।

आवश्यकचूर्णि

आवश्यकचूर्णि मे भद्रबाहु विषयक तित्थोगालियपइण्णा मे उल्लिखित उपरोक्त तथ्यो मे से कुछ का अति सक्षेप मे उल्लेख किया गया है।[2]

---

[1] तित्थोगालियपइण्णा, गाथासख्या ७०० से ८०० के बीच की गाथाए

[2] आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृ० १८७

महत्व है। आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओ मे तो मान्यताभेद है ही पर भद्रबाहु के जीवनचरित्र विषयक दोनों परम्पराओ के ग्रन्थो का समीचीनतया अध्ययन करने से एक बडा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि न श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के सम्बन्ध में मतैक्य है और न दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे ही। भद्रबाहु के जीवन सम्बन्धी दोनो परम्पराओ के विभिन्न ग्रन्थो को पढने से एक निष्पक्ष व्यक्ति को स्पष्ट रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि सभवतः दोनों परम्पराओ के अनेक ग्रन्थो मे भद्रबाहु नाम वाले दो-तीन आचार्यो के जीवन चरित्रो की घटनाओ को गड्ड-मड्ड कर के अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के साथ जोड दिया गया है। पश्चाद्वर्ती आचार्यो द्वारा लिखे गये कुछ ग्रन्थो का, उनसे पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा लिखित ग्रन्थो के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्टरूपेण आभासित होता है कि भद्रबाहु के चरित्र मे पश्चाद्वर्ती आचार्यो ने अपनी कल्पनाओ के आधार पर कुछ घटनाओ को जोडा है। उन्होने ऐसा अपनी मान्यताओ के अनुकूल वातावरण बनाने के अभिप्राय से किया अथवा और किसी दृष्टि से किया, यह निर्णय तो तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् पाठक स्वय ही निष्पक्ष बुद्धि से कर सकते है।

इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन शोधार्थियो एव इतिहास मे रुचि रखने वाले विज्ञों के लिये लाभप्रद होने के साथ-साथ वास्तविकता को खोज निकालने मे सहायक सिद्ध होगा, इस दृष्टि से श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनों परम्पराओ के ग्रन्थो मे भद्रबाहु से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध है, उसमे से आवश्यक सामग्री यहा प्रस्तुत की जा रही है।

व्रत-पर्याय से पूर्व का जीवन

यों तो प्रव्रज्या ग्रहण से पूर्व का भद्रबाहु का जीवन-परिचय श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनो ही परम्पराओ के ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है किन्तु वह सम्बन्धित घटनाचक्र और तथ्यो की कसौटी पर कसने से खरा नही उतरता। ऐसी दशा मे भद्रबाहु के गृहस्थ जीवन के परिचय के रूप मे निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनका जन्म वीर नि० सवत् ९४ मे हुआ। आप प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण थे और आपने ४४ वर्ष की अवस्था मे आचार्य यशोभद्र स्वामी के उपदेश से प्रतिबोध पा कर भागवती दीक्षा ग्रहण की।

श्वेताम्बर परम्परागत परिचय

दीक्षा ग्रहण के पश्चात् का आचार्य भद्रबाहु का जीवन-परिचय तित्थोगालियपइन्ना, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थो मे अति सक्षिप्त एवं अतिस्वल्प मात्रा मे मिलता है। दीक्षा-ग्रहण से पूर्व का भद्रबाहु का जीवनवृत्त "गच्छाचार पइन्ना" की गाथा ८२ की टीका में, प्रबन्ध चिन्तामणि मे तथा राजशेखरसूरि कृत प्रबन्धकोश आदि अर्वाचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। जो क्रमशः इस प्रकार है :–

उधर वह अल्पमति वराहमिहिर मुनि चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि कुछ ग्रन्थो का अध्ययन कर अहकार से अभिभूत हो आचार्य-पद प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगा। किन्तु आचार्यद्वय ने अपने ज्ञान वल से उसे इस पद के अयोग्य समझा और –

वूढो गरगहरसद्दो, गोयममाईहि धीरपुरिसेहि ।
जो त ठवइ अपत्ते, जाणतो सो महापावो ।।

अर्थात् – गणधर जैसे गरिमामय पद को गौतम आदि धीर-गम्भीर महापुरुषो ने वहन किया है। ऐसे महान् पद पर यदि कोई जानवूझ कर किसी अपात्र को नियुक्त कर देता है, तो वह घोरातिघोर पाप का भागी होता है।

इस आप्तवचन को ध्यान मे रखते हुए उन्होने वराहमिहिर को गणधर पद का अधिकारी नही वनाया। इसके परिणामस्वरूप मुनि वराहमिहिर मन ही मन अपने ज्येष्ठ भ्राता आचार्य भद्रवाहु के प्रति घोर विद्वेप रखने लगा और उसने इसे अपना घोर अपमान समझ कर सदा के लिये उनका साथ छोडने का निश्चय कर लिया। तीव्र कषाय और मिथ्यात्व के उदय से उसने वारह वर्ष के साधु-जीवन का परित्याग कर पुन गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार कर लिया। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगमग्रन्थो से सार ग्रहण कर उसने वराहीसहिता नामक सवालक्ष पद प्रमाण ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। वह द्रव्यानुयोग एव अन्य अगोपागो मे से मत्र ग्रहण कर, उनके प्रयोग से धनी-मानी लोगो का मनोरजन करने लगा।

वराहमिहिर ने सर्वत्र सम्मान पाने की अभिलाषा से अपने भोले भक्त लोगो के माध्यम से इस प्रकार का मिथ्या प्रचार करना प्रारम्भ किया कि वह १२ वर्प तक सूर्यमण्डल मे रह कर आया है। वहा स्वय सूर्य भगवान् ने समस्त ग्रहमण्डल के उदयास्त, गति, स्थिति, फल आदि को प्रत्यक्ष दिखा-दिखा कर उसे ज्योतिप-विद्या की सम्पूर्ण शिक्षा प्रदान की। ज्योतिष-विद्या मे पारगत वना कर सूर्य भगवान् ने उसे मर्त्यलोक मे भेजा है। सूर्यमण्डल से पृथ्वी पर आकर उसने ज्योतिष-शास्त्र की रचना की है।

धूर्त भक्तो के माध्यम से यह कपोलकल्पित कथानक लोगो मे शीघ्र ही फैल गया और इस प्रकार वराहमिहिर की सर्वत्र बडी प्रतिष्ठा होने लगी। इस प्रकार की लोकप्रसिद्धि से प्रभावित हो प्रतिष्ठानपुर के महाराजा ने वराहमिहिर को अपने राजपुरोहित के पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया। राज्य से प्रतिष्ठा पाने के अनन्तर तो वराहमिहिर की कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हो गई।

उन्ही दिनो विविध क्षेत्रो के भव्यजनो को जिन-वचनामृत से तृप्त करते हुए आचार्य भद्रवाहु प्रतिष्ठानपुर के वहिस्थ उद्यान मे पधारे। उनके आगमन का समाचार सुनकर प्रतिष्ठानपुर के नरेन्द्र अपने पुरजन परिजन सहित उनका वन्दन एव उपदेश श्रवण करने हेतु उद्यान मे पहुचे। राजपुरोहित वराहमिहिर

गच्छाचार पइन्ना, दोघट्टीवृत्ति

यो तो श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थो मे आचार्य भद्रबाहु के जीवन की घटनाओ का थोडा बहुत उल्लेख उपलब्ध होता है पर गच्छाचार पइन्ना की गाथा सख्या ८२ की टीका मे आचार्य भद्रबाहु का गृहस्थ जीवन से लेकर स्वर्गारोहण तक का थोडे विस्तार के साथ जीवन-परिचय दिया हुआ है। उसका साराश इस प्रकार है :-

"परम समृद्ध महाराष्ट्र प्रदेश मे श्रीप्रतिष्ठान नामक एक नगर था। वहाँ चतुर्दश विद्याओं मे पारगत, षट्कर्ममर्मज्ञ और प्रकृति से भद्र एक भद्रबाहु नामक ब्राह्मण रहता था। उसके सहोदर का नाम वराहमिहिर था, जो उसे परमप्रिय था। एक दिन वहां चतुर्दशपूर्वधर एव महान् तत्वज्ञ आचार्य श्रीयशोभद्रस्वामी का पधारना हुआ।

यशोभद्रस्वामी के परमवैराग्योत्पादक उपदेश को सुनकर पंडित भद्रबाहु को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होने अपने अनुज वराहमिहिर से कहा – "वत्स ! मुझे भवभ्रमण से विरक्ति हो गई है अतः मै इन गुरुदेव की चरण-शरण मे दीक्षित हो निर्दोष सयम का पालन करना चाहता हू। तुम घर लौट कर सावधानीपूर्वक अपने घर का कार्य सम्हालो।"

इस पर वराहमिहिर ने उत्तर दिया – "भैया ! आप यदि ससार सागर को तैर कर पार करना चाहते है, तो फिर मै टूटी हुई नैया के नाविक की तरह भवाब्धि मे क्यो डूबूगा ? शर्करामिश्रित खीर यदि ब्राह्मण को मीठी लगती है, तो क्या वह ब्राह्मणेतर जनो को मीठी नही लगेगी ?"

भद्रबाहु ने यह सोच कर कि यह कही भवाटवी में भटकता ही न रह जाय, वराहमिहिर को अपने साथ प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान कर दी और दोनो भाई समर्थ आचार्य यशोभद्रस्वामी के पास प्रव्रजित हो गये। ज्ञान और चारित्र की शिक्षा ग्रहण कर भद्रबाहु ने अपने गुरु के पास क्रमशः मूल, अर्थ और रहस्य सहित द्वादशागी का अध्ययन किया और वे चतुर्दशपूर्वधर हो समस्त श्रमण सघ मे चूडामणि की तरह सुशोभित होने लगे।

आचार्य यशोभद्रसूरि के प्रमुख शिष्य का नाम आर्य सभूतविजय था, जो चतुर्दश पूर्वधर और अनुपम चारित्रवान् थे। अपने जीवन का अन्तिम समय सन्निकट समझ कर आचार्य यशोभद्रसूरि ने अपने दोनो सुयोग्य और श्रुतकेवली शिष्यो–सभूतविजय और भद्रबाहु को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित कर सलेखना की और कुछ दिनो पश्चात् समाधिपूर्वक स्वर्ग-गमन किया।

आचार्य यशोभद्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् सभूतविजय और भद्रबाहु–ये दोनो आचार्य चन्द्र और सूर्य की तरह अपनी ज्ञानरश्मियो से अज्ञान-तिमिर का नाश करते हुए अनेक क्षेत्रो मे विचरण करने लगे।

विचित्र है, जो तुमने अपने हाथ से कल्पवृक्ष बोया था, उसे मदोन्मत्त हाथी की तरह एक ही क्षण मे उखाड कर फैंक दिया।"

राजा और प्रजा-सभी यह जानने को उत्सुक थे कि किस की भविष्यवाणी सत्य निकलती है। पुरोहितपुत्र की मृत्यु का समाचार तत्क्षण वन मे लगी अग्नि की तरह सारे नगर मे फैल गया। प्रतिष्ठानपुर के नरेन्द्र ने वराहमिहिर के घर पहुच कर उसे शान्त किया और कहा – "महामुनि भद्रबाहु ने बालक के मरण की वात कही, वह तो सत्य सिद्ध हो गई पर उन्होने जो मरण का हेतु बताया था वह सम्भवतः सत्य नही निकला है।"

धात्री से बालक की मृत्यु का कारण पूछा गया तो उसने रोते हुए उस अर्गला को उठा कर महाराज के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। अर्गला के मुख पर उत्कीर्ण की हुई विडाल की आकृति को देख कर महाराज आश्चर्याभिभूत हो बारम्बार आचार्य भद्रवाहु की महिमा करते हुए कहने लगे – "धन्य है इन सर्वज्ञतुल्य श्वेताम्बर महामुनि की अद्भुत ज्ञान-गरिमा और उनके सत्य भविष्य-कथन को।"

भविष्यवाणी की शतप्रतिशत सत्यता से चमत्कृत हो प्रतिष्ठानपुरपति तत्काल वराहमिहिर के घर से प्रस्थान कर आचार्य भद्रबाहु की सेवा मे पहुचे और उन्हे भक्तिपूर्वक प्रणाम कर पूछा – "भगवन्! पुरोहित के वचन किस कारण से झूठ सिद्ध हुए?"

उत्तर मे आचार्य भद्रबाहु ने फरमाया – "राजन्! उस गुरुद्रोही ने व्रतो को ग्रहण कर के भी अपनी प्रतिज्ञा को भग कर आपका पौरोहित्य स्वीकार कर लिया। इसी कारण उसके वचन असत्य सिद्ध हुए। राजन्! जो वचन सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्रणीत है वह तो युग-युगान्तर मे भी सत्य ही सिद्ध होता है।" भद्रवाहु स्वामी की वात सुन कर प्रतिष्ठानपति को वास्तविक तथ्य का वोध हो गया और वे पश्चात्ताप भरे स्वर मे भद्रवाहु स्वामी से निवेदन करने लगे – "महामुने! मैने मिथ्यात्वरूपी धतूरे के नशे मे चूर हो ससार की सब वस्तुओ को स्वर्णमय समझते हुए अपना निश्शेष मनुष्य जीवन व्यर्थ ही खो दिया। प्रभो! अब आप मुझे कृपा कर ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मै कृतकृत्य हो सकू।"

राजा की प्रार्थना पर भद्रवाहु ने उसे दुर्गतिनिवारण कल्याणकारी सच्चे धर्म का उपदेश दिया, जिसे राजा ने हृदयगम एव शिरोधार्य करते हुए पुरोहित के मत का परित्याग कर जैन धर्म स्वीकार किया।

इस दु खद घटना के पश्चात् लोग वराहमिहिर का उपहास करने लगे और वह भी पुत्रमरण के शोक एव लोगो मे फैली अपनी अपकीर्ति के कारण ससार से विरक्त हो परिव्राजक बन गया। वह अज्ञानवश केवल काया को क्लेश पहुचाने वाला तप करने लगा और अन्त मे अपने अन्तर के पाप-शल्य का प्रायश्चित्त किये विना ही मर कर हीन ऋद्धि वाला वाणव्यन्तर देव हुआ। उसने विभगज्ञान से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त ज्ञात कर जिनशासन से अपने पूर्ववैर का

भी राजा के साथ था। उसी समय एक पुरुष ने वहा उपस्थित हो महाराज के समक्ष ही वराहमिहिर को हर्षभरा शुभ-सवाद सुनाया – "देव ! अभी-अभी आपके यहां पुत्ररत्न का जन्म हुआ है।"

यह हर्षप्रद सन्देश सुन कर महाराज न प्रसन्न हो समाचार लाने वाले व्यक्ति को अच्छा पारितोषिक दिया और पुरोहित से प्रश्न किया – "पुरोहितजी! यह बताइये कि यह तुम्हारा पुत्र किन-किन विद्याओ मे पारंगत और कितनी आयुष्य वाला होगा ? इसके साथ ही साथ यह भी बताइये कि यह हमारे द्वारा सम्मानित होगा अथवा नही ? आज तो परम सौभाग्य की बात है कि सर्वज्ञपुत्र एव शत्रु तथा मित्र के प्रति समान व्यवहार रखने वाले श्री भद्रबाहु और समस्त ज्योतिष्चक्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म गति एवं उसके परिणाम के ज्ञाता तुम जैसे ज्योतिप-शास्त्र के पारगामी विद्वान् यहा विद्यमान है। अत दोनो विद्वद्शिरोमणि विचार कर कहिये।"

निज चपल स्वभाववश वराहमिहिर ने अपने पाण्डित्य की उत्कृष्टता का प्रदर्शन करते हुए कहा – "महाराज ! इस नवजात शिशु के जन्मकाल, लग्न, ग्रह आदि पर विचार करने के पश्चात् मैं यह कहने की स्थिति मे हू कि यह बालक शतायु, आपके द्वारा तथा आपके पुत्रो एवं पौत्रों द्वारा भी पूजित और अठारह विद्याओ का पारगत विद्वान् होगा।"

जैन सिद्धान्त मे निमित्त-कथन का निषेध है फिर भी राजा और उपस्थित अन्य पौरजनो के अनुरोध से, रोगनिवारणार्थ कटु औषध का पिलाना भी आवश्यक होता है, इस विचार से गीतार्थशिरोमणि आचार्य भद्रबाहु ने बताया कि सातवे दिन के अन्त में इस बालक की बिडाल से मृत्यु हो जायगी।

यह सुन कर वराहमिहिर बडा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज से प्रार्थना की कि यदि भद्रबाहु का कथन असत्य सिद्ध हो तो इनको कोई कठोर दण्ड दिया जाय। घर पहुच कर वराहमिहिर ने अपने घर के चारो ओर सैनिको का कडा पहरा लगा दिया। सूतिकागृह मे सभी आवश्यक सामग्री का समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् पुत्र की रक्षार्थ धात्री को नियुक्त कर दिया। तदनन्तर बिडाल के सचार को रोकने हेतु सूतिकागृह के द्वार को अन्दर की ओर से बन्द करवाकर वराहमिहिर स्वय सूतिकागृह पर अहर्निश पहरा देने लगा।

इस प्रकार के कड़े सुरक्षा प्रबन्धो के बीच सातवा दिन आ उपस्थित हुआ। ज्यों-ज्यो आशकित सकट की घडी सन्निकट आती गई त्यो-त्यो सुरक्षा के प्रबन्ध और अधिक कडे किये जाने लगे और अधिकाधिक सावधानी बरती जाने लगी। सातवे दिन के समाप्त होते-होते अकस्मात् सूतिकागृह के सुदृढ कपाटो की बिडालमुखी भारी अर्गला बालक के ऊपर गिरी और उसके प्रहार से वह नन्हा सा बालक तत्काल प्राणविहीन हो गया। सारे घर मे कुहराम मच गया। वराहमिहिर करुण क्रन्दन करते हुए कहने लगा – "हायरे देव ! तुम्हारी गति

परित्याग करने और भद्रबाहु द्वारा १० निर्युक्तियो की रचना करने का उल्लेख नही है, जबकि इसमे इन भद्रबाहु को चतुर्दश पूर्वधर बताया गया है।

प्रबन्धकोश के अनुसार

राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोश मे भद्रबाहु और वराहमिहिर के प्रतिष्ठानपुर निवासी निर्धन, निराश्रित पर विद्वान् ब्राह्मण होने, यशोभद्रसूरि के उपदेश से विरक्त एव दैन्य-दुःख से प्रव्रजित होने, भद्रबाहु के चतुर्दश पूर्वधर बनने एव उनके द्वारा १० निर्युक्तियों की रचना किये जाने का उल्लेख है। इसमे वराहमिहिर के रुष्ट हो प्रतिष्ठानपुर के राजा जितशत्रु का पौरोहित्य स्वीकार करने तक का सारा विवरण दोघट्टी वृत्ति मे दिये गये विवरण से मिलता-जुलता है। इसमे विशेष बात यह बताई गई है कि राजपुरोहित का पद मिल जाने पर वराहमिहिर ने गर्वोन्मत्त हो श्वेताम्बरो की निन्दा और गर्हा करनी प्रारम्भ कर दी। वह प्राय यही कहता कि ये बेचारे काक-तुल्य श्वेताम्बर कुछ नही जानते, केवल मक्खियो की तरह भिनभिनाते और मलीन वस्त्र धारण किये अपना जीवन नष्ट करते है। इससे क्रुद्ध हो श्रावको ने भद्रबाहु से प्रतिष्ठानपुर आने की प्रार्थना की और उनके पधारने पर नगरप्रवेश का बडा भव्य महोत्सव किया। भद्रबाहु के आगमन पर वह उनका कुछ भी अपकार नही कर सका।

उन्ही दिनों वराहमिहिर को पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र-जन्म की खुशी मे उसने प्रसन्न हो अपार धनराशि व्यय की। नागरिको ने उसे बधाइया दी। जितशत्रु राजा व राजसभा के समक्ष उसने अपने ज्योतिष के ज्ञान-बल पर भविष्यवाणी की कि उसका पुत्र शतायु होगा। वराहमिहिर ने एक दिन राजसभा मे कहा – "समस्त पौरजन पुत्रजन्म के उपलक्ष मे मुझे बधाई देने आये पर भद्रबाहु मेरे सहोदर होते हुए भी मेरे यहा नही आये। श्रावको ने आचार्य भद्रबाहु को इसकी सूचना दी और उनसे प्रार्थना की कि वे एक बार उसके घर पर अवश्य पधारे, व्यर्थ ही उसके क्रोध को न बढावे। इस पर भद्रबाहु ने कहा कि दो बार कष्ट करने से क्या लाभ ? क्योकि सातवी रात्रि मे बिल्ली के द्वारा इस बालक की मृत्यु हो जायगी।

भद्रबाहु द्वारा कथित भावी अनिष्ट की सूचना पा, वराहमिहिर ने अपने पुत्र की सुरक्षा का बडा कडा प्रबन्ध किया पर सातवी रात्रि मे कपाट की अर्गला के गिर जाने से बालक की मृत्यु हो गई।

पुत्र की मृत्यु के शोक से सतप्त वराहमिहिर को भद्रबाहु ने "शोकोपनोदो धर्माचार्य" – इस उक्ति के अनुसार सान्त्वना देना आवश्यक समझा और वे उसके घर गये। वराहमिहिर ने उठकर भद्रबाहु के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए कहा – "आचार्यजी ! आपका ज्ञान और कथन सत्य सिद्ध हुआ पर बच्चे की मृत्यु आपके कथनानुसार बिल्ली से न होकर आगल से हुई है।"

बदला लेने की ठानी और जैनसंघ को अनेक प्रकार के घोर उपसर्ग दिये। व्यन्तरकृत उपसर्गों को अपने ज्ञानबल से जान कर आचारनिष्ठ श्रमणों ने भद्रबाहु स्वामी को सारी स्थिति से अवगत कराया।

भद्रबाहु स्वामी ने श्रमणसघ के कष्ट का निवारण करने हेतु महान् चमत्कारी "उवसग्गहर स्तोत्र" की रचना कर उसका पाठ स्वयं ने भी किया और समस्त श्रमणसंघ से भी उस स्तोत्र का पाठ करवाया। उस स्तोत्र के प्रभाव से व्यतरकृत सारा उपद्रव सदा के लिये शान्त हो गया।

युगप्रधान आचार्य भद्रबाहु ने आचाराग आदि दश सूत्रो पर निर्युक्तियो की रचना कर जिनशासन की बडी प्रभावना की और पंचम तथा अन्तिम श्रुतकेवली के रूप मे आचार्यपद का वहन करते हुए अन्त में अनशनपूर्वक स्वर्गारोहण किया।[1]

प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार

प्रबन्ध चिन्तामणि नामक ग्रन्थ मे भद्रबाहु और वराहमिहिर का जो परिचय उल्लिखित है वह गच्छाचार प्रकीर्णक की टीका में दिये गये परिचय से लगभग मिलता-जुलता ही है। (प्रबन्ध चिन्तामणि मे) जो विभिन्नता है, वह इस प्रकार है –

(१) इसमे वराहमिहिर को पाटलीपुत्र का निवासी, भद्रबाहु का ज्येष्ठ भ्राता और राजा नन्द द्वारा प्रतिष्ठाप्राप्त नैमित्तिक बताया गया है।

(२) इसमे उल्लेख है कि वराहमिहिर को, पुत्रजन्मोत्सव के समय उसके घर पर जन-साधारण से लेकर स्वय नन्दराजा के उपस्थित होनें पर भी अपने छोटे भाई भद्रबाहु का न आना बडा खटका और उसने श्रद्धालु श्रावक शकडाल को भद्रबाहु की अनुपस्थिति के लिये उपालम्भ दिया। शकडाल मत्री द्वारा वराहमिहिर की अप्रसन्नता की बात सुनकर भद्रबाहु ने कहा कि दो बार कष्ट करने की क्या आवश्यकता है ? जिस नवजात शिशु की वराहमिहिर भ्रमवश सौ वर्ष की आयु बता रहा है, वह वस्तुत: बीसवे दिन बिलाव से मृत्यु को प्राप्त हो जायगा। शकडाल मत्री के मुख से भावी संकट की सूचना पाकर वराहमिहिर ने बालक की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया किन्तु कपाट की लोहार्गला जिस पर कि बिडाल की आकृति अंकित थी, के गिरने से बालक की बीसवे दिन मृत्यु हो गई।

प्रबन्ध चिन्तामणि मे वराहमिहिर के दीक्षित होने, १२ वर्ष तक श्रामण्य-पर्याय के पालन करने, आचार्यपद न मिलने के कारण रुष्ट हो श्रमणत्व का

---

[1] "अत्थि सिरिभरवरिट्ठे ....
अहजुगुप्पहाणागमो सिरिभद्दबाहुस्वामी-आयारग (१), सूयगडग (२), आवस्सय (३), दसवैयालिय (४), उत्तरज्झयण (५), दसा (६), कप्प (७), ववहार (८), सूरियपन्नति उवग (९), रिसिभासियाण (१०), दस निज्जुत्तीओ काऊण जिणसासण पंचमसुयकेवलियपयमणुहविऊण य समए अणसणविहाणेण तिदसावास पत्तो त्ति।"
[गच्छाचार पइण्णा, २ अवि० व कल्प]

अपने अपमान से सत्रस्त वराहमिहिर ने पुन भागवती दीक्षा ग्रहण की और अत्युग्र तप करने लगा। अन्त मे वराहमिहिर मर कर जैनधर्म का विद्वेषी व्यन्तर देव हुआ। वह व्यन्तर बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी साधुओ का किसी प्रकार का अपकार न कर सका क्योकि तपोपूत महात्माओ के वज्रोपम तप-कवच पर किसी भी प्रकार के अनिष्ट का किंचित्मात्र भी प्रभाव नही होता। अत वह व्यन्तर श्रावको को अनेक प्रकार के रोगो और उपद्रवो से पीडित करने लगा। श्रावको ने आचार्य भद्रबाहु के समक्ष अपनी दु खगाथाए रखते हुए उनसे रक्षा की प्रार्थना की। इस पर आचार्य भद्रबाहु ने श्रावको को आश्वस्त करते हुए कहा कि उन्हे डरने की आवश्यकता नही है। व्यन्तर रूप से उत्पन्न हुआ वराहमिहिर पूर्ववैर के कारण उन्हे कष्ट दे रहा है। वह तो साधारण कोटि का व्यन्तर जाति का देव है, आवश्यकता पडने पर वे वज्रपाणि (इन्द्र) से भी अपने भक्तो की रक्षा करेगे। तदनन्तर आचार्य भद्रबाहु ने पूर्वो से उद्धृत कर "उवसग्गहर पास"– इस पद से आरम्भ होने वाली पाच गाथाओ का एक स्तोत्र बना कर लोगो को सिखाया। उस उपसर्गहर स्तोत्र के पाठ के प्रभाव से तत्काल व्यन्तरकृत सब उपसर्ग शान्त हो गये और सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य व्याप्त हो गया। कष्ट-निवारणार्थ आज भी लोग उस स्तोत्रराज का पाठ करते है। वस्तुत वह अद्भुत चिन्तामणिरत्न के समान है।

गुरु पट्टावली के अनुसार

"गुरु पट्टावली" – (जिसके रचनाकार का नाम अज्ञात है) मे छट्ठे पट्टधर आचार्य सभूतविजय के पश्चात् भद्रबाहु का जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है –

"भद्रबाहुस्वामी पुन आवश्यक निर्युक्तिकृत्। तद्भ्राता वराहमिहिर–स्त्यक्तव्रतो राज्ञ पुरोहितो राज्ञ पुरो निमित्तप्रकाशाद्यै प्राप्तप्रतिष्ठ तद्भ्रातु पराजयकरणे सभासमक्ष ५१ पल प्रमाणो मत्स्य कुण्डप्रान्ते पतिष्यति, गुरुर्वक्ति ५२ पलप्रमाणो मत्स्य कुण्डमध्ये पतिष्यति। जिनशासनप्रभावात् गुरुवाक्यमेव सजात राजापि शासनोत्सव चकार। ततोऽसौ वराहमिहिरो मानभ्रष्टो मृत्वा व्यतरीभूत श्रीसघमुपदद्राव, तज्ज्ञात्वा च भगवता उपसर्गहरस्तोत्रकरणेन स उपद्रवो निवारित। स भगवान् ४५ वर्षाणि गृहे सप्तदश वर्षाणि व्रते चतुर्दश वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायु षड्सप्तति वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीरात् १७० वर्षे स्वर्ययौ।"

[पट्टावली समुच्चय, पृ० १६४]

महामहोपाध्याय श्री धर्मसागरगणी ने तपागच्छ पट्टावली मे मत्स्यपतन की घटना को छोड कर गुरु पट्टावली के समान ही भद्रबाहु का परिचय दिया है।

[पट्टावली समुच्चय, पृ० ४४]

इस पर भद्रबाहु ने कहा – "भद्र ! हम लोग कभी असत्य भाषण नहीं करते। अच्छी तरह से देखो, उस लोहे की अर्गला के अग्रभाग पर बिल्ली का रेखांकित चित्र है। वराहमिहिर ने देखा कि वस्तुतः आगल के अग्रभाग पर बिल्ली का चित्र खुदा हुआ है। तदनन्तर उसने कहा – "पुत्र की मृत्यु के शोक से मुझे उतना कष्ट नहीं हो रहा है, जितना कि राजा के समक्ष मेरे द्वारा की गई अपने पुत्र के शतायु होने की भविष्यवाणी के असत्य सिद्ध होने से। धिक्कार है इन मेरी सब पुस्तकों को, जिन पर विश्वास करके मैंने भविष्यवाणी की। ये सब पुस्तकें असत्य हैं। मैं इन सब को अभी नष्ट किये देता हूं।" यह कहते हुए वराहमिहिर अपनी सब पुस्तकों को जल से भरे कुंडों में डालने के लिये उद्यत हुआ। भद्रबाहु ने उसे रोकते हुए कहा – "तुमने अपने प्रमाद के कारण ज्ञान को कलुषित किया है, इन पुस्तकों पर तुम व्यर्थ ही कुपित होते हो। ये पुस्तकें तो सर्वज्ञभाषित बातों को ही प्रकट करती हैं। वस्तुतः इनके ज्ञाता लोग ही दुर्लभ हैं। देखो तुमने भविष्य-कथन के समय अमुक-अमुक स्थान पर मतिविभ्रम के कारण त्रुटि की है। अतः तुम इन पुस्तकों की नहीं प्रत्युत अपनी स्वयं की निन्दा करो। तुम अपने पाण्डित्य के मद में मदोन्मत्त हो गये हो। प्रमत्त पुरुष में सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने की क्षमता नहीं रहती। अपराध तुम्हारा ही है, न कि इन पुस्तकों का अतः इन पुस्तकों को विनष्ट मत करो।"

भद्रबाहु की बात सुनकर वराहमिहिर किंकर्त्तव्यविमूढ की तरह शोकमग्न मुद्रा में एक ओर बैठ गया। वराहमिहिर की यह स्थिति देखकर एक श्रावक बोला – "वह रात्रि व्यतीत हो चुकी जिसमें तुम्हारे जैसे खद्योत भी टिमटिमा कर प्रकाश करने का दम भरते थे। अब तो सूर्य की प्रखर किरणों से दशों दिशाओं को प्रकाशमान करता हुआ दिवस आ गया है। इस दिवस में तुम्हारे जैसे खद्योतों की तो सामर्थ्य ही क्या स्वयं निशानाथ चन्द्रमा का भी कहीं पता नहीं है।" यह कहकर वह श्रावक तत्काल वहां से चल दिया। वराहमिहिर को मन ही मन असह्य पीडा का अनुभव हुआ।

उसी समय प्रतिष्ठानपुर के महाराज वराहमिहिर के घर पर आये और शोकसन्तप्त वराहमिहिर को सान्त्वना देते हुए उन्होंने कहा – "पुरोहितराज ! इस प्रकार शोकसागर में निमग्न न होओ, यह तो संसार का अटल नियम है कि एक आता है और चला जाता है।"

उसी समय एक मन्त्री ने राजा से निवेदन किया – "महाराज ! ये आचार्यश्री इन्हीं दिनों यहां पधारे हैं। इन्होंने ही वराहमिहिर के नवजात शिशु की आयु सात दिन की बताई थी। आपका नाम आचार्य भद्रबाहु है। आपकी भविष्यवाणी वस्तुतः सत्य सिद्ध हुई।"

यह सुनकर दुःखी वराहमिहिर और अधिक दुःखी हुआ। राजा ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और तदनन्तर सब अपने-अपने स्थान को लौट गये।

अपने साधु-सघ के साथ आचार्य शान्ति के वल्लभी पहुचने के पश्चात् वहा पर भी वडा भीषरण दुष्काल पडा। वहा घोर दुष्काल के कारण ऐसी बीभत्स स्थिति उत्पन्न हो गई कि भूख से पीडित रक लोग अन्य लोगो के पेट चीर-चीर कर और उनकी आतो एव ओझरियो मे से सद्यभुक्त अन्न निकाल-निकाल कर खाने लगे ।।५७।।

इस भयावह स्थिति से मजबूर हो कर आचार्य शान्ति के सघ के सभी साधुओ ने कम्बल, दण्ड, तूबा, पात्र और आवरण हेतु श्वेत वस्त्र धारण कर लिये ।।५८।।

उन्होने साधुओ के योग्य आचरण का परित्याग कर दीनवृत्ति से मागना और बस्तियो मे अपनी इच्छानुसार जा जा कर और बैठ-बैठ कर भोजन करना प्रारम्भ कर दिया ।।५९।।

इस प्रकार का आचरण करते हुए उनका वहुत सा काल व्यतीत हो गया। अततोगत्वा दुष्काल का अन्त और सुभिक्ष का प्रादुर्भाव हुआ। तब आचार्य शान्ति ने अपने सघ के सभी साधुओ को सबोधित करते हुए कहा कि अब इस कुत्सित आचरण को छोड दो और अपने इस आचरण की गर्हा निन्दा कर के (प्रायश्चित कर के) पुन महर्षियो के श्रेष्ठ आचरण को ग्रहण करो ।।६०-६१।।

आचार्य शान्ति[1] की इस बात को सुन कर उनके प्रथम शिष्य ने कहा – "अब इस प्रकार के अति कठोर आचरण का कौन पालन कर सकता है ? उपवास, भोजन का प्राप्त न होना, असह्य अनेक अन्य अन्तराय, एक स्थान, नग्नत्व, मौन, ब्रह्मचर्य, भूमिशय्या, दो-दो मासो के अन्तर से केशो का असह्य कष्टप्रद लुचन,

---

तत्थ वि गयस्स जाय दुब्भिक्ख दारुण महाघोर ।
जत्थ वियारिय उयर खद्दो रकेहिं कुरुत्ति ।।५७।।
त लहिऊरण रिणमित्त गहिय सव्वेहि कम्बलि दड ।
दुद्दियपत्त च तहा पावत्थ सेयवत्थ च ।।५८।।
चत्त रिसि आयरण गहिया भिक्खा य दीरणवित्तीए ।
उवविसिय जाइऊरण भुत्त वसहीसु इच्छाए ।।५९।।
एव वट्टताण कित्तिय कालम्मि चावि परियलिए ।
सजाय सुभिक्ख जपइ ता सति आयरिओ ।।६०।।
आवाहिऊरण सघ भरिणय छडेह कुत्थियायरण ।
रिणदिय गरहिय गिण्हह पुरणरवि चरिय मुरिणदारण ।।६१।।

[1] विक्रम स० १३६ (वीर नि० स० ३०६) से १२ वर्ष पूर्व निमित्तज्ञ आ० भद्रबाहु द्वारा द्वादशवार्षिक दुष्काल की सूचना मिलने पर शान्ति नामक सघपति के अपने शिष्यो सहित वल्लभी जाने का जो उल्लेख आ० देवसेन ने किया है उसमे रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र का कही नामोल्लेख तक नही किया है । —सम्पादक

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आ० भद्रबाहु का परिचय

भावसंग्रह के अनुसार

आचार्य विमलसेन के शिष्य आ० देवसेन[1] ने दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ भावसग्रह मे श्वेताम्वर परम्परा की उत्पत्ति का विवरण देते हुए गाथा संख्या ५२ से ७५ तक की २४ गाथाओ मे भद्रबाहु नामक आचार्य का परिचय दिया है। चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के जीवन-चरित्र के विषय में किस प्रकार भ्रान्तियो का श्रीगणेश हुआ, इस निष्कर्ष पर पहुचने के लिये वे गाथाए वडी सहायक सिद्ध होगी अत उन गाथाओं का अविकल अनुवाद यहा प्रस्तुत किया जा रहा है –

राजा विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सोरठ देश की वल्लभी नामक नगरी मे श्वेतपट–श्वेताम्बर सघ की उत्पत्ति हुई ।।५२।।

उज्जयिनी नगरी मे भद्रवाहु नामक एक आचार्य थे। वे निमित्तशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। अपने निमित्त ज्ञान के वल पर उन्होने अपने सघ से कहा ।।५३।।

यहा पर निरन्तर १२ वर्ष पर्यत भयकर दुष्काल का प्रकोप रहेगा अत आप लोग अपने-अपने सघ के साथ अन्यान्य प्रान्तो और क्षेत्रों की ओर चले जाओ ।।५४।।

भद्रवाहु की यह भविष्यवाणी सुन कर सभी गणनायकों ने अपने-अपने संघ के साथ उज्जयिनी के विभिन्न क्षेत्रों से विहार कर दिया और जिन प्रदेशो मे सुभिक्ष था वहा जाकर विचरण करने लगे ।।५५।।

शान्ति नामक एक सघपति अपने बहुत से शिष्यो के साथ सुरम्य सोरठ प्रदेश की वल्लभी नगरी मे पहुंचा ।।५६।।[2]

---

[1] दर्शनसार के कर्त्ता देवसेन से भिन्न। इनके काल के सम्बन्ध मे अभी निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

[2] छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसघो हु वल्लहीए ।।५२।।
आसी उज्जेणीणयरे आयरियो भद्दबाहु णामेण ।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ सघो णिओ तेण ।।५३।।
होहइ इह दुब्भिक्ख बारह वरसाणि जाव पुण्णाणि ।
देसतराए गच्छह णिय णिय सघेण सजुत्ता ।।५४।।
सोऊण इय वयण णाणा देसेहिं गणहरा सव्वे ।
णिय णिय सघ पउत्ता विहरिआ जत्थ सुब्भिक्ख ।।५५।।
एक्क पुण सति णामो सपत्तो वलही णाम णयरीए ।
वहुसीस सम्पउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे ।।५६।।

उन लोगो ने निर्ग्रन्थ मार्ग की निन्दा और अपने मार्ग की प्रशसा करते हुए अनेक प्रकार की मायाओ के प्रदर्शन से लोगो को मूढ बना कर बहुत सा द्रव्य ग्रहण किया ।।७१।।

आचार्य शान्ति व्यन्तर बन कर अनेक प्रकार के उपद्रव करने लगा और उन लोगो (श्वेताम्बरो) को कहने लगा कि तुम लोग जैन धर्म को पाकर मिथ्यात्व मार्ग पर मत चलो ।।७२।।

व्यतर द्वारा किये जाने वाले उपद्रवो से डर कर उन लोगो ने उस व्यन्तर की सकल द्रव्यो से सयुक्त आठ प्रकार की पूजा की । उस व्यन्तर की उस समय जो पूजा जिनचन्द्र द्वारा विरचित की गई वह आज दिन तक प्रचलित है ।।७३।।

आज भी सबसे पहले वह बलिपूजा उस व्यन्तर के नाम से दी जाती है और वह व्यन्तर श्वेताम्बर सघ का पूज्य कुलदेव कहा जाता है ।।७४।।

यह पथभ्रष्ट श्वेताम्बरो की उत्पत्ति बताई गई है । अब मैं आगे अज्ञान मिथ्यात्व के विषय मे कहूगा उसे सुनो ।।७५।।

इन गाथाओ द्वारा आचार्य देवसेन ने स्पष्ट रूप से अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि विक्रम सवत् १२४ तदनुसार वीर निर्वाण सवत् ५६४ मे आचार्य भद्रबाहु ने श्रमणसघ को भावी द्वादश वार्षिक दुष्काल की पूर्वसूचना देते हुए सलाह दी कि सब साधु उज्जयिनी (अवन्ती) राज्य को छोड कर दूर के प्रान्तो मे चले जाय । तदनुसार शान्ति नामक एक आचार्य भी सोरठ देश की वल्लभीपुरी मे जाकर अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ रहने लगा । वहा शान्त्याचार्य एव उनके शिष्यो ने दुष्कालजन्य विकट परिस्थितियो से मजबूर हो कर कम्बल, दण्ड, वस्त्र, पात्रादि धारण किये और गृहस्थो के यहा बैठ कर भोजन करना प्रारम्भ किया । सुभिक्ष होने पर शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यो को पुन निरवद्य दिगम्बर श्रमणाचार ग्रहण करने की सलाह दी । शान्त्याचार्य के शिष्यो ने उनकी आज्ञा का पालन करने से स्पष्टत इन्कार कर दिया । शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यो के जिनप्ररूपित धर्म से विपरीत आचरण की कटु शब्दो मे भर्त्सना की । इससे क्रुद्ध हो शान्त्याचार्य के प्रमुख शिष्य ने उनके कपाल पर दण्ड का प्रहार किया ।

णिग्गथ दूसित्ता णिदित्ता अप्पण पससित्ता ।
जीवे मूढए लोए कयमाए गेहिय बहु दव्व ।।७१।।

इयरो वितर देवो सति लग्गो उवद्दव काउ ।
जपइ मा मिच्छत्त गच्छह लहिऊण जिणधम्म ।।७२।।

भीएहिं तस्स पूआ अट्ठविहा सयलदव्वसपुण्णा ।
जा जिणचन्द रइया सो अज्जवि दिण्णिया तस्स ।।७३।।

अज्ज वि सा बलि पूया पढमयर दिति तस्स णामेण ।
सो कुलदेवो उत्तो सेवड सघस्स पुज्जो सो ।।७४।।

इय उप्पत्ती कहिया सेवडयाण च मग्गभट्ठाण ।
एत्तो उड्ढ वोच्छ णिसुणह अण्णाणमिच्छत्त ।।७५।।

नित्य ही घोर बावीस परीषहों का सहन करना आदि ये तो वडे ही कठोर आचरण है ।। ६२, ६३, ६४ ।।

इस समय हम लोगो ने जो यह आचरण ग्रहण कर रखा है, वह वस्तुत इस लोक मे सुखकर है अत इसे इस दु पम नामक पाचवे आरक मे हम नही छोड सकते ।।६५।।

इस पर शान्त्याचार्य ने कहा कि इस प्रकार का चरित्रभ्रष्ट जीवन अच्छा नही । यह तो जिनप्ररूपित धर्ममार्ग को दूषित करने वाला है ।।६६।।

जिनेन्द्रप्रभु ने निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही परमोत्कृष्ट बताया है, उसका त्याग कर अन्य मार्ग की प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है ।।६७।।

शान्त्याचार्य के इस कथन से रुष्ट हो कर उनके उस प्रधान शिष्य ने लम्बे डण्डे से गुरु के सिर पर प्रहार किया जिसके आघात से स्थविर आचार्य शान्ति का प्राणान्त हो गया और वे मर कर व्यन्तर जाति के देव हुए ।।६८।।

शान्त्याचार्य के मरने पर उनका वह प्रमुख शिष्य सघाधिपति बन बैठा और प्रकट मे पाषड-श्वेताम्बर हो गया । वह लोगो को इस प्रकार के धर्म का उपदेश देने लगा कि सग्रन्थ (वस्त्र-पात्रादि के परिग्रहधारक) को भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।।६९।।

उसने (जिनचन्द्र ने) तथा उसके अनुयायियो ने स्वय द्वारा ग्रहण किये गये पाषण्डो के अनुरूप शास्त्रो की रचना की और उन शास्त्रों का उपदेश दे कर लोगो मे उस प्रकार के आचरण को प्रचलित कर दिया ।।७०।।

त वयण सोऊण उत्त सीसेण तत्थ पढमेण ।
को सक्कइ धारेउ एय अइ दुद्धरायरण ।।६२।।
उववासो य अलाभो अण्णे दुस्सहाइ अतरायाइ ।
एकट्ठाणमचेल अज्जायण बम्भचेर च ।।६३।।
भूमीसयण लोच्चे वे बे मासेहिं असहिणिज्जो हु ।
बावीस परिसहाइ असहिणिज्जाइ निच्च पि ।।६४।।
ज पुण सपइ गहिय एय अम्हेहि किं पि आयरण ।
इह लोय सुक्खयरण ण छडिमो हु दुस्समे काले ।।६५।।
ता सतिणा पउत्त चरियपभट्ठेहि जीविय लोए ।
एय ण हु सुन्दरय दूसणय जइण मग्गस्स ।।६६।।
णिग्गथ पव्वयण जिणवरणाहेण अक्खिय परम ।
त छडिऊण अण्ण पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ।।६७।।
ता रूसिऊण पहओ सीसे सीसेण दीह दडेण ।
थविरो घाएण मुओ जाओ सो वितरो देवो ।।६८।।
इयरो सघाहिवइ पयडिय पासड सेवडो जाओ ।
अक्खइ लोए धम्मं सग्गथ अत्थि णिव्वाण ।।६९।।
सत्थाइ विरइयाइ णिय णिय पासड गहियसरिसाइ ।
वक्खाणिऊण लोए पवत्तिओ तारिसायरणो ।।७०।।

आचार्य भद्रबाहु विविध क्षेत्रो मे धर्म का प्रचार करते हुए एक समय अवन्ती राज्य की राजधानी उज्जयिनी पुरी के बाहर क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित उपवन मे पधारे ।

उस समय अवन्ती राज्य पर महाराज चन्द्रगुप्त का शासन था । वे उज्जयिनी मे रहते थे । महाराज चन्द्रगुप्त एक दृढ सम्यक्त्वी और जिनशासन के श्रद्धालु श्रावक थे । उनकी महारानी का नाम सुप्रभा था ।

एक दिन आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी मे घर-घर भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए एक ऐसे घर मे प्रविष्ट हुए जिसके अन्दर झोली मे लेटे हुए एक शिशु के अतिरिक्त और कोई नही था । भद्रबाहु को देखते ही वह नन्हा सा शिशु बोल उठा – भगवन् ! आप यहा से शीघ्र ही चले जाइये ।

दिव्यज्ञानी भद्रबाहु ने उस शिशु के अत्यन्त आश्चर्योत्पादक वचन सुनकर तत्काल ही समझ लिया कि इस प्रकार के अति स्वल्पायुष्क शिशु के मुख से इस प्रकार के वचन प्रकट होने का परिणाम यह होने वाला है कि इस समस्त प्रदेश मे निरन्तर १२ वर्ष तक भयकर अनावृष्टि होगी । वे तत्क्षण बिना भिक्षा ग्रहण किये ही उपवन की ओर लौट गये । अपराह्न वेला मे उन्होने श्रमण सघ को एकत्रित कर उसे भावी द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष के महान् सकट से अवगत कराते हुए कहा – "श्रमणो ! जन-धन और अन्न से परिपूर्ण यह सुरम्य प्रदेश बारह वर्ष तक अनावृष्टि और दुष्काल के कारण शून्यप्राय होने वाला है । मेरी तो बहुत ही कम आयु अवशिष्ट रह गई है अत मै तो यही रहूगा पर आप सब लोग लवण समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रो की ओर चले जाओ ।"

आचार्य भद्रबाहु के उपरोक्त वचन सुनकर महाराज चन्द्रगुप्त ने उनके पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली । मुनि बनने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु से १० पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया और वे विपाखाचार्य के नाम से विख्यात हो श्रमण सघ के अधिपति बन गये । आचार्य भद्रबाहु की आज्ञानुसार श्रमण सघ इन विषाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ के पुन्नाट प्रदेश मे चला गया तथा रामिल्ल स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र – ये तीनो अपने सघ के साथ सिन्धु प्रदेश मे चले गये ।

आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी के अन्तर्गत भाद्रपद नामक स्थान मे आकर ठहरे और वहा कई दिनो के अनशन के पश्चात् समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग सिधारे ।

रामिल्ल, स्थूलवृद्ध (स्थूलाचार्य) और स्थूलभद्र जिस समय सिन्धु प्रदेश मे पहुचे, उस समय वहा पर भी दुष्काल का प्रभाव व्याप्त हो चुका था । सिन्धु प्रदेश के श्रद्धालु श्रावको ने उनके सम्मुख उपस्थित होकर निवेदन किया – "महात्मन् ! भूखे लोगो की अपार भीड के डर से हमारे घरो मे रात्रि के समय ही भोजन बनाया जाता है, अत जब तक यह सकटकाल समाप्त न हो जाय तब तक

परिणामत शान्त्याचार्य की मृत्यु हो गई और उनकी मृत्यु के पश्चात् विक्रम सवत् १३६ तदनुसार वीर निर्वाण सवत् ६०६ मे उनके शिष्यो ने अपने शिथिलाचार के अनुसार नवीन शास्त्रो की रचना कर श्वेताम्बर सघ की स्थापना की ।

वीर निर्वाण सवत् ६०६ मे दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद प्रारम्भ हुआ, यह दिगम्बर सम्प्रदाय को सर्वसम्मत मान्यता है अत उसके आधार पर देवसेन द्वारा प्रस्तुत की गई उपर्युक्त मान्यता को दिगम्बर परम्परा की मान्यता सख्या १ के नाम से अभिहित किया जा सकता है ।

आचार्य हरिषेण इससे कुछ आगे बढे,

वृहत्कथाकोश

पुन्नाट सघ के श्री मौनि भट्टारक के प्रशिष्य तथा श्री भरतसेन के शिष्य आचार्य श्री हरिषेण ने विक्रम सवत् ६८६ मे निर्मित वृहत् कथाकोश मे जो आचार्य भद्रबाहु का कथानक (कथानक सख्या १३१) दिया है, उसका साराश यहा दिया जा रहा है –

प्राचीनकाल मे पुण्ड्रवर्धन राज्य मे कोटिपुर नामक एक नगर था जो आज कल देवकोट्ट के नाम से प्रसिद्ध है। वहा के राजा पद्मरथ के राज-पुरोहित सोमशर्मा की धर्मपत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रबाहु का जन्म हुआ। बालक भद्रबाहु जब कुछ बडा हुआ तो वह अपने समवयस्क बालको के साथ खेलने लगा। एक दिन नगर के बाहर अपने साथियो के साथ खेलते हुए भद्रबाहु ने बात ही बात मे गोली पर गोली चढाते हुए चौदह गोलियो को एक दूसरी पर चढा कर सब खिलाडियो को आश्चर्य मे डाल दिया।

उसी समय भगवान् नेमिनाथ की स्तुति करने हेतु उर्जयन्त (गिरनार) पर्वत की ओर जाते हुए चौथे चतुर्दश पूर्वधर आचार्य गोवर्धन उस स्थान पर पधारे। उन्होने बालक भद्रबाहु द्वारा चौदह गोलियो को एक दूसरी पर चढा देने के अद्भुत कौशल को देख कर अपने ज्ञान से जान लिया कि यही प्रतिभाशाली बालक आगे चल कर अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर होगा। गोवर्द्धनाचार्य ने भद्रबाहु के पिता को सारा हाल सुना कर उनकी अनुमति से बालक भद्रबाहु को अध्ययन कराने हेतु अपने पास रख लिया और स्वल्प समय मे ही सब विद्याओ एव शास्त्रों मे उसे पारगत बना दिया।

सब विद्याओ मे निष्णात होने पर भद्रबाहु गुरु-आज्ञा से अपने माता-पिता के पास गये परन्तु कुछ ही दिनो पश्चात् वे अपने माता-पिता से दीक्षित होने की आज्ञा प्राप्त कर आचार्य गोवर्द्धन के पास लौट आये और उनके पास निर्ग्रन्थ-धर्म में दीक्षित हो गये। गुरु की कृपा से भद्रबाहु कुछ ही काल मे द्वादशागी के पारगामी विशेपज्ञ-श्रुतकेवली बन गये। अपने अन्तिम समय मे आचार्य गोवर्द्धन ने भदबाहु को आचार्य पद प्रदान कर दिया और स्वय कठोर तपश्चरण करते हुए अन्त में अनशन-पूर्वक स्वर्गगमन किया।

कल्प के विधान की कल्पना कर निर्ग्रन्थ (नग्न) परम्परा से विपरीत स्थविरकल्प परम्परा को प्रचलित किया।"[1]

इस प्रकार आचार्य देवसेन ने अपने ग्रन्थ 'भावसग्रह' मे वीर निर्वाण सवत् ६०६ मे हुए आचार्य भद्रबाहु (निमित्तज्ञ) के समय मे जिस घटना के घटित होने का उल्लेख किया है उसे आचार्य हरिषेण ने अपने ग्रन्थ 'वृहत् कथाकोश' मे श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ जोड दिया है, जो कि दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० स० १६३ मे और श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वी० नि० स० १७० मे स्वर्ग सिधारे। आचार्य हरिषेण ने रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य – इन तीनो के सम्बन्ध मे लिखा है कि उन तीनो ने पुन निर्ग्रन्थ आचार स्वीकार कर लिया।

पर भट्टारक रत्ननन्दी इनसे वहुत आगे वढ गये ....

इस प्रकार विमलसेनगणि के शिष्य देवसेन[2] (जो कि दर्शनसार के रचयिता देवसेन से भिन्न है) ने अपने ग्रन्थ "भावसग्रह" मे वीर निर्वाण स० ६०६ मे हुए भद्रवाहु के समय मे श्वेताम्बर दिगम्बर भेद होने का उल्लेख किया है, उसे हरिषेण[3] ने वी० नि० स० १६३ अथवा १७० मे स्वर्गस्थ होने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड दिया।

घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि हरिषेण ने श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद उत्पन्न होने की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय से जोडने का जो प्रयास किया, वह उनके अनुयायियो के भी गले नही उतरा। हरिषेण के इस प्रयास का अनौचित्य कुछ विद्वानो के मन मे खटकता रहा और इसके परिणामस्वरूप ईसा की १५वी शताब्दी मे एक नई मान्यता का प्रचार एव प्रसार दिगम्बर परम्परा मे हुआ।

---

[1] इष्ट नयैर्गुरोर्वाक्य ससारार्णवतारकम्।
जिनस्थविरकल्प च विधाय द्विविध भुवि ॥६७॥
अर्द्धफालकसयुक्तमज्ञात परमार्थकै।
तैरिद कल्पित तीर्थ कातरैः शक्तिवर्जितै ॥६८॥
[वृहत् कथाकोश, कथानक १३१, पृ० ३१८, ३१९]

[2] सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणो ति।
अबुहजणबोहणत्थ तेणेय विरइय सुत्त ॥
"भावसग्रह" के अन्त मे दी हुई इस गाथा के आधार पर परमानन्द शास्त्री ने यह अभिमत जाहिर किया है कि भावसग्रह के कर्त्ता देवसेन दर्शनसार के कर्त्ता देवसेन से भिन्न है। देवसेन ने दर्शनसार मे यह स्पष्टत स्वीकार किया है कि प्राचीन आचार्यो की गाथाओ का सकलन कर वे दर्शनसार की रचना कर रहे है। दर्शनसार मे दी हुई गाथाओ मे से कुछ गाथाए भावसग्रह मे उपलब्ध है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन गाथाओ के कर्त्ता ये देवसेन हो और इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्य हो।
– सम्पादक

[3] हरिषेण का समय ई० सन् ८३१ है।

आप लोग भिक्षापात्र लेकर भिक्षा लेने हेतु रात्रि के समय ही हमारे घरों मे आया करे। रात्रि में लाया हुआ आहार दूसरे दिन खा लिया करे।"

श्रावको के आग्रहपूर्ण निवेदन को स्वीकार करते हुए उन श्रमणो ने रात्रि के समय पात्रो मे भिक्षा लाने तथा दूसरे दिन आहार करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी और इस प्रकार उस भयावह दुर्भिक्ष का समय व्यतीत होने लगा।

कुछ समय पश्चात् उन श्रमणो मे से एक अत्यत कृषकाय श्रमण अर्द्धरात्रि के समय भिक्षापात्र लिये गृहस्थ के घर मे भिक्षार्थ प्रविष्ट हुआ। रात्रि के घनान्धकार मे उस नग्न साधु के ककालावशिष्ट बीभत्स स्वरूप को देखकर उस घर की गर्भिणी गृहणी इतनी अधिक भयभीत हुई कि तत्काल उसका गर्भ गिर गया।

इस दुर्भाग्यपूर्ण काण्ड से श्रमणो एव श्रावको को बडा दु ख हुआ। श्रावको ने श्रमणो से प्रार्थना की कि वे अपने बाये स्कन्ध पर कपडा (अर्द्धफालक) रखे। भिक्षा ग्रहण करते समय बाये हाथ से कपड़े को आगे की ओर कर दे और दक्षिण हाथ मे ग्रहण किये हुए पात्र मे भिक्षा ग्रहण करे। सुभिक्ष हो जाने पर इस प्रकार के आचरण के लिये प्रायश्चित्त कर ले। श्रावको की प्रार्थना को समयोचित समझ कर श्रमणो ने स्वीकार कर लिया और अर्द्धफालक एव दण्ड आदि रखना प्रारम्भ कर किया।

उधर विशाखाचार्य के साथ गये हुए श्रमणो के सघ ने दक्षिण देश मे सुभिक्ष होने के कारण ज्ञान, दर्शन, चारित्र का सम्यक् रूप से परिपालन करते हुए बारह वर्ष का सक्रान्तिकाल दक्षिणापथ मे सुखपूर्वक व्यतीत किया।

उस द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष की समाप्ति पर सुभिक्ष होते ही विशाखाचार्य ने अपने श्रमण सघ के साथ दक्षिणापथ से मध्यप्रदेश की ओर विहार कर दिया और अनेक क्षेत्रो में विहार करते हुए वे मध्यप्रदेश मे आ पहुचे।

उधर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य ने दुर्भिक्ष की समाप्ति पर समस्त श्रमण सघ को एकत्रित कर कहा कि दुर्भिक्ष के दिन व्यतीत हो गये है। अत अब सब मुमुक्षु श्रमणो को अर्द्धफालक का परित्याग कर निर्ग्रन्थता स्वीकार कर लेनी चाहिये। उनके वचन सुनकर मुक्ति के अभिलाषी कुछ साधुओ ने पुन निर्ग्रन्थता ग्रहण कर ली। परम वैराग्यशाली रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य– ये तीनो विशाखाचार्य के पास आये और भवभ्रमण के भय से संत्रस्त उन तीनो ने दुष्काल के. समय ग्रहण किये गये अर्द्धफालक (आधे कपड़े) का तत्काल परित्याग कर निर्ग्रन्थ मुनियो का वेष धारण कर लिया।[1] जो साधु कष्टसहन से कतराते थे और जिनका मनोबल दृढ नही था, उन्होने जिनकल्प और स्थविर

[1] रामिल्ल स्थविर स्थूलभद्राचार्यस्त्रयोऽप्यमी।
महावैराग्यसम्पन्ना विशाखाचार्यमाययु ॥६५॥
त्यक्त्वार्द्धकर्पट सद्य· ससारात्त्रस्तमानसा।
नैर्ग्रन्थ्य हि तपः कृत्वा मुनिरूप दधुस्त्रय ॥६६॥

नगण्य भेद के अतिरिक्त रयधू वर्णित चन्द्रगुप्ति द्वारा देखे गये १६ स्वप्न वही है जो दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थो मे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्नो के नाम से उपलब्ध होते है ।[1]

इन सोलह स्वप्नो को देखने के पश्चात् चन्द्रगुप्ति की निन्द्रा भग हुई । वे अद्भुत स्वप्नदर्शन से चिन्तातुर हुए । उन्ही दिनो उस नगर मे श्रुतकेवली भद्रवाहु का पधारना हुआ । राजा चन्द्रगुप्ति ने भद्रवाहु की सेवा मे पहुच कर उनके समक्ष अपने सोलह स्वप्न सुनाये और उनसे स्वप्नफल वताने की प्रार्थना की । भद्रवाहु से अपने स्वप्नो का फल सुनकर चन्द्रगुप्ति को विश्वास हो गया कि निकट भविष्य मे सभी दृष्टियो से वडी गम्भीर और हीन स्थिति पैदा होने वाली है । चन्द्रगुप्ति को ससार से विरक्ति हो गई और उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर भद्र-वाहु के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली ।

इसके पश्चात् रयधू ने भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भद्रवाहुस्वामी द्वारा एक घर मे शिशु के मुख से 'जा, जा' शब्द सुनना, उनके द्वारा उस शिशु से पूछना कि कितने वर्ष के लिये, शिशु द्वारा उत्तर देना कि १२ वर्ष के लिये, भद्रबाहु द्वारा भावी द्वादशवार्षिक काल के सम्बन्ध मे श्रमण सघ को सूचित करना, श्रावको की प्रार्थना पर भी भद्रवाहु का न रुकना तथा स्थूलभद्र, रामिल्ल, और स्थूलाचार्य का अपने-अपने श्रमण सघ सहित उज्जयिनी मे ही रहना, भद्रवाहु का वारह हजार

तेण जि सणयरहु, लेहु जु पेरिउ, सालिकूरुमति देविअ दूसिउ ।
उज्झायहो णदणु पाढेव्वउ, अयरे एहु वयणु महु किव्वउ ।
त जि लेहु वचिउ विवरेरउ, णयणजुयलु हरियउ सुयकेरउ ।
अरि जित्ति विजापहु आउ घरि, पुत्तु णियजि विगय णयणे ।
वहु सोउ पउजिवि तेण तहि, विहिउ सुयहो पुणु परिणयणु ।।६।।
णामे चदगुत्ति तहो णदणु सजायउ सज्जण आणदणु ।
पोडत्तणि सो रांजि परिट्ठिउ, णियपउ पालणि सो उक्कठिउ ।
जिणधम्मामय तित्तिउ अच्छइ, मुणिणाह णिरुदाणु पयच्छइ ।
अण्णहि दिणि वि रयणि सुपसुत्तइ, सिविणाइ दिट्ठइ सोलहमत्तइ ।

[रयधू कृत महावीर चरित् (अप्रकाशित]

[1] दिट्ठउ अत्थगउ दिवसेसरु, साहाभग कप्परुक्खहु परु ।
उतु विमाण वि वाहुरि जतउ, अहि बारहफण फुफ्फूवतउ ।
ससिमडलहु भेउ तह दिट्ठउ, हत्थि किण्ह जुज्झत अहिट्ठउ ।
खज्जोउ वि दिट्ठउ पहुवतउ, मज्झि सुक्क सरवरु वि महतउ ।
धूम हु पूरे गयणु वि छण्णउ, वणयरगणु विड्ढरिहि णिसण्णउ ।
कणय थालि वायसु भुजतउ, साणणि हालिय तेय फुरत ।
करिकर खधारूढा वाणर, दिट्ठ कथार मज्जि कमलयवर ।
मज्जा यचतउ पुणु सायरु, वाल वसह धुरजोत्तिय रहवर ।
तरुण वसह आरूढा खत्तिय दिट्ठा तेण अतुल वलसत्तिय ।

वि० स० १४९५ तदनुसार ई० सन् १४३९ मे हुए रयधू नामक अपभ्रश भापा के महाकवि ने अपने ग्रन्थ "महावीर चरित्" मे मौर्य राजाओ का उल्लेख करते हुए कुणाल के पुत्र का नाम सम्प्रति के स्थान पर चन्द्रगुप्ति दिया है। रयधू ने लिखा है कि कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्ति ने एक रात्रि मे १६ स्वप्न देखे। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु से अपने स्वप्नो के फल को सुनकर उसे ससार से विरक्ति हुई और उसने आचार्य भद्रबाहु के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। इन आचार्य भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान से भावी बारह वर्ष तक दुष्काल पडने की सूचना श्रमणसघो को दी और उन्हे दक्षिण मे विचरण करने की सलाह दी। इसी द्वादशवार्पिक काल के पश्चात् श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद उत्पन्न होने का उल्लेख करते हुए रयधू ने आचार्य भद्रबाहु के साथ-साथ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद की घटना को भी वीर निर्वाण सवत् ३३० के आसपास ला रखा है।

रयधू ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। उसका स्थान दिगम्बर परम्परा के महाकवियो मे माना जाता है। अत' रयधू की एतद्विपयक मान्यता को यहां सक्षेप मे दिया जा रहा है।

"चाणक्य ने चन्द्रगुप्ति को राजराजेश्वर के पद पर अभिपिक्त किया। वह चन्द्रगुप्ति वडा ही विख्यात राजा हुआ। उसके बिन्दुसार नामक पुत्र हुआ। विन्दुसार का पुत्र हुआ अशोक और अशोक के णउलु (कुणाल) नाम का पुत्र हुआ। एक समय राजा अशोक अश्वो और हाथियो की सेना से सुसज्जित हो एक शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये गया। अशोक ने युद्धस्थल से अपने नगर मे एक आज्ञापत्र भेजा, जिसमे लिखा था कि "अधीयतु कुमार" – अर्थात् कुमार को अव पढाया जाय। णउलु (कुणाल) की सौतेली माता ने अपने नेत्रो के अजन की मसी से 'अधीयतु' शब्द के प्रथमाक्षर पर अनुस्वार लगाकर "अंधीयतु कुमार." वना दिया। आज्ञापत्र पढकर अधिकारियो ने राजकुमार (कुणाल) को नेत्रविहीन कर दिया।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अशोक पुन अपने घर लौटा तव अपने पुत्र को लोचनविहीन देखकर उसे वडा संताप हुआ। समय आने पर अशोक ने अपने अधे पुत्र का विवाह कर दिया। उस अधे राजकुमार के चन्द्रगुप्ति नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि सज्जनो को वडा आनन्द देने वाला था। अशोक ने अन्ततोगत्वा अपने पौत्र चन्द्रगुप्ति को राज्यपद दिया। राजा वनने के पश्चात् चन्द्रगुप्ति वड़े उत्साह के साथ जैनधर्म का प्रचार-प्रसार और पालन करने लगा। चन्द्रगुप्ति वडी श्रद्धा व भक्ति के साथ मुनियो को दान दिया करता था। एक समय रात्रि मे सुसुप्तावस्था मे चन्द्रगुप्ति ने १६ स्वप्न देखे।[1]

---

[1] चन्दगुत्ति ते पविहिउ राणउ, किउ चाणक्कँ तउ जि पहाणउ।
चन्दगुत्ति रायहो विक्खायउ विंदुसारु णदणु सजायउं।
तहो पुत्तु वि असोउ उप्पण्णउ, णउलु णाम तहु सुउ उप्पण्णउ।
णिउ असोउ गउ वइरिउ उप्परि, पल्लाणेप्पिणु सज्जिवि हरि करि।

द्विजदम्पती ने कहा – "अकारण करुणाकर ! यह तो आप हम लोगो पर महान् उपकार करने जा रहे है। इसके लिये हमसे पूछने की क्या आवश्यकता है ? यह बच्चा आप ही का है। आप इसे ले जाइये और अपनी इच्छानुसार इसे सब शास्त्र पढाइये।"

माता-पिता की अनुमति मिल जाने पर गोवर्द्धनाचार्य बालक भद्रबाहु को अपने साथ ले गये और उसे व्याकरण, न्याय, साहित्य, दर्शन आदि सभी विषय पढाने लगे। कुशाग्रबुद्धि भद्रबाहु ने अप्रतिम विनय, भक्ति, निष्ठा एव परिश्रम से अध्ययन करते हुए स्वल्प समय मे ही गुरू गोवर्द्धनाचार्य से समस्त विद्याओ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अध्ययन समाप्त कर चुकने के पश्चात् भद्रबाहु अपने गुरू से आज्ञा प्राप्त कर अपने माता-पिता की सेवा मे कोट्टपुर लौटे। समस्त विद्याओ मे निष्णात अपने पुत्र को देख कर सोमशर्मा और सोमश्री के हर्ष का पारावार न रहा। दृढ सम्यक्त्वधारी विद्वान् भद्रबाहु के अन्तर मे दिन प्रतिदिन जैन धर्म का उद्योत करने की भावना बल पकडने लगी। एक दिन भद्रबाहु कोट्टपुर नरेश पद्मधर की राज्यसभा मे पहुचे। महाराज पद्मधर ने अपने पुरोहित के तेजस्वी और विद्वान् पुत्र भद्रबाहु का बडी प्रसन्नतापूर्वक आदर-सत्कार किया।

राज्यसभा मे उस समय एकत्रित विद्वान् इस प्रश्न पर चर्चा कर रहे थे कि सब धर्मो मे कौनसा धर्म श्रेष्ठ है। कोई भी विद्वान् अपनी युक्तियो से महाराज पद्मधर को सतुष्ट नही कर सका। अत उन्होने भद्रबाहु से अनुरोध किया कि वे इस विषय मे अपना मन्तव्य रखे।

भद्रबाहु ने शान्त, गम्भीर और युक्तिपूर्ण शब्दो मे धर्म के आधारभूत गूढ तथ्यो को रखते हुए सम्यक्त्व, सत्य, अहिसा आदि जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो का ऐसी कुशलता से और सरलता के साथ प्रतिपादन किया कि सारी राजसभा मन्त्रमुग्ध सी हो निर्निमेष दृष्टि से भद्रबाहु की ओर देखती रह गई।

वर्षो के प्रयास से अर्जित अपनी यशस्कीर्त्ति एव विद्वत्ता की धाक को इस प्रकार एक अल्पवयस्क कुमार के हाथो अनायास ही धूलिधूसरित होते देख राज-सभा के अनेक पण्डितमानी विद्वानो ने विविध प्रकार की जटिल से जटिलतर समस्याए भद्रबाहु के समक्ष रखी। पर प्रखरबुद्धि भद्रबाहु ने अपनी अकाट्य युक्तियो और प्रबल प्रमाणो से उन सब का तत्क्षण समाधान कर दिया। राज्य-सभा मे हुआ वह वादविवाद कुछ ही क्षणो मे एक निर्णायक शास्त्रार्थ का रूप धारण कर गया। राज्य सभा के सभी विद्वानो ने सगठित हो भद्रबाहु को शास्त्रार्थ मे पराजित करने के लिये प्राणपण से पूरा बल लगा कर प्रयास किया किन्तु स्याद्वाद-सिद्धान्त रूपी सात धार वाले अमोघास्त्र से भद्रबाहु ने उन विद्वानो के युक्तिजाल को छिन्न-भिन्न कर डाला। अन्ततोगत्वा उस शास्त्रार्थ मे भद्रबाहु को समस्त विद्वद्वृन्द का विजेता घोषित किया गया। महाराज पद्मधर और सभासद् भद्रबाहु द्वारा प्रस्तुत किये गये जैनधर्म के स्वरूप से ऐसे प्रभावित हुए

श्रमणों के साथ दक्षिण की ओर विहार करना, एक वन मे पहुंचने के पश्चात् अदृश्य वाणी से अपना अन्तिम समय निकट समझ विशाख मुनि को आचार्य पद प्रदान कर उन्हे बारह वर्ष तक दक्षिणापथ मे विचरते रहने का आदेश देना, चन्द्रगुप्ति का भद्रबाहु की सेवा मे रहना, भद्रवाहु द्वारा अनशन ग्रहण, चन्द्रगुप्ति को वन मे देवनिर्मित नगर से भिक्षा मिलना, भद्रबाहु का स्वर्गारोहण करना, स्थूलाचार्य आदि श्रमणो द्वारा पात्र, दण्ड वस्त्रादि ग्रहण करना, सुभिक्ष के पश्चात् श्वेताम्बर दिगम्बर भेद उत्पन्न होना आदि घटनाओ का उसी रूप मे वर्णन किया है, जिस प्रकार कि दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थो मे आमतौर से उपलब्ध होता है ।

आचार्य रत्ननन्दी के अनुसार

आज दिगम्बर परम्परा मे आमतौर पर वि० स० १६२५ के आसपास हुए दिगम्बर आचार्य रत्ननन्दी, अपर नाम रत्नकीर्ति द्वारा रचित "भद्रबाहु चरित्र" सर्वाधिक मान्य गिना जाता है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा वर्णित भद्रबाहु चरित्र मे रत्ननन्दी ने किस प्रकार की नवीन अभिवृद्धिया की, इस तथ्य से पाठक भली-भाति अवगत हो जाय, इस दृष्टि से उनके द्वारा रचित ग्रन्थ "भद्रबाहु चरित्र" मे उल्लिखित भद्रबाहु का जीवन-परिचय यहा सक्षेप मे दिया जा रहा है –

"भारतवर्ष के पुण्ड्रवर्द्धन राज्य की राजधानी कोट्टपुर नगर मे पद्मधर नामक राजा राज्य करता था। उसके राजपुरोहित सोमशर्मा की पत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रबाहु का जन्म हुआ। पौगण्डावस्था मे एक दिन कुमार भद्रबाहु ने नगर के बाहर अपने सखाओ के साथ गोलियो का खेल खेलते हुए बडी कुशलता के साथ चौदह गोलियो को एक दूसरी पर चढा दिया। उस समय गिरनार की यात्रा के लिये जाते हुए श्री गोवर्द्धनाचार्य वहा पहुचे। नग्न साधुओ को देखकर अन्य सब बालक तो भाग खडे हुए पर निर्भीक कुमार भद्रबाहु वही खडे रहे। गोली पर गोली, इस तरह चौदह गोलियो को एक दूसरी पर चढी देख कर चतुर्दश पूर्वधर आचार्य गोवर्द्धन ने निमित्तज्ञान से पहिचान लिया कि वह बालक भविष्य में पंचम श्रुतकेवली होगा। बालक का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् आचार्य गोवर्द्धन बालक भद्रबाहु के साथ उसके घर पहुंचे। द्विज-दम्पती ने हर्ष विभोर हो वडी श्रद्धा से आचार्यश्री को सविधि वन्दन किया। तदनन्तर सोमशर्मा ने विनयपूर्वक निवेदन किया – "करुणासिन्धो ! आपके दर्शन से हम कृतकृत्य हुए। आपके चरणसरोज से हमारा घर पवित्र हो गया। प्रभो ! इस दास के योग्य कोई सेवा कार्य फरमाकर इसे अनुगृहीत कीजिये।"

गोवर्द्धनाचार्य ने कहा – "भद्र ! तुम्हारा यह पुत्र बालक भद्रबाहु महान् प्रतिभा सम्पन्न और महान् भाग्यशाली है। भविष्य मे यह बहुत उच्चकोटि का विद्वान् होगा। मै इसे समस्त विद्याओ मे पारंगत करना चाहता हू, अत. इसे पढाने के लिये हमारे सुपुर्द करो।"

(४) चौथा स्वप्न, जिसमे तुमने बारह फरगो वाला सर्प देखा, उसका फल यह है कि निरन्तर बारह वर्ष पर्यन्त अत्यन्त भीषरग दुष्काल पडेगा ।

(५) पाचवे स्वप्न मे उल्टे लौटते हुए देवविमान के दर्शन का यह फल है कि पचम काल मे देवता, विद्याधर, तथा चारण मुनि भरतक्षेत्र मे नही आवेगे ।

(६) छठे स्वप्न मे तुमने जो अशुचि स्थान मे उगे हुए कमल को देखा है, उसका फल यह है कि भविष्य मे क्षत्रियादि उत्तम कुलोत्पन्न पुरुषो के स्थान पर हीन जाति के लोग जैन धर्म के अनुयायी होगे ।

(७) सातवे स्वप्न मे भूतो का नृत्य देखने का फल यह है कि अब भविष्य मे मनुष्यो की अधोजाति के देवो के प्रति अधिक श्रद्धा होगी ।

(८) खद्योत का उद्योत जिसमे देखा गया, उस आठवे स्वप्न का फल यह है कि जैनागमो का उपदेश करने वाले मनुष्य भी मिथ्यात्त्व से ग्रस्त होगे और जैन धर्म कही-कही रहेगा ।

(९) बीच मे सूखा हुआ पर छिछले जल से युक्त किनारो वाला सरोवर जो तुमने ९वे स्वप्न मे देखा है, उसका फल यह होने वाला है कि जिन पवित्र स्थानो पर तीर्थंकरो के पचकल्याणक हुए है, उन स्थानो मे जैन धर्म विनष्ट होगा और दक्षिणादि देशो मे कही-कही थोडा-बहुत धर्म रहेगा ।

(१०) दशवे स्वप्न मे तुमने कुत्ते को स्वर्ण की थाली मे खीर खाते देखा, वह इस भावी का द्योतक है कि लक्ष्मी का उपभोग प्राय नीच पुरुष ही करेगे । लक्ष्मी कुलीनो को दुष्प्राप्य होगी ।

(११) ग्यारहवे स्वप्न मे तुमने वन्दर को हाथी पर बैठे देखा, उसका फल यह है कि क्षत्रिय लोग राज्यरहित होगे और नीच कुल के अनार्य लोग राज्य करेगे ।

(१२) बारहवे स्वप्न मे तुमने समुद्र को वेलाओ (तटो) का उल्लघन करते देखा है, इसका फल यह है कि राजा लोग न्यायमार्ग का उल्लघन करने वाले और प्रजा की समस्त लक्ष्मी को लूटने वाले होगे ।

(१३) तेरहवे स्वप्न मे तुमने बछडो द्वारा वहन किया जा रहा अति भारयुक्त रथ देखा, उसका फल यह है कि अब भविष्य मे बहुधा लोग युवावस्था (बाल अवस्था) मे ही सयम ग्रहरग करेगे और वृद्धावस्था मे शक्ति क्षीरग हो जाने के काररग सयम धाररग नही कर सकेगे ।

(१४) चौदहवे स्वप्न मे तुमने राजकुमार को ऊट पर चढे देखा, उसका फल यह है कि अब भविष्य मे राजा लोग निर्मल सत्य धर्म का परित्याग कर हिसा-मार्ग स्वीकार करेगे ।

(१५) पन्द्रहवे स्वप्न मे तुमने धूलि से आच्छादित रत्नराशि के दर्शन किये, उसका यह फल होने वाला है कि भविष्य मे निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करने लगेगे ।

कि उन्होने उसी समय जैनधर्म अगीकार कर लिया। महाराज पद्मधर ने वस्त्राभूषणादि से भद्रबाहु को सम्मानित किया और भद्रबाहु की कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई।

कुछ ही समय पश्चात् भद्रबाहु ने अपने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर गोवर्द्धनाचार्य के पास निर्ग्रन्थ-श्रमणदीक्षा ग्रहण की। श्रमणोचित सभी आचारो का सम्यग्रूपेण पालन करते हुए भद्रबाहु ने अपने गुरू गोवर्द्धनाचार्य के पास क्रमश: सभी अग शास्त्रो का अध्ययन प्रारम्भ किया और वे गुरू के अनुग्रह से शीघ्र ही सम्पूर्ण द्वादशागी के पारगामी चतुर्दश पूर्वधर विद्वान् बन गये।

कालान्तर मे गोवर्द्धनाचार्य ने अपना अन्तिम समय निकट समझ कर भद्रबाहु को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर नियुक्त किया और घोर तपश्चरण करते हुए अन्त मे चतुर्विध आहार का परित्याग कर समाधिपूर्वक स्वर्गगमन किया।

आचार्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् भद्रबाहु संघ का सचालन करते हुए विभिन्न क्षेत्रो में जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार करने लगे।

उस समय धन-धान्यादिक से सम्पन्न अवन्ती राज्य मे चन्द्रगुप्ति नामक राजा का राज्य था, जो उस राज्य की राजधानी उज्जयिनी मे निवास करता था। महाराज चन्द्रगुप्ति ने एक समय रात्रि के पिछले प्रहर मे बडे आश्चर्यजनक १६ स्वप्न देखे। उन स्वप्नो का फल जानने की राजा के मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई।

प्रात काल वनपाल ने राजा चन्द्रगुप्ति को सूचित किया कि नगर के बाहर राजकीय उपवन मे आचार्य भद्रबाहु अपने १२,००० मुनियो के साथ पधारे हुए है। यह शुभसवाद सुन कर राजा चन्द्रगुप्ति अपने मन्त्रियो, सामन्तो, परिजनो और प्रतिष्ठित पौरजनो के साथ आचार्यश्री की सेवा मे पहुचा। दर्शन, वन्दन एवं उपदेशश्रवण के पश्चात् चन्द्रगुप्ति ने आचार्य भद्रबाहु के समक्ष अपने सोलह स्वप्न सुनाते हुए उनसे उनका फल पूछा।

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने अपने ज्ञानबल से राजा चन्द्रगुप्ति के स्वप्नो का फल बताते हुए कहा – "राजन्! ये स्वप्न भावी घोर अनिष्ट के सूचक है, जो इस प्रकार है –

(१) अस्तमान रविदर्शन का प्रथम स्वप्न इस बात का द्योतक है कि इस पचम काल मे द्वादशागादि का श्रुतज्ञान न्यून हो जायगा।

(२) दूसरे स्वप्न मे कल्पवृक्ष की शाखा के भंग होने का फल यह है कि अब भविष्य मे कोई राजा श्रमणदीक्षा ग्रहण नही करेगा।

(३) तीसरे स्वप्न मे चलनीतुल्य सछिद्र चन्द्र के दर्शन का फल यह है कि इस दुषमा नामक पंचम काल मे जैन धर्म मे से अनेक मतो का प्रादुर्भाव होगा।

निरंतर बारह वर्ष का दुष्काल पडने वाला है, वह इतना भयावह होगा कि यहा पर रहने वाले साधुओ के लिये व्रत-सयम का पालन असभव हो जायगा।"

श्रावकसघ द्वारा वारम्वार की गई ग्राग्रहपूर्ण प्रार्थना सुन कर रामल्य, स्थूलाचार्य एव स्थूलभद्र आदि साधुओ ने उज्जयिनी के वाहर उपवनो मे रहना स्वीकार कर लिया पर शेप १२,००० साधुओ को साथ ले कर आचार्य भद्रवाहु ने दक्षिण की ओर विहार कर दिया। शनै-शनै विहार करते हुए आचार्य भद्रवाहु अपने साधुसमूह सहित एक गहन एव विस्तीर्ण वन मे पहुचे। वहा एक अद्भुत गगनघोप को सुन कर निमित्त-ज्ञान से भद्रवाहु को ज्ञात हो गया कि अव उनका अन्तिम समय सन्निकट ही है। उन्होने तत्क्षण दशपूर्वधर विशाखाचार्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और श्रमणसघ से कहा कि अव उनकी आयु का अति स्वल्प समय अवशिप्ट रहा है अत वे उसी वन की किसी गिरिकन्दरा मे रहेंगे। उन्होने विशाखाचार्य के नेतृत्व मे श्रमणसघ को वारह वर्ष पर्यन्त दक्षिण देश मे ही विचरण करते रहने का आदेश दिया।

विशाखाचार्य और अन्य श्रमणो ने यह सव कुछ सुन कर शोकसतप्त हो अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि समग्र श्रमणसघ को अपने आचार्य की अन्तिम सेवा का लाभ लेने दिया जाय। पर अन्ततोगत्वा गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर विशाखाचार्य को श्रमणसघ के साथ दक्षिण की ओर विहार करना पडा। चन्द्रगुप्ति मुनि, भद्रवाहु द्वारा वार-वार श्रमणसघ के साथ चले जाने का आग्रह किये जाने के उपरान्त भी भद्रवाहु की सेवा मे ही रहे।

आचार्य भद्रबाहु ने यौगिक विधि से अपने मन, वचन, काय के समस्त योगो की वृत्तियो का निरोध कर एक गिरिगुहा मे सलेखना की। उस निर्जन बीहड वन मे आहार-पानी का मिलना नितान्त असभव समझ कर चन्द्रगुप्ति मुनि कई दिन तक उपवास पर उपवास करते हुए रात दिन निरन्तर गुरु-सेवा मे रहने लगे। कुछ दिनो पश्चात् मुनि चन्द्रगुप्ति को गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर वन मे भिक्षार्थ जाना पडा। प्रथम दो दिन तक तो दैवी माया से बिना किसी दानदाता की उपस्थिति के निर्दोप भोजन उनके समक्ष प्रस्तुत होता रहा पर आचारनिष्ठ मुनि ने उसे ग्रहण नही किया और वन से लौट कर सारा वृत्तान्त अपने गुरु को निवेदन कर दिया। योगी भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्ति के आचार की प्रशसा की। तीसरे दिन भिक्षार्थ वन मे घूमते हुए चन्द्रगुप्ति मुनि ने देखा कि एकाकिनी स्त्री उन्हे भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना कर रही है पर इसे भी साधु आचार के प्रतिकूल समझ कर मुनि चन्द्रगुप्ति विना भिक्षा ग्रहण किये ही लौट आये। भद्रबाहु ने अपने शिष्य के मुख से उपरोक्त विवरण सुन कर उनकी आचारनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशसा की।

चौथे दिन गुरु-आज्ञा से मुनि चन्द्रगुप्ति उस वन मे भिक्षार्थ एक ओर निकले तो उन्होने समीप ही एक सुन्दर नगर देखा। मुनि ने उस नगर मे प्रवेश

(१६) सोलहवे (अंतिम) स्वप्न में तुमने दो काले हाथियों को लडते देखा है, वह स्वप्न इस दु खद भविष्य का द्योतक है कि अब आगे के समय मे बादल समय पर और मनुष्यो की अभिलाषा के अनुसार नही बरसेगे ।

श्रुतकेवली भद्रबाहु से अपने १६ स्वप्नो का फल सुन कर महाराज चन्द्रगुप्ति को दृढ विश्वास हो गया कि भविष्य मे पग-पग पर भीषण सकटो से आकीर्ण विकट समय आने वाला है। भवभ्रमण की भयावहता पर विचार करते-करते उन्हे ससार से विरक्ति हो गई और उन्होंने अपने पुत्र को अवन्ती का राज्य सौप कर आचार्य भद्रबाहु के पास निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली ।

कुछ समय पश्चात् एक दिन आचार्य भद्रबाहु जिनदास सेठ के घर पर आहार के लिये गये । उस सुनसान घर मे पालने मे झूलते हुए दो मास के शिशु ने चिल्ला कर भद्रबाहु को कहा – "चले जाओ ! चले जाओ !" यह अद्भुत एव अभूतपूर्व दृश्य देख कर आचार्य भद्रबाहु ने शान्त स्वर मे उस शिशु से पूछा – "बोलो वत्स ! कितने वर्ष के लिये चले जाये ?"

उत्तर मे उस शिशु ने कहा – "बारह वर्ष के लिये ।"

निमित्तज्ञान मे निष्णात श्रुतकेवली भद्रबाहु को यह समझने मे निमेषमात्र समय भी नही लगा कि समस्त मालव प्रदेश में १२ वर्ष के लिये भीषण दुर्भिक्ष पडने वाला है । वे तत्काल अपने स्थान की ओर लौट गये । अपने स्थान पर आकर भद्रबाहु ने समस्त मुनिसघ को बुलाया और भावी भीपण सकट की सूचना देते हुए उन्होंने कहा कि धनधान्यादिक से सुसम्पन्न यह मालव प्रदेश आगामी बारह वर्षो के लिये अभाव-अभियोग, लूट-खसोट, एव भुखमरी का बीभत्स क्रीडांगण बनने वाला है । अब आगे चल कर यहा संयम का पालन दुरूह ही नही अपितु असंभव सा बन जायगा अतः समस्त श्रमणसंघ को सुदूर दक्षिण की ओर विहार कर देना चाहिये ।"

अपने दूरदर्शी एव श्रुतकेवली आचार्य का आदेश सुन कर समस्त मुनिसघ दक्षिण की ओर विहार करने के लिये उद्यत हो गया । श्रावकसघ को ज्यो ही आचार्यश्री के इस निर्णय की सूचना मिली तो समस्त श्रावकसघ भद्रबाहु स्वामी की सेवा में उपस्थित हो प्रार्थना करने लगा कि समस्त श्रमणसघ अवन्ती देश मे ही रहे, अन्यत्र विहार न करे । अनेक कोटिपति श्रावको ने कहा कि उनमे से एक-एक के पास धन-धान्यादिक का इतना अपार सग्रह है कि उससे वे बारह वर्ष ही नही वल्कि सौ वर्ष तक उज्जयिनी के अकालग्रस्त लोगो का परिपालन कर सकते है । ऐसी दशा मे भीषण से भीषण और लम्बे से लम्बे दुष्काल मे भी श्रमणसघ को किसी भी प्रकार की असुविधा नही होगी ।

श्रावकसघ द्वारा अनेक बार प्रार्थना किये जाने पर भी भद्रबाहु स्वामी ने अपने निर्णय पर स्थिर रहते हुए कहा – "श्रद्धालु उपासकवृन्द ! यहा जो

यह सकटकाल है, तब तक वे नगर के मध्यभाग मे रहे, जिससे कि समस्त श्रावक सघ को अपने पूज्य श्रमणो की सुरक्षा व भोजन आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध मे निश्चिन्तता एव सतोप रहे। साधुसघ श्रावको के आग्रह को न टाल सका और श्रावकसघ बडे उत्सव के साथ मुनिसघ को उसी समय नगर मे ले आया।[1]

रामल्य, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्र आदि मुनियो को आहारार्थ जाते देख कर हजारो भूखे मानवो की भीड उनको घेर लेती और बडे करुण स्वर मे खाने के लिये कुछ दिलाने की उनसे प्रार्थना करती। उन भूखे लोगो की रुकावट के कारण साधुओ को बिना भोजन लिये ही पुन अपने स्थान पर लौट जाना पडता। आहारार्थ निकलने पर मुनि लोग उन भूखे लोगों की अपार भीड के कारण किसी श्रावक के घर पर पहुच तक नही पाते थे। उन भूखे कृषकाय नरककालों को मुनियो के मार्ग मे से हटाने हेतु यदि कोई श्रद्धालु श्रावक उन्हे लकडी आदि से डराने का प्रयास करते तो वे बडी करुण पुकार कर रोने लगते। करुण, कोमल चित्तवाले दयालु मुनिगण उन अस्थिपजरावशेप दुष्कालपीडित लोगो की हृदयद्रावक करुण पुकार से द्रवित हो बिना आहार किये ही अपने स्थान को लौट जाते।

इस प्रकार की सकटापन्न स्थिति से दुखित हो श्रावक लोग मुनिगण के पास जाकर प्रार्थना करने लगे – "पूज्यवर ! नगर की सम्पूर्ण भूमि दीन-हीन दुखी और भूखे लोगो से पूर्णरूपेण संकुल है। इन लोगो के भय से कोई गृहस्थ क्षण भर के लिये भी अपने घर के कपाट नही खोल पाता। इसी कारण हम लोग दिन मे भोजन न बना कर रात्रि मे बनाते है। येन केन प्रकारेण इस अति विकट बुरे समय को निकालना होगा। जब तक यह सकटकाल है तब तक आप मुनिगण रात्रि के समय पात्रो मे हम लोगो के घरो से आहार ले आया करें और दिन के समय भोजन कर लिया करे। अब दूसरा और कोई रास्ता नही है। अत आप हमारी प्रार्थना स्वीकार करे।

श्रावको की बात सुनकर उन मार्गभ्रष्ट कुमार्गगामी साधुओ ने यह कहते हुए कि – "जब तक अच्छा काल नही आवेगा तब तक ऐसा ही किया जायगा" तुम्बी के पात्र स्वीकार कर लिये। भिक्षुक तथा कुत्ते आदि के भय से वे लोग हाथ मे दण्ड धारण कर गृहस्थो के घरो से तथा घरो के द्वार बन्द रहने की दशा मे उन बन्द गृहो के गवाक्षो से आहार ले कर अपने स्थान पर लाने लगे और वे कुपथगामी साधु निरन्तर इसी प्रकार आहार ला कर अपना उदरपोषण करने लगे।[2]

---

[1] श्राद्धैरभ्यर्थिता भूयोऽङ्गी चक्रुस्तद्वचोवरम्।
सयतास्तै समानीता, मध्ये द्रग महोत्सवात् ॥६१॥ [भद्रबाहु चरित्र]

[2] भद्रबाहु चरित्र, परिच्छेद ३, श्लोक ७२ से ७५

किया तो पग-पग पर श्रद्धालु भक्तो ने उनका हार्दिक स्वागत करते हुए सात्विक परमान्न से उन्हे पारणा करवाया ।

मुनि चन्द्रगुप्ति ने गिरिगुहा में लौट कर अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा मे सारा वृत्तान्त यथावत् निवेदित किया और वे अहर्निश गुरु-सेवा मे निरत रहने लगे ।

अनेक दिनो के अनशन के पश्चात् चार प्रकार की आराधना एवं निर्मल ध्यान करते हुए कामनाशून्य हो भद्रबाहु ने समाधिपूर्वक प्राणत्याग कर स्वर्गगमन किया ।

आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् भी मुनि चन्द्रगुप्ति उसी पर्वत की गुफा मे अपने गुरु के चरण अकित कर उन चरणो की सेवा एव श्रमणधर्म का पालन करते हुए रहने लगे ।

उधर अवन्ती राज्य मे रामल्य, स्थूलाचार्य, और स्थूलभद्र आदि जो मुनि आचार्य भद्रबाहु के आदेश का उल्लघन कर उज्जयिनी मे रहे थे, उनको भीषण दुर्भिक्ष के कारण अनेक प्रकार के सकटो का सामना करना पडा । दुर्भिक्ष के प्रारम्भ मे कोटिपति कुबेरमित्र आदि दानी एवं धर्मात्मा श्रेष्ठियो ने मुक्तहस्त हो अकाल पीडितो को धन-धान्यादिक का दान दिया पर ज्यो ही अकालग्रस्त अन्य क्षेत्रों के लोगो को उन श्रेष्ठियों द्वारा दिये जाने वाले दान का पता चला तो सभी दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्रों की दुष्कालपीडित भूखी प्रजा वाढ की तरह उज्जयिनी की ओर उमड पडी । उस भूखे जनसमुद्र के कारण उज्जयिनी की स्थिति भी बडी करुण, बीभत्स, क्षुब्ध, अस्तव्यस्त, निरकुश और बडी हृदयद्रावक वन गई । नगर के सभी पथ, वीथियां, बाजार, चौगान आदि का चप्पा-चप्पा नरककालो से ठसाठस व्याप्त हो गया । सारी उज्जयिनी रंकमयी दिखने लगी ।[1]

उज्जयिनी मे रामल्य आदि साधुओ के समक्ष भिक्षार्थ शहर मे जाते समय अनेक प्रकार की बाधाएं और विषम परिस्थितिया आने लगी । एक दिन नगर मे श्रावको के घर आहार करने के पश्चात् जव श्रमणसमूह नगर के वाहर उपवन की ओर जा रहा था तो उस समय एक मुनि किसी तरह उन साधुओं से पीछे रह गया । उसी समय भोजन कर के आये हुए उन एकाकी मुनि का उदर भरा हुआ देख कर कुछ भूखे लोगो ने मुनि को घेर लिया । उन बुभुक्षित लोगो ने तत्क्षण बडी निर्दयतापूर्वक उस मुनि का पेट चीर डाला और उसमे से सद्य भुक्त भोजन निकाल कर खा लिया । इस अमानवीय हृदयद्रावक घटना से सारे नगर मे हाहाकार व्याप्त हो गया ।[2]

श्रावकसघ ने एकत्रित हो साधुओ की सुरक्षा हेतु विचारविनिमय किया और अच्छी तरह सोच विचार के पश्चात् मुनिसघ से प्रार्थना की कि जब तक

---

[1] भद्रबाहु चरित्र, (रत्ननदी) परिच्छेद ३, श्लोक ४७ से ५३

[2] वही, श्लोक ५४ से ५६

नगर की ओर गया। पर यह देखकर उसके आश्चर्य का पारावार न रहा कि उस स्थान पर नगर का नामोनिशा तक नही। केवल उसका कमण्डलु एक वृक्ष की टहनी पर टगा हुआ है। ब्रह्मचारी अपना कमण्डलु लिये मुनिमण्डल के पास लौटा और विशाखाचार्य आदि समस्त मुनियो को आश्चर्य मे डालते हुए उस नगर के अन्तर्धान होने और वृक्ष की टहनी पर अपने कमण्डलु के मिलने का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

विशाखाचार्य ने कहा कि निश्चित रूप से यह सब कुछ मुनि चन्द्रगुप्ति के विशुद्ध चारित्र का चमत्कार था। इन्ही के पुण्य प्रताप से देवताओ ने उस माया-नगरी की रचना की थी। विशाखाचार्य ने मुनि चन्द्रगुप्ति की उत्कट चारित्रनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए उन्हे प्रतिवन्दना कर कहा – "मुनिश्रेष्ठ ! देवताओ द्वारा कल्पित आहार मुनि को लेना उचित नही अत सब को इसका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।"

विशाखाचार्य के आदेशानुसार मुनि चन्द्रगुप्ति और सभी मुनिमण्डल ने देवपिण्ड-ग्रहण का प्रायश्चित्त किया। तदनन्तर विशाखाचार्य ने अपने मुनियो के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया। अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए वे उज्जयिनी आये और नगर के वाहर एक सुन्दर उपवन मे ठहरे।

स्थूलाचार्य ने समस्त मुनिसघ सहित विशाखाचार्य के लौटने का समाचार सुन कर अपने शिष्यो को उन्हे देखने के लिये भेजा। स्थूलाचार्य के शिष्यो ने विशाखाचार्य के पास पहुच कर उन्हे भक्तिपूर्वक वन्दना की। विशाखाचार्य ने विना प्रतिवन्दन किये ही उनसे पूछा – "अरे ! मेरी अनुपस्थिति मे तुम लोगो ने यह कौनसा दर्शन (मत) अपना लिया है ?"

इस पर स्थूलाचार्य के शिष्य लज्जित हो बिना कुछ उत्तर दिये ही अपने गुरु के पास लौट गये और उन्हे पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर रामल्य, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र ने अपने सब मुनियों को एकत्रित कर मन्त्रणा की कि अब उन्हे किस स्थिति को अपनाना चाहिये ? वृद्ध स्थूलाचार्य ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया कि अब उन्हे कुमार्ग का परित्याग कर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित, मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले छेदोपस्थापनीय चारित्र को ही अपनाना चाहिये।

स्थूलाचार्य के उपरोक्त वचन सुन कर वे मुनि लोग क्रुद्ध हो स्थूलाचार्य को कोसते हुए कहने लगे – "इस विषम पचम आरक मे ऐसे सुसाध्य मार्ग का परित्याग कर कौन इतने कष्टकर दुस्साध्य, बावीस परीषहो और अन्तरायादि से कण्टकाकीर्ण दुरूह पथ को अपनायेगा ?"

स्थूलाचार्य ने उन साधुओ को समझाने का प्रयास करते हुए कहा – "अभी तो यह पथ तुम्हे किम्पाक फल के समान मनोहर प्रतीत होता है किन्तु अन्त मे इसका परिणाम अत्यन्त दुखदायक होगा। यह मार्ग मुक्तिप्रद नही अपितु अनन्त-काल तक भवभ्रमण कराने वाला है।"

एक समय एक क्षीणकाय नग्न साधु रात्रि के समय लाठी व पात्र हाथ मे लिये आहार लेने हेतु यशोभद्र श्रेष्ठी के घर पहुचा। गर्भवती गृहस्वामिनी अन्धेरे मे मुनि की बीभत्स आकृति को देखकर इतनी भयविह्वल हुई कि तत्क्षण उसका गर्भ गिर गया।[1] इस प्रकाण्ड काण्ड को देखकर मुनि उन्ही पैरो अपने स्थान को लौट गये। यशोभद्र श्रेष्ठी के घर में कुहराम मच गया। इस दु खद घटना पर श्रावको ने मिल कर विचारविमर्श किया और उन्होने मुनियो के समक्ष जाकर पुन. प्रार्थना की कि वस्तुतः उनका वह विषम स्वरूप भयोत्पादक है अत॰ जब तक सुभिक्ष न हो जाय तब तक कन्धे पर कम्बल धारण कर के गृहस्थो के घरो में रात्रि के समय भिक्षार्थ जाया करे। मुनियो ने श्रावको की उस प्रार्थना को भी स्वीकार कर लिया और वे धीरे-धीरे शिथिलाचारी बनकर व्रतादि मे दोष लगाने लगे।[2]

इस प्रकार उस बारह वर्ष के महाविनाशकारी भीषण दुर्भिक्ष मे गृहस्थो और मुनियो को अनेक प्रकार के दारुण दु ख सहने पडे। बारह वर्ष बीत जाने पर अच्छी वर्षा होने के कारण जब पुन. सुभिक्ष हुआ तो दैवी प्रकोप से पीडित प्रजा ने सुख की सास ली।

अवन्ती प्रदेश मे सुभिक्ष होने की सूचना मिलने पर विशाखाचार्य ने भी अपने मुनिमण्डल सहित दक्षिण से उत्तरी क्षेत्रों की ओर विहार किया। क्रमश॰ अनेक क्षेत्रों मे विचरण करते हुए वे उस विकट वन में आये जहा भद्रबाहु ने समाधि ली थी। मुनि चन्द्रगुप्ति द्वारा अकित भद्रबाहु के चरणयुगल मे उन सब ने प्रणाम किया।

मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य को प्रणाम किया पर विशाखाचार्य ने यह विचारते हुए प्रतिवन्दन नही किया कि श्रावको से विहीन उस विकट वन मे वह मुनि १२ वर्ष तक किस प्रकार श्रमणाचार का पालन कर सका होगा। उस वन मे कही भोजन नही मिलेगा, इस विचार से उस दिन विशाखाचार्य एव उनके साथ आये हुए सब मुनियों ने उपवास रखा।

दूसरे दिन मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य से निवेदन किया कि पास मे एक बडा नगर है, उसमे श्रद्धालु श्रावक निवास करते है अत. वहा जाकर समस्त मुनिमण्डल आहार ग्रहण करे। उस वन में कोई बडा नगर भी है, यह सुनकर सब मुनियों को बडा आश्चर्य हुआ और वे वहा भिक्षार्थ गये। उस नगर में श्रद्धालु श्रावको ने पग-पग पर मुनियो का वन्दन-सत्कार किया और उन्हे भोजन कराया। पारणा करने के पश्चात् श्रमण सघ आचार्य भद्रबाहु के समाधिस्थल पर लौट आया। मुनिमण्डल के साथ का एक ब्रह्मचारी उस नगर मे भोजनोपरान्त अपना कमण्डलु भूल आया था अत. वह अपना कमण्डलु लेने के लिये पुन

---

[1] वही, श्लोक ७८, ७६

[2] वही, श्लोक ८१, ८२, ८४।

है ।[1] क्योकि वी० नि० स० ६८३ मे एकादशागी का विच्छेद हो जाने के अनन्तर इनका उल्लेख दिया है ।

उपरिवर्णित उल्लेखो पर गम्भीरता से विचार करने के पश्चात् केवल इतिहास का विद्वान् ही नही अपितु साधारण विद्यार्थी भी इसी निष्कर्ष पर पहुचेगा कि ये सभी उल्लेख सम्भवत किवदन्तियों, दन्तकथाओ और लोककथाओ के आधार पर किये गये है । वस्तुत इनके पीछे कोई ठोस आधार अथवा पुष्ट प्रमाण नही है । ऊपर उद्धृत की गई सभी मान्यताओ के निरसन करने वाले अनेक प्रमाण स्वय दिगम्बर परम्परा मे विद्यमान है । उनमे से एक प्रबल और ठोस प्रमाण है पार्श्वनाथ बस्ती का शिलालेख, जिसका अभिलेखनकाल शक सवत् ५२२ तदनुसार विक्रम सवत् ६५७ और वीर निर्वाण सवत् ११२७ है । उस शिलालेख मे क्रमश गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णु, देव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृत्तिकाय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण और बुद्धिल इन १६ आचार्यो के नाम देने के पश्चात् इनकी उत्तरवर्ती आचार्यपरम्परा मे हुए आचार्य भद्रबाहु को निमित्तज्ञ बताते हुए यह उल्लेख किया गया है कि उन भद्रबाहु स्वामी ने अपने निमित्तज्ञान से भावी द्वादशवार्षिक दुष्काल की सघ को सूचना दी । तदनन्तर समस्त सघ ने दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान किया ।[2]

नामसाम्य से हुई भ्रान्ति

जिस प्रकार गणधर मडित और मौर्यपुत्र की माताओ के केवल नामसाम्य के आधार पर कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, आवश्यकचूर्णिकार आदि अनेक प्राचीन विद्वान् आचार्यो ने मौर्यपुत्र को मडित का लघु सहोदर बता कर यह मान्यता अभिव्यक्त कर दी कि भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व भरतक्षेत्र के कतिपय प्रान्तो के उच्चकुलीन ब्राह्मणो तक मे विधवाविवाह की प्रथा प्रचलित थी । किसी ने आगमो तथा इतर साहित्य मे बार-बार दोहराये गये इस तथ्य की ओर ध्यान नही दिया कि जिन्हे छोटा भाई बताने का प्रयास किया जा रहा है, वह मौर्यपुत्र वस्तुत मडित से वय मे छोटे नही अपितु तेरह वर्ष बडे थे । ठीक उसी प्रकार वीर नि० स० १५६ से १७० तक आचार्य पद पर रहे हुए छेदसूत्रकार-चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को और वीर नि० स० १०३२ (शक स० ४२७) के आसपास विद्यमान वराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु को एक

---

[1] आयरिओ भद्दबाहु, अट्ठगमहणिमित्तजाणयरो
णिण्णासइ कालवस, स चरिमो हु णिमित्तियो होदि ॥८०॥ [श्रुतस्कन्ध]

[2] " महावीरसवितरि परिनिर्वृत्ते भगवत्परमर्षिगौतमगण – धरसाक्षाच्छिष्यलोहार्य-जम्बु – विष्णुदेवापराजित – गोवर्द्धन – भद्रबाहु – विशाख – प्रोष्ठिल – कृतिकाय – जयनाम – सिद्धार्थ – धृतिषेण – बुद्धिलादि गुरु – परम्परीण वक्र (क्र) माभ्यागतमहा-पुरुषसततिसमवद्योतितान्वय – भद्रबाहुस्वामिना उज्जयन्यामष्टागमहानिमित्ततत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसवत्सरकालवैषम्यमुपालभ्य कथिते सर्व्वसघ उत्तरापथा-द्दक्षिणापथ प्रस्थित । [पार्श्वनाथ वस्ति का शिलालेख]

स्थूलाचार्य की बात सुन कर कतिपय साधुओ ने तो उसी समय मूलमार्ग अपना लिया किन्तु बहुत से मुनि क्रुद्ध हो स्थूलाचार्य को डण्डों से पीटने लगे। उन मुनियो ने स्थूलाचार्य को बडी निर्दयतापूर्वक मार कर वही एक गहरे गड्ढे में डाल दिया। आर्तध्यान के साथ मर कर स्थूलाचार्य व्यन्तर देव हुए। अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त जान कर स्थूलाचार्य के जीव व्यन्तर देव ने अग्नि, धूलि और पत्थर आदि की वृष्टि कर उन साधुओ को तरह-तरह के घोर कष्ट देने प्रारम्भ किये।

व्यन्तर द्वारा दिये गये घोर कष्टो से पीड़ित हो उन साधुओ ने व्यन्तर से क्षमायाचना करते हुए स्थूलाचार्य की हड्डी तथा चार अगुल चौडी, आठ अगुल लम्बी लकडी की पट्टी मे स्थूलाचार्य की कल्पना कर उनकी पूजा करना प्रारम्भ किया। कालान्तर मे वह व्यन्तर देव इन लोगो का पर्युपासन नामक कुलदेवता कहलाने लगा, जो आज भी गन्धादि द्रव्यो से पूजा जाता है। वही आश्चर्यजनक अर्द्धफालक मत कलियुग का बल पाकर आज सब लोगो मे फैल गया।"

यह है, विभिन्न काल मे हुए भद्रबाहु नामक आचार्यो के साथ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद की उत्पत्ति को जोडने का एक प्रकार से क्रमिक इतिहास।

दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थो के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि विभिन्नकाल में भद्रबाहु नाम के निम्नलिखित ५ आचार्य हुए है :–

(१) अतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु, जिनका स्वर्गवास वी०नि० सं० १६२ मे हुआ और जो भगवान् महावीर के ८वे पट्टधर थे।

(२) २९वे पट्टधर आचार्य भद्रबाहु अपर नाम यशोबाहु जो आठ अगो के धारक थे और जिनका काल वीर नि० स० ४९२ से ५१५ तक का माना गया है।

(३) प्रथम अंगधर आचार्य भद्रबाहु, जिनका काल वी० नि०स० १००० के आस-पास का अनुमानित किया जाता है। यथा :–

> अग्गिम अगी सुभद्दो, जसभद्दो भद्दबाहु परमगणी।
> आयरियपरपराइ, एव सुदणाणमावहदि ॥४७॥
>
> [अग पन्नत्ति, चूलिका प्रकीर्णक प्रज्ञप्ति]

(४) नन्दीसघ, बलात्कार गण की पट्टावली के अनुसार आचार्य भद्रबाहु जिनका आचार्यकाल वी० नि० सं० ६०९ से ६३१ माना गया है। इन्ही के शिष्य का नाम गुप्तिगुप्त था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इन्ही भद्रबाहु और गुप्तिगुप्त के कथानक को थोड़ा अतिरजित करके कही श्रुतकेवली भद्रबाहु की जीवनी के साथ जोड दिया गया हो। गुरु-शिष्य के नाम और उनका काल भी करीब-करीब वही है।

(५) निमित्तज्ञ भद्रबाहु जो एकादशागी के विच्छेद के पश्चात् हुए। श्रुतस्कन्ध के कर्त्ता के अनुसार इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी बैठता

---

[1] जैन सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ३३३

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति के प्रारम्भ मे लिखा है –

वदामि भद्दबाहु, पाईण चरिम सगलसुयनाणि ।
सुत्तस्स कारगमिसि, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

अर्थात् मै दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार सूत्र के प्रणेता प्राचीन गोत्रीय एव अन्तिम श्रुतकेवली महर्षि भद्रबाहु को नमस्कार करता हू ।

यह एक अद्भुत सयोग की बात है कि दशाश्रुतस्कन्ध के निर्युक्तिकार का नाम भी भद्रबाहु है और वे भद्रबाहु नमस्कार कर रहे है प्राचीन गोत्रीय श्रुतकेवली भद्रबाहु को । वस्तुत यह एक बडा ही महत्वपूर्ण और निर्णायक तथ्य है जिस पर आगे विचार किया जायगा । पचकल्प महाभाष्यकार ने उपरिलिखित गाथा मे वर्णित तथ्यो की पुष्टि निम्नलिखित रूप मे की है –

भद्दति सुदर ति य, तुल्लत्थो जत्थ सुदरा बाहू ।
सो होति भद्दबाहु, गोण्ण जेण्ण तु बालत्ते ।।६।।
पाएण ण लक्खिज्जइ, पेसलभावो तु बाहुजुयलस्स ।
उववण्णमतो णाम, तस्से य भद्दबाहुत्ति ।।७।।
अण्णे वि भद्दबाहू, विसेसण गोण्णगहण पाईण ।
अण्णेसि पविसिट्ठे, विसेसण चरिमसगलसुत ।।८।।
चरिमो अपच्छिमो खलु, चोद्दसपुव्वा तु होति सगलसुत ।
सेसाण वुदा सट्ठा, मुत्तकरज्झयणमेयस्स ।।६।।
कि तेण कय त तू, ज भण्णति तस्स कारतो सोउ ।
भण्णति गणधारीहि सव्वसुय चेव पुव्वकय ।।१०।।
तत्तोच्चिय णिज्जूढ, अणुगहणट्ठाए सपयजतीण ।
तो सुत्तकारतो खलु, स भवति दसकप्प ववहारे ।।११।।

इन गाथाओ मे सुन्दर भुजाओ वाले प्राचीन गोत्रीय एव अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की छेदसूत्रकार के रूप मे स्तुति करते हुए भाष्यकार ने इस बात का सकेत किया है कि भद्रबाहु नाम के अन्य भी आचार्य हुए है । अत पेशल-सुन्दरभुज, प्राचीन गोत्रीय और अन्तिम श्रुतकेवली ये विशेषण छेद सूत्रकार भद्रबाहु के लिये प्रयुक्त किये है । यह ध्यान मे रहे कि इन गाथाओ मे उपर्युक्त तीन विशेषणो से युक्त भद्रबाहु के निर्युक्तिकार होने का कोई उल्लेख नही किया गया है । निर्युक्तिकार और भाष्यकार दोनो ने ही आचार्य भद्रबाहु को दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार इन तीन छेदसूत्रो का कर्त्ता माना है । पचकल्प भाष्य की चूर्णि मे इन्हे आचारकल्प अर्थात् निशीथ सूत्र का प्रणेता[1] भी बताया गया है । विक्रम की पाचवी शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रणीत "तित्थोगालिय पइण्णा" नामक ग्रन्थ मे

[1] तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसदभूता निज्जूढा ।
[पचकल्पचूर्णि, पत्र १]

ही व्यक्ति मानने का भ्रम भी काफी प्राचीन समय से विद्वानों में चला आ रहा है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणा का जन्म सर्वप्रथम किस समय और किस विद्वान् के मस्तिष्क मे उत्पन्न हुआ यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

बहुत प्राचीन समय से श्वेताम्बर परम्परा मे यह मान्यता चली आ रही है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी के द्वारा ही छेदसूत्रों की तथा निर्युक्तियो की भी रचना की गई थी। सर्वप्रथम सभवत. डा० हर्मन जैकोबी ने ई० सं० १९३१ मे इस मान्यता की समीक्षा करते हुए आचार्य हेमचन्द्रकृत "परिशिष्ट पर्व" के इन्ट्रोडक्शन में लिखा :—

"There are ten Sutras to which Bhadia Bahu, a late namesake of the sixth patriarch, has written Niryukties, i.e., systematic expositions of the subject of Sutra to which they belong."

[Parisista Parva, Introductory, page 6]

डा० हर्मन जैकोबी ने इससे आगे पृ० ७ पर और लिखा है :—

The author of the Niryukties Bhadrabahu is identified by the Jains with the patriarch of that name who died 170 A. V.[1] There can be no doubt that they are mistaken. For the account of seven schisms (Ninhaga) in the Avashyaka Niryukti VIII 56–100 must have been written 584 and 609 of the Vira Era. There are the dates of the 7th and 8th schisms of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is therefore, certain that the Niryukti was composed before the 8th schism 609 A.V.

डा० हर्मन जैकोबी द्वारा इस तथ्य के प्रकाश में लाये जाने के पश्चात् अनेक अन्य विद्वानो ने भी इस दिशा मे अनुसन्धान और छानबीन करना प्रारम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक विचारणीय तथ्य विद्वानो के सामने आये।

छेदसूत्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु

इस तथ्य को सभी विद्वान् एक मत से स्वीकार करने लगे है कि छेदसूत्रो के कर्त्ता असंदिग्ध रूप से चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ही है। यद्यपि छेद सूत्रो के आदि, मध्य अथवा अन्त मे कही पर भी ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नही है फिर भी इनके पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारों ने अपनी कृतियो मे जो उल्लेख किये है, उनके आधार पर यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि छेदसूत्रों के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी ही है।

---

[1] वीरमोक्षाद्वर्षशते, सप्तत्यग्रे गते सति।
भद्रबाहुरपि स्वामी, ययौ स्वर्ग समाधिना ॥११२॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९]

"अस्य चातीव गम्भीरार्थता सकल साधु-श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दश-पूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनैतद्व्याख्यानरूपा "अभिनिबोहियनाण" इत्यादि प्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिकृत्ता ।"

५ मलयगिरि ने बृहत्कल्पपीठिका की टीका, पत्र २ पर लिखा है –

साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र चकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिक निर्युक्तिः ।"

६ बृहत्कल्पपीठिका की श्री क्षेमकीर्त्तिसूरि कृत टीका के पत्र १७७ पर उल्लेख है कि –

"श्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्र ससूत्रणसूत्रधार....... श्री भद्रबाहुस्वामी कल्पधेयनामाध्ययन निर्युक्तियुक्त निर्यूढवान् ।"

७ मुनि सुन्दरसूरि ने 'गुर्वावली' मे चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी और 'उपसर्गहरस्तोत्र' के रचयिता भद्रबाहु को एक ही महापुरुष बताते हुए लिखा है –

अपश्चिम पूर्वभृता द्वितीय, श्री भद्रबाहुश्च गुरू शिवाय ।
कृत्वोपसर्गादिहरस्तव यो, ररक्ष सघ धरणार्चिताह्रि ।।१३।।
निर्यूढसिद्धान्तपयोधिराप, स्वर्यश्च वीरात् खनगेन्दुवर्षे ।

८ गच्छाचार पइन्ना की वृत्ति मे श्रुतकेवली भद्रबाहु और निर्यूक्तिकार भद्रबाहु को एक ही व्यक्ति बताते हुए लिखा है :–

"अत्थि सिरिभरवरिट्ठे .... अह जुगप्पहाणागमो सिरिभद्दबाहुसामी आयाराग १ सूयगडाग २ आवस्सय ३ दसवेयालिय ४, उत्तरज्झयण ५, दसा ६, कप्प ७, ववहार ८, सूरियपन्नत्ति उवग ९, रिसिभासियाण १० दस निज्जुत्तिओ काऊण जिणसासण पभावेऊण पचमसुयकेवलिपयमणुहविऊण य समए अणसणविहाणेण तिदसावास पत्तोत्ति ।"

उपरोक्त सभी उल्लेख प्रामाणिक आचार्यो द्वारा किये गये है। इनमे आचार्य शीलाक का उल्लेख सबसे प्राचीन-अर्थात् विक्रम की आठवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा नौवी शताब्दी के प्रारम्भ का है। उपरोक्त उल्लेखो मे सभी आचार्यो ने चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहुस्वामी को ही निर्युक्तिकार माना है पर अपनी इस मान्यता के समर्थन मे शान्त्याचार्य के अतिरिक्त किसी भी विद्वान् आचार्य ने कोई युक्ति प्रस्तुत नही की है। साधारण तौर पर केवल यह उल्लेख मात्र किया है कि चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी निर्युक्तिकार थे।

शान्त्याचार्य ने चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी को ही निर्युक्तिकार ठहराने की अपनी मान्यता के पक्ष मे यह युक्ति दी है कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति मे निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ने अपने से बहुत काल पश्चात् हुए महापुरुषो के व उनसे सम्बन्धित उदाहरण दिये है – उनके आधार पर कोई यह शका न कर

भी आचार्य भद्रबाहु का चतुर्दशपूर्वधर और छेदसूत्रकार के रूप मे परिचय दिया गया है।[1]

इस प्रकार इन उपरिलिखित प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि अंतिम श्रुतकेवली प्राचीन गोत्रीय आचार्य भद्रबाहु छेदसूत्रो के निर्माता थे।

अब सबसे बड़ा यह प्रश्न सामने आता है कि दश निर्युक्तियो के कर्त्ता अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे अथवा भद्रबाहु नाम के अन्य कोई आचार्य।

भगवान् महावीर के शासन के सातवे पट्टधर चतुर्दश पूर्वधर आचार्य-भद्रबाहु वर्तमान मे उपलब्ध निर्युक्तियो के रचनाकार नैमित्तिक भद्रबाहु से भिन्न है। दोनो समान नाम वाले महापुरुषों को एक ही व्यक्ति ठहराने के पक्ष में जो प्राचीन आचार्यो के उल्लेख कतिपय विद्वानो द्वारा प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किये जाते है उनकी औचित्यानौचित्यता पर विचार करने से पहले उन्हे यहा प्रस्तुत किया जा रहा है :–

१. ओघ निर्युक्ति की द्रोणाचार्य कृत टीका मे चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी को ही निर्यूक्तिकार बताते हुए लिखा है :–

"गुणाधिकस्य वन्दन कर्त्तव्यं न त्वधमस्य, यत उक्तम् – "गुणाहिए वदणय।" भद्रबाहु स्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीना च न्यूनत्वात् कि तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति। अत्रोच्यते गुणाधिका एव ते,अव्यवच्छित्ति गुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति।" (पत्र ३)

२. शीलाकाचार्यकृत आचाराग की टीका पत्र ४ पर –

"अनुयोगदायिन सुधर्मस्वामिप्रभृतय: यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्यो अतस्तान् सर्वानिति।" ऐसा उल्लेख है।

३ उत्तराध्ययन सूत्र की शान्तिसूरि द्वारा कृत पाइय टीका के पत्र १३९ पर भी लिखा है :–

"न च केषाचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालाद्र्वाक्कालाभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशकनीयम्, स हि भगवाश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषय वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशका ? इति।"

४ विशेषावश्यक टीका, पत्र १ पर मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने लिखा है –

---

[1] सत्तमतो थिरबाहू जाणुयसीसुपडिच्छय सुबाहू।
नामेण भद्दबाहू अविहि साधम्मभद्दोत्ति ।।
सो विय चोद्दसपुव्वी, वारमवासाई जोगपडिवन्नो।
सुत्तत्थेण निवधइ, अत्थ अज्झयण वन्धस्स ।। [तित्थोगालियपइण्णा (अप्रकाशित)]

उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति मे निर्युक्तिकार ने आचार्य स्थूलभद्र को भगवान् की उपमा से अलकृत करते हुए उनका निम्नलिखित शब्दो मे गुणगान किया है –

भगव पि थूलभद्दो, तिक्खे चकम्मिओ न उण छिन्नो ।
अग्गिसिहाए वुत्थो चाउम्मासे न उण दड्ढो ।।

साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी निर्युक्ति की इस गाथा को देखकर यही कहेगा कि इस निर्युक्ति के कर्त्ता यदि श्रुतकेवली भद्रबाहु होते तो वे अपने शिष्य की भगवान् के तुल्य इस प्रकार स्तुति नही करते ।

इन दोनो गाथाओ की ओर शान्त्याचार्य ने ध्यान दिया होता तो वे कदापि उत्तराध्ययनसूत्र के परीषहाध्ययन की टीका मे "न च केषाचिदिहोदाहरणाना निर्युक्तिकालाद्वर्वाक्काला - भाविता इत्यन्योक्तत्वमाशकनीयम्, स हि भगवाश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषय वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशका ? इति" यह कभी नही लिखते । क्योकि श्रुतकेवली त्रिकालवर्ती वस्तुओ को देखते है लेकिन स्वय को नमस्कार करने और अपने शिष्य की भगवान् तुल्य स्तुति करने जैसे लोक व्यवहार विरुद्ध आचरण कदापि नही कर सकते ।

२ चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तिकार नही है, इस पक्ष का प्रबल समर्थक दूसरा प्रमाण यह है कि आवश्यक निर्युक्ति की गाथा सख्या ७६२, ७६३, ७७३, और ७७४ मे यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि वज्रस्वामी के समय (वी० नि० स० ५८४ तदनुसार वि० स० ११४) तक कालिक सूत्रो का पृथक् पृथक् अनुयोग के रूप मे विभाजन नही हुआ था । वज्रस्वामी के पश्चात् देवेन्द्रवन्दित आर्य रक्षित ने समय के प्रभाव से अपने विद्वान् शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की स्मरणशक्ति के ह्रास को देखकर सूत्रो का पृथक्करण चार अनुयोगो के रूप मे किया ।[1]

पट्टावलियों मे आर्य रक्षित के वी० नि० स० ५९७ मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख मिलता है ।[2] ऐसी दशा मे वी० नि० सं० ५८४ से ५९७ के बीच मे चार

---

[1] मूढणइय सुय कालिय, तु ण णया समोयरति इह ।
अपुहुत्ते समोयारो अत्थि पुहुत्ते समोयारो ।।७६२।।
जावति अज्जवइरा, अपुहुत्त कालियाणुओगे य ।
तेणारेण पुहुत्त, कालियसुय दिट्ठिवाए य ।।७६३।।
अपुहुत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पहुत्ताणुओगकरणे, ते अत्थतओ उ वोच्छिन्ना ।।७७३।।
देविदवदिएहिं, महाणुभागेहि रक्खि अज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ।।७७४।।

[2] अत्र श्रीवज्रस्वामिश्रीवज्रसेनयोरतरालकाले श्रीमदार्यरक्षितसूरि श्रीदुर्बलिकापुष्य (मित्र) श्चेति क्रमेण युगप्रधानद्वय सजात । तत्र श्रीमदार्य रक्षितसूरि सप्तनवत्यधिकपंचशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्गभागिति पट्टावल्यादौ दृश्यते, परमावश्यकवृत्यादौ श्रीमदार्य-रक्षितसूरीणा स्वर्गगमनानन्तर चतुरशीत्यधिकपचशत ५८४ वर्षान्ते सप्तम निन्हवोत्पत्तिरुक्तास्ति । तेनैतद् बहुश्रुतगम्यमिति । [तपागच्छ पट्टावली (धर्मसागरगणिरचित), गा०६]

बैठे कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित नही अपितु किसी अन्य द्वारा रचित है अथवा ये उदाहरण किसी अन्य आचार्य द्वारा इसमे जोडे गये है । क्योकि आचार्य भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवली होने के कारण त्रिकालदर्शी थे और अपने पश्चाद्वर्ती अर्वाचीन महापुरुषो के सम्बन्ध मे भी विवरण लिखने मे समर्थ थे ।"

श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तिकार नही हो सकते, इस तथ्य की पुष्टि मे निम्न लिखित प्रमाण द्रष्टव्य है :–

१. चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तियोके कर्त्ता नही है । यदि वे निर्युक्तिकार होते तो वे अपने आपकी स्तुति करते हुए स्वय को नमस्कार नही करते और न अपने शिष्य आर्य स्थूलभद्र का 'भगवान् स्थूलभद्र' इन स्तुत्यात्मक शब्दो मे गुणगान ही करते । पर निर्युक्तियों मे इस प्रकार के लोकव्यवहार विरुद्ध उदाहरण विद्यमान है । दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की पहली गाथा मे निर्युक्तिकार द्वारा भद्रबाहु स्वामी को निम्नलिलित शब्दो में नमस्कार किया गया है :–

वदामि भद्दबाहु, पाइण चरिमसगलसुयनाणि ।
सुत्तस्स कारगमिसि, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

यदि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु निर्युक्तिकार होते तो क्या वे अपने आपको इस प्रकार वन्दन करते ? कदापि नही । सभ्य ससार के साहित्य मे एक भी इस प्रकार का उदाहरण उपलब्ध नही होता, जिसमें किसी साधारण से साधारण अथवा महान् से महान् व्यक्ति ने अपने आपको नमस्कार किया हो । लोकगुरू तीर्थकर भी "नमो तित्थस्स" कह कर तीर्थ को नमस्कार करते है न कि स्वय को।

यहा यह शका उठाई जा सकती है कि यह गाथा निर्युक्तिकार की नही अपितु भाष्यकार की है अथवा प्रक्षिप्त है । पर चुर्णिकार के निम्नलिखित स्पष्टीकरण के पश्चात् इस प्रकार की शंका के लिये कोई अवकाश नही रह जाता । चूर्णिकार ने इस गाथा को भावमगल की संज्ञा देते हुए निर्युक्ति की मूल गाथा वताया है :–

चूर्णि :– त पुण मगल नामादि चतुर्विध आवस्सगाणुक्कमेण परूवेयव्व । तत्थ भावमगल निज्जुत्तिकारो आह – "वदामि, भद्दबाहु"" ""इत्यादि । भद्दबाहु नामेण । पाईणो गोत्तेण । चरिमो अपच्छिमो । सगलाइ चोद्दसपुव्वाइ । कि निमित्तं नमोक्कारो तस्स कज्जति ? उच्यते जेण सुत्तस्स कारओ ण अत्थस्स, अत्थो तित्थगरातो पसूतो । जेण भण्णति – "अत्थं भासति अरहा० गाथा । कतर सुत्त ? दसाओ कप्पो ववहारो य । कतरातो उद्धृतम् । उच्यते पच्चक्खाणपुव्वातो । अहवा भावमगल नदी सा तहेव चउव्विहा ।

छेदसूत्रो मे दशाश्रुतस्कन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु की सर्वप्रथम कृति के रूप मे प्रसिद्ध है, इसी लिये निर्युक्तिकार ने दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति मे श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया है ।

उत्पत्ति आदि का वर्णन किया गया है ।[1] इन गाथाओ मे उल्लिखित विवरण श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत काल पश्चात् हुए आचार्यो तथा उन आचार्यो के समय मे घटित हुई घटनाओ से सम्बन्ध रखते है ।

५. उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति की गाथा सख्या १२० मे श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत समय पश्चात् हुए कालिकाचार्य के जीवन की घटनाओ का विवरण दिया गया है । यथा –

उज्जेरिण कालखमरणा, सागरखमरणा सुवण्णभूमीए ।
इदो आउयसेस, पुच्छइ सादिव्वकरण च ।।१२०।।

६ वर्तमान काल मे उपलब्ध निर्युक्तिया चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतिया नही, इस तथ्य को सिद्ध करने वाला एक प्रवल प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति (अकाममरणीय) की निम्नलिखित गाथा मे निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट सकेत किया है कि वह चतुर्दश पूर्वधर नही है :–

सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो ।
सगलणिउणे पयत्थे, जिण चउद्दसपुव्वि भासति ।।२३३।।

अर्थात् – मैने मरणविभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारो का अनुक्रम से वर्णन किया है । वस्तुत पदार्थो का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने मे समर्थ है । समस्त आगमो और जैन साहित्य मे एक भी इस प्रकार का उदाहरण उपलब्ध नही होता जिसमे किसी केवलज्ञानी ने किसी तत्व का विवेचन करने के पश्चात् यह कहा हो कि इसका पूर्णरूपेण विवेचन तो केवली ही कर सकते है । ठीक इसी प्रकार यदि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर होते तो वे यह कभी नही कहते कि वस्तुत पदार्थो का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने मे समर्थ है । यह निर्युक्ति-गाथा ही इस वात का स्वत सिद्ध प्रमाण है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर भद्रवाहु नही कोई अन्य ही आचार्य है ।

जैसा कि पहले वताया जा चुका है शान्त्याचार्य ने "चतुर्दश पूर्वधर आ० भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार है – इस पक्ष का समर्थन करते हुए उपरोक्त निर्युक्ति-

---

[1] जइ जह पइसिणी जायागुम्मि पालित्तओ भमाडेइ ।
तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुरुडरायस्स ।।४९८।।
नइ कण्ह-विन्न दीवे, पचसया तावसाण णिवसति ।
पव्वदिवसेसु कुलवइ पालेवुत्तार सक्कारे ।।५०३।।
जण सावगाण खिसण, समियक्खण माइठाण लेवेण ।
सावय पयत्तकरण, अविणयलोए चलण धोए ।।५०४।।
पडिलाभिअ वच्चता निवुड्ड नइकूलमिलण समियाओ ।
विम्हिय पचसया, तावसाण पवज्ज साहा य ।।५०५।।
[पिण्ड निर्युक्ति]

अनुयोगो के रूप मे किये गये सूत्रों के विभाजन की घटना का उल्लेख श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा किया जाना सभव एव बुद्धिगम्य नही हो सकता क्योंकि उनका वीर नि० संवत् १७० मे स्वर्गवास हो चुका था।

३. आवश्यक निर्युक्ति की गाथा ७६४ से ७६९ और ७७३ से ७७६ मे वज्रस्वामी के विद्यागुरु स्थविर भद्रगुप्त, 'आर्य सिहगिरि, श्री वज्रस्वामी', आचार्य तोसलिपुत्र, आर्य रक्षित, फल्गुरक्षित आदि, श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चाद्वर्ती आचार्यो से सम्बन्धित विवरणों के उल्लेख के साथ-साथ वज्र ऋषि को अनेक बार वदन-नमस्कार किया गया है।[1] ऐसी स्थिति मे चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को निर्युक्तिकार कदापि नही माना जा सकता। क्शोकि उनके द्वारा अपने से वहुत काल पश्चात् हुए आचार्यो के प्रति इस प्रकार के विनय-वन्दन-नमन आदि की किसी भी दशा मे सगति नही हो सकती।

४. पिण्ड निर्युक्ति की गाथा ४९८ मे आचार्य पादलिप्तसूरि के सम्बन्ध में तथा ५०३ से ५०५ गाथाओ मे वज्रस्वामी के मामा आर्य समितसूरि के सम्बन्ध मे और ब्रह्मद्वीपिक तापसों की श्रमणदीक्षा एव ब्रह्मद्वीपिक शाखा की

---

[1] तुववणसन्निवेसाओ, निग्गय पिउसगासमल्लीण।
छम्मासिय छसु जय, माउय समन्निय वन्दे ॥७६४॥
जो गुज्झएहिं बालो, निमन्तिओ भोयणेण वासते।
णेच्छइ विणीयविणओ, त वयररिसि णमसामि ॥७६५॥
उज्जैणीए जो जभगेहि, आणक्खिऊण थुयमहिओ।
अक्खीणमहाणसिय, सीहगिरिपससिय वदे ॥७६६॥
जस्स अणुण्णाए वायगत्तणे दसपुरम्मिणयरम्मि।
देवेहि कया महिमा, पयाणुसारि णमसामि ॥७६७॥
जो कन्नाइ धणेण य, णिमतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा।
नयरम्मि कुसुम नामे, त वइररिसि णमसामि ॥७६८॥
जेणुद्धरिआ विज्जा, आगासगमा महापरिण्णाओ।
वदामि अज्जवइर, अपच्छिमो जो सुयहराण ॥७६९॥
अपुहुत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो।
पुहुत्ताणुओगकरणे ते अत्थतओ उ वोच्छिन्ना ॥७७३॥
देविदवदिएहि, महाणुभागेहि रक्खि अज्जेहि।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥७७४॥
माया य रुद्दसोमा, पिया य नामेण सोमदेव त्ति।
भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिया ॥७७५॥
निज्जवण भद्दगुत्ते, वीसु पढणच तस्स पुव्वगय।
पव्वाविओ य भाया, रक्खियखमणेहि जणओ य ॥७७६॥
[आवश्यक नियुंक्ति]

मुख से किसी भी दशा मे प्रकट नही कर सकता । शान्त्याचार्य इस तथ्य से भली-भाति परिचित थे अत अपनी इस प्रथम युक्ति की औचित्यता और सवलता के सम्बन्ध मे सशक होने के कारण उन्होने दूसरी युक्ति यह दी – "यह भी अधिक सभव है कि द्वारगाथा से इस गाथा तक की सभी गाथाए मूल निर्युक्ति की गाथाए न होकर भाष्य की गाथाए हो । इनकी यह युक्ति तो वस्तुत एक प्रकार से इस पक्ष को ही वल देती है कि निर्युक्तिया चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की कृतिया नही । वैसे इनकी इस युक्ति को चूर्णिकार का समर्थन भी प्राप्त नही है । शान्त्याचार्य स्वय भी अपने अभिमत की सत्यता के सम्वन्ध मे सशक है ।

ऐसी दशा मे शान्त्याचार्य का यह अभिमत कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रवाहु ही निर्युक्तिकार है, कैसे मान्य हो सकता है ?

७ श्रुकेवली भद्रवाहु निर्युक्तिकार नही, इस पक्ष की पुष्टि हेतु सातवे प्रमाण के रूप मे आवश्यक निर्युक्ति की ७७८ से ७८३ तक की गाथाओ[1] को प्रस्तुत किया जाता है । इन गाथाओ मे भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन के चौदहवे वर्ष से लेकर भगवान् महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् हुए सात निन्हवो का तथा वीर नि० स० ६०९ मे हुई दिगम्बर मतोत्पत्ति तक का वर्णन किया गया है । वीर नि० स० १७० मे स्वर्गस्थ होने वाले भद्रवाहु द्वारा यदि निर्युक्तियो की रचना की गई होती तो वी० नि० स० ६०९ मे हुई घटनाओ का उनमे उल्लेख कदापि नही होता ।

८ इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति (चतुरगीय अध्ययन) की गाथा सख्या १६४ से १७८ मे सात निन्हवो तथा दिगम्बर मत की उत्पत्ति का आवश्यक निर्यूक्ति से भी विस्तृत विवरण दिया हुआ है ।

९ दशवैकालिक निर्युक्ति[2] और ओघ निर्युक्ति[3] की गाथाओ मे दशवै-

---

[1] वहुरय पएस अव्वत्त समुच्छ दुग तिग अवद्धिगा चेव ।
सत्तेए णिण्हगा खलु तित्थम्मि उ वद्धमाणस्स ।।७७८।।
बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
अवत्तासाढाओ समुच्छेयासमित्ताओ ।।७७९।।
गगाओ दो किरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेरा य गोट्ठमाहिल, पुट्ठमवद्ध परूविति ।।७८०।।
सावत्थी उसभपुर सेयविया मिहिल उल्लुगातीर ।
पुरिमतरजि रहवीरपुर च णयराइ ।।७८१।।
चोद्दस सोलस वासा, चोद्दस वीसुत्तरा य दोण्णिसया ।
अट्ठावीसा य दुवे, पचेव सया उ चोयालो ।।७८२।।
पचसया चुलसीया, छच्चेव सया णवोत्तरा हुति ।
णाणुपत्ती य दुवे उप्पण्णा निव्वुए सेसा ।।७८३।। [आव नि०]

[2] अपुहुत्त – पुहुत्ताइ निद्दिसिउ एत्थ होइ अहिगारो ।
चरणकरणाणुओगेण, तस्स दारा इमे हुति ।। [दशवैकालिक नि०]

[3] ओहेणउ णिज्जुत्ति, वुच्छ चरणकरणाणुओगाओ ।
अप्पक्खर महत्थ, अणुग्गहत्थ सुविहियाण ।। [ओघ-निर्युक्ति]

गाथा की टीका मे यह युक्ति दी है – "आचार्य भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वधर अर्थात् श्रुतकेवली थे अत वे त्रिकाल के पदार्थो को जानने मे समर्थ थे ऐसी दशा में निर्युक्तियों के अन्तर्गत अर्वाचीन घटनाओं एवं आचार्यो के विवरण देख कर इस प्रकार की कतई शंका नही करनी चाहिये कि निर्युक्तियो के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के अतिरिक्त अन्य कोई आचार्य है ।' पर इस गाथा की टीका करते समय उन्हे अपने स्वय के अन्तर से कितना जूझना पडा इसकी झलक टीका मे स्पष्टत. प्रकट होती है :–

"सम्प्रत्यतिगम्भीरतामागमस्य दर्शयन्नात्मौद्धत्यपरिहारायाह भगवान् निर्युक्तिकार :–

सव्वे एए दारा गाथा व्याख्या – 'सर्वाणि' अशेषाणि 'एतानि' अनन्तरमुपदर्शितानि 'द्वाराणि', अर्थप्रतिपादनमुखानि 'मरणविभक्ते.' मरणविभक्त्यपरनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्य 'वर्णितानि' प्ररूपितानि, मयेति शेष, 'कमसो' त्ति प्राग्वत् क्रमश । आह एव सकलापि मरणवक्तव्यता उक्ता उत न ? इत्याह-सकलाश्च- समस्ता निपुणाश्च-अशेषविशेष-कलिता सकलनिपुणा तान् पदार्थान् इह मरणप्रशस्तादीन् जिनाश्च केवलिन. चतुर्दशपूर्विणश्च-प्रभवादयो जिनचतुर्दशपूर्विणो 'भाषन्ते' व्यक्तमभिदधति, अहं तु मन्दमतित्वान्न तथा वर्णयितु क्षम इत्यभिप्राय । स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादान तत् तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमाहात्म्यख्यापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वारगाथा-द्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्यानवकाश एवेति गाथार्थ ।।२३३।।

[उत्तराध्ययन पाइय टीका, पत्र २४०]

निर्युक्तिकार ने इस गाथा मे यह कह कर कि – यद्यपि उन्होने मरण-विभक्ति विषयक सभी द्वारो का अनुक्रम से वर्णन करने का प्रयास किया है, तथापि इनका सम्पूर्णरूपेण विशदवर्णन तो केवली या चतुर्दश पूर्वधर ही कर सकते है– यह स्पष्टत स्वीकार किया है कि न तो वे केवली है और न चतुर्दश पूर्वधर ही ।

शान्त्याचार्य ने निर्युक्तिकार की इस सरल और स्पष्ट स्वीकारोक्ति की अपने पक्ष के साथ सगति बैठाने हेतु क्लिष्ट कल्पना करते हुए टीका मे दो युक्तिया दी हैं । पहली युक्ति यह कि निर्युक्तिकार ने स्वय चतुर्दश पूर्वधर होते हुए भी अर्थज्ञान की अपेक्षा से चतुर्दश पूर्वधर भी परस्पर एक दूसरे से न्यूनाधिक समझने वाले होते है, इस दृष्टि से अपने से पूर्व के पूर्वधरो की अपनी अपेक्षा अधिक महत्ता प्रकट करने हेतु ही लिखा है कि केवली या चतुर्दश पूर्वधर ही इन पदार्थो का सम्पूर्ण रूप से विशद वर्णन कर सकते हे ।

प्रत्येक चतुर्दश पूर्वधर को, चाहे वह पूर्ववर्ती हो अथवा पश्चाद्वर्ती – उसे आगमो में श्रुतकेवली के विरुद से विभूषित कर केवलीतुल्य प्ररूपणा करने वाला माना गया है । एक श्रुतकेवली चाहे वह कितना ही अवान्तरकालवर्ती क्यो न हो वह पदार्थो के निरूपण मे केवलीतुल्य है अत. वह यह कह कर कि अमुक-अमुक विषयो का विवेचन वह नही कर सकता है, चौदह पूर्वो के ज्ञान की हीनता अपने

११ वर्तमान मे उपलब्ध निर्युक्तिया श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृतिया नही, इस पक्ष की पुष्टि करने वाला एक और प्रबल प्रमाण है स्वय–इन निर्युक्तियो का वर्तमान आकार-प्रकार। आवश्यक निर्युक्ति मे जिन-जिन सूत्रो पर निर्युक्तियो की रचनाए करने का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है –

> आयारस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे।
> सूयगडे निज्जुत्ति, वोच्छामि तहा दसाण च ॥९४॥
> कप्पस्स य णिज्जुत्ति, ववहारस्सेस परमनिउणस्स।
> सूरियपण्णत्तीए, वुच्छ इसिभासियाण च ॥९५॥

इन दश सूत्रो मे से आचाराग और सूत्रकृताग ये दोनो आगम आचार्य भद्रबाहु के समय मे सर्वसम्मत मान्यतानुसार अति वृहदाकार एव परिपूर्ण रूप मे विद्यमान थे और प्रत्येक सूत्र पर चार-चार अनुयोग प्रवृत्त थे। ऐसी स्थिति मे यदि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी द्वारा इन पर निर्युक्तियों की रचना की गई होती तो वे उनके अनुरूप ही चार-चार अनुयोगो से युक्त अति विस्तीर्ण एव अति विशाल आकार वाली होती। पर वस्तुस्थिति उससे नितान्त भिन्न दृष्टिगोचर होती है। आज के इनके अन्तरग और बहिरग स्वरूप को देखने से यही मानना उचित प्रतीत होता है कि माथुरी आदि विभिन्न वाचनाओ द्वारा अतिमरूपेण सुसस्कृत एव सकलित आगम जिस रूप मे आज हमारे समक्ष है, उन्ही को आधार मानकर इनके अनुरूप निर्युक्तियो की रचनाए उपर्युक्त वाचनाओ के पश्चात् की गई है।

इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि आर्य रक्षित ने अपने विद्वान् शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की विस्मृति और भावी शिष्य-प्रशिष्यो की क्रमश मन्द से मन्दतर बुद्धि को ध्यान मे रखते हुए जिस समय अनुयोगो को पृथक् किया उसी समय चार अनुयोगमय निर्युक्तियो को अनुयोग से पृथक् कर व्यवस्थित कर लिया गया था। पर इस सम्बन्ध मे वस्तुस्थिति पर सम्यग्रूपेण विचार करने पर स्वत ही इस कथन की अवास्तविकता और अनौचित्यता प्रकट हो जायगी। इस कथन की अवास्तविकता को प्रकट करने वाला प्रथम तथ्य तो यह है कि जिस प्रकार आगमो की विविध वाचनाओ के सम्बन्ध मे अनेक उल्लेख उपलब्ध होते है, उस प्रकार का एक भी उल्लेख निर्युक्तियो को व्यवस्थित करने के सम्बन्ध मे नही मिलता।

इसके अतिरिक्त दूसरा सबल तथ्य यह है कि आचाराग और सूत्रकृताग का जो पूर्ण स्वरूप चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के समय मे था, ठीक उसी प्रकार का इनका स्वरूप आर्य रक्षित के समय मे भी था। ऐसी स्थिति मे आर्य रक्षित द्वारा अनुयोगो के पृथक्करण के समय ही इन दो सूत्रो की निर्युक्तियो की इनके अनुयोगमय स्वरूप से पृथक् कर व्यवस्था की जाती तो इन दोनो सूत्रो की वृहदाकारता और विशालता के अनुरूप ही इन दोनो सूत्रो की निर्युक्तियो का आकार एव विस्तार भी वृहत् तथा विशाल होना चाहिये था और इन सूत्रो के जो बहुत

कालिकसूत्र और ओघ – इन दोनो का समावेश चरणकरणानुयोग मे किया गया है। अनुयोगो के रूप में सूत्रो का पृथक्करण वीर नि० स० ५९० से ५९७ के बीच के समय में, तदनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् ४२० से ४२७ वर्ष के मध्यवर्तीकाल में आर्य रक्षित द्वारा किया गया है।

१०. श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नही, इस पक्ष की पुष्टि में दशाश्रुत-स्कन्ध-निर्युक्ति की एक और गाथा प्रमाण रूप से प्रस्तुत की जाती है :–

एगभविए य बद्धाउए य, अभिमुहियनामगोए य।
एते तिन्नि वि देसा, दव्वम्मि य पोडरीयस्स ।।१४६।।

इस गाथा मे द्रव्य निक्षेप के तीन आदेशों का विवेचन किया गया है। इसकी वृत्ति इस प्रकार है :–

एगेत्यादि एकेन भवेन गतेन अनन्तरभव एक य पौण्डरीकेषु उत्पत्स्यते स एकभविक:। तथा तदासन्नतर पौण्डरीकेषु बद्धायुष्क' ततोऽप्यासन्नतम ।

अभिमुखनामगोत्र. 'अनन्तर समयेषु य पौण्डरीकेषु उत्पद्यते। एते अनन्त-रोक्ता त्रयोप्यादेशविशेषा द्रव्यपौण्डरीकेऽवगन्तव्या इति।

[सूत्रकृतागनिर्युक्ति, श्रुत० २, अध्ययन १, पत्र २६७–६८]

वृहत्कल्पसूत्र के चूर्णिकार के कथनानुसार ये तीनो ही स्थविर आर्य मगू, स्थविर आर्य समुद्र और स्थविर आर्य सुहस्ती की पृथक्-पृथक् तीन मान्यताए है। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है कल्पभाष्य की हस्तलिखित प्रति की अधोलिखित गाथा और उसकी चूर्णि :–

गणहरथेरकय वा, आएसा मुक्कवागरणतो वा।
धुवचल विसेसतो वा, अगाऽणंगेसु णाणत्तं ।।१४४।।

चूर्णि – कि च आएसा जहा अज्ज मगू तिविहं सख इच्छति – एगभविय, वद्धाउय, अभिमुहनामगोत्त च। अज्ज समुद्दा दुविहं-बद्धाउय अभिमुहनामगोत्तं च। अज्ज मुहत्थी एग-अभिमुहनामगोय इच्छति।

[स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी, वृहत्कल्पसूत्र नी प्रस्तावना, पृष्ठ १३]

इस प्रकार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रवाहु के वहुत पश्चात् हुए आर्य मगू, आर्य समुद्र और आर्य सुहस्ती की मान्यताओ का आकलन एव उल्लेख जिस निर्युक्त मे हो, उसे किसी भी स्थिति मे श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृति नही माना जा सकता। निर्युक्तिकार भद्रवाहु और चतुर्दश पूर्वधर भद्रवाहु के एक होने न होने का विवादास्पद प्रश्न कल्पभाष्य के चूर्णिकार के समक्ष कभी रहा हो, इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता, अत चूर्णिकार के इस कथन की निष्पक्ष अभिमत के रूप मे गणना की जाकर प्रामाणिक और सत्य मानने मे किसी प्रकार की शका के लिये कोई अवकाश नही रहता।

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु और दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु । नैमित्तिक भद्रबाहु के सम्बन्ध मे निम्नलिखित जनप्रिय गाथा प्रसिद्ध है –

पावयणी १ धम्मकही २ वाई ३, णेमित्तिग्रो ४ तवस्सी ५ य ।
विज्जा ६ सिद्धो ७ य कई ८ अट्ठेव पभावगा भणिया ।।१।।
अज्जरक्ख १ नन्दिसेणो २ सिरिगुत्त विणेय ३ भद्दबाहु ४ य ।
खवग-५ ज्जखवुड ६ समिया ७ दिवायरो ८ वा इहाहरणा ।।२।।

आठ प्रभावको मे नैमित्तिक भद्रबाहु को चौथा प्रभावक माना गया है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है – श्वेताम्बर परम्परा मे काफी प्राचीन समय से यह मान्यता सर्वसम्मतरूपेण प्रसिद्ध है कि दशाश्रुतस्कन्ध कल्पसूत्र व्यवहार-सूत्र और निशीथ सूत्र – ये चार छेदसूत्र आवश्यक निर्युक्ति आदि १० निर्युक्तियां 'उवसग्गहरस्तोत्र' और 'भद्रबाहु सहिता' ये १६ ग्रन्थ भद्रबाहु स्वामी की कृतिया है । इन १६ कृतियो मे से ४ छेदसूत्र श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा निर्मित है, यह प्रमाणपुरस्सर सिद्ध किया जा चुका है । ऐसी स्थिति मे अनुमानत शेष १२ कृत्तिया नैमित्तिक भद्रबाहु की हो सकती है क्योकि इन दो भद्रबाहु के अतिरिक्त अन्य तीसरे भद्रबाहु के होने का श्वेताम्बर वाङ्मय मे कही कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता । इस अनुमान को पुष्ट करने वाला प्रमाण भी उपलब्ध है । वह यह है कि चौदहवी शताब्दी की नोध-पुस्तिका मे उपसर्गहरस्तोत्रकार एव ज्योतिर्विद् भद्रबाहु की कथा उट्टकित है । इसके साथ ही साथ जैसा कि भद्रबाहु के परिचय मे पहले बताया जा चुका है – श्वेताम्बर परम्परा के अनेक प्राचीन ग्रन्थो मे भद्रबाहु और वराहमिहिर को सहोदर मानकर उनका विस्तृत परिचय सयुक्त रूप से दिया गया है । ऐसी दशा मे वराहमिहिर का समय निश्चित हो जाने पर भद्रबाहु का समय भी स्वतः ही निश्चित हो जाता है ।

वराहमिहिर ने अपने "पचसिद्धान्तिका" नामक ग्रन्थ के अन्त मे निम्न-लिखित श्लोक से ग्रन्थ रचना का समय शक सं० ४२७ दिया है –

सप्ताश्विवेदसंख्य, शककालमपास्य चैत्र शुक्लादौ ।
अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्य-दिवसाद्ये ।।

इस श्लोक के आधार पर वराहमिहिर के साथ-साथ नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहु का समय भी शक स० ४२७, तदनुसार वि० स० ५६२ और वीर निर्वाण सवत् १०३२ के आसपास का निश्चित हो जाता है । यह पहले ही बताया जा चुका है कि वारह वर्ष तक श्रमणपर्याय की पालना के पश्चात् वराहमिहिर अपने वडे भाई भद्रबाहु से विद्वेष रखने लगा । दोनो भाइयो की इस प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप वराहमिहिर ने वाराहीसहिता की और भद्रबाहु ने भद्रबाहु सहिता[1] की रचना की इस प्रकार की श्वेताम्बर परम्परा की आम मान्यता अधिक तर्कसगत और युक्तिसगत प्रतीत होती है ।

---

[1] वर्तमान मे उपलब्ध भद्रबाहुसहिता को विद्वानो ने भद्रबाहु की कृति नही माना है । वस्तुत भद्रबाहुसहिता अभी प्रकाशित नही हुई है ।

से अंश तत्पश्चादवर्ती काल मे विलुप्त हो गये उनमे से सबके सम्बन्ध मे न सही पर कम से कम दो-चार अशो के सम्बन्ध मे तो थोडे बहुत तथ्य इन निर्युक्तियो मे हमें आज भी अवश्य देखने को मिलते। पर वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत ही दृष्टिगोचर हो रही है।

इन सब प्रमाणो के अतिरिक्त एक बडा महत्त्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष एक पेचीदा पहेली के रूप में यह उपस्थित होता है कि भीषण दुष्कालो एव अनवरत गति से चले आ रहे क्रमिक स्मृतिह्रास के परिणाम-स्वरूप श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में जो एकादशागी का वृहत्स्वरूप विद्यमान था उसको तो श्रमण-पीढिया यथावत् स्वरूप मे सुरक्षित नही रख सकीं और उनके द्वारा (श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा) निर्मित निर्युक्तियों को आज तक सुरक्षित रख सकी, क्या यह वात किसी निष्पक्ष विचारक के गले उतर सकती है ? कदापि नहीं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन में प्रमाण पुरस्सर जो विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है उससे भली-भाति निर्विवादरूप से यह सिद्ध होता है कि ये निर्युक्तिया अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतिया नहीं, किन्तु भद्रवाहु नाम के किसी अन्य आचार्य की है। यदि ये उनकी कृतिया होती तो वे न स्वय को (चतुर्दश पूर्वधर प्राचीन गोत्रीय आ० भद्रबाहु को) ही नमस्कार करते और न अपने शिष्य आर्य स्थूलभद्र के लिये "भगव पि थूलभद्दो" – जैसे अपने पूज्य के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले शव्दो का प्रयोग कर उनका गुणगान ही करते। इसके अतिरिक्त इन निर्युक्तियो मे श्रुतकेवली भद्रवाहु से ४२० वर्ष पश्चात् हुए अनुयोगो के पृथक्करण का, वीर नि० संवत् ६०६ तक की मुख्य घटनाओं का एव पश्चाद्वर्ती आचार्यो का उल्लेख है, तथा आर्य वज्रस्वामी को निर्युक्तिकार द्वारा नमस्कार किया गया है। अत यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान मे उपलब्ध निर्युक्तिया श्रुतकेवली आचार्य भद्रवाहु द्वारा नही अपितु उनके पश्चाद्-वर्ती भद्रवाहु नामक अन्य किसी आचार्य द्वारा निर्मित्त की गई है।

निर्युक्तिकार कौन

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रवाहु उपलब्ध निर्युक्तियो के कर्त्ता नही है, यह सिद्ध कर दिये जाने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर ये निर्युक्तिया किसकी कृतिया है ? प्रश्न वस्तुत वड़ा जटिल है। इसको सुलझाने का प्रयास करने से पहले हमे यह देखना होगा कि भद्रवाहु नाम के कितने आचार्य हुए है और वे किस-किस समय में हुए है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओ के ग्रन्थो एव शिलालेखो को देखने से ज्ञात होता है कि भद्रवाहु कई हुए है। दिगम्बर परम्परा मे तो विभिन्न समय मे भद्रवाहु नाम के ६ आचार्य हुए है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे भद्रवाहु नाम के दो आचार्यो के होने का ही उल्लेख उपलब्ध होता है। एक तो

प्रमाण है कि निर्युक्तिकार अष्टाग निमित्त तथा मत्र-विद्या के पारगत विद्वान् थे। आध्यात्मिक साधना पर इस प्रकार की मत्र-विद्या की छाप वस्तुत निर्युक्तिकार के अतिशय निमित्त प्रेम का ही द्योतक है।

ज्योतिष विद्या के मान्य शास्त्र "सूर्य प्रज्ञप्ति" पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना की। यह भी इस तथ्य को प्रकट करता है कि वे एक महान् नैमित्तिक थे और ज्योतिष शास्त्र के प्रति उनके अगाध प्रेम एव अगाध ज्ञान ने ही उन्हे इस ज्योतिष शास्त्र के भण्डार "सूर्यप्रज्ञप्ति" शास्त्र पर निर्युक्ति की रचना करने को प्रेरित किया।

वर्तमान मे उपलब्ध निर्युक्तियो के कर्त्ता आचार्य भद्रबाहु एक महान् नैमित्तिक थे, इस बात का एक और प्रबल प्रमाण यह है कि आचाराग जैसे चरणकरणानुयोग के तात्विक शास्त्र पर निर्युक्ति की रचना करते समय भी निमित्त शास्त्र के प्रति उनका अगाध प्रेम-पयोधि उद्वेलित हो उठा है और वे तात्विक निर्देश के समय भी निम्नलिखित गाथा मे निमित्त का वर्णन कर देते है :-

जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य णिमित्त।
जत्तो मुहो य ठाई, सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥५१॥

अर्थात् जो व्याख्याता जिस जगह पर जिस ओर मुँह किये हुए किसी को निमित्त का निरूपण करता है, उस स्थिति मे जिस ओर उसका मुँह है वह पूर्व दिशा और जिस ओर उसकी पीठ है वह पश्चिम दिशा समझनी चाहिये।

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की मगलगाथा "वदामि भद्दबाहु, पाईण चरिमस-गलसुयनाणि" मे प्रयुक्त 'पाईण' प्राचीन-शब्द हमे यह सोचने के लिये अवसर प्रदान करता है कि भद्रबाहु नामक निमित्तशास्त्र के विद्वान् महापुरुष ने निर्युक्ति की रचना करते समय दशाश्रुतस्कन्धकार चतुर्दश पूर्वधर आ० भद्रबाहु को अपने से प्राचीन मानकर वन्दन किया है। हो सकता है कि प्राचीनता के बोधक इस "पाईण" शब्द का आगे चल कर प्राचीन गोत्रीय-ऐसा अर्थ कर लिया गया हो। इस प्रकार का विचार करने के लिये इस कारण अवसर मिलता है कि प्राचीन ग्रन्थ तित्थोगालिय पइन्ना मे श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाम के साथ "पाईण" विशेषण किसी भी स्थान पर नही लगाया गया है।

इस अनुमान से भी वीर नि० सवत् १०३२ के आसपास होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु ही निर्युक्तियो के रचनाकार है, इस प्रकार के विश्वास को बल मिलता है।

इन सब प्रमाणो से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि वीर निर्वाण स० १०३२ के लगभग होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु, जो कि वराहमिहिर के भाई थे, उन्होने ही आवश्यक आदि दश निर्युक्तियो, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहु-सहिता की रचनाए की। यह सभव है कि आचार्य हेमचन्द्रसूरि के पश्चाद्वर्ती किसी काल मे नाम साम्य के कारण चतुर्दश पूर्वधर, प्राचीन अथवा प्राचीन

इन सब बातो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वीर निर्वाण सं० १५६ से १७० तक आचार्यपद पर रहने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु और वीर नि० स० १०३२ के आसपास होने वाले महान् प्रभावक नैमित्तिक भद्रबाहु की जीवनियो को कालान्तर मे एक दूसरे के साथ जोड कर प्रथम भद्रबाहु को ही स्मृतिपटल पर अकित रखा गया और द्वितीय भद्रबाहु को एक दम भुला दिया गया। दो आचार्यो के जीवन-परिचय के इस सम्मिश्रण के फलस्वरूप इस भ्रान्त धारणा ने जन्म लिया कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार, उपसर्गहरस्तोत्रकार और भद्रबाहुसंहिताकार थे । इस प्रकार के भ्रम का निराकरण हो जाने के पश्चात् स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु छेदसूत्रकार थे और नैमित्तिक भद्रबाहु द्वितीय, निर्युक्तियो, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसहिता के रचयिता थे।

निर्युक्तियो के रचनाकार वस्तुत. ज्योतिष विद्या के प्रेमी और नैमित्तिक थे इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण निर्युक्तियो में उपलब्ध होते है। उनमे से कुछ प्रमाण यहा दिये जा रहे है :-

१. आवश्यक निर्युक्ति मे गन्धर्व नागदत्त का कथानक दिया हुआ है। उसमे १२५२ से १२७० तक की गाथाओ के मननपूर्वक अध्ययन से यह स्पष्टत प्रतीत होता है कि आवश्यक निर्युक्तिकार अष्टांगनिमित्त और मत्रविद्या के एक चोटी के विद्वान् थे। गन्धर्व नागदत्त के उक्त कथानक मे निर्युक्तिकार का नैमित्तिक ज्ञान सहजरूप से स्वत ही परिस्फुटित हो गया है और उन्होंने नाग के विष को उतारने के व्याज से काम, क्रोध, मद, मोह आदि नागो से डसे हुए प्राणियो के विष को उतारने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है।[1] "उपसर्गहर स्तोत्र" मे प्रयुक्त 'विसहर फुलिगमतं', इस पद का आवश्यक निर्युक्ति मे वर्णित विषनिवारक प्रक्रिया से तालमेल भी यह मानने के लिये बाध्य करता है कि ये दोनो कृतियां एक ही महापुरुप की है।

आवश्यक निर्युक्ति की गाथा १२७० मे सामान्यतया मन्त्रतन्त्रादि क्रियाओ मे सर्वत्र प्रयुक्त किये जाने वाले रूढ शब्द "स्वाहा" का प्रयोग भी इस बात का

---

[1] गन्धव्व नागदत्तो, इच्छइ सप्पेहि खिल्लिउ इहयं।
त जइ कह चि खज्जइ, इत्थ हु दोसो न कायव्वो ॥१२५२॥
एए ते पावाही, चत्तारि वि कोहमाणमयलोभा।
जेहि सया सतत्त, जरियमिव जयं कलकलेइ ॥१२६२॥
एएहि अह खइयो, चउहि वि आसीविसेहि पावेहि।
विसनिग्घायण हेउ, चरामि विविहं तवोकम्मं ॥१२६४॥
सिद्धे नमसिऊण, ससारत्था य जे महाविज्जा।
वोच्छामि दण्डकिरिय, सव्वविसनिवारणि विज्जं ॥१२६६॥
सव्व पाणाइवाय, पच्चक्खाई मि अलियवयणं च।
सव्वमदत्तादाण, अवभ परिग्गह स्वाहा ॥१२७०॥ [आवश्यक निर्युक्ति]

(प्रथम) के काल से प्रचलित रही हो और उनमे से कतिपय गाथाओ का सकलन कर उन्हे निर्युक्तिकार नैमित्तिक भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्तियो मे स्थान दिया हो।

तत्कालीन उत्कट चारित्रनिष्ठा

अतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के समय के आत्मार्थी श्रमणवर्ग के मानस मे किस प्रकार की उत्कृष्ट कोटि की चारित्रनिष्ठा थी, इसकी कल्पना भद्रबाहु के चार शिष्यो के निम्नलिखित उदाहरण से की जा सकती है –

आचार्य भद्रबाहु विविध क्षेत्रो मे अनेक भव्य – प्राणियो का उद्धार करते हुए एक समय राजगृह नगर पधारे। अनन्तकाल से मोह की प्रगाढ निद्रा मे सोये हुए प्राणियो को जगाकर उनके अन्तर मे आत्मोद्धार की उत्कट अभिलाषा जागृत कर देने वाले भद्रबाहु के उपदेश को सुनकर अनेक व्यक्ति अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर हुए। बाल्यकाल से ही साथ-साथ रहने वाले चार सम्पन्न श्रेष्ठी भद्रबाहु के उपदेश से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन चारो ने अपनी अपार धनसम्पत्ति का तत्काल परित्याग कर भद्रबाहु के पास श्रमण – दीक्षा ग्रहण कर ली। उन चारो ने कठोर तपश्चरण के साथ-साथ शास्त्रो का अध्ययन किया। वे चारो ही श्रमण बडे शान्त, दान्त, निरीह, वैराग्य रग मे पूर्णरूपेण रजित, मित, मधुर एव सत्यभाषी, विनीत और सेवाभावी थे।

आचार्य भद्रबाहु से आज्ञा प्राप्त कर वे चारो श्रमण एकलविहारी प्रतिमाधारी बन गये। अनेक क्षेत्रो मे विहार करते हुए कालान्तर मे वे चारो एकलविहारी श्रमण पुन राजगृह नगर के वैभार पर्वत पर आये। उस समय शीतकाल की अति शीत लहरो के कारण राजगृह मे अग – प्रत्यग को ठिठुरा देने वाली ठड पड रही थी। दिन के तीसरे प्रहर मे वे चारो एकलविहारी श्रमण राजगृह नगर मे भिक्षार्थ आये। भिक्षा ग्रहण कर उनके लौटते-लौटते चतुर्थ प्रहर आ उपस्थित हुआ। एक साधु पर्वत की गुफा के द्वार पर, दूसरा उद्यान मे, तीसरा उद्यान के बाहर और चौथा नगर के बहिर्मार्ग मे ही पहुच पाया था कि चतुर्थ प्रहर का समय हो गया। "साधु तृतीय प्रहर मे ही भिक्षाटन एव गमनागमनादि करे" – इस श्रमण – नियम के सच्चे परिपालक वे चारो साधु जहा थे वही ध्यानमग्न हो गये। रात्रि की निस्तब्धता के साथ-साथ प्राणहारी शीत की भीषणता भी बढती गई। भीषण शीत लहर के कारण उन चारो मुनियो के अग-प्रत्यग पूर्णरूपेण ठिठुर गये। उनकी धमनियो मे खून ठड के मारे बरफ की तरह जमने लगा। किन्तु इस प्रकार की असह्य मारणान्तिक वेदना से भी वे चारो मुनि किंचित्मात्र भी विचलित नही हुए। वे अत्यत उज्वल परिणामो के साथ शुभध्यान मे मग्न रहे।

पर्वत के ऊपर गुफा के पास अत्यधिक ठड थी अत गुफा के द्वार पर ध्यानस्थ मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर मे ही काल कर स्वर्ग मे देव रूप से उत्पन्न हुए। उद्यान मे पर्वत की अपेक्षा कम ठड थी अत उद्यान मे ध्यानस्थ मुनि रात्रि के द्वितीय प्रहर मे, उद्यान के बाहर ध्यान मग्न मुनि रात्रि के तृतीय प्रहर मे और

गोत्रीय भद्रबाहु को तथा वराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु को एक ही महापुरुष मानने की भ्रान्त धारणा प्रचलित हो गई हो।

वस्तुत. 'तित्थोगालिय पइन्ना', 'आवश्यकचूर्णि', आवश्यक हारिभद्रीया टीका और परिशिष्टपर्व आदि प्राचीन एव प्रामाणिक ग्रन्थों मे श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन का जो थोडा बहुत परिचय उपलब्ध होता है, उनमे द्वादशवार्षिक दुष्काल, भद्रबाहु द्वारा छेदसूत्रो की रचना, उनके नेपालगमन, महाप्राणध्यान की साधना और आर्य स्थूलभद्र को पूर्वो की वाचना देना आदि घटनाओ का विवरण दिया गया है। इन ग्रन्थों मे इनके वराहमिहिर का सहोदर होने, निर्युक्तियों, उपसर्गहरस्तोत्र तथा भद्रबाहु सहिता की रचना करने का कही किंचित्मात्र भी उल्लेख नही किया गया है।

एक महत्वपूर्ण तथ्य

उपरोक्त उल्लेखो से यह जो प्रमाणित किया गया है कि वर्तमान में उपलब्ध आवश्यकनिर्युक्ति आदि निर्युक्तियो के रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु है, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि निर्युक्तियो के सर्वप्रथम कर्त्ता नैमित्तिक भद्रबाहु ही है। समवायागसूत्र, स्थानाग सूत्र और नन्दीसूत्र मे जहा द्वादशागी का परिचय दिया गया है, वहाँ प्राय· प्रत्येक सूत्र के सम्बन्ध मे "सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" इस प्रकार का उल्लेख है। मूल आगमों मे इस प्रकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगमकाल से ही प्रचलित रही है। "सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" – आगम के इस पाठ पर ध्यानपूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि प्रत्येक आचार्य, प्रत्येक उपाध्याय अपने शिष्यों को आगमो की वाचना देते समय अपने शिष्यो के हृत्पटल पर आगमों के अर्थ को सदा के लिये अकित कर देने के अभिप्राय से अपने-अपने समय मे अपने-अपने ढग से निर्युक्तियो की रचना करते रहे हो। वस्तुत. आज की शिक्षा प्रणाली मे व्याख्याता प्राध्यापकों द्वारा अपने छात्रो को "नोट्स" लिखाने की परम्परा प्रचलित है, उसी प्रकार आज की इस परम्परा से और अधिक परिष्कृत रूप में शिक्षार्थी श्रमणों के हित को दृष्टि में रखते हुए आचार्यो द्वारा निर्युक्तियों की रचनाए परम्परा से की जाती रही है।

निशीथ चूर्णि, कल्पचूर्णि आदि में आर्य गोविन्द की निर्युक्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। ये आर्य गोविन्द युगप्रधान पट्टावली के अनुसार २८ वे युग-प्रधान थे। इनका समय विक्रम की पाचवी शताब्दी के अतिम चरण से छठी शताब्दी के प्रथम चरण के बीच का बैठता है। अत· ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु से पूर्व के है।

प्रत्येक सूत्र के साथ "सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" यह पाठ देख कर यह भी संभव प्रतीत होता है कि समय-समय पर प्रायः सभी आचार्यो द्वारा निर्युक्तियो की रचनाएं की गई। उन निर्युक्तियो की अनेक उत्तम एव लोकप्रिय गाथाए भद्रबाहु

श्रुतकेवलिकाल प्रारम्भ हुआ उस समय प्रथम नन्द को पाटलिपुत्र के शासन की बागडोर सम्भाले ४ वर्ष बीत चुके थे। उन ९ नन्दो मे से किस-किस का कितने-कितने वर्षो तक शासन रहा, इस सम्बन्ध मे "दुष्पमा श्रमणसघ स्तोत्र" की अवचूरि मे[1] निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है –

	शासक	शासनकाल	शासनकाल मे आचार्य एवं आ० काल
१	नन्द प्रथम	११ वर्ष	आर्य जम्बू ४ वर्ष, प्रभव ७ वर्ष
२	नन्द द्वितीय	१० वर्ष	प्रभव ४ वर्ष, सय्यभव ६ वर्ष
३	नन्द तृतीय	१३ वर्ष	सय्यभव १३ वर्ष
४	नन्द चतुर्थ	२५ वर्ष	सय्यंभव ४ वर्ष, यशोभद्र २१ वर्ष
५	नन्द पचम	२५ वर्ष	यशोभद्र २५ वर्ष
६	नन्द षष्ठ	६ वर्ष	यशोभद्र ४ वर्ष सभूतविजय २ वर्ष
७	नन्द सप्तम	६ वर्ष	सभूतविजय ६ वर्ष
८	नन्द अष्टम	४ वर्ष	भद्रबाहु ४ वर्ष
९	नवम नन्द धननद	५५ वर्ष	भद्रबाहु १० वर्ष स्थूलभद्र ४५ वर्ष

दुष्षमा श्रमणसघ स्तोत्र मे उल्लिखित उपरिवर्णित विवरण से यह स्पष्टत प्रकट होता है कि श्रुतकेवलिकाल के प्रारम्भ होने से ४ वर्ष पूर्व प्रथम नन्द नन्दिवर्धन पाटलिपुत्र के राज्यसिहासन पर आसीन हुआ और श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति के समय वीर निर्वाण सवत् १७० मे अन्तिम एव नवम नद धननन्द के शासनकाल के १० वर्ष व्यतीत हो चुके थे तथा श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति के ४५ वर्ष पश्चात् १५५ वर्ष के नन्दो के शासनकाल की समाप्ति के साथ पाटलिपुत्र के राजसिहासन पर मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त आसीन हुआ।

उपरोक्त ९ नन्दो मे से केवल प्रथम, अष्टम और नवम नद के अतिरिक्त अन्य ६ राजाओ के नाम उपलब्ध नही होते। इन ९ नन्द राजाओ के कुल मिला कर १५५ वर्ष के राज्यकाल मे किस-किस नन्द का कितने-कितने वर्ष तक राज्य रहा, इस सम्बन्ध मे भी दुष्षमाश्रमणसघस्तोत्र-अवचूरि को छोड कर अन्यत्र प्राचीन ग्रन्थो मे कोई विश्वसनीय और सुव्यवस्थित उल्लेख नही मिलता। दुष्पमाश्रमणसघ स्तोत्र मे नव नन्दो का राज्यकाल दिया गया है, उसे तब तक अविश्वसनीय नही माना जा सकता जब तक कि इससे भिन्न कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नही हो जाता।

प्राचीन ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० स० ६४ से १७० तक के १०६ वर्ष के श्रुतकेवलिकाल मे एक प्रकार

[1] पुणो पाडलीपुरे ११, १०, १३, २५, २५, ६, ६, ४, ५५ नवनन्द एव वर्ष १५५ रज्जे – जबू शेपवर्षाणि ४, प्रभव ११, सय्यभव २३, यशोभद्र ५०, सभूतविजय ८, भद्रबाहु १४, स्थूलभद्र ४५, एव वीरनिर्वाणात् २१५।

[दुष्पमाकाल श्री श्रमणसघस्तोत्र, अवचूरि, पट्टावली – समुच्चय पृ० १७]

नगर के वहिमार्ग मे ध्यानस्थ मुनि रात्रि के चतुर्थ प्रहर मे शरीर त्याग कर देवलोक मे देव रूप से उत्पन्न हुए ।

साधना-पथ के पथिक श्रमणो के हृदय मे उस समय श्रमणाचार के प्रति कितनी प्रगाढ निष्ठा और शरीर के प्रति कितनी निर्ममत्व भावना थी, इसका अनुमान भद्रबाहु के इन चार शिष्यों की अतिम चर्या से सहज ही लगाया जा सकता है ।

भद्रबाहु विषयक श्वेताम्बर मान्यताओं का निष्कर्ष

तित्थोगालियपइन्ना, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति और आ० हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व – इन श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थो मे अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के सम्बन्ध मे केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि वे अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर थे, उनके समय मे द्वादश वार्षिक दुष्काल पड़ा, वे लगभग १२ वर्ष तक नेपाल प्रदेश में रहे, वहाँ उन्होने बारह वर्ष तक योगारूढ रहकर महाप्राण ध्यान की साधना की, उनके समय मे पर उनकी अनुपस्थिति मे आगमो की वाचना वीर नि० सं० १६० के आसपास पाटलिपुत्र नगर मे हुई, उन्होने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्वो का सार्थ और शेष पूर्वो का केवल मूल वाचन दिया, उन्होंने ४ छेदसूत्रों की रचना की और जिन-शासन का महान् उद्योत कर वे वी० नि० स० १७० में स्वर्ग पधारे ।

उपरोक्त चार ग्रन्थो के पश्चाद्वर्ती काल में वने श्वेताम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थो मे श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवनचरित्र के साथ वीर नि० सं० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन की घटनाओ को जोड़कर जो उन्हे वराहमिहिर का सहोदर बताया गया है, उस सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण कर दिया गया है । उसे यहा दोहराने की आवश्यकता नही ।

ऐसी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन का जो परिचय तित्थोगाली पइन्ना आदि उपरोक्त चार ग्रन्थो मे दिया गया है वही वास्तव मे प्रामाणिक है । अन्य ग्रन्थो मे उपरोक्त तथ्यो के अतिरिक्त जिन घटनाओ को श्रुतकेवली भद्रवाहु के जीवन के साथ जोडा गया है उन्हे वी० नि० स० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रवाहु के जीवन से सम्वन्धित समझना चाहिए ।

श्रुतकेवलिकाल की राजनैतिक एवं अन्य प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएं

प्रमुख राजवश – यह पहले वताया जा चुका है कि वीर नि० स० ६० मे शिशुनागवशी राजा उदायी के पश्चात् नन्दिवर्धन पाटलिपुत्र के राजसिहासन पर आरूढ हुआ । नन्दिवर्धन से लेकर अन्तिम नद धननद तक पाटलिपुत्र के राजाओ को जैन एव जैनेतर साहित्य मे नव नन्दो के नाम से अभिहित किया गया है ।

प्रयत्न निष्फल रहे और कुमार को मृत समझ कर दाहसस्कार के लिये स्मशान की ओर ले चले। वहा आचार्य रत्नप्रभसूरि का चरणोदक सीचने पर कुमार का जहर उतर गया और उसने नवीन जीवन प्राप्त किया। शोक मे डूबा हुआ राज-परिवार और समस्त उपकेश नगर पुन: आनन्दित हो उठा।

इस अद्भुत घटना से प्रभावित हो कर राजा, मन्त्री, उनके परिजनो और पौरजनो आदि ने बहुत बडी, सख्या मे जैनधर्म स्वीकार किया और उन सब के ओसिया निवासी होने के कारण उन नये जैन बने लोगो की "ओसवाल" नाम से प्रसिद्धि हुई।

यह भी कहा जाता है कि राज्य की अधिष्ठायिका चामुण्डा देवी को भी – जिसे कि – वलि दी जाती थी, आचार्य रत्नप्रभ ने उपदेश देकर सम्यक्त्वधारिणी बनाया और "सच्चिका" नाम देकर उसे ओसवालो की कुलदेवी के रूप मे प्रतिष्ठापित किया। देवी ने केवल पशुओ की वलि लेना ही नही छोडा अपितु लाल रग के फूल भी वह पसद नही करती थी।

उपकेशगच्छ पट्टावली मे आचार्य रत्नप्रभ के इस प्रकार के अन्य अनेक चमत्कारो की घटनाओ का उल्लेख किया गया है। कहा जाता है कि आपने १,८०,००० अजैनो को जैन धर्मावलम्बी वनाया और वीर नि० स० ८४ मे स्वर्ग प्राप्त किया।

रत्नप्रभसूरि के पश्चात् यक्षदेवसूरि आदि के क्रम से उपकेशगच्छ की आचार्य परम्परा अद्यावधि अविच्छिन्न रूप से चलती हुई बताई गई है। द्विवन्दनिक गच्छ और तपारत्न शाखा इन्ही आचार्य यक्षदेव के शिष्य उदयवर्द्धन से निकली कही जाती है।[1]

आचार्य भद्रबाहु का शिष्यपरिवार

आचार्य भद्रवाहु के निम्नलिखित ४ प्रमुख शिष्य थे –

१ स्थविर गोदास २ स्थविर अग्निदत्त
३ स्थविर यज्ञदत्त और ४ स्थविर सोमदत्त

ये चारो शिष्य काश्यपगोत्रीय थे। स्थविर गोदास से गोदास-गण प्रचलित हुआ, जिसकी निम्नलिखित चार शाखाए थी –

१ तामलित्तिया, २. कोडीवरिसिया
३ पडुवद्धरिणया (पोडवद्धरिणआ) और ४ दासी खब्बडिया

---

[1] विशेष जानकारी के लिये देखे भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास।

से प्रायः नन्द राजाओ का ही प्रभुत्व रहा। प्रथम नन्द नन्दिवर्धन ने अनेक राज्यो को विजित कर मगधराज्य की सीमाओ और शक्ति मे अभिवृद्धि की। नन्दिवर्धन के राज्यकाल से ही अवन्ती, कौशाम्बी और कलिग के राजा मगध राज्य के आज्ञावर्ती शासक वन चुके थे।

उपकेशगच्छ

उपकेशगच्छ पट्टावली आदि के अनुसार वी० नि० स० ७० मे आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा उपकेश नगर (ओसियां) मे चातुर्मास किये जाने और वहां के क्षत्रियों को ओसवाल बनाने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि पार्श्व-परम्परा के आचार्य स्वयप्रभसूरि के पास विद्याधर राजा 'मणिरत्न' भिन्नमाल में वन्दन करने आया और उनका उपदेश सुन कर अपने पुत्र को राज्य सम्हला आचार्यश्री के पास दीक्षित हो गया। उस समय विद्याधरराज मणिरत्न के साथ अन्य ५०० विद्याधर भी दीक्षित हो गये। दीक्षा के पश्चात् आचार्य स्वयप्रभ ने उनका नाम 'रत्नप्रभ' रखा।

वीर नि० स० ५२ मे मुनि रत्नप्रभ को आचार्य पद प्रदान किया गया। आचार्य रत्नप्रभ अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए एक समय उपकेशनगर में पधारे।

उपकेश नगर के सम्वन्ध मे उपकेशगच्छ पट्टावली मे उल्लेख है कि भिन्नमाल के राजा भीमसेन के पुत्र पुज का राजकुमार उत्पलकुमार किसी कारण-वश अपने पिता से रुष्ट हो कर क्षत्रिय मत्री के पुत्र ऊहड के साथ 'भिन्नमाल' से निकल पड़ा। राजकुमार और मन्त्रिपुत्र ने एक नवीन नगर बसाने का विचार किया और अन्ततोगत्वा १२ योजन लम्बे-चौड़े क्षेत्र मे उपकेशनगर वसाया। नये वसाये गये उपकेश नगर मे भिन्नमाल के १८०० व्यापारी, ६०० ब्राह्मण तथा अनेक अन्य लोग भी आकर वस गये।

आचार्य रत्नप्रभसूरि जिस समय अपने शिष्यसमूह के साथ उपकेशनगर में पधारे उस समय सारे नगर में एक भी जैन धर्मावलम्वी गृहस्थ के न होने के कारण उन्हे अनेक कष्टो का सामना करना पडा। भिक्षा न मिलने के कारण उन्हे और उनके शिष्यों को उपवास पर उपवास करने पड़े फिर भी उन्होने ३५ साधुओं के साथ उपकेश नगर मे चातुर्मास करने का निश्चय किया और अपने शेष सव शिष्यो को कोरटा आदि अन्य नगरों और ग्रामो में चातुर्मास करने के लिये उपकेशनगर से विहार करवा दिया।

उपकेशनगर मे चातुर्मास करने के पश्चात् रत्नप्रभसूरि आहार-पानी की अनुपलब्धि आदि अनेक घोर परीपहो को समभाव से सहते हुए आत्मसाधना मे तल्लीन रहने लगे। इस प्रकार चातुर्मास का कुछ समय निकलने के पश्चात् एक दिन उपकेश नगर के राजा उत्पल के दामाद त्रैलोक्यसिह को, जो मत्री ऊहड का पुत्र था एक भयकर विपधर ने डस लिया। उपचार के रूप मे किये गये सभी

दशपूर्वधर-काल

(वीर नि. स. १७० से ५८४)

दशपूर्वधर-काल के आचार्य :

८. आचार्य स्थूलभद्र

आचार्यकाल – वी. नि. सं. १७० से २१५

९. आचार्य आर्य महागिरि

आचार्यकाल – वी. नि. स. २१५ से २४५

१०. आचार्य आर्य सुहस्ती

आचार्यकाल – वी. नि स. २४५ से २९१

११. आचार्य गुण सुन्दर

आचार्यकाल – वी नि स. २९१ से ३३५

१२. आचार्य श्याम (कालकाचार्य प्रथम)

आचार्यकाल – वी नी. स. ३३५ से ३७६

१३. आचार्य सांडिल्य

आचार्यकाल – वी नि स ३७६ से ४१४

१४. आचार्य रेवतीमित्र

आचार्यकाल – वी नि स ४१४ से ४५०

१५. आचार्य धर्म

आचार्यकाल – वी. नि स. ४५० से ४९४

१६. आचार्य भद्रगुप्त

आचार्यकाल – वी. नि स ४९४ से ५३३

१७. आचार्य श्री गुप्त

आचार्यकाल – वी. नि. सं० ५३३ से ५४८

१८. आचार्य आर्य वज्र

आचार्यकाल – वी नि. स ५४८ से ५८४

आर्य स्थूलभद्र इन्ही गौतम गोत्रीय ब्राह्मण शकडाल के पुत्र थे। स्थूलभद्र की माता का नाम लक्ष्मीदेवी था।

मन्त्रीश्वर शकडाल अपने समय के सर्वोच्च कोटि के राजनीतिज्ञ, शिक्षा विशारद और कुशल प्रशासक थे। शकटार के महामात्य काल मे मगधराज्य की उल्लेखनीय सीमावृद्धि के साथ-साथ राजस्व खाते मे अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई। अनेक प्राचीन ग्रन्थो मे इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि नवम नन्द के कोश मे इतनी वृद्धि हुई कि स्वर्ण की ६ पहाडिया बना कर उसे अपने धन की रक्षा करने की स्थिति उत्पन्न हो गई।

शकटार के महामन्त्रित्वकाल मे शिक्षा के क्षेत्र मे अभ्युन्नति हेतु अपार धनराशि व्यय की जाती रही। उन दिनो नालन्दा विश्वविद्यालय चरम उत्कर्ष पर पहुंच चुका था और उसकी ख्याति समुद्र के पारवर्ती देशो तक फैल गई थी।

इस प्रकार के विख्यात महामात्य के घर मे स्थूलभद्र का जन्म हुआ। स्थूलभद्र के छोटे सहोदर का नाम श्रीयक था। यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सैणा, मैणा तथा रैणा नाम की स्थूलभद्र और श्रीयक की सात वहिने थी। मन्त्रीश्वर शकटार ने अपने दोनो पुत्रो और सातो पुत्रियो की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया और उन सबको सभी प्रकार की विद्याओ की उच्च कोटि की शिक्षा दिलवाई।

कोशा के यहां

सकल विद्याओ में निष्णात होने के उपरान्त भी युवक स्थूलभद्र भोगमार्ग से नितान्त अनभिज्ञ रहे अत संसार से विरक्त स्थूलभद्र को व्यावहारिक शिक्षा दिलाने एव गृहस्थ जीवन की ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से मन्त्रीश्वर शकटार ने उन्हे कोशा नाम की एक वडी चतुर वेश्या के यहा रखा, जो अपनी वाक्पटुता, अवसरज्ञता एव अवसरानुकूल नैसर्गिक अभिनयकला के लिये विख्यात थी। कुछ ही दिनो के ससर्ग से शिक्षिका कोशा और शिक्षार्थी स्थूलभद्र एक दूसरे के गुणो पर इतने अधिक मुग्ध हो गये कि क्षण भर के लिये भी एक दूसरे की दृष्टि से दूर रहना उन दोनो के लिये प्राणापहरण के समान असह्य हो गया। यह पारस्परिक आकर्षण अन्ततोगत्वा उस चरम सीमा तक पहुच गया कि वारह वर्ष पर्यन्त उन दोनो ने एक दूसरे मे अत्यन्त अनुरक्त रहते हुए अपनी दासियो के अतिरिक्त किसी अन्य का मुख तक नही देखा।

सभवत अपने इस कटु अनुभव से शिक्षा लेकर मन्त्रीश्वर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र की तरह कनिष्ठ पुत्र को शिक्षण प्राप्त कर लेने पर किसी वेश्या के यहा व्यावहारिक शिक्षा दिलाना आवश्यक नही समझा। अत श्रीयक अपने पिता के साथ नवम नन्द के राज-दरबार मे जाने और राज्यकार्य मे अपने पिता की सहायता करने लगा।

दशपूर्वधर-काल

अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के साथ ही वीर नि० सं० १७० मे श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति और दशपूर्वधरों के काल का प्रारम्भ होता है। श्वेताम्बर परम्परा वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक कुल मिला कर ४१४ वर्ष का और दिगम्बर परम्परा वी० नि० सं० १६२ से ३४५ तक कुल १८३ वर्ष का दशपूर्वधरकाल मानती है।

८. आर्य स्थूलभद्र

अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् भगवान् महावीर के आठवे पट्टधर आचार्य आर्य स्थूलभद्र हुए। कामविजयी आर्य स्थूलभद्र की गणना उन विरले नरपुगवों में सर्वप्रथम की जा सकती है जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से किया है :—

> मत्तेभकुंभदलने भुवि सन्ति शूरा.,
> केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
> किन्तु ब्रवीमि वलिनां पुरतः प्रसह्य,
> कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

आर्य स्थूलभद्र द्वारा काम पर प्राप्त की गई अद्‌भुत विजय से उत्प्रेरित हो अनेक कवियों ने इनके जीवनचरित्र पर अनेक भाषाओ में अनेक काव्य लिखे है। शृगार और वैराग्य दोनो ही की पराकाष्ठा का अपूर्व एवं अद्‌भुत समन्वय आर्य स्थूलभद्र के जीवन में पाया जाता है। कज्जल से भरी कोटरी में रह कर भी कोई व्यक्ति अपने शरीर पर किंचित् मात्र भी कालिख न लगने दे, यह असंभव है। परन्तु आर्य स्थूलभद्र ने निरन्तर चार मास तक अपने समय की सर्वाधिक सुन्दरी कामिनी कोशा वेश्या के गृह में रहते हुए भी पूर्ण निष्काम रह कर इस असंभव को संभव कर बताया।

जन्म, माता-पिता

आचार्य स्थूलभद्र का जन्म वीर निर्वाण स० ११६ मे एक ऐसे संस्कार-सम्पन्न ब्राह्मण परिवार मे हुआ जो जैन धर्म पर दृढ आस्था रखने वाला और राजमान्य था। मगधसम्राट् उदायी की मृत्यु के पश्चात् इस परिवार का पूर्व पुरुष कल्पक प्रथम नन्द द्वारा मगध साम्राज्य का महामात्य नियुक्त किया गया। तब ही से अर्थात् प्रथम नन्द के समय से नवम नन्द के समय तक निरन्तर इसी ब्राह्मण परिवार का मुखिया मगध के महामात्य पद को सुशोभित करता रहा। नवम नन्द के महामात्य का नाम शकटार अथवा शकडाल था।

राज्यकोश से प्रतिदिन इतनी बडी धनराशि के व्यय को रोकना आवश्यक समझ महामन्त्री शकटार ने एक दिन नन्द से कहा – "राजन् ! प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राए वररुचि को किस अभिप्राय से दी जा रही हैं ?"

अपने महामात्य के प्रति गहरी आस्था प्रकट करते हुए जिज्ञासा भरे स्वर मे नन्द ने कहा – "महामन्त्रिन् ! हम तो अपने महामात्य के इगित के अनुसार ही वररुचि को प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राए प्रदान कर रहे है। हम यदि स्वेच्छा से ही देते तो अपने प्रधानमन्त्री के मुख से काव्य की प्रशसा सुनने से पहले ही दे देते।"

शकटार ने गम्भीर स्वर मे कहा – "एकराट् मगधेश्वर का महामात्य किसी अन्य कवि द्वारा कृत-काव्य का पाठ वररुचि के मुख से सुनकर कैसे प्रशसा कर सकता है ? वस्तुत मैने उस दिन किसी अज्ञात कवि द्वारा निर्मित पदो के लालित्य की प्रशसा की थी न कि वररुचि की। वह तो दूसरे कवियो की रचनाओ को हमारे समक्ष पढता है। उसके द्वारा सुनाई गई काव्य रचना को यक्षा, यक्षदिन्ना आदि आपकी सातो बच्चिया सुना सकती है, कल प्रात काल ही इसको प्रत्यक्ष देख लिया जाय।"

महाराज नन्द को इस पर बडा आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल राज्यसभा मे यवनिका के पीछे महामात्य शकटार की यक्षा आदि सातो पुत्रियो को बैठा दिया गया। वररुचि ने महाराज नन्द की प्रशसा मे अपने नवीनतम १०८ श्लोक राज्य-सभा मे सुनाये।

मंत्री-पुत्रियों की स्मरण शक्ति

वररुचि और समस्त राज्यसभा को आश्चर्य मे डालते हुए महामात्य की बडी पुत्री यक्षा ने वररुचि द्वारा पढे गये १०८ श्लोको को यथावत् सुना दिया। तदनन्तर यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, एणा, वेणा और रेणा ने भी एक-एक के पश्चात् अनुक्रम से खडे होकर उन श्लोको को राज्यसभा के समक्ष सुना दिया। वस्तुत वे कन्याए क्रमश एक पाठी (एक बार सुनने मात्र से बडे से बडे गद्य अथवा पद्य को कण्ठस्थ कर लेने वाली), द्विपाठी, त्रिपाठी, चतुष्पाठी, पचपाठी, षड्पाठी एव सप्तपाठी थी। समस्त राज्य परिषद स्तब्ध रह गई। सब के वक्र नेत्रो से वररुचि की ओर घृणा की वर्षा होने लगी। उसके पाण्डित्य की प्रतिष्ठा क्षण भर मे ही धूलि मे मिल गई। काव्यो की चोरी के कलक का टीका अपने मस्तक पर लगा देख वररुचि हतप्रभ एव लज्जित हो राज्यसभा से उठकर चला गया।

महामात्य की एक ही चाल से अपनी बडे परिश्रम से अर्जित प्रतिष्ठा को मिट्टी मे मिली देख कर वररुचि के हृदय मे शकटार के प्रति प्रतिशोध की ज्वाला भडक उठी। उसने येन-केन प्रकारेण अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुन प्राप्त कर

वररुचि की प्रतिस्पर्धा

यथार्थतः राज्यतन्त्र का व्यवस्थित रूप से सचालन बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि राज्यतन्त्र अथवा राजनीति स्वय एक अस्थाई तत्व है। शकटार के जीवन का अन्तिम समय वस्तुतः राजनैतिक दृष्टि से बड़ा ही विषम और विकट था। चरमोत्कर्ष के पश्चात् नन्द का राज्य सभवत प्रकृति के नियम के अनुसार अपने पतन की प्रतीक्षा मे पतन के गहन गर्त की कगार की ओर अग्रसर होना चाहता था।

शकटार के बुद्धिकौशल द्वारा संचालित नन्द का राज्यतन्त्र स्वचालित यन्त्र की तरह सुनियोजित ढंग से स्वतः ही चलता हुआ प्रतीत हो रहा था। राज्य के छोटे से छोटे कार्य से लेकर बड़े से बडे कार्य में सर्वत्र शकटार का वर्चस्व था। प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रबल प्रताप से उलूक के मन मे ईर्ष्या का उत्पन्न होना नैसर्गिक है। शकटार के प्रवल प्रताप को देखकर वररुचि नामक विद्वान् के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और शनै शनै. विद्वान् वररुचि मन्त्रीश्वर शकटार का प्रवल प्रतिस्पर्धी बन गया। अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के माध्यम से राजा और प्रजा के मन में अपने लिये स्थान बनाने की दृष्टि से वररुचि राजा की प्रशसा मे प्रतिदिन नवीनतम काव्य-रचना सुनाकर राजा से प्रतिष्ठा के साथ-साथ अर्थप्राप्ति का प्रयत्न करने लगा। महाराजा नन्द अपने महामात्य शकटार की मर्मज्ञता से पूर्णरूपेण प्रभावित था। शकटार के मुख से वररुचि की काव्यरचना की श्लाघा मे एक भी शब्द न सुनकर नन्द ने न तो वररुचि के अभिनव एवं सुन्दर काव्यो की कभी सराहना ही की और न कभी प्रसन्न हो उसे उसकी काव्यरचना के उपलक्ष में अर्थ ही प्रदान किया। अथक प्रयास से तैयार की गई सुन्दर से सुन्दरतम काव्य-रचना पर भी जब वररुचि को राजा की ओर से किसी प्रकार का परितोषिक प्राप्त नही हुआ तो वररुचि वस्तुस्थिति को समझ गया। बहुत सोच विचार के पश्चात् वररुचि ने साहित्य की मर्मज्ञा शकटार-पत्नी लक्ष्मीदेवी को अपनी काव्य-रचनाओं से प्रसन्न करने का प्रयास प्रारम्भ किया। वह प्रतिदिन विदुषी लक्ष्मी-देवी की सेवा मे उपस्थित हो अपनी नवीनतम रचनाएं सुनाने लगा। अपने पदलालित्य से लक्ष्मीदेवी को प्रसन्न कर वररुचि ने उससे प्रार्थना की कि मन्त्रीश्वर शकटार को कह कर वह नन्द की राज्यसभा में उसकी काव्यकृतियों की प्रशसा करवाये। वररुचि द्वारा की गई चाटुकारिता से प्रसन्न हो लक्ष्मीदेवी ने अपने पति से प्रार्थना की कि अर्थार्थी ब्राह्मण वररुचि को लाभ पहुँचाने के लिये वे उसके काव्यों की राज्यसभा में प्रशंसा करे। अपनी विदुषी गृहिणी के आग्रह से दूसरे दिन शकटार ने वररुचि के काव्य की राज्यसभा में प्रशसा की। फलत नन्द ने प्रसन्न हो वररुचि को उसके काव्यपाठ के उपलक्ष मे १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान की।

वररुचि नित्यप्रति अपनी नवीन काव्य रचनाएं नन्द के दरबार मे सुनाता और उसे तत्काल १०८ स्वर्णमुद्राए मगधाधिप महाराज नन्द के कोश से मिल जाती। यह क्रम निरन्तर अनेक दिनो तक चलता रहा।

है। वह श्वासोच्छ्वास को रोके अपलक दृष्टि से वररुचि की ओर देखने लगा। उसने देखा कि वररुचि गगा के जल मे घुस रहा है। वह गुप्तचर अपने स्थान से बडी सावधानी के साथ उठा और ध्यानपूर्वक वररुचि की ओर देखने लगा। उसे ऐसा लगा मानो वररुचि ने एक जगह पर पानी मे अपने पैर से किसी वस्तु को टटोला है और फिर उसे अपने पैरो से दबा दिया है। अन्धेरा होने पर भी तारो की टिमटिमाहट मे चमकते हुए गगाजल मे उसने देखा कि कोई वस्तु पानी से ऊपर उठी है और वररुचि ने अपनी बगल मे से कुछ निकाल कर उसमे रख दिया है। इसके पश्चात् उसने देखा कि वररुचि शीघ्रतापूर्वक गगा से बाहर निकला और पाटलीपुत्र नगर की ओर लौट गया।

वररुचि के लौट जाने के अनन्तर शकटार द्वारा नियुक्त गुप्तचर विभाग का वह अधिकारी गगा के जल मे ठीक उस ही जगह पहुचा जहा थोडी देर पहले वररुचि को उसने देखा था। पानी मे उस अधिकारी ने अपने पैरो से टटोलना प्रारम्भ किया। कुछ ही क्षणो के प्रयास के पश्चात् पानी की निचली सतह में उसके पैर ने किसी कठोर वस्तु के स्पर्श का अनुभव किया। पैर से अच्छी तरह टटोल कर उस गुप्तचर ने उस वस्तु पर पैर रखा और धीरे-धीरे उसे अपने पैर से दबाना प्रारम्भ किया। उसने देखा कि गगाजल मे से एक वस्तु ऊपर उठी और उसके पास आ कर रुक गई। उसने पानी की सतह मे अपने पैर के नीचे की वस्तु को यथापूर्व दबाये ही रखा और अपना हाथ बढा कर पानी से ऊपर उठी हाथ के आकार की वस्तु से लटकी हुई थैली को ले लिया। बाये हाथ से उस थैली को थामे उस गुप्तचर ने पानी से ऊपर उठी वस्तु को अपने दाहिने हाथ से अच्छी तरह टटोल कर देखा। उसे विश्वास हो गया कि वह किसी कुशल शिल्पी द्वारा निर्मित काष्ठ का नारी-कर है। तत्काल सारा रहस्य उस गुप्तचर की समझ मे आ गया कि वस्तुत पानी मे यन्त्र रखा हुआ है, जिसको दबाने से काष्ठ-निर्मित हाथ ऊपर उठ आता है। उसने अपने दाहिने पैर को ऊपर उठाया। पैर के उठाते ही वह काष्ठनिर्मित हाथ पानी मे चला गया।

अपने अनुमान को दृढ विश्वास मे परिणत करने और अपने आपको आश्वस्त करने की दृष्टि से उस गुप्तचर ने पानी के अन्दर स्थित उस यन्त्र को बार-बार दबाकर देखा। जितनी बार उस यन्त्र को पैर से दबाया गया उतनी ही बार वह दारुमय हाथ पानी से ऊपर उठा पर अब वह रिक्त था, उसमे कोई थैली नही थी। पूर्णरूपेण आश्वस्त हो चुकने के पश्चात् वह गुप्तचर गगा से बाहर निकला। उसने थैली को खोलकर उसमे रखी स्वर्णमुद्राओ को गिना और पाया कि वे सख्या मे पूरी १०८ है। स्वर्णमुद्राओ को पुन थैली मे रखकर वह तत्काल नगर की ओर लौट पडा और महामात्य के गुप्त मत्रणाकक्ष मे पहुचकर उसने उन्हे प्रणाम किया।

महामात्य शकटार ने अन्तर्वेधी दृष्टि से उस अधिकारी की ओर देखते हुए कहा – "आ गये सौम्य! मै तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था। तुम्हारी प्रसन्न

शकटार से बदला लेने का निश्चय किया। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने एक उपाय खोज निकाला।

रहस्यपूर्ण चमत्कार

कार्यसिद्धि हेतु समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् वररुचि ने अपने शिष्यों के माध्यम से पाटलिपुत्र के निवासियों मे इस प्रकार का प्रचार करवाया कि अमुक तिथि को प्रात. सूर्योदय के समय वररुचि स्वनिर्मित काव्यपाठ से गगा को प्रसन्न करेगा और गगा स्वयं अपने हाथ से उसे १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान करेगी। निश्चित तिथि को सूर्योदय से पूर्व ही अपार जनसमूह गगा के तट पर उपस्थित हो गया। वररुचि गगा में स्नान करने के पश्चात् उच्चस्वर में गगा की स्तुति करने लगा। स्तुतिपाठ की समाप्ति के साथ ही प्राची में अरुण अंशुमालि उदित हुए। सहस्रो नरनारियों ने देखा कि सहसा गगा के प्रवाह में से एक नारी का हाथ उठा और गंगा के जानुदघ्न जल मे खडे वररुचि के हाथ मे एक थैली रख कर पुन गगा के वारिप्रवाह मे विलीन हो गया। थैली खोल कर सबके समक्ष स्वर्णमुद्राए गिनी गई तो वे पूरी १०८ निकली। सहस्रों कठो से उद्घोषित गंगामैया और वररुचि के जयघोषो से गगन गूज उठा। विद्युत्वेग से यह संवाद सर्वत्र फैल गया कि राजा ने वररुचि को स्वर्णमुद्राएं देना बन्द कर दिया तो क्या हुआ, उसे तो स्वयं गंगामाता प्रसन्न हो कर स्वर्णमुद्राएं देती है।

इस अद्भुत दृश्य को देखने के लिये प्रतिदिन प्रात.काल गंगानदी के तट पर लोगो का जमघट लगा रहता। प्रतिदिन सबके समक्ष एक हाथ गगधारा से बाहर निकलता और वररुचि के हाथ में १०८ स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली रख कर पुन. जलप्रवाह में तिरोहित हो जाता। कुछ ही दिनो मे वररुचि का यश दूर-दूर तक व्याप्त हो गया।

एक दिन राजा नन्द ने शकटार से कहा – "महामात्य! हम कई दिनों से यह सुन रहे हैं कि गंगा स्वयं अपने हाथ से वररुचि को प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान करती है।"

शकटार ने कहा – "नरनाथ! सुन तो मै भी यही रहा हूं, अच्छा हो कल गगातट पर चल कर प्रत्यक्ष यह चमत्कार देख लिया जाय।"

दूसरे दिन प्रात·काल महाराज नन्द और महामन्त्री शकटार के गगातट पर जाने की बात पाटलीपुत्र के प्रत्येक नागरिक के पास पहुंच गई।

महामात्य शकटार ने अपने गुप्तचर विभाग के एक अत्यन्त चतुर चरकार्य-प्रवीण अधिकारी को वास्तविकता का पता लगाने का आदेश दिया। सूर्यास्त से पहले ही गुप्तचर विभाग का वह अधिकारी गगातट के घने एव ऊंचे सरकंडों की ओट मे छुप कर बैठ गया। चारो ओर अन्धकार का साम्राज्य हो चुकने के पश्चात् उसने देखा कि एक व्यक्ति दबे पावो गंगातट की ओर बढ रहा है। अधिकारी ने सावधान हो बडे ध्यान ने उस व्यक्ति की ओर देखा। शरीर की ऊंचाई एवं आकार-प्रकार से उसने तत्काल पहचान लिया कि वह वररुचि ही

तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देख रहा है। उसे अपने प्राणापहरण से भी अत्यधिक दुस्सह पीड़ा का अनुभव हुआ।

महामात्य ने प्रणतिपूर्वक महाराज नन्द से निवेदन किया – "महाराज ! यह वररुचि रात्रि के समय यहा आकर स्वर्णमुद्राओ की थैली गगा के अन्दर लगाये गये यन्त्र मे रख देता है और प्रात काल पैर से उस यन्त्र को दवाकर उस थैली को प्राप्त कर जनसाधारण की आखो मे धूल झोकता है।"

नन्द ने सस्मित आश्चर्य भरे स्वर मे कहा – "महामात्य ! आपने इस छलछद्म को सर्वसाधारण पर प्रकट कर एक बहुत बडी भ्रान्ति का निराकरण कर दिया।"

तदनन्तर गगातट पर एकत्रित समस्त जनसमूह अपने-अपने निवास-स्थान को लौट गया। वररुचि अपने इस छलप्रपच के प्रकट हो जाने से इतना अधिक लज्जित हुआ कि वह कई दिनों तक अपने निवास-स्थान से बाहर तक नही निकला। अपने इस सार्वजनिक अपमान का कारण महामात्य शकटार को मानकर वररुचि अहर्निश इसका प्रतिशोध लेने हेतु शकटार के दास-दासी के माध्यम से शकटार के किसी छिद्र को ढूंढने के प्रयास मे रहने लगा। एक दिन वररुचि को शकटार की एक दासी से यह सूचना मिली कि अपने पुत्र श्रीयक के विवाह के अवसर पर महामात्य शकटार महाराज नन्द को अपने निवास-स्थान पर भोजनार्थ निमन्त्रित करने वाले है। उस समय महाराज नन्द को भेट करने हेतु सुन्दरतम एव बहुमूल्य छत्र-चवरादि समस्त राज्यचिन्ह और आधुनिकतम विशिष्ट प्रकार के सहारक शस्त्रास्त्र मन्त्रीश्वर द्वारा निर्मित करवाये जा रहे है।

वररुचि का शकटार के विरुद्ध षड्यन्त्र

शकटार से प्रतिशोध लेने हेतु वररुचि ने उपर्युक्त सूचना को अपने भावी षड्यन्त्र की उपयुक्त पृष्ठभूमि समझ कर निम्नलिखित श्लोक की रचना की –

न वेत्ति राजा यदसौ शकटाल करिष्यति।
व्यापाद्य नन्द तद्राज्ये, श्रीयक स्थापयिष्यति ॥

अर्थात् – महामन्त्री शकटार जो कुछ करना चाहता है, उसे महाराज नन्द नही जानते। नन्द को मार कर शकटार अपने पुत्र श्रीयक को एक दिन मगध के राज्यसिहासन पर बैठा देगा।

अभीष्ट कार्यसाधक श्लोक अनायास ही वन पडा है, यह देख कर उसे कार्यनिष्पत्ति का विश्वास हुआ। उसने पौगण्डावस्था के वहुत से बालको को मिष्टान्नादि दे एकत्रित किया, उन्हे यह श्लोक कण्ठस्थ करवा कर और अधिक प्रलोभन देते हुए कहा कि वे लोग इस श्लोक को गलियो, वाजारो, चौहटो, क्रीडास्थलो एव उद्यानो आदि मे वारम्वार उच्च स्वर से वोले।

वररुचि का तीर ठीक निशाने पर लगा। पाटलिपुत्र के सभी सार्वजनिक स्थानो पर उस रहस्यपूर्ण श्लोक की ध्वनि गुंजरित होने लगी। चरो के माध्यम

मुखमुद्रा से प्रतीत हो रहा है कि तुमने उस धूर्त की धूर्तता का पूरा रहस्य जान लिया है। तुम्हारे हाथ मे वही स्वर्ण-मुद्राओ से भरी थैली है ? अब और कोई थैली उस यत्र मे नही है ?"

"मन्त्रीश्वर का अनुमान शतप्रतिशत ठीक निकला। यह है वह १०८ स्वर्णमुद्राओ से भरी थैली, जो वररुचि को कल प्रात काल गगामाता के हाथ से नही अपितु मगध के महाप्रतापी महामात्य के हाथ से ही प्राप्त हो सकेगी। मैने समीचीन रूप से देख लिया है कि अब उस यन्त्र मे और कोई थैली नही है।"

उस थैली को अपने आसन के पास रखने का सकेत करते हुए शकटार ने "बहुत सुन्दर" इन दो शब्दो से अपने अधिकारी का उत्साह बढाने के पश्चात् कहा – "सौम्य अब तुम विश्राम करो। अपने चरो को नियुक्त कर उस स्थान पर कडी दृष्टि रखना।"

महामात्य को अभिवादन करने के पश्चात् गुप्तचर विभाग का अधिकारी वहा से चला गया।

रहस्योद्घाटन

दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही विशाल जनसमूह गगा के तट पर एकत्रित हो गया। यथासमय मगधेश्वर महाराज नन्द अपने महामात्य एव अन्य अधिकारियो के साथ गगातट पर पहुंचे। वररुचि ने गगा मे स्नान करने के पश्चात् उच्च एव मधुर स्वर मे गगा की स्तुति करना प्रारम्भ किया। स्तुतिपाठ के अनन्तर वररुचि ने प्रतिदिन की भाति यन्त्र पर पैर रखकर दबाया। सहसा गंगा की धारा मे से एक हाथ ऊपर उठा पर वह हाथ पूर्णत रिक्त था। उसमे स्वर्णमुद्राओ से भरी थैली नही थी। वररुचि ने गंगा मे डुबकी लगाकर पानी मे उस स्वर्णमुद्रापूर्ण थैली को इधर-उधर बहुत ढूंढा पर उसका सारा प्रयास व्यर्थ गया। अन्ततोगत्वा वह आकस्मिक अनभ्रवज्रपात से प्रताडित की तरह अधोमुख किये हुए चुपचाप खडा हो गया।

वररुचि के पास पहुंच कर महामात्य शकटार ने घनगम्भीर स्वर मे उसे सम्बोधित करते हुए कहा – "वररुचे ! क्या यह गगा नदी तुम्हारे द्वारा धरोहर के रूप में इसके पास रखा हुआ द्रव्य भी तुम्हे नही लौटा रही है, जिससे कि तुम बार-बार उस द्रव्य को खोज रहे हो ? शोक न करो ब्रह्मन् ! महाराज नन्द के राज्य मे कोई भी व्यक्ति अपने स्वत्व से वचित नही किया जा सकता। यह लो तुम्हारी वह १०८ स्वर्णमुद्राओ से पूरित थैली जिसे तुमने रात्रि के समय गगा के पास धरोहर (अमानत) के रूप में रखा था।"

यह कहते हुए महामात्य शकटार ने स्वर्णमुद्राओ से भरी थैली वररुचि के हाथ पर रख दी। वररुचि ने अनुभव किया कि विगत कतिपय दिनो से जो विशाल जनसमूह उसे गंगामाता का परमप्रीतिपात्र समझकर सम्मान की दृष्टि से देखता आ रहा था वह अब उसे महाधूर्ताधिराज समझकर घृणा और

जिस समय मे नन्द के समक्ष प्रणाम करते हुए अपना सिर भुकाऊ उस ही समय तुम बिना किसी प्रकार का सोच-विचार किये अपनी तलवार से मेरा शिर काट कर धड से पृथक् कर देना और राजा के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति प्रकट करते हुए कहना, "स्वामिद्रोही चाहे पिता ही क्यो न हो, उसका तत्काल बध कर डालना चाहिये। केवल इस उपाय से ही हमारे परिवार की रक्षा हो सकती है अन्यथा सर्वनाश समुपस्थित है ।"

श्रीयक ने आसू बहाते हुए प्रकम्पित स्वर मे कहा – "तात ! जिस जघन्य कृत्य को करने के लिये आप आदेश दे रहे है वैसा कुकृत्य तो सभवतः कोई चाण्डाल भी नही करेगा ।"

शकटार ने श्रीयक को सान्त्वना देते हुए कहा – "आसन्नसकट की घडियो मे इस प्रकार के विचार मन मे ला कर तो तुम शत्रुओ के मनोरथो की पूर्त्ति मे सहायता ही करोगे । राजा को प्रणाम करते समय मै अपने मुख मे कालकूट विष रख लूँगा । ऐसी दशा मे मेरा शिर काटने से तुम्हे पितृहत्या का दोष भी नही लगेगा । काल के समान विकराल राजा नन्द हमारे समस्त परिवार को मौत के घाट उतारे, उससे पहले ही तुम अपने वश को विनाश से बचाने हेतु मेरा शिर काट डालो । तुम अब मेरी चिन्ता न करो, मै तो अब जराजीर्ण होने के कारण कुछ ही समय मे मृत्यु के मुख मे जाने वाला था । बेटा ! चलो, मेरी आज्ञा का पालन कर अपने वश की रक्षा करो ।"

श्रीयक को साथ लिये शकटार राजभवन मे नन्द के समक्ष उपस्थित हुआ और उसे प्रणाम करने के लिये उसने शिर भुकाया । श्रीयक ने तत्काल खड्ग के प्रहार से शकटार का शिर काट डाला । यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना वीर निर्वाण स० १४६ मे घटित हुई ।

नन्द ने हडबडा कर आश्चर्य भरे स्वर मे कहा – "बेटा श्रीयक ! तुमने यह क्या कर डाला ?"

श्रीयक ने अति गम्भीर मुद्रा मे कहा – "स्वामिन् ! जब आपको यह विदित हो गया कि महामात्य स्वामिद्रोही है तो उस दशा मे मैने इनको मार कर सेवक के योग्य ही कार्य किया है । प्रत्येक सेवक का यह कर्त्तव्य है कि यदि स्वय उसको किसी के द्वारा स्वामिद्रोह किये जाने की बात विदित हो तो उस पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करे किन्तु यदि उसके स्वामी को स्वय को ही ज्ञात हो जाय कि अमुक व्यक्ति स्वामीद्रोही है, तो उस दशा मे सेवक का यह कर्त्तव्य नही कि वह विचार करे अपितु उसका तो उस दशा मे यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि तत्काल उस स्वामिद्रोही के अस्तित्व को ही मिटा दे ।"

नन्द अवाक् हो श्रीयक की ओर देखता ही रह गया । उसने पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ अपने स्वर्गस्थ महामात्य का अन्तिम सस्कार सम्पन्न करवाया ।

से जन-जन में प्रसृत वह श्लोक राजा नन्द के पास पहुंचा। नन्द चौक पडा। उसने मन ही मन शकटार के व्यक्तित्व के साथ अपने व्यक्तित्व की तुलना की। उसे अनुभव हुआ कि शकटार वस्तुतः सारे साम्राज्य पर छाया हुआ है। शकटार का प्रभाव, प्रताप, वर्चस्व और सभी कुछ अपनी तुलना मे नन्द को विराट, सर्वतोमुखी एवं सर्वव्यापी प्रतीत होने लगा। उसने सोचा सामूहिक स्वरों मे प्रकट हुई बात निश्चित रूप से सत्य ही होगी। इसके अतिरिक्त श्लोक द्वारा इगित कार्य शकटार के लिये दुस्साध्य नही। नन्द की विचारधारा ने नया मोड़ लिया। शकटार द्वारा अतीत में राजा और राज्य दोनों के हित मे किये गये स्वामिभक्ति के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यो का विहगमावलोकन करते हुए नन्द को दृढ विश्वास हो गया कि शकटार किसी भी दशा मे उस प्रकार का घृणित कार्य नही कर सकता।

"प्रत्येक परिस्थिति मे वस्तुस्थिति से अवगत हो जाना तो सर्वथा हितप्रद है" इस विचार के अन्तर्मन में उद्भूत होते ही नन्द ने अपने एक विश्वासपात्र व्यक्ति को महामात्य के निवासस्थान पर किये जा रहे कार्यो का विस्तृत विवरण प्राप्त करने हेतु आदेश दिया। नन्द की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह व्यक्ति तत्काल महामात्य शकटार के निवासस्थान पर पहुचा। उस समय सयोगवश महाराज नन्द को भेंट करने हेतु छत्र, चॅवर, खड्ग व नवाविष्कृत शस्त्रास्त्र भण्डार मे रखवाये जा रहे थे। नन्द के विश्वासपात्र व्यक्ति ने तत्काल नन्द के पास लौट कर जो कुछ उसने अपनी आखो से देखा था वह सारा विवरण नन्द के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। नन्द को उक्त श्लोक में किये गये इगित पर कुछ विश्वास हुआ। पर नन्द बडा चतुर नीतिज्ञ था। "कभी-कभी आखों से देखी हुई बात भी असत्य सिद्ध हो सकती है" इस नीतिवाक्य को उसने अपने आचरण मे ढाल रखा था। उसने सहसा कोई साहसपूर्ण कार्य करना उचित नही समझा। राजसेवा में महामात्य के समुपस्थित होने का नियत समय सन्निकट आ रहा था। नन्द उस समय की प्रतीक्षा मे अपने सिहासन पर बैठा रहा।

निश्चित समय पर महामात्य शकटार नन्द की सेवा मे उपस्थित हुआ और उसने राजा को प्रणाम किया। बहुत प्रयास करने पर भी नन्द अपने क्रोध को छुपा नही सका और उसने वक्र एवं क्रुद्ध दृष्टि से शकटार की ओर देखते हुए अपना मुख शकटार की ओर से दूसरी ओर मोड लिया।

प्राण देकर भी परिवार-रक्षा

नन्द की तनी हुई भौहों और वक्रदृष्टि को देख कर शकटार समझ गया कि उसके विरुद्ध किया गया कोई भीषण गुप्त षड्यन्त्र सफल हो चुका है। तत्काल अपने घर लौट कर शकटार ने श्रीयक से कहा – "वत्स ! महाराज नन्द को किसी षड्यन्त्रकारी ने विश्वास दिला दिया है कि अब मै उनके प्रति स्वामिभक्त नही रहा हूं। ऐसी स्थिति में किसी भी समय हमारे समस्त परिवार का सर्वनाश हो सकता है अत अपने कुल की रक्षार्थ मै तुम्हे आदेश देता हूं कि

इस प्रकार के विचारमन्थन ने स्थूलभद्र को सासारिक वैभवो, प्रपचो और बन्धनो से विरक्त बना दिया। वस्तुस्थिति के इस वास्तविक वोध ने स्थूलभद्र के जीवन की दशा ही बदल डाली। उन्होने मन ही मन विचार किया – "महामात्य का पद निस्सदेह बडा उच्च पद है पर वह भी अन्ततोगत्वा है तो भृत्यकर्म, दासत्व और पारतन्त्र्य ही। पराधीन व्यक्ति स्वप्न तक मे सुख की अनुभूति नही कर सकता। राजा, राज्य और राष्ट्र की चिन्ताओ से पूर्णरूपेण आच्छादित एक भृत्य के चित्त मे स्वय के सुख-दु ख के लिये सोचने का कोई अवकाश ही नही रह जाता। राजा और राज्य के हित मे अपनी बौद्धिक एव शारीरिक शक्ति का निश्शेष व्यय करने के पश्चात् भी भृत्य के लिये प्रत्येक पद पर सर्वस्वापहरण और प्राणापहार तक का भय सदा बना रहता है। उस समस्त शक्तिव्यय का प्रतिफल शून्य के तुल्य है। कहा भी है –

मुद्रेय खलु पारवश्य जननी सौख्यच्छिदे देहिना,
नित्य कर्कशकर्मवन्धनकरी, धर्मान्तरायावहा।
राजार्थैकपरैव सप्रति पुन स्वार्थप्रजार्थापहृत्,
तद्ब्रूम. किमत पर मतिमता, लोकद्वयापायकृत्॥

अर्थात् – यह राजमुद्रा परवशता उत्पन्न करने वाली और मनुष्यो के सुख का विनाश करने वाली है। सदा कठोर कर्मबन्ध की कारण और धर्मसाधन मे विघ्न रूप है। एक मात्र राजा के हित को ही दृष्टि मे रखने वाली यह (प्रधानामात्य की) प्रभुता स्वय के तथा प्रजा के हित का हरण करने वाली है। वस्तुत इहलोक और परलोक – दोनो ही लोको को बिगाडने वाली इससे (प्रधानामान्य की मुद्रा अथवा सत्ता से) बढकर ससार मे और कौनसी वस्तु हो सकती है?

ऐसी दशा मे बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह केवल राजा के हित मे अपनी शक्ति का अपव्यय न कर आत्मकल्याण के लिये शक्ति का सद्-व्यय करे।

इस प्रकार विचार करते-करते स्थूलभद्र शीघ्र ही एक निर्णय पर पहुँच गये। उन्होने ससार के सम्पूर्ण प्रपचो का परित्याग कर आत्मकल्याण करने का दृढ निश्चय कर लिया। उन्होने तत्क्षण पचमुष्टि-लुचन कर अपने रत्नकबल की फलियो का ओघा (रजोहरण) बनाकर साधु वेष धारण कर लिया। तदनन्तर वे साधु वेष मे ही महाराज नन्द के सम्मुख राज्यसभा मे उपस्थित हो बोले – "राजन्! मैने बहुत सोच-विचार के पश्चात् यह निर्णय किया है कि मुझे भवप्रपच वढाने वाला महामात्यासन नही अपितु अपरोपतापी वैराग्यसाधक दर्भासन चाहिए। मै राग का नही किन्तु त्याग का उपासक बनना चाहता हूँ।

यह कहकर आर्य स्थूलभद्र ने राज्यप्रासादो से वाहर की ओर प्रस्थान कर दिया। महाराज नन्द सहित समस्त राज्यपरिषद स्थूलभद्र द्वारा किये गये इस अप्रत्याशित निर्णय से स्तब्ध रह गई।

मृतक की औध्वदैहिक क्रियाओं की समाप्ति के अनन्तर नन्द ने श्रीयक से मगध-राज्य के महामात्य पद को स्वीकार करने की अभ्यर्थना की।

श्रीयक ने विनम्र स्वर मे कहा – "मगधेश्वर ! मेरे ज्येष्ठ भ्राता स्थूलभद्र मेरे पिता के समान ही योग्य है। अत आप महामात्य का पद उन्हे ही प्रदान करे। मेरे पितुश्री के निस्सीम स्नेह के प्रसाद से वे विगत बारह वर्षों से कोशा वेश्या के निवासस्थान पर ही रहते आ रहे है।"

महामात्य पद

महाराज नन्द ने तत्काल अपने उच्चाधिकारियो को आदेश दिया कि वे पूर्ण सम्मान के साथ स्थूलभद्र से निवेदन करे कि मगधाधिराज उनसे मिलने के लिये बड़े उत्सुक है।

पर्याप्त प्रतीक्षा के पश्चात् प्रोन्नतभाल, व्यूढोरष्क, वृषस्कन्ध, प्रलम्बबाहु, सुगौरवर्ण अत्यन्त सम्मोहक व्यक्तित्व वाले एक तेजस्वी युवक ने धीर-मन्थर गति से मगधपति के राजभवन मे प्रवेश कर महाराज नन्द को प्रणाम करते हुए कहा – "मगधराज्य के स्वर्गीय महामात्य श्री शकटार का पुत्र स्थूलभद्र मगध के महामहिम सम्राट् महाराज नन्द को सादर प्रणाम करता है।"

नन्द ने अपने समीपस्थ आसन पर बैठने का सकेत करते हुए स्थूलभद्र से कहा – "सौम्य स्थूलभद्र ! अपने पिता के स्वर्गगमन के कारण रिक्त हुए मगध के महामात्य पद को अब तुम स्वीकार करो।"

"महाराज मै सोच-विचार के पश्चात् ही इस सम्बन्ध मे निवेदन कर सकता हू।" स्थूलभद्र ने यह छोटा-सा उत्तर दिया।

नन्द ने कहा – "स्थूलभद्र ! राजभवन के अशोकोद्यान मे बैठकर तुम यही विचार करलो और शीघ्र मुझे उत्तर दो।"

"यथाज्ञापयति देव !" कह कर स्थूलभद्र ने महाराज नन्द को प्रणाम किया और वे अशोकोद्यान मे एक वृक्ष के नीचे बैठकर अपने सम्मुख उपस्थित प्रश्न पर विचार करने लगे। यों तो स्थूलभद्र कोशा वेश्या के यहां रहकर शारीरिक वासनापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे पर उनका विवेकशील अन्तर्मन वस्तुत. पूर्णरूपेण जागरूक था। जिन परिस्थितियो मे उनके पिता मगध के महामात्य शकटार की मृत्यु हुई, उन सब पर विचार करने के पश्चात् स्थूलभद्र के मन मे एक विचित्र प्रकार का विचारमन्थन प्रारम्भ हो चुका था। स्थूलभद्र ने सोचा – "जिस राजसत्ता और राज-वैभव ने मेरे देवतुल्य पिता को अकारण ही अकालमृत्यु के गाल मे ढकेल दिया, उस प्रभुत्व एवं सत्तासम्पन्न महामात्य पद को पाकर वस्तुत' मै सुखी नही हो सकता। मेरी भी एक न एक दिन वैसी ही दुर्गति हो सकती है। ऐसी सशयास्पद स्थिति मे मेरे लिये यही श्रेयस्कर है कि मै इस प्रकार की सम्पदा और सत्ता का वरण करू जो सदा के लिये मुझे सुखी बना कर मेरी चिरसगिनी बनी रहे।"

वररुचि के मद्यपी होने की सूचना प्राप्त होते ही महाराज नन्द बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने उसके मद्यपी होने अथवा न होने का निर्णय करने के लिये परीक्षा करना आवश्यक समझा। एक दिन जब वररुचि राज्य सभा मे आये तो उन्हे मदनफल के चूर्ण से युक्त कमल पुष्प सूघने हेतु दिया गया। उसके सूघते ही वररुचि को वमन हुआ और चन्द्रहास सुरा की तीव्र गन्ध राज्य सभा मे तत्काल व्याप्त हो गई।

फलतः वररुचि का राजा, राजसभा, समाज और प्रजाजनो द्वारा बडा तिरस्कार हुआ एव वह बड़ी दुर्लक्ष्यपूर्ण स्थिति मे अकाल मे ही काल का कवल बन गया।

अपने पिता की हत्या करवाने वाले वररुचि की मृत्यु के पश्चात् श्रीयक कतिपय वर्षो तक बडी कुशलता के साथ मगध साम्राज्य के महामात्य पद के कार्यभार का निर्वहन करता रहा किन्तु उसके अन्तर में केवल राजनयिक प्रपचो के प्रति ही नही अपितु समस्त सासारिक कार्यकलापो के प्रति विरक्ति के बीज अकुरित हो शनै शनै पल्लवित एव पुष्पित होने लगे।

आर्य स्थूलभद्र द्वारा अतिदुष्कर अभिग्रह

उधर अहर्निश अपने आराध्य गुरुदेव के सान्निध्य मे रहते हुए सुतीक्ष्ण बुद्धि स्थूलभद्र मुनि ने अनवरत परिश्रम करते हुए सम्पूर्ण एकादशागी पर आधिकारिक रूप से निष्णातता प्राप्त कर ली।

वर्षाकाल समुपस्थित होने पर आचार्य सम्भूतविजय के सम्मुख उपस्थित होकर उनके तीन शिष्यो ने घोर अभिग्रहो को धारण करने की इच्छा प्रकट करते हुए क्रमशः प्रार्थना की। प्रथम शिष्य ने साजलि शीश झुका कर कहा – "प्रभो! मै निरन्तर चार मास तक उपवास के साथ सिह की गुफा के द्वार पर ध्यानमग्न रहना चाहता हू।" दूसरे शिष्य ने निवेदन किया – "भगवन्! मै चार मास तक निर्जल एवं निराहार रहते हुए दृष्टिविष सर्प की बाबी के पास खडे रह कर कायोत्सर्ग करना चाहता हू।"

तीसरे शिष्य ने कहा – "आराध्य गुरुवर! यह आपका अकिचन शिष्य कूए के माडके पर अपना आसन जमा कर उपवास पूर्वक निरन्तर चार मास तक ध्यानमग्न रहने की आपसे आज्ञा चाहता है।"

आचार्य सम्भूतविजय ने अपने उन तीनो शिष्यो को उनके द्वारा अभिग्रहीत दुष्कर कार्यो के निष्पादन के योग्य समझ कर उन्हे उनकी इच्छानुसार दुष्कर तपस्या करने की अनुमति प्रदान कर दी।

उस ही समय आर्य स्थूलभद्र मुनि ने अपने गुरु के चरणो मे मस्तक झुकाते हुए हाथ जोड कर प्रार्थना की – "करुणासिन्धो! आपका यह अनन्य सेवक कोशा वेश्या के भवन की, कामोद्दीपक अनेक आकर्षक चित्रो से मण्डित चित्रशाला मे षड्रस व्यंजनो का आहार करते हुए चार मास तक रह कर समस्त विकारो से दूर रहने की साधना करना चाहता है।"

कही आर्य स्थूलभद्र पुनः कोशा वेश्या के गृह की ओर तो नही लौट रहे है इस आशका से राजा नन्द अपने प्रासाद के गवाक्ष से राजपथ पर जाते हुए आर्य स्थूलभद्र की ओर देखने लगे। जब महाराज नन्द ने देखा कि आर्य स्थूलभद्र नगर की घनी बस्ती वाले मुहल्लो से मुख मोड़कर सुनसान श्मशानो और निर्जन एकान्त स्थलो को भी पार करते जा रहे है तो नन्द का मस्तक सहसा श्रद्धा से झुक गया। उसने पश्चात्तापपूर्ण स्वर मे कहा—"मुझे खेद है कि मैने ऐसे महान् त्यागी महात्मा के लिये भी अपने मन में कुविचार को स्थान दिया।"

स्थूलभद्र की दीक्षा और वररुचि का मरण

स्थूलभद्र ने भव्य भवन, सुर सुन्दरी-सी कोशा और नव्य-भव्य भोगों का तत्क्षण उसी प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार कि सर्प कंचुकी को छोड़ता है। वे तन, धन, परिजन का मोह छोडकर पूर्ण वैराग्यभाव से नगर के बाहर विराजमान् आचार्य संभूतविजय के पास पहुँचे और सविनय वन्दन के पश्चात् उनकी चरणशरण ग्रहण कर वीर नि० सं० १४६ में उन्होने श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली।

समस्त श्रमणचर्या का निर्दोषरूप से पालन करने के साथ-साथ, सविनय गुरुपरिचर्या, दीक्षावृद्ध श्रमणों की सेवा-सुश्रूषा एवं तपश्चरण द्वारा अपने कर्मेन्धन को भस्मसात् करते हुए मुनि स्थूलभद्र अपने गुरू आचार्य सम्भूतविजयजी के पास वडी तन्मयता से शास्त्रो का अध्ययन करने लगे।

आर्य स्थूलभद्र के चले जाने के अनन्तर महाराज नन्द ने श्रीयक को मगध का महामात्य बनाया। कुशल राजनीतिज्ञ श्रीयक ने अपने पिता शकटार की तरह बडी निपुणता के साथ राज्य का संचालन करते हुए मगध की श्री मे अभि-वृद्धि करना प्रारम्भ किया। महाराज नन्द अपने स्वर्गीय महामात्य शकटार के समान ही अपने युवा महामात्य श्रीयक का समादर करते थे। महामन्त्री शकटार की मृत्यु के पश्चात् वररुचि भी नित्यप्रति नियमित रूप से महाराज नन्द की सेवा मे उपस्थित होने लगा। वह पुनः राजा और प्रजा का शनैः शनैः सम्मान-पात्र बन गया।

श्रीयक समय निकालकर अपने ज्येष्ठ सहोदर स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के कारण दुखित कोशा वेश्या को सान्त्वना देने हेतु उसके घर पर जाते रहते थे। श्रीयक को देखकर अपने प्राणाधिक प्रिय स्थूलभद्र के विरह-जन्य दु:ख से विह्वल हो कोशा फूट-फूटकर रोने लगती। अपने सहोदर के प्रति कोशा का निस्सीम प्रेम देखकर श्रीयक के मन मे कोशा के प्रति आदर एव आत्मीयता के भाव दिन-प्रतिदिन बढते ही गये।

शकडाल की मृत्यु के पश्चात् वररुचि निर्भय होकर रहने लगा। राज्य द्वारा प्राप्त सम्मान के मद में मदान्ध हो वररुचि पथभ्रष्ट एवं वेश्यागामी बन गया। अहर्निश उपकोशा के ससर्ग मे रहते-रहते वह शीघ्र ही मद्यपायी बन गया।

स्वर मे कहा – "मेरे जीवनधन ! आपकी विरहाग्नि मे विदग्धप्राया आपकी इस कामवल्लरी को अपनी मधुर मुस्कान के अमृत से पुनरुज्जीवित कीजिये ।"

मुनि स्थूलभद्र पूर्णत निर्विकार और मौन रहे ।

अपनी कारुण्यपूर्ण कामाभ्यर्थना का आर्य स्थूलभद्र पर कोई प्रभाव न होते देख कर कोशा के अन्तर मे प्रसुप्त नारीत्व का अह पूर्ण रूपेण जागृत हो उठा । उसने त्रियाचरित्र के समस्त अध्यायो को खोलते हुए आर्य स्थूलभद्र पर क्रमश अपने अमोघ कटाक्ष-बाणो, विविध हावभावो के सम्मोहनास्त्रो और हृदय को हठात् आवद्ध करने वाले करुणक्रन्दन, मूर्छा, प्रलाप, विविध व्याज आदि नागपाशो का, पुन पुन प्रयोग करना प्रारम्भ किया । पर जिस प्रकार वज्र पर किया गया नखो का प्रहार नितान्त निरर्थक और निष्प्रभाव होता है, ठीक उसी प्रकार एकान्तत· आत्मनिष्ठ महामुनि स्थूलभद्र पर कोशा द्वारा किये गये समस्त कामोद्दीपक कटाक्ष-प्रहार पूर्णरूपेण व्यर्थ ही गये । ज्यो-ज्यो स्थूलभद्र को साधनापथ से विचलित करने के अभिप्राय से कोशा द्वारा कामोत्तेजक प्रहारो मे क्रमश तीव्रता लाई गई त्यो-त्यो मुनि स्थूलभद्र के ध्यान की एकाग्रता उत्तरोत्तर बढती ही गई । कोशा ने निरन्तर बारह वर्ष तक अपने साथ स्थूलभद्र द्वारा पूर्व मे की गई कामकेलियो का स्थूलभद्र को स्मरण दिलाते हुए उस ही प्रकार की कामकेलिया पुन करने के लिये बारम्बार असीम प्रेम के साथ आमन्त्रित किया, उत्तेजित किया पर सब व्यर्थ । कोशा प्रतिदिन मुनि स्थूलभद्र को पड्रसमय अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन कराती और उन्हे विषय सुखो के उपभोग के लिये आमन्त्रित करती हुई नित्यप्रति नवीनतम उपायो का आश्रय ले उन्हे अपनी ओर आकर्षित करने का अहर्निश प्रयास करती रहती किन्तु स्थूलभद्र मुनि किंचित्मात्र भी विचलित हुए बिना निरन्तर इन्द्रियदमन करते हुए साधनापथ पर उत्तरोत्तर आगे की ओर बढते रहे । अन्ततोगत्वा चातुर्मास का अवसान होते-होते कोशा ने अपनी हार स्वीकार करते हुए हताश हो मुनि स्थूलभद्र को अपनी ओर आकर्षित करने के सभी प्रयास समाप्त कर दिये । महायोगी स्थूलभद्र का इन्द्रियदमन मे अदृष्टपूर्व अलौकिक सामर्थ्य देख कर कोशा स्थूलभद्र के समक्ष अपना मस्तक झुकाते हुए पश्चात्ताप भरे स्वर मे कहने लगी – "क्षमासागर महामुने ! मेरे सब अपराध क्षमा कर दीजिये । मुझ मूर्खा को अनेकश धिक्कार है कि मैने अज्ञानवश पहले की तरह आपको विषयोपभोगो की ओर आकर्षित करने का विफल प्रयास किया । कज्जलगिरि की गुफा मे रह कर कोई अपने आपको कालिमा से नही बचा सकता पर आपने इस असभव कार्य को सम्भव कर बताया है । असाध्य को सिद्ध करने वाले योगिराज ! आपको सहस्रश नमस्कार है ।"

मुनि स्थूलभद्र के उपदेश से कोशा ने धर्म मे अपनी प्रगाढ श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए मुनि स्थूलभद्र से श्राविका-धर्म अगीकार किया और वह पूर्ण विशुद्ध मनोभावो के साथ उनकी सेवा करने लगी ।

आचार्य सम्भूतविजय ने अपने विशिष्ट ज्ञानोपयोग से क्षण भर विचार कर आर्य स्थूलभद्र को उस कठोर साधना में समुत्तीर्ण होने के योग्य समझा और उन्हे कोशा वेश्या की चित्रशाला मे चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा प्रदान कर दी।

आचार्य सम्भूतविजय की आज्ञा प्राप्त कर चारों शिष्य अपने-अपने अभीष्ट स्थान की ओर प्रस्थित हुए। प्रथम तीनो शिष्य अपने-अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुच कर ध्यानमग्न हो गये। उनके तपोपूत शान्त आत्मतेज के प्रभाव से सिह, सर्प और कूए का माण्डका ये तीनों ही क्रमश उन तीनों मुनियों के समक्ष शान्त एव निरापद हो गये। उन तीनों मुनियो ने पृथक्-पृथक् उन तीन स्थानों पर चार मास के लिये अशन-पानादि का परित्याग कर ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया।

आर्य स्थूलभद्र भी कोशा वेश्या के भव्य भवन के प्रागण में पहुचे। चिरप्रोषित अपने जीवनधन को देखते ही कोषा हर्षोत्फुल्ल हो हाथ जोड़े शीघ्रतापूर्वक मुनि स्थूलभद्र के सम्मुख उपस्थित हुई। उसने मन ही मन सोचा कि जन्मजात सुकुमार स्थूलभद्र सयम के दुर्वह विपुल भार से अभिभूत होकर सदा-सर्वदा उसके पास रहने के लिये ही आये है। सस्मित सुमधुर स्वर मे कोशा ने कहा – "स्वामिन् आपकी जन्म-जन्म की यह दासी आपका स्वागत करती है। अपने अभीष्ट की अभिनिष्पत्ति हेतु आज्ञा प्रदान कर इसे कृतार्थ कीजिये। जीवनधन ! यह तन, मन, धन, जीवन और सर्वस्व आपके चरणो पर समर्पित है।"

मुनि स्थूलभद्र ने कहा – "श्राविके ! चार मास तक तुम्हारी चित्रशाला मे निवास करने की स्वीकृति दो।"

"स्वामिन् ! चित्रशाला प्रस्तुत है, इसमे विराजिये और सेविका को कृतार्थ कीजिये।" हर्ष से पुलकितागी कोशा ने कहा।

अपने आत्मबल पर पूर्णरूपेण आश्वस्त आर्य स्थूलभद्र ने रती की रगस्थली के समान सहज ही कामोद्दीपिनी उस चित्रशाला मे प्रवेश कर वहां अपना आसन जमाया। मधुकरी के समय कोशा ने मुनि स्थूलभद्र को स्वादुतम षड्रस भोजन करवाया। आहार आदि से मुनि के निवृत्त हो जाने के उपरान्त सोलह शृगारों से विशिष्ट रूपेण सुसज्जित कोशा ने चित्रशाला के समस्त वायुमण्डल को अनेक प्रकार की सुगन्धियो से मादक और अपने नूपुरों की झकार से चित्रशाला को मुखरित करते हुए मुनि स्थूलभद्र के समक्ष उपस्थित हो उन्हें प्रणाम किया। अलौकिक रूपसुधा के उद्वेलित सागर के समान उस कोशा की मुखमुद्रा से उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कोई अनुपम सुन्दरी सुरवाला अपने अप्रतिम सौन्दर्य से त्रिभुवन पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराने के लिये कृतसंकल्प हो। उस अतिकमनीय कान्तारत्न कोशा ने कतिपय वीणाओ के कसे हुए पतील तारों की लययुक्त अति कोमल एव कर्णप्रिय युगपद् झकार के समान अति सम्मोहक

शिष्य ने हठपूर्वक उत्तर दिया – "गुरुदेव ! यह कार्य मेरे लिये दुष्कर-दुष्कर नही अपितु सहज सुकर है। मै इस अभिग्रह को अवश्यमेव धारण करू गा।"

घोर गर्त मे जानबूझ कर गिरने के इच्छुक अपने शिष्य की दयनीय दशा पर दया से द्रवित हो आचार्य सम्भूतविजय ने उसे समझाते हुए शान्त और मधुर स्वर मे कहा – "वत्स ! ऐसा दुस्साहस न करो। अपनी इस अविचारकारिता के कारण तुम अपने पूर्वोपार्जित तप-सयम को भी खो बैठोगे। अपनी शक्ति से अधिक भार को अपने सिर पर उठाने पर प्रत्येक व्यक्ति के अगभग का भय रहता है। कहा भी है :–

"देखा-देखी साधे जोग, छीजे काया बाढे रोग"

ईर्ष्या से अभिभूत उस मुनि को अपने गुरु के हितकर वचन किंचित्मात्र भी रुचिकर नही लगे। वह गुरुआज्ञा की अवहेलना कर कोशा वेश्या के भवन की ओर प्रस्थित हुआ। अपने प्रागण मे उस मुनि को आया हुआ देख कर कोशा तत्काल समझ गई कि आर्य स्थूलभद्र के साथ प्रतिस्पर्धा की भावना से प्रेरित हो यह मुनि यहा चातुर्मास व्यतीत करने आया है। यह कही भवसागर के भवर मे फस कर अनन्तकाल तक भववीचियो की भयावह थपेडो के असह्य कष्ट का भागी न हो जाय इस आशका को ध्यान मे रखते हुए उसकी रक्षा का उपाय करना आवश्यक है।

यह विचार कर कोशा उस मुनि के समक्ष उपस्थित हुई और उसने मुनि को प्रणाम करते हुए पूछा – "महामुने ! आज्ञा दीजिये, मै आपके किस अभीष्ट का निष्पादन करू ?"

"भद्रे ! मै आर्य स्थूलभद्र की तरह तुम्हारी चित्रशाला मे चातुर्मास व्यतीत करना चाहता हू, अत तुम मुझे अपनी चित्रशाला रहने के लिये दो।"

कोशा द्वारा मुनि को प्रतिबोध

कोशा ने मुनि को चित्रशाला मे रहने की अनुमति देकर षड्रस भोजन कराया। मध्याह्नवेला मे मुनि की परीक्षा हेतु कोशा ने अति मनोरम एव आकर्षक वेषभूषा से अपने आपको सुसज्जित कर चित्रशाला मे प्रवेश किया। कोशा को एक भी कटाक्षनिक्षेप की आवश्यकता नही पडी क्योकि आकर्षक वस्त्राभूषणो से अलकृत उस रूपराशि को देखते ही मुनि कामविह्वल हो अभ्यस्त याचक की तरह उससे अभ्यर्थना करने लगे। षड्रस भोजन के पश्चात् सुन्दर नारी के दर्शनमात्र से कामान्ध हो उस मुनि ने भर्तृहरि की निम्नलिखित उक्ति को तत्काल चरितार्थ कर दिखाया –

विश्वामित्र परासर प्रभृतयो वाताम्बुपर्णासना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपकजं सुललित दृष्ट्वैव मोहगता।
शाल्यन्न सघृतं पयोदधियुत भुजन्ति ये मानवा-
स्तेषामिद्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेच्छागरम् ॥

चातुर्मास की समाप्ति पर सिहगुहा, दृष्टिविष-विषधर-वल्मीक और कूप-माण्डक पर चातुर्मास करने वाले तीनों मुनि निरतिचार रूपेण अपने-अपने अभिग्रहों का पालन करने के पश्चात् आचार्य सम्भूतविजय की सेवा मे उपस्थित हुए। क्रमशः उन तीनों मुनियो के आगमन पर आचार्य सम्भूतविजय ने अपने आसन से कुछ ऊपर उठ कर उन घोर तपस्वियों का स्वागत करते हुए कहा – "दुष्कर साधना करने वाले तपस्वियो ! तुम्हारा स्वागत है।"

कोशा वेश्या के घर से आते हुए दैदीप्यमान शुभ्र ललाट वाले अपने शिष्य स्थूलभद्र को देख कर आचार्य सभूतविजय सहसा अपने आसन से उठ खड़े हुए और उन्होने मुनि स्थूलभद्र का स्वागत करते हुए कहा – "दुष्कर से भी अतिदुष्कर कार्य को करने वाले साधकशिरोमणे ! तुम्हारा स्वागत है।"

स्थूलभद्र ने आभार प्रदर्शित करते हुए विनयावनत हो कहा – "गुरुदेव ! यह सब आपका ही प्रताप है। मेरी क्या शक्ति है ?" मुनि स्थूलभद्र को गुरू द्वारा अपने से अधिक सम्मानित हुआ देख उन तीनों साधुओ के मन में ईर्ष्या अंकुरित हो उठी। वे तीनो मुनि आर्य स्थूलभद्र के प्रति अपने ईर्ष्या के भाव अभिव्यक्त करते हुए परस्पर वात करने लगे – "आर्य स्थूलभद्र मन्त्रिपुत्र है, इस ही कारण गुरुदेव ने उनके साथ पक्षपात करते हुए उन्हें "दुष्करदुष्करकारिन्" के सम्बोधन से सर्वाधिक सम्मान दिया है। भव्य भवन में रह कर षड्रस भोजन करते हुए भी यदि "दुष्करदुष्करकारी" की उपाधि प्राप्त की जा सकती है तो आगामी चातुर्मास मे हम लोग भी अवश्यमेव यह सुकर कार्य कर "दुष्करदुष्करकारी" की दुर्लभ उपाधि प्राप्त करेगे।"

तदनंतर आचार्य सम्भूतविजय ने अपने शिष्यसमूह सहित अन्यत्र विहार कर दिया। आठ मास तक अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए उन्होने अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। इस प्रकार पुन चातुर्मास का समय आ समुपस्थित हुआ।

स्थूलभद्र से होड़

सिह की गुफा के द्वार पर विगत चातुर्मास व्यतीत करने वाले मुनि ने आचार्यप्रवर के सम्मुख उपस्थित हो सविधि वन्दन के पश्चात् उनकी सेवा मे प्रार्थना की – "गुरुदेव ! मै यह चातुर्मास कोशा वेश्या की चित्रशाला में रह कर षड्रस भोजन करते हुए व्यतीत करना चाहता हू। कृपा कर मुझे इसके लिये आज्ञा प्रदान कीजिये।"

आचार्य सम्भूतविजय से यह छुपा न रह सका कि वह मुनि आर्य स्थूलभद्र के प्रति मात्सर्यवश उस प्रकार का अभिग्रह धारण कर रहा है। अपने विशिष्ट ज्ञान से उपयोग लगाने के पश्चात् आचार्यश्री ने कहा – "वत्स ! तुम इस प्रकार के अतिदुष्करदुष्कर अभिग्रह को धारण करने का विचार त्याग दो, इस प्रकार के अभिग्रह को धारण करने मे सुमेरु के समान अचल और दृढ़ मनोबल वाला स्थूलभद्र मुनि ही समर्थ है।"

रत्नकम्बल माग कर लाया है और उसे वेश्या को देने के लिये ले जा रहा है। चोरराट् ने साश्चर्य एक अट्टहास किया और मुनि को अपनी अभीष्टसिद्धयर्थ जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

रत्नकम्बल लिये वह मुनि कोशा वेश्या के सम्मुख उपस्थित हुआ और ललचाई हुई आखो से अपनी आन्तरिक अभिलाषा अभिव्यक्त करते हुए उसने कठोर परिश्रम से प्राप्त वह रत्नकम्बल कोशा के हाथो मे रख दिया। कोशा ने उस रत्नकम्बल से अपने पैरो को पोछ कर उसे गन्दी नाली के कीचड मे फैक दिया।

अथक प्रयास और अनेक कष्टो को झेलने के पश्चात् लाये गये उस रत्नकम्बल की इस प्रकार की दुर्दशा देखकर मुनि ने अति खिन्न एव आश्चर्यपूर्ण स्वर मे कहा – "मीनाक्षि! इतने महार्घ्य रत्नकम्बल को तुमने इस अशुचिपूर्ण कीचड मे फैक दिया, तुम बडी मूर्खा हो।"

कोशा ने तत्क्षण उत्तर दिया – "तपस्विन्! आप एक महामूढ व्यक्ति की तरह इस कम्बल की तो चिन्ता कर रहे है पर आपको इस बात का स्वल्पमात्र भी शोक नही है कि आप अपने चारित्र-रत्न को अत्यन्त अशुचिपूर्ण पकिल गहन गर्त मे गिरा रहे है।"

कोशा की बोधप्रद कटूक्ति को सुनते ही मुनि के मन पर छाया हुआ काम-सम्मोह तत्क्षण विनष्ट हो गया। उन्हे अपने पतन पर बडा पश्चात्ताप हुआ। उन्होने अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण स्वर मे कोशा से कहा – "श्राविके! तुमने मुझे समुचित शिक्षा देकर भवसागर मे निमज्जित होने से बचा लिया है। गुरुआज्ञा की अवहेलना कर मैने जो यह पापाचरण किया है, उसकी शुद्धि हेतु मै अभी गुरुदेव की शरण मे जाकर कठोर प्रायश्चित्त ग्रहण करूगा।"

यह कहकर मुनि तत्काल कोशा के घर से निकलकर आचार्य सम्भूतविजय की सेवा मे उपस्थित हुए और उन्होने अपने पतन का सच्चा विवरण उनके समक्ष प्रस्तुत करते हुए क्षमायाचना के साथ-साथ समुचित प्रायश्चित्त ग्रहण कर अपनी शुद्धि की।

उन्होने मुक्तकण्ठ से मुनि स्थूलभद्र की प्रशसा करते हुए कहा – "आर्य स्थूलभद्र वस्तुत महान् है। सच्चे कामविजयी होने के कारण वे ही 'दुष्कर-दुष्करकारक" की सर्वोत्कृष्ट महती उपाधि से विभूषित किये जाने योग्य है।"

तदनन्तर वे मुनि निर्मल भाव से कठोर तपश्चरण और निरतिचार सयम साधना से अपने कर्मसमूह को विध्वस्त करने मे प्रवृत्त हो गये।

श्रीयक को विरक्ति

शकडाल पुत्र स्थूलभद्र की तरह शकडाल की यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूत-दिन्ना, सेणा, वेणा और रेणा नामक सातो पुत्रियो ने भी अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् ससार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण कर ली थी। वररुचि को भी उसके

मुनि को विषय-वासनाओ के घोर अन्धकूप में गिरने से बचाने हेतु कोशा ने कहा – "महात्मन् ! साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस बात को भलीभाति समझता है कि हम वारागनाए केवल द्रव्य की ही दासियां है ।"

"भद्रे ! मुझ जैसे व्यक्ति से द्रव्य की आशा करना बालू से तेल निकालने जैसी दुराशा मात्र है । सुमुखि ! तुम मेरी दयनीय दशा पर दया कर मेरी मनोकामना पूर्ण करो ।" स्मरार्त मुनि ने याचनाभरे करुण स्वर मे अभ्यर्थना की।

चतुर कोशा ने दृढता भरे स्वर में कहा – "महात्मन् ! मुनि भले ही अपना नियम तोड़ दे पर वेश्या अपने परम्परागत नियमो का उल्लघन नही कर सकती । आप अपनी मनोकामना पूर्ण करना ही चाहते है तो आपको एक उपाय मै बता सकती हू । वह यह है कि नेपाल देश के क्षितिपाल नवागत साधुओ को रत्नकम्बलों का दान करते है । आप वहा जाइये और रत्नकम्बल ले आइये ।"

विषयान्ध व्यक्ति को औचित्यानौचित्य का कोई ध्यान नही रहता । वह अपनी वासनापूर्त्ति के लिये नही करने योग्य कार्य को भी करने में नही हिच-किचाता । वह मुनि रत्नकम्बल की प्राप्ति के लिये तत्काल नेपाल की ओर चल पडे । उन्होने कामान्ध होने के कारण यह तक नही सोचा कि चातुर्मास के समय मे विहार करना श्रमणकल्प के प्रतिकूल है । विषयोपभोग के अनन्तर और भी प्रचण्ड वेग से भड़कने वाली और कभी न बुझने वाली कामाग्नि को शान्त करने की अभिलाषा लिये वह मुनि हिसक पशुओं से व्याप्त सघन वनो और दुर्लध्य गगन-चुम्बी पर्वतो को पार करते हुए नेपाल प्रदेश मे पहुचे । वहा के राजा से उन्हे रत्नकम्बल की प्राप्ति हुई । रत्नकम्बल को मुनि ने बास के एक आकर्णान्त डडे मे छुपा कर रख लिया और वे प्रसन्न मुद्रा मे पुन. पाटलिपुत्र नगर की ओर लौट पडे । कोशा के आवास में पहुचते ही उनकी इच्छापूर्त्ति हो जायगी, इस मधुर आशा को अपने अन्तर मे छुपाये वे बिना विश्राम किये द्रुततर गति से मजिलो पर मजिलें पार करते हुए एक विकट अटवी के मध्यभाग मे पहुचे । वहा चोरो के शकुनी तोते ने कहा – "एक लाख रौप्यक के मूल्य का माल आ रहा है ।"

चोरों के अधिपति ने वृक्ष पर चढ़े अपने एक चोर साथी से पूछा – "सावधानी से देखो, कौन आ रहा है ?"

वृक्ष पर चढे चोर ने कहा – "एक साधु आ रहा है ।" उस मुनि के समीप आने पर चोरों ने उसे पकडा पर उसके पास किसी प्रकार का द्रव्य न पा कर उन्होने उसे जाने की अनुमति दे दी । मुनि के पथ पर अग्रसर होते ही उस शकुनी ने पुनः कहा – "एक लाख रुपयो के मूल्य का माल जा रहा है ।"

चोरों के नायक ने उस मुनि से कहा कि वह सच-सच बता दे, वस्तुतः उसके पास क्या है ?

मुनि ने बास के दीर्घ दण्ड में छुपाये हुए रत्नकम्बल की ओर इंगित करते हुए कहा कि वह एक वेश्या को प्रसन्न करने के लिये नेपाल के महाराजा से एक

पर कोशा को किंचित्मात्र भी आश्चर्य नही हुआ। वह रथिक के गर्व को चूर्ण करने की इच्छा से यह कहते हुए उठी – "अब तुम मेरी कला का चमत्कार देखो।" कोशा ने अपनी दासियो को कह कर उस विशाल कक्ष के प्रागरण के बीचोबीच सरसो का एक ढेर लगवाया। गुलाब के फूल की कतिपय पखुडियो को सुई से वेध कर कोशा ने उस सर्षपराशि पर डाल दिया। तदनन्तर कोशा ने सर्षपराशि पर नृत्य प्रारम्भ किया। अपनी सधी हुई सुकोमल देहयष्टि को यथेप्सित रूप से झुकाती, झुमाती हुई वह भूरे बादलो पर चपला की अनवरत चमक की तरह सर्षपराशि पर एक घटिका पर्यन्त नृत्य करती रही। अत्यद्भुत, परम मनोहारि होने के साथ-साथ कोशा के नृत्य- कौशल की सबसे बडी विशेषता यह थी कि इतने लम्बे समय के नृत्य से भी न कही से वह सर्षपराशि खण्डित हुई और न सूई ही उसके पैर मे कही चुभी।

कोशा के नृत्य की समाप्ति पर भी रथिक चित्रलिखित सा अवाक् कोशा की ओर देखता ही रह गया। कतिपय क्षरगो के पश्चात् थोडा प्रकृतिस्थ होने पर रथिक ने कोशा को सम्बोधित करते हुए कहा – "भद्रे! किसी भी मानवी द्वारा दुस्साध्य तुम्हारे इस चमत्कारपूर्ण अत्यद्भुत, अतिसुन्दर नृत्य को देख कर मुझे अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है। तुम जो कुछ मागना चाहती हो वह मुझसे माग लो, मै इसी समय तुम्हारी वह अभिप्सित वस्तु तुम्हे दूगा।"

कोशा ने कहा – "भद्र! न तुम्हारा यह लुम्बिछेदन ही दुष्कर है और न मेरा सर्षप-सूची पर नृत्य ही। निरन्तर अभ्यास करने पर इनसे भी अत्यधिक कठिन कार्य किये जा सकते है। वस्तुत दुष्करातिदुष्कर कार्य तो आर्य स्थूलभद्र ने किया है कि बारह वर्षो तक मेरे साथ यहा विविध कामोपभोगो का उपभोग करते रहे किन्तु दीक्षित होने के पश्चात् चार मास तक षड्रस भोजन करते हुए मेरे साथ इस चित्रशाला मे सयमपूर्वक रह कर उन्होने अजेय कामदेव पर विजय प्राप्त की। उन कामविजयी महान् योगी स्थूलभद्र के चरित्र से प्रेरणा लेकर मैने भी श्राविका-व्रत अगीकार किया है। ससार का प्रत्येक पुरुष अब मेरे लिये सहोदर के समान है।"

कोशा की बात सुन कर रथिक निषण्ण रह गया। कोशा से मुनि स्थूलभद्र का परिचय प्राप्त कर वह ससार से विरक्त हो गया और उनके पास दीक्षित हो श्रमणाचार का पालन करने लगा। आर्य स्थूलभद्र के इस प्रेरणाप्रद चरित्र ने न मालूम ऐसे कितने ही पतनोन्मुख प्राणियो का उद्धार किया होगा।

पाटलीपुत्र मे हुई प्रथम आगम-वाचना
(वीर नि० स० १६०)

आचार्य सम्भूतविजय के स्वर्गगमन से पूर्व मध्य देश मे अनावृष्टिजन्य जो भीषण दुष्काल पडा था, उसकी विभीषिका से बचने के लिये बहुत से श्रमण दुष्काल से प्रभावित क्षेत्र का परित्याग कर सुदूरवर्ती क्षेत्रो की ओर चले गये।

दुष्कर्म के अनुरूप प्रतप्त शीशा पीकर मरना पडा। उसे उसके पाप का फल मिल चुका था। कर्म-रज्जु के निविड़तम पाश में आवद्ध प्राणियो की मदारी के मर्कट के समान विचित्र लीलाए देखकर श्रीयक को भी ससार के प्रपंचों से विरक्ति हो गई और उसने भी लगभग ७ वर्ष तक मगध के महामात्य पद का कार्यभार सम्भालने के पश्चात् अन्ततोगत्वा वीर नि० स० १५३ में आचार्य सभूतविजय के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण करली। तत्कालीन सस्कृति में त्याग, तप की ओर इतना आकर्षण था कि महामात्य पद और लक्ष्मीदेवी को छोड़कर शकडाल के दोनों पुत्र और सातों कन्याए दीक्षित हो गई। कितना वडा त्यागानुराग !

आचार्य सभूतविजय और आचार्य भद्रबाहु के सम्मिलित आचार्य काल में भी एक सुदीर्घकाल का भीषण दुष्काल पड़ा। उस भीषण दुष्काल की भयावह स्थिति के समय आचार्य सभूतविजय का वीर निर्वाण संवत् १५६ में स्वर्गवास हुआ। अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता आचार्य संभूतविजय के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य भद्रबाहु ने सघ के सचालन की वागडोर पूर्णरूपेण अपने हाथ मे सम्भाली। आर्य स्थूलभद्र आचार्य भद्रबाहु की आज्ञानुसार विविध क्षेत्रो मे धर्म-प्रसार करते हुए विचरण करने लगे।

उन्ही दिनो मगधपति नन्द ने अपने एक सारथी के रथसंचालन-कौशल पर प्रसन्न हो उसे पारितोषिक के रूप मे कोशा-वेश्या प्रदान कर दी। अपने अन्तर्मन से अभिग्रहीत श्राविकाव्रत पर संकटपूर्ण स्थिति आई समझकर कोशा ने वडी चतुराई से काम लिया। वह एक विरागिन की भाति हास-परिहास, शृंगारालंकारादि प्रसाधनो का परित्याग कर सादे वेष में उदास मुखमुद्रा बनाये उस सारथी के समक्ष उपस्थित होती और प्रत्येक बार आर्य स्थूलभद्र की प्रशसा करते हुए कहती – "इस ससार में वस्तुतः यदि कोई पुरुष है, तो वह आर्य स्थूलभद्र ही है। उनके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई पुरुष दृष्टिगोचर नही होता।"

अद्भुत् कला-कौशल

अपने प्रति विरक्ता कोषा को आकर्षित करने की दृष्टि से उस रथिक ने अपनी धनुर्विद्या का अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया। उसने अपने धनुष की प्रत्यचा पर सर-संधान कर पके हुए आमों के गुच्छे मे एक तीर मारा। तदनन्तर अति त्वरित् वेग से हस्तलाघव प्रकट करते हुए उसने तीर पर तीर मारना प्रारम्भ किया। कुछ ही क्षणो मे तीरों की एक लम्बी पक्ति वन गई और उस वाणावली का अन्तिम छोर उस रथिक से एक हाथ की दूरी पर रह गया। अव उसने एक अर्द्धचन्द्राकार वाण के प्रहार से उस टहनी को काट डाला, जिस पर कि वह आमों का झुमका लटक रहा था। इसके पश्चात् उसने उस तीरो की पक्ति के अन्तिम तीर को अपने हाथ से पकड कर अपनी ओर खीचते हुए आमो के उस गुच्छे को अपने एक हाथ से पकडकर कोशा को भेट किया। रथिक अपने शस्त्र-कौशल पर फूला नही समा रहा था।

द्वादशागी के अनुक्रम से एक-एक अग की समीचीनरूपेण वाचना मे श्रमणो के पारस्परिक आत्यन्तिक सहयोग से विस्मृत पाठो को यथातथ्यरूपेण सकलित कर लिया गया। कतिपय मासो के अनवरत एव अथक प्रयास से सम्पूर्ण एकादशागी की वाचना सपन्न हुई। सब साधुओ ने अपने विस्मृत पाठो को उन साधुओ से सुन-सुन कर कण्ठस्थ किया जिनको कि वे कण्ठस्थ थे। इस प्रकार श्रमणसघ की दूरदर्शिता और परस्पर सहयोग एव आदान-प्रदान की वृत्ति ने एकादशागी को विनष्ट होने से बचा लिया। दुष्काल के दुस्सह ताप से शुष्क श्रुतसागर पुनः श्रमणसघ के मानस मे अपनी पूर्ववत् अथाह ज्ञान-जलराशि और उत्ताल तरगो के साथ कल्लोलित हो उठा।

एक विकट समस्या

एकादशागी की वाचना के समीचीनतया सम्पूर्ण होते ही श्रमणसघ के समक्ष श्रुत की रक्षा के विषय मे एक विकट समस्या उपस्थित हो गई। वह यह कि उपस्थित श्रमणों मे दृष्टिवाद का ज्ञाता एक भी श्रमण विद्यमान नही था। श्रमणसघ के प्रत्येक साधु को पूछा गया कि क्या उनमे कोई चतुर्दश पूर्वधर है ? पर सव का उत्तर नकारात्मक था। इस पर श्रमणसघ को वडी चिन्ता हुई कि बिना दृष्टिवाद के भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित प्रवचनो के सार को किस प्रकार धारण किया जा सकता है ?[१] गम्भीर मन्त्रणा के पश्चात् श्रमणसघ को आशा की एक किरण दृष्टिगोचर हुई। सघ के समक्ष कतिपय श्रमणो ने यह वात रखी कि समस्त श्रमणसघ मे केवल आचार्य भद्रवाहु ही चतुर्दशपूर्वधर है। वे इस समय नेपाल मे महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे है। केवल वे ही चतुदर्श पूर्वो की सम्पूर्ण वाचनाए श्रमणो को दे कर दृष्टिवाद को नष्ट होने से बचा सकते है। सघ के समक्ष यह विचार भी रखा गया कि इस प्रकार की उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना मे निरत आचार्य भद्रबाहु श्रमणो को पूर्वो की वाचना देना स्वीकार न करे तो उस दशा मे क्या उपाय किया जाय।

अन्ततोगत्वा श्रमणसघ द्वारा यही निश्चय किया गया कि श्रमणो के एक विशाल सघाटक को भद्रवाहु के पास नेपाल भेज कर सघ की ओर से प्रार्थना की जाय कि वे साधुओ को चतुर्दश पूर्वो की वाचनाए दे कर श्रुतसागर की रक्षा करे। श्रमणसघ के इस निर्णय के अनुसार स्थविरो के तत्वावधान मे श्रमणो का एक बडा सघाटक पाटलीपुत्र से नेपाल की ओर प्रस्थित हुआ। श्रुतरक्षा की पावन एव अमिट अभिलाषा लिये हुए उग्र विहार करता हुआ वह श्रमणो का सघाटक कुछ ही दिनो मे आचार्य भद्रबाहु की सेवा मे नेपाल पहुचा। सविधि वदन के पश्चात् उस सघाटक के मुखिया स्थविरो ने उस समय के सर्वसत्तासम्पन्न आचार्य भद्रबाहु की सेवा मे सघ की ओर से निवेदन किया – "केवली तुल्य भगवन् ! पाटलीपुत्र मे एकत्रित श्रमणसघ ने एकादशागी वाचना के अनन्तर

---

[१] ते विंति सव्व सारस्स दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारो।
कह पुव्वगएण विणा, पवयणसार धरेहामो ॥१५॥ [तित्थोगालियपइण्णा (अप्रकाशित)]

आचार्य भद्रबाहु स्वामो भी कुछ श्रमणों के साथ नेपाल की ओर विहार कर गये। दुष्कालजन्य अन्नाभाव के कारण अनेक आत्मार्थी मुनियो ने संयम विराधना के भय से अनशन एव समाधिपूर्वक भक्त-प्रत्याख्यान द्वारा देहत्याग कर अपना जीवन सफल किया।[1] उन्होने अपवाद की स्थिति मे भी अपने सयम मे शैथिल्य नही आने दिया।

दुर्भिक्ष की समाप्ति और सुभिक्ष हो जाने पर विभिन्न क्षेत्रो मे गये हुए श्रमण-श्रमणी-समूह पुन. पाटलीपुत्र लौटे। भीषण दुष्काल के दुस्सह परीषहो के भुक्तभोगी वे सब श्रमण परस्पर एक-दूसरे को देख कर ऐसा अनुभव करने लगे मानो वे परलोक मे जा कर पुन लौटे हो।[2] सुदीर्घकाल की भूख-प्यास और पग-पग पर अनुभूत विविध मारणान्तिक सकटो के कारण श्रुत का परावर्तन न हो सकने के फलस्वरूप बहुत सा श्रुत विस्मृत हो गया। वे एक-दूसरे से पूछने लगे कि किस-किस को कितना-कितना श्रुत याद है ?[3] जब सभी श्रमणो ने देखा कि दीर्घकाल के दैवो प्रकोप के कारण श्रमण वर्ग समय पर एकादशागी के पाठो का स्मरण,चिन्तन, मनन, पुनरावर्तन आदि नही कर सका है, जिसके परिणामस्वरूप सूत्रो के अनेक पाठ अधिकाश श्रमणो के स्मृतिपटल से तिरोहित हो चुके है। तब अंग शास्त्रो की रक्षा हेतु उन्होने यह आवश्यक समझा कि वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एकादशागी के पारगामी स्थविर एक जगह एकत्रित हो समस्त अगों की वाचना करे और द्वादशागी को क्षीण एव विनष्ट होने से बचाये।

इस प्रकार के निश्चय के पश्चात् आगमो की पहली वृहद्वाचना पाटलीपुत्र मे लगभग वीर निर्वाण संवत् १६० मे की गई। वहा उपस्थित समस्त श्रमण उस वाचना में सम्मिलित हुए। श्रमण-संघ के आचार्य भद्रबाहु उस समय नेपाल प्रदेश मे महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ करने गये हुए थे अत स्वर्गस्थ आचार्य सम्भूतविजय के शिष्य आर्य स्थूलभद्र के तत्वावधान मे यह वाचना हुई।

---

[1] केहिं वि विराहणा-भीरुएहिं अइभीरुएहिं कम्माण।
समणेहि सकिलिट्ठ, पच्चक्खायाइ भत्ताइ ॥६॥ [तित्थोगालियपइण्णा]

[2] (क) ते दाइ एक्कमेक्क, गयसेसा विरस दट्ठूण।
परलोगगमणपच्चागय व मण्णति अप्पाण ॥१२॥ [तित्थोगालिय प०]

(ख) जाओ अ तम्मि समए दुक्कालो दोय दस य वरिसाणि।
सव्वो साहुसमूहो गओ तओ जलहितीरेसु ॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
सघेण सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेति ॥
ज जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणमाइ सघडिउ।
त सव्व एक्कारय अगाइ तहेव ठवियाइ ॥ [उपदेशपद, हरिभद्रसूरिकृत]

[3] ते विति एक्कमिक्क, सब्भाओ कस्स कित्तिओ धरति।
हति दुट्ठुकालेण, अम्ह नट्ठो हु सब्भावो ॥१३॥
[तित्थोगालियपइन्ना (अप्रकाशित)]

आचार्य भद्रबाहु ने निर्णयात्मक स्वर मे कहा – "एक शर्त पर मै वाचना देने को तैयार हू। वह यह है कि जिस समय मै महाप्राण ध्यान द्वारा आत्म-साधना मे लगा रहू उस समय मै किसी से बात नही करूगा और न उस समय और कोई मुझसे बात करे। ध्यान के पारण के पश्चात् मै साधुओ को पूर्वो की प्रतिदिन ७ वाचनाए दूगा। एक वाचना गोचरी से लौटने के पश्चात्, तीन वाचनाए तीनो कालवेलाओ मे और तीन वाचनाए सायकाल के प्रतिक्रमण के पश्चात् दूगा। इस प्रकार "मेरे ध्यान मे भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होगी और सघ के आदेश की पूर्ति भी हो जायगी।"[१]

श्रमण-सघाटक के मुखियो ने भद्रबाहु की इस शर्त को स्वीकार कर लिया और आर्य स्थूलभद्र आदि ५०० मेधावी श्रमणो को आचार्य भद्रबाहु ने अपनी प्रतिज्ञानुसार पूर्वो की वाचना देना प्रारम्भ किया। विषय की जटिलता, दुरूहता अथवा यथेप्सित वाचनाए न मिलने के कारण शनै शनै ४९९ पूर्व-ज्ञान के शिक्षार्थी-श्रमण हताश हो पढना बन्द कर वहा से पाटलिपुत्र लौट गये पर आर्य स्थूलभद्र धैर्य, लगन एव बडे परिश्रम के साथ निरन्तर आचार्य भद्रबाहु के पास पूर्वो का अध्ययन करते रहे। इस प्रकार अपने द्वादशवार्षिक महाप्राण ध्यान के अवशिष्ट काल मे आचार्य भद्रबाहु ने ध्यान की साधना के साथ-साथ आर्य स्थूलभद्र को निरन्तर आठ वर्ष तक वाचनाए दी और उस आठ वर्ष की अवधि मे आर्य स्थूलभद्र आठ पूर्वो के ज्ञाता बन गये। आर्य स्थूलभद्र के धैर्य और ज्ञान-पिपासा आदि गुणो से प्रसन्न हो कर आचार्य भद्रबाहु ने एक दिन उनसे कहा— "वत्स! अब मेरे ध्यान की समाप्ति का समय सन्निकट आ पहुचा है। ध्यान के समाप्त हो जाने पर मै तुम्हे यथेप्सित वाचनाए देता रहूँगा।"

गुरुचरणो मे मस्तक झुकाते हुए स्थूलभद्र ने पूछा – "भगवन्! अब मुझे और कितना अध्ययन करना अवशिष्ट है?"

आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर मे कहा – "सौम्य! सिन्धु की अगाध जलराशि मे से एक बूद के तुल्य तुम्हारा अध्ययन सम्पन्न हुआ है। एक बिन्दु के अतिरिक्त अभी सिन्धु सम ज्ञान का अध्ययन अवशिष्ट है।"

---

[१] "तम्मि य काले बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो। सजता इतो-इतो य समुद्दतीरे गच्छित्ता पुणरवि 'पाडलिपुत्ते' मिलिता। तेसि अण्णस्स उद्देसो, अण्णस्स खड, एव सघाडितेहि एक्कारस अगाणि सघातिताणि दिट्ठिवादो नत्थि। 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दबाहुसामी अच्छति चोद्दसपुव्वी, तेसि सघेण पत्थवितो सघाडओ 'दिट्ठिवाद' वाइहि त्ति। गतो, निवेदित सघकज्ज। त ते भणति-दुक्कालनिमित्त महापाण न पविट्ठो मि तो न जाति वायण दातु। पडिनियत्तेहि सघस्स अक्खात। तेहिं अण्णो वि सघाडओ विसज्जितो, जो सघस्स आण अतिक्कमति तस्स को दडो? तो अक्खाई-उग्घाडिज्जइ। ते भणति मा उग्घाडेह, पेसह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि।"

[आवश्यकचूर्णि, भा० २, पृ० १०७]

आपकी सेवा में प्रार्थना के रूप में यह सदेश भेजा है कि आज श्रमणसघ मे आपके अतिरिक्त चतुर्दश पूर्वो का ज्ञाता और कोई अन्य श्रमण अवशिष्ट नही रहा है अत. श्रुतरक्षा हेतु आप योग्य श्रमणो को चौदह पूर्वो का ज्ञान प्रदान करे ।"

आवश्यक चूर्णि और धर्मसागरकृत तपागच्छ पट्टावली के अनुसार पाटलिपुत्र से एक साधुओ का संघाटक भद्रबाहु को लाने के लिये नैपाल भेजा गया। महाप्राण ध्यान मे संलग्न होने के कारण भद्रबाहु द्वारा सघाज्ञा के अस्वीकार किये जाने पर सघ ने दूसरा सघाटक भेजा। उस संघाटक ने भद्रबाहु से पूछा – सघ की आज्ञा न मानने वालों के लिये किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है ? भद्रबाहु ने कहा – "बहिष्कार। पर मैं महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ कर चुका हूँ, सघ मेरे ऊपर अनुग्रह करे और सुयोग्य शिक्षार्थी श्रमणो को यहा भेज दे। मै उन्हे प्रतिदिन ७ वाचनाएं देता रहूंगा।" तदनन्तर सघ ने स्थूलभद्र आदि ५०० श्रमणो को भद्रबाहु के पास पूर्वज्ञान के अभ्यासार्थ भेजा, इस प्रकार का उल्लेख उपरोक्त ग्रन्थों मे किया गया है।

पर तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार एक ही बार भेजे गए सघाटक द्वारा ही उपरिलिखित पूरी बातचीत व व्यवस्था की गई। सभव है सघाटक द्वारा भद्रबाहु की ओर से स्वीकृति सूचक उत्तर पाने पर ही पाटलीपुत्र से साधु-समुदाय को नैपाल भेजा गया हो। तित्थोगाली का उल्लेख इस प्रकार है :–

आगत श्रमणो से श्रमणसंघ का संदेश सुन कर आचार्य भद्रबाहु ने कहा – "पूर्वो के पाठ अति क्लिष्ट है, उनकी वाचना देने के लिये पर्याप्त समय की अपेक्षा है। परन्तु मेरे जीवन का सध्याकाल समुपस्थित हो जाने के फलस्वरूप पर्याप्त समयाभाव के कारण मै श्रमणो को पूर्वो की वाचनाएं देने मे असमर्थ हू। मेरी अब थोडी ही आयु अवशिष्ट है. मै आत्मकल्याण मे व्यस्त हू, ऐसी दशा में इन वाचनाओ के देने से मेरा कौन सा आत्म-प्रयोजन सिद्ध होगा ?"

संघ की विनति को आचार्य भद्रबाहु द्वारा इस प्रकार ठुकराये जाने पर संघ की ओर से नियुक्त श्रमणो ने कुछ आवेशपूर्ण स्वर मे भद्रबाहु से कहा "आचार्यप्रवर ! हमे बड़े दु ख के साथ आपसे यह पूछने को बाध्य होना पड़ रहा है कि सघाज्ञा के न मानने के परिणामस्वरूप क्या दण्ड प्राप्त होता है ?"[1]

आचार्य भद्रबाहु ने गम्भीरतापूर्ण स्वर मे उत्तर दिया – "वीरशासन के नियमानुसार इस प्रकार का उत्तर देने वाला साधु श्रुतनिन्हव समझा जाकर संघ से बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिये।"

इस पर साधु – सघाटक के मुखियों ने कहा – "आप सघ के सर्वोच्च नायक है। ऐसी दशा मे बारह प्रकार के सभोगविच्छेद के नियम को जानते हुए भी आप पूर्वो की वाचना देना अस्वीकार किस प्रकार कर रहे है ?"

---

[1] सो भणति एव भणिए अविसन्नो वीरवयणनियमेण ।
वज्जेयव्वो सुयनिण्हवो त्ति,······॥२५॥ [तित्थोगालियपइन्ना]

तुम्हारा बडा भाई ही बैठा हुआ है। जिसे तुम सिह समझ रही हो वह सिह नही तुम्हारा भाई ही था।"

यक्षा आदि साध्वियां जब चैत्य मे लौटी तो वहा सिह के स्थान पर अपने भाई को देख कर वे बडी प्रसन्न हुई। वन्दन-नमन के पश्चात् उन्होने उत्सुकता भरे स्वर मे पूछा – "ज्येष्ठार्य ! अभी कुछ ही क्षणो पहले तो आपके स्थान पर सिह बैठा हुआ था, वह सिह कहा गया ?"

आर्य स्थूलभद्र ने हँसते हुए कहा – "यहा कोई सिह नही था, वह तो मैने अपनी विद्या का परीक्षण किया था।"

अपने अग्रज को अद्भुत विद्याओ का आगार समझ कर यक्षा आदि सातो साध्वियो ने असीम आनन्द का अनुभव किया।

तदनन्तर साध्वी यक्षा ने अपने अनुज मुनि श्रीयक को एकाशन और तत्पश्चात् उपवास करने की प्रेरणा देने व उपवास के फलस्वरूप परम सुकुमार श्रीयक के दिवगत होने की दुखद घटना मुनि स्थूलभद्र को सुनाई।

मुनि श्रीयक का उपवास मे मरण होने के कारण साध्वी यक्षा को बडा दु ख हुआ। कहा जाता है कि यक्षा ने मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिये अपने आपको दोषी मानते हुए उग्र तपस्या करना प्रारम्भ किया। अनेक पूर्वाचार्यो ने यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि यक्षा की कठोर तपस्या से चिन्तित हो सघ ने शासनदेवी की साधना की। दैवी सहायता से साध्वी यक्षा महाविदेह क्षेत्र मे श्री सीमधर स्वामी की सेवा मे पहुँची। श्री सीमधर प्रभु ने साध्वी यक्षा को निर्दोष बताते हुए उसे चार अध्ययन चूलिका रूप मे प्रदान किये।

आचार्य भद्रबाहु के समय मे साध्वी समुदाय का नेतृत्व किस आर्या द्वारा किया जाता रहा, इसका तो कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता पर परम विदुषी साध्विया यक्षा आदि आर्य स्थूलभद्र की ७ वहिनो के नाम प्रमुख रूप से आते है।[१] इससे यह अनुमान होना सहज है कि आर्या यक्षा का तत्कालीन साध्वीसघ मे अवश्य ही कोई विशिष्ट स्थान रहा होगा।

ज्ञानाराधन सम्बन्धी कुछ प्रश्नोत्तरो के पश्चात् वे सातो साध्विया अपने स्थान को लौट गई।

साध्वियो के लौट जाने के पश्चात् वाचना का समय आने पर जब आर्य स्थूलभद्र आचार्यश्री की सेवा मे पहुचे तो आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दो मे कहा – "वत्स ! ज्ञानोपार्जन करना बडा कठिन कार्य है पर वस्तुत उपार्जित किये हुए ज्ञान को पचा जाना उससे भी अति दुष्कर है। तुम गोपनीय विद्या को पचा नही सके। तुम अपने शक्तिप्रदर्शन के लोभ का सवरण नही कर सके।

---

[१] थेरस्स ण अज्ज सभूइविजयस्स माढरगुत्तस्स इमाओ सत्त अतेवासिणीओ अहावच्चाओ, अभिन्नायाओ होत्था त जहा – जक्खा य जक्खदिन्ना" [कल्पसूत्र]

अपने शिष्य के शुभ्र मुखमण्डल पर निराशा की हल्की सी काली छाया देख कर आचार्य भद्रबाहु ने उन्हे आश्वस्त करते हुए कहा – "हताश न हो सौम्य ! मै तुम्हे शेष पूर्वो का अध्ययन बहुत शीघ्र ही करवा दूगा ।"

महाप्राण ध्यान की परिसमाप्ति होते-होते आचार्य भद्रबाहु ने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम दश पूर्वो का ज्ञान करवा दिया। ध्यान के समाप्त होते ही आचार्य भद्रबाहु ने अपने शिष्यसघ सहित नेपाल से पाटलिपुत्र की ओर विहार किया। महान् आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु के शुभागमन का समाचार सुन कर पाटलिपुत्र के नागरिक हर्ष से फूले नही समाये। हजारो नागरिको, सामन्तों और श्रेष्ठियो ने सम्मुख जाकर उस महान् योगी के भावपूर्ण स्वागत एव दर्शन, वन्दन तथा उपदेश श्रवण से अपने आपको कृतकृत्य किया। नगर के बाहर उद्यान में पहुच कर आचार्य भद्रबाहु ने उद्वेलित सागर की तरह उमड़े हुए सुविशाल जनसमूह के समक्ष अध्यात्म ज्ञान से ओत:प्रोत धर्मोपदेश दिया। आचार्यश्री की पातकप्रक्षालिनी जगद्धितकारिणी अमृत-वाणी को सुन कर अनेक भव्यो ने यथाशक्ति सर्वविरति और देशविरति व्रत ग्रहण किये।

आचार्य भद्रबाहु और आर्य स्थूलभद्र आदि महर्षियो के दर्शन हेतु स्थूलभद्र की यक्षा आदि सातों बहने साध्वियां भी नगर के बाहर उस उद्यान में पहुंची। आचार्यश्री को प्रगाढ़ श्रद्धा से वन्दन करने के पश्चात् महासती यक्षा ने हाथ जोड़ कर अति विनीत स्वर मे आचार्यश्री से पूछा – "भगवन् ! हमारे ज्येष्ठ बन्धु आर्य स्थूलभद्र कहा विराजते है ?"

आचार्यश्री ने फरमाया – "आर्य स्थूलभद्र उस ओर के जीर्ण-शीर्ण खण्डहर-प्राय चैत्य में स्वाध्याय कर रहे होंगे।"

आर्या यक्षा आदि सातों बहने अनेक पूर्वो का ज्ञान उपार्जित कर वर्षों पश्चात् आये हुए अपने ज्येष्ठ बन्धु को देखने की तीव्र उत्कण्ठा लिये आचार्यश्री द्वारा इगित खण्डहर की ओर बढ़ी। दूर से ही अपनी बहनो को आती हुई देख कर आर्य स्थूलभद्र के मन मे अपनी बहिनों को अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने का कुतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होंने तत्क्षण विद्या के प्रभाव से घनी और लम्बी केसर युक्त अति विशालकाय सिह का स्वरूप बना लिया। उस जीर्ण चैत्य के अन्दर पहुंच कर साध्वियो ने देखा कि वहा एक भयावह सिह बैठा हुआ है और उनके अग्रज आर्य स्थूलभद्र वहा कही दृष्टिगोचर नही हो रहे है, तो वे तत्क्षण आचार्यश्री के पास लौट कर कहने लगी – "भगवन् वहा तो एक केसरी बैठा हुआ है, आर्य स्थूलभद्र वहा कही दृष्टिगोचर नही हो रहे है। हम इस आशंका से आकुल-व्याकुल हो रही है कि कही उन होनहार विद्वान् श्रमण को सिह ने तो नही खा डाला है ?"

आचार्यश्री ने ज्ञानोपयोग से तत्क्षण वस्तुस्थिति को समझ कर आश्वासन भरे स्वर कहा – "वत्साओ ! लौट कर देखो, अब वहा कोई सिह नही अपितु

हुए इन्होने समस्त सांसारिक वैभव एव सुखोपभोगादि को तुच्छ समझा । इन्हे तत्क्षरण ससार से उत्कट विरक्ति हो गई और तत्काल मगध के महामात्य पद को, अपने घर की तथा कोशा की अपार सम्पत्ति को और अपनी प्रेयसी कोशा तक को युवावस्था मे त्याग कर सयम ग्रहरण कर लिया । गुरू की आज्ञा ले कर चार मास तक षड्रस भोजन करते हुए निरन्तर कोशा के एकान्त ससर्ग मे रह कर भी सयम-मार्ग पर मेरू गिरी की तरह स्थिर रहे । अजेय कामदेव पर इनकी इस महान् विजय के उपलक्ष मे आचार्य सभूतविजय ने इन्हे 'दुष्कर-दुष्करकारक' की उपाधि से विभूषित किया ।[1]

इस प्रकार का महान् त्यागी, उच्चकोटि का मनोविजयी, दश पूर्वो के ज्ञान का धारक यह कुल-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने शक्ति-प्रदर्शन के लोभ का सवरण नही कर सका[2] तो अन्य साधारण लोग तो उन दिव्य विद्याओ, शक्तियो और लब्धियो को प्राप्त कर किस प्रकार पचा सकेगे, इसकी कल्पना ही नही की जा सकती ।

अब भविष्य मे ज्यो-ज्यो काल व्यतीत होता जायगा त्यो-त्यो क्षरण-क्षरण मे रुष्ट हो जाने वाले, अविनीत और गुरू की अवज्ञा करने वाले स्वल्पसत्वधारी श्रमरण होगे । उन मुनियो के पास यदि इस प्रकार की महाशक्तिशालिनी विद्याए चली गई तो वे क्षुद्रबुद्धि वाले श्रमरण साधारण से साधारण बात पर किसी से क्रुद्ध हो कर चार प्रकार की विद्याओ के बल से लोगो का अनिष्ट कर अपने सयम से पतित हो सर्वनाश तक करने पर उतारू हो जायेगे और इस प्रकार के उन दुष्ट कर्मो के फलस्वरूप अनन्त काल तक ससार मे भ्रमरण करते रहेगे ।[3]

ऐसी दशा मे सभी दृष्टियो से श्रेयस्कार यही है कि शेष चार पूर्वो का ज्ञान अब भविष्य मे लोगो को न दिया जाय ।"

इस पर आर्य स्थूलभद्र ने कहा – "आप जो फरमा रहे है, वह ठीक है परन्तु आने वाली पीढिया यही कहेगी कि स्थूलभद्र की भूल के कारण अतिम

---

[1] रायकुलसरिसभूते, सगडालकुलम्मि एस सभूतो ।
गेहगओ चेव पुणो, विसारओ सव्वसत्थेसु ।।८६।।
सो कुलघरस्स सिद्धि, गरिणयावरसतिय च सामिद्धि ।
पाएरण पुणो वेउ, णातिरणगरा अरणवयक्खा ।।८७।। [तित्थोगालियपइन्ना]

[2] जो एव पुव्वविऊ, एव सज्झायझारणउज्जुत्तो ,
गारवकररगेरण हिओ, सीलभरूव्वहरणधाररणया ।।८८।। [वही]

[3] जह जह एही काले, तह तह अप्पावराहसरद्धा ।
अरणगारा पडरगीए, निससयउ वट्टवेहिंति ।।८९।।
उप्पायरगीहिं अवरे, केई विज्जाए इत्तरण ।
उ भिवहविज्जाहिं, इट्ठाहिं काहि उड्डाह ।।९०।।
मतेहिं य चुण्णेहिं य कुच्छियविज्जाहिं तेरा निमित्तेरण ।
काऊरण उवज्झाय, भमिही सो रणतससारे । [वही]

तुमने अपनी बहनो के समक्ष अपनी गुरुता और अपनी विद्या का चमत्कार प्रकट कर ही दिया । ऐसी दशा में तुम अब आगे के पूर्वो की वाचना के योग्य पात्र नही हो । जितना तुमने प्राप्त कर लिया है, उसी मे सन्तोष करो । यह याद रखो, साधना के अति विकट पथ पर विचरण करने वाला केवल वही साधक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल होता है, जो पूर्णरूपेण स्व को विस्मृत कर देता है । प्रदर्शन स्व की विस्मृति नही अपितु स्व की ओर आकर्षण है । साधक को एक क्षण के लिये भी यह नहीं भूलना चाहिये कि आत्मानन्द की अवाप्ति ही उसका एकमात्र ध्येय है । आत्मानन्द की अनुभूति के समक्ष अष्ट सिद्धि, नवनिधि तुल्य उच्च से उच्च कोटि के वैभव का न कभी कोई मूल्य रहा है और न होना ही चाहिए । समस्त भौतिक सम्पदाएं आत्मानन्द की तुलना में नगण्य, तुच्छ और नश्वर है ।"

आचार्य श्री की बात सुन कर आर्य स्थूलभद्र को अपनी भूल पर बडा पश्चात्ताप हुआ । उन्होने गुरुचरणो पर अपना मस्तक रखते हुए अनेक बार क्षमायाचनाए की और बार-बार इस प्रतिज्ञा को दोहरा गये कि वे भविष्य मे इस प्रकार की भूल कभी नही करेगे । किन्तु आचार्य भद्रबाहु ने यह कहते हुए वाचना देने से इन्कार कर दिया कि अन्तिम चार पूर्वो के अनेक दिव्य विद्याओ एव चमत्कारपूर्ण लब्धियो से ओत-प्रोत ज्ञान को धारण करने के लिये वह योग्य पात्र नही है ।

वस्तुस्थिति का बोध होते ही समस्त श्रीसंघ भी आचार्य भद्रवाहु की सेवा मे उपस्थित हुआ और आचार्य श्री से बडी अनुनय-विनय के साथ प्रार्थना करने लगा कि आर्य स्थूलभद्र के अपराध को क्षमा कर के अथवा उसका उचित दण्ड दे कर उन्हे आगे के पूर्वो की वाचनाए दी जाय ।

संघ की प्रार्थना को ध्यानपूर्वक सुनने के पश्चात् आचार्य भद्रबाहु ने कहा – "वस्तुतः पूर्वज्ञान का योग्य पात्र समझ कर मैने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्व का अर्थ और पूर्ण विवेचन सहित ज्ञान दिया है । मै यह भलीभांति जानता हू कि बुद्धिबल, अध्यवसाय, धैर्य, गाम्भीर्य, वैराग्य, त्याग और विनय आदि जो गुण स्थूलभद्र मे है, उस दृष्टि से इनकी तुलना करने वाला अन्य कोई दृष्टिगोचर नही होता । आप लोगों को चिन्तित अथवा दु खित होने की आवश्यकता नही । मै जो आगे के चार पूर्वो की वाचनाएं इन्हे नही दे रहा हूं उसके पीछे एक वहुत बडा कारण है । यह तो सर्वविदित ही है कि आर्य स्थूलभद्र का जन्म महामन्त्री शकडाल के यहा हुआ है । इन्होने कुमारावस्था मे समस्त विद्याओ का अध्ययन कर उनमें निपुणता प्राप्त की । रूप-लावण्यादि स्त्रियोचित सभी गुणो में सुरवाला के समान कोशा के लक्ष्मीगृह तुल्य सभी सामग्रियों से सम्पन्न एव समृद्ध सुरम्य भवन मे रहते हुए इन्होने सुरोपम कामादि सभी सुखो का कोशा के साथ जी भर बारह वर्षो तक उपभोग किया । पितृमरण के पश्चात् मगधाधिपति नन्द द्वारा महामात्य पदग्रहण करने की प्रार्थना पर विचार करते

मित्रं धर्मेण योजयेत्

आचार्य स्थूलभद्र अनेक क्षेत्रो के भव्यो का उद्धार करते हुए विहारानुक्रम से एक दिन श्रावस्ती पधारे । दर्शन-वन्दन-उपदेशश्रवण की उमगो से उद्वेलित जनसमुद्र आचार्यश्री की सेवा में उमड पडा । समस्त ससार के प्राणियो की कल्याणकामना करने वाले आचार्य भद्रबाहु के भवरोग निवारक भावपूर्ण उपदेशामृत का पान कर श्रावस्ती के आबालवृद्ध नागरिको ने परमानन्द का अनुभव करते हुए सच्चे धर्म का स्वरूप समझा ।

देशनानन्तर श्रोताओ मे अपने बालसखा धनदेव को न देख कर आचार्य स्थूलभद्र ने विचार किया कि श्रावस्ती के प्राय. सभी श्रद्धालु जन वहा आये है पर धनदेव नही आया । हो सकता है वह कही अन्यत्र गया हुआ हो अथवा रुग्ण हो । उसके न आने के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है अन्यथा वह उनका नाम सुनते ही अवश्य उपस्थित होता । ऐसी दशा मे उन्हे स्वय उसके घर जा कर देखना चाहिये कि आत्मकल्याण की ओर भी उसका ध्यान है अथवा नही ।

इस प्रकार विचार कर आचार्य स्थूलभद्र धनदेव पर विशेष अनुग्रह कर मार्ग मे साथ हुए जनसमूह सहित उसके घर पहुंचे । धनदेव की पत्नी कल्पवृक्ष के समान महान् आचार्य को अपने घर के प्रागण मे देख कर हर्षविभोर हो उठी । उसने भक्तिपूर्वक आचार्यश्री को वन्दन किया और एक काष्टासन प्रस्तुत करते हुए उस पर विराजमान होने की उनसे प्रार्थना की ।

आसन पर बैठने के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र ने धनदेव की पत्नी से धनदेव के सम्बन्ध मे पूछा कि क्या वह कही बाहर गया हुआ है ?

धनदेव की पत्नी ने उत्तर दिया – "भगवन् ! वे अपनी समस्त सम्पत्ति का व्यय कर चुकने के पश्चात् दैन्य के दारुण दु:ख से पीडित हो अर्थोपार्जन हेतु देशान्तर मे गये हुए है ।"

अपने बालसखा की दैन्यावस्था पर विचार करते हुए स्थूलभद्र ने अपने ज्ञानबल से देखा कि धनदेव के घर मे एक स्तम्भ के नीचे अपार निधि रखी हुई है । उन्होने उस स्तम्भ की ओर देखते हुए धनदेव की गृहिणी से कहा – "श्राविके ! देख, ससार का वास्तविक स्वरूप यही है । कितनी विपुल सम्पत्ति थी तुम्हारे घर मे, कितना बडा व्यवसाय था धनदेव का और आज यह दशा हो गई है ।"

तदनन्तर थोड़े समय तक सारभूत धर्मोपदेश दे कर आचार्य भद्रबाहु अपने स्थान की ओर लौट गये और दूसरे दिन वहा से विहार कर धर्म का दिव्य सन्देश जन-जन तक पहुचाते हुए अनेक क्षेत्रो मे विचरण करने लगे ।

धनदेव को बहुत कुछ प्रयास करने पर भी अर्थप्राप्ति नही हुई और जिस दशा मे, जिन वस्त्रो को पहने हुए वह घर से निकला था, उसी दशा मे और उन्ही वस्त्रो को धारण किये हुए कुछ दिनो पश्चात् वह पुन अपने घर लौटा । अपनी

चार पूर्व विनष्ट हो गये। इस अपयश की कल्पनामात्र से मै सिहर उठता हू अत. आप मुझे भले ही शेष पूर्वो का अर्थ और विशिष्ट विवेचन न बताइये पर मूल रूप से तो उनकी वाचना मुझे देने की कृपा करिये।"

चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने यह निश्चित तौर पर समझ लिया था कि सम्पूर्ण चतुर्दश पूर्वो के ज्ञान मे से अंतिम चार पूर्वो का ज्ञान उनकी आयु की समाप्ति के साथ ही विछिन्न हो जायगा; उन्होने आर्य स्थूलभद्र को अतिम चार पूर्वो की मूल मात्र वाचनाएं दी।

वीर निर्वाण संवत् १७० मे, तदनुसार ईसा से ३५७ वर्ष पूर्व आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के पश्चात् आर्य स्थूलभद्र भगवान् महावीर के आठवे पट्टधर आचार्य बने।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं का इस विषय मे मतैक्य है कि आचार्य भद्रबाहु भगवान् महावीर के शासन मे अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर अथवा श्रुतकेवली हुए।[१]

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने स्थूलभद्र को भी चतुर्दशपूर्वधर माना है। उनके अनुसार भद्रबाहु ने इस आदेश के साथ शेष पूर्वो का ज्ञान दिया कि अन्य किसी को इन पूर्वो का ज्ञान नही दिया जाय। जैसा कि उन्होने परिशिष्ट पर्व मे लिखा है.—

स सघेनाग्रहादुक्तो, विवेदेत्युपयोगत.।
न मत्त. शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु स· ॥१०९॥
अन्यस्य शेषपूर्वाणि प्रदेयानि त्वया न हि।
इत्यभिग्राह्य भगवान् स्थूलभद्रमवाचयत् ॥११०॥
सर्वपूर्वधरोऽथासीत् स्थूलभद्रो महामुनिः ॥१११॥

कल्प किरणावली मे भी आचार्य स्थूलभद्र को चौदह पूर्वधर माना है। यहा अन्तिम चार पूर्वो की मूल वाचना आचार्य भद्रबाहु ने आर्य स्थूलभद्र को दी थी इसी दृष्टि से उन्हे चतुर्दश पूर्वधर मान लिया गया है। वस्तुत आर्य स्थूलभद्र दो वस्तु कम १० पूर्वो के ही पूर्ण रूप से ज्ञाता थे। अन्तिम चार पूर्वो का तो उन्हे विना अर्थ के मूल पाठ ही पढाया गया था।

संघाधिनायक बनने के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र ने विभिन्न क्षेत्रो में विहार कर ४५ वर्ष तक अनेक भव्यो का उद्धार करते हुए जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की।

---

[१] पढमो दसपुव्वीण, सगडालकुलस्स जसकरो धीरो।
नामेण थूलभद्दो, अवहि साधम्मभद्दो त्ति ॥९७॥ [तित्थोगालीपइन्ना]

(ख) सिरिगोदमेण दिण्ण सुहम्मणाहस्स तेण जबुस्स।
विण्हु णदीमित्तो तत्तो य पराजिदो य तत्तो ॥४३॥
गोवद्धणो य तत्तो भद्दभुओ श्रतकेवली कहिओ।
[अगपण्णत्ती (दिगम्बरमान्यता का ग्रन्थ)]

समय रात्रि मे हृदयशूल की व्यथा से पीडित हो काल कर सौधर्म देवलोक मे उत्पन्न हुए। उस समय उनके सभी श्रमण निद्राधीन थे अत गच्छ के किसी साधु को उनकी मृत्यु हो जाने के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही हो सका।

उधर सौधर्म देवलोक मे तत्काल उत्पन्न हुए आचार्य आषाढ के जीव ने देवभव मे अवधिज्ञान लगाकर जब वस्तुस्थिति को जाना तो अपने शिष्यो के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित हो वे अपने मूल शरीर मे प्रविष्ट हो गये। उन्होने साधुओ को उठा कर वैरात्रिक काल के कार्यक्रम करने की उन्हे प्रेरणा दी और अवशिष्ट वाचनाए यथासमय पूर्ण की। वाचनाए पूरी होने के पश्चात् अपने शरीर को छोडकर सौधर्म देवलोक मे जाते समय उन्होने साधुओ से कहा – "मुनियो! असयत होते हुए भी मैने आपको मुझे वन्दन करने से नही रोका, उसके लिये आप मुझे क्षमा करे। आप लोग सर्वविरति साधु है और मै अमुक रात्रि मे काल कर देव वन चुका हू पर तुम लोगो पर अनुकम्पा वश पुन देवलोक से अपने इस शरीर मे आकर मैने वाचना-कार्य पूर्ण कराया है।"

इस प्रकार कहकर जब देव चला गया तव वे साधु मृत शरीर की परिस्थापनक्रिया करने के पश्चात् सोचने लगे – "अहो! हमने वहुत समय तक असयती की वदना की। न मालूम इस तरह अन्यत्र भी कौन वास्तव मे सयमी और कौन देव है, यह मालूम करना कठिन है, अत सबको वन्दन न करना ही समुचित है अन्यथा असयमी-वदन और मृषावाद का दोष लग सकता है।"

इस प्रकार तीव्र कर्म के उदय से वे अपरिणत बुद्धि साधु अव्यक्तवादी बन गये और उन्होने परस्पर वन्दन-व्यवहार पूर्णत बन्द कर दिया। स्थविरो ने उन्हे अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा – "साधुओ! यदि तुम्हे अन्य सब मे सन्देह ही करना है तो देव की बात पर सन्देह क्यो नही किया? अपने इस अव्यक्तवादी सिद्धान्त के अनुसार तुम निश्चयपूर्वक यह नही कह सकते कि वह वस्तुत कोई देव था या कोई मायावी। जिस प्रकार तुम्हे उसने अपने आपको देव बताया और बाहर से भी उसके दिव्य तेज को देखकर उसकी बात को सच मानते हुए उसे देव माना, उसी प्रकार साधु को भी उसके वचन और व्यवहार से सच मानना चाहिये।"

इस प्रकार अनेक तरह से समझाने पर भी जब वे साधु नही समझे तो उन्हे श्रमणसघ द्वारा सघबाह्य घोषित कर दिया गया।

सघ से निष्कासित किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् वे अव्यक्तवादी निन्हव साधु घूमते-घामते राजगृह नगर मे आये। उस समय वहा मौर्यवश मे उत्पन्न वलभद्र[1] नामक राजा शासन करता था जो कि जैन धर्म का श्रद्धालु श्रावक था।

---

[1] नन्दवश का अन्त और पाटलीपुत्र मे मौर्यवश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का अभ्युदय वीर नि० सवत् २१५ मे हुआ अत. अनुमान किया जाता है कि वीर नि० स० २१४ मे निन्हव बनने के कतिपय वर्षो पश्चात् वे लोग अपने मत का प्रचार करते हुए राजगृह मे आये हो और मौर्यवशी सामन्त बलभद्र ने उन्हे प्रतिबोध दिया हो। – सम्पादक

पत्नी के मुख से आचार्य स्थूलभद्र के आगमन का समाचार सुन कर उसने उससे पूछा –"क्या आचार्यदेव ने तुम्हें कुछ कहा था ?"

धनदेव की पत्नी ने उत्तर दिया – "ससार की विचित्र गति और धर्मोपदेश के अतिरिक्त उन्होने, कोई विशेष बात तो नही कही पर वे बार-बार अपने घर के इस स्तम्भ की ओर देख रहे थे।"

धनदेव समझ गया कि महापुरुषों की कोई भी चेष्टा निरर्थक नही होती। उन ज्ञानी महात्मा की दृष्टि इस स्तम्भ पर अटकी तो निश्चित रूप से इसके नीचे विपुल धन होना चाहिये। इस प्रकार विचार कर धनदेव ने उस स्तम्भ के आसपास की भूमि को खोदना प्रारम्भ किया। थोडे से परिश्रम के पश्चात् ही धनदेव ने देखा कि उस थम्भे के नीचे अपार सम्पत्ति गडी पड़ी है। धनदेव ने भूमि मे दबी पडी उस सम्पत्ति को निकाला और पुनः कुबेर के समान सम्पत्ति-शाली श्रीमन्तों मे उसकी गणना होने लगी।

धनदेव को ज्यो ही विदित हुआ कि आचार्य स्थूलभद्र पाटलिपुत्र में विराजमान है, तो वह उनकी सेवा मे पाटलिपुत्र पहुंचा। आचार्यश्री और समस्त मुनिवृन्द को भक्ति सहित वन्दन-नमन करने के पश्चात् धनदेव ने आचार्यश्री की सेवा मे निवेदन किया – "भगवन् ! मेरी अनुपस्थिति मे मेरे घर में आपके पावन पदार्पण एव कृपा-कटाक्षनिक्षेप से मेरा दारिद्रय-दुःख दूर हुआ। आप ही मेरे स्वामी, गुरु और सर्वस्व है। कृपा कर आदेश दीजिये कि मै क्या सेवा करू ?"

आचार्य स्थूलभद्र ने कहा – "धनदेव ! भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्म ही अक्षय एव अव्यावाध सुख का देने वाला है अत तुम अन्तर्मन से उसका यथाशक्ति पालन करो। वस तुम्हारे लिये सबसे बड़ा और परमावश्यक यही कार्य है।"

आचार्य स्थूलभद्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर धनदेव भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित दया-धर्म का व्रतधारी श्रद्धालु उपासक बना और कतिपय दिनों तक आर्य स्थूलभद्र की सेवा मे रह कर अपने घर लौट गया।

इस प्रकार प्राणिमात्र का कल्याण चाहने वाले करुणासागर आचार्य स्थूलभद्र ने अपने बालवय के मित्र धनदेव को सच्चे धर्म का अनुयायी और उपासक वना कर उसे भवभ्रमण से बचने का प्रशस्त मार्ग बताया।

तृतीय निन्हव अव्यक्तवादी की उत्पत्ति

(वीर निर्वाण सवत् २१४)

आचार्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल के ४४ वर्ष बीत जाने पर वीर निर्वाण सवत् २१४ मे श्वेताम्बिका नगरी में आषाढाचार्य के शिष्यों से तीसरे निन्हव-अव्यक्तवादी की उत्पत्ति हुई। उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

एक दिन श्वेताम्बिका नगरी मे आर्य आषाढ नामक आचार्य अपने अनेक शिष्यो के साथ पउलाषाढ नामक चैत्य में विराज रहे थे। वे अपने शिष्य समुदाय को वाचना प्रदान कर रहे थे। सयोगवश वाचनाकाल में ही आषाढ़ाचार्य एक

भारत पर सिकन्दर द्वारा आक्रमण

आचार्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल मे लगभग वीर निर्वाण स० २०० तदनुसार ईसा पूर्व ३२७ मे भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो पर यूनान के शाह सिकन्दर (एलेक्जेन्डर दी ग्रेट) ने एक प्रबल सेना लेकर आक्रमण किया। उस समय भारत के उत्तर-पश्चिमी भागो मे छोटे-छोटे राज्य तथा पजाब मे विभिन्न जातियो के गणराज्य थे। मगध सम्राट् धननन्द (नवम नन्द) अपनी अत्यन्त लुब्ध प्रकृति और जनता पर अधिकाधिक करभार बढाते रहने की प्रवृत्ति के कारण अपने प्रति जनता का प्रेम और विश्वास खो चुका था। उसके अधीनस्थ अनेक राजाओ और सामन्तो ने उसके प्रति विद्रोह का झण्डा उठा अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। गृह-कलह के कारण राजा गण एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयास मे लगे हुए थे।

देश मे सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक शक्तिशाली राज्य के अभाव मे सिकन्दर को प्रारम्भ मे अपने सैनिक अभियान मे सफलता मिली। उसने हिन्दुकुश, काबुल की घाटी से लेकर सिन्धु नदी के पूर्व का इलाका तथा काश्मीर और तक्षशिला आदि भारतीय प्रदेशो पर विजयश्री प्राप्त की। छोटे-छोटे भारतीय राजाओ ने सिकन्दर के आक्रमण को निष्फल करने के लिये बडी वीरता के साथ प्राणो की बाजी लगा कर युद्ध किया किन्तु सिकन्दर की विशाल विजयवाहिनी के समक्ष वे बहुत अधिक समय तक नही टिक सके। अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये वहुत वडा बलिदान करने और शत्रुपक्ष को भारी क्षति पहुचाने के पश्चात् भी अन्त मे उन्हे आत्मसमर्पण करना ही पडा। पजाब की हस्तिनायन, अश्वकायन आदि जातियो के गणतन्त्रो ने अपने-अपने राज्यो की शक्ति से कही अधिक सेनाए सगठित कर सिकन्दर की सेना के साथ भयंकर युद्ध किये।

यो तो सभी राजाओ और गणराज्यो ने सिकन्दर की सेना के साथ बडी वीरता के साथ युद्ध किया पर उनमे राजा पौरव द्वारा किया गया युद्ध भारत के इतिहास मे सदा विशेप उल्लेखनीय रहेगा। राजा पौरव ने अपने तीस हजार पैदल सैनिको, चार हजार घुडसवारो, तीन सौ रथो और २०० हाथियो की सशक्त सेना लेकर आगे बढती हुई सिकन्दर की सेना को रोका। राजा पौरव की सेना प्राणो की वाजी लगा कर बडी वीरता के साथ सिकन्दर की सेना के साथ लडी। यूनानी सेना को इस युद्ध मे बडी भारी क्षति उठानी पडी किन्तु सहसा यूनानी सैनिको के तीक्ष्ण तीरो की बौछारो से पौरव की हस्ति-सेना सत्रस्त होकर बिगड खडी हुई और उसने पीछे की ओर तथा इधर-उधर भागते हुए बेकावू हो स्वय राजा पौरव की सेना को ही बडी क्षति पहुचाई और इस प्रकार दुर्भाग्य से युद्ध का पासा ही पलट गया। राजा पौरव को पराजय का मुह देखना पडा। जयश्री प्राप्त हो जाने पर भी सिकन्दर ने राजा पौरव की शक्ति और वीरता देखते हुए उसके साथ मैत्री करना आवश्यक समझा और उसका जीता हुआ राज्य उसे पुन लौटा कर वह विजय-अभियान मे आगे बढ़ गया। पग-पग

राजा बलभद्र को जब यह विदित हुआ कि अव्यक्तवादी निन्हव राजगृह नगर के बाहर गुणशील उद्यान में आये हुए है तो उसने अपने सेवको को भेजकर साधुओ को आमन्त्रित किया और उनको हाथियों द्वारा कटक-मर्दन से मारने की आज्ञा दी। जब साधुओं का मर्दन करने हेतु हाथी पास में लाये गये तो उन निन्हवो ने राजा से पूछा – "राजन्! हम तो जानते है कि तुम श्रावक हो, तब फिर तुम हम श्रमणों की हिंसा क्यो कर रहे हो ?"

राजा ने कहा – "महाराज! आपके सिद्धान्तानुसार कौन जानता है कि मैं श्रावक हू, अथवा नही। तुम सब भी चोर, गुप्तचर हत्यारे हो या साधु हो यह कोई नही जानता।"

साधुओं ने कहा – "हम साधु है।"

राजा ने कहा – "यदि ऐसा निश्चित है तो अव्यक्तवादी होकर परस्पर बडों को वन्दनादि क्यो नही करते ?" वर्षो से साथ-साथ रहने वाले आप लोगो को परस्पर एक-दूसरे पर यदि भरोसा नही है तो मुझे आप लोगो पर किस प्रकार विश्वास हो सकता है ?"

राजा की युक्तिसगत बात सुनकर वे बडे लज्जित हुए और उन निन्हव साधुओ की शका का पूर्णत समाधान हो गया। उन्होने अव्यक्तवाद का परित्याग कर दिया और गुरू-चरणों मे जाकर उन्होने पूर्ववत् वन्दनादि करना प्रारम्भ कर दिया।

आर्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थ-पर्याय मे रहे। वीर निर्वाण संवत् १४६ मे आपने आर्य संभूतिविजय के पास दीक्षा ग्रहण की। २४ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय मे रहे। वीर नि० स० १७० से २१५ तक आपने आचार्यपद पर रहते हुए वीरशासन की सेवाएं की। अन्त में ९९ वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर वीर निर्वाण स० २१५ मे राजगृह नगर के समीप वैभारगिरि पर १५ दिन के अनशन व संथारे के बाद आपने स्वर्गगमन किया।

जैसा कि आगे बताया जायगा, भारतीय इतिहास की दृष्टि से आर्य स्थूलभद्र का युग राज्य-परिवर्तन अथवा राज्य-विप्लव का युग रहा। भारत पर यूनानियो का आक्रमण, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का अभ्युदय, नन्दराज्य का पतन और मौर्य-राज्य का उदय – ये उनके काल की प्रमुख राजनैतिक घटनाए है।

आर्य स्थूलभद्र के प्रारम्भिक जीवन-वृत्त से यह भी भलीभाति प्रकट होता है कि उन दिनों की राजनीति में जैनों का कितना व्यापक प्रभाव रहा। यह इसी से स्पष्ट है कि शकडाल और श्रीयक आदि नन्द-साम्राज्य के परम राजभक्त महामात्य रहे।

तात्कालिक जनजीवन का भी एक स्पष्ट चित्र आर्य स्थूलभद्र के समय के घटनाक्रम के चित्रण मे उभर आता है। अहिंसा-सयम और तपोमय जीवन द्वारा श्रमण-सस्कृति के सिद्धान्त उस समय के प्रजाजीवन मे साकार थे।

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य मे सर्वत्र अराजकता व्याप्त हो गई। सिकन्दर के कोई सन्तान नही थी अत उसके सेनापतियो ने सिकन्दर के राज्य का परस्पर बटवारा किया। पहला बंटवारा सिकन्दर की मृत्यु के तत्काल पश्चात् ईसा पूर्व ३२३ मे और दूसरा बटवारा त्रिपाशडिसस नामक स्थान पर ईसा पूर्व ३२१ मे हुआ। पर इन दोनो बटवारो के समय सिकन्दर द्वारा विजित सिन्धु नदी के पूर्वीय प्रदेशो को यूनानी साम्राज्य की गणना मे नही लिया गया। इससे सिद्ध होता है कि सिकन्दर की भारत मे विद्यमानता के समय मे ही भारतीयो द्वारा यूनानी शासन के विरुद्ध खडा किया गया विद्रोह बल पकडता गया और सिकन्दर के आहत होकर यूनान की ओर मुह करते ही उन प्रदेशो के निवासियो ने यूनानी गुलामी के जुए को तत्काल झटक कर सदा के लिये उतार फेका।

इस सब घटनाचक्र पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह तथ्य स्पष्टरूपेण प्रकट हो जाता है कि जो सिकन्दर एक अजेय विशालवाहिनी के साथ विश्वविजय की महत्वाकाक्षा लिये यूनान से भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक के प्रदेशो की अनेक शक्तिशाली राज्यसत्ताओ को भूलुण्ठित करता हुआ एक तीव्रगामी प्रचण्ड तूफान की तरह आगे बढता ही गया, उसे भारतीय रणबाकुरे देशभक्तो ने पग-पग पर अपने प्रतिरोध की फौलादी दीवार बनकर रोका। यह भी तथ्य है कि सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक सशक्त और विशाल राज्य के रूप मे सुसगठित न होने के कारण पश्चिमोत्तर सीमावर्ती छोटे-छोटे राजाओ और गणराज्यो की बिखरी हुई शक्ति अधिक समय तक सिकन्दर की सशक्त एव सुविशाल वाहिनी के प्रबल प्रहारो के सम्मुख नही टिक सकी। इतना होने पर भी यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उस बिखरी हुई भारतीय शक्ति ने भी अपने दृढ सकल्प, तीव्र प्रतिरोध और प्रबल प्रहारो से सिकन्दर की सेना को बहुत बडी क्षति पहुँचा कर तथा उसके मनोबल एव ओज-तेज को समाप्तप्राय बनाकर सिकन्दर की सब महत्वाकाक्षाओ पर पानी फेर दिया।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि भारतीय छोटे-छोटे राजा तथा गणराज्य बिना सगठित हुए अलग-अलग रूप से सिकन्दर की बडी सेना के साथ लडने के कारण अन्ततोगत्वा परास्त होते गये तो उसके पश्चात् सर्वव्यापी सामूहिक विद्रोह सगठित करने वाला कोई न कोई सूत्रधार तो अवश्य होना चाहिये अन्यथा पराजित भारतीयो द्वारा एक के पश्चात् दूसरे यूनानी क्षत्रपो की हत्या करना एव यूनानी साम्राज्य की जडो को भारत से उखाड फैंकना भारतीयो के लिये कभी सभव नही होता।

इस प्रश्न का हमे भारतीय वाड्मय मे तो खोजने पर भी कोई उत्तर नही मिलता किन्तु सिकन्दर के निआर्कस, ओनेसिक्रिटस और अरिस्टोबुलस नामक तीन अधिकारियो द्वारा भारत की स्थिति के सम्बन्ध मे लिखे गये विवरणो और उनके पश्चात् भारत मे यूनानी राजदूत मेगास्थनीज द्वारा लिखे गये विवरणो के आधार पर लिखी गई विदेशी विद्वानो की रचनाओ से पर्याप्त सतोषजनक उत्तर

पर भारतीयों द्वारा किये गये भीषण प्रतिरोध और उससे हुई अपनी गहरी क्षति को देख कर यूनानी सेना हतोत्साहित हो गई। किन्तु सिकन्दर समस्त भारतवर्ष पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराने का दृढ सकल्प ले कर अपने देश से निकला था। उसने निरुत्साहित सैनिकों को तूफान की तरह आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया। सिकन्दर की सेना ने आगे बढना चाहा पर क्षुद्रक और मालव गणतन्त्रों की सयुक्त सेना ने उसे सिन्धु और चिनाब के संगम के रणागण में ललकारा। यहा यूनानी सेना को बहुत बडी क्षति उठानी पडी। इस युद्ध मे मालवो से लडते हुए सिकन्दर स्वय आहत हो गया था। उसके घाव लगने के कारण सिकन्दर की मृत्यु की अफवाह फैल गई और भारत के विजित क्षेत्रो मे भारतीयों के विद्रोह को दबाये रखने की दृष्टि से जो क्षत्रपियां स्थापित की गई थी व यूनानी सैनिको की बस्तियां बसाई गई थीं, उनमे से बहुत से यूनानी सैनिक सामूहिक रूप से यूनान की ओर भाग खड़े हुए। सिकन्दर के सैनिकों का मनोवल भी टूट गया। उसके सैनिक अधिकारियो ने स्पष्ट शब्दों मे सूचित कर दिया कि उसकी सैनिक शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी है। बहुत बडी संख्या मे उसके सैनिक युद्ध मे मारे गये है तथा अनेक सैनिक रोगग्रस्त हो मर चुके है। अवशिष्ट सैनिको में न पहले के समान शारीरिक शक्ति ही रही है और न मनोबल ही।

अपनी और अपने सैनिकों की वास्तविक स्थिति को देखते हुए सिकन्दर अपनी सेना के साथ विजय अभियान को बन्द कर पुन अपने देश की ओर लौट पडा।

भारतीय विद्रोही अश्वकायनो ने सिकन्दर द्वारा नियुक्त सिन्धु के पश्चिमी प्रदेश के क्षत्रप (शासक-गवर्नर) निकानोर की हत्या कर डाली। तत्पश्चात् जिस समय सिकन्दर झेलम नदी के रास्ते से लौट रहा था, उस समय उसका एक अति कुशल और अनुभवी क्षत्रप फिलिप उसे यूनान के लिये विदा करने पहुचा। सिकन्दर को विदा करने के पश्चात् जिस समय फिलिप अपनी क्षत्रपी की ओर लौट रहा था उस समय उसकी हत्या कर दी गई। जिस समय सिकन्दर के पास यह सूचना पहुची तो उसे बडा गहरा आघात पहुंचा। सिकन्दर चूकि उस समय तक बहुत दूर नही निकला था अत वह अगर चाहता तो विद्रोह को दबाने के लिये उस क्षेत्र मे लौट सकता था पर अब वह उस स्थिति मे नहीं रह गया था। तक्षशिला तथा सिन्धु एव झेलम के सगम वाले प्रदेश का शासन जब तक कि दूसरा प्रबन्ध नही कर दिया जाय तब तक के लिये वह तक्षशिला के राजा को सुपुर्द कर चला गया। ज्यों-ज्यों यूनान की ओर लौटता हुआ सिकन्दर भारतीय प्रदेश को अपने पीछे छोडता गया त्यों-त्यो वे भारतीय प्रदेश विदेशी शासन के जूए को दूर फैंक कर स्वतन्त्र होते चले गये। बैबिलौन पहुंचते-पहुंचते सिकन्दर की ई० पूर्व जून ३२३ मे मृत्यु हो गई।[1]

---

1 In June 323 B C Alaxender died at Babylon and no permanent incumbent in Philip's place could ever be appointed
[V. A. Smith's Ashoka P I. Cambridge History, P. 428 – 1,23–8

रोचक और प्रेरणाप्रदायिनी है। केवल पुरुषो ने ही नही यहा की वीरागनाओ ने भी युद्ध के मैदानो मे रणचण्डी के रूप मे डट कर यूनानियो के आक्रमण से मातृभूमि की रक्षा करते हुए प्राणाहूतिया दी। ३६ ई० पूर्व तक जीवित यूनानी लेखक डियोडोरस ने लिखा है –

"अश्वकायनो ने अपनी वीरागना रानी क्लियोफिस (सभवत कृपा देवी) के नेतृत्व मे अन्त तक अपने देश की रक्षा करने का दृढ निश्चय किया। रानी के साथ ही वहा की स्त्रियो ने भी प्रतिरक्षा मे भाग लिया। वेतनभोगी सैनिक प्रारम्भ मे वडे निरुत्साहित हो कर लडे परन्तु बाद मे उन्हे भी जोश आ गया और उन्होने अपमान के जीवन की अपेक्षा गौरव के साथ मर जाना ही श्रेष्ठ समझा।"[1]

३२७ ई० पूर्व सिकन्दर द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के दौरान, ई० पूर्व ३२३ मे सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात्, ३०४ ई० पूर्व मे यूनानी शासक सेल्यूकस द्वारा पुन भारत पर किये गये आक्रमण के समय तथा ३२७ ई० पूर्व से ३०४ ई० पूर्व तक विदेशी आक्रमणो को विफल करने तथा भारत को एक सशक्त राष्ट्र वनाने मे चन्द्रगुप्त मौर्य ने क्या-क्या महत्त्वपूर्ण भूमिकाए अदा की इस सन्दर्भ मे सक्षेपत उसका जीवनवृत्त यहा दिया जा रहा है।

मौर्य राजवंश का अभ्युदय

वीर निर्वाण सवत् २१५ और तदनुसार ईसा पूर्व ३१२ मे नन्द राज्यवश की समाप्ति के साथ भारत मे मौर्य-वश के नाम से एक शक्तिशाली राज्यवश का अभ्युदय हुआ। इस राज्यवश ने अपनी मातृभूमि आर्यधरा पर से यूनानियो के शासन का नामोनिशान मिटा न केवल सम्पूर्ण भारत पर ही अपितु भारत के बाहर के अनेक प्रान्तो पर भी अपनी विजयवैजयन्ती फहरा कर एक सशक्त और विशाल राजसत्ता के रूप मे १०८ वर्ष तक शासन किया। इस राजवश के शासनकाल मे भारतवर्ष मे चहुमुखी प्रगति हुई।

इस राज्यवश के सस्थापक मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त के जीवन के साथ उस समय के महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का सपृक्त सम्बन्ध है, जिसे वस्तुत इस शक्तिशाली राज्यवंश का सस्थापक एव अभिभावक कहा जा सकता है। विद्वान् ब्राह्मण चाणक्य के बुद्धिकौशल के बल पर ही इस महान् राज्यवश की स्थापना हुई अत इस राज्यवश का परिचय देने से पूर्व महान् राजनैतिक, उच्चकोटि के अर्थशास्त्री एव अद्वितीय कूटनीतिज्ञ चाणक्य का परिचय देना परमावश्यक है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त – दोनो का जीवन एक दूसरे से पूर्णत सम्बद्ध है अत उन दोनो का सक्षिप्त परिचय यहा साथ-साथ दिया जा रहा है।

---

[1] मैकक्रिडिल-कृत 'इन्वेजन आफ इन्डिया वाई अलेक्जेडर', पृ० २७०

मिल जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी में जस्टिन नामक एक लेखक ने उपर्युक्त, सिकन्दर और सेल्यूकस के समकालीन अधिकारियो द्वारा लिखे गये विवरणो के आधार पर एपिटोम अर्थात् 'सारसग्रह' की रचना की। उसके बारहवे खण्ड मे उसने सिकदर के विजय अभियानो का विवरण देते हुए लिखा है :-

"सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत ने मानो अपने गले से यूनानी दासता का जूआ उतार फैंका और उसके अनेक क्षत्रपो को मार डाला। इस मुक्ति-अभियान का सूत्रधार सैड्रोकोट्टस था। उसका जन्म एक साधारण कुल मे हुआ था पर कुछ दैवी प्रोत्साहनों से उसे राजा का पद प्राप्त करने की प्रेरणा मिली। हुआ यह कि उसकी धृष्टता पर 'नैड्रम'[1] (नन्द) को क्रोध आ गया और उसने उसे मरवा डालने की आज्ञा दी, पर वह अपने प्राण बचा कर वहा से भाग निकला। सैड्रोकोट्टस-चन्द्रगुप्त जब थक कर सो रहा था उस समय एक सिह उसके पास आया और उसके शरीर से बहता हुआ पसीना चाट कर धीरे से उसे जगाया और चला गया। इस अनहोनी घटना से पहले-पहल चन्द्रगुप्त के मन मे एक राजा का सम्मान प्राप्त करने की अभिलाषा जागृत हुई और उसने अपने चारो ओर लुटेरो का एक गिरोह जमा करके भारतवासियो को तत्कालीन (यूनानी) शासन का तख्ता उलट देने के लिये भडकाया। इसके कुछ समय पश्चात् जब वह सिकन्दर के सेनापतियो से लडने जा रहा था, तो एक विशालकाय जगली हाथी अपने-आप उसके सामने आकर खडा हो गया और सहसा पालतू हाथी की तरह शीलस्वभाव का होकर उसने चन्द्रगुप्त को अपने ऊपर बिठा लिया। वह हाथी चन्द्रगुप्त का पथप्रदर्शक बन गया और रणक्षेत्र मे बहुत आगे-आगे रहा। इस प्रकार राजसिहासन पर अधिकार कर के सैड्रोकोट्टस ने भारत को अपने अधीन कर लिया। इसी समय सेल्यूकस अपनी भावी महानता की नीव डाल रहा था।"[2]

जस्टिन द्वारा दिये गये इस विवरण से इस प्रश्न के हल के साथ-साथ भारतीय इतिहास के अनेक धुन्धले तथ्य स्पष्ट रूप से किस प्रकार उभर आते है, यह चन्द्रगुप्त के जीवन वृत्त मे आगे दिया जायगा।

यहां यही बताना अभीष्ट है कि सिकन्दर के इस आक्रमण ने भारतीयो मे एक नवीन चेतना जागृत करदी और भारत मे एक महान् शक्तिशाली बडी राजसत्ता को जन्म देने की पूर्वपीठिका का निर्माण किया। वस्तुत सिकन्दर के इस सैनिक अभियान ने भारतीयो की रणक्षमता और वीरता को ससार के समक्ष प्रकट कर दिया क्योकि सिकन्दर की विजय की कहानियो से भी उसके विरुद्ध भारतीयों द्वारा किये गये प्रतिरोध की कहानिया अधिक वीरताभरी,

---

[1] आम तौर पर इस स्थान पर 'अलेक्जेड्रस' शब्द मिलता है, जिसके बारे मे टुडि ने सिद्ध कर दिया है कि वह गलत है अतः उसके स्थान पर 'नैड्रम' शब्द रख दिया है।
[मैकक्रिडिल की इन्वेजन आफ इन्डिया बाई अलेक्जेडर पृ० ३२७]

[2] [वही]

से सुशोभित और दासिवृन्दो से सदा परिवृत्त रहती थी। चाणक्य की पत्नी के पास आभूषण के नाम पर कुछ भी नही था। वह रातदिन एक ही पुरानी साडी एव कचुकी पहने रहती थी। उसकी इस दरिद्रावस्था को देख कर उसकी लक्ष्मी के समान वैभवशालिनी बहनो तथा विवाहोत्सव मे सम्मिलित हुई अन्य प्राय सभी स्त्रियो ने विविध व्यगोक्तियो से बडी हँसी उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। स्वाभिमानिनी चाणक्यपत्नी मारे लज्जा के गृह के एकान्त कक्ष के एक कोने मे सबकी निगाहो से अपने आपको छुपाये हुए बैठी रहती। विवाह के उस मागलिक महोत्सव मे उसने लज्जावश कोई भाग नही लिया और विवाह के सम्पन्न होते ही वह अपने पतिगृह को लौट आई। दरिद्रता के कारण हुए अपने अपमान का उसे इतना गहरा दु ख हुआ कि वह अपने पतिगृह मे आकर रात भर रोती रही। चाणक्य को अपनी पत्नी की आखो मे आसू देख कर बडा दु ख हुआ। चाणक्य ने अपनी पत्नी से उसके शोक का कारण जानना चाहा। अनेक वार आग्रहपूर्वक पूछने पर नही चाहते हुए भी पत्नी को अपने पति के सम्मुख अपनी अन्तर्वेदना को प्रकट करना ही पडा। चाणक्य को जव यह विदित हुआ कि उसकी दारिद्र्यावस्था के कारण उसकी पत्नी का परिहास हुआ है, तो उसने धन उपार्जित करने का दृढ सकल्प किया। उसे यह विदित ही था कि मगधपति नन्द ब्राह्मणो को दक्षिणा के रूप मे पर्याप्त धन देता है अत वह धन-प्राप्ति की आशा लिये पाटलिपुत्र पहुंचा। अन्य दक्षिणार्थियो के आगमन से पूर्व ही राजप्रासाद मे प्रवेश कर चाणक्य सवसे आगे रखे हुए एक उच्चासन पर बैठ गया। वस्तुत नन्द सदा उस आसन पर वैठ कर ही दक्षिणाए दिया करता था। नन्द के साथ आये हुए नन्द के पुत्र ने तिरस्कारपूर्ण स्वर मे एक दासी से कहा – "देखना इस ब्राह्मण की धृष्ठता कि यह मगधसम्राट् के आसन पर आ कर बैठ गया है।"

दासी ने चाणक्य के पास पहुच कर शान्त स्वर मे कहा – "ब्रह्मन्! आप इस दूसरे आसन पर बैठ जाइये।"

"इस पर तो मेरा कमण्डलु रहेगा"–यह कहते हुए चाणक्य ने दूसरे आसन पर अपना कमण्डलु रख दिया।

दासी ने क्रमश तीसरे, चौथे और पाचवे आसन पर बैठने की चाणक्य से प्रार्थना की पर चाणक्य ने उन तीनो आसनो पर क्रमश अपना दण्ड, जपमाला और यज्ञोपवीत रखते हुए कहा इस पर मेरा दण्ड, इस आसन पर मेरी जपमाला, और इस पर मेरा यज्ञोपवीत रहेगा।

चाणक्य के न उठने एव अन्यान्य आसनो को रोकते रहने से क्षुब्ध हो, यह कहते हुए कि कितना धृष्ठ है यह ब्राह्मण जो बार-बार कहने पर भी आसन से उठता नही है और दूसरे आसनो को रोकता ही चला जा रहा है, दासी ने पार्ष्णिप्रहार कर चाणक्य को उस आसन से उठा दिया।

दासी द्वारा किये गये इस अपमान से चाणक्य की क्रोधाग्नि प्रबल वेग से भडक उठी। उसने उपस्थित विशाल जनसमूह के समक्ष दृढ और अत्युच्च

मौर्य राजवंश का संस्थापक चाणक्य

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में चाणक्य के जीवन का परिचय देते हुए लिखा है कि गोल्ल-प्रदेश के चणक नामक ग्राम मे चणी नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम चणकेश्वरी था। यह ब्राह्मण दम्पति जैनधर्म का अनन्य अनुयायी था और श्रावक व्रत का पालन करते हुए श्रमणो की सेवा किया करता था। विभिन्न क्षेत्रो में विचरण करते हुए जैन-श्रमण, ब्राह्मण चणी के गृह मे प्रायः ठहरा करते थे।

ब्राह्मणी चणकेश्वरी ने कालान्तर मे एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु के जन्म के समय चणी ब्राह्मण के घर के एक एकान्त कक्ष मे कुछ स्थविर श्रमण ठहरे हुए थे। चणी ने अपने नवजात पुत्र को उन स्थविरो के समक्ष लाकर दिखाया और कहा – "भगवन्! आज जो मेरे यहा पुत्र का जन्म हुआ है, इसके जन्म से ही मुह मे दात है। वस्तुत यह अदृष्टपूर्व घटना है, आज तक दातो सहित बालक का जन्म न कही देखा गया है और न सुना ही।"

नवजात शिशु के मुह मे दातों को देख कर स्थविर श्रमण ने कहा – "सुश्रावक! तुम्हारा यह पुत्र एक महान् प्रतापी राजा होगा।"

"मेरा पुत्र राज्यसत्ता का स्वामी होकर कहीं नरक का अधिकारी न बन जाय", यह विचार कर चणी ने शिशु को घर ले जाकर रेती से उसके दात घिसना प्रारम्भ कर दिया। नवजात शिशु दन्तघर्षण की पीडा से रोया-चिल्लाया और छटपटाया पर चणी ने कठोर हृदय कर के उसके दातो को घिस डाला। जब चणी ने अपने पुत्र के दातों को घिस दिये जाने की बात मुनियो से कही तो स्थविर मुनि ने कहा कि दांतों के घिस दिये जाने पर अब वह बालक कालान्तर मे सम्राट् नही पर सम्राट् तुल्य (अन्य व्यक्ति को राजा बना कर उसके माध्यम से राज्यसत्ता का संचालन करने वाला) होगा। ब्राह्मण चणी ने यह विचार कर कि 'यदभावी न च तद्भावी, भावी चेन्न तदन्यथा' दातों को और अधिक नही घिसा और अपने उस पुत्र का नाम चाणक्य रखा तथा यथासमय उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। बड़ी लगन के साथ अध्ययन करते हुए कुशाग्रबुद्धि चाणक्य ने अनेक प्रकार की विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की। विद्वान् चाणक्य सतोष को ही सबसे वडा धन समझ कर श्रावक के व्रतो का सम्यक्रूपेण पालन करता था।

जब चाणक्य युवा हुआ तो एक कुलीन ब्राह्मणकन्या के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। अपने माता-पिता के देहावसान पर चाणक्य ने अपनी छोटी सी गृहस्थी का कार्यभार सम्हाला पर स्वल्पसतोषी होने के कारण धनसग्रह की ओर उसने कभी ध्यान नही दिया। अपने सहोदर के विवाह के अवसर पर एक दिन चाणक्य की पत्नी अपने मातृगृह गई। उसकी वहिने पहले ही वहाँ पहुच चुकी थी। चाणक्य की सभी सालियो का विवाह महासम्पत्तिशाली सम्पन्न घरों मे हुआ था अतः वे सभी बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलकृत, पोडश शृगारो

रख दी। उस थाली मे पूर्णचन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। चाणक्य ने गर्भिणी को सम्बोधित करते हुए कहा – "बेटी! इस चन्द्रमा को पी जाओ।"

गर्भिणी ने थाली का पानी पीना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यो वह पानी पीती जा रही थी त्यो-त्यो झोपडी के ऊपर बैठा हुआ पुरुष झोपडी मे रखे हुए छेद को तृणो से ढापता जा रहा था। इस प्रकार थाली का पूरा पानी पी लेने पर गर्भिणी को चन्द्र दिखना बन्द हो गया और उसके यह समझ लेने पर कि उसने चन्द्रपान कर लिया है, उसका दोहद पूर्ण हो गया। दोहद की पूर्ति हो जाने पर गर्भ निर्विघ्न रूप से बढने लगा और समय पर मयूरपोषक की पुत्री ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। दोहद की बात को ध्यान मे रखते हुए उस बालक का नाम चन्द्रगुप्त रखा गया।

दूरदर्शी चाणक्य भावी राजा की सेना के लिये स्वर्ण एकत्रित करने की धुन मे धातु-विशारदो की खोज करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा।

इधर कुछ बडा होने पर बालक चन्द्रगुप्त अपने समवयस्क बालको के साथ खेलते समय राजाओ जैसी चेष्टाए करने लगा। वह कभी किसी बालक को हाथी बनाकर उस पर बैठता, तो कभी दूसरे बालक को घोडा बनाकर उस पर सवार होता। वह खेल ही खेल मे मिट्टी के घरोदे बनाकर उन्हे गाव की सज्ञा देता और हाथी बनाये हुए किसी बालक पर बैठकर अपने साथियो की सेना ले उस गाव पर आक्रमण करता। वह उन कृत्रिम गावो को जीत कर बडे आनन्द का अनुभव करता। वह अपने साथी बालको को अनेक प्रकार की आज्ञाए देता और वे बालक स्वामिभक्त सेवक की तरह चन्द्रगुप्त की आज्ञाओ का पालन करते।

अनेक स्थानो पर घूमता हुआ चाणक्य एक दिन मयूरपोषको के उस गाव मे पहुचा। उस समय चन्द्रगुप्त बालको के साथ क्रीडा करते हुए अनेक प्रकार की राज-लीलाए कर रहा था। चाणक्य उस तेजस्वी बालक की राजलीला देखकर मन ही मन बडा प्रसन्न हुआ। बालक की बुद्धि और बहादुरी की परीक्षा करने की दृष्टि से चाणक्य ने उससे कहा – "महाराज! मुझे भी आप कुछ दान दीजिये।"

बालक चन्द्रगुप्त ने तत्काल उत्तर दिया – "गाव की ये इतनी गाये है उनमे से छाट-छाट कर आपको जो-जो अच्छी लगे, वे सब मैने आपको दी, आप उन्हे ले जाइये।"

चाणक्य ने हँसते हुए उत्तर दिया – "राजन्! इन औरो की गायो को मै कैसे ले जाऊ, इनके स्वामी मुझे मारेगे नही?"

बालक चन्द्रगुप्त ने भी दृढता के साथ कहा – "ब्रह्मदेव! आपको किसी से डरने की आवश्यकता नही। मैने ये गाये आपको दे दी है, मै राजा हू, मेरी आज्ञा का कोई उल्लघन नही कर सकता। क्या आपको ज्ञात नही है कि "वीर-भोग्या वसधरा", यह पृथ्वी वीर पुरुषो के ही उपभोग की वस्तु है।

स्वर मे यह प्रतिज्ञा की – "मै इस नन्द का इसके सैन्य, पुत्र, मित्र और कोश के साथ सर्वनाश करके ही विश्राम लूगा।"

उपर्युक्त कठोर प्रतिज्ञा करने के पश्चात् भ्रूविक्षेप और लाल-लाल आंखो से नन्द की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए मारे क्रोध के कापता हुआ चाणक्य राज-प्रासाद से निकल कर नगर से बाहर चला गया। चाणक्य को अपने माता-पिता से सुनी हुई स्थविरो की उस भविष्यवाणी का स्मरण हो आया जिसमे उन्होने कहा था कि यह आगे चलकर सम्राट् नही पर सम्राट् के समान "बिम्बान्तरित"– यवनिका के पीछे रहते हुए, सम्राट् बनेगा। 'निस्पृह श्रमणश्रेष्ठ द्वारा कही गई बात कभी असत्य नही होती' यह विचार कर चाणक्य ने राजा बनने योग्य किसी व्यक्ति को ढूढ कर उसके माध्यम से नन्द, उसके वंश और राज्य का नाश करने का दृढ सकल्प कर लिया।

चन्द्रगुप्त का परिचय

किसी सुयोग्य व्यक्ति की तलाश मे सन्यासी का वेष धारण किये हुए घूमता हुआ चाणक्य एक दिन एक ऐसे ग्राम मे भिक्षार्थ पहुचा, जहा राजा नन्द के मयूरो का पालन-पोषण करने वाले लोग निवास करते थे। मयूरपोषको के मुखिया ने परिव्राजक वेषधारी चाणक्य को देख कर कहा – "महात्मन्! मेरी पुत्री को चन्द्रपान का एक बडा ही अद्भुत् दोहद उत्पन्न हुआ है। उसको चन्द्रमा के पीने की अत्युत्कट अभिलाषा बनी हुई है। इस असभव कृत्य को कैसे किया जा सकता है? गर्भिणी के दोहद की पूर्ति न होने की दशा मे गर्भस्थ शिशु के साथ-साथ मेरी पुत्री का प्राणान्त होना भी अवश्यम्भावी है, यह चिन्ता मुझे अहर्निश पीडित कर रही है। यदि आप इस अद्भुत दोहद की पूर्ति का कोई उपाय कर सके तो हम पर बडा उपकार होगा।"

विद्वान् चाणक्य ने समझ लिया कि जिस सुयोग्य पात्र की खोज मे वह प्रयत्नशील है, वह पात्र तो मयूरपोषक की पुत्री के गर्भ मे है। चाणक्य ने मयूर-पोषको के मुखिया से कहा – "गर्भस्थ बालक को बडा होने पर यदि तुम मुझे दे देने की प्रतिज्ञा करो तो मै तुम्हारी पुत्री के दोहद की पूर्ति कर सकता हू।"

मयूरपोषको के स्वामी ने चाणक्य की शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया। तदनन्तर बुद्धिमान चाणक्य ने घास-फूस की एक झोपडी तैयार करवाई। उस झोपडी के ऊपरी भाग मे एक बडा-सा छिद्र रखवाया। उस झोपड़ी मे रात्रि के समय छिद्र मे से पूर्णचन्द्र का प्रतिबिम्ब पडने लगा। चाणक्य ने गुप्तरूप से एक आदमी को झोपडी पर यह कह कर चढा दिया कि उसके संकेत करते ही वह धीरे-धीरे उस छिद्र को तृणो से ढकना प्रारम्भ कर दे।

यह सब व्यवस्था करने के पश्चात् चाणक्य ने गर्भिणी को बुलाकर उस झोपडी मे एक पीढ़े पर बैठाया और उसके हाथ मे पानी से भरी हुई एक थाली

बालक चन्द्रगुप्त को चाणक्य अपने साथ बिना उसके अभिभाव
पूछे ले गया, इस घटना के उल्लेख के तत्काल पश्चात् ही आचार्य हेमचन्द्र :
परिशिष्ट पर्व मे नन्द के साथ चाणक्य के सघर्षरत हो जाने का उल्लेख
हुए बताया है कि चाणक्य ने धातुविज्ञान के माध्यम से उपार्जित स्वर्ण
सेना सगठित की और चन्द्रगुप्त ने उस सेना के साथ पाटलीपुत्र पर आक्रम
दिया। परिशिष्ट पर्व मे किया गया यह उल्लेख नितात असगत और अव्
प्रतीत होता है। बालक्रीडाओ मे निरत एक ग्रामीण बालक को बिना
प्रकार की सैनिक शिक्षा दिये सहसा सेनापति बना कर उस समय के भारत
सबसे शक्तिशाली राज्यसत्ता के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के लिये
देने जैसी अदूरदर्शिता चाणक्य जैसा उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ और
कूटनीतिज्ञ नही कर सकता। विस्तारभय अथवा अन्य किन्ही कारणो से
हेमचन्द्र ने इन दोनो घटनाओ के मध्यवर्ती काल मे चाणक्य द्वारा चन्द्रगु
एक कुशल सेनानी और सुयोग्य शासक बनाने के लिये उसे समुचित शिक्षा
का उल्लेख नही किया है।

चाणक्य ने जिस कार्य को निस्पन्न करने का बीड़ा उठाया था वह वस्तुत
गुरुतर और दुस्साध्य कार्य था। चाणक्य के कार्य का मूल्याकन करने पर
रूपेण यह विदित हो जायगा कि केवल अपने अपमान के प्रतिकार के लिये
की भावना से प्रेरित हो कर ही उसने इतना बडा सघर्ष नही किया था। व
इस महान् सघर्ष के पीछे उसके अन्तर मे अनेक उद्देश्य थे। तात्कालिक देश
विघटनकारी प्रवृत्तियो ने उसके मानस मे तीव्र असतोष को जन्म दिया। क
से दबी हुई और कुशासन से प्रपीडित जनता को वह एक सार्वभौम सत्ता
सशक्त सुशासन देना चाहता था। हो सकता है कि नन्द के राजप्रासाद
अपमान ने उसके अन्तर मे छुपे उन विचारो को प्रचण्ड रूप दे कर उसे
क्रान्ति के लिये तीव्रतम प्रेरणा दी हो। अजस्र श्रम, शक्ति, शौर्य, साहस
मेधा से भी कष्टसाध्य इस महान् कार्य का श्रीगणेश करने से पहले
कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को किसी न किसी आदर्श विद्यालय मे उच्च
अवश्यमेव दिलाई होगी, यह तो निश्चित रूप से मानना ही पडेगा। उस
भारतवर्ष मे दो महान् विश्वविद्यालय थे, एक तो तक्षशिला का और
नालन्दा का। नन्द के नाक के नीचे रहे हुए नालन्दा विश्वविद्यालय मे चन्द्रगु
शिक्षा दिलाने का खतरा मोल न ले कर चाणक्य ने अवश्यमेव तक्षशिला
विद्यालय मे उसके लिये शिक्षा की व्यवस्था की होगी, यह अनुमान युक्ति
ठहराया जा सकता है।

जातक कथाओ से पता चलता है कि तक्षशिला विश्वविद्याल
राजकुमारो के लिये उच्चकोटि के सैनिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्थ

चाणक्य उस बालक के उत्तर को सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बडे ध्यान से बालक के शारीरिक लक्षणों को और आकृति को देखा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ कि वह बालक वस्तुत. राजा बनाये जाने के योग्य है। बालक के दृढ आत्मविश्वास और सहज निर्भय स्वभाव से चाणक्य बडा प्रभावित हुआ। उसके कुल-शील और माता-पिता के सम्बन्ध मे परिचय प्राप्त करने की इच्छा से चाणक्य ने एक बालक से पूछा – "यह बालक-राजा किसका पुत्र है ?"

अनेक बालको ने एक साथ उत्तर दिया – "महाराज ! यह एक संन्यासीजी महाराज का दत्तक पुत्र है। इसका नाम चन्द्रगुप्त है। जिस समय यह गर्भ में था उस समय इसकी माता को यह तीव्र चाह हुई कि वह चन्द्रमा को पी जाये। उसकी चाह पूरी न होने के कारण माता और गर्भ दोनो ही दिन-प्रतिदिन क्षीण होते चले गये। इसके नाना ने अपना दुःख उन संन्यासीजी महाराज के समक्ष प्रकट किया। सन्यासीजी ने इस शर्त पर इसकी माता की चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण करने का विश्वास दिलाया कि जिस पुत्र को यह जन्म दे उसे बडा होने पर उन्हे दे दिया जाय। इसके नाना ने संन्यासीजी की वह शर्त स्वीकार कर ली और उन महात्मा ने इसकी माता को न मालूम किस विद्या के प्रभाव से चाद पिला ही दिया। इसकी माता की चन्द्रमा को पीने की इच्छा पूर्ण होने से वह पूरी तरह स्वस्थ हो गई और उसने समय पर इस बालक को जन्म दिया। इसकी माता द्वारा चन्द्रमा के पिये जाने के कारण इस बालक की रक्षा हुई इसलिये इसके नाना-नानी ने इसका नाम चन्द्रगुप्त रखा। "महाराज ! यह बडा बहादुर तथा बहुत ही अच्छा लडका है पर क्या करे एक न एक दिन वे संन्यासीजी महाराज आयेंगे और इसको अपने साथ ले जायेंगे। हमारा यह प्यारा और अच्छा राजा एक दिन हम लोगों को छोड़ कर चला जायगा इस बात का हमे बडा दु ख है।"

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के मुख और मस्तक पर दुलार से हाथ फेरते हुए कहा – "मेरे बच्चे !" मै ही तो वह सन्यासी हू। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें राजा बना दूगा।"

महत्वाकाक्षी बालक चन्द्रगुप्त ने तत्काल चाणक्य के वामहस्त की कनिष्ठिका पकड ली और वह आशा के अनन्त नीलगगन मे अपने भावी साम्राज्य के सुन्दर-सुनहले चित्र बनाता हुआ चाणक्य के साथ हो लिया। अब तो वह राजा बन कर ही अपने नाना-नानी, माता-पिता और बाल-सखाओ से मिलेगा इस प्रकार का मन ही मन दृढ निश्चय कर चुकने के कारण बालक चन्द्रगुप्त ने अपने साथी बालको और अपने ग्राम की ओर मुड कर भी नही देखा। अपने स्वप्नो को साकार करने वाले उस स्वर्णिम सुयोग मे कही किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नही हो जाय, इस आशका से चाणक्य ने बालक के माता-पिता आदि अभिभावको को बिना पूछे ही उस गाव से अनिश्चित स्थान के लिये तत्काल प्रस्थान कर दिया।

ईसा की दूसरी शती मे हुए विदेशी विद्वान् जस्टिन ने सिकन्दर के अधिकारियो द्वारा तथा मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये सस्मरणो के आधार पर अपने "सारसग्रह" मे ये पक्तिया लिखी। इनसे हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुचते है –

सिकन्दर ने एक बडी सेना के साथ यूनान से लेकर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक के देशो को विजित करने के पश्चात् ईसा पूर्व ५२७ मे भारत पर आक्रमण किया। अनेक बडी-बडी राज्यसत्ताओ को पददलित एव पराजित कर देने के कारण सिकन्दर की सेना का मनोबल बढा हुआ था। नवीनतम शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित सिकन्दर की शक्तिशाली विशाल सेना के समक्ष भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती छोटे-छोटे राज्यो तथा गणराज्यो की सेनाए कडे सघर्ष के पश्चात् एक के बाद एक पराजित होती ही गई। इस दयनीय स्थिति को देखकर देश के आबाल वृद्ध के अन्तर्मन मे उत्पन्न हुए क्षोभ ने प्रत्येक भारतवासी को अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये कुछ न कुछ कर गुजरने की प्रेरणा दी। प्रबुद्ध बुद्धिजीवियो ने विदेशी शक्ति से लोहा लेने के लिये जनमानस को उभारा। नवयुवक अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्राणाहुति देने को तत्पर हुए। चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञ और रणनीति विशारदो की निगाह तक्षशिला मे "उच्च सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले शिक्षार्थियो की ओर गई और उनमे से सुयोग्य युवको का चयन कर उनके द्वारा युवावर्ग को आवश्यक सैनिक प्रशिक्षण दिलवाया तथा इस प्रकार तक्षशिला की सैनिक एकेडमी से शिक्षा प्राप्त स्नातको के सेनापतित्व मे तत्काल खडी की गई सैनिक टुकडियो मे से कुछ को विदेशी शासन की समाप्ति के लिये युद्ध के मैदानो मे भेजकर तथा कुछ को गुरिल्ला युद्ध से शत्रु की शक्ति क्षीण करने का कार्य सौप कर सामूहिक विद्रोह का झण्डा फहराया गया। चन्द्रगुप्त जैसा महत्वाकाक्षी युवक, जो उस समय तक तक्षशिला मे पर्याप्त सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका था, देश पर आई हुई सकट की घडियो मे चुपचाप नही बैठ सकता था। अत चन्द्रगुप्त ने भी एक सैनिक टुकडी का सेनापतित्व करते हुए सिकन्दर की सेना के सम्मुख डटकर लोहा लिया।

एक विदेशी लेखक, तूफान की तरह निरन्तर आगे बढती हुई अपने देश की बहादुर सेना की राह मे डटकर उसकी प्रगति को रोकने वाले भारतीय सेनापति के लिये यह लिखे कि – चन्द्रगुप्त ने डाकुओ का दल एकत्रित करके भारतवासियो को भडकाया – तो इसके लिये उसे दोष नही दिया जा सकता। ससार का इतिहास साक्षी है कि अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राणाहुति देने वाले रणबाकुरे देशभक्तो को आततायी सदा से ही चोर, डाकू, लुटेरे, गुण्डे आदि सम्बोधनो से सम्बोधित करते आये है।

अपने समय के अप्रतिम कूटनीतिज्ञ और राजनीति-विशारद चाणक्य के दूरदर्शितापूर्ण निर्देशन मे साहसी नवयुवक चन्द्रगुप्त ने अपनी मातृभूमि भारत को विदेशी यूनानियो की दासता से उन्मुक्त कराने का बीडा उठाया और अद्भुत धैर्य, साहस एव पराक्रम से उसने यूनानियो को भारतवर्ष की सीमाओ से बाहर

शिक्षा दी जाती थी। विश्वविद्यालय के अतिरिक्त वहा एक शिक्षाशास्त्री द्वारा स्वतन्त्र-रूप से भी राजकुमारो को इस प्रकार का सैनिक प्रशिक्षण दिये जाने का जातक कथाओ मे विवरण उपलब्ध होता है। नालन्दा विश्वविद्यालय की सैनिक एकेडेमी मे १०१ राजकुमार और स्वतन्त्र प्राध्यापक की शिक्षणशाला मे १०३ राजकुमार उच्च सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते रहते थे इस प्रकार का उल्लेख जातको मे है।

चाणक्य के समान उस समय के चोटी के विद्वान् के लिये चन्द्रगुप्त को उपरिवर्णित दोनो शिक्षण संस्थाओं मे से किसी एक मे प्रवेश दिला कर उच्च सैनिक प्रशिक्षण दिलवाना कोई कठिन कार्य नही था। ऐसी दशा मे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चाणक्य को मयूरपालको के ग्राम मे ज्यों ही प्रतिभाशाली बालक चन्द्रगुप्त मिला, त्यों ही वह उसे ले कर सीधा नालन्दा पहुचा और वहा उसने उसकी शिक्षा के लिये समुचित व्यवस्था की। हमारे इस अनुमान को ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए पाश्चात्य लेखक जस्टिन द्वारा लिखित 'एपिटोम' (सारसग्रह) के उस विवरण से बल मिलता है, जिसमे यह बताया गया है कि तत्कालीन यूनानियो के शासन का तख्ता उलट देने के लिये सैडोकोट्स (चन्द्रगुप्त) ने डाकुओ का दल एकत्रित कर के भारतवासियों को भडकाया। इसके कुछ समय पश्चात् जब वह सिकन्दर के सेनापतियो से लडने जा रहा था तो एक विशालकाय जगली हाथी ने उसको पालतू हाथी की तरह अपनी पीठ पर बैठा लिया। वह हाथी युद्ध में चन्द्रगुप्त का पथप्रदर्शक वन गया और रणक्षेत्र मे सदा बहुत आगे-आगे रहा।[1]

---

[1] ......He then passed over to India, which after Alexender's death, as if the yoke of servitude had been shaken off from its neck, had put his prefects to death. Sandrocottus had been the leader, who achieved their freedom, but after his victory he had forfeited by his tyranny, all little to the name of liberator : for having ascended the throne, he oppressed with servitude the very people whom he had emancipated from foreign thraldom He was born in humble life, but was prompted to aspire to royalty by an omen, significant of an august destiny For, when by insolent behaviour he had offended king Nandrus, and was ordered by that king to be put to death, he had sought safety by a speedy flight When he lay down, overcome with fatigue and had fallen into a deep sleep, a lion of enormous size, approaching the slumberer, liked with its tongue, the sweat, which oozed profusely from his body, and when he awoke, quietly took its departure It was this prodigy, which first inspired him, with the hope of winning the throne, and so having collected a band of robbers, he instigated the Indians to overthrow the existing government. When he was there, after preparing to attack Alexander's prefects, a wild elephant of monstrous size approached him and kneeling submissively like tame elephant, received him on to its neck and fought vigorously in front of the army. Sandrocottus having thus won the throne, was reigning over India when Seluecus was laying the foundation of his future greatness Seleucus having made a treaty with him and otherwise settled his affairs in the east, returned home to prosecute the war with Antigonous

—From Pompei Trogi XV 4 : as translated by Mr Crendle, Principal, Patna College (See Prof Hultzseh Corp Inscr. Indic. Pt 1. Pref xxxiii.

ग्रामीण महिला से चाणक्य को शिक्षा

नन्दवश को समाप्त करने की अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने हेतु जीवित रहने का दृढ सकल्प हृदय मे छुपाये हुए चाणक्य एक रात्रि मे विश्राम के लिये चन्द्रगुप्त के साथ एक एकात झौपडी मे ठहरा। उस वृद्ध महिला ने एक थाली मे गरम-गरम राव डाल कर अपने बालकों के सम्मुख रख दी। उन बालको मे से एक ने राव खाने के लिये थाली के बीच मे हाथ डाला और हाथ जल जाने के कारण कराह उठा। उस वृद्धा ने खीझ भरा उपालम्भ देते हुए उस बालक से कहा – "मेरे बच्चे ! तू भी चाणक्य की तरह नितात मूढ ही नजर आता है।"

वृद्धा की बात सुन कर चाणक्य चौक उठा। उसने वृद्धा से पूछा – "चाणक्य ने ऐसी कौनसी मूर्खता की है, जिसके कारण तुम इस बालक को उसके समान मूर्ख बता रही हो ?"

वृद्धा ने उत्तर दिया – "पान्थ ! जिस प्रकार चाणक्य ने मगध के सीमावर्ती क्षेत्रो को विजित किये बिना सहसा विशाल साम्राज्य के मध्यभाग मे स्थित पाटलीपुत्र नगर पर आक्रमण कर के भयकर पराजय के साथ प्राणसकट मोल लेने की मूर्खता की उसी प्रकार यह मूर्ख बालक भी थाली के किनारो के आस-पास की राब न खा कर गरमागरम राब के बीच मे हाथ डाल कर अपना हाथ जला चुका है।"

चाणक्य ने उस ग्रामीण वृद्धा द्वारा दिये गये ताने से शिक्षा ग्रहण की। मन ही मन वृद्धा का उपकार मानते हुए उसने रात भर जागते रह कर अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित किया और सूर्योदय से पूर्व ही अज्ञात स्थान के लिये वहा से प्रस्थान कर दिया।

अपने बुद्धि-कौशल से चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की ओर सरपट दौड से आते हुए नन्द के घुड सवारो को मौत के घाट उतार कर अपने तथा चन्द्रगुप्त के प्राणो की रक्षा की। अनेक सकटों का सामना करने के पश्चात् चाणक्य चन्द्रगुप्त के साथ मगध की सीमाओ से सकुशल बाहर निकलने मे सफल हुआ। निरापद स्थान पर पहुचने के पश्चात् चाणक्य ने पुन सैन्य-सगठन का कार्य प्रारम्भ किया। अब की बार चाणक्य ने हिमालय की तलहटी के राजा पर्वतक के साथ मित्रता की और उसे नन्द का आधा राज्य देने का विश्वास दिला कर धननन्द के राज्य पर आक्रमण करने के लिये राजी कर लिया। कुछ ही समय मे चन्द्रगुप्त ने भी एक सशक्त सेना सुगठित कर ली। चाणक्य के निर्देश के अनुसार चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सेनाओ ने सम्मिलित रूप से मगध राज्य पर आक्रमण किया और मगध के एक के पश्चात् दूसरे सीमावर्ती क्षेत्रो एव नगरो पर अधिकार करते हुए अन्ततोगत्वा पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। चाणक्य की इस नवीन रणनीति के कारण इस बार के युद्ध मे शीघ्र ही मगध का बहुत बडा भाग चन्द्रगुप्त तथा पर्वतक के अधिकार में आ जाने के कारण धन, जन, रसद आदि की दृष्टि से

खदेडने मे सफलता प्राप्त की। चन्द्रगुप्त उस राजनैतिक विप्लव के समय न तो किसी राज्य का शासक ही था और न उसके पास कोई नियमित सेना ही थी। उसने देश की आन-बान पर मर मिटने की साध रखने वाले युवकों को सगठित कर इस अति दुष्कर कार्य को सम्भव बनाया।

अपने देश मे विदेशी शासन का अन्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने अभिभावक अथवा भाग्यविधाता चाणक्य के आदेशानुसार पाटलिपुत्र पर अधिकार करने हेतु अनवरत परिश्रम द्वारा एक शक्तिशाली सेना का सगठन किया। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मगध जैसे उस समय के सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य की सुसगठित सेनाओं से लोहा लेने के लिये एक सशक्त सेना तैयार करने मे चन्द्रगुप्त और चाणक्य को पर्याप्त समय लगा होगा। पर्याप्त शक्तिशाली सेना के सगठित हो जाने और सभी प्रकार की सैनिक तैयारियां सम्पन्न हो जाने पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र पर प्रबल वेग के साथ आक्रमण करने का आदेश दिया। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के आदेश का पालन करते हुए तत्काल अपनी सेना के साथ पाटलिपुत्र की ओर रणप्रयाण किया। भारत पर विदेशी आक्रमण के समय से ही धननन्द सावधान हो चुका था। कही सिकन्दर उसके राज्य पर भी आक्रमण न कर दे, इस आशंका से उसने अपनी फौजो को सुसगठित कर रखा था। चन्द्रगुप्त द्वारा किये जाने वाले इस अप्रत्याशित आक्रमण की सूचना मिलते ही धननन्द अपनी विशाल वाहिनी के साथ चन्द्रगुप्त से युद्ध करने के लिये युद्धस्थल मे आ डटा। इस सैनिक अभियान मे चाणक्य भी चन्द्रगुप्त के साथ था। दोनो सेनाएं बड़ी वीरता के साथ लड़ी किन्तु मगध की सुसगठित और विशाल सेना के सम्मुख चन्द्रगुप्त की सेना के पैर उखड़ गये। चन्द्रगुप्त की सेना मे भगदड़ मचते ही धननन्द की सेना ने द्विगुणित वेग से उस पर प्रबल आक्रमण किया। परिणाम यह हुआ कि चन्द्रगुप्त की सेना के सिपाही वहुत वडी सख्या मे मगध की सेना द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये और अन्ततोगत्वा चन्द्रगुप्त और चाणक्य को अपने प्राणों की रक्षा के लिये युद्धस्थल छोड कर भागना पड़ा। धननन्द के आदेश से मगध के सैनिको द्वारा चन्द्रगुप्त और चाणक्य का पीछा किया गया। उस संकटापन्न भयानक स्थिति में भी प्रत्युत्पन्नमती चाणक्य ने चन्द्रगुप्त एवं स्वय के प्राणो की बड़ी ही दक्षता से रक्षा की।

धननन्द ने अपने राज्य मे घोषणा करवा दी कि जो कोई व्यक्ति चन्द्रगुप्त एव चाणक्य को जीवित अथवा मृत अवस्था मे उसके समक्ष प्रस्तुत करेगा उसे बहुत बडा पारितोषिक तथा राजकीय सम्मान दिया जायगा। ऐसी स्थिति मे चाणक्य और चन्द्रगुप्त के लिये पग-पग पर प्राणो का सकट था। उधर मगध का समस्त गुप्तचर विभाग एवं सैन्य सगठन चाणक्य एव चन्द्रगुप्त को पकड़ने के लिये धननन्द के समस्त साम्राज्य मे सक्रिय था पर चतुर चाणक्य चन्द्रगुप्त को साथ लिये विकट वनो, दुर्लंध्य पर्वतों और वेगवती नदियो को छद्मवेष मे पार करता चला जा रहा था।

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को बीच मे ही टोकते हुए कहा – "नही, नही चन्द्रगुप्त ! ऐसा न करो। तुम निस्संकोच होकर राजकुमारी को अपने रथ मे बैठने दो। रथ के पहिये के ९ आरो के टूटने का यह तुम्हारे लिये और तुम्हारी भावी पीढियो के लिये महान् शुभ शकुन है। तुम्हारी ९ पीढिया अक्षुण्णरूप से राज्य करती रहेंगी।"

"यथाज्ञापयति देव !" कहते हुए चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की आज्ञा को शिरोधार्य किया और धननन्द की राजपुत्री को अपने रथ मे बिठा लिया।

तदनन्तर चन्द्रगुप्त और राजा पर्वतक ने धननन्द की अतुल धन-सम्पत्ति का परस्पर विभाजन करना प्रारम्भ किया।

धननन्द की सम्पत्ति का बटवारा करते समय धननन्द के रनिवास की एक अद्भुत रूप – लावण्यसम्पन्न कन्या चन्द्रगुप्त और पर्वतक के समक्ष प्रस्तुत की गई। राजा पर्वतक उस कन्या को देखते ही उस पर मुग्ध हो गया। वह कन्यारत्न किसके पास रहे, इस प्रकार का प्रश्न उठने से पहले ही दूरदर्शी चाणक्य ने कहा – "चन्द्रगुप्त ! धननन्द की राजपुत्री तुम्हारा वरण कर चुकी है, अब यह अनुपम सुन्दरी कन्या महाराज पर्वतक की पत्नी बने, यही न्यायसगत है।"

चन्द्रगुप्त ने बिना किसी प्रकार की नन्नो-नच्च के अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। महार्घ्य वस्तुओ का बटवारा होते ही पर्वतक की इच्छानुसार उस रूपवती कन्या के साथ पर्वतक का विवाह बडी धूमधाम के साथ सम्पन्न किया जाने लगा। सुन्दर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित वर-वधू को हवन-वेदी के पास बिठाया गया और वर-वधू का परस्पर करग्रहण करवाने के पश्चात् विवाह की मागलिक क्रियाए की जाने लगी। विवाह-वेदी की अग्नि के ताप से वर-वधू के हाथो मे स्वेद उत्पन्न हुआ। वधू के हाथ का स्वेद लगते ही पर्वतक पर अति वेग से विष का प्रभाव होने लगा। वस्तुत वह कन्या विषकन्या थी, जिसे धननन्द ने अपनी राह के काटो को गुप्त रूप से साफ करने हेतु अनुपात से उत्तरोत्तर अधिकाधिक विष खिला कर पाला-पोसा था। उस विषकन्या के स्वेद के प्रभाव से पर्वतक के समस्त अगोपाग शिथिल होने लगे। उसके अन्तर मे विषजन्य तीव्र जलन होने लगी। उसने करुणापूर्ण याचनाभरे स्वर मे चन्द्रगुप्त को सम्बोधित करते हुए कहा – "मित्र ! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो मुझे विष पिला दिया गया हो। मेरे कण्ठ अवरुद्ध हो रहे है। अब मुझ मे बोलने का भी साहस नही रहा है। मेरे प्राण निकलने ही वाले है। कृपा कर मेरा शीघ्रतापूर्वक कुशल वैद्यो से उपचार करवाओ।"

चन्द्रगुप्त को सहसा ऐसा अनुभव हुआ मानो उस पर अनभ्र-वज्रपात हुआ हो। वह हडबडा कर अपने स्थान से उठा और – "कहा है मान्त्रिक ! कहा है वैद्य !" कहता हुआ स्वय द्वार की ओर भागा। चाणक्य ने इस प्रकार हड़बड़ा

चन्द्रगुप्त ग्रौर पर्वतक की सम्मिलित सैन्य शक्ति धननन्द के लिये ग्रजेय वन गई। ग्रन्ततोगत्वा तुमुल युद्ध के पश्चात् मगध की सेना युद्धस्थल छोड़ कर भाग खडी हुई। पाटलीपुत्र का पतन होते ही चन्द्रगुप्त ने धननन्द को जीवितावस्था मे पकड लिया। इस सैनिक ग्रभियान की सफलता का सारा श्रेय चाणक्य को दिया जा सकता है, जिसकी गूढ कूटनीतिक चालो के कारण चन्द्रगुप्त ग्रौर पर्वतक की सेनाग्रों को निरन्तर सफलताएं प्राप्त होती रही।

नन्दवंश का ग्रन्त : मौर्यवंश का ग्रभ्युदय

चन्द्रगुप्त ने ग्रपने गुरु चाणक्य के समक्ष बन्दी-वेष में धननन्द को उपस्थित किया। धननन्द ने चाणक्य के सम्मुख प्राणभिक्षा मागते हुए कहा कि वह ग्रव एकान्त मे धर्म-साधना करना चाहता है। चाणक्य ने धननन्द की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा कि वह ग्रपनी दोनों रानियो, एक पुत्री ग्रौर यथेप्सित धन-सम्पत्ति के साथ एक रथ में बैठ कर जहां चाहे वहां जा सकता है।

चाणक्य के ग्रादेशानुसार धननन्द ने ग्रपनी दोनों पत्नियो ग्रौर एक पुत्री को रथ मे बिठाया ग्रौर जीवनयापन योग्य पर्याप्त सम्पत्ति ले कर रथारूढ हो रथ को हाक दिया। जिस समय नन्द ने ग्रपने रथ को हाका दैवयोग से उसी समय चन्द्रगुप्त का रथ उसके सामने की ग्रोर से ग्राया। रथारूढ़ तेजस्वी युवक चन्द्रगुप्त पर दृष्टि पडते ही धननन्द की राजकुमारी ग्रपना समस्त भान-कुल-कान ग्रादि विस्मृत कर बैठी। जिस प्रकार चकोरी चन्द्र की ग्रोर विस्फारित नेत्रो से देखती रहती है उसी प्रकार धननन्द की कन्या ग्रपनी सुध-बुध भूले ग्रपलक दृष्टि से चन्द्रगुप्त की ग्रोर निहारती ही रह गई। ग्रनुभवी वृद्ध धननन्द से यह छुपा न रहा कि उसकी पुत्री चन्द्रगुप्त पर ग्रपना सर्वस्व न्यौछावर कर चुकी है। उसने रथ रोक कर ग्रपनी पुत्री से कहा – "वत्से ! क्षत्रिय कन्याग्रों के लिये स्वयंवर ही वर-चयन का श्रेष्ठ माध्यम माना गया है। तुम ग्रपनी इच्छानुसार प्रसन्नता-पूर्वक चन्द्रगुप्त का वरण करो। ग्रब तुम मेरे रथ से उतर कर चन्द्रगुप्त के रथ पर ग्रारूढ हो जाग्रो ग्रौर इस तरह मुझे तुम्हारे लिये सुयोग्य वर ढूँढने की चिन्ता से सदा के लिये मुक्त कर दो।"

ग्रपने पिता की बात सुनते ही वह राजकन्या मन्त्रमुग्धा सी तत्काल धननन्द के रथ से उतर कर चन्द्रगुप्त के रथ पर चढ़ने लगी। चन्द्रगुप्त के रथ पर नन्दराज की कन्या द्वारा एक पैर ही रखा गया था कि उसके पहियों के ९ ग्रारे चर्र-चर्र शब्द करते हुए तत्काल टूट गये।

यह देखते ही – "ग्ररे ! मेरे रथ पर यह महा ग्रमंगलकारिणी कौन ग्रारूढ हो रही है, जिसके द्वारा रथ मे एक पैर के रखने मात्र से मेरे रथ के ग्रारे टूट गये। यदि यह पूरी तरह से रथ में बैठ गई तो मेरे रथ का ही नही सभवत मेरा स्वय का ग्रस्तित्व भी खतरे मे पड़ जायगा" – यह कहते हुए चन्द्रगुप्त ने नन्ददुलारी को ग्रपने रथ में बैठने से रोका।

वश का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र के राजसिहासन पर अधिकार किया। पर तथ्यो की कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् यह नवीन मान्यता खरी नही उतरी और इतिहास के विद्वानो ने स्पष्ट रूप से यह कह दिया कि हेमचन्द्राचार्य की गणना मे असावधानी से पालक के राज्य के ६० वर्ष छूट गये है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा राजत्वकाल गणना मे हुई इस भूल के कारण भगवान् महावीर के निर्वाण काल मे भी ६० वर्ष का अन्तर आता था अत विद्वानो द्वारा इस सम्बन्ध मे गहन खोज की गई और उस खोज के परिणामस्वरूप यह तथ्य विद्वानो के समक्ष आया कि महाराजा कुमारपाल का काल देते समय आचार्य हेमचन्द्र ने पालक के राज्यकाल के ६० वर्षो को कालगणना मे सम्मिलित कर लिया है। यथा –

अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशतान्यमय षोडश।
नवषष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा ॥४५॥
कुमारपालभूपालो चौलुक्यकुलचन्द्रमा।
भविष्यति महाबाहु, प्रचण्डाखण्डशासन· ॥४६॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व १०, सर्ग १२]

आचार्य हेमचन्द्र के इस कथन के अनुसार कुमारपाल वी० नि० स० १६६९ मे हुआ और यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४२-४३ मे हुआ। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वाण-काल (वी० नि० स० १६६९-११४२) ई० पूर्व ५२७ मान कर तित्थोगालिय-पइण्णा मे दी गई कालगणना को तथ्यपूर्ण माना है।

इस प्रकार के पुष्ट प्रमाणो के उपरान्त भी कुछ विद्वान् "पण पण सय वियाणि णदाण" इस गाथापद का यह असगत अर्थ लगा कर कि वीर निर्वाण सवत् १५५ मे नन्दवश का अन्त हुआ – यह मान्यता अभिव्यक्त करते है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर नि० स० १५५ मे राजसिहासन पर आसीन हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर निर्वाण संवत् २१५ मे नन्द राज्यवश का अन्त कर राज्यारोहण किया अथवा वी० नि० सं० १५५ मे, यह एक बहुत बडा ऐतिहासिक प्रश्न है। इससे न केवल जैन इतिहास पर अपितु आज से लगभग २३०० वर्ष पहले के भारतवर्ष के इतिहास पर भी प्रभाव पड़ता है अत यहा नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख करना आवश्यक है।

ईसा पूर्व मई ३२७ से ईसा पूर्व मई ३२४ तक लगातार तीन वर्ष तक भारतवर्ष पर अलेक्जेण्डर का आक्रमण रहा। अलेक्जेण्डर द्वारा भारत मे नियुक्त अधिकारियो द्वारा लिखे गये युद्ध के सस्मरणो एव विभिन्न अन्य तथ्यो के आधार

1 Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of king Palaka after Mahaveera, [Epitome of Jainism Appendix A, P IV]

कर दौडते हुए चन्द्रगुप्त को एकान्त मे रोका और उसके कान में कहने लगा – "चन्द्रगुप्त ! तुम महान् भाग्यशाली हो, बिना उपचार के ही तुम्हारा प्राणहारी रोग स्वत: शान्त हो रहा है। पर्वतक की मृत्यु तुम्हारे लिये वरदान सिद्ध होगी। आगे चल कर एक न एक दिन तुम्हे इस पर्वतक को मार डालने के लिये बडा प्रयास करना पडता। यह राजनीति का अटल सिद्धान्त है कि अपने आधे राज्य के अधिकारी को जो मारने मे पहल नही करता वह एक न एक दिन स्वय ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। तुम्हे तो इसे एक न एक दिन मारना ही था। आज यह तुम्हारे द्वारा बिना किसी प्रकार का प्रयास किये ही स्वय मर रहा है, तो इसे मरने दो। अपने इस भाग्योदय को मौन धारण कर चुपचाप देखते रहो।"

अपने भाग्यविधाता चाणक्य की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस चन्द्रगुप्त मे नही था। अन्ततोगत्वा विषकन्या के विषाक्त प्राणहारी पसीने के प्रभाव से पर्वतक पंचत्व को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार वीर निर्वाण संवत् २१५ में जिस वर्ष कि आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हुआ, उसी वर्ष नन्दवश का अन्त, पर्वतक का प्राणान्त और पाटलिपुत्र के विशाल साम्राज्य तथा पर्वतक के राज्य पर चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक हुआ।

चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण-काल के सम्बन्ध में मतभेद

चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्द राजवश का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिहासन पर अधिकार किया, यह जैनो की प्राचीन काल से मान्यता चली आ रही है। इस मान्यता की पुष्टि जैन परम्परा के अति प्राचीन ग्रन्थ 'तित्थोगालियपइण्णा' के निम्नलिखित उल्लेख से होती है :–

> ज रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
> त रयणिमवतीए अभिसित्तो पालओ राया॥
> पालग रण्णो सट्ठी, पणपणसयं वियाणि णंदाणं।
> मुरियाणमट्ठिसय तीसा पुण पूसमित्ताणं॥

अर्थात् जिस रात्रि मे तीर्थंकर भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, उसी रात्रि मे पालक राजा का अवन्ती के राज्य सिहासन पर अभिषेक हुआ। पालक का ६० वर्ष तक, तदनन्तर नन्दों का १५५ वर्ष तक, नन्दों के पश्चात् मौर्यो का १०८ वर्ष तक और तदनन्तर पुष्यमित्र का ३० वर्ष तक राज्य रहा।

कालान्तर मे –

> एव च श्री महावीर मुक्तेर्वर्षशते गते।
> पचपचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥३३९॥

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा अपने परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित इस श्लोक के आधार पर दूसरी नवीन मान्यता प्रचलित हुई कि वीर नि० स० १५५ में नन्द

से लडता रहा । उसने यूनानी शासन को भारत से समाप्त कर दिया और वह स्वय राजा बन बैठा ।

इस प्रकार आज से क्रमशः दो हजार, १९ सौ, १८ सौ और १७ सौ वर्ष पूर्व हुए विदेशी लेखको की कृतियो के उपरिउद्धृत उद्धरणो से यह पूर्णरूपेण स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व ३२७ से ३२४ अर्थात् वीर नि० स० २०० से २०३ तक केवल चन्द्रगुप्त ही नही नन्द भी विद्यमान था और गगा दरिया तथा भारत के पूर्वी क्षेत्रो पर नन्द का शासन था ।

विदेशी लेखको की कृतियों मे इन महत्वपूर्ण विवरणो के पश्चात् और भी अनेक महत्वपूर्ण प्रमाण मिलते है, जिनमे चन्द्रगुप्त को भारत का सार्वभौम सत्तासम्पन्न शासक बताया गया है ।

यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर के साम्राज्य का उसके सेनापतियो ने परस्पर बटवारा किया और उनमे संघर्ष चलता रहा । सिकन्दर के उन सेनापतियो मे से सेल्यूकस ने सिकन्दर की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् ईरान तक अपने राज्य का विस्तार किया । इसके पश्चात् सेल्यूकस भारत की ओर बढा और सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेशो पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करने लगा । उसने अनेक बार वडी शक्तिशाली सेना ले कर भारत के उत्तरपश्चिमी भाग पर आक्रमण किये, किन्तु उस समय तक चन्द्रगुप्त मौर्य भारत मे एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर चुका था, अत चन्द्रगुप्त के समक्ष यूनानी सेना एक बार भी नही टिक सकी और सेल्यूकस को भारत के विरुद्ध किये गये अपने सभी सैनिक अभियानो मे हर बार पराजय का मुह देखना पडा । चन्द्रगुप्त ने ई० पू० ३०४ मे (नन्दवश का अन्त कर राजा बनने के ८ वर्ष पश्चात् वीर निर्वाण स० २२३ मे) सेल्यूकस को करारी हार दी जिसके परिणामस्वरूप सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त के साथ सधि करनी पडी । विदेशी लेखक प्लूटार्क अपनी कृति "लाइव्स" के ४२वे अध्याय मे इस सधि का उल्लेख अपने ढग से इस प्रकार करता है –

"इसके कुछ ही समय पश्चात् सेन्ड्रोकोट्टस ने जो उसी समय राजसिहासन पर बैठा था, सेल्यूकस को ५०० हाथी भेट किये और ६,००,००० की सेना ले कर सारे भारत को अपने अधीन कर लिया ।"

इन सब ऐतिहासिक घटनाओ के पर्यालोचन से यह तथ्य प्रकट होता है कि वीर निर्वाण सवत् २०० मे जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो उस समय देश की रक्षार्थ चन्द्रगुप्त ने यूनानियो से नि० स० २०४-५ तक लोहा लिया । यूनानी शासन को भारत से समाप्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के तत्वावधान मे शक्तिशाली सेना का सगठन करना प्रारम्भ किया । धननन्द जैसे शक्तिशाली राजा से युद्ध करने के लिये एक सशक्त सेना सुगठित करने मे पर्याप्त समय लगा होगा । सैन्यसगठन के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण

पर यूरोपीय लेखकों ने भारत पर अलेक्जेण्डर के आक्रमणकाल की घटनाओ के विवरण समय-समय पर अपनी कृतियो मे दिये है। उनसे यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त विदेशी आक्रान्ता से देश की रक्षार्थ लड़ा था और उस समय तक मगध पर नन्द का राज्य था। उन यूरोपीय लेखकों मे से चार लेखको की रचनाओ मे से एतद्विषयक कुछ उद्धरण यहा प्रस्तुत किये जा रहे है :-

(१) ईसा से ३६ वर्ष पूर्व तक जीवित डिओडोरस ने मेगस्थनीज की रचनाओ के आधार पर लिखा है -

"पोरस ने सिकन्दर को सूचना दी कि गगादिराई का राजा (नन्द) बिल्कुल दुश्चरित्र शासक है, जिसका कोई सम्मान नही करता और उसे लोग नाई की संतान समझते है।"

(२) ईसा की पहली शताब्दी के यूरोपीय लेखक कर्टियस ने लिखा है -

"पोरस (भारतीय राजा जिसे सिकन्दर ने झेलम की लडाई मे पराजित किया और जो उस समय उस प्रदेश का सबसे महान् व्यक्ति था) ने सिकन्दर को बताया कि वर्तमान राजा (नन्द) न केवल ऐसा आदमी है जिसकी मूलत. कोई प्रतिष्ठा नही थी बल्कि उसकी स्थिति नीचतम थी। उसका पिता वास्तव मे नाई था, जो चोरी छिपे रानी का प्रेमी बन गया और उसने छल से राजा का वध करवा दिया। फिर राजकुमारो के अभिभावक के रूप में काम करने के बहाने उसने सारी सत्ता अपने हाथ मे कर ली और सारे अल्पवयस्क राजकुमारो की हत्या करवा दी, उसके बाद उसके सतान हुई जो वर्तमान राजा है। जिससे उसकी प्रजा घृणा करती है या उसे शूद्र समझती है।"

(३) लगभग ४५ से १२५ ई० सन् मे हुए प्लूटार्क नामक लेखक ने अपनी "लाइव्स" (जीवनिया) नामक रचना के ५७वे से ६७वे अध्यायो मे सिकन्दर के जीवन की घटनाओ को देते हुए लिखा है :-

"सैड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) जो उस समय नवयुवक ही था, स्वय सिकन्दर से मिला था और बाद मे वह कहा करता था कि सिकन्दर बड़ी आसानी से पूरे देश पर (गंगादिराई तथा प्रासाई देश पर, जिस पर नन्द राजा का शासन था) अधिकार कर सकता था क्योकि वहा का राजा स्वभावत दुष्ट था और उसका जन्म नीच कुल मे हुआ था और इसीलिये उसकी प्रजा उसे घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी।"

(४) ईसा की दूसरी शती मे हुए यूरोपीय लेखक जस्टिन की रचना "एपिटोम" (सारसग्रह) का एतद्विषयक उद्धरण अविकल रूप से पहले दिया जा चुका है, जिसमे उसने स्पष्ट रूप से लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने डाकुओ का दल सगठित कर के भारतवासियो मे यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़काई तथा वह युद्ध के मैदानो मे एक जगली हाथी पर सवार हो कर यूनानियो

५. अलिकसुन्दर – एपिरस का अलेक्जेण्डर, (ई० पू० २५५ तक जीवित)।[1]

अशोक के राज्याभिषेक के समय के सम्बन्ध मे इस ग्रन्थमाला के प्रथम भाग मे वताया जा चुका है कि उसका राज्याभिषेक ई० पू० २६६ मे हुआ। इस हिसाब से अशोक का यह तेरहवा अभिलेख ई० पूर्व २५६ मे लिखा गया। ऊपर बताये हुए पाचो यूनानी राजा इस अभिलेख के लेखन-समय मे जीवित थे यह उनके सामने दी हुई तिथियो से स्पष्ट हो जाता है।

वीर निर्वाण सवत् २१५ अर्थात् ई० पू० ३१२ मे चन्द्रगुप्त ने नन्दवश को समाप्त कर उसके राज्य पर अधिकार किया। ३१२ ई० पूर्व चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने के काल और २६६ ई० पू० अशोक के राज्याभिषेक काल मे ४३ वर्ष का अन्तर रहा। इसमे से १८ वर्ष चन्द्रगुप्त का और २५ वर्ष बिन्दुसार का मिलाकर कुल ४३ वर्ष का इन दोनो का शासनकाल हो गया।

इन सब प्रबल प्रमाणो से पूर्णरूपेण यह सिद्ध हो जाता है कि जैन मान्यतानुसार चन्द्रगुप्त ने वीर निर्वाण सवत् २१५ तदनुसार ई० पू० ३१२ मे नन्द राजवश को समाप्त कर पाटलीपुत्र मे मौर्य राजवश की स्थापना की।

आर्य स्थूलभद्र का शिष्य-परिवार

आर्य स्थूलभद्र का शिष्य-परिवार यो तो बड़ा विशाल था पर उन शिष्यो मे अतिशय प्रतिभासम्पन्न निम्नलिखित दो शिष्य थे –

१ आर्य महागिरी एलापत्यगोत्रीय और
२ आर्य सुहस्ती, वाशिष्ठगोत्रीय

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती

भगवान् महावीर के सातवे पट्टधर एव आठवे आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् ९वे आचार्य आर्य महागिरि और १०वे आचार्य सुहस्ती हुए।

९. आर्य महागिरि

आर्य महागिरि का गोत्र एलापत्य था। आप ३० वर्ष गृहस्थ पर्याय मे रहे। आपकी सामान्य व्रतपर्याय ४० वर्ष, आचार्यकाल ३० वर्ष, सम्पूर्ण चारित्र पर्याय ७० वर्ष और पूर्ण आयु १०० वर्ष थी। वीर निर्वाण स० २४५ मे आपका स्वर्गवास हुआ।

१०. आर्य सुहस्ती

आर्य सुहस्ती ३० वर्ष की अवस्था मे दीक्षित हुए। आपकी सामान्य व्रतपर्याय २४ वर्ष, आचार्यकाल ४६ वर्ष, कुल चारित्रपर्याय ७० वर्ष और पूर्ण आयु १०० वर्ष थी। आपका गोत्र वाशिष्ठ था। वीर नि० स० २९१ मे आपका स्वर्गगमन हुआ।

---

[1] चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल (डा राधाकुमुद मुकर्जी), पृ० ७१-७२

किया, पर उस प्रथम युद्ध मे नन्द ने उसकी सेना को नष्ट कर दिया। अपनी भयंकर पराजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त और चाणक्य को जगलो और पहाडो में छुप-छुप कर अपने प्राणो की रक्षा करते हुए काफी समय तक इधर से उधर भटकना पडा। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नये सिरे से पुन सेना संगठित की। सैन्य संगठन के पश्चात् चाणक्य ने राजा पर्वतक से मित्रता की और उसे नन्द के राज्य पर आक्रमण करने को येन-केन-प्रकारेण सहमत किया। पर्वतक की सहायता प्राप्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने दूसरी बार नन्द पर आक्रमण किया और इस युद्ध मे चन्द्रगुप्त ने नन्द राजवंश का अन्त कर पाटलीपुत्र के राज्यसिहासन पर अधिकार किया। इन सब अति दुष्कर कार्यो को सम्पन्न करने मे चन्द्रगुप्त को निश्चित रूप से १० वर्ष अवश्य लगे होगे।

इस प्रकार वीर निर्वाण संवत् २१५ मे नन्दवश के अन्त और मौर्य साम्राज्य के प्रारम्भ के जो उल्लेख जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते है, वे उपरिलिखित ऐतिहासिक तथ्यो की कसौटी पर शतप्रतिशत खरे उतरते है।

चन्द्रगुप्त ने वीर निर्वाण सवत् २१५ मे नन्द राजवश को समाप्त कर मौर्य राजवश की स्थापना की, इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि अशोक के १३वे शिलालेख से भी होती है। अशोक के सभी अभिलेखों पर उसके राज्याभिषेक के पश्चात् बीते हुए वर्षो के अनुक्रम से तिथिया डाली गई है। उदाहरण के तौर पर अशोक के राज्याभिषेक के दो वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर दो, पांच वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर ५ और १३ वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर १३ की सख्या लिखी गई है। इस प्रकार अशोक के जिस अभिलेख पर जो सख्या लिखी गई है, वह उसके राज्याभिषेक के उसी सख्या वाले वर्ष मे लिखा गया है।

अशोक के १३वे राज्यवर्ष मे जो तेरहवा शिलालेख लिखा गया उसका भारतीय इतिहास मे तिथिक्रम की दृष्टि से बहुत बडा महत्व है। इस १३वे शिलालेख मे अशोक ने यूनान के उन पाच सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजाओ का उल्लेख किया है, जिनके साथ अशोक ने अपने शिष्टमडलो के माध्यम से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे। उन पाचो यूनानी राजाओ के नाम उनके इतिहास-सम्मत राज्यकाल के साथ यहा दिये जा रहे है –

१ अतियोक – बैबिलोन तथा ईरान का राजा ऐंटियोकस, द्वितीय थियोस, २६१–२४६ ई० पू०

२. तुरमय – मिस्र का राजा तोलेमाइयस, द्वितीय फिलाडेल्फोस, २८५–२४७ ई० पू०

३. अतिकिनि – मकदूनिया का राजा ऐंटिगोनस गोनाटस, २७७–२४० ई० पू०

४. मक – साइरीन का राजा मगस, ३००–२५० ई० पू० (बैलोख तथा गैयेर के अनुसार)

लेने से आचार्य स्थूलभद्र के पास वी० नि० स० २१४-१५ मे इनके दीक्षित होने की सगति भी बैठ जाती है और किसी महान् आचार्य के आयुष्य को इच्छानुसार कम या ज्यादा करने का प्रयास भी नही करना पडता। आर्य सुहस्ती तो शैशवावस्था से ही श्रमणोचित सस्कारो मे ढाले गये थे। ऐसी स्थिति मे उनकी औपचारिक दीक्षा ७ वर्ष पहले हो अथवा पश्चात्, उससे उनके महान् सत जीवन में कोई उल्लेखनीय अतर नही पडता।

श्रमण-जीवन

वीर निर्वाण स० १७५ मे दीक्षित होने के पश्चात् आर्य महागिरि ने अपने गुरु आचार्य स्थूलभद्र की सेवा मे रहते हुए दश पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः ३० और अनुमानत २३ वर्ष की अवस्था तक विदुषी आर्या यक्षा के सान्निध्य मे रह कर उन दोनो ने निश्चित रूप से एकादशागी का समीचीनरूपेण अध्ययन कर लिया होगा। तदनन्तर दीक्षित होने के पश्चात् आर्य महागिरि ने आचार्य स्थूलभद्र से १० पूर्वो का अध्ययन किया। आर्य सुहस्ती की दीक्षा के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र लगभग एक वर्ष तक जीवित रहे, अत उन्होने आर्य सुहस्ती को पूर्वो का अध्यापन प्रारम्भ तो कर दिया होगा पर उनके स्वर्गगमन के पश्चात् उन्हे दश पूर्वो का पूर्ण अध्यापन आर्य महागिरि ने ही किया होगा। सम्भवत यही एक बहुत बड़ा कारण था कि आर्य सुहस्ती ने जीवन पर्यन्त आर्य महागिरि का अपने गुरु की तरह पूर्ण सम्मान किया।

इन दोनो महापुरुषो ने क्रमश ४० और ३१ वर्ष के अपने सामान्य व्रत-पर्याय के समय मे कठोर तपश्चरण, निरतिचार विशुद्ध सयमपालन एव स्थविर श्रमणो की सेवा शुश्रूषा के साथ-साथ अनवरत अभ्यास और पूर्ण निष्ठा के साथ ज्ञानार्जन किया। ये दोनो महाश्रमण दो वस्तु कम १० पूर्वो के पूर्ण ज्ञाता थे।

आचार्य-पद

वीर निर्वाण सवत् २१५ मे अपने स्वर्गगमन के समय आचार्य स्थूलभद्र ने अपने इन दोनो सुयोग्य शिष्यो – आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती – को अपने उत्तराधिकारी के रूप मे भगवान् महावीर के आठवे पट्टधर-पद पर आचार्य नियुक्त किया।

प्राय कल्पसूत्र स्थविरावळी, परिशिष्ट पर्व, विभिन्न पट्टावलियाँ आदि सभी उपलब्ध प्राचीन एव अर्वाचीन ग्रन्थो मे आचार्य स्थूलभद्र द्वारा आर्य महागिरि और सुहस्ती – इन दोनो को साथ-साथ आचार्य पद प्रदान किये जाने का उल्लेख किया गया है, पर यह वस्तुत. विचारणीय है। इसका कारण यह है कि आर्य सुहस्ती आचार्य स्थूलभद्र के पास दीक्षित होकर सभवत एकादशागी का अभ्यास भी पूर्ण नही कर पाये होगे कि स्थूलभद्र स्वामी स्वर्गस्थ हो गये। आर्य सुहस्ती का पूर्व श्रुत का अभ्यास आर्य महागिरि के सान्निध्य मे उन्ही की कृपा से पूर्ण हुआ, जैसा कि परिशिष्ट पर्वकार ने स्वय आर्य सुहस्ती के

गृहस्थ जीवन

आर्य महागिरि और सुहस्ती के माता-पिता कौन थे और कहा के रहने वाले थे, एतद्विषयक कोई उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध नही होता। इन दोनो के दीक्षित होने से पहले के जीवन का केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि इन दोनों को शैशवावस्था से ही आर्या यक्षा की देखरेख मे रखा गया। इन दोनो का लालन-पालन-शिक्षण आदि आर्या यक्षा के तत्वावधान मे हुआ। कहा जाता है कि इसी की स्मृति के रूप मे इन दोनो के नाम से पहले आर्य विशेषण रखा गया पर यह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योकि "आर्य" इस विशेषण का प्रयोग शास्त्रो मे सुधर्मा और जम्बू के लिये भी प्रयुक्त किया गया है। इन दोनो ने क्रमश· ३०-३० वर्ष की वय में आचार्य स्थूलभद्र के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य महागिरि का जन्म वीर निर्वाण सवत् १४५ मे और आर्य सुहस्ती का जन्म वीर निर्वाण सवत् १९१ मे हुआ।

श्रमण-दीक्षा

ऊपर दिये गये इन दोनो आचार्यों के जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल और स्वर्गारोहण के आँकडो के अनुसार आर्य महागिरि का दीक्षाकाल वी० नि० सं० १७५ और आर्य सुहस्ती का दीक्षाकाल वी० नि० स० २२१ माना गया है। दु षमा श्र० सघस्तोत्रयत्र के अनुसार इन दोनों आचार्यो की पूर्णायु सौ-सौ वर्ष मानी गई है तथा युगप्रधान पट्टावली मे आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् इन दोनो आचार्यो का आचार्यकाल क्रमश ३० और ४६ वर्ष का माना गया है[1], इससे उपरिवर्णित काल की पुष्टि होती है।

जहा तक आर्य महागिरि का सम्बन्ध है, उपरोक्त कालगणना मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होती किन्तु ऊपर बताये हुए आंकड़ो के अनुसार आर्य सुहस्ती की दीक्षा का काल वी० नि० सं० २२१ मे आता है; उसमें सबसे बडी आपत्ति यह आती है कि आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र का हस्तदीक्षित शिष्य माना गया है और आचार्य स्थूलभद्र वीर नि० सं० २१५ में ही स्वर्गवासी हो गये थे। ऐसी स्थिति मे आचार्य स्थूलभद्र के पास वीर नि० स० २२१ मे उनके दीक्षित होने की बात संगत और सत्य नही बैठती। आचार्य स्थूलभद्र के स्वर्गगमनकाल को १० वर्ष आगे सरका कर इसकी सगति बैठाने का कुछ विद्वानो की ओर से प्रयास किया गया है पर इस प्रकार की पद्धति को अपनाने से तो अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ की प्रमाणिकता ही समाप्त हो जायगी। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती २३ वर्ष की अवस्था मे दीक्षित हुए हो और किसी लिपिकार के प्रमाद से तेवीस के स्थान पर तीस की सख्या प्रचलित हो गई हो। तेवीस वर्ष की अवस्था मे इनके दीक्षित होने की बात को स्वीकार कर

---

[1] (वीर निर्वाण स० २१५ मे आ० स्थूलभद्र के स्वर्गगमन के पश्चात्)
अज्ज महागिरि तीस, अज्ज सुहत्थीण वरिस छायाला। [स्थविरावली]

नन्दी सूत्र की चूर्णि[1] मे आर्य महागिरि और सुहस्ती की आचार्य-परम्पराओ के पृथक्-पृथक् रूप में अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख किया गया है फिर भी निशीथ चूर्णिकार ने आर्य महागिरि को आचार्य न मानकर केवल आर्य सुहस्ती को ही स्थूलभद्र स्वामी द्वारा गण सम्हलाये जाने की मान्यता अभिव्यक्त की है, इसके पीछे उनका क्या उद्देश्य है – यह नही कहा जा सकता।

इस प्रकार की स्थिति मे सहज ही अनेक प्रश्न उठ सकते है। क्या आर्य महागिरि आचार्य नही थे ? यदि थे तो किस गण के, स्थूलभद्र स्वामी द्वारा गण दिये जाने के समय तक आर्य सुहस्ती १० पूर्वो के ज्ञाता हो चुके थे अथवा उसके पश्चात् हुए ? यदि उसके पश्चात् हुए तो उन्होने १० पूर्वो का ज्ञान किन से प्राप्त किया और तब तक गण के आचार्य कौन रहे आदि अनेक प्रश्न स्पष्ट निर्णय की अपेक्षा रखते है। इन सब प्रश्नो का समुचित समाधान आर्य महागिरि को आचार्य मानने पर ही हो सकता है।

ऐसी स्थिति मे यह सभव है कि चूर्णिकार ने पश्चाद्वर्ती किसी मतभेद से प्रभावित होकर निशीथचूर्णि मे इस प्रकार का उल्लेख किया हो।

इन दोनो आचार्यो के आचार्यकाल मे जैन धर्म का भारतवर्ष के सुदूर प्रदेशो मे प्रचार एव प्रसार हुआ। यो तो आचार्य भद्रबाहु के शिष्य गोदास से निकले हुए गोदासगण की ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पुण्ड्रवर्द्धनिका आदि शाखाए क्रमश दक्षिण बगाल के तत्कालीन प्रसिद्ध बन्दर ताम्रलिप्ति, पश्चिमी बगाल के कोटिवर्ष नगर और उत्तरी बगाल की तत्कालीन राजधानी पुण्ड्रवर्द्धन मे फैल चुकी थी किन्तु फिर भी जैन परम्परा का प्रधान केन्द्र मुख्यत मगध प्रदेश ही रहा। इन दोनो आचार्यो के समय मे अवन्ती प्रदेश का भी जैन परम्परा के एक सुदृढ केन्द्र के रूप मे आविर्भाव हुआ। ११ अग और १० पूर्वो के विशिष्ट अभ्यासी इन दोनो आचार्यो ने जैन परम्परा को उत्कर्ष की एक उल्लेखनीय सीमा तक पहुचा दिया।

इन महान् आचार्यो के शान्त, दान्त, तप स्वाध्यायपूत आदर्श श्रमण-जीवन से श्रमणो तथा अन्य साधको ने महती प्रेरणा प्राप्त की और अपने जीवन को उज्ज्वल और आदर्श बनाये रखा।

आर्य महागिरि की विशिष्ट साधना

आर्य महागिरि ने अपने अनेक शिष्यो को आगमो की वाचनाए देकर उन्हे एकादशागी का निष्णात विद्वान् बनाया। तदनन्तर उन्होने अपना गच्छ भी आर्य सुहस्ती को सभला दिया और गच्छ की नेश्राय मे रहते हुए उच्छिन्न जिन-

---

[1] सुहत्थिस्स सुट्ठित – सुपडिबुद्धादओ आवलीते जहा दसासु तहा भाणितव्वा, इह तेहिं अहिगारो णत्थि, महागिरिस्स आवलीए अधिकारो।

[नदी चूर्णि, पृ० ८ पुण्यविजयजी द्वारा सपादित]

मुख से आर्य महागिरि के लिये कहलवाया है – "ममैते गुरवः खलु" – 'ये मेरे गुरु है।' ऐसी स्थिति में वीर नि० सं० २१५ में स्वल्प दीक्षाकाल वाले आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र द्वारा महागिरि के साथ आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की बात पूर्ण संगत प्रतीत नही होती।

इन सब तथ्यों के संदर्भ में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों को एक साथ आचार्यपद पर नियुक्त किये जाने के उल्लेख के पीछे कोई न कोई विशिष्ट स्थिति अथवा कारण अवश्य होना चाहिए।

एतद्विषयक सभी तथ्यों के सम्यक् पर्यालोचन से यह अधिक सभव प्रतीत होता है कि आर्य महागिरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय आचार्य स्थूलभद्र ने अपने विशिष्ट ज्ञान से आर्य सुहस्ती को शासन संचालन मे विशेष कुशल एवं प्रतिभाशाली समझकर आर्य सुहस्ती को कालान्तर मे आचार्यपद प्रदान करने का उन्हे (महागिरि को) आदेश दिया हो। सभवतः इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती – इन दोनों की शिष्य-परम्पराओ का गुरु-परम्परा के रूप मे स्थूलभद्रस्वामी के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ने की दृष्टि से इन दोनों को एक साथ आचार्य स्थूलभद्र का पट्टधर बताया गया हो।

इसके अतिरिक्त दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि विशिष्ट श्रुतधर और शिष्यसम्पदा सम्पन्न होने पर भी इन दोनो आचार्यो की साधु परम्पराएं वात्सल्य भाव से एक ही व्यवस्था मे रही हों और वीर नि० सं० २१५ से २४५ तक जब कि आर्य महागिरि युगप्रधान आचार्य रहे, उस काल में भी पीछे चल कर आर्य महागिरि ने वाचना के अतिरिक्त व्यवस्थाकार्य आर्य सुहस्ती को संभला रखा हो। सभव है इस कारण से भी आर्य सुहस्ती को आर्य महागिरि के साथ आचार्यपद पर नियुक्त किये जाने का उल्लेख किया गया हो।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्राय. सभी ग्रन्थों मे आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् आचार्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के आचार्य होने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है तथापि यह देख कर बडा आश्चर्य होता है कि चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने निशीथ चूर्णि मे प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों, पट्टावलियो एव परम्परागत मान्यता से पूर्णरूपेण भिन्न उल्लेख किया है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने आर्य महागिरि और सुहस्ती दोनो को आचार्य स्थूलभद्र के युगप्रधान शिष्य एवं आर्य महागिरि को ज्येष्ठ मानते हुए भी स्पष्ट शब्दो में उल्लेख किया है कि आचार्य स्थूलभद्र ने आर्य महागिरि को अपना गण न देकर आर्य सुहस्ती को दिया। ऐसा होने पर भी आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती एक साथ ही विचरण करते रहे।[1]

---

[1] थूलभद्दस्स जुगप्पहाणा दो सीसा – अज्ज महागिरि अज्ज सुहत्थी य। अज्ज महागिरी जेट्ठो। अज्ज सुहत्थी तस्स सट्ठियरो।

थूलभद्दसामिणा अज्ज सुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो। तहावि अज्ज महागिरि अज्ज सुहत्थी य पीतिवसेण एक्कओ विहरति।

[निशीथ सूत्र भाष्य चूर्णि सहित, २ विभाग, उ० ५, पृ० ३६१]

तदनन्तर श्रेष्ठिपरिवार को प्रतिबोध देकर आर्य सुहस्ती अपने स्थान पर लौट गये। श्रेष्ठी वसूभूति ने अपने घर के सब लोगो को समझा दिया कि वे मुनि जब कभी इस घर मे भिक्षार्थ आये तो उन्हे यह अभिव्यक्त करते हुए भिक्षा मे समुचित भोज्य सामग्री दे कि भगवन् ! यह सब कुछ हम बाहर डाल रहे थे।

दूसरे दिन आर्य महागिरि भिक्षार्थ श्रेष्ठी वसुभूति के घर पधारे तो श्रेष्ठी के भृत्यो एव परिजनो ने विपुल भोजन सामग्री को त्याज्य बताते हुए उन्हे भिक्षा मे देना चाहा। महातपस्वी महागिरि ने ज्ञानोपयोग से समझ लिया कि वह भिक्षा उनके अभिग्रह के अनुसार विशुद्ध और निर्दोष नही है अत वे बिना भिक्षा ग्रहण किये ही श्रेष्ठी के घर से लौट गये।

तत्कालीन श्रमणसघ मे आचार्य महागिरि का स्थान सर्वोच्च माना जाता रहा है। वे पूर्वज्ञान के विशिष्ट अभ्यासी होने के साथ-साथ विशुद्ध आचार के भी सबल समर्थक एव पोषक थे। उन्हे आहार, विहार एव सयम मे स्वल्पमात्र भी शिथिलता सह्य नही थी। जब उन्होने श्रेष्ठी वसुभूति की धर्मभक्ति और रागवश सदोष आहार देने की प्रवृत्ति देखी तो उन्होने एक दिन आर्य सुहस्ती से कहा – "सुहस्तिन् ! कल तुमने श्रेष्ठिपरिवार के समक्ष मेरे प्रति विनय प्रदर्शित कर वहा मेरे लिये अनेषणा की स्थिति पैदा कर दी। तुम्हारे मुख से प्रशसा सुनकर उन लोगों ने आज मुझे भिक्षा मे देने हेतु भोजन परित्यक्त के रूप मे सजा रखा था।"

आर्य सुहस्ती ने आर्य महागिरि के चरणो पर अपना मस्तक रखते हुए क्षमायाचना की और कहा – "भगवन् ! भविष्य मे मै ऐसा कभी नही करूगा।"

इस प्रकार उच्छिन्न जिनकल्प के अनुसार साधुचर्या का पालन करते हुए आर्यगिरि ने अनेक वर्षो तक बडी उग्र तपस्याए करके अपने समय मे एक उच्च कोटि के श्रमणजीवन का मापदण्ड स्थापित किया। वे अपने समय के अद्वितीय चारित्रनिष्ठ और उच्चकोटि के श्रमणश्रेष्ठ थे। अन्त मे वे एलकच्छ (दशार्णपुर) के पास गजाग्रपद नामक स्थान पर पधारे और वहा उन्होने अनशन कर वीर निर्वाण स० २४५ मे १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

आर्य महागिरिकालीन राजवंश

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य स्थूलभद्र के आचार्यकाल के अन्तिम दिनो मे (वीर नि० स०२१५ मे) मौर्य राजवश का अभ्युदय हुआ। आर्य महागिरि के आचार्यत्वकाल मे इस राजवश के प्रथम राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने प्रेरणास्रोत महामात्य चाणक्य के परामर्शानुसार अनेक वर्षो तक विदेशी और आन्तरिक राजसत्ताओ के साथ सघर्षरत रहते हुए समस्त भारत को अपने सुदृढ शासनसूत्र मे बाध कर एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न, सशक्त एव विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसने काबुल और कन्धार से भी यूनानी विजेता सेल्यूकस को खदेड कर उन प्रदेशो को वृहत्तर भारत की राज्यसीमा मे सम्मिलित किया।

कल्प का श्रमणाचार पालन करना प्रारम्भ किया।[1] आर्य महागिरि ने जिनकल्पी आचार स्वीकार करने के पश्चात् भी गच्छवास नही छोडा। उनका विचरण तो आर्य सुहस्ती और अपने श्रमणों के साथ ही होता था। किन्तु वे भिक्षाटन एकाकी ही करते और निर्जन एकान्त स्थान में एकाकी ही ध्यानमग्न रहते। उन्होने यह घोर अभिग्रह किया कि जो रूखा-सूखा-बासी अन्न गृहस्थों द्वारा बाहर फैंकने योग्य होगा, भिक्षा मे उसी अन्न को वे ग्रहण करेंगे।

विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती एक समय अपने श्रमणसमूह के साथ पाटलिपुत्र पधारे। वहां पर वसुभूति नामक एक अति समृद्ध श्रेष्ठी ने आर्य सुहस्ती के उपदेश से प्रबुद्ध हो श्रावकधर्म अगीकार किया। श्रेष्ठी वसुभूति ने अपने परिवार के सब सदस्यो को जिनप्ररूपित धर्म की महत्ता समझाते हुए जैन धर्मावलम्बी बनाने का बहुत प्रयास किया। जब वसु-भूति ने देखा कि वह उन्हें धर्म के गूढ तत्व को सतोषजनक ढग से नही समझा पा रहा है तो उसने आर्य सुहस्ती से प्रार्थना की कि वे उसके घर पधार कर उसके परिवार के लोगो को धर्म का सही स्वरूप समझावे।

श्रेष्ठी वसुभूति की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य सुहस्ती वसुभूति के घर जाकर उसके परिवार के सदस्यो को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाकर उन्हे जिनधर्मानुरागी बनाने लगे। जिस समय आर्य सुहस्ती उपदेश दे रहे थे उसी समय आर्य महागिरि भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए श्रेष्ठी वसुभूति के निवासस्थान पर पधारे। आर्य महागिरि को देखते ही आर्य सुहस्ती ने आसन से उठकर बड़े विनय के साथ उन्हें वन्दन-नमन किया।

महागिरि के लौट जाने पर श्रेष्ठी वसुभूति ने आर्य सुहस्ती से पूछा– "गुरुवर! आप तो विश्ववंद्य है। क्या आपके भी कोई गुरु है जो आपने अभी यहा आये हुए मुनिराज को वन्दन किया?"

आर्य सुहस्ती ने कहा–"श्रेष्ठिमुख्य! वे महान् तपस्वी मेरे गुरु है। गृहस्थो द्वारा बाहर फैके जाने योग्य अन्न को ही वे भिक्षा मे ग्रहण करते है। यदि इस प्रकार का त्याज्य अन्न भिक्षा मे न मिले तो वे उपवास पर उपवास करते रहते है। वस्तुतः उनका नाम निरन्तर रटने योग्य और चरणरज मस्तक पर चढाने योग्य है।"[2]

---

[1] महागिरिर्निज गच्छमन्यदादात्सुहस्तिने।
विहर्तुंजिनकल्पेन त्वेकोऽभून्मनसा स्वयम् ॥३॥
व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्रास्थितोऽपि हि।
जिनकल्पार्हया वृत्या विजहार महागिरिः ॥४॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११]

[2] सुहस्ती स्माह भो! श्रेष्ठिन्ममैते गुरव खलु।
त्यागार्हभक्तपानादिभिक्षामाददते सदा ॥१३॥
ईदृग्भिक्षाशना ह्येतेऽपरथा स्युरुपोषिता।
सुगृहीतं च नामैषां वन्द्यं पादरजोऽपि हि ॥१४॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११]

मौर्य सम्राट् बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार भारत के विशाल साम्राज्य का स्वामी बना। विभिन्न ग्रन्थों मे बिन्दुसार के विभिन्न नाम उपलब्ध होते है। वायुपुराण आदि पुराणग्रन्थो मे उसे भद्रसार एव वारिसार के नाम से, महावश तथा दीपवश नामक बौद्ध ग्रन्थों मे बिन्दुसार के नाम से और यूनानी अभिलेखो एव पुस्तको मे अमित्रचेटस और अमित्रघात के नाम से अभिहित किया गया है।

बृहत्कल्पभाष्य के उल्लेखानुसार[1] सम्राट् बनने के पश्चात् बिन्दुसार ने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य की सीमाओ मे अभिवृद्धि की। वह बडा न्यायप्रिय, दयालु और जैन धर्म में आस्था रखने वाला प्रजावत्सल सम्राट् था। अपने शासन-काल मे पडे दुष्काल के समय मे उसने दानशालाएँ एव सार्वजनिक भोजनशालाएँ खोल कर अपनी दुष्कालपीडित प्रजा की मुक्तहस्त हो सहायता की। बिन्दुसार के दरबार मे सेल्युकस के पुत्र एेटिओकोस प्रथम की ओर से डाइमैकस नामक यूनान का एक राजदूत रहता था।

बिन्दुसार का अपर नाम अमित्रघात (शत्रुओ का सहारक) उपलब्ध होता है, इससे विद्वानो द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि उसे काफी समय तक युद्धरत रहना पडा होगा और शत्रुओ पर विजय के उपलक्ष मे उसने "अमित्रघात" की उपाधि धारण की होगी। बिन्दुसार के शासनकाल के अन्तिम चरण मे उसके साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तक्षशिला मे विद्रोह उठ खडा हुआ था। उस विद्रोह को दबाने के लिये उसे एक बहुत बडी सेना के साथ राजकुमार अशोक को भेजना पडा।

चाणक्य की मृत्यु

छाया की तरह अपने अनन्य अनुगामी मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् चाणक्य ने श्रमणधर्म मे दीक्षित हो आत्मकल्याण करने का निश्चय किया था किन्तु बिन्दुसार द्वारा बारम्बार आग्रह एव अनुनय-विनय किये जाने पर उसने कुछ समय तक महामात्य पद पर कार्य करना स्वीकार किया।

अहर्निश मगध साम्राज्य के महामात्य पद की प्राप्ति के स्वप्न देखने वाला सुबन्धु नामक एक अमात्य राजा, राज्य और प्रजा पर चाणक्य के वर्चस्व एव सर्वतोमुखी प्रभाव को देख कर मन ही मन चाणक्य से जलने लगा। उसने यथावसर येन-केन-प्रकारेण बिन्दुसार को चाणक्य के विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ किया। एक दिन सुबन्धु ने बिन्दुसार के समक्ष उसकी माता की मृत्यु की घटना का अतिरजित रूप मे इस ढग से चित्रण किया कि मानो चाणक्य ने ही उसकी (बिन्दुसार की माता की) हत्या की हो। इस प्रकार बिन्दुसार के मस्तिष्क मे चाणक्य के प्रति मनोमालिन्य उत्पन्न करने मे अन्ततोगत्वा सुबन्धु को सफलता

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ११२७। निशीथ भाष्य चूर्णि, भा० ४ पृ० १२६

अनेक प्राचीन ग्रन्थो में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि जिस समय चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के राज्यसिहासन पर आसीन हुआ उस समय वह जैन धर्मावलम्बी नही था। पर चाणक्य ने अनेक युक्तियों से जैन धर्म और जैन श्रमणो की महत्ता सिद्ध कर चन्द्रगुप्त को जैन धर्मावलम्बी बनाया। इसके परिणामस्वरूप आगे चल कर चन्द्रगुप्त जैन धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था रखने वाला परम श्रद्धालु श्रावक बन गया और उसने जिन-शासन की उल्लेखनीय सेवाए की।

कही कोई षड्यन्त्रकारी धोखे से विष आदि के प्रयोग द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या न कर दे, इस दृष्टि से दूरदर्शी चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र के राज्यसिहासन पर आसीन करने के पश्चात् शनै शनैः भोज्य पदार्थो के साथ अति स्वल्प मात्रा में विष खिलाना प्रारम्भ कर दिया था। अनुपात से बढाया गया वह प्राणहारी विष चन्द्रगुप्त के लिये अमृततुल्य परमावश्यक पौष्टिक औषध का काम करने लगा। अनुक्रमशः इस प्रकार चन्द्रगुप्त के प्रतिदिन के भोजन मे विष की मात्रा इतनी अधिक बढा दी गई कि यदि चन्द्रगुप्त के लिये बने उस भोजन मे से कोई दूसरा व्यक्ति थोडा सा अंश भी खा लेता तो उसके लिये वह विषमिश्रित भोजन तत्काल प्राणापहारी सिद्ध हो जाता था।

बिन्दुसार का जन्म

एक दिन मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जिस समय भोजन कर रहे थे, उसी समय गर्भिणी राजमहिषी वहाँ उपस्थित हुई। महारानी ने चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने की इच्छा अभिव्यक्त की। चन्द्रगुप्त ने ज्यो-ज्यो निषेध किया, त्यो-त्यो राजमहिषी का हठाग्रह वढता ही गया और अन्ततोगत्वा महारानी ने चन्द्रगुप्त के थाल मे से थोडी सी भोज्य सामग्री झपट कर अपने मुह में रख ही ली। विषाक्त भोजन ने तत्काल अपना प्रभाव दिखाया और देखते ही देखते महारानी मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ी। तत्क्षण राजप्रासाद मे सर्वत्र हाहाकार व्याप्त हो गया। उसी समय महामात्य चाणक्य घटनास्थल पर उपस्थित हुए।

"अब महारानी के प्राण किसी भी उपाय से नही वचाये जा सकते"— यह कहते हुए चाणक्य ने शल्यचिकित्सिकाओ को आदेश दिया कि वे यथाशीघ्र महारानी के पेट को चीर कर गर्भस्थ शिशु के प्राणो की रक्षा करे। तत्काल शल्य क्रिया द्वारा गर्भस्थ शिशु को गर्भ से बाहर निकाल लिया गया। माता द्वारा खाये गये विषाक्त भोजन का बालक पर कोई विशेष प्रभाव नही हुआ था, केवल उसके ललाट पर नीले रग की बिन्दी का चिन्ह ही बन पाया था। विषजन्य विन्दी के कारण राजकुमार का नाम बिन्दुसार रखा गया।

वीर निर्वाण स० २१५ से १८ वर्ष तक भारत के वहुत बड़े भूभाग पर शासन करने के पश्चात् मौर्यसाम्राज्य का सस्थापक मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त वीर नि० सं० २३३ मे इहलीला समाप्त कर परलोकगामी बना।

हो गया उसने यह सोच कर उसे खोला कि उसमे अपार सम्पत्ति भरी पडी होगी। पर सन्दूक के खुलते ही उसमे से एक तीव्र गन्ध निकली और उसके प्रभाव से सुबन्धु तत्काल नितान्त अस्थिर प्रकृति का एव अर्द्धविक्षिप्त बन गया। 'शठे शाठ्य समाचरेत्' इस उक्ति का अनुसरण करते हुए चाणक्य ने उस सन्दूक मे इस प्रकार की औषधिया रख दी थी, जिनकी तीव्र गन्ध से मस्तिष्क की शिराए सदा के लिए सिकुड जाय। चाणक्य भली-भाति जानता था कि उसकी मृत्यु के पश्चात् सुबन्धु उसकी सम्पत्ति पर येन-केन-प्रकारेण अवश्य अधिकार करेगा।

चाणक्य द्वारा चलाया गया युक्ति का तीर ठीक लक्ष्य पर लगा और सुबन्धु अनेक प्रकार के कष्टो से पीडित हो बडी दुर्दशापूर्ण स्थिति मे काल का कवल बना।

आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल का राजवंश

वीर नि० सं० २४५ मे आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् जिस समय आर्य सुहस्ती आचार्य बने उस समय मौर्य सम्राट् बिन्दुसार के शासनकाल का अनुमानत· बारहवा वर्ष चल रहा था। आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल मे लगभग १३ वर्ष तक बिन्दुसार का सत्ताकाल रहा। २५ वर्ष तक शासन करने के पश्चात् वीर नि० स० २५८ मे बिन्दुसार परलोकवासी हुआ।

मौर्यसम्राट् अशोक

आर्य सुहस्ती के आचार्यत्वकाल मे बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अशोक (वीर नि० स० २५८ मे)[1] मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति बना। उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर अनेक इतिहासविदों की मान्यता है कि अशोक का पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्त दोनो ही जैनधर्मावलम्बी थे, अत अशोक भी प्रारम्भ मे जैनधर्मावलम्बी ही था।[2] अपने राज्य के ८वे वर्ष (वीर नि० स० २६६) मे अशोक ने कलिग पर आक्रमण किया। कलिगपति क्षेमराज अपनी सशक्त विशाल सेना ले कर रणागण मे आ डटा। दोनो ओर से बडा भीषण युद्ध हुआ। क्षेमराज के वीर सैनिको ने कलिग की रक्षा के लिये बडी वीरता पूर्वक युद्ध किया किन्तु मगध साम्राज्य की अतिप्रबल अगणित सेना के सम्मुख भीषण रक्तपात के पश्चात् अन्ततोगत्वा उन्हे पराजय का मुख देखना पडा। कलिग के उस युद्ध मे डेढ लाख सैनिक बन्दी बनाये गये, एक लाख योद्धा मारे गये तथा इससे कही अधिक योद्धा युद्ध मे लगे घावो के फलस्वरूप युद्ध-समाप्ति के पश्चात् मर गये। इस भीषण नरमेध से अशोक के हृदय पर बडा

---

[1] गुर्जरा, रूपनाथ, सहसराम ब्रह्मगिरि, सिंहपुर, गोविमठ और अहरोरा के शिलालेखो पर २५६ का अक उल्लिखित है। इसे इतिहासज्ञ वीर नि० स० २५६ मानने लगे है।

[2] मौर्य साम्राज्य का इतिहास की के० पी० जायसवाल द्वारा लिखित भूमिका।

[सम्पादक]

मिल गई। बिन्दुसार के मनोगत भावो को दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने तत्काल ताड लिया और वह संसार से विरक्त हो अशन-पानादि का परित्याग कर नगर के बाहर एकान्त स्थान मे ध्यानस्थ हो गया। अपनी धाय मा से वास्तविकता का बोध होते ही बिन्दुसार को बडा पश्चात्ताप हुआ। उसने चाणक्य के समक्ष उपस्थित हो बार-बार क्षमायाचना करते हुए उन्हे यथावत् महामात्य पद का कार्यभार सम्हालने की प्रार्थना की, पर चाणक्य समग्र ऐहिक आकाक्षाओ का परित्याग कर आत्मचिन्तन में लीन हो चुके थे; अतः बिन्दुसार को हताश हो खाली हाथों लौटना पडा। जैन वाङ्मय मे इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि सुबन्धु सेवा करने के बहाने से चाणक्य के पास रहने लगा और रात्रि मे उसने उस कण्डों के ढेर मे आग लगा दी जिस पर कि चाणक्य ध्यानस्थ बैठे थे। चाणक्य ने आग से बचने का कोई प्रयास नही किया और समाधिस्थ अवस्था मे ही स्वर्गारोहण किया।

दिगम्बर परम्परा के "आराधना"[1], "हरिषेण कथाकोष"[2] और "आराधना कथाकोष"[3] आदि ग्रन्थों में चाणक्य के दीक्षित होने, ५०० शिष्यों के साथ पादपोपगमन संथारा करने और सुबन्धु द्वारा उन्हे कण्डों की आग में जला डालने तथा समाधि मरण द्वारा चाणक्य के स्वर्गस्थ होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। "आराधना-कथाकोप" मे चाणक्य के सिद्ध होने का उल्लेख किया गया है, वह नितान्त भ्रान्त धारणा का ही प्रतिफल प्रतीत होता है।

सुबन्धु द्वारा किया गया यह घृणित एवं जघन्य अपराध जनसाधारण और बिन्दुसार से छुपा न रह सका। राजा एव प्रजा द्वारा क्रमश. अपदस्थ एव अपमानित किये जाने के पश्चात् सुबन्धु विक्षिप्त हो गया। उसकी बडी दुर्दशा हुई और अनेक प्रकार के घोर कष्टो से पीडित हो वह अन्त में पंचत्व को प्राप्त हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में उल्लेख किया है कि गृहत्याग से पहले कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने सुबन्धु को उसकी कृतघ्नता का दण्ड देने के लिये एक बहुत बडे सन्दूक को अनेक तालो से बन्द कर अपने कोशागार मे रख दिया।

कण्डो के ढेर मे आग लगा कर चाणक्य को उसमे जलता छोड सुबन्धु चाणक्य के निवास स्थान पर पहुचा और उस सन्दूक को देखते ही हर्षविभोर

---

[1] गोट्ठे पयोगदो सुबंधुणा गोब्बरे पलिविदम्मि।
उज्झन्तो चाणक्को पडिवण्णो उत्तम ठाण ॥१५५६॥　　[आराधना]

[2] चाणक्याख्यो मुनिस्तत्र, शिष्यपचशतैः सह।
पादोपगमन कृत्वा, शुक्लध्यानमुपेयिवान् ॥
उपसर्ग सहित्वेम सुबन्धुविहित तदा।
समाधिमरण प्राप्य, चाणक्य सिद्धिमीयिवान् ॥　　[हरिषेण कथाकोप]

[3] आराधना कथाकोप, श्लोक ४१-४२, पृ० ३१०।

प्रकार के अनेक तथ्य है, जिनके सम्बन्ध में गहन शोध की आवश्यकता है। मौर्य-कालीन शिलालेखो मे उपलब्ध प्रियदर्शी और देवानाप्रिय शब्द जैन और बौद्ध दोनो ही परम्पराओ मे समान रूप से व्यवहृत होते रहे है। इसके विपरीत कुछ विद्वानो द्वारा देवानाप्रिय शब्द को बौद्ध परम्परा का शब्द तथा प्रियदर्शी शब्द को अशोक का उपनाम माना जाता रहा है, इस कारण भी अनेक भ्रान्तिया हुई है। इन सब तथ्यो के सम्बन्ध मे भी नये सिरे से शोधकार्य अपेक्षित है।

यो तो मौर्यवशी सभी मगध के सम्राट् बडे प्रतापी, प्रजावत्सल, न्यायप्रिय और धर्मनिष्ठ हुए है पर प्रेम, सौहार्द और सौजन्य से अपने देश के ही नही अपितु विदेशी एव विजातीय कोटि-कोटि लोगो के हृदयो को सामूहिक रूप से जीतने का भारतीय सस्कृति का जो अनुपम उदाहरण मौर्य सम्राट् अशोक ने विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया, उस प्रकार का उदाहरण विश्व के इतिहास मे अन्यत्र कही खोजने पर भी उपलब्ध नही होगा।

बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार मे मौर्य सम्राट् अशोक ने जो उल्लेखनीय कार्य किये है, उनके कारण बौद्ध धर्म के इतिहास मे अशोक का नाम चिरकाल तक आदर के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। २४ वर्ष तक मगध के साम्राज्य का सचालन करने के पश्चात् वीर नि० स० २८२ मे मौर्य सम्राट् अशोक का देहावसान हुआ।

बौद्ध ग्रन्थो मे अशोक का राज्यकाल ४१ वर्ष बताया गया है। उसकी विद्वानो द्वारा इस प्रकार संगति बैठाई जाती है कि बिन्दुसार की मृत्यु के ४ वर्ष पश्चात् अशोक का राज्याभिषेक हुआ। तदनन्तर अशोक ने २४ वर्ष तक सम्राट् बने रह कर शासन किया और उसके पश्चात् अपने अल्पवयस्क पौत्र सम्प्रति को मगध का सम्राट् बना कर उसके अभिभावक (Regent) के रूप मे १३ वर्ष तक साम्राज्य की बागडोर को सम्हाले रखा। तदनन्तर अशोक ने अपना शेष जीवन सब प्रपचो का परित्याग कर आत्मकल्याण मे व्यतीत किया। कतिपय इतिहासज्ञो की मान्यता है कि अशोक अपने जीवन के अन्तिम चार वर्षो मे पुन जैन धर्मावलम्बी बन गया था।

मौर्य सम्राटो के सत्ताकाल के सम्वन्ध मे विभिन्न मान्यताओ के ग्रथो मे पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। "जैन ग्रन्थो मे भी इस सम्बन्ध मे दो प्रकार की मान्यताए अभिव्यक्त की गई है। पहली मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण स० २१५ मे नन्दवश के अत के साथ मौर्य राजवश का अभ्युदय माना गया है। दूसरी मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण स० १५५ मे नन्द वश के अन्त के साथ मौर्यवश के उदित होने का अभिमत प्रकट किया गया है।

वस्तुत द्वितीय भद्रबाहु के पास दीक्षित हुए चन्द्रगुप्ति नामक अवन्ती के किसी राजा के दीक्षित होने की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त से सम्वद्ध करने के प्रयास मे ही उपरोक्त दूसरी मान्यता प्रचलित की

गहरा आघात पहुंचा । उसने अपने १३वें शिलालेख में इसके लिये स्वयं को दोषी वताते हुए गहरा दु ख प्रकट किया है । अशोक ने धर्म विजय को अपने साम्राज्य की नीति वताते हुए घोषणा करवा दी कि अब भविष्य मे वह कभी इस प्रकार के नरसंहार एव रक्तपात द्वारा किसी भी देश पर विजय अभियान नहीं करेगा ।

जिस समय अशोक अनुताप की अग्नि मे जल रहा था उस समय संभवत: वह बौद्ध भिक्षुसघ के आचार्य के सम्पर्क में आया और उनसे प्रभावित हो कर वौद्धधर्मावलम्वी वन गया । वौद्ध धर्म स्वीकार करने के पश्चात् अशोक ने अपना शेष जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार, प्रसार और अभ्युत्थान मे लगा दिया । उसने भारत के पडौसी देशो मे धर्मप्रचारकों को भेज कर वौद्ध धर्म का प्रचार किया; यही नही अपितु अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री सघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये बौद्ध श्रमण और श्रमणी के रूप मे दीक्षित करवा कर लका मे भेजा । अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ प्रजा के हित के लिये भी अनेक लोककल्याणकारी कार्य किये और अनेक शिलालेख उत्कीर्ण करवाये, जिनमें जनहित की दृष्टि से अनेक प्रकार की धार्मिक एव सास्कृतिक आज्ञाए प्रसारित की गई थी ।[1]

गहन शोध से पहले अधिकांश इतिहासज्ञों की यह धारणा थी कि मौर्य-कालीन जितने भी शिलालेख उपलब्ध होते है, वे प्राय सब के सब मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा उत्कीर्ण करवाये हुए और बौद्ध धर्म से ही सम्बन्धित है किन्तु अब ज्यों-ज्यों विद्वान् शोधार्थियो द्वारा इस विषय मे और अधिक गम्भीर शोध की जा रही है त्यो-त्यों यह तथ्य प्रकाश मे आता जा रहा है कि वस्तुत· मौर्यकालीन शिलालेखो मे चन्द्रगुप्त से ले कर सम्प्रति तक के सभी मौर्य सम्राटों के शिलालेख सम्मिलित है और जिन शिलालेखों को आज तक अशोक के शिलालेखो के नाम से केवल बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शिलालेख समझा जाता रहा था, उनमे से कतिपय शिलालेख सम्प्रति, बिन्दुसार और चन्द्रगुप्त के एव जैन धर्म से सम्बन्धित भी है । सारनाथ के स्तम्भ के शीर्ष भाग मे ४ सिह और उन चारो सिहों के ऊपर धर्मचक्र उत्खनित है । इसे भ० बुद्ध द्वारा सारनाथ मे बौद्ध धर्म के प्रवर्तन का प्रतीक माना जाता रहा है । भ० बुद्ध को गिरनार के १३वे अभिलेख मे उत्तम हस्ति के रूप मे स्मरण किया गया है । सिह के चिह्न का सम्बन्ध बुद्ध के साथ उतना सगत नही बैठता जितना कि भगवान् महावीर के साथ । भगवान् महावीर का चिह्न (लाछन) सिह था और केवलज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् भगवान् महावीर के साथ-साथ सिह का चिह्न भी चतुर्मुखी दृष्टिगोचर होने लगा था । सिहचतुष्टय पर धर्मचक्र इस बात का प्रतीक है कि जिस समय तीर्थंकर विहार करते है, उस समय धर्मचक्र नभमण्डल मे उनके आगे-आगे चलता है । इस

[1] अव इतिहास के अनेक विद्वान् यह मानने लगे है कि ये सभी शिलालेख केवल अशोक के ही नही अपितु चन्द्रगुप्त, विन्दुसार, सम्प्रति आदि सभी मौर्य सम्राटो के है । इन पर गहन शोध की आवश्यकता है ।   [सम्पादक]

थे ।" तदनन्तर राजा सम्प्रति पाच अणुव्रतधारी, त्रस जीवो की हिंसा का त्यागी और श्रमणसघ की उन्नति करने वाला महान् प्रभावक हो गया ।[१]

निशीथ चूर्णि मे उपरोक्त घटना के विदिशा नगरी मे घटित होने का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि विदिशा मे जीवित स्वामी की रथयात्रा मे आर्य सुहस्तीस्वामी को देख कर राजा सम्प्रति को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । वह तत्काल महलो से नीचे आया और आचार्य सुहस्ती के चरणो मे गिर कर उसने प्रश्न किया – "भगवन् ! क्या आप मुझे जानते है ?"

आचार्य सुहस्ती ने कुछ क्षण के लिये ज्ञानोपयोग लगा कर सोचने के पश्चात् कहा – "हा ! मै तुम्हे जानता हू, तुम मेरे पूर्व भव के शिष्य हो ।" तदनन्तर आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति को उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाया । सम्प्रति ने श्रावकधर्म स्वीकार किया और आर्य सुहस्ती एव राजा सम्प्रति मे परस्पर घनिष्ट धर्मस्नेह हो गया ।[२]

इसी सदर्भ मे आगे विदिशा के स्थान पर उज्जयिनी मे आर्य सुहस्ती के साथ सम्प्रति के मिलन का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वह आचार्य सुहस्ती का उपदेश सुन कर प्रवचन का भक्त और परम श्रावक बन गया ।[३]

सम्प्रति का पूर्वभव

राजा सम्प्रति के प्रश्न के उत्तर मे उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते हुए आर्य सुहस्ती ने कहा – "राजन् ! तुम्हारे इस जन्म से पूर्व की बात है, एकदा विचरण करते हुए मै अपने श्रमणशिष्यो सहित कोशाम्बी नामक नगर मे पहुचा । उस समय वहा दुष्काल का प्रकोप चल रहा था अत सामान्य लोगो को अन्न का दर्शन तक दुर्लभ हो गया था । श्रमणो के प्रति प्रगाढ श्रद्धा एव भक्ति के कारण

---

[१] इतो य अज्जसुहत्थी उज्जेणि वदओ आगओ रहाणुज्जाणे य हिंडतो राउलगणपदेसे रन्ना आलोयणगतेण दिट्ठो, ताहे रन्नो ईहापोह करेतस्स जाइसरण जात तह तेण मणुस्सा भणिता पडिचरह आयरिए कहिं ठितत्ति तेहिं पडिचरिउ कहित सिरिघरे ठिता । ताहे तत्थ गतु धम्मो णेण सुओ, पुच्छित धम्मस्स कि फल ? भणित अव्यक्तस्य तु सामाइयस्स राजाति फल, सो समतो होति, सच्च भणसि अह भे कहिं दिट्ठेल्लओ आयरियेहिं उवउज्जित दिट्ठेलओ त्ति ताहे सो सावओ जाओ पचाणुवयधारी तसजीवपडिक्कमओ पभावओ समणसघस्स ।" [कल्पचूर्णि]

[२] अण्णया आयरिया पीतीदिस (?) जियपडिम वदिय गताओ । तत्थ रहाणुज्जाणे रण्णो घरे रहोवरि अचति । सपतिरण्णा ओलोयणगएण अज्जसुहत्थी दिट्ठो । जातीसरणं जात । [निशीथ चूर्णि, भा० २, पृ० ३६२]

[३] उज्जेणीए समोसरणे अणुजाणे रहपुरतो रायगणे बहुसिस्स परिवारो आलोयण ठितेण रण्णा अज्ज सुहत्थी आलोइयो, त दट्ठूण जाति सभरिया ।' ताहे सो पवयणभत्तो परम सावगो जातो । [निशीथचूर्णि, भाग ४, पृ० १२६]

गई है। उस सम्बन्ध मे पहले विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है और मौर्यकालीन अभिलेखों एव सिकन्दरकालीन लेखकों के अभिलेखो के आधार पर पाश्चात्य लेखकों के ग्रन्थो के उद्धरण दे कर प्रमाणपुरस्सर यह सिद्ध कर दिया गया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर नि० स० २१५ मे नन्द वंश के प्रभुत्व को समाप्त कर पाटलिपुत्र के राजसिहासन पर आसीन हुआ। उन सब तथ्यो को यहा पुन· दोहराने की आवश्यकता नहीं।

पुराणो एव अन्य ग्रन्थो में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल २४ वर्ष बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द को युद्ध में पराजित करने के दृढ निश्चय के साथ जब चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर प्रथम वार आक्रमण किया, उस समय से कुछ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त पजाब के किसी छोटे मोटे राज्य का स्वामी अवश्य बन गया होगा। बिना किसी राज्य का अधिपति हुए चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र जैसे सशक्त साम्राज्य से युद्ध करने की किसी भी दशा मे न क्षमता ही प्राप्त कर सकता था और न साहस ही कर सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द वश का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिहासन पर आसीन होने से पूर्व का जो चन्द्रगुप्त का किसी छोटे-मोटे राज्य पर सत्ताकाल रहा उस काल को भी चन्द्रगुप्त के शासन काल मे सम्मिलित कर गिना गया है।

अशोक के पश्चात् उसका पौत्र सम्प्रति मगध साम्राज्य का अधिपति बना।

सुहस्ती द्वारा सम्प्रति को प्रतिबोध

कल्पचूर्णि में इस प्रकार का उल्लेख है कि आर्य सुहस्ती जीवित स्वामी को वंदन करने के लिये एक बार उज्जयिनी गए और रथ-यात्रा के साथ चलते हुए वे राजप्रासाद के आगन मे पहुचे। राजप्रासाद के गवाक्ष में बैठे हुए राजा सम्प्रति ने जब उन्हे देखा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उन्हे उसने कही न कही देखा है। ईहापोह करते हुए राजा सम्प्रति को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने सेवको को आचार्य सुहस्ती के सम्बन्ध में मालूम करने का आदेश दिया कि वे कहां ठहरे हुए है। अपने अनुचरों से आचार्यश्री के ठहरने के स्थान का पता चलने पर राजा सम्प्रति उनकी सेवा मे पहुचा और उपदेश-श्रवण के पश्चात् उसने आचार्यश्री से प्रश्न किया – "भगवन् ! धर्म का फल क्या है ?"

आचार्यश्री ने उत्तर दिया – "राजन् ! अव्यक्त सामायिक-धर्म का फल राज्यपद प्राप्ति आदि है।"

"सत्य कहते है भगवन् !" यह कहते हुए सम्प्रति ने आर्य सुहस्ती से प्रश्न किया – "महाराज ! क्या आप मुझे पहिचानते है ?"

ज्ञानोपयोग से सम्प्रति के पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जान कर आचार्यश्री ने उत्तर दिया – "तुम मेरे परिचित हो। इससे पूर्व के अपने भव में तुम मेरे शिष्य

उसके राजपिण्ड होने की शका हुई और उन्होने आर्य सुहस्ती से यह जॉच करने के लिये कहा कि कहीं साधुओ को सदोष आहार तो भिक्षा मे नही मिल रहा है।

आर्य सुहस्ती ने बिना किसी प्रकार की जाच किये ही कह दिया – "यथा राजा तथा प्रजा, महाराज ! यह राजपिण्ड नही है। कारण कि तैली तैल, घृत वाले घी, कपडे वाले वस्त्र और हलवाई भोज्य मिष्टान्न स्वय ही देते है।"

आर्य सुहस्ती का उत्तर सुन कर आर्य महागिरि ने विचार किया – यह मायावी है, शिष्यानुराग के कारण सदोष आहार-ग्रहण से साधुओ को रोक नही रहा है। उन्हे आर्य सुहस्ती पर क्षोभ हुआ और उन्होने आर्य सुहस्ती से कहा – "आर्य ! तुम्हारे समान दोपादोष के ज्ञाता भी अपने शिष्यो के प्रति राग के कारण राजपिण्ड का उपभोग करते है, तो ऐसी दशा मे मै आज से तुम्हारे साथ साध्वोचित भोजनादि व्यवहार विषयक सम्बन्धो का विच्छेद करता हू।"

यह कह कर आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ती के साथ तत्काल साम्भोगिक सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। इस प्रकार सयममार्ग की शिथिलता दूर करने हेतु आर्य महागिरि को सुहस्ती के प्रति उपालम्भ देते समय तीक्ष्ण एव कटु शब्दो का भी प्रयोग करना पडा। तदनन्तर आर्य सुहस्ती ने अपना मोड (रुख) बदल कर इसके लिये पश्चात्ताप किया और बोले – "भगवन् ! भविष्य मे सदोष आहार नही लिया जायगा।"

इस पर आर्य महागिरि ने उस समय तो आर्य सुहस्ती के साथ साभोगिक व्यवहार प्रारम्भ कर दिया पर कालान्तर मे यह सोचते हुए कि 'प्राय मानव-स्वभाव मे माया का बाहुल्य है" – उन्होने आर्य सुहस्ती के साथ साभोगिक व्यवहार वन्द ही रखा।[1]

सभोगविच्छेद के सन्दर्भ मे प्रस्तुत की गई घटना मे यह बताया गया है कि सम्प्रति के राज्यकाल मे आर्य महागिरि ने सुहस्ती द्वारा सदोष आहार आदि ग्रहण की प्रवृत्ति को देख कर उनके साथ सभोगविच्छेद कर दिया। यहा पर आर्य महागिरि का सम्प्रति के राज्यकाल मे विद्यमान रहना वताया गया है पर ऐतिहासिक तथ्यो के आलोक मे देखने पर सम्प्रति का महागिरि के समय मे विद्यमान होना प्रमाणित नही होता।

महागिरि के समय मे सम्प्रति के विद्यमान न होने के निम्नलिखित ऐतिहासिक प्रमाण गहराई से विचारने योग्य है –

१ श्वेताम्वर परम्परानुसार वी० नि० स० २४५ मे आर्य महागिरि का स्वर्गवास माना गया है।

२ आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के समय मे विन्दुसार का राज्यकाल था जो वीर नि० स० २५८ तक रहा।

---

[1] अज्ज महागिरी उवउत्तो, पायेण मायाबहुला मणुय 'त्ति काउ विसभोग ठवेति।
[निशीथभाष्य, भा० २, पृ० ३६२ (गा० २१५४ की चूर्णि)]

श्रद्धालु गृहस्थ उन्हे भिक्षाटन के समय पर्याप्त मात्रा मे अशनपानादि प्रदान करते थे। एक समय कोशाम्बी मे भिक्षाटन करते हुए मेरे शिष्य एक गृहस्थ के घर मे पहुंचे। उनके पीछे-पीछे एक दीन, हीन, दरिद्र और भूखे भिक्षुक ने उस गृहस्थ के घर मे प्रवेश किया। उस गृहस्थ ने साधुओ को तो पर्याप्त रूपेण भोजन-पानादि का दान किया किन्तु उस भिक्षुक को उसने कुछ भी नही दिया। वह भूखा भिक्षुक साधुओ के पीछे हो लिया और उनसे भोजन की याचना करने लगा। साधुओ ने उससे कहा कि वे लोग तो अपने साधु आचार के अनुसार किसी गृहस्थ को कुछ भी नही दे सकते। भूख से पीड़ित वह भिक्षुक मेरे शिष्यो का अनुसरण करता हुआ मेरे स्थान पर पहुच गया। उसने मुझसे भी भोजन की याचना की। मुझे ज्ञानोपयोग से ऐसा विदित हुआ कि अगले जन्म मे यह भिक्षुक जिनशासन का प्रचार एव प्रसार करने वाला होगा। मैने उससे कहा कि यदि तुम श्रमणधर्म में दीक्षित हो जाओ तो तुम्हे हम तुम्हारी इच्छानुसार पर्याप्त भोजन दे सकते है। भिक्षुक ने यह सोच कर कि उसकी इस दीन-हीन दुखद अवस्था की तुलना मे तो श्रमण-जीवन के कष्ट सहना कठिन नही है, तत्काल मेरे पास श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षित हो जाने पर वह हमारे द्वारा भिक्षा में प्राप्त भोजन का अधिकारी हो गया अत· उसे उसकी इच्छानुसार भोजन खिलाया गया। वस्तुत वह कई दिनों का भूखा था अत उसने जी भर कर स्वादिष्ट भोजन खाया। रात्रि में उस नवदीक्षित भिक्षुक की उदरपीडा के कारण मृत्यु हो गई और वह अशोक के अन्ध राजकुमार कुणाल के यहा पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। राजन्! तुम वही भिक्षुक हो जो अपने इस सम्प्रति के भव से पहले के भव मे मेरे पास दीक्षित हुए थे। यह सब तुम्हारे एक दिवस के श्रमणजीवन का फल है कि तुम बड़े राजा बने हो।"[1]

श्रमणसंघ में विसंभोग का प्रारम्भ

निशीथ भाष्य, चूर्णि आदि ग्रन्थो मे स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर के शासन में आचार्य सुधर्मा से स्थूलभद्र तक श्रमणसघ का परस्पर साभोगिक व्यवहार अक्षुण्ण बना रहा।[2] श्रमणसंघ मे सभोगविच्छेद की सर्वप्रथम घटना आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल मे घटित हुई। सभोग-विच्छेद का प्रारम्भ कब, क्यो और किसके समय मे प्रारम्भ हुआ, इसका विशद परिचय देते हुए निशीथ एव बृहत्कल्प-चूर्णि मे उल्लेख किया गया है कि राजा सम्प्रति द्वारा दुष्काल के समय खोली गई दानशालाओ तथा प्रसारित किये गये उदारतापूर्ण आदेशो के कारण कर्मचारी वर्ग एवं प्रजाजनो के माध्यम से श्रमणो को भिक्षा मे पर्याप्त एवं विशिष्ट भोजन मिलता देख कर आर्य महागिरि को

---

[1] परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११

[2] [illegible] थूलभद्दो, थूलभद्दं जाव सव्वेसि एक्कसभोगो आसी।

[निशीथ चूर्णि, भा० २ पृ० ३६०]

ऐतिहासिक घटनाक्रम और प्राचीन उल्लेखो से यह निर्विवाद रूप से ज्ञात होता है कि अशोक के राज्याभिषेक के कतिपय वर्ष पश्चात् राजकुमार कुरगाल को चक्षुविहीन कर दिया गया और अन्धा हो जाने के कारण कुमारभुक्ति मे मिला हुआ उज्जयिनी का राज्य उससे ले कर दूसरे राजकुमार को दे दिया गया। सम्प्रति का जन्म होने पर अन्ध कुमार कुरगाल ने गन्धर्व कला से अशोक को प्रसन्न कर काकिरगी—राज्य की अपने सद्य जात पुत्र के लिये याचना की। वस्तुस्थिति से अवगत होते ही अशोक ने तत्काल सम्प्रति को युवराज पद प्रदान कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और तत्कालीन राज्यपरम्परा के अनुसार उज्जयिनी का राज्य शिशु सम्प्रति को कुमारभुक्ति के रूप मे प्राप्त हुआ। ये सब घटनाए अशोक के राज्यकाल की है और अशोक का राज्याभिषेक वीर निर्वारग सवत् २५८ मे होने के कारण द्रमक के दीक्षित होने से लेकर सम्प्रति के जन्म तक की सभी घटनाए आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के अनन्तर कम से कम १३ वर्ष से पहले की तो किसी भी दशा मे नही हो सकती।

ऐसी स्थिति मे आर्य महागिरि का सम्प्रति के जन्म समय अथवा उसके राज्यकाल मे विद्यमान होना तो दूर द्रमक की दीक्षा के समय भी आर्य महागिरि का अस्तित्व सभव नही होता। कारण कि आर्य महागिरि का स्वर्गवास अशोक के राज्याभिषेक से १३ वर्ष पहले वीर नि० स० २४५, तदनुसार बिन्दुसार के राज्यकाल मे ही हो चुका था।

राजा सम्प्रति द्वारा जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार

जैन साहित्य मे मौर्य सम्राट् सम्प्रति को वही स्थान प्राप्त है जो कि मौर्य सम्राट् अशोक को बौद्ध साहित्य मे। अनेक जैन ग्रथो मे इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते है कि राजा सप्रति ने आर्य सुहस्ती से प्रतिबोध पाने के पश्चात् समस्त भारतवर्ष ही नही अनेक अनार्य प्रदेशो मे भी अपने अधिकारियो, कर्मचारियो और सैनिको को जैन साधुओ के वेश मे भेज कर जैन धर्म का सर्वत्र प्रचार एव प्रसार किया तथा उसने अपने समस्त सामन्तो को दृढ जैनधर्मावलम्बी बनाया। साधु के वेश मे सम्प्रति के कर्मचारियो ने अनार्य देशो मे विचरण कर वहा की अनार्य जनता को श्रावक के कर्त्तव्यो एव श्रमणाचार से परिचित कराते हुए उन अनार्य देशो को श्रमणो के विहार के योग्य बना डाला। राजा सम्प्रति की प्रार्थना पर आर्य सुहस्ती ने अपने कतिपय श्रमणो को अनार्य भूमि मे धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा और उन्होने वहा के लोगो की जैनधर्म के प्रति अपूर्व श्रद्धा देख कर हर्ष का अनुभव किया। साधुओ ने आर्य देश की तरह बडी सुगमता से अनार्य प्रदेशो मे विहार करते हुए वहा जैन धर्म का अधिकाधिक प्रचार एव प्रसार किया। त्यागी, तपस्वी और ज्ञानधनी सन्तो के उपदेशो का अनार्य प्रदेशो की जनता पर बडा प्रभाव पडा और उन लोगो के आचार-विचार मे एक प्रकार की क्रान्ति सी आ गई। अनार्य प्रदेश के निवासियो ने बड़ी सख्या मे श्रावकधर्म अगीकार किया। अनार्य प्रदेशो मे धर्म-प्रचार करने के पश्चात् लौटे हुए साधुओ

३. वीर नि० स० २५८ से २८३ तक मौर्य सम्राट् अशोक का शासनकाल रहा और इसके पश्चात् संप्रति का शासनकाल प्रारम्भ हुआ ।

इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में विचार करने पर यही प्रकट होता है कि मौर्य सम्राट् सम्प्रति का शासनकाल वीर नि० स० २८३ से पूर्व किसी भी दशा मे नही हो सकता । ऐसी स्थिति मे वीर नि० सं० २४५ में स्वर्गस्थ हुए आर्य महागिरि द्वारा वीर नि० स० २८३ के पश्चाद्वर्ती सम्प्रति के शासनकाल में सुहस्ती के साथ संभोगविच्छेद की घटना का जो निशीथ चूर्णि आदि मे उल्लेख किया गया है वह संगत प्रतीत नही होता । संभव है इस प्रकार की घटना बिन्दुसार के शासन काल मे वीर नि० सं० २३३ से २४५ के बीच में घटित हुई हो और उसे सम्प्रति के विशिष्ट औदार्य को देख कर अनुमानबल से सम्प्रति के साथ जोड़ दिया गया हो । तत्कालीन घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से स्पष्टतः प्रकट होता है कि साधारणतया अपने समस्त शासनकाल में और विशेषतः दुर्भिक्ष आदि जैसी संकटापन्न स्थिति में प्रजावात्सल्य की प्रवृत्ति मौर्यवशीय राजाओं की विशेषता रही है । बौद्ध ग्रन्थो मे उह उल्लेख उपलब्ध होता है कि बिन्दुसार अपने शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे प्रतिदिन ६० हजार ब्राह्मणो को भोजन कराया करता था ।[1] ऐसी स्थिति में कोई आश्चर्य की बात नही कि बिन्दुसार के शासनकाल की घटना का श्रुति अथवा स्मृति में कही स्खलना के कारण सम्प्रति के शासन में घटित हुई घटना के रूप में उल्लेख कर दिया गया हो । एक के जीवन की घटना को दूसरे के जीवन की घटना से जोडने के अन्य भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व के ११वे सर्ग में सम्प्रति के जातिस्मरण ज्ञान होने मे आर्य सुहस्ती के दर्शन को निमित्त माना है और उन्हे ही सम्प्रति के पूर्वभव सम्बन्धी गुरु मानने का उल्लेख किया है । किन्तु आगे चल कर इन्हीं आचार्य ने परिशिष्टपर्व मे राजा सम्प्रति के राज्यकाल में ही महागिरि द्वारा सुहस्ती के साथ सांभोगिक सम्बन्धविच्छेद का उल्लेख किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य महागिरि के जीवनकाल आदि तथ्यो की गहराई में न जा कर सरसरी तौर पर आर्य सुहस्ती के साथ आर्य महागिरि के उज्जयिनी जाने का और सम्प्रति के राज्यकाल मे ही साभोगिकविच्छेद का उल्लेख कर दिया है ।

जहाँ तक राजा सम्प्रति को प्रतिबोध दिये जाने का प्रश्न है, प्रायः सर्वत्र यही उल्लेख मिलता है कि आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति को प्रतिबोध दिया । महागिरि द्वारा सम्प्रति को प्रतिबोध दिये जाने का कही भी कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता ।

---

[1] पिता सट्ठिसहस्सानि, ब्राह्मणे ब्रह्मपक्खिके ।
भोजेसि सो पिते येव, तीणि वस्सानि भोजयि ।।२३।।   [महावशो, परिच्छेद ५]

दशम सदी से पूर्व के बहुत कम ऐसे शिल्पावशेष मिले है जो श्वेत प्रस्तरो पर उत्कीर्णित हो। मौर्यकाल मे अधिकतर प्रादेशिक पत्थर ही शिल्पकला मे व्यवहृत होते थे। मौर्यकाल की मूर्तिया जितनी भी उपलब्ध है, लगभग सभी सचिक्वण है। ये प्रतिमाए अपनी शैली के कारण दूर से ही पहिचानी जा सकती है। पाटन-लोहानीपुरा मोहल्ले से निकली कुछ खण्डित प्रतिमाए पटना-म्यूजियम मे सुरक्षित है। एक बात और भी है कि मन्दिर बनवाने के सम्बन्ध मे भी यदि स्पष्ट कहा जावे तो स्थिति सन्देहात्मक ही है, कारण कि मौर्य-शासित प्रदेशो मे जहा कही भी उत्खतन हुआ है वहा इनके अवशेष या चिह्न कही नही मिले है। यदि सप्रति राजा ने इतना विशद् शैल्पिक निर्माण करवाया होता तो कम से कम कही न कही तो इनके अवशेषो एव चिह्नो की प्राप्ति होनी ही चाहिये थी। इन बातो के बावजूद भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि जैनत्व के प्रति राजा सम्प्रति के हृदय मे अगाध श्रद्धा और आस्था थी।

विदेशो मे समनीया जाति कही जाती है। वह असम्भव नही, सम्प्रति-कालिक प्रचार एव पुरुषार्थ का ही प्रतिफल हो। श्रमण और समनीया का साम्य स्पष्ट है। कालान्तर मे उचित जैन सस्कारो के अभाव मे समनीया जाति मे से जैनत्व के सस्कार विलुप्त हो गये हो, पर नाम समणीया आज भी ज्यो का त्यो बना हुआ है।"

उपरोक्त विचारो पर पाठक तटस्थता से चिन्तन कर तथ्य पर पहुचने का प्रयास करे।

उत्कट साधना का अनुपम प्रतीक अवन्तिसुकुमाल

आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए आर्य सुहस्ती एकदा पुन उज्जयिनी पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान मे ठहरे। उन्होने अपने दो साधुओ को भद्रा नाम की एक अति समृद्ध श्रेष्ठिमहिला के पास भेजा और उससे किसी स्थान मे ठहरने की आज्ञा चाही। भद्रा ने बड़ी श्रद्धापूर्वक श्रमणद्वय को वन्दन किया और उनसे उनके आने का प्रयोजन ज्ञात होने पर उसने अपनी वाहनकुटी मे साधुओ को ठहरने की अनुमति प्रदान की। तदनन्तर आर्य सुहस्ती अपने शिष्य परिवार सहित भद्रा की वाहनकुटी मे ठहरे।

दूसरे दिन प्रदोषवेला मे आचार्य सुहस्ती नलिनीगुल्म नामक अध्ययन का सस्वर पाठ कर रहे थे। उस समय भवन की सातवी मजिल पर अपनी ३२ सुकुमार पत्नियों के साथ सोये हुए भद्रा के पुत्र अवन्तिसुकुमाल के कर्णरन्ध्रो मे आचार्यश्री का सुमधुर स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। अवन्तिसुकुमाल आचार्य सुहस्ती के स्वर को दत्तचित हो सुनने लगा। वह पाठ उसे इतना कर्णप्रिय लगा कि वह उसे और अधिक स्पष्ट रूप से सुनने और समझने की उत्कण्ठा से प्रेरित हो मन्त्रमुग्ध की तरह अपने महलो से उतरा और आचार्यश्री के पास आकर बडे ध्यान से सुनने लगा। पाठ को सुन कर अवन्तिसुकुमाल के मन मे उथल-पुथल सी

ने आर्य सुहस्ती की सेवा मे पहुंच कर अनार्य प्रदेशो के निवासियो की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का विवरण सुनाया, जिसे सुन कर आर्य सुहस्ती बड़े प्रसन्न हुए ।[1]

सम्प्रति के सम्बन्ध मे कतिपय जैन ग्रन्थो में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि उसने भारत के आर्य एव अनार्य प्रदेशों मे इतने जिनमन्दिरों का निर्माण करवाया कि वे सारे प्रदेश जिन-मन्दिरो से सुशोभित हो गये ।[2]

राजा सम्प्रति द्वारा किये गये कार्यो के सम्बन्ध में प्रसिद्ध जैन इतिहास-वेत्ता स्व० मुनि श्री कान्ति सागरजी ने कुछ अशों की जो पाण्डुलिपि तैयार की, उसके एतद्विषयक अश को यहा अविकल रूप से दिया जा रहा है :—

"यह एक आश्चर्य की बात है कि मौर्य साम्राज्य के इतिहास मे सम्प्रति के सबंध में जो कुछ भी उल्लेख मिलता है, वह उसके कृतित्व पर वास्तविक प्रकाश नही डालता । जैन साहित्य मे सम्प्रति के सम्बन्ध मे विशद विवेचन उपलब्ध है । उस विवेचन के अनुसार सम्प्रति ने जैन संस्कृति के प्रचार व प्रसार के लिये अपने पुत्रो तथा असूर्यपश्या कहलाने वाली अपनी पुत्रियो तक को कृत्रिम मुनियो का व साध्वियो का वेप धारण करवा कर अपने अनेकों सामन्तो के साथ दूर-दूर प्रदेशो मे भिजवाया और इस तरह अशोक के आदर्श को सम्प्रति ने अपने जीवन मे भी मूर्त रूप दिया ।

चूर्णि और निर्युक्तियो में यह भी सूचित किया गया है कि सम्प्रति ने प्रचुर मात्रा में जिन-मूर्त्तियो की, मन्दिरों एवं देवशालाओ मे स्थापना करवा कर जैन सस्कृति और सभ्यता को स्थान-स्थान पर फैलाया था ।

जहा तक जैन मूर्ति-विधान एव उपलब्ध पुरातन अवशेपो का प्रश्न है, यह विना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि राजा सम्प्रति द्वारा निर्मित मन्दिर या मूर्तियां भारतवर्ष के किसी भी भाग मे आज तक उपलब्ध नही हो पाई हैं । श्वेत पाषाण की कोहनी के समीप गाठ के आकार के चिह्न वाली प्रतिमाए जैन समाज मे प्रसिद्ध रही है और उन सभी का सम्बन्ध राजा सम्प्रति से स्थापित किया जाता है । ऐसी प्रतिमाओ के अनेक स्थानो पर प्रतिष्ठापित होने का भी उल्लेख किया गया है । मेरी विनम्र सम्मति के अनुसार ये श्वेत पाषाण की प्रतिमाएं सम्प्रति अथवा मौर्य काल की तो क्या तदुत्तरवर्ती काल की भी नही कही जा सकती ।

---

[1] एव राज्ञोऽतिनिर्बन्धादाचार्यैः केऽपि साधव. ।
विहर्तुमादिदिशिरे ततोऽन्ध्रद्रमिलादिपु ॥६६॥
निरवद्य श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधवः ।
दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराख्यन्तविस्मया ॥१०१॥ परि० पर्व, स० ११

[2] जैन सम्प्रतिना त्रिखण्डमितापि मही जिनप्रासादमण्डिता विहिता, साधुवेष-धारिनिजवंठ-पुरुषप्रेषणेनानार्येष्वपि साधुविहार कारित. । [तपागच्छ पट्टावली]

तथा कटको से उसके पादतल विध गये और उन व्रणो से खून टपकने लगा। बडे धैर्य के साथ इस पीडा को तथा भूख-प्यास के कष्टो को सहन करते हुए वह आत्मचिन्तन मे तल्लीन हो गया। सूर्य की प्रखर किरणो से श्मशानभूमि आग की तरह तपने लगी पर अवन्तिसुकुमाल ने बडी शान्ति के साथ उसे सहन किया। दिन ढलने लगा, सूर्यास्त हुआ, शनै शनै अन्धकार ने अपना साम्राज्य जमा लिया। यत्र-तत्र वनैले हिस्र जन्तुओ के दिल दहला देने वाले आक्रन्दारावो से वह भीपरण रात्रि साक्षात् कालरात्रि के समान भयावह बन गई थी। किन्तु सद्य' प्रव्रजित सुकुमार श्रमण अवन्तिसुकुमाल उस श्मशानभूमि में परम शान्त, दान्त एव विरक्त अवस्था मे एकाग्र चित्त हो ध्यानमग्न खडे रहे। उनके पदचिह्नो पर लहूमिश्रित धूलिकरणो की गन्ध का अनुसरण करती हुई एक श्रृगालिनी अपने कतिपय बच्चो के साथ अवन्तिसुकुमाल मुनि के पास आ पहुची। मुनि के पैरों से टपके हुए लहूकणो की गन्ध पा कर उसने मुनि के पैरो को चाटना प्रारम्भ किया। आध्यात्मिक ध्यान मे रमण करते हुए मुनि निश्चल खडे रहे। मुनि की ओर से किसी भी प्रकार का प्रतिरोध न होता देख कर श्रृगालिनी का साहस बढा। उसने मुनि के पैर की मासल पिण्डुली मे दात गडा दिये। गरम-गरम खून की धाराएँ बह निकली। अपने बच्चो सहित श्रृगालिनी लहूपान के साथ-साथ मुनि के पैर को काट-काट कर खाने लगी। क्रमश मुनि का ध्यान चिन्तन की मनोभूमि के उच्च से उच्चतर सोपान पर चढने लगा। बिना किसी प्रकार का प्रतिरोध किये मुनि शान्त चित्त हो सोचने लगे – "यह श्रृगालिनी मेरे कर्मकलुष को काट-काट कर मेरे लिये नलिनीगुल्म विमान के कपाट खोल रही है।" श्रृगालिनी और उसके बच्चो ने मुनि का दूसरा पैर भी काट-काट कर खाना प्रारम्भ कर दिया। मुनि का शरीर पृथ्वी पर गिर पडा किन्तु उनका ध्यान अधिकाधिक ऊचाई पर चढता गया। मुनि की दोनो जघाओ और भुजदण्डो को खा चुकने के पश्चात् श्रृगाल-परिवार ने उनके पेट को चीर फाड कर खाना प्रारम्भ किया। मुनि ने भी अपने आत्मचिन्तन को शुभ से शुभतर बनाना प्रारम्भ किया और अन्ततोगत्वा समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग कर मुनि अवन्ति सुकुमाल अपने प्रिय लक्ष्यस्थान नलिनीगुल्म विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुए।

दूसरे दिन आर्य सुहस्ती से सब वृत्तान्त ज्ञात होने पर अवन्तिसुकुमाल की माता भद्रा ने अपनी एक गर्भिणी पुत्रवधु को छोड कर शेष ३१ पुत्रवधुओ के साथ श्रमणीधर्म की दीक्षा ग्रहण की। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा परिशिष्ट पर्व मे किये गये उल्लेख के अनुसार अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने अपने पिता की स्मृति मे उनके मरणस्थल पर एक विशाल देवकुल का निर्माण करवाया जो आगे चल कर महाकाल के नाम से विख्यात हुआ।[1]

[1] गुर्व्या जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुल महत्।
अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम्।
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकै ॥१७७॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११,]

मच गई और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि पाठ मे वर्णित सुखों का उसने कही न कही अनुभव किया है। ईहापोह करते हुए उसने स्मृति पर जोर दिया और उसे तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अवन्तिसुकुमाल ने आचार्यश्री के समीप उपस्थित हो उन्हे भक्ति सहित वन्दन किया और कहने लगा – "भगवन् ! मै गृहस्वामिनी भद्रा का पुत्र हू। आपके इस पाठ को सुनकर मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया है। मै अपने इस जन्म से पहले नलिनीगुल्म नामक विमान में देवता था। अब पुन. वहीं जाने के लिये मेरे मन मे तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो चुकी है। आपके पास श्रमणत्व स्वीकार कर मै पुन· वही नलिनीगुल्म विमान मे जाना चाहता हू। कृपा कर मुझे प्रव्रज्या प्रदान कीजिये।"

आचार्य सुहस्ती ने उसे श्रमणजीवन की दुष्करता से अवगत कराते हुए कहा – "सौम्य ! तुम अत्यन्त सुकुमार हो। लोहे के चने चवाना और अग्नि मे खडे रहना किसी के लिये साध्य हो सकता है पर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित श्रमणाचार का पालन करना बड़ा ही कठिन और दुस्साध्य कार्य है।"

अवन्तिसुकुमाल ने कहा – "भगवन् ! प्रव्रज्या ग्रहण करने की मेरे मन मे तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो चुकी है। मै प्रव्रज्या तो अवश्य ही ग्रहण करू गा। साधु समाचारी के अनुसार चिरकाल तक तो मै निरतिचार श्रामण्य का परिपालन नहीं कर सकूगा अत. मै प्रारम्भ में ही अनशन सहित श्रमणत्व ग्रहण करू गा और थोडे समय के लिये घोरातिघोर कष्ट को भी साहसपूर्वक सहन कर लूगा।"

अवन्तिसुकुमाल को अपने निश्चय पर अटल देखकर आर्य सुहस्ती ने कहा – "भद्रानन्दन ! यदि तुम दीक्षित होने के लिये कृतसंकल्प हो तो इसके लिये तुम अपने स्वजनो की अनुमति प्राप्त करो।"

तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल ने अपनी माता और पत्नियो से उसे दीक्षार्थ अनुमति देने के लिये कहा किन्तु पूरी तरह प्रयास कर चुकने पर भी उसको स्वजनों से दीक्षा लेने की अनुमति नही मिली। अवन्तिसुकुमाल तो नलिनीगुल्म विमान मे यथाशीघ्र जाने के लिये आतुर हो रहा था। उसने स्वय ही केशलुचन कर श्रमणवेष धारण कर लिया और वह आर्य सुहस्ती की सेवा मे उपस्थित हुआ।

आर्य सुहस्ती ने अपने शरीर से भी निर्ममत्व और संसार से पूर्णरूपेण विरक्त अवन्तिसुकुमाल को स्वयगृहीत साधुवेष मे देखकर विधिपूर्वक श्रमण दीक्षा प्रदान की। तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल ने आर्य सुहस्ती से निवेदन किया "प्रभो ! मैं लम्वे समय तक श्रमणजीवन के कष्टों को सहन नही कर पाऊगा अत. मुझे आमरण अनशनपूर्वक साधना करने की आज्ञा प्रदान कीजिये।"

आर्य सुहस्ती से आज्ञा प्राप्त कर अवन्तिसुकुमाल नगर से वाहर निर्जन श्मशान भूमि मे पहुंचा और कायोत्सर्ग कर खड़ा हो गया। अत्यन्त सुकुमार अवन्तिसुकुमाल प्रथम वार ही नगे पांवो इतनी दूर तक चला था अत· कंकरों

१. स्थविर आर्य रोहण। इनसे उद्देहगण निकला। उद्देहगण से निम्नलिखित ४ शाखाएं निकली :–

(१) उदुबरिज्जिया, (२) मासपूरिया, (३) मइपत्तिआ और (४) पुण्यपत्तिका।

उद्देहगण के निम्नलिखित ६ कुल थे –

(१) नागभूय, (२) सोमभूय, (३) उल्लगच्छ, (४) हत्थलिज्ज, (५) नन्दिज्ज और (६) परिहासय।

२ आचार्य यशोभद्र – इनसे उडुवाडिय गण निकला। इस गण से निम्नलिखित ४ शाखाए निकली –

(१) चपिज्जिया, (२) भद्दिज्जिया, (३) काकन्दिया, और (४) मेहलिज्जिया।

इस उडुवाडिय गण के निम्नलिखित ३ कुल हुए –

(१) भद्रयश, (२) भद्रगुप्त और (३) यशोभद्र।

३ मेघगणी – कल्पसूत्र स्थविरावली मे इनके सम्बन्ध मे कोई परिचय नही दिया गया है। इनसे कोई पृथक् गण नही निकला। ये गुणसुन्दर, गुणाकर और घनसुन्दर के नाम से भी पहिचाने जाते थे। श्यामाचार्य इन्ही के शिष्य माने जाते है।

४ आचार्य कामर्धिगणी – इनसे वेसवाडिय गण निकला जिसकी (१) सावत्थिया, (२) रज्जपालिया, (३) अन्तरिज्जिया और (४) खेमिलज्जिया नाम की चार शाखाए तथा (१) गणिय, (२) मेहिय, (३) कामड्ढिय एव (४) इन्द्रपुरग नाम के चार कुल थे।

५. आचार्य सुस्थितसूरि और ⎫ इन दोनो आचार्यो के गण, शाखाए
६ आचार्य सुप्रतिबद्धसूरि ⎭ और कुल सम्मिलित थे।

इन आचार्य सुस्थित से कोडिय-काकदिय नामक गच्छ निकला। इस गच्छ की निम्नलिखित ४ शाखाए और चार ही कुल थे –

शाखाए :–

(१) उच्चानागरी, (२) विद्याधरी, (३) वज्री और (४) मज्झिमिल्ला।

कुल :–

(१) बम्भलिज्ज, (२) वत्थलिज्ज, (३) वाणिज्य और (४) पण्हवाहणय।

उपरिलिखित ४ शाखाए वस्तुत: कोटिकगण की मूल एव मुख्य शाखाए है। इनका प्रारम्भ आ सुस्थित और सुप्रतिबद्ध के सतानीय क्रमश स्थविर

आर्य सुहस्ती के शिष्य अवन्तिसुकुमाल के इस प्रकार के अलौकिक साहस, अद्भुत त्याग और वैराग्य से उस समय का जनमानस कितना प्रभावित हुआ होगा, इसको कल्पना से भी नही आका जा सकता ।

आर्य महागिरि की शिष्य-परम्परा

कल्पसूत्रानुसार[1] आर्य महागिरि की शिष्य परम्परा क्रमश· इस प्रकार है –

१. स्थविर उत्तर (बहुल)
२ स्थविर बलिस्सह
३. स्थविर धनाढ्य
४. स्थविर श्री आढच
५ स्थविर कौडिन्य
६. स्थविर नाग
७ स्थविर नागमित्र
८. कौशिक गोत्रीय षडुल्लूक रोहगुप्त

इन्हे प्रत्यक्ष शिष्यो की अपेक्षा पारम्परिक शिष्य मानना अधिक उपयुक्त होगा ।

आठवे शिष्य कौशिक गोत्रीय स्थविर षडुल्लूक रोहगुप्त से त्रैराशिक (निन्हवो) की उत्पत्ति हुई ।

स्थविर उत्तर और स्थविर बलिस्सह से उत्तरबलिस्सह नामक गरण निकला जिसकी ये निम्नलिखित ४ शाखाए है :–

१ कौशाम्बिका, २. शुक्तिवतिका, ३. कोडवाणी और ४ चन्दनागरी ।

आचार्य सुहस्ती की शिष्य-परम्परा

आचार्य आर्य सुहस्ती का शिष्यपरिवार बडा विशाल था। उनके १२ प्रमुख शिष्य थे[2], जिनके नाम, उनसे निकली हुई शाखाओ एवं कुलो के नाम सहित इस प्रकार है –

---

[1] थेरस्स ण अज्जमहागिरिस्स एलावचगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिण्णाया हुत्था, तजहा – १ थेरे उत्तरे, २ थेरे बलिस्सहे, ३. थेरे धणड्ढे, ४. थेरे सिरिड्ढे, ५ थेरे कोडिन्ने, ६ थेरे नागे, ७ थेरे नागमित्ते, ८ थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्तेण ।

थेरेहिन्तो ण छलूएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगुत्तेहिंतो तत्थ ण तेरासिया निग्गया । थेरेहिन्तो ण उत्तर बलिस्सहेहिन्तो तत्थ णं उत्तर बलिस्सहे नाम गणे निग्गये । तस्सण इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जति; तजहा –
१ कोसंबिया, २. सोइत्तिया (सुत्तिवत्तिआ) ३ कोडवाणी, ४ चन्दनागरी ।

[2] थेरे अज्जरोहण, जसभद्दे मेहगणी, य कामिड्ढी ।
सुट्ठिय, सुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते अ ॥१॥
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते गणी अ बम्भे गणी य तह सोमे ।
दस दो अ गणहरा खलु, एए सीसा सुहत्थिस्स ॥२॥
[कल्पसूत्र स्थविरावली]

"सव्वे पडुपण्णसमय नेरइया वोच्छिज्जिस्सति एव जाव वेमाणियत्ति ।"

इस पाठ का अर्थ यह है कि जो वर्तमान काल के नारकीय है, वे दूसरे समय मे विनाश को प्राप्त होते है । ऐसी अवस्था मे पहले समय के नारकीय की जो पर्याय थी, वह विनष्ट हो जाती है और दूसरे समय मे विशिष्ट दूसरी पर्याय हो जाती है ।

वस्तुत' यह पाठ पर्याय पलटने के सम्वन्ध मे है पर ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण, अश्वमित्र ने इसके वास्तविक अर्थ को नही समझते हुए अपनी भ्रान्त धारणा वना ली कि ससार की समस्त वस्तुए, पाप, पुण्य और यहा तक कि आत्मा भी क्षण-क्षण के अन्तर से नष्ट होने वाला है । अश्वमित्र के गुरु ने उसे अनेक प्रकार से उपरोक्त पाठ का सही अर्थ समझाने का प्रयास किया पर उस पर कुछ भी प्रभाव नही पडा और वह अपनी क्षणिकवाद की मान्यता पर दुराग्रहपूर्वक डटा ही रहा । समझाने के सभी प्रकार के प्रयास निष्फल हो जाने पर गुरु द्वारा उसे सघ से वहिष्कृत कर दिया गया ।

सघ से वहिष्कृत किये जाने के पश्चात् अश्वमित्र अपने नये सामुच्छेदिक मत का घूम-घूम कर प्रचार करने लगा । ऐसा अनुमान किया जाता है कि समुच्छेदवादी चौथे निह्नव अश्वमित्र के समय तक वौद्ध धर्म के क्षणिकवाद का काफी प्रचार हो चुका होगा । सम्भव है अश्वमित्र पर भी बौद्धो के क्षणिकवाद का प्रभाव पडा हो । वह अपने अनेक साथियो के साथ विभिन्न क्षेत्रोमे घूम-घूम कर अपने इस नये मत का प्रचार करने लगा और लोगो को उपदेश देने लगा कि जो जीव पहले समय मे पाप करता है, वह दूसरे समय मे नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार प्रथम समय मे किया हुआ पुण्य दूसरे समय मे नष्ट हो जाता है ।

अश्वमित्र अपने मत का प्रचार करता हुआ एक दिन अपने साथियो सहित राजगृह नगर पहुचा । वहा उस समय नगर के चौकी-चुगी विभाग का उच्चाधिकारी सच्चा श्रमणोपासक था । उसने अश्वमित्र को सही मार्ग पर लाने के उद्देश्य से अपने कर्मचारियो द्वारा पकडवा कर पिटवाना प्रारम्भ किया । पीडा से कराहते हुए अश्वमित्र ने उस अधिकारी से पूछा – "मै साधु हू और तुम श्रमणोपासक हो । मै समझ नही पा रहा हू कि तुम मुझे क्यो पीट रहे हो ?" उस चुगी अधिकारी ने उत्तर मे कहा – "तुम्हारे समुच्छेदवाद की मान्यता के अनुसार तुम्हारे शरीर मे साधु के रूप मे आत्मदेव विराजमान था वह तो कभी का विनष्ट हो गया । उसी प्रकार मेरे अन्तर मे श्रमणोपासक के रूप मे जो आत्मा थोडी देर पहले विद्यमान था, वह भी समाप्त हो चुका । इस दृष्टि से अब न तुम साधु हो और न मै श्रमणोपासक ।"

इस प्रत्यक्ष अनुभव और प्रमाण से अश्वमित्र की बुद्धि तत्काल ठिकाने पर आ गई । उसे अपनी त्रुटि समझ मे आ गई कि वस्तुत वह भ्रमवश बिल्कुल मिथ्या धारणा बना बैठा था । चुगी अधिकारी की बुद्धिमत्ता ने भटके हुए

शान्ति श्रेणिक, स्थविर विद्याधर गोपाल, स्थविर आर्य वज्र और स्थविर प्रियग्रथ से होना बताया गया है। इनके अतिरिक्त कोटिकगण की अज्जसेणिया, अज्जतावसी, अज्जकुबेरा, अज्जइसिपालिआ, अज्जनाइली, अज्ज पोमिला, अज्ज जयन्ती, एवं ब्रह्मद्वीपिका ये उप-शाखाएं और नागेन्द्रकुल, चन्द्रकुल आदि उपकुल थे।

७. आ० रक्षित } इनसे किसी शाखा या गण के प्रकट
८ आ० रोहगुप्त } होने का उल्लेख नही मिलता।

९. आचार्य ऋषिगुप्त – इनसे मानवगण निकला। इस गण की निम्न-लिखित ४ शाखाए :–

(१) कासवज्जिया, (२) गोयमज्जिया, (३) वासिट्ठिया तथा
(४) सोरट्ठिया। और
(१) ईसिगुत्तिय, (२) ईसिदत्तिय तथा (३) अभिजयन्त-ये ३ कुल थे।

१०. आ० श्रीगुप्त (हारितगोत्रीय) – इनसे चारण गण निकला, जिसकी निम्नलिखित ४ शाखाए और ७ कुल थे –

शाखाए :–

(१) हारियमालागारी, (२) सकासिया, (३) गवेधुया और
(४) वज्जनागरी।

कुल :–

(१) वत्थलिज्ज, (२) पीइधम्मिय, (३) हालिज्ज, (४) पूसमित्तिज्ज, (५) मालिज्ज, (६) अज्जवेडय और (७) कण्हसह (कृष्णसख)।

११. आ० ब्रह्मगणी } इनसे भी किसी गण या शाखा के प्रकट
१२ आ० सोमगणी } होने का उल्लेख उपलब्ध नही होता।

आचार्य सुहस्ती का शिष्य-समुदाय वस्तुत. सुविशाल था। उसमें अनेक उच्चकोटि के विद्वान् साधक-श्रमण थे पर उन सब का परिचय उपलब्ध नही होता।

समुच्छेदवादी चौथा निन्हव-अश्वमित्र

(वीर-निर्वाण संवत् २२०)

आर्य महागिरि के आचार्यकाल के पांचवे वर्ष में अर्थात् वी० नि० सवत् २२० मे समुच्छेदवादी (क्षणिकवादी) अश्वमित्र नाम का चौथा निह्नव हुआ। निह्नव अश्वमित्र आर्य महागिरि के कोडिन्न नामक शिष्य का शिष्य था। एक समय वह मथुरा नगरी मे शास्त्राभ्यास कर रहा था। उस समय दशवे अनुप्रवाद पूर्व की नेउणिया नामक वस्तु के छिन्नछेद नय की वक्तव्यता के निम्नलिखित पाठ पर वह विचार करने लगा :–

नही किया जा सकता; उसी प्रकार समय भी काल का सबसे छोटा, सबसे सूक्ष्म भाग है, जिसका और कोई विभाग नही किया जा सकता। काल के इतने छोटे अन्तिम विभाग 'समय' मे दो क्रियाए अथवा दो उपयोगो के उत्पन्न होने की कोई गुजायश ही नही रह जाती क्योकि वह काल का ऐसा सूक्ष्म भाग है जिसके दो विभाग किये ही नही जा सकते। ऐसी स्थिति मे एक समय के अन्दर दो क्रियाओ अथवा दो प्रकार के उपयोगो के उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व को प्रत्यक्ष की तरह देखने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थकर भगवान् ने जो फरमाया है, वह पूर्णरूपेण सत्य है। उसमे तुम्हे शका नही करनी चाहिये।"

अपने गुरु के मुख से इस प्रकार के हृदयग्राही, तर्कसगत सूक्ष्म विवेचन को सुनने के उपरान्त भी अरणगार गग ने अपना दुराग्रह नही छोडा, तो अन्ततोगत्वा उसे सघ से बहिष्कृत घोषित कर दिया गया।

सघ से बहिष्कृत किये जाने के पश्चात् गग ने 'द्विक्रिय' नामक एक नया मत चलाया। यह मत थोडे समय तक ही चल पाया था कि गग को अपनी त्रुटि का अनुभव हो गया। उसने अपने गुरु के पास आकर क्षमा मागी और प्रायश्चित्त लेकर पुन. सयममार्ग पर आरूढ हो गया।

आचार्य सुहस्ती के बाद की संघ-व्यवस्था

सघ-व्यवस्था मे आचार्य का बडा महत्वपूर्ण और सभी दृष्टियो से सर्वोपरि स्थान माना जाता रहा है। आर्य सुधर्मा से आर्य महागिरि एव आर्य सुहस्ती तक लगभग ३०० वर्ष पर्यन्त जिनशासन का सम्यक् रूपेण सचालन सरक्षण आचार्यो ने ही किया।

आचार्य के अतिरिक्त उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर, प्रवर्तक आदि पदो के भी शास्त्र मे नाम उपलब्ध होते है। पर आचार्य, गणधर और थेर–स्थविर के अतिरिक्त तीर्थकर काल से महागिरि तक के काल मे किसी अन्य पद या उसके कार्य का उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता। जहां-तहां स्थविर का उल्लेख मिलता है। वे ही आचार्य के प्रमुख सहायक रूप से नवदीक्षितो को सयमधर्म की शिक्षा और शास्त्रवाचना प्रदान करते रहे। इसके लिये शास्त्रो मे जगह-जगह उल्लेख मिलते है – 'थेराण अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अगाइ अहिज्जई'। सभव है स्थिर शील स्वभाव के कारण उपाध्याय के लिये स्थविर शब्द का भी प्रयोग किया गया हो। अथवा अधिकाश आचार्य ही अपने समाश्रित श्रमणवर्ग को आचारमार्ग मे जोडने एवं स्थिर रखने के साथ-साथ श्रुतवाचना का कार्य भी सम्पन्न करते रहे हो और आत्मार्थी मेधावी शिष्य एक बार कहने से ही सरलता के साथ मर्यादा मे चलते रहे हो। इस कारण प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी आदि पदो का पृथकत उल्लेख नही किया गया हो। स्थिति कुछ भी रही हो, उपलब्ध उल्लेखो से तो यही प्रकट होता है कि हजारो साधुओ की सख्या

विपथगामी अश्वमित्र को प्रतिबोध देकर पुन. सही पथ पर लगा दिया। अश्वमित्र तत्काल अपने गुरु के पास पहुंचा और उनसे क्षमा माग कर एव अपने मिथ्यात्व के लिये प्रायश्चित्त ले कर पुन. श्रमरणसंघ में सम्मिलित हो गया।

द्विक्रियावादी पाँचवाँ निह्नव-गंग

(वीर-निर्वाण संवत् २२८)

वीर नि० स० २२८ मे भगवान् महावीर के शासन का पाचवां निह्नव द्विक्रियावादी गंग नामक अरगगार हुआ। निह्नव गग अथवा गगदेव आचार्य महागिरि के शिष्य धनगुप्त का शिष्य था। गग अरगगार एक दिन दुपहर की कडी धूप मे उलूगातीर नामक नदी को पार कर रहा था। उक्त नदी को पार करते समय अरगगार गंग को अपने पैरो से ठड का और ऊपर से चिलचिलाती धूप की गर्मी का अनुभव हुआ। एक ही साथ ठंड और गर्मी का अनुभव होने के काररग उसके मन मे विचार उत्पन्न हुआ – "भगवान् महावीर ने तो फरमाया है कि एक समय मे दो क्रियाएं नही होती, दो प्रकार का उपयोग नही होता। एक समय मे एक ही क्रिया की जाती और एक ही प्रकार का उपयोग होता है। पर वह तो प्रत्यक्ष ही ठड और गर्मी दोनों का अनुभव एक साथ, एक ही समय मे कर रहा है। तो, इससे स्पष्टत. यह सिद्ध होता है कि एक ही समय मे दो प्रकार की क्रियाएं और दो प्रकार का उपयोग हो सकता है। भगवान् महावीर का यह फरमाना कि एक समय मे एक ही क्रिया और एक ही उपयोग होता है – वस्तुत असत्य है।"

अपने गुरु धनगुप्त के पास पहुच कर गग अरगगार ने द्विक्रियावाद की नवीन मान्यता रखी। आर्य धनगुप्त ने गंग के मन में उत्पन्न हुई शंका को मिटाने का प्रयास करते हुए कहा – "वत्स ! तुम्हे इस तथ्य को ध्यान मे रखना चाहिये कि एक क्षरग के अन्दर असख्य समय होते है। तुम जिसे समय की सज्ञा दे रहे हो वह समय नही, क्षरग है। समय तो क्षरग का असंख्यातवा भाग है। समय वस्तुत क्षरग का वह असंख्यातवा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग है, जिसका और कोई टुकडा या भाग नही किया जा सकता। एक क्षरग मे अनेक क्रियाओ का अनुभव हो सकता है, पर एक समय मे कभी नही। तुम्हे नदी मे जो गरमी और सर्दी का अनुभव हुआ, वह एक समय मे नही हुआ। गर्मी का अनुभव होने के पश्चात् जो सर्दी का अनुभव हुआ, वह वस्तुत असख्यात समय पश्चात् हुआ। इन दोनो प्रकार के उपयोगो के बीच मे असख्यात समय का व्यवधान है, अन्तर है। समय वस्तुत: काल का वह सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग है जिसका और कोई दूसरा विभाग नही हो सकता, जबकि क्षरग, काल का वह भाग है, जिसमे असख्यात समय समाविष्ट होते है। इस प्रकार असख्यात समयो के पुज 'क्षरग' नामक काल विभाग में जो तुम्हे दो प्रकार के अनुभव हुए, दो प्रकार के उपयोग हुए है, वे एक समय मे हुए दो उपयोग नही, अपितु एक क्षरग मे हुए दो उपयोग है। जिस प्रकार, एक पुद्गल के उस छोटे से छोटे, सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग को परमाणु कहते है, जिसका कि और कोई विभाग

चूकि इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध साहित्य मे दृष्टिगोचर नही होता अतः निश्चित रूप से तो इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता। फिर भी तत्कालीन कतिपय घटनाओ और पश्चाद्वर्ती आचार्यो एव लेखको द्वारा उल्लिखित कुछ विवरणो के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि दूरदर्शी आचार्यो ने कालप्रभाव से होने वाले गणभेद, सम्प्रदायभेद एव मान्यताभेद आदि विभिन्न भेदो को दृष्टि मे रखते हुए भेद मे अभेद को चिरस्थायी बनाने का यह मार्ग ढूढ निकाला हो।

आर्य महागिरि और सुहस्ती के जीवनपरिचय से यह तथ्य स्पष्टत प्रकट होता है कि उनके समय मे मतभेद का बीजारोपण तो नही हो पाया था पर श्रमणवर्ग मे कतिपय श्रमण कठोर श्रमणाचार के पक्षपाती और अधिकाश श्रमण समय, सामर्थ्य आदि को दृष्टिगत रखते हुए अपवादमार्ग के समर्थक हो चले थे। "वर्तमान का यह थोडा सा भी आचारभेद आगे चल कर पारस्परिक सपर्क के अभाव मे कही अधिक उग्र रूप धारण न कर ले" – इस दृष्टि से आचार्य सुहस्ती ने आर्य महागिरि के पश्चात् शास्त्रीय परम्परा मे एकवाक्यता एव एकरूपता बनाये रखने की शासनहित की भावना से दोनो गणो द्वारा मान्य उनके शिष्य वलिस्सह को वाचनाचार्य पद पर नियुक्त कर एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया।

गणाचार्य के साथ वाचनाचार्य की स्वतन्त्र नियुक्ति से दोनो विचारधाराओ के श्रमणो का सदा निकटतम सम्पर्क बने रहने से श्रमणसघ मे यथावत् ऐक्य बना रहा।

जहा तक युगप्रधानाचार्य परम्परा का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती के समय मे मौर्य सम्राट् सम्प्रति द्वारा उत्कट निष्ठा और लगनपूर्वक किये गये शासनसेवा के कार्यो से जैनधर्म के उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार के साथ-साथ श्रमणसघ भी खूब फलाफूला। श्रमणो के समुदाय देश और विदेशो के दूर-वर्ती प्रदेशो मे पहुच कर धर्म का प्रचार करने लगे। फलस्वरूप आर्य सुहस्ती की सर्वतोमुखी प्रतिभा बहुगुणित हो चमक उठी और महान् प्रभावक होने के कारण वे समस्त सघ मे युगप्रधानाचार्य के रूप मे विख्यात हो गये। तभी से युग-प्रधानाचार्य की तीसरी परम्परा भी अधिक स्पष्ट रूप मे उभर आई। वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य ये दोनो पद किसी गणविशेष मे सीमित न रह कर योग्यता विशेष से सम्बन्धित रहे।

यह भी सभव प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती के समय मे उनके विशाल साधुसघ के श्रमण तथा अन्य गणो के श्रमण कालान्तर मे स्वतन्त्र आचार्य के अधीन स्वतन्त्र गण के रूप मे विचरण करने लगे हो और उन्हे उसी रूप मे रहने की अनुमति के साथ-साथ एकता के सूत्र मे वाधे रखने की दृष्टि से स्थविरो ने सोच-विचार के पश्चात् युगप्रधानाचार्य की परम्परा को सर्वमान्य एव सर्वोपरि स्थान प्रदान किया हो।

वाले विशाल साधुसमुदाय एक आचार्य के शासन मे पूर्णत व्यवस्थित रूप से चलते रहे। विभिन्न प्रान्तो में विचरने वाले विशाल साधुसमुदाय की व्यवस्था के लिये अनेक आचार्यो की सत्ता मे भी संघ का प्रमुख नेतृत्व एक ही आचार्य के हाथ मे रहा।

आर्य यशोभद्र के समय से कुल, गण और शाखाओं का उद्भव होने लगा पर भद्रबाहु और स्थूलभद्र जैसे प्रतिभाशाली आचार्यो के प्रभाव से श्रमणसघ में कोई मतभेद उभर न सका। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ने भी मतभेद की दरारों को उत्पन्न होते ही पाटते हुए अपने अस्तित्वकाल मे जिनशासन का ऐक्य बनाये रखा।

भावी सतति मे यत्किचित् परम्परा-भेद भी कही उग्र रूप धारण न कर ल तथा श्रुतधर्म एव चारित्रधर्म की विशुद्ध परम्परा कही विनष्ट अथवा अपने स्वरूप से स्खलित न हो जाय, इस दृष्टि से उन्होने आचार्य पद के आवश्यक कर्त्तव्यो एव अधिकारो को (१) गणाचार्य, (२) वाचनाचार्य और (३) युग-प्रधानाचार्य - इन तीन भागो में बाट दिया। इस व्यवस्था के फलस्वरूप निम्न-लिखित तीन परम्पराए प्रचलित हुई –

(१) गणधरवंश - इसमे गण के अधिनायक उन आचार्यो की प्रतिष्ठापना की गई, जो गुरु-शिष्य क्रम से उस गण की परम्परा का संचालन करते रहे। इनकी परम्परा दीर्घकाल तक चलती रही। वर्तमान के गणपति उसी के अवशेष कहे जा सकते है।

(२) वाचकवश - वाचकवंश के आचार्य वे कहलाते थे, जो आगमज्ञान की विशुद्ध परम्परा के पूर्ण मर्मज्ञ और वाचना-प्रदान में कुशल होते थे। इनकी सीमा अपने गण तक ही सीमित न हो कर पूरे संघ मे मान्य होती थी।

(३) युगप्रधान परम्परा - इस परम्परा के अन्तर्गत युगप्रधानाचार्य उसे ही बनाया जाता था जो विशिष्ट प्रतिभा एवं योग्यता के कारण जैनधर्म ही नही, उससे बाहर भी प्रभावोत्पादक होता। वाचनाचार्य या युगप्रधानार्य के लिये किसी गण अथवा परम्परा का नियमन नही होता था कि वह किसी निश्चित गण अथवा परम्परा का ही हो। एक युगप्रधान के पश्चात् उससे भिन्न गण अथवा परम्परा का सुयोग्य श्रमण भी उस पद का अधिकारी हो सकता था।

उपरोक्त परिवर्तन की स्थिति विचारणीय है कि भगवान् महावीर के पश्चात् लगभग ढाई-पौने तीन सौ वर्ष तक जो सघ व्यवस्था संघसचालन एव वाचनाप्रदान - इन दोनो कार्यो के एक ही गणाचार्य द्वारा निष्पादित किये जाने के रूप मे सुव्यवस्थित रीति से चलाई जाती रही, वहा आर्य सुहस्ती के समय मे ऐसी कौनसी आवश्यकता उत्पन्न हो गई कि सुदीर्घकाल से चली आ रही उस सुव्यवस्था को बदल कर संघसचालन के लिये गणाचार्य तथा आगमवाचना के लिये वाचनाचार्य की नियुक्ति कर एक के स्थान पर दो आचार्यो की और तद-नन्तर युगप्रधानाचार्य की परम्परा को प्रचलित करना पड़ा ?

१९. आर्य वज्र
२०. आर्य रक्षित
२१. आर्य आनन्दिल
२२. आर्य नागहस्ती
२३ आर्य रेवतिनक्षत्र
२४. आर्य ब्रह्मद्वीपकसिह
२५. आर्य स्कदिलाचार्य
२६ आर्य हिमवन्त
२७ आर्य नागार्जुन
२८ आर्य गोविन्द
२९. आर्य भूतदिन्न
३० आर्य लौहित्य
३१. आर्य दूष्यगरिण
३२. आर्य देवर्द्धिगरिण [1]

आचार्य मेरुतुंग ने आर्य महागिरि की शाखा को मुख्य मानते हुए इसके आचार्यों की, आर्य वलिस्सह से आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक की नामावली दो गाथाओ मे दी है। वे गाथाए इस प्रकार है .–

> सूरि बलिस्सह, साई, सामज्जो, सॅडिलो य जीयधरो ।
> अज्ज समुद्दो, मॅगू, नदिल्लो, नागहत्थी य ॥
> रेवईसिहो, खदिल, हिमव, नागज्जुरगा य गोविन्दा ।
> सिरि भूइदिन्न-लोहिच्च-दूसगरिणरगो य देवड्ढी ॥

इन गाथाओ मे, ऊपर दी गई नामावली मे उल्लिखित आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र और आर्य रक्षित-इन चार आचार्यों के नामो को सम्मिलित नही किया गया है। नन्दी के वृत्तिकार एव चूर्णिकार ने भी स्थविरावली की गाथा स० ३१, ३२ और ४१ को प्रक्षिप्त मानते हुए इन चारो आचार्यों के साथ साथ आर्य गोविन्द का नाम भी नदी स्थविरावली मे सम्मिलित नही किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरुतुग स्थविरावली की उपरोक्त दो गाथाओ तथा नन्दी स्थविरावली मे आर्य महागिरि की परम्परा अर्थात् वाचकवश परम्परा के आचार्यो का पट्टक्रम से उल्लेख है और प्रक्षिप्त गाथाओ मे वाचकवश परम्परा के आचार्यों के समकालीन युगप्रधानाचार्यों के नाम दे दिये गये है। वस्तुत अधोलिखित युगप्रधानाचार्य-पट्टावली मे इन चारो आचार्यों के नाम विद्यमान है।

युगप्रधानाचार्य परम्परा की नामावली

१ आर्य सुधर्मास्वामी
२ आर्य जम्बूस्वामी
३ आर्य प्रभवस्वामी
४ आर्य शय्यभवस्वामी
५ आर्य यशोभद्रस्वामी
६ आर्य सभूतिविजय
७ आर्य भद्रबाहुस्वामी
८ आर्य स्थूलभद्रस्वामी
९ आर्य महागिरि
१० आर्य सुहस्ती

---

[1] नन्दी-स्थविरावली की गाथा स० ३१, ३२ और ४१ जिन्हे कि प्रक्षिप्त माना गया है, उनके अनुसार आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, रक्षित और आर्य गोविन्द इन पाच आचार्यों के नाम जोडने पर ही आर्य देवर्द्धि तक इस परम्परा के आचार्यों की सख्या ३२ होती है। नन्दी स्थविरावली की मूल गाथाओ के अनुसार आर्य देवर्द्धिगरणी २७ वे आचार्य है।
[सम्पादक]

वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य के पद किसी गणविशेष में सीमित न रख कर विशिष्ट योग्यता से सम्बन्धित रखे गये, इसलिये ये दोनो पद उभय परम्पराओ एव कालान्तर मे सभी गणों के लिये मान्य रहे।

युगप्रधानाचार्य का प्रमुख कर्त्तव्य समस्त गणो को एक सूत्र मे सगठित रख कर मूल रीति-नीति पर चलाना, कठिन समय में शासन-संरक्षण के साथ-साथ जैनधर्म की गौरवगरिमाभिवृद्धि मे अपनी योग्यता और प्रतिभा का परिचय देना था। उनका निर्णय जैनेतर समाज में भी प्रमाणभूत माना जाता था।

दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार भगवान् महावीर के धर्मशासन मे दुष्षमाकाल के अन्त तक सुधर्मा आदि २००४ आचार्यो को युगप्रधान माना गया है।

वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य की नयी व्यवस्था का तात्कालिक लाभ यह हुआ कि गण, कुल आदि के प्रादुर्भाव के उपरान्त भी सघ एकता के सूत्र मे बधा रहने के कारण छिन्न-भिन्न होने से बचता रहा।

ऊपर लिखित तीनो परम्पराओ के आचार्यो के काल की ऐतिहासिक घटनाओ का देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक का परिचय देने से पूर्व यहा पर तीनों परम्पराओ के आचार्यो की नामावली प्रस्तुत की जा रही है –

पट्टधरो के क्रम मे आर्य स्थूलभद्र के दो प्रमुख एव पट्टधर शिष्यो – आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती – मे आर्य महागिरि बडे थे। इस दृष्टि से आर्य महागिरि की शाखा सभी तरह से प्रमुख शाखा मानी जानी चाहिये। तदनुसार प्राचीन आचार्यो द्वारा आर्य महागिरि की शाखा को ही प्रमुख माना भी गया है।[1] अत यहा सर्वप्रथम, वाचकवंश-परम्परा के नाम से प्रसिद्ध आर्य महागिरि की आचार्य परम्परा की नामावली प्रस्तुत की जा रही है –

वाचकवंश-परम्परा

१ आर्य सुधर्मा
२ आर्य जम्बू
३ आर्य प्रभव
४. आर्य शय्यभव
५ आर्य यशोभद्र
६. आर्य सभूत विजय
७. आर्य भद्रबाहु
८. आर्य स्थूलभद्र
९ आर्य महागिरि
१०. आर्य सुहस्ती
११. आर्य बलिस्सह
१२. आर्य स्वाति
१३. आर्य श्याम
१४. आर्य साडिल्य
१५. आर्य समुद्र
१६. आर्य मंगु
१७. आर्य धर्म
१८. आर्य भद्रगुप्त

[1] अत्र चाय वृद्धसप्रदाय. – स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम् – आर्यमहागिरि आर्य सुहस्ती च। तत्र आर्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या। [मेरुतुगीया स्थविरावली]

१७. आर्य धनगिरि	२६ आर्य सपलितभद्र
१८. ,, शिवभूति	२७ ,, वृद्ध
१९ ,, भद्र	२८ ,, सघपालित
२० ,, नक्षत्र	२९ ,, हस्ती
२१. ,, दक्ष	३० , धर्म
२२. ,, नाग	३१ ,, सिह
२३ ,, जेहिल	३२ ,, धर्म
२४ ,, विष्णु	३३ ,, साडिल्य[1]
२५ ,, कालक	

महागिरि की परम्परा मुख्य होने के कारण यहाँ पर सर्व प्रथम नन्दी सूत्र की स्थविरावली के अनुसार महागिरि की परम्परा के आचार्यों का तथा उनके साथ ही उपरोक्त दोनो परम्पराओ के आचार्यों का परिचय अनुक्रमश दिया जा रहा है।

११. आर्य बलिस्सह

वीर नि० स० २४५ मे आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् उनके ८ प्रमुख स्थविरो (शिष्यो) मे से आर्य बलिस्सह गणाचार्य नियुक्त हुए। उनके गण का नाम उत्तर बलिस्सह रखा गया।

यहाँ शका हो सकती है कि बहुल और बलिस्सह इन दोनो स्थविरो मे ज्येष्ठ होने पर भी बहुल का नाम गणाचार्य मे न देकर बलिस्सह को गणनायक बताने का क्या विशिष्ट कारण है, जब कि गण के नाम मे उत्तर-बलिस्सह इस नामान्तर से बहुल को भी जोडा गया है? ऐसा प्रतीत होता है कि बहुल ने बलिस्सह से ज्येष्ठ और बहुश्रुत होने पर भी अपनी अल्पायु आदि कारणो से स्वय आचार्य न बन कर अधिक प्रतिभाशाली बलिस्सह को ही आचार्य बनाना उचित समझा हो और इसीलिये बलिस्सह ने भी ज्येष्ठ के आदरार्थ गण का नाम उत्तर बलिस्सह मान्य किया हो।

बलिस्सह के जन्म, दीक्षा, माता-पिता आदि का परिचय उपलब्ध नही होने के कारण इतना ही लिखा जा सकता है कि बलिस्सह कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे। आर्य महागिरि के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर उन्होने १० पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया। आर्य महागिरि के समान आर्य बलिस्सह आचार-साधना मे भी विशेष निष्ठा रखने वाले थे। यही कारण है कि आर्य महागिरि के पश्चात् वे इस परम्परा मे प्रमुख गणाचार्य माने गये।

महागिरि परम्परा के अन्य स्थविरो ने भी इनका गणनायकत्व स्वीकार

---

[1] कल्पसूत्र स्थविरावली के अत मे दी गई देवर्द्धि क्षमा श्रमण की वदन गाथा के आधार पर साडिल्य के पश्चात् देवर्द्धि को चौतीसवा आचार्य माना गया है परन्तु इस गाथा के अन्यकर्तृक होने के कारण इसे प्रामाणिक नही माना जा सकता। —सम्पादक

११. आर्य गुणसुन्दर
१२. आर्य श्यामाचार्य
(कालकाचार्य प्रथम)
१३ आर्य स्कदिलाचार्य
१४. आर्य रेवतीमित्र
१५. आर्य धर्म
१६ आर्य भद्रगुप्त
१७. आर्य श्रीगुप्त
१८ आर्य वज्रस्वामी
१९. आर्य रक्षित
२०. आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र
२१. आर्य वज्रसेन
२२. आर्य नागहस्ती
२३. आर्य रेवतीमित्र
२४. आर्य सिह
२५. आर्य नागार्जुन
२६. आर्य भूतदिन्न
२७. आर्य कालकाचार्य (चतुर्थ)

गणाचार्य-परम्परा

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, इन दोनों आचार्यो के पृथक्-पृथक् दो गण थे और उन दोनों गणों के अनुक्रमशः अलग-अलग आचार्य हुए है। इन दो गणो के अतिरिक्त कालान्तर में स्वतन्त्र रूप से जो अनेक गण हुए, उन सब गणों के भी भिन्न-भिन्न आचार्य पट्टानुक्रम से हुए है। इसके साथ ही साथ अनेक वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य ऐसे भी हुए है, जो अपने-अपने गणों के गणाचार्य रहते हुए वाचनाचार्य अथवा युगप्रधानाचार्य भी रहे है। ऐसी स्थिति में सभी गणो के गणाचार्यो की नामावली का दिया जाना संभव प्रतीत नही होता। विभिन्न गणों की पट्टावलियों से ही उनके सम्बन्ध में परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उन गणो मे आर्य सुहस्ती का गण प्रारम्भ से ही अति विशाल और प्रसिद्ध रहा। कल्पसूत्र-स्थविरावली को आर्य सुहस्ती की आचार्य परम्परा माना गया है[1] अतः उसे यहां दिया जा रहा है :-

कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली

१. आर्य सुधर्मा
२ ,, जम्बू
३ ,, प्रभव
४. ,, शय्यंभव
५ ,, यशोभद्र
६. ,, सभूतविजय-भद्रबाहु
७ ,, स्थूलभद्र
८ ,, सुहस्ती
९. आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध
१०. ,, इन्द्रदिन्न
११. ,, दिन्न
१२. ,, सिहगिरि
१३. ,, वज्र
१४. ,, रथ
१५. ,, पुष्यगिरि
१६. ,, फल्गुमित्र

---

[1] तत्र सुहस्तिन सुस्थित – सुप्रतिबुद्धादिक्रमेणावलिका यथा 'दसासु' तथैव द्रष्टव्या, न तयेहाधिकार, महागिर्यावलिकयेहाधिकार.।
[नदी वृत्ति (श्री पुण्यविजयजी द्वारा सपादित), पृ० ११]

इस प्रकार आर्य बलिस्सह महागिरि की परम्परा के गणाचार्य और समस्त सघ के वाचनाचार्य – इन दोनो पदो को चिरकाल तक सुशोभित करते रहे। इनके आचार्य काल आदि का परिचय उपलब्ध नही होता। अनुमानत वीर नि० स० २४५ से ३२९ तक इनका सत्ताकाल हो सकता है।

११. गुणसुन्दर–युगप्रधानाचार्य

युगप्रधान–परम्परानुसार आर्य बलिस्सह के समय मे आर्य गुणसुन्दर (गुणाकर) युगप्रधानाचार्य बताये गये है। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

आचार्य सुहस्ती के पश्चात् वीर नि० स० २९१ मे गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त किये गये। इनका जन्मकाल वीर नि० स० २३५, दीक्षाकाल २५९ और युगप्रधान-पदारोहण २९१ मे माना गया है। ४४ वर्ष तक युगप्रधान रूप से जिनशासन की सेवा कर वीर नि० स० ३३५ मे आपने १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

आचार्य सुहस्ती के शिष्यसमूह मे आर्य गुणसुन्दर का मेघगणी के नाम से उल्लेख किया गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि मेघगणी, गुणसुन्दर, गुणाकर एव घनसुन्दर – ये चारो इन्ही युगप्रधानाचार्य के नाम माने गये है। इनके शिष्य-समुदाय एव कार्यकलापो का विशेष परिचय प्राप्त नही होता।

११. सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध–गणाचार्य

आर्य सुहस्ती के पश्चात् जिस प्रकार गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य हुए उसी प्रकार आर्य सुहस्ती की परम्परा मे आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य नियुक्त किये गये।

आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध – ये दोनो सहोदर थे। इनका जन्म काकदी नगर के व्याघ्रापत्य गोत्रीय राजकुल मे हुआ था। ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है कि इन दोनो आचार्यो ने सूरिमंत्र का एक करोड बार जाप किया। इस कारण इनका गच्छ, कौटिक गच्छ के नाम से विख्यात हुआ। इससे पहले आर्य सुधर्मा से आर्य सुहस्ती तक भगवान् महावीर का धर्मसघ निर्ग्रन्थ गच्छ के नाम से विख्यात था।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार कुमारगिरि पर्वत पर कलिगपति महामेघवाहन द्वारा आगमवाचनार्थ जो चतुर्विधसघ एकत्रित किया गया था, उसमे ये दोनो आचार्य भी उपस्थित थे।[1]

---

[1] अज्ज सुठ्ठिय-सुपडिबद्ध उम (ा) साइ सामज्जाइण थेरकप्पियाण वि तिन्निसया णिगठाण समागया।

[हिमवन्त स्थविरावली हस्तलिखित]

किया। फलस्वरूप आठ स्थविरों में से रोहगुप्त के अतिरिक्त किसी ने भी अलग गण स्थापित करने का प्रयत्न नही किया।

पहले बताया जा चुका है कि आर्य सुहस्ती ने सघ की ऐक्यता बनाये रखने के लिये गणाचार्य के अतिरिक्त वाचनाचार्य एव युगप्रधानाचार्य की नई परम्परा प्रचलित की। तदनुसार उन्होने दोनो परम्पराओ मे सामजस्य एव सहयोग बनाये रखने की दृष्टि से आगम के विशिष्ट ज्ञाता बलिस्सह को सम्पूर्ण संघ का वाचनाचार्य नियुक्त किया।

आर्य बलिस्सह ने श्रमण-समुदाय मे आगमज्ञान का प्रचार-प्रसार करते हुए जिन-शासन की प्रशसनीय सेवा की और अपने समय मे हुई श्रमणसंघ की वाचना में ११ अगो एव १० पूर्वो के पाठों को व्यवस्थित करने मे भी अपना पूर्ण योगदान दिया, जैसा कि हिमवन्त स्थविरावली मे बताया गया है .—

"पहले जो १२ वर्ष तक दुष्काल पड़ा था उसमे आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के बहुत से शिष्य शुद्ध आहार न मिलने के कारण कुमारगिरि नामक पर्वत पर अनशन कर के शरीर छोड चुके थे। उसी दुष्काल के प्रभाव से तीर्थंकर महावीर द्वारा प्ररूपित बहुत से सिद्धान्त भी नष्टप्राय हो गये थे। यह जान कर भिक्खुराय ने जैन सिद्धान्तो का संग्रह और जैन धर्म का विस्तार करने के लिये सम्प्रति राजा की तरह श्रमण-निग्रन्थ तथा निग्रन्थियों की एक सभा कुमारगिरि पर आयोजित की, जिसमे आर्य महागिरि की परम्परा के आर्य बलिस्सह, बोधिलिग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि २०० जिनकल्प की तुलना करने वाले साधु, तथा आर्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य प्रभृति ३०० स्थविरकल्पी साधु सम्मिलित हुए। आर्या पोइणी आदि ३०० साध्विया भी वहां उपस्थित हुई थी। भिक्खुराय एव सीवद, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रमणोपासक और भिक्खुराय की महारानी पूर्णमित्रा आदि ७०० श्राविकाएँ भी उस सभा मे उपस्थित थी।"

कहा जाता है कि बलिस्सह ने वाचना के प्रसग पर विद्यानुप्रवाद पूर्व से अग-विद्या जैसे शास्त्र की भी रचना की। बलिस्सह के गण में सैकडो साधु एव साध्विया होने पर भी उनका कही उल्लेख नही होने के कारण यहाँ परिचय नही दिया जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि इनके ४ शिष्यो से उत्तर बलिस्सह गण की ४ शाखाएँ प्रकट हुई, जिनका कल्पसूत्रीय स्थविरावली में भी उल्लेख मिलता है। उन शाखाओ के नाम इस प्रकार है .—

१ कोसविया २ सोतित्तिया ३. कोडंबाणी और ४ चन्दनागरी ।[1]

---

[1] थेरेहिंतो ण उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सह गणे नाम गणे निग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जति, त जहा - कोसविया, सोतित्तिया, कोडवाणी, वदनागरी ॥२०६॥ [कल्पसूत्र स्थविरावली]

पुकार सुन, भिक्खुराय ने मगध पर आक्रमण कर पुष्यमित्र को दो बार पराजित किया। इसके पश्चात् भिक्खुराय ने कुमारगिरि पर आगमो के उद्धार हेतु श्रमणो, श्रमणियो, श्रावको एव श्राविकाओ को एकत्रित किया और अग-शास्त्रो तथा पूर्वज्ञान का संकलन, सग्रह अथवा पुनरुद्धार करवाया।

अगशास्त्रो के सकलन, सग्रह अथवा सरक्षण हेतु खारवेल द्वारा किये गये उपरोक्त सघसम्मिलन का समय वीर नि० स० ३२३ के पश्चात् का ३२७ से ३२९ के बीच का ठहरता है। क्योकि वीर नि० के पश्चात् ६० वर्ष तक पालक का, तदनन्तर १५५ वर्ष तक नन्दवश का, तत्पश्चात् १०८ वर्ष तक मौर्यवश का राज्य रहा। इस प्रकार वीर नि० स० ३२३ मे पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के सिहासन पर आरूढ हुआ।

पाटलिपुत्र के सिहासन पर आसीन होते ही पुष्यमित्र ने बोद्धो और जैनो पर घोर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। जैन धर्म के परम पोपक कलिगराज महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल को जब पुष्यमित्र द्वारा जैनो पर किये जाने वाले अत्याचार की सूचना मिली तो उसने अपने राज्यकाल के ८वे वर्ष मे पाटलिपुत्र पर एक बडी सेना लेकर आक्रमण कर दिया।[1] सभव है पुष्यमित्र ने कलिगराज की अजेय शक्ति के समक्ष झुक कर भविष्य मे जैनो पर किसी प्रकार के अत्याचार न करने की प्रतिज्ञा कर खारवेल के साथ सधि कर ली होगी। सधि के पश्चात् खारवेल के लौट जाने पर जब जेन धर्म के परम विद्वेषी पुष्यमित्र ने पुन जैनो पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया तो पहले आक्रमण के चार वर्ष पश्चात् खारवेल ने अपने राज्य के १२वे वर्ष मे एक विशाल सेना ले कर पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। उसने पुष्यमित्र के सुगागेय नामक राजप्रासाद मे अपने हाथियो को पानी पिलाया। पुष्यमित्र को अपने पैरो पर गिरा कर नदराजनीत कालिगजिन सनिवेस· ·· और रत्नादि को ले कर खारवेल पुन कलिग लौट गया।[2]

इस प्रकार जैनो के उस समय के भयकर शत्रु पुष्यमित्र से अच्छी तरह निबट चुकने के पश्चात् वीर नि० स० ३२७ से ३२९ के बीच के किसी समय मे

---

[1] अठमे च वसे महता सेना···· "गोरधगिरिं घातापयिता राजगह उपपीडापयति (।) एतिन च कमापदान-सनादेन सवितसेन-वाहनो विपमुचित् मधुर अपयातो यवनराज डिमित।
[कलिग च म खारवेल के शिलालेख का वि पृ १५]

[2] बारसमे च वसे······ हस के ज सवसेहिं ·· ···वितासयति उत्तरापथ – राजानो ··· मगधान च विपुल भय जनेतो हथी सुगगीय (.) पाययति (।) मागध च राजान वसहतिमित पादे वदापयति (।) नदराजनीत च कालिगजिन सनिवेस ·गह-रतनान पडिहारेहि अगमागधवसु च नेयाति (।)
(कलिग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण श्री के पी जायसवालकृत पृ १६)

आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के निम्नलिखित ५ शिष्य थे :–

१. आर्य इन्द्रदिन्न
२. आर्य प्रियग्रन्थ
३ आर्य विद्याधर गोपाल
४. आर्य ऋषिदत्त और
५. आर्य अर्हदत्त

इनमें से प्रथम शिष्य आर्य इन्द्रदिन्न आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के पश्चात् गणाचार्य और द्वितीय शिष्य आर्य प्रियग्रन्थ बड़े मन्त्रवादी प्रभावक हुए। इन दोनों का परिचय आगे यथास्थान दिया जा रहा है।

आर्य सुस्थित का जन्म वीर नि० सं० २४३ मे हुआ। ३१ वर्ष तक गृहस्थ पर्याय मे रहने के पश्चात् उन्होने वीर नि० सं० २७४ मे आर्य सुहस्ती के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य सुहस्ती के १२ प्रमुख शिष्यो मे आपका पांचवा स्थान था। वे १७ वर्ष तक सामान्य श्रमणपर्याय मे रहे। वीर नि० स० २९१ मे आर्य सुहस्ती के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आपको गणाचार्य नियुक्त किया गया। ४८ वर्ष तक गणाचार्य पद पर रहते हुए आपने भगवान् महावीर के शासन की उल्लेखनीय सेवाए की और वीर नि० स० ३३९ मे ९६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

आर्य बलिस्सह कालीन राजवंश

पहले किये गये उल्लेखानुसार यह तो निश्चित है कि आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य बलिस्सह वीर नि० स० २४५ मे आर्य महागिरि के गण के गणाचार्य बने। इसके पश्चात् आर्य बलिस्सह को संघ का वाचनाचार्य बनाया गया। परन्तु इस प्रकार का उल्लेख कही उपलब्ध नही होता कि वीर नि० २४५ से प्रारम्भ हुआ आर्य बलिस्सह का आचार्यकाल कब तक रहा। इस सम्बन्ध मे बलिस्सह विषयक जो-जो उल्लेख विभिन्न पुस्तको मे उपलब्ध है, उन्ही के आधार पर अनुमान का सहारा लेना होगा।

हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेखानुसार कलिगपति महामेघवाहन भिक्खुराय ने पूर्वज्ञान और एकादशागी का पुनरुद्धार करने हेतु, जो कुमारगिरि पर चतुर्विध सघ को एकत्रित किया था, उसमे आर्य बलिस्सह विद्यमान थे।[1] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर निर्वाण सं० ३२३ मे मौर्यवंश के अन्तिम राजा वृहद्रथ को मार कर उसका सेनापति पुष्यमित्र शुग मगध के सिहासन पर आरूढ हुआ। पुष्यमित्र के अत्याचारों से संत्रस्त मगध की जैनधर्मावलम्बी जनता की

[1] पुव्वि तित्थयरगणहरपरूविय पवयणं वि वहुसो विणट्ठपाय णाऊण तेण भिक्खुरायणिवेण जिणपवयण सगहट्ठ जिणधम्मवित्थरट्ठ सपइणिवुव्व समणाण णिग्गठाण णिग्गठीण य एगा परिसा तत्थ कुमरीपव्वयतित्थम्मि मेलिया। तत्थ ण थेराण अज्जमहागिरी-णमणुपत्ताणं वलिस्सह वोहिलिग, देवायरि धम्मसेण नक्खत्तायरियाइ जिणकप्पितुलत्त कुणमाणाण दुन्नि सया णिग्गठाण समागया। [हिमवत स्थविरावली, हस्तलिखित]

उपर्युल्लिखित राजाओ मे से बिन्दुसार, अशोक और सम्प्रति के राज्यकाल की प्रमुख घटनाओ का विवरण ऊपर यथास्थान दे दिया गया है। हा, सम्प्रति के राज्यकाल के सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख उपलब्ध होते है। जिनसुन्दरकृत दीपालिकाकल्प मे उल्लेख है कि भगवान् महावीर के निर्वाणानन्तर ३०० वर्ष व्यतीत हो जाने पर सम्प्रति हुआ।[1] किन्तु हिमवन्त स्थविरावली मे उल्लेख किया गया है कि वीर नि० स० २४४ मे सम्प्रति को पाटलिपुत्र के सिहासन पर बिठला कर अशोक निधन को प्राप्त हुआ।[2] सम्प्रति केवल दो वर्ष ही पाटलिपुत्र मे रहने के पश्चात् अपनी राजधानी उज्जयिनी ले गया और शेष ६ वर्ष तक वही राज्य करता रहा।[3] जिन शासन की अनेक प्रकार से महती प्रभावनाए कर सम्प्रति वीर नि० स० २६३ मे दिवगत हुआ।[4]

हिमवन्त स्थविरावली मे सम्प्रति का शासनकाल ४६ वर्ष बताया गया है। वस्तुत वीर नि० स० १५५ मे नन्दवश के अत और मौर्यवश के अभ्युदय की मान्यता के आधार पर मौर्यशासन की सगति बैठाने के लिये ही इस प्रकार का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमवन्त स्थविरावलीकार ने सम्प्रति के निधन का समय तो ठीक दिया है, पर उसके राज्यासीन होने का समय उल्लिखित करते समय उपरोक्त मान्यता के अनुसार मौर्यशासनकाल की संगति बैठाने मे सम्प्रति का शासनकाल ११ वर्ष के स्थान पर बढा कर ४६ वर्ष कर दिया है। वस्तुत चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर नि० स० २१५ मे नन्दवश का अन्त कर मौर्यशासन का सूत्रपात्र किया था। इस सम्बन्ध मे पहले विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है। मौर्यशासन के समीचीनतया पर्यवेक्षण से सम्प्रति का शासन-काल वीर नि० स० २८२-८३ से २६३ तक का ही ठीक बैठता है।

सम्प्रति के निधन के अनन्तर जैनाचार्यो ने पुण्यरथ और उसके पश्चात् वृहद्रथ – केवल इन दो मौर्यवशी राजाओ का पाटलिपुत्र मे शासन होने का उल्लेख किया है। घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से यहा ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् गृहकलह के कारण सम्प्रति को अपनी राजधानी

---

[1] दिनतो मम मोक्षस्य, गते वर्षशतत्रये।
उज्जयिन्या महापुर्या, भावी सम्प्रतिभूपति ॥१०७॥ [दीपालिकाकल्प]

[2] तमट्ठ सोच्चा असोअ णिवेण कोहाक्कतेण ता णियभज्ज मारित्ता दोसपरावरे वि अणेगे राजकुमारा मारिया। पच्छा कुणालपुत्त सपइणामधिज्ज रज्जे ठाइत्ता से णं असोअ णिवो वीराओ चत्तालीसाहिय दो सय वासेसु विइक्कतेसु परलोअ पत्तो।
[हिमवन्त स्थविरावली]

[3] सपइ णिवोवि पाडलिपुत्तमि णियाणेगसत्तुभय मुणित्ता रायहाणि तच्चा पुव्वि णियपिउ-भुत्तिलद्धावतीणयरिम्मि ठिओ सुहसुहेण रज्ज कुणइ। [वही]

[4] अह वीराओ दोसयतेणउइ वासेसु विइक्कतेसु जिणधम्माराहणपरो सपइ णिवो सग्ग पत्तो।
[वही]

खारवेल ने कुमारगिरि पर श्रमणसघ आदि चतुर्विध सघ को एकत्रित कर द्वादशागी के पाठों को सुव्यवस्थित करवाया होगा।

आगम-वाचनार्थ आयोजित उपरोक्त सम्मेलन मे 'हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेखानुसार वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह भी सम्मिलित थे। इस प्रकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि आर्य बलिस्सह का वाचनाचार्यकाल वीर नि० स० २४५ से ३२७-३२६ तक रहा। जब तक अन्य प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध न हो तब तक हिमवन्त स्थविरावली के उपरिउद्धृत उल्लेख को अप्रामाणिक मानने का कोई कारण दृष्टिगोचर नही होता। ऐसी स्थिति मे आर्य बलिस्सह की पूर्ण आयु कम से कम १०५ वर्ष होना अनुमानित किया जा सकता है।

उपरोक्त तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल मे निम्नलिखित प्रमुख राजाओ का राज्यकाल होना अनुमानित किया जाता है –

१. मौर्यसम्राट् बिन्दुसार के वीर नि० स० २३३ से २५८ तक के २५ वर्ष के राज्यकाल मे से १३ वर्ष (वीर नि० स० २४५ से २५८ तक) का राज्यकाल।

२ मौर्यसम्राट् अशोक का वीर नि० सं० २५८ से २८३ तक राज्यकाल।

३. मौर्यसम्राट् सम्प्रति का वीर नि० स० २८३ से २९३ तक का शासनकाल। उसमे से प्रथम दो वर्ष पाटलिपुत्र मे और शेष ९ वर्ष उज्जयिनी मे।

४ जैन परम्परानुसार पुण्यरथ और वृहद्रथ तथा हिन्दू पौराणिक परम्परानुसार शालिशूक, देववर्मा, शतधनुष और वृहद्रथ का अनुमानत. वीर निर्वाण स० २९३ से ३२३ तक राज्यकाल। मौर्य सम्राट् सम्प्रति के पश्चात् इन राजाओ का उज्जयिनी पर भी अधिकार रहा।

५ कलिग मे भिक्खुराय अपरनाम महामेघवाहन तथा खारवेल[1] का जैसा कि आगे बताया जायगा, अनुमानत वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ तक का शासनकाल।

६ पुष्यमित्र के वीर नि० स० ३२२ से ३५२ तक के ३० वर्ष के शासनकाल मे से वीर नि० स० ३२७-३२६ के बीच तक का काल। पुष्यमित्र की राजधानी भी पाटलिपुत्र मे रही और उज्जयिनी का राज्य भी इसके अधीन रहा।

---

[1] तस्स ण भिक्खुरायणिवस्स तिण्णि णामधिज्जे एवमाहिज्जति। एग ण णिग्गठाण भिक्खुण भत्ति कुणमाणो भिक्खुरायत्ति। दुच्च ण णिय पुव्वयाणुगय महामेहणामधिज्ज गयवाहणत्ताए महामेहवाहणत्ति। तीय ण तस्स सायरतडरायहाणीत्ताए खारवेलाहिवत्ति।
[हिमवन्त-स्थविरावली]

भागवतकार ने उपरोक्त ६ नाम देने के पश्चात् लिखा है –

"मौर्या ह्येते दश नृपा" ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण मे पाचवे मौर्य राजा का नाम दशरथ दिया है, जो कि सम्प्रति के उज्जयिनी चले जाने के अनन्तर पाटलिपुत्र का अधिपति बना। मत्स्यपुराण[1] मे भी दशरथ के नाम सहित १० मौर्य राजाओ का उल्लेख है। सभव है उसी मान्यता को ध्यान मे रखते हुए भागवतकार ने दश नाम न देकर भी १० की सख्या उल्लिखित कर दी हो। वायु पुराण मे ६ मौर्य राजाओ के नाम दिये गये है।[2]

"६ पीढियो तक तुम्हारा राज्य चलता रहेगा" – परिशिष्ट पर्वकार आचार्य हेमचन्द्र द्वारा चाणक्य के मुख से कहलवाये गये इस वाक्य की सगति तभी बैठती है, जबकि चन्द्रगुप्त से लेकर बृहद्रथ तक मौर्य राजाओ की सख्या ६ मानी जाय।

उपरिलिखित तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर, पुराणकारो द्वारा उपरोक्त क्रम से दी गई मौर्य राजाओ की सख्या ६ ही उचित प्रतीत होती है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारो द्वारा, इनमे से कतिपय राजाओ का नामभेद के साथ उल्लेख किया गया है, इसके पीछे यह कारण हो सकता है कि उन राजाओ को अपरनाम से भी सम्बोधित किया जाता रहा हो। उदाहरणस्वरूप 'कुणाल' और 'सम्प्रति', कम से कम ये दो नाम तो उन राजाओ के वास्तविक नाम न होकर प्यार के नाम ही हो सकते है।

इस प्रकार यदि आर्य बलिस्सह का वाचनाचार्यकाल वीर नि० स० २४५ से ३२६ तक का अर्थात् ८४ वर्ष का माना जाय तो यह कहना होगा कि उनके आचार्यकाल मे बिन्दुसार का १३ वर्ष और शेष ७ मौर्य राजाओ का ६५ वर्ष तक शासन रहा।

कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल

कालिगाधिपति महाराजा भिक्खुराय खारवेल का स्थान कलिग के इतिहास मे तो अनन्यतम है ही पर जैन इतिहास मे भी उनका नाम स्वर्णाक्षरों मे अकित किया जाता रहकर अमर रहेगा। अपने राज्य की अभिवृद्धि के लिये

सुयशा भविता तस्य, सगत सुयश सुत ।
शालिशूकस्ततस्तस्य, सोमशर्मा भविष्यति ।।१४।।
शतधन्वा ततस्तस्य, भविता तद् बृहद्रथ ।
मोर्या ह्येते दश नृपा, सप्तत्रिशच्छतोत्तरम् ।।१५।।
[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अ० १]

[1] इत्येते दश मौर्यास्तु, ये भोक्ष्यन्ति वसुन्धराम् ।
[मत्स्यपुराण, अ० २७१, श्लोक २१ से २५]

[2] इत्येते नव भूपा ये, भोक्ष्यन्ति च वसुन्धराम् ।
सप्तत्रिशच्छत पूर्ण तेभ्यस्तु गौर्भविष्यति ।।१६५।।
[वायुपुराण, अनुषगपाद-समाप्ति]

पाटलिपुत्र से हटाकर अवन्ती (उज्जयिनी) स्थानान्तरित करनी पड़ी। अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र बौद्धों का सुदृढ केन्द्र बन चुका था। बहुत सम्भव है कि बौद्धधर्मावलम्बियों ने अशोक के द्वितीय पुत्र दशरथ को – जो कि बौद्ध-धर्मावलम्बी था – मगध के सिंहासन पर बिठाने का प्रबल प्रयत्न किया हो। और बौद्धों के प्राबल्य अथवा अन्य कारणों से सम्प्रति को अपने शासन के दो वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र का परित्याग कर कुणाल को कुमारभुक्ति में प्राप्त अवन्ती-राज्य की नगरी उज्जयिनी मे अपनी राजधानी स्थापित करनी पडी हो।

पाटलिपुत्र से अवन्ती की ओर सम्प्रति के प्रस्थित होते ही अशोक के दूसरे पुत्र दशरथ ने पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया। और इस प्रकार मौर्य-राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। पाटलिपुत्र में दशरथ का राज्य रहा और अवन्ति में सम्प्रति का। "संपइ णिवोवि पाडलिपुत्तंमि णियाणेगसत्तुभय मुणित्ता, रायहाणि तच्चा .... अवतीणयरिम्मि ठिओ सुहंसुहेणं रज्जं कुणइ।" हिमवन्तस्थविरावली के इस पाठ से भी इस घटना की सत्यता सिद्ध होती है।

वीर नि० सं० २९३ में सम्प्रति की मृत्यु के पश्चात् संभव है पाटलिपुत्र के मौर्यवंशीय राजा दशरथ के पुत्र ने अवन्तिराज्य पर भी अधिकार कर लिया। संप्रति के निधन के पश्चात् जैन ग्रन्थों मे पुण्यरथ और वृहद्रथ – इन दो मौर्य राजाओ का ही उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार जैन ग्रन्थों के उल्लेखानुसार चन्द्रगुप्त द्वारा प्राप्त की गई राजसत्ता (१) चन्द्रगुप्त, (२) बिन्दुसार, (३) अशोक, (४) कुणाल, (५) सम्प्रति, (६) पुण्यरथ और (७) वृहद्रथ इन सात पीढियो तक ही रही। जबकि नन्द की राजकुमारी द्वारा चन्द्रगुप्त के रथ में एक पैर रखने के समय चन्द्रगुप्त के रथ के ९ आरों के टूटने पर चाणक्य के कथनानुसार चन्द्रगुप्त की ९ पीढियों तक मौर्यवंश का राज्य रहना चाहिये। इससे यह प्रकट होता है कि सम्प्रति और वृहद्रथ के शासनकाल के बीच की अवधि में मौर्यसत्ता के पाटलिपुत्र और उज्जयिनी इन दो पृथक् स्थानो मे, दो भागो में विभक्त होने तथा पुन· एक होने के कारण कही कुछ भ्रान्ति हो जाने के फलस्वरूप दो मौर्य राजाओं का उल्लेख करने में कही कोई त्रुटि रह गई हो।

सनातन परम्परा के पुराणग्रन्थों में चन्द्रगुप्त से लेकर वृहद्रथ तक ९ मौर्य राजाओ का उल्लेख किया गया है। भागवत्कार का एतद्विषयक उल्लेख सर्वाधिक स्पष्ट है। भागवत्कार ने एक के पश्चात् होने वाले निम्नलिखित ९ मौर्यवंशी राजाओं के नाम दिये है –

१. चन्द्रगुप्त, २. वारिसार, ३. अशोकवर्द्धन, ४. सुयशा, ५. सगत, ६. शालिशूक, ७. सोमशर्मा (सोमवर्मा), ८. शतधन्वा. और ९. वृहद्रथ।[1]

[1] स एव चन्द्रगुप्त वै, द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तत्सुतो वारिसारस्तु, ततश्चाशोकवर्द्धनः ॥१३॥

पति सुलोचन के पास चला गया। सुलोचन के कोई पुत्र नही था अत उसने अपने जामाता शोभनराय को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। तदनुसार सुलोचन की मृत्यु के पश्चात् शोभनराय कलिग के सिहासन पर बैठा। चेटक के पुत्र शोभनराय की दशवी पीढी मे खारवेल हुआ।

इस प्रकार खारवेल के शिलालेख मे विद्यमान 'चेतराजवसवधनेन' इस सदिग्ध वाक्याश को हिमवन्त स्थविरावली मे पूर्णत स्पष्ट कर दिया गया है।

(३) हाथीगुफा के शिलालेख मे जायसवालजी के वाचन के अनुसार अग-शास्त्रो के उद्धार से सम्बन्धित केवल इतना ही उल्लेख है कि – मौर्यकाल मे विच्छिन्न हुए ६४ अध्याय वाले अगसप्तिक का चौथा भाग फिर से तैयार करवाया।[१]

(४) हिमवन्त स्थविरावली मे अग-शास्त्रो के उद्धार के सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि कुमारगिरि पर खारवेल द्वारा आयोजित उस चतुर्विध सघ के सम्मेलन मे किन-किन श्रमणो, श्रमणियो, श्रावको और श्राविकाओ ने भाग लिया। इसमे बताया गया है कि आर्य बलिस्सह आदि जिनकल्पियो की तुलना करने वाले २०० श्रमणो, आर्यसुस्थित आदि ३०० स्थविर-कल्पी साधुओ, आर्या पोइणी आदि ३०० श्रमणियो, भिक्षुराज, सीवद, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रावको और पूर्णमित्रा (खारवेल की अग्रमहिषी) आदि ७०० श्राविकाओ ने कुमारगिरि पर हुए उस सम्मेलन मे भाग लिया। भिक्खुराय की प्रार्थना पर उन स्थविर श्रमणो एव श्रमणियो ने अवशिष्ट जिनप्रवचन को सर्वसम्मत स्वरूप मे भोजपत्र, ताडपत्र वल्कल आदि पर लिखा और इस प्रकार वे सुधर्मा द्वारा उपदिष्ट द्वादशागी के रक्षक बने।[२]

हाथीगुफा वाले खारवेल के शिलालेख मे ऐसे किसी निश्चित सवत् का उल्लेख नही किया गया है जिससे कि खारवेल के सत्ताकाल का असदिग्ध रूप से निर्णय किया जा सके। फिर भी उसमे कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है, जिनसे खारवेल का सत्ताकाल निश्चित करने मे बडी सहायता मिलती है।

खारवेल के उपरिचर्चित हाथीगुफा वाले शिलालेख की सातवी पक्ति के अत मे तथा आठवी पक्ति मे लिखा है कि खारवेल ने अपने राज्य के आठवे वर्ष मे एक बहुत बडी सेना ले गोरथ गिरि को तोडकर राजगृह नगर को घेर लिया। खारवेल की शौर्यगाथाओ के शखनाद को सुनकर यवनराज डिमित-डिमिट्रियस

---

[१] मुरियकालवोच्छिन्न च चोयठि अंग सतिक तुरिय उपादयति। [खारवेल का शिलालेख]

[२] इह तेण णिवेण चोइएहिं तेहिं थेरेहिं अज्जिर्जाहि अवसिट्ठ जिणपवयण दिट्ठिवाय णिग्गठगणाओ थोव थोव साहिइत्ता भुज्जतालवक्कलाइपत्तेसु अक्खरसन्निवायोवय कार-इत्ता भिक्खुरायणिवमणोरह पूरित्ता अज्ज सोहम्मुवएसियदुवालसगीरक्खआ ते सजाया। [हिमवन्त स्थविरावली]

सैनिक अभियान करने वाले राजाओं की गणना नही की जा सकती। ऐसे उदाहरणों से विश्व के इतिहास भरे पडे है। किन्तु दूसरे राज्य के शक्तिशाली राजा द्वारा किये गये अत्याचारों से संत्रस्त स्वधर्मी प्रजा के त्राण के लिये युद्ध का खतरा उठाने के उदाहरण विरले ही दृष्टिगोचर होते है।

महाराजा खारवेल ने न केवल जैनधर्म और जैन संस्कृति के विकास के लिये अपना अमूल्य योगदान देकर कलिग की कीर्ति मे अभिवृद्धि की अपितु उन्होने मगध राज्य की जैन प्रजा और निर्ग्रथ श्रमणो पर पाशविक अत्याचार करने वाले मगधपति पुष्यमित्र शुग (अपरनाम बृहस्पतिमित्र) पर दो बार आक्रमण कर उसे दण्डित एव पराजित किया।[1]

विगत अनेकों सहस्राब्दियों के इतिहास में इस प्रकार का अन्य कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नही होता। इससे खारवेल के जैन धर्म के प्रति प्रगाढ प्रेम, अनुपम स्वधर्मीवात्सल्य, अद्भुत साहस और अप्रतिम वीरता, महानता आदि का स्पष्टतः परिचय प्राप्त होता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि धार्मिक, राजनैतिक एवं ऐतिहासिक आदि सभी दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण खारवेल जैसे महान् राजा का भारतीय ग्रन्थराशि मे और विशेषतः जैन साहित्य मे कही नामोल्लेख तक नही है। कलिग चक्रवर्ती खारवेल का यत्किचित् परिचय हाथीगुफा के शिलालेख एव 'हिमवन्त-स्थविरावली' नामक एक छोटी सी हस्त-लिखित पुस्तिका से प्राप्त हुआ है।

हाथिगुफा वाला खारवेल का शिलालेख उड़िसा प्रदेशान्तर्गत भुवनेश्वर तीर्थ के निकटस्थ कुमारगिरि (खण्डगिरि अथवा उदयगिरी) की एक चौड़ी गुफा के ऊपर खुदा हुआ है। हिमवन्त स्थविरावली में कलिगपति खारवेल के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, उनसे हाथीगुफा के शिलालेख में उपलब्ध कतिपय विवरणों की न केवल पुष्टि ही होती है अपितु शिलालेख मे उट्टंकित दो-तीन तथ्यों पर विशिष्ट प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के रूप में उपरोक्त शिलालेख और हिमवन्त स्थविरावली में उल्लिखित निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं :–

(१) हाथीगुफा के शिलालेख में खारवेल के वंश का परिचय देते हुए लिखा है –

"चेतराजवसवधनेन" – अर्थात् चेत वंश का वर्धन करने वाले ने। शिलालेख के इस वाक्य के आधार पर कतिपय विद्वान् कलिगपति खारवेल को चेदि वंश का, तो कतिपय विद्वान् चैत्रवश का मानते है।

(२) हिमवन्त स्थविरावली मे खारवेल को चेटवंशीय बताते हुए लिखा है कि कूणिक के साथ युद्ध मे पराजित हो वैशाली गणराज्य के अधिपति महाराज चेटक के स्वर्गगमन के पश्चात् उनका शोभनराय नामक पुत्र अपने श्वसुर कलिग-

[1] देखिये खारवेल के हाथीगुफा वाले शिलालेख की पक्ति सख्या ८ और १२। [सम्पादक]

पतजलि का समय भी ईसा से २००–१७५ वर्ष पूर्व का तदनुसार वीर नि० स० ३२७ – ३५२ के आसपास का माना है। यह समय पुष्यमित्र के राज्यकाल और बाद तक का है।

तदनुसार वीर नि० स० ३२३ मे पाटलिपुत्र के राजसिहासन को हथियाते ही पुष्यमित्र ने वौद्धो और जैनो पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये और इसकी सूचना प्राप्त होते ही खारवेल ने (अपने राज्य के ८वे वर्ष मे) वीर नि० स० ३२४ मे पुष्यमित्र पर पहला आक्रमण किया। खारवेल ने अपने राज्य के बारहवे वर्ष मे तदनुसार वीर नि० स० ३२८ मे दूसरी वार पुष्यमित्र को पराजित किया। इससे यह सिद्ध होता है कि खारवेल वीर नि० स० ३१६ मे कलिग के राज्यसिहासन पर बैठा।

हाथीगुफा के शिलालेख मे खारवेल के राज्यकाल के १३ वर्षो का ही विवरण दिया गया है। इस पर इतिहासज्ञो का यह अनुमान है कि सभवतः १३ वर्ष राज्य करने के पश्चात् खारवेल की मृत्यु हो गई हो।

इस प्रकार शिलालेख पर दिये गये विवरणो से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वीर नि० स० ३१६ से ३२९ तक खारवेल का सत्ताकाल सुनिश्चित रूप से रहा। हिमवन्त स्थविरावली मे भी खारवेल के दिवगत होने का समय वीर नि० स० ३३० दिया हुआ है।[1]

हिमवन्तस्थविरावली मे उल्लेख किया गया है कि खारवेल वीर नि० स० ३०० मे कलिग के राजसिहासन पर आरूढ हुआ। स्थविरावलीकार का यह कथन तथ्यो की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर खारवेल के हाथीगुफा वाले शिलालेख के एतद्विषयक उल्लेख की तुलना मे प्रामाणिक नही ठहरता। शिलालेख मे उट्टकित इस तथ्य से कि खारवेल ने अपने राज्य के ८ वे वर्ष मे पुष्यमित्र पर पहला और १२ वे वर्ष मे दूसरा आक्रमण किया – यह भली-भाति सिद्ध हो जाता है कि वह वीर नि० स० ३१६ मे कलिग के राजयसिहासन पर बैठा। पुष्यमित्र ने ३२३ मे मौर्यराज्य का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिहासन पर बैठते ही जब जैनो पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया तो खारवेल ने उसे राह पर लाने के लिए मगध पर अपने राज्य के ८ वे वर्ष मे तदनुसार वीर नि० स० ३२४ मे पहला आक्रमण और वीर नि० सं० ३२८ मे दूसरा आक्रमण किया, यह ऊपर बताया जा चुका है।

इतिहासविदो के अनुमान के अनुसार यदि इस वात को ठीक मान लिया जाय कि हाथीगुफा के शिलालेख मे खारवेल के राज्य के केवल तेरह वर्षो का ही विवरण दिया हुआ है, यह इस बात का द्योतक है कि उसके पश्चात् खारवेल की मृत्यु हो गई, तो उस दशा मे हिमवन्त स्थविरावली मे खारवेल के वीर नि० स० ३३० मे निधन को प्राप्त होने का उल्लेख करीब-करीब सही सिद्ध होता है।

---

[1] एसो ण जिणसासणपभावगो भिक्खुराय णिवो णेगे धम्मकयाणि किच्चा सुज्झाणोववेओ वीराओ ण तीसाहिय तिसय वासेसु विइक्कतेसु सग्ग पत्तो। [हिमवन्त स्थविरावली]

मथुरा का घेरा उठाकर अपने दल-बल सहित वापिस (अपने देश की ओर) लौट गया।[1]

शिलालेख की ये दोनो पक्तिया ऐतिहासिक दृष्टि से बडी ही महत्वपूर्ण हैं। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि पुष्यमित्र वीर नि० स० ३२३ मे मौर्यवश के अन्तिम राजा वृहद्रथ को मारकर मगध के राजसिहासन पर बैठा। राज्यारोहण करते ही उसने बौद्धो और जैनों पर भयकर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। बौद्धो की महायान शाखा के ग्रथ 'दिव्यावदान' मे पुष्यमित्र द्वारा किये गए अत्याचारो का बडा ही रोमाचक विवरण दिया गया है। उसमें लिखा है :–

'पुष्यमित्र ने राज्यासीन होते ही अपने मंत्रियो से पूछा कि किन कार्यो को करने से उसका नाम चिरस्थायी रह सकता है? जब मंत्रियो ने उसे अशोक की तरह धर्मकार्य करने की सलाह दी, तो वह उसे रुचिकर नही लगी। एक ब्राह्मण द्वारा सुझाये गये उपाय के अनुसार उसने सघारामो, स्तूपो आदि को नष्ट करने का सकल्प किया और उसने अपने राज्य मे यह घोषणा करवा दी कि जो कोई व्यक्ति उसे श्रमण का शिर लाकर देगा उसे वह प्रत्येक शिर के बदले मे १०० स्वर्णमुद्राएं देगा।"[2]

तदनुसार पुष्यमित्र के राज्य मे श्रमणो की हत्याए की जाने लगी। पुष्यमित्र ने स्वयं एक बडी सेना लेकर पाटलिपुत्र से श्यालकोट तक के सघारामों और बौद्ध स्तूपो को विध्वस्त कर दिया।

जैन ग्रन्थो मे कल्कि द्वारा जैन श्रमणो पर किये गए अत्याचारों का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह वस्तुत. पुष्यमित्र द्वारा किये गए अत्याचारो का ही विवरण प्रतीत होता है।

दिव्यावदान में पुष्यमित्र सम्बन्धी उल्लेखो के अध्ययन से यह अनायास ही प्रकट हो जाता है कि पुष्यमित्र को अपना नाम चिरस्थाई बनाने की बड़ी तीव्र उत्कण्ठा थी। अतः उसने मगध के सिहासन पर आरूढ होते ही, अपने विश्वस्त परामर्शदाताओ के परामर्शानुसार बौद्धधर्म और जैन धर्म को जड से उखाड़ फैंकने के दृढ संकल्प के साथ जैनों और बौद्धो पर घोर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। जो अन्य धर्मावलम्बी पिछली कई शताब्दियों से राज्याश्रय से वचित रहे, उन लोगों का निश्चित रूप से पुष्यमित्र को अपने धर्मान्धता के उस अभियान में पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ होगा। इस अनुमान को पतजलि व्याकरण भाष्यकार के – 'पुष्यमित्र याजयाम', इस वाक्य से पर्याप्त बल मिलता है। इतिहासकारो ने

---

[1] खारवेल का शिलालेख, पक्ति ८

[2] यावत् पुष्यमित्रो यावत् सघाराम भिक्षूश्च प्रघातयन् प्रस्थित. स यावत् शाकलमनुप्राप्त.। तेनाभिहितं – यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याह दीनारशत दास्यामि।

[दिव्यावदान, अवदान २९]

ययाति के बडे पुत्र अनु की वश परम्परा मे आगे चल कर हुए कलिग नामक राजकुमार के नाम पर कलिग का राजवश और कलिग राज्य चला ।[1] इस दृष्टि से शोभनराय से पहले के राजा भी चन्द्रवशी ही थे पर वे हैहय शाखा के नही, अपितु कलिग शाखा के थे ।

बार्हद्रथो के नाम से विख्यात चेदिवश भी मूलत. चन्द्रवश की ही शाखा होने के कारण क्षत्रियो की चेदि शाखा मे उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति भी 'ऐल' के विशेषण से अभिहित किया जा सकता है । वस्तुतः चन्द्रवशी राजा ययाति के परम पितृभक्त पुत्र पुरु से जो पौरवो का वश चला, उसी से क्षत्रियो की चेदी शाखा निकली थी ।[2] चेदि देश के अधिपति उपरिचर वसु की गणना पुरुवंश के पूर्व-पुरुषो मे की गई है । वैदिक परम्परा के पुराणो तथा जैन परम्परा के प्राचीन ग्रन्थो मे उपरिचर वसु को हरिवश (चन्द्रवश) का राजा बताया गया है ।[3]

इस प्रकार कलिग का राजवंश, चेदि राजवश और हैहय-क्षत्रिय चेटक का वश – ये तीनो ही राजवश चन्द्रवशी माने गये है, अत इन्हे सोमवशी और ऐलवंशी तथा हरिवशी – इन नामो से भी अभिहित किया जा सकता है ।

हाथीगुफा के शिलालेख मे प्रयुक्त 'ऐलेन' एव 'चेतराजवसवधनेन' इन शब्दो के आधार पर निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि खारवेल उपरोक्त तीन राजवशो मे से किस वश के थे । हिमवन्त स्थविरावली मे इस गुत्थी को सुलझाते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि भिक्खुराय खारवेल चन्द्रवशी हैहय क्षत्रिय चेटक के वशधर थे ।

इस शिलालेख की दूसरी पक्ति मे 'वेनाभिविजयो' शब्द को देख कर कुछ विद्वानो ने उत्तानपाद के वश मे उत्पन्न वेन के साथ खारवेल का सम्बन्ध जोडने का प्रयास किया है, जो निराधार होने के कारण किसी भी दशा मे मान्य नही हो सकता । शिलालेख मे प्रयुक्त 'वेनाभिविजयो' शब्द के प्रयोग से भिक्खुराय खारवेल को गरुड की तरह प्रबल वेग से शत्रुओ पर आक्रमण कर विजय प्राप्त करने वाला बताया गया है ।

खारवेल के शिलालेख का लेखनकाल

हाथीगुफा वाले खारवेल के शिलालेख के सम्बन्ध मे जहा तक हमारा खयाल है प्राय सभी विद्वानो का यही अभिमत रहा है कि यह शिलालेख स्वय खारवेल ने अपने जीवन-काल मे ही उट्टकित करवाया था पर वास्तविकता इससे कुछ भिन्न प्रतीत होती है ।

इस लेख मे प्रयुक्त शब्दो पर भाषाविज्ञान की दृष्टि से तथा इसमे चर्चित घटना पर ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह सिद्ध

---

[1] श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० ३०, श्लोक ५

[2] श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २२, श्लोक ६

[3] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भा० १, पृ० १४४, १५०

तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः खारवेल का जन्म वीर नि० स० २६२ मे, युवराजपद ३०७ मे, राज्याभिषेक ३१६ में और निधन वीर नि० स० ३२६ मे हुआ था ।

भिक्खुराय खारवेल का वंश

कलिगपति भिक्खुराय खारवेल के सम्बन्ध में यद्यपि हाथीगुफा के शिलालेख तथा हिमवन्त स्थविरावली में पर्याप्त उल्लेख विद्यमान है तथापि इस सम्बन्ध मे विद्वान् अद्यावधि किसी निश्चित एव सर्वमान्य निर्णय पर नही पहुँच सके है। अत. खारवेल के वंश के सम्बन्ध मे यहा थोडा प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है ।

हिमवन्त स्थविरावलो मे भिक्खुराय को वैशाली गणराज्य के प्रमुख महाराजा चेटक के पुत्र शोभनराय का वशज बताया गया है। हाथीगुफा के शिलालेख मे भिक्खुराय के वश के सम्बन्ध मे दो वार उल्लेख किया गया है। अर्हतो एव सिद्धो को नमस्कार के पश्चात् इस शिलालेख का पहला शब्द ऐरेन वस्तुतः भिक्खुराय के वश के विषय मे पर्याप्त प्रकाश डाल देता है। इससे दो शब्द पश्चात् ही "चेतराजवसवधनेन" यह एक और शब्द देकर लेख की पहली पंक्ति मे ही खारवेल के वश का पूर्ण परिचय दे दिया गया है।

> रलयो॰ डलयोश्चैव, शषयोः वबयोस्तथा ।
> वदन्त्येषा तु सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः ।।

इस सर्वजनसुविदित सूक्ति के अनुसार ऐलेन शब्द को उपरोक्त प्रथम पक्ति मे 'ऐरेन' लिखा गया है जिसका सीधा सा अर्थ है – चन्द्रवंशी ने । पुराण-इतिहास के विज्ञ इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है कि चन्द्रपुत्र बुध और इला के सयोग से उत्पन्न हुए पुरुरवा से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई ।[1] पुराणो मे चन्द्रवश को सोम-वश और ऐलवश के नाम से भी अभिहित किया गया है। इला का पुत्र होने के कारण पुरुरवा की ऐल नाम से भी प्रसिद्धि हुई। चन्द्रवंश की आगे चल कर अनेक शाखा-प्रशाखए प्रसृत हुई ।

पुरुरवा के प्रतापी पुत्र का नाम ययाति था। ययाति के छोटे पुत्र यदु से यादव वश चला, आगे चल कर यादव वंश की भी अनेक शाखाएं हुई। यदु के बड़े पुत्र सहस्रजित् के एक ही पुत्र था जिसका नाम था शतजित्। शतजित् के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र हैहय से हैहयवशी यादव क्षत्रियो की शाखा प्रचलित हुई। महाराज चेटक इसी हैहयवंशी शाखा के चन्द्रवशी, सोमवशी अथवा ऐलवशी क्षत्रिय थे। उनके पुत्र शोभनराय ने कलिग में अपने श्वसुर के पास शरण ली और उसकी मृत्यु के पश्चात् वे कलिगपति वने। उन शोभनराय की वशपरम्परा में ही भिक्खुराय हुआ, इसी कारण इसे शिलालेख मे ऐल लिखा गया है।

---

[1] श्रीमद्भागवत, स्कध ६, अ० १

३. खारवेल के उपरोक्त शिलालेख मे एक ऐसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख विद्यमान है, जो खारवेल की मृत्यु के २८ वर्ष पश्चात् घटित हुई। इस शिलालेख की आठवी पक्ति मे यूनानी आक्रामक यवनराज डिमित के दलबल सहित पलायन करने (सभवत: बैक्ट्रिया लौट जाने) का उल्लेख किया गया है। वह पक्ति इस प्रकार है –

....। अठमे च वसे महता सेना .... गोरथगिरि (७वी पक्ति) घातापयिता राजगह उपपीडापयति (।) एतिन च कमापदान – सनादेन सवित सेन – वाहनो विपमुचितु मधुर अपयातो यवनराज डिमित.. .. (पक्ति ८)

इस पक्ति मे स्पष्ट रूप से यही दर्शाया गया है कि कलिगपति खारवेल द्वारा राजगृह पर किये गये प्रचण्ड आक्रमरण की वात सुनकर यवनपति डिमित (डिमिट्रियस) हिन्दुस्तान छोडकर अपने देश बैक्ट्रिया की ओर लौट गया।

यूनानी आक्रान्ता डिमिट्रियस द्वारा भारत पर किये गये आक्रमरण का उल्लेख पुष्यमित्र के पुरोहित एव अग्निमित्र के राज्यकाल मे भी विद्यमान व्याकररण भाष्यकार पतजलि ने पारिणनी व्याकररण के सूत्र "अनद्यतने लङ्" के उदाहररण मे "अरुरणद्यवन साकेतम्," "अरुरणद्यवनो माध्यमिकाम्" – इन दो वाक्यो के द्वारा किया है।

गार्गी सहिता के युगपुरारण प्रकररण मे पाचाल, मथुरा, पाटलिपुत्र एव मध्यदेश पर यवन आक्रमरण का उल्लेख किया गया है।[1] भीषरण गृह कलह के काररण उस यवन आक्रान्ता के स्वदेश लौटने का भी गार्गीसहिता मे उल्लेख किया गया है।[2] यूनानी इतिहासकारो ने भी मिडिट्रियस के सम्बन्ध मे लिखा है कि जिस समय वह भारतविजय के अपने अभियान मे उलझा हुआ था, उस समय उसके प्रतिद्वन्द्वी ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और इस सूचना के मिलते ही डिमिट्रियस भारत से दलबल सहित स्वदेश – बैक्ट्रिया लौट गया। गार्गी-सहिता और ग्रीक इतिहासकारो के उल्लेख एक दूसरे की पुष्टि करते है।

यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि पुष्यमित्र का शासन ईसा पूर्व २०४ से ईसा पूर्व १७४ तक अर्थात् वीर नि० स० ३२३ से ३५३ तक रहा। यूनानी इतिहासकार डिमिट्रियस के बैक्ट्रिया लौटने की घटना को ईसा पूर्व १७५ की मानते है। खारवेल का समय २११ से १६८ ईसा पूर्व का तदनुसार वीर नि० स० ३१६ से ३२६ का रहा है। इस प्रकार डिमिट्रियस के भारत से स्वदेश लौटने की घटना खारवेल की मृत्यु के २३ वर्ष पश्चात् घटित हुई। यह एक ही तथ्य इस

---

[1] तत. साकेतमाक्राम्य, पाचालान्मथुरा तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ता, प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
[गार्गीसहिता, युगपुरारण प्रकररण]

[2] मध्यदेशे न स्थास्यन्ति, यवना युद्धदुर्मदा।
आत्मचक्रोत्थित घोर, युद्ध परमदारुरणम्॥ [वही]

हो जाता है कि यह शिलालेख खारवेल की मृत्यु के पचास वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३७६, तदनुसार ई० पूर्व १४८ मे लिखवाया गया। निम्नलिखित तथ्यो से इस बात की पुष्टि होती है :—

१. शिलालेख की १६वी पंक्ति में लिखा है – "खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा पसतो अनुभवंतो कलाणानि" इस पक्ति में खारवेल के लिये स शब्द का प्रयोग किया गया है, जो तत् शब्द का प्रथमा विभक्ति का एक वचन का रूप है। यह सर्वजनविदित है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से तत् शब्द का प्रयोग देश अथवा काल से अन्तरित – दूरदर्शी व्यक्ति के लिये ही किया जाता है। भिक्खुराय के लिये यह 'स' शब्द का प्रयोग इस बात का सकेत करता है कि यह शिलालेख भिक्खुराय की विद्यमानता में अथवा जीवनकाल मे नही लिखवाया गया। यदि यह शिलालेख भिक्खुराय के जीवनकाल मे लिखवाया गया होता तो निश्चित रूप से उनके लिये 'स' के स्थान पर 'एष.' शब्द का प्रयोग किया जाता।

२. शिलालेख की १६वी पक्ति मे ऊपर उद्धृत किये गये वाक्य से पहले निम्नलिखित वाक्य दिया हुआ है :—

"मुरियकाले वोछिने च चोयठिसतिकंतरिये उपादयति।"

इस वाक्य की सस्कृत छाया होगी – "मौर्यकाले व्युत्छिन्ने च चतुष्षष्टि-अग्रशतकातरिते उत्पादयति।" इसका सीधा-सा अर्थ होता है – मौर्यकाल की समाप्ति के पश्चात् अर्थात् मौर्य स० १६४ मे उट्टंकित करवाया गया है।

जैसा कि प्रमाणपुरस्कार सिद्ध किया जा चुका है मौर्यकाल वीर नि० स० २१५ मे प्रारम्भ होकर १०८ वर्ष पश्चात् वीर नि० स० ३२३, तदनुसार ई० पूर्व २०४ मे समाप्त हो गया था। इस प्रकार मौर्य सं० १६४ अंतिम मौर्य राजा वृहद्रथ की मृत्यु के ५६ वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३७६ तदनुसार ई० पूर्व १४८ मे आता है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि भिक्खुराय खारवेल का सत्ताकाल वीर नि० स० ३१६ से ३२६ तदनुसार २११ से १९८ ई० पूर्व तक रहा।

शिलालेख की १६वी पक्ति के उपर्युल्लिखित वाक्य को श्री के. पी. जायसवालजी ने निम्नलिखित रूप में पढा है –

"मुरियकालवोछिन्न च चोयठि–अंग–सतिक तुरियं उपादयति।"

उन्होंने इसका अर्थ किया है – "मौर्यकाल मे नष्ट हुए ६४ अध्याय वाले "अगसप्तिक" के चौथे भाग को संकलित करवाया।

किन्तु उपरोक्त पंक्ति में वैडूर्य के स्तंभों के प्रतिस्थापित किये जाने के उल्लेख के साथ-साथ 'उपादयति' का पाठ स्पष्टत: यही प्रकट करता है कि अमुक समय मे हाथीगुफा के इस लेख को उत्कीर्ण करवाया गया। यदि अगशास्त्रो अथवा अगतुल्य किसी ग्रन्थ के उद्धार का उल्लेख इस पंक्ति के द्वारा अभिहित होता तो निश्चित रूप से स्तंभ आदि की प्रतिष्ठापना की तुलना मे इस महान् कार्य को अत्यधिक महत्व दिया जाकर उल्लेख मे प्राथमिकता दी जाती।

नाम वहसतिमित्त (बृहस्पतिमित्र) दिया हुआ है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्री जायसवाल ने अपनी उपर्युल्लिखित पुस्तक मे लिखा है – "मैने पुष्यमित्र (जो शुग वश के ब्राह्मरण थे) और बृहस्पतिमित्र का एक होना वतलाया है। पुष्य नक्षत्र का बृहस्पति मालिक है। इस एकता को योरप के नामी ऐतिहासिकों ने मान लिया है।"

हिमवन्त स्थविरावली मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि खारवेल ने मगधपति पुष्यमित्र को युद्ध मे पराजित कर अपना आज्ञानुवर्ती वनाया।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र ये दोनो नाम एक ही राजा के नाम है।

पुष्यमित्र का ही अपर नाम बृहस्पतिमित्र था, इस तथ्य की पुष्टि पुराणो के उल्लेखो एव प्राचीन सिक्को से भी होती है। श्रीमद्भागवत मे पुष्यमित्र के पुत्र का नाम अग्निमित्र वताया गया है, जो कि भारत का एक बडा ही शक्तिशाली राजा हुआ है। इन दोनो पिता-पुत्र के जो सिक्के उपलब्ध हुए है, वे परस्पर एक दूसरे से पर्याप्त साम्यता रखते है। बृहस्पतिमित्र के सिक्के की तरह ठीक उसी आकार-प्रकार तथा कोटि का अग्निमित्र का भी सिक्का मिलता है। पुरातत्वविदो का अभिमत है कि अग्निमित्र के सिक्के बृहस्पतिमित्र के सिक्को की अपेक्षा कुछ पश्चाद्वर्ती काल के है। पुराणो द्वारा पुष्यमित्र के पुत्र का नाम अग्निमित्र उल्लिखित किया जाना और बहसतिमित्त (बृहस्पतिमित्र) तथा अग्निमित्र के सिक्को मे पर्याप्त साम्य होना इस बात का प्रमाण है कि पुष्यमित्र का अपर नाम बृहस्पतिमित्र भी था।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि पुष्यमित्र का शासनकाल मगधराज्य मे जैनो तथा वौद्धो के अपकर्ष का और वैदिक कर्मकाण्ड के उत्कर्ष का काल रहा। सम्भवत. कलिगपति खारवेल की मृत्यु के पश्चात् पुष्यमित्र ने जैनो और बौद्धो के प्रति अपना कडा रुख और कडा कर लिया होगा। दक्षिण मे जैन धर्म के प्रबल प्रचार-प्रसार के पीछे पुष्यमित्र का जैनो के प्रति कडा रुख भी प्रमुख कारण अनुमानित किया जा सकता है। सभव है पुष्यमित्र द्वारा किये गये अत्याचारो ने उन्हे मगध छोड़ने के लिये बाध्य किया हो और फलत उन्होने दक्षिण को अपना कार्य-क्षेत्र चुना हो।

उपरोक्त घटनाक्रम के सन्दर्भ मे विचार करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्य-काल मे जहा जैन धर्म को सम्प्रति जैसे धर्मनिष्ठ एव परम भक्त प्रभावक राजा के राज्यकाल मे प्रचार-प्रसार की पूर्ण सुविधा प्राप्त हुई, वहा पुष्यमित्र जैसे जैनो से विद्वेष रखने वाले राजा के राज्य मे घोर सकटापन्न दौर मे से गुजरना पडा।

---

[1] एसो ण भिक्खुरायो अईव परक्कमजुओ गयाइसेणाक्कतमहियलमडलो मगहाहिव पुप्फमित्त णिव अहिणिक्खित्ता णियाणम्मि ठाइत्ता ······ [हिमवन्त स्थविरावली]

बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि हाथीगुफा का शिलालेख खारवेल के जीवनकाल मे नही अपितु काफी समय पश्चात् लिखा गया है ।

पुष्यमित्र शुंग

भिक्खुराय खारवेल द्वारा आयोजित सघ-सम्मेलन मे आर्य बलिस्सह की उपस्थिति विषयक हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो आर्य बलिस्सह के आचार्यकाल मे पुष्यमित्र शुग का भी राज्यकाल रहा ।

खारवेल के परिचय मे यह तो बताया जा चुका है कि वीर नि० स० ३२३ मे अन्तिम मौर्य-राजा बृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के राज-सिहासन पर बैठा । पुष्यमित्र ब्राह्मण था, क्षत्रिय था अथवा किसी इतर जाति का इस सम्बन्ध मे विभिन्न अभिमत उपलब्ध होते है ।

बौद्ध ग्रथ दिव्यावदान मे पुष्यमित्र को केवल क्षत्रिय ही नही अपितु अशोक का, वशज बताया गया है ।[1] श्रीमद्‌भागवत,[2] वायुपुराण[3], मत्स्यपुराण[4] और हिमवन्त स्थविरावली[5] मे पुष्यमित्र को बृहद्रथ का सेनापति बताया गया है । पर इनमे से किसी ग्रथ मे पुष्यमित्र की जाति के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही किया गया है । इतिहास और पुरातत्व के प्रसिद्ध विद्वान् श्री के० पी० जायसवाल ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण जाति का बताते हुए अपनी "कलिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण" – नामक पुस्तिका मे लिखा है – "बहसतिमित्त की रिश्तेदारी अहिच्छत्र के राजाओ से थी, जो ब्राह्मण थे, यह कोसम-पभोसा के शिलालेख से साबित है ।"

पतजलि के व्याकरण भाष्य, श्रीमद्‌भागवत आदि पुराणो, बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान और हिमवन्त स्थविरावली आदि मे अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मार कर मगध के सिहासन पर आसीन होने वाले इस शुगराज का नाम पुष्यमित्र लिखा है पर खारवेल के हाथीगुफा वाले शिलालेख मे मगधपति का

---

[1] पुण्यधर्मणः पुष्यमित्र', सोऽमात्यानामन्त्रयते क उपायः स्याद् यदस्माक नाम चिरं तिष्ठते । तैरभिहित देवस्य च वशादशोको नाम्ना राजा बभूवेति, तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्र प्रतिष्ठापित ·· ·· ···· देवोऽपि चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्र प्रतिष्ठापयतु ।
[दिव्यावदान, अवदान २६]

[2] हत्वा बृहद्रथ मौर्य, तस्य सेनापतिः कली ।
पुष्यमित्रस्तु शुंगाह्वः, स्वय राज्य करिष्यति ॥ [श्रीमद्‌भागवत, स्कध १२, अ० १]

[3] पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथम् । [वायु पु०, अनुषगपादसमाप्ति]

[4] पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान् ।
कारयिष्यति वै राज्यं. षट्त्रिंशति समा नृपः । [मत्स्य पु०, अ० २७१]

[5] न वि मगह [illegible] बृहद्रथं शिव मारित्ता तस्स सेणाहिवइ पुप्फमित्तो ·· पाडलिपुत्त [illegible] ।
[हिमवन्त स्थविरावली [illegible]]

द्वारा प्राकृत भाषा मे सर्वप्रथम तत्वार्थसूत्र के सक्षिप्त मूलस्वरूप का प्रणयन किया गया हो। हिमवन्तस्थविरावली के उल्लेखो से यह स्पष्टत. प्रकट होता है कि आर्य वलिस्सह के समय से अगविद्या के ग्रथो के पृथकत प्रणयन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति तत्वजिज्ञासुओ मे काफी लोकप्रिय रही और उनकी प्रार्थना पर अथवा स्वत भव्यजनहितार्थ आगमो से तत्वज्ञान को उद्धृत कर सरल एव सुवोध्य प्राकृत शैली मे तत्वार्थसूत्र की रचना की हो। कालान्तर मे उसी तत्वार्थसूत्र को उमास्वाति ने परिवर्द्धित कर सस्कृत भाषा मे प्रस्तुत किया हो। वस्तुत तत्वार्थसूत्र की रचना आर्यस्वाति ने की अथवा उमास्वाति ने, यह प्रश्न पर्याप्त शोध की अपेक्षा रखता है। केवल नामसाम्य की युक्ति देकर इसे टाल देना उचित नही।

आर्य स्वाति का आचार्यकाल कव प्रारम्भ हुआ, इस सम्वन्ध मे किसी निश्चित काल का उल्लेख उपलब्ध नही होता। फिर भी आर्य वलिस्सह के परिचय मे दिये गये उनके स्वर्गारोहण के अनुमानित काल के आधार पर यह खयाल किया जाता है कि वीर नि० स० ३२९ मे आर्य स्वाति वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किये गये।

इस प्रकार आर्य स्वाति का वाचनाचार्यकाल वीर नि० स० ३२९ से ३३५ तक रहा। आपके वाचनाचार्य काल मे आर्य गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य और सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य रहे।

१३. श्यामाचार्य (कालकाचार्य) वाचनाचार्य

नन्दी सूत्र की स्थविरावली मे वाचनाचार्य स्वाति के पश्चात् उन्ही के शिष्य आर्य श्यामाचार्य को वाचनाचार्य माना गया है। प्रभावक चरित्र तथा कालकाचार्य-प्रवन्ध मे श्यामाचार्य को आचार्य गुणाकर के पश्चात् युगप्रधानाचार्य बताया गया है। यही पहले कालकाचार्य है। इस प्रकार आर्य श्यामाचार्य वाचक-वंश और युगप्रधान-परम्परा – दोनों के आचार्य माने गये है।

श्यामाचार्य का जन्म वीर नि० स० २८० मे हुआ। आपने वीर नि० स० ३०० मे २० वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ग्रहण की। ३५ वर्ष तक श्रमणधर्म की साधना के पश्चात् वीर नि० सं० ३३५ मे आपको वाचनाचार्य और युगप्रधान पद प्रदान किया गया। ४१ वर्ष तक वाचनाचार्य एव युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए आपने जिनशासन की महती सेवा और प्रभावना की। वीर नि० स० ३७६ मे आपने ९६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

श्यामाचार्य अपने समय के, द्रव्यानुयोग के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्ही श्यामाचार्य को निगोदव्याख्याता प्रथम कालकाचार्य माना गया है। इस सम्बन्ध

---

[1] वलिस्सह शिष्या स्वात्याचार्या श्रुतसागरपारगास्तत्वार्थसूत्राख्य शास्त्र विहितवन्त। तेषा शिष्यैरार्यश्यामैः प्रज्ञापना प्ररूपिता। [हिमवन्त स्थविरावली]

वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समसामयिक युगप्रधानाचार्य आर्य गुण-सुन्दर का युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० स० २६१ से ३३५ तक और आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध का गणाचार्यकाल वीर नि० सं० २६१ से ३३९ तक रहा, यह ऊपर बताया जा चुका है। आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में ही इन दोनों आचार्यों के अधिकाश आचार्यकाल का समावेश हो जाता है अत· इनके समय के राजवशो के सम्बन्ध में पृथकत उल्लेख करने की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती। इनके आचार्यकाल के सम्वन्ध में केवल इतना ही कहना अवशिष्ट रह जाता है कि आर्य बलिस्सह एवं कलिगाधिपति खारवेल के दिवंगत होने के पश्चात् इन दोनों आचार्यों के आचार्य-काल में मगध के जैनधर्मावलम्बियो को जैनो के प्रबल विरोधी पुष्यमित्र के राज्यकाल में अनेको बडी कठिनाइयो का सामना करना पडा।

१२. आर्य स्वाति

आचार्य बलिस्सह के पश्चात् आर्य स्वाति आचार्य हुए। नदीसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य स्वाति का जन्म हारीत गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे हुआ था।[1] आर्य वलिस्सह के त्यागपूर्ण उपदेश सुन कर आपको संसार से विरक्ति हो गई और आपने तरुण वय में संसार के सब प्रपंचो का परित्याग कर आचार्य श्री के चरणों में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् आर्य स्वाति ने गुरु की सेवा में रहते हुए बडी निष्ठा एवं लगन के साथ क्रमशः एकादशांगी और १० पूर्वो का सम्यक्रूपेण अध्ययन किया। विशेष परिचय के अभाव में आप द्वारा किये गये शासन-सेवा के कार्यो का परिचय नही दिया जा सकता।

तपागच्छ पट्टावली में यह संभावना अभिव्यक्त की गई है कि इन्ही आर्य स्वाति के द्वारा तत्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों की रचना की गई[2] परन्तु इतिहासज्ञ विद्वानों का इस विषय में मतभेद है।

इतिहास लेखकों ने आर्य स्वाति से वाचक उमास्वाति को भिन्न माना है। उनके अनुसार उमास्वाति उच्चनागर शाखा के विद्वान् आचार्य माने गये है। इसके अतिरिक्त उमास्वाति का काल विक्रमीय तीसरी शताब्दी माना गया है। संभव है नामसाम्य के कारण पट्टावलीकार ने दोनों को एक मान लिया हो।

वीर नि० सं० ३३६ (३३५) में आप स्वर्गस्थ हुए।

हिमवन्त स्थविरावली आदि प्राचीन गिने जाने वाले ग्रन्थों में इन आर्य स्वाति के द्वारा तत्वार्थसूत्र के प्रणयन का उल्लेख नितान्त निराधार तो नहीं माना जा सकता। ऐसा अनुमान किया जाता है कि संभवत· इन आर्य स्वाति के

---

[1] हारियगोत्त साइ च……　　　　[नदीसूत्र]

[2] बलिस्सहस्य शिष्य. स्वातिः तत्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव सभाव्यन्ते।
[पट्टावली समुच्चय, पृ० ४६]

इतिहास के विशेषज्ञ मुनि कल्याणविजयजी ने भी आर्य श्याम को ही प्रथम कालकाचार्य माना है। "रत्नसंचयप्रकरण" के एतद्विषयक उल्लेख पर टिप्पण करते हुए मुनिजी ने लिखा है – "जहा तक हमने देखा है श्यामाचार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का सत्ताकाल सर्वत्र, निर्वाण स० २८० मे जन्म, ३०० मे दीक्षा, ३३५ मे युगप्रधानपद और ३७६ मे स्वर्गगमन लिखा है।"

पन्नवणा सूत्र के प्रारम्भ मे आर्य श्याम की स्तुतिपरक उपरोक्त दो गाथाओ मे श्यामाचार्य को वाचकवश का २३ वा पुरुष बताया गया है पर पट्टक्रमानुसार यह सख्या मेल नही खाती। क्योकि आर्य सुधर्मा से आर्य श्याम पट्टपरम्परा मे १३ वे आचार्य होते है।

विचारश्रेणी मे इस समस्या का समाधान करते हुए बताया गया है कि वाचकवश मे गणधरो को सम्मिलित कर आर्य श्याम को तेवीसवा वाचक समझना चाहिए। टीकाकार ने भी – "वाचका पूर्वविद" इस पद से वाचक का अर्थ पूर्वविद् किया है। उन गाथाओ मे स्तुतिकार ने गणधरो की भी वाचको मे गणना करते हुए श्यामार्य को २३ वा वाचक बताया है।[1] आचार्य मेरुतुग का यह कथन शतप्रतिशत युक्तिसगत है। वस्तुत गणधरो की जीवनचर्या मे एक तरह से आगमवाचना देने का प्राधान्य रहता है। इस दृष्टि से यदि इन्द्रभूति आदि गणधरो को वाचक कहा जाय तो इसमे अनौचित्य के लिए कोई अवकाश नही रहता। इस दृष्टिकोण से पन्नवणा के प्रारम्भ मे मगलाचरण के पश्चात् दो गाथाओ मे स्तुतिकार द्वारा आर्य श्याम को वाचकवश का २३ वा धीर पुरुष बताना सगत ही है।

१२ वे युगप्रधानाचार्य आर्य श्याम

वाचनाचार्य आर्य श्याम के परिचय मे ऊपर यह बताया जा चुका है कि कि आर्य स्वाति के पश्चात् १३ वे वाचनाचार्य के पद पर तथा आर्य गुणसुन्दर के पश्चात् १२ वे युगप्रधानाचार्य के पद पर आर्य श्याम को नियुक्त किया गया। वीर नि० स० ३३५ से ३७६ तक इन दोनो महत्वपूर्ण पदो पर निरन्तर ४१ वर्ष तक रह कर आर्य श्याम ने शासन की महती सेवा की।

आर्य श्याम के आचार्यकाल की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति

१३ वे वाचनाचार्य तथा १२ वे युगप्रधानाचार्य – इन दोनो पदो को विभूषित करने वाले आर्य श्याम के आचार्यकाल मे पुष्यमित्र ने वैदिक धर्म को राज्याश्रय दिया। इसके परिणामस्वरूप यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार-प्रसार बढने लगा। पुष्यमित्र ने अनुमानत वीर नि० स० ३३० से ३४० के बीच के किसी समय में अश्वमेध यज्ञ किया। हरिवश पुराण मे इस घटना की ओर

---

[1] सिद्धान्ते श्री वीरादन्वेकादशगणभृद्भि सह त्रयोविशतितम पुरुष श्यामार्य इति व्याख्यात.। [विचारश्रेणी]

मे विचारश्रेणी में एक उल्लेख मिलता है – "एक समय महाविदेह क्षेत्र में सीमंधरस्वामी निगोद की व्याख्या फरमा रहे थे। उसे सुनने के पश्चात् सौधर्मेन्द्र ने सीमधर प्रभु से प्रश्न किया – "भवगन्! क्या भरतक्षेत्र मे भी इस प्रकार निगोद का वर्णन करने वाला कोई श्रुतधर आचार्य आज विद्यमान है?"

उत्तर में भगवान् ने फरमाया – "हा, भरतक्षेत्र मे आर्य श्यामाचार्य द्रव्यानुयोग के विशिष्ट ज्ञाता है। वे श्रुतबल से निगोद का भी यथार्थ स्वरूप बता सकते है।"

सौधर्मेन्द्र को यह सुन कर तीव्र उत्कण्ठा हुई और वह भरतक्षेत्र मे श्यामाचार्य को वन्दन करने पहुँचा। उसने आचार्यश्री से निगोद का स्वरूप पूछा और उनके मुख से यथार्थ स्वरूप सुनकर सौधर्मेन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ। आचार्य को वन्दन करने के पश्चात् लौटते समय सौधर्मेन्द्र ने आर्य श्याम के शिष्यो को अपने आगमन से अवगत कराने के लिए चिन्हस्वरूप उपाश्रय का द्वार दूसरी दिशा की ओर मोड दिया।[1]

यही श्यामाचार्य पन्नवणा सूत्र के रचयिता भी है। यह सूत्र आज भी ३६ पदों अर्थात् प्रकरणों मे विद्यमान है। जीवाजीवादि समस्त पदार्थो के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से इस शास्त्र को तत्वज्ञान का अनुपम भण्डार कहा जा सकता है। जैनदर्शन के गहन तत्वज्ञान को समझने मे इस सूत्र का अध्ययन बडा सहायक माना गया है।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में मगलाचरण के पश्चात् दो वन्दनपरक गाथाओं द्वारा आर्य श्याम को वन्दन किया गया है। टीकाकार द्वारा इन्हें अन्यकर्तृक बताया गया है। वस्तुतः ये है भी अन्यकर्तृक ही। उन गाथाओं मे श्यामाचार्य की स्तुति करते हुए कहा गया है – "वाचकवंश के २३ वे धीरपुरुष, जो दुर्धर पूर्वश्रुत को धारण करने वाले है तथा जिन्होने शिष्यगण के हितार्थ अथाह श्रुतसागर से उद्धरण कर उत्तम श्रुतरत्न प्रदान किया है, उन आर्य श्यामाचार्य को प्रणाम हो।"[2]

आर्य श्याम को कालकाचार्य (प्रथम) के नाम से भी अभिहित किया जाता है। ऐतिहासिक घटनाओ के पर्यवेक्षण से यह स्पष्टत: प्रकट होता है कि पृथक्-पृथक् समय में कालकाचार्य नाम वाले ४ आचार्य हुए है। शेष तीनों कालकाचार्यो का परिचय यथास्थान आगे दिया जायगा।

---

[1] सिरिवीरजिणिंदाओ वरिससया तिन्नि वीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥　　[विचारश्रेणिपरिशिष्टम्]

[2] वायगवरवंसाओ, तेवीसइमेण धीरपुरिसेण।
दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीणं ॥३॥
सुयसागरा विणेऊण, जेण सुयरयणमुत्तमं दिन्नं।
सीसगणस्स भगवओ, तस्स नमो अज्ज सामस्स ॥४॥
[पन्नवणा, (रायधनपतसिंह) पत्र ४ (१)]

४. वसुमित्र	१० वर्ष
५. भद	२ ,,
६ पुलिन्दक	३ ,,
७ घोष	३ ,,
८ वज्रमित्र	१ ,,
९. भागवत	३२ ,,
१० देवभूति	१० ,,

शुगवशी पुष्यमित्र और अग्निमित्र के सिक्के उपलब्ध होते है। मालविकाग्निमित्र मे काली सिन्धु के तट पर राजकुमार वसुमित्र शुँग का यवनो के साथ युद्ध होने का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। अनुमान किया जाता है कि वसुमित्र का यह युद्ध डिमिट्रियस के जामाता मीनाण्डर के साथ हुआ।

यह पहले वताया जा चुका है कि डिमिट्रियस के प्रतिद्वन्द्वी यूक्रेडाइटीज ने डिमिट्रियस की अनुपस्थिति मे उसके वैक्ट्रिया (वाल्हीक) के राज्य पर अधिकार कर लिया था, इस कारण डिमिट्रियस को अपनी सेनाओ के साथ भारत छोडकर स्वदेश लौटना पडा। डिमिट्रियस वाल्हीक पहुचा, उससे पहले ही यूक्रेटाइडीज बाल्हीक मे अपनी स्थिति सुदृढ कर चुका था अत डिमिट्रियस को अपने बाल्हीक के राज्य से हाथ धोना पडा और वह केवल गान्धार और उसके आसपास के राज्य का ही अधिपति रह गया। वह गृहयुद्ध मे मारा गया।

डिमिट्रियस की मृत्यु के पश्चात् मीनाण्डर और यूक्रेटाइडीज के वशजो ने लगभग एक शताब्दी से भी अधिक वर्षो तक पजाब पर शासन किया। मीनाण्डर इन सभी यवन शासको मे प्रतापी माना गया है।

प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द पह्नो' की रचना ही मिलिन्द नामक राजा द्वारा बौद्धभिक्षु नागसेन से किये गए प्रश्नो के आधार पर की गई है। इसमे वताया गया है कि नागसेन से अपने प्रश्नो का पूर्ण सन्तोषप्रद उत्तर सुनकर राजा मिलिन्द बौद्धधर्मावलम्बी बन गया। इतिहासविदो का अभिमत है कि 'मिलिन्द पह्नो' का प्रमुख पात्र मिलिन्द वस्तुत यवन शासक मीनाण्डर ही था। भारतीय राजवशो की नामावलियो के पर्यवेक्षण से उस समय मे मिलिन्द नामक किसी भारतीय राजा का नाम कही दृष्टिगोचर नही होता।

शुगवशी राजाओ के राज्यकाल पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस वश के ९वे राजा भागवत के अतिरिक्त अन्य किसी राजा का शासन सुदृढ एव शान्तिपूर्ण नही रहा। पाचवे से आठवे – इन चार शुगवशी राजाओ का राज्यकाल तो एक प्रकार से नगण्य ही रहा।

शुगवश के राज्यकाल की घटनाओ के विहगमावलोकन से यह स्पष्टत प्रकट होता है कि इस वश के शासनकाल मे पारस्परिक धार्मिक सद्भावना का केवल अभाव ही नही रहा अपितु धार्मिक असहिष्णुता अपनी चरम सीमा तक

स्पष्ट संकेत किया गया है। उसमे बताया गया है कि राजा जन्मेजय द्वारा किये गये वाजिमेध की परिसमाप्ति पर कृष्ण द्वैपायन ने राजा से कहा – राजन् तुमने जो यह अश्वमेध यज्ञ किया है, इसे अब प्रलय काल तक कोई क्षत्रिय नहीं करेगा।"[1] यह सुनकर जन्मेजय को बडी निराशा हुई। उसने व्यास से प्रश्न किया – "भगवन् ! भविष्य मे यदि और भी कोई इस यज्ञ को करने वाला हो तो उसके सम्बन्ध में मुझे बताइये।"[2]

व्यासजी ने कहा – "कलियुग में एक काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण सेनापति होगा, वही तुम्हारे पश्चात् इस यज्ञ को पुनः करेगा।"[3]

हाथीगुफा के शिलालेख पर विचार करते समय पहले यह बताया जा चुका है कि यूनानी आक्रान्ता डिमिट्रियस ने भिक्खुराय खारवेल की मृत्यु के पश्चात् पुष्यमित्र के राज्यकाल मे पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर उस पर अधिकार भी कर लिया था। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि डिमिट्रियस के आक्रमण से पूर्व ही पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर लिया हो। ग्रीक इतिहासकारो के अनुसार डिमिट्रियस के – भारत छोडकर बैक्ट्रिया लौटने का समय यदि वीर नि० सं० ३५२, तदनुसार ईसा से १७५ वर्ष पूर्व माना जाय तो पुष्यमित्र द्वारा किए गये इस यज्ञ का समय वीर नि० सं० ३४७ और उसके अनुसार ईसा पूर्व १७० के आसपास का ठहरता है।

पुष्यमित्र द्वारा किये गए अश्वमेध यज्ञ के साथ ही देश में यज्ञो की एक तरह से लहर सी दौड़ गई। देश के विभिन्न भागो में छोटे-बड़े अनेक यज्ञ होने लगे। यही कारण है कि शुँगों के राज्यकाल में यत्र-तत्र अनेक यज्ञों के किए जाने के शिलालेख उपलब्ध होते है।

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में शुगों का राज्यकाल वीर नि० स० ३२३ में प्रारम्भ हुआ। वीर नि० सं० ३५३ मे पुष्यमित्र शुँग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र शुँग मगध के राज्य-सिहासन पर आसीन हुआ। शुँग वश के संस्थापक पुष्यमित्र शुग के अतिरिक्त इस वश के अन्य राजाओं एवं उनके राज्यकाल का जैन साहित्य में विशेष परिचय उपलब्ध नही होता। पौराणिक (हिन्दू) ग्रन्थों मे शुगवश के राजाओं एवं उनके राज्यकाल का उल्लेख निम्नलिखित रूप मे उपलब्ध होता है :–

१. पुष्यमित्र	३६ वर्ष
२. अग्निमित्र	८ ,,
३ वसु ज्येष्ठ	७ ,,

[1] त्वया वृत्त ऋतु चैव, वाजिमेध परतप।
क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति, यावद्भूमि धरिष्यति ॥ [हरिवश पु० ३।२।३५]

[2] यद्यस्ति पुनरावृत्तिर्यज्ञस्याश्वासयस्व माम्। [वही]

[3] औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानी काश्यपो द्विज.।
अश्वमेध कलियुगे, पुन. प्रत्याहरिष्यति ॥ [वही]

राजाओ के आ जाने के कारण विदेशी आक्रान्ताओ को भारत पर आक्रमण करने का अवसर मिला।

भारत पर विदेशी आक्रमणो के इतिहास का निष्पक्ष दृष्टि से पर्यालोचन किया जाय तो यह स्पष्टतः प्रकट हो जायगा कि गृहकलह, धार्मिक असहिष्णुता, विश्रृ खल शासन और विकृत आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था आदि कारणो मे से ही कोई न कोई कारण विदेशी आक्रमण के मूल मे रहा है।

भारत पर विदेशियो के आक्रमण का सबसे प्राचीन उल्लेख श्रीमद्‌भागवत, महाभारत आदि पौराणिक ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। उसमे बताया गया है कि हैहयो एव तालजघो ने यवनो, शको और बर्बर जाति के विदेशियो की सहायता से अयोध्या के सूर्यवशी राजा बाहुक पर आक्रमण कर उसे पराजित किया। बाहुक अपनी रानियो के साथ अयोध्या से निकल कर जगलो मे चला गया और वहा रहने लगा। अयोध्या के राज्यसिहासन से सूर्यवशी राजा को पदच्युत करने की पुराणकारो द्वारा यह सर्वप्रथम घटना बताई गई है।

तदनन्तर बाहुक के पुत्र सगर ने युवावस्था मे प्रवेश करते ही अयोध्या के अपने पैतृक राज्य पर पुन अधिकार किया। अयोध्या के राज्यसिहासन पर आरूढ होते ही सगर ने हैहयो तथा तालजघो के साथ-साथ विदेशी यवनो, शकों और बर्बरो को इतनी बुरी तरह से कुचला[1] कि फिर शताब्दियो ही नही अनेक सहस्राब्दियो तक विदेशी आततायियो ने भारत की ओर मुह तक नही किया।

तत्पश्चात् भारत पर दूसरा बडा विदेशी आक्रमण महाभारत के महान् सहारक युद्ध से कुछ वर्ष पूर्व काल-यवन द्वारा किया गया, जिसमे योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा काल-यवन कराल काल के गाल का कवल बना दिया गया। पुराणवेत्ता इस तथ्य से भलीभाति परिचित है कि उक्त दोनो विदेशी आक्रमण भारत के गृह-कलह के ही परिणामस्वरूप हुए थे।

भारत पर तीसरा बडा विदेशी आक्रमण ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व यूनान के महत्त्वाकाक्षी योद्धा सिकन्दर ने किया।

भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का कारण ज्ञात करने से पहले ईरान और यूनान के तात्कालिक पारस्परिक सम्बन्धो पर सरसरी तौर से दृष्टिपात करना होगा। भारतीयो की तरह ईरानी और यूनानी भी आर्य है। यूनानी लोग गणतन्त्र व्यवस्था मे विश्वास करते थे। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे यूनान मे अधिकाशत नगरो के रूप मे गणराज्य थे। ईरान के विशाल साम्राज्य की

---

[1] सगरश्चक्रवर्त्यासीत्, सागरो यत्सुतै कृतः।
यस्तालजघान् यवनाञ्छकान् हैहयबर्बरान् ॥५॥
नावधीद् गुरुवाक्येन, चक्रे विकृतवेषिण।
मुडाञ्छ्मश्रुधरान्काश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान् ॥६॥
[श्रीमद्‌भागवत, ९ स्कध, ८ अ०]

पहुंच चुकी थी। पुष्यमित्र द्वारा किया गया बौद्धभिक्षुओं का कत्लेआम इसका प्रमाण है।

भ्रम का निराकरण

अहिंसा के महान् सिद्धान्तों, प्राचीन भारतीय एवं विश्व-इतिहास की ऐतिहासिक घटनाओं का पूरी तरह मूल्याकन न कर पाने तथा यत्किंचित् साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण कतिपय आधुनिक इतिहासकारो ने इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म द्वारा किये गये अहिंसा के व्यापक प्रचार-प्रसार के कारण विदेशियो ने भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस किया। उनका कहना है कि विदेशियो के आक्रमण के समय मौर्यवश का अन्तिम राजा बृहद्रथ मुण्डित हो बौद्ध भिक्षुओं के पास धर्मश्रवण करता रहता। इसके कारण विदेशी आक्रान्ताओ को अपने भारतविजय अभियान मे सफलताए मिली। और इससे जनमानस में अहिंसा के प्रति क्षोभ उत्पन्न हुआ। अहिंसा से ऊब कर सेना और जनता ने बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र का साथ दिया। परिणामत. पुष्यमित्र शुग ने मगध साम्राज्य की प्रजा और सेना के समक्ष अतिम मौर्यवशी राजा बृहद्रथ की हत्या कर दी।

ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से इस प्रकार का प्रचार वस्तुतः भ्रान्त और निराधार सिद्ध होता है। इतिहास और पुराण साक्षी है कि पुष्यमित्र ने अपनी वैयक्तिक महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिये अपने स्वामी के साथ विश्वासघात कर धोखे से उसकी हत्या की। यवन आक्रान्ता डिमिट्रियस ने बृहद्रथ के शासनकाल मे नही, अपितु पुष्यमित्र के शासनकाल में भारत पर आक्रमण किया। पुष्यमित्र द्वारा पहला अश्वमेध सम्पन्न किये जाने के पश्चात् ही डिमिट्रियस द्वारा पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया गया। पाटलिपुत्र की प्राचीरो को धूलिसात् कर डिमिट्रियस ने पाटलिपुत्र मे भीषण नरसंहार किया।[1] उस युद्ध में पुष्यमित्र डिमिट्रियस से पराजित हुआ। गृहकलह के कारण डिमिट्रियस को अपनी विशाल वाहिनी के साथ स्वदेश लौटना पड़ा। बैक्ट्रिया के गृहयुद्ध मे डिमिट्रियस अपने अनेक योद्धाओ के साथ मारा गया। अन्यथा पुष्यमित्र के शासनकाल में ही देश विदेशी आक्रान्ता की दासता मे आ चुका होता। एक अश्वमेध यज्ञ के पश्चात् डिमिट्रियस से पराजय के कारण ही पुष्यमित्र को दूसरा अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा। उस द्वितीय अश्वमेध के घोडे की रक्षा के लिये पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र को काली सिन्धु के तट पर संभवतः यवन आक्रान्ता मीनाण्डर से युद्ध करना पडा, जिसका कि उल्लेख मालविकाग्निमित्र मे उपलब्ध होता है।

ऐसी स्थिति मे इस प्रकार का आरोप लगाना नितान्त निराधार और तथ्यहीन है कि बौद्धों और जैनो द्वारा किये गये अहिंसा-प्रचार के प्रभाव मे

---

[1] यवना. दुष्टविक्रान्ता, प्राप्स्यति कुसुमध्वजं।
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते, कर्दमे प्रथिते हि ते ।। [गार्गी संहिता, युगपुराण]

भाग खडा हुआ और उसी के एक अधिकारी द्वारा उसकी हत्या कर दी गई। इस प्रकार ईसा पूर्व ३३१ मे सिकन्दर २६ वर्ष की वय मे सम्पूर्ण यूनान, पूरे मिस्र और समस्त ईरान के विशाल साम्राज्य का सम्राट् बन गया।

अतिस्वल्प काल मे ही प्राप्त हुई इतनी बडी सफलताओ ने सिकन्दर के मन मे विश्वविजय की भावना को बडे प्रबल वेग से जागृत किया। उसने अपने सेनापतियो के समक्ष भारत पर आक्रमण करने की अपनी योजना रखी। जिन-जिन लोगो ने भारत पर आक्रमण करने का विरोध किया उन्हे चुन-चुन कर सिकन्दर ने मौत के घाट उतार दिया। अन्ततोगत्वा ईसा पूर्व ३२७ मे सिकन्दर ने महज विश्वविजय की अपनी महत्वाकाक्षा की पूर्ति के लिये भारत पर आक्रमण कर दिया।

यद्यपि शशि गुप्त और तक्षशिला के शासक आभी जैसे घर के भेदी देश-द्रोहियो का सिकन्दर को पूर्ण सहयोग प्राप्त था और भारत का उत्तरी सीमान्त प्रदेश छोटे-छोटे गणराज्यो मे विभक्त था तथापि देश की आन-बान की रक्षा के लिये हस-हंस कर प्राण देने वाले रणबाकुरे अश्वकों, अश्वाहकों, गौरो, गान्धार-पति हस्ति, केकयराज पुरू, ग्लुचकायनो, कठों, आद्रिजो आदि ने प्राणपण से पग-पग पर सिकन्दर की सेनाओ के साथ क्रमश. बडे ही लोमहर्षक युद्ध किये। भारत के उत्तरी सीमान्त के उन छोटे-छोटे गणराज्यो और राजाओ ने संगठन के एक सूत्र मे बधे न होने के कारण अन्ततोगत्वा यद्यपि सिकन्दर की विशाल सेना के साथ युद्ध मे पराजय का मुख देखा, पर इनके भीषण प्रहारो से सिकन्दर की सेना को बडी भारी क्षति उठानी पड़ी। यूनानियो के हौसले पस्त हो गये। सिकन्दर के सेनापतियो एव सेनाओ ने स्पष्ट शब्दो मे आगे बढने से इन्कार कर दिया। इससे सिकन्दर की विश्वविजय की महत्वाकाक्षा मिट्टी मे मिल गई। उसके हृदय पर इससे ऐसा आघात पहुँचा कि वह कई दिनो तक अपने शिविर मे तम्बू से बाहर तक नही निकला।

यह पहले बताया जा चुका है कि भारतीयो के भीषण प्रतिरोध, अपनी सेनाओ के आगे बढने से इन्कार करने तथा अपने विजित क्षेत्रो मे विद्रोह की भीषण आग भडक उठने के कारण सिकन्दर को स्वदेश लौटने के लिये बाध्य होना पडा। स्वदेश लौटते समय रावी के तटो पर बसे मालवों ने सिकन्दर की सेनाओ के साथ बडा भीषण युद्ध किया। मालवो के साथ युद्ध करते समय सिकन्दर के सीने मे एक गहरा घाव लगा। इसी घाव के कारण ईरान पहुँचने पर ईसापूर्व ३२४ मे केवल ३२ वर्ष की युवावस्था मे ही सिकन्दर ससार से चल बसा।

भारत पर किये गये अपने दुस्साहसपूर्ण आक्रमण के प्रतिफल रूप मे सिकन्दर को धन-जन-क्षय और अपनी मौत के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नही हुआ। भीषण नरसहारक तुमुल युद्धो के उपरान्त भी सिकन्दर को वृहत्तर भारत का केवल थोडा सा पश्चिमोत्तरी भाग ही हाथ लगा और वह भी सिकन्दर के ईरान की ओर मुह करते ही पुन. पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। छोटे-छोटे गणतन्त्रो और

उत्तरी सीमा पर सीथियन लोग आये दिन उत्पात एव लूटपाट करते रहते थे। कास्पियन सागर का निकटवर्ती प्रदेश उन लोगो का शरणस्थल था, जो बड़ा ही विकट तथा अगम्य था।

ईरान के तत्कालीन सम्राट् डेरियस ने सीथियनो का दमन करने के लिये उनके गढ़ पर ही आक्रमण की योजना तैयार की। डेरियस की सेना ने ज्योंही केस्पियन सागर के निकटवर्ती क्षेत्र की ओर बढने के लिये यूनान की सीमा मे प्रवेश किया तो यूनानियो ने इसे अपनी प्रभुसत्ता पर भयकर आघात मानते हुए डेरियस की सेनाओं का प्रतिरोध किया। डेरियस की सेनाएं प्रतिरोध को कुचल कर आगे बढ गई। सीथियनों ने डेरियस की सेनाओ को अपनी गुरिल्ला रणनीति से बुरी तरह परेशान किया। अन्ततोगत्वा ईरान की सेनाओ को बाध्य होकर लौटना पडा। डेरियस ने और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र क्षहयार्ष ने क्रमशः दो वार यूनान पर भीषण आक्रमण किये पर उन दोनो युद्धो मे ईरानी सेनाओ को बड़ी भारी हानि के साथ पराजय का मुह देखना पडा।

इन दो बडे युद्धो के कारण यूनानियों के मनो मे ईरानियो के प्रति प्रगाढ शत्रुता के भाव प्रवृद्ध हो चुके थे। प्रत्येक यूनानी ईरान से प्रतिशोध लेने के लिये आतुर हो रहा था। मैसीडोनिया के शासक फिलिप ने ईरान से प्रतिशोध लेने का बीडा उठाया। यूनानियो ने प्रारम्भिक प्रतिरोध के पश्चात् अन्ततोगत्वा फिलिप का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। फिलिप ईरान पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कर चुका था, उस समय उसकी हत्या कर दी गई। फिलिप का पुत्र सिकन्दर उसका उत्तराधिकारी बना। राज्यासीन होने के दो वर्ष पश्चात् ईसा पूर्व ३३४ में सिकन्दर ने ईरान पर आक्रमण कर दिया। उस समय सिकन्दर की आयु २२ वर्ष थी। ईरान के ईसस क्षेत्र मे ईरानी सेनाओ ने सिकन्दर की सेना के साथ तुमुल युद्ध किया। ईरान का सम्राट् डेरियस तृतीय, जो कि बड़ा ही विलासप्रिय सम्राट् था, अपनी माता तथा स्त्रियो को रणक्षेत्र मे ही छोड कर भाग खड़ा हुआ। सिकन्दर के भाग्य ने उसका साथ दिया और ईरानियो के साथ इस प्रथम युद्ध मे उसे आशातीत सफलता के साथ विजयश्री ने वरण किया। सिकन्दर ने ईसस विजय के पश्चात् मिस्र पर आक्रमण किया। मिस्री जनता ईरानियो की दीर्घकालीन दासता से मुक्त होना चाहती थी, अत मिस्र मे सिकन्दर को प्रतिरोध के स्थान पर सर्वतोमुखी स्वागत प्राप्त हुआ।

मिस्र विजय से सिकन्दर की महात्वाकांक्षाएं जागृत हुई। मिस्र के धर्माधिकारियों ने सिकन्दर को यूनानी देवता ज्यूस का पुत्र बता कर उसे अलौकिक सम्मान से विभूषित किया। मिस्रवासियों द्वारा प्रदत्त इस सम्मान से सिकन्दर वास्तव में अपने आपको महान् देवता ज्यूस का पुत्र समझने लगा। उसने तत्काल पुनः ईरान पर आक्रमण किया। उपरोक्त ईरानी सम्राट् डेरियस के नेतृत्व में ईरानी सेना ने अरबेला मे यूनानी सेना के साथ युद्ध किया पर ईरानियों को भीषण पराजय का मुह देखना पड़ा। डेरियस अरबेला के युद्ध में भी रणभूमि से

सेना के इन पाचो विभागो की देखरेख, समुन्नति एव अभिवृद्धि के लिये सामरिक परिषद द्वारा पृथक्-पृथक् एक-एक समिति नियुक्त की जाती थी। सामरिक परिषद द्वारा नियुक्त एक पाच सदस्यीय समिति सेना के लिये आवश्यक साज-सामान, नवीनतम शस्त्रास्त्रो के निर्माण आदि की व्यवस्था करती थी।

कोई आभ्यन्तरिक अथवा बाहरी शत्रु देश की प्रभुसत्ता अथवा सुरक्षा पर किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाने का प्रयास करता तो उसे तत्काल सैन्य-शक्ति के माध्यम से सदा के लिये कुचल दिया जाता।

इसी प्रकार असामाजिक तत्वो के लिये, अपराधियों के लिये कडे से कडे दण्ड की व्यवस्था थी। कठोर दण्ड व्यवस्था के कारण कोई अपराध करने का दुस्साहस ही नही करता था। यह भी एक कारण था कि उस समय अपराधो की सख्या नगण्य थी। उच्च शिक्षा के साथ-साथ सदाचार की शिक्षा का भी उस समय मे समुचित प्रबन्ध किया जाता था। अपराधी मनोवृत्ति के उन्मूलन मे सदाचार की शिक्षा का भी बहुत बडा महत्वपूर्ण योगदान माना गया है।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल मे यूनानी राजदूत मैगस्थनीज बहुत वर्षो तक भारत मे राजदूत रहा। उसने भारत विषयक अपने सस्मरणो मे लिखा है – "भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन बहुत ही सुसगठित और सुदृढ है। सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेना मे ६ लाख पैदल सेना, ३० हजार अश्वारोही, ६ हजार हाथी और हजारो रथ सदा सन्नद्ध रहते है।"

चीनी यात्री हुएनत्साग और फाहियान ने अपने यात्रा विवरणो मे तत्कालीन भारत की समृद्धि, राज्य व्यवस्था, सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था-विषयक आखो देखे हाल का चित्रण करते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि प्रजा पूर्णत सम्पन्न और सुखी है, लोग अपने घरो तथा हीरे, जवाहरात, स्वर्ण एव चादी आदि की दुकानो पर भी ताले नही लगाते। राज्य की ओर से लम्बी-चौडी सडको के आसपास धर्मशालाओ, अतिथिगृहो, प्रपाओ तथा यात्रियो के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाओ एव सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है। भारत के लोग सुखी सम्पन्न और खुशहाल है। वे अतिथिसत्कार को अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते है।

तत्कालीन भारत के सम्बन्ध मे विदेशियो द्वारा लिखे गये विवरणो, राजाओ द्वारा उत्कीर्ण करवाये गए शिलालेखो तथा प्राचीन ग्रथो मे उपलब्ध उल्लेखो से यह प्रकट होता हैं कि राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध बडा ही सौहार्दपूर्ण था। राजा प्रजा की सुख-सुविधा एव सुरक्षा हेतु समुचित प्रबन्ध करना अपना परम पवित्र कर्त्तव्य मानता था। प्रजा भी शासन को सदा अपने लिए हितकर मानकर राजाज्ञाओ का अक्षरश पालन करती थी। राजा और प्रजा के बीच प्रेम पूर्ण व्यवहार के कारण शासन स्वचालित यन्त्र की तरह सुचारु रूप से चलता था, न कि सैन्य बल के सहारे। यद्यपि शक्तिशाली सुविशाल सेनाए सदा सन्नद्ध रखी जाती थी पर उनका विदेशी आक्रान्ताओ को कुचल डालने एव आभ्यातरिक शत्रुओ के दमन के लिए ही उपयोग किया जाता था।

छोटे-छोटे राजाओं के राज्यों की पृथक्-पृथक् और असगठित सेनाओ ने मिस्र, ईरान और यूनान के सुविशाल साम्राज्य के स्वामी सिकन्दर की सेनाओं को नाको चने चबवा दिये। यदि वे छोटे-छोटे राज्यों की सेनाए सम्मिलित रूप से सिकन्दर के साथ युद्ध करती तो क्या परिणाम होता, इसका रणनीतिविशारद सहज ही अनुमान लगा सकते है।

भारत पर किये गये उपरिचर्चित तीनों आक्रमणो के कारणों के सम्बन्ध मे विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले दो आक्रमण भारत के गृहकलह के कारण हुए और तीसरे आक्रमण का मूल कारण था एक अहम्मानी आक्रान्ता की महज महत्वाकांक्षा। इन तीनों मे से एक भी आक्रमण ऐसा नही, जिसके लिये कहा जा सके कि वह अहिसा के सिद्धान्तों का पालन करने के फल स्वरूप अथवा अहिसा के पुजारी किसी राजा की अहिसाप्रधान नीति के परिणाम स्वरूप हुआ हो।

भारत के आद्योपान्त इतिहास का सिहावलोकन करने से यही तथ्य प्रकट होता है कि जब तक भारत में अहिसा के महान् सिद्धान्तो का प्राधान्य, प्राबल्य अथवा प्रभुत्व रहा तब तक सम्पूर्ण देश में सहअस्तितत्व, समानता, सौहार्द सहिष्णुता और सर्वतोमुखी सद्भावना का साम्राज्य रहा। अहिसा के आधारभूत-मूलभूत इन सहअस्तितत्व आदि मानवीय गुणों का जब तक भारतीयों के जीवन में प्राचुर्य रहा तब तक भारत समृद्ध-सम्पन्न, सशक्त एवं समुन्नत बना रहा। अहिसा के अनन्य उपासक शिशुनागवंशी उदायी, नन्दीवर्द्धन, मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक एवं सम्प्रति के शासनकाल में किसी विदेशी शक्ति को भारत की ओर आंख उठा कर देखने का भी साहस नही होता था। देश धन-धान्य से सम्पन्न और देशवासी सब तरह से सुखी थे।

नगरों का प्रबन्ध नगरपरिषदो, एव ग्रामों का प्रबन्ध ग्राम – सभाओं के माध्यम से किया जाता था। उद्योगधन्धों को संस्थापित कर समुन्नत बनाना, क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण, अतिथियो का स्वागतसत्कार के पश्चात् अतिथिगृहो में ठहराने का प्रबन्ध करना, जन-चिकित्सा और पशुचिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करना, कर एकत्रित करना आदि जनहित के सभी कार्य समुचित रूप से नगर-परिषदो और ग्रामसभाओ की देखरेख में सम्पन्न किये जाते थे। कृपि उन्नति के लिये राज्य की ओर से विशिष्ट प्रबन्ध किये जाते थे। सिचाई की यथासंभव पूरे देश में समुचित व्यवस्था की जाती थी। कृषि कार्यो को उत्तरोत्तर समुन्नत बनाने तथा बाधों के निर्माण के लिये एक परिषद का निर्माण किया जाता था। नई सडको के निर्माण, पुरानी सड़को के सुधार एवं मार्गो मे यात्रियो की सुरक्षा की देख-रेख आदि कार्य एक विभाग किया करता था।

देश की सुरक्षा के लिये नवीनतम शस्त्रास्त्रो से लैस-तैस सशक्त एवं विशाल सेना सदा सन्नद्ध रखी जाती थी। सेना की देख-रेख का कार्य एक समरपरिषद सम्हालती थी। पदातिसेना, अश्वारोही सेना, रथ-सेना, हस्ति-सेना और नौसेना—

इससे यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि अहिंसा के महान् सिद्धान्तो मे शान्ति एव सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये अपराधियो तथा आततताइयो को समुचित दण्ड देने का पूरा प्रावधान युगादि से ही रखा गया है ।

यही नही ससार को सुशासन देने के लिये समय-समय पर हुए बारह चक्रवर्तियो ने विशाल वाहिनियो के साथ दिग्विजय की। उनमे शान्तिनाथ, कुथुनाथ और अरनाथ ये तीन चक्रवर्ती क्रमश सोलहवे, सत्रहवे और अठारहवे तीर्थंकर हुए है।

ऐसी स्थिति मे यदि कोई विद्वान् वास्तविकता की ओर से दृष्टि घुमाकर तथा इन ज्वलत ऐतिहासिक तथ्यो को नजरन्दाज करके यह कहने की हठधर्मिता करते है कि अहिंसा के प्रचार-प्रसार के कारण राजतन्त्र अथवा राजालोग शिथिल एव शक्तिहीन बने और देश फलत विदेशी आक्रमणो का शिकार बना, तो यह उनका केवल साम्प्रदायिक व्यामोहमात्र है – उनके इस कथन मे कही कोई किंचित्मात्र भी तथ्य नही है ।

वास्तविकता यह है कि अहिंसा के परमोपासक राजाओ का जब तक देश पर आधिपत्य रहा, तब तक देश सुसपन्न सशक्त, स्वर्गोपम सौख्यशाली और समुन्नत रहा । अहिंसा के परमोपासक मौर्य सम्राट् अशोक को विदेशियो और ससार के प्राय. सभी विचारको ने ससार का सर्वश्रेष्ठ शासक एव उसके शासन को विश्व का सर्वोत्कृष्ट सुशासन माना है ।

इतिहास साक्षी है कि ज्यों-ज्यो राष्ट्र, राजतन्त्र और राजाओ की अहिंसा के महान् सिद्धान्तो के प्रति आस्था कम होती गई, त्यो-त्यो असहिष्णुता, असमानता, आपसी कलह आदि की अभिवृद्धि होती गई । आपसी-कलह – फूट, वर्ग-विद्वेष – आदि हिंसा की सततिया ही देश की दासता का प्रमुख कारण बनी, इस तथ्य से कोई विचारक इन्कार नही कर सकता ।

आर्य इन्द्रदिन्न – गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० स० ३३९ मे कौशिक गोत्रीय आर्य इन्द्रदिन्न गणाचार्य नियुक्त किये गए। आर्य इन्द्रदिन्न के सम्बन्ध मे इसके अतिरिक्त और कोई परिचय उपलब्ध नही होता । आपके गणाचार्य काल मे आपके गुरुभाई आर्य प्रियग्रन्थ बडे ही प्रभावक श्रमण बताये गए है । उनका सक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ।

आर्य प्रियग्रंथ

आर्य प्रियग्रन्थ जैन साहित्य में मन्त्रवादी प्रभावक के रूप मे विख्यात रहे है । यो तो मन्त्रवाद का जैनजगत मे कोई महत्व नही माना गया है । साधुओ के

घेत्तूण कड्ढिओ पिउणा "जहा य बालस्स धम्मनित्थर हल्लाणइ पीडासभवे वि परिणाम-सुदरत्तणओ कड्ढतस्स पिउणो न दोसो दिट्ठो" तहा भगवओ पयाण परिणाम सुदर थोवदोसनिग्गहाइ दड कुणमाणस्स न ताण बधे कोवि दोसो अत्थीति ।
[कहावली – भद्रेश्वरसूरि – अप्रकाशित]

राजा अपनी प्रजा के सुख मे ही अपना सुख मानता था। अशोक द्वारा शिलाओ पर खुदवाये गये निम्नलिखित अभिलेख का एक-एक अक्षर इस तथ्य की साक्षी देता है :–

"मेरा यह कर्तव्य है कि शिक्षा के प्रसार द्वारा मै प्रजाजनों का उपकार करूं। निरन्तर चलने वाले उद्योग एवं न्याय का समुचित प्रबन्ध ये सर्वसाधारण के हित की आधारशिलाएं है – इनसे बढकर फलप्रद अन्य और कुछ भी नही है। मेरे सभी प्रयासो-प्रयत्नो का मूल उद्देश्य यही है कि मै सभी लोगो के ऋण से उऋण हो जाऊ। जहा तक मुझसे सम्भव है, मै सर्वसाधारण को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करता रहता हूँ। मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि सब लोग भविष्य मे भी स्वर्गीय सुख प्राप्त करे, मेरे पुत्र, पौत्रादि भावी पीढियां भी सर्व साधारण को सुख पहुंचाने में सदा निरत रहे। मैने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह लिपि उत्कीर्ण करवाई है।"

कितना ऊचा आदर्श रहा है अहिसा के उपासक राजाओ का ? इस प्रकार का आदर्श खोजने पर भी ससार के इतिहास मे अन्यत्र नही मिलेगा।

अहिसा और जैन धर्म के महान् सिद्धान्तों से परिचित न होने के कारण अनेक विद्वानो को यह विदित नही है कि वस्तुत अपराधियों, आतताइयों, असामाजिक तत्त्वों और आक्रान्ताओं को समुचित दण्ड देने में अहिसा के सिद्धान्त कही किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नही करते। इस प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल मे विश्वधर्म-जैनधर्म के आदि-सस्थापक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने जिस समय सर्वप्रथम राज्य-व्यवस्था, सामाजिक-व्यवस्था एव अर्थ-व्यवस्था की नीव डाली, उसी समय उन्होने देश और समाज में अशान्ति तथा अव्यवस्था फैलाने का प्रयास करने वाले असामाजिक तत्वो, आततोइयो एवं अपराधियो के दमन के लिये जनहिताय-समष्टिहिताय कठोर दण्डनीति की व्यवस्था की। उस दण्ड-व्यवस्था में अपराधियों के अगच्छेदन तक की व्यवस्था थी। भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित उस कठोर दण्ड-व्यवस्था का जनहित मे औचित्य बताते हुए प्राचीन आचार्य भद्रेश्वर सूरि ने अपने "कहावली" नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि जिस प्रकार भयंकर विषधर अथवा आग की भट्टी की ओर वार-बार मना करने पर भी बढते हुए अबोध बालक को उसका पिता बालक के हित की दृष्टि से रस्सी से एक स्थान पर बाध देता है, घसीटता अथवा ताड़न-तर्जन करता है, उसी प्रकार समष्टि के हित की दृष्टि से अपराधियो की अपराध करने की प्रवृत्ति के उन्मूलन हेतु भगवान् ऋषभदेव ने कठोर दण्डव्यवस्था की।[1]

---

[1] .. ..वीस पुव्वलक्खोवरि राया जाओ त्ति। न य एव उस्सुत्त, चडियपाडणे वि ववहारत्थिणो भगवओ तुल्हारिव्व दोसो। अहवा एगो गोवालगो कीलतो सप्पहरतल गओ। तत्थ य त दसिउकामो सप्पो पुणो पुणो हेल्लाउ देतो बालगपिउणा कहवि दिट्ठो। तओ तुरियमागतूण तेण भणिओ वालगो – पुत्तगा एहि एहि मा सप्पेणेत्थ डसिज्जसि। सो य वाल तुणधावणेण सप्पाभिमुह चेव वच्चत दट्ठूण तस्सेव हियकरणत्थ पायाडसु

भी दशा मे धर्म नही कहा जा सकता। यदि तुम लोग वास्तविक धर्म का स्वरूप समझना चाहते हो तो यज्ञ मे की जाने वाली हिसा को वन्द करो और यहा तुम्हारे नगर मे विराजित आर्य प्रियग्रथ मुनि की सेवा मे उपस्थित हो उनसे आत्मकल्याण का प्रशस्त पथ समझो।"[1]

इस प्रकार कल्पसुवोधिका नामक ग्रथ मे वताया गया है कि आर्य प्रियग्रथ ने सघ के कल्याण और जैन सस्कृति के प्रताप को बढाने के लिए मन्त्रविद्या का सहारा लिया और वहा के अनेक ब्राह्मणो को प्रबुद्ध किया।

१४. आर्य षांडिल्य – वाचनाचार्य

श्यामाचार्य के पश्चात् कौशिक गोत्रीय आर्य षाडिल्य वाचनाचार्य हुए। इनको स्कदिलाचार्य भी कहा जाता है। आचार्य देववाचक (देवर्द्धि क्षमाश्रमण) ने – "वदे कोसियगोत्त साडिल्ल अज्जजीयधर।" – इस पद से कौशिक गोत्रीय षाडिल्य को वन्दन किया है। गाथा मे प्रयुक्त पद – अज्जजीयधर" – से प्रकट होता है कि आचार्य षाडिल्य जीतव्यवहार के प्रति अधिक निष्ठावान् थे। तपागच्छ पट्टावली मे इन्हे 'जीतमर्यादा' नामक शास्त्र का रचनाकार वताया गया है। किन्तु हिमवन्त स्थविरावली मे इससे भिन्न प्रकार का उल्लेख मिलता है। उसमे वताया गया है कि आपके एक शिष्य का नाम आर्य जीत था[2], इस कारण आपको आर्य जीतधर कहा गया है। केवल आर्य जीत नामक शिष्य के कारण ही आपको आर्य जीतधर कहा गया हो, यह युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। हो सकता है कि आपके शिष्य का नाम आर्य जीत हो किन्तु यहा 'जीतधर' शब्द से जीत

---

[1] हनिष्यत नु मा हुत्यै, वध्नीतायात मा हन।
युष्मद्वन्निर्दयः स्या चेत्, तदा हन्मि क्षणेन व.॥
यत्कृत रक्षसा द्रगे कुपितेन हनूमता।
तत्करोम्येव व स्वस्थ, कृपा चेन्नान्तरा भवेत्॥
यावन्ति रोमकूपाणि, पशुगात्रेषु भारत।
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातका॥
यो दद्यात् काचन मेरु, कृत्स्ना चैव वसुन्धराम्।
एकस्य जीवित दद्या-न्न च तुल्य युधिष्ठिर॥
महतामपि दानाना, कालेन क्षीयते फलम्।
भीताभयप्रदानस्य, क्षय एव न विद्यते॥ इत्यादि॥
कस्त्व प्रकाशयात्मान, तेनोक्त पावकोऽस्म्यहम्।
ममैन वाहन कस्मा-ज्जिघासथ पशु वृथा॥
इहास्ति श्री प्रियग्रथ सूरीन्द्र समुपागत।
त पृच्छत शुभ धर्म, समाचरत शुद्धित॥
यथा चक्री नरेन्द्राणा, धानुष्काणा धनजय।
तथा धुरि स्थित साधु, स एक सत्यवादिनाम्॥
[कल्पसुवोधिका, २ अधि०, ८ क्षण]

[2] तेपा पाडिल्याचार्याणा आर्य जीतधरार्यसमुद्राख्यौ द्वौ शिष्यावभूताम्।
[हिमवन्त स्थविरावली]

लिए इसे सदा हेय बताया गया है, पर संस्कृति-सघर्ष के युग मे वादविवाद आदि मे प्रतिपक्ष को लोगों की निगाहो से गिरा अपने पक्ष की विजय से जनमत को प्रभावित करने एव स्वपक्षप्रताप परिवृद्ध्यर्थ इस प्रकार के प्रयत्नो को अपनाया भी गया है। वैयक्तिक स्वार्थसिद्धि के लिए तो मन्त्र-तन्त्र और औषधि आदि का प्रयोग जैन साधु के लिए सर्वथा निषिद्ध माना गया है, पर शासन हित तथा संघ के कल्याणार्थ प्रभावको, आचार्यो को कभी-कभी इस प्रकार के कार्य भी करने पडते थे, जो प्रत्यक्षत· अथवा लौकिक दृष्टि से जैन धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल दृष्टिगोचर हो सकते थे।

स्व० मुनि कान्तिसागरजी ने प्रियग्रन्थ सूरि का परिचय निम्न रूप मे दिया है :—

"एक समय प्रियग्रथ मुनिराज विभिन्न क्षेत्रो में विचरण करते हुए अजमेर के समीप हर्षपुर पहुँचे। हर्षपुर मे ब्राह्मणों और श्रमणोपासकों कें परिवार पर्याप्त सख्या मे थे। मगधपति पुष्यमित्र शुग द्वारा किये गए दो अश्वमेध यज्ञो के कारण देश मे एक बार पुन· यज्ञ-यागादि की लहर दौड़ चुकी थी। हर्षपुर के ब्राह्मण वैदिक क्रियाकाण्ड के प्रति इतने अनुरक्त थे कि वे लोग खुले आम पशुओ की बलि देने मे भी सकोच का अनुभव नही करते थे। तदनुसार ब्राह्मणो ने बड़े समारोह के साथ एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। उस यज्ञ में बलि के लिए एक हृष्ट-पुष्ट बकरा खूटे से बांध दिया गया।

श्रमणोपासको ने आर्य प्रियग्रंथ के समक्ष पूरी स्थिति रखी। बताया जाता है कि हिसक यज्ञो की प्रवृत्ति को रोकने एव शासन की प्रभावना को दृष्टिगत रखते हुए प्रियग्रन्थसूरि ने एक अभिमन्त्रित चूर्ण श्रावको को देकर उसे बलि के बकरे पर डाल देने के लिए कहा। श्रावको ने येनकेन प्रकारेण वह चूर्ण बकरे पर डाल दिया। वासक्षेप के प्रभाव से बकरा मनुष्य की बोली मे कहने लगा :- "आप लोग मुझे अग्नि में झौकने जा रहे हो। यदि मै आप लोगों के समान निर्दयी बन जाऊ तो आप सबको तत्काल समाप्त कर सकता हूँ। पर मेरा अन्तर्मन मुझे ऐसा करने के लिए साक्षी नही देता, क्योकि मेरे हृदय मे दया का निवास है। हनुमानजी ने रावण की नगरी, लका मे जो ताण्डव नृत्य किया था, उससे भी अधिक भीषण दशा मै तुम लोगो की कर सकता हूं।"

बकरे के मुँह से इस प्रकार की बात सुन कर इस तरह की अभूतपूर्व घटना से सब ब्राह्मण भयविह्वल और आश्चर्यान्वित हो गये।

किसी तरह साहस बटोर कर उनमे से एक ब्राह्मण बोला :— "तुम कौन हो? तुम्हारा स्वरूप क्या है?"

बकरे ने उत्तर दिया — "मै अग्नि हू, छाग मेरा वाहन है। आप मेरी बलि देकर किस धर्म की साधना करना चाहते हो? क्या स्वर्ग की प्राप्ति अथवा इन्द्रासन के लिए पशुबलि करना उचित है? इस प्रकार का अधर्म किसी

विशिष्ट ज्ञाता थे और आपका उपदेश सर्वप्रिय होने के साथ ही परम प्रभावकारी भी था। "त्रिसमुद्रख्यातकीर्त्ति" इस विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि आपका विचरण सुदूरवर्ती प्रदेशो मे भी रहा, अन्यथा सम्पूर्ण देश मे आपकी इस प्रकार की ख्याति नही हो पाती।

सभवत. आर्य समुद्र तत्वज्ञान के अतिरिक्त मुख्य रूपेण भूगोल के विशेषज्ञ थे। आपके लिये देववाचक द्वारा प्रयुक्त "अक्खुब्भियसमुद्दगभीर"[1] पद इस बात का द्योतक है कि विविध शास्त्रो के विशिष्ट ज्ञाता एव प्रकाण्ड पण्डित होने पर भी आपमे समुद्रवत् गाम्भीर्य का अद्भुत गुण विद्यमान था। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी आपका मन किचित्मात्र भी क्षुब्ध नही होता था।

आपकी विद्वत्ता का दूसरा प्रबल प्रमाण यह भी है कि आर्य मगु जैसे विविध विद्याओ के ज्ञाता मुनि आप ही के शिष्य थे। लगभग ४० वर्ष तक आचार्य पद पर विराजमान रह कर वीर-शासन की सेवा करने के पश्चात् आपने वीर नि० स० ४५४ मे स्वर्गारोहण किया।

वृद्ध-परम्परा के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि अपनी आयु के अन्तिम वर्षो मे आर्य समुद्र का जघाबल क्षीण हो गया था और वे विहार करने मे असमर्थ हो गये थे। ऐसी स्थिति मे सभव है कि कुछ काल के स्थिरवास मे ही उनका प्राणोत्सर्ग हुआ हो।[2]

आर्य समुद्र के आचार्यकाल के अन्तिम समय मे आर्य कालकाचार्य नामक एक महान् प्रभावक आचार्य हुए। उनका परिचय यहा सक्षेप मे दिया जा रहा है –

कालकाचार्य (द्वितीय)

प्रथम कालकाचार्य से लगभग एक शताब्दी पश्चात् वीर निर्वाण की पाचवी शताब्दी मे द्वितीय कालकाचार्य हुए। उत्तराध्ययन टीका, बृहत्कल्पभाष्य, निशीथचूर्णि आदि के आधार पर उनका परिचय यहा सक्षेप मे दिया जा रहा है :–

धारावास के राजा वैरसिह और रानी सुरसुन्दरी के पुत्र का नाम कालक और पुत्री का नाम सरस्वती था। राजकुमारी सरस्वती नाम के अनुसार रूप और गुणो मे भी सरस्वती के समान थी। दोनो भाई-बहिन मे इतना प्रगाढ स्नेह था कि वे दोनो प्राय साथ-साथ ही रहा करते थे। किसी समय राजकुमार कालक अपनी बहिन सरस्वती के साथ अश्वारूढ हो घूमने निकला। नगर के बाहर एक उद्यान मे उस समय एक जैन मुनि धर्मोपदेश दे रहे थे। कालक और सरस्वती ने भी उनका उपदेश सुना और उन्हे ससार से विरक्ति हो गई।

---

[1] नदीसूत्र स्थविरावली, गा० २६

[2] जघाबल परिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्यसमुद्राणामपराक्रम मरणमभूदिति वृद्धप्रसिद्धि।
[आचाराग वृत्ति, १ श्रु०, ८ अ०, १ उ०]

कल्प जैसे शास्त्र को धारण करने वाले अथवा जीतव्यवहार का सम्यक्रूपेण पालन करने वाले – इस प्रकार का अर्थ मानना विशेष सगत प्रतीत होता है। सम्भव है स्थविरावलीकार ने 'अज्जजीयधर' को एक पद मान कर इसे सज्ञावाचक माना हो पर विचारपूर्वक देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि "अज्ज" शब्द "साडिल्ल" का विशेषण है और छान्दसत्वात् "अज्जं" के स्थान पर "अज्ज" रखा गया है। इतिहास के विशेषज्ञ इस पर विशेष प्रकाश डाले।

"प्रभावक चरित्र" में उपलब्ध उल्लेख से ऐसा अनुमान किया जाता है कि आचार्य वृद्धवादी इन्ही आर्य षाडिल्य के शिष्य थे। आचार्य षाडिल्य से 'षाडिल्य गच्छ' निकला जो आगे चलकर 'चन्द्रगच्छ' में सम्मिलित हो गया।

आर्य षाडिल्य का जन्म वीर नि० स० ३०६ में हुआ। २२ वर्ष की आयु में आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की। आप ४८ वर्ष तक सामान्य साधु-पर्याय में रहे। तदनन्तर वीर नि० स० ३७६ मे आपको वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य – ये दोनो पद प्रदान किये गए। ३८ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए जिन-शासन की सेवा कर आपने १०८ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर नि० स० ४१४ में स्वर्गारोहण किया।

युगप्रधानाचार्य – यह बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ३७६ से ४१४ तक आर्य षाडिल्य वाचनाचार्य पद के साथ-साथ युगप्रधानाचार्य पद पर भी रहे। तदनुसार आप वाचकवश परम्परा के १४ वे आचार्य और युगप्रधानाचार्य परपरा के १३ वे आचार्य रहे।

आपके जीवन का इससे अधिक विशिष्ट परिचय उपलब्ध नही होता।

आर्य दिन्न – गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य इन्द्रदिन्न के पश्चात् आर्य दिन्न गणाचार्य हुए। आप गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे।

आपका जीवन-परिचय उपलब्ध नही होता।

१५. आर्य समुद्र – वाचनाचार्य

आर्य सडिल्ल के पश्चात् आर्य समुद्र वीर नि० स० ४१४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य देववाचक ने नन्दी-स्थविरावली में – "तिसमुद्द-खायकित्ति" – इस पद से यह बतलाया है कि वे आसमुद्र कीर्त्ति वाले थे। आगे के पदो में उनकी ज्ञानगरिमा का गुणगान करते हुए देववाचक ने कहा है – "दीवसमुद्देसु गहिय – पेयाल" – अर्थात् द्वीपो एव समुद्रो के विषय में आप तलस्पर्शी ज्ञाता थे।

यद्यपि स्पष्ट रूप से आर्य समुद्र के श्रुताराधन का परिचय नही मिलता, तथापि देववाचक द्वारा आपके लिये प्रयुक्त किये गये प्रशंसात्मक विशेषणो से यह सहज ही निर्णय किया जा सकता है कि आप क्षेत्र विभाग (द्वीप-समुद्र) के

इस प्रकार के छोटे राज्य की शक्ति अपर्याप्त है और अन्य कोई ऐसा शक्तिशाली राजा नही है, जो गर्दभिल्ल से युद्धभूमि मे टक्कर ले सके। अत उन्होने अपनी बहिन को मुक्त करवाने तथा गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने के लिए अपने भानजे बलमित्र-भानुमित्र के अतिरिक्त शको की भी सहायता प्राप्त की।

आर्य कालक ने अपनी बहिन को मुक्त करवाने के लिए शको की भी सहायता प्राप्त की, इस सम्वन्ध मे प्राय सभी लेखक एकमत है। किन्तु शक लोग देश के बाहर से लाये गये, अथवा देश मे ही विद्यमान युद्धोपजीवी अन्य जातियो एव शको को साथ लेकर युद्ध जीता गया, इस सम्वन्ध मे ऐतिहासिको का मतैक्य नही है। अधिकाश लेखक आर्य कालक द्वारा विदेश से शको का लाया जाना और उनकी सैनिक सहायता से गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करना मानते है। इसके विपरीत कुछ इतिहासज्ञो ने गहन अनुसन्धान के पश्चात् यह अभिमत अभिव्यक्त किया है कि आर्य कालक के समय मे सिन्ध प्रान्त मे शको का राज्य था। आर्य कालक उज्जयिनी से सीधे सिन्ध प्रदेश मे गये और वहा के शको को उज्जयिनी पर आक्रमण करने के लिए सहमत किया। तदनन्तर शको और बलमित्र-भानुमित्र की सेनाओ ने एक साथ उज्जयिनी पर आक्रमण कर गर्दभिल्ल को पराजित किया तथा साध्वी सरस्वती को मुक्त करवाया।

प्राचीन ग्रन्थ निशीथचूर्णि मे कालक के फारस देश मे जाने का नही अपितु 'पारिसकुल' जाने का तथा वहा के शकराज को अपने निमित्तज्ञान से प्रभावित कर अपना सहायक बनाने का उल्लेख किया गया है। फारस मे शको के साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् वहा के शाह द्वारा चलाये गये शकविरोधी अभियान के कारण जो शक लोग सिन्ध प्रदेश मे आकर रहने लगे थे, सभवत: निशीथचूर्णिकार ने उन्ही शको के लिए 'पारिसकुल' शब्द का प्रयोग किया हो। उज्जयिनी से आर्य कालक का फारस जैसे सुदूरवर्ती एव अपरिचित देश मे जाना, वहा के शको का विश्वास प्राप्त करना तथा उन्हे भारत जैसे विशाल देश पर आक्रमण करने के लिए सहमत करना, ये सब कार्य बडे कष्टसाध्य, समयसाध्य एव सशयास्पद प्रतीत होते है। ऐसी स्थिति मे आर्य कालक द्वारा उस समय सिन्ध प्रदेश मे शासन करने वाले शको की सहायता प्राप्त करने तथा बलमित्र भानुमित्र एव शको की सगठित सैन्यशक्ति से गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने की बात अधिक सगत प्रतीत होती है।

जो भी हो इतना तो निश्चित है कि आर्य कालक जैसे समर्थ आचार्य ने विवश होकर अन्याय का प्रतिकार तथा दुष्ट का दमन करने के लिए ही अन्य कोई उपाय न होने के कारण युद्ध का सहारा लिया। अपनी सती-साध्वी बहिन के सतीत्व एव सम्मान की रक्षा के लिए सैन्य शक्ति एकत्रित कर आर्य कालक ने गर्दभिल्ल को उसके अनाचारपूर्ण निकृष्ट दुष्कृत्य का जो दण्ड दिया, उसमे राष्ट्र के विघटन की स्वल्पमात्र भी गध नही हो सकती। यदि आर्य कालक के अन्तर में देश के विघटन की किञ्चित्मात्र भी भावना होती तो वे शको की सेना के साथ बलमित्र भानुमित्र की सेना को नही लेते। इतिहास साक्षी है कि शको के साथ उज्जयिनी

माता-पिता की अनुमति से कालक और सरस्वती ने गुणाकर मुनि के पास जैन श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली ।[1]

आर्य कालक ने अल्प समय में ही गुरु के पास शास्त्राभ्यास कर वीर नि०सं० ४५३ में आचार्य पद प्राप्त किया ।[2] कालकाचार्य अपने समय के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे पर कहा जाता है कि उनके द्वारा दीक्षित शिष्य उनके पास अधिक समय तक स्थिर नही रह पाते थे । इसे अपने मुहूर्तज्ञान की त्रुटि समझ कर उन्होने विशिष्ट मुहूर्तज्ञान के लिये आजीवकों के पास निमित्त-ज्ञान का अध्ययन किया ।[3]

इस प्रकार आचार्य कालक जैनागमो के अतिरिक्त ज्योतिष और निमित्त-विद्या के भी विशिष्ट ज्ञाता बन गये । किसी समय आर्य कालक अपने श्रमण-सघ के साथ विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे । नगर के बाहर उद्यान मे आर्य कालक के दर्शन के लिये अन्य श्रमणियो के साथ आई हुई साध्वी सरस्वती को राजा गर्दभिल्ल ने मार्ग मे देखा । उसके अनुपम रूप – लावण्य पर मुग्ध हो कर गर्दभिल्ल ने अपने राजपुरुषों द्वारा साध्वी सरस्वती का बलात् अपहरण करवा उसे अपने अन्त पुर मे पहुचा दिया ।

गर्दभिल्ल के इस घोर अनाचारपूर्ण पाप का पता चलते ही आर्य कालक और उज्जयिनी के संघ ने गर्दभिल्ल को समझाने का यथाशक्य पूरा प्रयास किया किन्तु उस कामान्ध ने साध्वी सरस्वती को उन्हे नही लौटाया । इससे क्रुद्ध होकर आचार्य कालक ने गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने की प्रतिज्ञा की ।

भावी सकट से गर्दभिल्ल कही सतर्क न हो जाय, इस दृष्टि से दूरदर्शी आचार्य कालक कुछ दिनो तक विक्षिप्त की तरह उज्जयिनी के राजमार्गो एव चौराहों पर – "गर्दभिल्ल राजा है तो क्या ? उसका अन्त पुर रम्य है तो क्या ? मै भिक्षार्थ इधर-उधर घूमता हूँ तो क्या, यदि मै शून्य देवल मे रहता हूँ तो क्या ?" इस प्रकार के अनर्गल प्रलाप करते हुए घूमते रहे । जब उन्होने देखा कि गर्दभिल्ल को उनके विक्षिप्त होने का पूरा विश्वास हो गया है, तो वे उज्जयिनी से निकल पडे ।

उस समय भरौच में राजा बलमित्र और भानुमित्र नामक बन्धुद्वय का राज्य था, जो साध्वी सरस्वती और आर्य कालक के भागिनेय थे । आर्य कालक अच्छी तरह जानते थे कि गर्दभिल्ल जैसे शक्तिशाली राजा को पराजित करने के लिए

---

[1] गुणाकरसूरि के पास आर्य कालक के दीक्षित होने का उल्लेख प्रथम कालकाचार्य आर्य श्याम की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है, क्योकि गुणाकरसूरि का समय वीर नि० सं० २६१ से ३३५ तक रहा है । [सम्पादक]

[2] एव वीर निर्वाण वर्ष ४५३ । अस्मिश्च वर्षे गर्दभिल्लकोच्छेदकस्य श्री कालकाचार्यस्य सूरिपदप्रतिष्ठाभूत् । [विचारश्रेणी]

[3] एत्तिउ पढिउ सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ पव्वाविओ थिरो होज्जा । तेण निव्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्त पढिय ।" [पचकल्पचूर्णि, पत्र २४]

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार और अनेक भव्य जीवो का उद्धार किया। आपका शिष्य-परिवार इतना विशाल था कि वह भारत और भारत से बाहर के विभिन्न प्रदेशो मे विचरण कर अगणित भव्य जनो को सद्धर्म का अनुयायी बनाने लगा।

इधर शक राजाओ के पारस्परिक वैमनस्य के कारण उज्जयिनी मे शकों का राज्य शनै शनै शक्तिविहीन होने लगा। चार वर्ष[1] भी नही हो पाये थे कि विक्रमादित्य ने एक प्रबल सेना ले कर वीर निर्वाण सवत् ४७० मे उज्जयिनी के शक-राज पर भयकर आक्रमण किया और युद्ध मे शको को पराजित कर उज्जयिनी के राज्यसिहासन पर अधिकार कर लिया।

जैन वाङ्मय मे अनेक ऐसे पुष्ट प्रमाण विद्यमान है, जिनसे निर्विवादरूपेण यह सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य ने वीर नि० स० ४७० मे शको को परास्त कर उज्जयिनी के राजसिहासन पर अधिकार किया और उसी वर्ष से विक्रम सवत् प्रचलित हुआ। इस प्रकार के प्रवल प्रमाणो की विद्यमानता मे भी यह प्रश्न आज तक एक अनबूझ पहेली के रूप मे विद्वानो के समक्ष उपस्थित है कि विक्रम सवत् विक्रम के राज्यारोहण के समय से प्रारम्भ हुआ अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात्। जैन वाङ्मय मे ही उपलब्ध एक-दो उल्लेखो ने इस प्रश्न को और भी जटिल रूप प्रदान कर दिया है, जिनमे यह बताया गया है कि विक्रमादित्य ने उज्जयिनी के राज्यसिहासन पर आसीन होने के १७ वर्ष अथवा १३ वर्ष पश्चात् सवत्सर प्रचलित किया।

विक्रमादित्य के वीर नि० स० ४७० मे राज्यासीन होने का सीधा और स्पष्ट उल्लेख 'विचारश्रेणी' की एक गाथा मे दृष्टिगोचर होता है, जो इस प्रकार है –

> विक्कमरज्जारभा, परओ, सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
> सुन्न-मुणिवेय (४७०) जुत्तो, विक्कमकालाउ जिणकालो ।।

अर्थात् भगवान् महावीर के निर्वाण दिन से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का राज्य प्रारम्भ हुआ।

विक्रमादित्य ने विक्रम सवत् उज्जयिनी के राज्यसिहासन पर आरूढ होते ही प्रचलित किया अथवा कालान्तर मे – इस प्रकार के प्रश्न के उत्पन्न होने के पीछे भी एक कारण है। वह यह है कि दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि की एक गाथा मे, गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य के वीर नि० स० ४५३ मे होने का उल्लेख किया गया है।[2] उस गाथा मे दिये हुए सवत् के आधार पर साध्वी सरस्वती के अपहरणकर्त्ता गर्दभिल्ल का शको द्वारा उच्छेद किया जाना ४५३ मे और विक्रमादित्य द्वारा शको का उन्मूलन एव उज्जयिनी के सिहासन पर आरूढ होना

---

[1] . .. "सगस्स चउ" [विचारश्रेणी (मेरुतुंग)]

[2] तह गद्दभिल्लरज्जस्स छेअगो कालगायरियो होही।
तेवन्नचउसएहिं (४५३) गुणसयकलिओ पहाजुत्तो ।।

की ओर बढते हुए आर्य कालक ने मार्ग मे भरौच के राजा – अपने भानजे बलमित्र-भानुमित्र को भी साथ लिया और बलमित्र तथा शको की संयुक्त सेनाओ ने उज्जयिनी पर प्रबल वेग से आक्रमण किया ।[1]

भीषण युद्ध के पश्चात् उज्जयिनी की सेना बुरी तरह परास्त हुई ।[2] गर्दभिल्ल की विद्या को निरर्थक कर दिया गया और उसको बन्दी बनाकर साध्वी सरस्वती को छुडा लिया गया । जिस शकराज के यहा आर्य कालक ठहरे थे, उसे उज्जयिनी के राज्य-सिहासन पर बैठाया गया ।[3] उससे शक वंश प्रसिद्ध हुआ । इस प्रकार वीर निर्वाण सवत् ४६६ मे उज्जयिनी पर कुछ काल के लिए शको का शासन स्थापित हुआ । आर्य कालक के निर्देशानुसार गर्दभिल्ल को बन्दीगृह से छोड दिया गया ।

आर्य कालक ने सघ रक्षार्थ किये गये इस महा आरम्भजन्य पाप की समुचित प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धी की[4] और अपनी बहिन सरस्वती को भी पुन· दीक्षित कर संयम मार्ग में स्थापित किया ।[5] तप सयम की साधना करते हुए आचार्य कालक पुनः जिनशासन की सेवा में निरत हो गये । आपने सुदूर प्रदेशों मे विचरण कर

---

[1] (क) ····· 'ताहे जे गद्दहिल्लेनावमाणिया लाडरायाणो अण्णे य ते मिलिउ सव्वेहिं पि रोहिया उज्जेणी । [कहावली, २, २८५]

(ख) निशीथचूर्णि, १० उ०, भा० ३, पृ० ५६

[2] निशीथचूर्णि, भा० ३, पृ० ५६ के उल्लेखानुसार गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या की साधना कर रक्खी थी । उस विद्या के बल से वह अपने आपको अपराजेय समझता था । किसी भी शत्रु के आक्रमण की सूचना पाकर वह गर्दभी को एक उच्चतम अट्टालिका पर स्थापित कर स्वय अष्टम तप पूर्वक उस विद्या की साधना करता । विद्या के सिद्ध होते ही गर्दभी बडे उच्च स्वर मे रेकती । गर्दभी का प्रखर स्वर शत्रुओ का जो भी सैनिक अथवा हस्ती, अश्व आदि पशु सुनता, वही तत्काल मुंह से रक्त-वमन करता हुआ निश्चेष्ट हो पृथ्वी पर गिर पडता । आर्य कालक इस गुप्त रहस्य से परिचित थे अत उन्होने १०८ शब्दवेधी धनुर्धर योद्धाओ को पहले से ही सन्नद्ध रखा और गर्दभिल्ल द्वारा सिद्ध की हुई गर्दभी ने बोलने के लिए ज्यो ही अपना मुह खोला त्यो ही उन योद्धाओ ने बाणो से उसका मुह भर दिया । परिणामतः गर्दभिल्ल की विद्या का प्रभाव नष्ट हो गया ।
– सम्पादक

[3] (क) ज कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ राया अधिवो ।
राया ठवितो, ताहे सगवसो उप्पण्णो ।। [निशीथचूर्णि, १० उ०]

(ख) सूरी जप्पासि ठिओ, आसी सो वतिसामिओ सेसा ।
तस्सेवगा य जाया, तओ पउत्तो अ सगवंसो ।। [कालकाचार्य कथा, गा० ८०]

[4] एरिसे वि महारभे कारणे विधीए सुद्धो अजयणा पच्चत्तिय, पुण करेति पच्छित्तं । [निशीथचूर्णि, उ० १०, भा० ३, पृ० ६०]

[5] (क) भगिणि पुणरवि सजमे ठविया······ [निशीथचूर्णि, उ० १ , भाग ३, पृ ६०]

(ख) भिल्ल निगृह्य सरस्वती मुमोच, मूलच्छेदेन शोधयित्वा पुन श्रामण्ये स्थापयत् । [अभिधान राजेन्द्र, भा० ३, पृ० ४६०]

वर्तमान मे जो वीर नि० स०, विक्रम स० और शक स० प्रचलित है, वे पूर्ण प्रामाणिक होने के साथ-साथ परस्पर एक-दूसरे से पूरी तरह तालमेल रखते है। इन तीनो ही सवतो की प्रामाणिकता को सिद्ध करने मे सबसे अधिक सहायक एव सर्वाधिक महत्वपूर्ण यदि कोई उल्लेख है, तो वह विचारश्रेणी का निम्नलिखित उल्लेख है –

ज रयणि कालगओ अरिहा तित्थकरो महावीरो ।
त रयणिमवतिवई अहिसित्तो पालओ राया ।।
सट्ठी पालगरण्णो, पणवन्नसय तु होइ नदाण ।
अट्ठसय मुरियाण, तीसच्चिय पूसमित्तस ।।
बलमित्त भानुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहण ।
तह गद्दभिल्लरज्ज, तेरस वासे सगस्स चउ ।।

इन गाथाओ के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण को प्राप्त होने के पश्चात् निम्नलिखित राजाओ का उनके नाम के आगे उल्लिखित वर्षों तक राज्य रहा –

पालक	६० वर्ष
नन्दवश	१५५ ,,
मौर्यवश	१०८ ,,
पुष्यमित्र	३० ,,
बलमित्र-भानुमित्र	६० ,,
नभोवाहन	४० ,,
गर्दभिल्ल	१३ ,,
शक	४ ,,
पूर्ण योग	४७० वर्ष

इसके पश्चात् 'विचारश्रेणी' मे निम्नलिखित उल्लेख किया गया है –

तदनु विक्रमादित्य	६० वर्ष
धर्मादित्य	४० ,,
भाइल्ल	११ ,,
नाइल्ल.	१४ ,,
नाहड	१० ,,
एव	१३५
उभय (ऊपर के ४७० और ये १३५)	६०५

तदनु शाकसवत्सरप्रवृत्ति । उक्त च –

श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षै षड्भि पञ्चोत्तरै शतै ।
शाक सवत्सरस्यैषा, प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ।।

४५७ में मान लिया गया। यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० स० ४५३ मे आर्य कालक को आचार्य पद प्रदान किया गया था।

वीर नि० सं० ४५७ और ४७० के बीच सम्भवतः तालमेल बैठाने के लिए निम्नलिखित गाथा का उपयोग किया गया, जो कि विचारश्रेणी मे उल्लिखित है :—

विक्कमरज्जाणंतर सतरसवासेहि वच्छरपवित्ती

उज्जयिनी के राज्य पर आसीन होने के १७ वर्ष पश्चात् विक्रम द्वारा विक्रम सवत्सर प्रचलित किये जाने की बात भी कालगणना की दृष्टि से ठीक नही बैठती। यदि वीर नि० सं० ४५७ मे राजसिहासन पर आरूढ होने के १७ वर्ष पश्चात् विक्रम द्वारा संवत्सर प्रचलित करने की बात मानी जाय तो विक्रम द्वारा सवत्सर प्रवर्तन का काल भगवान् महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् नही अपितु ४७४ वर्ष पश्चात् का ठहरता है।

इस वैषम्य को हल करने वाली एक अन्य गाथा विचारश्रेणी के परिशिष्ट मे मुनि जिनविजयजी ने दी है :—

विक्कमरज्जाणंतर तेरसवासेसु वच्छरपवित्ती।

इस गाथा मे बताया गया है कि विक्रम ने सिहासनारूढ़ होने के १३ वर्ष पश्चात् सवत् चलाया।

इसके अतिरिक्त वीर नि० स० ४७० से पहले वीर नि० स० ४५७ अथवा अन्य किसी समय मे शको को पराजित कर विक्रम द्वारा उज्जयिनी के राज्य-सिहासन पर अधिकार करने की मान्यता का जन्म सम्भवत: उपरोक्त दो प्राचीन गाथाओं और चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्वाराधन प्रारम्भ किये जाने विषयक निशीथचूर्णि के उल्लेख के आधार पर हुआ है। निशीथचूर्णि मे यह उल्लेख विद्यमान है कि आर्य कालक शक राज्य की समाप्ति के पश्चात् उज्जयिनी गये। उस समय उनके भानजे वलमित्र और भानुमित्र उज्जयिनी राज्य के स्वामी थे। उज्जयिनी मे अनुकूल अथवा प्रतिकूल परीषह उपस्थित किये जाने पर कालक ने उज्जयिनी से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया। प्रतिष्ठानपुर में पहुँचने पर वहा के राजा सातवाहन की प्रार्थना पर आर्य कालक ने परम्परागत पंचमी के स्थान पर चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्वाराधन किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि निशीथचूर्णि के इस प्रकार के उल्लेख की पुष्टि हेतु ही उपर्युल्लिखित दोनो गाथाओ में से किसी एक की रचना की गई हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के संदर्भ मे समीचीनतया पर्यालोचन से गर्दभिल्ल तथा शकों के पश्चात् वलमित्र-भानुमित्र द्वारा उज्जयिनी पर अधिकार किया जाना किसी भी दशा मे प्रमाणित नही होता। आर्य कालक के भागिनेय वलमित्र भानुमित्र उस समय मे भृगुकच्छ (भडोंच) के राजा थे और उनका राज्य, शको का उज्जयिनी पर से विक्रम द्वारा आधिपत्य समाप्त किये जाने के पश्चात् भी भडोंच तक ही सीमित रहा।

प्रगाढ निष्ठा तथा भक्ति रखता था। संयोगवश कालकाचार्य का उपदेश सुन कर वह प्रतिबुद्ध एव ससार से विरक्त हो उन्ही के पास दीक्षित हो गया। इसके फलस्वरूप बलमित्र और भानुमित्र ने रुष्ट होकर कालकाचार्य को वर्षाकाल मे ही उज्जयिनी (भडोच) से विहार करने के लिये बाध्य किया। प्रशासन की ओर से उत्पन्न की गई प्रतिकूल परिस्थिति मे आचार्य कालक ने अपने शिष्य-समूह सहित उज्जयिनी (भडोच) से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार किया।

वर्षाकाल मे विहार करने जैसी प्रतिकूल विकट परिस्थिति का अन्य आचार्य एक दूसरा ही कारण बताते है। उनका कहना है कि आचार्य कालक के भागिनेय होने के कारण बलमित्र-भानुमित्र अपने मातुल आचार्य के प्रति आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति रखते और उनका अत्यधिक आदर-सम्मान करते थे। आचार्य के प्रति उनकी निस्सीम श्रद्धा देख कर पुरोहित के मन मे आचार्यश्री के प्रति प्रबल ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वह राजा तथा युवराज के सम्मुख बार-बार यह कह कर कि – ये वेद-बाह्य है, पाषडी है, उनकी निन्दा करता रहता था। धार्मिक असहिष्णुता से प्रेरित हो पुरोहित ने एक दिन बलमित्र-भानुमित्र के समक्ष आचार्य कालक के साथ सैद्धान्तिक चर्चा प्रारम्भ की। आचार्य ने प्रश्नोत्तर मे पुरोहित को निरुत्तर और हतप्रभ कर दिया। अपनी इस पराजय से पुरोहित के अन्तर मे आचार्य के प्रति विद्वेषाग्नि भडक उठी। पुरोहित ने उपयुक्त अवसर देख कर राजा को आचार्य कालक के प्रति भडकाते हुए कहा –"राजन्! ये ऋषि बडे प्रतापी, पुण्यात्मा और महान् तपस्वी है। जिस मार्ग से ये जाते है, उस मार्ग से किसी राजपुरुष को नही चलना चाहिये। उस मार्ग से चलने पर उनके चरणचिन्हो पर पैर गिरना सभव है। गुरु-चरणो पर पैर गिरने से राज्य मे दैवी प्रकोप आदि के रूप मे अशिव व्याप्त हो सकता है। अत राज्यहित और जनहित मे इन्हे यहा से विदा कर देना ही श्रेयस्कर है।"

इस प्रकार कारणान्तर से चातुर्मासावधि मे ही आचार्य कालक ने वहा से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया और प्रतिष्ठानपुर के श्रमणसघ को सदेश पहुँचाया कि वे पर्यूषण पर्वाराधन से पूर्व ही प्रतिष्ठानपुर पहुच रहे है अत पर्वाराधन सम्बन्धी आवश्यक कार्यक्रम उनके वहा पहुचने के पश्चात् निश्चित किया जाय।

प्रतिष्ठानपुर का राजा सातवाहन जैनधर्मावलम्बी और परम श्रद्धालु श्रमणोपासक था। वह वहा के सघ, राजन्यवर्ग, भृत्यगण, परिजन एव प्रतिष्ठित पौरजनो सहित स्वागतार्थ आचार्यश्री के सम्मुख पहुँचा और बडे ही आदर-सत्कार एव उल्लास के साथ कालकाचार्य का नगर-प्रवेश हुआ।

नगर मे पहुँचने के पश्चात् आर्य कालकाचार्य ने सघ के समक्ष कहा कि भाद्रपद शुक्ला पचमी को सामूहिक रूप से पर्यूषण पर्वाराधन किया जाय। श्रमणोपासक सघ ने आचार्य के इस निर्देश को स्वीकार किया परन्तु उसी समय राजा सातवाहन ने कहा – "भगवन्! पचमी के दिन लोकपरम्परानुसार मुझे इन्द्र-

इसकी पुष्टि 'तिलोयपण्णत्ती,' 'त्रिलोकसार' आदि दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों द्वारा भी की गई है।[1]

उपरोक्त उल्लेखो से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि वीर नि० सं० ४६६ में गर्दभिल्ल को राज्यच्युत कर उज्जयिनी राज्य पर अधिकार करने वाले शको को विक्रमादित्य ने वीर नि० स० ४७० में पराजित किया। इसी वर्ष अर्थात् वीर नि० स० ४७० मे उज्जयिनी के राज्यसिहासन पर आरूढ होते ही विक्रमादित्य ने अपने नाम का संवत्सर प्रवृत्त किया।

यह सम्भव है कि विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित किया गया यह संवत्सर प्रारभ में उज्जयिनी राज्य तक ही सीमित रहा हो और शको को भारत के सम्पूर्ण भूभाग से वाहर खदेडने तथा भारत के अनेक पडौसी राज्यो को अपने शासन के अन्तर्गत ला वृहत्तर भारत का निर्माण करने के पश्चात् उसने पूर्वप्रचालित संवत्सर ही विधिवत् अपने सम्पूर्ण साम्राज्य मे मान्य करने की घोषणा की हो। इस प्रकार की घोषणा का काल वीर नि० सं० ४७० से १७ अथवा १३ वर्ष पश्चात् का हो सकता है, न कि सवत्सर-प्रवर्त्तन का। डिमिट्रियस मीनाण्डर, यूक्रेडाइटीज और अन्य शको द्वारा भारत के अनेक भागो पर किये गये आधिपत्य को हटाने मे विक्रम को १३ अथवा १७ वर्ष अवश्य ही लगे होगे। हमारे अनुमान से उपरोक्त दोनो गाथाएं विक्रम द्वारा की गई इस प्रकार की उद्घोषणा की ओर ही संकेत करती हैं।

ऐसी स्थिति मे एक प्रकार से निश्चित रूपेण यह कहा जा सकता है कि निशीथचूर्णिकार को, बलमित्र भानुमित्र का भडोच के स्थान पर उज्जयिनी मे राज्य होने का और वहा से तन्निमित्त से आर्य कालक के विहार का उल्लेख करने मे अवश्य कोई भ्राँति हुई हो।

पंचमी के स्थान पर चतुर्थी का पर्वाराधन

आर्य कालक ने पंचमी के वदले चतुर्थी को पर्यूषण पर्व का आराधन प्रचलित किया[2] इस घटना का विवरण देते हुए निशीथचूर्णी मे निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है :-

"अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए आर्य कालक उज्जयिनी (भडोच) पधारे और वहा वर्षावास किया। उस समय वहां वलमित्र का राज्य था और उनके अनुज भानुमित्र युवराज थे।[3]

वलमित्र-भानुमित्र की एक बहिन थी जिसका नाम भानुश्री था। भानुश्री का पुत्र वलभानु प्रकृति से वड़ा ही सरल एवं विनीत था और साधुओं के प्रति

---

[1] जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ. ५४५

[2] कारणिया चउत्थी अज्ज कालगायरिएण पवत्तिया। [निशीथचूर्णी, भा० ३, पृ० १३१]

[3] वलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवतीइ रायजुवराया।
निय भाणिज्जत्ति तया, तत्थ गओ कालगायरिओ ॥८४॥ [कालकाचार्य कथा]

तिकाया दृश्यते पर तत्र प्रक्षेपगाथाना विद्यमानत्वेन तदवचूर्णावव्याख्यातत्वेन चेय न सूत्रकृत्कर्तृकेति सभाव्यते ।"[१]

इस प्रकार उक्त गाथा का मूल स्थान अनिर्णीत होने के कारण इसे अविश्वसनीय और प्रक्षिप्त ही कहा जा सकता है। फिर भी यह अवश्य विचारणीय है कि वीर नि० स० ९९३ मे चतुर्थी पर्यूषणा प्रारम्भ होने की गाथोक्त बात तथ्यो की कसौटी पर खरी उतरती है या नही।

ऊपर बताया जा चुका है कि निशीथ चूर्णी और अन्य ग्रन्थो मे निर्विवाद रूप से यह बात मानी गई है कि प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के निवेदन पर कालकाचार्य ने सकारण चतुर्थी के दिन पर्यूषणा की। जब यह मान लिया जाता है कि सातवाहन के समय मे ही पर्यूषणा पर्व चतुर्थी को हुआ तब यह मानना किसी भी तरह सगत नही होगा कि वी० नि० स० ९९३ मे कालकाचार्य ने चतुर्थी से पर्व का आराधन प्रारम्भ किया। क्योकि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ईसा की तीसरी शताब्दी मे आन्ध्र राज्य का अन्त हो चुका था। भडौच मे वलमित्र – भानुमित्र का राज्यकाल और प्रतिष्ठानपुर मे सातवाहन का राज्यकाल भी, कालकाचार्य द्वितीय द्वारा वीर नि० स० ४७० से ४७२ के बीच मे भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के दिन पर्वाराधन प्रारम्भ किये जाने के काल से मेल खाता है।

ऐसी स्थिति मे निर्विवाद रूप से यही प्रमाणित होता है कि कालकाचार्य द्वितीय ने वीर नि० स० ४७० से ४७२ के बीच किसी समय बलमित्र – भानुमित्र के पुरोहित द्वारा उत्पन्न की गई प्रतिकूल परिस्थिति के कारण चातुर्मासावधि मे भडोच से विहार कर प्रतिष्ठानपुर में वहा के राजा सातवाहन की प्रार्थना पर चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्व की प्रतिष्ठापना की।

ऐसा प्रतीत होता है कि वी० नि० स० ९९३ मे कालकाचार्य चतुर्थ द्वारा वल्लभी के राजा ध्रुवसेन के पुत्र-शोक-निवारणार्थ सघ के समक्ष पहले-पहल कल्पसूत्र की बाचना की गई, नामसाम्य के कारण उस घटना के साथ द्वितीय कालकाचार्य द्वारा चतुर्थी के दिन पर्वाराधन की घटना को भी जोड दिया गया हो। इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि आगे चल कर विक्रम की बारहवी शताब्दी मे चतुर्थी के स्थान पर पुन पचमी को पर्वाराधन की प्रक्रिया प्रचलित हुई, उस समय चतुर्थी के पर्वाराधन को अर्वाचीन ठहराने की दृष्टि से किसी ने यह गाथा बना कर किसी प्राचीन ग्रन्थ के नाम से प्रक्षिप्त कर दी हो।

द्वितीय कालकाचार्य के इस समय के सम्बन्ध मे दशाश्रुत स्कध की चूणि मे एक प्राचीन गाथा भी उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है –

तह गद्दभिल्लरज्जस्स छेयगो कालगायरियो होइ।
तेवण्ण चउसयेहि, गुणसयकलिओ सुअपउत्तो ।।[२]

---

[१] कल्पकिरणावली, पृ० १३१

[२] (क) दुस्समाकालसमणसघथय, अवचूरि [पट्टावली समुच्चय]
(ख) अपापा वृहत्कल्प

महोत्सव मे सम्मिलित होना होगा। ऐसी स्थिति मे यदि पंचमी के दिन पर्वाराधन किया गया तो मैं साधुवन्दन, धर्मश्रवण और समीचीनतया पर्वाराधन से वंचित रह जाऊंगा। अतः ६ के दिन पर्वाराधन किया जाय तो समुचित रहेगा।"

आचार्य ने कहा – "पर्व-तिथि का अतिक्रमण तो नही हो सकता।"

राजा सातवाहन ने कहा – "ऐसी दशा में एक दिन पहले चतुर्थी को पर्वाराधन कर लिया जाय तो क्या हानि है ?"

अपनी सहमति प्रकट करते हुए कालकाचार्य ने कहा – "ठीक है, ऐसा हो सकता है।"

इस प्रकार प्रभावक होने के कारण कालकाचार्य ने देश-काल आदि की परिस्थिति को देखते हुए भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी मे पज्जोसवरण (पर्यूषरण पर्वाराधन) प्रारम्भ किया।[१]

कुछ पट्टावलीकारो ने वीर निर्वाण सवत् ९९३ मे कालकाचार्य (चतुर्थ) द्वारा चतुर्थी का पर्यूषरण पर्व प्रचलित किये जाने का उल्लेख किया है। उसी को दृष्टि में रखकर मेरुतुंग ने अपनी विचारश्रेणी में चतुर्थी पर्व के कर्त्ता कालकाचार्य को निर्वासित करने वाले बलमित्र भानुमित्र को वीर नि० स० ४७० से ४७२ की अवधि के बीच विद्यमान बलमित्र-भानुमित्र से भिन्न और वीर नि० स० ९९३ मे विद्यमान होने का उल्लेख किया है। सभव है उनके सम्मुख निम्नलिखित गाथा रही हो :-

तेणउअ नवसएहिं, समइक्कंतेहिं वद्धमाणाओ।
पज्जोसवरण चउत्थी, कालगसूरीहिं तु ठविया॥

मूलतः यह गाथा किस ग्रंथ की है, इस बात का निर्णय अनेक ग्रथो के सम्यगवलोकन के पश्चात् भी अभी तक नही हो पाया है। ऐसी दशा में इसे प्रक्षिप्त गाथा ही कहा जा सकता है। कल्पसूत्र की संदेहविषौपधि नामक अपनी टीका मे आचार्य जिनप्रभ ने इसे तित्थोगालियपइन्ना की गाथा बताया है। पर वहां इस गाथा का कही नाम-निशान तक नही है। कालकाचार्य कथा में इस गाथा को – "उक्त च प्रथमानुयोगसारोद्धारे" – लिखकर प्रथमानुयोगसारोद्धार की होना बताया है पर उस नाम का कोई भी ग्रंथ आज अस्तित्व मे नही है।

कालसप्ततिका मे गाथांक ४१ के साथ यह गाथा उपलब्ध होती है, पर उस ग्रंथ की अवचूर्णी मे इस गाथा के सम्बन्ध मे एक शब्द तक नही लिखा गया है। इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि वस्तुतः यह गाथा कालसप्ततिका की नही अपितु प्रक्षिप्त है। जैसा कि कल्पकिरणावली मे कहा गया है :-

"इति गाथामनुसृत्य तीर्थोद्गारादिग्रन्थानुसारितया प्रदर्शित तीर्थोद्गारे च न दृश्यते इत्यपि विचारणीयम्। यद्यपि 'तेणउअनवसएहिं' इति गाथा कालसप्त-

[१] निशीथचूर्णि, उ० १०, भा० ३ पृ० १३१

शय्यातर ने कहा—"जब आप के आचार्य ने आप लोगो को भी नही बताया तो मुझे कैसे बताते। अपने आचार्य की इस प्रकार अप्रत्याशित अनुपस्थिति से चिन्तित होकर जब शिष्यो ने बार-बार अत्याग्रहपूर्वक पूछा तो शय्यातर ने कहा—"आगमो के अध्ययन मे आप लोगो की मन्द प्रवृत्ति को देखकर आचार्य को बडा निर्वेद हुआ है, अत. वे आर्य सागर के पास स्वर्णभूमि चले गये है।" यह कह कर शय्यातर ने अध्ययन के प्रति उपेक्षा के लिये उन शिष्यो को कटु शब्दो मे उपालम्भ दिया।

इससे लज्जित हो शिष्य भी उसी समय स्वर्णभूमि की ओर चल पडे। मार्ग मे लोग जब उनसे पूछते कि यह कौन आचार्य जा रहे है ? तो वे उत्तर देते—"आचार्य कालक।" इस प्रकार, यह सूचना बडी तीव्र गति से स्वर्णभूमि मे सर्वत्र फैल गई और लोगो ने सागर से कहा—"बहुश्रुत और बहुपरिवार वाले आचार्य कालक यहा पधार रहे है।"

यह सुनकर आचार्य सागर बडे प्रसन्न हुए और अपने शिष्यो से कहने लगे—"मेरे श्रद्धेय दादागुरू आ रहे है। उनसे मै कुछ ज्ञातव्य बाते पूछू गा।"

सागर अपने अनेक शिष्यो को साथ लेकर उस युग के महान् आचार्य अपने दादागुरू आर्य कालक की अगुआनी के लिये सम्मुख पहुचा। आगन्तुक शिष्य समूह ने उनसे पूछा—"क्या यहा आचार्य आये है।" उन्होने उत्तर दिया—"नही! एक अन्य खत तो आये हुए है।"

उपाश्रय मे पहुँच कर उज्जयिनी से आये हुए साधु-समूह ने जब भावविभोर हो निस्सीम श्रद्धा के साथ अपने आचार्य के चरणो मे वन्दन किया, तब आर्य सागर को ज्ञात हुआ कि ये खत ही उसके दादागुरू आचार्य आर्य कालक है। वह लज्जा से भूमि मे गड सा गया। वह पश्चात्ताप भरे स्वर मे बोला—"अहो! मैने बहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमण से वन्दन भी करवाया।" तदनन्तर आसातना की शुद्धि के लिये आर्य सागर ने अपराह्न मे 'मिथ्यादुष्कृत' किया और आचार्य के चरणो मे मस्तक झुकाते हुए विनम्र स्वर मे पूछा—"क्षमाश्रमण! मै कैसा अनुयोग करता हू ?"

आचार्य कालक ने कहा—"अच्छा है, पर कभी भूल कर भी गर्व मत करना।" आर्य कालक ने मुट्ठी मे धूलि ले उसे एक स्थान पर रखा। उसे पुन: उठा-उठा कर क्रमश तीन स्थानो पर रखा और सागर को बताया कि जिस प्रकार यह धूलि की राशि एक स्थान पर डालने के पश्चात् वहा से दूसरे, तीसरे आदि स्थानो पर रखने और उठाने से निरन्तर कम होती जाती है, इसी प्रकार अर्थ भी तीर्थकरो से गणधरो को, गणधरो से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्य-उपाध्यायो को परम्परा से प्राप्त हुआ है। इस तरह एक स्थान से दूसरे स्थान मे आते-आते इस अर्थ के कितने पर्याय निकल गये है, छूट गये है, विलीन हो गये है, इसकी

इस गाथा के अनुसार भी द्वितीय कालकाचार्य का अस्तित्व वी० नि० सं० ४५३ मे होना सुनिश्चित रूप से सिद्ध होता है।

कालकाचार्य (द्वितीय) स्वर्णभूमि में

अपनी आयु के अन्तिम चरण मे एक समय आचार्य कालक (द्वितीय) अपने सुविशाल शिष्य-परिवार के साथ उज्जयिनी में विचर रहे थे। वृद्धावस्था होते हुए भी वे अपने शिष्यसमूह को आगम-वाचना देने में सदा तत्पर रहते थे। उन्ही दिनो आर्य कालक के प्रशिष्य आर्य सागर जो कि सूत्रार्थ के अच्छे ज्ञाता थे – स्वर्णभूमि मे विचरण कर रहे थे।

अपने समीपस्थ शिष्यों मे आगमो के अध्ययन के प्रति यथेष्ट रुचि और तत्परता का अभाव देख कर आचार्य कालक एक दिन बडे खिन्न हुए। वे सोचने लगे – "ये मेरे शिष्य मनोयोग से अनुयोगश्रवण नही कर रहे है। ऐसी दशा मे इनके बीच ठहरने से क्या लाभ ? मुझे उसी स्थान पर रहना चाहिये जहां कि अनुयोगो की प्रवृत्ति अच्छी तरह से हो रही हो। सभव है, मेरे अन्यत्र चले जाने पर शिष्य भी लज्जित होकर अनुयोग ग्रहण करने के लिये उत्साहित हो जाय।"

ऐसा विचार कर आर्य कालक ने शय्यातर से कहा – "मै स्वर्णभूमि की ओर जा रहा हू। तुम मेरे शिष्यो को अनायास ही यह वात मत वताना। जब ये अत्यधिक आग्रह करे तो कह देना कि आचार्य स्वर्णभूमि मे सागर के पास गये है।"

इस प्रकार शय्यातर को अवगत कर रात्रि मे शिष्यो के जागृत होने से पहले ही कालकाचार्य स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थित हुए और स्वर्णभूमि मे पहुंच कर सागर के गच्छ मे प्रविष्ट हो गये। आर्य सागर ने भी – "यह कोई खत है" ऐसा समझ कर उपेक्षा से अभ्युत्थानादि नही किया।

अर्थ-पौरुषी के समय तत्वों का व्याख्यान करते हुए आचार्य सागर ने नवागन्तुक वृद्ध साधु (कालकाचार्य) से पूछा – "खन्त ! क्या तुम यह समझते हो ?"

आचार्य ने उत्तर दिया – "हाँ।"

सागर ने सगर्व स्वर मे – "तो फिर सुनो" – यह कह कर अनुयोग प्रारम्भ किया।

उधर उज्जयिनी मे रहे हुए शिष्यो ने जब आचार्य को नही देखा और सब ओर ढूंढने पर भी उन्हे नही पाया तो उन्होने शय्यातर से आचार्य के सम्बन्ध मे पूछा।

प्रमाणित कर दिया कि दृढ सकल्प वाले मनुष्य के लिये कोई भी कार्य असाध्य नही है ।

वृद्ध मुनि मुकुन्द की अप्रतिम विद्वत्ता के कारण कोई भी प्रतिवादी उनके समक्ष वाद मे खडा नही रह पाता था, इसलिये वृद्धवादी के नाम से उनकी चारो ओर प्रसिद्धि हो गई ।

सब प्रकार से योग्य समझ कर आर्य स्कन्दिल ने उन्हे आचार्य पद पर नियुक्त किया । एक समय विहारक्रम से घूमते हुए वृद्धवादी भृगुपुर की ओर जा रहे थे । उस समय सिद्धसेन नाम के एक विद्वान्, जो अपने प्रज्ञाबल-बुद्धिबल के समक्ष ससार के अन्य विद्वानो को तृणवत् समझ रहे थे, शास्त्रार्थ की इच्छा से देश-देशान्तर मे घूमते हुए भृगुपुर की ओर पहुँचे । वृद्धवादी की विद्वत्ता की यशोगाथाए सुन कर वे उनके पीछे चल पड़े । उस समय वृद्धवादी विहार मे थे । सिद्धसेन भी उनके पीछे-पीछे गये और मार्ग मे दोनो का मिलन हुआ । मिलते ही सिद्धसेन ने वृद्धवादी से कहा – "मै आपके साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ ।"

आचार्य वृद्धवादी ने कहा –"अच्छी बात है, पर यहा शास्त्रार्थ की मध्यस्थता करने वाला कोई विद्वान् सभ्य नही है । ऐसी दशा मे विना सभ्यो के वाद मे जय-पराजय का निर्णय कौन करेगा ?"

वाद की तीव्र उत्कण्ठा का शमन करने मे असमर्थ सिद्धसेन ने चरवाहो की ओर इगित करते हुए कहा – "ये गोपाल ही सभ्य वने ।"

वृद्धवादी ने सिद्धसेन का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया । गोपालको के समक्ष शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ । सिद्धसेन ने वाद की पहल की । उन्होने सभ्य गोपालो को सम्बोधित कर बडे लम्बे समय तक पदलालित्यपूर्ण संस्कृत भाषा मे बोलते हुए अपना पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया । पर सिद्धसेन की एक भी बात उन गोपो के समझ मे नही आई । जब सिद्धसेन अपना पूर्वपक्ष रखने के पश्चात् चुप हुए तो अवसरज्ञ वृद्धवादी ने दृढ कच्छा बाध कर सगीत की लय में बोलना प्रारम्भ किया, जिसका भावार्थ है – जो किसी जीव को नही मारता, चोरी नही करता, परदार-गमन का परित्याग करता और यथाशक्ति थोडा-थोडा दान करता है, वह धीरे-धीरे स्वर्गधाम प्राप्त कर लेता है ।[1]

वृद्धवादी की बात सुनकर गोप बडे प्रसन्न हुए और बोले – "ओ, हो ! बाबाजी महाराज ने कैसा श्रुतिसुखद, सुन्दर और सही मार्ग बतलाया है । ये सिद्धसेनजी तो क्या बोले, क्या नही बोले, यह भी ज्ञात नही हुआ । केवल जोर-जोर से बोल कर इन्होने हमारे कानो में टीस पैदा कर दी ।"

---

[1] न वि मारियइ न वि चोरियइ, परदारह गमणु निवारियइ ।
थोवा थोवा दाइयइ, सग्गि टुकु टुकु जाइयइ ।। [प्रबन्धकोश]

कल्पना तक करना कठिन है । अतः ज्ञान के सम्बन्ध में कदापि गर्व करना उचित नही ।"[1]

इस प्रकार आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य आर्य सागर को प्रतिबुद्ध किया ।

एक इस प्रकार की भी मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि इन्ही द्वितीय कालकाचार्य की परम्परा से षाडिल्य गच्छ निकला ।

आचार्य वृद्धवादी और सिद्धसेन

विक्रमीय प्रथम शताब्दी के आचार्यो मे वृद्धवादी का एक विशिष्ट स्थान है । आप सिद्धसेन के गुरू और बडे ही प्रतिभाशाली एवं दृढ संकल्पशील संत थे । गौड़ देश के कौशल ग्राम मे इनका जन्म हुआ । आपका जन्मनाम मुकुन्द था । विद्याधर वंश के आचार्य स्कन्दिलसूरि के उपदेश से विरक्त हो मुकुन्द ने उनके पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की । प्रौढ वय में दीक्षित होने पर भी वे ज्ञानाभ्यास के बडे रसिक थे । वे ज्ञान की पिपासा लिये दिन-रात बडी लगन के साथ विद्याभ्यास करते । उच्च स्वर से अभ्यास करते रहने के कारण अन्य साधुओं को विक्षेप होने लगा और उन्होने उन्हे प्रातःकाल जल्दी उठ कर पढने से मना किया । अन्य साधुओ द्वारा समय-समय पर उच्च स्वर से अभ्यास करने का निषेध किये जाने के उपरान्त भी ज्ञानप्राप्ति की तीव्र लगन के कारण उनसे नही रहा गया । एक दिन किसी साधु ने उन्हें कह दिया – "इतने उच्च स्वर से पढकर क्या तुम्हे मूसल के फूल लगाना है ?"

मुकुन्द मुनि के मन में यह बात चुभी और उन्होने गुरुकृपा से सरस्वती – मंत्र प्राप्त कर २१ दिन तक निरन्तर आचाम्ल व्रत के साथ उसकी साधना की ।[2] मंत्रसिद्धि के परिणामस्वरूप सरस्वती प्रसन्न होकर बोली – "सर्वविद्यासिद्धो भव ।"

इस प्रकार दैवी प्रभाव से कवीन्द्र होकर मुनि मुकुन्द गुरुचरणों में उपस्थित हुए और उच्च स्वर से सघ के समक्ष बोले – "जो मेरा यह कह कर उपहास करते है कि क्या वृद्धावस्था मे यह मूसल के फूल लगायेगा, वे सब देखे, आज मै वस्तुतः मूसल को पुष्पित किये देता हू ।"

यह कह कर मुकुन्द मुनि ने मैदान मे खड़े हो अपनी विद्या के बल से सब के देखते-देखते प्रासुक जल से सीचकर मूसल को पुष्पित कर दिया[3] और यह

---

[1] जहा एस धूली ठविज्जमाणी उक्खिप्पमाणी य सव्वत्थ परिसडइ, एव अत्थो वि तित्थगरेहिंतो गणहराण, गणहरेहिंतो जाव अम्ह आयरिय उवज्झायाण परपराएण आगय, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ? ता मा गव्व काहिसि ।

[बृहत्कल्प, सभाष्य, १ भा., पृ ७३–७४]

[2] मुहूर्तमिव तत्रास्थात्, दिनानामेकविंशतिम् ।
सत्वतुष्टा तत साक्षाद् भूत्वा देवी तमब्रवीत् ।। [प्रभावक च०, पृ० ५५]

[3] वही, पृ० ५५ श्लोक ३१

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की विद्वत्ता और उनके चमत्कारो के सम्बन्ध मे बहुत सी जनश्रुतिया प्रसिद्ध है। उनमे से एक मे कहा गया है कि चित्रकूट के मानस्तम्भ से सिद्धसेन ने मन्त्र-विद्या का एक पत्र प्राप्त किया, जिसमे कि दो विद्याए थी। प्रथम – हेमसिद्धि विद्या से यथेप्सित स्वर्ण तैयार किया जा सकता था और दूसरी "सर्सप-विद्या" से सरसो की तरह अगणित सैनिक उत्पन्न किये जा सकते थे। उपरोक्त दोनो विद्याए लेकर आचार्य सिद्धसेन कूर्मारपुर पहुचे और वहां के राजा देवपाल को अपने विद्याबल से विजयवर्मा के साथ युद्ध मे विजयी बनाया। कृतज्ञतावश राजा देवपाल सिद्धसेन का परम भक्त वन गया और उन्हे उच्चतम राजकीय सम्मान और 'दिवाकर' पद से सम्मानित कर प्रतिदिन वन्दन करने जाता। राजभक्ति से प्रभावित हो आचार्य सिद्धसेन भी पालकी मे बैठकर राजा को दर्शन देने जाया करते।

यह नियम है कि रागातिरेक से मानवमन सहज ही प्रभावित हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन भी इसके अपवाद नही रहे। राजा और पुरमान्य भक्तजनो की भक्ति से वे सयम-साधना मे कुछ शिथिल हो गये। खा-पीकर आराम करने और सोने मे उनका अधिकाश समय व्यतीत होने लगा। वे अपने श्रमण वर्ग को भी साधना की प्रेरणा नही दे पाते। प्रबन्धकोशकार ने लिखा है – "जहा गुरु निश्चित होकर सोये रहते हो, वहा शिष्यवर्ग पीछे क्यो रहेगा। उनके शिष्य भी खा-पीकर प्राय दिन-रात सोये रहते है और इस प्रकार शयन की स्पर्धा मे मुनियो द्वारा मोक्ष पीछे की ओर ठेल दिया जाता है।"[1]

धर्मस्थान मे शिथिलाचार के प्रवेश का चित्र खीचते हुए राजशेखरसूरि ने खेदपूर्वक कहा है –

"सदोष जलपान, फूल, फल और गृहस्थ के सावद्य कर्मो का यतनारहित होकर वहा सेवन किया जाता था। अधिक क्या कहा जाय, वहा साधु वेष की विडम्बना हो रही थी।"[2]

वृद्धवादी ने जब सिद्धसेन की कीर्ति के साथ-साथ उपरोक्त शिथिलाचार के समाचार सुने, तो उन्हे खेद हुआ और वे सिद्धसेन को प्रतिबोध देने हेतु योग्य साधुओ को गच्छ की व्यवस्था सम्हला कर स्वय एकाकी रूप से कूर्मारपुर की ओर चल पडे। वहा पहुच कर वे पालकी उठाने वालो मे सम्मिलित हो गये और सिद्धसेन को पालकी मे बिठा कर चलने लगे।

---

[1] सुअइ गुरु निच्चितो, सीसा वि सुवति तस्स अणुकमतो।
ओसाहिज्जइ मुक्खो, हुड्डाहुड्ड सुवतेहि ॥ [प्रबन्धकोश, ६।१२]

[2] दगपाण पुप्फफल, अणेसणिज्ज गिहत्थकज्जाइ।
अजया पडिसेवति, जइवेसविडबगा नवर ॥ [वही, १३]

वर्तमान काल मे भी शनै-शनै धर्मस्थानो मे बिजली की रोशनी, पखे तथा नल के पानी का उपयोग होने लगा है। मुनिराज गृहस्थो का कार्य बताकर इन कार्यो के लिए वस्तुत मौन स्वीकृति प्रदान कर रहे है। –सम्पादक

गोपो का यह निर्णय सुन कर सिद्धसेन ने अपनी पराजय स्वीकार की और कहा – "भगवन् ! आप मुझे दीक्षित कर अपना शिष्य बना ले, क्योकि सभ्यो ने आपकी विजय घोषित की है।"

आचार्य वृद्धवादी ने कहा – "सिद्धसेन ! भृगुपुर मे चल कर राजसभा मे हम दोनो का शास्त्रार्थ हो, गोपालमण्डल के समक्ष किये गये वाद का क्या महत्त्व है ?"

पर सिद्धसेन अपने वचन पर दृढ़ रहे और बोले – "महाराज ! आप कालज्ञ है। जो कालज्ञ होता है, वह सर्वज्ञ होता है अतः आप मुझे दीक्षित कीजिये। सिद्धसेन के दृढ निश्चय को देखकर आचार्य वृद्धवादी ने उन्हें दीक्षित कर लिया और दीक्षा के पश्चात् उनका नाम कुमुदचन्द्र रखा। कालान्तर मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किये जाने के पश्चात् कुमुदचन्द्र की आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के नाम से प्रसिद्धि हुई। अपने सुयोग्य शिष्य सिद्धसेन को आचार्य पद पर नियुक्त करने के पश्चात् वृद्धवादी अन्यत्र विचरण करने लगे और सिद्धसेन अवन्ती की ओर पधारे।

अवन्ती के सघ ने आचार्य का बड़ा स्वागत किया और "सर्वज्ञ-पुत्र" आदि विरुद से उनकी जय बोलते हुए उन्हें नगरप्रवेश करवाया। संयोगवश उस समय महाराज विक्रमादित्य गजारूढ होकर सामने की ओर आ रहे थे। "सर्वज्ञपुत्र" का विरुद सुनते ही उन्होने परीक्षा के लिये हाथी पर बैठे-बैठे ही मन से सिद्धसेन को नमस्कार किया। इस पर सिद्धसेन ने हाथ उठाकर विक्रमादित्य द्वारा किये गये मानसिक वन्दन का उत्तर दिया। राजा ने आचार्य से प्रश्न किया – "क्या आपका आशीर्वचन इतना सस्ता है कि वन्दन नही करने वाले व्यक्ति को बिना वन्दन किये ही वह दे दिया जाता है ?" उत्तर में आचार्य सिद्धसेन ने कहा – "राजन् ! तुमने तन से न सही पर मन से वन्दन किया है।"

इस पर प्रसन्न होकर महाराज विक्रमादित्य ने सर्वजन समक्ष हाथी से उतर कर उन्हे वन्दन किया और उनके चरणों पर कोटि मुद्राओं की भेट समर्पित की।[1]

धन-धान्य आदि परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी आचार्य ने विक्रमादित्य को समझाते हुए कहा – "राजन् ! कंचन-कामिनी को ग्रहण करना तो दूर, जैन मुनि इनका स्पर्श तक नही करते।"

राजा ने भी यह सोचकर कि यह राशि मुनि के निमित्त की जा चुकी है, उसे पुनः स्वीकार नही किया और इस प्रकार उस राशि का जनहित के शुभ कार्यो मे व्यय किया गया।

---

[1] (क) धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूरादुच्छ्रितपाणये।
सूरये सिद्धसेनाय, ददौ कोटिं नराधिप.।। [प्रबन्धकोश, प्रबन्ध ६]

(ख) तस्य दक्षतया तुष्ट प्रीतिदाने ददौ नृपः।
कोटिं हाटक टकानां, लेखक पत्रकेऽलिखत्।। [प्रभावक च., पृ ५६, श्लो० ६३]

बाल्यकाल से सस्कृत के अभ्यास के कारण सिद्धसेन को उनका यह कथन बुरा लगा। नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्य – इस प्रकार नमस्कार मत्र का उन्होने सस्कृत मे उच्चारण कर विद्वत्समाज को सुनाया और उपाश्रय मे आकर अपने गुरू के समक्ष नमस्कारमन्त्र का सस्कृत रूपान्तर सुनाते हुए जैन शास्त्रो को सस्कृत भाषा मे रचने का विचार प्रस्तुत किया।

इस पर सघ ने कहा – "सिद्धसेन ! आपने वाणी के दोष से पाप का उपार्जन कर लिया है। तीर्थकर भगवान् और गणधर सस्कृत से अनभिज्ञ नही थे। ऐसा करने से तीर्थकर-गणधरो की अवहेलना होती है। आपने अनादि शाश्वत नमस्कार मत्र का सस्कृत भाषा मे अनुवाद कर घोर अपराध किया है। आप इसकी शुद्धि के लिये दशवे पाराचिक प्रायश्चित्त के भागी होते है।

यह सुनकर सिद्धसेन ने सघ और गुरु की साक्षी से १२ वर्ष पर्यन्त मौन के साथ मुखवस्त्रिका रजोहरण रूप साधुवेश को गुप्त रख कर शासन की सेवा करने का पाराञ्चिक प्रायश्चित्त स्वीकार किया।[१] वे गुप्त रूप से शासन की सेवा के कार्य मे निरत हो गये और अनेक राजाओ को प्रतिबोध देते हुए सातवे वर्ष के पश्चात् उज्जैन पहुचे। कहा जाता है कि अवधूत वेष मे वे महाकालेश्वर के मन्दिर मे जा, शिवलिग की ओर पैर फैलाकर लेट गये। प्रभाचन्द्र और राजशेखर ने शिवलिग की ओर पैर करके लेटने का उल्लेख नही किया है।[२] प्रात काल जब पुजारियो ने उन्हे शिवलिग की ओर पैर किये देखा तो उन्होने सिद्धसेन को वहा से हट जाने के लिए बहुत कुछ कहा-सुना पर उनके सभी प्रयत्न निष्फल रहे। अन्त मे उन्होने राजा के पास पुकार की। राजा ने क्रुद्ध हो अपने सेवको को आदेश दिया कि वे तत्काल उस योगी को कोडे मार कर वहा से भगा दे। राजपुरुषो ने महाकालेश्वर के मन्दिर मे पहुँच कर उस योगी को बहुत कुछ समझाया, डराया, धमकाया और इस पर भी उसके न हटने पर उसे कोडो से मारना प्रारम्भ किया। सब लोग यह देखकर विस्मित हो गये कि योगी के शरीर पर एक भी कोडा नही लगा। यह देख राजपुरुष अवाक् रह गये। उन्होने राजा को सूचित् किया। इस अद्भुत घटना से आश्चर्यचकित हो राजा विक्रमादित्य स्वय तत्काल महाकाल के मन्दिर मे गये और योगी से कहने लगे – "महात्मन् ! आपको इस प्रकार शिवलिग की ओर पैर करके सोना शोभा नही देता। आपको तो विश्ववन्द्य शिव को प्रणाम करना चाहिये।"

योगी ने कहा – "राजन् ! आपका यह देव-शिवलिग मेरा नमस्कार सहन नही कर सकेगा।" राजा द्वारा बार-बार आग्रह किये जाने पर सिद्धसेन ने महादेव

---

१ (क) ततो विमृश्याभिदधेऽसौ – सघोऽवधारयतु, अहमाश्रितमौनो द्वादशवार्षिक पाराञ्चिक नाम प्रायश्चित्त गुप्तमुखवस्त्रिका–रजोहरणादिलिङ्ग प्रकटितावधूतरूपश्चरिष्याम्युपयुक्त। [प्रबन्धकोश, पृ० १८]

(ख) प्रभावक चरित्र पृ० ५८

२ यह घटना आर्य खपुट के जीवन परिचय मे दी गई घटना से मेल खाती है। – सम्पादक

सिद्धसेन ने डगमगाती चाल देख कर वृद्ध पालकीवाहक से पूछा –
"भूरिभारभराक्रान्त., बाधति स्कन्ध एष ते ?"

वृद्धवादी ने उत्तर में कहा –
"तथा न बाधते स्कन्ध', यथा बाधति बाधते ।"

परिचित स्वर मे उत्तर सुन कर सिद्धसेन चौक उठे और सोचने लगे –"मेरी भूल बताने वाला यह कौन ? ये कही मेरे गुरू वृद्धवादी तो नही है ?" उन्होने तत्काल पालकी से नीचे उतर कर देखा और वृद्धवादी को पहिचान कर लज्जित मन से क्षमायाचना की ।

प्रसगवश सिद्धसेन को साधना मे और अधिक स्थित करने के लिये वृद्धवादी ने निम्नलिखित गाथा पढ कर उनसे इसका अर्थ पूछा .–

अरणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ, मा रोवा मोडहिं ।
मणकुसुमेहि अच्चि निरजणु, हिडहि काइ वणेण वणु ।।१४।।

[प्रबन्धकोश]

बहुत कुछ सोचने पर भी सिद्धसेन इस श्लोक का यथार्थ भाव नही समझ सके । तब वृद्धवादी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा –

"अणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ" अर्थात् – सिद्धसेन ! योगरूपी वृक्ष के यश कीर्ति और प्रताप आदि जो फूल है, उन्हे केवलज्ञानरूपी फल के पाये बिना ही अविकसित दशा मे मत तोड ।

"मा रोवा मोडहि" – अर्थात् – महाव्रतों के रोपों (पौधों) को व्यर्थ ही मत मरोड़, मत रोंद ।

"मणकुसुमेहि अच्चि निरंजणु" – अर्थात् सद्भावरूपी मन के कुसुमो – फूलों से निरजन जिनेन्द्रदेव की पूजा कर । अथवा सिद्धि प्राप्त निरजन प्रभु की मनकुसुमो से पूजा कर ।[1]

"हिडहि काइ वणेण वणु" अर्थात् – व्यर्थ ही वन से वन भटकने की तरह राजरंजन आदि निरर्थक कार्य क्यों करता है ? कितनी सुन्दर शिक्षा है ?

वृद्धवादी की शिक्षा को सुन कर सिद्धसेन ने आलोचनापूर्वक शुद्धि की । वे संयम-साधना मे पूर्णरूपेण स्थिर हुए और राजा को पूछ कर वृद्धवादी के साथ कठोर साधना करते हुए विचरण करने लगे ।

जैनशास्त्रो की भाषा के प्रश्न को ले कर ब्राह्मण विद्वान् प्राय: कहा करते थे कि जैन परम्परा के आचार्य संस्कृत के ज्ञाता नही थे । अन्यथा शास्त्रों की रचना प्राकृत जैसी सरल भाषा मे नही की जाती । इतना ही नही इनका महामन्त्र भी साधारण जनो की भाषा – प्राकृत में बोला जाता है । जातिगत संस्कार और

[1] (क) प्रभावक चरित्र मे पालकी उठाने का उल्लेख नही है ।
(ख) मा कुसुमैरर्चय निरजन वीतरागम् ।

[प्रभावक चरित्र]

आवश्यक चूर्णि, निशीथचूर्णि आदि मे इन्हे विद्यासिद्ध एव विद्या-चक्रवर्ती जैसे विशेषणो से अभिहित किया गया है।[1] इससे यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित होता है कि वे अतिशय विद्याओ के विशिष्ट ज्ञाता थे।

इनके जीवन से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट घटनाओ का परिचय इस प्रकार है –

एक बार आर्य खपुट भृगुकच्छपुर पधारे। वहा उनका भगिनीपुत्र भुवन आपके उपदेशो से प्रभावित होकर आपके शिष्यरूप से श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गया। बुद्धिशाली समझ कर आर्य खपुट ने भुवन मुनि को कतिपय विद्याए सिखाई। सयोगवश भृगुपुर मे बौद्ध भिक्षुओ ने राजा बलमित्र के सम्मान से गर्वित होकर जैन श्रमणो के उपाश्रय मे घास की पूलिया गिराकर उन्हे पशुतुल्य बताते हुए द्वेष प्रकट करना प्रारम्भ किया। इससे भुवन मुनि बडा क्रुद्ध हुआ और श्रावक समुदाय को लेकर राजा बलमित्र की सभा मे पहुचा। वहा उसने उच्च स्वर मे कहा – "हे राजन्! तुम्हारे गुरु गेहेनर्दी बन कर जैन श्रमणो की निन्दा करते है। हम उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आ गये है। तुम उनको एक बार बुला कर मेरे साथ शास्त्रार्थ करवा दो। जिससे लोग भी वास्तविकता को जान सके।" मुनि के आह्वान पर राजा ने बौद्धभिक्षुओ को बुलाया और मुनि भुवन के साथ शास्त्रार्थ करवाया। बौद्ध भिक्षु भुवन की अकाट्य युक्तियो के समक्ष चर्चा मे परास्त हो गये। भुवन मुनि की विजय से जैन-सघ मे हर्ष की लहर फैल गई पर बौद्ध सघ को इस अपमान से गहरा दु ख हुआ। उन्होने गुडशस्त्रपुर से बौद्धाचार्य वुड्ढकर को बुलाया और भुवन मुनि को उसके साथ शास्त्रार्थ के लिए कहा गया। भुवन मुनि ने विद्याबल एवं तर्क-बल से उसे भी पराजित कर दिया। इस अपमान से दु खित होकर वृद्धकर कुछ ही दिनो पश्चात् काल कर गुडशस्त्रपुर मे यक्ष के रूप से उत्पन्न हुआ। पूर्व-जन्म के वैर के कारण वह जैन संघ और श्रमणो को डराने एव विविध यातनाए पहुचा कर सताने लगा। सघ ने आर्य खपुट को वहा की परिस्थिति से परिचित कर गुडशस्त्रपुर पधारने की प्रार्थना की।

आर्य खपुट गच्छ के अन्य साधुओ के साथ भुवन मुनि को वही भृगुपुर मे रख कर स्वय गुडशस्त्रपुर पधारे। जाते समय आर्य खपुट ने एक कर्पादि (जन्त्री-पट्ट) भुवन मुनि को देकर उसे सावधानी से रखने एव कभी न खोलने का आदेश दिया। गुडशस्त्रपुर पहुच कर आर्य खपुट ने यक्ष को अपने प्रभाव से अपना भक्त बना लिया और राजा सहित समस्त नागरिकजनो को भी प्रभावित किया।

---

[1] (क) विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोव्व ॥

[आवश्यक मलय, पृ ५४१]

(ख) जो विज्जाबलेण जुत्तो जहा अज्ज खउडो।

[निशीथचूर्णि, भा०३, पृ० ५८]

के सच्चे स्वरूप की स्तुति प्रारम्भ की। कतिपय कथा ग्रन्थो मे वताया गया है कि सिद्धसेन स्तुति के कुछ ही श्लोको का उच्चारण कर पाये थे कि अद्भुत तेज के साथ वहा भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हो गई।

राजा विक्रमादित्य अचिन्त्य आत्मशक्ति के अनेक चमत्कारो को देख कर सिद्धसेन के परम भक्त वन गये। इस प्रकार सिद्धसेन ने ७ वर्षो में १८ राजाओ को प्रतिवोध देकर जैन बनाया। कहा जाता है कि प्रायश्चित्तकाल के ५ वर्ष अवशिष्ट रह जाने पर भी श्रीसघ ने सिद्धसेन के महाप्रभावक कार्यो से प्रसन्न हो कर उनके प्रायश्चित के शेष काल को क्षमा कर दिया। महाराज विक्रमादित्य और उनके धर्मकृत्यो पर आचार्य सिद्धसेन का गहरा प्रभाव माना जाता है। सिद्धसेन के प्रभाव से ही महाराज विक्रमादित्य ने जैनधर्मानुयायी बन कर अनेक परोपकार के कार्य किये थे। जैन साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों मे आज भी विक्रमादित्य के गुण-गौरव का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

आचार्य सिद्धसेन उद्भट विद्वान्, महाप्रभावक मधुर वक्ता, कुशल संघ-संचालक एवं उच्च कोटि के साहित्यकार थे। उनकी चतुर्मुखी प्रतिभा को प्रमाणित करने वाला उनका विशाल साहित्य आज भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। आप न्यायावतार, सन्मतितर्क, बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं, नयावतार, कल्याणमन्दिर स्तोत्र, और आचाराग पर गन्धहस्ती के विवरण की टीका आदि प्रमुख ग्रन्थों के रचनाकार माने गये है।

सिद्धसेन दिवाकर का काल विक्रम की पहली शती माना जाता है। कुछ विद्वानों ने आपका काल विक्रम की चौथी-पाचवी शताब्दी माना है। प्रभावक चरित्र, प्रवन्धकोश आदि के उल्लेखों से आपका काल विक्रम की पहली शताब्दी ही प्रमाणित होता है। आपके पिता का नाम देवर्षि और माता का नाम देवश्री था। आप जाति से कात्यायन ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि दीक्षित होने से पहले वे पाण्डित्य के अभिमान मे पेट पर लोहे का पट्टा, एक हाथ मे कुदाली और दूसरे हाथ में निसैनी रख कर चला करते थे।

घटनाचक्र के चित्रण पर निष्पक्षरूप से विचार करने पर प्रतीत होता है कि ग्रथकारो द्वारा अनेक स्थलों पर साहित्यिक अलंकार के रूप मे अतिरंजन के साथ भी कतिपय घटनाओ का उल्लेख किया गया है।

आर्य खपुट

द्वितीय कालकाचार्य के पश्चात् प्रभावक आचार्यो मे आर्य खपुट विशेप प्रभावशाली माने गये है। इनके जन्म, जन्मस्थान, माता-पिता आदि के सम्वन्ध में परिचय उपलब्ध नही होता। इनके जीवन की कतिपय प्रभावोत्पादक घटनाओ का उल्लेख जैन साहित्य मे दृष्टिगोचर होता है। आर्य खपुट का युग सम्भवत. विशिष्ट विद्याओ का युग रहा है।

एवं मेरुतुगाचार्य विरचित विचारश्रेणी मे युगप्रधानाचार्यो के गृहस्थपर्याय, सामान्य यतिपर्याय, युगप्रधानपर्याय और पूर्ण आयु का विवरण प्रस्तुत करने वाली ९ गाथाओ के अनुसार रेवतीमित्र १४ वर्ष की आयु में दीक्षित हुए। ४८ वर्ष तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सम्यक्रूपेण उपासना करते हुए उन्होने सामान्य साधुरूप से श्रमणधर्म की परिपालना की। वीर नि० स० ४१४ मे आर्य स्कदिल (षाडिल्य के स्वर्ग-गमन के पश्चात् आप युगप्रधान पद पर आसीन हुए। तदनन्तर आपने ३६ वर्ष, ५ मास और ५ दिन तक युगप्रधान पद पर रहते हुए जिन-शासन की उल्लेखनीय सेवाए की। वीर नि० सं० ४५० में ९८ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने स्वर्गारोहण किया।

गणाचार्य – ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य समुद्र के समय मे आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य दिन्न ही रहे।

आर्य समुद्र के समय के राजवंश

आर्य समुद्र के वाचनाचार्य काल मे पाटलिपुत्र मे शुंगो, उज्जयिनी मे नभोवाहन तथा नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल तथा प्रतिष्ठानपुर मे सातवाहन राजवस के सस्थापक शिशुक का राज्य रहा। इस समय मे अधिकाशत· यज्ञ यागादि कर्मकाण्ड एव वैदिक सस्कृति का भारत मे व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

१६. आर्य मंगू-वाचनाचार्य

आचार्य समुद्र, जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, वे रसो मे इतने अनासक्त थे कि सरस-नीरस जो भी आहार भिक्षा मे प्राप्त होता, उसको बिना स्वाद की अपेक्षा किये एक साथ मिला कर प्रशान्त भाव से सेवन कर लिया करते थे। उन्हे सदा यह विचार रहता था कि रसो मे आसक्ति के कारण कही आतमा कर्मपाश मे आबद्ध हो भारी न बन जाय।[1]

इनके इस प्रकार स्वाद-विजय और लाभ के प्रति अनासक्ति के कारण आचार्य देवर्द्धि ने 'अक्खुब्भिय समुद्दगभीर' इस पद से आपकी स्तुति की है। आर्य मगू इन्ही आर्य समुद्र के शिष्य थे।

आचार्य समुद्र के स्वर्गगमन के पश्चात् उनके शिष्य आर्य मगू वीर नि० स० ४५४ मे वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आप बडे ज्ञानी, ध्यानी और सम्यग्दर्शन के प्रबल प्रचारक थे। आचार्य देववाचक ने नन्दी की स्थविरावली मे आपके लिए 'भणग करग झरग' इन तीन विशेषणो का एक साथ प्रयोग करते हुए अभिव्यक्त किया है कि आप भक्तिपूर्वक सेवा करने वाले शिष्यो को कुशलता के साथ सूत्रार्थ प्रदान करते और सद्धर्म की देशना द्वारा सहस्रो भव्य जनो को प्रतिबोध देकर जिनशासन की महत्वपूर्ण सेवा करते थे।

निशीथ भाष्य और चूर्णि के अनुसार आर्य मगू बहुश्रुत और बहुशिष्य परिवार वाले होने पर भी उद्यतविहारी थे। एक समय विहारक्रम से विचरण

---

[1] पडिपक्खे अज्ज समुद्दा, ते रसगिद्धीए भीता एक्कतो सव्व मेलेउ भुंजति। [निशीथ चूर्णि]

आर्य खपुट गुडशस्त्रपुर मे ही विराजित थे कि उनके पास भृगुपुर से दो साधु आये और उन्होने निवेदन किया – "भगवन् ! आपके इधर चले आने पर भुवन मुनि ने आपकी सम्हलाई हुई गोपनीय कपर्दी को खोल कर उसमें से एक पत्र प्राप्त किया, जिसमें उसे पाठ मात्र से सिद्ध होने वाली आकर्षिणी विद्या प्राप्त हो गई है। वह उस विद्या के प्रभाव से प्रतिदिन उत्तमोत्तम भोजन मगवा कर खाने लगा। इस पर स्थविरो ने जब उसे ऐसा करने से मना किया तो वह क्रुद्ध होकर सौगतो के विहार मे चला गया है। विद्या के प्रभाव से पात्र आकाशमार्ग से जाते और भोज्य पदार्थो से भरे लौटते है। इस प्रकार के प्रभाव को देख कर श्रावक भी भुवन मुनि की ओर आकर्षित होने लगे है। ऐसी स्थिति में आपको वहा पधार कर संघ को आश्वस्त करना चाहिये।"

मुनि युगल की बात सुन कर आर्य खपुट कुछ विचारमग्न हुए और गुडशस्त्रपुर से भृगुकच्छपुर की ओर चल पड़े। भृगुकच्छपुर पहुंच कर आर्य खपुट कही गुप्त रूप से ठहरे और भुवन मुनि द्वारा आकर्षिणी विद्या से मंगवाये गए अन्नपूर्ण पात्रों को आकाशमार्ग में ही शिला द्वारा फोड कर गिराने लगे। पात्रों से मिष्टान्न आदि भोजन लोगों के सिर पर गिरने लगा। अपने श्रम को विफल होता देखकर भुवन मुनि को यह समझने में देरी नही लगी कि आर्य खपुट वहां पधार चुके है। भयभीत होकर वह भृगुपुर से भाग निकला। आर्य खपुट मुनिमण्डल सहित बौद्ध-विहार मे पहुंचे और अपनी विद्या के प्रभाव से सबको प्रभावित कर उन्होने अन्य क्षेत्र की ओर विहार किया। [आवश्यक चूर्णि के आधार पर]

विशिष्ट विद्याओं के माध्यम से चमत्कार-प्रदर्शन के उस युग में आर्य खपुट ने जिन शासन की सेवाएं कीं। तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार आर्य खपुटाचार्य का समय वीर नि० सं० ४५३ और प्रभावक चरित्र में वीर नि० सं० ४८४ बताया गया है।[1] इन दोनों उल्लेखों को एक-दूसरे का पूरक, अर्थात् वीर नि० स० ४५३ में उनके आचार्य काल का प्रारम्भ और वीर नि० सं० ४८४ में अवसान मान लिया जाय तो उपरोक्त दोनों ग्रन्थकारों के उल्लेख संगत और आर्य खपुट के आचार्य काल के निर्णायक बन सकते है।

९ रेवतीमित्र (युगप्रधानाचार्य)

वाले शिष्य ने कहा – "देवानुप्रिय ! तुम देव, यक्ष अथवा जो भी हो प्रकट होकर वोलो । इस प्रकार तो हम लोग तुम्हारा अभिप्राय किंचित्मात्र भी नही समझ पा रहे है ।"[1]

यक्ष ने खेदपूर्ण स्वर मे कहा – "हे तपस्वियो ! मै वही तुम्हारा गुरु आर्य मगू हूँ ।"

साधुओ ने भी खिन्न मन से कहा – "देव ! आपने इस प्रकार की दुर्गति किस प्रकार प्राप्त की ?"

यक्ष ने कहा – "प्रमाद के अधीन होकर चारित्र मे शिथिलता लाने वालो की ऐसी ही गति होती है । हमारे जैसे ऋद्धि-रस-साता के गौरव वाले शिथिल-विहारियो की ऐसी गति हो, इसमे आश्चर्य ही क्या है ? तुम लोग यदि दुर्गति से वचना और सुगति की ओर बढना चाहते हो तो प्रमादरहित होकर उद्यत-विहार से विचरते हुए निर्ममत्व भाव से तप-सयम की आराधना करते रहना ।"

साधुओ ने कहा – "ओ देवानुप्रिय ! तुमने हमे ठीक प्रतिवुद्ध किया है ।" यह कह कर उन्होने तत्परता के साथ सयम-धर्म का आराधन प्रारम्भ किया और उद्यत-विहार से विचरने लगे ।

नदीसूत्र की स्थविरावली मे आचार्य देववाचक ने, भरणग इस पद से कालिक आदि सूत्रो को पढने वाले करग से सूत्रोक्त क्रियाकलाप को करने वाले और झरग पद से धर्मध्यान ध्याने वाले आदि विशेषणो से आर्य मगू की स्तुति करते हुए उन्हे श्रुतसागर का पारगामी आचार्य बताया है । उनके द्वारा कहे गये – "पभावग नाणदसणगुणाण" – इस पद से ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य मगू ज्ञान दर्शन के प्रवल प्रभावक थे । आगे चल कर आचार्य देववाचक ने यहा तक लिख दिया है – "श्रुतसागर के पारगामी एव धीर आर्य मगू को वदन हो ।"[2]

दिगम्बर परम्परा के मान्य शास्त्र "कसाय-पाहुड" की टीका जयधवला के अनुसार आर्य मक्षु और आर्य नागहस्ती कसायपाहुड के चूर्णिकार आचार्य यतिवृषभ के विद्यागुरू माने गये है । जैसा कि जयधवलाकार ने लिखा है – आचार्य मक्षु और आचार्य नागहस्ती द्वारा आचार्य यतिवृषभ को दिव्यध्वनिरूप किरण प्राप्त हुई ।[3]

---

[1] दृष्ट्वा प्रासारयद्दीर्घा, जिह्वा वोधयितु सुधी ।
तेष्वेक सात्विक साधुरूचे त्व कोऽसि गुह्यक ।।५।। [आचारकल्प]

[2] भरणग करग झरग, पभावग णाणदसणगुणाण ।
वदामि अज्जमगु, सुयसागरपारग धीर ।।३०।। [नदीसूत्र स्थविरावली]

[3] विउलगिरिमत्थयत्थ वड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम – लोहज्ज – जबुसामि-यादि आइरियपरम्पराए आगतूण गुणहराइरिय पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमखु – णागहत्थीहितो जइवसहायरियमुवणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणि–किरणादो णव्वदे ।
– [कसायपाहुड (यदिवृपभाचार्यकृत चूर्णि एव जयधवलाटीका सहित) अणुभागविभक्ती भाग ५, पृ० ३८८]

करते हुए आचार्य मंगू मथुरा पधारे और अपने मृदु, मनोहर एव वैराग्यपूर्ण वचनों से मथुरा के नागरिको को उपदेश से प्रतिबुद्ध करने लगे। आचार्य के ज्ञान, वैराग्यपूर्ण प्रवचन के प्रभाव से प्रभावित हो मथुरा के श्रद्धालु भक्तों ने वस्त्रादि से उनकी बडी भक्ति की। दूध, दही, घृत, गुड आदि स्वादिष्ट पदार्थो से वे उन्हे प्रतिदिन प्रतिलाभित करते। आचार्य का मोह भाव जागृत हुआ और उन्होने साता- सुख मे प्रतिबद्ध होकर वही स्थिरवास कर दिया। साथ के शेष मुनि वहा से विहार कर गये।

निमित्तो का भी बड़ा प्रभाव होता है। उपादान अर्थात् आत्मसामर्थ्य में किञ्चित्मात्र दुर्बलता आते ही निमित्त को अपना प्रभाव जमाने में देरी नही लगती।

स्थिरवास में रहने के कारण आचार्य के तप, सयम, साधना मे शिथिलता आ गई। उनका चारित्राराधन मन्द हो गया और ऋद्धि, रस, साता-गौरव का प्राबल्य बढ गया। भक्तजनो द्वारा दिये गए सुस्वादु आहार और प्रेमपूर्ण सेवा से वे उग्रविहार को छोड़ कर वही पर प्रमादभाव मे रहने लगे। अन्तिम समय में अपने सदोष आचरण की बिना आलोचना किये और बिना प्रमाद त्यागे आयु पूर्ण कर वे चारित्र धर्म की विराधना के कारण यक्ष योनि मे उत्पन्न हुए।[1]

ज्ञान के द्वारा जब अपने पूर्व भव का परिचय प्राप्त किया तो वे पश्चात्ताप करने लगे – "अहो ! मैने दुर्बुद्धि के कारण पूर्ण पुण्य से पाने योग्य महानिधान की तरह दुर्गतिहारी जिनमत पाकर भी अपना जीवन विफल कर दिया। ठीक ही कहा है – "चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता भी प्रमाद के कारण अनन्तकाय में जाकर उत्पन्न होते है।"[2] इस प्रकार परमनिर्वेद भाव से वे अपने पूर्वकृत प्रमाद की निन्दा करते रहे।

एकदा उन्होने स्थडिल भूमि की ओर जाते हुए अपने पूर्वभव के शिष्यों को देखा तो उन्हे प्रतिबोध देने हेतु वे अपना विचित्र स्वरूप बना कर मुंह से लम्बी जिह्वा निकाल मार्ग मे खड़े हो गये। यक्ष को देख कर एक सात्विक भावना

---

[1] (क) मथुरा मगू आगम, बहुसुय वेरग्ग सड्ढपूया य।
सातादि-लोभ-णितिए, मरणे जीहाइ णिद्धमणे ।।३२००।।
सोवि अणालोइय पडिक्कतो विराहिय सामण्णो वंतरो णिद्धमण जक्खो जातो।
[निशीथ चूर्णि, भा० ३, पृ० १५२–१५३]

(ख) काल काऊण भवणवासी उववण्णो, साहू पडिबोहणट्ठा आगओ।
[वही, भा० २, पृ० १२५]

(ग) सो गाढपमायपिसाय – गहियहिययो, विमुक्क तवचरणे।
गारवतिग-पडिवद्धो, सड्ढेसु ममत्त सजुत्तो ।।३
दढसिढिलयसामन्नो, निस्सामन्नं पमायमचइत्ता।
कालेण मरिय जाओ, जक्खो तत्थेव निद्धमणे ।।४।। [दर्शनशुद्धि सटीक]

[2] चउदसपुव्वधरावि, पमायओ जंतिनतकायेसु।
एयपि ह हा हा पाव, जीवनतए तया सरियं ।।१०।। [आर्य मगू कथा]

आर्य सिंहगिरि – गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा मे आर्य दिन्न के पश्चात् आर्य सिहगिरि गणाचार्य हुए । आपके सम्बन्ध मे केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि आप विशिष्ट प्रतिभाशाली एव जातिस्मरण ज्ञान सम्पन्न प्रभावशाली आचार्य थे । खुशाल पट्टावली के अनुसार वीर नि सं० ५४७–४८ मे अपना स्वर्गवास हुआ । वीर नि स ४९६ मे आर्य वज्र का जन्म हुआ, उससे बहुत पहले आर्य समित सिहगिरि के पास दीक्षित हो चुके थे इससे अनुमान किया जाता है कि आर्य सिहगिरि वीर नि स ४९० मे आचार्य रहे हों । आपके सुविशाल शिष्यपरिवार मे से केवल आर्य समित, आर्य धनगिरि, आर्य वज्र और आर्य अर्हद्दत्त इन चार प्रमुख शिष्यो के ही नाम उपलब्ध होते है । उनका परिचय इस प्रकार है –

आर्य समित

आर्य समित का जन्म अतिसमृद्ध अवन्ती प्रदेश के तुम्बवन नामक ग्राम मे हुआ । आपके पिता का नाम धनपाल था जो कि बहुत बडे व्यापारी थे । गौतम गोत्रीय वैश्य श्रेष्ठी धनपाल की उस समय के प्रमुख कोटयधीशो मे गणना की जाती थी । आर्य समित के अतिरिक्त श्रेष्ठी धनपाल के एक पुत्री भी थी, जिसका नाम सुनन्दा था ।

श्रेष्ठी धनपाल ने अपने होनहार पुत्र समित की शिक्षायोग्य वय मे शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की । आर्य समित बाल्यकाल से ही विरक्त की तरह रहते थे । ऐहिक सुखोपभोगो के प्रति उनके चित्त मे किञ्चित्मात्र भी अभिरुचि नही थी ।

किशोरावस्था मे प्रवेश करते ही उन्होने अतुल धन-वैभव और सभी प्रकार की प्रचुर भोगसामग्री का परित्याग कर आचार्य सिहगिरि के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली ।

उसी तुम्बवन ग्राम के निवासी श्रेष्ठी धन के पुत्र धनगिरि की समित के साथ प्रगाढ मैत्री थी । श्रेष्ठी धनपाल ने अपने पुत्र समित के प्रव्रजित हो जाने पर उसके मित्र धनगिरि के समक्ष अपनी पुत्री सुनन्दा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा । यद्यपि धनगिरि ऐहिक भोगो के प्रति उदासीन था, तथापि अपने मित्र के पिता द्वारा अनन्य आग्रह किये जाने पर उसने अन्ततोगत्वा सुनन्दा के साथ विवाह किया । आर्य समित की बहिन सुनन्दा ने समय पर महान् प्रतापी एव प्रभावक आचार्य वज्र को जन्म दिया ।

आर्य समित ने दीक्षित होने के पश्चात् गुरुसेवा मे रहते हुए विधिपूर्वक शास्त्रो का बडी ही लगन के साथ अध्ययन किया । वे मन्त्रविद्या के भी विशेषज्ञ थे । उन दिनो अचलपुर के समीप कृष्णा और वेणा नामक दो नदियो से घिरे हुए एक आश्रम मे ५०० तापस निवास करते थे । उनके कुलपति का नाम देवशर्म

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि नन्दी स्थविरावली की ३१ वीं तथा ३२ वी गाथाओ मे वाचक परम्परा के आर्य मंगू के पश्चात् आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र और आर्य रक्षित – इन चार युगप्रधान आचार्यो को वाचनाचार्य भी बताया गया है। चूर्णिकार जिनदासगरिण महत्तर, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र और टीकाकार मलयगिरि ने इन दोनो गाथाओं का नदीसूत्र की चूर्णि, वृत्ति और टीका में निर्देश तक नही किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने इन गाथाओ को प्रक्षिप्त माना है।

इन चार युगप्रधान आचार्यो मे से आर्य वज्र स्पष्ट रूप से आर्य सुहस्ती की परम्परा के आचार्य है। शेष तीन आचार्य आर्य महागिरि की परम्परा के आचार्य है अथवा सुहस्ती की परम्परा के – इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये तीनो युगप्रधानाचार्य किसी अन्य ही स्वतन्त्र परम्परा के अथवा आर्य महागिरि की परम्परा की किसी शाखा के आचार्य हो और इनकी अप्रतिम प्रतिभा के कारण इन्हे वाचनाचार्य माना हो। अनेक प्राचीन ग्रन्थो के उल्लेखों तथा युगप्रधानाचार्य पट्टावली से यह निर्विवाद रूपेण प्रमाणित होता है कि ये चारों ही आचार्य अपने समय के महान् प्रभावक युगपुरुष और आगमो के पारदृश्वा थे। इनकी विशिष्ट प्रतिभा के कारण ही इन्हे युगप्रधान आचार्य के साथ-साथ वाचनाचार्य भी माना गया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य मंगू, आर्य नन्दिल और आर्य नागहस्ती ये तीनों ही वाचनाचार्य सुदीर्घजीवी हुए है और उनके वाचनाचार्य काल मे ही उपरोक्त चारों युगप्रधानाचार्य वाचक वश के न होते हुए भी अपनी विशिष्ट प्रतिभा एवं तलस्पर्शी आगम-ज्ञान के कारण वाचनाचार्य माने गये है।

इन सभी तथ्यो और मुख्य परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए इन चारों आचार्यो का परिचय वाचनाचार्य परम्परा मे न देकर युगप्रधानाचार्य परम्परा में दिया जा रहा है।

आर्य धर्म – युगप्रधानाचार्य

आर्य रेवतीमित्र के पश्चात् वीर विर्वाण सं० ४५० में आर्य धर्म युगप्रधानाचार्य हुए। आप १८ वर्ष की वय मे दीक्षित हुए। ४० वर्ष तक श्रमण धर्म की साधना कर आप युगप्रधान पद पर आसीन हुए। ४४ वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहते हुए आपने वीरशासन की प्रभावशाली सेवा की। १०२ वर्ष, ५ मास, ५ दिन की पूर्ण आयु भोग कर आप वीर नि०सं० ४९४ मे स्वर्गस्थ हुए। मेरुतुगीया 'विचारश्रेणी' के उल्लेखानुसार वृद्ध परम्परा मे आर्य मंगू का ही अपर नाम धर्म माना गया है। यदि इसमे तथ्य होता तो नंदी स्थविरावली और जयधवला में भी अवश्य इस प्रकार का उल्लेख होता।

वेणा के तट पर पहुचते ही कुलपति के साथ-साथ समस्त तापससमुदाय झिझका। उनके समक्ष अति विकट समस्या उपस्थित थी। एक ओर नदी मे डूबने का डर था तो दूसरी ओर बडी कठिनाई से उपार्जित कीर्ति के मिट्टी मे मिलने का भय। लेप का थोडा-बहुत प्रभाव तो अवश्य रहा होगा – यह विचार कर कुलपति वेणा के जल मे उतरा। वेणा का प्रवाह तेज था और कुलपति के पैरो का लेप गरम पानी से पहले ही धुल चुका था। अत· तापसो का कुलपति वेणा के अगाध एव तीव्र प्रवाहपूर्ण जल मे डूबने लगा।

उसी क्षण आर्य समितसूरि वेणा-तट पर पहुंचे और तापसो के कुलपति को वेणा मे डूबता हुआ देखकर बोले – "वेण्णे! हमे उस ओर जाने के लिए मार्ग चाहिये।" यह देख कर विशाल जनसमूह स्तब्ध रह गया कि तत्क्षण नदी का जल सिकुड गया और उस नदी के दोनो पाट पास-पास दृष्टिगोचर होने लगे। आर्य समित एक डग मे ही वेणा के दूसरे तट पर पहुच गये। आर्य समितसूरि की अनुपम आत्मशक्ति से सभी तापस और उपस्थित नर-नारी बडे प्रभावित हुए। आर्य समित ने उन सबको धर्म का सच्चा स्वरूप समझाते हुए स्व-पर का कल्याण करने के लिए प्रेरित किया। आर्य समित के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेश को सुनकर तापस कुलपति अपने ४९९ शिष्यो सहित निर्ग्रन्थ-श्रमण-धर्म मे दीक्षित हो गये। वे ५०० श्रमण पहले ब्रह्मद्वीप आश्रम मे रहते थे अत श्रमण धर्म मे दीक्षित होने के पश्चात् उनकी शाखा "ब्रह्मद्वीपिका शाखा" के नाम से लोक मे प्रसिद्ध हो गई।[1]

आर्य समित अपने समय के महान् प्रभावक आचार्य थे। उन्होने आत्म-कल्याण के साथ-साथ अनेक भव्यो को साधना-पथ पर आरूढ कर जिनशासन की अनुपम सेवाएं की।

आर्य धनगिरि

आर्य सिहगिरि के दूसरे प्रमुख शिष्य आर्य धनगिरि ने युवास्था मे विपुल वैभव और अपनी पतिपरायणा गुर्विणी पत्नी के मोह को छोड कर जो उत्कट त्याग-वैराग्य का अनुपम उदाहरण रखा उस प्रकार का अन्यत्र कही दृष्टिगोचर नही होता। आपका परिचय आर्य वज्र के परिचय के साथ दिया जा रहा है।

आर्य अर्हद्दत्त

आपका कोई परिचय उपलब्ध नही होता।

आर्य मंगू के समय के प्रमुख राजवंश

आर्य मगू के वाचनाचार्यकाल मे, वीर नि० स० ४७० मे तदनुसार ईसा से ५७ वर्ष पूर्व तथा शक सवत् से १३५ वर्ष पूर्व अवन्ती के राज्य-सिहासन पर

---

[1] ते य पचतावससया समियायरियस्स समीवे पव्वतिता। ततो य बभदीवा साहा सभुत्ता।
[निशीथचूर्णि, भा० ३, गा० ४२७२, पृ० ४२६]

था ।[1] दो नदियों से घिरा हुआ होने के कारण वह आश्रम ब्रह्मद्वीपक के नाम से प्रसिद्ध था । संक्रान्ति आदि कतिपय पर्व दिनों के अवसर पर देवशर्म अपने मत की प्रभावना करने के उद्देश्य से पैरों पर एक विशिष्ट प्रकार का लेप लगाकर सभी तापसों के साथ कृष्णा नदी के जल पर चलता हुआ अचलपुर पहुचता । इस प्रकार का चमत्कारपूर्ण अद्भुत दृश्य देख कर भोले-भाले और भावुक लोग बड़े प्रभावित होते और अशनपानादि से उन तापसो का बड़ा आदर-सत्कार करते । तापसों के भक्तगण बड़े गर्व के साथ श्रावको के समक्ष अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए उनसे पूछते – "क्या तुम्हारे किसी गुरु में इस प्रकार की अद्भुत सामर्थ्य है ?" श्रावको को मौन देखकर वे लोग और अधिक उत्साह और गर्व भरे स्वर मे कहते – "हमारे गुरु की तपस्या का जैसा अद्भुत एवं प्रत्यक्ष चमत्कार है, उस प्रकार का चमत्कार और अतिशय न तुम्हारे धर्म में है और न तुम्हारे गुरुओं मे ही । वस्तुतः हमारे गुरु प्रत्यक्ष देव है, इन्हे नतमस्तक हो श्रद्धापूर्वक नमन करो ।"

तापसो के भक्तों के इस प्रकार के व्यंगभरे वचनों से श्रावकों के अन्तर्मन को गहरा आघात पहुंचता । उन्ही दिनो आर्य सिहगिरि के शिष्य एवं आर्य वज्र के मातुल आर्य समितसूरि का अचलपुर मे पदार्पण हुआ । श्रावकगण ने आर्य समित को वन्दन-नमन करने के पश्चात् भूतल की तरह ही नदी के जल पर भी तापसों के चलने-फिरने की सारी घटना निवेदित की । आर्य समित कुछ क्षणों तक मौन रहे । श्रावको ने पुनः निवेदन किया – "देव ! जनमानस मे जिनमत का प्रभाव कम होता जा रहा है । कृपा कर कोई न कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे कि जैन धर्म का प्रभाव बढे ।"

आर्य समितसूरि ने सस्मित स्वर मे कहा – "तापस जल पर चलते है, इसमें तपस्या का कोई प्रभाव नही, यह तो उनके द्वारा अपने पैरों पर किये जाने वाले लेप का प्रभाव है । भोले-भाले लोगो को वृथा ही भ्रम में डाला जा रहा है ।"

श्रावकों ने तापसो द्वारा फैलाये गये मायाजाल और भ्रम को सर्वसाधारण पर प्रकट करने का दृढ संकल्प लिए कुलपति सहित सभी तापसो को अपने यहां भोजनार्थ निमन्त्रित किया । जब दूसरे दिन सभी तापस भोजनार्थ श्रावको के यहा आये तो श्रावकों ने उष्ण जल से सभी तापसो के पैरों को धोना प्रारम्भ किया । कुलपति ने श्रावकों को रोकने का पूरा प्रयास किया । किन्तु श्रावको ने उनकी एक भी बात नही सुनी । "आप जैसे महात्माओं के चरणकमलों को बिना धोये ही यदि हम आपको भोजन करवा दे तो हम सब के सब महान् पाप के भागी हो जाएगे" – यह कहते हुए श्रावकों ने बडी तत्परतापूर्वक उन सब तापसो के पैरों को खूब मल-मल कर धो डाला ।

भोजनोपरान्त तापस अपने आश्रम की ओर प्रस्थित हुए । श्रावको ने उन्हे ससम्मान विदा करने के बहाने हजारो नर-नारियों को वहां पहले ही एकत्रित कर लिया था । तापसो के पीछे विशाल जनसमूह जयघोष करता हुआ चलने लगा ।

[1] देवशर्मनामा कुलपति परिवसति । [पिण्डनिर्युक्ति, पत्र १४४ (१)]

आख्यान प्रचलित है, जिनमे विक्रम की न्यायप्रियता, परोपकारिता आदि अनेक अद्भुत गुणो का बड़ा ही रोचक वर्णन उपलब्ध होता है।

कुछ जैन ग्रन्थो के आधार पर विक्रमादित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

मालव प्रदेश की अवन्ती नगरी में गर्दभिल्ल नामक राजा न्यायपूर्वक शासन करता था। उसकी पहली रानी धीमती से भर्तृहरि और उसके पश्चात् दूसरी रानी श्रीमती से विक्रम का जन्म हुआ।[1]

अश्विनीकुमारो के समान सुन्दर स्वरूप वाले वे दोनो कुमार क्रमश. किशोर वय मे प्रविष्ट हुए। गर्दभिल्ल ने अपने बड़े पुत्र का राजा भीम की राजकुमारी अनगसेना के साथ बड़ी धूमधाम-पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार करवा दिया। तदनन्तर गर्दभिल्ल ने अनेक देशो को विजित कर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

कालान्तर मे शूल रोग से राजा गर्दभिल्ल की मृत्यु हो गई और मन्त्रियो ने भर्तृहरि का अवन्ती के राज्यसिहासन पर राज्याभिषेक कर दिया।[2]

एक दिन अपने अग्रज भर्तृहरि द्वारा किसी तरह अपमानित किये जाने के कारण विक्रमादित्य अमर्षवशात् खड्ग लेकर एकाकी ही अवन्ती राज्य से निकल पडा।[3]

इस प्रकार बड़ा भाई भर्तृहरि अवन्ती राज्य पर शासन करने लगा और उसका अनुज विक्रमादित्य देश-देशान्तरो मे परिभ्रमण करने लगा।

---

[1] तत्र न्यायाध्वना सर्वा, जनता पालयन् सदा।
गर्दभिल्लः नृपो राज्य चकार स्वर्गिनाथवत् ॥१८॥
धीमती श्रीमतीत्याह्वे द्वे पत्न्यौ तस्य सुन्दरे ॥" २१।
दधाना धीमती गर्भं सुन्दरस्वप्नसूचितम्।
शुभेऽह्नि सुषुवे पुत्र, पूर्ववार्कस्फुरद्द्युतिम् ॥२२॥
जन्मोत्सव नृप कृत्वाकार्य सज्जनबान्धवान्।
ददौ भर्तृहरेत्याख्या, पुत्रस्य मुदिताशयः ॥२३॥
सम्प्राप्त समये हारिवासरेऽर्कोदयक्षणे।
श्रीमती सुषुवे पुत्र निधानमिव मेदिनी ॥२६॥
गर्दभिल्ल क्षमापालः कृत्वा जन्मोत्सव मुदा।
विक्रमार्केति नामादात्, सूनोरर्कविलोकनात् ॥३०॥ [विक्रमचरितम्, सर्ग १]

[2] अन्येद्यु. शूलरोगेण गर्दभिल्लमहीपति।
मृत्वाकस्मान्मरुद्धाम, जगाम धर्मतत्पर ॥३६॥
मृत्युकृत्यादिके कार्ये कृते मन्त्रीश्वरादय।
सदुत्सव व्यधुर्भर्तृहरे राज्याभिषेचनम् ॥४०॥ [वही]

[3] भूपेन विक्रमादित्योऽपमान गमितान्यदा।
एकाकी खड्गमादाय ययौ देशातरे क्वचित् ॥४२ [वही]

महान् प्रतापी एवं परमप्रजावत्सल विक्रमादित्य नामक गण-राजा आसीन हुआ। विक्रमादित्य जिस दिन उज्जयिनी के राज्यसिहासन पर आसीन हुआ, उसी दिन से अवन्ती राज्य मे और उसके १७ अथवा १३ वर्ष पश्चात् सम्पूर्ण भारतवर्ष मे उसके नाम से एक सवत् प्रचलित हुआ जो क्रमशः कृत सवत्, मालव संवत्, मालवेश सवत् और विक्रम सम्वत् के नाम से व्यवहृत हुआ। आज भारत के प्रायः सभी भागों मे विक्रम सवत् प्रचलित है और प्रतिदिन उस ऐतिहासिक दिवस का जन-जन को स्मरण कराता रहता है, जिस दिन शकारि विक्रमादित्य राज्य-सिहासन पर बैठा। दो सहस्र से भी अधिक वर्षो से विक्रम संवत् जैन कालगणना को सुनिश्चित करने तथा भारतीय ऐतिहासिक तिथिक्रम को प्रामाणिक रूप से सुनियोजित-सुव्यवस्थित बनाये रखने मे प्रमुख एव सर्वसम्मत आधार माना जाता रहा है।

वीर विक्रमादित्य के शौर्य, दानशीलता, परोपकारपरायणता, न्यायप्रियता एव प्रजावत्सलता आदि गुणों से ओतप्रोत यशोगाथाओ से भारतीय वाङ्मय भरा पड़ा है। ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी के विद्वान् गुणाढ्य की पैशाची भाषा की महान् कृति "वृहत्कथा" के आधार पर सोमदेव भट्ट द्वारा रचित "कथासरित्सागर" मे विक्रमादित्य को अनाथों का नाथ, बन्धुहीनो का बान्धव, पितृहीनों का पिता, निराश्रितो का आश्रयदाता और प्रजाजनों का प्राण-त्राण एवं सर्वस्व तक बताया गया है।[1] विक्रम सम्बन्धी साहित्य के सम्यक् पर्यालोचन के पश्चात् यदि यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम और महान् कर्मयोगी श्रीकृष्ण के पश्चात् भारतीय साहित्य, साहित्यकारो और जनमानस पर सबसे अधिक गहरा प्रभाव विक्रमादित्य का रहा है। वस्तुतः विक्रमादित्य का नाम भारतीय जनमासन में रम गया है।

एक अज्ञात प्राचीन कवि ने तो विक्रमादित्य के लिये यहा तक कह दिया है कि – विक्रमादित्य नृपति ने उन महान् कार्यो को किया, जिनको कि कभी कोई नही कर सका, इतने बड़े-बड़े दान दिये, जो कभी कोई नही दे सका और ऐसे-ऐसे असाध्य कार्यो को साध्य बनाया, जिनको अन्य कोई साध्य नही बना सका।[2]

भारतीय विभिन्न भाषाओ में विक्रमादित्य के सम्बन्ध में बडी ही प्रचुर मात्रा मे साहित्य निर्मित किया गया है। उस समग्र साहित्य की यदि सूची तैयार की जाय तो सभवतः वह एक बहुत बडी सूची होगी। विक्रमादित्य के जीवन से सम्बन्धित अनुमानतः ५० से ऊपर पुस्तके तो जैन साहित्य में आज दिन तक उपलब्ध है। अनुमानत इतनी ही विक्रम सम्बन्धी पुस्तके जैनेतर वाङ्मय में होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त लोकभाषाओ मे हजारो जनप्रिय लोककथाएं एव

[1] स पिता पितृहीनानामबधूना स बान्धव
अनाथाना च नाथः स, प्रजाना क स नाभवत् ॥ १८।१।६२

[2] तत्कृत यन्न केनापि तद्दत्त यन्न केनचित्।
तत्साधितमसाध्य यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥१२४९॥

विदेशी शको के अत्याचारो से सत्रस्त प्रजा का नेतृत्व कर विक्रमादित्य ने शको को परास्त किया और ४ वर्ष पश्चात् ही पुन अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया।"[१]

आचार्य मेरुतुंग की 'विचारश्रेणी' तथा अनेक प्राचीन ग्रथो मे उल्लिखित राजवशो के विवरणो के सदर्भ मे विचार करने पर हिमवत स्थविरावली मे वर्णित उपरोक्त घटनाक्रम सगत और विश्वसनीय प्रतीत होता है। कहावली एव परिशिष्ट पर्व मे वीर निर्वाण के पश्चात् राजवशो की कालगणना मे पालक के राज्य के ६० वर्षो को सम्मिलित न किये जाने के कारण जो कालक्रम के आलेखन मे त्रुटि रही है, तथा उसके परिणामस्वरूप कालगणनाविषयक एक नवीन मान्यता विगत अनेक शताब्दियो से प्रचलित रही है, उसका प्रभाव हिमवन्त स्थविरावली-कार पर भी पूरी तरह से पडा है। उपरिचर्चित उद्धरण में हिमवन्त स्थविरावली-कार ने जो ऐतिहासिक घटनाओ का तिथिक्रम दिया है, उन सभी तिथियो मे यह ६० वर्ष का अन्तर स्पष्टत परिलक्षित होता है। जैन कालगणना विषयक उस दूसरी मान्यता के प्रभाव मे हिमवन्तस्थविरावलीकार ने ६० वर्ष पश्चात् घटित होने वाली घटनाओ का तिथिक्रम ६० वर्ष पहले का दे दिया है। नन्दवश के अन्त एव मौर्य-शासन के प्रारम्भ होने के काल की चर्चा करते समय इस कालभेद के सम्बन्ध मे पहले प्रमाण-पुरस्सर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। अत यहा उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही है।

सोमदेव रचित कथासरित्सागर मे विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना दिया गया है। उसमे यह बताया गया है कि महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की उपासना की। शकर के कृपाप्रासद से शकर का माल्यवान नामक गण सौम्यदर्शना के गर्भ से उत्पन्न हुआ और महेद्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य रखा।

सिहासन बत्तीसी आदि अनेक ग्रथो मे भर्तृहरि और विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध मे बडा ही अद्भुत् उल्लेख उपलब्ध होता है। उससे सभी परिचित है अत उसे यहा देने की आवश्यकता नही।

---

[१] अहावती णयरम्मि सपइ णिवस्स णिपुत्तस्स सग्गगमणतरमसोगणिवपुत्ततिस्सगुत्तस्स बलमित्तभाणुमित्तणामधिज्जे दुवे पुत्ते वीराओ दो सय चउणवई वासेसु विइक्कतेसु रज्ज पत्ते। ते ण दुन्नि वि भाया जिणधम्माराहगे वीराओ चउवन्नाहियतिसयवासेसु विइक्कतेसु सग्ग पत्ते। तयणतर बलमित्तस्स पुत्तो णभोवाहणो अवती रज्जे ठिओ। से वि य ण जिणधम्माणुगो वीराओ तिसयचउणवइ वासेसु विइक्कतेसु सग्ग पत्तो। तओ तस्स पुत्तो गद्दहीविज्जोवेओ गद्दहिल्लो णिवो अवतीणयरे रज्ज पत्तो।

• तत्थ ण भीसणे जुज्झे जायमाणे गद्दहिल्लो णिवो काल किच्चा णेरइया-तिहिओ जाओ। •••

तउ गद्दहिल्लणिवपुत्तो विक्कमणामधिज्जो त सामतणामधिज्ज सगरायमाकम्म वीराओ दसाहियचउसयवासेसु विइक्कतेसु अवती णयरे रज्ज पत्तो। से वि य ण विक्कमक्को णिवो अईव परक्कमजुओ जिणधम्माराहगो परोपयारेगणिट्ठो अवतीए णयरे रज्ज कुणमाणो लोगाणामईव पिओ जाओ। [हिमवन्तस्थविरावली, अप्रकाशित]

शुभशीलगणी ने विक्रमादित्य के माता-पिता, भाई आदि का उपरोक्त परिचय देने के पश्चात् "यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता" यह लोकविश्रुत श्लोक देते हुए अमरफल वाला वृत्तान्त दिया है, जिसमे एक ब्राह्मण द्वारा अमरफल प्राप्त करने, उसे भर्तृहरि राजा को देने, राजा द्वारा अपनी रानी को दिये जाने, रानी द्वारा कुबडे अश्ववाहक को, अश्ववाहक द्वारा गणिका को और गणिका द्वारा पुनः राजा भर्तृहरि को उस फल के दिये जाने का उल्लेख है। इसमे बताया गया है कि वस्तुस्थिति से अवगत होते ही भर्तृहरि सन्यस्त हो वन मे चला गया और उसके पश्चात् विक्रमादित्य उज्जयिनी के राज्य-सिहासन पर आसीन हुआ।

अन्यान्य विद्वानो द्वारा रचित विक्रमचरित्रों मे कतिपय अशों मे इससे मिलता-जुलता विक्रम का प्रारम्भिक परिचय दिया हुआ है। इनमें से किसी भी ग्रथ में विक्रमादित्य के वंश के सम्बन्ध मे प्रकाश नही डाला गया है।

हिमवन्त स्थविरावलीकार और विक्रमादित्य

प्राकृत और संस्कृत भाषा की हस्तलिखित पुस्तक "हिमवन्तस्थविरावली" मे विक्रमादित्य को मौर्यवंशी बताया गया है। हिमवन्त स्थविरावली का एतद्विषयक उल्लेख निम्नलिखित रूप में है :-

'अवन्ती नगरी में सम्प्रति के निष्पुत्र निधन के अनन्तर अशोक के पौत्र तथा तिष्यगुप्त के पुत्र बलमित्र एवं भानुमित्र नामक राजकुमार अवन्ती के राज्यसिहासन पर आरूढ हुए। वे दोनों भाई जैनधर्म के परमोपासक थे। उनके निधन के पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन अवन्ती के राज्य का स्वामी बना। नभोवाहन भी जैनधर्म का अनुयायी था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल राजा बना। गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य द्वितीय की बहिन साध्वी सरस्वती का बलात् अपहरण करवा कर उसे अपने अन्त:पुर में बन्द कर दिया। सब प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी गर्दभिल्ल ने त्याग-पथ की पथिका साध्वी सरस्वती को मुक्त नही किया। अन्ततोगत्वा कालकाचार्य ने अन्य और कोई चारा न देख भृगुकच्छ के अधिपति अपने भागिनेय बलमित्र-भानुमित्र[१] एवं सिन्धुप्रदेश के शक राजाओ की सम्मिलित सेना द्वारा उज्जयिनी पर आक्रमण करवा दिया। भीषण युद्ध में गर्दभिल्ल मारा गया और शकों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। आर्य कालक ने अपनी बहिन साध्वी सरस्वती को पुन. संयम धर्म मे स्थापित किया और वे स्वय भी समुचित प्रायश्चित्त कर सयमसाधना मे निरत हुए।

---

[१] ये दोनो बन्धु आर्य कालक के भागिनेय भृगुकच्छ राज्य के अधिपति बलमित्र भानुमित्र से भिन्न है। इनका सत्ताकाल वीर नि० स० ३५३ से ४१३ तक का है जबकि भडौच के बलमित्र-भानुमित्र का समय वीर निर्वाण से ४५४ वर्ष पश्चात् का है।
[सम्पादक]

पूर्वी राजस्थान मे और उसके पश्चात् अवन्ती राज्य मे बसने से लगाया जा सकता है।

विक्रम ने अवन्ती के राज्यसिहासन पर आसीन होते ही अपने नाम का सवत् चलाने के स्थान पर कृत सवत् अथवा मालव सवत् क्यो चलाया ? इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय विद्वानो ने आज तक एक बडे महत्वपूर्ण तथ्य की ओर किंचित्मात्र भी दृष्टिनिक्षेप नही किया है। उस तथ्य की ओर ध्यान देने से सभवत इस प्रश्न का सहज ही समाधान हो जाता है। वह तथ्य यह है कि बलमित्र-भानुमित्र तथा शको की सम्मिलित सेना द्वारा पराजित एव राज्यच्युत होने के पश्चात् गर्दभिल्ल की मृत्यु हो गई। ऐसी स्थिति मे युवा राजपुत्र विक्रमादित्य के पास न तो कोई सगठित सेना ही रही और न कोई छोटा-मोटा राज्य ही। अपने पैतृक राज्य पर अधिकार करने के लिये निश्चित रूप से उसे विदेशी शको के विरुद्ध प्रजा मे विद्रोह भड़काने तथा किसी अन्य शक्ति की सहायता लेने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही था। ऐसी स्थिति मे क्या यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि विक्रम ने उस समय की एक वीर और योद्धा जाति के मालवो के साथ वैवाहिक अथवा अन्य किसी प्रकार के सम्बन्ध के माध्यम से मैत्री कर कार्यसिद्धि के लिये उनकी सहायता प्राप्त करने का पूरे मनोयोग से प्रयास किया होगा ? इस प्रयास मे सफलता प्राप्त होते ही निश्चित रूपेण विदेशी आततायियों के अत्याचारो से पीडित अवन्ती की प्रजा मे विद्रोह की आग भडका, मालवो की सहायता से विक्रमादित्य ने शको को पराजित कर अवन्ती के अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया होगा। झेलम के तटवर्ती पजाब के उपजाऊ प्रदेश को परिस्थितिवश छोड कर आये हुए मालव लोगो ने भी अवन्ती प्रदेश की उर्वरा भूमि पर स्थायी रूप से बस जाने की आशा लिये शक राज्य के विनाश के लिये प्राणपण से विक्रमादित्य की सहायता की होगी।

मालवो के इस असीम उपकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये विक्रमादित्य ने अवन्ती प्रदेश का नाम मालव और मालवो के साथ हुई मैत्री को अमर बनाने के लिये प्रारम्भ मे मालव राज्य मे और कालान्तर मे समस्त भारत मे कृत सम्वत् अथवा मालव सवत् चलाया। लेखन आदि मे भले ही यह कृत सवत् मालव सवत् लिखा जाता रहा हो पर शको को भारत की धरा से भगा देनेवाले अपने प्रतापी एव परोपकारी सम्राट् के प्रति कृतज्ञता एव श्रद्धा प्रकट करते हुए जनता जनार्दन ने बोलचाल मे इसे विक्रम सम्वत् के नाम से ही व्यवहार मे लिया होगा। कोटि-कोटि कण्ठो पर चढा हुआ विक्रम सवत् अन्ततोगत्वा लेखन आदि मे भी कृत सवत्–मालव सवत के स्थान पर व्यवहृत होने लगा।

ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक एक महाप्रतापी राजा हुआ, इस तथ्य की पुष्टि केवल जनश्रुति ही डिण्डिमघोष के साथ नही करती अपितु ऐतिहासिक अनुश्रुति भी इसकी पुष्टि करती है। सभी लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो को

जहा एक ओर विक्रमादित्य का संवत् आज से २०३० वर्ष पहले से चला आ रहा है, सस्कृत, प्राकृत एव विभिन्न भारतीय भाषाओं में विक्रम का जीवन-परिचय देने वाले १०० से ऊपर ग्रंथ, हजारों आख्यान और लोककथाएं भारतीय साहित्य मे उपलब्ध है तथा विक्रम के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले सैकड़ो शिलालेख, दानपत्र आदि विद्यमान है, वहा दूसरी ओर यह देखकर बड़ा आश्चर्य और दु ख होता है कि भारतीय जनजीवन में शताब्दियों से पूर्णतः रमे हुए, भारतीयो के हृदयसम्राट् महान् प्रतापी राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय मे भी कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् सन्देह प्रकट करते है।

'ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में इस प्रकार का महान् प्रतापी विक्रमादित्य नामक राजा हुआ अथवा नही।' अपनी इस शंका की पुष्टि मे मुख्य रूप से उन विद्वानों द्वारा यही कहा जाता है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व यदि विक्रमादित्य नाम का महान् प्रतापी राजा हुआ होता और उसने अपने नाम से संवत् प्रचलित किया होता तो उसके नाम के सिक्के अवश्य उपलब्ध होते। इसके साथ ही साथ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ले कर ईसा की ८वीं शताब्दी के बीच के किसी समय के कम से कम एक दो शिलालेख तो विक्रम संवत् के उल्लेख के साथ मिलते। पर इस अवधि के बीच का एक भी शिलालेख इस प्रकार का नही मिलता जिस पर स्पष्ट शब्दो में विक्रम सवत् अकित हो। विक्रम संवत् के उल्लेख से युक्त सबसे पहला शिलालेख चण्डमहासेन नामक चौहान राजा का धोलपुर से मिला है जिस पर विक्रम संवत् ८९८ खुदा हुआ है। इस प्रकार यह लेख ई० सन् ८४१ का है। इससे पहले के जितने भी अभिलेख विक्रमादित्य के संवत् से सम्बन्धित बताये जाते है, उन पर विक्रम संवत् नही अपितु निम्नलिखित पद खुदे हुए है :—

(१) श्रीर्म्मालिवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसञ्ज्ञिते।

(२) कृतेषु चतुषु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां।
(नगरी का लेख)

(३) मालवाना गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने॥
(मन्दसोर का कुमारगुप्त (१) का शिलालेख)

जो विद्वान् इस प्रकार की शंका उठाते है, उन्हें सर्वप्रथम यह विचार करना होगा कि विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी और उसके पश्चात् की भी कतिपय शताब्दियों मे देश की राजनैतिक स्थिति कितनी अस्थिर, डावाडोल और विदेशी आक्रमणो, गृह कलहों के कारण उथलपुथल से भरी होगी। इस प्रकार के सक्रान्तिकाल मे यह बहुत कुछ सभव है कि वह ऐतिहासिक सामग्री बाद में आये हुए शकों द्वारा नष्टभ्रष्ट कर दी गई हो अथवा वह सामग्री इधर-उधर बिखर गई हो।

वह कितना भीषण सक्रान्तिकाल था, इसका अनुमान मालव गण द्वारा अपनी जन्मभूमि झेलम के तट (पंजाब) का परित्याग किया जाकर प्रथमतः

अनुकरण करते हुए लाख के लाल रस से रगे हुए प्रियतमा के चरणो ने प्रियतम द्वारा किये गए चरण-सवाहन से तुष्ट होकर प्रियतम के हाथो मे लाख (लाख स्वर्णमुद्राओ के समान लाख का लाल रग) दे डाला।

गाथा मे वर्णित शृ गाररस के अद्भुत श्लेष से यहा कोई प्रयोजन नही। यहा इस गाथा से यही बताना अभिप्रेत है कि ईसा की प्रथम शताब्दी मे हुए विद्वान् राजा हाल ने विक्रम की लोकप्रसिद्ध दानशीलता का उल्लेख किया है। गाथा सप्तशती मे हाल ने अपने समय मे प्रसिद्ध, चुनी हुई, चमत्कारपूर्ण गाथाओ का सग्रह किया था – इस तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि उपरोक्त गाथा – राजा हाल के समय से पूर्व की कोई प्रसिद्ध रचना है और हाल से बहुत पहले ही विक्रमादित्य की दानशीलता की यशोगाथाए लोक मे गुँजरित हो चुकी थी।

यहा यह भी उल्लेखनीय है कि 'गाथासप्तशती' के रचयिता महाराजा हाल के ही एक पूर्वज के हाथो विक्रमादित्य रणक्षेत्र मे आहत हुए थे और उस शस्त्राघात के फलस्वरूप उज्जयिनी लौटने पर विक्रमादित्य की मृत्यु हुई थी।

३. सातवाहन वशी राजा हाल के समकालीन विद्वान् गुणाढ्य ने पैशाची भाषा मे "वृहत्कथा" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आज वह मूल ग्रथ कही उपलब्ध नही है। सोमदेव भट्ट ने 'वृहत्कथा' का सस्कृत भाषा मे रूपान्तर कर कथासरित्सागर की रचना की, जो आज उपलब्ध है। कथासरित्सागर के लम्बक ६, तरग १ मे विक्रमादित्य का विस्तार के साथ परिचय दिया हुआ है।

"कथासरित्सागर" के लम्बक १८, तरग १ के निम्नलिखित श्लोक मे विक्रमादित्य की, महिमा का जिन शब्दो मे गान किया गया है, उस प्रकार का सौभाग्य सभवत श्री राम कृष्ण को छोड कर अन्य किसी राजा को प्राप्त नही हुआ होगा –

स पिता पितृहीनानामबधूना स बान्धव ।
अनाथाना च नाथ स, प्रजाना क स नाभवत् ।।

४ 'भविष्यपुराण' मे भी विक्रमादित्य का अधोलिखित रूप मे उल्लेख उपलब्ध होता है –

शकाना च विनाशार्थमार्यधर्मविवृद्धये ।
जात शिवाज्ञया सोऽपि, कैलाशात् गुह्यकालयात् ।।
विक्रमादित्य नामान, पिता कृत्वा मुमोह ह ।
तस्मिन्काले द्विज कश्चिज्जयतो नाम विश्रुत ।।
तत्फल तपसा प्राप्त, शक्तश्च स्वगृह ययौ ।
जयतो भर्तृहरये, लक्ष स्वर्णेन वर्णयन् ।।
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वन गत ।
विक्रमादित्य एवास्य, भुक्त्वा राज्यमकंटकम् ।।
[भविष्य पुराण, खण्ड २, अध्याय २३]

विक्रम संवत् के आधार पर, ईसा की पहली शताब्दी के ऐतिहासिक विद्वान् सातकर्णी राजा हाल की 'गाथासप्तशती' के उल्लेखो एव उन्ही के समकालीन विद्वान् गुणाढ्य की वृहत्कथा के उल्लेखों के आधार पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे विक्रमादित्य नामक प्रतापी राजा हुआ है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० स्टेनकोनो ने भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के इस पहलू को स्वीकार किया है।[1]

जनअनुश्रुति और ऐतिहासिक अनुश्रुति के साथ-साथ साहित्यिक अनुश्रुति से भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। यह पहले बताया जा चुका है कि जैन एव जैनेतर साहित्य के १०० से अधिक सस्कृत-प्राकृत एव अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रन्थ और हजारों आख्यान विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते है। उनमे स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् तदनुसार ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी राजा हुआ। अब यहा इस तथ्य की पुष्टि करने वाले कतिपय प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे है –

१. ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्त्व को सिद्ध करने वाले अगणित साधनों मे विक्रम संवत् सबसे प्रमुख और अकाट्य प्रमाण है।'हाथ कगन को क्या आरसी' – तथा 'प्रत्यक्षे कि प्रमाणम्' – इन सूक्तियो को सार्थक करते हुए विक्रम संवत् ने वस्तुतः विक्रमादित्य के अस्तित्व को अमर बना दिया है। जिस संवत् का विगत २०३० वर्षो से अनवच्छिन्न – अजस्र गति से व्यवहार भारत में चला आ रहा है, उसका प्रचलन विक्रम नामक एक महान् प्रतापी राजा ने किया था – इस तथ्य को किस आधार पर अस्वीकार किया जा सकता है? भारत के सुविशाल भूभाग में प्रायः सर्वत्र विक्रम सवत् का व्यवहार किया जाता है। इतने सुविशाल भूभाग में विक्रम सवत् का पिछले २०३० वर्षो से उपयोग किया जाना – यह एक तथ्य ही इस बात का प्रबल एव पर्याप्त प्रमाण है कि आज से २०३० वर्ष पहले विक्रम का अस्तित्व था, जिसने कि विक्रम सवत् का प्रचलन किया।

२ ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए सातवाहनवंशी राजा हाल ने अपने 'गाथासप्तशती' नामक सगृहीत ग्रन्थ में विक्रमादित्य की दानशीलता का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत की है :–

सवाहणसुहरसतोसिएण, देन्तेण तुहकरे लक्ख।
चलणेण विक्कमाइच्च, चरिअमणुसिक्खिअ तिस्सा ॥४६४

अर्थात् – जिस प्रकार महादानी राजा विक्रमादित्य अपने सेवको द्वारा की हुई चरणसंवाहनादि साधारण सेवाओं से भी संतुष्ट होकर उन्हे लाखो स्वर्ण मुद्राओ का दान कर देता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की उस दानशीलता का

[1] "Problems of Saka and Satavahana History" – Journal of the Bihar and Orissa Research Society, 1930.

ने 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया। यह भी इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक राजा हुआ और उसने विक्रम सवत् चलाया। उसे आदर्श मान कर सातकर्णि और गुप्त सम्राट् चद्रगुप्त ने भी अपने अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' का विरुद लगाया।

११ विक्रमादित्य की राजसभा मे ९ रत्न थे – इस प्रकार का उल्लेख अनेक ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ मे विक्रमादित्य की राज्यसभा के ९ रत्नो के नामो का उल्लेख है, जो इस प्रकार है :–

धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिह शकु,–
वैतालभट्टघटखर्परकालिदासा ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभाया,
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

इन ९ रत्नो के समय को निर्धारित करने के सम्बन्ध मे विद्वान् प्रयत्नशील है। इनमे से कतिपय रत्नो का समय ईसा पूर्व पहली शताब्दी ही ठहरता है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य राजा हुआ और उसने विक्रम सवत् चलाया।

१२ इन सब के अतिरिक्त विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला एक ऐसा प्रमाण है जो पूर्णत निष्पक्ष और विदेशी साक्ष्य पर आधारित है। वह साक्षी है अरब देश के साहित्य की जो इस प्रकार है –

"हजरत मोहम्मद साहब से १६५ वर्ष पूर्व 'जर्हम बिनतोई' नामक अरब का एक कवि हो गया है, जो ओकाज – मक्का मे प्रतिवर्ष भरे जाने वाले अरब के उस समय के सबसे बड़े मेले के कवि सम्मेलन मे तीन वर्ष तक लगातार सर्वप्रथम आता रहा। मक्का के इस मेले मे हजरत मोहम्मद साहब से लगभग २००० वर्ष पूर्व तक के कवि सम्मेलनो मे प्रथम आने वाले कवियो की कविताओ को सोने के पत्रो पर अकित कर मक्का के विशाल मदिर मे टागा जाता आ रहा था। अरब के उस समय के महाकवि 'जर्हम बिनतोई' की, उन तीन कविताओ मे से एक कविता इस प्रकार है –

इत्रशशफाई सनतुल बिकरमतुन, फहलमिन करीमुन यर्तफीहा वयोवस्सरू ।
बिहिल्लाहायसमीमिन एला मोतकब्बेनरन,बिहिल्लाहा यूही कैद मिन होवा यफखरू ।
फज्जल-आसारि नहनो ओसारिम बेजेहलीन, युरीदुन बिआबिन कजनबिनयखतरू ।
यह सबदुन्या कनातेफ नातेफी ब्रिजेहलीन, अतदरी बिलला मसीरतुन फखेफ तसबहू ।
कउन्नी एजा माजकरलहदा वलहदा, अशमीमान, वुरुकन कद तोलुहो वतस्तरू ।
बिहिल्लाहा यकजी बैनना वले कुल्ले अमरेना, फहेया जाऊना बिल अमरे विकरमतुन ।
[सेअरूल-ओकूल, पृ० ३१५]

वे लोग धन्य है, जो राजा विक्रम के राज्यकाल मे उत्पन्न हुए, जो (राजा विक्रम) बडा दानी, धर्मात्मा और प्रजापालक था। परन्तु ऐसे समय हमारा

५. स्कन्द पुराण मे भी विक्रमादित्य का उल्लेख उपलब्ध होता है, जिसमे बताया गया है कि कलियुग के ३००० वर्ष बीतने पर (ईसा से १०० वर्ष पूर्व) विक्रमादित्य का जन्म होगा ।

६. गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के आधार पर क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 'वृहत्कथा मजरी' मे भी निम्नलिखित रूप में विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है :-

ततो विजित्य समरे कलिग नृपति विभु. ।
राजा श्री विक्रमादित्यः स्त्रीप्रायः विजयश्रियम् ।।
अथ श्री विक्रमादित्यो, हेलया निर्जिताखिल· ।
म्लेच्छान् काम्बोज यवनान् चीनान् हूणान् सवर्बरान् ।।
तुषारान् पारसीकाश्च, त्यक्ताचारान् विश्रृंखलान् ।
हत्वा भ्रूभगमात्रेण, भुवो भारमवारयत् ।।
त प्राह भगवान् विष्णुस्त्व ममाशो महीपते ।
जातोऽसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छ शकांतक ।।

यह यहा उल्लेखनीय है कि कथासरित्सागर के विद्वान् सम्पादक श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने गुणाढ्य का समय ई० सन् ७८ के आसपास का माना है ।

७. श्रीमद्भागवत् में भी गर्दभिन् राजाओं के होने का सक्षेप में उल्लेख है, जो इस प्रकार है .-

सप्ताभीरा आवभृत्या, दशगर्दभिनो नृपाः ।
कका षोडश भूपाला, भविष्यन्त्यति लोलुपाः ।।२६

[श्रीमद्भागवत, स्कंध १२, अ० १]

८. पहली शताब्दी ई० पूर्व की कुछ मालव मुद्राएं मालव प्रान्त मे प्राप्त हुई हैं, उनमे से कतिपय मुद्राओ पर एक ओर सूर्य का चिन्ह तथा दूसरी ओर 'मालवाना जयः' और 'मालवगणस्य जयः' की छाप लगी हुई है । ये मुद्राएं ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य द्वारा शकों पर मालव जाति के योद्धाओं की सहायता से प्राप्त की गई बड़ी विजय की साक्षी देती है । इन मुद्राओं पर एक ओर अकित सूर्य का चिन्ह विक्रमादित्य शब्द के सक्षिप्त रूप "आदित्य" का द्योतक है ।

९ महाकवि बाण भट्ट के पूर्व कालिक कवि सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' के प्रास्ताविक पद्य १० मे विक्रमादित्य का निम्नलिखित रूप मे उल्लेख किया है :-

सा रसवन्ता विहता, नवका विलसन्ति चरति नो कंकः ।
सरसीव कीर्ति शेष, गतवति भुवि विक्रमादित्ये ।।

१०. विक्रम सवत् के प्रचलन से पहले चेटक, श्रेणिक, कूणिक, चण्ड प्रद्योत, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक आदि महाप्रतापी राजाओं में से किसी ने विक्रमादित्य के विरुद को धारण नही किया । ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमदित्य से लगभग दो तीन शताब्दी पश्चात् सात वाहन सम्राट् गौतमीपुत्र सातकर्णि ने और लगभ चार सौ-पांच सौ वर्ष पश्चात् गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त

'विक्रम चरित' के अनुसार किसी सातवाहन वशी राजा के साथ युद्ध मे विक्रमादित्य के घातक प्रहार लगा और उज्जयिनी लौटने पर उसकी वहा मृत्यु हो गई।

ई० सन् १०३० के आसपास हुए इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् अलबेरूनी ने भी अरबी भाषा की अपनी पुस्तक 'किताबुलहिन्द' मे शालिवाहन नामक एक जमीदार के साथ विक्रमादित्य के युद्ध का और उस युद्ध मे विक्रमादित्य की मृत्यु होने का उल्लेख किया है।

प्राय सभी जैन ग्रन्थो मे विक्रमादित्य को जैन धर्मानुयायी बताया गया है।

१८. आर्य नन्दिल – वाचनाचार्य

आर्य मगू के पश्चात् वाचक-परम्परा मे आर्य नन्दिल वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली मे आचार्य देवर्द्धि ने आर्य नन्दिल की स्तुति करते हुए लिखा है –

"नाणमि दसणमि य, तवविणए निक्चकालमुज्जत।
अज्ज नन्दिल खमण, सिरसा वदे पसन्नमण।।

उपरोक्त गाथा मे आर्य देवर्द्धि ने नदिल को ज्ञान, दर्शन, तप और विनय मे सदा-काल तत्पर बतलाया है। उन्होने नदिल के जीवन का परिचय देते हुए "खमण और पसन्नमण" – ये दो विशेषण दिये है, इससे ज्ञात होता है कि आपका जीवन तपप्रधान था और आप कठिन से कठिन परिस्थितियो मे भी सदा प्रसन्नमन रहते थे।

प्रभावकचरित्र के अनुसार आप वैरोट्या नामक देवी के प्रतिबोधक माने गये है। वैरोट्या के प्रतिबोध की घटना सक्षेप मे इस प्रकार है –

सार्थवाह वरदत्त की प्रियपुत्री वैरोट्या का पद्मिनी खण्ड के पद्मकुमार नामक सार्थवाह के साथ पाणिग्रहण हुआ। सास की सेवाशुश्रुषा करते रहने पर भी वैरोट्या उसे सतुष्ट नही कर सकी। फलस्वरूप सास के अवज्ञापूर्ण कटु वचनो को सुन कर वैरोट्या चिन्ता से कृष रहने लगी। वह सदा यही सोचा करती "मेरे कृतकर्म का फल मुझे ही भोगना है। हस कर भोगूगी तो मुझे ही भोगना है और हाय-हाय करके भोगूगी तो भी मुझे ही भोगना है।" इस प्रकार विचार कर वह सदा मन को शान्त करने का प्रयास करती पर शरीर दु ख से प्रभावित हुए बिना नही रहा। उसमे कृषता आ गई।

एक दिन नागेन्द्र के शुभस्वप्न के साथ वैरोट्या ने गर्भ धारण किया। सास अपने दुष्ट स्वभाववश यद्वा-तद्वा बोला करती – "इस अभागिनी के भाग्य मे पुत्र कहा, इसके तो पुत्री ही होगी।"

वैरोट्या सास के सब तानो को शान्त भाव से सुना करती। तीन महिने के गर्भकाल मे वैरोट्या को दुग्धपाक (खीर) का दोहद उत्पन्न हुआ।

अरब ईश्वर को भूल कर भोग विलास मे लिप्त था। छल-कपट को ही लोगो ने सब से बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश (अरब) मे अविद्या ने अधकार फैला रक्खा था। जैसे बकरी का बच्चा भेडिये के पजे मे फस कर छटपटाता है, छूट नही सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पजे मे फसी हुई थी। ससार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश मे अमावस्या की रात्रि की तरह अन्धकार फैला हुआ था परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदाई प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ ? यह उसी धर्मात्मा राजा विक्रम की कृपा है, जिसने हम विदेशियो को भी अपनी दया दृष्टि से वञ्चित नही किया और पवित्र धर्म का सन्देश दे कर अपनी जाति के विद्वानो को यहा भेजा, जो हमारे देश मे सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषो की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और सत्पथगामी हुए, वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश मे विद्या और धर्म के प्रचार के लिये आए थे।"[१]

१३ शार्पेन्टियर[1], रॅप्सन[2], फ्रेंकलिन एजर्टन[3] आदि पाश्चात्य विद्वानो ने कालकाचार्य कथा मे उल्लिखित शकों द्वारा गर्दभिल्ल की पराजय और तदनन्तर विक्रमादित्य द्वारा शको को परास्त कर उज्जयिनी पर अधिकार करने की घटनाओ को ऐतिहासिक मानते हुए विक्रमादित्य द्वारा ईसा पूर्व ५८-५७ में विक्रम सम्वत् प्रचलित किये जाने की मान्यता अभिव्यक्त की है।

उपरिलिखित प्रमाणो से न केवल विक्रमादित्य का अस्तित्व ही सिद्ध होता है अपितु यह भी प्रमाणित होता है कि विक्रमादित्य वस्तुत. बडा साहसी, परोपकारी और अरब जैसे सुदूर देशों में भी प्रसिद्धि-प्राप्त राजा था। उसने अनेक वर्षो तक न्यायपूर्वक राज्य करते हुए केवल भारत ही नही अपितु भारत के पड़ौसी एव सुदूरवर्ती राष्ट्रो से भी अविद्या और गरीबी को मिटाने तथा मानवसमाज को सुसभ्य एव सुखी बनाने के लिए अनेक प्रयास किये। विक्रमादित्य का व्यक्तित्व वस्तुतः विराट था।

---

१ विक्रम स्मृति ग्रन्थ (सिन्धिया ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, ग्वालियर) मे प्रकाशित श्री महेश प्रसाद, मौलवी आलिम फाजिल के लेख से उद्धृत।

1. Only one legend, the Kalkacharya-Kathanaka 'the story of the teacher Kalaka' tells us about some events which are supposed to have taken place in Ujjain and other parts of Western India during the first part of the first century B.C or immediately before the foundation of the Vikrama era in 58 B C This legend is perhaps not totally devoid of all historical interest

[Cambridge History of India, Vol 1 P 167]

2 The memory of an episode in the history of Ujjain may possibly be preserved in the Jain story of Kalka Both the tyrant Gardabhilla whose misdeeds were responsible for the introduction of these evengers and his son Vikramaditya, who afterwards drove the Sakas of the realm, according to the story, may perhaps be historical characters

[वही, pp 532-33]

3 "It seems on the whole at least possible, and perhaps probable, that there really was a king named Vikramaditya who reigned in Malva and founded the era of 58-57 B. C

[Op. W. LXVI]

आचार्य के शिक्षागुरू होने का सौभाग्य प्राप्त है। वज्रस्वामी ने आपसे १० पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया।

आर्य भद्रगुप्त का यत्किंचित परिचय उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है–

आपका जन्म वीर नि० स० ४२८ मे, श्रमण-दीक्षा वीर नि० स० ४४९ मे इक्कीस वर्ष की अवस्था मे, युगप्रधानचार्य पद वीर नि० स० ४९४ मे और स्वर्ग गमन वीर नि० स० ५३३ मे हुआ। आपने ४५ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय मे और ३९ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए भगवान् महावीर के शासन की महती सेवा की।

इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि आर्य रक्षित सूरि ने आपकी निर्यामणा (अन्तिम आराधना) करवाई। आपकी पूर्ण आयु १०५ वर्ष, ४ मास और ४ दिन की थी।

गणाचार्य

आर्य नन्दिल के वाचनाचार्य काल मे वीर नि० स० ५४७–४८ मे आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य सिह गिरि का स्वर्गवास हुआ।

१८. आर्य नागहस्ती – वाचनाचार्य

आचार्य आर्य नन्दिल के पश्चात् नागहस्ती वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली मे आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आपको कर्मप्रकृति के प्रधान ज्ञाता तथा जिज्ञासुओ की जिज्ञासाओ का समुचित एव सतोषप्रद समाधान करने मे कुशल बताया है। 'पूर्वज्ञान' के धारक होने के कारण द्रव्यानुयोग और कर्मविपयक ज्ञान के आप मर्मज्ञ माने गये है। श्रमणसघ-स्तोत्र आदि ग्रन्थो के अनुसार नागहस्ती (आर्य नाग) को युगप्रधान-आचार्य भी माना गया है पर इस सम्बन्ध मे यह अन्वेषणीय है कि आर्य नागहस्ती और आर्य नागेन्द्र एक ही आचार्य के नाम है अथवा दोनो अलग-अलग समय के आचार्य है।

हमारे विचार से आर्य नन्दिल के शिष्य वाचनाचार्य नागहस्ती और युग-प्रधानाचार्य नागेन्द्र, जिन्हे आर्य नाग तथा आर्य नागहस्ती के नाम से भी अभिहित किया जाता है, दोनो भिन्न-भिन्न काल के दो भिन्न आचार्य होने चाहिए। हमारे इस अनुमान मे निम्न आधार विचारणीय है –

१ नागहस्ती को प्रभावकचरित्रानुसार पादलिप्त का गुरू माना गया है[1] और पादलिप्त का आर्य रक्षित से पहले होना प्रमाणित है। कारण कि आर्य रक्षित द्वारा सकलित अनुयोगद्वार सूत्र मे "तरगवईकारे" पद से आर्य पादलिप्त की स्मृति की गई है। इसके विपरीत आर्य नागेन्द्र को आर्य रक्षित के पश्चाद्वर्ती आर्य वज्रसेन की शिष्य-परम्परा मे माना गया है।

---

[1] गच्छे विद्याधराख्यस्यार्य नागहस्तिसूरय ।।१५।।
पुत्रमिच्छसि चेत्तेपा, पादशौच जल पिवे ।।१६।।

इसी बीच आर्य नन्दिल का वहा पदार्पण हुआ । वैरोट्या ने वन्दन-नमन के पश्चात् आचार्य श्री को अपना सब दुःख कह सुनाया । आचार्य ने क्षमाधर्म की आराधना का उपदेश देते हुए उसे आश्वस्त किया और दूधपाक के दोहद की जानकारी देते हुए कहा "तुम्हारे दोहद की पूर्ति हो जायगी, चिन्ता मत करो ।"

चैत्री पूर्णिमा के दिन वैरोट्या ने पुडरीक तप का उपवास किया और उसकी सास ने दूसरे दिन साधर्मियो को भोजन कराने हेतु दुग्धपाक बनाया। उसमे से बची हुई कुछ खीर उसने वैरोट्या को भी दी। खीर का पात्र लेकर वैरोट्या तालाब पर गई और वस्त्र से आवृत्त क्षीरपात्र को तट पर एक सघन वृक्ष के मूल के पास रख कर स्वय पैर धोने लगी । सहसा उस समय नागराज की अग्रमहिषी आई और उसने वह सब खीर पी ली । जब वैरोट्या ने लौट कर क्षीर पात्र को रिक्त देखा तो वह हर्षित मन से बोली – "जिसने भी खीर का आस्वादन किया है उसके मनोरथ पूर्ण हो ।" सर्वभूतानुकम्पा रूप परोपकार की उस उत्कट भावना के फलस्वरूप नागराज की महिषी बड़ी प्रसन्न हुई । उससे वैरोट्या की उद्दात्त भावना जान कर नागराज ने भी दयार्द्र हो उसकी सास को स्वप्न मे वैरोट्या के दोहद की पूर्ति करने की प्रेरणा की । तदनन्तर वैरोट्या का दोहद पूर्ण हुआ और समय पर उसने एक पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया । बालक का नाम नागदत्त रखा गया ।

कालान्तर मे वैरोट्या ने अपने पति पद्मदत्त और पुत्र नागदत्त के साथ श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की । सयम की समुचित रूपेण पालना करते हुए अन्त मे पद्मदत्त तथा नागदत्त समाधिपूर्वक देहोत्सर्ग कर सौधर्म देवलोक मे देव रूप से उत्पन्न हुए और वैरोट्या नागेन्द्र के ध्यान से आयु पूर्ण कर धरणेन्द्र की देवी के रूप मे उत्पन्न हुई ।

आचार्य नन्दिल ने वैरोट्या के अशान्त जीवन मे ज्ञानोपदेश द्वारा शान्ति प्रदान की थी अत· वैरोट्या धरणेन्द्र की महिषी के रूप मे उत्पन्न होने के पश्चात् आचार्य नन्दिल के प्रति भक्ति एवं बहुमान रखने लगी । भगवान् पार्श्वनाथ के चरणो मे भक्ति रखने वाले भक्तो के कष्टो का निवारण करने मे वह समय-समय पर उनकी सहायता करने लगी ।

कहा जाता है कि आचार्य नन्दिल ने वैरोट्या के स्तुतिपरक "नमिऊण जिण पास" इस मत्रगर्भित स्तोत्र की रचना कर वैरोट्या की स्मृति को चिर-स्थायी बना दिया ।

आर्य भद्रगुप्त – युगप्रधानाचार्य

आर्य धर्म के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० स० ४९४ मे आर्य भद्रगुप्त युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित हुए । दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त आगमज्ञान के पारगामी और अप्रतिम विद्वान् थे । आपको वज्रस्वामी जैसे महान् युगप्रधान

गुणहरमुख-कमल-विणिग्गयाणमत्थ सम्म सोऊण जयिवसहभडारएण पवयण-वच्छलेण चुण्णि सुत्त कय ।"[1]

उपरिलिखित उद्धरणो मे यतिवृषभ को आर्य मंखु (मगु) का शिष्य एवं आर्य नागहस्ती का अतेवासी बताया गया है । 'शिष्य' एव 'अतेवासी' शब्दो की भाषा-विज्ञान की दृष्टि से परिभाषा की जाय तो समानार्थक होते हुए भी ये दोनो शब्द अपने आपमे विशिष्टार्थ को लिये हुए होने के कारण अपना-अपना पृथक् स्थान रखते है । 'शिष्य' शब्द का अर्थ है सयमसाधना अथवा विद्याध्ययन हेतु गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करने वाला । 'अतेवासी' शब्द का अर्थ होता है – जीवन-पर्यंत अथवा सुदीर्घ काल तक ज्ञानदाता के पास रहते हुए तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए ज्ञानार्जन करने वाला । इन शब्दो की इस प्रकार की व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर यह संभव प्रतीत होता है कि आर्य मगू के स्थिरवास काल से कुछ समय पूर्व यतिवृषभ ने उनके पास दीक्षा स्वीकार की हो और उनकी स्थिरवास मे रसगृद्धि एव शिथिलाचार की ओर प्रवृत्ति देखकर आर्य मगू के अन्य श्रमण परिवार की तरह उनका साथ छोड आर्य नागहस्ती की चरण-शरण ग्रहण की हो । तदनन्तर नागहस्ती के अन्तकाल तक उनकी सेवा मे निरत रहते हुए उन्होने उनसे ज्ञानार्जन किया हो । ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्पूर्ण घटनाक्रम की ओर सकेत करने के अभिप्राय से ही जयधवलाकार ने यतिवृषभ के लिये "आर्य मखु के शिष्य" और "आर्य नागहस्ती के अन्तेवासी" – इन भिन्न पदो का प्रयोग किया है ।

नदी-स्थविरावली की ३१वी एव ३२वी प्रक्षिप्त गाथाओ के आधार पर आर्य मगू और आर्य नागहस्ती के बीच मे आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र तथा आर्य रक्षित के नाम देखकर कतिपय विद्वानो ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती के बीच लगभग १५० वर्ष का अन्तराल रहा अत यतिवृषभ को कसायपाहुड का ज्ञान देने वाले मंखु एव आर्य नागहस्ती श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य मगु और नागहस्ती से भिन्न है ।

वस्तुत उन विद्वानो की इस प्रकार की मान्यता केवल भ्रान्ति पर आधारित होने के कारण मान्य नही की जा सकती । जिन ४ आचार्यो के नाम देखकर कुछ विद्वानो ने जो इस प्रकार की कल्पना की है, वस्तुत आर्य धर्म से आर्य रक्षित तक के वे चारों आचार्य वाचक परम्परा के मुख्य आचार्य नही थे । वे तो वास्तव मे अन्य परम्परा के तत्समयवर्ती वाचक आचार्य रहे है । उन चारो का मुख्य स्थान युगप्रधान-परम्परा मे माना गया है । यह एक ही तथ्य इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये पर्याप्त है ।

इन सब तथ्यो के सन्दर्भ मे विचार करने पर वाचक-परम्परा मे आर्य मगू के पश्चात् आर्य नन्दिल और नन्दिल के पश्चात् नागहस्ती – यह क्रम ही उचित प्रमाणित होता है । इस क्रम की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर आर्य मगू और

---

[1] जयधवला, भाग १, पृ ८८

२. आर्य नागहस्ती वाचकवंश के प्रभावक आचार्य माने गये है, जिनके लिये देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है – "वड्ढउ वायगवसो, जसवसो अज्जनागहत्थीरा।"

अर्थात् – आर्य नागहस्ती का वाचकवश यशोवश की तरह वृद्धिगत हो। गाथा मे नागहस्ती को वाचकवश से सम्बद्ध बताया गया है, जब कि वज्रसेन सतानीय आर्य नाग नाइली शाखा, नागेन्द्र गच्छ और नागेन्द्र कुल के प्रवर्त्तक माने गये है। ऐसी स्थिति मे यदि वज्रसेन सतानीय नागेन्द्र ही वाचकवंशीय नागहस्ती होते तो उनके लिये 'वड्ढउ वायगवंसो' के स्थान पर 'वड्ढउ नाइलवसो' इस प्रकार का पद प्रयुक्त किया जाता। क्योकि आर्य नाग नाइल शाखा, नागेन्द्र कुल एवं नागेन्द्र गच्छ के प्रवर्त्तक माने गये है।

श्वेताम्बर-परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रंथो मे भी आर्य मगू और नागहस्ती का परिचय उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर साहित्य की तरह यद्यपि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे आर्य मगू और आर्य नागहस्ती का कोई खास परिचय प्राप्त नही होता फिर भी कसायपाहुड की जयधवला टीका मे आचार्य वीरसेन ने आर्य मगू और आर्य नागहस्ती को चूरिणकार यतिवृषभ के गुरु होने का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित रूप मे इन दोनों की स्तुति की है :–

> गुणहरवयणविरिणग्गय, गाहाणत्थोऽवहारिओ सव्वो।
> जेणज्जमंखुणा सो, सणागहत्थी वरं देऊ।।७।।
> जो अज्ज मखु सीसो, अतेवासी वि णागहत्थिस्स।
> सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वर देऊ।।८।।

इन गाथाओ मे बताया गया है कि जिन आर्य मंखु और नागहस्ती ने गुण-धराचार्य के मुख-कमल से विनिर्गत गाथाओं के सम्पूर्ण अर्थ को सम्यक्रूपेण अवधारण किया, वे आचार्य मुझे वर प्रदान करे। जो आर्य मंखु के शिष्य और आर्य नागहस्ती के भी अतेवासी है, वे वृत्तिसूत्र के कर्त्ता यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करे।

नन्दीसूत्र की स्थविरावली के समान ही दिगम्बराचार्य वीरसेन ने 'जय-धवला' मे इन दोनो आचार्यो को कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट ज्ञाता और आगम-ज्ञान के पारगामी के रूप मे स्वीकार किया है। 'जय धवला' टीका मे बताया गया है कि गुणधराचार्य द्वारा १८० गाथाओं मे 'कसायपाहुड' का उपसहार कर लिये जाने पर वे सूत्र गाथाए आचार्य-परम्परा से आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती को प्राप्त हुई। तदनन्तर उन दोनो आचार्यो के चरणकमलों मे बैठकर भट्टारक यतिवृषभ ने उन १८० गाथाओ के अर्थ को भलीभांति समझा और प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित हो उन पर चूरिणसूत्र की रचना की। जैसा कि टीका मे कहा है –

"पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरपराए आगच्छमाणीओ अज्ज मखुनागहत्थीण पत्ताओ। पुणो तेसि दोण्ह पि पादमूले असीदिसदगाहाणं

उसने वैसा ही किया। आचार्य से १० हाथ दूर एक मुनि के हाथ के पात्र से उसने चरणोदक लेकर पी लिया। फलस्वरूप उसको १० पुत्र होने का भविष्य बताया गया। श्रेष्ठिपत्नी प्रतिमाना ने घर पहुच कर अपने पति को पूरी बात सुना कर कहा – "१० पुत्र होगे तो उनमे से एक प्रथम पुत्र को गुरुदेव के चरणो मे भेट कर देना है।"

कालान्तर मे प्रतिमाना ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम नागेन्द्र रखा गया। प्रतिमाना ने उसे गुरु की निधि मान कर ८ वर्ष तक बडे दुलार के साथ उसका लालन-पालन किया और फिर उसे गुरुचरणो मे भेट कर दिया। ८ वर्ष का जान कर गुरु ने नागेन्द्र को दीक्षित किया और मण्डन नामक मुनि की देख-रेख मे उसकी शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। प्रखर बुद्धि के कारण बालक मुनि नागेन्द्र स्वल्पकाल मे ही सर्वविद्याविशारद बन गया। एक बार गुरु ने उसे जल लाने हेतु भेजा और जब वह काजी लेकर लौटा तो गुरु ने उससे पूछा – "कहा से लाये हो ?"

उत्तर मे मुनि नागेन्द्र ने काव्यमयी भाषा मे कहा –

अब तबच्छीए अपुप्फिय पुप्फदतपतीए।
नवसालिकजिय नववहूइ कुडएण मे दिन्न ॥[१]

पुष्प की तरह दन्तपक्ति वाली किसी ताम्राक्षी नववधु ने मुझे डागर की तरोताजा काजी करुए (मृत्पात्र) से बहराई है।

गुरु ने नागेन्द्र मुनि के शृ गाररसगर्भित वचन सुनकर कहा – "पलित्तोऽसि।"

वालमुनि नागेन्द्र बोला – "भगवन् ! मात्रा बढाकर प्रसाद कीजिए।" गुरु ने बाल मुनि की विचक्षणता देख उसे पादलेप की विद्या प्रदान की। इससे मुनि नागेन्द्र आकाशमार्ग से भ्रमण करने मे समर्थ हो गया।

पाटलिपुत्र मे मुरुण्ड के राज्य के समय की एक घटना है कि मुरुण्ड-राज के शिर मे ६ मास से असह्य वेदना हो रही थी। सयोगवश पादलिप्त भी आचार्य पद से संघ के दायित्व को सम्हालने के अनन्तर पाटलिपुत्र पहुचे। उस समय तक राजा ने शिरोवेदना की शान्ति के लिए विविध मत्र-तत्र, औषध आदि के प्रयोगो के उपरान्त भी जब शान्ति प्राप्त नही की तब मत्री को आचार्य पादलिप्त के पास भेज कर उनसे प्रार्थना की कि वे भूपाल की शिरोवेदना को दूर करने की कृपा करे।

आचार्य राजप्रासाद मे गये और एक ओर बैठ कर अपने घुटने पर अगुलि घुमाते हुए उन्होने मंत्र शक्ति से राजा की शिरोवेदना पूर्णत शान्त कर दी।[२]

---

१ प्रभावक चरित्र, पादलिप्तसूरिचरितम्, पृ० २९

२ (क) जह-जह पएसिणि जाणुयम्मि पालित्तओ भमाडेइ।
तह-तह से सिरवेयण पणस्सइ मुरुण्डरायस्स ॥ [प्रभावक चरित्र, पृ० ३०]

(ख) सीसे वियण, पणासति मुरु ड रायस्स। ४४६० [नि० भा० चू०, भा० ३ पृ० ४२३]

नागहस्ती का सत्ताकाल समसामयिक सिद्ध होने के साथ-साथ जय धवलाकार का वह कथन भी सगत संभव हो सकता है, जिसमे उन्होने कहा है कि यतिवृषभ ने आर्य मखु और नागहस्ती – इन दोनो के चरणों मे बैठकर कसायपाहुड़ की गाथाओ का अवधारण किया ।

'तिलोयपण्णत्ती' भी यतिवृषभ की रचना है । तिलोयपण्णत्ती में वीर नि० स० १००० तक के काल में हुए राजाओ का उल्लेख उपलब्ध होता है । इस उल्लेख को आधार बनाकर कतिपय विद्वान् यतिवृषभ का समय वीर निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का मानते है । ऐसा प्रतीत होता है कि कालगणना की शृंखला की कडियो को जोडने के लिये उक्त गाथाओ मे से अनेक गाथाए कालान्तर मे अन्य विद्वानो द्वारा प्रक्षिप्त की गई हो । प्राय: सभी विद्वानो की यह मान्यता है कि तिलोयपण्णत्ती मे प्रक्षिप्त गाथाओ का बाहुल्य है ।

यद्यपि यतिवृषय ने आर्य मगू और नागहस्ती का अपनी चूर्णि मे कही नामोल्लेख नही किया है तथापि जयधवलाकार ने इन दोनो आचार्यो की स्तुति करते हुए स्पष्ट रूपेण यह लिखा है कि यतिवृषभ ने आर्य मक्षु और नागहस्ती से कसायपाहुड़ का ज्ञान प्राप्त किया । जयधवलाकार के इस कथन को प्रामाणिक न मानने का कोई कारण प्रतीत नही होता । ऐसी स्थिति में एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आर्य यतिवृषभ विक्रमीय प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण मे विद्यमान थे ? यह प्रश्न गहन शोध की अपेक्षा रखता है । आशा है इतिहास के विद्वान् इस पर प्रकाश डालेगे ।

आपके शिष्यों में आर्य पादलिप्त बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए है । सक्षेप मे यहां उनका परिचय दिया जा रहा है :–

आर्य पादलिप्त

आर्य खपुट की तरह आर्य पादलिप्त भी बड़े प्रतिभाशाली आचार्य माने गये है । कोशला नगरी के महाराज विजयवर्मा के राज्य मे फुल्ल नाम का एक बुद्धिमान और दानवीर श्रेष्ठी रहता था । उसकी पत्नी का नाम प्रतिकाना था । वह रूप, शील और गुण की आधारभूमि होकर भी पुत्र रहित थी । किसी ने उसे परामर्श दिया कि वैरोट्या देवी की आराधना की जाय तो पुत्रलाभ हो सकता है । इष्टसिद्धि के लिए उसने भी तप, नियम के साथ वैरोट्या का समाराधन कर उसे प्रसन्न किया । देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा – "बोलो ! मुझे किस लिये याद किया है ?"

श्रेण्ठिपत्नी वोली – "पुत्र के लिए ।"

देवी ने कहा – "विद्याधर वश मे आर्य नागहस्ती नाम के आचार्य है, जो इस समय यहा आये हुए है । उनका चरणोदक पिया जाय तो तुम्हे पुत्र की प्राप्ति हो सकती है ।"

आपकी स्तुति करते है। केवल यह विदुषी वेश्या गुणज्ञा होकर भी आपकी स्तुति नही करती। आप कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे यह भी आपकी स्तुति करे।"

राजा की बात सुनकर आचार्य पादलिप्त अपने स्थान पर चले आये और रात्रि मे गच्छ की सम्मति से प्राण निरोध कर कपट मृत्यु से निष्प्राण हो लेट गये। आचार्य को अर्थी पर लिए जब लोग रुदन करते हुए उस गणिका के द्वार पर पहुचे तो वह भी द्वार पर आई और रुदन करती हुई बोली –

सीस कहवि न फुट्ट जमस्स पालित्तय हरतस्स।
जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला नई वूढा॥

अर्थात् – अरे! उन पादलिप्त का हरण करते समय यमराज का शिर क्यों नही फूट गया, जिनके मुख रूपी निर्झर से 'तरगलोला' तरगवती नदी प्रवाहित हुई है?

आचार्य यह सुनकर तत्काल उठ बैठे। गणिका ने कहा – "आचार्यवर! क्या आप मर कर स्तुति करवाते है?"

आचार्य ने कहा – "क्या तुमने नही सुना – 'मृत्वापि पचमो गेय' – मर कर भी पचम वेद गाना चाहिये।"[1]

कितना चमत्कारपूर्ण उत्तर है? प्रभावक चरित्र मे गणिका के स्थान पर पाचाल नामक विद्वान् के नामोल्लेख के साथ यही कथानक दिया गया है। आचार्य पादलिप्त ने अपने आचार्य काल मे स्व-पर कल्याण के साथ-साथ जिनशासन की बडी ही उल्लेखनीय सेवाए की।"

आचार्य पादलिप्त ने 'तरगवती', 'निर्वाणकलिका' एव 'प्रश्न प्रकाश' आदि ग्रन्थो की रचनाए की। 'तरगवती' प्राकृत कथा साहित्य का ग्रन्थरत्न माना जाता है।

आचार्य पादलिप्त के जीवन से सम्बन्धित कतिपय घटनाओ के पर्यवेक्षण से उनका विहार-क्षेत्र बडा विस्तृत प्रतीत होता है। मान्यखेट का कृष्णराजा, ओकारपुर का भीमराजा आदि अनेक राजा-महाराजा उनके अनुयायी थे। पाटलिपुत्र, भृगुकच्छपुर आदि मे उन्होने अपने प्रभाव का प्रयोग कर अन्य मतावलम्बियो द्वारा जैन धर्मावलबियो के विरोध मे उत्पन्न किये गये वातावरण को शान्त कर अनेक लोगो को जैन-धर्म का अनुयायी बनाया।

आचार्य पादलिप्त के सम्बन्ध मे जैन साहित्य मे अनेक कथानक प्रचलित है। उनमे बताया गया है कि वे औषधियो के पादलेप द्वारा गगनमार्ग से विचरण करते थे। इस विद्या से प्रभावित होकर ढक गिरि का निवासी नागार्जुन नामक एक क्षत्रिय उनका अनन्य उपासक बन गया। नागार्जुन का परिचय पृथकत यथास्थान दिया जायगा।

---

[1] रागस्य पचमो वेदः।

शिरोवेदना दूर हो जाने से राजा परम प्रसन्न हुआ। उसने आचार्य पादलिप्त की और भी अनेक प्रकार से परीक्षा की और अन्त में वह उनका परम भक्त वन गया।

आर्य पादलिप्त की अप्रतिम प्रतिभा के सम्बन्ध में अनेक आख्यानो मे से कुछ इस प्रकार हैं :-

(१) एक वार प्रतिष्ठानपुर में राजा सातवाहन के यहां विद्वानों की सभा मे सहसा वात चली कि सर्व विद्या विशारद आचार्य पादलिप्त वहा पहुंचने वाले है। विद्वानो ने अपनी प्रौढता बताने के लिए जमे घृत से भरा एक कटोरा देकर एक आदमी को आचार्य श्री के पास भेजा। आचार्य पादलिप्त ने घी मे एक सूई डाल कर कटोरा पुन लौटा दिया। राजा ने यह सब वृत्तान्त सुन कर पण्डितों से पूछा कि घी से भरा कटोरा आचार्य श्री के पास भेजने में उन लोगों का क्या अभिप्राय था ?

पण्डितों ने उत्तर दिया – 'कटोरे में घी के समान नगर विद्वानों से भरा है इसलिए आप सोच-समझ कर इस नगर में प्रवेश करे। इसके उत्तर मे आचार्य ने घी मे सूई डाल कर कटोरा लौटाया है।"

राजा ने कहा – "आप लोगों के प्रश्न का आचार्य ने निर्भयता से यह उत्तर दिया है कि जिस प्रकार जमे हुए घी में तीक्ष्ण सुई समा गई, उसी प्रकार मैं भी विद्वानो से मण्डित इस नगर में प्रवेश कर सकूँगा।"

आचार्य के उत्तर से सब प्रभावित हुए और राजा तथा पण्डितों ने सम्मुख जाकर सम्मानपूर्वक आचार्य श्री का नगर-प्रवेश करवाया।

(२) आचार्य पादलिप्त की प्रत्युत्पन्नमति का एक उदाहरण इस प्रकार है :-

एक वार वादियो के साथ विचारगोष्ठि में किसी ने कहा .-

पालित्तय ! कहसु फुड, सयलं महिमंडल भमंतेण।
दिट्ठ सुय च कत्थवि, चन्दणरससीयलो अग्गी ।।

अर्थात् – हे पादलिप्त ! भूमण्डल पर विचरण करते समय तुमने कही चन्दनरस के समान शीतल अग्नि को देखा अथवा सुना हो तो स्पष्ट कहो।

प्रत्युत्पन्नमति आचार्य पादलिप्त ने तत्काल उत्तर दिया .-

अयसाभियोग सदूणियस्स, पुरिसस्स सुद्धहिययस्स।
होइ वहंतस्स दुहं, चन्दणरससीयलो अग्गी ।।

अर्थात् – अकीर्ति के अभियोग से संतप्त-पीडित शुद्ध हृदय वाले पुरुष को अकीर्तिजन्य दु.ख का वहन करते हुए अग्नि भी चन्दन के रस के समान शीतल प्रतीत होती है।

(३) 'तरगवती' जैसे विद्वत्तापूर्ण काव्य को देखकर जब सव विद्वानो ने पादलिप्त की प्रशंसा की तव राजा ने आचार्य से कहा – "हम सव सतुष्ट है और

जनता प्रभावित हुई। चारो ओर से आक्रोशपूर्ण तीव्र स्वर महावत पर गर्जन-तर्जन के साथ बरसने लगे – "यह दुष्टता बन्द करो, मोड दो हाथी को, पूज्या आर्या की ओर एक डग भी बढाया तो तुम्हारा अक्षेम होगा।" उद्वेलित सागर की तरह क्रुद्ध अपार जनसमुद्र के आक्रोशपूर्ण कोलाहल से हाथी भी किकर्त्तव्य विमूढ हो गया और साथ-साथ महावत भी। साध्वी धैर्य की प्रतिमूर्ति की तरह वस्त्र मे लिपटी एक ओर खडी थी।

मुरुण्डराज राजप्रासाद के गवाक्ष से यह सब दृश्य देख रहा था। उसने जैन श्रमणी को परीक्षा मे पूर्णत उत्तीर्ण पाकर महावत की ओर सकेत किया। हस्तिवाहक ने विचित्र शब्दो के उच्चारण के साथ अपना अकुश गजराज के गण्डस्थल पर दे मारा। हाथी तत्काल अपनी सूड, पूछ एव बडे-बडे कान फटकारता हुआ मुडा और एक चिघाड के साथ तीव्रगति से हस्तिशाला की ओर बढ गया।

मुरुण्डराज ने अपनी बहिन से कहा – "सहोदरे! यही धर्म सर्वज्ञ-दृष्ट है।[1] तुम अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहती हो तो इस जैन साध्वी के पास दीक्षा ग्रहण कर सकती हो।" मुरुण्डराज की विधवा बहिन ने जैनश्रमणी दीक्षा ग्रहण कर ली।[2]

मुरुण्डकाल में धार्मिक कटुता

मुरुण्ड राज के समय देश के कतिपय भागो मे धार्मिक कटुता अथवा धार्मिक असहिष्णुता किस प्रकार घर किये हुए थी, इसका परिचय भी निम्न-लिखित छोटे से आख्यान से प्राप्त होता है।

पाटलिपुत्र के मुरुण्डराज की पुरुषपुर (पेशावर) के राजा के साथ प्रगाढ मैत्री थी। एक वार मुरुण्ड ने अपना एक दूत पुरुपपुर के अधिपति के पास भेजा। वहा के विदेश मत्री ने उस विशिष्ट दूत के लिए समुचित आतिथ्य एव आवास आदि की व्यवस्था कर उसे दूसरे दिन पुरुपपुराधिप से मिलने के समय के सम्बध मे सूचित किया।

दूत दूसरे दिन राजा से मिलने हेतु अतिथिभवन से प्रस्थित हुआ। उन दिनो पुरुषपुर बौद्धो का केन्द्रस्थल बना हुआ था। वह बौद्धभिक्षुओ से इतना सकुल था कि भवन से बाहर निकलते ही दूत की दृष्टि सर्वप्रथम एक बौद्ध भिक्षु पर पडी।

दूत ने इसे घोर अपशकुन समझा और उस दिन राजा से मिलने का विचार छोडकर पुन अतिथिभवन मे लौट गया। लगातार तीन दिन तक जब-जब भी दूत राजा से मिलने हेतु अतिथिगृह से बाहर निकला, तो उसे प्रत्येक बार सर्व

---

[1] एस धम्मो सवन्नु दिट्ठो। [वृहत्कल्प भा०, भा० ४, पृ० ११२३]

[2] साधूना समीपे भगिनी प्रव्रज्या ग्रहणार्थं विसर्जिता। [वही, पृ० ११२४]

प्रबन्ध कोश तथा प्रभावक चरित्र के अतिरिक्त सभाष्य निशीथचूर्णि और बृहत्कल्प भाष्य में भी अनेक स्थलो पर आचार्य पादलिप्त के समय में हुए मुरुण्ड राजा के उल्लेख उपलब्ध होते है ।

मुरुण्डराज की बहिन द्वारा जैन श्रमणी धर्म की दीक्षा

बृहत्कल्प भाष्य में मुरुण्डराज की बहिन के श्रमणी धर्म मे दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :—

एक बार मुरुण्डराज की विधवा बहिन ने उसके समक्ष प्रव्रजित होने की अभिलाषा प्रकट की । किस धर्म की अनुयायिनी साध्वी के पास उसे दीक्षित करवाया जाय और कौन सा धर्म वस्तुतः वास्तविक आत्मिक धर्म है – इस बात की परीक्षा लेने का मुरुण्ड ने निश्चय किया । उसने महावत को आदेश दिया कि वह हाथी पर बैठ कर राजप्रासाद के पास वाले मार्ग पर इधर-उधर घूमे और ज्यों ही किसी भी धर्म की साध्वी उसे दृष्टिगोचर हों, वह हाथी को उसकी ओर यह कहते हुए बढाए–"तुम्हारे तन पर जो भी वस्त्र है, उन्हें दूर फेक दो अन्यथा यह मदोन्मत्त हाथी तुम्हे कुचल डालेगा ।"

हस्तिचालक ने मुरुण्डराज के आदेश का पालन किया । विभिन्न मतोंवाली साध्वियों की ओर उन्हे वस्त्र फेक देने की चेतावनी देते हुए महावत जब-जब हाथी को बढाता तो वे तत्काल सब वस्त्र दूर फैंक कर नग्न हो जाती । मुरुण्डराज अपने प्रासाद के गवाक्ष से इस प्रकार के दृश्य देखता रहता । अंततोगत्वा एक दिन एक जैन साध्वी को उस पथ पर यतनापूर्वक जाती हुई देख कर महावत ने उसे सब वस्त्र फैंक देने की चेतावनी देते हुए उसकी ओर हाथी को वेग से बढाया ।

हाथी को तीव्र गति से अपनी ओर बढ़ते हुए देख कर भी साध्वी ने धैर्य नही छोड़ा । उसने सबसे पहले हाथी की ओर अपनी मुखवस्त्रिका गिरा दी ।[1] हाथी थोडी देर रुका, उसने सूंड से मुखवस्त्रिका को पकड़ कर देखा और फिर उसे एक ओर फैंक वह साध्वी की ओर बढा । साध्वी ने उसी धैर्य के साथ अब की बार अपना रजोहरण हाथी की ओर डाला । हाथी रजोहरण को सूड से पकड़ कर थोड़ी देर तक हवा में फहराता रहा और पुनः साध्वी की ओर बढा । आर्या बड़े धैर्य के साथ अपने अन्यान्य बाह्य उपकरणों को एक-एक करके हाथी की ओर डालती रही । हाथी प्रत्येक वार रुक कर साध्वी द्वारा अपनी ओर डाले गये उपकरणो को इधर-उधर कर देखता और साध्वी की ओर बढता । अंत मे साध्वी के पास लज्जा ढाकने का केवल एक ही वस्त्र बचा रह गया । महावत वार-वार तीव्र स्वर में साध्वी को वस्त्र फैंकने के लिए कहता रहा पर वह नटी की तरह कभी हाथी के इस ओर तो कभी उस ओर होकर अपना बचाव करने लगी । राजपथ पर दर्शकों की भारी भीड़ एकत्रित हो गई । साध्वी के अपूर्व साहस और प्रत्युत्पन्नमति से

[1] तीए पढमं मुहपोत्तिया मुक्का, ततो निसिज्जा । [बृहत्कल्प भा, भा० ४, पृ० ११२३]

आराधना के साथ साथ अग शास्त्रो एव दश पूर्वो का अध्ययन किया। आपने वीर नि० स० ५३३ से ५४८ तदनुसार १५ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद से जिन शासन की सेवा की और १०० वर्ष, ७ मास एव ७ दिन की पूर्णायु का उपभोग कर वी० नि० सं० ५४८ मे स्वर्गारोहण किया।

छठा निह्नव रोहगुप्त आप ही का शिष्य था।

छठा निन्हव रोहगुप्त

वीर नि० स० ५४४ मे रोहगुप्त से त्रैराशिक दृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है।[१] भगवद्वचन के एक देश का अपलाप करने के कारण रोहगुप्त को निह्नव माना गया है। त्रैराशिक मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे आवश्यक चूर्णि मे निम्नलिखित उल्लेख किया गया है –

अंतरजिका नगरी के बाहर भूतगुहा नामक एक चैत्य था। एक समय वहां श्रीगुप्त नामक आचार्य अपने शिष्य समूह के साथ पधारे। उस समय अतरजिका मे राजा बलश्री का राज्य था। आचार्य श्रीगुप्त के अनेक शिष्यो मे से रोहगुप्त नाम का एक बडा बुद्धिमान शिष्य था। वह ग्रामान्तर से आचार्यश्री की सेवा मे अतरजिका पहुचा। मार्ग मे उसने एक परिव्राजक को देखा, जो अपने पेट पर लोह का पट्टा बाधे और हाथ मे जामुन की टहनी लिये हुए था। लोगो से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ज्ञानाधिक्य के कारण पेट कही फट न जाय, इसलिये उस सन्यासी ने अपने पेट पर लोह का पट्टा बाध रखा है। पेट पर लोहे का पट्टा रखने के कारण उसकी पोट्टसाल के नाम से प्रसिद्धि हो गई। परिव्राजक अपने हाथ मे जम्बू (जामुन) की डाली को धारण किये मानो इस बात की ओर सकेत कर रहा था कि समस्त जम्बूद्वीप मे उसके साथ वाद करने वाला कोई प्रतिवादी नही है। शास्त्रार्थ करने के लिये विद्वानो का आह्वान करते हुए वह ढिढोरा पिटवा रहा था।

रोहगुप्त ने परिव्राजक द्वारा की गई घोषणा को सुना और परिव्राजक के अतिशय गर्व को देख कर ढिढोरा रोका। उसने कहा – "मै परिव्राजक के साथ शास्त्रार्थ करू गा।"

परिव्राजक के ढिढोरे को रोकने के पश्चात् रोहगुप्त गुरु की सेवा मे पहुँचा और वन्दन-नमन के पश्चात् उसने आचार्य श्रीगुप्त की सेवा मे निवेदन किया – "भगवन् ! मैने पोट्टसाल परिव्राजक के साथ वाद करना स्वीकार किया है।"

आचार्य श्रीगुप्त ने कहा – "परिव्राजक के साथ वाद स्वीकार कर तुमने उचित नही किया। परिव्राजक विद्याबली है। यदि वह वाद मे पराजित हो भी गया तो भी वह विद्याओ के प्रयोग से तुम्हे परास्त करने का पूरा प्रयास करेगा।"

---

[१] पचसया चोयाला, तइया सिद्धिगयस्स वीरस्स।
पुरिमतरजियाए, तेरासियदिट्ठि उप्पन्ना ॥२४५१॥ [विशेषावश्यक भाष्य]

प्रथम बौद्ध भिक्षु ही दृष्टिगोचर हुआ और वह उस तथाकथित अपशकुन से त्रस्त हो तत्काल अपने कक्ष की ओर लौट पडा।

तीन दिन बीतने पर भी जब दूत पुरुषपुर के राजा की सेवा मे नही पहुँचा तो विदेशामात्य दूत के पास पहुँचा और उसने दूत से राजा की सेवा मे नही पहुँचने का कारण पूछा। सरल हृदय दूत ने अपने मन मे जमे विश्वास को प्रकट करते हुए उत्तर दिया – "बौद्ध भिक्षु के दर्शन से बढ कर और कोई अन्य अपशकुन नहीं। मै जब-जब भी राजा की सेवा मे उपस्थित होने इस भवन से बाहर निकला तभी जिस व्यक्ति पर मेरी सबसे पहली दृष्टि पड़ी, वह बौद्ध भिक्षु था। अब आप ही बताइये इस प्रकार के घोर अपशकुन की अवस्था मे मै राजदर्शन के लिए कैसे आता ?"

मंत्री ने दूत को बार बार समझाया कि गली के अन्दर अथवा बाहर बौद्ध भिक्षु दृष्टिगोचर हो तो उससे अपशकुन नही होता, पर अपशकुन का भय दूत के हृदय से पूर्ण रूपेण नही निकला। मत्री के आग्रह पर वह डरता-डरता राजा की सेवा में पहुँचा।

मत्स्य पुराण, वायु पुराण और श्रीमद्भागवत[1] आदि में मुरुण्ड राजाओं का पुरुण्ड, परुण्ड और गरुण्ड नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है।

मुरुण्ड लोग अफगानिस्तान मे काबुल के आस-पास के मुरण्ड प्रदेश के रहने वाले थे। प्राचीन काल मे मुरण्ड प्रदेश को लम्बक के नाम से भी पहिचाना जाता था। आजकल उस प्रदेश को लमघान कहते हैं।"[2]

युगप्रधानाचार्य :– आर्य नागहस्ती के वाचनाचार्य काल मे क्रमशः आर्य श्रीगुप्त और वज्र और रक्षित ये तीन युगप्रधानाचार्य हुए।

आर्य श्रीगुप्त – युग प्रधानाचार्य

आर्य भद्रगुप्त के स्वर्गगमनानन्तर आर्य श्रीगुप्त युगप्रधानाचार्य हुए। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता। दुष्षमाकाल श्रमण-संघ-स्तव के अन्त में जो युगप्रधान यन्त्र दिया हुआ है, उसके अनुसार आपके जीवन की प्रमुख घटनाओ का तिथिक्रम इस प्रकार है :–

आर्य श्री गुप्त का जन्म वीर नि० स० ४४८ में हुआ। ३५ वर्ष की युवावस्था मे आपने वीर नि० स० ४८३ में श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। ५० वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय मे रहते हुए आपने तप, संयम एव विनय धर्म की

---

[1] ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्कका.।
भूयो दश गुरुण्डाश्च, मौना एकादशैव तु ।।३०।।

[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अ० १]

[2] मुरण्ड—muranda, m a country to the north-west of Hindustan(also called Lampaka and now Lamghan in Cabul).
मुरुण्ड—murunda a king .. dynasty and a people [मोन्योर मोन्योर डिक्शनरी]

की प्ररूपणा की है। वस्तुत राशियां दो ही है। जीवराशि और अजीव राशि। अब भी समय है, तुम तत्काल राजसभा मे जाकर सत्यव्रत की रक्षा के लिये स्पष्टीकरण के साथ वास्तविक स्थिति रख दो।"

गुरु की आज्ञा को अनसुनी कर रोहगुप्त राजसभा में जाने के लिये उद्यत नही हुआ। वह मौन धारण किये अपने स्थान पर बैठा रहा। जब आचार्य श्रीगुप्त ने राजसभा मे जाने के लिये उसे बार बार बल दिया तो वह उनसे वाद करने को उद्यत हो गया। उसने अपनी बात को सही प्रमाणित करने का प्रयास करते हुए कहा – "मैने तीन राशियो की बात कह दी तो इसमे मुझे कौनसा दोष लग गया ? राशिया तीन है ही।"

रोहगुप्त को अपने साथ वाद करते देख आचार्य श्रीगुप्त ने राजकुल मे जाकर कहा – "राजन्! मेरे शिष्य रोहगुप्त ने जो आपकी राजसभा मे तीन राशियो की प्ररूपणा की है, वह वास्तव मे सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्त मे वस्तुत दो ही राशिया मानी गई है। आप हम दोनो के बीच होने वाले वाद-प्रतिवाद को सुनकर सत्य का निर्णय करे।

राजा द्वारा स्वीकृति प्रदान किये जाने के पश्चात् गुरू शिष्य के बीच वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ और निरन्तर ६ मास तक चलता रहा। अन्त मे राजा बलश्री ने आचार्यश्री से निवेदन किया – "भगवन्! राज्यकार्य मे बडा विक्षेप हो रहा है। अत वाद को अब शीघ्र समाप्त करने की कृपा करे।"

बलश्री को आश्वस्त करते हुए आचार्य श्रीगुप्त ने कहा – "राजन्! कल वाद-विवाद समाप्त हो जायगा।"

दूसरे दिन आचार्य श्रीगुप्त ने ६ महिनो से चले आ रहे शास्त्रार्थ को निर्णायक स्थिति मे लाने का उपक्रम करते हुए राजसभा के समक्ष राजा से कहा – "राजन्! कुत्रिकापण मे ससार भर के सब द्रव्य (पदार्थ) उपलब्ध होते है। आप वहा से जीव, अजीव और नोजीव इन तीनो द्रव्यो को मगवाइये।"

राजा द्वारा तत्काल राज्याधिकारियो को कुत्रिकापण पर भेजा गया। वहा जीव और अजीव की तो उपलब्धि हो गई पर नोजीव मागने पर कोई वस्तु नही मिली।

राजा ने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा – "कुत्रिकापण पर ससार के सभी द्रव्य मिल जाते है। वहा पर जीव और अजीव मिल गये, नोजीव नामक द्रव्य नही मिला। इससे यह प्रमाणित होता है कि ससार मे जीव और अजीव ये दो ही राशिया है, नोजीव नाम की तीसरी कोई राशि नही। ऐसी स्थिति मे आचार्य श्रीगुप्त को वाद मे विजयी घोषित किया जाता है और उनके दुर्विनीत शिष्य रोहगुप्त को पराजित।" राजा ने रोहगुप्त को अपने देश से निर्वासित भी कर दिया।[1]

---

[1] वाए पराजिओ सो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेण।
घोसाविय च नयरे, जयइ जिणो वद्धमाणोत्ति॥२५०६ [विशेषावश्यक भाष्य]

रोहगुप्त बोला – "अब तो वाद करना स्वीकार कर लिया है अतः अब उसे कैसे परास्त किया जाय, यह बताने की कृपा करे ।"

इस पर आचार्य श्रीगुप्त ने सिद्धमात्र विद्याएं देकर रोहगुप्त को अपना रजोहरण भी दिया और कहा – "यदि विद्याओं के उपरान्त भी कोई उपद्रव खड़ा हो जाय तो रजोहरण को घुमा देना । तुम्हें कोई नही जीत सकेगा ।"

रोहगुप्त गुरु द्वारा प्रदत्त विद्याए और रजोहरण लेकर राजसभा में पहुंचा और बोला – "परिव्राजक ! अपना पूर्वपक्ष उपस्थित करो ।"

परिव्राजक ने सोचा कि यह श्रमण बडे कुशल होते है अतः इन्ही के सिद्धान्त को मै अपनी ओर से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करूं । इस प्रकार सोच कर वह बोला – "ससार में दो राशियां है – जीव राशि और अजीवराशि ।"

रोहगुप्त ने प्रतिपक्ष मे कहा – "नही राशिया तीन होती है । जीव-अजीव और नोजीव ।" जीव अर्थात् चेतना वाले प्राणी, अजीव घटपदादि जड पदार्थ और नोजीव – छिपकली की कटी हुई पूछ ।"

ससार मे अन्य भी तीन प्रकार के पदार्थ होते है । दंड के भी तीन भाग होते हैं – आदि मध्य और अन्त । लोक भी उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक – इस प्रकार तीन होते है । इसलिये यह कहना ठीक नही है कि राशिया दो ही होती हैं ।"

इस प्रकार थोडी ही देर के शास्त्रार्थ में रोहगुप्त के प्रबल तर्कों से निरुत्तर होकर परिव्राजक खिसिया गया और वह अपनी विद्याओं के बल से रोहगुप्त को जीतने का प्रयास करने लगा । परिव्राजक ने क्रमश वृश्चिकी, सर्पिकी, मूशिकी काकी एवं मृगी विद्याओ का रोहगुप्त पर प्रयोग किया । रोहगुप्त ने मयूरी, नकुली, मार्जारी, व्याघ्री और उलूकी विद्याओं के प्रयोग द्वारा परिव्राजक की उन सभी विद्याओ को प्रभावहीन बना दिया ।

विद्यावल के प्रयोग में भी रोहगुप्त से पराजित हो जाने पर परिव्राजक बौखला उठा । उसने अन्त मे अपने अन्तिम अस्त्र के रूप में सुरक्षित गर्दभी विद्या का रोहगुप्त पर प्रयोग किया । रोहगुप्त के पास उसे निरस्त करने वाली कोई विद्या नही थी अत उसने गुरु द्वारा प्रदत्त रजोहरण के माध्यम से गर्दभी विद्या को प्रभावहीन वना परिव्राजक को पराजित कर दिया । राजा और सभ्यों द्वारा रोहगुप्त को विजयी और परिव्राजक को पराजित घोषित किया गया ।

परिव्राजक को पराजित करने के पश्चात् रोहगुप्त अपने गुरु की सेवा मे लौटा और उसने अपनी विजय की सारी घटना उन्हे कह सुनाई ।

तीन राशियों की प्ररूपणा की बात सुनकर आचार्य श्रीगुप्त ने कहा – "वत्स ! उत्सूत्र प्ररूपणा कर विजय प्राप्त करना उचित नही । सभा से उठते ही तुम्हें यह स्पष्टीकरण कर देना चाहिये था कि हमारे सिद्धान्त में तीन राशिया नही है । मैने तो केवल वादी की बुद्धि को पराभूत करने के लिये ही तीन राशियो

आर्य वज्रस्वामी

भगवान् महावीर के शासन मे हुए प्रभावक आचार्यो मे आर्य वज्रस्वामी का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। आपके जीवन की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि आपको अपने जन्म के तत्काल पश्चात् ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया और अपने जन्म के प्रथम दिन से ही आप ससार से पूर्णरूपेण विरक्त एव वैराग्य भावनाओ से ओत-प्रोत हो जीवनपर्यंत अहर्निश स्व-पर कल्याण मे निरत रहे।

आर्य वज्रस्वामी के पितामह श्रेष्ठी धन अवन्ती प्रदेश के तुम्बवन नामक नगर के निवासी थे। उनकी गणना अवन्ती राज्य के अतिसमृद्ध, प्रतिष्ठित एव प्रमुख श्रेष्ठियो मे की जाती थी। दानशीलता, दयालुता एव उदारता आदि गुणो के कारण श्रेष्ठी धन का यश उस समय आर्यधरा मे दूर-दूर तक फैला हुआ था।

श्रेष्ठी धन के धनगिरि नामक एक मात्र पुत्र था जो बडा तेजस्वी, सुकुमार, सौम्य और सुन्दर था। श्रेष्ठिपुत्र धनगिरि बाल्यावस्था से ही ऐहिक आकर्षणो के प्रति उदासीन और अपनी अवस्था के अननुरूप सदा धार्मिक विचारो मे ही निमग्न रहता था। सभवत आर्य धनगिरि के युवा होने से पूर्व ही श्रेष्ठी धन का देहावसान हो चुका था।

उन दिनो तुम्बवन नगर मे धनपाल नामक एक व्यापारी रहता था, जो विपुल वैभव तथा अतुल सम्पत्ति का स्वामी था। श्रेष्ठी धनपाल के समित नामक एक पुत्र और सुनन्दा नाम की एक सर्वगुण-सम्पन्ना परम रूप-लावण्यवती पुत्री थी। श्रेष्ठिपुत्र समित ने आर्य सिहगिरि के उपदेश से प्रबुद्ध हो पूर्ण तरुणावस्था मे ही अपने पैतृक अमित वैभव का परित्याग कर उत्कृष्ट वैराग्य के साथ आर्य सिहगिरि के पास श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

उधर जब सुनन्दा किशोरावस्था के कगार पर पहुची तो धनपाल को अपनी कन्या के योग्य वर ढूढने की चिन्ता हुई। अपने समान कुल, शील एव धनसम्पन्न श्रेष्ठी धन के पुत्र धनगिरि को अपनी पुत्री के लिये योग्य समझ कर धनपाल ने उसके समक्ष सुनन्दा से पाणिग्रहण करने का प्रस्ताव रखा। सासारिक भोगो से निस्पृह धनगिरि ने अति विनम्र शब्दो मे एक प्रकार से धनपाल के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए प्रश्न किया – "क्या भवसागर की भयावहता से भलीभाति परिचित आप जैसे स्वजनहितैषी महानुभावो द्वारा अपने किसी प्रियजन को भव-पाश मे आबद्ध करना उचित कहा जा सकता है ?"

धनपाल ने अतिशय स्नेहसिक्त स्वर मे अनेक युक्तियो एव दृष्टान्तो से धनगिरि को समझाते हुए कहा – "सौम्य ! भवार्णव से असख्य भव्यो का समुद्धार करने वाले भगवान् ऋषभदेव ने भी ऋण चुकाने के समान भोगो का उपभोग करने के पश्चात् त्यागमार्ग को अगीकार कर स्व तथा पर का कल्याण किया था। अत तुम्हे भी मेरी बात को स्वीकार कर लेना चाहिये।"

आचार्य श्रीगुप्त ने भी दुराग्रही समझ कर रोहगुप्त को श्रमणसंघ से बहिष्कृत कर दिया।

शास्त्रज्ञान तथा अनेक विद्याओं में निष्णात, ज्ञान और प्रतिभा दोनों ही का धनी रोहगुप्त मिथ्याभिनिवेश के वशीभूत होकर मिथ्यात्वी हो गया। इससे प्रमाणित हो जाता है कि मिथ्याभिनिवेश वस्तुत. महान् अनर्थो का मूल है। मिथ्याभिनिवेश के वशीभूत व्यक्ति वर्षो से अर्जित ज्ञान, सम्यक्त्व, गुरुभक्ति आदि को तिलाजलि देकर अपनी आत्मा का घोर पतन कर बैठता है।

जैन साहित्य और इतिहास के अनुसार यही रोहगुप्त वैशेषिक दर्शन का प्रणयनकर्त्ता माना गया है। रोहगुप्त का औलुक्य गोत्र होने के कारण इसके द्वारा प्रणीत वैशेषिक दर्शन को औलुक्य दर्शन तथा छ द्रव्यो का उपदेश करने के कारण षडौलुक्य दर्शन के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

कल्पसूत्र स्थविरावली मे कौशिक गोत्रीय षडुलूक रोहगुप्त को आर्य महागिरि का शिष्य बताया गया है।[१] आर्य महागिरि का आचार्यकाल वीर नि० स० २१५ से २४५ तक माना गया है और रोहगुप्त द्वारा त्रैराशिक दर्शन का प्रवर्तन वीर नि० स० ५४४ में किया गया। ऐसी स्थिति मे रोहगुप्त को आर्य महागिरि का साक्षात् शिष्य किसी भी दशा में स्वीकार नही किया जा सकता। क्योंकि वी. नि. सं. २४५ में स्वर्गस्थ हुए आर्य महागिरि के साक्षात् शिष्य का उनसे ३२६ वर्ष पश्चात् विद्यमान रहना सभव नही।

वस्तुत. रोहगुप्त युगप्रधानाचार्य श्रीगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। आर्य श्रीगुप्त वास्तव मे आर्य महागिरि की परम्परा मे हुए अथवा किसी अन्य परम्परा मे – इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता। कल्पसूत्र स्थविरावली के इस उल्लेख से कि रोहगुप्त महागिरि के शिष्य थे, इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि युगप्रधानाचार्य श्रीगुप्त आर्य महागिरि की मूल परम्परा से निकली किसी शाखा मे हुए है।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि रोहगुप्त श्रीगुप्त का साक्षात् शिष्य और आर्य महागिरि की परम्परा के अन्तर्गत शिष्यानुशिष्य सन्तति का एक श्रमण था। कल्प स्थविरावली के एतद्विषयक पाठ का अभिप्राय भी यही होना चाहिए।

लिपिकार के दोष अथवा वास्तविक पाठ के विस्मृति के गर्भ में तिरोहित हो जाने के कारण ही कल्पस्थविरावली मे रोहगुप्त को आर्य महागिरि का शिष्य बताया गया है।

---

[१] नामेण रोहगुत्तो, गुत्तेण य लप्पए स चोलूओ।
दव्वाइ छप्पयत्थो – वएसणाओ　　छलूओत्ति ॥२५०८　　[वही]

[२] थेरस्स ण अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था। तजहा – थेरे उत्तरे……थेरे छलुए रोहगुत्ते कोसिय गुत्तेण। थेरेहिंतो ण छलुएहिंतो ण रोहगुत्तेहिंतो तेरासिया साहा निग्गया।

सुनन्दा से अनुमति प्राप्त कर धनगिरि तत्काल घर से निकल पड़े। उस समय सयोगवश आर्य सिहगिरि तुम्बवन मे पधारे हुए थे। धनगिरि ने आचार्य सिहगिरि की सेवा मे उपस्थित हो निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की और गुरुचरणो मे आगमो का अध्ययन करने के साथ-साथ कठोर तपश्चरण एव सयम-साधना करने लगे। आर्य धनगिरि वैराग्य के रग मे इतने गहरे रग गये थे कि उन्होने कभी क्षण भर के लिये भी अपनी पत्नी का स्मरण तक नही किया।

सुनन्दा ने गर्भकाल पूर्ण होने पर वीर निर्वाण सवत् ४९६ मे एक परम-तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। सुनन्दा द्वारा पुत्र को जन्म दिये जाने के समाचार जिस किसी ने सुने, उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। परिवार की स्त्रियो और सुनन्दा की सखियो ने बडे हर्षोल्लास से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। उस आनन्द के अवसर पर किसी ने कहा – "यदि इस बालक के पिता धनगिरि प्रव्रजित न हुए होते तो आज इसका जन्मोत्सव और भी अधिक हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता।"

उपरोक्त वाक्य के कर्णरन्ध्रो मे पडते ही पूर्वजन्म के सस्कारो से बालक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। नवजात शिशु ने मन ही मन विचार किया – "अहो ! मेरे पिता बड़े पुण्यशाली है कि उन्होने श्रमणत्व स्वीकार कर लिया। मुझे भी कालान्तर मे यथाशीघ्र सयम ग्रहण करना है, क्योकि सयम के परिपालन से ही मेरा भवसागर से उद्धार हो सकता है। उसकी माता का उसके प्रति पुत्रस्नेह प्रगाढ न बने और उसके व्यवहार से पीडित हो माता उसका शीघ्र ही परित्याग कर दे, इसके लिये रुदन को ही शीघ्र फलदायी समझ कर बालक ने तत्काल रुदन करना प्रारम्भ किया। बालक को रुदन से उपरत कराने हेतु सुनन्दा ने, सुनन्दा की सखियो ने और सभी बडी, बूढी, सयानी स्त्रियो ने सभी प्रकार के उपाय कर लिये किन्तु बालक का रुदन निरन्तर चलता रहा। अपने पुत्र के अनवरत क्रन्दन से सुनन्दा बडी दुखित रहने लगी। उसे न रात्रि मे क्षणभर के लिये चैन था न दिन मे। वह बार-बार दीर्घ निश्वास छोड कर कहती – "पुत्र ! यो तो तू बडा नयनाभिराम है, तुझे देख-देख कर मेरी आँखे आप्यायित हो जाती है पर तेरा यह अहर्निश क्रन्दन बडा क्लेशप्रद लगता है। यह मेरे हृदय मे शूल की तरह चुभता है। इस प्रकार येन केन प्रकारेण सुनन्दा ने ६ मास छ वर्षो के समान व्यतीत किये। सयोगवश उस समय आर्य सिहगिरि का तुम्बवन मे पुन पदार्पण हुआ।

मधुकरी की वेला मे जिस समय आर्य धनगिरि मधुकरी हेतु अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर प्रस्थान करने लगे, उस समय किसी पक्षिविशेष के रव को सुन कर निमित्तज्ञ आर्य सिहगिरि ने अपने शिष्य धनगिरि को सावधान करते हुए कहा – "वत्स ! आज तुम्हे भिक्षा मे सचित्त, अचित्त अथवा मिश्रित जो भी वस्तु मिले उसे बिना किसी प्रकार का विचार किये तुम ग्रहण कर लेना।"

भोगों के प्रति अनिच्छा होते हुए भी धनपाल के अत्यधिक प्रेमपूर्ण आग्रह के समक्ष धनगिरि को झुकना पडा। अन्ततोगत्वा एक दिन शुभ मुहूर्त में सुनन्दा के साथ धनगिरि का विवाह बडी धूमधाम और हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हो गया। नवदम्पति सहज-सुलभ सासारिक भोगोपभोगों का मर्यादापूर्वक उपभोग करने लगे। कुछ ही दिनों पश्चात् सुनन्दा के गर्भ में एक भाग्यशाली जीव अवतरित हुआ।[1]

गर्भसूचक शुभ-स्वप्न से धनगिरि और सुनन्दा को दृढ विश्वास हो गया कि उन्हे अत्यन्त सौभाग्यशाली पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। गर्भ की अभिवृद्धि के साथ-साथ सुनन्दा के हर्ष की भी अभिवृद्धि होने लगी। आशा के अतिसुन्दर मान-सरोवर मे उसका मनमराल हिलोरों के साथ अठखेलिया करने लगा। वह अहर्निश अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती हुई परमप्रमुदित मुद्रा में रहने लगी।

"ज्ञाते तत्त्वे क: ससार:" – इस उक्ति के अनुसार ज्ञाततत्त्वा विरक्त धनगिरि के मन मे सासारिक भोगो के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण अवशिष्ट नही रहा। वे घर परिवार, और वैभव आदि को प्रगाढ बन्धन एव प्रपचतुल्य समझते थे। उन्होने आत्मकल्याण के लिये उपयुक्त अवसर समझ कर अपनी पत्नी की प्रसन्न मुद्रा से लाभ उठाने का निश्चय किया।

धनगिरि ने एक दिन सुनन्दा से कहा – "सरले ! तुम्हे यह विदित ही है कि मै साधनापथ का पथिक बन कर आत्महित-साधन करना चाहता हूँ। सौभाग्य से तुम्हें अपना जीवन यापन करने के लिये शीघ्र ही पुत्र का अवलम्बन प्राप्त होने वाला है। अब मै प्रव्रजित हो आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। तुम्हारे जैसी आर्य सन्नारिया अपने दयित के अभ्युत्थान-मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करना उचित नही समझती। वे अपने प्रियतम के अभीष्ट पथ को प्रशस्त बनाने हेतु महान् से महान् त्याग करने के लिये सदा सहर्ष कटिबद्ध रहती है। अत: तुम मेरे आत्मसाधना के मार्ग में सहायक बन कर मुझे प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान करो। यही मेरी हार्दिक इच्छा है।"

आर्य धनगिरि के अन्तस्तलस्पर्शी उद्गारों से सुनन्दा का सुषुप्त आर्य-नारीत्व अपने सनातन स्वरूप में सहसा जागृत हो उठा। उसने शान्त, मन्द पर सुदृढ़ स्वर मे कहा:–"प्राणाधार ! आप सहर्ष अपना परमार्थ सिद्ध कीजिये। मै आपके द्वारा दिये हुए सम्बल के सहारे आर्यनारी के अनुरूप गौरवमय जीवन व्यतीत कर लूगी।"

[1] आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रभावक चरित्र मे उल्लेख किया है कि गौतमस्वामी द्वारा अष्टापद पर्वत पर प्रतिबोधित सामानिक वैश्रमण देव देवायु पूर्ण होने पर सुनन्दा के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। वही जन्म ग्रहण करने के पश्चात् वज्रस्वामी के नाम से विख्यात हुआ। यथा:– स वैश्रमणजातीयसामानिक सुरोऽन्यदा।
अष्टापदाद्रिशृगे य: प्रत्यबोधीन्द्रभूतिना ॥४२॥
सुनन्दाकुक्षिसारेऽथावतीर्ण. स्वायुप क्षये। [प्रभावक चरित्र]

का नाम वज्र रखा और कहा – "यह बालक प्रवचन का आधार होगा, इसका सरक्षण किया जाय।"

आचार्य सिहगिरि ने साध्वियो के उपाश्रय मे शय्यातरी की देखरेख मे बालक वज्र को सम्हला दिया और स्वय वहा से किसी अन्य क्षेत्र के लिए विहार कर गये।

शय्यातरी श्राविका अपने बालको को सम्हालने से पहले बालक वज्र के दुग्धपान, स्नानमर्दन आदि का पूरा ध्यान रखती और दिनभर उपाश्रय मे रखकर रात्रि मे अपने घर ले आती। बालक भी मल-मूत्र की शका होने पर मुखाकृति अथवा रुदन से शय्यातरी को सचेत कर देता और उन्हे कष्ट नही होने देता।

बालक की इस बदली हुई स्थिति और शय्यातरी श्राविका द्वारा बडी लगन के साथ की गई सेवाशुश्रूषा के कारण उसके हृष्ट-पुष्ट होने की बात सुनकर सुनन्दा अपने पुत्र को देखने के लिए एक दिन उपाश्रय मे आ पहुँची। अपने सुन्दर एव स्वस्थ पुत्र को प्रसन्न मुद्रा मे देखकर सुनन्दा के हृदय मे मातृस्नेह उद्वेलित सागर की तरह उमड पडा। उसने शय्यातरी से अपने पुत्र को लौटाने का आग्रह किया किन्तु शय्यातरी ने देना स्वीकार नही किया। सुनन्दा स्नेहवश बालक वज्र को यथासमय आकर स्तनपान करा जाती। इस तरह बालक वज्र ३ वर्ष का हो गया। वह जाति-स्मरण ज्ञान के कारण प्रस्तुत आहार ही ग्रहण करता और साध्वियो के मुख से शास्त्रो के श्रवण मे बडी रुचि रखता।

कालान्तर मे आर्य सिहगिरि अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए अपने शिष्यो सहित तुम्बवन मे पधारे। सुनन्दा ने आर्य धनगिरि के पास पहुच कर उनसे अपना पुत्र लौटाने की प्रार्थना की।

आर्य धनगिरि ने सुनन्दा को साध्वाचार के सम्बन्ध मे समझाते हुए कहा – "श्राविके! हम साधु लोग साधु–कल्प के अनुसार जिस प्रकार एक बार ग्रहण की हुई वस्त्र–पात्रादि वस्तु को लौटा नही सकते, ठीक उसी प्रकार एक बार ग्रहण किये हुए बालक वज्र को भी तुम्हे नही लौटा सकते। तुम तो स्वय धर्मज्ञा हो, अत एक वार स्वीकार की हुई बात से मुकरने जैसा अनुचित कार्य तुम्हे शोभा नही देता। तुमने आर्य समित और अपनी सखियो को साक्षी बना कर बालक वज्र को हमे देते हुए कहा था – 'यह बालक मै आपको देती हू, अव मै कभी इस बालक के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की बात नही करू गी।' अत अब तुम्हे अपनी उस प्रतिज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिये।"

आर्य धनगिरि द्वारा अनेक प्रकार से समझाने – बुझाने पर भी सुनन्दा ने जब अपना अविचारपूर्ण हठ नही छोडा तो सघ के प्रमुख सदस्यो ने भी उसे समझाने का प्रयास किया। किन्तु इस पर भी सुनन्दा ने हठाग्रह नही छोडा और उसने राजद्वार मे उपस्थित हो राजा के समक्ष अपनी माग रखते हुए न्याय की प्रार्थना की।

"यथाज्ञापयति देव" कह कर आर्य धनगिरि आर्य समित के साथ भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए सर्वप्रथम सुनन्दा के घर पहुँचे । आर्य धनगिरि और समित को सुनन्दा के घर मे भिक्षार्थ प्रवेश करते देख कर सुनन्दा की अनेक सखिया तत्काल सुनन्दा के पास पहुँचीं और उससे कहने लगी – "सुनन्दे ! तुम अपना यह पुत्र धनगिरि को दे दो ।"

सुनन्दा अपने पुत्र के कभी बन्द न होने वाले रुदन से दुखित तो थी ही । उसने अपनी सखियो की वात सुन कर तत्काल पुत्र को दोनों हाथों मे उठा कर धनगिरि को वन्दन करते हुए कहा – "आपके इस पुत्र के प्रतिपल क्रन्दन से मै तो वडी दुखित हो चुकी हूँ । कृपया आप इसे ले लीजिये और अपने पास ही रखिये । यदि यह आपके पास रह कर सुखी रहता है तो उससे भी मुझे सुखानुभूति ही होगी ।"

आर्य धनगिरि ने स्पष्ट शब्दों मे कहा – "श्राविके ! मै इस को लेने के लिये तैयार हूँ किन्तु स्त्रियों की बात का कोई विश्वास नही । पगु व्यक्ति की तरह उनकी वात आगे चलती नही । कालान्तर में किसी प्रकार का विवाद उपस्थित न हो जाय, इस दृष्टि से तुम अनेक व्यक्तियों को साक्षी बनाते हुए उनके समक्ष यह प्रतिज्ञा करो कि भविष्य मे तुम कभी अपने पुत्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई बात नही कहोगी ।"

सुनन्दा ने अतीव खिन्न स्वर में कहा – "एक तो ये आर्य समित (संसार पक्ष से सुनन्दा के सहोदर) मेरे साक्षी हैं और इनके अतिरिक्त मेरी ये सभी सहेलियां साक्षी है । इन सवको साक्षी वनाकर मै स्वीकार करती हूँ कि इस क्षण के पश्चात् मै अपने इस पुत्र के सम्बन्ध मे कभी कोई बात नही कहूंगी ।"

तदनन्तर सुनन्दा ने अपने पुत्र को मुनि धनगिरी के पात्र में रख दिया । वालक ने तत्काल परम सन्तोष का अनुभव करते हुए रुदन वन्द कर दिया । मुनि धनगिरि ने झोली के वस्त्र में सुदृढ गाठे लगाई और दक्षिण हस्त से दृढतापूर्वक पात्रवन्ध को थामे हुए वे सुनन्दा के घर से उस स्थान की ओर प्रस्थित हुए जहा आर्य सिहगिरि विराजमान थे । सुनन्दा के गृहागण से निकल कर उपाश्रय पहुँचते पहुँचते मुनि की भुजा उस शिशु के भार से भग्न सी होने लगी । वे उस भार को उठाये किसी तरह अपने गुरु के समक्ष पहुँचे । भार से एक ओर अधिक झुके हुए धनगिरि को दूर से ही देख कर आर्य सिहगिरि अपने शिष्य के सम्मुख आये और धनगिरि के हाथ से उन्होने वह झोलीबन्ध अपने हाथ मे ले लिया । झोलीबन्ध को हाथ में लेते ही आर्यसिह गिरि ने धनगिरि से आश्चर्य भरे स्वर मे पूछा – "मुने ! तुम यह वज्र के समान अत्यन्त भारयुक्त आज क्या ले आये हो ? यह तो मेरे हाथो की पकड़ से भी खिसका जा रहा है ।" यह कहते हुए आर्य सिहगिरि ने अपने आसन पर पात्र को रखा और झोली को खोलकर देखा । पात्र मे चन्द्रमा के समान कान्तिमान् परमतेजस्वी बालक को देखकर आर्य सिहगिरि ने उस बालक

साध्वियो की सेवा मे पहुँच कर उसने श्रमणी-धर्म की दीक्षा स्वीकार की। उस समय तक बालक वज्र ३ वर्ष के हो चुके थे।

ज्यो ही बालक वज्र आठ वर्ष की आयु का हुआ त्यो ही आर्य सिहगिरि ने साध्वियो के सान्निध्य से हटाकर उसे श्रमण-दीक्षा प्रदान की और अपने पास रखना प्रारम्भ कर दिया।[1] उस समय तक बालक वज्र ने साध्वियो के मुख से सुन-सुन कर एकादश अङ्ग प्राय कण्ठस्थ कर लिए थे।

अपने शिष्यपरिवार सहित अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए कालान्तर मे आर्य सिहगिरि एक दिन एक पर्वत के पास पहुँचे। मुनि वज्र की परीक्षा लेने के अभिप्राय से वहा उनके पूर्वभव के मित्र जृभक देवो ने अपनी वैक्रियशक्ति से घोर गर्जन करती हुई घनघोर मेघघटा की रचना की। वर्षा के आसार देखकर आर्य सिहगिरि ने अपने शिष्यो सहित उस पर्वत की एक गुफा मे प्रवेश किया। उनके गुफा मे पहुचते-पहुचते बादलो की गडगडाहट और बिजली की चमक के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। थोडी ही देर मे चारो ओर जलबिम्व ही जलबिम्ब दृष्टिगोचर होने लगा। वर्षा बन्द न होने के लक्षण देखकर सब साधुओ ने उपवास का व्रत ग्रहण कर लिया और परम सन्तोष के साथ वे आत्मचितन मे निरत हो गये। सायकाल होते-होते वर्षा बन्द हुई अत आर्य सिहगिरि ने अपने शिष्यो सहित रात्रि उसी गिरिकन्दरा मे व्यतीत की।

दूसरे दिन मध्याह्नवेला मे आर्य वज्र मुनि अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर भिक्षार्थ वसति की ओर प्रस्थित हुए। थोड़ी दूर जाने पर मुनि वज्र ने एक छोटी सी सुन्दर वसति देखी और उन्होने भिक्षार्थ एक घर मे प्रवेश किया। उस गृह मे अत्यन्त सौम्य आकृति के कतिपय भद्र पुरुपो ने मुनि वज्र को नमस्कार किया और वे उन्हे कुष्माण्डपाक भिक्षा मे देने हेतु समुद्यत हुए। लघुवय होते हुए भी विचक्षण वज्रमुनि ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से विचार करते हुए मन ही मन सोचा कि द्रव्य-कुष्माण्डपाक, क्षेत्र-मालव प्रदेश, काल-ग्रीष्मकाल और भाव की दृष्टि से अम्लान-कुसुममालाधारी दिव्य दानकर्त्ता, जिनके पैर हलन-चलन आदि क्रिया करते समय पृथ्वीतल का स्पर्श तक नही करते – ऐसी दशा मे निश्चितरूपेण ये लोग मनुष्य नही अपितु देव होने चाहिये। देवताओ द्वारा दिया गया दान साधु के लिए किसी भी दशा मे कल्पनीय नही माना गया है।

---

[1] ताहे अट्ठवासओ सजतिपडिस्सताओ निक्कालिओ ताहे उज्जेणिं गतो।
[आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० ३९२]

(क) आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने "प्रभावक चरित्र" मे लिखा है कि आर्यसिहगिरि ने वज्रस्वामी को जव वे तीन वर्ष की आयु के थे, उस ही समय दीक्षित कर लिया। यथा –

त्रिवार्षिकोऽपि न स्तन्य, पपौ वज्रो व्रतेच्छया।
दीक्षित्वा गुरुभिस्तेन तत्र मुक्त समातृक ॥९२॥
अथाष्टवार्षिक वज्र, कृष्ट्वा साध्वीप्रतिश्रयात्।
श्री सिंहगिरयोऽन्यत्र, विजह्रु सपरिच्छदा ॥९३॥
[प्रभावक चरित्र, पृ० ५]

न्यायाधिकारियो ने दोनों पक्षो से पूर्ण जानकारी की और इस जटिल मामले को निर्णय के लिये राजा के समक्ष रखा। दोनों पक्षो के मुख से क्रमश: बालक को देने और लेने की स्वीकारोक्ति सुन कर राजा सहित न्यायाधीश बड़े असमंजस मे पड़ गये कि एक ओर तो माता अपने पुत्र को प्राप्त करने की माग कर रही है। दूसरी ओर स्वय सुनन्दा द्वारा स्वेच्छा से अपना पुत्र उस मुनि को दिया जा चुका है, जो उस पुत्र का जनक और सुनन्दा का पति रहा है। साधु को दिये जाने के कारण वह बालक संघ का हो चुका। संघ वस्तुत: सर्वोपरि है क्योकि तीर्थंकरो ने भी संघ को सम्मान दिया है। अन्ततोगत्वा बहुत सोच-विचार के पश्चात् राजा ने यह निर्णय दिया कि यह बालक दोनो पक्षो में से जिस पक्ष के पास स्वेच्छा से चला जायगा, उस ही के पास रहेगा।

राजाज्ञा के अनुसार प्रथम अवसर माता को दिया गया। सुनन्दा ने बालको को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले अनेक प्रकार के सुन्दर एव मनोहर खिलौने, बालकों को अत्यन्त प्रिय मिष्टान्न आदि बालक वज्र की ओर प्रस्तुत करते हुए उसे अपने पास बुलाने के लिए अनेक बार मधुर सम्बोधनो एव करतल-ध्वनि के साथ करयुगल प्रसारण आदि से उसका आह्वान किया। पर सब व्यर्थ। एक प्रबुद्धचेता योगी की तरह वह प्रलोभनो की ओर किंचित्मात्र भी आकृष्ट नही हुआ। वह अपने स्थान से ठस से मस तक नही हुआ।

तदनन्तर राजा ने बालक के पिता मुनि धनगिरि को अवसर दिया। आर्य धनगिरि ने अपना रजोहरण बालक वज्र की ओर उठाते हुए कहा :– "वत्स ! यदि तुम तत्वज्ञ और सयम ग्रहण करने के इच्छुक हो, तो अपनी कर्म-रज को झाड़ फेंकने के लिए यह रजोहरण ले लो।"[१]

आर्य धनगिरि अपना वाक्य पूरा भी नही कर पाये थे कि बालक वज्र अपने स्थान से उछल कर उनकी गोद में आ बैठा और उनके हाथ से रजोहरण लेकर उसे चंवर की तरह डुलाने लगा। समस्त परिषद् यह देखकर क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गई। धर्म के जयघोषों से गगनचुम्बी राजप्रासाद गूँज उठा। "बालक वज्र संघ के पास ही रहेगा" – यह राजाज्ञा सुनाते हुए राजा ने साधुओं एव सघ के प्रति भावभरा सम्मान प्रकट किया। तदनन्तर सब अपने-अपने स्थान को लौट गये।

सुनन्दा मन ही मन विचार करने लगी – "मेरे सहोदर आर्य समित दीक्षित हो गये, मेरे पतिदेव भी दीक्षित हो गये और पुत्र भी दीक्षित के समान ही है। ऐसी दशा में मुझे भी श्रमणी धर्म मे दीक्षित हो जाना चाहिये।" पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात् उसने दीक्षा ग्रहण करने का दृढ निश्चय किया और

[१] जइ सि कयव्ववसातो धम्मज्झयभूसिय इम वइर।
गेण्ह लहु रयहरणं, कम्मरयपमज्जणं धीर ॥
[आवश्य मलयवृत्ति, उपोद्घात, पृ० ३८७]

एव सुन्दर विवेचन सुनकर आर्यसिहगिरि हर्षविभोर हो गद्गद् हो उठे। परमानन्द की अनुभूति के साथ उनके हृदय मे सहसा इस प्रकार के उद्गार उद्भूत हुए – "धन्य है भगवान् महावीर का यह शासन, धन्य है यह गच्छ, जिसमे इस प्रकार का अलौकिक शिशुमुनि विद्यमान है।"

बालक-मुनि कही हतप्रभ अथवा लज्जित न हो जाय इस दृष्टि से आर्य सिहगिरि ने उच्च स्वर से आगमनसूचक "निस्सिही-निस्सिही" शब्द का उच्चारण किया।

अपने गुरु का स्वर पहिचानते ही वज्रमुनि को लज्जामिश्रित भय का अनुभव हुआ। उन्होने शीघ्रतापूर्वक साधुओ के विटणो को यथास्थान रखा और वे अधोमुख किये हुए गुरु के सम्मुख पहुचे। आर्य वज्र ने सविनय वन्दन के पश्चात् अपने गुरु के पैरो का वस्त्र से प्रमार्जन कर साफ किया। अपने गुरु के स्नेहसुधा-सिक्त सस्मित दृष्टिनिक्षेप से वज्रमुनि ने समझ लिया कि उनका प्रच्छन्न कार्य गुरु से छुपा नही रहा है।

आर्य सिहगिरि ने रात्रि में अपने शिष्य वज्र मुनि की अद्भुत प्रतिभा पर विचार करते हुए मन ही मन सोचा कि वय मे लघु पर ज्ञान मे वृद्ध इस बालक मुनि की अपने से दीक्षा मे ज्येष्ठ मुनियो की सेवा शुश्रूषा करने मे जो अवज्ञा हो रही है, उसे भविष्य मे नही होने दिया जाना चाहिये। सोच-विचार कर उन्होने इसके लिए एक उपाय खोज निकाला। प्रात काल सिहगिरि ने अपने शिष्यसमूह को एकत्रित कर कहा – "मै आज यहा से विहार कर रहा हूँ। शिक्षार्थी सब श्रमण यही पर रहेगे।"

अगशास्त्रो का अध्ययन करने वाले श्रमणो ने अति विनीत एव जिज्ञासा भरे स्वर मे पूछा – "भगवन् ! हमे शास्त्रो की वाचना कौन देगे ?"

आर्य सिहगिरि ने शान्त, गम्भीर एव दृढ स्वर मे छोटा सा उत्तर दिया – "लघु मुनि वज्र।"

यदि उस समय आज के समान दूषित वातावरण होता तो निश्चित रूपेण शिष्यो द्वारा गगनभेदी अट्टहास से गुरु की धज्जिया उडा दी जाती पर वे विनयशील शिष्य गुरुवाक्य को ईश्वरवाक्य समझते थे।

सहज मुद्रा मे "यथाज्ञापयति देव" कह कर सब श्रमणो ने गुरु के आदेश को शिरोधार्य किया। तदनन्तर आर्यसिहगिरि ने कुछ स्थविर साधुओ के साथ वहा से किसी अन्य स्थान के लिये विहार कर दिया। वाचना का समय होते ही साधुओ द्वारा एक पाट पर वज्रमुनि का आसन बिछाया जा कर उस पर वज्रमुनि को आसीन किया गया। सब साधु वज्रमुनि के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित कर अपने-अपने आसन पर बैठ गये। वज्रमुनि ने उन्हे शास्त्रो की वाचना देना प्रारम्भ किया। प्रत्येक सूत्र की, प्रत्येक गाथा की, समीचीन रूप से विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए वज्रमुनि ने आगमो के निगूढ से निगूढ रहस्यो को इस प्रकार

इस प्रकार जब उन्हे यह निश्चय हो गया कि दी जाने वाली भिक्षा वस्तुत: सदोष है, तो मुनि वज्र ने अस्वीकृतिसूचक सस्मित स्वर में उन मानववेषधारी देवो से कहा – "द्युसदो ! यह कुष्माण्डपाक देवपिण्ड होने के कारण श्रमणों के लिए अग्राह्य है ।"

वज्रमुनि के विलक्षण बुद्धिकौशल को देखकर वे जृंभकदेव बड़े चकित एव प्रसन्न हुए । उन्होने अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर वज्रमुनि को भक्तिपूर्वक वन्दन किया और उनके विशुद्ध श्रमणाचार के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए वे अपने स्थान को लौट गये ।

कालान्तर में उन्ही जृंभक देवों ने एक बार पुन: वज्रमुनि की परीक्षा लेने की ठानी । एक दिन ग्रीष्मकालीन मध्याह्न की चिलचिलाती धूप मे वज्रमुनि भिक्षाटन कर रहे थे । परीक्षा के लिए उपयुक्त अवसर समझ कर जृंभक देवों ने अपनी वैक्रियशक्ति से सद्‌गृहस्थों का रूप बना कर देवमाया द्वारा रचित अपने घर से वज्रमुनि को भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की । वज्रमुनि ने भिक्षार्थ घर मे प्रवेश किया । गृहस्थवेषधर जृभकों ने मिष्टान्न (फैनियों) से भरा थाल मुनि के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उन्हे ग्रहण करने की अभ्यर्थना की । शरत्काल में बनाये जाने वाले मिष्टान्न को मध्य-ग्रीष्मर्तु में देख कर वज्रमुनि ने दीयमान वस्तु तथा दाता आदि के सम्बन्ध में बडी बारीकी से समीचीन रूपेण पर्यवेक्षण किया और उस भिक्षा को देवपिण्ड बताते हुए अस्वीकार कर दिया । वज्रमुनि की विशुद्ध आचारनिष्ठा एव भिक्षान्न की पूर्ण गवेषणा से प्रसन्न होकर उन्होने वज्रमुनि को आकाशगामिनी – विद्या प्रदान की । आवश्यक निर्युक्ति में महापरीज्ञा अध्ययन से भी आर्य वज्र द्वारा आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करना बताया गया है ।

आर्य वज्र बाल्यकाल से ही बडे ज्ञान रसिक और सेवावृत्ति वाले थे । वे अल्प समय मे ही अपने शम, दम, विनय और गुणग्राहकता आदि अनुपम गुणों के कारण गुरुदेव और अन्य सभी श्रमणों के प्रेमपात्र बन गये । गुरुदेव के पास उन्होने अङ्ग शास्त्र के ज्ञान को पूर्ण कर उनके गूढ रहस्यों को हृदयगम किया ।

आर्य वज्र की प्रतिभा और विनयशीलता

उपरिवर्णित घटना के दूसरे ही दिन जब आर्य सिहगिरि शौचनिवृत्त्यर्थ जगल की ओर एवं अन्य सभी साधु गोचरी अथवा अन्य आवश्यक कार्यो के लिए उपाश्रयस्थल से बाहर गये हुए थे, उस समय एकान्त पाकर वज्रमुनि के मन मे बालसुलभ चापल्य प्रादुर्भूत हुआ । उन्होंने सभी साधुओं के विटनों (वस्त्रो) को मडलाकार में रखा और उनके मध्य भाग में बैठ कर क्रमश: अंग और पूर्वो की वाचना देने लगे । धाराप्रवाह घनरवगम्भीर स्वर मे आर्य वज्र द्वारा शास्त्रों की वाचना का क्रम चल रहा था, ठीक उसी समय आर्य सिहगिरि जगल से लौटे । आर्य वज्र की ध्वनि को पहिचान कर आर्य सिहगिरि द्वार के पास दीवार की ओट में खड़े रह गये । बालक मुनि के मुख से शास्त्र के एक-एक सूत्र का अतीव स्पष्ट

प्रयोजन बताते हुए श्रुतशास्त्र का अध्यापन करने की प्रार्थना की। शरीर की चेष्टाओं और लक्षणों से वज्र मुनि को श्रुतशास्त्र के ज्ञान का सुयोग्य पात्र समझ कर आर्य भद्रगुप्त ने उन्हें पूर्वज्ञान की वाचनाएं देना प्रारम्भ किया। मुनि वज्र को दश पूर्वो का सार्थ सम्पूर्ण अध्यापन कराने के पश्चात् आर्य भद्रगुप्त ने पुन आर्य सिहगिरि की सेवा मे लौटने की अनुज्ञा प्रदान की। वज्र मुनि अपने गुरु आर्य सिहगिरि की सेवा मे उपस्थित हुए। आचार्य ने प्रसन्न हो दशपुर मे आकर उन्हे वाचक पद से सुशोभित किया।

अपने प्रिय शिष्य वज्रमुनि को दशपूर्वधर के रूप मे देख कर आर्य सिहगिरि ने परम सतोष का अनुभव किया और अपनी आयु का अन्तिम समय सन्निकट समझ कर उन्होने वी० नि० स० ५४८ मे अपने शिष्य दशपूर्वधर आर्य वज्र को अपने उत्तराधिकारी के रूप मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित किया। आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि की मान्यतानुसार वज्र स्वामी के पूर्वभव के मित्र गुह्यको ने आचार्य सिहगिरि द्वारा आर्य वज्रस्वामी को आचार्यपद दिये जाने के अवसर पर बडा अद्‌भुत महोत्सव किया।[1] उस समय आचार्य वज्र ५०० साधुओ के साथ विचर रहे थे।[2]

आर्य वज्रस्वामी ने भी अपने गुरु सिहगिरि की अन्त समय तक बडी लगन के साथ सेवा-शुश्रूषा की। गुरुदेव के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य वज्रस्वामी ने बडी योग्यता के साथ सघ का सचालन करते हुए जिनशासन की सेवा की। विभिन्न क्षेत्रो मे धर्म का प्रचार करते हुए वे एक समय पाटलिपुत्र पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान मे ठहरे। आपके तात्विक उपदेशों से अपने मानस को और दर्शनो से नेत्रो को पवित्र करने के लिये हजारो की सख्या मे नरनारीवृन्द उद्यान मे उपस्थित हुए। आपकी अतीव रोचक एव अद्‌भुत व्याख्यानशैली से प्रबुद्ध हो अनेक नरनारियो ने सम्यक्त्‌व, व्रत, नियमादि ग्रहण कर अपना आत्म-कल्याण किया।

पाटलिपुत्र नगर के निवासी धन नामक एक अतुल सम्पत्तिशाली श्रेष्ठी की रुक्मिणी नाम की कन्या ने अपनी यानशाला मे विराजित साध्वियो से आर्य वज्र के गुणो की प्रशसा सुनी। उसने एक दिन आचार्य वज्रस्वामी के दर्शन किये और उनका व्याख्यान सुना। जब उसने अखण्ड ब्रह्मचर्य के अपूर्व तेज से प्रदीप्त आर्य वज्र के सौम्य मुखमण्डल को देखा और उपदेश देते समय उनकी सुधासिक्त मधुर वाणी को सुना तो श्रेष्ठिकन्या रुक्मिणी आचार्य वज्र पर प्राणपण से मुग्ध हो

---

[1] (क) जस्स अणुन्नाए वायगत्तणे दसपुरम्मि नयरम्मि।
देवेहिं कया महिमा, पयाणुसारिं नमसामि ॥ ७६७ [आव०]

(ख) वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुरा।
तस्याचार्यप्रतिष्ठाया चक्रुरुत्सवमद्‌भुतम् ॥ १३२ [प्रभावकचरित्र, पृ० ६]

[2] वयरसामि वि पचहिं अणगारसयेहिं सपरिवुडो विहरइ। २
[आवश्यक मलय, ३८६(२)]

सरल रीति से समझाया कि प्रत्येक साधु के मस्तिष्क में उनका स्पष्ट अर्थ अमिट रूप से अंकित हो गया। प्रतिदिन शास्त्रों की वाचना का क्रम चलता रहा। वज्रमुनि से शास्त्रों की वाचना ग्रहण करते समय प्रत्येक साधु ने अमृत तुल्य रसास्वादन की अनुभूति की।

कतिपय दिनो के पश्चात् आर्य सिंहगिरि पुनः वहां लौट आये। सब श्रमणो ने गुरुचरणों मे भक्तिसहित अपने मस्तक झुकाये। गुरु ने अपने शिष्यों से प्रश्न किया – "कहो श्रमणो! तुम्हारा आगमों का अध्ययन कैसा चल रहा है?"

सब साधुओं ने एक साथ आनन्दातिरेक भरे सम्मिलित स्वर में उत्तर दिया – "गुरुदेव! गुरुकृपा से बहुत सुन्दर, अतिसमीचीन। वाचना ग्रहण करते समय हमें परमानन्द की अनुभूति होती है। भगवन्! अब सदा के लिये आर्य वज्र ही हमारे वाचनाचार्य रहे।"

असीम संतोष का अनुभव करते हुए आर्य सिंहगिरि ने कहा – "प्रत्यक्षानुभव से मैंने यह सब कुछ जान लिया था। इसी लिये इस बालकमुनि की अनुपम गुणगरिमा से तुम लोगों को अवगत कराने के लिये ही मैंने जानबूझ कर यहा से विहार किया था।"

अनेक प्रकार के तपश्चरण के साथ-साथ मुनि वज्र साधु-समूह को वाचना भी देते रहे और अपने गुरु के पास अध्ययन भी करते रहे। स्वल्प समय मे ही आर्य वज्र ने अपने गुरु के पास जितना आगम-ज्ञान था वह सब ग्रहण कर लिया। आर्य सिंहगिरि ने तदनन्तर आर्य वज्र को अवशिष्ट श्रुतशास्त्र का अध्ययन कराने के लिये किसी सुयोग्य विद्वान् मुनि की सेवा में भेजने का विचार किया। विहारक्रम से एक दिन वे दशपुर नामक नगर में पहुँचे। वहा से उन्होंने आर्य वज्र को अवन्ती (उज्जयिनी) में विराजित दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के पास अध्ययनार्थ भेजा। गुरुआज्ञा को शिरोधार्य कर आर्य वज्र मुनि उग्र विहार करते हुए अवन्ती नगर पहुँचे। संध्याकाल हो जाने के कारण आर्य वज्र ने रात्रि नगर के बाहर ही एक स्थान में बिताई।

प्रातःकालीन आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् मुनि वज्र दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के स्थान की ओर प्रस्थित हुए। उस समय आर्य भद्रगुप्त ने अपने शिष्यो से कहा – "वत्सो! मैंने रात्रि मे एक स्वप्न देखा कि खीर से भरे हुए मेरे पात्र को एक सिंह-शावक ने आकर पी लिया एवं जिह्वा से चाट लिया है।[1] इस स्वप्नदर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि दश पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक कोई महान् बुद्धिशाली व्यक्ति आने ही वाला है।"

आर्य भद्रगुप्त ने अपनी बात समाप्त की ही थी कि मुनि वज्र ने उनके सम्मुख उपस्थित हो भक्ति सहित उन्हें वन्दन-नमन के पश्चात् अपने आगमन का

[1] सो आगंतूण सीहपोयएण पीतो लेहिओ य।   [आवश्यक मलय, पत्र ३८९ (१)]

सयम का समीचीन रूप से पालन करती हुई वह आर्या रुक्मिणी भी साध्वियो के साथ विचरण करने लगी ।

यद्यपि आर्य वज्रस्वामी के पूर्वभव के मित्र जृ भक देवो ने उन्हे प्रसन्न हो गगनगामिनी विद्या दी थी पर स्वय उन्होने अपने अथाह आगमज्ञान के सहारे आचाराग सूत्र के महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या को ढूढ निकाला[1] और भयकर सक्रान्तिकाल मे अनिवार्य आवश्यकता पडने पर भूतहितानुकम्पा से प्रेरित हो उस गगनगामिनी विद्या का प्रयोग कर अनेक मानवो के प्राणो की रक्षा की ।

इस प्रकार अनेक विद्यासम्पन्न आचार्य वज्र अपने आचार्यकाल मे विचरते हुए भारत के पूर्वी भाग से उत्तर प्रदेश मे पधारे । वहा भारत के समस्त उत्तरी भाग मे घोर अनावृष्टि के कारण भीषण दुष्काल पडा । खाद्य सामग्री के आभव के कारण अभाव- अभियोगो से सत्रस्त प्रजा मे सर्वत्र हाहाकार व्याप्त हो गया । तृण-फल-पुष्पादि के अभाव मे पशुपक्षिगण और अन्न के अभाव मे आबालवृद्ध मानव भूख से तडप-तडप कर कराल काल के अतिथि बनने लगे । उस दैवी-प्रकोप से सत्रस्त सघ आचार्य वज्रस्वामी की शरण में आया और त्राहि-त्राहि की पुकार करने लगा ।

आचार्य वज्रस्वामी ने सघ की करुण पुकार सुन कर दया से द्रवित हो विशाल जनसमूह की प्राणरक्षार्थ, समष्टि के हित के साथ-साथ धर्महित की दृष्टि से, साधुओ के लिए वर्जित होते हुए भी आकाशगामिनी विद्या के प्रयोग से सघ को माहेश्वरीपुरी मे पहुचा दिया । वहा का राजा बौद्धधर्मानुयायी होने के कारण जैन उपासको के साथ विरोध रखता था पर आर्य वज्र के प्रभाव से वह भी श्रावक बना और इससे धर्म की बडी प्रभावना हुई ।

' दुष्कालो की परम्परा केवल भारत मे ही नही, अन्य अनेक देशो मे भी प्राचीन काल से चली आ रही है । दुष्कालो ने मानवता को समय-समय पर बडी बुरी तरह से झकझोरा है । दुष्कालो के दुष्प्रभाव के कारण मानव-सस्कृति, शताब्दियो के अथक परिश्रम और अनुभव से उपार्जित आध्यात्मिक ज्ञान तथा मानवतामूलक धर्म की पर्याप्त क्षति हुई है परन्तु इस प्रकार की सकट की घडियो मे भी वज्रस्वामी जैसी महान् आत्माओ ने अपने अपरिमेय आत्मिक बल से सयम और आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखा । इसी प्रकार के आध्यात्मिक नेताओ के कृपाप्रसाद से हमारा धर्म, आध्यात्मिक ज्ञान और सस्कृति आदि शताब्दियो से भीषण दुष्कालो, राज्यक्रान्तियो, धर्मविप्लवो की थपेडे खाने के उपरान्त भी आज तक जीवित रह कर मानवता को अनुप्राणित करते आ रहे है ।

आचार्य वज्रस्वामी की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि श्रुतगगा की पावन धारा अबाध एव अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहे किन्तु दश पूर्वो का ज्ञान ग्रहण करने वाले किसी सुयोग्य पात्र के अभाव मे उन्हे अपने जीवन के

---

[1] महापरिज्ञाध्ययनादाचारागान्तरस्थितात् ।
श्री वज्रेणोद्धृता विद्या, तदागगनगामिनी ।। [प्रभावक चरित्र]

गई। उसने प्रण किया "यदि आर्य वज्र मेरे पति हों तो मुझे संसार मे रहना है अन्यथा भोगो का पूर्ण रूपेण परित्याग कर देना है।"[1] कहा जाता है कि रुक्मिणी ने अपनी सखियों के माध्यम से अपने पिता को कहलवाया कि उसने वज्रस्वामी को अपने पति के रूप में वरण कर लिया है अतः यदि वज्रस्वामी के साथ उसका विवाह नही किया गया तो वह निश्चित रूप से अग्नि मे प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी।

पिता अपनी पुत्री की दृढप्रतिज्ञता एवं हठ से भलीभाति परिचित था अत वह पुत्री की सहेलियों के मुख से उसके दृढ निश्चय की बात सुन कर वडा घबराया। बहुत सोच-विचार के पश्चात् अनेक बहुमूल्य रत्न और अपनी अनुपम रूपवती पुत्री को अपने साथ ले कर वह उस उद्यान में पहुँचा जहाँ कि आचार्य वज्रस्वामी अपने शिष्यो सहित विराजमान थे। श्रेष्ठी धन ने वज्रस्वामी को नमस्कार करने के पश्चात् निवेदन किया – "आचार्यप्रवर ! मेरी यह परम रूप-गुणसम्पन्ना कन्या आपके गुणो पर मुग्ध हो आपको अपने पति के रूप मे वरण करना चाहती है। मेरे पास एक अरब रौप्यक का धन है। अपनी कन्या के साथ मै वह सब धन आपको समर्पित करना चाहता हूँ। उस धन से आप जीवन भर विविध भोगोपभोग, दान, उपकार आदि का आनन्द लूट सकते है। आप कृपा कर मेरी इस कन्या के साथ पाणिग्रहण कर लीजिये।"[2]

आचार्य वज्र ने सहज शान्त-सस्मित स्वर मे कहा – "भद्र ! तुम वस्तुत. अत्यन्त सरल प्रकृति के हो। तुम स्वय तो सांसारिक बन्धनों मे बन्धे हुए हो ही, दूसरो को भी उन बन्धनो मे आबद्ध करना चाहते हो। तुम नही जानते कि सयम के मार्ग मे कितना अद्भुत अलौकिक आनन्द है। वह पथ कण्टकाकीर्ण भले ही हो पर इसका सच्चा पथिक संयम और ज्ञान की मस्ती में जिस अनिर्व-चनीय आनन्द का अनुभव करता है, उसके समक्ष यह क्षणिक पौद्गलिक सुख नितान्त नगण्य, तुच्छ और सुखाभास मात्र हैं। संयम से प्राप्त होने वाला अनिर्व-चनीय आध्यात्मिक आनन्द अमूल्य रत्नराशि से भी अनन्तगुणित बहुमूल्य है। तुम कल्पवृक्षतुल्य सयम के सुख की तुच्छ तृण तुल्य इन्द्रिय-सुख से तुलना करना चाहते हो। सौम्य ! मै तो निस्परिग्रही साधु हूँ। मुझे ससार की किसी प्रकार की सम्पदा अथवा विषय-वासना की कामना नही है। यदि यह तुम्हारी कन्या वास्तव मे मेरे प्रति अनुराग रखती है, तो मेरे द्वारा स्वीकृत परम सुखकर सयम-मार्ग पर यह भी प्रवृत्त हो जाय।"

आचार्य वज्र की त्याग एव तपोपूत विरक्तिपूर्ण सयुक्तिक वाणी सुन कर श्रेष्ठिकन्या रुक्मिणी के अन्तर्मन पर आया हुआ अज्ञान का काला पर्दा हट गया। उसके अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसने तत्काल संयम ग्रहण कर लिया और

[1] जइ सो मम पति होज्जा, ताऽह भोगे भु जिस्स। इयरहा अल भोगेहि

[आवश्यक मलयगिरी, पत्र ३८९(२)]

[2] जो कन्नाइ धणेण य निमतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा।
नयरम्मि कुसुमनामे, त वइररिसि नमसामि ॥७६८॥

[आवश्यक मलय, पत्र ३९० (१)]

१२ वर्ष व्यतीत करने है। यदि सयमगुण की वृद्धि मालूम होती हो तो यह पिण्ड ग्रहण करो और यदि सयमगुण मे किसी प्रकार का लाभ नही दिखता हो तो हम लोगो को आजीवन अनशन (सथारा) कर लेना चाहिये। आप लोग स्वेच्छापूर्वक इन दो मार्गो मे से जिस मार्ग को श्रेयस्कर समझते हो, उस ही मार्ग को अगीकार कर सकते है।"

वज्रस्वामी की उपरिकथित बात सुनकर सब (५००) साधुओ ने एकमत हो आमरण अनशन करने का अपना निश्चय उनके सामने अभिव्यक्त किया। अपने ५०० ही शिष्यों का एक ही दृढ निश्चय सुनकर आचार्य वज्रस्वामी ने अपने शिष्यसघ सहित दक्षिण प्रदेश के मागिया[१] नामक एक पर्वत की ओर प्रस्थान किया। उन्होने अपने नववय के एक साधु को अनशन मे सम्मिलित न होने के लिए समझाया पर वह नही माना। मार्ग मे आचार्य वज्रस्वामी ने उस नववय के साधु को किसी कार्य के व्याज से एक गाव मे भेज दिया और वे अपने अन्य सब साधुओ के साथ उस पर्वत पर जा पहुँचे। पर्वत पर पहुचने के पश्चात् आर्य वज्र स्वामी तथा उनके सभी शिष्यो ने भूमि का प्रतिलेखन किया और सबने यावज्जीव सभी प्रकार के अशन-पानादि का परित्याग कर अनशन ग्रहण कर लिया।

उधर वह युवा साधु गाव से पुन उसी स्थान पर लौटा, जहा से उसके गुरु ने उसे गाव मे भेजा था। अन्य साधुओ सहित वज्रस्वामी को वहा न देख कर वह युवा साधु समझ गया कि गुरु ने जानबूझ कर उसे अनशन के लिए साथ नही लिया है। उसने मन ही मन सोचा – "गुरुदेव मुझे सत्वहीन समझ कर पीछे छोड गये है। क्या मै वस्तुत निस्सत्व हूँ, निर्वीर्य हूँ ? सम्भवत मुझे अनशन के अयोग्य समझ कर ही गुरुदेव ने पीछे छोड दिया है। सयम की रक्षार्थ गुरुदेव अन्य सब साधुओ के साथ अनशन ग्रहण कर रहे है, तो मुझे भी उन्ही के पदचिन्हो पर चलना चाहिये।"

यह विचार कर उस युवा साधु ने उत्कट वैराग्य के साथ पर्वत की तलहटी मे पडी हुई एक प्रतप्त पाषाणशिला पर पादपोपगमन अनशन ग्रहण कर लिया। तप्तशिला और सूर्य की प्रखर किरणे मुनि को आग की तरह जलाने लगी। पर अनित्य भावना से ओत प्रोत मुनि ने अपने शरीर के साथ मन को भी पूर्णरूपेण निश्चल रखा और अतर्मुहूर्त काल मे ही वे अपने विनाशशील शरीर का परित्याग कर स्वर्गवासी हुए। देवो ने दिव्य घोष के साथ मुनि के धैर्य, वीर्य एव गाम्भीर्य का गुणगान किया।

दक्षिण प्रदेश के जिस मागिया नामक पर्वत पर आचार्य वज्रस्वामी और उनके साधु अनशनपूर्वक निश्चल आसन से आत्मचिन्तन मे निरत थे, उस ही पर्वत के अधोभाग मे देवताओ द्वारा मनाये जा रहे महोत्सव की दिव्यध्वनि सुन कर एक वृद्ध साधु ने वज्रस्वामी से उसका कारण पूछा। आचार्य वज्रस्वामी ने किशोर वय के मुनि द्वारा प्रतप्त शिला पर पादपोपगमन अनशन ग्रहण करने और उसके

[१] वीर वशावली अथवा तपागच्छ वृद्ध पट्टावली, जैन साहित्य सशोधक, खड १, अक ३, पृ १५

संध्याकाल मे चिन्ता रहने लगी कि कही दश पूर्वो का ज्ञान उनके साथ ही विच्छिन्न न हो जाय। महान् विभूतियो की आध्यात्मिक चिन्ता अधिक दिनो तक नही रह सकती, इस पारम्परिक जनश्रुति के अनुसार आर्य तोसलिपुत्र के आदेश से युवा मुनि आर्य रक्षित आचार्य वज्रस्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने आर्य वज्रस्वामी से ९ पूर्वो का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया पर दसवे पूर्व का वे आधा ही ज्ञान प्राप्त कर सके। एतद्विषयक पूरा विवरण आर्य रक्षित के इतिवृत्त में दिया जा रहा है।

तत्पश्चात् अनेक क्षेत्रो में भगवान् महावीर के धर्म-शासन का उद्योत करते हुए वज्रस्वामी आर्यावर्त्त के दक्षिणी क्षेत्र मे पधारे। वहा कफ की शान्ति के लिए उन्होने अपने किसी शिष्य से सोठ मंगवाई। उपयोग के पश्चात् अवशिष्ट सोठ को वज्रस्वामी ने अपने कान के ऊपरी भाग पर रख लिया और भूल गये। मध्याह्नोत्तर वेला मे प्रतिलेखन के समय मुखवस्त्रिका को उतारने के साथ ही सोठ पृथ्वी पर गिर पडी। यह देखकर वज्रस्वामी ने मन ही मन विचार किया "मेरी आयु का वस्तुत: अन्तिम छोर आ पहुंचा है और मै प्रमादशील हो गया हूँ इसी कारण कान पर सोंठ को रखकर मै भूल गया। प्रमाद मे संयम कहा? अत· मेरे लिए भक्त का प्रत्याख्यान कर लेना श्रेयस्कर है।"[1] तत्काल उन्होने ज्ञान के उपयोग से देखा कि शीघ्र ही एक और बड़ा भयावह द्वादशवार्षिक दुष्काल पडने ही वाला है, जो पहले के दुष्काल से भी अत्यन्त भीषण होगा। उस भीषण दुष्काल के कारण कही ऐसा न हो कि एक भी साधु जीवित न रह सके। इस दृष्टि से साधुवश की रक्षा हेतु वज्रस्वामी ने अपने शिष्य वज्रसेन को कुछ साधुओं के साथ कुकुण (कोंकण) प्रदेश की ओर विहार करने और सुभिक्ष न हो जाने तक उसी क्षेत्र में विचरण करने की आज्ञा दी। उन्होंने आर्य वज्रसेन से यह भी कहा – "जिस दिन एक लाख मुद्राओ के मूल्य के चावलों के आहार मे कही विष मिलाने की तैयारी की जा रही हो, उस दिन तुम समझ लेना कि दुष्काल का अन्तिम दिन है। उसके दूसरे दिन ही सुभिक्ष (सुकाल) हो जायगा।"[2] गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर आर्य वज्रसेन ने कतिपय साधुओ के साथ कुकुण की ओर विहार कर दिया और धन-धान्य से परिपूर्ण उस क्षेत्र में विचरण करने लगे।

आर्य वज्रस्वामी जिस क्षेत्र में विचरण कर रहे थे, उस क्षेत्र में शनै. शनै दुष्काल का दुष्प्रभाव भीषण से भीषणतर होने लगा। कई दिनो तक भिक्षा प्राप्त न होने के कारण भूख से पीडित साधुओं को वज्रस्वामी ने अपने विद्या बल से प्रतिदिन समानीत पिण्ड देते हुए कहा – "यह विद्या पिण्ड है और इस प्रकार

---

[1] तेसिं उवओगो जातो अहो। पमत्तो जातो, पमत्तस्स मे नत्थि सजमो, त सेय खलु मे भत्त' पच्चक्खाऽत्तए। [आवश्यक मलय पत्र, ३९५ (२)]

[2] इत्याकर्ण्य मुनि प्राह, गुरुशिक्षाचमत्कृत।
धर्मशीले शृणु श्रीमद्वज्रस्वामिनिवेदित ॥१९०॥
स्थालीपाके किलैकत्र, लक्षमूल्ये समीक्षिते।
सुभिक्ष भावि सविप, पाक मा कुरु तद्वृथा ॥१९१॥ [प्रभावक चरित्र पृ० ८]

(१) वज्रसेन सूरि के शिष्य नागहस्ती से वीर नि० स० ६०६ मे नाइला शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। कालान्तर मे इस नाइला शाखा से नाइल, चन्द, निव्वुई और विज्जाहर नामक चार कुल प्रशाखा के रूप मे उद्भूत हुए। इन चारो कुलो की गच्छ के रूप मे प्रसिद्धि हुई।

(२) आचार्य पद्म श्री से पोमिली शाखा का उद्भव हुआ।

(३) ऋषि जयन्त से जयन्ती शाखा प्रचलित हुई।

(४) तापस नामक मुनि से तापसी शाखा प्रकट हुई। ये तापस श्री शान्ति श्रेणिक नामक महात्मा के शिष्य थे।[1]

आर्य वज्रस्वामी के बहुमुखी अनुपम महान् व्यक्तित्व का एक कवि ने निम्नलिखित शब्दो मे चित्रण किया है –

> कि रूप किमुपागसूत्रपठन शिष्येपु कि वाचना।
> कि प्रज्ञा किमु निष्पृहत्वमथ कि सौभाग्यभग्यादिक ।।
> कि वा सघ समुन्नति सुरनति' कि तस्य कि वर्णनं।
> वज्रस्वामिविभो प्रभावजलधेरेकैकमप्यद्भुतम् ।।

गणाचार्य – आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य भी उपरोक्त अवधि मे आर्य वज्र ही रहे।

दिगम्बर परम्परा में वज्रमुनि

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के 'उपासकाध्ययन' और हरिषेणकृत वृहत्कथाकोश मे भी प्रभावना अग का वर्णन करते हुए वज्रमुनि का उल्लेख किया गया है। दोनो परम्पराओ मे वज्रमुनि को विविध विद्याओ का ज्ञाता और धर्म का प्रभावक माना गया है। दोनो परम्पराओ मे एतद्विषयक जो अन्तर अथवा समानता है वह सक्षेप मे इस प्रकार है :–

श्वेताम्बर परम्परा मे आर्य वज्र के पिता का नाम धनगिरि और माता का नाम सुनन्दा वताया गया है जबकि दिगम्बर साहित्य मे आर्य वज्र को पुरोहित सोमदेव और यज्ञदत्ता का पुत्र वताया है।[2] दिगम्बर परम्परा के उपरोक्त दोनो

---

[1] (क) यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्।
[उपासकाध्ययन (भारतीय ज्ञानपीठ), पृ० ८४]

(ख) भुजानाया रतिं तेन सोमदत्तेन भोगिना।
वभूव सहसा गर्भो यज्ञिकाया सुतेजस ।।१६।।
[वृहत्कथाकोश, भारतीय विद्याभवन, पृ० २३]

[2] अज्ज नाइली शाखा एव जयन्ती शाखा के प्रवर्तको के सम्बन्ध मे कल्प स्थविरावली की सक्षिप्त तथा वृहत्वाचनाओ मे मत वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है। जहा सक्षिप्त वाचना मे आर्य नाइल से नाइली शाखा का तथा आर्य जयन्त से जयन्ती शाखा का प्रादुर्भाव वताया है वहा विस्तृत वाचना मे आर्य वज्रसेन से नाइली शाखा का और आर्य रथ से जयन्ती शाखा का उद्गम वताया है। यह विचारणीय है। —सम्पादक

स्वर्गगमन आदि का विवरण सुनाते हुए कहा कि उस मुनि के स्वर्गगमन के उपलक्ष में देवगण महोत्सव मना रहे है।

नितान्त नव-वय के उस मुनि के अद्भुत आत्मबल से प्रेरणा लेकर सभी मुनि उच्च अध्यवसायो के साथ आत्मचितन में तल्लीन – एकाग्र हो गये। उन मुनियो के समक्ष व्यन्तर देवी द्वारा अनेक प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये गए पर वे सभी मुनि उन दैवी उपसर्गो से किंचित्मात्र भी विचलित नही हुए। वज्रस्वामी ने अपने उन सभी मुनियो के साथ समीपस्थ दूसरे पर्वत के शिखर पर जाकर भूमि का प्रतिलेखन किया तथा वहा उन्होने अपने-अपने आसन जमाये।[१] वहा आध्यात्मिक चिन्तन (समाधि भाव) में तल्लीन उन सभी साधुओं ने अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर स्वर्गगमन किया।

अनशनस्थ अपने सब शिष्यो के देहावसान के पश्चात् आर्य वज्रस्वामी ने भी एकाग्र एवं निष्कम्प ध्यान में लीन हो अपने प्राण विसर्जित किये। इस प्रकार जिनशासन की महान् विभूति आर्य वज्रस्वामी का वीर नि० स० ५८४ मे स्वर्गवास हुआ। आचार्य वज्रस्वामी के स्वर्गगमन के साथ ही दशम पूर्व और चतुर्थ सहनन (अर्धनाराच संहनन) का विच्छेद हो गया।[२]

आचार्य वज्रस्वामी का ज्ञान कितना अगाध था, इसका मापदण्ड आज के युग मे हमारे पास नही है। जिस पुण्यात्मा वज्र स्वामी ने जन्म के तत्काल पश्चात् जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण स्तनधयी शैशवावस्था मे स्तनपान के स्थान पर साध्वियो के मुख से उच्चरित तीर्थेश्वर की वाणी का पान करते हुए एकादशागी को कण्ठस्थ कर लिया हो और जिन्होने पौगण्डावस्था से ही संसार के समस्त प्रपचो-झमेलो से सर्वथा दूर रहते हुए निरन्तर समर्थ गुरुओं के सान्निध्य मे रह कर अहर्निश ज्ञानाराधना की हो, उनके निस्सीम ज्ञान का थाह पाने मे कल्पना भी ऊची से ऊंची उडाने भरती हुई अन्ततोगत्वा थक कर निराश हो जायगी। ऐसी ही महान् विभूतियों के तपोपूत त्याग-विराग और ज्ञान की आभा से शताब्दियों के तिमिराच्छन्न अतीत के उपरान्त भी साधक आज आलोक का लाभ कर रहे है।

आचार्य वज्रस्वामी ने ८० वर्ष तक विशुद्ध संयम का पालन करते हुए धर्म का प्रसार किया। वस्तुत वे जन्मजात योगी थे। उनकी वक्तृत्वशैली हृत्तलस्पर्शी, प्रभावोत्पादक और अत्यन्त आकर्षक थी। उन महान् आचार्य की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए वीर नि० सं० ५८४ में उनके स्वर्गगमन के पश्चात् **वज्जीशाखा** की स्थापना की गई।

वज्रस्वामी के शिष्यो द्वारा प्रचालित वज्जीशाखा के अतिरिक्त उनके प्रशिष्यो से जो शाखाए प्रचलित हुई, वे इस प्रकार है :-

---

१ यामो ध्यात्वेति ते जग्मुस्तदासन्न नगान्तरम् ।।१७२।। परि० पर्व, स० १३

२ दुष्कर्मावनिभृद्वज्रे, श्री वज्रे स्वर्गमीयुषि ।
विच्छिन्नं दशम पूर्व तुर्य सहननं तदा ।।१७६।। [वही]

जब उसने देखा कि मुनि सोमदेव ने घर चलना तो दूर, अपने पुत्र की ओर आख उठा कर भी नही देखा है तो उसने क्रुद्ध हो आक्रोशपूर्ण स्वर मे कहा – "ओ मेरे मन को जला डालने वाले पाषाण हृदय मूर्ख वचक ! इस दिगम्बर वेष को स्वेच्छा से छोड कर मेरे साथ घर चलता हो तो चल, अन्यथा सम्हाल अपने इस पुत्र को ।"[1]

इतना कहने पर भी मुनि को निश्चल भाव से ध्यानमग्न देख कर यज्ञदत्ता ने अपने उस कुसुमकोमल नवजात पुत्र को मुनि के चरणो पर लिटा दिया और स्वय अपने घर की ओर लौट गई ।

सूर्य के प्रचण्ड ताप से शिला जल रही थी । पैरो पर से प्रतप्त शिला पर गिरने से बालक का कही प्राणान्त न हो जाय, इस करुणापूर्ण आशका से मुनि सोमदेव अपने पैरो को विष्टर की तरह बनाये अचल मुद्रा मे खडे रहे । मुनि ने मन ही मन दृढ सकल्प किया कि जब तक वह उपसर्ग समाप्त नही हो जायगा तब तक आहारादि ग्रहण करना तो दूर, शरीर को किंचित्मात्र भी हिलाएगे-डुलाएगे तक नही ।[2] मुनि इस प्रकार का अभिग्रह कर पुन: ध्यानमग्न हो गये ।

यज्ञदत्ता के लौटने के थोडी ही देर पश्चात् भास्करदेव नामक विद्याधरराज अपनी पत्नी के साथ मुनिदर्शन हेतु वहा पहुचा । जब उसने सुन्दर, स्वस्थ और तेजस्वी शिशु को मुनि के पैरो पर लेटे हुए देखा तो मुनि वन्दन के पश्चात् उसने उसे उठा कर अपनी पत्नी की गोद मे देते हुए कहा – "धर्मिष्ठे ! लो । मुनिदर्शन के तात्कालिक सुखद फल के रूप मे हम सन्ततिविहीनो को यह पुत्र मिल गया है ।" सूर्य की प्रखर रश्मियो की ज्वालामाला का उस शिशु पर कोई प्रभाव नही पडा था, इस कारण विद्याधरदम्पती ने बालक का नाम वज्र रखा । उन्होने वज्र को अपना पुत्र घोषित करते हुए बडे दुलार के साथ उसका लालन-पालन किया । शिक्षायोग्य वय मे वज्र को समुचित शिक्षा दिलाने तथा चमत्कारपूर्ण विद्याए सिखाने की व्यवस्था की गई ।

दिगम्बर परम्परा मे श्वेताम्बर परम्परा की तरह आर्य वज्र का साधुसघ मे रहना नही माना गया है । वृहत्कथाकोश के अनुसार पवनवेगा नाम की एक विद्याधर कन्या के साथ और उपासकाध्ययन के अनुसार इन्दुमती और पवनवेगा नामक दो कन्याओ के साथ वज्रकुमार का विवाह होना माना गया है ।

उपरोक्त दोनो ग्रन्थो मे बताया गया है कि अनेक वर्षो तक गार्हस्थ्यजीवन का सुखोपभोग करने के पश्चात् एक दिन वज्रकुमार को अपने मित्रजनो से जब यह विदित हुआ कि भास्करदेव उसके पिता नही अपितु पालक मात्र है । वस्तुत

---

[1] यदीम दिगम्बर प्रतिच्छन्दमवच्छिद्य स्वच्छयच्छयागच्छसि तदागच्छ । नो चेद्गृहाणे-नमात्मनो नन्दनम् । [उपासकाध्ययन]

[2] उपसर्गो महानेष यदि क्षेमेण यास्यति ।
तदाहारशरीरादे प्रवृत्तिर्मे भविष्यति ।।३१।। [वृहत्कथाकोश, पृ० २३]

ग्रन्थो मे उल्लेख है कि जिस समय आर्य वज्र गर्भ मे थे उस समय उनकी माता यज्ञदत्ता को आम्रफल खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस समय आम्रफल की ऋतु नही थी। दोहद की पूर्ति न हो सकने के कारण यज्ञदत्ता दिनप्रतिदिन दुर्बल होने लगी। सोमदेव को अपनी गुर्विणी पत्नी के कृषकाय होने का कारण ज्ञात हुआ[1] तो वह बड़े असमजस में पड गया। अन्ततोगत्वा वह अपने कुछ छात्रो के साथ आम्रफल की खोज में घर से निकला। वह अनेक आम्रनिकुजो, वनों और उद्यानो मे घूमता फिरा किन्तु असमय में आम्रफल कहा से प्राप्त होता ? पर सोमदेव हताश नही हुआ, वह आगे बढता ही गया। एक दिन वह एक विकट वन में पहुंचा। उस वन के मध्यभाग मे उसने एक सघन आम्रवृक्ष के नीचे बैठे हुए एक तपस्वी श्रमण को देखा। यह देख कर उसके हर्ष का पारावार नही रहा कि वह आम्रवृक्ष बडे-बडे एव पक्व आम्रफलो से लदा हुआ है। आम्र की ऋतु नही होते हुए भी आम्रवृक्ष को आम्रफलों से लदा देख कर सोमदेव ने उसे मुनि के तपस्तेज का प्रभाव समझा और भक्तिविभोर होकर उसने मुनि के चरणो पर अपना मस्तक रख दिया। सोमदेव ने अपने साथ आये हुए छात्रों मे से एक छात्र के साथ अपनी पत्नी के पास आम्रफल भेज दिया और शेष छात्रों के साथ मुनि की सेवा मे बैठ कर उपदेश-श्रवण करने लगा। मुनि के त्याग-वैराग्यपूर्ण उपदेश और उनसे अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को सुन कर सोमदेव को जातिस्मरण ज्ञान हो गया।[2] भीषण भवाटवी के भयावह भवप्रपंच से मुक्त होने की एक तीव्र उत्कण्ठा उसके अन्तर में उद्भूत हुई और उसने तत्क्षण समस्त सासारिक झझटो को एक ही झटके में तोड़ कर उन अवधिज्ञानी[3] सुमित्र मुनि के पास निर्ग्रथ-श्रमण-दीक्षा ग्रहण करली। सोमदेव के साथ आये हुए छात्र अहिछत्र नगर को ओर लौट गये। एक छात्र के साथ आये आम्र से यज्ञदत्ता का दोहदपूर्ण हो गया। बाद मे आये छात्रो के मुख से अपने पति के प्रव्रजित होने का समाचार सुन कर यज्ञदत्ता को बडा दुःख हुआ। गर्भकाल की समाप्ति पर यज्ञदत्ता ने तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

उन्ही दिनो मुनि सोमदेव अपने गुरु सुमित्राचार्य के साथ विचरण करते हुए सोपारक नगर आये। मुनि सोमदेव गुरु की आज्ञा ले पास ही के पर्वत पर पहुँचे और वहा एक शिला पर खड़े हो सूर्य की आतापना लेते हुए ध्यानमग्न हो गये। यज्ञदत्ता को जब यह विदित हुआ कि मुनि सोमदेव निकटस्थ पर्वत पर सूर्य की आतापना ले रहे है तो वह नवजात शिशु को लेकर उस पर्वत पर मुनि के पास पहुँची। उसने बडी ही अनुनय-विनयपूर्वक सोमदेव को एक बार अपने तेजस्वी पुत्र की ओर देखने तथा घर लौट कर अपने गार्हस्थ्य भार को वहन करने की प्रार्थना की। बडी देर तक अनुनय-विनय करने के पश्चात् भी

[1] आम्राणि खादितु नाथ, दोहृदं मे मन प्रियम् ।।२१।। [बृहत्कथाकोश]

[2] वज्र के पिता आर्य धनगिरि के गुरू को जातिस्मरणज्ञान था, इस प्रकार के उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा मे उपलब्ध होते है। [सम्पादक]

माने गये है। परन्तु दोनो परम्पराओं द्वारा माने गये श्रुतकेवलियो के नामो मे तथा सत्ताकाल मे थोड़ी भिन्नता है। केवल पाचवे श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के नाम के सम्बन्ध मे दोनो परम्पराओ का मतैक्य है।

श्वेताम्बर परम्परा मे आर्य प्रभव, आर्य शय्यभव, आर्य यशोभद्र, आर्य सभूत विजय और आर्य भद्रबाहु – इस प्रकार ५ श्रुतकेवली और इनका श्रुतकेवलीकाल १०६ वर्ष का माना गया है।

जबकि दिगम्बर परम्परा मे विष्णु, नदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु इन ५ श्रुतकेवलियो का १०० वर्ष का समय माना गया है।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरो का परिचय दिया जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा ६४ वर्ष का केवलिकाल, १०६ वर्ष का श्रुतकेवलिकाल और ४१४ वर्ष का दशपूर्वधर-काल माना गया है। केवलिकाल के ६४ वर्ष, श्रुतकेवलिकाल के १०६ वर्ष और दशपूर्वधरकाल के ४१४ वर्ष – ये कुल मिला कर ५८४ वर्ष होते है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० स० ५८४ तक १० पूर्वो का ज्ञान विद्यमान रहा।

किन्तु दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर ६२ वर्ष तक केवलिकाल, तत्पश्चात् १०० वर्ष तक श्रुतकेवलिकाल और तदनन्तर १८३ वर्ष तक दशपूर्वधरो का काल रहा। इस प्रकार दिगम्बर मान्यतानुसार वीर नि० स० ३४५ तक ही १० पूर्वो का ज्ञान विद्यमान रहा। दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरो के नाम इस प्रकार है –

१ विशाखाचार्य, २. प्रोष्ठिल, ३. क्षत्रिय, ४. जय, ५ नागसेन, ६ सिद्धार्थ, ७ धृतिषेण, ८. विजय, ९. बुद्धिल, १० गगदेव और ११. धर्मसेन। इन ग्यारहो आचार्यो को गुणभद्राचार्य ने द्वादशाग के अर्थ मे प्रवीण तथा दश पूर्वधर बताया है।[1]

आ. नागहस्ती एवं आ. वज्र के समय की राजनैतिक स्थिति

यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० स० ४७० से ५३० तक देश मे विक्रमादित्य का शासन रहा। विक्रमादित्य के शासनकाल मे भारत राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक, बौद्धिक एव सैनिक शक्ति की दृष्टि से सबल, सुसमृद्ध एव समुन्नत रहा। विक्रमादित्य के पश्चात् उसके पुत्र विक्रमसेन के शासनकाल मे भी साधारणतया देश समृद्ध और सबल रहा। विक्रमसेन के शासन के अन्तिम दिनो मे शको के पुनः आक्रमण होने प्रारम्भ हुए और विदेशी शको ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के कई क्षेत्रो पर अपना आधिपत्य जमा लिया। विक्रमसेन की मृत्यु के पश्चात् शको के आक्रमणो का दबाव बढता ही गया।

---

[1] द्वादशागार्थ-कुशला, दशपूर्वधराश्च ते। [उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो. ५२३]

उसके पिता तो सोमदेव है, जो उसके जन्म से पहले ही मुनि बन चुके है। वस्तु-स्थिति से परिचित होते ही वज्रकुमार ने प्रतिज्ञा कर डाली कि वह अपने पिता के दर्शन किये बिना अन्न-जल ग्रहण नही करेगा। भास्करदेव तत्काल वज्रकुमार को साथ लेकर मुनि सोमदेव के दर्शनो के लिये प्रस्थित हुआ। दर्शन-वन्दन के पश्चात् मुनि के त्याग-विरागपूर्ण उपदेश को सुन कर वज्रकुमार को ससार से विरक्ति हो गई और उन्होने उसी समय सोमदेव मुनि के पास निर्ग्रंथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आर्य वज्र को चारण-ऋद्धिसम्पन्न मुनि माना गया है और दोनो परम्पराओ के मध्ययुगीन कथासाहित्य में उनके द्वारा आकाशगामिनी विद्या के अद्भुत चमत्कारपूर्ण कार्यो से जिनशासन की महती प्रभावना किये जाने के उल्लेख उपलब्ध होते है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे आर्य वज्र के प्रगुरू का नाम सुमित्र और गुरु का नाम सोमदेव बताया गया है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इन्हे जाति-स्मरणज्ञानधारी आर्य सिहगिरि का शिष्य मानती है। नाम, स्थान आदि विषयक कतिपय विभिन्नताओ के उपरान्त भी आर्य वज्र के पिता द्वारा वज्र के जन्म से अनुमानतः ६ मास पूर्व ही प्रव्रज्या ग्रहण करने, माता द्वारा उन्हे उनके पिता को दे दिये जाने, आर्य वज्र के गगनविहारी होने, जैनों के साथ बौद्धो द्वारा की गई धार्मिक उत्सव विषयक प्रतिस्पर्धा में आर्य वज्र द्वारा जैन धर्मावलम्बियों के मनोरथो की पूर्ति के साथ जिन-शासन की महिमा बढ़ाने आदि आर्य वज्र के जीवन की घटनाओं एव सम्पूर्ण कथावस्तु की मूल आत्मा में दोनो परम्पराओं की पर्याप्त साम्यता है, जो यह मानने के लिये आधार प्रस्तुत करती है कि आर्य वज्र के समय तक जैन सघ मे पृथकतः श्वेताम्बर तथा दिगम्बर – इस प्रकार का भेद उत्पन्न नही हुआ था।

दोनो परम्पराओ के मान्य ये मुनि निश्चित रूप से वे ही वज्रमुनि है, जो वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में हुए आर्य रक्षित के विद्यागुरु थे। परम्परा भेद के प्रकट होने का इतिहास भी इसी बात को प्रमाणित करता है। कारण कि श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा का स्पष्ट भेद आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० स० ६०९ मे और दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ मे माना गया है।

दशपूर्वधर-विषयक दिगम्बर मान्यता

यह पहले बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में भगवान् महावीर के निर्वाण पश्चात् ६२ वर्ष का तथा कुछ ग्रन्थो में ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है।

इन्द्रभूति, सुधर्मा और जम्बूस्वामी – इन ३ अनुबद्ध केवलियो के पश्चात् दिगम्वर परम्परा मे भी ५ श्रुतकेवली अर्थात् एकादशांगी और १४ पूर्वो के ज्ञाता

सामान्य पूर्वधर-काल

(वीर नि. स. ५८४ से १०००)

सामान्य पूर्वधर-काल के आचाय .

१६. आचार्य रक्षित

आचार्यकाल – वी. नि. स. ५८४ से ५९७

२०. आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आचार्यकाल – वी. नि. स. ५९७ से ६१७

२१. आचार्य वज्रसेन

आचार्यकाल – वी नि. सं. ६१७ से ६२०

२२. आचार्य नागहस्ती (नागेन्द्र)

आचार्यकाल – वी. नि स ६२० से ६८९

२३. आचार्य रेवतीमित्र

आचार्यकाल – ६८९ से ७४८

२४. आचार्य सिंह

आचार्यकाल – ७४८ से ८२६

२५. आचार्य नागार्जुन

आचार्यकाल – ८२६ से ९०४

२६. आचार्य भूतदिन्न

आचार्यकाल – ९०४ से ९८३

२७. आचार्य कालकाचार्य (चतुर्थ)

आचार्यकाल – ९८३ से ९९४

२८. आचार्य सत्यमित्र

आचार्यकाल – ९९४ से १००१

रेवतीनक्षत्र के शरीर का वर्ण जातीय अजन, पकी दाख अथवा नील कमल के समान श्याम बताया है।

आर्य रेवतीनक्षत्र के समय मे वाचकवश की उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आगम-वाचना मे आप विशिष्ट रूप से कुशल थे। आपके जन्म, दीक्षा आदि काल का परिचय उपलब्ध नही होता।

आर्य रक्षित – युगप्रधानाचार्य

आर्य वज्रस्वामी के पश्चात् आर्य रक्षित एक विशिष्ट युगप्रधान आचार्य माने गये है। इनका जन्म वीर नि० स० ५२२ मे, दीक्षा २२ वर्ष की वय होने पर वीर नि० स० ५४४ मे, युगप्रधानपद ४० वर्ष तक सामान्य श्रमणपर्याय पालन के पश्चात् वीर नि० स० ५८४ मे और ७५ वर्ष की पूर्णायु के पश्चात् वीर नि० स० ५९७ मे स्वर्गवास माना गया है। कुछ आचार्यो ने वीर नि० स० ५८४ मे आपका स्वर्गवास होना बताया है। आपके दीक्षागुरु आचार्य तोषलिपुत्र और विद्यागुरु आर्य वज्र माने गये है। आवश्यक चूर्णि आदि प्राचीन ग्रथो मे आपका परिचय इस प्रकार उपलब्ध होता है –

मालव प्रदेश के दशपुर (मन्दसोर) नामक नगर मे सोमदेव नामक एक ब्राह्मण पुरोहित रहते थे। उनकी धर्मपत्नी रुद्रसोमा जैनधर्म की उपासिका थी। सोमदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम रक्षित और दूसरे का फल्गुरक्षित था। सोमदेव ने अपने पुत्र रक्षित को दशपुर मे शिक्षा दिलाने के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए पाटलीपुत्र भेजा। प्रतिभाशाली किशोर रक्षित ने पाटलीपुत्र मे रह कर स्वल्प समय मे ही वेद-वेदागादि १४ विद्याओ मे निष्णातता प्राप्त की और अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् दशपुर लौटे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने पुरोहित-पुत्र के लौटने का समाचार सुन कर दशपुर के राजा ने और नागरिको ने रक्षित का भव्य स्वागत किया। स्वागतार्थ उपस्थित लोगो मे आर्य रक्षित को उनकी माता रुद्रसोमा कही दृष्टिगोचर नही हुई।

सब लोगो का अभिवादन स्वीकार करने के पश्चात् रक्षित ने घर आकर माता को प्रणाम किया। सामायिक मे होने के कारण रुद्रसोमा ने अपने पुत्र की ओर मध्यस्थभाव से देखा और 'स्वागत' कह वह पुन आत्मचिन्तन मे लीन हो गई। माता की ओर से अपेक्षित वात्सल्य और उल्लास का अभाव और मध्यस्थ भाव देख कर रक्षित ने पूछा – "अम्ब! मेरे विद्याध्ययन कर लौटने पर नगर मे सबको प्रसन्नता है पर तुम्हारे मुख पर मुझे सन्तोष दृष्टिगत नही होता। इसका क्या कारण है?"

माता रुद्रसोमा ने कहा – "पुत्र! तुमने हिसावर्द्धक ग्रन्थ पढे है, इससे तो जन्म-मरण रूपी भवभ्रमण की ही वृद्धि हो सकती है। ऐसी दशा मे मुझे सन्तोष किस प्रकार हो? स्व-पर का कल्याण करने वाले दृष्टिवाद को पढकर आया होता तो मुझे सन्तोष होता।"

सामान्य पूर्वधर-काल

वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक के दशपूर्वधरकाल के आचार्यो का परिचय दिया जा चुका है। वीर नि० सं० ५८४ से वीर नि० स० १००० तक सामान्य पूर्वधरकाल रहा। इस अवधि में आर्य रक्षित सार्द्धनव पूर्वो के ज्ञाता आचार्य हुए। आर्य रक्षित के पश्चात् भी पूर्वज्ञान की क्रमश· परिहानि होती रही। आर्य रक्षित के पश्चात् होने वाले आचार्यो मे कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने पूर्वों के ज्ञाता रहे, एतद्विषयक कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता। ऐसी दशा मे निश्चित रूप से तो यही कहा जा सकता है कि वीर नि० सं० १००० तक सम्पूर्ण रूपेण १ पूर्व का और शेष पूर्वो का आशिक ज्ञान विद्यमान रहा।

२३. रेवतीनक्षत्र–वाचनाचार्य
२४. रेवतीमित्र – युगप्रधानाचार्य

आर्य नागहस्ती के पश्चात् आर्य रेवतीनक्षत्र वाचनाचार्य हुए। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीनक्षत्र एक ही आचार्य थे अथवा भिन्न-भिन्न, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करने वाला कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नही होता। इन दोनो आचार्यो के नाम मे पर्याप्त साम्य होने के कारण प्राय. प्रत्येक व्यक्ति को यह भ्रान्ति हो सकती है कि रेवतीनक्षत्र और रेवतीमित्र एक ही आचार्य के दो नाम है, जो वाचनाचार्य भी थे और युगप्रधानाचार्य भी। किन्तु वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य इन दोनो परम्पराओ के आचार्यो के काल के सम्बन्ध मे गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्टत. यह अनुमान होने लगता है कि वस्तुत: वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र भिन्न-भिन्न समय मे हुए दो भिन्न आचार्य थे।

जिस प्रकार पादलिप्त के गुरू एवं आर्य रक्षित के समकालीन वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और आर्य वज्रसेन के शिष्य युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) के बीच काल का पर्याप्त व्यवधान होना सिद्ध किया जा चुका है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मद्वीपकसिह के शिष्य आर्य रेवतीनक्षत्र से नागेन्द्र के शिष्य आर्य रेवतीमित्र भी पर्याप्त काल पश्चात् होने चाहिये।

आर्य वज्रसेन के समय के आसपास होने के कारण वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र का स्वर्गगमन अधिक से अधिक वीर निर्वाण स० ६४०–६५० के आसपास होना चाहिये जबकि युगप्रधानाचार्य आर्य रेवतीमित्र का स्वर्गगमन वीर नि० सं० ७४८ में माना गया है, जो आर्य रेवतीनक्षत्र के स्वर्गगमन से लगभग १०० वर्ष पश्चात् का ठहरता है।

आर्य रेवतीनक्षत्र की स्तुति करते हुए आचार्य देववाचक ने भी कहा है: "रेवतीनक्षत्र का वाचकवश वर्द्धमान हो।[1]" आचार्य देववाचक ने आर्य

[1] वड्ढउ वायगवसो, रेवइनक्खत्त नामाण। [नदी-स्थविरावली]

प्रति अत्यधिक अनुराग है। मुझे आशका है कि वे लोग कही मुझे बलात् घर लौटा कर न ले जाए अत मेरे लिए श्रेयस्कर यही है कि अब शीघ्र ही यहा से किसी अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया जाय।"

नवदीक्षित मुनि रक्षित की प्रार्थना स्वीकार कर आचार्य तोषलिपुत्र ने अपने शिष्यसमूह सहित इक्षुवाटिका से विहार कर दिया। गुरु-सेवा मे रह कर बडी लगन के साथ अध्ययन करते हुए मुनि रक्षित ने अल्प समय मे ही आचाराग आदि एकादश अगो का पूर्ण अध्ययन और दृष्टिवाद का जितना ज्ञान आचार्य तोषलिपुत्र के पास था, उसका अध्ययन कर लिया।

तदनन्तर आचार्य तोषलिपुत्र ने मुनि रक्षित को पूर्वो के अग्रेतन अध्ययन के लिए दश पूर्वधर आचार्य वज्र स्वामी के पास भेजा। आर्य वज्र की सेवा मे जाते समय मुनि रक्षित उज्जयिनी पहुँचे। वहा स्थविर भद्रगुप्त ने युवा मुनि रक्षित का स्वागत करते हुए कहा – 'वत्स! तुम ठीक समय पर आ गये। अब मेरा अन्तिम समय आ चुका है। मेरी सलेखना मे यहा अन्य कोई निर्यामक नही है अत तुम निर्यामक बन कर मेरी सलेखना पूर्ण होने तक यहा मेरे पास ही रहो जिससे कि मेरी सलेखना पूर्ण समाधि के साथ सम्पन्न हो।"

तपोधन श्रमणश्रेष्ठ स्थविर की अन्तिम सेवा के स्वर्णिम सुयोग को अपना अहोभाग्य समझ कर मुनि रक्षित उज्जयिनी मे स्थविर भद्रगुप्त के पास रहे और उन्होने बडी लगन के साथ उनकी सेवा की।

अन्त मे स्थविर भद्रगुप्त ने मुनि रक्षित से कहा – "वत्स! तुम पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्य वज्र के पास जा रहे हो, यह तो ठीक है पर तुम उनसे अलग उपाश्रय मे ठहर कर विद्याभ्यास करना। क्योकि इस समय आर्य वज्र की जन्म कुण्डली मे इस प्रकार का योग पडा हुआ है कि जो कोई भी उनके पास एक रात्रि के लिए भी ठहरेगा, उसका उन्ही के साथ मरण होना सुनिश्चित है।" आर्य रक्षित ने स्थविर भद्रगुप्त की आज्ञा को शिरोधार्य किया।

स्थविर भद्रगुप्त के समाधिपूर्वक स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य रक्षित ने आर्य वज्र की सेवा मे उपस्थित होने के लिए उज्जयिनी से विहार किया। वे सीधे आर्य वज्र के उपाश्रय मे न जाकर एक पृथक् स्थान मे ठहरे। प्रात काल रक्षित मुनि आचार्य वज्र की सेवा मे पहुँचे। आर्य रक्षित के उपाश्रय मे पहुँचने से कुछ समय पहले आचार्य वज्र ने अपने शिष्यो से कहा – "मैने आज रात्रि के अवसान समय मे स्वप्न देखा कि एक आगन्तुक हमारे यहा आया और मेरे पात्र मे रखा हुआ अधिकाश दूध उसने पी लिया, अल्प दुग्ध ही शेष रहा।"

जिस समय आर्य वज्र अपने शिष्यो से यह कह ही रहे थे, उसी समय आर्य रक्षित ने उनकी सेवा मे पहुँच कर सविधि भक्तिसहित वन्दन किया।

आचार्य वज्रस्वामी ने आगन्तुक से पूछा – "कहा से आये हो।"

मुनि रक्षित ने कहा – "आर्य तोषलिपुत्र की सन्निधि से।'

रक्षित ने बडी जिज्ञासापूर्वक दृष्टिवाद और उसके ज्ञाता आदि के सम्बन्ध मे अपनी माता से अनेक प्रश्न किये और माता ने पुत्र की जिज्ञासा को शात करते हुए कहा – "पुत्र ! इक्षुवाटिका में आचार्य तोषलिपुत्र विराजमान है, वे दृष्टिवाद के ज्ञाता है ।"

"कल ही मै उनके पास अध्ययनार्थ चला जाऊगा ।" – यह कह कर रक्षित ने माता को आश्वस्त किया और दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही माता की आज्ञा ले वह दशपुर से इक्षुवाटिका की ओर प्रस्थित हुआ ।

नगर से बाहर निकलते ही रक्षित को सामने की ओर से आते हुए एक वृद्ध सज्जन मिले जो सोमदेव के बालसखा थे । यथोचित अभिवादनादि के पश्चात् रक्षित का परिचय मिलते ही आगन्तुक वृद्ध ने हर्ष प्रकट करते हुए कहा – "पुत्र मै तुम्हे देखने के लिए ही आया हूँ । लो, मै तुम्हारे लिए यह सौगात लाया हूँ ।"

यह कह कर वृद्ध ने ९ पूर्ण और एक आधा इस तरह साढ़े नौ इक्षुदण्ड रक्षित की ओर बढाये ।

रक्षित ने विनम्र स्वर मे वृद्ध से कहा – "तात ! मै अध्ययनार्थ बाहर जा रहा हूँ । आप घर पधारे, ये इक्षुयष्टिया माता को ही दे दे और कह दे कि रक्षित मुझे मिल गया था ।"

इस प्रकार आगन्तुक से थोडी देर तक बात करने के पश्चात् रक्षित अपने गन्तव्य स्थान की ओर आगे बढा ।

इक्षुवाटिका पहुँचने के पश्चात् रक्षित यह सोचते हुए उपाश्रय के बाहर ही खड़ा हो गया कि आचार्य के पास किस प्रकार जाना और अभिवादन करना चाहिये । रक्षित इस प्रकार सोच ही रहा था कि एक श्रावक उपाश्रय के अन्दर से आया और दैहिकचिन्ता से निवृत्त हो पुनः उपाश्रय मे लौटने लगा । रक्षित ने भी तत्क्षण उस श्रावक का अनुसरण करते हुए उपाश्रय में प्रवेश कर आचार्य तोषलिपुत्र को विधिपूर्वक उसी तरह प्रणाम किया जिस प्रकार कि उस श्रावक ने किया ।

आचार्य ने नवागन्तुक को यथाविधि वंदन करते हुए देखकर पूछा – "वत्स तुमने यह धर्मक्रिया का ज्ञान कहा से पाया ?"

आर्य रक्षित ने उस श्रावक की ओर इगित करते हुए कहा – "इनसे ।"

तदनन्तर आचार्य द्वारा आगमन का कारण पूछने पर रक्षित ने विनय-पूर्वक निवेदन किया – "भगवन् ! मै दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए आपकी सेवा में आया हूँ ।"

आचार्य द्वारा यह कहने पर कि दृष्टिवाद का ज्ञान तो दीक्षित होने पर हो दिया जा सकता है, रक्षित तत्काल दीक्षा ग्रहण करने के लिए सहर्ष उद्यत हो गया । श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् रक्षित मुनि ने अपने गुरु तोषलिपुत्र से निवेदन किया – "भगवन् ! यहा के राजा का और सभी नागरिकों का मेरे

"यथाज्ञापयति देव !" कह कर आर्य रक्षित ने पुन आगे पढना प्रारम्भ किया, पर क्योकि अब उन्हे पहले के समान आत्मविश्वास नही रहा था कि वे अवशिष्ट अथाह ज्ञान को हृदयगम कर सकेगे अत वे पुन पुन आचार्य वज्र से दशपुर जाने के लिए अनुमति चाहने लगे। इस पर आचार्य वज्र के मन मे विचार आया कि क्या दशवा पूर्व उनके देहावसान के साथ ही विच्छिन्न हो जायगा ? उन्होने ज्ञानोपयोग लगा कर देखा – "वस्तुत अब आर्य रक्षित दशपुर जाने के पश्चात् लौट कर नही आयेगा।[1] न कोई ऐसा अन्य सुयोग्य पात्र ही दृष्टिगोचर होता है, जो समस्त पूर्वज्ञान को ग्रहण कर सके और न मेरा आयुष्य ही अब इतना अवशिष्ट है। ऐसी दशा मे दशवा पूर्व मेरी आयुसमाप्ति के साथ ही भरतक्षेत्र से नष्ट हो जायगा।"[2]

इस प्रकार अपने ज्ञानोपयोग से अवश्यभावी भवितव्य को देख कर आचार्य वज्र ने अन्ततोगत्वा आर्य रक्षित को दशपुर जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

इस प्रकार आर्य रक्षित ९ पूर्वो का सम्पूर्ण और दशवे पूर्व का अपूर्ण-आधा ज्ञान ही प्राप्त कर सके। आचार्य वज्र की अनुमति प्राप्त होते ही वे अपने अनुज मुनि फल्गुरक्षित के साथ दशपुर की ओर प्रस्थित हुए। दशपुर पहुँचने के पश्चात् आर्य रक्षित ने अपने माता-पिता आदि परिजनों को उपदेश देकर प्रतिबुद्ध किया। इसके फलस्वरूप वे सब श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गये। रक्षित के पिता खत (वृद्ध मुनि) सोमदेव भी पुत्रानुरागवश उनके साथ विचरते रहे पर बाल्यकाल से चले आ रहे सस्कार और लज्जावश वे निर्ग्रन्थ के लिए विहित लिग-वेश धारण नही कर पाये। उन्हे आरम्भ मे छत्र, उपानत्, यज्ञोपवीत आदि धारण करने की छूट देकर फिर शनै शनै पूर्णरूपेण साधुमार्ग मे स्थिर किया गया।

नवदीक्षित साधुओ को लेकर आर्य रक्षित अपने गुरु आर्य तोषलिपुत्र की सेवा मे पहुँचे। साढे नौ पूर्वो के ज्ञानधारी अपने शिष्य आर्य रक्षित को देख कर आचार्य तोषलिपुत्र ने परम सतोष का अनुभव किया और उन्हे सर्वथा योग्य समझ कर अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियुक्त किया।

आचार्य रक्षित ने विभिन्न क्षेत्रो मे विहार कर अनेक भव्यजनो को प्रबोध दिया।

आवश्यक निर्युक्ति मे आर्य रक्षित को अनुयोगो का पृथक्कर्त्ता बताने के साथ-साथ उन्हे शक्रेन्द्र द्वारा वन्दित भी बताया गया है। "देविदवदिएहि" इस विशेषण की सार्थकता बताते हुए आवश्यक निर्युक्ति मे बताया गया है कि सीमधरस्वामी के मुखारविन्द से आर्य श्याम (प्रथम कालकाचार्य) की ही तरह आर्य रक्षित की निगोद-व्याख्याता के रूप मे प्रशसा सुन कर इन्द्र आर्य वज्र की

---

[1] सोऽथामस्तेत्यतोयातो, नायमायास्यति पुन. । [परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३]

[2] तथा दशमपूर्व च, मय्यैव स्थास्यति ध्रुवम् [प्रभावक च० पृ० १२]

आचार्य वज्र ने पूछा – "क्या तुम आर्य रक्षित हो ?"

विनयावनत हो आर्य रक्षित ने कहा – "हा, भगवन् ।"

आचार्य वज्र ने "स्वागतम्" कह कर पूछा – "क्या तुम यह नही जानते कि पृथक् स्थान में रहते हुए समीचीन रूप से अध्ययन नही होता ?"

आर्य रक्षित ने जब आचार्य भद्रगुप्त से प्राप्त निर्देश के अनुसार पृथक् ठहरने की वात कही तो आचार्य वज्र ने कहा – "ठीक है, स्वर्गस्थ आचार्य ने किसी कारण से ही ऐसा कहा होगा ।"

तदनन्तर आचार्य वज्र ने आर्य रक्षित को पूर्वो की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। महामेधावी आर्य रक्षित ने बडी लगन और तत्परता से अध्ययन करते हुए अल्प समय मे ही नव (९) पूर्वो की शिक्षा पूर्ण कर ली और दशवे पूर्व का अध्ययन प्रारम्भ किया।

उधर आर्य रक्षित के माता-पिता पुत्रवियोग से चिन्तित हो सोचने लगे – "अहो ! हमने सोचा था कि पुत्र उद्योत करेगा पर वह तो घर मे अधेरा कर चला गया ।" उन्होने आर्य रक्षित को बुला लाने के लिए अपने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित को भेजा।

फल्गुरक्षित ने आर्य रक्षित के पास पहुँच कर कहा – "माता आपको अहर्निश स्मरण करती रहती है। आप अगर एक वार दशपुर चलो तो माता-पिता आदि सभी स्वजन प्रव्रज्या ग्रहण कर लेगे ।"

आर्य रक्षित पूर्णतः अध्यात्मज्ञान में रम चुके थे । उन्होने समझ लिया था – "ससार के सभी सम्बन्ध नश्वर है। तन, धन, परिजन आदि कोई मेरा नही है। मै शरीर से भिन्न शुद्ध चेतन हूँ । ज्ञान मेरा स्वभाव और विवेक ही मेरा मित्र है ।"

उन्होने फल्गुरक्षित से कहा – "वत्स ! यदि मेरे चलने पर माता-पिता आदि प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर है, तो पहले तुम तो प्रव्रज्या ग्रहण कर लो ।"

फल्गुरक्षित ने तत्काल प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और वे श्रमणधर्म का यथाविधि पालन करते हुए सदा आर्य रक्षित को दशपुर चलने की स्मृति कराते रहे ।

एक दिन आर्य रक्षित ने आचार्य वज्र से पूछा – "भगवन् ! अब दशवा पूर्व कितना और पढना शेष है ?"[1]

आचार्य वज्र ने कहा – "वत्स अभी तो सिन्धु मे से बिन्दु जितना हुआ है और समुद्र जितना शेष है ।"

आर्य रक्षित ने इतना विशाल ज्ञान अर्जन करना अपने सामर्थ्य से बाहर समझ कर आर्य वज्र से दशपुर जाने की अनुमति चाही पर आर्य वज्र ने उन्हे आश्वस्त करते हुए कहा – "वत्स ! धैर्य धारण करो । अभी और पढो ।"

---

[1] दशमस्यास्य पूर्वस्य, मयाधीत कियत्प्रभो ।
अवशिष्ट कियच्चेति, सप्रसाद समादिश ।।

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३]

घृतपुष्यमित्र अपनी लब्धि के प्रभाव से साधुओ को जितने घृत की आवश्यकता होती उतना ही घृत और वस्त्र-पुष्यमित्र वस्त्रलब्धि के प्रताप से श्रमणो की आवश्यकतानुसार वस्त्र किसी गरीब से गरीब गृहस्थ के यहा से भी प्राप्त कर सकते थे । लब्धि के कारण उन दोनो को प्रत्येक गृहस्थ क्रमश घृत और वस्त्र देने के लिए सहर्ष उद्यत रहता था ।

दुर्बलिकापुष्यमित्र स्वाध्याय के बडे रसिक थे अत अहर्निश स्वाध्याय मे निरत रहते थे । निरन्तर स्वाध्याय के कारण वे बडे दुर्बल हो गये थे । गुरु-चरणो मे रहकर सतत अध्ययन करते हुए उन्होने ९ पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर लिया ।

आर्य रक्षित के गण मे दुर्बलिकापुष्यमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल ये चार सर्वाधिक प्रतिभा एव योग्यतासम्पन्न मुनि माने जाते थे । उनका अन्य साधुओ पर भी वडा प्रभाव था । इनमे विन्ध्य मुनि अत्यन्त मेधावी और सूत्रार्थ की धारणा मे पूर्णत समर्थ थे । अध्ययन के समय अन्य शिक्षार्थी साधुओ के साथ उन्हे जितना सूत्रपाठ आचार्य श्री से प्राप्त होता था, उससे उनको सतोष नही होता था । मुनि विन्ध्य ने एक दिन आचार्य की सेवा मे निवेदन किया – "भगवन् ! मुझे पर्याप्त सूत्रपाठ नही मिल पाने के कारण मेरा अध्ययन समीचीन रूपेण नही हो रहा है अत कृपा कर मेरे लिए एक पृथक वाचनाचार्य की व्यवस्था करे ।"

आचार्य रक्षित ने मुनि विद्य की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र को आज्ञा दी कि वे विन्ध्य मुनि को वाचना दे । कतिपय दिनो तक विन्ध्य मुनि को वाचना देने के पश्चात् दुर्बलिकापुष्यमित्र ने आचार्य की सेवा मे उपस्थित हो निवेदन किया – "गुरुदेव ! मुनि विन्ध्य को वाचना देने मे निरत रहने के कारण मै पठित ज्ञान का पूरा परावर्तन नही कर पाता अत· अनेक सूत्रपाठ मेरे स्मृति-पटल से तिरोहित हो रहे है । पहले पारिवारिक लोगो के यहा आने-जाने के कारण भी परावर्तन नही हो पाया था । इस प्रकार मेरा नौवे पूर्व का ज्ञान नष्ट हो रहा है ।"

अपने मेधावी शिष्य दुर्बलिकापुष्यमित्र के मुख से विस्मरण की बात सुन कर आचार्य रक्षित ने सोचा – "जब ऐसे परम मेधावी मुनि को भी पठितार्थ का स्मरण न करने के कारण विस्मरण हो रहा है तो अन्य की क्या स्थिति होगी ?"

उपयोग-वल से आचार्य रक्षित ने भविष्यकालीन साधुओ (शिष्यो) की धारणाशक्ति को मद जान कर उन पर अनुग्रह करते हुए, वे सुखपूर्वक ग्रहण और धारण कर सके इसके लिए प्रत्येक सूत्र के अनुयोग पृथक् कर दिये । अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य नयदृष्टि का मूल भाव नही समझ कर कही कभी एकान्त ज्ञान, कभी एकान्त क्रिया या एकान्त निश्चय अथवा एकान्त व्यवहार को

परीक्षा लेने आया और उनके मुख से निगोद की सूक्ष्मतर व्याख्या सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ।[1]

अनुयोगों का पृथक्करण

अनुयोगों के पृथक्कर्त्ता के रूप मे आर्य रक्षित का नाम जैन इतिहास मे सदा अमर रहेगा।

जैन शासन में प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि आचार्य अपने मेधावी शिष्यो को आगम के छोटे-बड़े सभी सूत्रो की वाचना देते समय चारों अनुयोगों का उन्हें बोध करा दिया करते थे। उनकी वाचना का वह सही रूप हमारे समक्ष नही है तथापि इतना कहा जा सकता है कि वे वाचना देते समय प्रत्येक सूत्र पर आचारधर्म, उनके पालनकर्त्ता, उनके साधनक्षेत्र का विस्तार और नियम ग्रहण की कोटि एवं भग आदि का वर्णन कर सभी अनुयोगो का एक साथ बोध करा देते होगे। इसी को अपृथक्त्वानुयोग वाचना कहा जाता है। अपृथक्त्वानुयोग की व्याख्या करते हुए आवश्यक मलयगिरि वृत्ति मे कहा गया है – "जब चरणकरणानुयोग आदि चारो अनुयोगो का प्रत्येक सूत्र पर विचार किया जाय तो उसे अपृथक्त्वा-नुयोग कहते है। अपृथक्त्वानुयोग मे विभिन्न नय-दृष्टियों का अवतरण किया जाता है और उसमें प्रत्येक सूत्र पर विस्तार के साथ चर्चा की जाती है। पर पृथक्त्वानुयोग की व्यवस्था में ऐसा करना आवश्यक नही होता।"[2]

वाचना की यह अपृथक्त्वानुयोगात्मक पद्धति आर्य वज्र तक अक्षुण्णरूपेण चलती रही। जैसा कि कहा गया है :–

"आर्य वज्रस्वामी तक कालिक आगमो के अनुयोग (वाचना) मे अनुयोगों का अपृथक्त्व रूप रहा, उसके पश्चात् आर्य रक्षित से कालिक-श्रुत और दृष्टिवाद के पृथक् अनुयोग की व्यवस्था की गई।"[3]

अनुयोगो के पृथक्करण की वह घटना इस प्रकार है :– "आर्य रक्षित के धर्मशासन मे ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और वादी सभी प्रकार के साधु थे। आर्य रक्षित के उन शिष्यो मे पुष्यमित्र नाम के तीन शिष्य विशिष्ट गुणसम्पन्न और महामेधावी थे। उनमें से एक को दुर्बलिकापुष्यमित्र दूसरे को घृतपुष्यमित्र और तीसरे को वस्त्रपुष्यमित्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था। दूसरे और तीसरे पुष्यमित्र मुनि लब्धिसम्पन्न थे।

---

[1] देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिय अज्जेहिं।
जुगमासज्ज विहत्तो, अणुओगो ता कओ चउहा ।।७७४।।
[आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, प० ३९१ (२)]

[2] अपुहुत्तमेगभावो, सुत्ते सुत्ते सुवित्थरं जत्थ।
भन्नतणुओगा, चरणधम्मसखाणदव्वाण ।।
[आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० ३८३ (२)]

[3] जावंति अज्जवइरा अपुहुत्त कालियाणुओगे य।
तेणारेण पुहुत्तं कालियसुय दिट्ठिवाये य ।।१६३।।
[वही]

मे गौतम गोत्रीय आर्य वज्र से वज्री शाखा का प्रकट होना तथा अगले सूत्र मे आर्य रथ से जयन्ती शाखा के प्रकट होने का उल्लेख है।[1]

कल्प सूत्रस्थ स्थविरावली मे आर्य रथ से प्रचलित हुई आचार्य परम्परा के आचार्यो का ही गणाचार्य परम्परा के रूप मे नामोल्लेख किया गया है अत प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी कल्पसूत्रीया स्थविरावली का अनुसरण करते हुए उसे प्रमुख मानकर गण परम्परा के रूप मे उस ही का उल्लेख किया गया है। दुर्भाग्य है कि आर्य रथ से प्रचलित हुई इस गणाचार्य परम्परा के आचार्यो का नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई परिचय आज उपलब्ध नही होता। दूसरी ओर गुर्वावली, तपागच्छ पट्टावली और वीरवशावली आदि में वज्रसेन के पश्चात् आर्य चन्द्र से आचार्य परम्परा चलती है। ऐसी स्थिति मे आर्य रथ से चलने वाली आचार्य परम्परा के आचार्यो का कोई परिचय उपलब्ध न होने के कारण यहा उनके नाम मात्र बताये जा सकेगे। और आर्य चन्द्र से चलने वाली परम्परा के आचार्यो का यत्किंचित् जो परिचय प्राप्त होता है, उसे यहा सक्षेपतः दिया जायगा।

सातवां निह्नव गोष्ठामाहिल

सातवा एव अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल वीर नि० स० ५८४ मे हुआ। गोष्ठामाहिल ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तो के विपरीत अपसिद्धान्त 'अबद्धिक-दर्शन' का प्ररूपण एव प्रवर्तन किया अत· वह निह्नव कहलाया। गोष्ठामाहिल और उसके द्वारा प्ररूपित अबद्धिक दर्शन का परिचय यहा सक्षेप मे दिया जा रहा है।

अपने जीवन के अन्तिम वर्ष मे आर्य रक्षित उद्यत विहार से अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए एक दिन अपने शिष्य परिवार सहित दशपुर नगर के बहिराचल मे अवस्थित इक्षुधर नामक स्थान मे पधारे।

उन दिनो मथुरा मे अक्रियावादियो का वर्चस्व बढ रहा था। उन्होने सभी धर्मावलम्बियो को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी। अक्रियावादियो के साथ वाद करने का किसी विद्वान् ने साहस तक नही किया। जैन धर्म की चिरअर्जित प्रतिष्ठा की रक्षार्थ सघ ने एकत्रित होकर विचार-विमर्श किया। अन्य किसी विद्वान् को अक्रियावादियो के साथ शास्त्रार्थ करने मे समर्थ न पाकर सघ ने आर्य रक्षित के पास दशपुर (मन्दसौर) सन्देश भेजकर उन्हे मथुरा मे आकर अक्रिया-वादियो को परास्त करने की प्रार्थना की। प्रव्रजित होने के प्रथम दिन से ही अपने कर्मसमूहो को तप-सयम की प्रचण्ड ज्वालाओ मे भस्मावशेष कर डालने का दृढ सकल्प लिये आर्य रक्षित अपने शरीर को अस्थिपजर मात्र बना चुके थे। इसके उपरान्त वे बहुत वृद्ध हो चुके थे और उन्हे यह विदित था कि उनके जीवन

---

[1] थेरेहिंतो ण अज्ज वइरेहिंतो गोयमसगुत्तेहिंतो इत्थ ण अज्ज वइरीसाहा णिग्गया ।।१३।।
थेरेहिंतो ण अज्ज रहेहिंतो इत्थ ण अज्ज जयती साहा णिग्गया ।।१४
[कल्प स्थविरावली]

ही उपादेय नही मान ले तथा सूक्ष्म विषय मे मिथ्याभाव नही ग्रहण करे, एतदर्थ नयों का विभाग नही किया।[1]

आर्य रथ – गणाचार्य

आर्य वज्र के आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ – ये तीन प्रमुख शिष्य थे।[2] आर्य वज्रसेन को कालान्तर मे आर्य रक्षित तथा आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के पश्चात् युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त किया गया। आर्य पद्म से आर्य पद्मा शाखा तथा आर्य रथ से जयन्ती शाखा के प्रकट होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।

कल्प स्थविरावली मे आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् स्थविर आर्य रथ को गणाचार्य नियुक्त किया जाना और उनसे प्रचलित हुई आचार्य-परम्परा को प्रमुख परम्परा बताया गया है। कल्प स्थविरावली के एतद्विषयक पहले सूत्र

---

[1] (क) नाऊण रक्खियज्जो, मइमेहाधारणासमग्गपि।
किच्छेण धरमाण, सुपण्णव पूसमित्त पि॥
अइसयकओवओगो, मइमेहाधारणाइपरिहीणे।
नाऊण मेस्सपुरिसे, खेत्त कालाणुरूव च॥
साणुग्गहोऽणुओगे, वीसु कासी य सुयविभागेण।
सुहगहणाइनिमित्त', नए य सुनिगूहिय विभागे॥
सविसयमसद्दहता, नयाण तम्मत्तय च गेण्हता।
मन्न'ता य विरोह, अपरिणामातिपरिणामा॥
गच्छेज्ज मा हु मिच्छ, परिणामा य सुहुमादि बहुभेए।
होज्जा सत्त' धेत्तु, न कालिए तो नयविभागो॥

[आवश्यक मलय, पृ० ३९९ (१)]

(ख) आवश्यकचूर्णि

(ग) श्रुत्वेत्यचिन्तयत् सूरिरीदृग्मेधानिधिर्यदि।
विस्मरत्यागम तर्हि कोऽन्यस्त धारयिष्यति॥२४०
ततश्चतुर्विध कार्योऽनुयोगोऽत. पर मया।
ततोऽङ्गोपाङ्ग मूलाख्य ग्रथच्छेदकृतागमः॥२४१
अय चरणकरणानुयोग' परिकीर्तितः।
उत्तराध्ययनाद्यस्तु, सम्यग्धर्मकथापर॥२४२

(घ) सूर्यप्रज्ञप्तिमुख्यस्तु गणितस्य निगद्यते।
द्रव्यस्य दृष्टिवादोऽनुयोगाश्चत्वार ईदृश.॥२४३ [प्रभावक चरित्र, पृ० १७]

(ङ) नाऊण गहणधारणहाणि चउहा पिहीकओ जेण।
अणुओगो त देविंदवदिय रक्खिय वन्दे॥२१० [ऋषिमडलस्तोत्र]

(च) विशेषावश्यक भाष्य

[2] थेरस्स ण अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिन्नि अन्तेवासी········होत्था। थेरे अज्ज वइरसेणे, थेरे अज्ज पउमे, थेरे अज्ज रहे॥१४

[कल्प स्थविरावली]

दुर्बलिकापुष्यमित्र मे उडेल चुका हू । जिस प्रकार पूरी तरह उडेल दिये जाने पर भी तेल के घडे तथा घी के घडे मे थोडी मात्रा मे तेल और उससे अधिक मात्रा मे घृत अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार शेष शिष्य मेरे सम्पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नही कर सके है ।"

आर्य रक्षित के इस सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित एव युक्तियुक्त निर्णय से उत्तराधिकार का प्रश्न तत्क्षण हल हो गया । शिष्यसमूह सहित समस्त सघ ने सर्वसम्मति से दुर्बलिकापुष्यमित्र को आर्यरक्षित का उत्तराधिकारी स्वीकार किया । आर्य रक्षित ने नवनिर्वाचित आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र और सघ को सघ-सचालन विषयक निर्देश दिये । तदनन्तर अध्यात्म-ध्यान मे लीन हो आर्य रक्षित ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया ।

आर्य रक्षित के स्वर्गारोहण के समाचार सुनकर गोष्ठामाहिल भी चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् साधुसघ के पास आये और आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र के गणाचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की बात सुनकर बडे खिन्न हुए ।[1] श्रमणसघ एव श्रावकसघ द्वारा उन्हे समझाने का पूरा प्रयास किया गया पर गोष्ठामाहिल ने किसी की बात पर कोई ध्यान नही दिया और वे सब साधुओ से पृथक् एक अन्य ही उपाश्रय मे ठहर कर सूत्र-पौरुषी के समय एकाकी स्वाध्याय करने लगे । अर्थ-पौरुषी के समय जब गणाचार्य आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र साधुसमूह को आगम-वाचना देते, उस समय भी गोष्ठामाहिल उपस्थित नही होते । वे मन ही मन गणाचार्य के प्रति विद्वेष रखने लगे । गणाचार्य द्वारा की जाने वाली वाचना के अनन्तर मुनि विन्ध्य जब अर्थवाचना करते, तब गोष्ठामाहिल वहा उपस्थित होते और आठवे पूर्व की व्याख्या सुनते ।

अपने अन्तर मे उत्पन्न हुए गणाचार्य के प्रति विद्वेष और काक्षामोह के उदय के कारण वे आठवे पूर्व के भावो को यथार्थरूपेण ग्रहण न कर उनका विपरीत अर्थ ही ग्रहण करने लगे ।

आठवे कर्मप्रवादपूर्व की वाचना के समय आर्य विन्ध्य ने कर्मवन्ध के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा – "आत्मा के साथ कर्म का वन्ध तीन प्रकार का होता है – वद्ध, स्पृष्ट और निकाचित । जीव प्रदेशो के साथ कर्म-परमाणुओ के सम्वन्ध मात्र को वद्ध कहते है । जैसे कपायरहित जीव के ईर्यापथिक कर्म का वन्ध सूखी दीवार पर गिराई गई चूर्ण की मुष्टि के समान कालान्तर मे बिना स्थिति पाये ही अलग हो जाता है । दूसरा बद्ध-स्पृष्ट – जो कर्म गीली दीवार पर गिराये गये स्नेहयुक्त चूर्ण की तरह कुछ काल तक आत्मप्रदेशो के साथ मिला रहकर अलग हो जाता है, उसे वद्धस्पृष्ट कहा गया है । तीसरा निकाचित कर्म – वही वद्ध – स्पृष्ट कर्म जब अध्यवसायो और रस की अति तीव्रता के कारण न्यूनाधिक्य के रूप मे

---

[1] एव विहियपुहुत्तेहिं रक्खियज्जेहि पूसमित्तम्मि ।
ठविए गणम्मि किर गोट्ठमाहिलो पडिनिवेसेण ।।२२८६।। [विशेपावश्यक भाप्य]

का अन्तिम समय अब सन्निकट आ चुका है। ऐसी स्थिति में उन्होने अपना जाना उचित न समझकर शास्त्रार्थ मे कुशल एव सुयोग्य अपने शिष्य गोष्ठामाहिल को मथुरा भेजा।

अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर गोष्ठामाहिल मथुरा पहुंचे। अक्रियावादियों के साथ गोष्ठामाहिल ने शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया। गोष्ठामाहिल के प्रबल तर्को एव अकाट्य युक्तियो के समक्ष अक्रियावादियों के पैर उखड़ गये। मध्यस्थो एव सभ्यो ने सर्वसम्मत समवेत स्वरो मे अक्रियावादियो को पराजित और गोष्ठामाहिल को विजयी घोषित किया। जिनशासन की महती प्रभावना हुई और सघ मे सर्वत्र हर्ष की हिलोरे लहरा उठी। विजयी होकर गोष्ठामाहिल गुरुसेवा मे दशपुर लौटे। उनके साथ मथुरा संघ के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि भी थे। उन्होने आर्य रक्षित से प्रार्थना की कि वे मुनि गोष्ठामाहिल को मथुरा नगरी में चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान करे। सघ की आग्रह एव अनुनयविनयपूर्ण विनति को आर्य रक्षित ने स्वीकार किया और गोष्ठामाहिल ने पुनः मथुरा की ओर विहार किया।

चातुर्मासावधि मे जब आर्य रक्षित दशपुर मे और उनके शिष्य गोष्ठामाहिल मथुरा मे थे, उस समय आर्य रक्षित ने अपने शरीर की स्थिति क्षीण और आयु का अन्तिम समय समीप समझकर सघ के समक्ष अपने उत्तराधिकारी के विषय मे विचार विमर्श किया। आर्य रक्षित के शिष्य-समूह मे घृतपुष्यमित्र, वस्त्रपुष्यमित्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल ये ६ शिष्य बड़े प्रतिभाशाली थे। आर्य रक्षित के मुनिमण्डल मे से कतिपय मुनि आर्य फल्गुरक्षित को और कुछ मुनि गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी बनाने के पक्ष मे थे। पर आर्य रक्षित केवल दुर्बलिकापुष्यमित्र को ही अपने उत्तराधिकारी आचार्य पद के योग्य समझते थे।

अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के प्रश्न के सम्बन्ध मे जब आर्य रक्षित ने अपने शिष्यसमूह मे मतभेद देखा तो उन्होने बड़ी ही सूझबूझ से काम लिया। सबको एकत्रित कर वे बोले – "कल्पना करो कुछ इगितज्ञ श्रावकों ने यहा तीन घड़े प्रस्तुत किये। उनमे से एक घड़े मे उड़द, दूसरे में तेल और तीसरे में घृत भरा और साधुसमूह एव समस्त संघ के समक्ष उन तीनों घड़ो को दूसरे तीन घडो मे क्रमश. उल्टा करवा दिया। उन तीनो रिक्त घडों मे कितना कितना उडद, तेल और घृत अवशिष्ट रहेगा ?"

आर्य रक्षित का प्रश्न सुनकर शिष्यो एव श्रावकप्रमुखो ने उत्तर दिया – "भगवन्! जो घट उडद से भरा था, वह पूर्णत· रिक्त हो जायगा, तेल के घट में थोडा वहुत तेल अवशिष्ट रह जायगा पर घृत के घट मे घृत इधर-उधर चारो ओर चिपके रहने के कारण पर्याप्त मात्रा मे अवशिष्ट रह जायगा।"

आर्य रक्षित ने अपने शिष्यसमूह और सघमुख्यों को सम्बोधित करते हुए निर्णायक स्वर मे कहा – "उड़द धान्य के घट की तरह मै अपना समस्त ज्ञान

इसी प्रकार पृथक् होते देखा जाता है। जैसे अग्नि मे तपाये गये लोहपिण्ड के कण कण मे, प्रत्येक प्रदेश मे अग्नि व्याप्त हो जाती है और शीतल जल आदि के प्रयोग से पुन. वह लोहगोलक शीतल – अग्निरहित हो जाता है। इसी प्रकार जीव के आत्मप्रदेशो मे घुलमिल कर रहा हुआ भी कर्माणु सम्यग्ज्ञान एव क्रिया के योग से पृथक् किया जाता है और जीव कर्म रहित हो अपने "सत्य शिव सुन्दरम्"–स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।"

विन्ध्यमुनि ने गोष्ठामाहिल को वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट एतद्विपयक अर्थ समझाने का प्रयास किया। पर गोष्ठामाहिल अपने एकान्त अभिमत पर अडा रहा। मुनि विन्ध्य ने वस्तुस्थिति गणाचार्य के समक्ष रखी। आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ने भी शास्त्रीय प्रमाणो और युक्तियो से गोष्ठामाहिल को समझाने का प्रयास किया पर सब व्यर्थ। फिर आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ने अन्य-गच्छो के स्थविरो एव शासनाधिष्ठात्री देवी के माध्यम से भी गोष्ठामाहिल को आत्मा के साथ कर्म के बन्ध के विषय मे समझाने का पूरा प्रयास किया पर उसने हठाग्रह नही छोडा। गोष्ठामाहिल द्वारा की जाने वाली उत्सूत्र प्ररूपणा से खिन्न हो धर्मसंघ ने उसे सप्तम निह्नव घोषित करते हुए सघ से बहिष्कृत कर दिया।

सातवा निह्नव गोष्ठामाहिल किस समय हुआ, यह प्रश्न शताब्दियो से विद्वानो के समक्ष पहेली के रूप मे उपस्थित रहा है। विशेषावश्यक भाष्य की –

पचसया चुलसीया, तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स।
आबद्धियाण दिट्ठी दसपुर नयरे समुप्पन्ना ॥

इस गाथा से वीर नि० स० ५८४ मे दशपुर नगर मे अबद्धिक दृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है पर ऐतिहासिक अन्य ग्रन्थो मे दुर्बलिकापुष्यमित्र के ऐतिहासिक काल के साथ आर्य रक्षित के सम्बन्ध को देखते हुए ५८४ का काल मेल नही खाता। यह आर्यरक्षित के स्वर्गगमन के पश्चात् की घटना है और यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि आर्यरक्षित वीर नि० स० ५९७ मे स्वर्गस्थ हुए। इतिहास-विज्ञ इसके लिये विशेष गवेषणा का प्रयत्न करेगे ऐसी आशा है।

२०. आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र – युगप्रधानाचार्य

वीर नि० स० ५९७ मे आर्य रक्षित के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र युगप्रधानाचार्य बने। आपका जो थोडा बहुत परिचय उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है –

"दुर्बलिकापुष्यमित्र का जन्म वीर नि० स० ५५० मे एक सुसम्पन्न बौद्ध परिवार मे हुआ। वीर नि० स० ५६७ मे आपने १७ वर्ष की अवस्था मे आर्य रक्षित के पास निर्ग्रंथश्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् वर्षों विनयपूर्वक गुरुसेवा करते हुए निरन्तर के पठन, मनन और परावर्तन से आपने एकादशांगी और सार्द्धनव पूर्वो का ज्ञान अर्जित किया।

परिवर्तन की स्थिति को पार कर जाता है तथा फलभोग के पश्चात् ही जिस कर्म से छुटकारा हो सकता है, उस कर्मबन्ध को निकाचित बन्ध कहा है ।

बद्ध, बद्ध-स्पृष्ट और निकाचित कर्म के बन्ध को सरलता से समझने के लिये सूचिका का दृष्टान्त दिया जाता है । बद्ध कर्म का आत्मा के साथ डोरे से लिपटी सुई की तरह सम्बन्ध बताया गया है । जिस प्रकार स्वल्पतर प्रयास मात्र से धागे से लिपटी हुई सुई को धागे से पृथक् किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को बद्ध कर्म से सहज ही वियोजित किया जा सकता है । बद्ध-स्पृष्ट कर्म को लोहे के पत्र से आबद्ध सुई की तरह बताया गया है । जिस प्रकार लोहपत्र से प्रबद्ध सूचिका को पृथक् करने मे विशेष प्रयास की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार बद्ध-स्पृष्ट कर्मो को आत्मप्रदेशो से वियोजित करने मे थोड़े पौरुष की आवश्यकता रहती है । तीसरे निकाचित कर्मबन्ध की, सूचिकाओं के उस समूह से तुलना की गई है, जिसे तपाकर घन-प्रहार से सपृक्त कर दिया गया हो । जिस प्रकार तपाकर घरण की चोट से परस्पर मिलाई गई सूचिकाओ को पुन गलाकर साचे मे ढालने से ही पूर्व रूप मे लाया जा सकता है उसी प्रकार निकाचित कर्म के फलभोग के अनन्तर ही उसे आत्मप्रदेशों से पृथक् किया जा सकता है ।"

विन्ध्य मुनि द्वारा किये गये कर्मबन्ध विषयक उपरोक्त विवेचन को सुनकर गोष्ठामाहिल ने कहा – "मुने ! यदि कर्म की इस प्रकार की व्याख्या करोगे कि जीवप्रदेशो के साथ अन्योन्य अविभक्त रूप से कर्म का बन्ध होता है, तो उस दशा मे आत्मा कभी कर्मबन्ध से मुक्त नही हो सकेगा । कचुकी और पुरुष के समान आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होता है । कंचुकी पुरुष को स्पृष्ट कर रहता है बद्ध करके नही । ठीक उसी प्रकार कर्म भी आत्मा के साथ दूध पानी की तरह घुल-मिल कर बद्ध नही होते, केवल स्पृष्ट होकर ही रहते है ।"

गोष्ठामाहिल की बात सुनकर विन्ध्य ने कहा – "हमको गुरु ने इसी प्रकार बताया है ।" गोष्ठामाहिल ने कहा – "वह स्वयं नही जानते तो क्या व्याख्यान करेगे ?"

इस पर सरलमना विन्ध्य मुनि शकित हुए और आचार्य के चरणो मे पहुचकर कर्मबन्ध विषयक उपरोक्त विवेचन एवं गोष्ठामाहिल का अभिमत सुनाते हुए उन्होने स्पष्टीकरण चाहा कि वस्तुतः सूत्र का अर्थ क्या है ?

दुर्बलिकापुष्यमित्र ने कहा – "सौम्य ! जो तुम कहते हो वह ठीक है । एतद्विषयक गोष्ठामाहिल का कथन ठीक नही है । उसने, आत्मा के साथ बद्ध, बद्धस्पृष्ट और निकाचित सम्बन्ध मानने पर जीव से कर्म के पृथक् न होने की बात रखी, वह प्रत्यक्ष विरोधिनी है । आयुकर्म का अन्त अथवा वियोजन मरण के रूप मे प्रत्यक्ष है । गोष्ठामाहिल का यह कथन भी ठीक नही है कि अन्योन्य अविभाग से रहे हुए का वियोग नही होता । एक रूप से मिले हुए दूध-पानी का उपाय विशेष से पृथक्करण देखा जाता है । लोहगोलक और अग्नि का अविभक्त सम्बन्ध भी

शालिवाहन शाक-संवत्सर

प्रतिष्ठान राज्य के अधिपति सातवाहन वंशीय गौतमीपुत्र सातकर्णी ने शक्तिशाली शक-शासक नहपान को मार कर तथा भारत के दक्षिणी भाग, सौराष्ट्र एव गुजरात से शक महाक्षत्रपो का समूलोन्मूलन कर शकारि विक्रमादित्य का विरुद धारण करने के साथ-साथ वीर निर्वाण सवत् ६०५, तदनुसार विक्रम स० १३५ तथा ई० सन् ७८ मे शाक-सवत्सर प्रचलित किया ।

प्राचीन कथासाहित्य के आधार पर सातवाहन वश के सम्बन्ध मे अनुमान किया जाता है कि सभवत आन्ध्र के किसी नागवशीय शासक एव महाराष्ट्रीय विधवा ब्राह्मणी के सयोग से सिमुक नामक बालक का जन्म हुआ, जो आगे चल कर सातवाहनवश का सस्थापक हुआ । "प्रबन्धकोश" के सातवाहन प्रवन्ध और अल्बरूनी द्वारा किये गये उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि सातवाहनवश का मूल पुरुष सिमुक विक्रमादित्य का समकालीन था ।[1]

सातवाहन वश मे अनेक प्रतापी, शक्तिशाली और विद्वान् राजा हुए है । सातवाहन राजवश के राजाओ ने भारतभूमि पर शको के शासन का अन्त करने मे बडा महत्वपूर्ण योगदान किया । वायुपुराण मे सातवाहन वश के १६ राजाओ का नामोल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है :–

१ शिशुक (सिमुक), २ कृष्ण, ३ सातकर्णि, ४ पुलुमायी, ५ अरिष्टकर्ण, ६ हाल (गाथासप्तसती का रचयिता), ७. पत्तलक, ८ पुरीन्द्रसेन, ९. सुन्दर, १०. चकोर, ११ शिवस्वाति, १२ गौतमीपुत्र, १३. पुलुमायी (द्वितीय), १४ शिवश्री, १५ शिवस्कन्द, १६ यज्ञश्री, १७ विजय, १८ चन्द्रश्री और, १९. पुलुमायी (तृतीय)[2]

---

[1] तथा सातवाहन पृतनया भग्नमवन्तीशितुर्वलम् । विक्रमनरपतिरपि पलाय्य ययाववन्तीम् । तदनु सातवाहनो राज्येऽभिषिक्त प्रतिष्ठान च निज-निज विभूति परिभूतवस्वौकसाराविधान् धवलगृह देवगृहहट्टपक्तिराजपथप्राकारपरिखादिभि सुनिविष्टमजनिष्ट पत्तनम् ।

[प्रबन्धकोश, सातवाहन प्रवन्ध, पृ० ६८]

[2] (क) शिशुकोऽन्ध्र सजातीय प्राप्स्यतीमा वसुन्धराम् ।
त्रयोविशत्समाराजा शिशुकस्तु भविष्यति ।। २ ।।
एकोनविशतिह्येते आन्ध्रा भोक्ष्यन्ति वै महीम् ।।१६।।

[मत्स्य पुराण, कलौ भाविनृपान्वयवर्णनम्]

(ख) सिन्धुको ह्यन्ध्रजातीय, प्राप्स्यतीमा वसुन्धराम् ।
त्रयोविशत्समा राजा सिन्धुको भविता त्वथ ।। ३४८ ।।
अष्टौ भातस्श वर्षाणि तस्माद्दश भविष्यति(?) ।। ३४९ ।।
श्री शातकर्णिर्भविता तस्य पुत्रस्तु वै महान् ।
पचाशतसमा पट् च शातकर्णिर्भविष्यति ।। ३५० ।।
तत सवत्सर पूर्ण हालो राजा भविष्यति ।। ३५२ ।।

"जिस प्रकार सरसो से भरे घडे को उडेलने पर घड़े में एक भी सर्सपकरण अवशिष्ट नहीं रह जाता, उसी प्रकार मैने अपना सम्पूर्ण ज्ञान आर्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र को सिखा दिया है" – आर्य रक्षित द्वारा अपने अन्तिम समय में संघ के समक्ष प्रकट किये गये इन उद्गारो से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि सार्द्धनव पूर्वधर आर्य रक्षित से आर्य दुर्बलिकालपुष्यमित्र ने साढ़े नव पूर्वो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया।

आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र प्रबल आत्मबल के धनी होते हुए भी शारीरिक दृष्टि से बड़े दुर्बल रहते थे। वे अध्ययन, चिन्तन, मनन में इतने अधिक तल्लीन रहते थे कि अहर्निश किये जाने वाले उस अत्यधिक परिश्रम के कारण स्निग्धतर और गरिष्ठ से गरिष्ठतम भोजन से भी उनके शरीर मे आवश्यक रस का निर्माण नही होता था। इसी शारीरिक दुर्बलता के कारण आप संघ में दुर्बलिका-पुष्यमित्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।"

भारतीय इतिहास और जैन इतिहास – इन दोनों ही दृष्टियो से आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र का आचार्यकाल बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आपके आचार्यकाल मे ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित दो घटनाएं घटित हुई :–

१. आपके आचार्यकाल (वीर नि० सं० ६०५) मे प्रतिष्ठानपुर के अधिपति गौतमीपुत्र सातवाहन ने आर्यधरा से शक-शासन का अन्त कर शालिवाहन शाक-संवत्सर की स्थापना की, जो विगत १९ शताब्दियों से आज तक भारत के प्रायः सभी भागो मे प्रचलित है।

२. आपके आचार्यकाल (वीर नि० स० ६०९) मे जैन-सघ – श्वेताम्बर और दिगम्बर – इन दो भागो में विभक्त हो गया।

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य रक्षित ने आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र द्वारा परावर्तन के अभाव में पठितार्थ के विस्मरण की बात सुन कर कालप्रभाव से भावी शिष्यसन्तति की परिक्षीयमाण स्मरणशक्ति को लक्ष्य मे रखते हुए अनुयोगो का पृथक्करण किया। जैन इतिहास की दृष्टि से, अति महत्वपूर्ण, अनुयोगों के पृथक्करण की घटना में भी आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ही निमित्त माने गये है।

३० वर्ष तक सामान्य व्रतपर्याय मे रहने के अनन्तर वीर निर्वाण स० ५९७ मे आप युगप्रधानाचार्य बने। युग – प्रधानाचार्य पद से भगवान् महावीर के धर्मशासन की २० वर्ष तक उल्लेखनीय सेवा और प्रभावना करने के पश्चात् वीर नि० स० ६१७ मे आपने स्वर्गारोहण किया। आपकी पूर्ण आयु ६७ वर्ष, ७ मास और ७ दिन की मानी गई है। दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसघस्तोत्र की तालिका में पक्षान्तर का उल्लेख करते हुए आपका युगप्रधानाचार्यकाल २० के स्थान पर १३ वर्ष और पूर्णायु ६७ वर्ष, ७ मास एवं ७ दिन के स्थान पर ६० वर्ष, ७ मास तथा ७ दिन बताई गई है।

किसी देश पर आक्रमण करते तो टिड्डी दल की तरह तूफानी आक्रमण करते थे। उनके स्वभाव मे स्वेच्छाचारिता और अहं का आधिक्य होने के कारण उनका शासन बडा ही कर्कश और उनके द्वारा विजित राष्ट्र पर किये जाने वाले अत्याचार बडे ही लोमहर्षक होते थे। ईरान की जनता शको की दासता से मुक्त होने के लिये स्वल्पकाल मे ही छटपटाने लगी। ईरान के प्राचीन राजवश ने ईरान से शको के शासन को समाप्त करने का बीड़ा उठाया और वहा के शाह ने एक लम्बे सघर्ष के पश्चात् शको की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर ईरान मे एक सशक्त साम्राज्य की स्थापना की। ईरान मे अपने प्रति भीषण असतोष और प्रतिकार की भावना की तीव्र लहर देखकर शको ने भारत के सिन्ध प्रदेश की ओर अपना सैनिक अभियान किया और उन्हे सिन्ध के कुछ भाग पर अधिकार करने मे सफलता भी मिल गई।

उन्ही दिनो अपनी बहिन सरस्वती साध्वी को गर्दभिल्ल के अन्त पुर से मुक्त कराने के प्रश्न को लेकर कालकाचार्य द्वितीय ने सिन्ध के शको की सहायता प्राप्त की और कालकाचार्य के बुद्धिकौशल एव भडौच के शासक बलमित्र भानुमित्र की सहायता से शको ने गर्दभिल्ल को परास्त कर अवन्ती राज्य पर अधिकार कर लिया। अवन्ती राज्य पर शको का शासन कठिनाई से चार वर्ष ही चल पाया था कि गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शको को पराजित कर अवन्ती राज्य पर पुन. अधिकार कर लिया।

यह भी पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० स० ५३० मे महाराज विक्रमादित्य की मृत्यु के अनन्तर शको ने पुन भारत पर प्रवल आक्रमण प्रारम्भ किये और उन्होने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो के अनेक भागो पर अधिकार कर लिया। उन्ही दिनों पार्थियन जाति के विदेशी आक्रान्ता भी ईरान होते हुए भारत मे आये। पार्थियन राजा गोडोफरनीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया। उसने अपने राज्य की सीमा मे उल्लेखनीय अभिवृद्धि की और अनेक प्रदेशो मे अपनी क्षत्रपिया स्थापित की।

सातवाहनवशी राजा पुलोमावि (प्रथम) के शासनकाल मे पश्चिमी क्षत्रपों के वश के सस्थापक चष्टन का प्राबल्य बढा। उसने पुलोमावि के राज्य के कुछ प्रदेशो पर अधिकार कर उज्जयिनी पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चष्टन के पौत्र रुद्रदामा ने अपनी पुत्री का विवाह पुलुमावि के साथ किया। कुछ काल पश्चात् किसी कारणवश श्वसुर जामाता के वीच युद्ध ठन गया। उस युद्ध में पुलुमावि का पराजय ने और रुद्रदामा का विजयश्री ने वरण किया।

शको की बढती हुई शक्ति को प्रतिष्ठान के सातवाहनवशी शासको ने समय समय पर क्षीण करने का प्रयास किया।

वीर नि० स० ५५२ के आसपास यूची जाति के विदेशी कुषाणो ने भारत मे बढते हुए पार्थियन जाति के विदेशियो को पराजित कर अफगानिस्तान और

सातवाहनवंशीय उपरिलिखित १९ राजाओं में से इस वंश का आदिपुरुष शिशुक-सिन्धुक अथवा सिमुक अवन्तीपति महाराज विक्रमादित्य के निधन के कुछ वर्ष पश्चात् युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ और उसका छोटा भाई कृष्ण प्रतिष्ठान का राजा बना। कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सातकर्णि बडा ही प्रतापी राजा हुआ। सातकर्णि ने अपने राज्य की सीमा मे उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। महाराष्ट्र के किसी बडे जागीरदार की पुत्री नायनिका के साथ इसका विवाह सम्पन्न हुआ इससे इसकी शक्ति मे अभिवृद्धि हुई। सातकर्णि ने पश्चिमी घाट एवं कोकण पर विजय प्राप्त की तथा वह पूरे महाराष्ट्र और कर्नाटक का अधिपति बन गया। सातकर्णि की तेजस्विता और प्रताप के कारण इसके पश्चाद्वर्ती सातवाहनवंश के सभी राजाओं के नाम के साथ सातकर्णि उपनाम भी जुडता रहा। कतिपय इतिहासविदों की मान्यता है कि सातवाहनवंश के संस्थापक सिमुक और कृष्ण बाल्यकाल में आन्ध्र देश मे रहे थे अतः इनकी आन्ध्र सातवाहन नाम से प्रसिद्धि हुई। हमारा अभिमत है कि आन्ध्र के किसी नागवंशी राजा की संतति होने के कारण ही सातवाहनवंशी राजाओं को आन्ध्र-सातवाहन कहा जाने लगा।[1]

यह पहले बताया जा चुका है कि ईसा से लगभग दो शताब्दी पूर्व शक लोग अपने मूल निवासस्थान को छोड़ ईरान की ओर बढ़े और उन्होंने सम्पूर्ण ईरान पर आधिपत्य जमा लिया। शक लोग युद्धप्रिय और बर्बर थे। वे जब कभी

राजा च गौतमीपुत्र एकविंशत्समा नृपु।
एकोनविंशति राजा यज्ञश्री सातकर्ण्यथ ॥ ३५५ ॥
इत्येते वै नृपास्त्रिंशदन्ध्रा भोक्ष्यन्ति ये महीम् ॥ ३५७ ॥

[वायुपुराण, अनुषंगपाद, अ० ९९]

वायुपुराण के उपरोक्त अध्याय मे सातवाहनवंशीय पन्द्रह-सोलह राजाओं के ही नाम दिये गये है पर इनकी संख्या ३० बताई गई है। मत्स्यपुराण के उपरि उद्धृत श्लोक मे सातवाहनवंशी राजाओं की संख्या १९ बताई गई है। ब्रह्माण्ड पुराण मे भी इन राजाओं की संख्या १९ ही बताई गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन वंश की दक्षिण कोशल शाखा मे हुए ११ राजाओं की भी इन १९ राजाओं के साथ गणना कर के ३० की संख्या पूरी कर दी गई है। विभिन्न पुराणों मे दी गई सातवाहनवंशी राजाओं की नामावली को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके नाम भी उत्तराधिकार के अनुक्रम से नही दिये गये है।

[सम्पादक]

[1] तत्र चैकदा द्वौ वैदेशिकद्विजौ समागत्य विधवया स्वस्रा साकं कस्यचित्कुंभकारस्य शालायां तस्थिवांसौ।....अन्येद्युः सा तयोर्विप्रयोः स्वसा जलाहरणाय गोदावरी गता। तस्याश्च रूपमप्रतिरूपं निरूप्य स्मरपरवशोन्तर्ह्रदवासी शेषो नाम नागराजो ह्रदान्निर्गत्य विहित-मनुष्यवपुस्तया सह बलादपि सम्भोगकेलिमकलयत्। भवितव्यताविलसितेन तस्या सप्त-धातुरहितस्यापि तस्य दिव्यशक्त्या शुक्रपुद्गलसंचारात् गर्भाधानमभवत्। स्वनामधेयं प्रकाश्य व्यसनसंकटे मा स्मरेरित्यभिधाय च नागराजः पाताललोकमगमत्। सा च गृहं प्रत्यगच्छत्।

[प्रबन्धकोश, सातवाहनप्रबन्ध, पृ० ९६]

शब्द का अर्थ शक्ति सामर्थ्य, ऊर्जा तथा वर्ष – विशेषतः शालिवाहन सवत्सर किया गया है ।[१]

जैन कालगणना मे वीर निर्वाण संवत् के पश्चात् सर्वाधिक महत्व शालिवाहन शाक-सवत्सर को दिया गया है ।

जैन शासन में सम्प्रदाय भेद

आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य वज्र स्वामी तक जैन शासन विना किसी सम्प्रदाय – भेद के चलता रहा । यद्यपि गणभेद और शाखाभेद का प्रारम्भ आचार्य यशोभद्र के समय से ही प्रारम्भ हो गया था और आर्य सुहस्ती के समय से तो गणभेद परम्पराभेद के रूप मे भी परिणत हो गया था पर तब भी उसमे सम्प्रदाय भेद का स्थूल रूप दृष्टिगोचर नही हो पाया । समस्त जैनसंघ श्वेताम्बर-दिगम्वर आदि बिना किसी भेद के "निर्ग्रंथ" नाम से ही पहिचाना जाता रहा । आवश्यकतानुसार वस्त्र रखने वाले और जिनकल्प की तुलना करने वाले – दोनो ही वीतराग भाव की साधना को लक्ष्य मे रख कर परस्पर विना टकराये चलते रहे ।

एक ओर महागिरि जैसे आचार्य जिनकल्प तुल्य साधना करने की भावना से एकान्तवास को अपनाते तो दूसरी ओर आर्य सुहस्ती भव्यजनो को प्रतिबोध देने एव जिनशासन का प्रचार-प्रसार करने की भावना से प्रेरित हो ग्राम-नगरादि मे भव्य भक्तजनों के साथ सम्पर्क बनाये रख कर विचरण करते । फिर भी उन दोनो का परस्पर प्रेम सम्बन्ध रहा । उस समय तक वस्तुतः वस्त्रधारी मुनि और वस्त्ररहित मुनि समान रूप से सम्माननीय, वन्दनीय और मुक्ति के अधिकारी माने जाते रहे । मुनित्व और मुक्तिपथ के लिए न सवस्त्रता बाधक समझी जाती थी और न निर्वस्त्रता ही एकान्त मुक्ति-सहायिका । वस्त्रधारी मुनियो का यह आग्रह न था कि बिना धर्मोपकरणो के मुक्ति नही और न निर्वस्त्र मुनियो का ही यह आग्रह था कि वस्त्र रखने वाला मुनि, मुनि नही । थोडे से मे कहा जाय तो उस समय तक सवस्त्रता और निर्वस्त्रता मुनि की महानता अथवा लघुता का मापदण्ड नही बन पाई थी । ज्ञान, दर्शन चारित्र की सम्यक् आराधना ही वस्तुत मुनिता का सही मापदण्ड माना गया है ।[२]

किन्तु वीर नि० स० ६०६ मे वह स्थिति समाप्त हो गई और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के नाम से जैन शासन मे सम्प्रदायभेद स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया ।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने कहा है – "वीर निर्वाण से ६०६ वर्ष बीतने पर रथवीरपुर मे बोटिक मत (दिगम्बर मत) की उत्पत्ति हुई ।"[३]

---

[१] सस्कृत हिन्दीकोश, वामन शिवराम आप्टे ।

[२] पच्चयत्थ च लोगस्स, नाणाविहविगप्पण ।
जत्तत्थ गहणत्थ च, लोगे लिग पयोयण ।।३२।।
नाण च दसण चेव, चरित्त चेव निच्छए ।।३३।। [उत्तराध्ययन, अ. २३]

[३] छ व्वास सयाइ, तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ।।२५५०।। [वि० भाष्य]

पंजाब के कतिपय क्षेत्रो पर अधिकार कर लिया। शकों एवं पार्थियन लोगों की तरह कुषाणों ने भी भारतीय सस्कृति और भारतीय धर्मो को अपनाया। उन लोगों ने अपने नाम तक भारतीय पद्धति के अनुरूप रखे और उनमें से प्रायः सभी ने बौद्ध, हिन्दू, शैव, जैन और भागवत धर्मो को अपना लिया। शकराज रुद्रदामा भारतीय भाषाओं तथा व्याकरण एव तर्कशास्त्र का अपने समय का एक माना हुआ विद्वान् था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा निर्मित सुदर्शन झील पर बहुत बड़ी धनराशि व्यय करके उसका जीर्णोद्धार करवाया।

वीर नि० सं० ५६५ से ६०५ तक नहपान नामक एक शक महाक्षत्रप का भारत के पश्चिमी एवं अनेक दक्षिणी भागों पर शासन रहा। नहपान ने भृगुकच्छ, सौराष्ट्र, गुजरात आदि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर प्रतिष्ठान की ओर प्रयाण किया। उस समय प्रतिष्ठान पर गौतमीपुत्र सातकर्णि का शासन था। गौतमीपुत्र ने नहपान की बढती हुई सेनाओं को रोका। दोनों सेनाओं के बीच बड़ा भीषण युद्ध हुआ। कडे सघर्ष के पश्चात् गौतमीपुत्र सातकर्णि ने रणस्थल मे नहपान को मौत के घाट उतार दिया। गौतमीपुत्र सातकर्णि ने भारत से शको के शासन का अन्त कर शकारि विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और इस विजय के उपलक्ष मे उसने वीर निर्वाण सवत् ६०५ में शाक-संवत्सर की स्थापना की।[1]

सातवाहनवंशी राजाओं में से कुछ राजाओ ने अश्वमेध यज्ञ किये, इस प्रकार के शिलालेख उपलब्ध होते है। अनेक इतिहासविदो का अभिमत है कि सातवाहनवशी राजाओं के समय मे हिन्दू धर्म का उत्कर्ष हुआ। दूसरी ओर जैन ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते है जिनसे यह सिद्ध होता है कि सातवाहनवंशी राजाओं में से कतिपय जैन थे।[2]

शालिवाहन शाक-सवत्सर – इस पद में शाक शब्द को देखकर कतिपय साधारण लोगों को सहज ही भ्रम होना संभव है कि क्या यह संवत्सर किसी विदेशी शक राजा के द्वारा चलाया हुआ संवत्सर है? वस्तुत यहां शाक शब्द शक्ति का द्योतक है।[3] शालिवाहन शाक-संवत्सर का शाब्दिक अर्थ है – शालिवाहन द्वारा चलाया गया शक्ति-संवत्सर। प्रायः सभी प्रामाणिक शब्दकोशों में "शाक"

---

[1] (क) सातवाहनोऽपि क्रमेण दक्षिणापथमनृणं विधाय तापीतीरपर्यन्तं चोत्तरापथं साधयित्वा स्वकीय सवत्सर प्रावीवृतत्। [प्रबन्धकोश पृ० ६८]
(ख) इत्य य पणहिय छसएसु सागसवच्छरुप्पत्ती ॥ [विचारश्रेणी]
(ग) श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षै, षड्भि पचोत्तरै शतै।
शाकसवत्सरस्यैषा, प्रवृत्तिर्भरते ऽभवत् ॥ [वही]

[2] (क) जैनश्च समजनि। [प्रबन्धकोश, पृ० ६८]
(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ मे कालकाचार्य (द्वितीय) का प्रकरण।

[3] शाक – m power, might, help, aid. – Samvatsara – for any era, [Sanskrit-English Dictionary–by Sir Monier Movier Williams.]

कम से कम रजोहरण और मुखवस्त्रिका – ये दो उपकरण रखते है। इस तरह ३ से लेकर १२ उपधि तक के अन्य ७ विकल्प बताये गये है।

इस प्रकार जिनकल्प का वर्णन सुन कर शिवभूति ने कहा – "यदि ऐसा है तो आज औधिक और औपग्रहिक के नाम से इतने उपकरण क्यो रखे जाते है ?"

आचार्य ने कहा – "जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर सहनन की मन्दता से जिनकल्प परम्परा विच्छिन्न मानी गई है।"

शिवभूति अपने रत्नकम्बल के हरण से खिन्न तो था ही, उसने कहा – "महाराज ! मेरे जीते जी जिनकल्प का विच्छेद नही होगा। परलोकार्थी को भय-मूर्छा और कषाय बढाने वाले सपूर्ण परिग्रह से दूर ही रहना चाहिये।"

गुरू ने कहा – "वत्स! वस्त्र आदि उपकरण एकान्तत कषायवृद्धि के कारण नही है। शरीर की तरह ये वस्त्र आदि उपकरण धर्म मे सहायक भी होते है। जिस प्रकार धर्म-साधन के लिए ममता-मूर्च्छा रहित होकर शरीर धारण किया जाता है, उसी प्रकार वस्त्र आदि आवश्यक उपकरण भी धर्म-साधन की भावना से रखना अनुचित नही है। बिना किसी प्रकार की ममता-मूर्च्छा के इन्हे केवल साध्य की सिद्धि के लिए उपकरण मात्र समझ कर रखना चाहिये।"

इस प्रकार आचार्य ने उसे प्रमाणपुरस्सर अनेक युक्तियो से समझाया पर शिवभूति अपने आग्रह पर डटा रहा और उसने वस्त्रादि सभी उपकरणो का परित्याग कर नग्नत्व स्वीकार कर लिया। वह अपने गुरू और साधु परिवार से अलग नगर के बाहर एक उद्यान मे रहने लगा। शिवभूति की उत्तरा नाम की एक बहिन भी अपने भाई का अनुगमन कर दीक्षित हो गई। पर उसने फिर वस्त्र धारण कर लिया।

इस प्रकार शिवभूति, जिनको सहस्रमल्ल भी कहते है, उनसे श्वेताम्बर परम्परानुसार दिगम्बर मत की उत्पत्ति मानी गई है। शिवभूति के कोण्डिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्य हुए और इस प्रकार शिवभूति से वोटिक मत की परम्परा चली।[1]

श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रथो मे प्राय ऐसा ही मिलता-जुलता उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा मे जिस प्रकार वीर नि० स० ६०६ मे दिगम्बर मत की उत्पत्ति बताई गई है, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा मे वीर नि० स० ६०६ मे सेवडसघ-श्वेतपट सघ (श्वेताम्बर सघ) की उत्पत्ति की बात कही गई है।

---

[1] (क) रहवीरपुर नगर, दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य।
सिवभूइस्सुवहिम्मि, पुच्छा थेराण कहणा य ॥२५५१॥
वोडिय सिवभूईओ, वोडियलिगस्स होइ उप्पत्ति।
कोडिन्न-कोट्टवीरा, परम्पराफासमुप्पन्ना ॥२५५१॥
[विशेषावश्यक भाष्य, वृ० वृ०, पृ० १०२०]

(ख) आवश्यक चूर्णि-उपोद्घात निर्युक्ति, पृ० ४२७-२८

इस सम्प्रदायभेद के उत्पन्न होने की घटना का जो उल्लेख विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथों में उपलब्ध होता है, उसका सारांश इस प्रकार है :–

एक बार रथवीरपुर के दीप नामक उद्यान में आचार्य कृष्ण का आगमन हुआ। वहा शिवभूति नाम का एक राजपुरोहित रहता था। राजा का कृपापात्र होने के कारण वह नगर मे विविध भोग-विलासो का उपभोग करता हुआ यथेप्सित रूप से घूमता रहता और मध्यरात्रि के पश्चात् अपने घर पहुँचता था।

एक दिन शिवभूति की पत्नी ने अपना वह दु ख अपनी सास को सुनाते हुए कहा – "आपके पुत्र रात्रि मे कभी समय पर नही आते, सदा अर्द्धरात्रि के पश्चात् आते है, अत मै भूख और जागरण के दु.ख से बडी दु.खित हूँ।" सास ने वधू को आश्वस्त किया और दूसरे दिन वधू को सुला कर स्वयं वृद्धा ने जागरण किया। मध्यरात्रि के पश्चात् जब शिवभूति ने आकर घर का द्वार खटखटाया तो उसकी वृद्धा माता ने क्रुद्ध स्वर मे डाटते हुए कहा – "जहा इस समय द्वार खुले रहते हो, वही चले जाओ। यहा तेरे पीछे कोई मरने वाला नही है।"

इस प्रकार अपनी बुढिया मां से फटकार सुन कर शिवभूति अहंकारवश तत्क्षण लौट पडा। नगर मे घूमते हुए जब उसने उपाश्रय का द्वार खुला देखा तो उसमे चला गया और दूसरे दिन आचार्य कृष्ण के पास दीक्षित होकर उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने लगा।

कालान्तर मे आचार्य कृष्ण अपने शिष्यमण्डल सहित पुनः रथवीरपुर आये। उस समय वहा के राजा ने पूर्वप्रीति के कारण शिवभूति मुनि को एक बहुमूल्य रत्नकम्बल भेटस्वरूप प्रदान किया।

आचार्य को ज्ञात होने पर उन्होने कहा – "साधु को इस प्रकार का मूल्यवान् वस्त्र रखना उचित नही।"

गुरु द्वारा बहुमूल्य वस्त्र अपने पास न रखने का निर्देश प्राप्त होने के उपरान्त भी शिवभूति ने ममत्ववश उस वस्त्र का परित्याग नही किया और उसे सावधानी के साथ गठरी मे बाधकर रख लिया।

एक दिन अवसर देख कर आचार्य ने उस रत्नकम्बल के खण्ड-खण्ड कर उन्हे साधुओ मे वितरित कर दिया। जब शिवभूति को यह विदित हुआ, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। इस घटना के पश्चात् शिवभूति अपने अन्तर मे आचार्य के प्रति कलुषित भाव रखने लगा।

एक समय आचार्य कृष्ण अपने शिष्य-समूह के समक्ष जिनकल्पधारी साधुओं के आचार का वर्णन कर रहे थे। उन्होंने कहा – "जिनकल्पिक २ प्रकार के होते है, पाणिपात्र और पात्रधारी। उनमे से प्रत्येक के सवस्त्र और निर्वस्त्र – ये दो भेद होते है। उपधि की अपेक्षा जिनकल्प में ८ विकल्प होते है। जिनकल्पी

तथा रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र अपने-अपने साधुसघ के साथ सिन्धु प्रदेश की ओर गये। रामिल्ल आदि को भयकर दुष्काल का सामना करना पड़ा। वे श्रद्धालु श्रावको के आग्रह से भिखारियो के सकट से वचने के लिए वहा रात्रि मे भिक्षा लेने जाते और उसे दिन मे खा लिया करते थे। श्रावको की प्रार्थना से वे बाये स्कन्ध पर एक वस्त्र भी रखने लगे। दुष्काल के पश्चात् दोनो ओर के श्रमणसघो का मध्यप्रदेश मे पुन मिलन हुआ। उस समय रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र ने तो भवभ्रमण के भय से त्रस्त हो वस्त्र का त्याग कर निर्ग्रन्थ रूप धारण कर लिया।[1] पर कुछ साधु जो कष्ट सहने से घबराते थे, उन्होने जिनकल्प और स्थविरकल्प की कल्पना कर निर्ग्रन्थ परम्परा से विपरीत स्थविर कल्प को प्रचलित किया।[2] इसमे यह नही बताया गया है कि स्थूलाचार्य आदि आचार्यो मे से किस आचार्य के किस शिष्य से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई।

रत्ननन्दी ने अपने "भद्रबाहु चरित्र" मे अर्द्धफालक मत से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बताई है। उनके अनुसार वल्लभीपुर के महाराज लोकपाल ने महारानी चन्द्रलेखा की प्रार्थना पर उज्जयिनी मे विराजमान उसके गुरू जिनचन्द्र को वल्लभी बुलवाया। जिनचन्द्र के शरीर पर मात्र एक वस्त्र देख कर वल्लभी नरेश असमजस मे पड गया और उन्हे बिना वन्दन-नमन किये ही अपने राज-प्रासाद की ओर लौट गया। तब रानी ने अपने पति के भावो को समझ कर जिनचन्द्र मुनि के पास वस्त्र भेज कर उन्हे वस्त्र धारण करने की प्रार्थना की। साधुओ द्वारा वस्त्रधारण की बात सुन कर राजा ने भक्तिसहित उनका पूजन किया। उसी दिन से श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण अर्द्धफालक मत श्वेताम्बर मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ और यह श्वेताम्बर मत विक्रम नृपति की मृत्यु से १३६ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुआ।[3]

---

[1] रामिल्ल स्थविर स्थूलभद्राचार्यस्त्रयोऽप्यमी।
महावैराग्य सम्पन्ना, विशाखाचार्यमाययु ॥६५॥
त्यक्त्वार्द्धकर्पट सद्य, ससारात्त्रस्तमानसा।
नैर्ग्रन्थ्य हि तप कृत्वा मुनिरूप दधुस्त्रय ॥६६॥
[बृहत्कथाकोष, कथानक १३१, पृ० ३१८, ३१९]

[2] इष्ट न यैर्गुरोर्वाक्य, ससारार्णवतारकम्।
जिनस्थविरकल्प च, विधाय द्विविध भुवि ॥६७॥
अर्द्ध फालकसयुक्तमज्ञातपरमार्थकै।
तैरिद कल्पित तीर्थ, कातरै शक्तिवर्जितै ॥६८॥ [वही]

[3] धृतानि श्वेतवासासि, तद्दिनात्समजायत।
श्वेताबरमत ख्यात, ततोऽर्द्धफालकमतात् ॥५४॥
मृते विक्रमभूपाले, षट्त्रिंशदधिके शते।
गतेऽब्दानामभूल्लोके, मत श्वेताम्बराभिधम् ॥५५॥
[भद्रबाहु चरित्र, (रत्ननन्दीकृत) ४ परिच्छेद]

भावसग्रह के रचनाकार देवसेनसूरि ने लिखा है – "विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र की वल्लभी नगरी मे श्वेतपट-श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।"[1]

देवसेन सूरि ने इस सम्बन्ध मे विशेष परिचय देते हुए लिखा है – "विक्रम की दूसरी शताब्दी मे निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु ने अपने श्रमणसंघ से कहा कि निकट समय मे ही १२ वर्ष का दुर्भिक्ष होने वाला है अत: आप लोग अपने संघ के साथ देशान्तर मे चले जायं। सभी गणधर भद्रबाहु के वचनानुसार अपने-अपने साधु-समुदाय को लेकर दक्षिण की ओर विहार कर गये पर शान्ति नाम के एक आचार्य ने अपने बहुत से शिष्यो के साथ सौराष्ट्र प्रदेश की वल्लभी नगरी की ओर प्रस्थान किया, जहा उन्हें भयकर दुष्काल का सामना करना पडा। वल्लभी में घोर दुष्काल के कारण ऐसी वीभत्स स्थिति उत्पन्न हो गई कि क्षुधातुर रंक लोग दूसरो के पेट चीर-चीर कर उसमें से सद्य:भुक्त अन्न निकाल कर अपनी भूख की ज्वाला मिटाने लगे। तत्कालीन भयङ्कर स्थिति से विवश होकर आचार्य शान्ति के साधु दण्ड, कम्बल, पात्र और आवरण हेतु वस्त्र धारण करने लगे। वे वसतियों में इच्छानुसार जाकर और वहां गृहस्थो के घर वैठ कर भोजन करने लगे।

जब दुष्काल समाप्त हुआ तो आचार्य शान्ति ने सघ के सभी साधुओं को सम्बोधित कर कहा – "अब सुभिक्ष हो गया है अतः इस हीन आचार को छोड दो और दुष्कर्म की आलोचना कर सच्चे श्रमणधर्म को ग्रहण करो।"

इस पर उनके शिष्यो ने कहा – "उस प्रकार के कठोर आचार आज कौन पाल सकता है? इस समय हम लोगो ने जो मार्ग ग्रहण किया है, वस्तुत: यह सुखकर है अत: इसको छोडना हमारे लिए सम्भव नही।"

जब आचार्य शाति ने अधिक कहा तो उनके मुख्य शिष्य ने उनके सिर पर डण्डे से भरपूर प्रहार किया। उससे आचार्य शान्ति की तत्काल मृत्यु हो गई और वे व्यन्तर रूप से उत्पन्न हुए।"[2]

भावसग्रह मे आचार्य देवसेन ने शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र से ही श्वेतपट्ट सघ की उत्पत्ति बताई है।

रत्ननन्दी के "भद्रबाहु चरित्र" मे और हरिषेण के "वृहत्कथाकोप" में भी थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का कुछ इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। वहा स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र के साधु से श्वेताम्बर मत के प्रचलित होने की बात कही गई है।

वृहत्कथाकोप में बताया गया है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु की आज्ञानुसार कुछ साधु विशाखाचार्य के साथ दक्षिण के पुन्नाट प्रदेश मे चले गये

---

[1] छत्तीसे वरिससए, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडो संघो हु वलहीए ॥५२॥ [भावसग्रह]

[2] भावसग्रह, गा० ५३ से ६८

दिगम्बर परम्परा के कतिपय मान्य ग्रन्थो मे इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते है, जिनमे बताया गया है कि भिन्न-भिन्न समय मे होने वाले अनेक सघो मे से कतिपय सघो मे शिथिलाचार व्याप्त हो गया अत. उन सघो की जैनाभासो मे गणना की जाने लगी। आचार्य देवसेन ने इस प्रकार के पाच सघो की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। उनके नाम इस प्रकार है –

१. द्राविड सघ, २. यापनीय सघ, ३. काष्ठा सघ, ४. माथुर सघ और ५ भिल्लक सघ।

आचार्य नदि ने अपने नीतिसार नामक ग्रन्थ मे १ गोपुच्छक, २ श्वेताम्बर, ३ द्राविड, ४ यापनीय, ५ निष्पिच्छिक – ये ५ जैनाभास बताये है।[1]

इनमे गोपुच्छक अर्थात् काष्ठा सघी और निष्पिच्छिक–माथुर सघी ये, दोनो देवसेन के अनुसार जैनाभासी कहे गये है। परन्तु प्रेमीजी के अनुसार इनका मूल सघ से अधिक पार्थक्य नही है, जिससे कि उनको जैनाभासी कहा जा सके।

सब सघो का परिचय दिया जाना कठिन होने के कारण यहाँ केवल उन्ही सघो का उल्लेख किया जा रहा है, जिनकी कि शास्त्रीय उल्लेखो (दि प के ग्रन्थो) के आधार पर खोज हो सकती है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार उनके नाम इस प्रकार है :–

१ अनन्तकीर्ति सघ, २. अपराजित सघ, ३ काष्ठा सघ, ४ गुणधर सघ, ५ गुप्त सघ, ६. गोपुच्छ सघ, ७ गोप्य सघ, ८ चन्द्र सघ, ९ द्राविड सघ १० नदी सघ, ११ नदीतट सघ, १२ निष्पिच्छिक सघ, १३ पचस्तूप सघ, १४. पुन्नाट सघ, १५ बागड सघ, १६. भद्र सघ, १७. भिल्लक सघ, १८ माघनन्दि सघ, १९ माथुर सघ, २० यापनीय सघ, २१. लाडबागड सघ, २२ वीर सघ, २३ सिह सघ, और २४ सेन सघ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार मूल सघ मे से ही उत्तरोत्तर अन्य सर्व सघो की उत्पत्ति मानी गई है। अत मूल सघ को भिन्न न मान कर सामान्य दिगम्बर सघ का नाम ही बताया गया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् वीर के पश्चात् ३८३ वर्ष की आगम-प्रसिद्ध आचार्य परम्परा बताई गई है।

वीर नि० स० ३८३ के पश्चात् ५६५ तक के आचार्यो का उल्लेख नही मिलता। ३८३ के पश्चात् ५९४ मे सघ-विभाजन किस प्रकार हुआ और आगे की आचार्य परम्परा किस रूप मे चली, इसे बताने के लिए एक काल्पनिक वृक्ष बना कर बताया गया है। उसमे सर्व प्रथम वीर नि० की छठी सातवी शताब्दी के आचार्य माघनन्दी, धरसेन और गुणधर के नाम दिये गये है। इनका काल वीर नि० स० ५६५ से ६७३ तक का माना गया है।

आचार्य अर्हद्बलि ने वीर नि० स० ५९३ मे मूल सघ से जिन सघो का विभाजन किया, उनके अतिरिक्त भी उत्तर काल मे कई सघ प्रकट हुए और

[1] गोपुच्छक श्वेतवासा, द्रविडो, यापनीय निष्पिच्छश्चेति पच जैनाभासा। [नीतिसार]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो भावसग्रह, वृहत्कथाकोष और रत्ननन्दी के भद्रबाहु चरित्र – इन तीनो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है ।

श्वेताम्बर परम्परा मे बोटिक मत (दिगम्बर मत) की उत्पत्ति के वर्णन मे विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि और स्थानाग आदि मे मूल घटना की पूर्णरूपेण समानता और वैषम्यरहित मन स्थिति का परिचय मिलता है, जबकि दिगम्बर परम्परा के ग्रंथो में विविधरूपता व विषम मनस्थिति की प्रतिध्वनि प्रकट होती है ।

दोनो परम्पराओं के ग्रथो के एतद्विषयक उल्लेखो से इतना तो स्पष्ट है कि वीर नि० स० ६०६ अथवा ६०९ के लगभग श्वेताम्बर-दिगम्बर का सम्प्रदाय-भेद प्रकट हुआ ।

दिगम्बर परम्परा में संघभेद

श्वेताम्बर परम्परा मे चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर – ये चार शाखाए और विविध कुल प्रकट हुए । इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा मे भी काष्ठा सघ, मूल सघ, माथुर सघ और गोप्य सघ आदि अनेक संघ तथा नन्दीगण, बलात्कार गण एव शाखाओं के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है । उसका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है ।

दिगम्बर परम्परा के साहित्यकारो का ऐसा मतव्य है कि भगवान् महावीर के निर्वाणानन्तर आचार्य अर्हद्‌बलि तक मूलसघ अविच्छिन्न रूप से चलता रहा । परन्तु वीर नि० स० ५९३ मे[1] जब आचार्य अर्हद्‌बलि ने पचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के अवसर पर महिमा नगर मे एकत्रित किये गये महान् यति – सम्मेलन मे आचार्यो एवं साधुओं मे अपने २ शिष्यो के प्रति कुछ पक्षपात देखा तो उन्होने मूल सघ को अनेक भागो मे विभाजित कर दिया । तत्पश्चात् मूलसघ के वे सब भाग स्वतत्र रूप से अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखने लगे । उन्होने उस समय जिन संघों का निर्माण किया, उनमें से कतिपय के नाम इस प्रकार है :–

१. नन्दिसंघ	६. भद्र सघ
२. वीर सघ	७. गुणधर सघ
३. अपराजित सघ	८ गुप्त संघ
४ पचस्तूप सघ	९. सिह संघ
५. सेन सघ	१०. चद्र संघ इत्यादि[2]

[1] यही समय आर्य रक्षित का भी है । [सम्पादक]
[2] यह सम्मेलन मुख्य रूप से किस उद्देश्य को लेकर किया गया, इस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता [सम्पादक]
[2] धवला, भाग १, प्र० १४

दिगम्बराचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' नाम की अपनी छोटी-सी पुस्तक मे श्रीकलश नामक श्वेताम्बर आचार्य से विक्रम स० २०५ मे यापनीय सघ की उत्पत्ति होने का उल्लेख इस प्रकार किया है –

कल्लाणे वरणयरे, दुण्णिसए पच उत्तरे जादे ।
जावरिणय सघ भावो, सिरिकलसादो हु सेवडदो ।।२९।।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय जैन श्रमणसघ श्वेताम्बर और दिगम्बर रूप मे विभक्त हुआ, लगभग उसी समय मे यापनीय सघ का भी मध्यममार्गावलम्वी–समन्वयवादी परम्परा के रूप मे प्रादुर्भाव हुआ हो । दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार श्वेताम्बर दिगम्बर भेद के ६९ वर्ष पश्चात् यापनीय सघ की उत्पत्ति मानी गई है । स्व० श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने तीनो परम्पराओ की एक ही समय मे उत्पत्ति होने की सभावना प्रकट करते हुए अपने ग्रन्थ – 'जैन साहित्य और इतिहास' मे लिखा है – "यदि मोटे तौर पर यह कहा जाय कि ये तीनो ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समय के है, तो कुछ वडा दोप न होगा । विशेप कर इसलिए कि सप्रदायो की उत्पत्ति की जो तिथिया बताई जाती है, वे बहुत सही नही हुआ करती ।"[1]

यापनीय शब्द के अर्थ सम्बन्धी सभी पहलुओ पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर भी इस प्रश्न का कोई सतोषप्रद सगत उत्तर नही मिलता कि इस सघ का नाम 'यापनीय सघ' किस अभिप्राय से रखा गया । इस सम्बन्ध मे पन्यास श्री कल्याणविजयजी का अभिमत ही तर्कसगत प्रतीत होता है । मुनिश्री ने अपने ग्रन्थ 'पट्टावली पराग सग्रह' मे लिखा है कि जिस प्रकार मरुधरा के यति परस्पर मिलते एव विछुडते समय 'मत्थएण वदामि' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते थे, इस कारण यतिसमूह का नाम ही जनसाधारण द्वारा 'मत्थेरण' रख दिया गया तथा वर्ष मे एक बार लुचन करने वाले साधु समुदाय का – कूर्चिक की तरह उनकी वढी हुई दाढी-मूछ देखकर कूर्चिक नाम रख दिया गया, ठीक उसी प्रकार यापनीयो द्वारा गुरुवन्दन के समय 'जावणिज्जाए' शब्द का कुछ उच्च स्वर मे प्रयोग किये जाने के फलस्वरूप सभवत जनसाधारण ने उस साधुसमूह का नाम यापनीय रख दिया हो ।

यद्यपि आज भारतवर्ष मे यापनीय सघ का कही अस्तित्व नही है और न इस संघ का कोई अनुयायी ही है, तथापि उपलब्ध अनेक उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि भारत मे लगभग बारह सौ – तेरह सौ वर्षो तक एक प्रमुख धर्म-सघ के रूप मे रहे हुए यापनीय सघ का सर्वागपूर्ण साहित्य विद्यमान था । आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ 'ललित विस्तरा' मे यापनीयतन्त्र का उल्लेख किया है, इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि यापनीयो का अपना समृद्ध साहित्य किसी समय यहा विद्यमान था ।

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५६ ।

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा मे भी शाखाओं और कुलों का काफी विस्तार फैला। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के आचार्यो की क्रमिक पट्ट-परम्परा और आगमवाचना का स्पष्ट परिचय उपलब्ध नही होता। सभव है इस प्रकार का, क्रमिक पट्ट-परम्परा के लेखन का प्रयास ही नही हुआ हो।

यापनीय संघ

वर्तमान समय मे जैन समाज मे श्वेताम्बर और दिगम्बर – ये दो सम्प्रदाय ही मुख्य रूप से प्रसिद्ध है पर पूर्व काल मे 'यापनीय सघ' नामक एक तीसरा सम्प्रदाय भी भारतवर्ष मे एक बडे सघ के रूप मे विद्यमान था। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले अनेक पुष्ट प्रमाण प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है। यापनीय संघ किस समय अस्तित्व मे आया, इस सघ का आदि संस्थापक कौन था तथा इसका अस्तित्व किन परिस्थितियो मे, किस समय उठ गया, इस विषय मे पुष्ट प्रमाणो के अभाव के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। फिर भी यापनीय सघ के सम्बन्ध मे यत्र-तत्र जो उल्लेख उपलब्ध होते है, उनके आधार पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी से चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी तक 'यापनीय सघ' जैन धर्म के एक सम्प्रदाय के रूप में आर्यधरा पर विद्यमान रहा। यापनीय संघ के आपुलीय सघ और गोप्य सघ – इन दो और नामो का भी उल्लेख मिलता है।

यापनीय सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जहा कतिपय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यो ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि दिगम्बर सम्प्रदाय से यापनीय सघ की उत्पत्ति हुई, वहा 'भद्रबाहु चरित्र' के रचनाकार आचार्य रत्ननन्दी ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय से इसकी उत्पत्ति होना बताया है।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य मलधारी राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'षड्दर्शन-समुच्चय' मे गोप्य सघ अर्थात् यापनीय सघ को दिगम्बर परम्परा का एक भेद बताते हुए स्पष्ट शब्दो में लिखा है :-

> दिगम्बराणा चत्वारो, भेदा नाग्न्यव्रतस्पृश ।
> काष्ठासंघो मूलसघ:, संघौ माथुरगोप्यकौ ।।२१

आचार्य रत्ननंदी ने 'भद्रबाहु चरित्र' मे उल्लेख किया है कि विक्रम सवत् १३६ (वीर नि. स. ६०६) में सौराष्ट्र के वल्लभी नगर मे श्वेताम्बरो की उत्पत्ति हुई[1] और कालान्तर मे श्वेताम्बरो से करहाटाक्ष नगर मे यापनीय सघ की उत्पत्ति हुई।[2]

---

[1] मृते विक्रम भूपाले, षट्त्रिंशदधिके शते ।
गतेऽब्दानामभूल्लोके, मत श्वेताम्बराभिधम् ।।५५।। [भद्रबाहुचरित्र, रत्ननदी, ४ परिच्छेद]

[2] तदातिवेल भूपाद्यै, पूजिता मानिताश्च तै ।
धृत दिग्वाससा रूपमाचार सितवाससाम् ।।१५३।।
गुरु शिक्षातिग लिग, नटवद् भण्डिमास्पदम् ।
ततो यापनसघोऽभूत्तेपा कापथवर्तिनाम् ।।१५४।। [वही]

पर अपने पक्ष की पुष्टि मे आचाराग, उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमो के उद्धरण प्रमाण के रूप मे दिये है[1], इससे इस बात मे किंचित्-मात्र भी सन्देह नही रह जाता कि यापनीय सघ आचारागादि आगमो को अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था।

यापनीयो की मान्यताओ के सम्बन्ध मे दर्शनप्राभृत की टीका मे श्रुतसागर ने लिखा है – "यापनीयास्तु वेसरा इव उभय मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्प च वाचयन्ति, स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष, केवलिजिनाना कवलाहार परशासने सग्रन्थाना मोक्ष च कथयन्ति।"

षड्दर्शनसमुच्चय की टीका मे गुणरत्न ने यापनीयो के सम्बन्ध मे लिखा है – "यापनीय सघ के मुनि नग्न रहते है, मोर की पिच्छी रखते है, पाणितल भोजी है, नग्न मूर्तियो की पूजा करते है तथा वन्दना करने पर श्रावको को 'धर्मलाभ' कहते है।"

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ ललितविस्तरा मे यापनीयतन्त्र का एक उद्धरण दिया है। यद्यपि आज 'यापनीय-तन्त्र' कही उपलब्ध नही पर उस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि आगमो के अतिरिक्त यापनीय सघ का एक ऐसा ग्रन्थ भी पूर्वकाल मे विद्यमान था, जिसमे यापनीय सघ की मुख्य-मुख्य मान्यताओ को सहजसुबोध प्राकृत भाषा मे सकलित किया गया था। वह उद्धरण इस प्रकार है :–

---

[1] (क) अथैव मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्ट तत्कथ ?
(ख) आचार प्रणिधौ भणित।
(ग) प्रतिलेखेत्पात्रकम्बल ध्रुवमिति असत्सु पात्रादिषु कथ प्रतिलेखना ध्रुव क्रियते ?
(घ) आचारस्यापि द्वितीयाध्ययनो लोकविचयोनाम, तस्य पचमे उद्देशे एवमुक्तम् – "पडिलेहण पादपुछण उग्गह कदासण अण्णदर उवधि पावेज्ज।
(ङ) वत्थेसणाए वुत्त तत्थ एसे हिरिमणे सेग वत्थ वा धारेज्ज, पडिलेहण बिदिय। एत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहण तिदिय। एत्थ एसे परिस्सह अणधिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहण चउत्थ।
(च) पुनश्चोक्त तत्रैव – "आलाबुपत्त वा दारुगपत्त वा मट्टिगपत्त वा अप्पपाण अप्पबीज अप्पसरिद तहा अप्पाकार पात्रलाभे सति पडिग्गहिसामीति" वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ?
(छ) वरिस चीवरधारी तेन परमचेलगो जिणो।
(ज) ण कहेज्ज धम्मकह वत्थपत्तादिहेदुमिदि।
(झ) कसिणाइ वत्थकबलाइ जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिग लहुग इदि।
(ञ) द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधक आचारागे विद्यते – "अह पुण एव जाणेज्ज – पातिकते हेमतेहि सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पदिट्ठावेज्ज।"

[भगवती 'आराधना' की गाथा स० ४२७ की अपराजित द्वारा रचित विजयोदया टीका]

यापनीय आचार्य शाकटायन अपरनाम 'पाल्यकीर्ति' द्वारा रचित 'अमोघवृत्ति', 'स्त्रीमुक्ति-प्रकरण', 'केवलि-भुक्ति प्रकरण', यापनीय आचार्य अपराजित द्वारा भगवती 'आराधना' पर लिखी गई विजयोदया टीका आदि ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। स्वर्गीय दिगम्बर विद्वान् श्री नाथूराम प्रेमी ने भगवती 'आराधना' के रचयिता शिवार्य को यापनीय आचार्य और उनकी रचना भगवती 'आराधना' को प्रमाण पुरस्सर यापनीय सघ का धर्मग्रन्थ सिद्ध करते हुए लिखा है कि मूलाराधना की अनेक गाथाएं दिगम्बर मान्यता से मेल नही खाती और उसमे उद्धृत कल्पव्यवहार आदि श्रुतशास्त्र, अधिकाश गाथाए एव मेतार्य मुनि का आख्यान उसी रूप मे दिये गये है, जिस रूप मे कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य है।[1]

शाकटायन की अमोघवृत्ति मे दिये गये अनेक उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि यापनीय सघ श्वेताम्बरो के आगमग्रन्थों, आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवैकालिक आदि को अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था।[2]

यापनीय आचार्य अपराजित ने जिस प्रकार अपने यापनीय सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ भगवती 'आराधना' पर 'विजयोदया' नाम की टीका की रचना की, उसी प्रकार उन्होने 'दशवैकालिक' सूत्र पर भी 'विजयोदया' नाम की टीका की रचना की थी। इसका उल्लेख स्वय अपराजित ने भगवती 'आराधना' की गाथा सख्या ११९७ की अपनी 'विजयोदया' टीका में निम्नलिखित शब्दो में किया है :—

'दशवैकालिक टीकाया श्री विजयोदयाया प्रपचिता उद्गमादि दोषा इति नेह प्रतन्यते' — अर्थात् उद्गमादि दोषों का दशवैकालिक की टीका मे वर्णन कर दिया गया है अतः यहा पिष्टपेषण नही किया जा रहा है। यापनीय आचार्य अपराजित का ही दूसरा नाम विजयाचार्य था और उन्होंने ही भगवती 'आराधना' तथा दशवैकालिक की 'विजयोदया' टीकाए लिखी, इस बात की पुष्टि प० आशाधर द्वारा 'अनगार प्राभृत टीका' के पृष्ठ ६७३ पर लिखे गये इस वाक्य से होती है — 'एतच्च श्रीविजयाचार्यविरचितसस्कृतमूलाराधनटीकाया सुस्थितसूत्रे विस्तरत· समर्थितं दृष्टव्यम्।"

इन सब उल्लेखो से सिद्ध होता है कि यापनीय संघ भी आचारागादि उन सभी आगमो को अपने धर्मग्रन्थो के रूप मे मानता था, जो श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य है और जिन्हें दिगम्बर परम्परा विलुप्त हुआ मानती है। उपरोक्त तथ्यों से यह भी अनुमान किया जाता है कि यापनीय आचार्यो ने दशवैकालिक की तरह अन्य आगमो पर भी टीकाओं की रचनाए की होगी। अपराजित ने स्थान स्थान

[1] जैन साहित्य और इतिहास (श्री नाथूराम प्रेमी), पृ ६८ से ७३

[2] (क) एतमावश्यकमध्यापय। इयमावश्यकमध्यापय। [अमोघवृत्ति १-२-२०३-४]
(ख) भवता खलु छेद-सूत्र वोढव्यम्। निर्युक्तीरधीष्व निर्युक्तीरधीते।
(ग) कालिकसूत्रस्यानध्यायदेशकाला पठिता। [वही ४-४-११३-४०]
(घ) अथो क्षमाश्रमणैस्ते ज्ञान दीयते [वही १-२-२०१] [वही ३-२-४७]

अनशन करने से पूर्व भावी दुर्भिक्ष की समाप्ति के पूर्वलक्षण के रूप मे सोपारक के श्रेष्ठी जिनदत्त के यहा बहुमूल्य अन्न मे विष मिलाने की वज्रसेन को दी गई पूर्व-सूचना से प्रमाणित होता है।

इस प्रकार दीक्षा – पर्याय से कनिष्ठ होने पर भी ज्ञानपर्याय की ज्येष्ठता एव श्रेष्ठता की दृष्टि से आर्य वज्र ही दश पूर्वधर होने के कारण आचार्य पद के लिए सर्वाधिक योग्य माने गये हो। वीर नि० स० ५८४ मे आर्य वज्रसेन गणाचार्य घोषित किये गये और दश से कुछ कम पूर्व के ज्ञाता आर्य रक्षित वज्र के पश्चात् वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य वज्रसेन सघ-व्यवस्था के कार्यों मे कुशल एव प्रतिभाशाली होकर भी आर्य वज्र आदि के समान पूर्वज्ञान के विशेषज्ञ नही थे। इसी कारण आर्य रक्षित के पश्चात् पूर्वज्ञानी दुर्बलिकापुष्यमित्र को युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त करना उपयुक्त माना गया और उस समय तक वज्रसेन गणाचार्य पद का सुचारू रूप से सचालन करते रहे। १२ वर्ष के दुष्काल के अन्त मे जब विहारक्रम से अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए आर्य वज्रसेन सोपारक नगर मे पधारे तब वहा के श्रेष्ठी जिनदत्त और श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने अपने चारो पुत्रो के साथ वीर नि० स० ५९२ मे आर्य वज्रसेन के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

जिनदत्त के चार पुत्रो मे से नागेन्द्र से नागेन्द्रगच्छ, नाइली शाखा, चन्द्रमुनि से चन्द्रकुल, विद्याधर मुनि से विद्याधर कुल तथा निर्वृत्ति मुनि से निर्वृति कुल – इस प्रकार ये चार मुख्य कुल प्रकट हुए।

श्वेताम्वर परम्परा की मान्यतानुसार वज्रसेन के समय मे ही वीर नि० स० ६०९ मे आचार्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति से दिगम्वर मत का प्रादुर्भाव हुआ। इसका विस्तृत परिचय "सप्रदायभेद" नामक शीर्षक के नीचे दिया जा चुका है।

वीर नि० स० ६१७ मे दुर्बलिका पुष्यमित्र के स्वर्गवासानन्तर, आर्य वज्रसेन युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त हुए। तीन वर्ष तक सुचारू रूप से युगप्रधानाचार्य पद से जिनशासन की सेवा कर आपने वीर नि० स० ६२० मे १२८ वर्ष की सुदीर्घायु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

१५. आर्य चन्द्र – गणाचार्य

आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् भारद्वाज गोत्रीय आर्य वज्रसेन एक बार विहारक्रम से सोपारक नगर पधारे। वहा पर सल्हड गोत्रीय श्रेष्ठी जिनदत्त अपनी पत्नी ईश्वरी एव परिवार के साथ रहता था। सयोगवश आर्य वज्रसेन भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए श्रेष्ठी जिनदत्त के घर पहुचे। उस समय दुष्काल का प्रकोप अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। खाद्यान्नो का सर्वत्र पूर्ण अभाव था। अतुल सम्पत्ति के होते हुए भी धान्याभाव मे भूख से तडप-तडप कर अपने कुटुम्ब के मरने की कल्पना से जिनदत्त सिहर उठा। अपनी पत्नी से परामर्श के

"स्त्रीमुक्तौ यापनीयतन्त्रप्रमाणम् – यथोक्त यापनीयतन्त्रे – "णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारि(य) उप्पत्ती, णो असखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्तमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरण विरोहिणी, णो णवगुणट्ठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाण भायणं त्ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति । [ललित विस्तरा, पृ० ४०२]

यापनीय सघ का कर्नाटक और उसके अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्रो मे बड़ा प्रभाव था । इस तथ्य की कदम्बवंश एव अन्य राजवशो के राजाओ द्वारा ई० सन् ४३५-४७५ के आसपास यापनीय सघ को दिये गये भूमिदान के दानपत्र साक्षी देते है ।[1]

यापनीय संघ का जो थोडा वहुत परिचय विभिन्न ग्रन्थो से उपलब्ध होता है, उससे यह प्रमाणित होता है कि यह सघ पूर्वकाल में एक प्रभावशाली सघ रहा है । कागवाड़ा जैनमदिर के भौंहरे मे विद्यमान शक स० १३१६ (वि० स० १४५१) के शिलालेख मे यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र को 'तुलुवराज्यस्थापनाचार्य' की पदवी से विभूषित बताया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि विक्रम की १५वी शताब्दी तक यापनीय सघ राजमान्य सम्प्रदाय रहा है । ऐसी स्थिति मे यदि प्रयास किया जाय तो यापनीय सघ और उसके साहित्य के सम्बन्ध मे विपुल सामग्री एकत्रित की जा सकती है । आशा है शोधप्रिय इतिहासविद् इस दिशा मे अवश्य प्रयास करेंगे ।

२१. आर्य वज्रसेन – युगप्रधानाचार्य

वीर नि० स० ४९२ मे आर्य वज्रसेन का जन्म हुआ । आपने ९ वर्ष की वय में वीर नि० स० ५०१ मे श्रमण-दीक्षा ग्रहण की । ११६ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय मे रहते हुए आपने आगमो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया । वीर नि० सं० ६१७ मे आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के पश्चात् आप युगप्रधान पद पर अधिष्ठित किये गये ।

आपके जन्मस्थान एव कुल आदि का कोई परिचय उपलब्ध नही होता फिर भी इतना असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आपने आर्य वज्र से पूर्व आर्य सिहगिरि के पास दीक्षा ग्रहण की थी । विशिष्ट प्रतिभा और विद्यातिशय सम्पन्न होने के कारण आर्य वज्र को आर्य सिह ने अपनी विद्यमानता मे ही आचार्य पद का कार्यभार सम्हला दिया और स्वर्गवास के समय उन्हें विधिवत् आचार्यपद प्रदान किया ।

सम्भव है आर्य वज्र के ज्ञानातिशय के सम्मान हेतु वज्रसेन ने उनकी विद्यमानता मे आचार्यपद स्वीकार नही किया हो ।

आवश्यक चूर्णि आदि के उल्लेख से इनका आर्य वज्र के साथ गुरु-शिष्य का सा सम्बन्ध प्रतीत होता है । जैसा कि आर्य वज्र द्वारा ५०० साधुओ के साथ

[1] दाण्डेकर की – History of the Guptas, page 87–91

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य वज्रसेन ने अपनी विद्यमानता मे ही अपने इन चारो शिष्यो को पृथक्-पृथक् श्रमरण-समुदाय सम्हला कर आचार्य पद पर नियुक्त कर दिया था। आर्य चन्द्र से चन्द्रकुल, आर्य नागेन्द्र से नाइली शाखा (नागेन्द्रकुल), आर्य निर्वृत्ति से निर्वृत्ति कुल और आर्य विद्याधर से विद्याधर नामक ४ कुल प्रकट हुए।[1] चन्द्रकुल ही आगे चल कर चन्द्र गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कतिपय आचार्यो ने आर्य चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर–इन चारो को किचिदून १० पूर्वो का ज्ञाता बताया है।[2]

चन्द्रगच्छ से सम्बन्धित पट्टावली एव टिप्पणो मे इस प्रकार के उल्लेख दृष्टिगोचर होते है कि चन्द्र, नागेन्द्र आदि चारो आचार्यो मे से प्रत्येक ने अपने-अपने सुविशाल शिष्य-समूह मे से २१-२१ सुयोग्य श्रमणो को पृथक्-पृथक् रूप से आचार्य पदो पर नियुक्त किया, जिन से वीर नि स ६११ मे ४ गणो और ८४ गच्छो की उत्पत्ति हुई।[3]

गहराई से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ८४ गच्छो की उत्पत्ति विषयक इस प्रकार का उल्लेख केवल इन चारो गच्छो का महत्त्व वढाने की दृष्टि से किया गया है। इसमे यथार्थता होती तो उपाध्याय धर्मसागर 'तपागच्छ पट्टावली' मे – "तस्माच्च क्रमेणानेक गणहेतवोऽनेके सूरयो वभूवास'"[4] – इस प्रकार का अनिश्चित उल्लेख नही करते। इसके अतिरिक्त यदि इन ४ गणो से ८४ गच्छ उत्पन्न हुए होते तो उनमे से थोडे बहुत गच्छो का नामोल्लेख भी पट्टावली मे अवश्य किया जाता। यही नही, अज्ञातकर्तृक कुछ श्लोको मे इन चारो गच्छो के सम्बन्ध मे परिचय देते हुए ८४ गच्छो का कोई उल्लेख न कर –

'अद्यापि गच्छास्तन्नाम्ना, जयिनोऽवनिमण्डले।'[5] – इस पद से केवल इतना ही उल्लेख किया गया है कि उनके नाम से गच्छ आज भी विद्यमान है।

उपरोक्त उल्लेखानुसार वीर नि० स० ६११ मे ८४ गच्छो की उत्पत्ति होने की बात सही मानी जाय तो पश्चाद्वर्ती काल मे होने वाले बडगच्छ, खरतरगच्छ,

---

[1] नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति, विद्याधराख्यान् चतुर सकुटुम्बान् इभ्यपुत्रान् प्रव्राजितवान्। तेभ्यश्च स्व स्व नामाकितानि चत्वारि कुलानि सजातानीति।
[तपागच्छ पट्टावली, भा १, स्वोपज्ञवृत्ति (प० कल्याण विजयजी) पृ ७१]

[2] नागेन्द्रो निर्वृतिश्चन्द्र, श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥
अभूवस्ते किचिदूनदशपूर्वविदस्तत ।
चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धार धुरधरा ॥
[जैन सा सशोधक, ख २, अ ४ मे प्रकाशित विचार श्रेणि के साथ का परि पृ १०]

[3] आदौ चत्वारो गणा, एकस्मिन् एकस्मिन् गच्छे एकविंशति आचार्या स्थापिता। एव क्रमेण श्री वीरात् ६११ वर्षे ८४ गच्छा सजाता। [वही]

[4] तपागच्छ पट्टावली, भा. १, (मुनि कल्याण विजयजी) पृ ७१

[5] विचारश्रेणि के साथ सलग्न परिशिष्ट, जैन सा स ख २, अक ४ मे प्रकाशित।

पश्चात् उसने भूख से छटपटाकर मरने के स्थान पर सकुटुम्ब विषमिश्रित भोजन कर एक साथ इहलीला समाप्त करने का निश्चय किया। विष मिलाने के लिये एक समय की भोजन-सामग्री जुटाना भी बड़ा कठिन कार्य था। श्रेष्ठी जिनदत्त ने एक लाख रुपये व्यय कर येन-केन-प्रकारेण एक समय की भोजन-सामग्री जुटाई।

जिस समय आर्य वज्रसेन श्रेष्ठी जिनदत्त के घर मे भिक्षार्थ पहुँचे, उस समय श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी भोजन मे विष मिलाने का उपक्रम कर रही थी। लक्ष रौप्यक मूल्य के भोजन मे गृह-स्वामिनी को विष का मिश्रण करते देख आर्य वज्र सेन को उन्हें आर्य वज्र द्वारा कहा गया भविष्य-कथन स्मरण हो आया। उन्होने शान्त एव गम्भीर स्वर में गृहस्वामिनी ईश्वरी से कहा – "सुभिक्षं भावि सविषं, पाक मा कुरु तद्वृथा'।[1] श्राद्धे ! अब दुष्काल का अन्त सन्निकट है। तुम भोजन मे विष मत मिलाओ। कल तक प्रचुर मात्रा में अन्न उपलब्ध होने लगेगा।"

'परोपकारैकव्रती महापुरुषों के वचन अन्यथा नही होते।' इस दृढ विश्वास के साथ श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने तत्काल प्रस्तुत भोजन मुनिराज को बहरा कर सतोषानुभव किया।

आर्य वज्रसेन के कथनानुसार दूसरे ही दिन धान्य से भरे पोत सोपारक नगर पहुँचे।[2] भूख से पीडित दुष्कालग्रस्त निराश लोगों में जीवन की नवीन आशा का सचार हुआ। आवश्यकतानुसार सबको अन्न मिलने लगा। यह देखकर श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी बडी प्रसन्न हुई। उसने श्रेष्ठी जिनदत्त से कहा – "कल यदि मुनि ने हमे आश्वस्त नहीं किया होता तो आज हमारे परिवार का एक भी व्यक्ति ससार में दिखाई नही देता। हम सब के सब यमराज के अतिथि बन चुके होते। श्रमणश्रेष्ठ ने हम सब को जीवन-दान दिया है। ऐसी स्थिति में क्यो न हम सभी जिनधर्म की शरण ग्रहण कर अपने-अपने जीवन को सफल कर ले।"

श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी का परामर्श सब को रुचिकर लगा और श्रेष्ठिदम्पती ने अपने चारो पुत्रों चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर के साथ समस्त वैभव का त्याग कर निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा-ग्रहण कर ली।[3] चन्द्र, नागेन्द्र आदि चारों मुनियो ने विनयपूर्वक क्रमश· अंग शास्त्रो एवं पूर्वो का अध्ययन किया और वे चारो आचार्य पद के योग्य बने।

---

[1] प्रभावक चरित्र, प्रथम प्र, श्लो १९१

[2] एव जाते च सघ्याया, वहित्राणि समाययु.।
प्रशष्य शष्यपूर्णानि, जलदेशान्तराध्वना ॥१९३॥ प्रभावक च, वज्र ॥

[3] सुभिक्ष तत्क्षण जज्ञे, ततः सा सपरिच्छदा।
अचिन्तयदहो मृत्यु, भविष्यदरी ततः ॥
जीवितव्यफल कि न, गृह्यते सयमग्रहात्।
वज्रसेनमुने पार्श्वे, जैनबीजस्य सद्गुरो ॥
ध्यात्वेति सा सपुत्राहि, व्रत जग्राह साग्रहं।.... ....
[जैन साहित्य सशोधक, खड २, अक ४ मे प्रकाशित विचार श्रेणि, परिशिष्ट, पृ. १०]

अपवाद रूप से भले ही कभी किसी ने वसतिवास किया हो पर उस समय तक साधुओ का प्राय वन मे ही निवास होता था। इतना होते हुए भी वे साधु वनवासी गच्छ के नाम से नही अपितु निग्रथ गच्छ के नाम से ही पहिचाने जाते रहे। इसके पश्चात् सामन्तभद्र का समय आता है। उस समय मे सामन्तभद्र का साधुसमुदाय 'वनवासी गच्छ' – इस नये नाम से पुकारा जाने लगा इसके पीछे कोई खास कारण होना चाहिये। सामन्तभद्र ने कोई नवीन रूप से वनवास स्वीकार नही किया पर सम्भव है उनके समय मे वसतिवास का प्रचार बढ चला हो और वनवासी अल्पसख्या मे रहे हो। उस स्थिति मे वसतिवास के बढते प्रचार को रोकने के लिए सामन्तभद्र ने वनवास का प्रचार करना प्रारम्भ किया हो। जैसा कि तपागच्छ-पट्टावलीकार ने उल्लेख किया है –

"पूर्वश्रुत के विशारद और वैराग्यनिधि सामन्तभद्र ने शरीर की सुख-सुविधा को छोड कर निर्ममत्व भाव से देवकुल और वन-उद्यान आदि मे ठहरना स्वीकार किया इसलिए वे "वनवासी" नाम से पुकारे जाने लगे।"[1]

सामन्तभद्र द्वारा की गई इस व्यवस्था के लिए कहना चाहिये कि यह एक प्रकार से त्यागी वर्ग मे शिथिलता के प्रवेश को रोकने का एक शुभ प्रयत्न था। पर समय के प्रभाव और मनोबल की मन्दता से साधु-समुदाय मे इस प्रकार की कडी व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी।

प्रभावक चरित्र मे मानदेवसूरि के प्रबन्ध मे वृद्धदेवसूरि को चैत्यवासी बताया गया है। वे चैत्य की व्यवस्था करते थे पर सर्वदेवसूरि द्वारा प्रतिबोध पाकर उन्होने चैत्य का वैभव छोड दिया। उपरोक्त घटना यदि सत्य हो तो इससे प्रमाणित होता है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी मे भी चैत्यवास प्रचलित था।

कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि सामन्तभद्र द्वारा पुनरुज्जीवित वनवास अधिक समय तक नही चल सका। अल्प समय मे ही वसतिवास मे परिवर्तन होते-होते वीर नि० स० ८०० के आसपास उसने चैत्यवास का रूप धारण कर लिया, जैसा कि धर्मदास गणी ने तपागच्छ पट्टावली मे उल्लेख किया है –

"वीर नि० स० ८८२ के पश्चात्" "चैत्यस्थिति" अर्थात् चैत्यवास की स्थिति हुई।[2]"

वस्तुत तात्कालिक स्थिति का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे भी काफी पहले इसका प्रचलन विद्यमान था। मुनि कल्याणविजयजी आदि इतिहासज्ञ विद्वानो का भी खयाल है कि इससे भी पहले चैत्यवास की जड जम गई थी और वीर नि० स० ७८२ तक तो इसकी सार्वत्रिक प्रवृत्ति हो गई थी।

---

[1] श्री चन्द्रसूरिपट्टे षोडश श्री सामन्तभद्रसूरि। स च पूर्वगतश्रुतविशारदो वैराग्यनिधिर्निर्ममतया देवकुलवनादिष्ववस्थानात् लोके बनवासीत्युक्तस्तस्माच्चतुर्थ नाम वनवासीति प्रादुर्भूतम्। [तपागच्छ पट्टावली, पृ० ७१]

[2] द्व्यशीत्यधिकाष्टशत (८८२) वर्षातिक्रमे चैत्यस्थिति। – पट्टा० समु०, पृ० ५०

आचलगच्छ, धर्मघोषगच्छ, आदि ८४ गच्छों को वीर नि० स० ६११ मे हुए ८४ गच्छो से निश्चित रूप से पृथक् मानना होगा। क्योकि इन ८४ गच्छो मे से अनेक गच्छ प्रशस्तियों एवं अन्य उल्लेखों के आधार पर वीर नि० सं० ६११ से कई शताब्दियो पश्चात् उत्पन्न हुए सिद्ध होते है। इस प्रकार वीर निर्वाण सं० ६११ में ८४ गच्छो की उत्पत्ति की बात को सही मानने की दशा में गच्छों की सख्या ८४ के स्थान पर १६८ माननी होगी, जिसका कि औचित्य किसी भी दशा मे सिद्ध नही किया जा सकता। वीर नि० स० ६११ मे जो ८४ गच्छों की उत्पत्ति की बात कही जाती है, उसे इस आधार पर भी विश्वसनीय नही माना जा सकता कि उन ८४ गच्छों में से किसी एक गच्छ का नाम भी कही उपलब्ध नही होता।

इन सब तथ्यों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे उत्पन्न होने वाले ८४ गच्छों का स्रोत चन्द्रगच्छ को बता कर इसका महत्व बढ़ाने की दृष्टि से इस प्रकार का उल्लेख किया गया हो।

तपागच्छ पट्टावली मे आपका जन्म वीर नि० स० ५७६ में, दीक्षा ६१३ मे, ७ वर्ष गुरू की सेवा करने और २३ वर्ष तक गणाचार्य पद से शासन की सेवा करने एवं वीर नि० सं० ६४३ मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया गया है[1] पर तत्कालीन घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से एवं सोपारक में दुर्भिक्ष के अन्त मे आर्य वज्रसेन के पास आपके दीक्षित होने के उल्लेख को देखते हुए वीर नि० स० ५९२ मे आपकी दीक्षा होना सगत प्रतीत होता है। इसी प्रकार तपागच्छ पट्टावली के उपरोक्त उल्लेखानुसार ३७ वर्ष की अवस्था मे आपके द्वारा दीक्षा ग्रहण करना माना गया है, वह भी ठीक प्रतीत नही होता। "जैन परम्परा नो इतिहास" नामक ग्रन्थ मे त्रिपुटी (मुनित्रय) ने आपके वी० नि० स० ५९२ में दीक्षित होने और ६५० मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया है।

यदि गणाचार्य चन्द्र की पूर्णायु ६७ वर्ष और स्वर्गस्थ होने का समय वीर नि० सं० ६४३ सही मान लिया जाय तो उस दशा मे उनके जन्म, दीक्षा, आचार्य-पद आदि का समय निम्नलिखित रूप से अनुमानित किया जाना पर्याप्तरूपेण सगत और उचित होगा।

जन्म वीर नि० स० ५७६, दीक्षा ५९३, गणाचार्य पद वीर नि० स० ६२० मे और स्वर्गारोहण वीर नि० सं० ६४३ मे।

चैत्यवास

आर्य सुधर्मा से सामतभद्रसूरि के पहले के समय तक जैन मुनि अधिकाशत वनो एवं उद्यानों मे ही निवास करते रहे, जैसा कि निरयावलिका सूत्र मे सुधर्मा स्वामी के गुणशील उद्यान मे अवग्रह लेकर विचरने का उल्लेख मिलता है।[2]

---

[1] तपागच्छ पट्टावली, स्वोपज्ञ वृत्ति सहित (प० कल्याणविजयजी), पृ० ७९

[2] निरयावलिका, १, अ० १, सू० २

परन्तु जब चैत्यवास के रूप मे गृहीजनो के निकट सम्पर्क मे जैन श्रमणो का निवास प्रारम्भ हुआ तो यह सुनिश्चित था कि आसपास के भक्तजन प्रात -साय जितना भी अधिक हो, सेवाभक्ति का लाभ लेने लगे। भावुक भक्तो के बारम्बार गमनागमन और उनके द्वारा की गई उपासना से श्रमणवर्ग का मन भावविभोर हो उठा। परिणामत मुनियो द्वारा अपने मलमलीन देह और धूलिधूसरित प्रावरणो की, भावुकजनो की प्रीति हेतु धुलाई-सफाई की जाने लगी। चैत्यवासजन्य जनससर्ग ने केवल इन सब प्रवृत्तियो को ही जन्म नही दिया अपितु इससे रागातिरेक के कारण मुनियो मे स्थिरवास की प्रवृत्ति भी बढने लगी। रागातिरेक से किसी एक स्थान पर स्थिरवास कर लेने पर साधनामय जीवन मे कितनी विकृति आ सकती है, इसकी कल्पना तक नही की जा सकती। चैत्यवास के कारण यही सब कुछ हुआ।

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवासजन्य तात्कालिक उन विकृतियो का अपने ग्रन्थ 'सबोधप्रकरण' मे एक मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। उससे चैत्यवास के दुष्परिणामो को भलीभाति समझा जा सकता है। आचार्य हरिभद्र के वे विचार इस प्रकार है –

'वे साधु लोच नही करते, प्रतिमा वहन करने मे शर्माते, शरीर से मैल उतारते, पादुका-उपानत् आदि पहन कर घूमते और निष्कारण कटिवस्त्र धारण करते है।" यहाँ लोच नही करने वाले को आचार्य ने क्लीब – कायर कहा है।[1] उन्होने आगे फिर लिखा है :–

"ये कुसाधु चैत्यों और मठो मे रहते है। पूजा करने का आरम्भ एव देवद्रव्य का उपभोग करते है। ये कुसाधु जिन-मन्दिर और शालाए चुनवाते, रग-बिरगे, सुगन्धित एव धूपवासित वस्त्र पहनते, बिना नाथ के बैलो की तरह स्त्रियो के आगे गाते, आर्यिकाओ द्वारा लाये गये पदार्थ खाते, तरह-तरह के उपकरण रखते, जल, फूल, फल आदि सचित्त द्रव्यो का उपभोग करते, दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवगादि भी खाते है।"

"ये लोग मुहूर्त निकालते, निमित्त बताते और भभूति भी देते है। जीमनवार मे मिष्टान्न ग्रहण करते, आहार के लिये खुशामद करते और पूछने पर भी सच्चा धर्म नही बताते है।"

"ये लोग स्नान करते, तैल लगाते, शृगार करते और इत्र-फुलेल का भी उपयोग करते है। स्वय भ्रष्ट होते हुए भी दूसरो की आलोचना करते है।"

इस प्रकार की विकृत स्थिति मे भी जो लोग तीर्थकरो का वेष समझ कर उन मुनियो को वन्दनादि करते है, उनके लिये भी आचार्य हरिभद्र ने बडी दर्दभरी भाषा मे कहा है –

---

[1] कीबो न कुणइ लोय, लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेइ।
सोवाहणो य हिण्डइ, बधइ कडिपट्टयमकज्जे ॥ [सम्बोध प्रकरण, गा० १४]

वस्तुत: इतिहास इस बात का साक्षी है कि ज्यों ज्यों श्रमणों में राजनैतिक सम्मानो के प्रति आकर्षण बढता गया, त्यो त्यो वैयक्तिक प्रभाव के माध्यम से मुनिगण संयम-मार्ग से उत्तरोत्तर विचलित होते गये। स्वाध्याय के प्रति उनकी उदासीनता बढती गई और उनके लिये धर्म के मौलिक आचरण केवल वाणी-विलास के साधनमात्र रह गये। यह एक तथ्य है कि जब सुखोपभोग की वृत्तिया जीवन में साकार होती है, तब संयमित जीवन की यथावत् प्रतिपालना समस्या का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार जीवन में सुखोपभोग की वृत्तियो के साकार होने के फलस्वरूप वनवास से वसतिवास, तदनन्तर वसतिवास से चैत्यवास आया और विक्रम की १५वीं शताब्दी के पश्चात् यही चैत्यवास परिवर्तित होते होते यतिसमाज के मठवास-उपाश्रयवास के रूप मे बदल गया।

त्रिपुटी मुनि द्वारा, 'जैन परम्परा नो इतिहास, प्रथम भाग' में किये गये उल्लेखानुसार चन्द्रकुल के आचार्य सामन्तभद्र ने जिस समय बनवास प्रचलित किया, उस समय उनके साथ नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर कुलो के अन्य श्रमण भी वन मे रहने लगे और तब से "वनवासी गच्छ" नाम प्रारम्भ हुआ। परन्तु समय की विपमता के कारण वन के निवास में बहुत सी बाधाएं खड़ी होने लगी। राजाओं के एक-दूसरे के साथ भयकर युद्ध, बारम्बार दीर्घकाल के दुष्काल, आहार-पानी की दुर्लभता, पठन-पाठन में अन्तराय-विक्षेप, श्रुत का ह्रास, शक्ति की क्षीणता, लोकों की अप्रीति एव संघ की अस्तव्यस्तता इत्यादि कारणो से श्रुतधरो ने गम्भीर विचारणा के पश्चात् श्रावकों की बस्ती में नही किन्तु मन्दिरों के पास उपाश्रय में उतरने की मर्यादा प्रचलित की। इसका प्रारम्भ वीर सं० ८८२ में हो गया। यद्यपि उस समय वन के बदले मुनि लोग वसति के चैत्य और उपाश्रय मात्र में उतरते थे किन्तु वहां वे स्थानपति होकर नही रहते थे। चैत्यवसति में उतरने पर भी वे सततविहारी होने के कारण विहरूक कहलाते थे।

पर समय के प्रभाव से इस मर्यादा में भी शिथिलता आई और कितने ही मुनियों ने स्थायी रूप से चैत्यवास अपना लिया। वीर निर्वाण की बारहवी, अर्थात् विक्रम की आठवी शती के अन्त में तो यह चैत्यवास विकृत होकर घरवास जैसा बन गया।

जैन श्रमण अपनी निर्ग्रन्थता और वीतरागभाव की साधना के लिये सदा से यह परमावश्यक मानते रहे है कि जितना हो सके गृहीजनों के संसर्ग से बचा जाय, ताकि उनके मन मे रागभाव की उत्पत्ति ही न हो सके। चिरकाल तक किसी एक स्थान पर रहने से रागवृद्धि के साथ निर्ग्रन्थता में विकृति आना सभव है। इस दृष्टि से उन्होंने अपना निवास भी गृहस्थों के संसर्ग से दूर और अस्थिर रखा। इसी भावना को लेकर भगवान् महावीर के पश्चात् भी जैन श्रमण जनसंसर्ग से दूर विविक्तवास और "गामे गामे एग राय, नगरे नगरे पंच राय" इस वचन के अनुसार अप्रतिबद्ध भाव से नवकल्पी विहार करते रहे।

कि उत्तम मुनियो को कलिकाल मे वनवास नही करना चाहिये । जिनमन्दिरो और विशेष कर ग्रामादि मे रहना ही उनके लिये उचित है ।[1]

अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर मुनियो ने वि० स० ४७२ मे वनवास छोड कर "निसीहि" आदि मे रहना प्रारम्भ किया हो एव उसमे विकृति होने पर वि० स० १२१६ के पश्चात् मठवास चालू हुआ हो और उनमे रहने वाले मठवासी भट्टारक कहे जाने लगे हो ।

उपलब्ध साहित्य के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम सवत् १२८५ से "चैत्यवास" सर्वथा बन्द हो गया और मुनियो ने उपाश्रय मे उतरना प्रारम्भ कर दिया । यथास्थान इस विषय मे विशेष प्रकाश डाला जायगा ।

तत्कालीन राजनैतिक स्थिति

आर्य रेवतीनक्षत्र के समय की राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध मे कुछ लिखने से पूर्व उस समय से पहले की राजनैतिक स्थिति पर थोडा प्रकाश डालना आवश्यक है । यह पहले बताया जा चुका है कि पुष्यमित्र शुग के राज्यकाल मे बेक्ट्रिया के यूनानी राजा डिमिट्रियस ने एक प्रबल सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया । मथुरा, साकेत आदि प्रदेशो को विजित करने के पश्चात् उसने पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया । किन्तु उसी समय उसे उसके घर मे गृहकलह होने तथा यूक्रेटाइडीज द्वारा उसके राज्य पर अधिकार कर लिये जाने की सूचना मिली । अत उसे तत्काल अपने दलबल सहित बेक्ट्रिया की ओर लौटना पडा । वहाँ गृह-कलह मे उसकी मृत्यु हो गई । डिमिट्रियस की मृत्यु के पश्चात् उसके निकटतम सम्बन्धी मेनेण्डर ने भारत पर आक्रमण किया । उसके पास पर्याप्त धन और शक्तिशाली विशाल सेना थी । मेनेण्डर ने पजाब पर अधिकार कर साकल अर्थात् स्यालकोट मे अपनी राजधानी स्थापित की । पजाब-विजय के समय मेनेण्डर का अनेक बौद्ध भिक्षुओ से साक्षात्कार हुआ । उसने एक बौद्ध आचार्य से अध्यात्म और दर्शन विषयक अनेक प्रश्न किये । बौद्धाचार्य से अपने प्रश्नो का सतोषप्रद उत्तर सुन कर वह बडा प्रभावित हुआ और उसने बौद्ध धर्म अगीकार कर लिया । इतिहासज्ञो का अनुमान है कि 'मिलिन्दपन्हो' नामक बौद्ध धर्मग्रन्थ मेनेण्डर के प्रश्नो और बौद्धाचार्य नागसेन द्वारा दिये गये उन प्रश्नो के उत्तर के आधार पर बना हुआ है । बौद्ध ग्रन्थो मे मेनेण्डर को मिलिन्द के नाम से अभिहित किया गया है ।[2] मिलिन्द ने बौद्धधर्म को राज्याश्रय देकर उसके प्रचार-प्रसार मे पर्याप्त सहायता प्रदान की ।

पजाब मे अपनी स्थिति सुदृढ करने के पश्चात् मिलिन्द (मेनेण्डर) ने सिन्ध की राह से भारत-विजय का अपना अभियान आरम्भ किया । काठियावाड,

---

[1] कलौ काले वने वासो, वर्ज्यते मुनिसत्तमै ।
स्थीयते च जिनागारे, ग्रामादिपु विशेषत ॥२२॥ [रत्नमाला]

[2] 'The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, page 3

"कुछ नासमझ लोग कहते है कि यह तीर्थकरों का वेष है। इसे भ
नमस्कार करना चाहिये। अहो! धिक्कार है उन्हे। मै अपने शिर शूल क
पुकार किसके आगे करूँ?"[1]

जिनवल्लभ ने अपने सघपट्टक की भूमिका में चैत्यवास का इतिहा
प्रस्तुत करते हुए लिखा है :–"वीर नि० स० ८५० के लगभग कुछ मुनियों
उग्रविहार छोड़ कर मन्दिर में रहना प्रारम्भ कर दिया। इनकी सख्या धीरे-धी
बढती गई और समयान्तर में वे बहुत प्रबल हो गये।"

".......उन्होने यह प्रतिपादन करना प्रारम्भ कर दिया कि वर्तमान काल
मुनियों का चैत्यो में रहना उचित है। उन्हे पुस्तकादि के लिये यथावश्यक द्र
भी रखना चाहिये।"

यह भी कहा जाता है कि वि० सं० ८०२ में अणहिलपुर पाटण के राज
बनराज चावड़ा द्वारा उनके गुरु शीलगुणसूरि ने यह आज्ञा प्रसारित करवा दी वि
उनके नगर अणहिलपुर पाटण मे चैत्यवासी साधुओ के अतिरिक्त अन्य वनवा
आदि साधु प्रवेश तक नही कर सकेंगे। उस अनुचित आज्ञा को निरस्त करवा
के लिये विक्रम स० १०७४ मे जिनेश्वर और बुद्धिसागर नामक दो विधिमा
विद्वान् साधुओं ने राजा दुर्लभदेव की सभा में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ क
उन्हें पराजित किया और तब कही पाटण मे विधिमार्गियों का प्रवेश हो सका।

विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अल्पसंख्यक सुवि
हित मुनियो की विद्यमानता मे भी चिरकाल तक चैत्यवासियो की प्रभुता ब
रही। फिर भी शासनप्रेमी सुविहित मुनियों ने शिथिलता का विरोध करते हु
सिद्धान्तानुगामी मार्ग पर अपने चरण जमाये रखे।

जिनवल्लभ के पश्चात् आचार्य जिनदत्त एवं जिनपति और सौराष्ट्र
मुनिचन्द्र एव मुनिसुदर आदि विधिमार्गी विद्वान् मुनि भी अपनी रचनाओ ए
उपदेशों के माध्यम से चैत्यवासियों के साथ टक्कर लेते रहे और अन्त मे उन्हो
चैत्यवासियो को हतप्रभ कर दिया। विक्रम की १५वी शताब्दी के पश्चात् यह
चैत्यवास परिवर्तित हो कर यतिसमाज के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा।

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी इसका प्रभा
स्पष्टत: दिखाई देता है। भट्टारकों की गादियां उस चैत्यवास और मठवास की
प्रतिनिधि कही जा सकती है।

आचार्य कुदकुद के "लिगपाहुड़" से पता चलता है कि उस समय ऐसे भ
जैन साधु थे जो गृहस्थो के विवाह जुटाते और कृषिकर्म, वाणिज्य आदि हिसा-क
करते थे।[2] चैत्यवास के समर्थक मुनि शिवकोटि ने अपनी रत्नमाला मे लिखा

---

[1] वाला वयति एव, वेसो तित्थकराण एसो वि।
नमणिज्जो धिद्धि अहो, सिरसूल कस्स पुक्करिमो॥
[सबोधप्रकरण, गा० ७६ (जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित)

[2] जो जोडेज्ज विवाह, किसिकम्मवाणिज्जजीवघाद च। [लिग पाहुड

विशाल सेनाओ के कारण विदेशियो को भारत के विभिन्न प्रदेशो पर अपना आधिपत्य स्थापित करने मे सफलताए मिली पर भारतीय राज्य शक्तियां उन विदेशियो के साथ प्राय निरन्तर सघर्षरत रही। भारतीय जनता एव राज्य शक्तियों द्वारा किये गये उन सघर्षो तथा विदेशी आक्रान्ताओ के परस्पर टकराने के फलस्वरूप अन्ततोगत्वा वे विदेशी शक्तिया क्षीण होते होते विलीन ही हो गई। जिस प्रकार यूनानियो के शासन को प्रथमत. चन्द्रगुप्त मौर्य और तदनन्तर शको ने, शको के शासन को वीर नि० स० ४७० मे विक्रमादित्य ने और तदनन्तर वीर नि० सं० ६०५ मे गौमतीपुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने समाप्त किया, उसी प्रकार भारत के विदेशी पार्थियनों के शासन को विदेशी यू-ची जाति के कुषाणो ने समाप्त किया।

आर्य रेवतीनक्षत्र के वाचनाचार्य-काल से पूर्व कुजुल कैडफाइसिस (प्रथम) नामक कुषाण सरदार ने पार्थियनों को पराजित कर गान्धार (अफगानिस्तान) और पजाब के कुछ प्रदेशो पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके पुत्र वेम कैडफाइसिस ने भारत मे और आगे बढना प्रारम्भ किया और आर्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र के युगप्रधानत्व काल मे पूरे पजाब तथा दुआबा पर अपना अधिकार करने के पश्चात् पूर्व मे वाराणसी तक अपने राज्य की सीमा का विस्तार कर लिया।

विदेशी आक्रमणो के कारण देश को सर्वतोमुखी हानि हुई। विदेशी आक्रान्ताओ के अत्याचारो से सत्रस्त जनमानस मे असहिष्णुता, पारस्परिक जातीय, सामाजिक एव धार्मिक विद्वेष ने बल पकडा। विदेशियो द्वारा देश एव देशवासियो की जो दुर्दशा की जाती उसके लिए एक जाति दूसरी जाति को एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्मावलम्बियो को, एक वर्ग दूसरे वर्ग को दोषी ठहराने लगा। देशवासियो के मन में उत्पन्न हुई इस प्रकार की घातक मनोवृत्ति से देश को जो हानि हुई, उसे आका तक नही जा सकता क्योकि वस्तुत वह विदेशी आक्रमणो से हुई हानि से कई गुना अधिक थी। इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार की विकृत मनोवृत्ति को निहित-स्वार्थ लोगो ने समय-समय पर उभाडा। इसका परिणाम यह हुआ कि सहस्राब्दियो से साथ-साथ रहते आये वर्गो, धर्मावलम्बियो एव जातियो ने परस्पर एक दूसरे को मिटाने के अनेक प्रयास किये। भारत से बौद्धधर्म की समाप्ति मे अनेक कारणो के साथ-साथ इस प्रकार का धार्मिक विद्वेष भी प्रमुख कारण रहा है। पुष्यमित्र शुग द्वारा बौद्धो और बौद्धधर्म के विरुद्ध किया गया अभियान इस तथ्य का साक्षी है।

भारत मे विदेशी आक्रान्ताओ की सफलताओ के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई उन विषम परिस्थितियो मे जैनधर्मावलम्बियो को भी बडे कठिन दौर से गुजरना पडा। मौर्य सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल मे, जहा भारत और भारत के पडौसी राष्ट्रो मे भी जैनधर्म का अभूतपूर्व प्रचार-प्रसार हुआ, वहा ईसा की पहली शताब्दी के प्रथम चरण से भारत पर प्रारम्भ होने वाले आक्रमणो के पश्चात् जैन धर्मावलम्बियो की सख्या मे उत्तरोत्तर ह्रास होता चला गया।

माध्यमिका (मज्झिमा) और मथुरा को अपने अधिकार में करता हुआ वह आगे वढा । सिन्धु (सभवत: कालीसिन्ध) नदी के दक्षिण तटवर्ती किसी स्थान पर पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने मेनेण्डर को भयकर युद्ध के पश्चात् बुरी तरह परास्त किया ।[1] इस करारी हार के पश्चात् यूनानियो का राज्य केवल पजाव और भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती कुछ प्रदेशो तक ही सीमित रहा ।[2]

इसी समय शको ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो पर आक्रमण कर वहाँ से यूनानियो की सत्ता को समाप्त कर दिया । शकराज मोगा अपरनाम मोस प्रथम ने शैव धर्म अगीकार किया और उसने कतिपय वर्षो तक गान्धार (अफगानिस्तान) तथा पजाव पर राज्य किया । इसके पश्चात् शको ने उत्तर प्रदेश, राजपूताना और कुछ दक्षिणी प्रदेशों तक अपने राज्य का विस्तार किया । शको ने भारत के अनेक प्रदेशो मे अपनी क्षत्रपियां स्थापित की । उनमे से मथुरा की क्षत्रपी का राजुल नामक शासक एक शक्तिशाली क्षत्रप हुआ, जिसके अनेक सिक्के उपलब्ध होते है ।[3]

वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के प्रथम चरण की समाप्ति के अनन्तर, तदनुसार ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भकाल मे पार्थियनो ने ईरान के अनेक प्रदेशो पर अधिकार करने के पश्चात् भारत पर आक्रमण किया । इनका शको के साथ सघर्ष हुआ । पार्थियनों ने शको को परास्त कर भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती क्षेत्रो एव पजाब पर अधिकार कर लिया । इसके परिणामस्वरूप शको का राज्य भारत के दक्षिण-पश्चिमी सौराष्ट्र आदि प्रदेशों में ही रह गया । पार्थियनों ने पजाव पर अधिकार करने के पश्चात् अपने राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया । गोडाफरनीज नामक पार्थियन शासक ने तक्षशिला, मथुरा उज्जयिनी आदि मे अपनी क्षत्रपिया स्थापित की । थोडे समय पश्चात् ही अधिकाश पार्थियन क्षत्रपो ने अपने आपको स्वतन्त्र घोपित कर दिया । इसके परिणाम स्वरूप पार्थियनों की शक्ति विकेन्द्रित होने के कारण शनै. शनैः क्षीण होती गई ।

यह उल्लेखनीय है कि प्रायः सभी पार्थियन एवं शक शासकों ने भारतीय धर्म स्वीकार कर भारतीय संस्कृति को विकसित-पल्लवित करने के वडे प्रयास किये । उन लोगों ने पूर्णत. भारतीय शासन-प्रणाली के अनुसार राज्य करते हुए अनेक जनहित के कार्य किये ।

अव तक किये गये उल्लेखों से यह तो स्पप्ट ही है कि भारत पर जव जव भी विदेशी आक्रान्ताओ ने आक्रमण किये, तव-तव भारत के गण राज्यो, राजाओ और जनता ने उन विदेशी शक्तियो के साथ वडी वीरता से युद्ध किया । यद्यपि भारत मे सुदृढ केन्द्रीय राज्यसत्ता के अभाव और विदेशियो की सुसंगठित

[1] मालविकाग्निमित्र (कालीदास) ।
[2] The Gupta Empire by Shri Radhakumud Mookerji, page 3
[3] वही, page 4

है ।[1] इससे भी प्रतीत होता है कि चन्द्रमुनि के ज्येष्ठ गुरुबन्धु नागेन्द्र ही श्वेताम्बर आचार्य के रूप से दिगम्बर परम्परा मे चर्चित होते रहे है ।

नागहस्ती परम्परा-भेद होने से पूर्व के आचार्य होने के कारण दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे उन्हे कही पर भी श्वेताम्बर विशेषण से अभिहित नही किया गया है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर नागहस्ती और नागेन्द्र ये दोनो भिन्न-भिन्न काल के दो भिन्न आचार्य प्रमाणित होते है । आर्य मगू और आर्य नागहस्ती ये दोनो पर्याप्त अशो मे समकालीन होने चाहिये । पर नागेन्द्र को नागहस्ती मान लेने पर किसी भी दशा मे सगति नही बैठती । क्योकि आर्य नागेन्द्र का जन्म वी नि स ५७३ मे होने का उल्लेख उपलब्ध होता है जब कि आर्य मंगू का आचार्यकाल ४७० माना गया है ।

वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) ये दोनो भिन्न-भिन्न काल मे हुए दो भिन्न आचार्य है । इस तथ्य को सिद्ध करने वाले सर्वाधिक सबल शास्त्रीय प्रमाण, अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ का वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती के प्रकरण मे उल्लेख किया जा चुका है ।[2]

१६. आचार्य सामन्तभद्र-गणाचार्य

वीर नि० स० ६४३ मे[3] आर्य चन्द्रसूरि के स्वर्गगमन के पश्चात् १६ वे गणाचार्य सामन्तभद्र हुए । आपके जन्म, कुल आदि का परिचय उपलब्ध नही होता । आपका जो कुछ परिचय उपलब्ध होता है, उससे यह विदित होता है कि आप पूर्वश्रुत के अभ्यासी होते हुए भी अस्खलित चारित्र की आराधना करने वाले थे । निर्मोह भाव से विचरण करते हुए ये सयमशुद्धि के लिये अधिकाशत वनो, उद्यानो, यक्षायतनो, एव शून्य देवालयो मे ही ठहरा करते थे । इनके उत्कट वैराग्य और वनवास को देख कर लोग इन्हे वनवासी और इनके साधुसमुदाय को वनवासी-गच्छ कहने लगे । सौधर्मकाल के निर्ग्रथ गच्छ का यह चौथा नाम वनवासी गच्छ कहा जाता है । वनवासी शब्द सापेक्ष होने के कारण वसतिवास की स्मृति दिलाता है । भगवान् महावीर और सुधर्मा के समय तक साधुओ का प्रायिक निवास वन-प्रदेशो मे ही होता था फिर भी उस समय के श्रमण वनवासी न कहला कर निर्ग्रथ नाम से ही पहिचाने जाते रहे । क्योकि उनके सम्मुख वनवासी से भिन्न वसतिवासी नामक कोई भिन्न श्रमणवर्ग नही था ।

---

[1] (क) इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी मिथ्यादृष्टि । सशयवादी किलेव मन्यते, सेयवरो य ।
[वोधप्राभृत, गा० ५३ श्रुतसागरी टीका]

(ख) इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रगच्छोत्पन्नाना तदुलकपाथोदकादिसमाचारीसमाश्रयीणा श्वेतपटाना
[भावप्राभृत, गा० १३५, श्रुतसागरी]

[2] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५५२

[3] त्रिपुटी के अनुसार वीर नि० स० ६५० ।

२०. ब्रह्मद्वीपकसिंह – वाचनाचार्य

वाचनाचार्य आर्य रेवतीनक्षत्र के पश्चात् आर्य ब्रह्मद्वीपकसिह २०वे वाचनाचार्य हुए। चौबीसवे युगप्रधानाचार्य आर्य सिंह के साथ नाम साम्य होने के कारण वाचनाचार्य आर्य ब्रह्मद्वीपकसिह और युगप्रधानाचार्य सिह को अधिकांश लेखको द्वारा एक ही आचार्य मान लिया गया है। वाचनाचार्य सिह के नाम के पहले 'ब्रह्मद्वीपक' विशेषण से यह अनुमान किया जाता है कि युग-प्रधानाचार्य सिह से आप भिन्न और पूर्ववर्ती आचार्य है।

२३वे युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र के पश्चात् होने वाले २४वे युगप्रधानाचार्य आर्य सिह २०वे वाचनाचार्य ब्रह्मद्वीपकसिह से भिन्न है अथवा नही, यह एक गवेषणा का विषय है, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न न होकर एक ही होते तो वाचनाचार्य सिह और युगप्रधानाचार्य सिह की भिन्नता बताने वाला 'ब्रह्मद्वीपक' विशेषण वाचनाचार्य सिह के नाम के साथ नही जोडा जाता। आशा है विद्वान् गवेषक इस सम्बन्ध में शोध कर प्रकाश डालेगे।

आर्य ब्रह्मद्वीपकसिह का परिचय आगे आर्य सिह के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

२२. आर्य नागेन्द्र (नागहस्ती)–युगप्रधानाचार्य

आर्य वज्रसेन के पश्चात् युगप्रधान परम्परा मे नागहस्ती का नाम आता है। नागेन्द्र सोपारकपुर के श्रेष्ठी जिनदत्त के दीक्षित चार पुत्रो मे सबसे ज्येष्ठ थे। युगप्रधानो की नामावलि मे आर्य नागेन्द्र का आर्य नागेन्द्र नाम से उल्लेख न कर नामसाम्य-जन्य त्रुटि से नागहस्ती के नाम से उल्लेख किया गया है। वस्तुतः युगप्रधान नागेन्द्र वाचक आर्य नागहस्ती से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते है। दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार नागेन्द्र का दीक्षाकाल ५९२–९३ माना गया है। किचिन्न्यून १० पूर्वधर होने से आर्य नागेन्द्र ही वज्रसेन के पश्चात् युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये। ६९ वर्ष जैसे सुदीर्घ काल तक आपने युगप्रधानाचार्य पद से जिनशासन की सेवा की। वीर नि० स० ६८९ में इनका स्वर्गवास माना गया है।

पहले यह बताया जा चुका है कि आर्य नागहस्ती और नागेन्द्र – दोनो, दो भिन्न-भिन्न आचार्य है। आचार्य नागहस्ती वाचकवंश परम्परा के आचार्य है और उनके गुरू आर्य नन्दिल माने गये है जबकि नागेन्द्र युगप्रधान परम्परा के आचार्य और वज्रसेन के शिष्य है। पहले वज्रसेन के पूर्ववर्ती आचार्य है तो दूसरे वज्रसेन के पश्चाद्वर्ती उनके उत्तराधिकारी। वाचक नागहस्ती और युगप्रधान नागेन्द्र की भिन्नता इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि आर्य नागहस्ती का दिगम्बर परम्परा के साहित्य मे भी यतिवृषभ के गुरु रूप से उल्लेख किया गया है पर आर्य नागेन्द्र को संशयमिथ्यादृष्टि, श्वेताम्बर आदि विशेषणो से अभिहित किया गया

समाज मे सभवत विरला ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो आपके प्रभाव से अपरिचित हो ।

नाडौल निवासी प्रख्यात श्रेष्ठी धनेश्वर आपके पिता और धारिणी माता थी । अपना एकमात्र पुत्र होने के कारण माता-पिता ने आपका नाम मानदेव रखा । एक वार आचार्य प्रद्योतन विहार क्रम से नाडोल पधारे । भाग्यवश मानदेव ने भी आचार्यश्री के उपदेशो को सुनने का सुअवसर पाया । आचार्य प्रद्योतनसूरि की वैराग्यपूर्ण वाणी सुनकर मानदेव को अपूर्व उल्लास हुआ और उन्होने गुरुचरणो मे प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की । बड़ी कठिनाई से मानदेव ने माता-पिता से अनुमति प्राप्त की और शुभ समय मे श्रमण-दीक्षा अगीकार कर वे विनयपूर्वक ज्ञानाराधन के साथ कठोर तप की साधना करने लगे । प्रखर प्रतिभा के कारण अल्प समय मे ही उन्होने ११ अगश्रुत, मूल, छेद और उपाग श्रुतो का पूर्ण अभ्यास कर लिया ।[1]

गुरु ने मानदेव को योग्य समझकर आचार्य पद से सुशोभित करना चाहा पर कहा जाता है कि लक्ष्मी (लावण्यश्री) और सरस्वती का आपस मे एकत्र अद्भुत सम्मिलन देखकर गुरुदेव इस बात के लिए चिन्तित हुए कि मुनि मानदेव से चारित्र का पालन किस प्रकार निभ सकेगा ।

गुरू की चिन्ता से मानदेव चारित्र के प्रति और अधिक आस्थावान् बन गये । गुरुदेव की प्रीति हेतु उन्होने सम्पूर्ण रूप से विगइ-विकृति का परित्याग कर दिया और भक्तजनो के यहा से आहार लाना भी बन्द कर दिया । आत्मसाधना के प्रति सजगता विश्व को सहज ही झुका देती है । इस नियमानुसार मानदेव के चरणो मे भी कुछ दैवी शक्ति का सामीप्य हो गया था, इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते है ।

आर्य नागेन्द्र के समय की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति

इससे पहले के प्रकरण मे बताया जा चुका है कि आर्य रेवतीनक्षत्र के वाचनाचार्य काल मे कुषाणवश के राजा वेम कैडफाइसिस ने अपने पिता कुजुल कैडफाइसिस द्वारा ईरान की सीमा से लेकर सिन्धु नदी तक सस्थापित राज्य की सीमा मे विस्तार करना प्रारम्भ किया । वेम ने पूरे पजाब और दोआबा को जीत कर पूर्व मे वाराणसी तक अपने राज्य का विस्तार किया । वेम कैडफाइसिस की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कनिष्क वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के प्रथम चरण मे तदनुसार शक सम्वत्सर के प्रचलित होने के पश्चात् राज्य सिहासन पर आसीन हुआ । कनिष्क ने पुरुषपुर-पेशावर नामक एक नवीन नगर बसा कर वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की ।

---

[1] अगैकादशकेऽधीती, छेदमौलेपु निष्ठित ।
उपागेपु च निष्णातस्ततो जज्ञे वहुश्रुत ॥२३॥ [प्रभावक चरित्र, प्रकरण १३]

जब निर्ग्रथ गच्छ, कौटिक गच्छ, और चन्द्रगच्छ के नामान्तरों से गुजरता हुआ साधु-समुदाय जनसम्पर्क मे आगे बढा, तब श्रमणो का आवास भी मुख्य रूप से वसतियों मे होने लगा हो, यह स्वाभाविक है। संभव है आर्य रक्षित के पश्चात् साधु सम्प्रदाय मे शिथिलता अधिक बढी हुई देख कर सयमशुद्धि और उग्र साधना को बनाये रखने के लिये सामन्तभद्र ने शिथिलाचार के विरुद्ध वनवास स्वीकार किया हो।

दूसरा यह भी सभव है कि वीर नि० सं० ६०९ में हुए श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायभेद को पाट कर दोनों मे समन्वय करने की दृष्टि से उग्र सनमाराधन का प्रयत्न प्रारम्भ किया गया हो। आचार्य सामन्तभद्र द्वारा किया गया यह उग्र आचार का अभियान शिथिलाचार के विरोध मे कुछ समय तक अवश्य प्रभावोत्पादक रहा होगा। पर इसमे यथेप्सित स्थाई सफलता नही मिल पाई।

इसी अवधि मे दिगम्बर परम्परा मे भी समन्तभद्र नामक एक आचार्य के होने के उल्लेख उपलब्ध होते है। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार उनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी मे आता है।[1] हो सकता है सामन्तभद्र को ही समन्तभद्र समझ कर उनके उत्कट आचार के कारण उन्हे सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा एव अपना लिया गया हो।

आपके जन्म, दीक्षा, आचार्यपद और स्वर्गवास का समय उपलब्ध नही होता। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार आपका अस्तित्वकाल वीर नि० स० ६७० के आसपास माना गया है।

१७. आचार्य वृद्धदेव-गणाचार्य

आचार्य सामन्तभद्र के पश्चात् १७वे गणाचार्य वृद्धदेव हुए। इनका केवल इतना ही परिचय मिलता है कि वृद्धावस्था में आचार्य पद प्राप्त करने के कारण सभी उन्हे वृद्धदेवसूरि के नाम से संबोधित करने लगे। सामन्तभद्र की परम्परा के आचार्य होने के कारण आपको भी उग्र क्रिया का समर्थक माना गया है।

१८. आचार्य प्रद्योतन-गणाचार्य

आचार्य वृद्धदेव के पश्चात् आर्य प्रद्योतनसूरि गणाचार्य हुए। पट्टावलियों मे इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध है कि अजमेर और स्वर्णगिरि मे आपने प्रतिष्ठा करवाई पर स्वर्गीय मुनि कान्तिसागरजी के अनुसार इतिहास के प्रकाश मे इस प्रकार के उल्लेखों की सच्चाई सदिग्ध मानी गई है।[2]

आपका स्वर्गवास वीर नि० सं० ६९८ मे होना बताया गया है।

१९. आचार्य मानदेव-गणाचार्य

आचार्य प्रद्योतनसूरि के पश्चात् १९वे पट्टधर गणाचार्य मानदेव हुए। आचार्य मानदेव त्याग-तप की विशिष्ट साधना मे इतने प्रसिद्ध थे कि जैन

---

[1] जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष, भा० १, पृ० ३३६

[2] मुनि कान्तिसागरजी द्वारा लिखित जैन इतिहास की पाण्डुलिपि, पृ० १०६।

दक्षिणापथ का सातवाहन राजवश, जिसके, विक्रमादित्य के समय से वीर नि० सं० ६६३ तक अक्षुण्ण राज्य चलने के अनेक उल्लेख जैन वाङ्मय मे तथा अन्य इतिहास-ग्रन्थो में उपलब्ध होते है ।

कतिपय सातवाहनवशी राजाओ के जैन धर्मावलम्बी होने विषयक अनेक उल्लेख जैन साहित्य मे विद्यमान है ।

महाराजा कनिष्क के समय मे कुषाणवशी विदेशी राजसत्ता बौद्ध धर्माव-लम्बियो के साथ इतनी अधिक घुलमिल गई थी कि दोनो एक दूसरे के उत्कर्ष को अपना स्वय का उत्कर्ष समझने लगे थे । इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण कुषाण-साम्राज्य के उत्कर्ष मे बौद्ध सघ का सर्वतोमुखी सहयोग और बौद्ध सघ मे कनिष्क का वर्चस्व बढता ही गया । बौद्ध और कुषाणो की इस प्रकार की घनिष्ठता जहाँ एक ओर बौद्धधर्म के तात्कालिक उत्कर्ष मे बडी ही सहायक हुई, वहाँ दूसरी ओर वह बौद्धधर्म के लिए महान् अभिशाप सिद्ध हुई । विदेशी दासता से मुक्ति चाहने वाली समस्त भारतीय प्रजा के हृदय मे कुषाणो के प्रति जो घृणा थी, वह कुषाणो के शासन को सुदृढ बनाये रखने मे सहायता प्रदान करने वाले बौद्ध सघो, बौद्ध-भिक्षुओ एव बौद्ध धर्मावलम्बियो के प्रति भी उत्तरोत्तर बढने लगी । भारत की स्वतन्त्रताप्रिय प्रजा बौद्ध सघ को राष्ट्रीयता के धरातल से च्युत, आध्यात्मिक स्वतन्त्रता से विहीन एव आततायी का प्राणप्रिय पोष्य-पुत्र समझने लगी । भारतीय जनमानस मे उत्पन्न हुई इस प्रकार की भावना अन्ततोगत्वा भारत मे बौद्धधर्म के अपकर्ष ही नही अपितु सर्वनाश का कारण बनी ।

नाग भारशिव राजवंश का अभ्युदय

बौद्धो के सर्वतोमुखी सहयोग के बल पर बढते हुए विदेशी दासता के उस उत्पीडन ने भारशिव नामक नाग-राजवश को जन्म दिया । लकुलीश नामक एक परिव्राजक ने विदेशी दासता के जूडे को उतार फेकने के लिये लालायित भारतीय जनमानस मे शिव के सहारक स्वरूप की उपासना के माध्यम से प्राण फूंकने का अभियान प्रारम्भ किया । भारशिव नागो ने लकुलीश को शिव का अशावतार मानकर उनके प्रत्येक आदेश का अक्षरश. पालन किया । कनिष्क की मृत्यु होते ही भारशिव नागवश एक राजवश के रूप मे उदित हुआ । आगे चलकर इन भारशिवो ने कुषाण साम्राज्य का अन्त कर विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की।[१]

ऐतिहासिक तथ्यो के पर्यवेक्षण से कनिष्क का गन्धार के सिहासन पर आसीन होने का समय वीर नि० स० ६०५ (ई० सन् ७८) तथा मृत्यु का समय वीर नि० स० ६३३ (ई० सन् १०६) ठहरता है ।[२] तदनुसार भारशिव नागो के

---

१ Several Vakataka inscriptions mention Bhavanaga, sovereign of the dynasty known as the Bharsivas who were so powerful that they had to their credit the performance of as many as ten Asvamedha sacrifices following their conquests along the Bhagirathi (Ganges) [The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, page 7]

२ 'The Gupta Empire' by Radhakumud Mookerji, page 3-4

कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर विजय का अभियान प्रारम्भ किया। इसने पार्थियनों के शासन को भारत से मूलतः उखाड़ फैंका। काश्मीर-विजय के पश्चात् कनिष्क ने चीनी साम्राज्य के प्रदेशो - चीनी तुर्किस्तान, काशगर, यारकन्द एवं खोतान पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। कनिष्क का साम्राज्य ईरान की सीमाओं से वाराणसी, चीनी, तुर्किस्तान से काश्मीर और दक्षिण में विन्ध्य-पर्वतश्रेणियों तक फैला हुआ था।[1] कनिष्क ने काश्मीर में अपने नाम पर कनिष्कपुर नामक एक नगर बसाया। उसने जन्मजात भारतीय की तरह भारतीय संस्कृति को अपनाया। उसने विदेशी होते हुए भी मौर्यसम्राट् अशोक द्वारा अपनाई गई नीति का अनुसरण करते हुए बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार मे बडा योगदान दिया। कनिष्क ने काश्मीर के कुण्डलवन नामक स्थान पर बौद्ध – सगीति (बौद्ध भिक्षुओ, विद्वानो एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के धर्म-सम्मेलन) का आयोजन किया। उस संगीति में बौद्ध धर्म के प्रचार एव उसमें नये सुधार से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषयो पर निर्णय लिये गये। इतिहासकारों का ऐसा अनुमान है कि कनिष्क द्वारा की गई उस बौद्ध-सगीति के पश्चात् बौद्धधर्म हीनयान और महायान – इन दो संप्रदायों मे विभक्त हो गया। बुद्ध के निराडम्बर, सहज-सरल धर्म एवं जीवन-दर्शन को मानने वालो की सख्या स्वल्प थी अतः उन लोगो के संप्रदाय का नाम 'हीनयान' पड़ा। बुद्ध को भगवान् का अवतार मान कर उनकी मूर्ति की पूजा करनेवालो की सख्या अधिक थी अतः उन लोगों का संप्रदाय महायान कहा जाने लगा। कनिष्क ने महायान सप्रदाय को प्रश्रय दिया। कनिष्क के शासनकाल मे बुद्ध की प्रतिमाओ की बड़े आडम्बर के साथ पूजा होने लगी और देश में मूर्तिकला का बडा विकास हुआ। कनिष्क बौद्ध धर्माबलम्बी था फिर भी उसने अन्य सभी धर्मावलम्बियो के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार रखा।

कनिष्क के शासनकाल में सस्कृत साहित्य की उल्लेखनीय उन्नति हुई। उसके द्वारा सम्मानित महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित्र', सौन्दरानन्दम्' एवं 'वज्रशूची' नामक उत्कृष्ट कोटि के सस्कृत-ग्रन्थों की रचनाए की।

कनिष्क ने अपने विशाल साम्राज्य के शासन को सुचारु रूप से सचालित करने के लिये भारत के विभिन्न प्रदेशो में क्षत्रपिया स्थापित की थी। उनमे से मथुरा, वाराणसी, गुजरात, काठियावाड़ एवं मालवा की क्षत्रपियो एव उनके खरपल्लान वनस्फर आदि क्षत्रपों के उल्लेख उपलब्ध होते है।[1]

शक्तिशाली कुषाणवशी महाराजा कनिष्क के देश-विदेशव्यापी विजय अभियानो के सक्रान्तिकाल मे भी कतिपय भारतीय राजाओ ने बडे शौर्य और धैर्य के साथ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा। इसका ज्वलन्त उदाहरण है

1 His Empire in India included Kapisa, Gandhara and Kasmira and extended in the east upto Varanasi and beyond

[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p 3]

1. 'The Gupta Empire' by Radhakumud Mookerji, p 4

किये। उत्तरप्रदेश से चीनी तुर्किस्तान तक फैले कुषाणो के विशाल साम्राज्य से लोहा लेना भारशिवो की नवोदित राज्य शक्ति के लिए कोई साधारण साहस का कार्य नही था। मध्यप्रदेश से बुन्देलखण्ड की राह भारशिवो ने कुषाणो के विरुद्ध अपने सैनिक अभियान द्वारा कुषाण साम्राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रो को अपने अधिकार मे करना प्रारम्भ किया। भारशिवो ने वडे साहस और रणचातुरी से काम किया।

इस प्रकार हुविष्क के शासनकाल मे ही कुषाण-साम्राज्य का शनै-शनै ह्रास प्रारम्भ हो गया।

कुषाण महाराजा वाशिष्क

वीर नि० स० ६६५ मे हुविष्क की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र वाशिष्क कुषाणवश के ह्रासोन्मुख साम्राज्य का अधिकारी बना। वाशिष्क ने काश्मीर में अपने पिता के नाम पर हुविष्कपुर नामक एक नगर बसाया। वाशिष्क का शासनकाल वीर नि० स० ६६५ से ६७९ तदनुसार ई० सन् १३८ से १५२ तक रहा।

भारशिवों द्वारा कुषाण-साम्राज्य पर प्रहार

वाशिष्क के शासनकाल मे नवनाग के नेतृत्व मे भारशिव नागो ने अपने खोये हुए परम्परागत राज्य को पुन. हस्तगत करने के लिये कुषाण साम्राज्य पर बडी वीरता के साथ प्रबल आक्रमण किये। उत्तरप्रदेश के अनेक क्षेत्रों से कुषाण शासन की समाप्ति के पश्चात् अन्ततोगत्वा वीर नि० स० ६७४ तदनुसार ई० सन् १४७ के आसपास नवनाग ने कुषाणों की दासता से कातिपुरी के राज्य को मुक्त कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया।

नागवशी प्रथम भारशिव राजा नवनाग ने कान्तिपुरी मे अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात् कुषाण-साम्राज्य को समाप्त करने के उद्देश्य से मद्रको, यौधेयो, मालवो एव अन्य गणतन्त्रप्रिय संघो को अपना सरक्षण प्रदान किया। भारशिवो से सामरिक सहायता प्राप्त कर वे गणतन्त्र पुन सक्रिय हुए। नवनाग एव मद्रक, मालव, यौद्धेय आदि गण-जातियो के आकस्मिक आक्रमणो से कुषाण राज्य निरन्तर क्षीण और आकार मे छोटा होता गया।

कुषाण महाराजा वासुदेव

वीर नि० स० ६६९ मे वाशिष्क के देहावसान के पश्चात् उसका पुत्र वासुदेव कुषाण राज्य का अधिपति बना। कान्तिपुरी का राजा नवनाग भारशिव अपने शेष जीवन काल मे वासुदेव के साथ युद्धरत रहा। वीर नि० स० ६९७ तदनुसार ई० सन् १७० के आसपास नवनाग की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र वीरसेन ने कातिपुरी के राजसिहासन पर आसीन होते ही बडे प्रबल वेग से कुशाण साम्राज्य पर प्रहार करने प्रारम्भ किये। वीरसेन ने अनेक युद्धो मे कुषाणो को पराजित किया। यौधेय, मद्रक, अर्जुनायन, शिवि एव मालव आदि गणराज्यो

प्रारम्भिक अभ्युदय का समय वीर निर्वाण स० ६३३ के पश्चात् का अनुमानित किया जाता है।

भारशिव नागवंशी मूलतः पद्मावती, कान्तिपुरी और विदिशा के निवासी थे। ब्रह्माण्ड पुराण और वायुपुराण मे नागो को वृष (शिव का नन्दी) नाम से सम्बोधित करते हुए इनके विशाल साम्राज्य का उल्लेख किया गया है। जिसमें मद्र (पूर्वी पंजाब), राजपूताना, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, मालवा, बुन्देलखण्ड और बिहार आदि प्रदेश सम्मिलित थे। शुगकाल में शेष, भोगिन, रामचन्द्र, धर्मवर्मन और बंगर इन पाच नागवंशी राजाओं का विदिशा मे राज्य होने के प्रमाण मिलते है। इसके अतिरिक्त शुगोत्तरकाल में भूतनन्दी, शिशुनन्दी, यशनन्दी, पुरुषदात, उसभदात, कामदात, भवदात तथा शिवनन्दी नामक आठ नागराजाओ का विदिशा मे राज्य होना कतिपय शिलालेखों एव मुद्राओं से प्रमाणित होता है। कनिष्क द्वारा कुषाण राज्य के विस्तार के समय ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण मे नागों को अपने मूल निवास-स्थान विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी को छोडकर मध्यभारत की ओर सामूहिक निष्क्रमण करना पडा। ये लोग विन्ध्य के पार्श्ववर्ती प्रदेशों मे निर्वासितों की तरह रहने लगे। विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी पर कुषाणों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। नाग लोगों को कुषाणो की वढती हुई प्रवल शक्ति के कारण निष्क्रमण करना पडा था पर समुचित अवसर प्राप्त होते ही अपने परम्परागत राज्य पर पुनः अधिकार कर लेने की अभिलाषा उनके अन्तर में बलवती बनी रही। अत वे लोग अवसर की प्रतीक्षा में शक्ति सचय करते रहे। नागो ने अपने निर्वासनकाल में नागपुर, पुरिका, रीवा आदि के शासको के साथ घनिष्ठ सम्पर्क वनाये रखा।

कनिष्क को मृत्यु के उपरान्त नागो ने अपने मूल निवास-स्थान विदिशा आदि को कुषाणो की दासता से पुनः मुक्त कराने का दृढ सकल्प किया। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे सैनिक अभियान हेतु सभी आवश्यक सामग्री जुटाने मे बडी तत्परता से जुट गये।

२३ आर्य रेवतीमित्र – युगप्रधानाचार्य

(वीर नि० सं० ६८९–७४८)

आर्य नागेन्द्र के पश्चात् आर्य रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य हुए। आपका यत्किंचित् परिचय वाचनाचार्य आर्य रेवतीनक्षत्र के साथ दे दिया गया है।

भारशिव और कुषाण महाराजा हुविष्क

प्रतापी महाराजा कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र हुविष्क अनुमानत. वीर नि० स० ६३३ (ई० सन् १०६) मे कुषाणवश के विशाल साम्राज्य का अधिपति बना। हुविष्क के शासनकाल मे नाग जाति की भारशिव शाखा पुनः एक राज्यशक्ति के रूप मे उदित हुई। भारशिवों ने विन्ध्य के निकटवर्ती प्रदेशो मे अपनी शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ कुषाण साम्राज्य पर आक्रमण करने प्रारम्भ

भारशिववश की तीन शाखाए मानी गई है। उनके राजाओ के नाम इस प्रकार है –

१. कान्तिपुरी की मुख्य शाखा

१. नवनाग
२. वीरसेन
३. हयनाग
४. त्रयनाग
५. बर्हिननाग
६ चरजनाग
७. भवनाग
८. वाकाटक राजा रुद्रसेन (भवनाग का दौहित्र) जिसको भवनाग ने पुरिका का राज्य दिया।

२. पद्मावती शाखा

१. भीमनाग
२ स्कन्दनाग
३. बृहस्पतिनाग
४. व्याघ्रनाग
५. देवनाग
६. गरणपतिनाग (इसके सिक्के बहुत वडी सख्या मे मिले है)

गरणपतिनाग के पश्चात् सभवत· पद्मावती शाखा मे नागसेन नामक राजा हुआ जिसे कवि हरिषेरण के इलाहाबाद स्थित स्तम्भ लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने अपने पहले विजय अभियान में ही पराजित एव अपदस्थ किया। महाकवि बारण ने भी 'हर्षचरित्र' में नागसेन को पद्मावती का राजा बताते हुए उसकी मूर्खता का उल्लेख किया है।

३. मथुरा शाखा

मथुराशाखा के राजाओ के नाम उपलब्ध नही होते।

वाकाटक राजवंश का अभ्युदय

गुप्त राजवंश के उत्कर्ष से पूर्व भारत के बहुत बडे भूभाग पर वाकाटक राजवश का विशाल साम्राज्य था। अर्जुनायन, माद्रक, यौधेय, मालव आदि गरण-राज्य तथा पजाब, राजपूताना, मालवा, गुजरात आदि प्रान्तो के प्राय सभी राजा वाकाटक साम्राज्य के करद एव अधीनस्थ थे। पुराणो मे वाकाटक राजवश को विध्यक के नाम से ही अभिहित किया गया है।[१] वाकाटक राजवश के अनेक सिक्के, शिलालेख एव ताम्रपत्र उपलब्ध होते है। अजन्ता के गुहाचित्रो एव अभिलेखो से भी वाकाटक राजवंश के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।

इतिहासज्ञो ने विन्ध्यशक्ति नामक नाग को वाकाटक राजवश का सस्थापक माना है। पुराणो मे कोलिकिल वृषों (भारशिवो) मे से इस राजवश के सस्थापक विध्यशक्ति का अभ्युदय बताया गया है।[२]

---

[१] विन्ध्यकाना कुलेऽतीते... ॥३७३॥ [वायुपुराण, अध्याय ९९]

[२] तच्छन्नेन च कालेन, तत· कोलिकिला वृषा ॥३६६॥
तत कोलिकिलेभ्यश्च, विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति। ॥३६७॥ [वही]

ने भी भारशिवों द्वारा कुषाण साम्राज्य की समाप्ति के लिये प्रारम्भ किये गये अभियान मे बड़ा उल्लेखनीय योगदान दिया और अन्ततोगत्वा भारशिव राजा वीरसेन ने ईसा की दूसरी शताब्दी के समाप्त होते होते आर्य धरा से सदा के लिये कुषाणों के शासन को समाप्त कर दिया।

भारशिवो ने अपनी विजयो के उपलक्ष मे काशी में गंगा के किनारे पर १० अश्वमेध यज्ञ किये[१] और इन यज्ञो की स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिये उस स्थान पर दशाश्वमेध घाट का निर्माण करवाया।

यद्यपि भारशिवो ने कुषाण राजवंश के शासन को भारत भूमि से सदा के लिये समाप्त कर दिया पर भारत के अन्तिम कुषाण राजा वासुदेव के पश्चात् भी कुषाण वश के कतिपय और भी राजा हुए। उनका राज्य काबुल की घाटी और सीमान्त प्रदेश तक ही सीमित रहा। गुप्त राजवंश के चरमोत्कर्षकाल में काबुल की घाटी और सीमान्त प्रदेश के बचे-खुचे कुषाण राज्य भी समाप्त हो गये। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तभलेख मे गान्धार और काश्मीर के कुषाण राजाओं द्वारा बहुमूल्य वस्तुओ की भेट के साथ समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार किये जाने का उल्लेख है। किदार नामक एक कुषाणवशी राजा के सिक्के भी प्राप्त हुए है। इन तथ्यों से ऐसा प्रकट होता है कि ईसा की पांचवी शताब्दी तक गान्धार और काश्मीर में कुषाणो का राज्य रहा।[२]

भारशिव राजवंश की शाखाएं

विदेशी कुषाणों के शासन का अन्त करने के पश्चात् भारशिव वशी नाग राजा वीर सेन ने अपने एक पुत्र हयनाग को कान्तिपुरी के राज्य का, दूसरे पुत्र भीमनाग को पद्मावती के राज्य का और तीसरे पुत्र को जिसका कि नाम अज्ञात है – मथुरा के राज्य का अधिकारी बनाया।

हयनाग के पश्चात् कान्तिपुरी के राज्य पर क्रमश त्रयनाग, बर्हिन नाग, चरजनाग और भवनाग ने शासन किया। भवनाग ने अन्त समय मे अपने दौहित्र रुद्रसेन (वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन के पौत्र) को पुरिका का राज्य दिया। इस प्रकार भारशिव राजवश की एक शाखा का राज्य वाकाटक राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया।

पद्मावती के राजसिंहासन पर भीमनाग के पश्चात् क्रमशः स्कन्दनाग, बृहस्पतिनाग, व्याघ्रनाग, देवनाग और गणपति नाग बैठे।

वाकाटको और गुप्तो के साथ भारशिवों के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इस वैवाहिक गठबन्धन के परिणामस्वरूप इन तीनो राजवंशो ने भारत को एक लम्बे समय तक विदेशी आक्रान्ताओं के भय से सर्वथा मुक्त रखा।

---

१ Bharsivas who were so powerful that they had to their credit the performance of as many as ten Ashvamedha sacrifices following their conquests along the Bhagirathi (Ganges) [The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 7]

२ [वही; page 4]

गुप्त साम्राज्य का अधिपति बना, यह प्राय सभी इतिहासज्ञ स्वीकार करते है और मोटे तौर पर यही समय चन्द्रगुप्त द्वितीय के जामाता रुद्रसेन द्वितीय का भी होना चाहिए।

कवि हरिषेण द्वारा उट्टकित करवाये गये इलाहाबाद स्थित कौशाम्बी के स्तम्भलेख से यह स्पष्ट है कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन प्रथम (वाकाटक महाराजा) को कौशाम्बी के युद्धक्षेत्र मे पराजित किया। समुद्रगुप्त का समय ई० सन् ३३५ से ३७५ के आसपास का माना जाता है और रुद्रसेन प्रथम का समय ई० सन् ३४४ से ३४८ माना गया है।[1]

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के जामाता रुद्रसेन द्वितीय के सिहासनासीन होने का समय ई० सन् ३७५ मान लिये जाने पर पृथ्वीषेण प्रथम का समय स्वत ही ई० सन् ३४८ से ३७५ तक का सिद्ध हो जाता है। इन तथ्यो से वाकाटक राजवश के सस्थापक विन्ध्यशक्ति का शासनकाल ३६ वर्ष उसके पुत्र प्रवरसेन का ६० वर्ष, रुद्रसेन प्रथम का ४ वर्ष और पृथ्वीषेण प्रथम का शासनकाल २७ वर्ष का तथा इन चारो वाकाटक वश के राजाओ का कुल मिलाकर ई० सन् ३७५ तक १२७ वर्ष का शासनकाल सिद्ध होता है। इस प्रकार ३७५ मे से १२७ घटाने पर वाकाटक राजवश के सस्थापक विन्ध्यशक्ति के राज्यसिहासनारूढ होने का समय ई० सन् २४८ प्रमाणित होता है। गुप्तवश के सस्थापक श्री गुप्त का शासनकाल ई० सन् २४० से २८० तक का और भारशिव राजवश के चौथे राजा त्रयनाग का शासनकाल ई० सन् २४५ से २५० तक का अनुमानित किया जाता है। ऐसी स्थिति मे विन्ध्यशक्ति गुप्तवश के प्रथम राजा श्रीगुप्त और भारशिव वश के चौथे राजा त्रयनाग का समकालीन सिद्ध होता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राधाकुमुद मुकर्जी ने भी विन्ध्यशक्ति का लगभग यही समय अनुमानित किया है।[2]

विन्ध्यशक्ति ने काचनका (बुदेल खण्ड) मे अपनी राजधानी स्थापित की और ई० सन् २४८ से २८४ तदनुसार वीर नि० स० ७७५ से ८११ तक के ३६ वर्ष के शासनकाल मे अपने राज्य की सीमाओ का विस्तार किया। इसके शासनकाल का विशेष परिचय उपलब्ध नही होता।

वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन (प्रवीर)

विन्ध्यशक्ति की मृत्यु के पश्चात् वीर नि० स० ८११ मे प्रवरसेन काचनका के राजसिहासन पर बैठा। वीर नि० स० ८११ से ८७१ तक के अपने ६० वर्ष

---

1 The first of these kings was Rudradeva who is identified with Rudrasena I Vakataka (A D 344-48) and who must have been deprived of the eastern part of his territory between Jumna & Vidisa, i e Bundelkhand
[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p 23]

2 Thus we may assume a period of 150 years at the least for the reigns of the four kings from Vindhyashakti I to Vindhyashakti II and the date A D 250 for the foundation of Vakataka I dynasty by Vindhyashakti
[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 43]

"तत कोलिकिलेभ्यश्च, विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति ।" इस श्लोकार्ध से यह प्रकट होता है कि भारशिव नागो के साथ विन्ध्यशक्ति का अति सन्निकट का सम्बन्ध था । भारशिव भी नागवंशी थे और विन्ध्यशक्ति भी नागवश की किसी शाखा विशेष में उत्पन्न हुआ था । सभव है वह नागवश की शाखा वाकाटक नाम से विख्यात किसी ग्राम, स्थान अथवा प्रदेश विशेष की रहने वाली हो अतः भारशिव आदि अन्य नागवंशियों से अपनी भिन्नता अभिव्यक्त करने के लिये विन्ध्यशक्ति एव उसके वंशजो ने अपनी शाखा का नाम वाकाटक रखा हो ।

उपरिलिखित श्लोकाश के आधार पर ही सभवत· कतिपय इतिहासज्ञ अपनी यह मान्यता अभिव्यक्त करते है कि विन्ध्यशक्ति वस्तुतः भारशिवो की सेना का सर्वोच्च अधिकारी था और उसने विन्ध्य प्रदेश मे अपनी पृथक् राजसत्ता स्थापित कर उसका विस्तार किया अत· विन्ध्य से नवोदित शक्ति के रूप मे वह विन्ध्यशक्ति के नाम से विख्यात हुआ । उपरोक्त श्लोकपद से यह तो निर्विवादरूपेण सिद्ध होता है कि भारशिव नागवंश से ही वाकाटक राजवश उदित हुआ ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वाकाटक राजवश के अनेक राजाओं के सिक्के, शिलालेख आदि उपलब्ध होते है किन्तु इस राजवश के सस्थापक विन्ध्यशक्ति के न तो कोई सिक्के ही उपलब्ध हुए है और न अभिलेखादि ही । ऐसी स्थिति में विन्ध्यशक्ति के सत्ताकाल को सुनिश्चित करने के लिये अन्य प्रमाणों का सहारा लेना होगा ।

भारशिव वश के सातवे राजा भवनाग की पुत्री का विवाह वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन (विन्ध्यशक्ति के पुत्र) के पुत्र गौतमी पुत्र के साथ तथा गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पाणिग्रहण वाकाटक नृपति पृथ्वीषेण (प्रथम) के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ हुआ । इन तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे इन तीनों राजवशो के सत्ताकाल पर विचार करने पर यह अनुमान किया जाता है कि वाकाटक राजवंश का सस्थापक विन्ध्यशक्ति भारशिव राजवश के चौथे राजा त्रयनाग तथा गुप्त राजवश के सस्थापक राजा श्रीगुप्त का समकालीन था । पुराणो मे विन्ध्यशक्ति का शासनकाल जो ९६ वर्ष बताया गया है,[१] वह वस्तुत· वाकाटकों का साम्राज्यकाल है। उसमे ३६ वर्ष विन्ध्य शक्ति का और ६० वर्ष प्रवीर अर्थात् प्रवरसेन का राज्य,[२] इस प्रकार ९६ वर्ष का वाकाटको का साम्राज्यकाल बताया गया है। प्रवरसेन के पश्चात् उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम (भवनाग के दौहित्र) और उसके पश्चात् पृथिवीषेण प्रथम – इन दो वाकाटक राजाओ का शासनकाल ज्ञात करना अवशिष्ट रह जाता है। पृथिवीषेण प्रथम का पुत्र रुद्रसेन द्वितीय, गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का जामाता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ई० सन् ३७५ मे

---

१ ·· समा षण्णवतिं ज्ञात्वा, पृथिवी च समेष्यति ।।३६७।।

[वायुपुराण, अनुपगपादसमाप्ति]

२ विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि, प्रवीरो नाम वीर्यवान् ।
भोक्ष्यन्ति च समा षष्टि पूरी काचनका च वै ।।३७३।। [वही]

९. नरेन्द्रसेन	,, ,, ४३५ से ४७०
१० पृथ्वीषेण द्वितीय	,, ,, ४७० से ४८५
११. देवसेन	,, ,, ४८५ से ४९०
१२ हरिषेण	,, ,, ४९० से ५२०

वाकाटको की वत्सगुल्म शाखा –

१. विन्ध्यशक्ति	५. प्रवरसेन द्वितीय
२ प्रवरसेन प्रथम	६. (अज्ञात नामा)
३. सर्वसेन	७ देवसेन
४. विन्ध्यसेन (विन्ध्यशक्ति द्वितीय)	८ हरिषेण

२० आर्य ब्रह्मद्वीपिकसिह – वाचनाचार्य
२४. आर्य सिह – युगप्रधानाचार्य

आचार्य रेवतीनक्षत्र के स्वर्गगमन पश्चात् आर्य ब्रह्मद्वीपकसिह वाचनाचार्य हुए। आपकी श्रमण-दीक्षा नन्दीसूत्र स्थविरावली के अनुसार अचलपुर मे हुई। आचार्य देवर्द्धि ने नन्दीसूत्र की स्थविरावली मे 'बभगदीवगसीहे' इस पद से आपको ब्रह्मद्वीप का सिह एव कालिक श्रुत की व्याख्या करने मे अत्यन्त निपुण, धीर और उत्तम वाचक पद को प्राप्त करने वाला बताया है।

आर्य सिह के नाम के साथ ब्रह्मद्वीपक विशेषण से आचार्य देवर्द्धि ने सिह नाम के अनेक मुनियो से आर्य सिह को भिन्न बताने के लिए इन्हे 'ब्रह्मद्वीप का सिह' इस नाम से अभिहित किया है। ब्रह्मद्वीप शब्द को देख कर सहज ही ब्रह्मद्वीपिकी शाखा की स्मृति हो सकती है और ऐसा अनुमान होना भी स्वाभाविक है कि आर्य सिह ब्रह्मद्वीपिका शाखा के मुनि होगे। किन्तु ज्यो ही इनका रेवतीनक्षत्र के साथ गुरु-शिष्य का सम्बन्ध और देवर्द्धि द्वारा कथित वाचकपदधरो का ध्यान आता है, तब विचार आता है कि ये आर्य सिह वाचकवश के ही विशिष्ट आचार्य होने चाहिये। क्योकि युगप्रधान परम्परा मे रेवतीमित्र के शिष्य ब्रह्मद्वीपकसिह का नही अपितु सिह का उल्लेख मिलता है। कल्प स्थविरावली मे स्थविर आर्य धर्म के शिष्य आर्य सिह का नाम अवश्य उपलब्ध होता है। यदि उन्हे ब्रह्मद्वीपिकी शाखा के आचार्य मान कर स्कन्दिलाचार्य का गुरु माना जाय तो समय का मेल बैठ सकता है। परन्तु नन्दीसूत्र की चूर्णि, वृत्ति[1] आदि मे स्कदिल को स्पष्ट रूप से वाचक आर्य सिह के शिष्य के रूप मे मान्य किया है।

सम्भव है ब्रह्मद्वीपकसिह का वाचनाचार्यकाल भी वीर नि० की ८ वी शताब्दी का अन्तिम काल रहा हो। दुष्षमाकालश्रमणसघस्तोत्र के अनुसार युग-प्रधान आचार्य सिह का काल इस प्रकार मान्य किया गया है –

---

[1] बहुनगरेपु निर्गत-प्रसिद्ध यशो येषा ते बहुनगरनिर्गतयशस तान् वन्दे सिङ्घवाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचार्यान्। [नन्दी स्थविरावली, हारिभद्रीयावृत्ति, गा० ३३]

के शासनकाल मे प्रवरसेन ने अनेक विजय अभियान किये और भारत के सुविशाल भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। अपनी विजयो के उपलक्ष मे उसने ४ अश्वमेध किये[1] और अपने आपको सम्पूर्ण भारतवर्ष का सम्राट् घोषित किया। भारशिवो ने लम्बे समय तक कुषाणों के साथ युद्धरत रहकर भारत को विदेशी दासता से मुक्त किया। अपनी उन महान् विजयों के उपलक्ष मे भारशिवों ने जो दश अश्वमेध किये, इससे यही प्रतीत होता है कि उन्होने भारत से कुषाण शासन का पूर्णत· उन्मूलन कर दिया। ऐसी स्थिति मे अनुमान किया जाता है कि प्रवरसेन के समक्ष विदेशी शक्तियो के साथ सघर्ष करने का कोई अवसर ही उपस्थित नही हुआ और उसने भारशिवों, अन्य राजाओ एवं गणराज्यो के साथ युद्धरत रहकर उन पर विजय प्राप्त की। प्रवरसेन के बडे पुत्र गौतमीपुत्र का भारशिव वशी राजा भवनाग की पुत्री से विवाह हुआ। पुराणो मे प्रवरसेन के ४ पुत्र होने का उल्लेख है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन से पहले ही उसके बडे पुत्र गौतमी पुत्र की मृत्यु हो गई, जिसके परिणामस्वरूप प्रवरसेन का पौत्र रुद्रसेन (प्रथम) अपने दादा के पश्चात् वाकाटक साम्राज्य का अधिकारी बना। प्रवरसेन के शेष तीन पुत्र भी अन्य राज्यों के अधिकारी बने।

रुद्रसेन प्रथम

ऊपर बताया जा चुका है कि रुद्रसेन (प्रथम) का ई० सन् ३४४ से ३४८ तक केवल ४ वर्ष ही शासन रहा। रुद्रसेन को अपने दादा से काचनका का विशाल साम्राज्य और मातामह भवनाग से पुरिका का राज्य मिला था। समुद्रगुप्त ने इसे युद्ध मे परास्त किया[3] और इस प्रकार वाकाटक साम्राज्य के भग्नावशेषो पर गुप्त साम्राज्य का निर्माण हुआ। रुद्रसेन प्रथम के पश्चात् हुए वाकाटक वश के अनेक राजा गुप्त साम्राज्य के करद रहे।

वाकाटक वंश के राजाओं का शासनकाल इस प्रकार है –

१. विन्ध्यशक्ति प्रथम	ई० सन् २४८ से २८४
२. प्रवरसेन प्रथम (गौतमीपुत्र)	,, ,, २८४ से ३४४
३. रुद्रसेन प्रथम (भारशिवराज भवनाग का दौहित्र)	,, ,, ३४४ से ३४८
४ पृथ्वीषेण प्रथम	,, ,, ३४८ से ३७५
५. रुद्रसेन द्वितीय (चद्रगुप्त द्वितीय का जामाता)	,, ,, ३७५ से ३९५
६. दिवाकरसेन की अभिभाविका प्रभावती गुप्ता	,, ,, ३९५ से ४०५
७. दामोदरसेन की अभिभाविका प्रभावती गुप्ता	,, ,, ४०५ से ४१५
८. प्रवरसेन द्वितीय	,, ,, ४१५ से ४३५

[1] यक्ष्यन्ति वाजपेयैश्च, समाप्तवरदक्षिणैः । · ।।३७४।।
[वायुपुराण, अध्याय ९९]

[2] तस्य पुत्रास्तु चत्वारो, भविष्यन्ति नराधिपा ।।३७४।। [वही]

[3] समुद्रगुप्त की विजयो का हरिषेण द्वारा तैयार करवाया गया इलाहाबाद स्थित स्तम्भलेख।

कमरो के द्वार स्वत ही खुल गये और आचार्य मानतुग के सभी बन्धन कट गये। बन्धन-मुक्त आचार्य पूर्वाचल से उदीयमान भास्कर की तरह राजसभा मे जा उपस्थित हुए।[1]

इस प्रकार मानतुगसूरि के त्याग-तप और प्रतिभा के चमत्कार से प्रभावित राजा हर्ष आपका परम भक्त बन गया। आचार्य मानतुग ने भी वीतराग-मार्ग का उपदेश सुना कर अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया। उनके द्वारा निर्मित "भक्तामरस्तोत्र" आज भी जैन समाज मे बडी ही श्रद्धा-भक्ति के साथ घर-घर मे गाया जाता है।

"भयहरस्तोत्र" भी आचार्य मानतुग की रचना मानी जाती है। चिरकाल तक जैनशासन का उद्योत कर अपने सुयोग्य शिष्य गुणाकर को आचार्य पद पर नियुक्त कर सलेखनापूर्वक आप वीर नि० स० ७५८ मे स्वर्गस्थ हुए।

तपागच्छ पट्टावली मे बताया गया है कि आचार्य मानतुग के पश्चात् क्रमश (२१) श्री वीरसूरि, (२२) श्री जयदेवसूरि, और (२३) देवानन्दसूरि गणाचार्य हुए।

इन आचार्यो का विशेष परिचय उपलब्ध नही होने के कारण यहा इनकी नामावली मात्र प्रस्तुत की गई है।

युगप्रधानाचार्य आर्य सिंह के काल में गुप्त राजवंश का अभ्युदय

पुण्यभूमि भारत को विदेशी शासको की दासता से उन्मुक्त करने का जो देशव्यापी अभियान भारशिवो ने प्रारम्भ किया था, उसमे उन्होने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर एक विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की। भारशिवो द्वारा प्रारम्भ किये गये स्वातन्त्र्य-सग्राम को वाकाटक राजवश ने और अधिक व्यापक वनाया और उनके पश्चात् गुप्त राजवश ने उसे अन्तिम रूप से सम्पन्न कर अफगानिस्तान, काश्मीर, नेपाल, आसाम और बगाल से लेकर समुद्रपर्यन्त समस्त दक्षिण-पश्चिमी प्रदेशो तक भारत की चप्पा-चप्पा भूमि को एक सुदृढ शासनसूत्र मे बाधकर सुविशाल गुप्त साम्राज्य की सस्थापना की।

सभी इतिहासकारो एव पाश्चात्य विद्वानो ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि गुप्त साम्राज्य के समय मे भारत ने चहुमुखी प्रगति की। इतिहासकारो का

[1] स्वयमुद्घटिते द्वारयन्त्रे सयमसयत।
सदानुच्छृखल श्रीमानुच्छृखलवपुर्बभौ ॥१४१॥ [प्रभावक चरित्र, पृ० ११६]

कतिपय कथाकारो द्वारा यह उल्लेख किया गया है कि आचार्य मानतुग को एक के अन्दर एक करके ४४ कोटरियो मे अलग-अलग ४४ ताले लगा कर बन्द किया गया। आचार्य मानतुग आदिनाथस्तोत्र के एक एक श्लोक की रचना करते गये और कोटरियो के ताले व द्वार क्रमश स्वत ही खुलते गये। राजा हर्ष का समय वीर निर्वाण की १२वी शताब्दी है। हर्ष की मृत्यु ई० सन् ६४८ मे हुई। ऐसी स्थिति मे आचार्य मानतुग हर्ष के समकालीन नही हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभावक चरित्रकार ने यहाँ राजा का नाम उल्लेख करने मे स्खलना की है। —सम्पादक

वीर नि० स० ७१० मे जन्म, १८ वर्ष पश्चात् ७२८ मे दीक्षा, २० वर्ष सामान्य साधु-पर्याय और ७८ वर्ष युगप्रधानकाल पूर्ण कर वीर नि० स० ८२६ में स्वर्गवास ।

वाचक आर्य सिह को युगप्रधान सिह से भिन्न मानने पर आर्य स्कदिल का कार्यकाल २६ वर्ष अधिक होता है जबकि युगप्रधान आर्य सिह को ही वाचक आर्य सिह मानने से आर्य स्कन्दिल का कार्यकाल वीर नि० स० ८२६ मे आता है । इतिहास के विशेषज्ञ विद्वान् तथ्यों को ध्यान मे लेकर निर्णय करे कि वाचक आर्य सिह और युगप्रधान आर्य सिह भिन्न आचार्य है अथवा एक ।

२०. गणाचार्य मानतुंग

आचार्य मानदेव के पश्चात् आचार्य मानतुग बडे ही प्रभावक आचाय हुए है । ये वाराणसी के ब्रह्मक्षत्रिय श्रेष्ठी धनदेव के पुत्र बताये गये है । उस समय वाराणसी में नग्न जैन मुनियो का आगमन हुआ । मानतुग उनका उपदेश सुन कर भोगवासना से विरक्त हुए । मुनि चारुकीर्ति ने मानतुग की इच्छा देख कर माता-पिता की अनुमति से उसे मुनिधर्म में दीक्षित किया और दीक्षानन्तर मानतुग का नाम महाकीर्त्ति रखा । कहा जाता है कि मुनि महाकीर्त्ति को अपनी बहिन द्वारा कमण्डलु के जल मे असावधानी से रहे हुए जलीय जन्तु दिखाये जाने पर प्रेरणा हुई और उन्होने आचार्य अजीतसिह के पास श्वेताम्बरी दीक्षा स्वीकार की ।

एक बार राजा हर्ष ने मयूर और बाण की विद्वत्ता एव चमत्कारपूर्ण भक्ति को देख कर आचार्य मानतुग को सादर निमन्त्रित किया । मन्त्री के आग्रह पर शासन-प्रभावना का सुअवसर जान कर आचार्य मानतुग राजभवन पधारे । महाराज हर्ष ने भी अभ्युत्थानपूर्वक अभिवादन कर कहा – "महात्मन् ! भूमण्डल पर ब्राह्मण कितने अतिशयसम्पन्न है । एक ने सूर्य की आराधना से अपने अग का कुष्ट रोग मिटा दिया जब कि दूसरे ने (बाण ने) चण्डिका की उपासना से कटे हाथ पैर पुनः प्राप्त कर लिये । यदि आपकी भी शक्ति हो तो कुछ चमत्कार बताइये ।"

राजा की बात सुन कर आचार्य मानतुग ने कहा – "भूपाल ! हम गृहस्थ नही है, जो धन, धान्य, पुत्र, कलत्र आदि के लिये राजरजन आदि किया करे । परन्तु शासन का उत्कर्ष ही हमारा कार्य है ।"

मुनि की बात सुन कर राजा ने कहा – "इनको बेडियो से जकड कर अन्धेरे कोठो मे बन्द कर दिया जाय ।"

राजपुरुषो ने ४४ लोहमय बन्धनो से आचार्य मानतुग को जकड कर अन्धेरे कमरो मे बन्द कर ताले लगा दिये । आचार्य मानतुग ने बिना किसी प्रकार के क्षोभ के एकाग्र मन से भगवान् श्री ऋषभदेव की स्तुति रूप भक्तामर स्तोत्र की रचना प्रारम्भ की । स्तोत्र के ४४ श्लोक पूरे होते-होते ताले और

श्री घटोत्कचगुप्त वस्तुत महाराजा घटोत्कच का पश्चाद्वर्ती कुमारामात्य मात्र था न कि गुप्त राजाओ के वशवृक्ष का महाराजा ।[१]

गुप्त नृपति घटोत्कच के सम्बन्ध मे उसके नामोल्लेख के अतिरिक्त और कोई परिचय उपलब्ध नही होता ।

२१. आर्य स्कन्दिल – वाचनाचार्य

वाचक वश परम्परा मे आर्य स्कन्दिल बडे प्रभावक और प्रतिभाशाली आचार्य हो गये है । उन्होने अति विषम समय मे श्रुतज्ञान की रक्षा कर जो शासन की सेवा की है, वह सदा जैन-इतिहास मे स्वर्णिम अक्षरो से लिखी जाती रहेगी । हिमवन्त स्थिविरावली के अनुसार आर्य स्कन्दिल का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

"मथुरा के ब्राह्मण मेघरथ और ब्राह्मणी रूपसेना के यहा आपका जन्म हुआ । गर्भकाल मे माता ने चन्द्र का स्वप्न देखा अत पुत्र का नाम सोमरथ रखा गया । आपके माता-पिता प्रारम्भ से ही जैन धर्मावलम्बी थे ।

एक बार ब्रह्मद्वीपक आचार्य सिह विहारक्रम से मथुरा पधारे । उनके धर्मोपदेश को सुनकर सोमरथ ने वैराग्य भाव से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की । गुरु ने दीक्षा के समय आपका नाम स्कन्दिल रखा । मुनि स्कन्दिल ने अपने गुरु आर्य ब्रह्मद्वीपकसिह की सेवा मे निरत रहते हुए एकादशागी एव पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया । आर्य सिह ने स्कन्दिल को सुयोग्य एव प्रतिभाशाली समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया । तदनुसार आर्य सिह के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य स्कन्दिल को सघ द्वारा वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किया गया ।"

कल्प स्थविरावली मे आर्य सडिल्ल को काश्यप गोत्रीय आर्य धर्म का शिष्य बताया गया है । सडिल्ल और स्कन्दिल को एक मानकर कुछ लेखको ने स्कदिलाचार्य को काश्यप गोत्रीय आर्य सिह के शिष्य आर्य धर्म का शिष्य बताया है, जबकि नन्दीसूत्र-स्थविरावली मे उल्लिखित वाचक आर्य स्कन्दिल रेवतीनक्षत्र के शिष्य आर्य ब्रह्मद्वीपिकसिह के अन्तेवासी माने गये है ।

हिमवन्त स्थविरावली मे भी यही आर्य ब्रह्मद्वीपिक सिह स्कन्दिलाचार्य के गुरु माने गये है । इन्ही ब्रह्मद्वीपिकसिह के मधुमित्र और आर्य स्कन्दिल नामक दो प्रमुख शिष्य थे । आचार्य परम्पराओ को गहराई से देखने पर प्रतीत होता है कि आर्य सिह नाम के अनेक आचार्य हुए है । पहले आर्यवज्र के गुरु सिह गिरी । दूसरे आर्य धर्म के गुरु काश्यपगोत्रीय आर्य सिह । इनके गुरु का नाम भी आर्य धर्म बताया गया है । तीसरे रेवती नक्षत्र के शिष्य आर्य ब्रह्मद्वीपिक सिह । समान नाम वाले इन तीन आचार्यो मे वस्तुत दो आर्य सिह आर्य सुहस्ती की परम्परा के है, जबकि तीसरे आर्य ब्रह्मद्वीपिकसिह रेवतीनक्षत्र के शिष्य और आर्य महागिरि की

---

१ The 'Gupta Empire', Radhakumud Mookerji, p 12

इस विषय मे भी मतैक्य है कि गुप्त राजवंश का आदि सस्थापक श्रीगुप्त था। श्रीगुप्त के सत्ताकाल को निश्चित रूप से निर्णीत करने वाले अभिलेखादि अभी तक भारत मे उपलब्ध नही हुए है। ई० सन् ६७२ मे इ-त्सिग नामक एक चीनी यात्री भारत मे आया। उसके भारत यात्रा के विवरण श्रीगुप्त के सत्ताकाल पर थोड़ा प्रकाश डालते है। इ-त्सिग ने अपने भारत-भ्रमण के विवरण में ई० सन् ६६० मे लिखा है कि ५०० वर्ष पूर्व श्रीगुप्त ने चीनी तीर्थयात्रियो की सुविधा के लिये मृगशिखावन के समीप एक मन्दिर का निर्माण करवा उसके व्ययभार को वहन करने के लिये २४ गाँव प्रदान किये। इत्सिग ने लिखा है कि मृगशिखावन नालन्दा से पूर्व मे ५० स्टेग (अनुमानत· २५० मील) दूर, गगा नदी के किनारे पर स्थित है। नालन्दा को इत्सिग ने महाबोधि से उत्तर-पूर्व मे ७ स्टेग (लगभग ३५ माइल) दूरी पर अवस्थित बताया है।

इ-त्सिग के उपरिलिखित उल्लेखानुसार मगधराज श्रीगुप्त का समय ई० सन् १६० के आसपास का और उसके राज्य की सीमा नालन्दा से आधुनिक मुर्शिदाबाद तक होना अनुमानित किया जाता है। श्रीगुप्त के सत्ताकाल के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध इतिहासकार राधाकुमुद मुकर्जी का अभिमत है कि गुप्त राजवश के सम्पूर्ण शासनकाल पर गहराई से विचार करने पर श्रीगुप्त का सत्ताकाल ई० सन् १६० के स्थान पर ई० सन् २४० से २८० तक का अनुमानित किया जाता है। क्योकि श्रीगुप्त के शासनकाल से ५०० वर्ष पश्चात् जनश्रुति के आधार पर एक विदेशी द्वारा उल्लिखित समय मे थोडा फरक आना अवश्यम्भावी है।[1]

गुप्त महाराजा किस जाति अथवा वंश के थे – इस प्रश्न का समुचित समाधान गुप्त सम्राटो के किसी भी अभिलेख से नही होता। वाकाटक महाराजा रुद्रसेन द्वितीय की महारानी प्रभावती गुप्ता (चन्द्रगुप्त : द्वितीय . विक्रमादित्य की पुत्री) के पूना के ताम्रपत्रीय अभिलेख मे गुप्त राजाओ का 'धारण' गोत्र बताया गया है।[2]

गुप्तवश के आदि सस्थापक श्रीगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र घटोत्कच मगध के राज्य सिहासन पर बैठा। इतिहासज्ञो द्वारा इसका शासनकाल वीर नि० स० ८०७ से ८४६ (ई० सन् २८०-३१६) अनुमानित किया जाता है पर इसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा अनेक राज्यो पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वीर नि० स० ८४६ में गुप्त सवत् प्रचलित किये जाने की ऐतिहासिक घटना को दृष्टि मे रखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० स० ८४६ से कुछ वर्ष पहले ही इसका देहावसान हो चुका था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासनकाल मे श्री घटोत्कचगुप्त नामक वैशाली का शासक (भुक्ति-अधिकारी) था। उसके नाम के मुद्रालेख प्राप्त हुए है।

---

[1] The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p 11

[2] वाकाटक नृपति दिवाकरसेन और दामोदर-प्रवरसेन की माता एव अभिभाविका का पूना का ताम्रपत्राभिलेख।

वाचना की । जैसा कि एक प्राचीन गाथा में कहा गया है :– "दुर्भिक्ष के समाप्त होने पर आर्य स्कन्दिलसूरि ने श्रमणसघ को मथुरा मे एकत्रित कर अनुयोग प्रारम्भ किया ।"[१]

आर्य स्कन्दिल के तत्वावधान मे आगमो की वाचना हुई और अनुयोग व्यवस्थित किया गया, जो आज भी सघ मे प्रचलित है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रबल प्रमाण के रूप मे नन्दी-स्थविरावली की निम्नलिखित गाथा पर्याप्त है –

जेसिमिमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि ।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वदे खदिलायरिए ।।३३।।

अर्थात् – जिनके द्वारा सगठित-सुव्यवस्थित अनुयोग (आगमपाठ) आज भी भरतक्षेत्र मे प्रचलित है, उन महान् यशस्वी आर्य स्कन्दिल को प्रणाम करता हूँ ।

इस गाथा की टीका करते हुए मलयगिरि ने लिखा है –

"स्कन्दिलाचार्य के समय मे दुष्षमाकाल के प्रभाव से बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पडा । उस भयकर दुर्भिक्ष के समय मे साधुओ को आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो गई । इससे अपूर्व सूत्रार्थ-ग्रहण एव पठित का परावर्तन प्राय नष्ट हो चुका था । बहुत सा अतिशययुक्त श्रुत भी इस काल मे विनष्ट हो गया तथा परावर्तन न हो सकने के कारण अग-उपागगत श्रुत भी पूर्ण रूप मे नही रहा ।

जब बारह वर्ष का दुर्भिक्ष समाप्त होने पर सुभिक्ष हुआ तो मथुरा मे स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता मे श्रमणसघ ने एकत्र मिलकर आगम-वाचना प्रारम्भ की । जिस-जिस स्थविर को जो-जो श्रुतपाठ स्मरण था, उसे सुन-सुन कर आगमो के पाठ को स्कन्दिलाचार्य ने सर्वानुमति से सुनिश्चित किया । इस प्रकार कालिक-श्रुत और पूर्वगत को सम्यग् अनुसन्धान के पश्चात् सुव्यवस्थित किया गया ।

मथुरा मे यह सघटना हुई इसलिए इसको माथुरी वाचना कहते है और यह उस समय के युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य को मान्य थी एव अर्थरूप से उन्होने ही शिष्यो को उसका अनुयोग दिया था इसलिए वह स्कन्दिलाचार्य का अनुयोग कहलाता है ।

दूसरे आचार्यो का कहना है कि दुर्भिक्ष से कुछ भी श्रुत नष्ट नही हुआ.... .... केवल अनुयोग करने वाले सभी प्रमुख आचार्य दुर्भिक्ष के समय मे काल के ग्रास बन चुके थे । केवल एक स्कन्दिलाचार्य

---

[१] दुब्भिक्खम्मि पणट्ठे, पुणरवि मिलित्त समणसघाओ ।
मिहुराए अणुओगो, पवईयो खदिलो सूरि ।।
[पट्टावली समुच्चय, परिशिष्ट]

परम्परा के आचार्य माने गये है। हिमवन्त स्थविरावली भी इसी बात की पुष्टि करती है।

सम्भव है आर्य समित द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मद्वीपिक शाखा से भिन्न ये कोई तत्प्रदेशवर्ती साधु-समुदाय के प्रमुख साधु रहे हो। पट्टावली और परम्परा लेखक स्वय भी कितनी ही जगहो पर पूर्णतः स्पष्ट नही हो पाये इसलिये अनेक स्थानों पर नामसाम्य के कारण एक का परिचय उन्होने दूसरे के साथ जोड दिया है, जिससे कतिपय स्थलो पर विपर्यास भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

स्कन्दिलाचार्य का कार्यकाल वीर नि०सं० ८२३ से ८४० के आस-पास का प्राय: सर्वसम्मत रूप से स्वीकार किया गया है पर स्थविरावलीकार ने वि० सं० १५३ मे आचार्य स्कन्दिल द्वारा मथुरा में साधु-समुदाय को एकत्रित करने का उल्लेख किया है, जो स्थविरावली मे उद्धृत गन्धहस्ती के विवरणकाल को बताने वाली गाथाओ से भी बाधित होता है। आचार्य गन्धहस्ती ने स्कन्दिलाचार्य के अनुरोध से विक्रम स० २०० मे आचाराग का विवरण पूर्ण किया, इस प्रकार का उल्लेख हिमवन्त स्थविरावली मे उद्धृत गाथाओ मे किया गया है। सभव है लिपिदोष अथवा दृष्टिदोष 'विक्रमार्कस्य त्रिशताधिक त्रिपचाशत सवत्सरे' इस पद को—विक्रमार्कस्यैकशताधिक त्रिपचाशत सवत्सरे-' समझ लिया गया हो। इस सम्बन्ध मे प्राचीनतम प्रति से निर्णय किया जा सकता है। इस प्रकार आर्य स्कन्दिल का कार्यकाल वीर नि० स० ८२३ के पश्चात् का मानने पर ही आगे के घटनाक्रम की निर्विरोध सगति बैठ सकती है। मेरुतु ग की विचारश्रेणी मे भी आर्य स्कन्दिल का समय वीर नि० स० ८२३ ही दिया हुआ है। मेरुतु ग ने स्पष्ट लिखा है कि विक्रम से ११४ वर्ष पश्चात् आर्य वज्रस्वामी हुए और आर्य वज्रस्वामी से २३६ वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल हुए।[1] वीर निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम सवत् चला और उससे ३५३ वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल हुए। इस प्रकार आर्य स्कन्दिल का समय वीर नि० स० ८२३ ठीक बैठता है।

यह समय बडा ही विषम समय था। एक ओर सौराष्ट्र मे बौद्धो और जैनो के बीच सघर्ष चल रहा था तो दूसरी ओर मध्य भारत मे हूणो के साथ गुप्तो का भयकर युद्ध चल रहा था। उसी विषम समय मे १२ वर्ष का भीषण दुष्काल पडा और उस दीर्घकालीन दुष्काल ने भयकर सघर्षो से पूर्ण उस सक्रान्ति-काल की विभीषिका को और अधिक बढा दिया। इस प्रकार के सकटपूर्ण समय मे जैन मुनियो और विशेषत: श्रुतधरो की सख्या घटते घटते अति न्यून रह गई। फलत आगम-विच्छेद की स्थिति आ चुकी थी। इस प्रकार के अति विकट समय मे सुभिक्ष होने पर वी० नि० स० ८३० से ८४० के मध्यवर्ती किसी समय मे स्कन्दिल सूरि ने उत्तर-भारत के मुनियो को मथुरा मे एकत्रित कर आगम

[1] यत श्री विक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्रस्वामी, तदनु २३६ वर्षै स्कन्दिल ... . . . ।
[मेरुतुगीया विचारश्रेणी]

प्रकार बिताकर सुकाल होने पर वे साधु पुन. मिले। स्वाध्याय करते समय उन्होने अनुभव किया कि जो कुछ उन्होने पहले अध्ययन किया था, वह आगमज्ञान अनेक स्थलो की विस्मृति के कारण खडित हो गया है। कही श्रुतज्ञान विनष्ट न हो जाय, इस विचार से उन दोनो आचार्यो ने आगमो का उद्धार करना प्रारम्भ किया। जो पूरी तरह स्मरण था, उसको उसी प्रकार रख लिया गया और जो-जो स्थल विस्मृति के कारण नष्ट हो चुके थे, उनको पूर्वापर सम्बन्ध से सूत्रो के अर्थानुसार पुन सुसगठित किया गया।[1]

वाचनाभेद का कारण बताते हुए कहावलीकार ने लिखा है कि – 'मथुरा और वल्लभी मे पृथक्-पृथक् हुई आगम-वाचनाओ मे आगमो का उद्धार करने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन मिल नही सके। उनका स्वर्गवास हो गया। इसलिये उनके द्वारा उद्धरित सिद्धान्तो मे समानता होने पर भी कही-कही पर जो वाचनाभेद रह गया था, वह वैसा ही बना रहा। पापभीरू पश्चाद्-वर्ती आचार्यो ने उसे नही बदला। फलस्वरूप विवरणकारो ने भी 'नागार्जुनीया पुन एव कथयन्ति' इस प्रकार के उल्लेख से वाचनाभेद सूचित किया।'[2]

योगशास्त्र की वृत्ति मे भी उपरोक्त दोनो वाचनाओ का उल्लेख करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि नागार्जुन और स्कन्दिलाचार्य ने दुष्षमाकाल के प्रभाव से जिनवचन को नष्टप्राय समझकर पुस्तको मे लिखा।[3]

इसी प्रकार ज्योतिषकरण्डक की टीका मे भी मथुरा और वल्लभी मे हुई वाचनाओ तथा उन दोनो वाचनाओ मे परस्पर वाचना-भेद होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विस्मृत सूत्र एव अर्थ को याद करके व्यवस्थित करने मे वाचनाभेद हो जाना अवश्यम्भावी है।[4]

---

[1] अत्थि महुराउरीए सुयसमिद्धो, खन्दिलो नाम सूरि तह वलहीनयरीए नागज्जुणो नाम सूरि। तेहि य जाए वरिसीए दुक्काले निव्वउ भावओ वि फुट्टिकाऊण पेसिया दिसोदिसि साहवो गमिउ च कहवि दुत्थ ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्झायति ताव खडुखुरूडीहूय पुव्वाहिय। तओ मा सूयविच्छित्ती होइत्ति पारद्धो सूरीहि सिद्धन्तुद्धारो। तत्थवि ज न वीसरिय त तहेव सठविय पम्हुट्ठट्ठाणे उण पुव्वावराउत सुतत्थाणुसारओ कया सघडणा। [कहावली, २६८ (अप्रकाशित)]

[2] परोप्परासपन्नमेलावा य तस्समयाओ खडिलनागज्जुणायरिया काल काउ देवलोग गया तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धताण जो सजाओ कथमवि वायणभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहि। तओ विवरणकारेहि वि "नागज्जुणीया उण एव पढती" त्ति समुल्लिगिया तहेवायाराइसु। [वही]

[3] जिनवचन च दु षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्य-प्रभृतिभि पुस्तकेपु न्यस्तम्। [योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७]

[4] इह हि स्कदिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्या साधूना पठनगुणनादिक सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयो सघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसघटने परस्परवाचनाभेदो जात विस्मृत-योर्हि सूत्रार्थयो स्मृत्वा सघटने भवत्यवश्य वाचनाभेद न काचिदनुपपत्ति।" [ज्योतिषकरण्डक टीका]

ही बचे रह गये थे अत. उन्होने दुर्भिक्ष के अन्त मे मथुरा में पुनः अनुयोग (साधुओ को सूत्रार्थ का अध्यापन) प्रारम्भ किया ।[1]

कहा जाता है कि १२ वर्षीय दुष्काल मे भिक्षा न मिलने के कारण कितने ही जैन मुनि वैभारपर्वत तथा कुमारगिरि पर अनशन कर स्वर्गवासी हो गये। दुष्काल के पश्चात् जब आर्य स्कन्दिल ने मथुरा मे जैन मुनियों की महती सभा आयोजित की तो उस समय स्थविर मधुमित्राचार्य और आर्य गन्धहस्ती प्रमुख १२५ निर्ग्रंथ उसमे उपस्थित थे । उन निर्ग्रंथो के स्मृतिपटल पर अकित अवशिष्ट कण्ठस्थ पाठों को मिला कर आचार्य गन्धहस्ती आदि की सम्मति से आर्य स्कदिल ने ११ अगो का सकलन किया । वे ही सूत्र माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह भी कहा जाता है कि मथुरा निवासी ओस वंशीय श्रावक **पोलाक** ने गन्धहस्ती के विवरण सहित उन सूत्रो को ताडपत्रादि पर लिखा कर मुनियो को प्रदान किया ।[2]

जिस समय मथुरा मे आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे आगम-वाचना हुई, लगभग उसी समय मे दक्षिण के श्रमणों को एकत्रित कर आचार्य नागार्जुन ने भी वल्लभी मे एक आगम-वाचना की। इस प्रकार के उल्लेख 'कहावली', 'योगशास्त्र प्रकाश' और 'ज्योतिषकरण्डक' आदि मे उपलब्ध होते है ।

दुर्भिक्ष की समाप्ति के पश्चात् मथुरा और वल्लभी मे हुई दोनो आगम-वाचनाओ का उल्लेख करते हुए भद्रेश्वरसूरि ने अपने ग्रन्थ 'कहावली' में लिखा है कि मथुरा मे विशाल आगमज्ञान के धनी स्कन्दिल नाम के आचार्य और वल्लभी मे नागार्जुन नामक आचार्य थे । दुष्काल के समय मे उन महान् विरक्त आचार्यो ने साधुओ को दूर-दूर के देशो मे भेज दिया । उस संकटकाल को किसी न किसी

---

[1] अथायमनुयोगोऽर्द्धभारते व्याप्रियमाण कथ तेषा स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणा सम्बन्धी ? उच्यते, इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्तौ · द्वादशवार्षिक दुर्भिक्षमुदपादि तत्र चैव ये महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभस्यासभवादवसीदता साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थानुस्मरणश्रुत-परावर्तनानि मूलत एवापजग्मु । श्रुतमपि चातिशायिप्रभूतमनेशत् । अंगोपागादिगतमपि भावतो विप्रणष्टम् । तत्परावर्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने सुभिक्षे मथुरापुरि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रमणसघेनैकत्र मिलित्वा यो यत् स्मरति स कथयतीत्येव कालिकश्रुत पूर्वश्रुत च किंचिदनुसधाय घटित, यतश्चैतन्मथुरापुरि सघटित्त इय वाचना "माथुरी"—त्यभिधीयते, सा च तत्कालयुगप्रधानाना स्कन्दिलाचार्याणामभिमता तैरेव चार्थत शिष्य-वुद्धि प्रापितेति तदनुयोग· तेषामाचार्याणां सम्बन्धीति व्यपदिश्यते । अपरे पुनरेवमाहुः न किमपि श्रुत दुर्भिक्षवशादनेशत्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म । केवलमन्ये प्रधाना येऽनुयोगधरा ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृता·, एक एव स्कदिलसूरयो विद्यन्ते स्म । ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोग प्रवर्तित इति वाचना माथुरीति व्यप-दिश्यते, अनुयोगश्च तेपामाचार्याणामिति ।" [नन्दीसूत्र, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ५१ (२)

[2] मथुरानिवासिना श्रमणोपासकवरेण ओसवशविभूषणेन पोलाकाभिधेन तत्सकलमपि प्रवचन गधहस्तिकृतविवरणोपेत तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्य स्वाध्यायार्थ समर्पितम् ।
[हिमवन्त स्थविरावली]

देवर्द्धि द्वारा प्रणीत उपरोक्त गाथाओ से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि हिमवत क्षमाश्रमण कई पूर्वो के ज्ञाता और समर्थ व्याख्याता-वाचनाचार्य थे। उन्होने दूर-दूर के क्षेत्रों मे विचरण कर जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार एव प्रसार किया था। प्रचारक्षेत्रो में आने वाले कष्टो को भी उन्होने बडे धैर्य के साथ सहन किया।

नदीसूत्र-स्थविरावली के अनुसार आचार्य हिमवान् (हिमवन्त) स्कन्दिलाचार्य के शिष्य माने गये है। आपके जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल एव स्वर्गगमन विषयक स्पष्ट उल्लेख के नही होते हुए भी इतना तो कहा जा सकता है कि आप वीर की नौवी शताब्दी के मध्यवर्ती काल के आचार्य होने चाहिए।

२३ आचार्य नागार्जुन : वाचनाचार्य
२५ आचार्य नागार्जुन : युगप्रधानाचार्य

हिमवन्त क्षमाश्रमण के पश्चात् आर्य नागार्जुन वाचनाचार्य हुए। कहा जाता है कि नागार्जुन ढक नगर के क्षत्रिय सग्रामसिह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुव्रता था। नागार्जुन के गर्भ मे आते ही माता ने स्वप्न मे सहस्र फन वाला नाग देखा, इसलिये बालक का नाम नागार्जुन रखा गया। कहा जाता है कि नागार्जुन ने बाल्यावस्था मे ही एक सिह को मार गिराया और प्रारम्भ से ही प्रबल साहसी होने के कारण पर्वतो की गुफाओ एव जगलो मे घूम-घूम कर वनवासी महात्माओ के ससर्ग से वनस्पतियों, जडियो और रसायनो द्वारा रस बनाना सीख लिया। उसने बचपन से ही पादलिप्तसूरि के अद्भुत चमत्कारो की बात सुन रखी थी अत· एक दिन आचार्य पादलिप्तसूरि के पास उनके किसी शिष्य के माध्यम से उसने एक रसकूपिका पहुंचाई। आचार्य ने रसकूपिका मे भरे रस को एक पत्थर पर उडेल दिया और उसमे अपना प्रस्रवण भर उसे नागार्जुन के पास लौटा कर कहला भेजा कि वह अपनी रसकूपिका सम्हाल ले। नागार्जुन ने भी उस रसकूपिका को पत्थर पर दे मारा। कूपिका को पत्थर पर पछाडते ही पत्थर मे अग्नि प्रदीप्त हो उठी और वह पत्थर तत्काल स्वर्ण के रूप मे परिवर्तित हो गया। यह देख कर नागार्जुन दग रह गया और पादलिप्तसूरि के पास जाकर उनके चरणो मे गिर गया।

उसी दिन से नागार्जुन आचार्य पादलिप्त का परम भक्त बन कर उनके पास रहने लगा। नागार्जुन इतना प्रतिभावान् था कि वह पादलिप्तसूरि के पैरो के लेप को सूघ-सूघ कर १६० वनस्पतियो के गुण-धर्म आदि से परिचित हो गया। लेप द्वारा वह स्वय गगन-विचरण की प्रक्रिया को मूर्त रूप देने लगा। पर एक वस्तु की अपूर्णता के कारण वह कुछ दूर तक आकाश मे गमन करने के पश्चात् पृथ्वी पर गिर पडता। यह जान कर आचार्य ने उसकी सूक्ष्म बौद्धिक प्रगल्भता से प्रसन्न हो कर कहा – "वत्स! तुम्हारा औषधविज्ञान निस्सदेह गवेषणापूर्ण है पर इसमे कुछ गुरुगम्य ज्ञान की न्यूनता रह गई है।"

आगमज्ञान को नष्ट होने से बचाकर आर्य स्कन्दिल ने जिन-शासन की अमूल्य सेवा के साथ-साथ मुमुक्षुओं, तत्त्वजिज्ञासुओ एव साधको का जो असीम उपकार किया है, उसके लिये जिन-शासन में प्रगाढ श्रद्धा के साथ उनका स्मरण किया जाता रहेगा।

आगमवाचना की समाप्ति के पश्चात् कितने वर्ष तक आर्य स्कन्दिल आचार्य पद पर रहे, यह सुनिश्चित रूप से नही कहा जा सकता, केवल अनुमानित काल ही बताया जा सकता है। सम्भव है आप वीर नि० स० ८४० के आसपास किसी समय में स्वर्गाधिकारी हुए हों। आपने अन्तिम समय मे अनशन एव समाधिपूर्वक मथुरा नगरी मे प्राणोत्सर्ग किया।

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन आगमवाचनाओं के पश्चात् परस्पर मिल नही सके, इसी कारण दोनों वाचनाओं में रहे हुए पाठ-भेदो का निर्णय अथवा समन्वय नही हो सका।

२२. हिमवन्त क्षमाश्रमण – वाचनाचार्य

आर्य स्कन्दिल के पश्चात् आर्य हिमवान् वाचनाचार्य हुए। आपके जन्म, दीक्षा आदि का स्पष्ट काल-निर्देश उपलब्ध नही होता। केवल नदीसूत्रस्थ स्थविरावली से आपका थोडा सा परिचय प्राप्त होता है। नंदी-स्थविरावली मे आचार्य देवर्द्धि ने आर्य हिमवन्त की स्तुति करते हुए कहा है :—

ततो हिमवंतमहन्तविक्कमे धिइपरक्कममणते।
सज्झायमणतधरे, हिमवन्ते वदिमो सिरसा ।।३३।।
कालिअसुयअणुओगस्स, धारए धारए य पुव्वाण।
हिमवतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ।।३४।।

स्थविरावलीकार आर्य देववाचक ने आर्य हिमवन्त के विक्रम की हिमालय पर्वत से तुलना की है। इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए चूर्णिकार ने बताया है – "जिनका यश उत्तर में हिमवान् पर्वत व शेष दिशाओ मे समुद्र तक फैला हुआ है और जो विशिष्ट सामर्थ्ययुक्त, कुल, गण एवं सघ के हित में प्रतिवादियो पर विजय प्राप्त करने एव विशिष्ट लब्धिसम्पन्न होने के कारण महान् पराक्रमशाली तथा परीषह-उपसर्ग-सहन एव तपविशेष मे भी धृति-बल से महान् थे, उन महान् आचार्य हिमवत को प्रणाम करता हूँ। जैसा कि कहा है –

"महत विक्कमो कह – उच्यते सामर्थ्यतो महन्ते वि कुलगण-सघ पओयणे तरति त्ति - परप्पवादिजयण वा विशेषबललब्धिसपन्नतणतो वा महत विक्कमो, अहवा परिसहोवसग्गे तवविसेसे वा धितिबलेण परक्कमतो महंतो। अणंत गम पज्जवत्तणतो अणतधरो त महत हिमवत णाम वदे।[1]

[1] नदीचूर्णि, पृ० १०, गा० ३३

फिर वीर स० ८४० के लगभग वाचनाचार्य आर्य स्कन्दिल के स्वर्गस्थ होते ही ज्येष्ठ मुनि हिमवान् को वाचनाचार्य नियुक्त किया और हिमवान् के स्वर्ग गमनानन्तर अन्य वाचनाचार्य के अभाव मे नागार्जुन को ही युगप्रधानाचार्य के कार्यभार के साथ वाचनाचार्य का पद भी सम्हला दिया गया। ऐसा मानने पर आर्य स्कन्दिल आर्य हिमवान् और नागार्जुन के समकालीन और वाचनाचार्य होने की समस्या सहज ही हल हो सकती है।

नन्दी सूत्र के चूरिणकार जिनदास ने भी अनुक्रम से वाचक पद प्राप्त करने का यही अर्थ – 'पुरिसाणुपुव्विओ' पद से मान्य किया है। जैसा कि उन्होने कहा है – "सामायिक आदि श्रुतग्रहण से तथा काल की अपेक्षा पूर्वकालीन दीक्षा-पर्याय और पुरुषानुक्रम से नागार्जुन ने वाचक पद प्राप्त किया।"

चूरिणकार के इस विवेचन से हमारे अनुमान की स्पष्टत पुष्टि हो जाती है। आर्य स्कदिल के प्रकरण मे बताया गया है कि जब मथुरा मे आर्य स्कदिल ने आगम-वाचना की, उस समय नागार्जुन ने भी दक्षिणापथ के श्रमण सघ को एकत्र कर वल्लभी मे वाचना की। नागार्जुन द्वारा आनुपूर्वी से वाचकपद प्राप्त करने की बात को मानने पर इसकी संगति भी बराबर बैठ सकती है।

कुछ लेखको ने नागार्जुन को योगरत्नावली, योगरत्नमाला और अनेकाक्षरी आदि ग्रन्थों का रचनाकार माना है। ये दोनो नागार्जुन एक है या भिन्न-भिन्न, यह कहना सरल नही। विशेषज्ञ इस पर अनुसन्धान करे, यह अपेक्षित है।

युगप्रधान-यन्त्र के अनुसार युगप्रधानाचार्य नागार्जुन के जीवन की प्रमुख घटनाओ का कालक्रम इस प्रकार है –

"नागार्जुन का वीर नि० स० ७९३ में जन्म, १४ वर्ष की अवस्था अर्थात् वीर नि० स० ८०७ मे दीक्षा, १९ वर्ष तक सामान्य साधुपर्याय का पालन करने के पश्चात् वीर नि० स० ८२६ मे युगप्रधानपद और ७५ वर्ष तक आचार्य पद से जिनशासन की सेवा करने के पश्चात् वीर नि० स० ९०४ मे १११ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गवास।

आर्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन के समय के राजवंश

आर्य नागार्जुन के युगप्रधानत्वकाल मे गुप्तवश के महाराजा घटोत्कच का वीर नि० सं० ८४६ तक शासन रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र चन्द्रगुप्त थम ने गुप्त वश के राज्य का विस्तार किया।

चन्द्रगुप्त प्रथम

घटोत्कच की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त (प्रथम) मगध के राज्यसिहासन पर आसीन हुआ। इतिहासविदो का अनुमान है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का शासनकाल ई० सन् ३१९ से ३३५, तदनुसार वीर नि० स० ८४६ से ८६२ तक रहा। इतिहास के लब्धप्रतिष्ठ पाश्चात्य विद्वान् फ्लीट ने चन्द्रगुप्त द्वारा

आचार्य ने मार्ग-दर्शन करते हुए कहा – "इस औषधि को चावल के धोवन और काजी मे घिस कर लेप किया जाय तो गगन में सरलता से गमन किया जा सकता है।" तदनन्तर आचार्य ने उसे यह भी शिक्षा दी कि वह सदा भौतिक विभूतियो के प्रलोभनों से दूर रह कर अन्तर्मन से वीतराग मार्ग का आराधन करता रहे, इसी मे उसकी आत्मा का सच्चा कल्याण निहित है।

उपरोक्त उल्लेख में,नागार्जुन ने पादलिप्त से विद्या ग्रहण की, यह तो बताया गया है, पर उसने कब और किसके पास दीक्षा ग्रहण की यह नहीं बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि आ० पादलिप्त का समय वीर नि० सं० ५९७ से पूर्व का है।

नंदीसूत्र की स्थविरावली मे आचार्य हिमवन्त के पश्चात् नागार्जुन का उल्लेख किया गया है। तदनुसार चूर्णिकार जिनदास द्वारा नंदी चूर्णि मे और हिमवन्त स्थविरावली के अत मे स्पष्ट रूप से आपको हिमवन्त का शिष्य बताया गया है। आचार्य देवर्द्धि ने नन्दी स्थविरावली में निम्नलिखित शब्दो मे आपकी स्तुति की है :-

मिउमद्दव संपन्ने, आणुपुव्विवायगत्तण पत्ते।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए (ग) वदे ॥३६॥

अर्थात् – जो सरलता आदि मनोज्ञ गुणो से संपन्न है और जिन्होने क्रमश· योग्यता का विकास करते हुए वाचक पद की प्राप्ति की, उन ओघश्रुत अर्थात् विधिमार्ग की समाचरणा करने वाले वाचक नागार्जुन को वन्दन करता हूँ। गाथा मे प्रयुक्त 'आणुपुव्वि' पद वस्तुतः विशिष्ट रूप से विचारणीय है, जो अनुक्रम से वाचक पद की प्राप्ति बताता है। यहा अनुक्रम शब्द से श्रुतग्रहण का क्रम और लघुवृद्ध की अपेक्षा बताई गई है। चूर्णिकार ने भो इसी अर्थ को मान्य किया है।[1]

आनुपूर्वी से वाचक पद प्राप्त करने की बात का अभिप्राय तत्कालीन आचार्य परम्परा के क्रम को देखने से जाना जा सकता है। इतिहास के प्राप्त उल्लेखानुसार आर्य स्कन्दिल, आर्य हिमवान् और आर्य नागार्जुन समकालीन और वाचनाचार्य माने गये है। नन्दी स्थविरावली मे नागार्जुन को हिमवन्त क्षमाश्रमण का पश्चाद्वर्ती आचार्य बताया गया है, जब कि युगप्रधान पट्टावली और दुष्षमाकाल श्रमणसघस्तोत्र मे नागार्जुन को आर्य सिंह के पश्चात् युगप्रधान माना गया है। निर्दिष्ट काल और क्रम को ध्यान में रख कर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० स० ८२६ मे युगप्रधान आर्य सिंह के स्वर्गवास काल मे आर्य स्कन्दिल को विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न और वड़ा मान कर वाचक पद प्रदान किया गया और उसी समय युवा मुनि नागार्जुन युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये।

[1] "आणुपुव्वि"–सामाइआदि सुतग्गहणेण कालतो य पुरिम परियायत्तणेण पुरिसाणुपुव्वितो य वायगत्तण पत्तो। [नदी चूर्णि, (पुण्य विजयजी) पृ० १० गा० ३५]

लिच्छवी क्षत्रियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के पश्चात् लिच्छवियो की सहायता से चन्द्रगुप्त ने राज्य विस्तार किया। इस तथ्य की पुष्टि अयोध्या, बर्दमान् और गया मे मिले सम्राट् समुद्रगुप्त के उन सिक्को से होती है, जिन पर दुल्हन को अगूठी भेट करते हुए दूल्हे का चित्र, एक ओर चन्द्रगुप्त, दूसरी ओर 'लिच्छवय' और 'कुमार देवी' अकित है।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने किन-किन राजाओ एव राज्यो को जीतकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, इस सम्बन्ध मे कोई अभिलेख अथवा अन्य प्रकार की कोई साक्षी उपलब्ध नही होती। पुराणो मे समुच्चय रूप से गुप्तो के राज्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। वायुपुराण मे गगा के निकटवर्ती प्रदेशो, प्रयाग, साकेत और मगध राज्य पर गुप्त राजाओ के आधिपत्य का उल्लेख है।[1] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का उपरोक्त राज्यो पर अधिकार रहा।

इतिहासज्ञो ने श्रीगुप्त को गुप्त राजवश का और चन्द्रगुप्त प्रथम को गुप्त साम्राज्य का सस्थापक माना है। इलाहाबाद मे एक स्तम्भ अभिलेख सुरक्षित है। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग पर मौर्य सम्राट् अशोक का अभिलेख और उसके नीचे समुद्रगुप्त का अभिलेख उट्ट कित है। समुद्रगुप्त के इस स्तम्भ-लेख में उट्ट कित कुछ पक्तियो से ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने कनिष्ठ पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वाधिक सुयोग्य समझकर अपनी राज्यसभा के समक्ष उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए कहा – "अब तुम इस पृथ्वी की प्रतिपालना करो।" इस स्तम्भ-अभिलेख मे इस बात का भी सकेत है कि चन्द्रगुप्त के इस निर्णय को सुनकर उसकी राज्यसभा स्तम्भित रह गई और समुद्रगुप्त के भाइयो (तुल्यकुलजा) के मुख पीले पड गये।[2] स्तम्भलेख मे खुदे – "घमण्ड पश्चात्ताप मे पलट गया।" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त को राज्य सिहासन पर अधिकार करने मे गृहकलह का भी सामना करना पडा। काच – (काचगुप्त) द्वारा प्रचलित घटिया सोने के सिक्को से यह अनुमान लगाया जाता है कि समुद्रगुप्त के बडे भाई काच ने कुछ समय के लिये पाटलिपुत्र के सिहासन पर अधिकार कर लिया था जिसे थोडे समय पश्चात् ही समुद्रगुप्त ने अपदस्थ कर दिया।

चन्द्रगुप्त प्रथम का इससे अधिक परिचय उपलब्ध नही होता।

---

[1] अनुगङ्ग प्रयाग च, साकेत मगधास्तथा।
एताञ्जनपदान् सर्वान्, भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजा ॥३८३॥
[वायुपुराण, अनुषङ्गपाद, अ ९९]

[2] आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनै रुत्कर्णितै रोमभि,
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य कुलजम्लानाननोद्वीक्षित।
स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा,
य पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिला पाह्येवमुर्वीमिति ॥४॥
कोशाम्बी का अशोक एवं समुद्रगुप्त का स्तम्भलेख, जो इलाहाबाद मे विद्यमान है।

प्रचलित किये गये गुप्त संवत्, नेपाल के लिच्छवी राजा जयदेव (प्रथम) के साथ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के घनिष्ठ सम्बन्ध, वल्लभी संवत् तथा शक सवत् आदि के सन्दर्भ मे गहन विचार करने के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि ई० सन् ३१९ से ३२० में चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने महाराजाधिराज का विरुद धारण कर गुप्त सम्वत् चलाया। ऐसी स्थिति मे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण करने से पहले चन्द्रगुप्त को राजा बनने के पश्चात् महाराजाधिराज का पद धारण करने के लिये मगध के अडोस-पडोस के राज्यो पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में कम से कम चार-पाच वर्ष का समय तो अवश्य ही लगा होगा। एक राजा सिहासन पर आसीन होते ही तत्काल महाराजाधिराज का विरुद धारण करने योग्य विशाल भूभाग को कुछ ही मास मे अपने अधिकार मे कर ले – यह सभव प्रतीत नही होता। इन तथ्यो पर विचार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने का समय ई० सन् ३१९-२० से कुछ वर्ष पूर्व अनुमानित करना ही युक्तिसगत होगा। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि लिच्छवी राजकुमारी कुमार देवी के साथ विवाह के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम लिच्छवियो[1] की सहायता से महाराजाधिराज बना।

चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने अभिलेखों मे गुप्तपुत्र के स्थान पर अपने आपको 'लिच्छवी दौहित्र' लिखा है। इतिहासज्ञो ने समुद्रगुप्त के राज्यसिहासनासीन होने का समय ई० सन् ३३५ अनुमानित किया है। स्मृति-ग्रन्थो मे २५ वर्ष की वय राजा बनने के योग्य वय मानी गयी है। ऐसी स्थिति में अनुमान किया जा सकता है कि सन् ३०८ के आसपास चन्द्रगुप्त प्रथम का लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी के साथ पाणिग्रहण और ई० सन् ३१० के लगभग कुमारदेवी की कुक्षि से समुद्रगुप्त का जन्म हुआ होगा। इन सव घटनाओ पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि ई० सन् ३१० से ३१५ के मध्य- वर्ती किसी समय में चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्याभिषेक हुआ अथवा उसने युवराज काल में ही अपने पिता के राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया होगा।

---

[1] भगवान् महावीर की विद्यमानता मे मगध के आसपास लिच्छवियो के शक्तिशाली गणतन्त्रो के उल्लेख मिलते है। नेपाल के लिच्छवी राजा जयदेव द्वितीय के अभिलेख मे भी उल्लेख किया गया है कि उसके पूर्वज सुपुष्प का जन्म (ईसा की पहली शताब्दी मे) पाटलिपुत्र मे हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणो के साम्राज्यविस्तार के परिणामस्वरूप लिच्छवियो की शक्ति क्षीण हो गई और इनका कोई छोटा-मोटा राज्य ही अवशिष्ट रह गया हो। लिच्छवी क्षत्रियो की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह के पश्चात् चन्द्र-गुप्त प्रथम ने राज्य-विस्तार किया – इस ऐतिहासिक तथ्य से यह अनुमान किया जाता है कि मगध और मगध के अडोस-पडोस मे चन्द्रगुप्त प्रथम के समय मे भी लिच्छवी क्षत्रियो की घनी आबादी रही होगी।

[सम्पादक]

महादण्डनायक, कुमारामात्य और साधिविग्रहिक पदो को धारण करने वाले अमात्य कवि हरिषेण द्वारा उट्टंकित करवाये गये इलाहाबाद स्थित कौशाम्बी के उपरोक्त स्तम्भलेख मे समुद्रगुप्त के तीन विजयाभियानो का विवरण दिया गया है। इस अभिलेख मे समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ का विवरण नही दिया गया है अत यह प्रमाणित होता है कि अश्वमेध के आयोजन से पूर्व ही यह स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण करवाया गया।

प्रथम विजय अभियान – समुद्रगुप्त द्वारा आर्यावर्त मे किये गये उसके सर्व-प्रथम विजय अभियान का विवरण देते हुए इस स्तम्भलेख मे बताया गया है कि इस सैनिक अभियान मे समुद्रगुप्त ने कतिपय राज्यो को जड से उखाड फेका। जिन राज्यो का समुद्रगुप्त द्वारा उन्मूलन किया गया, उनमे अहिच्छत्र के राजा अच्युत और पद्मावती के नागवशी राजा नागसेन के राज्य प्रमुख थे।[1]

द्वितीय विजय अभियान – अपने दूसरे विजय-अभियान मे समुद्रगुप्त अपनी सुविशाल एव सशक्त विजयवाहिनी के साथ दक्षिणापथ की विजय के लिये प्रस्थित हुआ। इस सैनिक अभियान मे समुद्रगुप्त ने क्रमश निम्नलिखित राज्यो को जीत कर अपने साम्राज्य के अधीनस्थ बनाया –

कोशल, विन्ध्य के घने जगलो से आच्छादित दुर्गम एव भयावह महा-कान्तार – जहा वाकाटको का शक्तिशाली सामन्त व्याघ्र राज्य करता था, कौराल (कोलेर झील एव मध्यप्रदेश के वर्तमान सोनपुर जिले के आसपास का राज्य जहा मन्तराज का शासन था), पिष्टपुर (महेन्द्रगिरि का राज्य), कोट्टूरा (विजगापट्टम अथवा गजम जिला), काञ्ची (जहा का राजा विष्णुगोप था), अवमुक्त (जहा नीलराज का राज्य था), वेगी (हस्तिवर्मन का राज्य), पलक्क (सभवत वर्तमान नेल्लोर जिला, जहा उग्रसेन का राज्य था), देवराष्ट्र (कलिग प्रान्तवर्ती राज्य, जहा उस समय कुबेर नामक राजा का राज्य था) और कुश्थलपुर (कुशस्थली नदी का निकटवर्ती राज्य, जहा उस समय धनजय नामक राजा का राज्य था)।[1]

दक्षिणापथ के उपरोक्त विजय अभियान का उल्लेख करते हुए हरिषेण ने इलाहाबाद स्थित उपरिर्चचित स्तम्भलेख मे यह भी बताया है कि समुद्रगुप्त ने

---

[1] उद्वेलोदितवाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणा –
दुन्मूल्याच्युतनागसेन । [इलाहाबाद स्तम्भलेख]

[1] तस्य विविध समरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकवन्धो, पराक्रमाकम्य परशुशर-शकुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहणविरूढा कुलव्रणशताकशोभा-समुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मण कौशलक – महेन्द्र-महाकान्तारक व्याघ्रराज – कैरल कमण्ट-राजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकोट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाचेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराज-वैगेयकहस्तिवर्मपाल्लकोग्रसेनदेवराष्ट्रक कुवेरकौस्थलपुरकधनजय प्रभृति सर्वदक्षिणापथ-राजग्रहणमोक्षानुगहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य ।
[इलाहाबाद स्थित अशोक स्तम्भ के अधोभाग पर अकित समुद्रगुप्त का लेख]

आर्य नागार्जुन के समय के राजवंश

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त पराक्रमांक

यह पहले बताया जा चुका है कि परम भट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने अपने जीवन के सध्याकाल मे अपने कनिष्ठ पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वत: सुयोग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।[1] चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् गृहकलह का बड़े साहस के साथ दमन कर वीर नि० स० ८६२ तदनुसार ई० सन् ३३५ में समुद्रगुप्त मगध के राज्यसिहासन पर आसीन हुआ। वामन ने अपने 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम चन्द्रप्रकाश उल्लिखित किया है। इससे अनुमान किया जाता है कि सभवत: समुद्रगुप्त का दूसरा नाम चन्द्रप्रकाश हो और समुद्र तक अपने राज्य का विस्तार करने के पश्चात् अपने राज्य की सीमाओ के समुद्र द्वारा सुरक्षित होने के अर्थ को द्योतित करने के लिये उसने अपना नाम 'समुद्रगुप्त' रखा हो।

इलाहाबाद के स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त द्वारा दिग्विजय मे विजित राजाओ, उनके राज्यों, गणराज्यो एवं तत्कालीन अनेक घटनाओं का उल्लेख है। कौशाम्बी में जिस स्तम्भ पर अशोक ने अपना अभिलेख उत्कीर्ण करवाया, उसी स्तम्भ पर नीचे की ओर समुद्रगुप्त का यह अभिलेख उसके साधिविग्रहिक कवि हरिषेण ने सुन्दर गद्यपद्यमयी सस्कृत भाषा में अंकित करवाया। सांधिविग्रहिक पद के साथ साथ हरिषेण कुमारामात्य और महादण्डनायक के पदो पर भी कार्य करता था।[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से इलाहाबाद का यह स्तम्भलेख बडा ही महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। इससे भारत की तात्कालिक भौगोलिक एव राजनैतिक स्थिति के साथ-साथ उस समय के राजाओं, राज्यो की सीमाओ, गणराज्यो आदि का विशद परिचय मिलता है। इस स्तम्भलेख का आज के शोधयुग की दृष्टि से सबसे बडा दोष यह है कि इसमे अंकित घटनाचक्र की एक भी तिथि का उल्लेख नही किया गया है। यदि इसमे समुद्रगुप्त के विजयोल्लेखों के साथ साथ तिथिया भी उट्टंकित की जाती तो यह स्तम्भलेख ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता और इससे उलझी हुई अनेक ऐतिहासिक गुत्थियो को सुलझाने मे बडी सहायता मिलती। इस कमी के रहते हुए भी इस स्तम्भलेख का बहुत बडा ऐतिहासिक महत्त्व है।

---

[1] ऋद्धपुर के शिलालेख मे उत्कीर्ण – "तत्पादपरिगृहीत" पद से भी इलाहाबाद के स्तभलेख मे उट्टंकित इस बात की पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने बडे पुत्रो से समुद्रगुप्त को अधिक सुयोग्य समझकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। [सम्पादक]

[2] एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारक पदाना दासस्य ··· महादण्डनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सान्धिविग्रहिककुमारामात्यमहादण्डनायक हरिषेणस्य सर्वभूतहितायास्तु।

[अशोक स्तम्भ के अधोभाग पर अंकित समुद्रगुप्त का इलाहावाद स्थित स्तम्भलेख]

इलाहाबाद स्थित उपरिचर्चित स्तम्भलेख से यह प्रमाणित होता है कि समुद्रगुप्त युद्धो मे सबसे आगे रहकर युद्ध करने वाला महान् योद्धा,[१] कवि[२], सगीतज्ञ,[३] दयालु[४] और लोकोत्तर गुणो से सम्पन्न था ।[५]

यद्यपि इलाहाबाद स्थित उपरोक्त स्तम्भलेख मे इस प्रकार का कोई उल्लेख नही है कि समुद्रगुप्त ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया अथवा नही, तथापि प्रभावती गुप्ता के पूना – दानपत्र[६], स्कन्दगुप्त के अभिलेख[७] तथा समुद्रगुप्त के उन अश्व-मेधिक सिक्को से, जिन पर एक ओर यूप के सम्मुख अश्व का चित्र, दूसरी ओर महारानी का चित्र क्रमश "अश्वमेध पराक्रम" और "राजाधिराज पृथिवीमवित्वा दिव जयति अप्रतिवार्यवीर्य" – इन पदो के साथ अकित है, यह स्पष्टत सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किये थे ।

समुद्रगुप्त ने सुदूरवर्ती एवं सीमावर्ती राज्यो को विजित करने के पश्चात् पुन· उन्हे पराजित राजाओ को लौटाकर उनके साथ जो उदारतापूर्ण व्यवहार किया, उससे उसका यश चारो ओर फैल गया । शत्रुओ के प्रति इस प्रकार के सुन्दर व्यवहार से यह प्रमाणित होता है कि वह बडा दूरदर्शी, स्थायी शान्ति का इच्छुक और सबके साथ सच्चा सौहार्द रखने के लिये समुत्सुक था ।

समुद्रगुप्त के कुल मिलाकर आठ प्रकार के सिक्के उपलब्ध होते है, जो सभी विशुद्ध स्वर्ण के है । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि समुद्रगुप्त के शासनकाल मे भारत कितना समृद्धिशाली देश था ।

अनुमान किया जाता है कि समुद्रगुप्त ने वीर नि० स० ८६२ से ९०२ तक शासन किया ।

---

१ (क) सग्रामेषु स्वभुजविजिता नित्यमुच्चापकारी ।
(ख) परशुशरशकुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुल – व्रणशताकशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मण । [वही]

२ अध्येय सूक्तमार्ग कविमतिविभवोत्सारण चापि काव्य । [वही]

३ निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादे [वही]

४ अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्नराजवशप्रतिष्ठापनोद्भूतनिखिलभुवनविचरणशान्तयशस (वही)

५ सुचरितस्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य,... [वही]

६ .. तस्य सत्पुत्रो महाराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य सत्पुत्रोऽनेकाश्वमेधयाजी लिच्छिविदौहित्रो महादेव्या कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त ..
[प्रभावती गुप्ता का पूना – दानपत्र]

७ .. ..न्यायगतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तु महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्या कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्र.
[प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन खण्ड २]

दक्षिणापथ के अभियान मे अनेक राजाओ को बन्दी बनाया, अनेक राजाओ को बन्दी बनाकर पुन: मुक्त कर दिया एव अनेक राजाओ पर कृपा कर उनका राज्य उन्हे लौटा दिया। दक्षिण-विजय के फलस्वरूप समुद्रगुप्त के राज्य विस्तार के साथ-साथ उसके प्रताप और कोषबल की भी अपूर्व वृद्धि हुई।

तृतीय विजय अभियान – अपने द्वितीय विजय अभियान द्वारा दक्षिण-विजय के पश्चात् मगध मे लौटने पर समुद्रगुप्त ने यह अनुभव किया कि उसका मगध राज्य वस्तुत. ऐसे राजाओ से घिरा हुआ है, जिनके हृदय मे उसकी श्री-अभिवृद्धि सदा शूल के समान चुभती रहती है। यदि वे सब सगठित हो जाय तो किसी भी समय उसके शासन के लिये सकट के बादल बन सकते है।

इस सभावित सकट को सदा के लिये समाप्त कर डालने का दृढ सकल्प लिये उसने आर्यावर्त में दूसरी बार सैनिक अभियान किया। इस विजय अभियान मे भीषण नरसंहार हुआ। लोमहर्षक युद्ध के पश्चात् समुद्रगुप्त का विजयश्री ने वरण किया। रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति नाग, नागसेन, अच्युतनन्दी, बलवर्मा आदि आर्यावर्त के राजाओ की पूर्ण पराजय हुई।[1]

उपरोक्त तीन विजयाभियानो मे समुद्रगुप्त ने पश्चिमी शको के अतिरिक्त भारत के प्राय सभी छोटे-बड़े दुर्दान्त राजाओ को युद्ध मे परास्त कर एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न सुविशाल गुप्त साम्राज्य की स्थापना की। उसके प्रचण्ड प्रताप से अभिभूत हो समतट (ताम्रलिप्ति से पूर्व का समुद्र-तटवर्ती प्रदेश समतात), डवाक (आसाम का डबोक क्षेत्र), कामरूप (आसाम का गोहाटी जिला), नेपाल, कर्त्तृपुर आदि राज्यों के राजाओ एव मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक तथा खरपरिकादि गणराज्यो ने करप्रदानादि से समुद्रगुप्त को सतुष्ट कर उसकी अधीनता स्वीकार की।[2]

कवि हरिषेण ने उपरोक्त स्तम्भलेख मे उट्ट कित करवाया है कि देवपुत्र शाहि, शाहानुशाहि, शक, मुरुण्ड, आदि विदेशी राजा तथा सिहल आदि द्वीपो के शासक समुद्रगुप्त की सेवा मे आत्मनिवेदन करते, अपनी कन्याए भेट मे देते तथा अपने विषय एव भुक्ति के लिये समुद्रगुप्त की गरुडाकित राजमुद्रा के चिन्ह से युक्त आज्ञाएं मागते रहते थे।[3]

---

[1] रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्मानेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहत, परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य '

[इलाहाबाद स्थित हरिषेण का स्तम्भलेख]

[2] समतटडवाककामरूपनेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभि मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषित प्रचण्डशासनस्य ...।

[वही]

[3] देवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डै सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदकस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य...

[वही]

किस आगम पर निर्युक्ति की रचना की थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आर्य गोविन्द ने सम्भवत. आचाराग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पर निर्युक्ति की रचना की हो। शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन मे ५ स्थावर और त्रसकाय का जीवत्व प्रमाणित किया गया है। चूर्णिकार ने भी – "तेण एगिदिय जीव साहरण, गोविदनिज्जुत्ती कया" – इस वाक्य द्वारा एकेन्द्रिय जीवो के अस्तित्व को स्पष्टत प्रमाणित करने वाली निर्युक्ति का निर्माण करना बताया है। स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार निर्युक्ति के प्रणेता आचार्य गोविन्द अन्य कोई नही पर जिनको नदीसूत्र मे अनुयोगधर के रूप मे और युगप्रधानपट्टावली मे २८वे युग-प्रधान होने के साथ माथुरी वाचना के प्रवर्तक आर्य स्कन्दिल से चौथे युगप्रधान बताया गया है, वे ही होने चाहिये। मुनि पुण्यविजयजी ने आर्य गोविन्द का सत्ताकाल विक्रम की ५वी शताब्दी का पूर्वार्ध बताया है।[1]

श्राद्ध दिनकृत्य की गाथा स० ६० मे जिनशासन को अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व की व्याधि का विरेचन बताया है। इसी की टीका एव बालबोध मे क्रमश· आर्य शय्यभव, चिलातीपुत्र और गोविन्द वाचक उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किये गये है।[2]

इन सब तथ्यो से यह प्रमाणित होता है कि आर्य गोविन्द अपने समय के महान् प्रभावक वाचनाचार्य हुए है।

२४. आर्य भूतदिन्न : वाचनाचार्य

२६. आर्य भूतदिन्न : युगप्रधानाचार्य

आर्य नागार्जुन के पश्चात् वाचनाचार्य आर्य भूतदिन्न हुए। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नही होता फिर भी नन्दी-स्थविरावली और दुष्पमाकाल श्रमणसघस्तोत्र के अनुसार आपका परिचय इस प्रकार है –

नन्दी-स्थविरावली मे आर्य भूतदिन्न को वाचक नागार्जुन का शिष्य बताया गया है। पर 'दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसघस्तोत्र' मे इनको युगप्रधानाचार्य माना गया है। स्थविरावली मे आचार्य देववाचक द्वारा निर्दिष्ट परिचय के अनुसार – "आप मृदु-मनोहर उपदेश से भव्यजनो के वल्लभ और अप्रमत्त भाव से दयाधर्म के परिपालक एव प्रचारक थे। आचाराग आदि अग और अगबाह्य श्रुत के विशिष्ट अभ्यास के कारण आप भारतवर्षीय तत्कालीन मुनियो मे प्रमुख माने जाते थे। सघ-सचालन की आपकी कुशलता बताते हुए देववाचक ने कहा है कि जिन्होने अनेको योग्य साधुओ को स्वाध्याय और वैयावृत्य आदि कार्यो मे नियुक्त किया, ऐसे नागेन्द्र-कुल-वश की प्रीति करने वाले और उपदेश द्वारा भक्तो के

---

[1] वृहत्कल्पभाष्य की प्रस्तावना, भा० ६, पृ० १६–२०

[2] श्राद्धदिनकृत्य और आत्मनिन्दाभावना, बालबोध, पृ० १८

आर्य गोविन्द – वाचनाचार्य

आर्य गोविन्द एक विशिष्ट अनुयोगधर और प्रसिद्ध वाचक हुए है। नदीसूत्र स्थविरावली की मूल गाथाओं मे आर्य गोविन्द का नाम नही मिलता किन्तु आचार्य मेरुतुग की विचारश्रेणी में नागार्जुन और भूतदिन्न के बीच आर्य गोविन्द का नाम आता है। नंदीसूत्र स्थविरावली की प्रक्षिप्त दो गाथाओं में भी भूतदिन्न से पूर्व आर्य गोविन्द की स्तुति की गई है।[1]

आर्य गोविन्द आर्य महागिरि की परम्परा के मुख्य वाचक रहे अथवा शाखान्तर के, इस सम्बन्ध मे निश्चित एव स्पष्ट उल्लेख न मिलने पर भी इतना तो असदिग्धरूपेण कहा जा सकता है कि आर्य गोविन्द भी तत्कालीन विशिष्ट वाचक आचार्य थे।

निशीथ चूरिण के ११वे उद्देशक में 'ज्ञानस्तेन' का वर्णन करते हुए चूरिणकार ने बताया है :–

> गोविन्दज्जो नाणे, दसणे सुत्तट्ठ हेउ अट्ठावा।
> पावादिय उवचरगा, उदायिवधगादिगा चले ।।३६५६।।

आर्य गोविन्द के ज्ञानस्तेन होने की घटना का चूरिणकार ने निम्नलिखित रूप मे उल्लेख किया है :–

"गोविन्द नामक एक बौद्ध भिक्षु ने किसी जैनाचार्य के साथ वाद में १८ बार पराजित हो चुकने पर सोचा – "जब तक इनके सिद्धान्त का स्वरूप नही जान लिया जायगा तब तक इनको नही जीता जा सकेगा।" यह विचार कर गोविन्द ने जैन सिद्धान्तों का अध्ययन करने की अपनी आन्तरिक इच्छापूर्ति मात्र के लिये एक जैनाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। सामायिक आदि श्रुत का अभ्यास करते हुए उन्हें जब शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई तब उन्होंने गुरू को नमस्कार करते हुए निवेदन किया – "भगवन्! मुझे व्रत ग्रहण करवाइये।"

गुरू ने कहा – "वत्स! तुम्हे तो पच महाव्रत ग्रहण करवाये जा चुके है, अब तुम्हे और कौनसे व्रत दिये जायं?"

इस पर गोविन्द ने गुरु के समक्ष अपनी व्याज-दीक्षा का वास्तविक वृत्तान्त कह सुनाया। आचार्य ने अनुग्रह कर उन्हे पुनः व्रत ग्रहण करवाये।

समय पा कर वही आर्य गोविन्द आचार्य-पद के अधिकारी हुए। निशीथ चूरिणकार ने "गोविन्द निर्युक्ति" का उल्लेख किया है। इससे आर्य गोविन्द निर्युक्तिकार भी प्रमाणित होते है। आज न तो गोविन्द-निर्युक्ति ही उपलब्ध है और न इस प्रकार का कोई उल्लेख ही कि वह निर्युक्ति किस आगम पर थी। ऐसी स्थिति में प्रमाणाभाव के कारण यह नही कहा जा सकता कि आर्य गोविन्द ने

---

[1] गोविन्दाण पि नमो, अणुओगे विउलधारणिदाण।
निच्चं खतिदयाणं, परूवणे दुल्लभिदाण ।। [नदीस्थविरावली]

ने भी अपने अनेक पुत्रो मे से चन्द्रगुप्त द्वितीय को सभी दृष्टियो से सुयोग्य समझ कर उसका अपने उत्तराधिकारी के रूप में चयन किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्थित शिलालेख तथा स्कन्दगुप्त के बिहार एव भितरी के शिलालेखो मे चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए क्रमश 'तातपरिगृहीतेन' और तातपरिगृहीत'–पदो के प्रयोग को देखकर कुछ विद्वानो की इस धारणा के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नही रह जाता कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल के बीच मे दो-तीन वर्ष के थोड़े से समय के लिये रामगुप्त जैसे अकर्मण्य एव क्लीब शासक का शिथिल शासन रहा था। उपरि चर्चित तीन शिलालेखों मे से प्रथम मे जो 'तातपरिगृहीतेन और शेष दो मे 'तातपरिगृहीत' पद का प्रयोग चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये किया गया है, उससे निर्विवाद रूपेण यह प्रमाणित हो जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को स्वयं उसके पिता ने गुप्त साम्राज्य का स्वामी बनाया था।

गुप्तवशी सम्राटो के सभी शिलालेखो एव अभिलेखो मे तथा द्वितीय चन्द्र-गुप्त–विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता (वाकाटक नृपति रुद्रसेन द्वितीय की महारानी तथा वाकाटक नृपतियो दिवाकर सेन तथा दामोदर सेन की ई० सन् ३९५ से ४१५ तक अभिभाविका) के पूना के दानपत्र मे जो गुप्त राजवशी राजाओ की वशावली दी गई है, उनमे रामगुप्त का नामोल्लेख तक नही किया गया है। इन सभी अभिलेखो मे गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को ही उसका उत्तराधिकारी गुप्त सम्राट् बताया गया है।[१]

समुद्रगुप्त के पश्चात् यदि रामगुप्त नामक कोई गुप्त राजा गुप्त साम्राज्य के सिहासन पर बैठा होता तो कोई कारण नही था कि प्रभावती गुप्ता अपने पूना वाले दानपत्र मे और स्कन्दगुप्त अपने भितरी के स्तम्भलेख मे समुद्रगुप्त के पश्चात् तथा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) से पहले रामगुप्त के नाम का उल्लेख नही करते। साहित्यिक उल्लेखो की अपेक्षा शिलालेख, स्तम्भलेख, ताम्रपत्राभिलेख अधिक

---

[१] (क) सिद्धम्। सर्वराजोच्छेत्तु पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशो न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तु महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छिवीदौहित्रस्य महादेव्या कुमार देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्र तत्परिगृहीतो महादेव्या दत्तदेव्यामुत्पन्न स्वयं चाप्रतिरथ परम भागवतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त तस्य पुत्र तत्पादानुध्यातो महादेव्या ध्रुवदेव्यामुत्पन्न. परम भागवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त तस्य. . [स्कन्दगुप्त का भितरी (जिला गाजीपुर उत्तरप्रदेश) का स्तम्भलेख]

(ख) .....श्री समुद्रगुप्त तत्सत्पुत्रतत्पादपरिगृहीत पृथिव्यामप्रतिरथ सर्वराजोच्छेत्ता चतुरुदधिसलिलास्वादितयशानेकगोहिरण्यकोटिसहस्रप्रद परम भागवतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त तस्य दुहिता धारण सगोत्रा नागकुलसभूताया श्री महादेव्या कुवेरनागायामुत्पन्नोभयकुलअलकारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकाना महाराजा श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्री दिवाकर सेन-जननी श्री प्रभावति गुप्ता .। [प्रभावती गुप्ता का पूना (महाराष्ट्र) का दानपत्र]

भवभय को दूर करने वाले आचार्य भूतदिन्न को वन्दन करता हूँ।" आपके शरीर की कान्ति तपाये हुए कंचन के समान गौरवर्ण बताई गई है।[1]

नंदी स्थविरावली की प्रक्षिप्त मानी जाने वाली गाथा में आपको तप-सयम में नित्य अनिर्विन्न, पडितजन सम्मान्य और सयमविधिज्ञ कह कर वन्दन किया गया है। इससे भी आपकी श्रुतज्ञान के साथ गभीर संयमनिष्ठा प्रकट होती है।[2]

देववाचक द्वारा निर्दिष्ट इस प्रकार के विस्तृत परिचय से यह सहज ही प्रकट होता है कि आचार्य भूतदिन्न के प्रति देववाचक देवर्द्धिगणी के हृदय मे अत्यन्त श्रद्धा भक्ति थी। सभव है आचार्य भूतदिन्न देवर्द्धि की गुरु-परम्परा मे हो और उनके साथ देवर्द्धि का साक्षात्कार भी हुआ हो।

युगप्रधान यन्त्र के अनुसार यदि इन्ही भूतदिन्न को युगप्रधान भी माना जाय तो उनका कार्यकाल इस प्रकार बताया गया है :–

वीर नि० स० ८६४ मे जन्म, ८८२ मे दीक्षा। वीर नि० स० ९०४ मे युगप्रधान पद और ९८३ में स्वर्गगमन। इस प्रकार आप १८ वर्ष गृहवास, २२ वर्ष सामान्य साधुपर्याय और ७९ वर्ष युगप्रधान पद को भोग कर ११९ वर्ष की पूर्ण आयु मे समाधिपूर्वक स्वर्ग के अधिकारी हुए।

आर्य नागार्जुन एवं भूतदिन्न के समय का राजवंश

चन्द्रगुप्त द्वितीय

वीर नि० सं० ९०२–९४१ (ई० सन् ३७५–४१४)

वीर नि० सं० ९०२ में समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विशाल गुप्त साम्राज्य का स्वामी बना। एरण की प्रशस्ति मे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के अनेक पुत्रो एव पौत्रो के होने का उल्लेख है।[3] जिस प्रकार समुद्रगुप्त के पिता (चन्द्रगुप्त प्रथम) ने अपने अनेक पुत्रो में से छोटे पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वत: सुयोग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था उसी प्रकार समुद्रगुप्त

---

[1] तवियवरकणग चपग-विमउल कमलगब्भसरिवन्ने।
भवियजणहियय दइए, दयागुणविसारए धीरे ॥ ४३ ॥
अड्ढभरहप्पमाणे, बहुविहसज्झाय सुमुणियपहाणे।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवसनदिकरे ॥ ४४ ॥
भूयहियप्पगब्भे, वदेह भूयदिन्नमायरिए।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीण ॥ ४५ ॥ [नदीसूत्र स्थविरावली]

[2] तत्तो य भूयदिन्न, निच्च तवसजमे अनिविण्ण।
पडियजणसम्माण, वदामो सजमविहिण्णु ॥ ४२ ॥ [नदी स्थविरावली]

[3] ....(धीर) स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का, हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
...(यस्य)....गृहेपु मुदिता बहुपुत्र पौत्रसक्रामणी कुलवधू व्रतिनी निविष्टा ॥
[एरण की प्रशस्ति]

२. कुमार चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेष मे शकराज के पास जाने और उसे मारने की पूरी तैयारी की और इष्टसिद्धि हेतु प्रस्थान किया ।[1]

३ ध्रुवदेवी के कक्ष के समीप से जाते हुए चन्द्रगुप्त ने राहु द्वारा ग्रस्त चन्द्रकला के समान दु ख, करुणा और शोक से म्लान, अपने पति के नपुसक तुल्य आचरण के कारण आत्यन्तिक लज्जा, कोप, विपाद, भय एवं घृणा से प्रपीडिता ध्रुवदेवी को देखा ।[2]

ईसा की सातवी शताब्दी के कवि बाण ने अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित्र' मे सौराष्ट्र के पर-स्त्री-लम्पट शकराज (रुद्रसिह तृतीय) को स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त द्वारा मार दिये जाने का उल्लेख निम्नलिखित एक वाक्य मे किया है :—

"अरिपुरे च परकलत्रकामुक कामिनीवेशगुप्त चन्द्रगुप्त शकपतिमशातयत् ।"

ईसा की नौवी शताब्दी के शकरार्य नामक टीकाकार ने उपरोक्त वाक्य की टीका करते हुए लिखा है—"शकानामाचार्य शकाधिपति चन्द्रगुप्तभ्रातृजाया ध्रुवदेवी प्रार्थयमान चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादित ।" अर्थात् शक राजा ने चन्द्रगुप्त के भाई की महारानी ध्रुवदेवी को अपने पास पहुँचाने की माग की । इस पर चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का वेष पहिन कर स्त्री वेषधर पुरुषो को साथ ले शक राजा को मार डाला ।

ईसा की दशवी शताब्दी के कन्नोजाधिपति यशोवर्मा के राजकवि राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमासा मे हिमाद्रि की पर्वतमालाओ पर किसी खस राजा के घेरे मे आये हुए शर्मगुप्त नामक राजा द्वारा अपनी महारानी ध्रुवस्वामिनी को उस खस राजा को अर्पित किये जाने और वहाँ से हतोत्साहित हो लौटने का उल्लेख किया है । राजशेखर ने उस राजा की क्लैब्यता पर व्यग कसते हुए आगे लिखा है कि षण्मुख कार्तिकेय के हिमालयवर्ती उस नगर की कामिनिया हिमालय पर्वत की गुफाओ मे वायु के ससर्ग से निकलती हुई विविध ध्वनियो की लय के साथ ओ शर्मगुप्त ! तेरे यश के गीत गा रही है ।[3]

---

[1] प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीसप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनार्थं यियासु प्रतिपन्नध्रुवदेवी नेपथ्य कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते ।
['देवीचन्द्रगुप्त' का नाट्यदर्पण' मे उद्धरण]

[2] यथा 'देवीचन्द्रगुप्ते' चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवी दृष्ट्वा स्वगतमाह–इयमपि सा देवी तिष्ठति । यैषा – रम्या चारतिकारिणी च करुणाशोकेन नीता दशाम्,
तत्कालोपगतेनराहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला ।
पत्यु क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पु स सत ।
लज्जाकोपविपादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते । [वही]

[3] दत्वा रुद्धगति खसाधिपतये देवी ध्रुवस्वामिनीम्,
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्री शर्मगुप्तो नृप ।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणत्क्वणत्किन्नरे,
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणा गणैं कीर्तय ।। [काव्य मीमासा, राजशेखर]

महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक होते है, यह एक सर्वसम्मत निर्विवाद तथ्य है। शिला-लेखों मे जहां किसी तथ्य का स्पष्ट उल्लेख हो, उसके समक्ष कम से कम किसी नाटक में किये गये उससे विपरीत उल्लेख का तो कोई महत्व नही। क्योंकि नाटको मे प्राय· अधिकाश कथावस्तु एवं पात्र कल्पित होते है, उनमे चरित्र चित्रण अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण और कभी-कभी वास्तविकता से कोसो दूर रहता है। ऐसी स्थिति मे केवल किसी नाटक मे किये गये किसी उल्लेख के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यो के निर्णय की प्रक्रिया को अपनाया जाने लगे तो इतिहास की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जायगी। उदाहरण के तौर पर यदि "कौमुदी महोत्सव" नामक नाटक में तत्कालीन जनमनरजन के लिये किये गये उल्लेखों को ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे अंगीकार कर लिया जाय तो लिच्छिवी जाति के विशुद्ध क्षत्रियों को म्लेच्छ, लिच्छिवी राजकुमारी के साथ विवाह करने वाले चण्डसेन (चन्द्रगुप्त) को पाटलीपुत्र के मौखरी राजा सुन्दर वर्मन का दत्तकपुत्र और गुप्तवश के राजाओ को कारसकर (कृषक) मानना पड़ेगा। नाटक की दृष्टि से 'कौमुदी महोत्सव' का महत्त्व हो सकता है पर ऐतिहासिक दृष्टि से नही, क्योंकि उसमें एक राजवश से दूसरे राजवश को नीचा दिखाने की भावना की गंध स्पष्टत: प्रकट होती है।

कुछ विद्वानो द्वारा इसी प्रकार के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक एक नाटक के आधार पर गुप्त सम्राटो की नामावली मे समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त के बीच मे रामगुप्त का नाम जोड़ने का प्रयास किया गया है।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक ईसा की छटी शताब्दी की कृति अनुमानित की जाती है। यह नाटक मूल रूप में तो उपलब्ध नही होता पर उसके कतिपय उद्धरण 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ मे उपलब्ध होते है। इसके कर्त्ता के विषय में भी विद्वान् अभी तक अपना कोई निश्चित अभिमत नही बना पाये है। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि सभवत: 'मुद्राराक्षस' नाटक का रचयिता विशाखदत्त ही इस नाटक का रचनाकार हो, पर इस अनुमान की अन्य किसी प्रकार से पुष्टि नही होती। विशाखदत्त ने अनेक नाटकों की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख 'मुद्राराक्षस' नाटक मे विद्यमान है।[1] यदि अधीन राजवंशोत्पन्न विशाखदत्त को 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक का रचनाकार मान लिया जाय तो इस सन्देह की पुष्टि होती है कि भारत के एक सुविख्यात एव प्रतिष्ठित राजवश को जनसाधारण की निगाहो मे गिराने की भावना लिये किसी राजवश का निहित स्वार्थ भरा हाथ इस नाटक की रचना के पीछे अदृष्ट रूप से अवश्य रहा होगा।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक के जो थोड़े बहुत उद्धरण उपलब्ध है, उनसे केवल निम्नलिखित सूचना प्राप्त होती है—

१. अपने प्रजाजनो के आश्वासन हेतु रामगुप्त ने अपनी महारानी ध्रुवदेवी को शकराज की सेवा मे समर्पित करना स्वीकार किया।

[1] कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा।— मुद्राराक्षस ४।३

ज्यो ही वह बिगुल बजाये, त्यो ही सब युवक बिजली की तरह शत्रुश्रो पर टूट पडे। बरकमारिस श्रौर उसके साथियो को सफलता मिली। रव्वल विजयी हुश्रा पर मन्त्री द्वारा बरकमारिस के प्रति सन्देह उत्पन्न करा दिये जाने के कारण वह पागल हो गया। बरकमारिस ने महल मे पहुँच कर रव्वल को मार डाला। उसने राजसिहासन पर बैठ कर स्वयवर मे प्राप्त उस रानी से विवाह कर लिया। बरकमारिस ने सम्पूर्ण भारत पर श्रधिकार किया श्रौर उसका यश दूर-दूर तक फैल गया।"[१]

ईसा से ५७ वर्ष पूर्व हुए विक्रम सवत् के प्रवर्तक वीर विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे बडी ही विचित्र श्रनेक लोक कथाए शताब्दियो से केवल भारत ही नही, विश्व के श्रनेक देशो मे प्रचलित रही है। यह पहले बताया जा चुका है कि इस्लाम की उत्पत्ति से कतिपय शताब्दियो पूर्व वीर विक्रमादित्य से सम्बन्धित साहित्य श्ररब मे बडा लोकप्रिय रहा है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि श्ररबी लेखक द्वारा लिखा गया भारत के बरकमारिस का उपरोक्त कथानक, सवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे प्रचलित हजारो लोक कथानको मे से किसी एक कथानक का विकृत स्वरूप है। श्रपने बडे भाई भर्तृहरि द्वारा श्रपमानित किये जाने पर विक्रमादित्य के घर से एकाकी निकलने श्रौर श्रनेक वर्षो तक देशविदेशो मे घूमने का उल्लेख 'विक्रमचरित्र' नामक ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है।[3]

सजन से प्राप्त राष्ट्रकूट राजा श्रमोघवर्ष (प्रथम) के दानपत्र (ताम्रपत्र) मे भी सुनी-सुनाई किवदन्ती के श्राधार पर लिखा है – "हमने सुना है कि गुप्तवश के कलियुगी दानी एक राजा ने श्रपने भाई को मार कर उसके राज्य श्रौर उसकी स्त्री पर श्रधिकार कर लिया।"

इस प्रकार की सुनी-सुनाई, किवदन्तियो श्रौर नाटको पर श्राधारित बातो को इतिहास का रूप देना वस्तुत इतिहास के साथ श्रन्याय करने के श्रतिरिक्त कुछ नही कहा जा सकता। इतिहास के लब्ध-प्रतिष्ठ निष्पक्ष विद्वानो ने ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय मे इस प्रकार के नाटको को नितान्त श्रविश्वसनीय माना है।[४]

उपरोक्त तथ्यों पर निष्पक्ष दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने, तथा गुप्त सम्राटो एव वाकाटक राजमाता प्रभावती गुप्ता द्वारा श्रभिलेखो मे दिये गये गुप्त राजाश्रो के वशवृक्ष मे रामगुप्त के नाम का उल्लेख तक न होने से यही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

---

[१] श्रबुल हसन (१०२६ ई०) द्वारा श्ररबी ग्रन्थ का पारसी श्रनुवाद। देखिये – 'Elliot and Dawson, History of India, I, 110–111'

[२] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ५४८–४६

[3] प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ५४०

[४] As Sylvian Levi points out, these later historical dramas cannot be considered as trustworthy sources of the history they make for purposes of the drama 'Mudra-rakshasa' is not considered as a reliable source of Maurya history

कुछ विद्वानो ने कवि की इस व्यंगोक्ति को भी ध्रुवस्वामिनी और शर्म के साथ गुप्त शब्द को देख कर तथाकथित रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के कथानक के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। हालाकि राजशेखर ने चन्द्रगुप्त द्वारा खसराज को मार कर ध्रुवस्वामिनी के लौटाने और अपनी महादेवी बनाये जाने का कोई उल्लेख नही किया है।

उपरिचर्चित उद्धरणों के आधार पर रामगुप्त का कथानक इस प्रकार बनता है :-

"गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त के पश्चात् कायर एव बुद्धि विहीन रामगुप्त गुप्त साम्राज्य का स्वामो बना। उस पर शकराज ने आक्रमण किया। डरपोक रामगुप्त पराजित हुआ। उसने शकराज के साथ सन्धिवार्ता की और अपनी सती साध्वी महारानी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) को शकराज की सेवा मे प्रस्तुत करना स्वीकार कर लिया। रामगुप्त का अनुज चन्द्रगुप्त (द्वितीय) स्त्रीवेष धारण कर ध्रुवदेवी का स्वाग बनाये शकराज के शिविर मे पहुँचा। कामुक शकराज ध्रुवदेवी से मिलने की उत्कण्ठा लिये ज्यो ही एकान्त कक्ष में पहुँचा त्यो ही स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त ने सिह की तरह झपट कर शकराज को मौत के घाट उतार दिया। तदनन्तर अवसर पाकर चन्द्रगुप्त ने अपने बडे भाई रामगुप्त की भी गुप्त रूप से हत्या करवा दी। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त के साथ विवाह (विधवा विवाह) कर लिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना।"

मुख्यत· लोकरजन के लिये बनाये गये नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' मे वर्णित रामगुप्त का उपरोक्त कल्पित कथानक ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों-त्यो विकृत होता गया। ईसा की १२वी शताब्दी के अरबी ग्रन्थ 'मुजमलुत् तवारीख' में इस कथानक ने विकृत होते-होते निम्नलिखित रूप धारण कर लिया –

"भारत में रव्वल नामक एक राजा था। उसके छोटे भाई बरकमारिस द्वारा स्वयवर मे प्राप्त एक राजकुमारी के रूप पर मुग्ध हो रब्बल ने उसके साथ विवाह कर लिया। इस घटना के पश्चात् बरकमारिस अध्ययन मे जुट गया और वह एक उच्चकोटि का विद्वान् बन गया। रव्वल के पिता के शत्रु ने आक्रमण कर रव्वल को पराजित किया। रव्वल ने अपने परिवार एव परिजनों के साथ पर्वत की चोटी पर बने एक दुर्ग मे शरण ली और शत्रु से सन्धि की प्रार्थना की। शत्रु द्वारा रखी गई सन्धि की शर्त के अनुसार रव्वल ने अपनी उस रानी और सामन्तो की पुत्रियो को शत्रु के समर्पित करना स्वीकार किया। बरकमारिस ने राजा की आज्ञा से एक चाल चली। सामन्तपुत्रों सहित स्त्रीवेष धारण कर उसने स्वयं ने रानी का और शेष युवको ने सामन्तपुत्रियो का स्वाग बनाया। उन सबने अपने अपने परिधानो में एक एक शस्त्र छुपा लिया। बरकमारिस ने अपने स्त्रीवेपधारी सब साथियो को समझा दिया कि शत्रु राजा को मौत के घाट उतारने के पश्चात्

मेहरौली का लोहस्तम्भलेख द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है अथवा चन्द्र नामक किसी अन्य राजा का, यह इतिहास के विद्वानो के लिये आज भी प्रश्न ही वना हुआ है। विद्वानो ने इस सम्बन्ध मे विभिन्न मान्यताए प्रकट करते हुए अनेक ऊहापोहो के साथ अपने-अपने अभिमत की पुष्टि मे वहुत सी युक्तिया प्रस्तुत की है। उन सब अभिमतो पर गहन विचार करने के पश्चात् भी द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा यशस्वी विष्णुभक्त, समस्त भारत ही नही अपितु वाह्लीक देश तक अपनी विजय का डका बजाने वाला परम प्रतापी एकराट् चन्द्र भारतीय इतिहास के क्षितिज मे खोजने पर भी दृष्टिगोचर नही होता। इसके विपरीत अन्य किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव मे यही कहना होगा कि मेहरौली का लोहस्तम्भ अभिलेख गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही है।

आर्य भूतदिन्न के समय की राजनैतिक स्थिति

द्वितीय चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त उसका बडा पुत्र कुमार-गुप्त (प्रथम) विशाल गुप्तसाम्राज्य का स्वामी बना। उसकी माता का नाम ध्रुवदेवी था।[1] कुमार गुप्त के शासनकाल के अनेक शिलालेख और दानपत्र मिलते है, जिनसे इसके विशाल साम्राज्य, शौर्य, शासन पद्धति, सुशासन एव धार्मिक सहिष्णुता आदि के सम्वन्ध मे बडी महत्त्वपूर्ण सूचनाए प्राप्त होती है। इन अभिलेखो मे गुप्त स. ६६ (ई सन् ४१५) से पूर्व का[2] तथा गुप्त स १३५ (ई सन् ४५४) के पश्चात् का[3] कोई अभिलेख नही है अत यह अनुमानित किया जाता है कि ई सन् ४१४ से ४५५ तदनुसार वीर नि स ६४१ से ६८२ तक कुमार गुप्त का शासन रहा। इसके चादी के सिक्को पर अकित अन्तिम तिथि गुप्त स. १३६ (वीर नि स ६८२) है, इससे भी उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

कुमार गुप्त प्रथम के विभिन्न सिक्को पर लालित्यपूर्ण सस्कृत भापा के छोटे-छोटे एव सुन्दर भिन्न-भिन्न वाक्य अकित है, जो इस प्रकार है –

(१) विजितावनिरवनिपति' (पृथ्वीविजयी पृथ्वीपति) (२) महितल जयति (सम्पूर्ण पृथ्वी का विजेता) (३) क्षितिपतिरजितो विजयी महेन्द्रसिहो दिव जयति (पूरी पृथ्वी का स्वामी, अविजितो का विजेता महेन्द्रसिह स्वर्ग-विजय कर रहा है)। (४) साक्षादिव नरसिहो सिह–महेन्द्रो (साक्षात् नृसिह तुल्य है सिह–महेन्द्र) (५) युधि सिहविक्रम (युद्ध मे सिह के समान पराक्रमशाली),

---

[1] महाराजाविराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्या ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज कुमारगुप्तस्य। [भिलसद, जिला एटा का स्तम्भलेख – फ्लीट का लेख स १०]

[2] भिलसद का स्तम्भलेख [फ्लीट का लेख स १०]

[3] मथुरा के गुप्त सवत् ११३ एव गुप्त स १३५ के जैन अभिलेख। [कारपस इन्स्क्रपशन इडिकेरम् भाग ३, स ६३]

ही गुप्त साम्राज्य के सिहासन पर आसीन हुआ। इन दोनो सम्राटो के बीच मे रामगुप्त नाम का कोई गुप्त राजा नही हुआ।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) बडा पराक्रमी एवं प्रतापी राजा हुआ है। उसने मालवा, सौराष्ट्र और गुजरात के शक महाक्षत्रपो को परास्त एवं शक महाक्षत्रप सत्यसिह के पुत्र रुद्रसिह (तृतीय) को मौत के घाट उतार कर वीर नि० स० ९२७ तदनुसार ई० सन् ४०० के आसपास भारत से शको के शासन का सदा के लिये अन्त किया। शकों के राज्य का अन्त करने के कारण प्रजाजनो ने उसे शकारि विक्रमादित्य के विरुद से विभूषित किया। वह बडा न्यायप्रिय, सच्चरित्र और विद्वान् सम्राट् था। उसने सम्पूर्ण भारत को एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न शासनसूत्र में बाधा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के निम्नलिखित ७ अभिलेख अद्यावधि उपलब्ध हुए है :–

(१) मथुरा का गु० सं० ६१ (ई० सन् ३८०) का स्तम्भलेख। (२) उदयगिरि का गु० सं० ८२ का गुहा-लेख। (३) गढवा का गु० सं० ८८ का शिलालेख। (४) साची का गु० सं० ९३ का वेष्टनी पर खुदा लेख। (५) उदयगिरि का बिना तिथि का गुहा (गुहा स० ७) लेख। (६) मथुरा का बिना तिथि का खण्डित शिलालेख, जिसमें चन्द्रगुप्त तक गुप्तवंशी राजाओ की वशावली उट्टंकित है। (७) मेहरौली का बिना तिथि का लोह-स्तम्भलेख।

मेहरौली का लोहस्तम्भलेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इसमे चन्द्र नामक राजा द्वारा बगाल मे शत्रुओ की सामूहिक शक्ति को पराजित किए जाने, समुद्र के सात मुखो तुल्य सात नदियों वाले प्रदेश पजाब को पार कर बाह्लिको को जीतने एव विष्णु की भक्ति से प्रेरित हो विष्णुपद पर्वत पर विष्णु की ध्वजा के आरोपित किये जाने का उल्लेख है।[1]

---

[1] यस्योद्वर्तयत प्रतीपमुरसा शत्रुन् समेत्यागतान्,
वगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खगेन कीर्तिभुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता बाह्लिका,
यस्याद्याप्यधिवासते जलनिधि वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥१॥
खिन्नस्येव विसृज्य गा नरपतेर्गामाश्रितस्येतरा,
मूर्त्या कर्म्म जितावनी गतवत कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।
शान्तस्येव वने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा–
न्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जित च सुचिर चैकाध्यराज्य क्षितौ,
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशी वक्त्रश्रिय विभ्रता।
तेनाय प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णो मतिम्,
प्राशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वज स्थापितः ॥३॥

[चन्द्र का मेहरौली का लोहस्तम्भलेख]

कोकरण, कुन्तल, पश्चिमी मालवा, गुजरात, कोशल, मेकल, आन्ध्र और सम्पूर्ण विन्ध्य की तलहटी का स्वामी बताया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी दिग्विजय मे इन प्रदेशो पर अधिकार कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमार गुप्त के शासन के अन्तिम वर्षो मे वाकाटको, पुष्यमित्रो, पट्टमित्रो (पटु-मित्रो) एव मेकलवासियो ने स्वातन्त्र्यप्राप्ति के लिये गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया हो। उस सम्मिलित प्रयास को स्कन्दगुप्त द्वारा कुचल दिये जाने के अनन्तर भी वाकाटक लोग अपनी खोई हुई सत्ता को पुन प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील एवं अवसर की प्रतीक्षा मे रहे। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् वाकाटक नृपति पृथ्वीसेन (ई० सन् ४७० से ४८५) ने अपने वश की खोई हुई राज्य-लक्ष्मी को पुन प्राप्त कर "कोशलमेकलमालवाधिपत्यभ्यर्चितशासन" की उपाधि धारण की।[१]

कुमारगुप्त और पुष्यमित्रो के वीच हुए उस भीषण गृहयुद्ध के कारण भारत की शक्ति क्षीण हुई। यदि यह गृहयुद्ध न हुआ होता तो हूणो को भारत पर आक्रमण करने का साहस ही नही होता।

२५ आर्य लोहित्य-वाचनाचार्य

आर्य भूतदिन्न के पश्चात् आर्य लोहित्य वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली मे आपके श्रुतज्ञान सम्बन्धी परिचय के अतिरिक्त आपका अन्यत्र और कोई परिचय उपलब्ध नही होता।

नन्दी स्थविरावली मे आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने इन्हे सूत्रार्थ के सम्यक् धारक और पदार्थो के नित्यानित्य स्वरूप का प्रतिपादन करने मे अति कुशल वताया है।[२]

दिगम्बर परम्परा मे भी आर्य लोहित्य से नाम साम्य रखने वाले लोहाचार्य अथवा लोहार्य नामक अष्टागधारी आचार्य की प्रमुख आचार्यो मे गणना की जाती है।

२६ आर्य दूष्यगणी-वाचनाचार्य

आर्य लोहित्य के पश्चात् आर्य दूष्यगणी वाचनाचार्य हुए। युगप्रधान पट्टावली मे इनका परिचय नही मिलता। नदी सूत्र की स्थविरावली मे इन्हे लोहित्य के पश्चात् वाचनाचार्य माना गया है।

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने नदी स्थविरावली मे तीन गाथाओ द्वारा जिन शब्दो से इनकी स्तुति की है, उससे स्पष्टत. प्रतीत होता है कि दूष्यगणी उस समय के विशिष्ट वाचनाचार्य थे और सैकडो अन्य गच्छो के ज्ञानार्थी श्रमण

---

[१] पृथ्वीषेण (द्वितीय) का बालघाट – ताम्रपत्र

[२] सुमुणियनिच्चानिच्च, सुमुणियसुतत्थधारय वदे।
सब्भावुब्भावणया, तत्थ लोहिच्चणामाण ।।४६।। [नन्दी स्थविरावली]

(६) व्याघ्रबल-पराक्रम', (७) गुप्तकुल व्योमशशी और (८) गुप्तकुलामलचन्द्रो (गुप्तवश के निष्कलक चन्द्र)। इन सिक्कों से स्पष्टत. विदित होता है कि कुमारगुप्त बडा पराक्रमी प्रतापी और लोकप्रिय सम्राट् था। यद्यपि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के समान कुमारगुप्त के विजयाभियानो एव अश्वमेध का एक भी उल्लेख उपलब्ध नही होता तथापि उपरोक्त सिक्कों तथा इसके अश्वमेधिक सिक्के से ऐसा प्रतीत होता हे कि इसने दिग्विजय करने के पश्चात् अश्वमेध किया। अश्वमेध के परिचायक सिक्के पर अश्व का चित्र, अश्व के पैरो के बीच मे 'अश्वमेध', यूप, महारानी के चित्र आदि के साथ-साथ 'जयतादेव कुमार, जयति दिवं कुमारगुप्तोऽयम्' तथा 'अश्वमेधमहेन्द्र.' अकित है।

कुमारगुप्त के वीर नि० सं० ६४१ से ६८२ तक के ४१ वर्ष के शासनकाल मे अन्तिम ५ वर्षो को छोडकर कोई विशेष राजनैतिक घटना के घटित होने का उल्लेख प्राप्त नही होता। वीर निर्वाण स० ६७७ के आस-पास नर्मदा नदी के तटवर्ती दक्षिणी प्रदेश की पुष्यमित्र[1] नामक जाति ने कुमारगुप्त के साम्राज्य को उलट देने के दृढ सकल्प के साथ बडी शक्तिशाली विशाल सेना लेकर कुमार गुप्त पर आक्रमण किया। दोनों ओर से भीषण युद्ध हुआ। संभवत इस सघर्ष की उत्पत्ति गुप्तो की दासता के जूडे को उतार फैंकने अथवा महात्वाकाक्षा के लक्ष्य को लेकर हुई थी। इस सशस्त्र विद्रोह का प्रारम्भ पुष्यमित्रों ने पटुमित्रों, दुर्मित्रों और नर्मदा घाटी के मेकल प्रदेशवासियों की सहायता से किया। इन सब जातियो का सम्मिलित कोषबल एव सैन्यबल इतना प्रबल था कि पुष्यमित्रों को युद्ध मे निरन्तर सफलताए मिलती गई। कुमारगुप्त की सेना के पैर उखड़ गये। पुष्यमित्रो को दृढ विश्वास हो गया कि विजयश्री उनका वरण करने ही वाली है। किन्तु जय-पराजय के उन निर्णायक क्षणों मे कुमारगुप्त (प्रथम) के बड़े पुत्र राजकुमार स्कन्दगुप्त ने अपूर्व धैर्य और शौर्य के साथ स्थिति को सम्हाला। उसने नई कुमुक के साथ शत्रु सैन्य पर भीषण प्रत्याक्रमण कर पुष्यमित्रो को पराजित किया। इस प्रकार कुमारगुप्त के साम्राज्य की उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने सकट के विकट क्षणो मे रक्षा की।[2]

तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाचक्र के पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त के साथ हुए पुष्यमित्रों के युद्ध में वाकाटको द्वारा पुष्यमित्रो की सहायता की गई होगी। इस अनुमान को वाकाटक नृपति पृथ्वीषेण (द्वितीय) के बालाघाट ताम्रपत्र से बल मिलता है। बालाघाट के ताम्रपत्र मे पृथ्वीषेण (द्वितीय) ने अपने पिता नरेन्द्रसेन (ई० सन् ४३५ से ४७०) को महाराष्ट्र,

---

[1] पुष्यमित्रा भविष्यन्ति, पट्टमित्रास्त्रयोदश ॥३७३॥
मेकलाया नृपा. सप्त, भविष्यन्ति च सत्तमा ।....३७४॥ [वायुपुराण, अ ९९]

[2] विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन, क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्राश्च जित्वा, क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपाद ॥४॥
[स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भलेख]

गम्भीरता आदि गुणो के धारक, एक पूर्व के ज्ञाता एव आचारनिष्ठ समर्थ वाचनाचार्य थे। जैसा कि कल्प स्थविरावली के अन्त की निम्नलिखित गाथा मे कहा गया है –

सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दव गुणेहि सपन्ने।
देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥१४॥

देवर्द्धि के सम्बन्ध मे एक आख्यान प्रचलित है। उसके अनुसार आपका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

सौराष्ट्र प्रान्त के वैरावल पाटण मे आपका जन्म हुआ। उस समय वहाँ के शासक महाराज अरिदमन थे। उनके सामान्य अधिकारी काश्यप गोत्रीय कामर्द्धि क्षत्रिय की पत्नी कलावती की कुक्षि से देवर्द्धि का जन्म हुआ। आप पूर्वजन्म मे हरिणैगमेषी देव थे। माता की कुक्षि मे जब आप गर्भ रूप से उत्पन्न हुए तब गर्भ के प्रभाव से कलावती ने स्वप्न मे ऋद्धिशाली देव को देखा अत नामकरण के समय पुत्र का नाम देवर्द्धि रखा गया। माता-पिता ने बालक देवर्द्धि को समय पर योग्य शिक्षक के पास पढाया और युवा होने पर दो कन्याओ के साथ उसका विवाह कर दिया।

युवक देवर्द्धि बचपन की कुसगति के कारण आखेट-क्रीडा का रसिक बन गया और समय-समय पर मित्रो के साथ जगल मे शिकार करने जाया करता था। नवोत्पन्न हरिणैगमेषी देव देवर्द्धि को सन्मार्ग पर लाने हेतु विभिन्न उपायो से समझाने का प्रयास करने लगा। एक दिन जब देवर्द्धि मृगयार्थ वन मे गया तो उस देव ने उसके सम्मुख भयकर सिह, पीछे की ओर गहरी खाई और दोनो ओर दो बडे-बडे दतशूल वाले बलिष्ठ शूकर खड़े कर दिये। देवर्द्धि भयभीत हो कर प्राण बचाने के लिये इधर-उधर बच निकलने का प्रयास करने लगे तो उन्होने देखा कि उनके पैरो के नीचे की पृथ्वी कम्पायमान और ऊपर से बडे वेग के साथ मूसलाधार वर्षा हो रही है। उस समय सहसा देवर्द्धि के कानों मे ये शब्द पडे – "अब भी समझ जा, अन्यथा तेरी मृत्यु तेरे सम्मुख खडी है।"

भयविह्वल देवर्द्धि ने गिडगिडा कर कहा – "जैसे भी हो सके मुझे बचाओ, तुम जैसा कहोगे वही मै करने के लिये तैयार हूँ।"

देव ने तत्काल उसे उठा कर आचार्य लोहित्य सूरि के पास पहुचा दिया और देवर्द्धि भी आचार्य लोहित्य[1] का उपदेश सुन कर उनके पास श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गये। गुरू की सेवा मे निरन्तर ज्ञानाराधन करते हुए आपने एकादशागी और एक पूर्व का ज्ञान-प्राप्त कर कालान्तर मे आचार्य पद प्राप्त किया।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण पहले गणाचार्य पद पर अधिष्ठित किये गये और तदनन्तर दूष्यगणी के स्वर्गगमन के पश्चात् आपको वाचनाचार्य पद प्रदान किया गया।

---

[1] इस कथानक के आधार पर ही सभवत देवर्द्धि क्षमाश्रमण को आर्य लोहित्य का शिष्य समझने की मान्यता प्रचलित हुई प्रतीत होती है। [सम्पादक]

उनकी सेवा मे श्रुतज्ञान का अध्ययन करने आया करते थे। श्रुतज्ञान के व्याख्यान मे दूष्यगणी इतने समर्थ वाचक थे कि उन्हे व्याख्यान करने में कभी शारीरिक एव मानसिक थकान का अनुभव नहीं होता था। देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने दूष्यगणी को श्रुतार्थ की खान, प्रकृति से ही मधुरभाषी, तप, नियम, सत्य-संयम आदि गुणो के विशिष्ट साधक एवं अनुयोग में युगप्रधान बताते हुए प्रणाम किया है।[1]

"प्रशस्त लक्षणो से सयुक्त सुकोमल तलवो वाले आर्य दूष्यगणी के चरण युगल में मै प्रणाम करता हूँ"[2] इन शब्दों में स्थविरावलीकार देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने जो उन्हे प्रणाम किया है, इससे स्पष्टरूपेण यह प्रमाणित होता है कि वे (देवर्द्धि) आचार्य दूष्यगणी के शिष्य थे और उसी कारण वे उनके लक्षणयुक्त सुकोमल तलवो वाले चरणो से भलीभांति परिचित थे।

कल्पसूत्र की स्थविरावली मे संडिल्ल के गुरुभाई की परम्परा में आर्य देसी-गणी क्षमाश्रमण का नाम उपलब्ध होता है। सभव है दूष्यगणी और देसीगणी ये दोनो नाम एक ही आचार्य के हों।

आपका विशेष परिचय और काल का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नही होता। फिर भी इतना निश्चित है कि वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी का मध्यभाग इनका सत्ताकाल रहा है।

२७. देवर्द्धिक्षमाश्रमण – वाचनाचार्य एवं गणाचार्य

भगवान् महावीर के धर्म-शासन में हुए महान् आचार्यो मे वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। आज से लगभग १५२० वर्ष पूर्व दूरदर्शी आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगरी मे श्रमण संघ का सम्मेलन आयोजित किया। उसमें उन्होने न केवल आगमवाचना द्वारा द्वादशांगी के विस्मृत पाठों को सुव्यवस्थित-सुसंकलित ऐवं सुगठित ही किया अपितु भविष्य मे सदा-सर्वदा बिना किसी प्रकार की परिहानि के आगम यथावत् वने रहे, इस अभिप्राय से एकादशागी सहित सभी सूत्रों को पुस्तकों के रूप में लिपिवद्ध करवा कर अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया। आपके द्वारा किये गये इस अनिर्वचनीय अपूर्व उपकार के प्रति पचम आरक की समाप्ति पर्यन्त अजस्र रूप से चलने वाला प्रभु महावीर का चतुर्विध सघ पूर्णतः ऋणी रहेगा।

देवर्द्धि जन्मतः काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे। आपको देवर्द्धि क्षमाश्रमण और देववाचक, इन दो नामो से सम्बोधित किया जाता है। आप क्षान्ति, धीरता-

---

[1] अत्थमहत्थखाणि, सुसमणवक्खाणकहणनिव्वाणि ।
पयईए महुरवाणि, पयओ पणमामि दूसगणि ।।४७।।
तवनियमसच्चसजम, विणयज्जवखतिमद्दवरयाण ।
सीलगुणगद्दियाण, अणुओगजुगप्पहाणाण ।।४८।।　　[नदी स्थविरावली]

[2] सुकुमालकोमलतले, तेसि पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छयसयएहिं पणिवइए ।।४९।।　　[वही]

नागार्जुनीया वाचना के जो महत्वपूर्ण पाठ थे, उन्हे भी यथावत् वाचनान्तर के रूप से सुरक्षित कर सब को पुस्तकारुढ करवाया ।

यहा यह विचार हो सकता है कि क्या देवर्द्धि क्षमाश्रमण से पूर्व शास्त्र लिपिबद्ध नही हुए थे । यद्यपि पुष्ट प्रमाण के अभाव में स्पष्ट रूप से इस विषय मे निर्णय करना सभव नही है फिर भी जैन साहित्य मे यत्र-तत्र कतिपय पूर्ववर्ती विद्वानो द्वारा किये गये उल्लेखो को देखते हुए यह सभव लगता है कि आर्य रक्षित के समय मे शास्त्रीय भागो का कुछ अभिलेखन प्रारम्भ हो गया हो । क्योकि अनुयोगद्वार सूत्र मे द्रव्यश्रुत का नामोल्लेख करते हुए पुस्तक पर लिखित सूत्र का उल्लेख किया गया है । जैसा कि कहा है –

"पत्तयपुत्थयलिहिय"[1]

निशीथ चूर्णि मे शिष्य के उपकारार्थ पुस्तक-पंचक के ग्रहण का भी उल्लेख किया गया है । यथा .– 'सेहउग्गहधारणादि परिहाणि जाणिऊण कालिय-सुयट्ठा, कालियसुयनिज्जुत्तिनिमित्त वा पुत्थगपणग घिप्पति ।[2]

इतिहासज्ञ मुनि कल्याण विजयजी देवर्द्धिगणी के पहले आगम-लेखन के पक्ष मे निम्न विचार प्रस्तुत करते है –

"देवर्द्धिगणी के पहले यदि आगम लिखे हुए नही होते तो अनुयोगद्वार सूत्र मे द्रव्यश्रुत के वर्णन मे 'पुस्तकलिखितश्रुत' का उल्लेख नही होता। इससे यह बात तो निश्चित है कि देवर्द्धिगणी के समय से बहुत पहले जैन शास्त्र लिखने की प्रवृत्ति हो चली थी । छेद सूत्रो मे साधुओ को कालिक श्रुत और कालिक श्रुत-निर्युक्ति के लिये ५ प्रकार की पुस्तके रखने का अधिकार दिया गया है ।"[3]

फिर मथुरा और वल्लभी की वाचनाओ में भी आगमो का सकलन कर उन्हे लेखबद्ध किया गया इस प्रकार का उल्लेख मिलता है । जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र मे कहा है –

"जिनवचन च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भि नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभि पुस्तकेषु न्यस्तम् ।"[4] इसके समर्थन मे हिमवन्त स्थविरावली मे उल्लेख मिलता है कि मथुरा निवासी ओसवशीय श्रमणोपासक पोलाक ने गन्धहस्तिकृत विवरण के साथ सब शास्त्रो को तालपत्र आदि पर लिखा कर साधुओ को अर्पित किया ।[5]

---

[1] अनुयोगद्वार, द्रव्यश्रुताधिकार सूत्र, ३४
[2] निशीथ चूर्णि, उ १२
[3] वीर निर्वाण और जैन काल गणना, पृ १०६
[4] योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७
[5] मथुरानिवासिना श्रमणोपासकवरेणौशवशविभूषणेन पोलाकाभिधेन तत्सकलमपि प्रवचन गधहस्तिकृतविवरणोपेत तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्य स्वाध्यायार्थं समर्पितम् ।
[हिमवन्त स्थविरावली, अप्रकाशित]

कुछ लेखक आपको दूष्यगणी का शिष्य मान कर उनका उत्तराधिकारी वाचनाचार्य बताते है और कतिपय लेखक लोहित्य का शिष्य एव उत्तराधिकारी। वास्तव मे देवर्द्धिगणी किस परम्परा के और किसके शिष्य थे, इस विषय मे आगे विचार किया जायगा।

परम्परा से यह कहा जाता है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने श्रमणसघ की अनुमति से वीर नि. सं ९८० में बल्लभी में एक वृहत् मुनिसम्मेलन किया और उसमे आगमवाचना के माध्यम से, जिनको जैसा स्मरण था, उसे सुन कर उपलब्ध शास्त्रो के पाठो को व्यवस्थित कर आगमों को पुस्तकारूढ किया। जैसा कि कहा गया है –

बलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहसमणसघेण।
पुत्थइ आगम लिहिओ, नवसय असियाओ वीराओ॥

श्रद्धालुओं द्वारा परम्परा से यह मान्यता अभिव्यक्त की जा रही है कि आपके तप-सयम की विशिष्ट साधना एव आराधना से कपर्दि यक्ष, चक्रेश्वरी देवी तथा गोमुख यक्ष सदा आपकी सेवा मे उपस्थित रहते थे।

आगमवाचना अथवा लेखन

मथुरा मे आर्य स्कन्दिल द्वारा और वल्लभी मे नागार्जुन द्वारा की गई आगमवाचना के पश्चात् १५० वर्ष से भी अधिक समय बीतने पर आचार्य देवर्द्धिगणी ने वल्लभी मे श्रमण संघ को एकत्र कर श्रुतरक्षा की विचारणा की। कहा जाता है कि समय की विषमता, मानसिक दुर्बलता और मेधा की मन्दता आदि कारणों से जब सूत्रार्थ का ग्रहण, धारण एव परावर्तन कम हो गया, स्वय देवर्द्धि भी कफ व्याधि की शान्ति के लिये औषधरूप से लाई गई सोठ का सेवन करना भूल गये। प्रतिलेखन के समय सोठ को नीचे गिरी हुई देख कर उन्हे स्मृति हुई तो आचार्य ने एक मुनि-परिषद की आयोजना कर सघ के समक्ष विचार रखा कि भावी मन्द मेघावी श्रमणो मे इस प्रकार श्रुतिपरम्परा से शास्त्रज्ञान किस तरह अक्षुण्ण रह पायेगा? अत. कोई उपाय सोचना चाहिए जिससे कि श्रुतज्ञान का यथावत् रक्षण हो सके। विचार-विमर्श के पश्चात् सब ने निर्णय किया कि विद्यमान शास्त्रों एवं ग्रन्थो को लिपिबद्ध कर लिया जाय। उस मुनि–परिषद का देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने नेतृत्व किया। परिषद मे आगमवाचना की गई अथवा शास्त्र लिपिबद्ध किये गये, इस विषय मे इतिहास लेखक एकमत नही है। परम्परानुसार कई विद्वान् इसे आगमवाचना मानते है तो कतिपय नवीन शोधक इसे मात्र आगम-लेखन ही। वास्तव मे इसे वाचनापूर्वक आगम-लेखन कहा जाय तो अनुचित नही होगा। यह तो सुनिश्चित है कि वीर नि. स. ९८० मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने आगमो को लिपिबद्ध करने का निर्णय किया। उन्होने प्रथमतः उपस्थित श्रमणों से आगमो के पाठो को सुन एव ध्यान में लेकर उन्हे व्यवस्थित किया और जहा कुछ वाचनाजन्य भेद सामने आया, वहा

प्रश्न पर दुराग्रह अथवा सघर्ष की सभावना ही किस प्रकार हो सकती है ? सभव है 'वालभ्य सघ के लिये कार्य किया'–इसका अभिप्राय वल्लभी मे मिले हुए दोनो परम्पराओ के श्रमणसघ का आगम लेखन कार्य ही इष्ट हो और शान्ति सूरि ने आगम लेखन और पाठ निर्धारण के कार्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया हो।

देवद्धि और देववाचक

देवर्द्धि क्षमाश्रमण की गुरु परम्परा का निर्णय करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही देववाचक है अथवा दोनो भिन्न-भिन्न। यद्यपि यह सर्वविदित है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण वल्लभी मे हुई अतिम आगम-वाचना के सूत्रधार और नन्दीसूत्र के रचनाकार थे, पर नन्दीसूत्र की टीका मे आचार्य हरिभद्र एव मलयगिरी ने तथा नन्दीसूत्र की चूर्णि मे चूर्णिकार जिनदास ने नन्दीसूत्र के रचयिता के रूप मे दूष्यगणी के शिष्य देववाचक का उल्लेख किया है।[1] इससे देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के भिन्न-भिन्न होने की भ्राति हो सकती है। किन्तु विभिन्न ग्रन्थकारो एव इतिहासकारो के विचारो का अध्ययन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण दो नही अपितु दो नाम के एक ही आचार्य थे।

पूर्वाचार्यो ने वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर और वाचक इन शब्दो को एकार्थ-वाचक बताया है। पूर्वगत श्रुत के जानकार के लिये इन शब्दो का प्रयोग किया जाता है।[2]

इस दृष्टि से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण और देववाचक दोनो शब्द दो भिन्न व्यक्तिवाचक नही होते। यह तो एक निस्सदिग्ध तथ्य है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण अपने समय के एक लब्धप्रतिष्ठ महान् गणनायक होने के साथ-साथ एक समर्थ वाचनाचार्य भी थे। सभव है उनके वाचनाचार्य पद की अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके नाम के प्रथम दो अक्षरो – "देव" के साथ वाचक शब्द जोड कर "देवर्द्धिगणी वाचक" के स्थान पर इनका सक्षिप्त नाम देववाचक रख दिया गया हो। देव-वाचक नाम के साथ ही साथ गणधर के रूप मे उनकी अधिक प्रसिद्धि होने के

---

[1] (क) क एवमाह – दूष्यगणि शिष्यो देववाचक इति गाथार्थः।
[नन्दी, हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० २०]

(ख) देववाचकोऽधिकृताध्ययनविषयभूतस्य ज्ञानस्य प्ररूपणा कुर्वन्निदमाह–
[वही, पृ० २३]

(ग) तत आचार्योऽपि देववाचकनामा ज्ञानपचक व्याचिख्यासु ... तीर्थकृत्स्तुतिमभिधा-तुमाह–
[श्री मलयगिरीया नन्दीवृत्ति पत्र २]

(घ) दूष्यगणिपादोपसेवि पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षा कृत्वा सम्प्रत्यधिकृताध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणा विदधाति– [वही, पत्र ६५ (१)]

(ङ) दूसगणिसीसो देववायगो साधुजणहियट्ठाए इणमाह– [नन्दी चूर्णि, पृ० १०]

[2] वाई य खमासमणे, दिवायरे वायगत्ति एगट्ठा।
पुव्वगयम्मि सुत्ते, एए सद्दा पउजति ॥ [पुरातन आचार्य]

उपरोक्त उल्लेखो के आधार पर यह अनुमान होता है कि देवर्द्धिगणी के सूत्र-लेखन से पहले भी जैन शास्त्र लिखे जाते थे। लेखनारभ के निश्चित समय के सम्बन्ध मे तो कुछ नही कहा जा सकता पर इतना कह सकते है कि आर्य रक्षित के समय से ही पूर्वो के अतिरिक्त शास्त्रीय भाग का अल्प प्रमाण मे लेखन प्रारम्भ हो गया हो तो कोई आश्चर्य नही। परन्तु उन्होने सम्पूर्ण आगमो का लेखन करवाया हो, ऐसा प्रतीत नही होता। आगम लेखन के लिये तो देवर्द्धि क्षमाश्रमण का काल ही सर्वसम्मत माना जाता है। सभव है पूर्ववर्ती आचार्यो के समय मे शास्त्र के कुछ विशिष्ट स्थलो का आलेखन किया गया हो। यदि देवर्द्धि की तरह पहले ही सम्पूर्ण शास्त्रो का किसी ने लेखन करवा लिया होता तो श्रुतरक्षण हेतु उन्हे इस प्रकार चिंतित होने की आवश्यकता ही नही पडती। स्कदिल के समय मे श्रमणोपासक पोलाक द्वारा सम्पूर्ण प्रवचन के लेखन का कथन भी किसी शास्त्र विशेष अथवा स्थल विशेष को लेकर ही सगत हो सकता है। देवर्द्धि ने अपने आगम-लेखन कार्य मे उन लिखित भागो को अपने अभ्यस्त पाठो और नागार्जुन-परम्परा के पाठो के साथ मिलाकर उन्हे व्यवस्थित किया होगा। देवर्द्धिगणी को इस कार्य मे आर्य कालक का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ और इस प्रकार दोनो वाचनाओ को एक सयुक्त रूप देने में आचार्य देवर्द्धि ने सफलता प्राप्त की।

इस प्रकार आगमलेखन को प्रमुख मानते हुए भी दोनो वाचनाओ के पाठो को ध्यान मे रखा गया है। अतः इसे 'वाचना के साथ आगमलेखन' कहना ही उचित होगा।

दुष्षमाश्रमणसघस्तोत्र यत्र की प्रति मे एक गाथा उपलब्ध होती है –

वालब्भसंघकज्जे, उज्जमिय जुगपहाणतुल्लेहि।
गंधव्ववाइवेयाल, सतिसूरीहि वलहीए ॥२॥

गाथा मे बताया गया है कि युगप्रधान तुल्य गन्धर्व-वादि वैताल शान्तिसूरि ने वालभ्य सघ के कार्य हेतु वल्लभी नगरी में उद्योग किया।

गाथा मे आये हुए "वालब्भसंघकज्जे उज्जमिय" इस पद पर से कुछ विद्वान् यह आशका अभिव्यक्त करते है कि दोनो वाचनाओं को संयुक्त कर एक रूप देने में दोनों वर्गो के बीच सघर्ष हुआ और उस समय वालभ्य सघ अर्थात् नागार्जुनीय परम्परा के श्रमणसघ मे प्रचलित वाचना को मनवाने के लिये शान्तिसूरि ने अपनी पूरी शक्ति लगाई। पर हमारे विचार से इस प्रकार की आशंका करना उचित प्रतीत नही होता। कारण कि आर्य स्कदिल और आर्य नागार्जन की वाचनाए जो दोनों के स्वर्गस्थ होने के कारण एक नही की जा सकी, उनको एक रूप देने के लिये दोनों परम्पराओ के श्रमणो ने सद्भावपूर्वक आचार्य देवर्द्धि के नेतृत्व मे मुनि-परिषद की। ऐसी स्थिति में विवाद की आशका करना वस्तुत. उनकी सद्भावना को भुलाना होगा। वाचना को एक रूप देने की भावना ही उनके अनाग्रह भाव को प्रकट करती है। फिर जिस परिषद् के नेता आर्य देवर्द्धि एवं आर्य कालक जैसे प्रमुख श्रमण हो, वहा शास्त्रीय पाठो को लेने न लेने जैसे महत्वपूर्ण

आर्य षाडिल्य के शिष्य बता रहे है और दूसरे नन्दीसूत्र की स्थविरावली, जिनदास रचित चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति, मलयगिरीया टीका और मेरूतुगीया विचार-श्रेणी के आधार पर देवर्द्धि को दूष्यगणी का शिष्य बताते है। तीसरा पक्ष देवर्द्धि को आर्य लौहित्य के शिष्य होने का भी उल्लेख करता है।

इन विभिन्न विचारो मे से यह निर्णय करना है कि वास्तव मे देवर्द्धि किस परम्परा के और किनके शिष्य थे। इतिहास के विशेषज्ञ मुनि श्री कल्याणविजयजी आदि लेखको ने इनको सुहस्ती-परम्परा के आर्य षाडिल्य का शिष्य मान्य किया है। उनका कहना है कि नन्दीसूत्र की स्थविरावली देवर्द्धि की गुर्वावली नही अपितु युग प्रधानावली है, देवर्द्धि की गुर्वावली तो कल्पसूत्रीया स्थविरावली है। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि मे उन्होने कहा है कि कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली मे षाडिल्य के पश्चात् कुछ गाथाए देकर देवर्द्धि को वदन किया गया है।

कल्प स्थविरावली के गद्य पाठ के अन्तिम सूत्र मे आर्य धर्म के अन्तेवासी काश्यपगोत्रीय आर्य षाडिल्य बताये गये है। इसके पश्चात् १४ गाथाओ से कतिपय आचार्यो को वदन किया गया है। उनमे फल्गुमित्र से काश्यपगोत्रीय धर्म तक तो पाठगत स्थविरो की ही वन्दना की गई है। तदनन्तर (१) स्थविर आर्य जम्बू, (२) आर्य नन्दियमपिय, (३) माढरगोत्रीय आर्य देसिगणी, (४) स्थिर-गुप्त क्षमाश्रमण, (५) स्थविर कुमार धर्म, और (६) देवर्द्धिक्षमाश्रमण काश्यपगोत्रीय को प्रणाम किया गया है। बस यही कल्पसूत्रीय स्थविरावली को देवर्द्धि की गुर्वावली मानने का आधार माना है। स्थविरावली के अन्य आचार्यो की तरह जम्बू आदि स्थविरो के लिये यह नही बताया गया है कि ये किनके अन्तेवासी थे। गाथाओ की शैली और उनमे फल्गुमित्र आदि कुछ आचार्यो के नामो का पुनरावर्तन कर वन्दन करने से प्रतीत होता है कि पीछे के किसी लेखक ने भक्तिवश जम्बू आदि आठ आचार्यो को वन्दन कर अन्तिम गाथा मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण का नाम भी जोड़ दिया है। स्थविरावली के मूलपाठ मे तो इनका कही उल्लेख तक नही है। ऐसी स्थिति मे केवल देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र का सकलन किया और उसकी स्थविरावली मे आर्य धर्म के अन्तेवासी आर्य षाडिल्य का अन्तिम नाम है, यही एक षाडिल्य को देवर्द्धि के गुरु मानने का आधार हो सकता है। अन्यथा कल्पसूत्रीया स्थविरावली मे ऐसा कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता, जिस पर से कि देवर्द्धि के गुरु का स्पष्टत· निर्णय किया जा सके।

गाथाओ मे निर्दिष्ट आचार्यक्रम के आधार से यदि देवर्द्धि की गुरु परम्परा मान्य की जाय तो स्थविर कुमार धर्म को देवर्द्धि का गुरू मानना होगा। क्योकि कुमार धर्म की वन्दना के पश्चात् देवर्द्धि क्षमाश्रमण को प्रणिपात किया गया है। वस्तुत. कल्प स्थविरावली की अन्त की गाथाओ मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण के आसपास कही षाडिल्य का नामोल्लेख भी नही है। हम नही समझ पाते कि ऐसी स्थिति मे देवर्द्धि को आर्य षाण्डिल्य का शिष्य किस आधार पर बताया जाता है। स्थविरावली को गहराई से देखने पर भी आर्य षाण्डिल्य को देवर्द्धि का गुरु मानने

कारण, उनका दूसरा नाम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण अथवा देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही व्यवहार मे बोला जाता रहा हो तो कोई आश्चर्य नही।

वाचकवश की परम्परा मे आचार्य दूष्यगणी के पश्चात् जो २५वे आचार्य देववाचक माने गये हैं, वे कोई अन्य नही, देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही हो सकते है। जैसा कि जयसिह सूरिकृत धर्मोपदेश माला मे गणधर और वाचनाचार्यो मे देवर्द्धिगणी को ही आर्य जम्बू से २४वे आचार्य होना बताया है।

यह कोई निरी कल्पना नही अपितु इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का ही दूसरा नाम देववाचक था। कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति मे देवेन्द्रसूरि ने अवधिज्ञान के भेद के विवेचन मे नन्दीसूत्रगत पद का उल्लेख करते हुए कहा है :- "यदाह देवर्द्धि क्षमाश्रमण: - "से कि त अणाणुगामियमित्यादि।"[1]-अर्थात्-नन्दीसूत्र मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने कहा है- "वह अनानुगामी क्या है ? इत्यादि। यदि देववाचक और देवर्द्धि दो भिन्न आचार्य होते तो देवेन्द्रसूरि वस्तुत. देववाचक के स्थान पर देवर्द्धि क्षमाश्रमण को नन्दीसूत्र का रचनाकार नही वताते।

फिर दूसरा प्रमाण यह है कि देववाचक यदि देवर्द्धि क्षमाश्रमण से भिन्न कोई दूसरे ही आचार्य होते तो स्कन्दिलाचार्य की वाचना का प्रतिनिधित्व भी देववाचक को ही मिलना चाहिये था न कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण को। परन्तु स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि वल्लभी वाचना मे नागार्जुनीया वाचना के प्रतिनिधि आचार्य नागार्जुन की परम्परा के उत्तराधिकारी आचार्य कालक (चतुर्थ) और स्कन्दिली (माथुरी) वाचना के प्रतिनिधि आर्य स्कन्दिल की परम्परा के उत्तराधिकारी आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण माने गये है। इससे यही प्रमाणित होता है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही देववाचक है, भिन्न नही।

मेरुतुग की स्थविरावली मे भी यह उल्लेख है कि देवर्द्धिगणी ने सिद्धान्तो को विनाश से बचाने के लिये पुस्तकारूढ किया।[2] इन्होने अपनी स्थविरावली मे भी पट्टक्रम का निर्देश करते हुए श्री भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणी और देवर्द्धिगणी- इस प्रकार दूष्यगणी के पश्चात् स्पष्टरूपेण देवर्द्धिगणी का उल्लेख किया है।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण की गुरु-परम्परा

देवर्द्धि क्षमाश्रमण की गुरु-परम्परा के विषय मे इतिहासज्ञ एकमत नही है। कुछ विद्वान् कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार देवर्द्धि को सुहस्ती शाखा के

---

[1] (क) यदाह भगवान् देवर्द्धि क्षमाश्रमण - नाण पचविह पन्नत्तमित्यादि।
यदाह देवर्द्धिवाचक - से कि त मइनाणेत्यादि।
(ख) यदाहुर्निर्दलिताज्ञानसभारप्रसरा देवर्द्धिवाचकवरा -
त समासओ चउविह पन्नत्तमित्यादि। [आ० देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थ-स्वोपज्ञवृत्ति]

[2] श्री वीरादनु सप्तविशतम पुरुषो देवर्द्धिगणि सिद्धान्तान् अव्यवच्छेदाय पुस्तकाधिरूढानकार्षीत्।
[मेरुतुगीया थेरावली, टीका, ५]

जन्य गुरुभक्ति के अतिरिक्त अन्य नही हो सकता । देवर्द्धि द्वारा नंदी स्थविरावली की ४०वी एव ४१वी गाथाओ मे आचार्य दूष्यगणी के प्रशस्त लक्षण युक्त कोमल-सुकुमार चरणो का जिस रूप मे वर्णन करते हुए वदन किया गया है, उस प्रकार का वर्णन किसी साक्षात् द्रष्टा श्रद्धालु द्वारा ही किया जा सकता है। यदि देवर्द्धि सुहस्ती की परम्परा के वाचक होते तो वे अवश्य ही कल्पस्थ स्थविरावली मे भी ऐसी स्तुति-परक गाथा द्वारा षाडिल्य के गुणो के उल्लेखपूर्वक उनका अभिवादन करते । पर वहा ऐसा दृष्टिगोचर नही होता । कल्प स्थविरावली के अन्त मे जो देवर्द्धि के लिये स्तुतिपरक गाथा दी गई है, वह भी अन्यकर्त्तृक होने के कारण गुरुपरम्परा का निर्णय करने मे प्रामाणिक नही मानी जा सकती ।

इन सब तथ्यो पर तटस्थ गवेषक की दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर देवर्द्धि को दूष्यगणी का शिष्य मानना ही उचित प्रतीत होता है। दूष्यगणी के साथ देवड्ढिगणी का गणीपदान्त नाम भी दोनो के बीच गुरु-शिष्य जैसा निकट सम्बन्ध सूचित करता है ।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण को परम्परा से उग्रविहारी एव दृढाचारी माना जाता है । जैसा कि एक प्राचीन गाथा द्वारा प्रकट होता है–

देवड्ढिखमासमणजा, पर पर भावो वियाणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परपरा बहुहा ।[1]

अर्थात् – देवर्द्धि क्षमाश्रमण पर्यंत आचार मार्ग की भाव-परम्परा चलती रही । उनके पश्चात् शिथिलाचार के कारण द्रव्य-परम्परा का बाहुल्य हो गया ।

उपरोक्त गाथा के निर्देशानुसार देवर्द्धि क्षमाश्रमण का भावपरम्परानुगामी रुख भी उनका महागिरीया परम्परा के आचार्य होना प्रमाणित करता है ।

कुछ वर्ष पहले नन्दी सूत्र की प्रस्तावना मे हमने देवर्द्धि के लिये सुहस्ती की परम्परा के आचार्य होने का उल्लेख किया था किन्तु वर्तमान के अनुसन्धान से आज इसी निर्णय पर पहुँचते है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण दोनो परम्पराओ मे मान्य होने पर भी वाचक दूष्यगणी के ही शिष्य होने चाहिए । सभव है कि आर्य देवर्द्धि विशिष्ट श्रुतधर एव सर्वप्रिय उदारमना आचार्य होने के कारण दोनो ही परम्पराओ मे समान रूप से सम्मान-प्राप्त माने गये हो । इसके उपरान्त भी नन्दी स्थविरावली को एकान्तत महागिरी की ही परम्परा नही कहा जा सकता, इसमे सुहस्ती की शाखा के नागार्जुन जैसे आचार्यो के नाम भी सम्मिलित है । इतना सब कुछ होते हुए भी इसमे महागिरि की परम्परा के आचार्यो की प्रधानता एव बाहुल्य होने के कारण नन्दी स्थविरावली को लब्धप्रतिष्ठ आचार्यो द्वारा टीका चूर्णि आदि मे महागिर्यावलिका ही माना गया है । दूष्यगणी महागिरी की शाखा के आचार्य है, अत देवर्द्धि क्षमाश्रमण को भी आचार्य महागिरी की शाखा के ही आचार्य मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है । जैसा कि टीकाकार मलयगिरि ने कहा है –

[1] आगम अष्टोत्तरी

का कोई कारण समझ में नही आता। आर्य षाण्डिल्य यदि देवर्द्धि के गुरु होते तो अवश्य उनके प्रति कुछ विशिष्ट शब्दो द्वारा वन्दन पूर्वक गुरु भाव व्यक्त किया जाता।

मुनिश्री की कल्पना के अनुसार यदि देवर्द्धिगणी आर्य सुहस्ती की शाखा के आचार्य होते तो नदीसूत्रस्थ स्थविरावली के समान ही कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली मे भी प्रत्येक आचार्य का विशेष स्तुतिपूर्वक परिचय दिया जाता। पर वस्तुत कल्पसूत्रीया स्थविरावली मे वैसा न कर, अमुक स्थविर का अन्तेवासी अमुक, केवल इतना ही परिचय दिया गया है। नन्दीसूत्रीया स्थविरावली मे प्रत्येक आचार्य को वदन और षाडिल्य के पश्चात् अधिकाश आचार्यो का स्तुतिपूर्वक स्मरण किया गया है। इसके विपरीत कल्प की स्थविरावली मे आदि से अत तक इतना ही बताया गया है कि कौन किसका शिष्य था। अन्तिम सूत्र मे – "थेरस्स ण अज्ज धम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्ज सडिल्ले थेरे अतेवासी" – दिया है। इस वाक्य से केवल इतना ही अभिव्यक्त होता है कि स्थविर आर्य धर्म के अतेवासी आर्य षाण्डिल्य थे। इसके आगे १४ गाथाओ द्वारा १७वे स्थविर फल्गुमित्र से ३२वे आर्य धर्म तक का स्मरण किया गया है। अत मे जम्बू आदि ६ आचार्यो का स्मरण कर किसी अन्यकर्त्तृक गाथा से देवर्द्धि का स्मरणपूर्वक वदन किया गया है। कल्पसूत्रीया स्थविरावली गुरु-शिष्य क्रमवाली होने और षाडिल्य के पश्चात् अन्यकर्त्तृक गाथा द्वारा देवर्द्धि को वन्दन करने मात्र से ही यह अनुमान कर लेना कि सूत्र के लेखक आचार्य (देवर्द्धि) की भी यही गुरु-परम्परा है और स्थविरावली के अन्तिम आचार्य षाण्डिल्य उनके दीक्षा-गुरु है, उचित नही। आर्य स्थविर षाण्डिल्य यदि देवर्द्धि के गुरु होते तो अवश्य ही कुछ विशिष्ट विशेषणों से उनका दूष्यगणी के समान परिचय दिया जाता।

ऐसी स्थिति मे नन्दीसूत्र की स्थविरावली को माथुरी वाचनानुगत युग-प्रधान स्थविरावली अथवा वाचकवंश पट्टावली कह कर उसे देवर्द्धि की गुर्वावली न मानना न तो कोई सयौक्तिक ही है और न किसी प्रमाण द्वारा पुष्ट ही।

यह ठीक है कि नन्दीसूत्र की स्थविरावली में मुख्य रूप से वाचकवंश की परम्परा प्रस्तुत की गई है और इसलिये कही-कही गुरुभाई एव गणान्तर के आचार्य का भी वहा वाचक रूप से उल्लेख हो गया है पर इसका यह अर्थ नही कि उसमे गुरु-शिष्य का क्रम सर्वथा ही नही है। आचार्य नन्दिल से आगे के सभी नाम नन्दी की स्थविरावली मे भी प्राय: गुरु-शिष्य क्रम से ही दिये गये है। आर्य सुधर्मा और जम्बू जैसे शिवगत आचार्यो और अन्य विशिष्ट श्रुतधरो का कल्प की तरह यहा भी नाममात्र से स्मरण कर भूतदिन्न और दूष्यगणी का तीन और दो गाथाओ से अभिवादन कर उनके चरणो मे प्रणाम किया गया है। बिना विशिष्ट अनुराग और भक्ति के इस प्रकार गुणगानपूर्वक चरणवन्दन सभव नही होता। निश्चय ही इस प्रकार के अभिवादन के पीछे आचार्य का कोई विशिष्ट अभिप्राय होना चाहिये और वह विशिष्ट अभिप्राय शिक्षा-दीक्षा आदि उपकार-

आर्य महागिरि और सुहस्ती की शाखाओं मे बडे होने के कारण महागिरि की शाखा को 'वृद्धशाखा' कहा जाना उचित ही है। जैसा कि विधिपक्ष पट्टावली मे आचार्य देवर्द्धि की वन्दना करते हुए कहा गया है –

वीरस्स सत्तवीसे, पट्टे सुत्तत्थरयणसिंगारं।
देवड्ढिखमासमण, पणमामि य वुड्ढसाहाए ॥२१॥[1]

अर्थात् – वृद्ध शाखा मे प्रभु महावीर के २७वे पट्टधर सूत्रार्थरत्न के शृंगार से सुशोभित देवर्द्धि क्षमाश्रमण को नमस्कार करता हूँ।

वल्लभी-परिषद् का आगम-लेखन

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की यह परम्परागत एव सर्वसम्मत मान्यता है कि वर्तमान मे उपलब्ध आगम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध करवाये गये थे। लेखनकला का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव के समय से मानते हुए भी यह माना जाता है कि आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण से पूर्व आगमो का व्यवस्थित लेखन नही किया गया। पुरातन पराम्परा में शास्त्रवाणी को परमपवित्र मानने के कारण उसकी पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आगमो को श्रुत-परम्परा से कण्ठाग्र रखने मे ही श्रेय समझा जाता रहा। पूर्वकाल मे इसीलिये शास्त्रो का पुस्तको अथवा पन्नो पर आलेखन नही किया गया। यही कारण है कि तब तक श्रुत नाम से ही शास्त्रो का उल्लेख किया जाता रहा।

जैन परम्परा ही नही वैदिक परम्परा मे भी यही धारणा प्रचलित रही और उसी के फलस्वरूप वेद वेदागादि शास्त्रो को श्रुति के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा। जैन श्रमणों की अनारम्भी मनोवृत्ति ने यह भी अनुभव किया कि शास्त्र-लेखन के पीछे बहुत सी खटपटे करनी होंगी। कागज, कलम, मसी और मसिपात्र आदि लाने, रखने तथा सम्हालने मे आरम्भ एव प्रमाद की वृद्धि होगी। ऐसा सोच कर ही वे लेखन की प्रवृत्ति से बचते रहे। पर जब देखा कि शिष्यवर्ग की धारणा-शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती चली जा रही है, शास्त्रीय पाठो की स्मृति के अभाव से शास्त्रो के पाठ-परावर्तन मे भी आलस्य तथा सकोच होता जा रहा है, बिना लिखे शास्त्रो को सुरक्षित नही रखा जा सकेगा, शास्त्रो के न रहने से ज्ञान नही रहेगा और ज्ञान के अभाव मे अधिकाश जीवन विषय, कषाय एव प्रमाद मे व्यर्थ ही चला जायगा, शास्त्र-लेखन के द्वारा पठन-पाठन के माध्यम से जीवन मे एकाग्रता बढाते हुए प्रमाद को घटाया जा सकेगा और ज्ञान-परम्परा को भी शताब्दियो तक अबाध रूप से सुरक्षित रखा जा सकेगा, तब शास्त्रो का लेखन सम्पन्न किया गया।

इस प्रकार सघ को ज्ञानहानि और प्रमाद से बचाने के लिये सतो ने शास्त्रो को लिपिबद्ध करने का निश्चय किया। जैन परम्परानुसार आर्य रक्षित एव आर्य स्कन्दिल के समय मे कुछ शास्त्रीय भागो का लेखन प्रारम्भ हुआ माना

[1] भावसागर की 'विधिपक्ष पट्टावली'।

"सुहस्ति से सुस्थित-सुप्रतिबुद्धादि क्रम से चलने वाली आवलिका दशाश्रुत स्कन्ध के अनुसार देखनी चाहिए। यहा (नन्दी सूत्र मे) उसका अधिकार नही है। प्रस्तुत अध्ययन के रचनाकार देवर्द्धि का उसमें (कल्प स्थविरावली मे) अभाव है इसलिये यहां महागिरी की आवलिका से ही प्रयोजन है।"[1]

इस प्रकार टीकाकार आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि कल्पस्थविरावली में देवर्द्धि (देववाचक) का नाम नही है, ऐसी स्थिति में दूष्यगरणी को देवर्द्धि के दीक्षा-गुरु मानने मे और देवर्द्धिगरणी को महागिरि की शाखा के वाचनाचार्य मानने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होती। चूर्णिकार जिनदासगरणी ने भी स्पष्ट लिखा है – "दूसगरिण सीसो देववायगो साधुगरण हियट्ठाए इरणमाह।"[2]

सभव है कल्पसूत्रीय स्थविरावली के अंत में आई हुई गाथाओं मे निर्दिष्ट देसिगरणी पद दूष्यगरणी का ही बोधक हो। आचार्य मेरुतुग ने भी अपनी स्थविरावली मे वृद्ध सप्रदाय का उल्लेख करते हुए लिखा है :– "स्थूलभद्र" के दो शिष्य हुए, आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती। उनमे से आर्य महागिरि की शाखा मुख्य है।[3] इससे आगे आचार्य मेरुतुग ने और भी स्पष्ट करते हुए दो गाथाओ द्वारा बलिस्सह आदि क्रम से महागिरि परम्परा के आचार्यो की नामावली प्रस्तुत की है। उसमें दूष्यगरणी के साथ देवर्द्धि का नाम अन्त में दिया गया है। वे गाथाए इस प्रकार है :–

सूरि बलिस्सहसाई, सामज्जो सडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मगू, नंदिल्लो नागहत्थी य ॥
रेवइ-सिहो खदिल हिमव नागज्जुरणा गोविदा।
सिरि भूइदिन्न-लोहिच्च-दूसगरिणरणो य देवड्ढी ॥

यहां यह अनुमान करना कि मेरुतुग और मलयगिरि के उल्लेखो का कोई ठोस आधार नही है – ठीक नही। उनके पीछे महागिरि परम्परा के वाचकों का गुरु-शिष्य क्रम से उल्लेख करने वाली नन्दी-स्थविरावली की गाथाओं का पुष्ट एवं स्पष्ट प्रमारण विद्यमान है। आचार्य मेरुतुग ने ऐसा मानने का आधार जो वृद्ध सम्प्रदाय बताया है, उसका अर्थ किवदन्ती रूप नही किन्तु मेरुतुग के समक्ष पूर्वाचार्यो की ऐसी परम्परा विद्यमान थी, ऐसा मानना चाहिए। बिना किसी पुष्ट प्रमारण के केवल कल्पना के आधार पर मलयगिरि और मेरुतुग की मान्यता को अप्रामारिणक मानने का कोई काररण दृष्टिगोचर नही होता।

---

[1] थूलभद्दस्स अतेवासी इम दो थेरा-महागिरि एलावच्चसगोत्ते सुहत्थीवामिट्ठसगोत्ते। सुहत्थिस्स सुट्ठितसुपडिबुद्धादयो आवलीते जहा दसासु (अ० ८ सूत्र २१०) तहा भारिणतव्वा, इह तेहि अहिगारो रणत्थि, महागिरिस्स आवलीए अधिकारो।
[नदी चूरिण, पुण्य विजयजी, पृ० ८]

[2] नदी चूरिण, पृ० १०

[3] अत्र चाय वृद्ध सम्प्रदाय.–स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम्–१ आर्य महागिरिः, २ आर्य सुहस्ती च। तत्र आर्य महागिरेर्या शाखा सा मुख्या। [मेरुतुगीया विचारश्रेरिण]

१ उत्तरज्झयणाइ
२ दसाओ
३ कप्पो
४. ववहारो
५ निसीह
६ महानिसीह
७. इसिभासियाइ
८. जबूदीवपण्णत्ती
९. दीवसागरपण्णत्ती
१० चदपण्णत्ती
११. खुड्डियाविमाणपविभत्ती
१२. महल्लियाविमाणपविभत्ती
१३ अगचूलिया
१४. विवाह चूलिया
१५. अरुणोववाए
१६ वरुणोववाए
१७ गरुलोववाए
१८. धरणोववाए
१९ वेसवणोववाए
२०. वेलधरोववाए
२१. देवेन्दोववाए
२२. उट्ठाणसुय
२३. समुट्ठाणसुय
२४ नागपरियावलियाओ
२५. निरयावलियाओ
२६. कप्पिया
२७. कप्पवडसिया
२८ पुप्फियाओ
२९ पुप्फचूलियाओ
३० वण्हिदसाओ
३१ आसीविसभावणाए
३२. दिट्ठिविसभावणाए
३३. सुमिणभावणाए
३४. महासुमिणभावणाए
३५ तेयग्गिनिसग्गाए

इस प्रकार कुल ७५ श्रुत बताये गये है ।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा द्वारा वर्तमान मे ४५ आगम माने जाते है पर स्थानकवासी और तेरापन्थ परम्परा मे ११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक इस प्रकार ३२ शास्त्रो को प्रामाणिक मानते है। ४५ सूत्रो की सख्या इस प्रकार है –

११ अग :–

१ आचाराग
२ सूत्रकृताग
३ स्थानाग
४ समवायाग
५ भगवती
६ ज्ञाताधर्मकथाग
७ उपासकदशाग
८ अतकृतदशाग
९ अनुत्तरोपपातिकदशाग
१० प्रश्नव्याकरण
११ विपाक श्रुत

१२ उपांग :–

१ औपपातिक
२ राजप्रश्नीय
३ जीवाभिगम
४ प्रज्ञापना
५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
६ चन्द्रप्रज्ञप्ति
७ सूरप्रज्ञप्ति
८ कल्पिका
९ कल्पावतसिका
१० पुष्पिका
११ पुष्पचूलिका
१२ वृष्णिदशा

गया है। किन्तु आगमो का सुव्यवस्थित सम्पूर्ण लेखन तो आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी मे ही सम्पन्न किया जाना माना जाता है।

देवर्द्धि के समय में कितने व कौन-कौन से शास्त्र लिपिबद्ध कर लिये गये एव उनमे से आज कितने उसी रूप मे विद्यमान है, प्रमाणाभाव में यह नही कहा जा सकता। "आगम पुत्थय लिहिओ" इस परम्परागत अनुश्रुति मे सामान्य रूप से आगम पुस्तक रूप मे लिखे गये – इतना ही कहा गया है। सख्या का कही कोई उल्लेख तक भी उपलब्ध नही होता। अर्वाचीन पुस्तको मे ८४ आगम और अनेक ग्रन्थो के पुस्तकारूढ करने का उल्लेख किया गया है। नदीसूत्र मे कालिक और उत्कालिक श्रुत का परिचय देते हुए कुछ नामावली प्रस्तुत की है। बहुत सम्भव है देवर्द्धि क्षमाश्रमण के समय मे वे श्रुत विद्यमान हो और उनमें से अधिकाश सूत्रों का देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण ने लेखन करवा लिया हो। नन्दीसूत्रानुसार कालिक एव उत्कालिक सूत्रों की संख्या निम्न प्रकार है –

उत्कालिक सुय (श्रुत)

१. दसवेयालिय
२. कप्पियाकप्पियं
३. चुल्लकप्पसुयं
४. महाकप्पसुय
५. उववाइय
६. रायपसेणइय
७ जीवाभिगम
८. पन्नवणा
९. महापन्नवणा
१०. पमायप्पमाय
११. नदी
१२ अणुओगदाराइं
१३. देविन्दथव
१४. तदुलवेयालिय
१५ चदाविज्जय
१६. सूरपण्णत्ती
१७ पोरिसिमंडल
१८. मडलपवेस
१९. विज्जाचरणविणिच्छओ
२०. गणिविज्जा
२१. झाणविभत्ती
२२. मरणविभत्ती
२३. आयविसोही
२४. वीयरागसुय
२५. संलेहणासुयं
२६. विहारकप्पो
२७. चरणविहि
२८. आउरपच्चक्खाण
२९. महापच्चक्खाण, आदि

कालिक सुय (श्रुत)

१२ अंग

१. आयारो
२. सुयगडो
३. ठाण
४. समवाओ
५. विवाहपण्णत्ती
६. नायाधम्मकहाओ
७. उवासगदसाओ
८. अंतगडदसाओ
९. अणुत्तरोववाइयदसाओ
१०. पण्हावागरणाइ
११. विवाग सुयं
१२. दिट्ठिवाओ (विच्छिन्न)

तथा कही-कही पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को सयुक्त मान कर चार की सख्या मानी गई है।

स्थानकवासी परम्परा के अनुसार आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नदी और अनुयोगद्वार को मिला कर चार मूल सूत्र माने गये है। जब कि दूसरी परम्परा नन्दी और अनुयोगद्वार को चूलिका सूत्र के रूप मे मान्य करती है।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण का स्वर्गगमन और पूर्व-ज्ञान का विच्छेद

वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के जन्म, श्रमण-दीक्षा, गणाचार्य एव वाचनाचार्य-काल के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक उल्लेख आज उपलब्ध नही है। इसी प्रकार आपके स्वर्गारोहण-काल के सम्बन्ध मे भी कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टि-गोचर नही होता। परम्परागत मान्यतानुसार आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण अतिम पूर्वधर माने गये है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भगवती-सूत्र के उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् पूर्वज्ञान का विच्छेद माना गया है। ऐसी स्थिति मे एक प्रकार से यह सुनिश्चित हो जाता है कि अतिम पूर्वधर आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण वीर नि० स० १००० मे स्वर्गस्थ हुए। इसके उपरान्त भी कतिपय पट्टावलीकारो का अभिमत है कि अतिम पूर्वधर युग-प्रधानाचार्य सत्यमित्र थे तथा सत्यमित्र का वीर नि० स० १००० में और देवर्द्धि क्षमाश्रमण का उनसे पहले वीर नि० स० ६६० मे स्वर्गगमन हुआ।

'तित्थोगालिय पइन्ना' की हस्तलिखित प्रति का अध्ययन करते हुए हमे दो गाथाए दृष्टिगोचर हुई, जिनमे स्पष्टत. उल्लेख है – "भगवान् महावीर के मोक्ष-गमनानन्तर १००० वर्ष व्यतीत हो जाने पर अन्तिम वाचक वृषम (वाचनाचार्य) के साथ पूर्वज्ञान विलुप्त हो जायगा। वर्द्धमान भगवान् के निर्वाण के १००० वर्ष पूर्ण होते ही परिपाटी से जिसको जितना पूर्वज्ञान प्राप्त होगा, वह नष्ट हो जायगा।"

वे गाथाएं इस प्रकार है :–

> वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
> उत्तरवायग – वसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ।।८०५।।
> वरिस सहस्से पुण्णे, तित्थोगालीए वड्ढमाणस्स।
> नासिहि पुव्वगत, अणुपरिवाडीए ज जस्स ।।८०६।।

इन गाथाओं मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण का नाम तो स्पष्टत: उल्लिखित नही है परन्तु प्रथम गाथा के – "उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो" – इन पदो मे प्रयुक्त-'उत्तर-वाचक–वृषभ' पद अतिम वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का ही वोधक है। क्योकि समस्त जैन वाङ्मय मे देवर्द्धि को ही सर्व सम्मत रूपेण अन्तिम वाचनाचार्य स्वीकार किया गया है।

तित्थोगाली पइन्ना की एक गाथा मे आर्य सत्यमित्र नामक एक मुनिपुगव को अतिम दशपूर्वधर बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तित्थोगाली पइन्ना

१० प्रकीर्णक :–

१ चतुश्शरण प्रकीर्णक	६ चन्द्रविद्यक
२ आतुर प्रत्याख्यान	७ देवेन्द्रस्तव
३ भक्त प्रत्याख्यान	८ गणिविद्या
४ सस्तार प्रकीर्णक	९ महाप्रत्याख्यान
५ तंदुल वैचारिक	१० मरणसमाधि

६ छेदसूत्र :–

१ निशीथ	४ व्यवहार
२ महानिशीथ	५ दशाश्रुतस्कध
३ बृहत्कल्प	६ जीतकल्प

४ मूलसूत्र –

१ दशवैकालिकसूत्र	३ अनुयोगद्वार
२ उत्तराध्ययन	४ नन्दीसूत्र

२ चूलिका

१ ओघनिर्युक्ति	२ पिण्डनिर्युक्ति

कुछ लेखक नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र को चूलिका मानते है।

१. आवश्यक

१. आवश्यक सूत्र

इनमें से १० प्रकीर्णक, अंतिम २ छेदसूत्र और २ चूलिकाओं के अतिरिक्त ३२ सूत्रो को स्थानकवासी एवं तेरापथ सम्प्रदाय मान्य करती है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ को प्रामाणिक स्वीकार करती है।

नन्दीसूत्र–गत कालिक उत्कालिक सूत्रों की तालिका मे १० में से ४ प्रकीर्णक, २ छेदसूत्र एवं २ चूलिकाएं (ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति) नही है और ऋषिभाषित का नाम जो कि नंदी सूत्र की तालिका मे है, वह वर्तमान ४५ आगमो की सख्या में नही है। सभव है ४४-४५ आगम और ज्योतिषकरडक आदि वीर नि. स० ९८० मे हुई वल्लभी परिषद मे लिखे गये हों। विद्वान् इतिहासज्ञ पुरातन सामग्री के आधार पर इस सम्बन्ध मे गम्भीरतापूर्वक गवेषणा करे तो सही तथ्य प्रकट हो सकता है।

स्पष्टीकरण

मूल सूत्रों की सख्या और क्रम के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं उपलब्ध होती है। कुछ विद्वानो ने ३ मूल सूत्र माने है तो कही ४ की सख्या उपलब्ध होती है। क्रम की दृष्टि से उत्तराध्ययन को पहला स्थान दे कर फिर आवश्यक और दशवैकालिक बताया गया है जब कि दूसरी ओर उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यक इस प्रकार मूलसूत्रो की संख्या तीन की गई है। पिण्डनिर्युक्ति

२७ कालकाचार्य (चतुर्थ) – युगप्रधानाचार्य

२६वे युगप्रधानाचार्य आर्य भूतदिन्न के पश्चात् आर्य कालक २७वे युगप्रधान हुए। चतुर्थ कालकाचार्य[1] के सम्बन्ध मे निम्नलिखित रूप से परिचय उपलब्ध होता है –

नागार्जुन की परम्परा मे आगे चल कर आर्य कालक हुए। उनका जन्म वीर सं० ६११ मे, दीक्षा ६२३ मे, युगप्रधान पद ९८३ मे और स्वर्गवास वीर स० ९९४ में माना जाता है। श्वेताम्बर परम्परा मे यही आचार्य कालक, चतुर्थ कालकाचार्य के रूप मे विख्यात है।

वल्लभी मे हुई अन्तिम आगम-वाचना मे जिस प्रकार आचार्य स्कंदिल की माथुरी-वाचना के प्रतिनिधि आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण थे, उसी प्रकार आचार्य नागार्जुन की वल्लभी-आगमवाचना के प्रतिनिधि कालक सूरि (चतुर्थ कालकाचार्य) थे। वल्लभी मे वीर नि० सं० ९८० में हुई अन्तिम आगमवाचना मे इन दोनो आचार्यो ने मिल कर दोनो वाचनाओ के पाठों को मिलाने के पश्चात् जो एक पाठ निश्चित किया, उसी रूप मे आज आगम विद्यमान हैं।

इस प्रकार के प्राचीन उल्लेख उपलब्ध है कि वीर नि० स० ९९३ मे वल्लभी के राजा ध्रुवसेन के राजकुमार की मृत्यु हो गई और शोकसतप्त राजपरिवार बडनगर मे निवास करने लगा। कालकाचार्य ने उस वर्ष वहाॅ चातुर्मास कर राजकुटुम्ब के शोकनिवारणार्थ संघ के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना प्रारम्भ की। राजा ने भी शोक का परित्याग कर, उपाश्रय मे आ कल्पसूत्र का श्रवण किया। तभी से सघ के समक्ष कल्पसूत्र का प्रकट रूप से वाचन होने लगा, जो आज तक भी प्रचलित है।

---

[1] प्रथम और द्वितीय कालकाचार्य का यथासम्भव पूर्ण परिचय यथास्थान दिया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७४ पर कल्पसूत्रीया स्थविरावली के आचार्यो की नामावली मे क्रम सख्या २५ पर आर्य सुहस्ती की परम्परा के २५वे गणाचार्य आर्य कालक का नाम दिया गया है। आर्य सुहस्ती की परम्परा के १३वे आचार्य आर्यवज्र के पश्चात् कल्पसूत्रीया स्थविरावली मे जिन आचार्यो के नाम दिये गये है, उन आचार्यो का परिचय उपलब्ध नही होता। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे उन गणाचार्यो का नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई परिचय नही दिया जा सका है। प्रथम, द्वितीय एव चतुर्थ कालकाचार्य का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् सहज ही प्रत्येक पाठक को तृतीय कालकाचार्य का परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा होना सभव है। पर वस्तुत तृतीय कालकाचार्य का केवल इतना ही परिचय उपलब्ध है कि वे आर्य सुहस्ती की परम्परा के २५वे गणाचार्य थे। आप माढर गोत्रीय आर्य विष्णु के शिष्य एव पट्टधर थे। आर्य कालक के प्रमुख शिष्य का नाम सघपालित था, जो कल्प-स्थविरावली के अनुसार आपके स्वर्गारोहण के पश्चात् आर्य सुहस्ती की परम्परा मे २६वे आचार्य वने। रत्नसचय प्रकरण (पत्र ३२) के—

सत्तसयवीस अहिए, कालिगगुरू सक्कसथुणियो ॥५७॥

इस उल्लेख के अनुसार आपके गणाचार्य पद पर आसीन होने का समय वीर नि० स० ७२० माना गया है। —सम्पादक

की उस गाथा मे अंतिम दशपूर्वधर आर्य सत्यमित्र के लिये अभिव्यक्त किये गये भावो को नाम साम्य के कारण २८वें युगप्रधानाचार्य सत्यमित्र के साथ जोड कर भ्रान्तिवश पट्टावलीकारों द्वारा उन्हे अन्तिम पूर्वधर मान लिया गया है। तित्थोगाली पइन्ना की पूर्वगत श्रुतविषयक गाथाओं के समीचीनतया पर्यालोचन से यह स्पष्टत: प्रकट हो जाता है कि सत्यमित्र को अतिम दशपूर्वधर बताया गया है, न कि अतिम एक पूर्वधर। वीर नि० स० ९९४ से १००१ तक युगप्रधान पद पर रहने वाले २८वे युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र यदि अंतिम पूर्वधर होते तो तित्थोगाली पइन्ना मे अंतिम वाचक–वृषभ (देवर्द्धिगणी) को अतिम पूर्वधर न बता कर आर्य सत्यमित्र को बताया जाता।

पूर्व-ज्ञान के लुप्त होने विषयक तथा श्रमणोत्तम आर्य सत्यमित्र से सम्बन्धित तित्थोगाली पइन्ना की वे गाथाए इस प्रकार है .–

नामेण सच्चमित्तो, समणो समणगुणनिउण विचतिओ।
होही अपच्छिमो किर, दसपुव्वी धारओ वीरो ॥८०२॥
एयस्स पुव्वसुयसारस्स, उदहिव्व छल्ल अपरिमेयस्स।
सुणसु जह अथ काले, परिहाणी दीसते पच्छा ॥८०३॥
पुव्वसुयतेल्ल भरिए, विज्झाए सच्चमित्त दीवम्मि।
धम्मावायनिसिल्लो, होही लोगो सुयनिसिल्लो ॥८०४॥

अर्थात्–श्रमण-गुणो की परिपालना में पूर्णत· निपुण सत्यमित्र नामक वीर श्रमण अन्तिम दशपूर्वधर होंगे। अगाध उदधि के समान छलाछल भरे सारभूत पूर्वश्रुल का कालान्तर में किस प्रकार ह्रास होगा, यह सुनिये। पूर्वश्रुत रूपी तैल से भरे आर्य सत्यमित्र रूपी दीपक के बुझ जाने पर लोग (अधिकाशतः) धर्माचरण एव श्रुताराधन से विरत हो जायेगे।"

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त गाथा संख्या ८०४ से किसी समय इस प्रकार की भ्रान्ति का जन्म हुआ कि सत्यमित्र के स्वर्गगमन के साथ ही सम्पूर्ण पूर्वज्ञान विनष्ट हो गया और उसके फलस्वरूप लोग धर्माचरण एव श्रुताराधन से विहीन हो गये। वस्तुतः इस गाथा द्वारा अन्तिम दशपूर्वधर सत्यमित्र के स्वर्गगमन से हुई धर्म एव श्रुत की हानि का ही उल्लेख किया गया है, न कि पूरे पूर्वगत ज्ञान के विलुप्त होने का। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को ही तित्थोगाली पइन्ना में अन्तिम पूर्वधर बताते हुए स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि उनके निधन के साथ ही पूर्वगतज्ञान विलुप्त हो जायगा।

इस प्रकार ऊपर बताये हुए सब तथ्यों पर विचार करने से सुनिश्चित रूपेण यह सिद्ध हो जाता है कि वीर नि० स० ९८० से लेकर पचम आरक की समाप्ति तक के २००२० वर्षो जैसे सुदीर्घ काल में होने वाले कोटि-कोटि श्रमणों, श्रमणियो, श्रमणोपासको, श्रमणोपासिकाओं एव साधकों पर आगमलेखन द्वारा अनन्त उपकार करने के पश्चात् अन्तिम वाचकवृषभ देवर्द्धि श्रमाश्रमण वीर नि० स० १००० के समाप्त होने पर स्वर्ग सिधारे।

जाता है कि स्कन्दगुप्त का शासनकाल वीर नि० स० ९८२ से ९९४ (ई० सन् ४५५-४६७) तक रहा। स्कन्दगुप्त बडा ही शूरवीर और प्रतापी सम्राट् था। उसे जीवन भर सघर्षरत रहना पडा। यह पहले बताया जा चुका है कि स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के शासनकाल में पुष्यमित्रो की बडी शक्तिशाली विशाल सेना को परास्त कर गुप्त–साम्राज्य की रक्षा की थी। गुप्त-साम्राज्य की बागडोर सम्हालते ही स्कन्दगुप्त ने मध्य एशिया से आये हुए बर्बर हूण आक्रान्ताओ से अपनी मातृ-भूमि भारत की रक्षार्थ बडी वीरता के साथ युद्ध किया। यूरोप और एशिया के अनेक भू-भागो को अपने घोडो की टापो से पददलित करते हुए हूणो ने टिड्डी दल की तरह भारत पर आक्रमण किया। एशिया की बडी-बडी राजसत्ताओ को भू-लुण्ठित करने के पश्चात् हूण जाति का सरदार आटीला बड़े गर्व के साथ कहा करता था – "जिस भूमि पर मेरे घोडे की टाप एक बार गिर जायगी, उस भूमि पर बारह वर्ष पर्यन्त घास तक नही उग सकेगी।"

हूण सैनिक, सख्या मे अत्यधिक होने के साथ-साथ निपुण अश्वारोही थे। उन्होने प्रलयकालीन आधी की तरह भारत पर आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये एक सशक्त सेना लेकर रणागण मे हूणो की सेना से जा भिडा। बडा भीषण युद्ध हुआ। हूण सैनिक भारतीयो के भीषण प्रतिरोध से तिलमिला उठे क्योकि अब तक प्रत्येक देश मे बवण्डर की तरह बढती हुई उनकी दुर्दान्त अश्वारोही सेना को इस प्रकार अन्यत्र कही नही रोका गया था। हूणो ने अपने प्राणो की बाजी लगा कर पूरी शक्ति के साथ आगे बढने का प्रयास किया। षण्मुख कार्तिकेय के समान स्कन्दगुप्त ने भारतीय सेना का सचालन करते हुए आततायी हूण आक्रान्ताओ का सहार किया और उन्हे आगे नही बढने दिया। लोमहर्षक तुमुलयुद्ध मे जनधन की अपार क्षति उठाने के अनन्तर बुरी तरह हारा हुआ हूण सरदार अपनी बची खुची सेना के साथ रणागण से भाग खडा हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत पर हुए विदेशी आक्रमणो मे हूणो द्वारा किया गया आकमण सबसे अधिक भीषण था।[1] स्कन्दगुप्त ने अद्भुत शौर्य और साहस के साथ दुर्दान्त हूणो को परास्त कर भारत की एक महान् सकट से रक्षा की।

यद्यपि इस युद्ध मे हूणो की शक्ति नष्टप्राय हो चुकी थी तथापि अपनी पराजय का प्रतिषोध लेने के लिये हूणो ने अनेक बार भारत पर आक्रमण किये। हठी हूण सरदार ने पन्द्रह-पन्द्रह, सोलह-सोलह वर्ष की आयु के हूण किशोरो को युद्ध मे झौक दिया पर हर बार स्कन्दगुप्त ने रणक्षैत्र मे हूणो को बुरी तरह पराजित किया।

अपने १२ वर्ष के शासनकाल मे निरन्तर युद्धो मे उलझे रहने के कारण स्कन्दगुप्त का कोषबल अत्यधिक क्षीण हो चुका था तथापि उसने अपने जीवन-काल मे वर्बर हूण आततायियो को भारत की धरती पर आगे नही बढने दिया।

[1] हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।
[स्कन्दगुप्त का भितरी (जिला गाजीपुर, उत्तरप्रदेश) स्तम्भलेख]

इस प्रकार आचार्य कालक उस समय के प्रधान आचार्य माने गये है। दुष्षमाकाल श्रमणसंघ-स्तोत्र के अनुसार वज्रसेन (वीर नि० स० ६२०) के पश्चात् ६९ वर्ष नागहस्ती, ५९ वर्ष रेवतीमित्र, ७८ वर्ष ब्रह्मद्वीपकसिह, ७८ वर्ष नागार्जुन, ७९ वर्ष भूतदिन्न और तदनन्तर ११ वर्ष कालकाचार्य का आचार्यकाल रहा।[1] तदनुसार वीर नि० स० ९९४ मे कालकाचार्य का स्वर्गवास माना गया है।

वीर नि० सं० ९९३ मे कालकाचार्य द्वारा चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्व मनाने की जो बात कही जाती है, वह उल्लेख वस्तुत. वीर नि० स० ४५७ से ४६५ के बीच किसी समय द्वितीय कालकाचार्य द्वारा प्रचलित किये गये चतुर्थी-पर्वाराधन के स्थान पर मध्य काल मे जो पंचमी के दिन पर्वाराधन का प्रचलन हो गया था, उसे निरस्त कर पुन चतुर्थी – पर्वाराधन को स्थिर करने की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है।[2]

२८ आर्य सत्यमित्र-युगप्रधानाचार्य

दुष्षमाकाल श्रमणसघस्तोत्र के अनुसार २८वे युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र का द्वितीयोदय के युगप्रधानाचार्यो में आठवा स्थान माना गया है।[1] युगप्रधान कालकाचार्य (चतुर्थ) के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० स० ९९४ मे आर्य सत्यमित्र २८वे युगप्रधानाचार्य हुए।

आपका केवल यही परिचय उपलब्ध होता है कि वीर नि० स० ९५३ मे आपका जन्म हुआ। वीर नि० सं० ९६३ में आपने १० वर्ष की बाल्यावस्था में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। तीस वर्ष तक सामान्य श्रमण-पर्याय मे रहने के अनन्तर वीर नि० सं० ९९३ मे आपको युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। आपने ७ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य के रूप मे जिन-शासन की सेवा करने के पश्चात् ४७ वर्ष, ५ मास और ५ दिवस की आयु समाधिपूर्वक पूर्ण कर वीर नि० सं० १००१ मे स्वर्गारोहण किया।

देवर्द्धि कालीन राजनैतिक स्थिति

गुप्त-सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

(वीर नि० स० ९८२–९९४)

वीर नि० सं० ९८२ में कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका बडा पुत्र स्कन्दगुप्त सुविशाल गुप्त – साम्राज्य का स्वामी बना। इसका पहला अभिलेख, जूनागढ का चट्टान-अभिलेख गुप्त सम्वत् १३६ का और अन्तिम गढवा का शिलालेख गुप्त सं० १४८ का है। इन दोनो शिलालेखो के आधार पर यह विश्वास किया

---

[1] वयरसेण ३, नागहस्ति ६९, रेवतीमित्र ५९, बह्मदीवगसिह ७८, नागार्जुन ७८, एव वर्षाणि ९०४, भूतदिन्न ७९, कालकाचार्य ११

[दुष्षमाकाल श्रमणसघस्तोत्र, अवचूरि, पट्टा० समु० पृ० १८]

[2] देखे द्वितीय कालकाचार्य का प्रकरण, पृ० ५१७–२१

देते है कि कुमारगुप्त का शासनकाल गुप्त सवत् १३६ (ई० सन् ४५५) तदनुसार वीर नि० स० ९८२ मे समाप्त हो गया।

उपरोक्त प्रमाणो मे से अतिम प्रमाण (जूनागढ का चट्टान-अभिलेख) इस तथ्य को तो सिद्ध करता ही है कि गुप्त सवत् १३६ मे कुमारगुप्त की मृत्यु होते ही स्कन्दगुप्त का शासनकाल प्रारम्भ हुआ।[1] इस तथ्य के अतिरिक्त निम्न-लिखित तथ्य भी जूनागढ के उपरोक्त चट्टान अभिलेख से प्रकट होते है :—

१ गुप्त सवत् १३६ (ई० स० ४५५, वीर नि० स० ९८२) मे जिस समय कुमारगुप्त की मृत्यु हुई और स्कन्दगुप्त विशाल गुप्तसाम्राज्य का स्वामी बना, उसी वर्ष मे हूणो ने भारत पर बडा भयकर आक्रमण किया।

२ उसी वर्ष मे अर्थात् वीर नि० स० ९८२ मे स्कन्दगुप्त ने हूणो के साथ युद्ध किया और युद्ध मे उनका भीषण रूप से सहार कर उन्हे बुरी तरह पराजित किया।[2]

उपरिवर्णित तथ्यो से यह भलीभाति प्रमाणित हो जाता है कि गुप्त स० १३६ (ई० सन् ४५५) मे कुमारगुप्त की मृत्यु होने पर उसका उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त विशाल गुप्त-साम्राज्य के राज-सिहासन पर आसीन हुआ। उसके राज्य-सिहासन पर आरूढ होते ही ई० सन् ४५५ मे हूणो ने भारत पर आक्रमण किया। उसी वर्ष स्कन्दगुप्त ने हूणो को पराजित कर जूनागढ का शिलालेख उट्ट कित करवाया। ऐसी स्थिति मे कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के बीच मे पुरु-गुप्त के सम्राट् बनने का न कोई प्रश्न ही उत्पन्न होता है और न कोई अवकाश ही रह जाता है। वस्तुत कुमारगुप्त (प्रथम) के पश्चात् स्कन्दगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना यह एक निर्विवाद सत्य है।

हूणो को पराजित करने के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने अपने साम्राज्य के सभी प्रान्तो मे अपने परम विश्वासपात्र और सुयोग्य शासको को नियुक्त किया। जिससे कि देश के शत्रुओ को शिर उठाते ही कुचल दिया जा सके। उन दिनो सौराष्ट्र सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रदेश माना जाता था। डिमिट्रि-

---

[1] क्रमेण बुद्ध्या निपुण प्रधार्य, ध्यात्वा च कृत्स्नान् गुणदोषहेतून्।
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मी स्वय य वरयाञ्चकार।। [जूनागढ का लेख]

[2] प्रथयन्ति यशासि यस्य, रिपवोऽप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छ-देशेषु। [वही]
"स्कन्दगुप्त ने जिन शत्रुओ की शक्ति को आमूलचूल विनष्ट कर उनके घमण्ड को चकनाचूर कर डाला, वे शत्रु स्वय द्वारा पूर्वतः विजित म्लेच्छ देशो (ईराक, ईरान आदि) मे भी भीगी बिल्ली की तरह चुपचाप रह कर स्कन्दगुप्त के यश का विस्तार कर रहे हैं" —यह तीखा कटाक्ष शतप्रतिशत हूणो पर ही घटित होता है। वस्तुत स्कन्दगुप्त ने हूणो की रीढ की हड्डी तोड दी थी। ई० सन् ४५५ के इस युद्ध मे हूणो को जनधन की इतनी अधिक क्षति हुई कि इस युद्ध के ४५ वर्ष पश्चात् कही हूणो का सरदार तोरमाण भारत पर बडा आक्रमण करने का साहस कर सका और ई० सन् ५०२ मे उसने मालवा पर अधिकार किया। —सम्पादक

कतिपय इतिहासज्ञों का अभिमत है कि गुप्त सम्राट् कुमार गुप्त के निधनानन्तर पुरुगुप्त राज्य सिहासन पर बैठा। पुरुगुप्त को अपदस्थ करने एवं गुप्त साम्राज्य के सिहासन पर अपना अधिकार करने के लिये स्कन्दगुप्त को गृहयुद्ध में उलझना पड़ा। उस गृह-कलह में स्कन्दगुप्त अन्ततोगत्वा विजयी हुआ और पुरुगुप्त को राज्यच्युत कर उसने गुप्त साम्राज्य के राजसिहासन पर अधिकार कर लिया। अपने इस अभिमत की पुष्टि मे उन विद्वानो द्वारा स्कन्दगुप्त के भितरी (उत्तरप्रदेश) स्तम्भलेख का निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया जाता है :-

पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वशलक्ष्मीम्,
भुजबलविजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूय.।
जितमिव परितोषान्मातरं साश्रुनेत्राम्,
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ।।६।।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि पिता के दिवगत होने के पश्चात् अपने बाहुबल से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर स्कन्दगुप्त ने संकटों से घिरे गुप्त साम्राज्य की पुनः पूर्ववत् प्रतिष्ठा स्थापित की। जिस प्रकार कस आदि शत्रुओ का सहार करने के पश्चात् श्री कृष्ण (अपनी विजय का सदेश सुनाने) मां देवकी की सेवा में उपस्थित हुए, उसी प्रकार स्कन्दगुप्त ने भी शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर अपनी माता को अपनी विजय का सदेश सुनाया। उसकी माता के नेत्रों मे हर्ष के आसू भर आये।

कुमारगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त को गुप्तसम्राट् मानने वाले विद्वान् "विप्लुतां वशलक्ष्मीम्" इस पद से यह अनुमान लगाते है कि दायादाधिकार के प्रश्न को लेकर स्कन्दगुप्त का अपने पुरुगुप्त आदि अन्य भाइयो से झगड़ा हुआ। उस गृह-कलह के फल स्वरूप वशलक्ष्मी विप्लुत अर्थात् सकटाच्छन्न हो गई। स्कन्दगुप्त ने अपने भुजबल से उन शत्रुओ (न कि भाइयो) को जीत कर उस विप्लुत (पलायनोद्यत) वंशलक्ष्मी को पुनः स्थिर किया।

वस्तुतः इस प्रकार के प्रबल प्रमाण विद्यमान है, जिनसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्तसाम्राज्य पर जो संकट के काले बादल छाये, वे हूणो के प्रबल आक्रमण के फलस्वरूप थे, न कि तथाकथित दायादाधिकार के प्रश्न को लेकर परस्पर भाइयो मे हुए किसी गृहकलह के कारण। इस तथ्य की पुष्टि मे निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते है :-

१. कुमारगुप्त के समय का गुप्त सं० १३५ का मथुरा से प्राप्त जैन शिलालेख।

२. कुमारगुप्त के चांदी के वे सिक्के, जिन पर गुप्त सं० १३६ अकित है।

३. स्कन्दगुप्त का गुप्त सवत् १३६ का जूनागढ़ स्थित चट्टान अभिलेख।

उपरि लिखित तीन प्रमाणों मे से पहले दो प्रमाण इस बात की साक्षी

बाहुभ्यामवनि विजित्य हि जितेष्वार्तेषु कृत्वा दयाम् ।
नोत्सिक्तो न च विस्मित. प्रतिदिनं सवर्द्धमानद्युति
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो य प्रापयत्यार्यताम् ।।७।।

स्कन्दगुप्त की प्रजा किस प्रकार आदर्श मानवता से ओतप्रोत, धर्मनिष्ठ, सुखी और समृद्ध थी, इसका चित्रण जूनागढ के शिलालेख मे निम्नलिखित शब्दो में किया गया है :–

तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित्, धर्माद्व्यपेतो मनुज' प्रजासु ।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो, दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितःस्यात् ।।

राजा और प्रजा मे इस प्रकार के आदर्श गुणों की समानता विश्व के इतिहास मे बहुत कम दृष्टिगोचर होती है ।

वीर नि० स० ६८२ से ६६४ तक के अपने १२ वर्ष के शासनकाल मे स्कन्दगुप्त ने अनेक युद्धो मे शत्रुओ को पराजित कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की । स्कन्दगुप्त के शासनकाल मे जनकल्याण के अनेक कार्य किये गये ।

भारतीय इतिहास मे स्कन्दगुप्त का नाम अमर रहेगा । हूणो जैसी आततायी बर्बर जाति की मदभरी शक्ति को विचूर्णित कर स्कन्दगुप्त ने न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप के निवासियो का बडा उपकार किया । यदि स्कन्दगुप्त ने हूणो की उन्मत्त अजेय शक्ति को नष्ट न किया होता तो हूणो के अत्याचारो से सत्रस्त हो सम्पूर्ण एशिया त्राहि-त्राहि की पुकार के साथ बडे लम्बे समय तक कराहता रहता ।

समुद्रगुप्त के शासनकाल से स्कन्दगुप्त के शासनकाल तक, अर्थात् वीर०नि० स०८६२ से ६६४ तक गुप्त साम्राज्य का उत्कर्ष काल रहा । स्कन्दगुप्त के निधन के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया । स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र नही था अत उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई पुरुगुप्त गुप्त–साम्राज्य का अधिकारी बना ।

सभवत डेढ वर्ष तक ही पुरुगुप्त का राज्य रहा । वीर नि० स० ६६६ मे पुरुगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिह गुप्त अयोध्या के सिहासन पर बैठा । वीर नि० स० १००० मे नरसिह गुप्त की भी मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् कुमार गुप्त (द्वितीय) गुप्त-राज्य का स्वामी बना ।

वीर नि० सं० १००० तक हुए गुप्तराजवश के राजाओं की तिथिक्रम सहित नामावली

नाम :–	अनुमानित शासनकाल :–
१. श्री गुप्त	वीर नि० स० ७६७ से ८०७
२. घटोत्कच	,, ,, ,, ८०७ से ८४६
३. चन्द्रगुप्त प्रथम	,, ,, ,, ८४६ से ८६२

यस, मेनेण्डर आदि विदेशी आक्रान्ताओं ने सौराष्ट्र को ही भारत का प्रवेश-द्वार बनाया था। शकों ने तो कुछ व्यवधानों को छोड कर शताब्दियों तक सौराष्ट्र को अपनी सत्ता का गढ बनाये रखा था। स्कन्दगुप्त ने इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश की सुरक्षा के लिये किसी सुयोग्य शासक का चयन करने के सम्बन्ध में बहुत दिनो तक सोच-विचार किया और अन्त में पर्णदत्त को ही सर्वाधिक सुयोग्य समझ कर उसे सौराष्ट्र का शासक नियुक्त कर परम सतोष का अनुभव किया।[1]

स्कन्दगुप्त ने जनकल्याण के अनेक कार्य किये। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में वीर नि० स० २२७ के आस पास बनी सुदर्शन झील का स्कन्दगुप्त ने विपुल धनराशि व्यय कर जीर्णोद्धार करवाया।[2]

स्कन्दगुप्त स्वयं विष्णुभक्त था पर अन्य सभी धर्मों के प्रति वह सद्भाव रखता था। उसके शासनकाल मे शैवों, जैनो एवं बौद्धो को अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

उत्तर प्रदेश मे गोरखपुर जिले के कहौम नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख मे किसी मद्र नामक व्यक्ति द्वारा आदिकर्त्ता अर्हतों (श्री भगवानलाल इन्द्रजी के अभिमतानुसार एक ही स्तम्भ मे आदिनाथ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर) की मूर्तियाँ बनवाई गई।[3]

जूनागढ के शिलालेख तथा भितरी के स्तम्भलेख में स्कन्दगुप्त के शौर्य, औदार्य, सच्चरित्रता, प्रजावत्सलता आदि सम्राटोचित गुणो का जो चित्रण किया गया है, उसके कतिपय अश पहले उद्धृत किये जा चुके है। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में भारतीय जनसाधारण भी भौतिक एव आध्यात्मिक समृद्धि से बड़ा समृद्ध था। यथा राजा तथा प्रजा की कहावत को चरितार्थ करने वाले कुछ अंश यहा प्रस्तुत किये जा रहे है।

स्कन्दगुप्त के विमल चरित्र का भितरी के स्तम्भलेख मे निम्नलिखित रूप से उल्लेख किया गया है –

चरितममलकीर्तेः गीयते यस्य शुभ्रम्,
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ॥५॥

---

[1] सर्वेषु देशेषु विधाय गौप्तृन्, सचिन्तयामास वहुप्रकारम्।
सर्वेषु भृत्येष्वपि सहतेषु, यो मे प्रशिष्यन्निखिलान्सुराष्ट्रान्।
आम् ज्ञातमेक खलु पर्णदत्तो, भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥
[स्कन्दगुप्त का, जूनागढ का शिलालेख]

[2] जूनागढ का शिलालेख

[3] पुण्यस्कध स चक्रे जगदिदमखिल ससरद्वीक्ष्य भीतो,
श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्त्तॄन्।
मद्रस्तस्यात्मजोऽभूत् द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्य। [कहौम का स्तम्भलेख]

धारियो का समय वीर नि० स० ६२ से १६२ तक १०० वर्ष का माना गया है। यद्यपि दोनो परम्पराए चतुर्दश पूर्वधरो की सख्या समान रूप से ५ मानती है तथापि अतिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के अतिरिक्त शेष चारो चतुर्दश पूर्वधरो के जो नाम दोनो परम्पराओ के प्रामाणिक ग्रन्थो मे दिये गये है, वे पूर्णत: भिन्न है।

इसी प्रकार दश पूर्वधरो का काल जहा श्वेताम्बर परम्परा में वीर नि० स० १७० से ५८४ तक ४१४ वर्ष का माना गया है, वहा दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थो मे इनका काल वीर नि० सं० १६२ से ३४५ तक, केवल १८३ वर्ष का ही बताया गया है। दश पूर्वधर आचार्यो की सख्या दोनो परम्पराओ मे समान रूप से ११ मानी गई है पर इन ग्यारहो आचार्यो के जो नाम दोनो परम्पराओ के ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है, वे एक दूसरी परम्परा द्वारा दिये गये नामो से पूर्णत· भिन्न है।

दश पूर्वधरो के काल के अनन्तर श्वेताम्बर परम्परा मे वीर नि० स० ५८४ से १००० तक ४१६ वर्ष का पूर्वधर–काल माना गया है।[1] उस ४१९ वर्ष की अवधि मे १० आचार्यो को पूर्वज्ञान का धारक माना गया है, जिनमे आर्य रक्षित सार्द्धनव पूर्वो के ज्ञाता तथा देवर्द्धि क्षमाश्रमण एक पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे। मूलागम भगवतीसूत्र मे वीर नि० सं० १००० तक पूर्वज्ञान के विद्यमान रहने का उल्लेख होने के कारण श्वेताम्बर परम्परा द्वारा अपनी इस मान्यता को निर्विवादरूपेण पूर्णत प्रामाणिक माना जाता है।

इस प्रकार जहा श्वेताम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि वीर नि० स० १००० के पश्चात् पूर्वज्ञान का विच्छेद हुआ, वहा दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थो मे यह स्पष्टत· उल्लेख किया गया है कि अतिम दश पूर्वधर धर्मसेन के स्वर्गस्थ होते ही वीर नि० स० ३४५ मे पूर्वज्ञान का विच्छेद हो गया और तदनन्तर वह (पूर्वज्ञान) एक देश अर्थात् आशिक रूप मे ही विद्यमान रहा। पूर्वज्ञान के अस्तित्वकाल के सम्बन्ध मे दोनो परम्पराओ की मान्यता मे यह ६५५ वर्ष का अन्तर वस्तुत प्रत्येक विचारक के लिये केवल चिन्तन ही नही अपितु चिन्ता का विषय भी है।

पूर्वज्ञान जैसे अत्यत महत्वपूर्ण एव अति विशाल ज्ञान का क्रमिक ह्रास तो युक्तिसगत एव बुद्धिगम्य हो सकता है किन्तु बिना किसी असाधारण परिस्थिति

---

[1] (क) गोयमा! जबूदीवे ण दीवे भारहेवासे इमीसे ओसप्पिणीए मम एग वाससहस्स पुव्वगए अणुसज्जिसइ।

[भगवती सूत्र, श० २०, उ० ८, सू० ६७७ (सुत्तागमे, पृ० ७०४)]

(ख) वोलीणम्मि सहस्से वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तर वायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥८०५॥

वरिस सहस्से पुण्णे, तित्थोगालिए वड्ढमाणस्स।
नासीहि पुव्वगत, अणुपरिवाडीए ज जस्स ॥८०६॥

[तित्थोगालियपइन्ना – अप्रकाशित]

४. समुद्रगुप्त वी० नि० स० ८६२ से ६०२
५. चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य " " " ६०२ से ६४१
६. कुमारगुप्त (प्रथम) महेन्द्रादित्य " " " ६४१ से ६८२
७. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य " " " ६८२ से ६६४
८. पुरुगुप्त " " " ६६४ से ६६६
६. नरसिह गुप्त " " " ६६६ से १०००

गुप्त वश के ८वे राजा बुधगुप्त के नालन्दा से प्राप्त हुए एक मुद्रा अभिलेख मे श्रीगुप्त से बुधगुप्त तक गुप्तराजाओ की नामावली दी हुई है, जो इस प्रकार है :–

(१) महाराजा श्रीगुप्त
(२) पुत्र – महाराजा श्री घटोत्कच
(३) पुत्र – महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त प्रथम
महादेवी – कुमारदेवी
(४) पुत्र – लिच्छविदौहित्र महाराजाधिराज समुद्रगुप्त
महादेवी – दत्तदेवी
(५) अप्रतिरथ – परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त द्वितीय
महादेवी – ध्रुवदेवी
(६) पुत्र – महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त प्रथम
महादेवी – अनन्तदेवी
(७) पुत्र – महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त
महादेवी – चन्द्रदेवी
(८) पुत्र – परमभागवत महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त

इस अभिलेख मे कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त का और पुरुगुप्त के पश्चात् कुमारगुप्त द्वितीय का नाम छोड दिया गया है।

सामान्य पूर्वधर-काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता

निर्वाणानन्तर दश पूर्वधर–काल तक की श्रुतपरम्परा तथा आचार्य परम्परा के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर एवं दिगम्बर – दोनो ही परम्पराओं की मान्यताओ का इस ग्रन्थ मे यथाप्रसग जो विवरण दिया गया है, उससे यह स्पष्टत: प्रकट होता है कि एक ही मूंग की दो फाड के समान प्रभु वीर की उपासक इन दोनो परम्पराओ की मान्यताओं मे परस्पर पर्याप्त अन्तर है। पूर्वधरो के नाम, उनकी संख्या तथा पूर्व–ज्ञान के अस्तित्वकाल विषयक भेद के अनन्तर इन दोनो परम्पराओ का मान्यता–भेद उत्तरोत्तर बढता ही गया है।

जहा श्वेताम्बर परम्परा चतुर्दश पूर्वधरो की विद्यमानता वीर नि० सं० ६४ से १७०, तदनुसार १०६ वर्ष मानती है, वहां दिगम्बर परम्परा में चौदह पूर्व-

तत्वों का निरूपण आदि दोनो परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण समान ही मिलेगा। यही नही, दिगम्बर परम्परा मे षट्खण्डागम और कषायपाहुड जैसे एकादशागी के सर्वाधिक सन्निकट समझे जाने वाले आगमिक ग्रन्थो की क्रमशः धवला और जयधवला टीका मे श्वेताम्बर परम्परा के आचारांगादि आगमो के उद्धरण प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है। विवेच्य वस्तुविषय की साम्यता के साथ-साथ दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थो मे अधिकाशत· ऐसी गाथाए उपलब्ध होती है जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमो, निर्युक्तियो, भाष्यो आदि की गाथाओ से अक्षरश मिलती-जुलती है। वस्तुत· दोनो परम्पराओ के कतिपय आगम ग्रन्थो का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते समय ऐसा अनुभव होता है, मानो एक ही सुधासागर के अमृत को भिन्न-भिन्न पात्रो मे भरकर नामभेद से रखा गया हो। दिगम्बर परम्परा के पूर्व एवं अगज्ञान के एक देशधर आचार्य ने षट्खण्डागम आदि आगमो मे जो तात्विक तथा सैद्धान्तिक निरूपण किया है, यह समग्ररूपेण वही है जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत एकादशागी, अगबाह्य आगमो, छेदसूत्रो, उपागो, निर्युक्तियों एव भाष्यो आदि मे सूत्ररूपेण अथवा विशद रूपेण पहले से ही विद्यमान है। दोनो परम्पराओ के आगमों मे विभेद नाम की यदि कोई वस्तु है तो केवल नाम, शैली और क्रम की ही है। श्वेताम्बर परम्परा के जो अगप्रविष्ट और अगबाह्य आगम वर्तमान काल मे विद्यमान है, उनका नामोल्लेख तो दिगम्वर परम्परा के आगमो मे ज्यों का त्यो विद्यमान है ही पर सार रूप मे इन आगमो के विपय का जो परिचय दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे दिया गया है, वह भी श्वेताम्बर परम्परा के विद्यमान आगमों के विषय से अधिकाशतः मिलता-जुलता ही है। यदि यह कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम – ग्रन्थो मे मूलत. जिन विषयो का प्रतिपादन किया गया है, वे अर्थत. वे ही है जो श्वेताम्बर परम्परा के आगमो एव आगम – ग्रन्थो मे विशद रूपेण वर्णित है। उनकी टीकाओ मे भी उपर्युक्त ८४ मान्यताभेदो के अतिरिक्त नवीन कुछ नही है।

उदाहरणस्वरूप षट्खण्डागम को ही ले लिया जाय। दिगम्बर परम्परा के आगम– ग्रन्थ के रूप मे षट्खण्डागम का सर्वोपरि स्थान है। वीर नि० स० ३३५ से ३७६ तक १३वे वाचक (वाचनाचार्य) पद पर और १२वे युगप्रधान पद पर रहे आर्य श्यामाचार्य द्वारा पूर्वज्ञान से उद्धृत उपाग–"पन्नवणा (प्रज्ञापना) सूत्र" और वीर नि० स० ७६३ से ७९१ के बीच हुए आचार्य अर्हद्बलि[1] के पश्चाद्वर्ती आचार्य

[1] अतिम आचारागधर लोहार्य के पश्चात् हुए आचार्य विनयधर से अर्हद्बलि एव अर्हद्बलि से धरसेन तक के आचार्यो के काल के सम्बन्ध मे केवल एक अविश्वसनीय-नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली के आधार पर दिगम्बर परम्परा के कतिपय उच्चकोटि के विद्वानो ने दिगम्बर परम्परा के आगमो एव प्राचीन ग्रन्थो से भिन्न मान्यता प्रचलित करने का प्रयास किया है, इस विषय पर इसी अध्याय मे आगे प्रकाश डाला जा रहा है। –सम्पादक

अथवा विप्लवकारी घटना के उल्लेख के, यह कहा जाय कि अंतिम दश पूर्वधर आचार्य धर्मसेन के वीर नि० सं० ३४५ मे स्वर्गस्थ होते ही दशों पूर्वो का ज्ञान सहसा एक ही क्षण में विलुप्त हो गया, दश में से एक भी पूर्व का ज्ञान अवशिष्ट नही रहा, यह बात किसी निष्पक्ष विचारक के गले नही उतर सकती।

पूर्वज्ञान विषयक दोनों परम्पराओं के इस गहन मान्यता – भेद की अपेक्षा एक और अत्यधिक गम्भीर मतभेद एकादशागी की विच्छित्ति के सम्बन्ध में है। दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों मे स्पष्टत: एक स्वर से यह उल्लेख किया गया है कि वीर नि० सं० ६८३ में एकादशांगी का विच्छेद हो गया और उसके पश्चात् उसका केवल एक देश ज्ञान ही अवशिष्ट रह गया।[1]

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्वेताम्बर परम्परा का मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगमों को और स्थानकवासी तथा तेरापंथ ये दोनों सम्प्रदाय ३२ आगमों को वर्तमान काल में विद्यमान मानते है। श्वेताम्बर परम्परा के इन तीनों सम्प्रदायो की स्पष्ट और निश्चित मान्यता है कि काल – प्रभाव से आगमज्ञान अंगोपांगादि उत्तरोत्तर क्षीण, अति क्षीण और क्षीणतर होते रहने पर भी दुष्षमाकाल की समाप्ति पर्यंत वीर नि० सं० के २१००३ वर्ष ८ मास १४ दिन बीत जाने पर १५वे दिन प्रथम प्रहर तक अपने शुद्ध स्वरूप में अंशत: विद्यमान रहेगा।

यहां यह विचारणीय है कि दिगम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों में अंगप्रविष्ट आचारांगादि (द्वादशागी) के विच्छेद का तो उल्लेख है किन्तु अगबाह्य आदि शेष आगमों के विच्छिन्न होने का किसी भी ग्रन्थ में उल्लेख नही किया गया है। दिगम्बर परम्परा की प्रचलित मान्यता के अनुसार तो द्वादशागी की तरह अंगबाह्य आगम भी विच्छिन्न की कोटि मे गिने जाते है पर यदि दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध वाङ्मय का समीचीनतया अनुशीलन किया जाय तो उसमें कही इस बात का संकेत तक भी नही मिलेगा कि अगबाह्य आगम विलुप्त हो गये।

यदि निष्पक्ष एवं सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनो परम्पराओ के आगमों का तुलनात्मक विवेचन किया जाय तो स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति (केवलि-कवलाहार) आदि छोटी बडी ८४ बातो के मान्यताभेद के अतिरिक्त शेष सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन,

[1] (क) षट्खण्डागम, वेदनाखण्ड, धवला टीका, भाग ९, पृ० १३०
(ख) हरिवंश, पु०, सर्ग ६६, श्लोक २२ से २४
(ग) उत्तरपुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१६ से ५२७
(घ) महापुराण पुष्पदन्त, सन्धि १००, पृ० २७४
(ङ) तिलोयपण्णती, अधि० ४, गा० १४९२
(च) श्रुतावतार (इन्द्रनन्दी), श्लोक ७८-८४
(छ) छ सयतिरासिय वासे णिव्वाण्णा अगच्छित्ति कहिय जिणे ॥१९॥
(नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली)

षट्खण्डागम, पुस्तक १४, सूत्र १२२ से १२४ :-

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहण च ।
साहारणजीवाण, साहारणलक्खण भणिद ।।[१]
एयस्स अणुग्गहण, बहूण साहारणाणमेयस्स ।
एयस्स ज बहूण, समासदो तं पि होदि एयस्स ।।
समग वक्कताण, समग तेसि सरीरणिप्पत्ती ।
समग च अणुग्गहण, समग उस्सासणिस्सासो ।।

उपर्युक्त तीन गाथाओ का षट्खण्डागम मे जो पाठ दिया गया है, उसकी अपेक्षा पन्नवणासूत्रान्तर्गत पाठ अधिक व्यवस्थित और विशुद्ध है ।

(७) पन्नवणा सूत्र में ऐसी अनेक गाथाए है जो षट्खण्डागम मे भी है । इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, पुस्तक स० १३ के गाथा सूत्र ४ से ९, १२, १३, १५ और १६ आवश्यक निर्युक्ति (गाथा स० ३१ से) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गा० ६०४ से) की गाथाओ से मिलती-जुलती है ।

(८) इन दोनो मे अल्प-बहुत्व प्राय समान रूप से वर्णित है और उन्हे महादण्डक के नाम से अभिहित किया गया है ।

(९) प्रज्ञापनासूत्र (सूत्र १४४४ से ६५) और पट्खण्डागम (पुस्तक ६, सूत्र ११६, २२० आदि), इन दोनो के गत्यागत्यादि प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, तथा वासुदेव के पदो की प्राप्ति के उल्लेख की समानता तो वस्तुत आश्चर्यजनक है ।

(१०) इन दोनो में अवगाहना, अन्तर आदि अनेक विषयो का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है ।

(११) जीवो के अल्प-बहुत्व विषयक विचार के प्रसग मे प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम के अधोलिखित पाठो की प्रतिपादनशैली आदि की समानता भी वस्तुतः विचारणीय है .-

"अह भते ! सव्वजीवप्पबहु महादडय वत्तइस्सामि-सव्वत्थो वा गब्भवक्कंतिया मणुस्सा··· ·····सजोगी विसेसाहिया ९६, ससारत्था विसेसाहिया ९७, सव्व जीवा विसेसाहिया ९८।।"-पन्नवणा, सूत्र ३३४ ।

"एत्तो सव्वजीवेसु महादडओ कादव्वो भवदि । सव्वत्थो वा मणुस्सपज्जत्ता गब्भोवक्कतिया · ·· · ···णिगोदजीवा विसेसाहिया ।। – पट्खण्डागम, पु० ७, सूत्र १-९९ ।

(१२) प्रज्ञापनासूत्र मे इसके ३६ पदो मे से २३ वे से २७ वे और ३५ वे पद के क्रमश कर्मप्रकृतिपद, कर्मबन्ध पद, कर्मबन्धवेद पद, कर्मवेदबन्ध पद, कर्म-

---

[१] तत्थ इम साहारण लक्खण भणिद । – इस सूत्र स० १२१ के पाठ से अनुमान किया जाता है कि ये गाथाए कही से उद्धृत हैं । — सम्पादक

धरसेन[1] के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम के तुलनात्मक अध्ययन से यह आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि शैलीभेद को छोड़कर पन्नवणा सूत्र और षट्खण्डागम मे पर्याप्त साम्य है। इन दोनों आगमों की समानता सिद्ध करने वाले कतिपय तथ्य संक्षेप में इस प्रकार है :-

(१) जीव तथा कर्म का सैद्धान्तिक विवेचन इन दोनों शास्त्रों का विषय है।

(२) दोनो का मूल स्रोत दृष्टिवाद है।[2]

(३) इन दोनों रचनाओं में निरूपण-साम्य के अतिरिक्त समान शब्दावलि एव उक्तियों का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

(४) इन दोनों की रचना सूत्र रूप में है।

(५) दोनो मे ही सूत्र कहीं-कहीं गाथात्मक भी है।

(६) प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम की निम्नलिखित गाथाएं पर्याप्त रूपेण समान है :-

प्रज्ञापना सूत्र –

समय बक्कंताणं, समय तेसि सरीर निव्वत्ती।
समयं आणुग्गहणं, समयं ऊसास-नीसासे ॥ ९९ ॥
एक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाणं तं चेव।
जं बहुयाण गहण, समासओ तं पि एगस्स ॥१००॥
साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च।
साहारणजीवाण, साहारणलक्खण एयं ॥१०१॥

---

[1] हरिवशपुराण मे जिनसेन द्वारा दी गई आचार्यो की पट्टावली मे उल्लिखित आचार्य धरसेन के अतिरिक्त अन्यत्र किसी पट्टावली में पुष्पदन्त तथा भूतबलि के गुरू आचार्य धरसेन का नाम दृष्टिगोचर नही होता। हरिवशपुराण मे दी गई पट्टावली के अनुसार बिनयधर से १८वे आचार्य धरसेन को यदि पुष्पदन्त और भूतवलि का शिक्षागुरू मान लिया जाता है तो धरसेन का समय वीर नि० स० १०१३ से १०४३ के बीच का ठहरता है। पुन्नाटसघीय आचार्य धरसेन से यदि चन्द्रगुहावासी धरसेन को भिन्न माना जाता है तो भी अर्हद्बली के पश्चद्वर्ती होने के कारण इनका समय निश्चित रूप से वीर नि० स० ७८३ के पश्चात् का ही ठहरता है।

[2] (क) अज्झयणमिणं चित्तं, सुयरयण दिट्ठीवायणीसदं।
जह वण्णियं भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि ॥३॥
(पण्णवणासुत्तं, पृ० १)

(ख) अग्रायणीयपूर्वस्थित पंचमवस्तुगत चतुर्थमहा–।
कर्मप्राभृतकज्ञ सूरिर्धरसेन नामाभूत् ॥१०४॥
कर्म प्राकृतिप्राभृतमुपसहार्यैव पड्भिरिह खण्डैः ॥१३४॥
(श्रुतावतार-इन्द्रनन्दीकृत)

(ग) भूदवलि-भयवदा जिणवालिद पासे दिट्ठ विसदिसुत्तेण अप्पाउओत्ति अवगयजिणवालिदेण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काऊण गथरयणा कदा।
(षट्खण्डागम, जीवट्ठाण, भा० १, पृ० ७१)

द्वार २६ और षट्खण्डागम मे १४ है तथापि दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही यह प्रकट हो जाता है कि षट्खण्डागम मे वर्णित १४ मार्गणाद्वार वस्तुत प्रज्ञापना सूत्र मे वर्णित २६ द्वारो मे से १४ के साथ पूर्णत मिलते-जुलते है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्टत प्रकट होता है –

प्रज्ञापनासूत्र	षट्खण्डागम (पुस्तक ७, पृ० ५२०)	प्रज्ञापनासूत्र	षट्खण्डागम
		१३. उपयोग	—
		१४. आहार	१४. आहारक
१. दिशा	—	१५. भाषक	—
२. गति	१. गति	१६. परित्त	—
३. इन्द्रिय	२. इन्द्रिय	१७. पर्याप्त	—
४. काय	३. काय	१८. सूक्ष्म	—
५ योग	४. योग	१९. सज्ञी	१३ सज्ञी
६ वेद	५. वेद	२०. भव	११ भव्य
७. कपाय	६. कषाय	२१. अस्तिकाय	—
८ लेश्या	१० लेश्या	२२ चरिम	—
९. सम्यक्त्व	१२. सम्यक्त्व	२३. जीव	—
१०. ज्ञान	७. ज्ञान	२४ क्षेत्र	—
११ दर्शन	९. दर्शन	२५. बध	—
१२ सयत	८. सयम	२६. पुद्गल[1]	

१५ जिस प्रकार पन्नवणासूत्र के बहुवक्तव्यता नामक तीसरे पद मे गति आदि मार्गणास्थानो की अपेक्षा से २६ द्वारों द्वारा जीवो के अल्प – बहुत्व पर विचार करने के पश्चात् इस प्रकरण के अन्त मे – "अह भते ! सव्वजीवप्पबहु महादडय वत्तइस्सामि" – इस वाक्य द्वारा महादण्डक प्रस्तुत किया गया है, ठीक उसी प्रकार षट्खण्डागम मे भी १४ गुण स्थानो मे गति आदि १४ मार्गणास्थानो द्वारा जीवों के अल्पबहुत्व पर विचार करने के पश्चात् इस प्रकरण के अन्त मे महादण्डको का उल्लेख किया गया है ।[2]

प्रज्ञापनासूत्र में जीव को केन्द्र मान कर जीवप्रधान निरूपण किया गया है। षट्खण्डागम मे यद्यपि कर्म को केन्द्र बना कर कर्मप्रधान निरूपण किया गया है तथापि "खुद्दाबध" नामक द्वितीय खण्ड में बन्धक – जीव का विचार १४ मार्गणा-

---

[1] सूत्र २१२

दिसि गति इदिय काए जोगे वेदे कसाय लेस्सा य ।
सम्मत्त णाण दसण सजय उवओग आहारे ।।१८० गाथा।।
भासग परित्त पज्जत्त सुहुम सण्णी भवत्थिए चरिमे ।
जीवे य खेत्त बधे पोग्गल महदडए चेव ।।१८१ गाथा।।

[पन्नवणासुत्त, तइय बहुवत्तव्वपय, सूत्र २१२]

[2] षट्खण्डागम, पुस्तक ७, पृ० ७४५ ।

वेदवेदक पद और वेदनापद ये ६ नाम उल्लिखित हैं। षट्खण्डागम के टीकाकार ने षट्खण्डागम के ६ खण्डों के क्रमश: जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध – ये ६ नाम दिये है। वस्तुत: ये तुलना करने योग्य है। प्रज्ञापना में उपर्युक्त पदों के अन्तर्गत जिन तथ्यो की चर्चा की गई है, उन्ही की चर्चा षट्खण्डागम के तत्समान नाम वाले खण्डों मे भी की गई है।

(१३) आहारक एवं अनाहारक जीवो का वर्गीकरण करते हुए इन दोनो आगमों मे सयोगिकेवली द्वारा आहार ग्रहण किये जाने तथा अयोगिकेवली एव समुद्घातगत सयोगिकेवली द्वारा आहार ग्रहण न किये जाने का समान रूप मे उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है :-

पण्णवणा सूत्र –

"केवलि आहारए णं" भते ! केवलि आहारए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूण पुव्वकोडि ।।" सूत्र १३६६।

"सजोगि भवत्थकेवलि अणाहारए णं भंते ! ० पुच्छा। गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तिण्णि समया।" सूत्र १३७२।

"अजोगिभवत्थकेवलि अणाहारए णं ० पुच्छा। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।" सूत्र १३७३।

षट्खण्डागम –

"आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा" ।।सूत्र १७५।

"आहारा एयंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।।" – जीवट्ठाण संत-परूवणा, सू० १७६।

अर्थात् आहारमार्गणा की दृष्टि से जीव आहारक और अनाहारक दोनों ही प्रकार के होते है। १७५

आहारक जीव एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवलि पर्यन्त होते हैं ।।१७६।।

"अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घा-दगदाण अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।।१७७।।

इन दोनों मूल आगमो के मूल पाठ मे केवलि-भुक्ति का समान रूप से समान भावद्योतक शब्दो मे प्रतिपादन किया गया है।

(१४) प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम – इन दोनों ही आगमो में गति आदि मार्गणास्थानो की अपेक्षा से जीवो के अल्पबहुत्व पर विचार किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र में अल्प-बहुत्व की मार्गणाओ में २६ द्वार है, जिनमें जीव-अजीव इन दोनों का ही विचार किया गया है। षट्खण्डागम में चौदह गुणस्थानों से सम्बन्धित गत्यादि मार्गणास्थानों को दृष्टिगत रखते हुए जीवों के अल्प-बहुत्व पर विचार किया गया है। यद्यपि प्रज्ञापनासूत्र मे अल्प-बहुत्व की मार्गणाओं के

इस दृष्टि से कि भविष्य में कही ग्रन्थकार के सम्बन्ध मे भ्रान्ति न हो जाय, दूसरी और तीसरी गाथा के बीच मे निम्नलिखित दो गाथाए रख दी .–

वायगरवंसाओ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण ।
दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीण ।।१।।
सुयसागरा विणेऊण जेण सुयरयणमुत्तम दिण्ण ।
सीसगणस्स भगवओ तस्स नमो अज्जसामस्स ।।२।।

अर्थात् – वाचकश्रेष्ठों (वाचनाचार्यो) के वश मे हुए पूर्व – श्रुत – ज्ञान से समृद्ध बुद्धि वाले मुनियों में अधिक गहन ज्ञान धारण करने वाले जिन-तेवीसमे धीर मुनिवर ने अथाह श्रुतसागर से सूत्र – रत्न निकाल कर शिष्यगण को दिया, उन आर्य श्याम को नमस्कार है ।

तीसरी गाथा में आये हुए "अहमवि' की परिचायक ये दो अन्य-कर्तृक गाथाएं किसी ने बहुत सोच विचार के पश्चात् उचित स्थान पर ग्रन्थ के मूल भाग मे रखी है । हरिभद्रसूरि और मलयगिरि ने पन्नवणा की स्वनिर्मित वृत्तियो मे इन दोनो गाथाओ को स्थान देकर अन्यकर्तृक अथवा प्रक्षिप्त बताते हुए इनकी व्याख्या की है । आचार्य हरिभद्र वस्तुत· धवलाकार आचार्य वीरसेन से लगभग १२५ वर्ष पूर्व हुए है । इससे यह सिद्ध होता है कि ये गाथाए विक्रम की ८ वी शताब्दी से बहुत पूर्व की है । यह भी सभव है कि श्यामार्य के किसी शिष्य ने उनके जीवन-काल मे अथवा कुछ समय पश्चात् ही इन गाथाओ को पन्नवणा के आद्य मूल पाठ के साथ जोड दिया हो ।

२. दूसरा प्रमाण हिमवन्त स्थविरावली का प्रस्तुत किया जाता है, जो इस प्रकार है·–

| 'समणाण' णिग्गंठाण' णिग्गंठीणं' य जिणपवयणसुलहबोहट्ठ' ण अज्जसामेहि' थेरेहि य तत्थ पण्णवणा परूविया ।[1]

अर्थात् – श्रमण निर्ग्रन्थों एवं निर्ग्रन्थनियो को जिन – प्रवचनो का सुगमता-पूर्वक बोध कराने के उद्देश्य से स्थविर आर्य श्याम ने "पन्नवणा" नामक सूत्र की प्ररूपणा की ।

षट्खण्डागम का निर्माण पुष्पदत और भूतबलि ने धरसेन से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् किया, दिगम्बर परम्परा की इस परम्परागत मान्यता की पुष्टि मे मुख्य रूप से धवला और इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किये जाते है –

१. तदो सव्वेसिमगपुव्वाणमेगदेसो आइरिय – परपराए आगच्छमाणो धरसेणायरिय सपत्तो । (षट्खण्डागम, जीवट्ठाण (धवला), भा० १, पृ० ६८) ....पुणो तेहि धरसेण भयवतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु

[1] हिमवन्त स्थविरावली, हस्तलिखित ।

स्थानो द्वारा किया गया है। इस प्रकरण मे पन्नवणासूत्र की शैली को अपना लिया गया है।

इन दोनो आगमो के सूक्ष्म तथा निष्पक्ष अध्ययन से इस प्रकार की और भी कतिपय समानताओं को प्रकाश में लाया जा सकता है। उपरिलिखित समानताओं पर विचार करने के पश्चात् कम के कम यह तथ्य तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि इन दोनों का स्रोत एक है, इन दोनो का विषय एवं इन दोनों की प्रतिपाद्य वस्तु एक है। यदि इनमे भिन्नता नाम की कोई वस्तु है तो वह है ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम की और निरूपण-शैली की।

गति आदि मार्गणास्थानों द्वारा जीव के अल्प – बहुत्व पर विचार करने के तत्काल पश्चात् इन दोनों ग्रन्थों के एतद्विषयक प्रकरण में महादण्डक का निरूपण तथा षट्खण्डागम के "खुद्दाबध" नामक द्वितीय खण्ड में पन्नवणासूत्र के समान जीवप्रधान निरूपण शैली को अपनाना–ये दो तथ्य निष्पक्ष विचारकों के इस अनुमान को पुष्ट करते है कि इन दोनों ग्रन्थों में से किसी एक की रचना के समय उसके रचनाकार के समक्ष इनमें से कोई एक ग्रन्थ अवश्य ही आधार रूप में विद्यमान रहा होगा।

पन्नवणासूत्र और षट्खण्डागम इन दोनों ग्रन्थों मे अधिक प्राचीन कौनसा ग्रन्थ है, इसका निर्णय इन दोनों ग्रन्थों के प्रणेताओं के काल-निर्णय के अनन्तर स्वतः ही हो जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यतानुसार पन्नवणासूत्र के प्रणेता दश पूर्वधर आर्य श्यामाचार्य और दिगम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यतानुसार षट्खण्डागम के प्रणयनकार है पूर्व तथा अंगज्ञान के एक देशधर आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि।

दश पूर्वधर आर्य श्यामाचार्य ने पन्नवणासूत्र की रचना की – इस श्वेताम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यता की पुष्टि में मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जाते है :–

१. पन्नवणासूत्र के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा तीन गाथाएं दी गई है। पहली गाथा में सिद्धों को नमस्कार करने के अनन्तर त्रैलोक्य गुरू भगवान् महावीर का वंदन किया गया है। दूसरी और तीसरी गाथा में ग्रन्थकार ने कहा है कि भव्य जीवों का उद्धार करने वाले भगवान् ने श्रुतरत्ननिधान स्वरूप सब भावो की प्रज्ञापना का उपदेश दिया। जिस प्रकार भगवान् ने वर्णन किया है, उसी प्रकार मैं भी दृष्टिवाद से उद्धृत श्रुतरत्नस्वरूप इस अति सुन्दर अध्ययन का वर्णन करूंगा।

तीसरी गाथा के अन्तिम चरण मे आये हुए – "अहमवि तह वण्णइस्सामि" से ग्रन्थकार के नाम का बोध नही होता अतः प्राचीन काल में किसी आचार्य ने

तद्दिन एवैकस्य द्विज-पक्ति विषमितामपास्य सुरै' ।
कृत्वा कुन्दोपमिता नाम कृत पुष्पदन्त इति ॥१२७॥
अपरोऽपि तुर्यनादैर्जयघोषैर्गन्धमाल्यधूपाद्यैः ।
भूतपतिरेष इत्याहूतो भूतैर्मह कृत्वा ॥१२८॥
स्वासन्नमृति ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन् ।
इति गुरुणा सचिन्त्य द्वितीय दिवसे ततस्तेन ॥१२९॥
प्रियहित वचनैरमुष्य तावुभावेव कुरीश्वर प्रहितौ ।
.... ॥१३०॥
–अथ पुष्पदन्त मुनिरप्यध्यापयितु स्व भागिनेय तम् ।
कर्म प्राकृतिप्राभृतमुपसहार्यैव षड्भिरिह खण्डै. ॥१३४॥
वाछन् गुणजीवादिकविशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया ।
युक्त जीवस्थानाद्यधिकार व्यरचयत्सम्यक् ॥१३५॥
सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरोः पार्श्वम् ।
तदभिप्राय ज्ञातु प्रस्थापयदगमदेशेऽपि ॥१३६॥
तेन तत परिपठिता, भूतबलि सत्प्ररूपणा श्रुत्वा ।
षट्खण्डागमरचनाभिप्राय पुष्पदन्तगुरोः ॥१३७॥
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य तत' ।
द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकार खण्डपचकस्यान्वक् ॥१३८॥
सूत्राणिषट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि ।
प्रविरच्य महाबन्धाह्वय ततः षष्टक खण्डम् ॥१३९॥
त्रिशत्सहस्रसूत्रग्रन्थ व्यरचयदसौ महात्मा ।
तेषा पञ्चानामपि खण्डाना शृणुत नामनि ॥१४०॥
—एव षट्खण्डागमरचना प्रविधाय भूतबल्यार्य ।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु तत ॥१४२॥

इन्द्रनन्दी के कथन का साराश यह है कि वीर नि० स० ६८३ मे अतिम आचारागधर लोहार्य के स्वर्गगमन के साथ अग ज्ञान का भी विच्छेद हो गया। उनके पश्चात् पूर्व और अगज्ञान के एक-देश-धर क्रमश (१) विनयधर, (२) श्रीदत्त, (३) शिवदत्त, (४) अर्हद्दत्त, (५) अर्हद्बली और (६) माघनन्दी नामक आचार्य हुए। माघनन्दी से अनिश्चित काल पश्चात् धरसेन नामक महान् तपस्वी आचार्य हुए। धरसेन के समय, इनकी गुरु परम्परा अथवा शिष्य परम्परा आदि से सम्बन्धित किसी प्रकार की सूचना देने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए इन्द्रनन्दी ने लिखा है कि इस सम्बन्ध मे न तो किसी मुनि को जानकारी है और न कही किसी पुस्तक मे ही इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध होता है।[1] आचार्य

[1] गुणधर धरसेनान्वय गुर्वो पूर्वापरक्रमोऽस्माभि. ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥ [श्रुतावतार – इन्द्रनन्दीकृत]

तुट्ठेण धरसेण भडारएण सोम्म-तिहि-णक्खत्त-वारे गथो पारद्धो। पुणो कमेण वक्खाणतेण तेण आसाढ-मास-सुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो। विणएण गंथो समाणिदो त्ति तुट्ठेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी पूजा पुप्फ – वलि – संख – तूर – रवसकुला कदा। तं दट्ठूण तस्स 'भूदवलि' त्ति भडारएण णामं कयं। अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ – वियत्थ – ट्ठिय – दंत – पतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णामं कयं।......

.... 'तदो पुप्फयंताइरिएण जिणवालिदस्स दिक्ख दाऊण विसदि सुत्ताणि कारिय पढ़ाविय पुणो सो भूदबलि – भयवतस्स पासं पेसिदो। भूदवलिभयवदा जिणवालिद – पासे दिट्ठ विसदि सुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगय – जिणवालि – देण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्व – पमाणाणुगममादि काऊण गथरयणा कदा। तदो एवं खड सिद्धंत पडुच्च भूदवलि – पुप्फयताइरियावि कत्तारो उच्चति।' (वही, पृ० ७१ – ७२)

इस प्रकार विक्रम स० ८३० (वीर नि० स० १३००) के आसपास हुए आचार्य वीरसेन ने धवला मे षट्खण्डागम का रचनाकार पूर्व तथा अंग – ज्ञान के एक देशधर आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदत तथा भूतबलि को माना है।

२. इसकी पुष्टि मे दूसरे प्रमाण के रूप में इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किये जाते है :-

देशे ततः सुराष्ट्रे, गिरिनगर पुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ।
चंदगुहाविनिवासी, महातपा परम मुनि – मुख्यः ॥१०३॥
अग्रायणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहा –
कर्म – प्राभृतकज्ञः, सूरिर्धरसेननामाभूत् ॥१०४॥
सोऽपि निजायुष्यान्तं, विज्ञायास्माभिरलमधीतमिदम्।
शास्त्रं व्युच्छेदमवाप्स्यतीति सचिन्त्य निपुणमतिः ॥१०५॥
देशेन्द्रदेशनामनि, वेणाकतटीपुरे महामहिमा।
समुदितमुनीन् प्रति, ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥१०६॥
-अभिवन्द्य कार्यमेवं, निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम्।
स्वल्प तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्ति. ॥१०९॥
न स्याद्यथा तथा द्वौ, यतीश्वरौ ग्रहणधारणसमर्थौ।
निशित – प्रज्ञौ यूयं, प्रस्थापयतेति लेखार्थम् ॥११०॥
सम्यगवधार्य तैरपि तथाविधौ द्वौ मुनी समन्विष्य।
प्रहितौ तावपि गत्वा, चापतुररमूर्जयन्तगिरिम् ॥१११॥
–सोऽप्यति योग्याविति सञ्चिन्त्य ततः सुप्रशस्ततिथिवेला–
नक्षत्रेपु तयोर्व्याख्यातुं, प्रारब्धवान् ग्रन्थम् ॥१२४॥
दिवसेपु कियत्स्वपि गतेष्वथापाढमासि सितपक्षे।
एकादश्यां च तिथौ ग्रन्थसमाप्तिः कृता विधिना ॥१२६॥

नामोल्लेख करने वाले दो प्रमुख विद्वानों मे से एक ने पन्नवरणा सूत्र की आदि के मूल मगलपाठ मे ही अपनी ओर से २ गाथाए देकर इस तथ्य को प्रकट किया है कि पन्नवरणा सूत्र की श्रुतसागर के मन्थन द्वारा तेवीसवे वाचक श्रेष्ठ श्यामाचार्य ने रचना की वहा षट्खण्डागम के रचनाकार का नामोल्लेख करने वाली दोनो ही साक्षिया स्वय मूल ग्रन्थ की न होकर इतर दो ग्रन्थो की है। आज से १३०० वर्ष पूर्व भी आचार्य श्यामार्य का पन्नवरणा सूत्रकार के रूप मे परिचय देने वाली उपरिलिखित दोनो गाथाए मूल मगल पाठ मे निहित थी इस तथ्य की साक्षी विक्रम की आठवी शताब्दी मे हुए आचार्य हरिभद्र सूरि ने पन्नवरणासूत्र की स्वरचित वृति मे इन गाथाओ को केवल स्थान देकर ही नही अपितु इनकी व्याख्या करके दी है।[1]

इसमे तो किसी की दो राय नही होगी कि याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने पन्नवरणा सूत्र पर टीका की रचना करते समय पन्नवरणासूत्र की उनके समय मे उपलब्ध हो सकने वाली प्राचीन से प्राचीनतम प्रतियो को प्राप्त करने का प्रयास किया होगा। आज के युग मे भी आज से ८००-६०० वर्ष पुरानी आगमो की हस्तलिखित प्रतिया उपलब्ध होती है। हरिभद्र सूरि को भी टीका की रचना करते समय आठसौ-नवसौ वर्ष पुरानी न सही कम से कम २०० वर्ष पूर्व लिखी हुई ताडपत्रीय प्रतिया तो अवश्य मिली होगी – यह मानने मे तो किसी को किसी प्रकार की शका नही हो सकती ।

आचार्य हरिभद्र का समय पुरातत्वाचार्य पद्मश्री मुनि जिनविजयजी द्वारा अन्तिम रूप से विक्रम स० ७५७-८२७ निर्णीत किया जा चुका है,[2] जिसे सभी इतिहासज्ञो ने स्वीकार किया है।

उद्योतनसूरि अपर नाम दाक्षिण्यचिन्ह ने प्राकृत भाषा के अपने उच्चकोटि के ग्रन्थ कुवलयमाला मे आचार्य हरिभद्रसूरि को इन शब्दो मे नमन किया है –

जो इच्छइ भवविरह, भव विरह[3] को रण वदए सुयरणो ।
समय-सय-सत्थ-गुरुरणो, समरमियका कहा जस्स ।।

[कुवलय माला, प्रारम्भ]

---

[1] अस्याश्च गाथाया "अज्झयरणमिरण चित्त" मित्यनया गाथयासहाभिसम्बन्ध । अतश्च येनेय सत्वानुग्रहाय श्रुतसागरादुद्धृता असावप्यासन्नतरोपकारित्वादस्मद्विधाना नमस्कारार्ह इत्यतस्तद्विषयमिदमपाताराल एवान्यकर्तृक गाथाद्वयमिति । "वायगवर" गाथा, वाचका' पूर्वविद वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवराः वाचकप्रधाना इत्यर्थ, तेषा वश. प्रवाहो वाचकवरवशस्तस्मिन् त्रयोविंशतितमेन, तथा च सुधर्मादारभ्य आर्य श्यामस्त्रयोविंशतितम एव, [हारीभद्रीया प्रज्ञापनावृत्ति, पृ० ४-५]

[2] (क) जैन साहित्य सशोधक, भाग १, अक १, वीर नि० स० २४४६, पृष्ठ २१ से ५३,
(ख) "समदर्शी आचार्य हरिभद्र" (प० सुखलाल सघवी डी० लिट्) पृ० ८,

[3] "विरह" शब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्व प्रकरणस्यावेदितम्, विरहाकत्वात् हरिभद्रसूरेरिति । [जिनेश्वर सूरिकृत 'अष्टम प्रकरण' टीका]

धरसेन अग्रायणीय पूर्व की पचम वस्तु के अन्तर्गत चतुर्थ महाकर्मप्राभृत के ज्ञाता थे। अपने जीवन के सध्याकाल मे धरसेन को चिन्ता हुई कि कही उनके निधन के साथ ही "महाकर्म प्राभृत" विलुप्त न हो जाय। उन्होंने महामहिमा नगरी मे एकत्रित श्रमरण-समूह की सेवा मे एक पत्र भेज कर दो मेधावी मुनियों को अपने पास भेजने की प्रार्थना की, जिन्हें वे चतुर्थ महाकर्म प्राभृत का ज्ञान देकर उसे नष्ट होने से बचावे। वेरणातट पर सम्मिलित श्रमरणों ने[1] धरसेन के निर्देशानुसार श्रमरण-समूह मे से दो मेधावी मुनियों को चुन कर उनके पास भेजा। अच्छी तरह परीक्षरण के पश्चात् आचार्य धरसेन ने उन दोनों मेधावी मुनियो को चतुर्थ महाकर्मप्राभृत के ज्ञान के लिये सुयोग्य पात्र समझ कर शिक्षा देना प्रारम्भ किया। परम निष्ठा, परिश्रम और विनय-पूर्वक अध्ययन करते हुए उन दोनो मुनियो ने उस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन समुचित समय मे सम्पन्न किया। सुरो ने बड़े उत्सव के साथ उन दोनो मुनियो मे से एक का नाम पुष्पदन्त और दूसरे का भूतपति (भूतबलि) रखा। अध्ययन की समाप्ति के दूसरे दिन ही धरसेन ने अपना अन्त समय सन्निकट समझ कर उन दोनो मुनियो को हितकर निर्देश देकर अपने यहाँ से कुरीश्वर नामक स्थान के लिये विदा किया। ९ दिनो मे वे दोनो कुरीश्वर पत्तन पहुँचे। वहाँ वर्षावास बिताने के पश्चात् दक्षिरण की ओर विहार कर वे करहाट पहुँचे। वहा पुष्पदन्त मुनि के भानजे जिनपालित ने अपने मातुल मुनि के सान्निध्य मे निर्ग्रन्थ श्रमरण-धर्म की दीक्षा ग्रहरण की। तदनन्तर पुष्पदन्त ने जिनपालित के साथ वनवास में और भूतबलि द्रविड़ देश के मधुरा नामक नगर मे रहने लगे।[2] पुष्पदन्त आचार्य ने गुरण, जीव आदि बीस प्ररूपरणा गर्भित सत्प्ररूपरणा के सूत्र बना उन्हे जिनपालित को पढ़ाकर उसे भूतबलि के पास भेजा। जिनपालित के मुख से सत्प्ररूपरणा को सुनकर भूतबलि ने समझ लिया कि अब पुष्पदन्त की आयु स्वल्प ही अवशिष्ट रही है और उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि षट्खण्डागम की रचना की जाय। तदनुसार भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की।

पन्नवरणा सूत्र और षट्खण्डागम – इन दोनों ही आगमो के मूल पाठ में कही इस प्रकार का कोई उल्लेख नही है, जिससे इनके रचयिताओं का नाम ज्ञात हो सके। इन दोनों रचनाओ के रचनाकारों का नामोल्लेख दूसरे विद्वानो द्वारा किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि जहां पन्नवरणासूत्र के प्ररणेता का

---

[1] दिगम्बर परम्परा मे यह मान्यता प्रचलित है कि अर्हद्बली ने उन दोनो मुनियो को धरसेन के पास भेजा। पर इस मान्यता का कोई प्रामारिणक आधार दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय मे खोजने पर भी नही मिलता। हरिवशपुराण और श्रुतावतार के अनुसार अर्हद्बलि का स्वर्गवास वीर नि० स० ७८३ अथवा ७९१ मे अनुमानित किया जाता है। इनके पश्चात् माघनन्दी २१ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे तदनुसार वी० नि० स० ८०४ अथवा ८१२ के पश्चात् का धरसेन का समय हो सकता है। —सम्पादक

[2] षट्खण्डागम (पु० १, पृ० ७२) मे – "भूतबलि भडारओ वि दमिल विसय गदो।" इस प्रकार का उल्लेख है।

छोटे बडे ८६ ग्रन्थो की रचना की। उनका सुविशाल साहित्य ही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे अवश्यमेव शतजीवी रहे होगे।

इन सब तथ्यो पर विचार करने पर हरिभद्र सूरि का जन्मकाल शक स० ६०० और निधनकाल शक स० ६९० से ७०० के आसपास का अनुमानित किया जा सकता है।

इस प्रकार 'कुवलयमाला' के उल्लेखानुसार निश्चित रूप से शक स० ७०० से पहले और अनुमानतः शक सं० ६०० से ७०० तदनुसार विक्रम स० ७३५ से ८३५ के बीच हुए आचार्य हरिभद्र के समक्ष पन्नवरणा की टीका लिखते समय उपरोक्त दो गाथाए पन्नवरणा के मूल पाठ मे विद्यमान थी, जिनमे आर्य श्यामाचार्य को पन्नवरणासूत्र का प्रणेता बताया गया है। पन्नवरणा पर टीका की रचना करते समय यदि हरिभद्र सूरी के समक्ष २०० वर्ष पुरानी पन्नवरणा की प्रतिया भी रही हो तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व भी ये दो गाथाएं पन्नवरणा के मूल पाठ मे अन्यकर्त्तृक गाथाओ के रूप मे विद्यमान थी, जिनमे यह बताया गया है कि आचार्य श्यामार्य ने पन्नवरणा सूत्र की रचना की।

इन तथ्यो से प्रमाणित होता है कि आर्य श्यामाचार्य को पन्नवरणा का रचनाकार सिद्ध करने वाली साक्षी हरिभद्र द्वारा किये गये उल्लेख की दृष्टि से विक्रम स० ७८५ के आसपास की और उनके समक्ष पन्नवरणा (मूल) की जो प्रति विद्यमान रही, उसकी दृष्टि से विक्रम स० ५८५ की है।

आचार्य पुष्पदन्त और – भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख मुख्य रूप से आचार्य वीर सेन ने षट्खण्डागम की अपनी धवला नामक टीका मे और इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार मे किया है। ये दोनो साक्षियाँ पन्नवरणा सूत्र को आर्य श्यामाचार्य की रचना बताने वाली उपरोक्त प्राचीन साक्षी की तुलना मे अर्वाचीन और कम वजनदार है। डॉ० हीरालाल ने आचार्य वीर सेन का समय शक स० ७३८ तदनुसार विक्रम स० ८७३ निश्चित रूप से निर्णीत किया है।[1] इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार भी विक्रम की ११ वी शताब्दी का रचना मानी गई है।[2]

उपर्युक्त तथ्यो से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य श्यामाचार्य का पन्नवरणाकार के रूप मे परिचय देने वाली उपरिर्चचित २ गाथाए आज से १४५० से भी अधिक पूर्वकाल से पन्नवरणा सूत्र के मूल पाठ के साथ चली आ रही है। धरसेन का षट्खण्डागमकार के रूप मे परिचय देने वाला धवला का उल्लेख आज से ११५८ वर्ष पहले का होने के कारण पन्नवरणा विषयक उल्लेख से लगभग ३०० वर्ष पीछे का है।

---

[1] षट्खण्डागम (जयधवला) प्रथम खण्ड, (द्वितीय सस्करण) की प्रस्तावना, पृ० ३९

[2] "जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार (फतेहचन्द बेलानी), पृ० ११

सो सिद्धंतेण गुरू, जुत्ती-सत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।
बहु- सत्थ-गंथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड-सव्वत्थो ।।

[कुवलयमाला प्रशस्ति]

इस प्रकार उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला मे हरिभद्र सूरि को अनेक ग्रन्थो की रचना द्वारा समस्त श्रुतशास्त्र का सच्चा अर्थ प्रकट करने वाले तथा स्वयं को प्रमाण और न्यायशास्त्र के सिखाने वाले गुरू के रूप मे स्मरण किया है ।

'कुवलय मालाकार' उद्योतन सूरि, अपर नाम दाक्षिण्यचिन्ह ने अपने इस ग्रन्थरत्न के अन्त में इसके समापन के समय का उल्लेख इस प्रकार किया है.–

"..........अह चोद्दसीए चित्तस्स, किण्हपक्खम्मि ।
निम्मविया बोहकरी, भव्वाणं होउ सव्वाण ।।
....

सगकाले वोलीणे, वरिसाण सएहि सत्तहि गएहि ।
एग दिणे णूणेहि, एस समत्ता वरण्हम्मि ।।

अर्थात् –शक सवत् ७०० की समाप्ति से एक दिन पूर्व शुभ बेला मे इस (कुवलयमाला) की रचना सम्पूर्ण की । चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्ण की गई यह (कुवलयमाला) सभी भव्यजनों के लिये बोधप्रद हो ।

'कुवलयमाला' जैसे अद्भुत एवं उच्चकोटि के ग्रन्थ का प्रणयन करने योग्य पाण्डित्य प्राप्त करने में उद्योतन सूरि को कम से कम २५–३० वर्ष का समय अवश्य लगा होगा । यह एक निर्विवाद सत्य है कि पाण्डित्य का प्रवेश द्वार प्रमाण और न्यायशास्त्र का अध्ययन माना गया है । उद्योतन सूरि को दीक्षित करने के अनन्तर उनके गुरू तत्तायरिय ने उनकी सुतीक्ष्णबुद्धि और विलक्षण प्रतिभा देख कर उन्हे उस युग के लिये परमावश्यक प्रमाण और न्यायशास्त्र की शिक्षा दिलाने हेतु हरिभद्र सूरी की सेवा में रखा । उस समय तक हरिभद्र सूरि के प्रखर पाण्डित्य की कीर्तिपताका दिग्दिगन्त में फहरा रही होगी, यही प्रमुख कारण हो सकता है कि तत्तायरिय ने हरिभद्र सूरि को अपने मेधावी शिष्य के शिक्षक के रूप में चुना ।

इससे यह अनुमान किया जाता है कि शक सं० ६७० के आसपास उद्योतन सूरि न्याय शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने हेतु हरिभद्र सूरि की सेवा में उपस्थित हुए होगे । यह भी अनुमान किया जा सकता है कि हरिभद्र को शक सं० ६७० तक इस प्रकार की सर्वतो व्यापिनी प्रसिद्धि कम से कम ३० वर्ष की अनवरत साहित्य सेवा एव अपूर्व जिन शासन सेवा के पश्चात् ही प्राप्त हुई होगी । इस प्रकार सम्भवत: हरिभद्र सूरि ने शक स० ६४० के आस-पास साहित्य-सृजन का कार्य प्रारम्भ किया होगा एव उस समय उनकी अनुमानित वय ४० के लगभग और जन्मकाल शक स० ६०० होना चाहिए । हरिभद्र सूरि ने उपलब्ध सूची के अनुसार

दिगम्बर परम्परा के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान डॉ० हीरालाल जैन और श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने षट्खण्डागम, प्रथम खण्ड के द्वितीय सस्करण के अपने सम्मिलित सम्पादकीय मे – "आर्य श्याम ही पन्नवणा सूत्र के रचनाकार है" – इस तथ्य को सदेहास्पद सिद्ध करने का प्रयास करते हुए लिखा है .–

"...... " उन दोनो प्रक्षिप्त गाथाओ मे पन्नवणा सूत्र का नाम भी नही आया । जिस श्रुतरत्न का दान श्यामाचार्य ने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थरत्न का भी तो अभिप्राय हो सकता है। यदि हरिभद्राचार्य ने भी इन गाथाओ को प्रक्षिप्त कह कर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनके समय अर्थात् आठवी शती मे श्यामाचार्य की ख्याति हो चुकी थी। किन्तु इससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथाए जोडी गई, इसके क्या प्रमाण है । उन गाथाओ मे श्यामाचार्य को वाचक वश का तेइसवा पुरुष कहा है । यह वश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेईसवी पीढी कव पडी, इसका लेखा-जोखा कहा है ? उनसे पूर्व ग्रन्थ की अगभूत गाथा मे तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णवणा का उपदेश भगवान् जिनवर ने भव्य जनो की निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओ मे दुर्धर धीर व समृद्धबुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिर्दिष्ट श्रुतरत्न का दान अपने शिष्यगण को दिया गया । क्या प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्तृत्व के विषय मे मूल और प्रक्षेप की मान्यता एक ही कही जा सकती है ।"[1]

डॉ० द्वय की प्रथम तीन और अतिम, इन चार दलीलो मे तो वस्तुत. कोई दम नही है । क्योकि उपर्युक्त दो गाथाए पन्नवणा सूत्र की मूल गाथाओ के बीच मे जोडी गई है तथा तीसरी गाथा के चतुर्थ चरण मे ग्रन्थकार द्वारा अपने लिये प्रयुक्त – "अहमवि तह वण्णइस्सामि" को पूर्णत. स्पष्ट करने वाली है कि यह "अहमवि" कहने वाले आचार्य श्याम ही है, अन्य कोई नही । मूल गाथाओं के बीच मे दी हुई इन गाथाओ को पढते ही साधारण से साधारण पुरुष को भी सहज ही यह ज्ञात हो जाता है कि निश्चित रूप से पन्नवणा सूत्र को उद्दिष्ट कर ही ये गाथाए यहा रखी गई है और आर्य श्याम ने इसी ग्रन्थरत्न पन्नवणा सूत्र का अपनी शिष्य-प्रशिष्य सन्तति को दान दिया है । यदि ये दोनो गाथाए पन्नवणा सूत्र की मूल गाथाओ के बीच मे न होकर अन्यत्र कही फुटकर रूप मे होती तो सम्पादक द्वय की इन दोनो दलीलो मे बड़ा महत्वपूर्ण वजन होता ।

तीसरी दलील का सीधा सा उत्तर इस प्रकार हो सकता है – हरिभद्राचार्य को पन्नवणा की टीका करते समय मूल पन्नवणासूत्र की जो प्रतियॉ मिली वे उनके समय से कम-अज-कम ४००–५०० वर्ष पुरानी तो सुनिश्चित रूपेण होगी क्योकि आज भी कतिपय आगमो की ८००-६०० वर्ष पुरानी प्रतिया अनेक ग्रन्थागारो – ग्रन्थभण्डारो मे विद्यमान है । जब आचार्य हरिभद्र को अपने समय से ४००-५०० वर्ष पुरानी प्रतियो मे उपरिलिखित २ गाथाए मिली और इन्हे

[1] षट्खण्डागम प्रथम खड, द्वितीय सस्करण, सम्पादकीय, पृ० ८

इन उल्लेखो के अतिरिक्त पन्नवणाकार आर्य श्यामाचार्य और षट्खण्डागमकार आचार्य धरसेन के काल के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो आर्यश्याम वस्तुत: दशपूर्वधर होने के कारण[1] अंग पूर्वदेशधर आचार्य धरसेन से बहुत पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते है।

नदी सूत्रान्तर्गत पट्टावली की गाथा सं० २० से २६ में जिन महापुरुषो का स्मरण और वन्दन किया गया है, उनमे आर्यश्यामाचार्य का २३वां स्थान है। दुष्षमाकाल श्रमण-सघस्तोत्र की अवचूरि[2], विचारश्रेणी[3], तपागच्छ पट्टावली[4] आदि अनेक ग्रन्थों में आपका युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० स० ३३५ से ३७६ बताया गया है।

प्रथमोदय युगप्रधान यत्र मे आपका गृहस्थपर्याय २० वर्ष, व्रतपर्याय ३५ वर्ष, युगप्रधानाचार्यकाल ४१ वर्ष और पूर्ण आयु ९६ वर्ष, १ मास तथा १ दिन का बताया गया है। तपागच्छ पट्टावली के अतिरिक्त 'विचारश्रेणी' मे भी आर्य श्यामाचार्य को 'प्रज्ञापनासूत्र' का रचनाकार बताते हुए लिखा है :-

"तत: ३३५ अनुनिगोदव्याख्याता कालकाचार्य:। 'किलास्मद्वत् सप्रति भरते कालकाचार्यो निगोदव्याख्यातेति' श्रीसीमंधरवाचं श्रुत्वा वृद्धविप्ररूपेणेन्द्र' कालकाचार्य-पार्श्वे तथैव निगोदव्याख्याश्रवणादनु निजमायुरपृच्छत्। तैश्च श्रुतोपयोगादिन्द्रोऽसाविति ज्ञात:।.........अयं च प्रज्ञापनोपांगकृत्..........

यह पहले ही बताया जा चुका है कि पन्नवणा सूत्र की रचना का उपक्रम करते हुए पन्नवणा सूत्रकार ने इसकी आदि मे जो तीन गाथाएं दी है, उनमें दूसरी और तीसरी गाथा के बीच मे आर्य श्यामाचार्य के पश्चाद्वर्ती किसी आचार्य ने "वायगवरवसाओ, तेवीसइमेण धीरपुरिसेण" – इन पदद्वय से प्रारम्भ होने वाली दो गाथाएं जोडकर सदा के लिये स्पष्ट कर दिया है कि इस श्रतरत्न पन्नवणा सूत्र की रचना आर्य श्याम ने की है।

इन सभी उपर्युक्त सुस्पष्ट, परस्पर पुष्ट एव प्रबल प्रमाणो से यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि वीर निर्वाण स० ३३५ से ३७६ तक युग प्रधान पद पर रहे तेवीसवे वाचक श्रेष्ठ आर्य श्याम ने पन्नवणा सूत्र की रचना की।

---

[1] महागिरि सुहस्ती च सूरिश्री गुणसुन्दर:।
श्यामार्य स्कन्दिलाचार्यो, रेवतीमित्र सूरिराट्॥
श्री धर्मो भद्रगुप्तश्च, श्री गुप्तो वज्रसूरिराट्।
युगप्रधानप्रवरा, दशैते दशपूर्विण'॥
[विचारश्रेणि परिशिष्टम्, जैन साहित्य सशोधक खं० २, ४]

[2] पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृ० १७

[3] गुणसुन्दर चउआला, एव तिसयापणतीसा॥
तत्तो इगचालीस निगोयवक्खाय कालिगायरिओ। [जैन सा० सशोधक अ० २, पृ० ४]

[4] वलिस्सहस्य शिष्य स्वाति.........तच्छिष्य' श्यामाचार्य प्रज्ञापनाकृत्। श्री वीरात् षट्सप्तत्यधिक शतत्रये (३७६) स्वर्गभाक्। [पट्टावली समुच्चय, भा० १, पृष्ठ ४६]

गणधरो को वाचक मान लिये जाने पर आर्य श्याम निश्चित रूप से २३ वे वाचक ही ठहरते है। वस्तुत. सभी गणधर वाचक अर्थात् आगमो की वाचना देने वाले होते ही है अत उनकी वाचको मे गणना करना उचित भी है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है नन्दी सूत्रान्तर्गत पट्टावली की २० वी और २१ वी गाथा मे ११ गणधरो के नाम देने के पश्चात् गाथा स० २३ से २६ मे सुधर्मा से लेकर आर्य शाण्डिल्य तक वाचनाचार्यो को वदन किया गया है, इनमे गौतम गणधर से आर्य श्याम तक नामो की गणना की जाय तो आर्य श्याम का नाम तेवीसवे स्थान पर ही आता है।

इसी प्रकार विचारश्रेणी मे भी गणधरो की वाचको मे गणना कर आर्य श्याम को २३वां वाचकवर बताते हुए लिखा है –

"अय च प्रज्ञापनोपागकृत् सिद्धान्ते श्रीवीरादन्वेकादशगणभृद्भि सह त्रयोविशतितम' पुरुष: श्यामार्य इति व्याख्यात'।"

सिद्धान्त मे प्रज्ञापना उपाग के रचनाकार आर्य श्याम को भगवान् महावीर के पश्चात्, ग्यारह गणधरो को वाचको की गणना मे सम्मिलित कर तेवीसवां पुरुष बताया गया है' – आचार्य मेरुतुग का यह कथन संभवत: नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली की ओर ही सकेत करता है।

नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली वीर निर्वाण सवत् ६८० में आगम-निष्णात एव एक पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा अपने समय मे उपलब्ध सभी प्राचीन तथ्यो पर विचार करने के पश्चात् निर्मित की गई; यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। अत नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे किसी प्रकार के सदेह का किंचित्मात्र भी अवकाश नही रह जाता। यह भी सूर्य के प्रकाश के समान सुस्पष्ट एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर नि० स० ६२३ के आसपास आर्य स्कदिल और नागार्जुन के तत्वावधान मे हुई स्कदिलीया एव नागार्जुनीया आगमवाचनाओ में अनेक आगम निष्णात स्थविर श्रमणो ने विचार-विमर्श के पश्चात् जिन आगमो के पाठो को सुस्थित एव सुस्थिर किया,[2] उन्ही आगमों को वीर नि० स० ६८० मे देवर्द्धिक्षमाश्रमण और कालकाचार्य चतुर्थ के तत्वावधान मे वल्लभी मे हुई अतिम आगवाचना में स्कदिली और नागार्जुनी – इन दो भिन्न आगम-वाचनाओ के पाठों का परस्पर मिलान करने के पश्चात् सर्व सम्मत रूप से एक पाठ निर्धारित कर आगमो को पुस्तकारूढ किया गया। वीर

[1] जैन साहित्य संशोधक खड २, अक ३ मे प्रकाशित 'विचार श्रेणी' पृ० ५

[2] (क) जेसि इमो अणुओगो,पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनगरनिग्गयजसे, ते वदे खदिलायरिए ।।३२।। [नदी सूत्र पट्टावली]

(ख) दुर्भिक्षान्ते च विक्रमार्कस्यैकशताधिक त्रिपचाशत (६२३) सवत्सरे स्थविरैरार्यस्कदिलाचार्यैरुत्तरमथुराया जैन भिक्षूणा सघो मेलित ।

[हिमवत स्थाविरावली]

अन्यकर्तृक बताते हुए उन्होने इनकी व्याख्या की, तो इससे तो ये गाथाएं आज से १६००–१७०० वर्ष पुरानी सिद्ध होती है।

जहा तक प्रक्षिप्त गाथाओ के प्रक्षेप के समय का और प्रक्षेपकर्त्ता के नाम का प्रश्न है, स्वयं डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस तथ्य से भलीभांति परिचित है कि प्रक्षेपक का नाम और समय वताना शतप्रतिशत मामलो मे न सही ६६ प्रतिशत मे तो एक प्रकार से असभव ही है। प्रवचनसार पर ईसा की १० वी शताब्दी में अमृतचन्द्र[१] ने टीका लिखी, उस समय स्त्री की उसी भव में मुक्ति का निषेध करने वाली "पेच्छदि ण हि इहलोगं" आदि ११ गाथाएं उसमें नही थीं अत: न तो अमृतचन्द्र ने उन गाथाओं को अपने टीका-ग्रन्थ में स्थान ही दिया और न उनकी व्याख्या ही की।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् हुए जयसेनाचार्य ने[२] उन ११ गाथाओं को अपनी टीका में स्थान देकर उनकी व्याख्या की है। उन्होने स्पष्ट रूप से टीका में लिखा है :-

"तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोगं' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति। ताश्चामृतचन्द्रटीकाया न सन्ति।"[३]

इन ११ गाथाओं को किसने और कब प्रवचनसार में प्रक्षिप्त किया इसका सन्तोषप्रद उत्तर संभवत: किसी विद्वान् के पास नही होगा।

पन्नवणा सूत्र की आदि की दूसरी और तीसरी गाथाओं के बीच में प्रक्षिप्त २ गाथाओं में आर्यश्याम को वाचकवर-वंश का तेवीसवां पुरुष बताया गया है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर द्वय ने अपने सम्पादकीय में एक बड़ा महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है कि यह वाचकवंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेवीसवीं पीढी कब पडी – इसका लेखा-जोखा कहां है ?

वस्तुत: यह प्रश्न विचारणीय है। आचार्य परम्परा से संबन्धित वाङ्मय में इसका हल विद्यमान है पर कतिपय विद्वानों का ध्यान उस ओर नहीं गया है। पन्नवणा सूत्रान्तर्गत्त उपर्युद्धत दो अन्यकर्तृक गाथाओं में से प्रथम गाथा में आर्य श्याम को वाचक वंश का २३ वां पुरुष बताया गया है। वाचक शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार हरिभद्र ने लिखा है – "वाचका. पूर्व-विद:"[४] अर्थात् वाचक शब्द का अर्थ है पूर्वज्ञान के ज्ञाता। पूर्व-विदों को वाचक मान लिये जाने की स्थिति मे भगवान् महावीर के ग्यारहों गणधरों की वाचकवंश में गणना करना आवश्यक हो जाता है। आर्य सुधर्मा से वाचनाचार्यो की गणना किये जाने पर आर्य श्याम का नाम १३ वे स्थान पर आता है। पर इन्द्रभूति आदि ग्यारहों

---

१ Introduction—by A N. Upadhye—on Pravachansara p. 101.
२ Same—p 104
३ प्रवचनसार (ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित), पृ० २९६
४ हारीभद्रीया प्रज्ञापना वृत्ति, पृ० ५

"वाचका· पूर्वविद , वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवरा: वाचकप्रधाना इत्यर्थ., तेपा वंश –प्रवाहो वाचकवरवशस्तस्मिन् त्रयोविशतितमेन, तथा च सुधर्मादारभ्य आर्यश्यामस्त्रयोविशतितम एव,.........।[१]

वर्तमान मे जितनी भी आचार्य परम्परा की पट्टावलिया उपलब्ध हैं, उन सब मे आर्य सुधर्मा से गणना कर आर्यश्याम को १३ वा वाचनाचार्य और १२ वा युगप्रधानाचार्य बताया गया है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय मे ऐसी एक भी आचार्य परम्परा की पट्टावली दृष्टिगोचर नही होती, जिसमे आर्य सुधर्मा से गणना कर आर्य श्याम को २३ वां पुरुष बताया गया हो। आचार्य हरिभद्र के–"तथा च सुधर्मादारभ्य आर्य श्यामस्त्रयोविशतितम एव" — इन शब्दो से तो स्पष्टत· यही प्रतिध्वनित होता है कि उनकी दृष्टि मे निश्चितरूपेण आर्यश्याम आर्य सुधर्मा से २३ वे पुरुष ही थे। तभी उन्होने साधिकारिक भाषा में लिखा है–"सुधर्मादारभ्य आर्य श्यामस्त्रयोविशतितम एव।" तो क्या आचार्य हरिभद्र के समक्ष कोई ऐसी पट्टावली विद्यमान थी, जिसमे आर्य श्याम को आर्य सुधर्मा से २३ वा पुरुप बताया गया था ? यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है, जिसका उत्तर आचार्य परम्परा की वर्तमान काल मे उपलब्ध पट्टावलियों में खोजने पर भी कही नही मिलेगा। आचार्य हरिभद्र जैसे उच्च कोटि के विद्वान् आचार्य बिना किसी ठोस प्रमाण के इस प्रकार की आधिकारिक भाषा मे आर्य श्याम को आर्य सुधर्मा से २३ वां पुरुष कभी न लिखते।

इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने के पश्चात् हमें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि ग्यारहो गणधरो की वाचको मे गणना करने पर ही आर्य श्याम २३ वे वाचक ठहरते है। हरिभद्रसूरि को भी सुनिश्चित रूपेण ग्यारहो गणधरों की वाचको मे गणना करना अभीष्ट था, इसी कारण उन्होने वाचक शब्द की व्याख्या करते हुए – "वाचका: पूर्वविद·" अर्थात् पर्वज्ञान के वेत्ताओ को वाचक माना गया है – यह लिखा है। शास्त्रो की वाचना देने का सबसे पहला काम तो वस्तुत. गणधरो का ही था अत वाचको में न्यायत. सर्वप्रथम उनकी गणना होनी ही चाहिए। हरिभद्र ने भी गणधरो को वाचक मानकर आर्य श्याम को २३ वां वाचक लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने "इन्द्रभूति गौतमादारभ्य" लिखा होगा। किन्तु आर्य सुधर्मा से प्रारम्भ हुई पट्टावलियो को ध्यान मे रखते हुए किसी लिपिक ने "इन्द्रभूतिगौतमादारभ्य"–इस पाठ को प्रचलित पट्टपरंपरा के विपरीत समझ, जानबूझ कर उसके स्थान पर–सुधर्मादारभ्य"–यह लिख दिया हो। अपनी समझ मे लिपिक ने अपने प्रयास को त्रुटि-परिहार माना होगा पर ऐसा करते समय लिपिक ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया कि आर्य सुधर्मा से आर्य श्यामाचार्य २३वे नही अपितु १३वे वाचक ही होते है। तथ्यो पर आधारित हमारे इस अनुमान का मूल्यांक चिन्तक इतिहासविदो पर

---

[१] हरिभद्रीया प्रज्ञापनावृत्ति, पृ० ५

नि० सं० ६२६ में हुई आगम वाचनाओं के जिन पाठों के सम्बन्ध में दोनों वाचनाओं के प्रतिनिधि एक मत न हो सके, उन दोनों पाठों को यथावत् पुस्तकारूढ करते हुए नागार्जुनीया वाचना के पाठों के सम्बन्ध में "नागज्जुणीया पुण एव भणन्ति" अथवा "अण्णे पुण एव भणन्ति" — इस प्रकार का निर्देश कर दिया गया। नंदीसूत्र के मूल पाठ में पन्नवणा सूत्र का उल्लेख निम्न लिखित रूप मे विद्यमान है:-

"८१ से कि त उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविह पण्णत्तं, तं जहा - दसवेयालियं १, कप्पियाकप्पियं २, चुल्लकप्पसुत्त ३, महाकप्पसुत्तं ४, ओवाइयं ५, रायपसेणियं ६, जीवाभिगमो ७, पण्णवणा ८,..................महापच्चक्खाणं २९ से तं उक्कालियं।[1]

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वीर नि० सं० ९८० में हुई आगमवाचना में आर्य स्कंदिल और आर्य नागार्जुन इन दोनों के तत्वावधान में वीर नि० सं० ६२३ में हुई आगमवाचनाओं में जिन आगमों का पाठ सुस्थित एवं सुस्थिर किया गया था, उन्ही आगमों के दोनों पाठों का एकीकरण करते हुए उसे पुस्तकारूढ किया गया था। ऐसी स्थिति में यह तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि वीर निर्वाण ६२३ के बहुत पहले से ही पन्नवणा सूत्र श्रमण-श्रमणी-समूह के स्मृतिपटल पर अंकित हो उनका कण्ठाभरण बना हुआ था।

पन्नवणासूत्र वस्तुतः वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक युगप्रधानपद पर विराजमान २३ वे वाचकवर आर्य श्यामाचार्य की ही कृति है — इस तथ्य के परस्पर एक दूसरे द्वारा परिपुष्ट जितने अधिक प्रबल और प्राचीन प्रमाण उपलब्ध है, उतने अधिक संभवतः द्वादशागी को छोडकर शेष आगमों में से बहुत कम के ही उपलब्ध हो सकेंगे।

उपरोक्त सभी प्रबल प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणा सूत्र आर्यश्याम द्वारा वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ के बीच के किसी समय में दृष्टिवाद से उद्धृत उनकी कृति है।

यद्यपि नन्दी सूत्रान्तर्गत वाचकवंश की पट्टावली और मेरूतुगीया विचार श्रेणी के उपर्युक्त उल्लेखों से भली-भाति यह सिद्ध हो चुका है कि आचार्य श्याम वाचकवंश के एक दृष्टि से १३ वें और दूसरी दृष्टि से २३ वे पुरुष है तथापि हम शोधार्थियों के समक्ष शोध हेतु एक जटिल प्रश्न उपस्थित करना चाहते है। याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने पन्नवणा सूत्र की टीका में उपर्युक्त दो अन्यकर्तृक गाथाओ की टीका करते हुए आर्य श्याम को वाचकवंश का २३ वा पुरुष तो बताया है, पर उन्होने उन्हे गौतम गणधर से २३ वा पुरुष न वता कर आर्य सुधर्मा से ही २३ वा पुरुष बताते हुए लिखा है :-

[1] नदी सूत्र सचूर्णि (मुनि पुण्य वियजी द्वारा सपादित), पृ० ५७

गाथाओ ने पूरक गाथाओ का काम करते हुए स्पष्ट कर ग्रन्थकार का सार रूप मे आवश्यक परिचय दे दिया है। समझ मे नही आता कि षट्खण्डागम के विद्वान् सम्पादको को यहा मूल और प्रक्षेप की मान्यता मे विभेद किस प्रकार दृष्टिगोचर हुआ। मूल गाथा मे भगवान् को मूलतत्रकर्त्ता और अपना 'अहमवि' से परिचय देने वाले आचार्य को वस्तुतः उपतन्त्रकर्त्ता — अर्थात् पण्णवणाकार बताया है। प्रक्षिप्त कही जाने वाली उन दो अन्यकर्तृक गाथाओ मे भी ग्रन्थकार के नामोल्लेख के साथ मूल गाथाओ की पुष्टि की गई है। "पन्नवणा सूत्र की रचना भगवान् महावीर ने की," यह निष्कर्ष विद्वान् सम्पादको ने किस प्रकार निकाला ? मूल और प्रक्षिप्त — दोनों ही प्रकार की गाथाओं मे पन्नवणाकार भगवान् को न बता कर 'अहमवि' के रूप मे अपना परिचय देने वाले आर्य श्याम को पन्नवणाकार बताया गया है।

त्रिपदी के उपदेश कर्त्ता के रूप मे मूलतन्त्रतकर्त्ता तो प्रभु महावीर ही है। उस उपदेश के आधार पर द्वादशागी की रचना करने वाले ग्यारहों गणधर अनुतन्त्रकर्त्ता और अनुतन्त्र दृष्टिवाद से आर्य श्याम ने 'पन्नवणा सूत्र' उद्धृत किया अतः आर्य श्याम उपतन्त्रकर्त्ता है।[१] मूलतः तो पन्नवणा सूत्र भी भगवान् की ही वाणी है।

जिस प्रकार पन्नवणा को आर्य श्याम की कृति माना गया है, उसी प्रकार षट्खण्डागम को पुष्पदन्त-भूतबलि की कृति माना गया है।[२]

भगवान् महावीर के उपदेशो को आधार बनाकर पन्नवणाकार की तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर, परम्परा के अनेक विद्वान् आचार्यो ने अनेक ग्रन्थों की रचनाए की, इस तथ्य के प्रमाण जैन वाङ्मय मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है। बोधप्राभृत की निम्नलिखित गाथाओ से यह प्रमाणित होता है कि पन्नवणाकार के पद-चिन्हो पर अनेक आचार्य चले है —

> रूवत्थ शुद्धत्थं, जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणिय।
> भव्वजणबोहणत्थ, छक्कायहियकरं उत्त ॥६०॥
> सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय।
> सो तह कहिय णाण, सीसेण भद्दबाहुस्स ॥६१॥[१]

पन्नवणाकार ने ग्रन्थ रचना का उपक्रम करते हुए प्रतिज्ञा की है कि श्री वीर प्रभु ने जिस तरह ससार के समस्त भावो की प्रज्ञापनाओ का उपदेश

---

[१] ज पुण अण्णेहि विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहि थेरेहि अप्पाउयाण मणुयाण अप्पबुद्धिसत्तीण च दुग्गाहक-ति णाऊण त चेव आयाराइ सुयणाण परपरगत अत्थतो गथतो य अतिबहु ति काऊण अणुकपा णिमित्त दसवेतालियमादि परूविय त अणेगभेद अणगपविट्ठ ।
[आवश्यक चूर्णि, भा १, पृ ८]

[२] तदो मूलततकत्ता वड्ढमाण भडारओ, अणुततकत्ता गोदमसामी, उवततकत्तारा भूदवलि पुप्फयंतादयो। [षट्खण्डागम, भाग १, पृ. ७२]

निर्भर करता है । आर्य सुधर्मा से आर्य श्यामाचार्य तक ३७६ वर्ष का समय अनेक प्रामाणिक उल्लेखों द्वारा परिपुष्ट और तर्क की कसौटी पर भी खरा उतरता है । अतः नन्दी सूत्रान्तर्गत पट्टावलि मे उल्लिखित आचार्यो के अतिरिक्त और भी कोई अज्ञातनामा १० आचार्य हुए हों, इस प्रकार की कल्पना तो किसी भी दशा मे नही की जा सकती ।

वस्तुतः – "सुधर्मादारभ्य" किस दृष्टि से लिखा गया है, इस सम्बन्ध में कही कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध न होने के कारण हम साधिकारिक रूप से कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं है । इतिहास के विद्वान् इस सम्बन्ध में समुचित खोज कर विशेष प्रकाश डालेंगे तो अत्युत्तम होगा ।

"पन्नवणासूत्र आर्य श्याम की कृति है" – इस तथ्य के प्रति शंका प्रकट करते हुए श्री ए. एन. उपाध्ये और श्री हीरालालजी– इन डाक्टरद्वय ने षट्खण्डागम, प्रथम पुस्तक (द्वितीय संस्करण) के अपने संपादकीय में लिखा है — " — ग्रन्थ की अगभूत गाथा मे तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णवणा का उपदेश भगवान् जिनवर ने भव्यजनों की निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओ में दुर्द्धर, धीर व समृद्धबुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किया अनिर्दिष्ट श्रुतरत्न का दान अपने शिष्यगण को दिया गया । क्या प्रस्तुत ग्रन्थ कर्तृत्व के विषय में मूल और प्रक्षेप की मान्यता एक ही कही जा सकती है ?"

आज के जैन जगत के उच्च कोटि के इन दो विद्वानों द्वारा लिखी गई उपरोक्त पक्तियों को पढ़कर संभवतः प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक को वस्तुतः बड़ा आश्चर्य होगा । क्योंकि पन्नवणा सूत्र की अंगभूत दूसरी और तीसरी गाथा का अर्थ इस प्रकार है :–

"भव्य जनों की निवृत्ति करने वाले जिनेश्वर ने श्रुतरत्न के अक्षय्य भण्डार स्वरूप सभी भावों की प्रज्ञापनाओं का उपदेश दिया ।।२।। जिस प्रकार भगवान् ने (सब भावों की प्रज्ञापना का) वर्णन किया, उसी प्रकार मै भी दृष्टिवाद से उद्धृत अद्भुत श्रुतरत्न स्वरूप इस अध्ययन (पन्नवणा सूत्र) का निरूपण–वर्णन करूंगा ।।३।।[1]

तीसरी गाथा के अन्त में उल्लिखित वे "अहमवि" कौन है, यह सुनिश्चित रूप से बताने के लिये ही मुख्यतः किसी अज्ञातनामा आचार्य ने दो गाथाएं मूल के बीच में जोडी है, जिनमें सार रूप में यह बताया गया है कि जिस तेवीसवे वाचकोत्तम आर्य श्याम ने श्रुतसागर से उद्धृत कर (यह) श्रुतरत्न शिष्य समूह को दिया, उन आर्य श्याम को नमस्कार है ।

मूल गाथाओ के पश्चात् इन अन्यकर्तृक प्रक्षिप्त गाथाओं को पढने से अनायास ही यह बोध हो जाता है कि मूल गाथाओं में ग्रन्थकार ने अपना नाम न बताकर अपने लिये जो केवल "अहमवि" शब्द का प्रयोग किया है, उसे दो प्रक्षिप्त

[1] पन्नवणा, गा. २ और ३

इससे अनुमान लगाया जाता है कि गुणधर संघविभाजन से पर्याप्तरूपेण पूर्ववर्ती आचार्य रहे है और उनकी शिष्य प्रशिष्य संतति को अर्हद्‌बलि ने गुणधर संघ के नाम से अभिहित किया।

कषाय-पाहुड के उद्धरण, आधार, साक्षी एव निर्देश आदि श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थो 'शतकचूर्णि' तथा 'सप्ततिकाचूर्णि' आदि मे उपलब्ध होते है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि पूर्ववर्ती समय मे यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा मे भी उसी प्रकार मान्य था, जिस प्रकार कि दिगम्बर परम्परा मे मान्य है।

कषाय-पाहुड की चूर्णि मे "सव्वलिंगेसु च भज्जाणि" – अर्थात् चारित्रवेष धारण किये बिना जीव अन्य तीर्थिको के वेष में भी क्षपक हो सकता है – यह जो बात कही गई है, वह दिगम्बर परम्परा की मान्यता से विरुद्ध पड़ती है। इसके अतिरिक्त कषाय-पाहुड की चूर्णि मे ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नय के रूप मे बताया गया है। वस्तुत. यह दिगम्बर परम्परा की मान्यता के विपरीत है। दिगम्बर परम्परा मे नैगम, संग्रह और व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नय तथा ऋजुसूत्रादि नयो को पर्यायार्थिक नय माना गया है।

कषाय प्राभृत चूर्णि में 'देशोपशमना' का अधिकार श्वेताम्बर ग्रन्थ 'कम्मपयडि' मे से जान लेने का निर्देश दिया गया है।[1]

जयधवला मे कषाय-पाहुड के रचयिता आचार्य गुणधर को तथा यतिवृषभ के गुरु आर्य मक्षु एव नागहस्ति को वाचक बताया है। वाचक परम्परा वस्तुतः श्वेताम्बर परम्परा की एक क्रमबद्ध एव विश्रुत परम्परा मानी गई है। केवल यही नही गुणधर, मक्षु और नागहस्ति ये तीनों आचार्य दिगम्बर परम्परा की किसी भी क्रमबद्ध अथवा अक्रमवद्ध पट्टावली में दृष्टिगोचर नही होते।

इन कतिपय तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे श्वेताम्बर परम्परा के अनेक विद्वानो द्वारा गुणधर को श्वेताम्वर आचार्य तथा उनकी कृति कसाय पाहुड को श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ बताया जाता है। वस्तुत षट्- खण्डागम और कषाय-पाहुड ये दोनो मूल ग्रन्थ दोनो परम्पराओ मे समान रूप से मान्य होने योग्य है।

कालनिर्णय के सम्बन्ध में गम्भीर भ्रान्ति :-

हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, तिलोयपन्नत्ती, जंबूद्वीप पण्णत्ती, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, और नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली आदि दिगम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थो मे वीर नि० सवत् ६८३ तक अंग ज्ञान की विद्यमानता का उल्लेख किया गया है। वीर नि स. ३४५ मे अंतिम दश पूर्वधर

---

[1] जा सा करणोवसामणा सा दुविहा····· देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्तिवि। अपसत्थ उवसामणात्ति वि। एसा कम्मपयडिसु।

(कसाय-पाहुड चूर्णि, पृ० ७०७)

दिया, उसी तरह मैं भी प्रज्ञापनासूत्र नामक इस अद्भुत श्रुतरत्न का वर्णन करूंगा। ठीक उसी तरह अपने ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए बोधपाहुडकार ने भी कहा है कि भव्यजनो को बोध देने एवं षड्जीव निकाय के हितार्थ भगवान् ने जो उपदेश दिया, वह शब्दों के रूप में ढाला जाकर भाषा सूत्रों के स्वरूप मे प्रकट हुआ। जिनेन्द्र प्रभु के उस उपदेश को उसी रूप मे भद्रबाहु के शिष्य ने कहा है।

इन सब तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणासूत्र तेवीसवे वाचक आर्य श्याम की ही कृति है। श्री ए० एन० उपाध्ये और श्री हीरालालजी द्वारा प्रस्तुत शकाओ के बारे मे जो विचार ऊपर प्रस्तुत किये गये है, उनसे यह स्पष्टत. सिद्ध हो जाता है कि उनकी शंकाए न न्याय संगत ही है और न तर्कसंगत ही।

उपर्युल्लिखित विस्तृत विवेचन से यह भली भाति सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणासूत्र की रचना आर्यश्याम ने वीर नि० स० ३३५ से ३७६ के बीच किसी समय की। इसके विपरीत षट्खण्डागम के रचनाकार आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि का निश्चित समय बताने वाले प्रामाणिक उल्लेख दिगम्बर परम्परा के साहित्य मे आज कही उपलब्ध नही है। हरिवंश पुराण मे दी हुई आचार्य-परम्परा की पट्टावली पर विचार करने के पश्चात् अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ अथवा ७९१ तक का सिद्ध होता है। यद्यपि धरसेन और पुष्पदंत तथा भूतबलि की कोई प्रामाणिक पट्टपरम्परा उपलब्ध नहीं होती, फिर भी धवलाकार तथा इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार विषयक विवरण को पढ़ने से धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय वीर नि० स० ८०० और उससे भी पश्चात् का अनुमानित किया जाता है। आगे अभी इसी अध्याय में इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

षट्खण्डागम के समान ही कषाय-पाहुड़ का भी दिगम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों में सर्वोपरि स्थान है। जयधवलाकार ने जयधवला मे तथा इन्द्र-नन्दी ने श्रुतावतार में आचार्य गुणधर को कषाय-पाहुड़ का कर्त्ता बताया है। दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियो मे कहीं आचार्य गुणधर का उल्लेख उपलब्ध नही होता। इन्द्रनन्दी ने भी श्रुतावतार में लिखा है कि आचार्य गुणधर और धरसेन की गुरू-शिष्य परम्परा का पूर्वापर क्रम कही उपलब्ध नही होता। इतना सब कुछ होते हुए भी अर्हद्बलि द्वारा किये गये सघ विभाजन का विवरण प्रस्तुत करते हुए इन्द्रनन्दी ने लिखा है :—

ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपागता तेषु।
कॉश्चिद् गुणधर सज्ञान्कॉश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ॥९४॥

अर्थात् — शाल्मली महावृक्ष के मूल से जो साधु आये थे, उनमे से कतिपय को अर्हद्बलि ने गुणधर संज्ञा और कतिपय को गुप्त संज्ञा प्रदान की।

[1] प्राभृत सग्रह, पृ० ९६

इन्हे दश, नव एव आठ अगधारी[1] बताकर एकादशागधारियो के काल मे से काटे गये ९७ वर्षो को इनके साथ सलग्न करते हुए इन चारो का समय ९७ वर्ष बताया है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक माने जाने वाले सभी ग्रथो मे अन्तिम आचाराग- धर लोहार्य का समय जहा वीर निर्वाण सवत् ६८३ बताया गया है, उसे नन्दी सघ की इस प्राकृत पट्टावली मे ११८ वर्ष पीछे की ओर ढकेल कर वीर नि स ५६५ उल्लिखित किया गया है। तदनन्तर लोहार्य के पश्चात् हुए विनयधर आदि ४ आराती मुनियो का समय निर्देश तो दूर नामोल्लेख तक इस पट्टावली मे नही किया गया है। केवल यही नही अपितु दिगम्बर परम्परा के समस्त वाङ्मय की मान्यता से पूर्णत विपरीत एक अति विलक्षण एव आश्चर्यजनक उल्लेख के साथ नन्दी सघ की तथाकथित पट्टावली मे लोहार्य के पश्चात् अर्हद्बलि, माघनदी, धरसेन, पुष्पदत और भूतबली, इन पाच आचार्यो को आचारागधर बताने के साथ साथ इन पाचो का कुल समय ११८ वर्ष बताया गया है। इस प्रकार अग ज्ञान के विच्छिन्न होने का समय हरिवश पुराणादि की मान्यतानुसार वीर नि. स ६८३ यथावत् रखते हुए पट्टावलीकार ने सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु, और लोहार्य को १०, ९ तथा अष्टागधर बनाकर वीर नि. स० ६८३ मे स्वर्गस्थ हुए लोहार्य का ११८ वर्ष पूर्व, वीर नि. स. ७८३ के लगभग स्वर्गस्थ हुए आचार्य अर्हद्बलि का वीर नि० स० ५९३ मे दिवगत होना बताया है। धवला प्रथम भाग की अपनी प्रस्तावना मे डॉ० हीरालालजी ने इस पट्टावली की विशेषताओ और दोषो का उल्लेख करने के पश्चात् इसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के सबध मे अपना कोई निश्चित अभिमत व्यक्त नही करते हुए लिखा है – "समयाभाव के कारण इस समय हम इसकी और अधिक जाच पडताल नही कर सकते। किन्तु साधक–बाधक प्रमाणो का सग्रह करके इसका निर्णय किये जाने की आवश्यकता है।"[2]

धवला के उपर्युक्त प्रथम भाग के द्वितीय सस्करण के सम्पादकीय मे डॉ० द्वय श्री हीरालालजी और ए एन. उपाध्ये ने 'पन्नवणा सूत्र और षट्खण्डागम' मे प्रतिपादित विषय तथा अन्य कतिपय साम्यताओ पर अपने बहुमूल्य विचार प्रकट कर विशेष प्रकाश डाला है किन्तु नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली के प्रकाशन से निर्वाणानन्तर हुए प्राचीन आचार्यो के काल के सम्बन्ध मे जो भ्रान्त एव सदिग्ध धारणा उत्पन्न हो गई है, उसके सम्बन्ध मे कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नही किया है।

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने उक्त प्रस्तावनान्तर्गत अपने निष्कर्ष मे "नन्दी सघ प्राकृत पट्टावली' की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता विषयक कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया है पर हरिवश पुराणादि मे दिये गये वीर नि स १ से ६८३

[1] नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली मे यह नही बताया गया है कि इन चारो आचार्यो मे से कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने अगो के ज्ञाता थे। –सम्पादक

[2] धवला, प्रथम भाग की प्रस्तावना, पृ २५

आचार्य धर्मसेन के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर पूर्वज्ञान के विच्छिन्न होने का इन सभी ग्रन्थों में उल्लेख है। यहां तक केवल केवलिकाल को छोड़कर दशपूर्वधरों[1] तक की श्रुतपरम्परा की विद्यमानता के सम्बन्ध में उपरोक्त ग्रन्थो के रचयिताओं का मतैक्य है।

इसके पश्चात् एकादशांगधर और आचारागधर आचार्यो के काल के सम्बन्ध में भी नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली के अतिरिक्त उपरोक्त सभी ग्रन्थो में यह सर्वसम्मत अभिमत व्यक्त किया गया है कि वीर नि. सं. ५६५ में अतिम एकादशांगधर कंसार्य के दिवगत होने पर एकादशांगधरो की परम्परा समाप्त हो गई और वीर निर्वाण सं. ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहार्य का स्वर्गवास होते ही आचारांग भी विच्छिन्न हो गया। इन सभी ग्रन्थों मे एक स्वर से यह मान्यता प्रकट की गई है कि एक अग (आचाराग) धारियो मे अतिम आचार्य लोहार्य हुए और उनके पश्चात् सभी आचार्य पूर्वज्ञान तथा अगज्ञान के एक देश-धर ही हुए तथा पंचम आरक की समाप्ति पर्यन्त सभी आचार्य पूर्व एवं अंगज्ञान के एक देशधर होगे। दिगम्बर परम्परा की कतिपय पट्टावलियो में भी उपर्युक्त ग्रन्थों के उपरिलिखित अभिमत की पुष्टि की गई है।[2]

दिगम्बर परम्परा मे शताब्दियों से सर्वसम्मत रूपेण चली आ रही इस मान्यता एव आस्था को ई० सन् १९१३ के "जैन सिद्धान्त भास्कर", भाग १, किरण ४ मे छपी नन्दी सघ की (तथाकथित) प्राकृत पट्टावली ने थोडा हिला दिया। ई० सन् १९३६ में प्रकाशित धवला, प्रथम भाग की प्रस्तावना मे प्रसिद्ध विद्वान् डा. हीरालाल ने गौतम आदि आचार्यो के समय पर विचार करते हुए धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण, श्रुतावतार (इन्द्रनन्दीकृत) आदि के एतद्विषयक उल्लेखो को प्रस्तुत करने के पश्चात् नन्दीसंघ की तथाकथित पट्टावली को उद्धृत किया। इस पट्टावली में निर्वाण पश्चात् के ३ केवलियों, ५ श्रुतकेवलियों और ११ अंगधरों का तो वही समय दिया गया है, जो हरिवश पुराण, तिलोय पण्णत्ती, धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, श्रुतावतार आदि मे उल्लिखित है। परन्तु अंतिम १० पूर्वधर धर्मसेन के पश्चात् पांच एकादशांगधरों का समय जहां उपर्युक्त प्राचीन ग्रन्थों मे २२० वर्ष बताया गया है, वहा नन्दी संघ की कही जाने वाली इस पट्टा-वली मे १२३ वर्ष ही दिया गया है।

जहा धवला आदि उपरिचर्चित सभी ग्रंथो मे सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य को एकागधारी (आचारागधर) बताते हुए इन चारों का समय समुच्चय रूप से ११८ वर्ष उल्लिखित किया गया है, वहां नन्दी संघ की इस पट्टावली मे

---

[1] उत्तरपुराण (पर्व ७६, पृ. ५३७) और पुष्पदन्तकृत अपभ्रंश के महापुराण मे वीर नि. सं० १ से ६४ तक केवलिकाल माना गया है। — सम्पादक

[2] सुभद्रोऽथ यशोभद्रो, भद्रबाहुर्गणाग्रणी।
लोहाचार्येति विख्याता, प्रथमांगाब्धिपारगाः ॥१०॥ [काष्ठा संघस्य गुर्वावली]

साधारण जन-मानस में ही नही अपितु चोटी के विद्वानो के हृदय मे भी घर करने लगी। क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी जैसे बहुश्रुत एव अध्ययनशील, विद्वान् ने भी अति श्लाघनीय परिश्रम से निर्मित अपने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश मे डॉ० हीरालालजी के अपूर्ण अभिमत को – ४ आचार्य परम्परा – इस शीर्षक के नीचे – दृष्टि न० २ (धवला, भाग १, प्रस्तावना २४/ नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली – इस पक्ति द्वारा एक मान्यता के रूप मे प्रतिष्ठापित कर दिया है।[1]

छद्मस्थ द्वारा भूल सभव है, इस सदर्भ मे तथ्यातथ्य की गहराई मे उतरे बिना डॉ० हीरालालजी द्वारा प्रकट किये गये अभिमत को, जिस पर स्वय उन्होने अपना निर्णय और अधिक तथ्यो की गवेषणा के पश्चात् ही देने का स्पष्टत उल्लेख किया है, प्राचीन आचार्यो की मान्यता के समकक्ष ही नही अपितु उससे भी सबल मान्यता के रूप मे प्रतिष्ठापित करते हुए वर्णी जी ने निम्न नोट आधिकारिक भाषा मे लिख दिया है –

"नोट – पहली दृष्टि मे लोहाचार्य तक ही ६८३ वर्ष पूरे कर दिये, परन्तु दूसरी दृष्टि मे लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही हुए हैं। शेष ११८ वर्षो मे अन्य ६ आचार्यो का उल्लेख किया है, जो आगे बताया जाता है। इन दोनो मे प्रथम (द्वितीय)[2] दृष्टि ही युक्त है। इसके दो कारण है, एक २२० वर्ष मे ५ आचार्यो का होना दु शक्य है और दूसरे ६८३ वर्ष पश्चात् षट्खण्डागम की रचना प्रसिद्ध है, उसकी सगति भी इसी मान्यता से बैठती है।"[3]

वर्णीजी ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष – प्रथम भाग के पृष्ठ ३३१ पर जो आचार्य-परम्परा की समयसारिणी दी है, उसमे गौतम से लोहाचार्य का वीर नि० स० १ से ६८३ तक के काल का विवरण देने के पश्चात् डॉ० हीरालालजी द्वारा अर्द्ध-समर्थित नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली मे लिखे गये गौतमादि लोहाचार्यान्त आचार्यो के वीर नि० स० १ से ५६५ तक के काल का उल्लेख किया है। किन्तु इस चार्ट के पश्चात् पृष्ठ ३३२ पर दी गई लोहाचार्य से भूतबली तक के काल की सारिणी, पृष्ठ ३३५ से ३३९ पर – "४ समयानुक्रम से आचार्यो की सूची" शीर्षक के नीचे दी गई सारिणी, पृष्ठ ३४५ पर दी गई पुन्नाट सघ के आचार्यो की काल निर्देश सहित सूची तथा पृष्ठ ३४८ से ३५५ पर – ६ आगम परम्परा, समयानुक्रम से आगम की सूची – नामक शीर्षक के नीचे दी गई सारिणी मे एक मात्र नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली को ही मान्यता प्रदान कर अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि का समय ५६५ से ६८३ के बीच का देते हुए इनसे पश्चाद्वर्ती आचार्यो का भी उनके वास्तविक काल से लगभग १९० वर्ष पूर्व होने का उल्लेख किया है।

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३१।

[2] यहा "प्रथम दृष्टि" यह सभवत. प्रेस की गलती से छप गया है। वर्णीजी का अभिप्राय नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली मे उल्लिखित द्वितीय दृष्टि से है। – सम्पादक

[3] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३१।

तक हुए गौतमादि लोहार्यान्त आचार्यो के समुच्चयकाल की तुलना मे नन्दी संघ प्राकृत पट्टावलीकार द्वारा प्रत्येक आचार्य के पृथक् पृथक् दिये गये काल को कुछ अधिक विश्वसनीय बताया है।[1] इसके साथ ही हरिवंश पुराण, धवला, श्रुतावतार आदि मे उल्लिखित पाच एकादशांगधरों के समुच्चय २२० वर्ष के काल के स्थान पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में दिये गये १२३ वर्ष के काल निर्देश का तथा आचारांगधर सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहार्य को दश, नव व आठ अंगधारी बताते हुए शेष बचे ९७ वर्ष के समय को इन चारो में विभक्त किये जाने एव इन चार आचारांगधरो के स्थान पर अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन अगज्ञान के एक देशधरों का आचारांगधरो के रूप में उल्लेख कर शेष ११८ वर्ष का समय इनमें विभक्त किये जाने को एक प्रकार से बुद्धिगम्य अथवा तर्कसगत बताते हुए डॉ० हीरालालजी ने लिखा है :-

"इस पट्टावली मे जो अंग विच्छेद का क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है, वह अन्यत्र की मान्यता के विरुद्ध जाती है। किन्तु उससे अकस्मात् अगलोप सम्बन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पाच आचार्यो का २२० वर्ष का काल असंभव नही तो दु.शक्य जचता है। उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत परम्परा के सबंध मे हरिवश पुराण के कर्त्ता से लगाकर श्रुतावतार के कर्त्ता इन्द्रनन्दी तक के सब आचार्यो ने धोखा खाया है और उन्हे वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावली के कर्त्ता को थे।"

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने अपनी उक्त प्रस्तावना में इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड़ दिया है कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली विश्वसनीय एवं प्रामाणिक है अथवा नही तथापि उनकी प्रस्तावना के उपरिलिखित दो उद्धरणो से नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली द्वारा प्रकाश मे आये, नये एवं अति विलक्षण अभिमत को बल मिला। पं० जुगलकिशोरजी द्वारा आचार्य अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७१३ अनुमानित किया गया है[2] पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अभिमत को मान्य कर लिये जाने पर इनका समय इससे १२० वर्ष पूर्व अर्थात् वीर नि० सं० ५९३ ठहरता है।[3] परम श्रद्धेय अर्हद्बलि आदि आचार्य नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित मान्यतानुसार अधिक प्राचीन सिद्ध होते हैं, इस दृष्टि से आत्यन्तिक धर्मानुरागवशात् प्राकृत पट्टावली की मान्यता केवल

[1] "जहा अनेक क्रमागत व्यक्तियो का समय समष्टि रूप से दिया जाता है, वहा बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किन्तु जहा एक एक व्यक्ति का काल निर्दिष्ट किया जाता है, वहा ऐसी भूल की संभावना बहुत कम हो जाती है .... प्रस्तुत परम्परा मे इन २२० वर्षो के काल में ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।"

[धवला, भाग १ (द्वितीय सस्करण) की प्रस्तावना, पृ २४]

[2] समन्तभद्र, (प० जुगलकिशोर मुख्त्यार) पृ० ६१।

[3] नदीसघ की प्राकृत पट्टावली गा० स० १५ और १६।

व्युच्छेद हो गया। इस प्रकार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष पश्चात् भरत क्षेत्र से केवलज्ञान रूपी सूर्य अस्त हो गया। आर्य जम्बू के निर्वाण के पश्चात् सकल श्रुतज्ञान की परम्परा को धारण करने वाले (द्वादशाग एवं चतुर्दश पूर्व-धर) आचार्य विष्णु हुए। उनके पश्चात् चतुर्दश पूर्वज्ञान की अविच्छिन्न सन्तान परम्परा के रूप मे क्रमशः नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये सकल श्रुत (द्वादशागी) के धारक हुए। इन पाच श्रुतकेवलियो के काल का योग १०० वर्ष रहा। भद्रबाहु के स्वर्ग गमनानन्तर भरत क्षेत्र से श्रुतज्ञान रूपी चन्द्र पूर्णावस्था मे नही रहा और भरत क्षेत्र अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् ११ अगो तथा विद्यानुवाद पर्यन्त दृष्टिवाद अग के धारक (एकादशाग तथा दश पूर्वधर) विशाखार्य हुए। विद्यानुवाद के आगे के ४ पूर्व, उनका एक देश अवशिष्ट रहने के कारण व्युच्छिन्न हो गये। इस विकलावस्था मे श्रुतज्ञान विशाखाचार्य से क्रमश प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गगदेब और धर्मसेन–इन आचार्यो की परम्परा से १८३ वर्ष तक रह कर व्युच्छिन्न हो गया। धर्मसेन के स्वर्गस्थ होने के साथ ही दृष्टिवाद रूपी प्रकाश के नष्ट हो जाने पर ११ अगो एवं दृष्टिवाद के एक देश के धारक आचार्य नक्षत्र हुए। वह एकादशाग रूप श्रुतज्ञान जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस – इन (५) आचार्यो की परम्परा से २२० वर्ष पर्यन्त रहकर व्युच्छिन्न हो गया। कसाचार्य के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर ११ अग रूप प्रकाश के व्युच्छिन्न हो जाने पर सुभद्राचार्य आचाराग के तथा शेष अंगो एवं पूर्वो के एक देश के धारक हुए। आचाराग भी सुभद्राचार्य से क्रमश. यशोभद्र यशोबाहु और लोहाचार्य की परम्परा से ११८ वर्ष रहकर व्युच्छिन्न हो गया। इस (गौतम से लेकर अतिम आचारागधर लोहार्य तक) सब काल का योग (६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३) छह सौ तेरासी वर्ष होता है।[1]

धवलाकार ने आगे चलकर स्पष्ट शब्दो मे कहा है – "लोहाइरिये सग्ग-लोगगदे आयार दिवायरो अत्थमिओ। एव बारससु दिणयरेसु भरहखेतम्मि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमगपुव्वाणमेगदेसभूद पेज्जदोस-महाकम्मपडि-पाहुडादीणं धारया जादा।"[2] अर्थात् लोहार्य के स्वर्गस्थ होने पर आचाराग रूपी सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार भरत क्षेत्र से १२ सूर्यो के अस्त हो जाने पर शेष आचार्य सब अगो तथा पूर्वो के एकदेशभूत 'पेज्जदोस' और 'महाकम्मपयडिपाहुड' आदिकों के धारक हुए।

---

[1] महदिमहावीरे णिव्वुदे सते केवलणाणसताणहरो गोदम सामी जादो...... ....सुभद्दाइरियो आयारगस्स सेसगपुव्वाणमेगदेसस्स य धारओ जादो। तदो आयारगमि जसभद्द-जसबाहु-लोहाइरियपरपराए अट्ठारहोत्तरवरिससयमागतूण वोच्छिण्णं। सव्वकाल समासो तेयासीदीए अहियछस्सदमेत्तो।

(षट्खण्डागम, वेदनाखण्ड, धवलाटीका युक्त, भाग ९, पृ० १३०–१३१)

[2] वही, पृ० १३३

हरिवंश पुराण में दी गई आचार्य परम्परा के अनुसार अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ अथवा ७६१ के बीच का सिद्ध होता है किन्तु वर्णीजी ने आज से ११६० वर्ष पूर्व के लिखित पुष्ट प्रमाण की अपेक्षा भी डॉ० हीरालालजी द्वारा केवल अनुमान के आधार पर अर्द्धसमर्थित नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित अर्हद्बलि के वीर नि० स० ५६५ से ५६३ तक के काल को प्रश्रय देकर पूर्ण प्रामाणिक ठहराने का प्रयास करते हुए जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में उस ही का उल्लेख किया है।[1] हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने लोहाचार्य को अतिम आचारांगधर बताते हुए उनका अतिम समय ६८३ और स्वयं द्वारा हरिवंश पुराण की रचना का काल शक सं० ७०५ तदनुसार वीर नि० सं० १३१० उल्लिखित किया है। पर वर्णीजी ने पुन्नाट संघ की आचार्य परम्परा के आचार्यों की जो सूची दी है, उसमें हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन का तो वही समय (शक सं० ७०५) दिया है, जो हरिवंश में उल्लिखित है किन्तु लोहाचार्य का समय हरिवंशपुराण के उल्लेखानुसार वीर नि० सं० ६८३ न देकर नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर नि० सं० ५१५ से ५६५ दिया है।

कतिपय आचार्यो तथा उनकी कृतियों को, उनके वास्तविक समय से दो-ढाई सौ वर्ष पूर्वकालीन सिद्ध करने के प्रयास का ही प्रतिफल है कि प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेखो की प्रामाणिकता को संदेहास्पद बता नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को सर्वाधिक प्रश्रय देकर उसे प्रामाणिकता का जामा पहनाने का असफल प्रयास किया जा रहा है। वस्तुतः इस प्रकार की प्रवृत्ति इतिहास की गरिमा के लिये बड़ी घातक सिद्ध हो सकती है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष मे नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के उल्लेखों को एक मान्यता के रूप मे स्थान दे दिया गया है। यह प्रवृत्ति आगे न वढ़ने पाये और यही समाप्त कर दी जाय इस दृष्टि से यहां इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विशेष प्रकाश डाला जा रहा है। वास्तविक स्थिति को समझने के लिये सर्व प्रथम धवला तिलोयपण्णत्ती, उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण, श्रुतावतार आदि प्राचीन ग्रन्थो के उन उल्लेखों को यहा प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो कि परम्परागत मान्यता के मूल आधार है।

आचार्य वीरसेन (शक सं० ७३८) ने दिगम्बर परम्परा के परम मान्य षट्खण्डागम-वेदना खण्ड की टीका में वीर नि० स० १ से ६८३ तक आचार्यो के काल एव क्रम का निम्नलिखित रूप मे उल्लेख किया है :-

"भगवान् महावीर के मुक्त होने पर गणधर गौतम केवलज्ञानी हुए। १२ वर्ष तक केवली रूप मे विचरण कर वे भी मुक्त हुए। उनके पश्चात् आचार्य लोहार्य केवलज्ञान के धारक हुए। वे भी १२ वर्ष तक केवली रूप में विहारकर निर्वाण को प्राप्त हुए। ३८ वर्ष तक केवल विहार से विचरण कर आर्य जम्बू भी सिद्ध हुए। आर्य जम्बू के मुक्त होने पर केवलज्ञान परम्परा का भरत क्षेत्र में

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा० १, पृ० ३४५

गंग और धर्म ये ११ मुनि दशपूर्वधर हुए। इन ग्यारहो दशपूर्वधरों के काल का योग १८३ वर्ष है।

अतिम दशपूर्वधर धर्म मुनि के स्वर्गगमन के पश्चात् अनुक्रम से नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, द्रुमसेन और कस नामक ५ मुनि एकादश अंगो के धारक हुए। इन पाच ११ अगधरों के काल का योग २२० वर्ष होता है।

एकादशागधारियो का २२० वर्ष का समय बीत जाने पर क्रमश: सुभद्र, अभयभद्र, जयबाहु और लोहार्य ये चार मुनि आचारागधर (एक अगधारी) कुल मिला कर ११८ वर्षो मे हुए।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् केवलज्ञानी गौतम से लेकर अतिम आचारागधर लोहार्य तक वीर निर्वाण स० के ६८३ वर्ष व्यतीत हुए।

इसी प्रकार उत्तरपुराण[2] तथा ब्रह्महेमचन्द्र कृत् श्रुत स्कन्ध मे भी इन्द्रभूति गौतम से अतिम आचारांगधर लोहार्य तक आचार्यो का उपरिचर्चित क्रम देने के पश्चात् लोहार्य के पश्चात् आचाराग का विच्छेद बताया गया है। ब्रह्म

---

[1] भगवत्परिनिर्वाणक्षणएवावाप केवल गणभृत्।
गौतमनामा सोऽपि, द्वादशभिर्वत्सरैर्मुक्त ॥७२॥
निर्वाणक्षण एवासावापत् केवल सुधर्ममुनि'।
द्वादशवर्षाणि विहृत्य सोऽपि मुक्ति परामाप ॥७३॥
जम्बूनामापि ततस्तन्निर्वृतिसमय एव कैवल्यम्।
प्राप्याष्टत्रिशतमिह समा विहृत्याप निर्वाणम् ॥७४॥
–जम्बूनामा मुक्ति प्राप यदासौ तथैव विष्णुमुनि'।
पूर्वागभेदभिन्नाशेषश्रुतपारगो जात ॥७६॥
एवमनुबद्धसकलश्रुतसागरपारगामिनोऽत्रासन्।
नन्द्यपराजितगोवर्द्धनाह्वया भद्रबाहुश्च ॥७७॥
एषा पचानामपि काले वर्षशतसम्मितेऽतीते।
दशपूर्वविदोऽभूवस्तत एकादश महात्मान ॥७८॥
तेपामाद्यो नाम्ना विशाखदत्तस्तत क्रमेणासन्।
प्रोष्ठिलनामा क्षत्रियसज्ञो जयनागसेनसिद्धार्था: ॥७९॥
धृतिषेण विजयसेनौ च बुद्धिमान् गग धर्मनामानौ।
एतेषा वर्षशत त्र्यशीतियुतमजनि युगसख्या ॥८०॥
नक्षत्रो जयपाल पाण्डुर्द्रुमसेनकंसनामानौ।
एते पचापि ततो बभूवुरेकादशागधरा ॥८१॥
विंशत्यधिकं वर्षशतद्वयमेषां बभूव युगसख्या।
आचारागधराश्चत्वारस्तत उदभवन् क्रमश: ॥८२॥
प्रथमस्तेपु सुभद्रोऽभयभद्रोऽन्यापरोऽपि जयबाहु।
लोहार्योऽन्त्यश्चैतेऽष्टादशवर्षयुगसख्या ॥८३॥ [श्रुतावतार – इन्द्रनन्दी]

[2] उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो० ११८ से १२० तथा श्लो० ५१५ से ५२७

दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ती में भी वीर नि० स० १ से ६८३ तक हुए आचार्यो के तथा श्रुतपरम्परा के काल का जो विवरण दिया गया है वह उपरिलिखित धवला के विवरण से पर्याप्त रूपेण मिलता है। तिलोय पण्णत्ती में भी लोहार्य को अंतिम आचारांगधर बताते हुए वीर नि० सं० ६८३ मे उनका स्वर्गस्थ होना बताया गया है और यहां स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि लोहार्य के पश्चात् भरत क्षेत्र में कोई आचारागधर नही होगा ।[1]

इन्द्रनन्दी ने भी अपने ग्रन्थ श्रुतावतार में वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए अंतिम आचारांगधर लोहार्य और उनके पश्चाद्वर्ती कतिपय आचार्यो का नामोल्लेख करते हुए कुछ ऐतिहासिक घटनाओं पर निम्नलिखित रूप में प्रकाश डाला है :-

भगवान् महावीर का निर्वाण होते ही तत्क्षण गौतम गणधर को केवल ज्ञान हुआ और वे १२ वर्ष केवली रह कर मुक्त हुए। गौतम का निर्वाण होते ही सुधर्म मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया। सुधर्म भी १२ वर्ष केवली के रूप में विचरण कर सिद्ध हुए। सुधर्म के निर्वाण के समय ही जम्बू को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे ३८ वर्ष तक केवली रूप से विचरण कर मुक्त हुए। ये तीनों ही अनुबद्ध केवली थे। जम्बू के मुक्त होते ही कैवल्य सूर्य भरत क्षेत्र से अस्त हो गया। (तीनो केवलियो के काल का योग १२+१२+३८=६२)

जबू के पश्चात् विष्णु, नन्दि, अपराजित गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये ५ श्रुतकेवली हुए इन पाचो श्रुतकेवलियो का सम्मिलित काल १०० वर्ष रहा।

श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष का काल व्यतीत हो जाने पर क्रमश: विशाख-दत्त, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजयसेन, बुद्धिमान्,

---

[1] वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवताण ।
धम्मपयट्टणकाले, परिमाण पिंडरूवेण ।।१४७८।।
णदी य णदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइज्जो य ।
गोवद्धणो चउत्थो, पचमओ भद्दबाहुत्ति ।।१४८२।।
पच इमे पुरिसवरा, चउदस पुव्वी जगम्मि विक्खादा। .....।।१४८३।।
पचाण मेलिदाणं कालपमाण हवेदि वाससद ।.. .. ।।१४८४।।
... .दसपुव्वधरा इमे सुविक्खादा ।
पारपरिओवगदो, तेसीदिसद च ताण वासाणि ।।१४८६।।
—एक्कारसगधारी, पच इमे वीर तित्थम्मि ।।१४८८।।
दोण्णि सया वीसजुदा, वासाण ताण पिण्ड परिमाणं ।......।।१४८९।।
पटमो सुभद्दणामो, जसभद्दो तह य होदि जसबाहू ।
तुरिओ य लोहणामो, एते आयार अगधरा ।।१४९०।।
सेसेक्करसगाणं चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा ।
एक्कसय अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाण ।।१४९१।।
तेसु अदीदेसु तदा, आचारधरा ण होंति भरहम्मि
गोदमगुणिपहुदीण, वासाण (६८३) छस्सदाणि तेसीदी ।।१४९२।।
[तिलोयपण्णत्ती, ४ महाधिकार]

पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन ने वीर नि० स० १ से १३१० तक की आचार्य परम्परा की पट्टावली दी है। आचार्य परम्परा की इतनी लम्बी अवधि की क्रमबद्ध एव अविच्छिन्न पट्टावली दिगम्बर परम्परा मे अन्यत्र देखने मे नही आती। इस पट्टावली की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्द्रभूति गौतम से लेकर अतिम आचारागधर लोहार्य तक ६८३ वर्ष की आचार्य परम्परा का उल्लेख करने के पश्चात् लोहाचार्य के अनन्तर सघ विभाजन से पूर्व के आचार्यो के क्रमबद्ध नाम देकर तत्पश्चात् सघ विभाजन के अनन्तर हुए पुन्नाटसघ के आचार्या का अनुक्रमश नामोल्लेख किया है। इस पट्टावली के महत्त्व को अभी तक आका नही गया है। यदि यह कहा जाय तो भी अनुचित नही होगा कि इस पट्टावली की आज दिन तक विद्वानो द्वारा उपेक्षा की जाती रही है।

नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली के माध्यम से आचार्यो के काल के सम्बन्ध मे जो एक जटिल समस्या उत्पन्न कर दी गई है, उसका समुचित रूपेण सदा के लिए समाधान करने मे यह पट्टावली वडी सहायक सिद्ध होगी, अत इसे यहा यथावत् दिया जा रहा है –

हरिवंश पुराणान्तर्गत पट्टावली

त्रय· क्रमात्केवलिनो जिनात्परे, द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन्।
तत· परे पच समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गता ॥२२॥
त्र्यशीतिके वर्षशते तु रूपयुक्, दशैव गीता दशपूर्विण: शते।
द्वये च विशेऽङ्गभृतोऽपि पच ते, शते च साष्टादशके चतुर्मुनि· ॥२३॥
गुरू· सुभद्रो जयभद्रनामक·, परो यशोबाहुरनन्तरस्तत:।
महार्हलोहार्यगुरुश्च ये दधु, प्रसिद्धमाचारमहाङ्गमत्र ते ॥२४॥

इसी तरह अपभ्रश भाषा के लब्धप्रतिष्ठ कवि पुष्पदन्त ने अपने महापुराण मे वीर निर्वाण के पश्चात् हुए केवलियों, श्रुतकेवलियो, दशपूर्वधरो, एकादशागधरो तथा एकागधरो का उपरिवर्णित काल बताते हुए लोहाचार्य को अतिम आचारागधर बताया है।[1]

इस प्रकार धवला, तिलोयपण्णत्ती, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, ब्रह्म हेमचन्द्र कृत श्रुतस्कन्ध, उत्तर पुराण, जम्बूद्वीप पण्णत्ती के अन्तर्गत दी हुई श्रुतधर पट्टावली और हरिवश पुराण में वीर नि० स० १ से ६८३ तक हुए इन्द्रभूति गौतम से लेकर अतिम आचारागधर लोहार्य तक आचार्यो का काल तथा क्रम सर्वसम्मत रूपेण एक समान दिया गया है। गौतम से लोहार्य तक सभी आचार्यो के काल अथवा क्रम के सम्बन्ध में उपरिवर्णित सभी ग्रन्थकार एक मत है। कही किसी का किंचित्मात्र भी मतभेद दृष्टिगोचर नही होता।

दिगम्बर परम्परा के उपरिलिखित प्राचीन एव प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थो के स्पष्ट उल्लेख के उपरान्त भी आचारागधर लोहाचार्य का काल वीर नि०

---

[1] महापुराण (पुष्पदन्त), सन्धि १००, पृ० २७४

हेमचन्द्र ने इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के समान ही अपने श्रुतस्कंध में इन्द्रभूति गौतम से लेकर अंतिम आचारागधर लोहार्य तक वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष व्यतीत होने का उल्लेख किया है।[1]

उपर्युल्लिखित पांचों पट्टावलियों में दिये गये तथ्यों की जम्बूद्वीप पण्णत्ती के अन्तर्गत दी गई श्रुतधर पट्टावली द्वारा पूर्णतः पुष्टि की गई है। पाठकों को अन्यत्र खोजना न पड़े इस दृष्टि से उसे यहाँ अविकल रूप से दिया जा रहा है :-

श्रुतधर-पट्टावलि

णमिऊण वड्ढमाणं, ससुरासुरवंदिदं विगयमोहं।
वरसुदगुरुपरिवाडि, वोच्छामि जहाणुपुव्वीए ।। १ ।।
विउलगिरितुंगसिहरे, जिणिंद इंदेण वड्ढमाणेण।
गोदममुणिस्स कहिदं, पमाणणयसंजुदं अत्थं ।। २ ।।
तेण वि लोहज्जस्स य, लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणहर सुधम्मणा खलु, जंबू णामस्स णिद्दिट्ठं ।। ३ ।।
चदुरमलबुद्धि सरिदे, तिण्णेदे गणधरे गुणसमग्गे।
केवलणाणपईवे, सिद्धिपत्ते णमंसामि ।। ४ ।।
णदी य णदिमित्तो, अवराजिद मुणिवरो महातेओ।
गोवड्ढणो महप्पा, महागुणो भद्दबाहू य ।। ५ ।।
पंचेदे पुरिसवरा, चउदसपुव्वी हवंति णायव्वा।
बारस अगधरा खलु, वीर जिणिदस्स णायव्वा ।। ६ ।।
तह य विसाखायरिओ,पोट्ठिलो खत्तिओ य जय णामो।
णागो सिद्धत्थो वि य, धिदिसेणो विजय णामो य ।। ७ ।।
बुद्धिल्ल गंगदेवो, धम्मसेणो य होइ पच्छिमओ।
पारंपरेण एदे दसपुव्वधरा समक्खादा ।। ८ ।।
णक्खत्तो जसपालो पंडु धुवसेण कंस आयरिओ।
एयारसंगधारी, पंचजणा होंति णिद्दिट्ठा ।। ९ ।।
णामेण सुभद्द जसभद्दो तह य होइ जसबाहू।
आयारधरा णेया, अपच्छिमो लोह णामो य ।।१०।।
आइरिय परंपरया सायर दीवाण तह य पण्णत्ती।
सखेवेण समत्थं, वोच्छामि जहाणुपुव्वीए ।।११।।

इसी प्रकार काष्ठा संघ की गुर्वावली में भी इन्द्रभूति गौतम से लेकर लोहार्य तक यही क्रम देते हुए निम्नलिखित श्लोक में लोहार्य को अंतिम आचारांगधर बताया गया है :-

सुभद्रोऽथ यशोभद्रो, भद्रबाहुर्गणाग्रणीः।
लोहाचार्येति विख्याता, प्रथमांगाब्धिपारगाः ।।१०।।

[1] ब्रह्महेमचन्द्र विरचित श्रुतस्कंध, गाथा ६६, ६७, ७१ से ७९

दह उगणीस य सत्तर, इकवीस अट्ठारह सत्तर।
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेय ॥९॥
अंतिम जिण णिव्वाणे, तियसय-पण-चालवास जादेसु।
एगादहगधारिय पचजणा मुणिवरा जादा ॥१०॥
नक्खत्तो जयपालग पंडव ध्रुवसेन कस आयरिया।
अठारह वीस-वास गुणचाल चोद बत्तीस ॥११॥
सद तेवीस वासे, एगादह अगधरा जादा।
वास सत्ताणवदिय, दसंग नव अग अट्ठधरा ॥१२॥
सुभद्द च जसोभद्दं, भद्दबाहु कमेण च।
लोहाचय्य मुणीस च, कहियं च जिणागमे ॥१३॥
छह अट्ठारह वासे तेवीस वावण (पणास) वास मुणि णाह।
दस णव अट्ठंगधरा, वास दुसदवीस सधेसु ॥१४॥
पचसये पणसठे, अंतिम-जिण-समय जादेसु।
उप्पणा पंचजणा, इयंगधारी मुणेयव्वा ॥१५॥
अहिवल्लि माघनदि य धरसेण पुप्फयत भूदवली।
अडवीस इगवीस उगणीसं, तीस वीस वास पुणो ॥१६॥
इगसय-अठार-वासे, इयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छ सय तिरासिय वासे णिव्वाणा अगछित्तिकहिय जिणे ॥१७॥
सत्तरि-चउ-सद युतो, जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठ वरस बाललीला सोडस वासेहि भम्मिए देसे ॥१८॥
पणरस वासे रज्ज, कुणति मिच्छोवदेससयुत्तो।
चालीस बरस जिणवर-धम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥१९॥

इस पट्टावली के अनुसार वीर के पश्चात् की आचार्य – कालगणना इस प्रकार आती है

वीर निर्वाण के पश्चात्

१. गौतम	केवली	१२
२. सुधर्म	,,	१२
३ जम्बू स्वामी	,,	३८
		६२
४ विष्णु	श्रुतकेवली	१४
५. नन्दिमित्र	,,	१६
६ अपराजित	,,	२२
७. गोवर्धन	,,	१९
८. भद्रबाहु	,,	२९
		१००

९. विशाखाचार्य	दश पूर्वधर	१०
१०. प्रोष्ठिल	,,	१९
११. क्षत्रिय	,,	१७
१२ जयसेन	,,	२१
१३. नागसेन	,,	१८
१४. सिद्धार्थ	,,	१७
१५. धृतिषेण	,,	१८
१६ विजय	,,	१३
१७. बुद्धिलिंग	,,	२०
१८. देव	,,	१४

स० ५६५ अनुमानित करने की मान्यता का एक मात्र आधार नन्दि आम्नाय की प्राकृत पट्टावली है। इस पट्टावली के प्रारम्भ के श्लोकों एवं पट्टावली की गाथाओ पर भाषा, शब्द, भाव आदि की दृष्टि से विचार करने पर स्वतः ही यह प्रकट हो जाता है कि न तो यह कोई उच्च कोटि के विद्वान् की ही कृति है और न अति प्राचीन ही। इस पट्टावली के प्रथम श्लोक के तृतीय एव चतुर्थ चरण तथा तृतीय श्लोक को पढते ही साधारण से साधारण भाषाविद् पर भी सहज ही प्रकट हो जाता है कि यह पट्टावली अति स्वल्प भाषाबोध वाले किसी साधारण रचनाकार की सामान्य कृति है। इतना सब कुछ होते हुए भी प्राचीन पुराणों एव तिलोय पण्णत्ती जैसे माने हुए ग्रन्थ से भिन्न मान्यता की जननी होने के कारण इस पट्टावली का बहुत ही बड़ा महत्व है। इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञों के विचारार्थ इस पट्टावली को यहां दिया जा रहा है:

नन्दि आम्नाय की पट्टावली

श्री त्रैलोक्याधिपं नत्वा, स्मृत्वा सद्गुरुभारतीम्।
वक्ष्ये पट्टावली रम्यां मूल संघ गणाधिपाम् ।।१।।
श्री मूलसंघ प्रवरे, नन्द्याम्नाये मनोहरे।
बलात्कार गणोत्तसे, गच्छे सारस्वतीयके ।।२।।
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्तमं श्रीगणाधिपं।
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि, श्रूयतां सज्जना जनाः ।।३।।

पट्टावली:

अंतिम-जिण-णिव्वाणे, केवलणाणी य गोयम मुणिदो।
बारहवासे य गये सुधम्मसामी य सजादो ।।१।।
तह बारह वासे पुण संजादो जंबुसामि मुणिणाहो।
अठतीसवास रहियो, केवलणाणी य उक्किट्ठो ।।२।।
वासट्ठी-केवलवासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जम्बू य।
बारह बारह दो जण, तिय दुगहीण च चालीसं ।।३।।
सुयकेवलि पच जणा बासट्ठि वासे गये सुसंजादा।
पढम चउदहवास विण्हुकुमारं मुणेयव्वं ।।४।।
नंदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास बावीसं।
इगहीण वीसवास, गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीसं ।।५।।
सदसुय केवलणाणी, पच जणा विण्हु नदिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य सजादा ।।६।।
सद वासट्ठि सुवासे गए सु—उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा।
सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ।।७।।
आयरिय विसाखपोट्ठल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुहिलिग देव धमसेण ।।८।।

के एक देश के धारक हुए। तत – अर्हद्दत्त के पश्चात् पूर्वदेश के मध्यभाग मे स्थित श्रीपुण्ड्रवर्धनपुर में सब अगो एव पूर्वो के देशधर अर्हद्वलि नामक मुनि हुए।

इन्द्रनन्दि ने इस स्थल पर एक श्लोक से अर्हद्वलि के गुणो का वर्णन करते हुए कहा है – "वे अर्हद्वलि जिनवाणी के धारण और प्रसारण के विशुद्ध अतिशय से युक्त एव सत् – विमल क्रिया (साध्वाचार) के पालन मे सदा उद्यत रहते थे। वे अष्टाग निमित्त के ज्ञाता तथा सन्धान, अनुग्रह और निग्रह करने मे समर्थ थे।"

अर्हद्वलि की महिमा का वर्णन करने के पश्चात् सघविभाजन का उल्लेख करते हुए श्रुतावतारकार ने लिखा है – "एक समय पाच वर्षो के पश्चात् किये जाने वाले युग–प्रतिक्रमण के अवसर पर सौ-सौ योजन से मुनिसमाज एकत्रित हुआ। युग–प्रतिक्रमण के अवसर पर अर्हद्वलि ने एकत्रित सकल श्रमण सघ को यह कहते हुए कि भविष्य मे कालप्रभाव से गणपक्षपात का प्रावल्य रहेगा – श्रमण सघ को नन्दीसघ, वीर सघ, अपराजित सघ, देव सघ, सेन सघ, भद्रसघ, गुणधर सघ, गुप्त सघ, सिह सघ और चन्द्र सघ – इन दश सघो मे विभाजित किया।"

सघ-विभाजन का विवरण देते हुए इन्द्रनन्दि ने लिखा है कि उस युग प्रतिक्रमण के अवसर पर एकत्रित हुए समस्त मुनि गिरिगुहा, अशोकवाट, पचस्तूप, शाल्मलीमहाद्रुममूल और खण्डकेसर नामक ५ स्थानो से आये थे। प्रत्येक स्थान से आये हुए मुनियो को दो दो भागो मे विभक्त कर अर्हद्वलि ने अनुक्रमश उपरोक्त १० सघो की स्थापना की।

अपने इस अभिमत का आधार प्रस्तुत करते हुए इन्द्रनन्दि ने एक अज्ञात-लेखक का निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है –

आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा –
द्देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इति यतिपौ सेन भद्राह्वयौ च।
पचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधर – वृषभ शाल्मलीवृक्षमूला–
न्निर्यातौ सिहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्॥

एक अन्य मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्द्रनन्दि ने लिखा है – "गिरिगुहा से आये हुए मुनियो से नदिसघ, अशोक वन से आये हुए मुनियो से देव संघ, पच स्तूप से आये हुए मुनियो से सेन सघ, शाल्मलीतरु के मूल मे निवास करने वाले मुनियो से वीर सघ और खण्डकेसर वृक्ष के मूल मे रहने वाले मुनियो से भद्रसघ इस प्रकार पाच सघ ही गठित किये गये। इस प्रकार मुनिसघो के प्रवर्तक अर्हद्वलि के प्रति विनय प्रदर्शित करने वाले पाच प्रकार के कुलो के आचार से पूजनीय (उपास्य) पाच आचार्य थे।"

अर्हद्वलि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् माघनन्दि नामक आचार्य हुए। वे भी एक देश अगपूर्व की प्ररूपणा कर समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हुए। इन्द्रनन्दि ने माघनन्दि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर महातपा धरसेनाचार्य के होने का तो उल्लेख किया है किन्तु आचार्य धरसेन आचार्य माघनन्दि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् तत्काल

१९ धर्मसेन दश पूर्वधर १४ (१६)
योग १८१ (१८३)

२०. नक्षत्र ११ अगधारी १८
२१. जयपाल ,, २०
२२. पाण्डव ,, ३९
२३. ध्रुवसेन ,, १४
२४ कस ,, ३२
योग १२३

२५. सुभद्र १०,६,८ अगधारी ६
२६. यशोभद्र १०,९ व ८ अगधारी १८
२७ भद्रबाहु (२) ,, २३
२८ लोहाचार्य ,, ५२ (५०)
योग ९९ (९७)

२९. अर्हद्बलि १ अगधर २८ वर्ष
३०. माघनन्दि ,, २१
३१. धरसेन ,, १९
३२. पुष्पदत ,, ३०
३३. भूतवलि ,, २०
योग ११८

पूर्ण योग ६२+१००+१८३+१२३+९७+११८=६८३

हरिवशपुराण, श्रुतावतार और नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली – इन तीन ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य सभी उपर्युक्त ग्रन्थों में ग्रन्थकारो ने आर्य लोहाचार्य तक समाप्त हुए वीर नि० के ६८३ वर्षो के पश्चात् न तो आचार्यो का नामनिर्देश ही किया है और न कालनिर्देश ही।

इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार के श्लोक सख्या ७४, ७८, ७९, ८१ और ८२ मे 'तत.' शब्द का प्रयोग पूर्वापर अनुक्रम बताने के लिये किया गया है। 'तत' शब्द का स्वत. सिद्ध सीधा सा अर्थ है – उसके पश्चात्। उपरिचर्चित श्लोकों मे भी 'ततः' (तदनन्तरम्) शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया गया है कि पूर्ववर्णित आचार्य के पश्चात् अमुक-अमुक आचार्य हुए, पूर्वचर्चित श्रुतपरम्परा के अनन्तर अमुक श्रुतपरम्परा का अस्तित्व रहा और इन इन ऐतिहासिक घटनाओं के घटित होने के पश्चात् ये ऐतिहासिक घटनाएं घटित हुई।

वीर निर्वाण सं० १ से ६८३ वर्षो के सुदीर्घकाल मे हुए गौतमादि लोहार्यांत आचार्यो एव केवली, श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और आचारागधारी श्रुत-परम्पराओ का परिचय देने के पश्चात् इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार मे पुन· 'तत.' शब्द के प्रयोग के साथ अंग-पूर्व के देशधर आचार्यो का अनुक्रम निम्नलिखित रूप मे दिया है .–

> विनयधरः श्रीदत्त , शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते।
> आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नगपूर्वदेशधरा· ॥८४॥
> सर्वागपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते।
> श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्य ॥८५॥

अर्थात् – तत. तदनन्तर (अंतिम आचारागधर लोहार्य के पश्चात्) विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त नाम के चार (४) आरातीय मुनि अंगपूर्व

का समष्टि रूप से २० वर्ष का समय अपने "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" मे उल्लिखित कर दिया है ।[1] वस्तुत कोश का बहुत बडा महत्व होता है । वह भावी पीढियो के लिये सहस्राब्दियो तक एक प्रामाणिक थाती के रूप मे प्रकाश स्तम्भ का काम करता है । उसमे उल्लिखित प्रत्येक तथ्य सभी दृष्टियो से पूर्वाग्रहो से परे और परम प्रामाणिक होना चाहिए । वर्णीजी ने सैकडो ग्रन्थो के साथ-साथ हरिवश पुराण का भी आलोडन किया है । उन्होने आज से १२०० वर्ष पूर्व की हरिवंश पुराण[2] की साक्षी को दरगुजर कर पुन्नाट सघ की पट्टावली देते हुए आधुनिक विद्वानो के केवल अनुमान और कल्पना पर आधारित अभिमत को प्रश्रय दे कर लोहाचार्य आदि आचार्यो के काल को ११८ वर्ष पीछे की ओर ठेलने का प्रयास किया है । किन्तु पुन्नाट सघ के आचार्य शान्तिसेन, जयसेन और हरिवश पुराणकार जिनसेन का समय उपलब्ध साहित्य मे उल्लिखित है अत उन्हे उसे बिना हेर फेर किये यथावत् देना पडा है । इससे वास्तविक तथ्य स्वत. ही प्रकट हो जाता है ।[3]

वस्तुत इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के श्लोक सख्या ८४ मे प्रयुक्त 'तत' शब्द का अध्याहार विनयधर आदि चारो मुनियो के साथ कर लिया जाता और हरिवश पुराण मे वीर नि० स० ६८३ के पश्चात् की जो आचार्य परम्परा दी गई है, उस ओर दृष्टिपात किया जाता तो वास्तविकता सूर्य के प्रकाश के समान सुस्पष्ट हो जाती और मुख्तार सा० आदि तीनो विद्वानो को कल्पना एव अनुमान का सहारा लेने की किंचित्मात्र भी आवश्यकता नही होती । हरिवश पुराण मे वीर नि० स० ६८३ के पश्चात् लोहाचार्य से उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा इस प्रकार दी हुई है –

महातपोभृद्विनयधर श्रुतामृषिश्रुति गुप्तपदादिका दधत् ।
मुनीश्वरोऽन्य शिवगुप्त सज्ञको गुणै स्वमर्हद्बलिरप्यधात् पदम् ।।२५।।

अर्थात् वीर नि० स० ६८३ मे लोहार्य के स्वर्गस्थ होने पर क्रमशः महान् तपस्वी विनयधर, गुप्तश्रुति, गुप्त ऋषि, मुनीश्वर शिवगुप्त और अर्हद्बलि आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए ।

यह लोहाचार्य के पश्चात् की और अर्हद्बलि के समय मे हुए सघ-विभाजन से पूर्व की आचार्य परम्परा है । यहा स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि लोहाचार्य के पश्चात् विनयधर, उनके पश्चात् गुप्तश्रुति, फिर गुप्त ऋषि, तदनन्तर शिवगुप्त और उनके अनन्तर अर्हद्बलि आचार्य हुए। वस्तुत विनयधर आदि ये पाचो ही आचार्य मूल आचार्य परम्परा के क्रमश. – एक के पश्चात् एक – हुए आचार्य है, इस तथ्य को स्वीकार करने मे तो किसी को कोई बाधा नही होनी चाहिये, क्योकि दिगम्बर सघ मे परम्परा से यह मान्यता चली आ रही है कि

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ३३२
[2] हरिवश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक २२-३३
[3] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १ पृ० ३४५

उनके उत्तराधिकारी बने अथवा अनिश्चित काल व्यतीत होने पर आचार्य बने, इस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही किया है। इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार के श्लोक सं० १५१ मे किये गये निर्देश से तो यही प्रकट होता है कि इन्द्रनन्दि के समय में धरसेन के काल, गुरुपरम्परा, शिष्यपरम्परा तथा गण – गच्छ आदि के सम्बन्ध में न तो कही किसी प्रकार का कोई उल्लेख ही उपलब्ध था और न किसी को एतद्विषयक कोई जानकारी ही थी।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में उल्लिखित पट्ट-परम्परा को शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सहज ही यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि वीर नि० सं० ६८३ मे दिवगत हुए अंतिम आचारागधर आचार्य लोहार्य के पश्चात् विनयंधर से लेकर अर्हद्बलि तक प्रभु वीर के पट्टधरों का जो नामोल्लेख किया है, वह अनुक्रमशः एक के पश्चात् हुए आचार्यो का क्रमबद्ध उल्लेख है। यदि किसी प्रकार का पूर्वाग्रह न हो तो श्रुतावतार के श्लोक सख्या ८४ का सीधा सा अर्थ इस प्रकार होता है :– "तत – तदनन्तर अर्थात् वीर नि० स० ६८३ मे स्वर्गस्थ हुए लोहार्य के पश्चात् क्रमशः विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त नाम के अंग एव पूर्वज्ञान के एकदेशधर चार आरातीय मुनि हुए।"

इस श्लोक की शब्दरचना से इस प्रकार का किंचिन्मात्र भी आभास नही होता कि विनयधर आदि वे चारों मुनि एक ही समय में अर्थात् समकालीन हुए होगे, क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतावतार को ध्यानपूर्वक पढने पर उसके १८७ श्लोकों मे से एक भी ऐसा श्लोक दृष्टिगोचर नही होता, जिसमें एक ही समय मे हुए दो अथवा दो से अधिक मुनियों का उल्लेख किया गया हो। ऐसी स्थिति मे इन चारो आरातीय मुनियो के एक ही समय मे होने की कल्पना तक नही की जा सकती।

इस प्रकार की स्पष्ट स्थिति के होते हुए भी विश्रुत विद्वान् प. जुगलकिशोरजी मुख्तार ने एतद्विषयक उपलब्ध अन्य प्रामाणिक साक्ष्य की ओर ध्यान न देकर अपनी पुस्तक 'समन्तभद्र' के पृष्ठ १६१ पर केवल अपने अनुमान के आधार पर विनयधर आदि चारो आरातीय मुनियों को समकालीन मानकर इन चारो का समुच्चय रूप से २० वर्ष का समय अनुमानित किया है। जैन जगत् के ख्याति प्राप्त विद्वान् डा० हीरालालजी ने भी मुख्तारजी की कल्पना को बल देते हुए लिखा है :–

"लोहार्य के पश्चात् चार आरातीय यतियो का जिस प्रकार इन्द्रनन्दि ने एक साथ उल्लेख किया है, उससे जान पडता है कि सभवत वे सब एक ही काल मे हुए थे। इसी से पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने उन चारों का एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है।"[1]

श्री मुख्तार सा० और डॉ० हीरालालजी के उपर्युद्धृत अनुमान का अक्षरश· अनुकरण करते हुए क्षु० श्री जिनेन्द्रवर्णीजी ने एक प्रकार से सुनिर्णीत तथ्य के समान विनयधर आदि चारों आरातीय मुनियो को समकालीन बता कर इन चारो

[1] षट्खण्डागम, भाग १, द्वितीय सस्करण की प्रस्तावना, पृ० २०

३२) आचार्यो का होना बताया है, जो सभी दृष्टियो से सुसगत प्रतीत होता है। यद्यपि जिनसेन ने विनयधर से लेकर आचार्य अमितसेन तक ३१ आचार्यो का पृथक् पृथक् आचार्यकाल नही दिया है तथापि लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि स ६८३ से स्वय द्वारा हरिवश पुराण की समाप्ति का समय शक स. ७०५ तदनुसार वीर नि. स १३१० देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि लोहार्य से लेकर उन स्वय (जिनसेन) तक की ६२७ वर्षो की अवधि मे ३१ आचार्य हुए। इस ६२७ वर्ष के समुच्चय काल को ३१ आचार्यो मे विभक्त किया जाय तो मोटे तौर पर एक एक आचार्य का काल २० वर्ष के लगभग आका जा सकता है।

इस प्रकार हरिवश पुराण की आचार्य-परम्परा की पट्टावली मे उल्लिखित तर्कसगत एव इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार द्वारा समर्थित प्रामाणिक तथ्यो से विनयधरादि अर्हद्बल्यान्त पाच आचार्यो का, प्रत्येक आचार्य के २० वर्ष के काल के हिसाब से, समुच्चयकाल १०० वर्ष और तदनुसार अर्हद्बलि का आचार्यकाल वीर नि० स० ७६३ से ७८३ तक का सिद्ध होता है, न कि नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर नि० स० ५६५ से ५९३ तक का। यह १९० वर्ष का गोलमाल वस्तुत श्रुतावतार के श्लोक सख्या ८४ का पूर्वाग्रहानुसार अर्थ लगाने एव हरिवश पुराण मे दी हुई पट्टावली की उपेक्षा करने के कारण हुआ है। यदि दिगम्बर परम्परा के अग्रगण्य विद्वानो ने हरिवश पुराणान्तर्गत आचार्य परम्परा की पट्टावली पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया होता तो न तो आचार्यो के काल के विषय मे इस प्रकार की गम्भीर भ्रान्ति ही उत्पन्न होती और न उसे कोश जैसे प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ मे स्थान ही दिया जाता। इन ऐतिहासिक तथ्यो के प्रकाश मे अर्हद्बलि के पश्चाद्वर्ती माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द आदि आचार्यो के काल के सम्बन्ध मे भी पुनर्विचार करना परमावश्यक हो गया है।

उपरिलिखित सभी तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर सहज ही यह तथ्य प्रकाश मे आ जाता है कि आचार्यो के काल के विषय मे हुई इस भूल की मूल जननी वस्तुत नन्दीसघ की उपर्युद्धृत प्राकृत पट्टावली है, जिसकी कि हस्तलिखित मूल प्रति डॉ० हीरालालजी के कथनानुसार आज कही उपलब्ध नही है।[1]

ऊपर उद्धृत की गई पट्टावलियो एव सम्बद्ध उल्लेखो से यह तथ्य तो निर्विवाद रूपेण प्रकट हो चुका है कि दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय मे खोजने पर एक भी इस प्रकार की पक्ति उपलब्ध नही होगी, जिससे कि नन्दी

[1] इस पट्टावली की जाच करने के लिये हमने सिद्धान्त भवन, आरा को उसकी मूल हस्त-लिखित प्रति भेजने के लिये लिखा, किन्तु वहा से प० भुजबली जी शास्त्री सूचित करते है कि बहुत खोज करने पर भी उस पट्टावली की मूल प्रति मिल नही रही है ऐसी अवस्था मे हमे उसकी जाच मुद्रित पाठ पर से ही करनी पडती है।

[षट्खण्डागम, भा० १ (द्वितीय सस्करण) की प्रस्तावना, पृ० २४]

अर्हद्‌बलि ने भावी परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए पृथक् पृथक् सघो का निर्माण किया। इन्द्रनन्दि ने तो अपने श्रुतावतार मे अर्हद्‌बलि द्वारा किये गये सघ-विभाजन का विशद् एव सुस्पष्ट विवरण दिया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विनयधर से अर्हद्‌बलि तक जो पाच आचार्यो के नाम हरिवशपुराण और श्रुतावतार मे दिये गये है, वे अनुक्रमशः हुए मूल आचार्य-परम्परा के ही आचार्य है।

यहां एक बात जो विचारणीय है, वह यह है कि हरिवश पुराणकार तथा श्रुतावतारकार–इन दोनो ने ही लोहार्य के पश्चात् तथा सघविभाजन से पूर्व हुए आचार्यो की संख्या समान रूप से यद्यपि ५ ही दी है तथापि उन ५ आचार्यो मे से २ आचार्यो के नाम दोनो ने एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न दिये है। इन दोनो ग्रन्थ-कारो ने लोहाचार्य के पश्चात् हुए प्रथम आचार्य का नाम विनयधर और पाचवे आचार्य का नाम अर्हद्‌बलि दिया है। इन्द्रनन्दि ने तीसरे आचार्य का नाम शिवदत्त और जिनसेन ने चौथे आचार्य का नाम शिवगुप्त दिया है। क्रम के अतिरिक्त इस नाम मे कोई विशेष अन्तर नही है। दूसरे और चौथे आचार्यो के नाम इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार मे श्रीदत्त एव अर्हद्दत्त लिखे है पर जिनसेन ने अपने हरिवश पुराण मे दूसरे आचार्य का नाम गुप्तश्रुति तथा चौथे आचार्य का नाम गुप्त ऋषि उल्लिखित किया है। यह नाम वैषम्य अवश्य ही कुछ खटकने वाला है पर पूर्वापर दोनो आचार्यो के समान नाम, तीसरे आचार्य का नगण्य अन्तर के साथ नाम साम्य तथा दोनों ही ग्रन्थो मे आचार्यो की समान सख्या को देखते हुए इन उल्लेखों की प्रामाणिकता मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता। उपरिलिखित विभिन्न ग्रन्थो मे कतिपय आचार्यो के नामो की भिन्नता प्रायः यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है। दिगम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थो मे केवल आचार्यो ही नहीं अपितु गणधरो के नामो में भी वैभिन्य पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हरिवश पुराण में दी गई आचार्य परम्परा की पट्टावली अपने आपमे परिपूर्ण एव सभी दृष्टियो से अन्य उपलब्ध पट्टावलियो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। वीर नि. स १ से ६८३ तक और दूसरे शब्दो मे केवली गौतम से लेकर अन्तिम आचारागधर लोहार्य तक की ६८३ वर्ष की अवधि में जिनसेन ने २८ आचार्यो के नाम दिये है, जो धवला, तिलोयपण्णत्ती, श्रुतावतार आदि सभी प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा समर्थित है। लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि स. ६८३ से वीर नि. स. १३१० (शक स. ७०५)[1] तक कुल मिलाकर ६२७ वर्षो मे जिनसेन ने ३१ (स्वय को मिलाकर

[1] शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिश पचोत्तरेषूत्तरा
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरा,
सूर्याणामधिमडल जय युते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
कल्याणै. परिवर्धमानविपुलश्री वर्धमाने पुरे,
श्री पार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोष्तटिका-प्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने,
शान्ते शान्तगृहे जिनस्य रचितो वशो हरीणामयम् ॥५३॥ [हरिवंश पुराण, सर्ग ६६]

१६ गाथाओ की इस छोटी सी पट्टावली मे काल – गणना मे गणित की दृष्टि से दो स्थानो पर इस प्रकार की त्रुटिया की गई है कि इतिहास के विशेषज्ञो को ११ दशपूर्वधरो मे से किसी एक महापुरुष की आयु को २ वर्ष बढाने तथा दश-नवाष्टागधरों में से किसी एक महामुनि की आयु को २ वर्ष घटाने का प्रयास करना पड रहा है, क्योकि इन दोनो वर्गो के आचार्यो का जो पृथक्-पृथक् काल दिया गया है, वह पिण्ड रूप मे दिये गये उनके काल से मेल नही खाता ।[1]

इस पट्टावली की गाथाओ पर भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो ये सदोष ही सिद्ध होगी । इसकी गाथा सख्या २ के तृतीय चरण मे प्रयुक्त 'रहियो' शब्द प्राकृत भाषा की शब्दावली मे 'रहा' – इस अर्थ मे कही देखने मे नही आया । प्राकृत भाषा मे 'रहिओ' शब्द का प्रयोग पार्थक्य अथवा घटाने के अर्थ मे होता है । हाँ, डिंगल, राजस्थानी-गुजराती, अपभ्रश एव कतिपय देशज भाषाओ में 'रहियो' शब्द का प्रयोग 'रहा' के अर्थ मे होता है । इसके अतिरिक्त गाथा सख्या १३ मे चार बार 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है जो खटकने के साथ-साथ इस बात का द्योतक है कि पट्टावलीकार का भाषा पर पूर्णाधिकार नही था । इस पट्टावली को ध्यानपूर्वक पढने पर एक बात बडी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि पट्टावलीकार को जहा परम्परागत मान्यता और प्राचीन ग्रन्थो से विपरीत बात कहनी थी, वहा उसने जिनागम और जिन-कथन की दुहाई दी है । सभी प्राचीन ग्रन्थो द्वारा समर्थित यह परम्परागत मान्यता रही है कि ६८३ मे अतिम आचारागधर लोहार्य स्वर्गस्थ हुए । इसके विपरीत लोहार्य को आठ अगो के धारक और वीर नि० स० ५६५ मे स्वर्गस्थ हुए सिद्ध करने के लिये पट्टावलीकार ने गाथा सख्या १३ मे – "लोहाचय्य मुणीस च, कहिय च जिणागमे" इस गाथार्द्ध द्वारा अपने अभिमत पर जिनागम की छाप लगाने का प्रयास किया है । इसी प्रकार लोहाचार्य के पश्चात् अनुक्रमश हुए विनयधर आदि चार आचार्यो को अपनी पट्टावली मे स्थान न देकर ८० वर्ष के आचार्यकाल को ऊपर ही ऊपर उडाने का प्रयास करते हुए जहा अग पूर्व के एक देशधर अर्हद्वलि, माघनदी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन ५ आचार्यो को आचारागधर सिद्ध करने एव भूतबलि का ६८३ मे स्वर्गस्थ होना तथा उनके साथ ही अग विच्छेद होने की बात सिद्ध करने का प्रयास किया है, वहा पर भी पट्टावलीकार ने लिख दिया है कि जिनेन्द्र भगवान् ने इस प्रकार कहा है –

अहिवल्लि माघनदि य धरसेण पुप्फयत भूदबली ।
अडवीस इगवीस उगणीस तीस वीस वास पुणो ।।१६।।
इगसय अठारवासे दसगधारी य मुणिवरा जादा ।
छ सय-तिरासिय- वासे णिव्वाणा अगच्छित्ति कहिय जिणे ।।१५।।

वस्तुत वास्तविक स्थिति यह है कि किसी जिनागम मे अथवा दिगम्बर परम्परा के किसी ग्रन्थ मे एक पक्ति तो क्या एक शब्द भी इस प्रकार का उपलब्ध

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का पृष्ठ ७३७

सघ की प्राकृत पट्टावली में आचार्यो एव श्रुतपरम्परा की अवस्थिति के सम्बन्ध में उल्लिखित 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाले विचित्र अभिमत की पुष्टि होती हो। प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन सभी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे लोहार्य को अतिम आचारागधर बताते हुए एक स्वर से यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वीर नि० स० ६८३ मे लोहार्य के स्वर्गस्थ होते ही द्वादशांगी मे से अवशिष्ट एक मात्र आचाराग भी विच्छिन्न हो गया। लोहार्य के पश्चात् कोई आचार्य किसी एक भी सम्पूर्ण अंग का ज्ञाता नही हुआ। लोहार्य के पश्चाद्वर्ती सभी आचार्य अगज्ञान एव पूर्व ज्ञान के एक देश-धर ही हुए।

ऐसी स्थिति मे नन्दी सघ की तथाकथित प्राकृत पट्टावली, जिसकी कि मूल प्रति आज कही उपलब्ध नही, जिसके रचनाकार एवं रचनाकाल तक का कोई पता नही, उसे कहा तक प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक माना जा सकता है, इस सम्बन्ध मे गम्भीरतापूर्वक विचार करना परमावश्यक हो जाता है।

इस पट्टावली मे सर्व प्रथम ३ श्लोक सस्कृत के और १६ गाथाए प्राकृत की है। डॉ० हीरालालजी ने इस पट्टावली के सम्बन्ध मे लिखा है :- "यह पट्टावली प्राकृत मे है और सभवतः एक प्रति पर से बिना कुछ सशोधन के छपाई गई होने से उसमे अनेक भाषादि दोष है। इस लिये उस पर से उसकी रचना के समय के सम्बन्ध मे कुछ कहना अशक्य है। पट्टावली के ऊपर जो तीन सस्कृत श्लोक है, उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीसरा श्लोक सदोष है।[1] पर उन पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता स्वय पट्टावली की रचना नही कर रहा, किन्तु वह अपनी उस प्रस्तावना के साथ एक प्राचीन पट्टावली को प्रस्तुत कर रहा है।"[2]

वस्तुस्थिति यह है कि इस पट्टावली के प्रारम्भ के तीन संस्कृत श्लोको को यदि अन्यकर्त्तृक मान लिया जाता है अथवा इन्हे पट्टावली मे से हटा दिया जाता है तो उस दशा में केवल गाथाओं को पढने से किसी को किंचित्मात्र भी इस प्रकार का आभास नही हो सकेगा कि यह किस सघ की पट्टावली है। ऐसी स्थिति में न तो इन तीन श्लोकों को इस पट्टावली से पृथक् ही किया जा सकता है और न इन्हे अन्यकर्त्तृक ही कहा जा सकता है। यदि इस पट्टावली को भाषा विज्ञान एवं गणित की कसौटी पर कसा जाय तो न केवल इसके आदि के तीन सस्कृत श्लोक ही, अपितु यह सम्पूर्ण पट्टावली ही दोषों से भरी हुई प्रतीत होगी।

---

[1] वस्तुतः पहला श्लोक भी सदोष है। चतुर्थ चरण मे गणाधिपा के स्थान पर गणाधिपाना होना चाहिए पर उस दशा मे छन्दभग होता है। —सम्पादक

[2] (क) डॉ० हीरालालजी ने यह किस आधार पर लिखा है ? कुछ समझ नही पडता क्योंकि प्रथम श्लोक मे ही स्पष्टत. कहा गया है — "वक्ष्ये पट्टावलि रम्यां, मूलसघ गणाधिपाम्" अर्थात् — मूलसघ के गणाधिनायकों की पट्टावली कहूँगा। — सम्पादक

(ख) पट्खण्डागम, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० २४—२५

मे एकादशागधारियों का १२३ वर्ष का काल और दश-नव-अष्टागधारियो का ६७ वर्ष का काल बता चुकने के पश्चात् गाथा सख्या १४ द्वारा पुन दश, नव तथा आठ अगधारियो का काल ९७ वर्ष के स्थान पर २२० वर्ष बताते है। यहा पट्टावलीकार द्वारा वस्तुत बडी भारी भूल हो गई है। गाथा की शब्दयोजना पर विचार करने की दशा मे यह गाथा त्रुटिपूर्ण और नितान्त अशुद्ध प्रतीत होती है। गाथा के पूर्वार्द्ध मे दी हुई सख्या ६+१८+२३+५२ (५०) का योग ९९ और ९७ आता है पर गाथा के उत्तरार्द्ध मे दश, नव तथा आठ अगधारियो का काल २२० वर्ष बीतने तक बताया गया है। पूर्वापर सम्बन्ध की खीच तान से तो इस गाथा का अर्थ येन केन प्रकारेण यह लगाया जा सकता है कि २२० वर्षो मे एकादशागधर तथा दश-नव-अष्टागधर हुए, पर गाथा की शब्द रचना से तो गाथा का सीधा सा अर्थ यही निकलता है कि इसमे दश-नव-अष्टागधरो का काल २२० वर्ष बताया गया है। इस अप्रासगिक, अनावश्यक एव सदोष उल्लेख को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस पट्टावलीकार के समक्ष एकादशागधरो का २२० वर्ष का काल बताने वाली अनेक पट्टावलिया विद्यमान थी। उनमे से हरिवश पुराणान्तर्गत पट्टावली का – "द्वये च विशेऽङ्गभृतोऽपि पच ते" तथा जय धवला का – "तदो तमेक्कारसगं सुदणाण जयपाल-पाडु-धुवसेणकसोत्ति आइरिय परम्पराए बीसुत्तर बेसद वासाइमागतूण वोच्छिण्ण।" यह पद एव श्रुतावतार के निम्नलिखित पद पट्टावलीकार के कर्णरन्ध्रो मे गूजते रहे –

> एते पचापि ततो बभूवुरेकादशागधरा.।
> विशत्यधिक वर्षशतद्वयमेषा बभूव युगसख्या ॥८१॥

उन पदो की छाप जो नन्दीसघ प्राकृत पट्टावलीकार के मस्तिष्क मे थी, वह अनावश्यक एव अप्रासगिक होते हुए भी इस पट्टावली की गाथा सख्या १४ मे "दस नव अट्ठ गधरा, वास दुसदवीस सधेसु" के रूप मे उतर आई। अन्यथा "वास दुसदवीस सधेसु" यह चरण इस गाथा मे किसी भी दृष्टि मे उपयुक्त नही जचता। यह पद ही इस बात का साक्षी है कि यहा हेर फेर के रूप मे कुछ गडबड की गई है किन्तु वास्तविकता इस चतुर्थ चरण के रूप मे अपना चिन्ह छोड गई है।

यही नही, अपितु इस नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली के प्रणेता ने भावी पीढियो को एक बड़ी उलझन में भी डाल दिया है। गाथा सं० १२ के उत्तरार्द्ध से १४ वी गाथा तक सुभद्र आदि ४ आचार्यो को दश, नव, आठ अगो का धारक तो बताया है, पर यह स्पष्ट नही किया है कि वे चारो ही आचार्य उपरोक्त तीनो ही अगो के धारक थे अथवा इनमे से विभिन्न अगो के। यदि वे विभिन्न अगो के धारक थे तो कौन-कौन से आचार्य किस-किस अग के धारक थे? उपरिचर्चित गाथाओ मे आचार्यो की सख्या ४ और अगो की सख्या तीन ही है अत चारो ही आचार्यो को उपरोक्त तीनो अगो का समान रूप से धारक माना जाय, उस दशा मे तो ठीक है किन्तु उन चारो आचार्यो मे से प्रत्येक को उपरोक्त तीनो अगों मे से पृथक्-पृथक

नही होता, जिससे नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली के रचनाकार के उपरिलिखित ग्रभिमतों की किंचिन्मात्र भी पुष्टि होती हो ।

एक बात ग्रौर बडी विचारणीय है, वह यह है कि इस पट्टावली के ग्रादि के प्रथम श्लोक में पट्टावलीकार ने त्रैलोक्येश्वर प्रभु को नमस्कार एव सद्गुरु की वाणी का स्मरण करने के पश्चात् मूलसंघ के गणनायको (ग्राचार्यो) की सुन्दर पट्टावली की रचना करने की तथा दूसरे एव तीसरे श्लोक मे "श्रेष्ठ मूल सघ के नन्दी ग्राम्नायी बलात्कारगण के सरस्वती गच्छ मे जितने कुन्दकुन्दान्वयी ग्राचार्य हुए है, उन सबका विवरण मै यहा प्रस्तुत करूंगा ग्रत· सब सज्जन उसे सुने "[1], इस प्रकार की प्रतिज्ञा की है ।

पट्टावलीकार की उपरोक्त प्रतिज्ञा के सन्दर्भ मे इस सम्पूर्ण पट्टावली को ध्यानपूर्वक पढा जाय तो स्वत ही यह तथ्य प्रकट हो जायगा कि यह पट्टावली वस्तुत ग्रपने ग्राप मे ग्रपूर्ण है । क्योकि पट्टावलीकार की उपर्युद्धृत प्रतिज्ञानुसार न इस पट्टावली में कही नन्दी ग्राम्नाय का, न बलात्कार गण का, न सरस्वती गच्छ का ग्रौर न ग्राचार्य कुन्दकुन्द का ही कही उल्लेख दृष्टिगोचर होता है ।

इस पट्टावली की गाथा संख्या १४ के चतुर्थ चरण – "वास दुसद वीस सधेसु ।।" पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विचारको के मस्तिष्क मे यह ग्राशका उत्पन्न होती है कि इस पट्टावली के रचनाकार ने प्राचीन, प्रचलित एव प्रामाणिक पट्टावलियो मे उल्लिखित तथ्यो को तोड मरोड कर इसमे प्रस्तुत किया है । सभी पट्टावलीकारो की वर्णनशैली का ग्रनुसरण करते हुए नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली के प्रणयनकार ने भी प्रत्येक श्रुतपरम्परा के ग्राचार्यो के काल का उल्लेख करते हुए – "सदतेवीस वासे एगादह ग्रगधरा जादा" – इस गाथार्द्ध से एकादशाग-धारियो का काल १२३ वर्ष तथा – "वास सत्ताणवदिय, दसग नव ग्रग ग्रट्ठधरा" इस ग्राधी गाथा द्वारा दश नव-ग्रष्टागधरो का काल ९७ वर्ष बताया है । इस सारी पट्टावली को पढने पर यह स्पष्टत ज्ञात हो जाता है कि इसमें सर्वत्र पृथक्-पृथक् श्रुत परम्परा का पृथक्-पृथक् काल दिया है, दो श्रुत परम्पराग्रो का सम्मिलित काल नही । परन्तु जहा एकादशागधारियो के परम्परागत २२० वर्ष के काल का प्रश्न ग्राया ग्रौर उसे पट्टावलीकार ने विवादास्पद बनाया वहा – "दस नव ग्रट्ठंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ।।१४।।" इस गाथार्द्ध द्वारा एकादशागधारियो एव दश-नवाष्टागधारियो का सम्मिलित समय २२० वर्ष बताने का प्रयास किया है । यहा पट्टावलीकार द्वारा भयकर त्रुटि हो गई है । पट्टावलीकार गाथा सख्या १२

---

[1] इन तीन श्लोको मे पट्टावलीकार ने दो बार कहा है कि मूल सघ मे हुए गणाचार्यो तथा मूल सघ के नन्दी ग्राम्नायी बलात्कार गण के सरस्वती गच्छ मे कुन्द कुन्दान्वयी जितने भी ग्राचार्य हुए हैं उनके सम्बन्ध मे मै कथन करूगा । ऐसी स्पष्ट दो उक्तियो के होते हुए भी डॉ० हीरालालजी ने इन श्लोको का ग्रर्थ यह किस प्रकार लगाया है कि पट्टावलीकार किसी पुरातन पट्टावली को प्रस्तुत कर रहे है । पाठकगण स्वय इस पर निर्णय करें ।

[सम्पादक]

ने दिगम्बर परम्परा के परम प्रामाणिक माने जाने वाले धवला जैसे प्राचीन ग्रन्थो के एतद्विषयक उल्लेखों के प्रति प्रगाढ आस्था को झकझोर कर न सही, पर थोडा हिलाकर अनेक नवीन उलझने उत्पन्न कर दी है और कतिपय विद्वानो द्वारा इसको प्रश्रय दिये जाने के कारण आचार्यो के काल के प्रश्न को लेकर एक बडी अजीब सशयात्मक स्थिति जनमानस मे व्याप्त हो गई है। आज के युग के उच्च कोटि के विद्वानो के एतद्विषयक अभिमत को पढ कर प्रबुद्ध जनमानस ईहापोह करने लगा है कि आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व तपोपूत महात्माओ द्वारा प्राचीन ग्रन्थो मे आचार्यो का जो कालक्रम लिखा गया है, उसे प्रामाणिक माना जाय अथवा आज के युग के कतिपय विद्वानो द्वारा प्रश्रय प्राप्त तथाकथित "नदीसघ की प्राकृत पट्टावली" के उल्लेखो को, जिसके कि न तो लेखक का ही कोई पता है और न लेखनकाल ही का।

इस उलझन भरी जटिल ऐतिहासिक गुत्थी को प्रमाण पुरस्सर सुलझाने का प्रयास किया जाय, एक मात्र इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर यहा इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इस सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा के ही अनेक प्रामाणिक ग्रन्थो के उद्धरण इस दृष्टि से प्रस्तुत किये गये है कि पाठको एव शोधार्थियो को एक ही स्थान पर पूरी आवश्यक सामग्री उपलब्ध हो जाय और उन्हे विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थो को प्राप्त करने के प्रयास मे समय एव श्रम व्यर्थ ही व्यय न करना पडे। ऊपर जो ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसमे "हरिवश पुराण" के उल्लेखो का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व है, क्योकि उनमे वीर नि० स० १ से १३१० तक की आचार्य परम्परा का अविच्छिन्न रूप से उल्लेख है। इसमे उल्लिखित, वीर नि० स० ६८३ मे दिवगत हुए लोहार्य तक की आचार्य परम्परा धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, तिलोय पण्णत्ती, जम्बूदीव पण्णत्ती के आदि मे दी हुई श्रुतधर पट्टावली, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार तथा अनेक पट्टावलियो एव शिलालेखो द्वारा पूर्ण रूपेण समर्थित है। नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली को अनेक प्रमाणो एव तर्क सगत तथ्यो द्वारा पूर्णत अप्रामाणिक और अविश्वसनीय सिद्ध किया जा चुका है। इस पट्टावली के अतिरिक्त अन्यत्र कोई एक भी उल्लेख (लोहार्य के समय वीर नि० स० ६८३ तक) हरिवश पुराण के विपरीत उपलब्ध नही होता। ऐसी स्थिति मे लोहार्य के अतिम आचारागधर होने तथा उनके समय वीर नि० स० ६८३ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे किंचित्मात्र भी सदेह के लिये स्थान नही रह जाता।

लोहार्य के पश्चात् वीर नि० स० ६८३ से अनुमानत ७८३ तक, सघ विभाजन से पूर्व की आचार्य परम्परा का जो उल्लेख हरिवश पुराण मे किया गया है, वह इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार द्वारा (दो आचार्यो के नाम विभेद के साथ) समर्थित है। उपरिलिखित अन्य प्रामाणिक ग्रन्थो मे लोहार्य के पश्चात् की आचार्य परम्परा का उल्लेख नही किया गया है। ऐसी स्थिति मे हरिवश पुराण मे लोहार्य के पश्चात् अनुक्रमश. हुए विनयधर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, शिवगुप्त और

अंगो का ज्ञाता माने जाने की स्थिति में यह प्रश्न एक जटिल पहेली का रूप धारण कर लेता है।[1]

इस प्रकार आचार्यो के काल के सम्बन्ध में जो तथ्य ऊपर प्रस्तुत किये गये है, उन सब पर और विशेषतः हरिवंश पुराण एव श्रुतावतार मे लोहार्य से उत्तरवर्ती वीर निर्वाण स० ६८३ के पश्चात् की आचार्य-परम्परा के जो उल्लेख ऊपर उद्धृत किये गये है, उन पर निष्पक्ष एव सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली भट्टारककालीन किसी अति साधारण रचनाकार की नितान्त साधारण, त्रुटिपूर्ण एव अपूर्ण कृति होने के कारण वस्तुतः अविश्वसनीय और अप्रामाणिक है। एकादशांगधरों के काल के विषय में की गई काट-छाट, दश, नव एव आठ अंगधरों की कल्पना के साथ उनके काल के सम्बन्ध मे जोड़-तोड़, लोहाचार्य के पश्चात् हुए विनयधर आदि चार आचार्यो को आचार्यो के क्रम मे सम्मिलित तक न करना, अंगपूर्वज्ञान के एक देशधर आचार्य अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूतबलि को एक अगधारी मनवाने का प्रयास करना, ये सब बाते वस्तुत पट्टावलीकार की स्वयं की ऐसी कल्पनाए है, जिनके समर्थन मे दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण साहित्य का मथन करने पर भी एक शब्द तक उपलब्ध नही होगा। ऐसी दशा में नंदीसघ की प्राकृत पट्टावली की किसी भी तरह प्रामाणिकता की कोटि मे गणना नही की जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय आचार्यो को उनके वास्तविक काल से प्राचीन सिद्ध करने के उद्देश्य से भट्टारक काल में इस पट्टावली की रचना की गई है।

दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय से पूर्णतः विरुद्ध जो विचित्र मान्यताएं नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली मे प्रस्तुत की गई है, उनके सम्बन्ध में स्व० डॉ० हीरालालजी ने लिखा है "उससे अकस्मात् अग लोप सम्बन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है।" दिगम्बर परम्परा के सभी प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थो मे जिस प्रकार वीर नि० सं० ३४५ मे पूर्वज्ञान का और ६८३ में अगज्ञान का विच्छिन्न होना बताया गया है, नन्दीसघ की पट्टावली मे भी इन दोनों प्रकार के ज्ञान का ठीक उसी समय मे विच्छेद बताया गया है। ऐसी दशा में इससे काल की कठिनाई तो किंचित्मात्र भी कम नही होती। केवल तीन अगों के लोप की कठिनाई काल की दृष्टि से नही अपितु क्रम की दृष्टि से कुछ कम होती है पर शेष ६ अगो के अकस्मात् लोप की कठिनाई तो ज्यो की त्यो ही बनी रहती है। इसी प्रकार पूर्वज्ञान के लोप की कठिनाई में भी इस पट्टावली के उल्लेखों से किसी प्रकार की कमी नही आती। कठिनाई को कम करना तो दूर इस पट्टावली

---

[1] इनके पश्चात् आगे के जिन चार आचार्यो को अन्यत्र एकागधारी कह कर श्रुतज्ञान की परपरा पूरी कर दी गई है उन्हे यहां क्रमश दश,नव और आठ अगो के धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नही किया गया है कि कौन कितने अगो का ज्ञाता था।

[षट्खण्डागम, भाग १, द्वि० स०, प्र०, पृष्ठ २३]

२५. सुभद्र	आचारागधर	समुच्चय काल
२६ यशोभद्र		
२७. यशोबाहु		
२८. लोहार्य		
		११८ वर्ष
		पूर्ण योग ६८३ वर्ष
२९ विनयधर	अग-पूर्व के एक देशधर	२० वर्ष (अनुमानत·)
३० गुप्तऋषि	,,	२० ,,
३१ गुप्तश्रुति	,,	२० ,,
३२ शिवगुप्त	,,	२० ,,
३३ अर्हद्बलि[1]	,,	२० ,,
	योग	१००
	पूर्ण योग	७८३

अर्हद्बलि के पश्चात् हरिवशपुराण मे वीर नि० स० १३१० तक की अविच्छिन्न आचार्य परम्परा दी है, वह पुन्नाट सघ की आचार्य-परम्परा प्रतीत होती है। यह तथ्य विचारणीय है कि हरिवश पुराणकार ने इस बात का कोई उल्लेख नही किया है कि पुन्नाट सघ के प्रवर्तक प्रथम आचार्य कौन हुए। हरिवश पुराण के ६६वे सर्ग के ३१वे श्लोक मे पुराणकार ने अमितसेन को पवित्र पुन्नाट गण का अग्रणी आचार्य बताया है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि वे पुन्नाट सघ के एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, न कि मूल पुरुष। पुन्नाट सघ के प्रथम आचार्य तो अनुमानतः मन्दरार्य ही होने चाहिए जो कि मूल सघ का विभाजन करने वाले अर्हद्बलि के पश्चात् इस पट्टावली मे बताये गये है।

यह पहले बताया जा चुका है कि अर्हद्बलि (वीर नि० स० ७६३–७८३) ने दिगम्बर सघ को १० सघो मे विभाजित किया। उन सघो मे से अधिकांश के नाम तो आज केवल पत्रो पर ही अवशिष्ट रह गये है। कालान्तर मे उपरोक्त सघो के अतिरिक्त और भी कई संघ समय-समय पर उत्पन्न हुए तथा उनमे से भी अनेक सघ विलुप्ति के गहन गह्वर मे विलीन हो गये। ऐसी स्थिति मे अर्हद्बलि के उत्तरवर्ती काल की मूल सघ की कोई एक सर्व-सम्मत आचार्यपरम्परा की पट्टावली प्रस्तुत करना सभव प्रतीत नही होता। क्योकि इस प्रकार की कोई प्रामाणिक एव अविच्छिन्न पट्टावली कही दृष्टिगोचर नही होती। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार मे अर्हद्बलि के पश्चात् जिन ४ आचार्यो के नाम दिये है, उन्ही के

[1] हरिवश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक २५

अर्हद्बलि, इन पाच आचार्यों के नाम दिये है, उनके क्रमगत आचार्यत्व और आचार्य काल के सम्बन्ध मे भी वस्तुतः किसी को किसी प्रकार का संदेह नही रहना चाहिए।

इस प्रकार विस्तार सहित प्रस्तुत किये गये उपरिलिखित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य मे निर्वाण पश्चात् गौतम से लेकर अर्हद्बलि तक हुए दिगम्बर परम्परा के आचार्यों का क्रम एव काल निम्नलिखित रूप से सुनिश्चित सिद्ध होता है :–

नाम	श्रुतपरम्परा	काल
१. इन्द्रभूति गौतम	केवली	१२ वर्ष
२ सुधर्मा (लोहार्य)	,,	१२ वर्ष
३. जम्बू	,,	३८ (४०) वर्ष
		योग ६२ (६४)
४. विष्णु (नन्दी)	श्रुतकेवली	समुच्चय काल १०० वर्ष
५ नन्दिमित्र	,,	
६. अपराजित	,,	
७. गोवर्धन	,,	
८ भद्रबाहु	,,	
९ विशाख	एकादशाग एवं दशपूर्वधर	समुच्चय काल १८३ वर्ष
१०. प्रोष्ठिल	,,	
११. क्षत्रिय	,,	
१२. जय	,,	
१३. नाग	,,	
१४ सिद्धार्थ	,,	
१५. धृतिषेण	,,	
१६. विजय	,,	
१७ बुद्धिल	,,	
१८ गगदेव	,,	
१९. धर्मसेन	,,	
२०. नक्षत्र	एकादशागधर	समुच्चय काल २२० वर्ष
२१ यश' पाल	,,	
२२ पाण्डु	,,	
२३. ध्रुवसेन	,,	
२४. कसाचार्य	,,	

आचार्य-परम्परा की प्रामाणिक पट्टावली में पुष्पदन्त को धरसेन की परम्परा का उत्तराधिकारी नही माना जा सकता। धरसेन पुष्पदन्त और भूतबलि किस सघ की परम्परा के आचार्य अथवा मुनि थे, इस प्रश्न का समाधान करने वाला एक भी ठोस प्रमाण दिगम्बर परम्परा के साहित्य मे उपलब्ध नही है।

धरसेन नामक एक तपोधन आचार्य का उल्लेख पुन्नाट सघ की पट्टावली मे अवश्य विद्यमान है[1] पर वे अर्हद्बलि के पश्चात् १३वे पट्टधर आचार्य बताये गये है। सयोगकी बात है कि इन्द्रनन्दि ने धरसेन को महातपा[2] के विशेषण से और जिनसेन ने तपोधन के विशेषण से सबोधित किया है। किन्तु श्रुतावतार मे वर्णित महातपा धरसेन को और हरिवश पुराण में उल्लिखित तपोधन धरसेन को एक मानने मे दिगम्बर परम्परा के प्राय· सभी विद्वानो को बहुत बडी आपत्ति होगी। क्योकि हरिवश पुराण मे लोहार्य के पश्चात् ६२७ वर्षो मे हुए ३१ आचार्यो मे आचार्य धरसेन का स्थान १८वा है। ३१ आचार्यो मे ६२७ वर्ष के समय को मोटे तौर पर विभाजित किया जाय तो प्रत्येक आचार्य का आचार्य-काल २० वर्ष फलित होता है। इस प्रकार वीर नि० स० ६८३ मे स्वर्गस्थ हुए लोहार्य के पश्चात् १८वे आचार्य धरसेन का समय (१८ आचार्यो के ३६० वर्षो को ६८३ मे जोड़ने पर) वीर नि० स० १०४३ सिद्ध होता है। पट्खण्डागम के निर्माता पुष्पदन्त एव भूतबलि के गुरु धरसेन का समय वीर नि० स० १०२३ से १०४३ स्वीकार करने के लिये सभवत. दिगम्बर परम्परा का कोई विद्वान् तैयार नहीं होगा।

मूलत धवला, जयधवला, तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण तथा तदनन्तर हरिवश पुराण एव श्रुतावतार के उल्लेखानुसार अर्हद्बलि का काल वीर नि० स० ७६३ से ७८३ के लगभग निर्णीत हो जाने पर आचार्य कुन्दकुन्द के काल के सम्बन्ध मे अग्रेतर विचार करना परमावश्यक हो जायगा। क्योकि लोहाचार्य से पश्चाद्वर्ती आचार्य-परम्परा का पट्टावलियो, शिलालेखो आदि मे जो उल्लेख किया गया है, वह प्राय एक प्रकार से अपूर्ण और आचार्यो के क्रम की दृष्टि से परस्पर विरोधी है। सिद्धर वसति के शक स० १३२० के लेख सख्या १०५ मे तथा अन्य अनेक शिलालेखो मे लोहाचार्य के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा उट्टकित की हुई मिलती है। उनमे लोहाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य के मध्यवर्ती आचार्यो का कोई उल्लेख नही है। केवल शक स० १३२० के सिद्धर वसति के लेख स० १०५ मे लोहाचार्य के पश्चात् हुए आचार्यो की कुन्दकुन्दाचार्य तक नामावली और तदनन्तर कुन्दकुन्दाचार्य की शिष्य परम्परा मे हुए आचार्यो की नामावली दी गई है, जो इस प्रकार है –

१ कुम्भ २. विनीत ३ हलधर ४ वसुदेव ५ अचल
६ मेरुधीर ७ सर्वज्ञ ८ सर्वगुप्त ९ महीधर १०. धनपाल
११. महावीर १२ वीर १३ कौण्डकुन्द

[1] "तपोधन · श्री धरसेन नामक"–हरिवश पु०, सर्ग ६६, श्लोक २८

[2] श्रुतावतार (इन्द्रनन्दिकृत), श्लोक १०३

नाम नन्दी सघ की तथाकथित प्राकृत पट्टावली में भी दिये गये है। अर्हद्बलि द्वारा किये गये संघ विभाजन का विवरण देने के पश्चात् इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में लिखा है –

तस्यानन्तरमनगारपुंगवो माघनन्दिनामाभूत्।
सोऽप्यंगपूर्वदेशं प्राकाश्य समाधिना दिव यात.। १०२

अर्थात् – अर्हद्बलि के पश्चात् मुनिश्रेष्ठ माघनन्दि नामक आचार्य हुए। वे भी अंग और पूर्वज्ञान के एक देश का उपदेश कर स्वर्गस्थ हुए।

इन्द्रनन्दि के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हद्बलि के पश्चात् माघनन्दि आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। सघ-विभाजन के विवरण को दृष्टिगत रखते हुए इस श्लोक का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि अर्हद्बलि ने मूल संघ को १० अथवा ५ सघों में विभाजित किया, उन सघों में नन्दीसंघ का सर्वप्रथम स्थान था और उस नन्दिसघ के आचार्य माघनन्दि हुए। इसी कारण इन्द्रनन्दि ने अर्हद्बलि के पश्चात् माघनन्दि का आचार्य पद पर अधिष्ठित होना बताया है। अर्हद्बलि के पश्चात् जो आचार्य-परम्परा इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार मे दी है, उसके साथ आनुमानित रूप मे यदि नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित उन आचार्यो का काल जोड दिया जाय तो अर्हद्बलि के पश्चात् आचार्यो का क्रम और काल निम्नलिखित रूप में होगा :–

नाम	आचार्यकाल
३४. माघनन्दि	२१ वर्ष
३५ धरसेन	१९ ,,
३६. पुष्पदन्त	३० ,,
३७ भूतबलि	१० ,,
योग	९० वर्ष
पूर्ण योग	८७३ वर्ष

किन्तु आचार्य अर्हद्बलि के पश्चात् ऊपर बताये हुए चार आचार्यो के क्रम और काल को मानने में निम्नलिखित बाधाएँ उपस्थित होती है :–

इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि धरसेन की गुरु शिष्य-परम्परा के सम्बन्ध मे उन्हे कुछ भी ज्ञात नही है। इस दशा में धरसेन को माघनन्दि का उत्तराधिकारी आचार्य नही माना जा सकता। इसी प्रकार इन्द्रनन्दि को धरसेन के समय के सम्बन्ध मे भी विदित नही है। अतः उनके उपरोक्त काल को भी प्रामाणिक नही माना जा सकता।

धवला तथा श्रुतावतार के उल्लेखानुसार पुष्पदन्त और भूतबलि धरसेन की परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के मुनि थे। ऐसी स्थिति मे एक क्रमबद्ध

हरिवश पुराण और श्रुतावतार के उल्लेखो के आधार पर यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि वीर नि० स० ६८३ मे स्वर्गस्थ हुए अतिम आचारागधर लोहार्य के पश्चात् और लगभग वीर नि० स० ७६३ से ७८३ तक आचार्य पद पर रहे आचार्य अर्हद्बलि से पूर्व क्रमश विनयधर आदि चार आचार्य हुए। इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार तथा अज्ञातकर्त्तृक नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली मे अर्हद्बलि के पश्चात् क्रमश माघनन्दी धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन चार आचार्यो के होने का उल्लेख है।

नन्दी सघ की पट्टावली मे भी कुन्दकुन्दाचार्य की गुरुपरम्परा निम्न रूप मे उल्लिखित है –

इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार मे सुस्पष्ट रूप से लिखा है कि षट्खण्डागम और कषाय-प्राभृत का ज्ञान गुरु परिपाटी से पद्मनन्दी मुनि को कुण्डकुन्दपुर मे प्राप्त हुआ और उन्होने षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डो पर १२,००० श्लोक परिमाण की परिकर्म नामक टीका की रचना की।

इस प्रकार हरिवश पुराण, इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार, नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली – इन तीनो ग्रन्थो के उल्लेखो से अर्हद्बलि निश्चित रूपेण कुन्दकुन्दाचार्य के प्रगुरु (दादागुरु) माघनन्दि से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते है।

नन्दी सघ की पट्टावली मे सर्वप्रथम भद्रबाहु (द्वितीय) और उनके पश्चात् गुप्ति गुप्त का नाम दिया है पर इस पट्टावली से विद्वान् यही निष्कर्ष निकालते है कि माघनन्दी ही वस्तुत नन्दी सघ के प्रथम आचार्य, उनके शिष्य जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य हुए।

ऐसी स्थिति मे सिद्धरवस्ती के उपरिलिखित स्तम्भलेख मे कुन्दकुन्द के पश्चात् उनकी ६वी पीढी मे अर्हद्बलि को, दशवी पीढी मे पुष्पदन्त–भूतवलि को और १२वी पीढी मे माघनन्दी को बताया गया है, उसे किस प्रकार प्रामाणिक माना जा सकता है, यह इतिहास के विद्वानो के लिये विचारणीय है। वस्तुत ये चारो आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य के पूर्वज है। हरिवश पुराण सिद्धरवस्ती के उपरिलिखित लेख सख्या १०५ से ६१५ वर्ष पूर्व लिखा गया था। इसी प्रकार इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार की रचना भी इस लेख से लगभग २५० वर्ष पूर्व की थी

कुन्दकुन्द की शिष्य-परम्परा के आचार्य :–
(कुन्दकुन्द)

१४ उमास्वाति (गृध्रपिच्छ)
१५. बलाकपिच्छ
१६. समन्तभद्र
१७ शिवकोटि
१८ देवनन्दी (अपरनाम जिनेन्द्र बुद्धि, पूज्यपाद)
१९ भट्टाकलक
२०. जिनसेन
२१ गुणभद्र

गुणभद्र के पश्चात् अर्हद्बलि का नाम देते हुए उपरोक्त लेख मे निम्नलिखित रूप से सघ-विभाजन का विवरण दिया गया है :–

य पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।
फलप्रदानाय जगज्जनाना, प्राप्तोऽकुराभ्यामिव कल्पभूज ।।२५।।
अर्हद्वलिस्सघ चतुर्विध स, श्रीकोण्डकुन्दान्वय मूलसघ ।
कालस्वभावादिह जायमान, – द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ।।२६।।
सिताम्बरादौ विपरीत रूपेऽखिले विसघे वितनोतु भेद ।
तत्सेन नन्दि–त्रिदिवेश-सिह-संघेपु यस्तं मनुते कुदृक्स ।।२७।।

अर्थात् – पुष्पदन्त और भूतबलि – इन दो शिष्य रूपी अकुरों से अंकुरित कल्पवृक्ष के समान जो संसारियो को मनोवाछित फल प्रदान करने के लिए प्रकट हुए, उन अर्हद्वलि ने काल स्वभाव से प्रवर्द्धमान द्वेष को कम करने के लिये कौण्डकुन्दान्वय मूल सघ को (१) सेन, (२) नन्दी, (३) देव और (४) सिह – इन चार सघो मे विभक्त किया । जो व्यक्ति इन चारों संघो मे भेद मानता है, वह कुदृष्टि–मिथ्यादृष्टि है ।

भूतवलि के पश्चात् उक्त शिलालेख स० १०५ मे निम्नलिखित आचार्यो के नाम उट्टंकित है –

के उपरिचर्चित शिलालेख के आचार्यो के क्रम सम्बन्धी तथ्य अप्रामाणिक सिद्ध होते है, तथा हरिवंश पुराण एवं इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार मे दी हुई पट्टावलियो के आधार पर अर्हद्वलि का समय वीर नि० स० ७६३ से ७८३ के बीच का एक तरह से सुनिश्चित हो जाता है, तो उस दशा मे अर्हद्वलि से पर्याप्त रूपेण पश्चाद्वर्ती कुन्दकुन्दाचार्य के काल का प्रश्न एक जटिल समस्या के रूप मे विद्वानो के समक्ष उपस्थित होता है। यह देख कर तो और भी बडा आश्चर्य होता है कि पचस्तूपान्वयी आचार्य वीर सेन ने धवला मे, पुन्नाट सघीय जिनसेन ने हरिवश पुराण मे और वीर सेन के शिष्य जिनसेन (पचस्तूपान्वयी) ने जय-धवला मे दिगम्बर परम्परा के उद्भट विद्वान् कुन्दकुन्दाचार्य का कही नामोल्लेख तक नही किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समय के सम्बन्ध मे निम्नलिखित एक अज्ञातकर्त्तृक श्लोक वडा प्रसिद्ध है –

वर्षे सप्तशते चैव, सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जात, कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥[1]

अर्थात् – ७७० वर्ष व्यतीत हो चुकने पर उमास्वामी और (आचार्य) कुन्दकुन्द हुए। श्लोक मे इस प्रकार का कोई उल्लेख नही किया गया है कि यह ७७० सम्वत् वस्तुत वीर नि० स० है, विक्रम सवत् है, शक स० है अथवा अन्य कोई सवत्। यही नही, इसमे कुन्दकुन्द के पश्चाद्वर्ती आचार्य उमास्वामी के अनन्तर आचार्य कुन्दकुन्द का नाम देते हुए इन दोनो को स्पष्टत समकालीन बताया गया है। इसके साथ ही साथ यह श्लोक कहा का है, किसकी तथा किस समय की रचना है, ये सब तथ्य भी अधकार मे छुपे हुए है। अत विद्वानो द्वारा इस श्लोक को कुन्दकुन्दाचार्य के कालनिर्णय के सम्बन्ध मे न तो विशेष प्रामाणिक ही समझा जा रहा है और न कोई महत्व ही दिया जा रहा है।

कत्तिले बस्ती के एक स्तम्भ-लेख (लेख स० ५५, लगभग शक स० १०२२) मे कुन्दकुन्द को ही निम्नलिखित श्लोक द्वारा मूल सघ का आदि गणी बताया गया है –

श्रीमतो वर्द्धमानस्य, वर्द्धमानस्य शासने।
श्री कोण्डकुन्दनामाभूत्, मूल सघाग्रणी गणी ॥३॥[2]

इसी प्रकार लेख स० ५४ (शक स० १०५०), ४० (शक स० १०८५) और लेख स० १०८ (शक स० १३५५) मे गौतम के उल्लेख के पश्चात् उनकी सतति मे भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त के अनन्तर उन्ही के अन्वय मे कुन्दकुन्द मुनि के होने का उल्लेख किया गया है।[3] आचार्य परम्परा के सम्बन्ध मे इन सब परस्पर

---

[1] स्वामी समन्तभद्र, प० जुगल किशोर, पृ० १४७

[2] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृ० ११५

[3] जैन शिलालेख सग्रह, भा० १

क्योकि इन्द्रनन्दि इतिहासज्ञों द्वारा विक्रम की ११वी शताब्दी के प्रारम्भ के आचार्य माने गये है ।[1]

दिगम्बर परम्परा के गण्य-मान्य विद्वानो ने बडे खेद के साथ इस प्रकार के उद्गार अभिव्यक्त किये है कि अगधारियो के पश्चाद्वर्ती काल की दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो की जितनी परम्पराएं उपलब्ध है, वे सब अपूर्ण है और उस समय सग्रह की गई है, जब मूल सघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओ को जानने का कोई साधन नही रह गया था ।[2]

जिस प्रकार मथुरा के ककाली टीले की तीन बार की गई खुदाई मे कुषाण स० ५ से ६८ (ई० सन् ८३ से १७६) तक के ऐसे लेख मिले है, जिनमे उन ३ गणो, १२ कुलो और १० शाखाओं के नाम उट्टंकित है, जो कि श्वेताम्बर परम्परा के आगम – कल्पसूत्र मे उल्लिखित है, तथा नन्दीसूत्रान्तर्गत वाचकवश के आचार्यो की पट्टावली के आर्य समुद्र, आर्य मगु, आर्यनन्दिल, आर्य नागहस्ती तथा आर्य भूतदिन्न के नाम भी ककाली टीले से प्राप्त लेखों मे उट्टकित मिले है,[3] उसी प्रकार यदि दिगम्बर-परम्परा के आचार्यो, गणों, गच्छों आदि के उल्लेख भी उपलब्ध हुए होते तो दिगम्बर परम्परा के आचार्यो के क्रम एव काल को सुनिश्चित करने में बडी सहायता मिलती । पर ककाली टीले से दिगम्बर परम्परा के आचार्यो के सम्बन्ध मे कोई अभिलेख नही मिला ।

श्री माणिकचन्द्र – दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित "जैन शिलालेख संग्रह के तीनो भागों के समीचीनतया पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अगधारियों के पश्चात् की आचार्य परम्परा की एक भी पूर्ण पट्टावली उपलब्ध नही है । डॉ० हीरालालजी एव प० नाथूरामजी 'प्रेमी' के शब्दो मे सब अपूर्णहै ।

ऐसी स्थिति में जबकि अगधारियो के उत्तरवर्ती काल के दिगम्बर आचार्यो की एक भी पूर्ण पट्टावली उपलब्ध नही होती; दिगम्बर परम्परा के कतिपय प्रामाणिक ग्रन्थो एव नन्दी सघ की पट्टावली मे उपलब्ध तथ्यों से श्रवणबेलगोल

---

[1] (क) जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार (फतेचन्द वेलानी) पृ० ११
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३८, क्रम स० २१४

[2] (क) "....इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष व्यतीत हुए थे । बहुत से लेखों मे आगे के आचार्यो की परम्परा कुन्दकुन्दाचार्य से ली गई है । दुर्भाग्यतः किसी भी लेख में उपर्युक्त श्रुतज्ञानियो और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच की पूरी गुरु-परम्परा नही पाई जाती । केवल उपर्युक्त लेख न० १०५ (शक स० १३२०) मे ही इस बीच के आचार्यो के कुछ नाम पाये जाते है......

[जैन शिलालेख सग्रह, भा० १, भूमिका (डॉ० हीरालाल), पृ० १२७-१२८]

(ख) दिगम्बर सम्प्रदाय मे अगधारियो के बाद की जितनी परम्पराए उपलब्ध है, वे सब अपूर्ण है और उस समय सग्रह की गई है जब मूल सघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओ को जानने का कोई साधन न रह गया था । [स्व० श्री नाथूराम प्रेमी, भगवती आराधना की प्रस्तावना]

[3] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, प्रस्तावना (डॉ० गुलाबचन्द चौधरी), पृ० १६-१८

छोड कर शेष किसी भी ग्रन्थ के मूल पाठ मे इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि अमुक ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। यही नही, आचार्य कुन्दकुन्द की कृति माने जाने वाले किसी एक भी ग्रन्थ के मूल पाठ मे कही किंचित्मात्र भी इस प्रकार का उल्लेख नही है कि अमुक ग्रन्थ की, किसी अमुक व्यक्ति को, शिवकुमार को अथवा शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये रचना की गई।

ईसा की १० वी शताब्दी के प्रथम चरण मे हुए आचार्य अमृतचन्द्र[१] ने प्रवचनसार की तात्पर्य वृत्ति मे न तो प्रवचनसार के प्रणयनकार का ही कोई उल्लेख किया है और न यही लिखा है कि अमुक व्यक्ति को प्रतिबोध देने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की गई। इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा की १० वी शताब्दी तक निश्चित रूपेण किसी को यह ज्ञात नही था कि इस ग्रन्थ के कर्त्ता कौन है और इसकी रचना किसको बोध देने के लिये की गई है। ईशवन्दन एव अनेकान्तवाद की जयकार के साथ प्रवचनसार की वृत्ति करने का अपना उद्देश्य प्रकट करने के अनन्तर आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है :-

"अथ खलु कश्चिदासन्न-ससारपार समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनिवेश परमेश्वरीमनेकान्तविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा पुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमा भगवत्पचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्या परमार्थसत्या मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुर सराम् भगवत पचपरमेष्ठिन प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन सभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्ग सप्रतिपद्यमान प्रतिजानीते।"[२]

इसका साराश यह है कि – निकट भविष्य मे मुक्त होने वाला कोई भव्य अपने अन्तर मे विवेक की ज्योति के प्रकट होने तथा उसके फलस्वरूप एकान्तवाद के समस्त मिथ्याभिनिवेशो की समाप्ति के साथ ही अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार एव समस्त मिथ्या पक्षो का परित्याग कर मध्यस्थ हो परम सत्य मोक्ष सुख को ही उपादेय के रूप मे चुन कर समस्त तर्थकरो को वन्दनपूर्वक समस्त आरम्भ समारम्भो से निवृत्त हो मुक्तिप्रदायी श्रमणत्व को स्वीकार करते हुए प्रतिज्ञा करता है।

उस आसन्न भव्य की प्रतिज्ञा ने ही प्रवचनसार ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया। अमृतचन्द्र ने, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उस आसान्न भव्य का कोई नामोल्लेख नही किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् (ईसा की १२ वी शताब्दी मे)[३] हुए जयसेन ने प्रवचनसार पर निर्मित अपनी तात्पर्यवृत्ति मे आचार्य

[१] Introduction on Pravachansar, by Dr A N Upadhye, p 101
[२] प्रवचनसार, A N उपाध्ये द्वारा सपादित (रामचन्द्र जैन शास्त्र माला), पृ० २
[३] Introduction on Pravachansar by A N Upadhye, p 104

विरोधी और विखण्डित उल्लेखो को देख कर ही स्वर्गीय प्रेमीजी को दिगम्बर परम्परा की उपलब्ध पट्टावलियो के सम्बन्ध मे कहना पडा कि वे अपूर्ण है तथा ऐसे समय मे सगृहीत की गई है, जब कि विच्छिन्न परम्पराओ को जानने का कोई साधन न रह गया था।

प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत टीका के प्रारम्भ मे शिवकुमार और आध्यात्मी बालचन्द्रकृत कन्नड टीका मे 'शिवकुमार महाराजम्' के उल्लेख को आधार बना कर कतिपय विद्वानो ने यह अनुमान लगाया कि आचार्य कुन्दकुन्द ने महाराजा शिवकुमार को बोध देने हेतु प्रवचनसार नामक ग्रन्थ की रचना की। कन्नड टीका मे उल्लिखित शिवकुमार महाराज को शक स० ४५० मे हुए शिव मृगेश वर्म मान कर न्याय शास्त्री प० श्री गजाधर लालजी जैन ने आचार्य कुन्दकुन्द का समय शक स० ४५० लिखा है :-

"श्री शिवकुमार-महाराज-प्रतिबोधनार्थ विलिलेख भगवान् कुन्दकुन्द' स्वीय ग्रन्थमिति, समाविर्भावित च पचास्तिकायस्य क्रमश' कार्णाटिक-सस्कृत-टीकाकारै: श्री बालचन्द्र-जयसेनाचार्यै ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुन्दकुन्द समय तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तम-शक-सवत्सर एव सिद्ध्यति, स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति।"[1]

अर्थात्-श्री शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की – यह कर्णाटिक टीकाकार बालचन्द्र और सस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने प्रकट किया है। इस युक्ति से भी आचार्य कुन्दकुन्द का समय शिवमृगेशवर्म (कदम्ब राजवशी) के समकालीन होने से ४५० वा शक संवत्सर सिद्ध होता है और इसे स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा भी उपस्थित नही होती।

प्रवचनसारादि की टीकाओ मे किये गये इस उल्लेख के आधार पर कि आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार अथवा शिवकुमार महाराज नामक आसन्न भव्य के प्रतिबोधार्थ प्रवचनसार का उपदेश दिया, डॉ० पाठक ने भी आचार्य कुन्दकुन्द को कदम्बवंशी महाराजा शिवमृगेशवर्म का समकालीन बताते हुए उनका समय शक स० ४५० माना है।[2]

इसी प्रकार प्रोफेसर चक्रवर्ती ने भी टीकाकारो द्वारा किये गये शिवकुमार के उल्लेख को आधार बना यह अनुमान लगाया है कि पल्लववशी महाराजा शिवस्कन्द – युवा महाराजा के बोधार्थ आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की।

सर्वप्रथम तो यह बात विचारणीय है कि आज जितने भी ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की कृति माने जाते है उनमे से "बारस अणुवेक्खा" नामक ग्रन्थ को

---

[1] समय प्राभृत (प्रथम सस्करण ई० १९१४ मे प्रकाशित) की प्रस्तावना, पृ० ८

[2] समय प्राभृतम् और षट् प्राभृत सग्रह (मानिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, पुष्प १७) की प्रस्तावना, पृ० १५

एक प्रकार का गहरा सदेह उत्पन्न कर देता है कि जिन-जिन ग्रन्थो को आचार्य कुन्दकुन्द की कृति बताया जा रहा है, उनमे से वस्तुत कौन-कौन से ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा लिखे गये है ।

पचास्तिकाय प्राभृत की गाथा सख्या २ और १७३ को ध्यानपूर्वक ढप लेने के पश्चात् यह तथ्य स्वत ही प्रकट हो जाता है कि श्री जयसेन एव अध्यात्मी बालचन्द्र द्वारा अपनी-अपनी टीकाओ मे किया गया शिवकुमार महाराज का उल्लेख पूर्णत उनकी स्वय की निराधार कल्पना मात्र है । उस कल्पना मे कोई तथ्य नही ।

पचास्तिकाय की दूसरी गाथा में ग्रन्थकार ने निम्नलिखित प्रतिज्ञा की है –

"श्रमण (भगवान् महावीर) के मुख से प्रकट हुए, चारो गतियो का अन्त करने वाले एव मोक्षप्रदायी अर्थपूर्ण समस्त श्रुत को प्रणाम कर मै इस (पचास्तिकाय ग्रन्थ) का कथन करू गा, उसे सुनो ।"

अपनी प्रतिज्ञानुसार पचास्तिकाय सग्रह सूत्र का कथन समाप्त करने के पश्चात् अन्त मे ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है –

मग्गपभावणट्ठ, पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।
भणिय पवयणसार, पचत्थियसगह सुत्तम् ।।१७३।।

अर्थात् – प्रवचन की भक्ति से प्रेरित हो जिन-मार्ग की प्रभावना हेतु मैने प्रवचन के सारभूत पचास्तिकाय सग्रह सूत्र का कथन किया है ।

ऐसा विचित्र उदाहरण तो सभवत: साहित्य के इतिहास मे अन्यत्र खोजने पर भी नही मिलेगा । ग्रन्थकार जहा स्पष्ट शब्दो मे कह रहे है कि प्रवचन के प्रति अपनी भक्ति से प्रेरित होकर उन्होने जिनशासन की प्रभावनार्थ इस ग्रन्थ का कथन किया है, वहा इसके विपरीत टीकाकार का यह कथन किसी भी दशा मे प्रामाणिक नही माना जा सकता कि शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने हेतु कुन्दकुन्दाचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की । जयसेन ने पचास्तिकाय की टीका मे आचार्य कुन्दकुन्द को कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है । अन्य किसी प्रमाण से इसकी पुष्टि न होने तथा सिद्धान्तदेव की उपाधि के विशेष प्राचीन न होने के कारण दिगम्बर परम्परा के विद्वान्, जयसेन द्वारा किये गये उल्लेख की, प्रामाणिकता की कोटि मे गणना नही करते ।[1]

सस्कृत टीकाकार जयसेन एव कन्नड टीकाकार बालचन्द्र द्वारा पचास्तिकाय-प्राभृत की टीकाओ मे किया गया 'शिवकुमार महाराज' का उल्लेख ही जब काल्पनिक और अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है तो उस दशा मे शिवमृगेशवर्म, पल्लवनरेश शिवस्कन्ध अथवा युवा महाराजा को कुन्दकुन्द का समकालीन मान

---

[1] कुन्दकुन्द प्राभृतसग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला ६) की प्रस्तावना, (प० कैलाशचन्द्र) पृष्ठ ८

[2] Introductory on Pravachansara, by, Dr A N Upadhye, p 10–14

अमृतचद्र द्वारा उल्लिखित उस आसान्न भव्य का नाम बिना किसी विशेषण के केवल शिवकुमार दिया है ।[1]

यहा यह विचारणीय है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समय प्राभृत आदि की टीकाओ मे न ग्रन्थकार का नाम दिया है और न यही उल्लेख किया है कि वह ग्रन्थ किसके प्रतिबोधार्थ निर्मित किया गया । इसके विपरीत आचार्य जयसेन ने 'पचास्तिकाय प्राभृत' की अपनी तात्पर्य वृत्ति मे ग्रन्थकार का नाम आचार्य कुन्दकुन्द बताते हुए उनके विदेह-गमन, वहा श्रीमदरस्वामी की वाणी के श्रवण आदि का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि विदेह क्षेत्र से लौटने के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज आदि सक्षेपरुचि शिष्यो को प्रतिबोध देने के लिये पचास्तिकाय प्राभृत की रचना की ।[2]

जयसेन के पश्चात् ईसा की १३ वी शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग हुए आध्यात्मी बालचन्द्र ने प्रवचनसार की अपनी कन्नड टीका मे, अमृतचन्द्र द्वारा "आसन्न संसारपार." के रूप मे तथा जयसेन द्वारा "कश्चिदासन्नभव्य. शिवकुमार नामा" के रूप मे उल्लिखित उस आसन्न भव्य का अपनी ओर से विशेषण लगा कर "आसन्नभव्यन अप्प शिवकुमार महाराजम्" के रूप मे परिचय दिया है ।

उपर्युक्त तीनो टीकाकारो के इन उल्लेखो के सम्बन्ध मे विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि प्रवचनसार की रचना कुन्दकुन्द द्वारा और वह भी शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये की गई, यह ईसा की १२वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुए टीकाकार जयसेन की अपनी स्वय की कल्पना है । यदि ईसा की १०वी शताब्दी तक इस प्रकार की मान्यता प्रचलित होती अथवा किसी ग्रन्थ मे इस प्रकार का उल्लेख होता कि कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार की रचना की और शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिए की, तो ईसा की १०वी शताब्दी के टीकाकार अमृतचन्द्र अपनी टीका मे जयसेन की तरह अवश्य ही इस प्रकार का उल्लेख करते । स्त्री उसी भव मे मोक्ष प्राप्त नही कर सकती – इस विषय का प्रतिपादन करने वाली ११ गाथाओ का अमृतचन्द्र द्वारा अपनी टीका मे सम्मिलित न किया जाना भी प्रत्येक तटस्थ विचारक के मस्तिष्क मे

---

[1] प्रवचनसार (ए एन उपाध्ये द्वारा सपादित) पृ० १–२

[2] (क) अथ कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेवशिष्यै: प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्व-विदेह गत्वा वीतराग सर्वज्ञ श्रीमदरस्वामी तीर्थकरपरमदेव दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणा-वधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्वादिसारार्थ गृहीत्वा पुनरप्यागतै श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्य-देवै पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं, अथवा शिवकुमार महारा-जादि सक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थ विरचिते पञ्चास्तिकाय-प्राभृतशास्त्रे, यथाक्रमेणा-धिकारशुद्धिपूर्वक तात्पर्यार्थव्याख्यान कथ्यते ।

[पचास्तिकायप्राभृत, जयसेनाचार्यकृततात्पर्यवृत्ति]

(ख) अथ प्राभृतग्रन्थे शिवकुमार महाराजो निमित्त अन्यत्र द्रव्य सग्रहादौ सोमा श्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यम् । [वही, गाथा एक की जयसेनाचार्यकृत वृत्ति]

रूपेण इस निर्णय पर पहुँचा जा सके कि – "कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ है।"[1] डॉ० उपाध्ये ने विविध सभावनाओ पर तो विस्तार पूर्वक चर्चा की है पर उनकी प्रस्तावना के पढने के पश्चात् यह बात खटकती है कि आचार्य कुन्दकुन्द के कालनिर्णय मे सर्वाधिक सहायक दिगम्बर परम्परा के आज उपलब्ध प्रमाणो मे सबसे अधिक प्राचीन लिखित प्रमाण की ओर उनका ध्यान नही गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है – गौतम से लोहार्य (वीर नि० स० ६८३) तक की आचार्य-परम्परा का सभी प्रामाणिक ग्रन्थो मे समान उल्लेख है। वीर निर्वाण स० ६८३ मे दिवगत हुए लोहाचार्य के पश्चात् की, सघविभाजन के समय तक की आचार्य परम्परा पुन्नाट सघीय आचार्य जिनसेन ने हरिवश पुराण, सर्ग६६, श्लोक २५ मे उल्लिखित की है। हरिवश पुराण का यह उल्लेख दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध प्रमाणो मे सबसे अधिक प्राचीन है, इस तथ्य को तो कोई विद्वान् अस्वीकार नही कर सकता। इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार के श्लोक सख्या ८४ तथा ८५ द्वारा हरिवश पुराण के उपरोक्त श्लोक मे उल्लिखित तथ्यो की पुष्टि की है कि आर्य लोहाचार्य के पश्चात् अनुक्रमश पाच आचार्य हुए। जिनमे से प्रथम का नाम विनयधर और पाचवे का अर्हद्बलि था। अर्हद्बलि के पश्चात् हरिवश पुराण मे तो पुन्नाट सघ के आचार्यो की नामावलि दी गई है किन्तु इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार के श्लोक स० १०२ –१०४, १२७, १२८, १३२, १३३, १४६ द्वारा अर्हद्बलि के पश्चात् हुए माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, और जिनपालित इन ५ आचार्यो के नामो का उल्लेख किया है। तदनन्तर श्लोक सख्या १६० तथा १६१ द्वारा इन्द्रनन्दी ने कुण्डकुन्दपुर मे आचार्य पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य) के होने तथा उनके द्वारा षट्खण्डागम के आद्य ३ खण्डो पर १२,००० श्लोक परिमाण के परिकर्म नामक ग्रन्थ के लिखे जाने का उल्लेख किया है।

"षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डो पर परिकर्म नामक एक ग्रन्थ लिखा गया था" – इन्द्रनन्दि के इस कथन की तो पुष्टि होती है, पर वह "कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि द्वारा लिखा गया था," इस कथन की पुष्टि करने वाला एक भी प्रमाण आज उपलब्ध नही है। धवलाकार ने धवला टीका मे परिकर्म नामक ग्रन्थ का प्रचुर मात्रा मे उल्लेख करने के साथ-साथ उसके अनेक उद्धरण भी दिये है। जीवट्ठाण के द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वार के सूत्र ५२ की धवला टीका को पढने पर तो यह पूर्णत प्रमाणित हो जाता है कि परिकर्म वस्तुत षट्खण्डागम के पश्चाद्वर्ती काल का ही नही अपितु षट्खण्डागम का ही व्याख्या-ग्रन्थ है। उपरोक्त सूत्र मे लब्धपर्याप्त मनुष्यो का प्रमाण क्षेत्र की अपेक्षा से जगतश्रेणी के असख्यातवे भाग बताने के पश्चात् यह भी कहा गया है कि जगतश्रेणी के असख्यातवे भाग रूप श्रेणी असख्यात करोड योजन प्रमाण होती है। इस पर धवला मे यह शका उठाई गई है कि इसके कहने की क्या आवश्यकता थी ? इस शका

---

1 I am inclined to believe, after this long survey of the available material, that Kundkunda's age lies at the beginning of the Christian era

[Introduction on Pravachansara, by A. N Upadhye, p 22]

कर आचार्य कुन्दकुन्द के समय का निर्णय करना वस्तुत आकाश कुसुम में सुगन्ध ढूँढने तुल्य निरर्थक प्रयास ही होगा।

ख्यातनाम विद्वान् डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने स्वसपादित प्रवचनसार की प्रस्तावना मे आचार्य कुन्दकुन्द के काल के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। स्वर्गीय श्री नाथूराम प्रेमी, डॉ० पाठक, प्रोफेसर चक्रवर्ती और प० जुगलकिशोर मुख्तार के अभिमतो को प्रस्तुत करते हुए उन्होने केवल प्रोफेसर चक्रवर्ती के इस अभिमत एव सभावना को अपना थोडा समर्थन प्रदान किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द पल्लवनरेश शिवस्कन्द के समकालीन तथा तामिल भाषा के प्रसिद्ध ग्रन्थ कुरल के कर्त्ता थे।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने विस्तृत विवेचन के पश्चात् ऊहापोह के साथ जो अपना अभिमत व्यक्त किया है, वह इस रूप मे है -

"कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध मे की गई इस लम्बी चर्चा के प्रकाश मे, जिसमें हमने उपलब्ध परम्पराओ की पूरी तरह से छान-बीन करने तथा विभिन्न दृष्टिकोणो से समस्या का मूल्य आकने के पश्चात् केवल सभावनाओ को समझने का प्रयत्न किया है। हमने देखा है कि परम्परा उनका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध[1] और ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध बतलाती है। कुन्दकुन्द से पूर्व षट्खण्डागम की समाप्ति की सम्भावना उन्हे ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् रखती है। मर्करा ताम्रपत्र से उनकी अन्तिम कालावधि तीसरी शताब्दी का मध्य होना चाहिये। चर्चित मर्यादाओ के प्रकाश मे, ये सभावनाए कि कुन्दकुन्द पल्लववशी राजा शिवस्कन्द के समकालीन थे और यदि कुछ और निश्चित आधारो पर यह प्रमाणित हो जाये कि वही एलाचार्य थे तो उन्होने कुरल को रचा था, सूचित करती है कि ऊपर बतलाये गये विस्तृत प्रमाणो के प्रकाश मे कुन्दकुन्द के समय की मर्यादा ईसा की प्रथम दो शताब्दिया होनी चाहिए। उपलब्ध सामग्री के इस विस्तृत पर्यवेक्षण के पश्चात् मै विश्वास करता हूँ कि कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ है (प्रवचनसार प्रस्तावना पृ० २२)[2]

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार पर लिखी गई अपनी प्रस्तावना मे आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध मे विस्तार पूर्वक जो अपने विचार रखे है, उनमे सभावनाओ के अतिरिक्त ऐसा कोई ठोस प्रमाण दृष्टिगोचर नही होता, जिससे कि उनके द्वारा प्रकट किये गये अभिमत की पुष्टि होती हो एव सुनिश्चित

[1] आचार्य कुन्दकुन्द के सामान्यत सभी ग्रन्थो से एव विशेषत सुत्तपाहुड से यह स्पष्टत: सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य उस समय के आचार्य हैं, जिस समय श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद चरम सीमा तक पहुँच चुका था। यह तो दोनो परम्पराओ द्वारा सम्मत ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर नि० स० ६०६ अथवा ६०९ मे निर्ग्रंथ सघ इन दो सघो मे विभक्त हुआ। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध भी कुन्दकुन्द का समय हो सकता है, इस प्रकार की परम्परागत मान्यता तो कही देखने सुनने मे नही आई। — सम्पादक

[2] कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह की प्रस्तावना, पृ० ३६

आज से ११६० वर्ष पूर्व के हरिवश के उल्लेख और उपरिवर्णित तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर आचार्य अर्हद्बलि का अतिम समय वीर नि० स० ७८३ के आस-पास का सुनिश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार अर्हद्बलि का समय वीर नि० स० ७८३ सिद्ध हो जाने पर उनके पश्चात् हुए माघनन्दि का आचार्यकाल २० वर्ष, माघनन्दि और धरसेन के बीच हुए आचार्यो के नाम और सख्या विषयक उल्लेख के अभाव मे उनके काल की गणना न कर के धरसेन का काल २० वर्ष, (वी० नि० स० ८२३) पुष्पदन्त का ३० वर्ष, जिनपालित का समय ३० वर्ष अनुमानित किया जाय तो जिनपालित का अतिम समय वीर नि० स० ८८३ के आस-पास का अनुमानित किया जा सकता है।

इससे आगे जिन पालित और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच मे कितने काल मे कितने आचार्य हुए, इस तथ्य को प्रकट करने वाले तथ्यो के अभाव मे इन्द्रनन्दि द्वारा पद्मनन्दि के सम्बन्ध मे श्रुतावतार मे उल्लिखित निम्नलिखित श्लोक के आधार पर अनुमान का सहारा लेने के अतिरिक्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्दाचार्य) के काल के बारे मे विचार करने का और कोई मार्ग ही अवशिष्ट नही रह जाता :–

एव द्विविधोद्रव्यभावपुस्तकगत समागच्छत्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥१६०॥
श्री पद्मनन्दि मुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाण।
ग्रन्थ परिकर्मकर्त्ता पट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥१६१॥

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जिनपालित और कुन्दकुन्द के बीच मे अधिक न सही तीन-चार आचार्य अवश्य हुए होगे। उन अज्ञातनाम ३–४ आचार्यो का समुच्चय काल कम से कम ६० वर्ष भी मान लिया जाय तो आचार्य पद्मनन्दि, अपर नाम कुन्दकुन्दाचार्य का समय वीर नि० स० ६४३ के आस-पास का और माघनन्दी तथा धरसेन के बीच मे तीन-चार आचार्यो का अस्तित्व मान लेने की दशा मे वीर नि० स० १००० के आस-पास का अनुमानित किया जा सकता है।

ईसा की १२वी शताब्दी के टीकाकार जयसेन ने पचास्तिकाय की टीका मे आचार्य कुन्दकुन्द को देवनन्दि सिद्धान्त देव का शिष्य बताया है, नन्दिसघ की पट्टावली मे इन्हे भद्रबाहु द्वितीय का परम्परा-शिष्य तथा जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है, बोध प्राभृत की गाथा सख्या ६१ तथा ६२ के आधार पर कतिपय विद्वान् यहा तक कल्पना करते है कि आचार्य कुन्दकुन्द वस्तुत. चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य थे। शक स० १३२० के सिद्धरबस्ती के लेख स० १०५ के श्लोक स० १३ मे कुन्दकुन्द का नाम आचार्य वीर के पश्चात् दिया गया है। इससे यह आशका भी उत्पन्न होती है कि आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का नाम वीर था।[1] इन सब उल्लेखो से ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की १२वी शताब्दि

[1] शिलालेख सग्रह, भा० १, पृ० ६७ पर दिये गये इस लेख के श्लोक स० १३ मे उल्लिखित "इत्याद्यनेक सूरीष्वथ सुपदमुपेतेषु" इस पद से प्रकट होता है कि लोहाचार्य और

का समाधान करते हुए कहा गया है कि इस सूत्र से इस बात का ज्ञान नही हो सकता था कि जगतश्रेणी के असख्यातवे भाग रूप श्रेणी का प्रमाण असख्यात करोड योजन है। इस पर पुन. शका की गई है कि इस बात का ज्ञान तो परिकर्म से ही हो जाता है, ऐसी दशा मे सूत्र मे इस कथन की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि इस सूत्र के बल अर्थात् आधार से ही तो 'परिकर्म' की प्रवृत्ति हुई है।

आचार्यो से सबधित इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार मे उल्लिखित विवरण को पढने के पश्चात् यह स्पष्ट आभास होता है कि माघनन्दी और धरसेन के बीच तथा जिनपालित एव कुन्दकुन्द के बीच में और भी अनेक आचार्य हुए होगे और उनके सम्बन्ध मे किसी प्रकार की सूचना उपलब्ध न हो सकने के कारण इन्द्रनन्दि उन आचार्यो के क्रम, नाम, सख्या आदि का उल्लेख नही कर पाये।

वस्तुत. हरिवश पुराण मे उल्लिखित और इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार द्वारा समर्थित उपरिवर्णित तथ्यो की ओर ध्यान न जाने के कारण ही डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्रवचनसार पर प्रस्तावना लिखते समय धवला में विद्यमान परिकर्म के विपुल उल्लेखो एव उद्धरणो की ओर डॉ० उपाध्ये का ध्यान नही गया, उसी प्रकार हरिवश पुराण मे उल्लिखित उपर्युक्त तथ्यों की ओर भी ध्यान नही गया है। धवला के प्रकाशित होने के पश्चात् उन्होने अपना अभिमत बदल दिया है।[1]

प० जुगलकिशोरजी मुख्तार एव श्री नाथूरामजी प्रेमी ने आ० कुन्दकुन्द के समय पर अपने विचार प्रस्तुत करते समय डॉ० ए० एन० उपाध्ये की तरह इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार मे उल्लिखित तथ्यो की उपेक्षा तो नही की है पर हरिवंश पुराण मे उल्लिखित लोहाचार्य से संघविभाजन तक की आचार्य परम्परा की ओर सभवत. उनका ध्यान नही गया है, जिसके परिणाम स्वरूप, यद्यपि इन्द्रनन्दि ने अपने सम्पूर्ण श्रुतावतार मे एक ही काल मे हुए एक से अधिक आचार्यो का कही एक साथ उल्लेख नही किया है, फिर भी श्लोक स० ८४ की शब्द-रचना पर ऊहापोह करते हुए यह अनुमान लगाया कि विनयधर आदि चार आरातीय मुनि सम-कालीन थे और उनका सम्मिलित काल २० वर्ष हो सकता है।[2] यदि इन दोनो विद्वानो का ध्यान हरिवश पुराण, सर्ग ६६ के श्लोक संख्या २५ की ओर जाता तो वे बहुत सभव है इन चारो आचार्यो को – एक के पश्चात् एक – अनुक्रमशः हुए आचार्य मानकर इन चारो का काल २० के स्थान पर ८० वर्ष अनुमानित करते और इस प्रकार इनके पश्चात् हुये आचार्य अर्हद्बलि का समय वीर नि० स० ७६३ से ७८३ के बीच का अनुमानित करते।

---

[1] कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह, प्रस्तावना, पृ० ३३

[2] श्री जिनेन्द्रवर्णी ने भी मुख्तार सा० के इस अनुमान के आधार पर अपने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, प्रथम भाग के पृष्ठ ३३२ पर इनको समकालीन मानते हुए इन चारो का सम्मिलित काल २० वर्ष दिया है।

—सम्पादक

राष्ट्रकूटवशी राजा गोविन्द तृतीय के वे दोनो ताम्रपत्राभिलेख विद्वानो मे बडे चर्चा के विषय रहे है अत पाठको की सुविधार्थ उन्हे यहा यथावत् उद्धृत किया जा रहा है –

राष्ट्रकूटवंशीय महाराज गोविन्द तृतीय का शक सं० ७१६ का ताम्रलेख

आसीद् (वै) तोरणाचार्य कोण्डकुन्दान्वयोद्भव ।
स चैतद्विषये श्रीमान्, शाल्मलीग्राममाश्रित· ।।
निराकृततमोऽराति, स्थापयन् सत्पथे जनान् ।
स्वतेजोद्योतित क्षौणिश्चण्डार्चिरिव यो बभौ ।।
तस्याभूत् पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणी· ।
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येय वसति कृता ।।

गोविन्द तृतीय का शक सं० ७२४ का दूसरा ताम्रलेख

कोण्डकोन्दान्वयोदारो, गणोऽभूद् भुवनस्तुतः ।
तदैतद् विषय विख्यातं[1] शाल्मली ग्राममावसम् (त्) ।।
आसीद् (वै) तोरणाचार्यस्तप फलपरिग्रह ।
तत्रोपशमसभूतभावनापास्तकल्मश ।।
पण्डित पुष्पनन्दीति, बभूव भुवि विश्रुत ।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमा इव ।।
प्रतिदिवस भवद्वृद्धिनिरस्तदोषो व्यपेत हृदयमल ।
परिभूतचन्द्रबिम्बस्तच्छिष्योऽभूत् प्रभाचन्द्र ।।[2]

उपर्युल्लिखित दोनो ताम्रपत्राभिलेखो का भावार्थ यह है कि कौण्डकुन्दान्वयी तोरणाचार्य शाल्मली ग्राम मे आकर रहे । उन्होने अज्ञानान्धकार को ध्वस्त कर लोगो को सत्पथ का पथिक बनाया । अपने तपस्तेज से पृथ्वी-मण्डल को प्रकाशित करते हुए वे मध्याह्न के सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे । उनके शिष्य पुष्पनन्दि हुए, जो बडे विद्वान् एव दूर-दूर तक विख्यात थे । उन पुष्पनन्दि के अन्तेवासी शिष्य प्रभाचन्द्र नामक मुनि हुए, जो सब प्रकार के दोषो से रहित, विशुद्ध हृदय एव पूर्णिमा के चन्द्र के समान दैदीप्यमान मुखमण्डल वाले थे ।

स्व० डॉ० के० बी० पाठक का कहना है कि पहले का लेख शक स० ७१६ का है तो प्रभाचन्द्र के दादागुरु तोरणाचार्य शक स० ६०० के आस-पास रहे होगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । तोरणाचार्य जब कुन्दकुन्दान्वय मे हुए है तो

[1] 'विषयख्यात' पाठ होना चाहिये अन्यथा छन्दो-भग की स्थिति होती है ।
[2] जैन शिलालेख सग्रह, भा० २, पृ० १२२, १२३ और १२६

के टीकाकार जयसेन के समय में ही नही अपितु उससे पहले ईसा की ११वी शताब्दी के अंत के श्रुतावतारकार इन्द्रनन्दि के समय मे भी दिगम्बर परम्परा के साहित्य मे आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु के नाम के सम्बन्ध मे कोई सर्वसम्मत प्रामाणिक उल्लेख अस्तित्व मे नही था। यही कारण है कि विभिन्न ग्रन्थो, शिलालेखों एव पट्टावलियो में उनके गुरु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न उल्लेख उपलब्ध होते है।

आचार्य परम्परा विषयक विभिन्न ग्रन्थो, शिलालेखो, पट्टावलियो आदि में उपलब्ध उल्लेखों का पूर्णत तटस्थ दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर निम्नलिखित सभावनाए अनुमानित की जा सकती है।

१. आचार्य कुन्दकुन्द नन्दिसघ की परम्परा के परम प्रतिभाशाली महान् आचार्य थे।

२. जिस प्रकार भद्रबाहु द्वितीय और माघनन्दि के बीच ६ आचार्यो के होते हुए भी नन्दि सघ की पट्टावली मे उन्हे भद्रबाहु के शिष्य गुप्ति गुप्त का शिष्य बताया गया है, उसी प्रकार माघनन्दि और जिनचन्द्र के बीच मे भी अनेक आचार्यो के होने के उपरान्त भी जिनचन्द्र को माघनन्दि का शिष्य बताया गया है। इसका कारण सक्षेप में वर्णन करने की प्रणाली का अवलम्बन अथवा बीच के आचार्यो के नामो की विस्मृति हो सकता है।

३ कुन्दकुन्द को जिन आचार्य जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है वे जिनचन्द्र कही पुष्पदन्त के भागिनेय एव शिष्य जिनपालित ही तो नही है। गृहस्थ काल का जिनपालित नाम आचार्यकाल मे चन्द्र के समान धर्मोद्योत करने पर जिनचन्द्र के रूप में परिवर्तित हो जाना बुद्धिसगत भी प्रतीत होता है।

४. जिस प्रकार भद्रबाहु द्वितीय तथा माघनन्दि के बीच में और माघनन्दि तथा जिनचन्द्र (जिनपालित) के बीच में अनेक आचार्यो के होने के उपरान्त भी उनका परस्पर साक्षात् गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बना दिया गया, ठीक उसी तरह यह भी सभव है कि जिनपालित-जिनचन्द्र और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच मे अनेक आचार्यो के होते हुए भी नन्दिसंघ की पट्टावली मे इनका उल्लेख साक्षात् गुरु-शिष्य के रूप में कर दिया गया हो।

यदि उपरोक्त सभावनाए इतिहास के विशेषज्ञो द्वारा तथ्य की कसौटी पर कसी जाने के अनन्तर खरी उतरे तो आचार्य कुन्दकुन्द का समय, राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविन्द तृतीय के राज्यकाल के शक स० ७१६ और ७२४ के दो ताम्रपत्रों के आधार पर डॉ० के० पी० पाठक द्वारा प्रकट किये गये उनके अभिमतानुसार शक स० ४५०, तदनुसार वीर नि० स० १०५५ तो नही पर जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वीर नि०सं० ६५० के आस-पास का और उनका स्वर्गारोहण-काल वीर नि० स० १००० के पश्चात् तक का हो सकता है :

कुन्दकुन्द के बीच मे हुए जितने आचार्यो के नाम लेख मे दिये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी आचार्य हुए थे।
— सम्पादक

कालीन होने का अनुमान किया है, उस पर माघनन्दि, धरसेन जिनपालित (जिनचन्द्र) आदि के सम्बन्ध मे ऊपर प्रस्तुत किये गये तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर श्री पाठक का अनुमान तथ्य के थोडा निकट पहुँचता हुआ प्रतीत होता है ।

यह पहले बताया जा चुका है कि आज से ६० वर्ष पूर्व प० गजाधरजी जैन, न्यायशास्त्री ने भी कुन्दकुन्द का समय शक स० ४५० तदनुसार वीर नि० स० १०५५ के आस-पास का अनुमानित किया था ।[१]

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विचार करते समय कोङ्गणि महाराजा अविनीत (कोङ्गणि द्वितीय) का मर्करा के खजाने से प्राप्त ताम्रपत्र (सस्कृत कन्नड), जिस पर कि सवत्सर ३८८ (सोमवार स्वाति नक्षत्र) अकित है, विद्वानो मे विगत अनेक वर्षो से बडा चर्चा का विषय रहा है । इस ताम्रपत्र के–"श्रीमान् कोङ्गणि महाराज अविनीत नामधेय दत्तस्य देसिगगण कोण्डकुन्दान्वय गुणचन्द्र-भट्टार शिष्यस्य अभयणदि"[२] आदि अश मे 'देसिग गण कोण्डकुन्दान्वय' के ६ आचार्यो का उल्लेख देख कर ए० एन० उपाध्ये[३] आदि अनेक विद्वानो ने कुन्द-कुन्दाचार्य का समय ईसा की तीसरी शताब्दी अनुमानित किया था । पर डॉ० गुलाबचन्द चौधरी ने गहन शोध के पश्चात् प्रमाणपुरस्सर मर्करा के उक्त ताम्र-पत्र को बनावटी सिद्ध कर दिया है ।[४] डॉ० हीरालालजी ने भी श्री चौधरी के शोधपूर्ण अभिमत की पुष्टि करते हुए लिखा है –

"(११) मर्करा के जिस ताम्रपत्र लेख के आधार पर कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व ५ वी शती मे माना जाता है, वह लेख परीक्षण करने पर बनावटी सिद्ध होता है, तथा देशीय गण की जो परम्परा उस लेख मे दी गई है, वह लेख न० १५० (सन् ६३१) के बाद की मालूम होती है ।

(१२) कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवी नौवी शती के लेख मे देखा गया है तथा मूल सघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग लेख न० १८० (लगभग १०४४ ई०)[५] मे हुआ पाया जाता है ।"[६]

उपरिलिखित तथ्यो और विस्तृत चर्चा से कुन्दकुन्दाचार्य का काल वीर नि० स० १००० के आस-पास का सुनिश्चित हो जाने के अनन्तर विद्वानो के लिये यह खोज करना भी परमाश्यक हो जाता है कि वस्तुत आचार्य कुन्दकुन्द ने किन-किन ग्रन्थो का निर्माण किया ।

---

[१] प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ७५७

[२] जैन शिलालेख सग्रह, भा० २, पृ० ६३-६४

[३] Introduction on Pravachansar, (by A N Upadhye) p 22

[४] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, (मा० दिग० ग्रन्थमाला) प्रस्तावना, पृ० ४६-५०

[५] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, पृ० २२० (मा० दिग० जैन ग्र० माला)

[६] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, प्राक्कथन, पृ० ३

कुन्दकुन्द का समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के लगभग मानने मे कोई हानि नही ।

यहा श्री पाठक ने तोरणाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य के समय निर्धारण मे जिस अनुमान अथवा कल्पना की प्रक्रिया का अवलम्बन किया है, उसे पढ कर प्रत्येक पाठक अनुभव करेगा कि किसी भी तरह के आधार के अंकुश के अभाव मे इस प्रकार के काल्पनिक काल को तो कोई यथेच्छ घटा अथवा वढा सकता है। ताम्रपत्र में उल्लेख है कि शक स० ७१९ मे प्रभाचन्द्र के नाम पर वसति का निर्माण कराया गया। वे प्रभाचन्द्र पुष्पनन्दि के शिष्य एवं तोरणाचार्य के प्रशिष्य थे। इनमे से प्रत्येक आचार्य का ४० वर्ष का आचार्य काल गिनने पर ही श्री पाठक के कथनानुसार तोरणाचार्य का आचार्य पद पर आसीन होने का काल शक सं० ६०० के आस-पास हो सकता है। एक से अधिक – अनेक आचार्यो के अज्ञात काल के सम्वन्ध मे किसी सभावित निर्णय पर पहुँचना हो तो मोटे तौर पर प्रत्येक आचार्य का काल २० वर्ष के लगभग अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के काल निर्णय के प्रयास मे श्री पाठक ने अनुमान लगाया है कि तोरणाचार्य से १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक स० ४५० के लगभग कुन्दकुन्दाचार्य का समय मान लिया जाय तो कोई हानि नही है। एक विद्वान् कह सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्य और तोरणाचार्य के बीच का अन्तराल काल २०० वर्ष माना जाय। इसी प्रकार दूसरा ५० वर्ष और तीसरा विद्वान् १०० वर्ष का अन्तराल काल मानने की बात कह सकता है।

श्री पाठक ने अपने अनुमान को साधार बनाने हेतु पचास्तिकाय की टीका में टीकाकार जयसेन और वालचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट शिवकुमार महाराज के शिव-मृगेशवर्म होने की सभावना प्रकट करते हुए लिखा है – "शक सं० ५०० में कीर्ति नामक चालुक्य वशी राजा ने बादामी मे कदम्बवश के राज्य का अन्त किया इससे यह निश्चित होता है कि शक स० ४५० में शिवमृगेशवर्म राज्य करते थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये पचास्तिकाय की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख टीकाकार जयसेनाचार्य और बालचन्द्र ने किया है। वे शिवकुमार महाराज वस्तुत: शिवमृगेशवर्म ही जान पडते है। अत: कुन्दकुन्दाचार्य का समय भी उनके शिवमृगेशवर्म के समकालीन होने के कारण शक स० ४५०, तदनुसार वि० स० ५८५ सिद्ध होता है।"

यह तो पहले सिद्ध किया जा चुका है कि जयसेनाचार्य से लगभग २०० वर्ष पहले हुए आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा पचास्तिकाय आदि की अपनी टीका मे शिवकुमार महाराज और आचार्य कुन्दकुन्द का किसी प्रकार का उल्लेख न किये जाने के फलस्वरूप जयसेनाचार्य तथा बालचन्द्र द्वारा किया गया उपर्युद्धृत उल्लेख प्रामाणिक नही माना जा सकता। ऐसी दशा मे जयसेनाचार्य तथा बालचन्द्र द्वारा किये गये उक्त उल्लेख पर तो विश्वास नही किया जा सकता। हा, अन्य ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर श्री पाठक ने शिवमृगेशवर्म और आचार्य कुन्दकुन्द के सम-

की ४००० साध्वियो के मोक्षगमन का उल्लेख है। मुक्त हुई इन साध्वियो की यह सख्या उनके मुक्त हुए साधुओ की संख्या से दुगुनी है। इसी प्रकार कल्पसूत्र मे भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर की क्रमश ३ हजार, २ हजार एव १४०० साध्वियो के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उल्लेख है। इन तीनो तीर्थंकरो के मुक्त हुए साधुओ की अपेक्षा मुक्त हुई इनकी साध्वियो की सख्या भी दुगुनी है।[1]

इन सब तथ्यो से निर्विवादरूपेण यही सिद्ध होता है कि अनादि-अतीत मे जितने भी तीर्थंकर हुए है और महाविदेह क्षेत्र मे जो तीर्थंकर विद्यमान है, उन सब ने पुरुषो और स्त्रियो को समान रूप से साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होने का अवसर अथवा अधिकार प्रदान किया है।

भगवान् महावीर ने भी धर्मतीर्थ की स्थापना के समय जिस प्रकार इन्द्र-भूति गौतम आदि ११ गणधरो को उनकी शिष्य-मण्डली सहित श्रमण-धर्म मे तथा अन्य मुमुक्षु पुरुषो को श्रमणोपासक धर्म मे दीक्षित कर पुरुष वर्ग को साधना-पथ का अधिकारी घोपित किया, उसी प्रकार चन्दनबाला आदि महिलाओ को भी श्रमणी- धर्म मे तथा अन्य मुमुक्षु महिलावर्ग को श्रमणोपासिका धर्म मे दीक्षित कर नारी वर्ग को भी पुरुषो के समान ही साधना द्वारा स्व-पर-कल्याण करने का अधिकारी घोषित किया।

सकल चराचर के शरण्य विश्वैकबन्धु प्रभु महावीर ने जिस समय चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना की, उस समय आर्यावर्त मे धार्मिक एव सामाजिक स्थिति बडी विचित्र थी। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" का नाद घर-घर मे, सर्वत्र गुजरित हो रहा था। पुरुष भोक्ता है और नारी भोग्या-इस प्रकार का 'अह' पुरुषवर्ग मे जागृत हो चरम सीमा पर पहुच चुका था। वह नारी को अपने समकक्ष स्थान देने के लिए सहमत नही था। अपनी आखो पर पडे स्वार्थपरता के आवरण के कारण पुरुषवर्ग ने नारी की हीनता का अकन करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखी थी। साधना के क्षेत्र मे भी अपना एकाधिपत्य बनाये रखने की आकाक्षा लिये पुरुषवर्ग ने नारी को अबला घोपित कर सन्यस्त जीवन के लिये अनधिकारिणी बतलाया। देश मे सर्वत्र यही लोक-प्रवाह चल रहा था।

इस लोक-प्रवाह के विरुद्ध नारी को सन्यास-धर्म मे दीक्षित करने का किसी धर्मप्रवर्तक को साहस नही हो रहा था। बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध भी नारी को भिक्षुणी-धर्म मे प्रव्रजित करने का सहसा साहस नही कर पाये, यह बौद्ध धर्मग्रन्थ 'चुल्लवग्ग' के निम्नलिखित विवरण से स्पष्टत प्रकट होता है —

"बात उन दिनो की है जब भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम मे विराजमान थे। महाप्रजापति गौतमी (भगवान् बुद्ध की मौसी, जिसने नवजात शिशु बुद्ध की माता के देहावसान के पश्चात् उन्हे अपना स्तनपान करा उनका

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १ (परिशिष्ट) पृष्ठ ५८६–५९०

केवली-काल से पूर्वधरकाल तक
की
साध्वी-परम्परा

जैनधर्म की अनादिकाल से यह विशेषता रही है कि इसमें पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी साधनापथ पर अग्रसर होने की पूर्ण अधिकारिणी माना गया है। जिस प्रकार किसी भी वर्ण, वर्ग अथवा जाति का मुमुक्षु पुरुष अपने सामर्थ्यानुसार अणुव्रत अगीकार कर श्रावक एव पंच महाव्रत धारण कर श्रमण बन सकता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक वर्ग, वर्ण अथवा जाति की स्त्री भी अपनी शक्ति एव इच्छा के अनुरूप श्रमणोपासिका-धर्म अथवा श्रमणी-धर्म ग्रहण कर सकती है। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" – इस प्रकार के प्रतिबन्ध के लिये जैनधर्म मे कभी कही किंचित्मात्र भी स्थान नहीं रखा गया है। इसका अकाट्य प्रमाण है अनादिकाल से तीर्थंकरों द्वारा अपने-अपने समय मे साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना किया जाना। यदि स्त्रियो को इस अधिकार से वचित रखा जाता तो जैनधर्म मे चतुर्विध तीर्थ के स्थान पर साधु और श्रावक वर्ग के रूप मे द्विविध तीर्थ ही होता। वस्तुस्थिति यह है कि अनादिकाल से तीर्थंकर तीर्थ-स्थापना के समय पुरुष वर्ग की तरह नारीवर्ग को भी साधना-क्षेत्र का सुयोग्य एव सक्षम अधिकारी समझकर चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते आये है।

इतिहास साक्षी है कि सभी तर्थकरो द्वारा प्रदत्त इस अमूल्य अधिकार का स्त्रियो ने सहर्ष हार्दिक स्वागत किया। इस अधिकार का सदुपयोग करते हुए महिलाए भी पुरुषों की तरह बड़े साहस के साथ साधनापथ पर अग्रसर हुई और उन्होने आत्मकल्याण के साथ-साथ जनकल्याण करते हुए जैनधर्म के प्रचार, प्रसार तथा अभ्युत्थान मे परम्परा से बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया।

चौबीसो तीर्थंकरो के साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओ की सख्या के तुलनात्मक ईक्षण से तो वस्तुतः ऐसा प्रकट होता है कि साधनापथ में महिलाए सदा पुरुषो से बहुत आगे रही है। श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनों परम्पराओ के प्रामाणिक ग्रन्थों में भगवान् महावीर के साधुओं की सख्या जहा १४,००० दी है, वहा साध्वियों की सख्या ३६,००० दी है, जो साधुओं की सख्या की तुलना मे ढाईगुना से भी अधिक है। प्रभु महावीर की श्राविकाओं की सख्या भी श्रावको की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे दुगुनी और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो में तिगुनी बताई गई है। इसी प्रकार दोनो परम्पराओं के ग्रन्थो मे शेष २३ तीर्थंकरो के साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की तथा श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाओ की सख्या सवागुनी से लेकर चतुर्गुणित तक अधिक बताई गई है।

दिगम्बर परम्परा में तो (यापनीय संघ को छोड़) स्त्री-मुक्ति नही मानी गई है। पर श्वेताम्बर परम्परा के आगम 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' में भगवान् ऋषभदेव

भगवान् बोले-आनन्द ! यदि गौतमी आठ गुरु धर्म स्वीकार करे तो उसकी उपसम्पदा (दीक्षा) हो सकती है। [1]

चुल्लवग्ग के अनुसार उनमे (आठ गुरु धर्मो मे) से मुख्य-मुख्य ये हैं[2] –

१ सौ वर्ष पूर्व भी दीक्षित भिक्षुणी उसी दिन दीक्षित भिक्षु का भी अभिवादन – प्रत्युत्थान व अजलि-कर्म करे।

२ जिस गाव मे भिक्षु न हो, वहां भिक्षुणी न रहे।

३ हर पक्ष मे उपोसत्थ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिये कब आना है, ये दो बाते वह भिक्षु-सघ से पूछे।

४ चातुर्मास के पश्चात् भिक्षुणी को भिक्षु-सघ और भिक्षुणी सघ से प्रवारणा – स्व-दोष-ज्ञापन की प्रार्थना करनी होगी।

५ किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को डाटे-फटकारे नही और भिक्षु भिक्षुणियो को उपदेश दे।

तदनन्तर भगवान् बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी को उपसम्पदा दी पर अन्तत वे इससे तुष्ट नही थे। उन्होने आनन्द से कहा कि धर्म-सघ सहस्रो वर्ष चलता पर क्योकि नारी को इसमे स्वीकार कर लिया गया है अत यह चिरकाल तक नही टिकेगा। अब यह सैकडो वर्ष ही टिकने वाला है।"

महाप्रजापति गौतमी के प्रव्रज्या-प्रसग को पढने से ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध नारी-प्रव्रज्या के लिए अन्तत सहमत नही थे। महाप्रजापति गौतमी द्वारा तीन बार निवदेन किया जाना, बुद्ध द्वारा तीनो बार निषेध किया जाना, भगवान् के अनन्य अन्तेवासी आनन्द द्वारा भी तीन बार अनुरोध किया जाना, उस पर भी बुद्ध की अस्वीकृति – ये घटनाक्रम यह सिद्ध करते है कि आनन्द द्वारा दूसरे प्रकार से पुन प्रार्थना किये जाने पर बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी की प्रव्रज्या की जो स्वीकृति दी, वह केवल आनन्द का मन रखने के लिए थी। वे ऐसा कर प्रसन्न नही थे। सघ के उत्तरोत्तर उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध मे उनकी आशा धूमिल हो गई, जो उनके अन्तिम वाक्यो से प्रकट होता है।

इस सन्दर्भ मे हम यदि भगवान् महावीर के विचारो पर गहराई से ऊहापोह करे तो उनके चिन्तन मे ऐसा भेद ही प्रतीत नही होता कि अमुक मुमुक्षु पुरुष है या नारी। उनकी दृष्टि मे केवल, यह साधनोन्मुक्त व्यक्ति है, इतना सा रहता है। जिस प्रकार जाति, वर्ण, वर्ग का भेद उनके मन पर कोई असर नही करता, उसी प्रकार लिग-भेद भी उनके समक्ष समस्या बन कर नही आता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भगवान् महावीर ने बिना किसी सकोच के तीर्थ-स्थापना के अवसर पर गौतमादि पुरुषो को श्रमण-धर्म मे दीक्षित कर तत्काल चन्दनबाला आदि नारियो को भी श्रमणी-धर्म मे दीक्षित किया।

---

[1] चुल्ल वग्ग १०, १ १ [2] चुल्ल वग्ग १०, २ २

अपने पुत्र के समान लालन-पालन किया था), जहां भगवान् थे, आई, आकर भगवान् को अभिवादन किया। अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। वह भगवान् से बोली-भन्ते? मै नारी, अगार धर्म से अनगार धर्म में आकर तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय-दीक्षा पाना चाहती हूँ। भगवान् बुद्ध ने कहा – गौतमी! तुम्हारी (नारी की) तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय-भिक्षु धर्म में रुचि न हो, यही अच्छा है। महाप्रजापति ने तीन बार आवेदन किया और भगवान् बुद्ध ने तीनो ही बार अस्वीकार किया।

भगवान् नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म में दीक्षित नही करते है, यह देख गौतमी दु खी दुर्मन और अश्रुमुखी होती हुई, रोती हुई भगवान् को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर लौट गई।

कपिल वस्तु से विहार करते हुए भगवान् वैशाली आये, महावन स्थित कूटागार शाला में टिके। तब महाप्रजापति गौतमी केशच्छेदन कर, काषाय वस्त्र पहन, बहुत सी शाक्य महिलाओं के साथ वैशाली आई। वह महावन में स्थित कूटागार-शाला की ओर चली। उसके नगे पैर धूल के कणों से भरे थे। दु खी, दुर्मन, अश्रुमुखी गौतमी बाहरी द्वार पर ठहरी। आयुष्मान् आनन्द ने महाप्रजापति गौतमी को इस स्थिति मे देखा। देख कर पूछा – यह सब क्यो? गौतमी बोली-भन्ते आनन्द! भगवान् नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में आने की अनुज्ञा नही देते है। आनन्द ने कहा - मुहूर्त भर तुम यही ठहरो, मै भगवान् से इस सम्बन्ध मे याचना कर आऊँ।

आयुष्मान् आनन्द भगवान् के पास आया, अभिवादन कर एक ओर बैठा, भगवान् से निवेदन किया – महाप्रजापति गौतमी, भगवान् नारी को दीक्षित नही करते, यह देख दु खी, दुर्मन और आँसू गिराती हुई बाहरी द्वार पर बैठी है, उसके नगे पैर धूल से भरे है। भगवन्! अच्छा हो, नारी तथागत-प्रवेदित विनय-धर्म मे दीक्षा पा सके। भगवान् ने कहा – नही आनन्द! नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में दीक्षित किया जाय, ऐसी रुचि तुम्हारी नही होनी चाहिए। आनन्द ने दूसरी बार और तीसरी बार भी निवेदन किया और भगवान् ने निषेध।

तब आनन्द ने देखा, यों तो भगवान् नारी को दीक्षित होने की अनुज्ञा नही दे रहे है, दूसरी विधि से उनसे कहूं। तब आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से निवेदन किया – भगवन्! क्या नारी अगार जीवन से अनगार जीवन मे आ, तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रजित हो, स्रोतापन्नफल, सकृदागारि-फल, अनागारि-फल और अर्हत्-फल का साक्षात्कार कर सकती है? भगवान् ने कहा – ऐसा हो सकता है। तब आनन्द बोला – भगवन्! यदि ऐसा है तो महाप्रजापति गौतमी, जिसका हम पर बहुत उपकार है, जो भगवान् की मौसी है, जिसने भगवान् का पोषण किया, दूध पिलाया, भगवान् की जननी के काल कर जाने पर भगवान् को स्तनपान कराया, अच्छा हो, तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में दीक्षा-लाभ कर सके।

भगवान् की प्रथम शिष्या चन्दनबाला भगवान् के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हुई अथवा पश्चात् – इस सम्बन्ध मे भी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर – दोनो परम्पराओ के किसी ग्रन्थ मे कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् भगवान् की ३६,००० साध्वियों मे से बहुत-सी साध्विया निश्चित रूप से विद्यमान रही होगी, पर उनमे से किसी एक का भी नामोल्लेख निर्वाणोत्तर काल के जैन वाङ्मय मे उपलब्ध नही होता। न कही इस प्रकार का कोई एक भी उल्लेख दृष्टिगोचर होता है कि निर्वाण के तत्काल पश्चात् अथवा वीर नि० स० १ से १००० तक की सुदीर्घ कालावधि मे साध्वी सघ की प्रवर्तिनिया कौन-कौन रही।

वीर नि० स० १ मे दीक्षित हुए आर्य जम्बूस्वामी की दीक्षा के प्रसग मे आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व मे उल्लेख किया है कि जम्बूकुमार की माता, पत्नियो और सासुओ (सासो) को आर्य सुधर्मा ने श्रमणी धर्म की दीक्षा प्रदान कर उन्हे साध्वी सुव्रता की आज्ञानुवर्तिनी बनाया। साध्वी सुव्रता साध्वियो के किसी सघाटक की मुख्या थी अथवा सम्पूर्ण श्रमणी सघ की प्रवर्तिनी, इस सम्बन्ध मे परिशिष्ट पर्व मे कोई सकेत नही किया गया है। परिशिष्ट पर्व में उपर्युक्त विवरण के पश्चात् उल्लेख किया गया है कि ५१० पुरुषो और १७ महिलाओ, कुल मिलाकर ५२७ मुमुक्षुओ के साथ जम्बूकुमार को दीक्षित करने के पश्चात् आर्य सुधर्मा अपने शिष्यो को साथ लिये प्रभु महावीर की सेवा मे पहुचे। परिशिष्टपर्वकार द्वारा किया गया यह उल्लेख प्रामाणिक नही माना जा सकता क्योकि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के सभी मान्य ग्रन्थो मे वीर निर्वाण के पश्चात् जम्बूकुमार के दीक्षित होने का उल्लेख है। परम्परागत मान्यता भी यही रही है कि जम्बूकुमार ने वीर निर्वाण के पश्चात् वीर नि० स० १ मे किसी समय दीक्षा ग्रहण की। परिशिष्ट-पर्वकार द्वारा किये गये इस वीर नि० विषयक उल्लेख के सशयास्पद सिद्ध होने की स्थिति मे परिशिष्ट पर्व मे किये गये उस उल्लेख पर भी पूरी तरह विश्वास नही किया जा सकता, जिसमे कि श्रमणी समूह की मुख्या साध्वी का नाम सुव्रता बताया गया है।

यह पहले बताया जा चुका है कि साधु समाज की तरह साध्वी समाज ने भी मानवता पर अनेक महान् उपकार किये है। सहज करुणा-कोमल-हृदय सती-वर्ग के उद्दात्त चारित्र और हितप्रद मधुर उपदेशो से मानव समाज सदा साधना के सत्पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणाए लेता रहा है। आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ती, आर्य वज्र एव याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र आदि महान् प्रभावक आचार्य जिस प्रकार जिन-शासन की उत्कट सेवा और जनकल्याण के महान् कार्य करने मे सफल हुए, वह सब मूलत साध्वी-समाज की ही देन रही है। इन सब वास्तविकताओ को दृष्टिगत रखते हुए निर्वाणोत्तर काल की साध्वी-परम्परा की जितनी अधिक महत्तराओ, प्रवर्तिनियो, स्थविराओ के जीवन का परिचय दिया जाय, वह केवल साधको ही नहीं अपितु समस्त मानव-समाज के लिये उतना

महाप्रजापति के उपर्युक्त आख्यान और भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-स्थापना के दिवस की तात्कालिक वेला में ही चन्दनबाला आदि नारियों को श्रमणी धर्म मे दीक्षित किये जाने के विवरण से यह स्पष्टत: प्रकट होता है कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका ने छू लिया था और तीर्थंकर महावीर को वह व्यावहारिक भूमिका किंचित्मात्र भी छू नही सकी। तीर्थंकर अनुस्रोतगामी नही होते। वे तो सत्यविमुख रूढ परम्पराओ, अधश्रद्धाओ और निस्सार-थोथी मान्यताओ का उन्मूलन कर एक नूतन क्रान्तिकारी आध्यात्मिक सस्कृति की प्रतिष्ठापना करते हैं। ऐसे महापुरुष भला लोक-प्रवाह मे कैसे वह सकते है ? सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने स्व-पर-कल्याणकारी धर्माराधना-अध्यात्म साधना के क्षेत्र में तत्वत पुरुष और नारी जैसा कोई भेद न रख कर साधना की सापवाद (देशविरति) और निरपवाद (सर्वविरति)-इन दोनो विधाओ अर्थात् श्रावक-श्राविका धर्म एव साधु-साध्वी धर्म के अनुसरण-अनुपालन के लिये पुरुष तथा नारी वर्ग का समान रूप से आह्वान किया। यह वस्तुत भगवान् महावीर की महावीरता थी। इसका परिणाम भी अतीव श्रेष्ठ और परम सुखावह रहा। नारी वर्ग ने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा के अभ्युत्थान के लिये अध्यात्म-साधना-पथ का अवलम्बन करने की नारी भी पुरुष के समान पूर्ण अधिकारिणी है, प्रबुद्ध पुरुष की तरह प्रबुद्धा नारी भी उत्कट सयम का पालन और सर्वोच्च त्याग करने मे सर्वत. सक्षम है। भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन काल से लेकर आज तक का जैन धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि श्रमणी-धर्म मे दीक्षित नारियो ने जिस बडी सख्या मे, जिस अद्भुत आत्मबल, प्रबल साहस और उत्कट उत्साह के साथ सयम का निर्वहन तथा धर्म का प्रचार-प्रसार किया, एव कर रही है, वह, सख्या आदि कतिपय दृष्टियों से पुरुष-साधको की अपेक्षा कुछ बढकर ही कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर की विद्यमानता मे ३६,००० नारियों ने प्रभु के उपदेशो से प्रबुद्ध हो साध्वी-धर्म की दीक्षा अंगीकार की। उनमे से अनेक के साध्वी-जीवन का प्रेरणाप्रदायी विशद विवरण आगम ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। काली आदि महासतियों के अति कठोर तपश्चरण का जो वर्णन आगम मे उल्लिखित है, उसे पढ़कर प्रबल मनोबल वाले पाठको के भी रोंगटे खड़े हो जाते है और उन उत्कट साधिकाओ के प्रति प्रगाढ श्रद्धा से मस्तक सहसा स्वत. ही झुक जाते है। वस्तुत. साध्वियो का जीवन भी साधक-साधिकाओ के लिये बड़ा प्रेरणादायक और दिशानिर्देशक है।

वीर निर्वाण सं० १ से १००० तक की आचार्य परम्परा का जिस प्रकार विस्तृत परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, उसी प्रकार उस काल की साध्वी-परम्परा का परिचय भी प्रस्तुत किया जाना अपेक्षित है किन्तु वीर निर्वाण पश्चात् की साध्वी-परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास देना तो दूर एक बहुत बडी कालावधि मे हुई साध्वियो के नाम तक आज समस्त जैन साहित्य का आलोडन करने पर भी उपलब्ध नही होते।

महिलाओ को हजारो की सख्या मे श्रमणी-धर्म मे दीक्षित कर कल्याण-मार्ग मे उनका नेतृत्व किया। आपने स्वय प्रभु द्वारा प्रदत्त श्रमणीसघ-मुख्या (प्रवर्तिनी) पद पर रहते हुए ३६,००० साध्वियो के अति विशाल साध्वी-सघ का बडी कुशलता के साथ सचालन किया। आपके तत्वावधान मे आपका समस्त श्रमणी समूह सम्यक् रूपेण सयमप्रतिपालन, स्वाध्याय, ज्ञानार्जन, तपश्चरण आदि मे निरत रह स्व-पर कल्याण मे उत्तरोत्तर अग्रसर होता रहा। प्रवर्तिनी चन्दना बडी अनुशासनप्रिय थी। आपके अनुशासन की यह विशेषता थी कि श्रमणी वर्ग की सभी साध्विया सदा सजग रह कर स्वत ही श्रमणी-आचार का समीचीन रूप से पालन करती रहती थी। प्रवर्तिनी चन्दनबाला श्रमणाचार मे साधारण से साधारण शैथिल्य एव छोटी से छोटी भूल को भी भविष्य के लिय भयकर अनर्थ का मूल मान कर अनुशासन और साध्वी समाज के हित की दृष्टि से किसी भी साध्वी को, चाहे वह कितनी ही बडी क्यो न हो, प्रेमपूर्वक सावधान करने मे किचित्मात्र भी सकोच नही करती थी। आपने साध्वी मृगावती जैसी उच्चकोटि की साधिका को भी प्रभु के समवसरण मे असमय तक बैठे रहने पर उपालम्भ देने मे सकोच नही किया। अपनी गुरुणी द्वारा दिये गये उपालम्भ पर महासती मृगावती ने भी अपनी भूल के लिये निश्छल भाव एव विशुद्ध अन्त करण से पश्चात्ताप किया और तत्क्षण क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो केवलज्ञान की अनुत्तर, अक्षय एव अनन्त परम ज्योति प्राप्त कर ली। एक लम्बे समय तक जिनशासन की सेवा एव स्व-पर का कल्याण करते हुए प्रवर्तिनी चन्दनबाला ने ४ घाती-कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान और तदनन्तर अवशिष्ट चार अघाती-कर्मो का क्षय कर अन्त मे अखण्ड-अव्याबाध-अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्ष प्राप्त किया।[1] महासती चन्दनबाला का परम श्लाघनीय एव प्रेरणाप्रदायी सयमी-जीवन श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ मे बडा सम्मानास्पद माना गया है। आपकी आज्ञानुवर्तिनी प्रभु महावीर की ३६००० साध्वियो मे से १४०० साध्वियो ने (चन्दनबाला सहित) समस्त कर्म समूह को ध्वस्त कर मोक्ष प्राप्त किया।[2]

महासती चन्दनबाला के प्रवर्तिनीकाल मे समस्त श्रमणी-सघ अविच्छिन्न और एकता के सूत्र मे बन्धा रहा। इनके समय मे साध्वी सुदर्शना के अतिरिक्त श्रमणियो का कोई अन्य सघाटक श्रमणी-सघ से पृथक् अथवा स्वेच्छाचारी हुआ हो, ऐसा कही कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता। साध्वी सुदर्शना भी प्रभु महावीर के प्रथम निन्हव जमाली के प्रति स्नेहवश कुछ समय के लिए विपरीत श्रद्धानुगामिनी बन गई थी किन्तु अल्पकाल पश्चात् ही ढक प्रजापति की प्रेरणा से प्रतिवुद्ध हो एक हजार साध्वियो के साथ प्रायश्चित्तादि से आत्मशुद्धि कर पुन आपके सघ मे सम्मिलित हो गई।

---

[1]–[2] 'स्त्री तद्भव मे मोक्ष प्राप्त नही कर सकती' – इस मान्यतानुसार दिगम्बर परम्परा मे इन सबका मोक्ष जाना, नही माना गया है। –सम्पादक

ही अधिक श्रेयस्कर, प्रेरक और दिशावबोधक हो सकता है। निर्वाणोत्तर काल की साध्वी परम्परा का सर्वांगीण परिचय प्रस्तुत करने हेतु अनेक ग्रन्थो का अवलोकन किया गया, अनेक विद्वान् इतिहासविदो, सन्तो एव साध्वियो से आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया पर इन सब प्रयत्नो का कोई उत्साहप्रद परिणाम नही निकला। श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थो तथा दिगम्बर एव श्वेताम्बर – दोनो परम्पराओ के शिलालेखो के उल्लेखो से यह तो पूरी तरह सिद्ध होता है कि तीर्थस्थापन के काल से लेकर वर्तमान काल तक जैन श्रमणीवर्ग की पुनीत एव पावन परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। परन्तु समय-समय पर जो प्रमुख साध्वियां हुई, उनका जीवन-परिचय मिलना तो दूर अधिकाशत. नामोल्लेख तक दृष्टिगोचर नही होता। बड़े विस्तीर्ण काल के व्यवधान के पश्चात् दो चार प्रमुख साध्वियो के नाम अथवा नामोल्लेख के अभाव मे उनका केवल साध्वियो के रूप मे उल्लेख मात्र मिलता है।

निर्वाण काल से पूर्व की चन्दन बाला, मृगावती आदि कतिपय श्रमणी मुख्याओ का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम भाग मे दिया जा चुका है। अब, निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष की अवधि मे हुई श्रमणी-मुख्याओं मे से जिन-जिन का जिस रूप मे परिचय उपलब्ध होता है, उसे यहां सक्षेप मे दिया जा रहा है :-

१. आर्या चन्दनबाला

आर्या चन्दनबाला का नाम जैन जगत् मे इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा के समान ही अमर रहेगा। आप श्रमण भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या और प्रभु के सुविशाल श्रमणी-समुदाय की प्रमुख एव सचालिका थी। आपके कुशल सचालकत्व काल में वीर प्रभु का श्रमणी समूह खूब फला-फूला और उत्तरोत्तर बढता ही गया। चन्दनबाला चम्पानगरी के महाराजा दधिवाहन और महाराणी धारिणी की परम दुलारी पुत्री थी। प्रभु महावीर ने छद्मस्थ काल मे अति कठोर अभिग्रहपूर्ण बडी लम्बी तपस्या का पारणा चन्दनबाला के हाथों किया था, अत: प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल की समस्त साध्वियो मे आपको सर्वाधिक पुण्यशालिनी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। चम्पानगरी मे हुए भयानक राज्य-विप्लव के परिणामस्वरूप बाल्यावस्था में आपको जिन घोर कष्टो को सहना पडा, उनको सुनने मात्र से अच्छे-अच्छे साहसी भी सिहर उठते है। उस सकट काल मे बालिका चन्दनबाला ने जिस साहस और धैर्य से दुखो को सहन किया, उसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रारम्भिक जीवन में भी उनका आत्म-बल कितना प्रबल था।

आर्या चन्दनबाला के जीवन का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम खण्ड में दिया जा चुका है।[1] बाल ब्रह्मचारिणी महासती चन्दनबाला ने राजकुमारियो, श्रेष्ठिकन्याओ, राजरानियो, इभ्यपत्नियो एवं सभी वर्गों की मुमुक्षु

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४७६-४८४

समुद्रश्री आदि जम्बूकुमार की ऐश्वर्य मे पली अनुपम सुन्दरी आठो पत्नियो ने भोगयोग्या भरपूर यौवनभरी अवस्था मे समस्त काम-भोगो, सुख-सुविधाओ एव अपार सम्पदा को ठुकरा कर एक बार मनसा वरण किये गये अपने पति जम्बूकुमार के साथ जिस प्रकार अपने अविचल प्रेम का अन्त तक निर्वहन किया, वह वस्तुत अति महान्, अद्वितीय, अनुपम-अनूठा, अत्यद्भुत और मुमुक्षुओ के लिये प्रेरणा का अक्षय स्रोत रहा है और रहेगा। विश्व के साहित्य मे इस प्रकार का और कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नही होता।

परम प्रभाविका यक्षा आदि साध्वियां

(वीर नि० दूसरी-तीसरी शती)

आर्य सुधर्मा और जम्बू के समय की कतिपय प्रमुख साध्वियो का यथोपलब्ध थोडा-सा परिचय ऊपर दिया गया है। आर्य जम्बू के पश्चात् आर्य प्रभव, आर्य शय्यभव और आर्य यशोभद्र के आचार्यकाल की साध्वियो का परिचय उपलब्ध नही होता। इन आचार्यों के समय मे भी साध्वी-परम्परा अविछिन्न रूप से निरन्तर चलती रही पर उस समय की प्रमुख साध्वियो के नाम अभी तक उपलब्ध जैन साहित्य मे कही दृष्टिगोचर नही हुए है।

आर्य यशोभद्र के शिष्य आचार्य सभूतिविजय के आचार्यकाल मे महामत्री शकडाल की ७ पुत्रियो के दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है। यक्षा आदि सातो बहिनो की स्मरणशक्ति बडी प्रखर और प्रबल थी। कठिन से कठिन एव कितने ही लम्बे गद्य अथवा पद्य को केवल एक बार सुन कर ही यक्षा उसे अपने स्मृति-पटल पर अकित कर तत्क्षण यथावत् सुना देती थी। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी यावत् सातवी बहिन क्रमश: दो, तीन, चार, पॉच, छ और ७ बार सुन कर किसी भी गद्य-पद्य को यथावत् सुना देती थी। इन सातो बहिनो ने अन्तिम नद की राजसभा मे वररुचि जैसे पण्डित को अपनी अद्भुत स्मरणशक्ति के चमत्कार से हतप्रभ कर किस प्रकार उसके 'अह' को विचूर्णित किया, यह आर्य स्थूलभद्र के प्रकरण मे बताया जा चुका है।

वररुचि द्वारा नियोजित षड्यन्त्र के परिणाम स्वरूप महामन्त्री शकडाल द्वारा मृत्यु का वरण किये जाने और महाराज नवम नन्द द्वारा दिये जा रहे महामात्यपद को ठुकरा कर स्थूलभद्र के प्रव्रजित हो जाने पर स्थूलभद्र की यक्षा आदि सातो विदुषी बहिनो ने भी अपने भ्राता श्रीयक से अनुमति ले उस समय की श्रमणीमुख्या के पास पच महाव्रत रूप श्रामण्य की दीक्षा ग्रहण की। इन सातो विदुषी साध्वियो ने एकादशागी का गहन अध्ययन कर अनेक वर्षों तक जिन-शासन की महती सेवा की। अद्भुत् स्मरणशक्ति वाली उन सातो साध्वियो ने कितना अथाह ज्ञान अर्जित किया होगा, इसका आज अनुमान नही किया जा सकता।

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थो मे इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि क्रमश· आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ने बाल्यकाल से ही उस समय की

आर्या चन्दनबाला के अनुपम उद्दात्त जीवन से मुमुक्षु साधक सदा प्रेरणा लेते रहेंगे। महासती चन्दनबाला ने भगवान् महावीर से पूर्व निर्वाण प्राप्त किया अथवा पश्चात्, इस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख अभी तक प्रकाश मे नही आया है; अत इस विषय मे खोज की आवश्यकता है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस दिशा मे प्रयास करेगे।

२. आर्या सुव्रता एवं धारिणी आदि

(वीर निर्वाण स० १)

प्रभु महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल मे महासती सुव्रता का उल्लेख मिलता है पर उनका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नही होता। आर्या सुव्रता प्रवर्तिनी चन्दनबाला की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा थी अथवा आर्य सुधर्मा के श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी, यदि वे प्रवर्तिनी थी तो किस समय से किस समय तक प्रवर्तिनी रही – इस सम्बन्ध में कही कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता।

वीर नि० स० १ मे जब राजगृही मे आर्य सुधर्मा के उपदेश से श्रेष्ठिकुमार जम्बू भवप्रपच से विरक्त हो दीक्षित हुए उस समय १७ उच्चकुलीन महिलाओ ने भी आर्या सुव्रता की सेवा मे श्रमणीधर्म की दीक्षा स्वीकार की। उनके नाम इस प्रकार है –

१. आर्या धारिणी (जम्बूकुमार की माता)

जम्बू की सासे :–

२. पद्मावती	६. कमलावती
३. कमल माल	७. सुश्रेणा
४. विजयश्री	८. वीरमती
५. जयश्री	९. अजयसेना

जम्बू की धर्मपत्नियाँ :–

१०. समुद्रश्री	१३. सेना
११. पद्मश्री	१५. कनकश्री
१२. पद्मसेना	१६. कनकवती
१३. कनकसेना	१७. जयश्री[1]

परम वैरागी जम्बूकुमार के वैराग्योत्पादक एवं युक्तिसगत हित-मित तथ्यपूर्ण वचनों से प्रभावित होकर उन १७ महिलाओ ने आर्या सुव्रता के पास दीक्षा ग्रहण कर जीवनपर्यन्त उत्कट भाव से विशुद्ध तप-सयम की आराधना की।

[1] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे जम्बूकुमार की चार पत्नियो का ही उल्लेख है। –सम्पादक

के समक्ष प्रस्तुत किये, जो आज भी चूलिकाओ के रूप मे विद्यमान है। तदनन्तर साध्वी यक्षा पुन पूर्ववत् अपनी बहिनो के साथ स्व-पर-कल्याण एव जिनशासन की सेवा के कार्यो मे निरत हो गई।

इस प्रकार आर्य सभूति विजय के आचार्य-काल मे दीक्षित होकर आर्या यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा और रेणा ने साध्वीसघ मे अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। यक्षा आदि सातो साध्वियो का सयम-काल आर्य सभूति विजय, आर्य भद्रबाहु और आर्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल में कितना कितना रहा तथा ये प्रवर्तिनी आदि पद पर रही अथवा नही, इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण कुछ भी कहना वस्तुत कल्पना की उडान के अतिरिक्त और कुछ न होगा। यक्षा आदि इन बालब्रह्मचारिणी, महामेधाविनी एव विशिष्ट श्रुतसम्पन्ना महासतियो से युगयुगान्तर तक साध्वीमडल ही नही, समस्त जैन सघ गौरवानुभव और प्रेरणा प्राप्त करता रहेगा।

आर्या पोइणी

(अनुमानत: वी० नि० स० ३०० से ३३० के आस पास)[1]

वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समय मे साध्वीमुख्या विदुषी महासती पोइणी और ३०० अन्य निर्ग्रन्थिनी साध्वियो की विद्यमानता का उल्लेख हिमवन्त स्थविरावली मे उपलब्ध होता है। कलिग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण मे कुमारिगिरि पर आयोजित आगम-परिषद मे वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह एव गणाचार्य आर्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध की परम्पराओ के ५०० श्रमणो के विशाल मुनि-समूह के साथ आर्या पोइणी आदि ३०० निर्ग्रन्थ श्रमणियो के उपस्थित होने का स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगत होता है।[2]

इस प्रकार के प्राचीन उल्लेखो से यह भलीभाति सिद्ध होता है कि श्रुत-रक्षा एव सघहित हेतु आयोजित वाचनाओ, विचारणाओ अथवा परिषदो मे साधुसघ के समान साध्वीसंघ और यहा तक कि श्रावक-श्राविकाओ के सघो का भी सर्वथा पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जाता था।

---

१ "एसो ण जिणसासणपभावगो भिक्खुराय णिवो" ·· ··· वीराओ ण तीसाहिय तिसय वासेसु विइक्कतेसु सग्ग पत्तो।"—हिमवन्त स्थविरावली के इस उल्लेख के अनुसार खारवेल का अतिम समय वीर नि० स० ३३० सिद्ध होता है। महासती पोइणी भी खारवेल द्वारा आयोजित आगम-परिषद् मे सम्मिलित थी अत उनका भी यही समय अनुमानित किया जाता है। —सम्पादक

२ · · ···तेण भिक्खुरायणिवेण जिणपवयण सगहट्ठ जिणधम्म वित्थरट्ठ य सपइ णिवुव्व समणाण णिग्गठाण णिग्गठीण य एगा परिसा तत्थ कुमारिपव्वय-तित्थम्मि मेलिया। ······अज्जा पोइणीयाईण अज्जाण णिग्गठीण तिन्नि सया समेया।
[हिमवन्त स्थविरावली, अप्रकाशित]

महान् विदुषी आर्या यक्षा के सान्निध्य में रह कर एकदशागी का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती जैसे आचारनिष्ठ प्रतिभाशाली एव महान् प्रभावक श्रमण-श्रेष्ठो मे प्रारम्भ से ही उच्चकोटि के सस्कार ढालने वाली महासती यक्षा कैसी विदुषी, कितनी तेजस्विनी, आचारनिष्ठा तथा सस्कार-निर्माण मे कितनी कुशल होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्या यक्षा के विदेह-गमन का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। उसमे यह बताया गया है कि आर्य स्थूलभद्र और तदनन्तर यक्षा आदि सातो बहिनों के प्रव्रजित हो जाने के कुछ समय पश्चात् स्थूलभद्र के कनिष्ठ सहोदर श्रीयक ने भी श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रीयक मुनि अत्यन्त सुकोमल प्रकृति के थे। वे भूख-प्यास को सहन करने मे इतने अधिक अक्षम थे कि एक उपवास की तपस्या करना भी उनके लिये बड़ा दुष्कर कार्य था। साध्वी यक्षा ने अपने भ्राता मुनि को तपस्या करने के लिये प्रोत्साहित करते हुए एक दिन कहा – "मुनिवर ! तपस्या की अग्नि से ही कर्मसमूह को ध्वस्त किया जा सकता है। यदि उपवास करना कठिन प्रतीत होता है तो आज एकाशन ही कर लीजिये। धीरे-धीरे इस प्रकार तपस्या करने का अभ्यास हो जायगा।"

अपनी वडी बहिन की प्रेरणा से मुनि श्रीयक ने एकाशन व्रत करने का दृढ सकल्प कर लिया। मध्याह्न तक का समय बड़े आनन्द के साथ व्यतीत हो गया। श्रीयक को भूख प्यास ने अधिक नही सताया। मध्याह्नोत्तर काल में साध्वी यक्षा ने श्रीयक मुनि के पास जा कर जब यह सुना कि उन्हे उस समय तक तो भूख प्यास विशेष असह्य नही हो रही है, तो उन्होने श्रीयक मुनि को उपवास कर लेने का परामर्श दिया। उत्साहवशात् श्रीयक मुनि ने उपवास का सकल्प कर लिया।

रात्रि में भूख एव प्यास ने उग्र रूप धारण कर लिया और उपोसित श्रीयक मुनि का संभवत. कडी प्यास के कारण प्राणान्त हो गया। प्रात.काल होते ही मुनि श्रीयक की मृत्यु के समाचार सुन कर साध्वी यक्षा ने श्रीयक मुनि की मृत्यु मे अपने आपको कारण मान कर बड़े दु.ख, पश्चात्ताप और आत्मग्लानि का अनुभव किया। सघ ने बार-बार उन्हे समझाया कि वे निर्दोष है पर साध्वी यक्षा ने कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नही किया। सघ द्वारा वार-बार विनती किये जाने पर साध्वी यक्षा ने कहा "यदि कोई अतिशयज्ञानी (केवलज्ञानी) यह कह दे कि यक्षा निर्दोष है, तभी मै अन्न-जल ग्रहण करूंगी, अन्यथा नही।"

अन्ततोगत्वा शासनाधिष्ठात्री देवी की संघ ने आराधना की और दैवी सहायता से आर्या यक्षा महाविदेह क्षेत्र मे श्रीमदरस्वामी के समवशरण मे पहुँची। घट-घट के अन्तर्यामी तीर्थंकर श्रीमंदरस्वामी ने श्रीमुख से आर्या यक्षा को निर्दोष बताया और ४ अध्ययन प्रदान किये। विदेह क्षेत्र मे श्रीमदर प्रभु के दर्शनो से अपना जीवन सफल तथा उनकी वाणी से अपने आपको निर्दोष मान कर आर्या यक्षा दैवी सहायता से पुन· लौट आई। उन्होने वे चारो अध्याय संघ

उत्पन्न होने का कोई कारण नही था तथापि साध्वी-समुदाय परम्परा से श्रमण-सघ का अभिन्न अग रहा है। पृथक् समुदायों के रूप मे इन दोनो का अस्तित्व रहने के उपरान्त भी नीति निर्देश, ज्ञानार्जन, मार्गदर्शन आदि की दृष्टि से साध्वी समूह सदा से श्रमण सघ के तत्वावधान मे कार्य करता रहा है अत यह सुनिश्चित सा प्रतीत होता है कि श्रमणसघ का नेतृत्व ज्यो ही अनेक आचार्यो मे विभक्त हुआ त्यो ही श्रमणी-समूह का नेतृत्व भी उन पृथक् हुए आचार्यो की प्रमुख शिष्याओ के तत्वावधान मे विभक्त हो गया होगा।

चाहे आर्या पोइणी तटस्थ भाव से अपने साध्वी-समाज का नेतृत्व करती रही हो, चाहे वह आर्य वलिस्सह अथवा सुस्थित की परम्परा की साध्वियो के समुदाय की सचालिका रही हो पर कुमारी पर्वत पर हुई आगम-परिषद् मे साध्वी पोइणी के उपस्थित होने और एकादशागी के पाठो के निर्धारण मे उनके द्वारा सहयोग दिये जाने सम्बन्धी हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप समस्त चतुर्विध सघ साध्वी पोइणी की ज्ञान-गरिमा का वडा समादर करता था और सघ मे उनका बडा महत्वपूर्ण स्थान था।

पोइणी का सस्कृत रूपान्तर है 'पोतिनी'—अर्थात् बहुत बडी जहाज। इस नाम से भी यही प्रकट होता है कि वे अपने समय की बडी ही प्रभाविका महासती हुई है, जिन्हे भव्यजन भव-सागर से पार लगाने वाली धर्मजहाज मानते थे।

कलिग जैसे दूरस्थ प्रदेश के कुमारी पर्वत के समान दुरूह एव विकट स्थान पर ३०० श्रमणियो के एकत्रित होने सम्बन्धी हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर निर्वाण की चौथी शती मे श्रमणी-समुदाय का स्वरूप सुविशाल था और भारत के विभिन्न प्रान्तो मे श्रमणो की तरह श्रमणिया भी अप्रतिहत विहार करती हुई जन-जन के मन मे आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न कर रही थी।

साध्वी सरस्वती

(वीर निर्वाण की पाचवी शताब्दी)

वीर की पाचवी शती के पूर्वार्द्ध (आर्य गुणाकर के समय) मे द्वितीय कालकाचार्य के साथ उनकी भगिनी सरस्वती द्वारा पंच महाव्रत स्वरूप निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण किये जाने का उल्लेख मिलता है।

द्वितीय कालकाचार्य के प्रकरण मे साध्वी सरस्वती का पूरा परिचय दिया जा चुका है।[1] साध्वी सरस्वती ने अपने ऊपर आये हुए सकट मे बडे साहस से काम लिया। गर्दभिल्ल के राजमहल मे वन्दिनी की तरह बन्द किये जाने,

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५१०—५१३

आगम के पाठो को स्थिर अथवा सुनिश्चित करने में जिस साध्वी की सहायता ली गई हो, वह साध्वी कितनी बडी ज्ञान-स्थविरा, आगम-मर्मज्ञा, प्रतिभाशालिनी और प्रकाण्ड विदुषी होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। ज्ञान और क्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति आर्या पोइणी जैसी विदुषी का कुल, वय, शिक्षा, दीक्षा एव साधना सबन्धी परिचय यद्यपि आज उपलब्ध नही है तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि आर्या यक्षा के पश्चात् किसी निकट-वर्ती समय मे ही आर्या पोइणी ने साध्वी सघ मे प्रमुख स्थान प्राप्त किया और वह एक वहुश्रुता, संघ सचालन में कुशल एव आचारनिष्ठा साध्वी थी।

आर्य महागिरि के आचार्यकाल तक श्रमण संघ मे एक आचार्य की परम्परा रही, इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्या यक्षा के समय तक साध्वी सघ एक ही प्रवर्तिनी अथवा साध्वीसंघ-मुख्या के नेतृत्व मे चलता रहा। विदुषी साध्वी पोइणी के समय मे साधु-सघ की तरह साध्वी-सघ मे भी पृथक् नेतृत्व का प्रचलन हो गया था अथवा नही, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख उपलब्ध न होने के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। परन्तु अनुमान किया जाता है कि आर्य महागिरि के पश्चात् श्रमण-सघ मे हुए पृथक् नेतृत्व के प्रादुर्भाव का साध्वी-सघ पर भी सहज ही प्रभाव पडा होगा। इतना सब कुछ होते हुए भी यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साधारण मतभेद होने के उपरान्त भी उस समय तक मन-भेद नही हुआ था। इस अनुमान की हिमवन्त स्थविराली के निम्नलिखित उल्लेख से भी पुष्टि होती है, जिसमे कुमारिगिरि पर आयोजित आगम परिषद मे दोनो परम्पराओ के मुनिमण्डलो के एकत्रित होने का स्पष्ट उल्लेख है :-

"...... .... तेणं भिक्खुराय णिवेणं...... ......समणाणं णिग्गठाण णिग्गठीणं य एगा परिसा तत्थ कुमारि पव्वयतित्थम्मि मेलिया। तत्थ णं थेराण अज्जमहागिरीणमणुपत्ताण बलिस्सह बोहिलिग देवायरि धम्मसेण नक्खत्ता-यरियाइ जिणकप्पि तुलत्त कुणमाणाणं दुण्णिसया णिग्गठाणं समागया। अज्ज सुट्ठिय सुवडिवड्ढ उमसाइ सामज्जाइण थेरकप्पियाणं वि तिन्निसया निग्गठाणं समागया।........ ...[1]"

अर्थात् - महाराज भिक्खुराय द्वारा आयोजित निग्रन्थ श्रमण-श्रमणियों की परिषद् मे आचार की दृष्टि से जिनकल्पियों के समान व्यवहार करने वाले आर्य वलिस्सह आदि २०० साधु और स्थविरकल्पी आर्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध आदि ३०० साधु एकत्रित हुए। वाह्य वेष के साधारण भेद के उपरान्त भी उनके अन्तर्मन एक थे, भेद रहित थे और उन सव ने एक साथ वैठकर पारस्परिक सह-योग से विचारों के अदान-प्रदान से आगम-परिषद को सफल वनाया।

साधु-समूह के समान साध्वी-समूह के समक्ष जिनकल्प और स्थविरकल्प का प्रश्न न होने की दृष्टि से यद्यपि साध्वी-सघ मे पृथक् नेतृत्व की भावना के

[1] हिमवन्त स्थविरावली (अप्रकाशित)

बीच के अनेक अन्तरालो मे साध्वी-परम्परा की साध्वियों के नाम सुरक्षित न रह पाने के कारण उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगोचर नही होते तथापि न केवल साध्वी-परम्परा ही अपितु सम्पूर्ण एकादशांगी की पारंगत साध्वी-परम्परा सदा अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान रही है। यदि ऐसा नही होता तो एकादशांगी के ज्ञान मे निष्णात साध्वियो से बालक वज्र द्वारा ऐकादशागी के कण्ठाग्र किये जाने का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे नही किया जाता।

वस्तुत. आर्या सुनन्दा और वे अनुपलब्धनामा ज्ञानस्थविरा आर्याए, जिनसे बालक वज्र ने एकादशांगी कण्ठस्थ की और जिनके पास वज्र की महामहिमामयी माता सुनन्दा ने श्रमण-धर्म अगीकार किया, उस अक्षुण्णा साध्वी-परम्परा की शृखला की अविच्छिन्न कडिया है, जो तीर्थस्थापन की वेला से आज तक अनवरत रूप से स्व-पर-कल्याण करती चली आ रही है।

आर्या सुनन्दा का विस्तृत परिचय आर्य सिहगिरि के प्रकरण मे दिया जा चुका है।[1]

बालब्रह्मचारिणी साध्वी रुक्मिणी

(वीर निर्वाण की छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

साधना पथ पर अग्रसर होने वाले नरशार्दूलो के समान नाहरियो तुल्य पराक्रमशालिनी नारियो द्वारा किये गये त्याग के भी एक से एक बढ कर बड़े ही अद्भुत एवं अनुपम उदाहरण जैन वाङ्मय मे उपलब्ध होते है। इस प्रकार के अत्युच्चकोटि के त्याग करने वाली महामहिमामयी महिलाओं मे साधिका रुक्मिणी का भी बहुत ऊचा स्थान है। वस्तुत साध्वी रुक्मिणी का त्याग अपने आप मे सब से निराला-सबसे अनूठा है। एक क्षण पहले मोह के मादक नशे के वशीभूत हुए मन ने जिसे अपने विलासितापूर्ण भोगमार्ग के आराध्य देव के रूप मे वरण कर लिया हो, दूसरे ही क्षण, मोह का नशा उतार दिये जाने पर भोग-मार्ग के लिये चुने गये उसी आराध्य देव को योग-मार्ग का आराध्य देव बना कर समस्त भोगो को ठुकरा जीवन भर के लिये कण्टकाकीर्ण योग-पथ का पथिक बन जाना–यह कोटिपति श्रेष्ठि की इकलौती पुत्री रुक्मिणी के जीवन की अप्रतिम एव बडी ही अद्भुत् विशेषता है। वह अभूतपूर्व घटना इस प्रकार है :–

गणाचार्य आर्य सिहगिरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य वज्र विहार क्रम से पाटलीपुत्र पहुँचे। अपने समय के महान् युगपुरुष के, अपने नगर के बहिर्भाग में अवस्थित उपवन मे, शुभागमन का समाचार सुनते ही पाटलीपुत्र का अपार जनसमूह उद्वेलित सागर के समान आर्य वज्र के दर्शन एवं उपदेश श्रवण की उत्कण्ठा लिये उस उपवन की ओर उमड पड़ा। पाटलिपुत्र के धन नामक कोट्यधीश श्रेष्ठी की इकलौती पुत्री कुमारी रुक्मिणी भी अपनी सखी-सहेलियो के साथ उस उपवन मे पहुँची।

---

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५६६–५७२

गर्दभिल्ल द्वारा अनेक प्रकार की यातनाएं, भय एव प्रलोभन दिये जाने के उपरान्त भी वे सत्पथ से विचलित नही हुई । गर्दभिल्ल के पाश से मुक्त होने के पश्चात् आर्या सरस्वती ने आत्मशुद्धि पूर्वक जीवन पर्यन्त कठोर तप एव संयम की साधना की और अन्त में समाधिपूर्वक देह त्याग कर सद्गति प्राप्त की ।

साध्वी सुनन्दा

(वीर की छठी शताब्दी का प्रारम्भ)

वीर की पाचवी शताब्दी के द्वितीय एवं तृतीय चरण में हुई साध्वी सरस्वती के पश्चात् वीर नि० स० ५०४ के आसपास आर्य वज्र की माता सुनन्दा द्वारा आर्य सिह गिरि की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा साध्वी के पास श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख उपलब्ध होता है । धनगिरि जैसे भवविरक्त महान् त्यागी की पत्नी और आर्य वज्र जैसे महान् युगप्रधानाचार्य की माता सुनन्दा का गौरव-गरिमापूर्ण उल्लेख जैन इतिहास मे सदा स्वर्णाक्षरो में किया जाता रहेगा । यौवन भरी प्रथम वय मे सुनन्दा ने गुर्विणी होते हुए भी दीक्षित होने के लिये उत्कण्ठित अपने पति को प्रव्रजित होने की अनुमति देकर जो आदर्श भारतीय नारी का उदाहरण प्रस्तुत किया, वह अन्यत्र कही दृष्टिगोचर नही होगा ।

उपलब्ध प्राचीन साहित्य मे यद्यपि विगत की बीच-बीच की अनेक कालावधियो मे सध्वियों के नामोल्लेख नही मिलते तथापि कतिपय ऐसे प्रबल प्रमाण साहित्य में मिलते है, जिनके आधार पर सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वीर निर्वाण के पश्चात् साध्वी-परम्परा कभी विच्छिन्न नही हुई अपितु वह अक्षुण्ण रूप से चलती रही है ।

उन अनेक प्रवल प्रमाणो मे से एक प्रमाण है आर्य वज्र का शैशवकाल । आर्य वज्र का वीर नि० स० ४९६ मे जन्म हुआ । जन्म के थोडी देर पश्चात् ही अपनी माता की सहेलो के मुख से अपने पिता धनगिरि के दीशित होने की बात सुनकर शिशु वज्र को जातिस्मर ज्ञान हो गया । उनके प्रति माता की ममता न बढ़े और उसके परिणाम स्वरूप उन्हे समय पर दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय – यह विचार कर बालक वज्र ने रुदन ठाना । वज्र का रुदन तभी बन्द हुआ जब कि उसकी माता सुनन्दा ने उसे सदा-सर्वदा के लिये श्रमण-संघ को अर्पित करते हुए आर्य धनगिरी की झोली मे रखा । अपने शिष्य धनगिरि को तुम्बवन मे मधुकरी के समय प्राप्त हुए शिशु वज्र को आर्य सिहगिरी ने समुचित समय तक पालनार्थ शय्यातरी श्राविका को सम्हला दिया ।

जातिस्मर-ज्ञान-सम्पन्न बालक वज्र ने शय्यातरी के साथ दिन के समय निरन्तर ज्ञानस्थविरा श्रमणियो के मुख से सुन-सुनकर बाल्यकाल मे ही सम्पूर्ण एकादशांगी को कण्ठस्थ कर लिया ।

इस प्रकार आर्य वज्र द्वारा श्रमणियो के मुखारविन्द से सुन-सुनकर एकादशांगी के कण्ठस्थ किये जाने का उल्लेख इस बात का प्रबल प्रमाण है कि बीच-

है" – इस लोकोक्ति के अनुरूप उसने मन मे सहसा अपनी अपार सम्पदा के साथ आर्य वज्र से सौदा करने का निश्चय किया। वह सौ करोड (एक अरब) मुद्राए और वस्त्राभूषणादि से अलकृता अपनी पुत्री को साथ ले वज्र स्वामी के पास पहुचा।[1] धन श्रेष्ठि ने अभिवादनपूर्वक वज्र स्वामी से निवेदन किया – "नाथ! मेरी यह पुत्री अपने प्राणनाथ के रूप मे आपका वरण कर चुकी है। अत आप कृपा कर मेरी इस अनुपम रूप-लावण्य-यौवन सपन्ना पुत्री को ग्रहण कीजिये। इसके साथ ये एक अरब मुद्राए भी ग्रहण कीजिये। जीवन पर्यन्त आप स्वेच्छा पूर्वक सभी प्रकार के सासारिक सुखोपभोगो का आनन्द ले, तो भी यह धनराशि समाप्त नही होगी।" यह कह कर श्रेष्ठि धन महर्षि वज्र के चरण कमलो पर अपना मस्तक रख अभीष्ट उत्तर की आशा लिये उनके मुखकमल की ओर उत्कण्ठा पूर्वक देखने लगा।

आर्य वज्र ने सहज शान्त स्वर मे कहा – "श्रेष्ठिन्! तुम अत्यधिक सरल और बडे भोले हो, जो स्वय ससार के बधनो मे बधे रहने के कारण, भव-प्रपच से बहुत दूर जो लोग है, उन्हे भी बाधना चाहते हो। जिस प्रकार कोई मुधामुग्ध व्यक्ति धूलि के ढेर के बदले मे रत्नो की राशि, तृण के बदले मे कल्पवृक्ष, कौए के बदले मे हस, भील की झौपडी के बदले मे देवविमान और क्षारयुक्त जल के बदले मे अमृत के क्रय करने का मूर्खतापूर्ण व्यर्थ प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार तुम भी अपने इस तुच्छ कुधन द्वारा मुझे गरलोपम विषयभोगो का रसास्वादन कराने के बदले मे परमात्मपद-प्रदायी मेरा तप-सयम मुझ से छीनना चाहते हो। क्षणिक विषय-सुख घोर दुखानुबन्धी और अनन्तकाल तक विकट भवाटवी मे भटकाने वाले है। शाश्वत शिवसुख की तुलना मे ससार का समस्त धन बालुकरण तुल्य है। यदि तुम्हारी यह पुत्री अन्तर्मन से वस्तुत अनुरक्त हो मेरे शरीर की छाया के समान मेरा अनुसरण करना चाहती है तो सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप मेरे द्वारा ग्रहण किये हुए महाव्रतो को अगीकार कर शाश्वत सुखप्रदायी श्रेयस्कर साधनापथ पर अग्रसर हो आत्मकल्याण मे निरत हो जाय।"

जिस प्रकार गले से नीचे उतरते ही अमृतकण घातक से घातक विष के प्रभाव को नष्ट कर देता है, ठीक उसी प्रकार शाश्वत सुख और सुखाभास का वास्तविक बोध कराने वाले आर्य वज्र के हितकर वचनो को सुनते ही कुमारी रुक्मिणी के मन, मस्तिष्क और नेत्रो पर छाया हुआ मोह का नशा तत्क्षण उतर गया। उसने अनुभव किया कि उसके अन्तर मे प्रकाश की एक किरण प्रकट हुई है, जो शनै शनै तेज होती हुई उसके हृदय मे व्याप्त निबिडतम अन्धकार को उजाले के रूप मे परिवर्तित कर रही है। उसे लगा, जैसे उसकी आखो पर पडा आवरण दूर हो गया है और उसके परिणामस्वरूप उसे समस्त दृश्यमान जगत् बदला हुआ सा, परिवर्तित स्वरूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है। उसे समस्त एहिक सुख-विषय-कषाय आदि विष तुल्य हेय प्रतीत होने लगे। कुछ ही क्षणो पहले

[1] प्रभावक चरित्र, श्लोक सख्या १३९

अखण्ड ब्रह्मचर्य के अत्यद्भुत तेज से देदीप्यमान आर्य वज्र के सौम्य, शान्त एवं नयनाभिराम मुखमण्डल को निर्निमेश नयनो से निहारता हुआ जन-समुद्र आप्यायित हो उठा। गणाचार्य आर्य वज्र के घनरव-गम्भीर निर्घोष से प्रवाहित सुधा-सुरसरी तुल्य श्रुतसरिता में निमज्जन-उन्मज्जन करते हुए उपस्थित आबालवृद्ध ने एक अलौकिक तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति की।

कुमारी रुक्मिणी की मोहविमुग्ध दृष्टि ने आर्य वज्र को एक और ही रूप में देखा। मोह के प्राबल्य से वह सम्मोहित हो गई। उसने क्षण भर में ही अपने एहिक सुख के एक नवीन रंगीन-ससार की कल्पना कर ली। योग-मार्ग के महान् पथिक आर्य वज्र रुक्मिणी को अपने भोग-मार्ग के आराध्य देव प्रतीत हुए। उसने मन ही मन आर्य वज्र का अपने पति के रूप में वरण करते हुए दृढ प्रतिज्ञा कर डाली कि वह आर्य वज्र को छोड अन्य किसी के साथ प्रणय-सूत्र में नही बधेगी। मोह ने उसके मन, मस्तिष्क और रोम-रोम पर अधिकार कर लिया था अतः वह यह सोच ही नही सकी कि अपनी इस प्रतिज्ञा द्वारा वह अमृत के देवता को गरल-पान का निमन्त्रण देना, अनन्त आकाश को मुट्ठी मे बन्द करना और समुद्र की अथाह जलराशि को अपनी अंजलि में समा देना चाहती है। मोह का आवरण पड़ने पर मन, मस्तिष्क और दृष्टि की गति बडी विचित्र हो जाती है। रुक्मिणी उस समय भला इस प्रकार कैसे सोचती, जब कि उसके तन मन पर मोह छाया हुआ था।

आर्य वज्र के दर्शन एवं उपदेश-श्रवण के पश्चात् भावविभोर जनसमूह मुनि-चरणों मे मस्तक झुका शनैः-शनैः पाटलीपुत्र की ओर उसी प्रकार लौट गया, मानो ज्वारभाटे की समाप्ति के अनन्तर पूर्णिमा के चन्द्र की किरणों से आप्यायित-तृप्त सागर पुन. अपनी सीमा मे सिमट गया हो।

कुमारी रुक्मिणी भी गहन विचारों मे डूबती-उतराती, कल्पना के अनेक मनोहारी रंगीन चित्र चित्रित करती हुई, भारी मन लिये अपने घर लौटी। उसके हृदय में प्रबल वेग से उद्भूत हुई आर्य वज्र की चरणचञ्चरी बनने की तीव्र उत्कण्ठा ने एक एक क्षण का विलम्ब भी उसके लिये एक एक युग के समान भारी बना डाला था। अन्तर की ज्वालाओ के शमन का और कोई उपाय न पा, लाचार हो उसने लोकलाज को एक ओर रख स्वयं अपने पिता के पास जाकर अपना यह दृढ संकल्प रखा – "मै आर्य वज्र को प्राणपण से अपना आराध्यदेव चुन चुकी हूँ। यदि उनके साथ मेरा प्रणयसूत्र में गठबन्धन सभव नही हुआ तो मै अग्नि मे प्रवेश कर आत्मदाह कर लूगी।[1]

श्रेष्ठि धन अपनी इकलौती पुत्री की कठोर प्रतिज्ञा सुनते ही क्षण भर के लिये अवाक् रह गया। "वणिक् सभी वस्तुएं अपनी तराजू और बाटो से तोलता

[1] बभाषे जनक स्वीय, सत्य मद्भाषित शृणु।
श्रीमद्वज्राय मा यच्छ, शरण मेऽन्यथानल ॥ १३८ ॥
[प्रभावक चरित्र, पृ० ६]

एक दिन अवन्तीवर्द्धन ने राजप्रासाद के उद्यान मे क्रीडा करती हुई धारिणी को देखा। वह उस पर आसक्त हो गया। अपनी विश्वस्ता दासी के माध्यम से उसने अपने भाई की पत्नी के पास अपना निन्द्य प्रस्ताव पहुचाया। धारिणी ने भर्त्सना भरे शब्दो मे अपने ज्येष्ठ के कामुकतापूर्ण कुत्सित प्रस्ताव को ठुकराते हुए दासी के माध्यम से उसे कहलवाया कि उनके अनुज के अतिरिक्त ससार के समस्त पुरुषवर्ग को वह पिता, भाई एव पुत्र तुल्य समझती है।

अवन्तीवर्द्धन पर धारिणी की फटकार का कोई प्रभाव नही पडा। वह धारिणी को पाने के लिये, जल से स्थल पर पटकी हुई मछली के समान छटपटाने लगा। धारिणी को पाने का और कोई उपाय न देख उस कामान्ध अवन्तीवर्द्धन ने अपने सहोदर राष्ट्रवर्धन की बडे रहस्यपूर्ण ढंग से हत्या करवा दी। गुर्विणी (गर्भिणी) धारिणी को काल की उस कराल करवट ने कुछ समय के लिये किंकर्त्तव्यविमूढ बना दिया। उसे अपने चारों ओर घोर अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होने लगा। अपने सतीत्व पर आने वाले संकट की कल्पना मात्र से वह सिहर उठी। उसका पुत्र अवन्तीसेन उस समय एक अबोध बालक था। उसे कही कोई सहारा दृष्टिगोचर नही हो रहा था। उसे समस्त सासारिक कार्यकलाप विडम्बना-पूर्ण प्रतीत होने लगे। उस अति विकट सकटापन्न स्थिति मे भी, जबकि उसके चारो ओर घोर निराशा के बादल मडरा रहे थे, धारिणी ने धैर्य नही त्यागा। उसने अपने सतीत्व की रक्षा का दृढ सकल्प किया। अपने और अपने पति के कतिपय वहुमूल्य आभूषणो को एक गठरी मे लपेट कर राजप्रासाद का सदा के लिये परित्याग करने हेतु वह उद्यत हुई। प्रगाढ निद्रा मे सोये हुए अपने पुत्र अवन्तीसेन की ओर ममता भरी दृष्टि का निक्षेप कर उसने एक बार ऊपर अनन्त आकाश की ओर एक क्षण के लिये देखा और वह प्रच्छन्न वेष मे राजप्रासाद से वाहर निकली। जिस ओर डग पडे उसी ओर बढती हुई धारिणी नगर के बाहर पहुँची। उसे स्वय को भी पता नही था कि अन्ततोगत्वा उसे कहा पहुचना है, वह दिग्विमूढ की तरह निरन्तर आगे की ओर बढती रही। उसने मुड कर देखा-अवन्ती, अवन्ती के गगनचुम्बी राजप्रासाद, भव्य भवन, अट्टालिकाए–सब क्षितिज के उस छोर मे छुप गये है। उसने सतोष की एक दीर्घ सास ली और वह पुन अपने लक्ष्य-विहीन पथ पर अग्रसर हुई। विकट वन्य प्रदेशो को पार करती हुई धारिणी रात भर चलती रही। सूर्योदय हो चुका था, वह थक कर चूर हो चुकी थी तथापि वह अदम्य साहस की पुतली सी वनी, बिना एक क्षण भी विश्राम किये आगे की ओर वढती रही। एक टेकरी की चढाई को पूरा करने के पश्चात् ढलान की ओर बढते हुए उसने देखा कि एक सार्थ रात्रि के विश्राम के अनन्तर अपना पडाव उठा कर आगे वढने को उद्यत हो रहा है। धारिणी के अन्तर्मन मे आशा और सतोष की एक लहर उठी। वह तीव्र गति से सार्थ की ओर बढ़ी और

उसका जो मन आर्य वज्र को प्राप्त कर सासारिक भोगोपभोगो के लिये आकुल-व्याकुल हो रहा था, अब वही मन आर्य वज्र को अपना योग-मार्ग का आराध्यदेव बनाकर कण्टकाकीर्ण साधनापथ पर तत्काल अग्रसर होने के लिये व्यग्र हो उठा ।

रुक्मिणी ने आर्य वज्र के समक्ष शिर झुका अजलिबद्ध हो प्रार्थना की – "मेरे आराध्य गुरुदेव ! आपने मेरे अन्तर के नेत्र उन्मीलित कर दिये है । मुझे आपने धर्ममार्ग पर प्रवृत्त कर नया जन्म दिया अत. आप मेरे धर्म-पिता है । अपनी धर्म-पुत्री के गुरुतर सब अपराधो को क्षमा कर अपने सघ की शरण मे लीजिये । मै प्रव्रजित होना चाहती हूँ ।"

इस प्रकार के अश्रुत-पूर्व अद्भुत् हृदय-परिवर्तन और अपूर्व त्याग के समाचार विद्युत्वेग से तत्क्षण समस्त पाटलीपुत्र मे फैल गये । जिसने सुना, उसी का शिर रुक्मिणी के प्रति श्रद्धा से सहसा झुक गया । रुक्मिणी ने आर्य वज्र की आज्ञानुवर्तिनी साध्वीमुख्या के पास श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर जीवनपर्यत विशुद्ध संयम का पालन कर भवाटवी मे भटकाने वाले कर्मभार को हल्का किया । आर्या रुक्मिणी का अनुपम त्यागपूर्ण जीवन साधक-साधिकाओ के लिये बडा प्रेरणादायक रहा है और भावी सहस्राब्दियो तक प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा ।

महासती धारिणी[1]

(वीर नि०सं० २४–६० के लगभग)

साध्वी धारिणी का जीवन चरित्र जैन इतिहास में वस्तुत: आदर्श नारी का प्रतीक माना जाकर सदा स्वर्णिम अक्षरो में लिखा जाता रहेगा । श्रमणी धर्म में दीक्षित होने से पूर्व अपने सतीत्व की रक्षा हेतु अतुल ऐश्वर्य और अपनी संतति तक का मोह त्याग कर तथा श्रमणी धर्म मे दीक्षित होने के पश्चात् दो राज्यों के युद्ध में संभावित भीषण नरसंहार को रोक कर महासती धरिणी ने ससार के समक्ष जो दो उच्चकोटि के आदर्श प्रस्तुत किये, उनसे आर्य सन्नारियां अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करती हुई सदा प्रेरणाए लेती रहेगी ।

धारिणी अवन्ती-राज्य के अधीश्वर महाराजा पालक के छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन की पत्नी (चण्डप्रद्योत की पौत्रवधु) थी । अवन्तीश पालक ने वीर नि० स० २० में अपने बडे पुत्र अवन्तीवर्द्धन को अवन्ती का राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद दे कर आर्य सुधर्मा के पास श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली ।[2] अवन्तीवर्धन अपने छोटे भाई युवराज राष्ट्रवर्द्धन के परामर्श से राज-काज का सचालन करने लगा । युवराज्ञी धारिणी ने एक पुत्र को जन्म दिया । शिशु का नाम अवन्तीसेन रखा गया । धारिणी अपने पति के साथ अवन्ती राज्य के ऐश्वर्य एव विविध एहिक सुखों का उपभोग करती हुई अपना समय व्यतीत कर रही थी ।

[1] महासती धारिणी का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ७७८ पर आर्या यक्षा से पूर्व दिया जाना चाहिए था पर असावधानी से यह भूल रह गई । — सम्पादक

[2] आवश्यक चूर्णि, भाग २, पृ० १८६

को अपना पुत्र घोषित कर उसका लालन-पालन एव शिक्षण-दीक्षण किया। उन्होने अपने (दत्तक) पुत्र का नाम मणिप्रभ रखा।

भाई की हत्या करवाने पर भी जब अवन्तीवर्द्धन को धारिणी नही मिली तो उसका सम्मोह दूर हुआ। अपने अति निकृष्ट दुष्कृत्य पर उसे आन्तरिक पश्चात्ताप हुआ। अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन के पुत्र अवन्तीसेन को राज्य-सिहासन पर आसीन कर अनुमानत. वीर नि० स० २४ मे अवन्तीवर्द्धन ने श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

कौशाम्बीपति अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् मणिप्रभ कौशाम्बी के राज-सिहासन पर बैठा। इस प्रकार राष्ट्रवर्धन और देवी धारिणी का बडा पुत्र अवन्तीसेन अवन्ती का और छोटा पुत्र मणिप्रभ कौशाम्वी का शासन करने लगा। कौशाम्बी और अवन्ती के राजवश मे चण्डप्रद्योत के समय से ही परस्पर शत्रुता चली आ रही थी। अवन्तीसेन ने भी किसी छोटे-बडे कारण को लेकर कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। दोनो ओर से युद्ध की पूरी तैयारिया हो चुकी थी, भीषण नरसहार प्रारम्भ होने ही वाला था, उस समय अहिसा की प्रतिमूर्ति साध्वी धारिणी ने मणिप्रभ और अवन्तीसेन के पास जाकर उन्हे बताया कि वे दोनो एक दूसरे के सहोदर है, मणिप्रभ छोटा और अवन्तीसेन बडा। वस्तुस्थिति का बोध होते ही दोनो भाई बडे प्रेम से मिलकर एक दूसरे को आनन्दाश्रुओ से सिचित करने लगे। साध्वी धारिणी द्वारा किये गये बीच-बचाव के फलस्वरूप भीषण नरमेध होते होते बच गया।

महत्तरा विजयवती और साध्वी विगतभया

(वीर नि० स० ४४ के लगभग)

आवश्यक चूर्णि मे महत्तरा विजयवती की शिष्या विगतभया का उल्लेख आता है।[1] जिस समय अवन्तीसेन ने कौशाम्बी पर आक्रमण किया, उससे थोडे समय पहले साध्वी विगतभया द्वारा कौशाम्बी मे अनशन किये जाने का विवरण आवश्यक चूर्णि मे किया गया है। चूर्णि मे यह भी बताया गया है कि साध्वी विगतभया द्वारा सलेषना पूर्वक अनशन किये जाने के अवसर पर कौशाम्बी के श्रावक-श्राविका सघ ने अनेक दिनो तक महोत्सव का आयोजन कर उनके प्रति अपूर्व सम्मान प्रकट किया। इस उल्लेख के अतिरिक्त चूर्णि मे महत्तरा का और उनकी शिष्या का और कोई परिचय नही दिया है। पालक ने वीर नि० स० २० मे दीक्षा ली, उसके लगभग ४ वर्ष पश्चात् अवन्तीवर्द्धन और धारिणी ने दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार वीर नि० स० २४–२५ मे धारिणी ने मणिप्रभ को जन्म दिया। जिस समय अवन्तीसेन ने मणिप्रभ के साथ युद्ध करने के लिये कौशाम्बी पर आक्रमण किया, उस समय मणिप्रभ की वय कम से कम २० वर्ष तो अवश्य होनी चाहिये। इस हिसाव से अवन्तीसेन द्वारा कौशाम्वी पर आक्रमण किये

[1] आवश्यक चूर्णि, भाग २, पृ० १९१

उसके साथ धारिणी ने आगे की ओर प्रस्थान किया। सार्थ मे सम्मिलित महिलाओं के साथ वह घुलमिल गई। कतिपय दिनो की यात्रा के पश्चात् सार्थ के साथ-साथ धारिणी कौशाम्बी नगर पहुँची।

कौशाम्बी के महाराजा की यानशाला में ठहरी हुई स्थविरा श्रमणियो के दर्शन और उपदेश-श्रवण से धारिणी को अद्भुत् शान्ति की अनुभूति हुई। सासारिक प्रपचों से दूर, केवल आध्यात्मिक चितन में लीन उन जैन साध्वियो का शान्त-दान्त जीवन धारिणी को बडा सुखकर लगा। राष्ट्रवर्द्धन की हत्या, कामान्ध अवन्तीवर्द्धन द्वारा संभावित संकट और पुत्रवियोग के कारण धारिणी का हृदय भीषण भट्टी की तरह जल रहा था। उसकी ज्वालाए उसके तन, मन, रोम-रोम को भस्मसात् किये जा रही थी। साध्वियो के सान्निध्य मे धारिणी को अनुभव होने लगा कि उसके अन्तर की आग शनै.-शनैः शीतल होती चली जा रही है, उसके तन-मन की जलन मिटती जा रही है। उसके अतर मे आशा की नयी किरण उदित हुई। उसके मन मे विश्वास जमने लगा कि इन श्रमणियो की सेवा में रह कर वह सदा सर्वदा के लिये भवताप को भी समाप्त करने मे सिद्धकाम हो सकती है। उसने श्रमणी-धर्म मे प्रव्रजित होने का दृढ़ निश्चय किया। उसने सोचा – "यदि सघाटक-मुख्या साध्वी को उसके गर्भिणी होने की बात विदित हो गई तो निश्चित रूप से वे उसे श्रमणी-धर्म की दीक्षा प्रदान नही करेगी।" अब उसका वैराग्य अपनी चरम सीमा पार कर चुका था, अब उसे दीक्षित होने में एक-एक क्षण का विलम्ब भी असह्य हो रहा था। अतः धारिणी ने इस रहस्य को प्रकट नही किया और श्रमणी-मुख्या के पास पच महाव्रत रूप श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। साध्वी धारिणी अपने बीते दिनों की याद भुला कर अहर्निश साध्वियो की सेवा, ज्ञानार्जन और आत्मचिन्तन में तल्लीन रहने लगी।

कुछ समय पश्चात् गर्भसूचक स्पष्ट चिन्हों को देख कर सघाटक-मुख्या स्थविरा ने धारिणी से वस्तुस्थिति के बारे मे पूछा। धारिणी ने अपना पूरा परिचय देते हुए अपने साथ घटी आद्योपान्त सारी घटना यथातथ्य रूप से गुरुणीजी को सुना दी।

केवलिकाल के, आर्य जम्बू के प्रकरण मे प्रद्योत राजवश का परिचय देते समय प्रस्तुत पुस्तक मे यह बताया जा चुका है कि गर्भकाल पूर्ण होने पर धारिणी ने पुत्र को जन्म दिया और रात्रि मे उसने नवजात शिशु को उसके पिता के आभूषणो के साथ कौशाम्बी नरेश के राजप्रासाद के प्रागण मे रख दिया। बालक ने रुदन किया। कौशाम्बी नरेश स्वयं अपने शयनकक्ष से नीचे उतर कर आया और प्रागण में रखे बालक और उसके पास पड़ी गठरी को उठा कर शयनकक्ष मे लौट गया। आड में खड़ी धारिणी ने जब देखा कि शिशु उपयुक्त स्थान पर पहुँच गया है तो वह उपाश्रय की ओर लौट गई। वह अपनी गुरूणीजी के निर्देशानुसार प्रायश्चित्त ले आत्मशुद्धि कर पुनः तप-सयम की साधना में तल्लीन हो गई। कौशाम्बी के महाराजा के कोई सतान नही थी अतः राजदम्पति ने उस बालक

कुछ उत्सुकता भरे भाव से चतुष्पथ पर दृष्टिपात किया। वह सहसा एक झटके के साथ उठ खडा हुआ। वह गवाक्ष मे झुक कर सास को जहा की तहा रोके बडी उत्सुकता के साथ चतुष्पथ की ओर देखने लगा। यह देखकर उसके आश्चर्य का पारावार न रहा कि कालोपम हस्तिराज चिघाडता हुआ एक श्वेताम्बरा कृषकाय-साध्वी की ओर बडे वेग से बढा जा रहा है। हस्तिवाहक द्वारा बिजली की कडक के समान अति कठोर स्वर मे पुनः पुन. दुहराई गई चेतावनी समस्त वातावरण को विभत्स बनाती हुई गगन मे गुजरित हो रही है पर वह साध्वी शान्त मुखमुद्रा धारण किये सहजगति से अपने गन्तव्य की ओर, जिस ओर से कि हाथी उस पर झपटा आ रहा है, उसी ओर निडर हो बढती जा रही है। उसकी ओर बढता हुआ हाथी जब उससे थोडी ही दूर पर रह गया तो साध्वी ने अपनी मुखवस्त्रिका हाथी की ओर डाली। हाथी सहसा रुका, मुखवस्त्रिका को सूड मे पकड इधर-उधर करते हुए देखा और उसे एक ओर डालकर पुनः द्रुतगति से साध्वी की ओर बढने का उपक्रम करने लगा। निरन्तर अति तीव्र स्वर मे चीख-चीख कर चेतावनी देने के कारण अब हस्तिवाहक के कण्ठ से फटे बास की फटकार के समान स्वर निकल रहे थे। हाथी पुनः चिघाड कर आगे बढा। सहजशान्त-निर्भय मुद्रा मे खडी साध्वी ने अपना रजोहरण हाथी की ओर गिराया।[1] वह बढ़ने से पुन· रुका। उसने रजोहरण की डडी को अपनी सूड मे पकड कर कुछ क्षणो तक चामर की तरह इधर-उधर हवा मे घुमाया-फेरा और फिर एक ओर फैक दिया। इसी प्रकार वह साध्वी एक-एक करके अपने पात्रादि अन्य धर्मोपकरणो को हाथी की ओर डालती रही और वह उन्हे थोड़ी-थोडी देर इधर-उधर करके देखता और अन्त मे एक ओर फैकता रहा। अब साध्वी के पास एक वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ भी बचा न रहा। हाथी पुन आगे बढा। एक वसन मे लिपटी दुबली-पतली साध्वी द्रुतगति से कभी हाथी के इस ओर तो कभी उस ओर होती हुई बडे धैर्य के साथ स्वय को बचाती रही। चतुष्पथ पर एकत्रित विशाल जनसमूह तपोपूता साध्वी के अद्‌भुत बुद्धिकौशल और अनुपम धैर्य एव साहस को देख कर स्तब्ध रह गया। उपस्थित जन-समूह के धैर्य का पात्र किनारे तक भर चुका था, सब्र का प्याला लबरेज हो चुका था। अब धैर्य प्रतिकार के रूप मे बह निकला। क्रुद्ध जन-समूह ने हस्तिवाहक को ललकारा। सहस्रो कण्ठो से क्रोध-आक्रोश भरा यह निर्घोष सहसा गूज उठा – "बन्द करो इस दुष्टता को। अब यदि हाथी ने एक डग भी आगे बढा दिया तो न तुम्हारी कुशल है, न हाथी की ही। क्रुद्ध भीड के कोलाहल से हाथी और महावत दोनो ही किकर्त्तव्यविमूढ हो चुके थे। हस्तिवाहक ने मुरुण्डराज की ओर दृष्टि घुमाई, उसे कुछ सकेत मिला। मुरुण्डराज का सकेत पाते ही हस्तिवाहक ने एक विचित्र ध्वनि करते हुए हाथी के स्कन्ध भाग पर अकुश का प्रहार किया। एक चिघाड के साथ हाथी मुडा और अपनी लम्बी पूछ, सूड और कानो को फटकारता हुआ हस्तिशाला की ओर भाग खडा हुआ।

---

[1] बृहत्कल्प भाष्य, भा ४, पृ ११२३

जाने की घटना का काल अनुमानत: वीर नि० सं० ४४–४५ के आसपास ठहरता है। इस आक्रमण से कुछ समय पूर्व साध्वी विगतभया द्वारा अनशन किये जाने का उल्लेख आवश्यक चूर्णि मे है। इससे यह सिद्ध होता है कि महत्तरा विजयवती वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में साध्वियो के किसी छोटे अथवा बड़े सघाटक की प्रमुखा थी।

अज्ञातनामा साध्वी मुरुण्ड-राजकुमारी

(वीर की पाचवी छठी शती)

जिस प्रकार भगवान् महावीर के श्रीचरणों मे कोटिवर्ष के—उस समय विदेशी समझे जाने वाले—चिलातराज के श्रमण-धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है,[1] उसी प्रकार निर्वाणोत्तर काल मे भी एक विदेशी महिला के श्रमणीधर्म मे दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।

विशेषावश्यक भाष्य एव निशीथ चूर्णि के उल्लेखानुसार मुरुण्डराज (विदेशी शक शासक) के समक्ष उसकी विधवा बहिन ने प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की। मुरुण्डराज ने अपनी बहिन को प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्रदान करने से पूर्व यह परीक्षा करना चाहा कि कौनसा धर्म सर्वश्रेष्ठ है, जिसमे दीक्षित होकर उसकी बहिन सच्चे अर्थो मे अपनी आत्मा का उद्धार कर सके। बहुत सोच-विचार के पश्चात् इस प्रकार की परीक्षा लेने का एक उपाय उसे सूझा। उसने अपनी हस्तिशाला के एक कुशल हस्तिवाहक (महावत) को आदेश दिया कि वह हस्तिशाला के सबसे विशालकाय हाथी पर आरूढ़ हो राजपथ पर राजप्रासाद के समीपस्थ चतुष्पथ पर खडा हो जाय। जब भी जिस किसी धर्म की कोई साध्वी उस पथ पर उसे दृष्टिगोचर हो तो उसकी ओर हाथी को तीव्र वेग से हांकते हुए बड़े कर्कश स्वर मे कठोर चेतावनी दे कि वह सब वस्त्रो को तत्काल डालकर निर्वसना हो जाय, अन्यथा मदोन्मत्त हाथी उसे अपने पावों से कुचल डालेगा।

मुरुण्डराज ने राजप्रासाद के गवाक्ष से देखा कि हस्तिवाहक उसके आदेश का अक्षरश: पालन कर रहा है और उस पथ पर आने-जाने वाली साध्वियां भीमकाय गजराज को अपनी ओर अतिवेग से बढते देख, घबडा कर, हस्तिवाहक की कडी चेतावनी के अनुसार अपने सभी वस्त्र एक ओर फेंक आशाम्बरा हो जाती है। यह देखकर मुरुण्डराज को बड़ी निराशा हुई। वह चिन्तित हो सोचने लगा कि उसकी स्नेहमयी सहोदरा कृतसंकल्पा है प्रव्रजित होने के लिये पर इन काषाय, पीत, गेरुक, श्वेत आदि विभिन्न रग के परिवेश को धारण करने वाली विभिन्न मतमतान्तरो की परिव्राजिकाओ मे एक भी ऐसी समर्थ साध्वी प्रतीत नही होती, जिसके पास प्रव्रजित हो वह अपना इहलोक और परलोक सुधार सके।

उपर्युक्त विचारो मे डूबे हुए मुरुण्डराज के कर्णरन्ध्रों में पुन· हाथी की चिघाड के साथ हस्तिवाहक का कर्कश स्वर गूज उठा। मुरुण्डराज ने कुछ उन्मने,

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४५०–४५१

वर्षो तक विद्याभ्यास करते हुए कुशाग्र बुद्धि रक्षित ने छहो अगों सहित वेदो का अध्ययन किया। सभी विद्याओ मे पारगत होने के पश्चात् वीर नि. सं. ५४४ मे जब रक्षित पाटलिपुत्र से दशपुर पहुँचा तो राजा और प्रजा ने भव्य समारोह के साथ नगर-प्रवेश करा उसे सम्मानित किया।

जिस समय हर्षोल्लास मे भरा रक्षित अपनी मा के पदवन्दन हेतु घर मे पहुँचा, उस समय रुद्रसोमा सामायिक ग्रहण किये आत्म चिन्तन मे तल्लीन थी। रक्षित अपनी मा के चरणो मे निढाल हो जाना चाहता था पर उसे सामायिक मे देख उसने दूर से ही उसके चरणो मे भावविभोर हो प्रणाम किया। उसे आशा थी कि उसकी मा उसे देखते ही हर्ष गद्गद् हो अपनी गोद मे समेट कर उसकी सहस्रो बलैया लेगी। जिस प्रकार दशपुरपति, दशपुर की प्रजा, पिता और पारिवारिक जनो ने उस पर स्मित एव हर्ष विभोर मुखमुद्रा तथा मधुर वचनो के माध्यम से अपार स्नेह और सम्मान का सागर उस पर उडेल दिया, उसी प्रकार मा भी उसे देखते ही अवश्यमेव उससे बढकर ससार के समस्त मातृवात्सल्य को उस पर उडेल कर उच्च अध्ययन मे किये गये अथक श्रम की थकान को दूर कर देगी। पर उसे यह सब कुछ मा की ओर से नही मिला। मा तो केवल एक बार स्नेहभरी दृष्टि डाल कर पुनः अपने नित्य-नियम मे तल्लीन हो गई। वह मा के सम्मुख विचारमग्न मुद्रा मे बैठ गया। उसके मन मे प्रश्न उठा – "क्या मा रुष्ट है ?" दूसरे ही क्षण अन्तर्मन ने उत्तर दिया – "नही। मा कभी रुष्ट नही होती। मा तो स्नेह और ममता की प्रतिमूर्ति है जिसके नेत्रो से, रोम-रोम से स्नेह की सरिताए निरन्तर बहती रहती है।"

रक्षित ने देखा कि उसकी मा ने सामायिक का पारण कर लिया है। वह आगे बढा और मा के चरणो से लिपटते हुए उन पर अपना मस्तक रख दिया। मा का स्नेहिल वरद हस्त रक्षित के मस्तक, भाल, कपोल, ग्रीवा और पृष्ठ भाग को सहलाता रहा और रक्षित मा के चरणो से अपना मस्तक चिपकाये चुपचाप लेटा रहा। कई क्षणो तक यही स्थिति रही। रक्षित ने मौन भग करते हुए रुधे कण्ठ-स्वर मे कहा – "मेरी माँ ! सफलतापूर्वक उच्च अध्ययन कर लौटे हुए तेरे लाडले लाल का आज दशपुराधीश और दशपुर की प्रजा ने अपनी आखो की पलके बिछा स्वागत-सम्मान किया। माँ ! अपने पुत्र की इस सफलता और अपूर्व सम्मान पर जिस प्रकार की प्रसन्नता तुम्हे होनी चाहिये, वह मै तुम्हारे मुख पर नही देख रहा हूँ। सच-सच कहो माँ ! यह कही मेरा दृष्टिदोष तो नही है ?"

रुद्रसोमा ने शान्त स्वर मे कहा – "वत्स ! भला ससार मे ऐसी कौन अभागिन माँ होगी जो अपने पुत्र की सफलता पर प्रसन्न न हो। तुम्हारी सफलता पर सब को प्रसन्नता है पर तुम जिस विद्या मे निष्णात होकर आये हो, उस विद्या का फल सासारिक सुखोपभोग प्रदान करने और अपना स्वय का तथा अपने परिजनो का भरण-पोषण करने तक ही सीमित है। स्व-पर-कल्याण

मुरुण्ड राज ने अपनी बहिन से कहा – "सहोदरे ! इस अगाध धैर्य-शालिनी सर्वसहा, समर्था साध्वी के पास तुम प्रव्रजित हो सकती हो। वस्तुतः इस साध्वी का धर्म श्रेष्ठ और सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म है।"[1]

अपने भाई की अनुमति प्राप्त होते ही मुरुण्ड-राजकुमारी ने उस तपोपूता, कृषकाया जैन-साध्वी के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए उनसे विधिवत् श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। सहस्रो शिर उस अतुल आत्मबलशालिनी तपोकृषा अज्ञातनामा साध्वी और उनकी सद्य दीक्षिता शिष्या मुरुण्ड कुमारी के चरणों में झुक गये। सहस्रो कण्ठों से उद्घोषित जयघोषो द्वारा सर्वसम्मानिता वे दोनों साध्विया – गुरुणी और शिष्या जन-जन के मन मे श्रद्धा का अजस्र स्रोत प्रस्फुटित करती हुई उपाश्रय मे पहुँची।

साहस, सहनशीलता, शान्ति एव साधना की प्रतिमूर्ति उन गुरुणीजी और उनकी शिष्या साध्वी मुरुण्डराज कुमारी का नाम लम्बे अतीत की अनेक परतों के नीचे छुपा होने के कारण आज भले ही पुस्तकों, पन्नो, पत्रो एव अभिलेखों मे अकित न हो पर उनके यत्किचित् इतिवृत्त को पढते ही उनका अति सौम्य–अति शान्त चित्र प्रत्येक श्रद्धालु साधक के हृदय मे अकित हो, उसे साधनापथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता रहता है।

साध्वी रुद्रसोमा

(वीर की छठी शती)

यदि किसी परिवार में धर्म के प्रति आन्तरिक एव अनन्य निष्ठा रखने वाला एक भी सदस्य हो तो वह सम्पूर्ण कुटुम्ब का सही अर्थ मे उद्धार कर देता है – तिरा देता है। साध्वी बनने से पूर्व का रुद्रसोमा का गार्हस्थ्य जीवन इस तथ्य का एक आदर्श प्रतीक माना जाता है।

रुद्रसोमा दशपुर के वेदवित् विद्वान् सोमदेव की पत्नी थी। सोमदेव दशपुर के महाराजा के राजपुरोहित थे। उनका राजपरिवार, राजसभा, समाज और समस्त प्रजावर्ग में बडा सम्मान था। रुद्रसोमा जैन धर्म में प्रगाढ निष्ठा रखने वाली श्रद्धालु श्राविका थी।

राजपुरोहित-पत्नी रुद्रसोमा ने वीर नि. स. ५२२ मे एक महान् भाग्यशाली पुत्र आर्य रक्षित को जन्म दिया। आगे चल कर आर्य रक्षित जैन धर्म का परमोद्योत करने वाले महान् प्रभावक युग-प्रधानाचार्य हुए। रुद्रसोमा के दूसरे पुत्र का नाम फल्गुरक्षित था।

राजपुरोहित सोमदेव ने शिक्षा योग्य वय में बालक रक्षित की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर सोमदेव ने अपने पुत्र रक्षित को उच्च शिक्षा दिलाने हेतु पाटलिपुत्र भेजा। पाटलिपुत्र मे अनेक

---

[1] "एस धम्मो सवन्नु दिट्ठो" – वृहत्कल्प भाष्य, भाग ४, पृ ११२३

रुद्रसोमा ने और रुद्रसोमा द्वारा निर्मित प्रेरणाप्रद भूमिका के फलस्वरूप राजपुरोहित सोमदेव तथा उनके परिवार के अनेक मुमुक्षुओ ने आचार्य रक्षित के पास पचमहाव्रत स्वरूप अरणगार-धर्म की दीक्षा ग्रहण की ।

आर्या रुद्रसोमा ने कठोर तपश्चरण करते हुए अनेक वर्षो तक विशुद्ध सयम की साधना की । आर्या रुद्रसोमा के दोनो ही जीवन, गार्हस्थ्य जीवन और साध्वी-जीवन, मानवमात्र के लिये बडे प्रेरणादायक है । वश-विस्तार और अपने वश की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने अर्थात् वश का नाम स्थायी रखने की लोकरूढ बात का स्व-पर-कल्याण की तुलना मे रुद्रसोमा के समक्ष कोई महत्व नही था । वह मानव-जीवन की सफलता, वश-विस्तार मे नही अपितु स्व-पर-कल्याण मे मानती थी । प्रारम्भिक जीवन से ही जैन धर्म मे प्रगाढ आस्था रखने वाली दृढ सम्यक्त्वधारिणी रुद्रसोमा की यह सुनिश्चित धारणा थी कि जो मानव अध्यात्म-विद्या का अध्ययन कर साधना-पथ पर स्वय अग्रसर होता हुआ और अन्य लोगो को साधनापथ पर अग्रसर करता हुआ जन-जीवन मे आध्यात्मिक चेतना के जागरण से जितना अधिक स्व तथा पर के कल्याण मे निरत रहता है, वस्तुत· वह उतना ही अधिक अपने मानव-जीवन को सफल बनाता है । कितने उच्चकोटि के विचार थे रुद्रसोमा के ? उसने अपने इन विचारो को अपने जीवन मे अक्षरश ढाला । उसके वश का नाम आगे चलेगा अथवा नही, इस बात की किंचित्मात्र भी चिन्ता न करते हुए उसने अपने दोनो पुत्रो मे उच्चकोटि के सस्कार डाल कर उन्हे आध्यात्मिक साधनापथ के पथिक और पथप्रदर्शक बनने तथा अपना एव औरो का कल्याण करने की प्रेरणा दी । रुद्रसोमा की प्रेरणा का ही प्रतिफल था कि बालक रक्षित आगे चलकर युगप्रधानाचार्य आर्य रक्षित बना । आर्य रक्षित ने जन-जन के मन मे आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न कर स्व-पर का कल्याण एव जिनशासन की सेवा करने मे जो उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, उसका मूलत श्रेय रुद्रसोमा को ही है ।

यद्यपि सोमदेव और रुद्रसोमा की सतति, वश-परम्परा आर्य रक्षित एव फल्गुरक्षित के दीक्षित हो जाने के कारण आगे नही चली किन्तु जैन इतिहास मे अनुयोगो के पृथक्कर्त्ता के रूप मे आर्य रक्षित के नाम के साथ-साथ पुरोहित सोमदेव और मुख्यत रुद्रसोमा का नाम अमर हो गया । रुद्रसोमा के समय से लेकर आज तक एक तरह से असख्य महिलाए हुई है, जिनकी सतति–वशपरम्परा चली । उनमे से आज का मानव-समाज किसी का नाम नही जानता परन्तु लगभग दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी आज तक श्रद्धालुओ एव साधको द्वारा बडी श्रद्धा के साथ रुद्रसोमा का नाम स्मरण किया जाता रहा है और भविष्य मे भी सहस्रो शताब्दियो तक भक्ति के साथ स्मरण किया जाता रहेगा । प्रात स्मरणीया रुद्रसोमा के उद्दात्त एव अनुकरणीय जीवन से आज का मानवसमाज, मुख्यत महिला-समाज यदि थोडी बहुत भी प्रेरणा ले तो भौतिकता की प्रचण्ड भट्टी मे जलते हुए आज के मानवसमाज को राहत देने वाली, शान्ति पहुँचाने वाली

अथवा आध्यात्मिक अभ्युत्थान मे वह विद्या किंचितमात्र भी सहायक नही । पुत्र ! सच कहती हूँ, मुझे वास्तविक खुशी तो तब होती जबकि तुम अध्यात्म-विद्या से ओत-प्रोत दृष्टिवाद का अध्ययन कर आते । अपनी और अपने आश्रितो की उदरपूर्ति तो पशुपक्षि तक भी कर लेते है। मेरे जीवन की एकमात्र यही साध थी, आन्तरिक अभिलाषा थी कि मेरा पुत्र दृष्टिवाद का अध्ययन कर अध्यात्मविद्या में निष्णात हो अध्यात्म-मार्ग का सफल पथिक और कुशल पथ-प्रदर्शक बने।"

माँ के हृदय के गहन तल से प्रकट हुए अमोघ उद्गार पुत्र के हृदयपटल पर सदा-सदा के लिये अकित हो गये। उसने दृढ स्वर मे कहा – "माँ ! मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मेरी अच्छी माँ ! तुमने मेरी अतर की आखे खोल दी है। मै दृष्टिवाद का अध्ययन करके ही तुम्हारी सेवा मे पुन· लौटूगा । पर माँ ! यह तो बताओ कि मुझे दृष्टिवाद की शिक्षा कहा मिलेगी ?"

"नगर के बाहर अपनी इक्षुवाटिका मे आचार्य तोषलिपुत्र विराजमान है, उनकी सेवा में चले जाओ। सब व्यवस्था हो जायगी।" माँ ने कहा।

दिवस का अवसान होने ही वाला था अत· वह रात्रि तो रक्षित ने मन मसोस कर जिस किसी तरह घर पर बिताई। प्रातःकाल होते ही रक्षित मा की चरणरज भाल पर लगा दृष्टिवाद के अध्ययन की उमग लिये अपनी इक्षुवाटिका में विराजमान आचार्य तोषलिपुत्र की सेवा में पहुँचा।

"निर्ग्रन्थ श्रामण्य की दीक्षा ग्रहण करने पर ही दृष्टिवाद का अध्ययन कराया जा सकता है, अन्यथा नही" – आचार्य तोषलिपुत्र से अपनी प्रार्थना का यह उत्तर सुनकर रक्षित ने तत्काल बिना किसी हिचक के आर्य तोषलिपुत्र के पास श्रमण-दीक्षा अगीकार कर ली।

आर्य रक्षित ने आचार्य तोषलिपुत्र के पास एकादशागी का गहन अध्ययन करने के पश्चात् किस प्रकार आर्य वज्र की सेवा मे पहुँच कर सार्द्ध नव पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया, किस प्रकार माता-पिता द्वारा स्वय (आर्य रक्षित) को लिवा ले जाने के लिये आये हुए अपने अनुज फल्गुरक्षित को श्रमण धर्म मे प्रव्रजित किया, यह सब आर्य रक्षित के प्रकरण मे बताया जा चुका है। आर्य रक्षित साढे नव पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर पुनः अपने गुरु आचार्य तोषलिपुत्र की सेवा मे पहुँचे। गुरू ने सार्द्ध नव पूर्व के ज्ञान से सम्पन्न अपने शिष्य को सर्वथा योग्य समझ कर उन्हे गणाचार्य पद प्रदान किया और तदनन्तर वे समाधि सलेषना पूर्वक स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य पद पर अधिष्ठित होने के पश्चात् आर्य रक्षित पूर्व मे फल्गुरक्षित के माध्यम से किये गये माता रुद्र सोमा के अनुरोध और अनेक दीक्षार्थियों के हित को दृष्टिगत रखते हुए दशपुर पहुँचे।

आचार्य वज्रसेन ने ईश्वरी से कहा – "श्राविके ! भोजन मे विष मिलाने की कोई आवश्यकता नही । कल यहा प्रचुर मात्रा मे अन्न उपलब्ध हो जायगा ।"

मुनिवचनो की अमोघता मे अनन्य आस्थावती ईश्वरी ने विष की पुडिया समेट कर उसे विनष्ट करने हेतु एक ओर रख दिया । ईश्वरी द्वारा अति करुण स्वर मे बार-बार हार्दिक अनुरोध किये जाने पर आर्य वज्रसेन ने दो कवल भोजन उस विशुद्ध आहार मे से ग्रहण किया ।

भविष्यदर्शी सत्यवक्ता मुनियो के वचन कभी मोघ नहीं होते । उसी रात्रि मे अन्न से लदे जहाज सोपारकपुर के बन्दर पर पहुँचे । सूर्योदय होते ही नागरिको को यथेप्सित मात्रा मे अन्न उपलब्ध होने लगा । प्राणहारी भीषण सकट के टलते ही सबने सुख की सास ली । सबका कार्यकलाप पूर्ववत् चलने लगा । जैसे उन पर कभी कोई सकट आया ही न हो ।

सूर्य की प्रचण्ड किरणो के संसर्ग से मरुभूमि की बालुराशि मे उत्पन्न हुई दिगन्त व्यापिनी चमक मे जलाशय की भ्रान्त कल्पना कर प्यासा मृग जिस तरह जल के लिये अनवरत दौड लगाता रहता है, ठीक उसी प्रकार लोगों मे सर्वत्र सुखाभास की ओर ताबड़तोड दौड मे होड लग रही थी ।

श्रेष्ठि जिनदत्त के घर पर भी अन्न पहुंचा । सबने भूख की ज्वाला को शान्त किया । श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने बीते प्राणापहारी सकट की विभीषिका पर विचार करते हुए अपने पति और चारो पुत्रो को सम्बोधित कर कहा – "यदि महामुनि वज्रसेन कुछ ही क्षण विलम्ब से आते तो हम सब लोग असयतावस्था मे, अव्रतावस्था मे ही अकालमृत्यु द्वारा ग्रस्त हो अधोगति के भागी बनते । जीवन और मृत्यु के सन्धिकाल के अन्तिम क्षण मे मुक्ति के देवता के रूप में मुनि उपस्थित हुए और उन्होने हम सबको कराल काल के गाल मे जाने से बचा लिया । मुनिराज ने ही हमे जीवन-दान दिया है । विषय-कषाय के प्रचण्ड झोको से निरन्तर जाज्वल्यमान् इस जन्म, जरा, मृत्यु रूपी दु:खदावानल मे बारम्बार जलने के स्थान पर तो हम सबके लिये यह परम श्रेयस्कर होगा कि हम लोग आचार्य वज्रसेन के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर तप और सयम की अग्नि मे अपने कर्मेन्धन को जला सदा के लिये इस दारुण दु ख-दावानल से बचने का प्रयास करे ।"

ईश्वरी के इस अति सुखद सुन्दर सुझाव की सराहना करते हुए जिनदत्त आदि सभी ने ससार से विरक्त हो प्रव्रजित होने का दृढ निश्चय कर लिया ।

ईभ्य जिनदत्त, ईभ्यपत्नी ईश्वरी तथा उनके नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति एव विद्याधर–इन चारो पुत्रो ने अपार वैभव और समस्त सासारिक भोगो को ठुकरा कर आचार्य वज्रसेन के पास सर्वविरति स्वरूप अणगार-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली । ईश्वरी ने उस सकटकाल से शिक्षा ग्रहण की और उसके चिन्तन की सही दिशा ने उस भीषण सकट के अभिशाप को भी स्वय के लिये तथा अपने परिवार के लिये वरदान के रूप मे बदल दिया । किसी शायर की –

महान् आत्माएं समय-समय पर समाज मे उभर कर मानवता को सच्चे सुख की ओर अग्रसर कर सकती है ।

साध्वी ईश्वरी

(वीर की छठी शती का अतिम दशक)

ससार वस्तुतः दुःखों का अथाह सागर है, जिसका कोई ओर है न छोर । एक भी ऐसा मानव नही; जिसे जीवन में दुःखो ने नही घेरा हो, सकटों ने नही सताया हो । गर्भ-काल से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक मानव छोटे-बड़े किसी न किसी प्रकार के दु खों से घिरा ही रहता है । दारुण दु ख की घडियां बीत जाने पर मानव दु ख के दिनो को भूल कर पुनः मृगमरीचिका तुल्य सुख की खोज में दौड़ लगाता है, पुन. दुःख आ घेरते है, कुछ समय पश्चात् फिर उन्हें भूल जाता है । प्रत्येक मानव के जीवन में यही क्रम प्राय. मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है । लाखो में से विरला ही कोई मानव ऐसा होता है, जो अपने ऊपर आये हुए दुःख से शिक्षा ग्रहण कर सदा-सर्वदा के लिये दु ख से छुटकारा पाने का सही और सच्चा प्रयास करता है ।

साधिका ईश्वरी की गणना उन विरलों की श्रेणी मे शीर्ष स्थान पर की जा सकती है ।

भीषण दुष्कालजन्य अन्नाभाव की बीभत्स सकटापन्न स्थिति में भूख से तडप-तडप कर मरने के स्थान पर सोपारक नगर के ईभ्य (अतुल सम्पदाशाली) जिनदत्त और उसकी पत्नी ईश्वरी ने अपने चार पुत्रो और पूरे परिवार सहित विषमिश्रित भोजन कर स्वेच्छा-मृत्यु का वरण करने का निश्चय किया । एक लाख मुद्राए व्यय करने पर भो जिनदत्त अपने परिवार के अन्तिम (विषमिश्रित) भोजन के लिये बडी कठिनाई से केवल दो अजलिभर अन्न जुटा पाये । ईभ्य-पत्नी ईश्वरी ने उस अन्न को पीसकर अपने परिवार के लिये भोजन बनाया । उस भोजन में विष मिलाने के लिये ज्योंही ईश्वरी ने सद्य प्राणहारी कालकूट की पुडिया खोली, त्योही युगप्रधानाचार्य वज्रसेन ने वहा पदार्पण किया । आसन्न-मृत्यु के विकट क्षणों मे मुनिदर्शन को अपना परम पुण्योदय मान ईश्वरी ने हर्ष-गद्‌गद् हो मुनि को भक्ति सहित भावपूर्ण त्रिधा वन्दन किया ।

श्रेष्ठिपत्नी के हाथ में कालकूट विष देख आर्य वज्रसेन ने कारण पूछा । श्रेष्ठिपत्नी के मुख से वास्तविक स्थिति से अवगत होते ही आचार्य वज्रसेन को अपने गुरु द्वारा की गई उस भविष्यवाणी का स्मरण हो आया, जिसमें आर्य वज्रसेन को बताया गया था कि जिस दिन तुम लक्षपाक अर्थात् १ लाख मुद्राओं के मूल्य के भोजन मे गृहस्वामिनी को विष मिलाते हुए देखो उसी क्षण समझ लेना कि दूसरे दिन दुष्कालजन्य अन्नाभाव की दुःखावह स्थिति सुनिश्चित रूप से समाप्त हो जायगी ।

"शमा महफिल देख ले, यह घर का घर परवाना है ।" यह उक्ति ईश्वरी के परिवार पर अक्षरश. घटित होती है । घर का घर प्रव्रजित हो जीवन भर अध्यात्म-ज्योति का परमोपासक बना रहा ।

आज जो चन्द्र गच्छ, नागेन्द्र कुल, निर्वृत्ति कुल और विद्याधर कुल ये चार गच्छ अथवा कुल श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध है, वे उन महामहिमामयी साधिका ईश्वरी के महान् प्रभावक पुत्रों के नाम पर ही प्रचलित हुए थे ।

साध्वी ईश्वरी का जीवन वस्तुत. साधक एवं साधिकाओं के लिये बड़ा ही-प्रेरणाप्रदायी है । वह मानव मात्र को निरन्तर यही प्रेरणा देता रहता है कि – ओ मानव ! दुःख की थपेड़ खा कर सम्हल जा, उसी क्षण से ऐसे प्रयास में जुट जा, जिससे तुझे फिर कभी दुःख का दिन देखना ही न पड़े ।

महती प्रभाविका साध्वी ईश्वरी के पश्चात् देवर्द्धि-क्षमाश्रमण के काल तक साध्वियो का परिचय उपलब्ध न होने के कारण यहा नही दिया जा रहा है ।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ मे वीर नि. सं १ से लेकर १००० तक का जैन धर्म का इतिहास दिया गया है जिसमें १००० वर्ष की अवधि में हुए आचार्यो, प्रमुख साधु-साध्वियो, महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं, राजवंशो, राज्य परिवर्तनों आदि का यथाशक्य प्रामाणिक विवरण देने का प्रयास किया गया है । वीर नि. स. १००० के पश्चाद्वर्ती काल का इतिहास आगे के भागों में दिया जायगा ।

ॐ शान्तिः शान्ति· शान्तिः

परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रमणिका
२. सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची
३. अर्थ सहायकों की सूची
४. 'प्रथम भाग' पर प्राप्त विद्वानों की सम्मतियाँ
५. शुद्धिपत्र

१. शब्दानुक्रमणिका

(क) तीर्थंकर, आचार्य मुनि, राजा, श्रावकादि

१. शब्दानुक्रमणिका

(क) तीर्थंकर, आचार्य मुनि, राजा, श्रावकादि

(च)

(छ)

(ज)

(ट)

(ड)

(म)

(ल)

(व)

(श)

(क)

(ख)

(ग)

(ख) ग्राम, नगर, प्रान्त, स्थानादि

(आ)

(इ)

(उ)

(ग) सूत्र, ग्रन्थादि

(ध)

(न)

(प)

(म)

(य)

(ब)

(भ)

(ह)

(घ) मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

(अ)

(आ)

(इ)

(ई)

(उ)

(त)

(द)

(ध)

(न)

(प)

कर्मग्रन्थ भा० १ देवेन्द्र सूरि, कन्हैयालाल लालचन्द भटेवरा रतलाम, वि० स० २०३०

कल्पचूर्णि

कल्प सूत्र – देवेन्द्र मुनि द्वारा सम्पादित अनूदित,

कल्प सूत्र – पुण्य विजयजी द्वारा सम्पादित (गुजराती)

कल्पान्तर्वाच्यानि (हस्तलिखित) अलवर भण्डार के सौजन्य से प्राप्त

कलिग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल के शिलालेख का विवरण, श्री के० पी० जायसवाल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से-इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, सन् १६२८

कसाय पाहुड चूर्णि सहित, भारतीय दि० जैन सघ, चौरासी, मथुरा

कहावली–भद्रेश्वरसूरि (हस्तलिखित), प० दलसुख भाई मालवणिया, सचालक, लाल भाई दलपत भाई, भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद के सौजन्य से

कहौम का स्तम्भलेख

कारपस इन्स्क्रिप्शन इन्डिकेरम्, भाग ३

कालकाचार्य कथा, प्रकाशक–श्री साराभाई नवाब, अहमदाबाद

काव्य मीमासा–राजशेखर

काष्ठा सघस्य गुर्वावली, हस्तलिखित, प० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य डुमराव कोलोनी, वाराणसी से प्राप्त

कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह, सम्पादक– प० कैलाशचन्द्र, प्रकाशक–जैन सस्कृति सरक्षक सघ शोलापुर, १६६०

कुवलय माला–उद्योतन सूरि (दाक्षिण्य चिन्ह) सिघी सिरीज

केवलि भुक्ति प्रकरणम्–शाकटायन, जैन साहित्य सशोधक, ख० २ अक ४

Cambridge History of India

गच्छाचार पइण्णा, दान विजय गणी, प्र० दयाल विमलजी ग्रन्थमाला, अहमदावाद

गणधरवाद, स० मुनि रत्नप्रभ विजयजी

गर्ग सहिता

गाथा सप्तशती–हालरचित (काव्य माला २१ मे) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १६३३

गार्गी सहिता युग पुराण प्रकरण

गुर्वावली – सुन्दरसूरिकृत

गौतम चरित्र, भट्टारक धर्मचन्द्रकृत, प० हीरालालजी शास्त्री, ब्यावर नशिया से प्राप्त

चउवन्न महापुरिसचरिय, शीलाकाचार्य, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी ५

चन्द्र का मेहरौली का लोह स्तम्भ लेख

चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, राधा कुमुद मुकर्जी, राजकमल प्रकाशन

चुल्लवग्ग

छान्दोग्योपनिषद् (शाकर भाष्य सहित), प्र० गीताप्रेस गोरखपुर

ज्योतिर्विदाभरण

ज्योतिष्करण्डक टीका

जम्बू चरिय, गुणपाल, स०आ० जिनविजयजी, प्र० सिघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई ७

जम्बू स्वामि चरित्र, रत्नप्रभ सूरि

जम्बू स्वामि चरितम्, प० राजमल्ल रचित

जम्बू सामि चरिउ, वीर रचित, स० डॉ० विमलप्रसाद जैन

जरनल ऑफ दी बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी, दिसम्बर १६१६, वोल्यूम ५, भाग ४

२. संदर्भ ग्रन्थों एवं शिलालेखादि की सूची

अग पण्णत्ती, शुभचन्द्र (विजय कीर्ति शिष्य) रचित, प्रकाशक–माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ माला, बम्बई

अनुयोगद्वार–वृत्तिकार हेमचन्द्रसूरि, प्रकाशक राय धनपतसिह बहादुर

अभिधान चिन्तामणि, आचार्य हेमचन्द्रकृत टीका विजयधर्म सूरि वीर स० २४४१

अभिधान राजेन्द्र, भाग १–७, विजय राजेन्द्र सूरि रचित, प्रकाशक–श्री जैन श्वेताम्बर समस्त सघ, जैन प्रभाकर प्रिन्टिग प्रेस, रतलाम सन् १९१३

अमोघवृत्ति–शाकटायन व्याकरण पर यापनीय आचार्य द्वारा रचित स्वोपज्ञवृत्ति

अशोकावदान

आगम अष्टोत्तरी, कस्तूरचन्द जबरचन्द गादिया, बम्बई

आचारकल्प

आचाराग, अनुवाद आ० आत्मारामजी म, प्रकाशक आ० श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना

आचाराग (निर्युक्ति सहित) वृत्तिकार शीलाकाचार्य, प्रकाशक–राय धनपतसिह

आप्त मीमासा, समन्तभद्ररचित

आर्य मगू कथा

आराधना कथा कोश

आवश्यक कथा

आवश्यक चूर्णि, आ० जिनदास गणि महत्तर, रतलाम से सन् १९२८ मे प्रकाशित

आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु (द्वि०) रचित, हारिभद्रीया वृत्ति, हेमचन्द्र सूरि टिप्पणकम्, स० १९७६.

आवश्यक निर्युक्ति–अवचूर्णि

आवश्यक मलयगिरीया वृत्ति

आवश्यक वृहद्वृत्ति

आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति

Introduction by A. N. Upadhye on Pravachansara.

इन्वेजन आफ इण्डिया बाइ अलेक्जेण्डर–मैकक्रिडिलकृत

उत्तरपुराण, गुणभद्राचार्यकृत, भारतीय ज्ञान पीठ, दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी, स० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सवत् २०११

उत्तराध्ययन सूत्र, जीवराज घेलाभाई, अहमदाबाद

उत्तराध्ययन सूत्र–पाइय टीका–शान्तिसूरिकृता

उपदेश माला दोघट्टी वृत्ति, रत्नप्रभसूरि, धनजीभाई देवचन्द्र जौहरी, मिर्जा स्ट्रीट, बम्बई

Epitome of Jainism.

एरण की प्रशस्ति

ओघनिर्युक्ति–द्रोणाचार्यकृता टीका, प्र० श्री विजयानन्द सूरी जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा सूरत, सं० २०१४

औपपातिक सूत्र टीका अनुवाद घासीलालजी महाराज, प्र० अ० भारतीय श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, स० २०१५

कथासरित्सागर, सोमदेव भट्ट, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, ६. शक स० १८८३

नायाधम्म कहाओ, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, सन् १९१९
निरयावलिया सूत्र भाषा टीका, राय धनपत सिंह, ई० १९४१
निशीथ पूज्य घासीलालजी महाराज द्वारा अनूदित
निशीथ सूत्र–भाष्य, विसाहगणि, विशेष चूर्णि–जिनदास महत्तर, स० कवि अमरचन्दजी, मुनि कन्हैयालालजी कमल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
नीतिसार

पचकल्प चूर्णि–हस्तलिखित
पचकल्प भाष्य–सघदास गणि
पंचास्तिकाय प्राभृत जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य वृत्ति
प्रज्ञापना सूत्र–हारिभद्रीया वृत्ति
प्रबन्धकोश राजशेखर सूरि रचित, स० जिनविजयजी, प्रकाशक–सिंघी जैन ज्ञान पीठ, शान्ति निकेतन
प्रभावक चरित्र, आचार्य प्रभाचन्द्र, सिघी जैन ग्रन्थमाला, सन् १९२७
प्रभावती गुप्ता का पूना का दानपत्र
प्रवचनसार, ए एन उपाध्ये द्वारा सम्पादित सटीक
Introductory by A N Upadhye on Pravachanasara
प्रवचन सारोद्धार, नेमिचन्द्र सूरि रचित, प्रकाशक–देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार समिति, बम्बई सन् १९२२, १९२६
प्रश्न व्याकरण सूत्र–अनु० प० घेवरचन्द बाठिया, प्र० अगरचन्द भैरोदान सेठिया, बीकानेर
प्रश्न व्याकरण वृत्ति, अभयदेव सूरिकृता, प्र० राय बहादुर धनपतसिंह
प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन
पट्टावली समुच्चय, मुनि दर्शन विजयजी, प्र श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थमाला, वीरमगाँव (गुजरात)
पन्नवणा–मुनि श्री पुण्यविजयजी व प दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित
पन्नवणा सूत्र वृत्ति, प्र. रायबहादुर धनपतसिंह
Prof Hultzseh. corp. Inser. Indic. Pt. 1 Pref. xxxiii
Problems of Shaka & Satvahana History, Journal of the Bihar & Orissa Research Society, 1930

परिशिष्ट पर्व–आचार्य हेमचन्द्र रचित

बोध प्राभृत–श्रुत सागरी टीका

भगवती आराधना की विजयोदया टीका, अपराजित (यापनीय) रचित, प्र देवेन्द्रकीर्ति दि जैन ग्रन्थमाला, कारजा
भगवदी आराहणा–शिवार्य (यापनीय), प्र. देवेन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला, कारजा
भगवती सूत्र–प्र टी –पूज्य घासीलालजी म, प्रकाशक–भा श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट, १९६१
भगवती सूत्र–अ० श्री घेवरचन्दजी बाठिया, प्र०–जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना
भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, पूर्वार्द्ध मुनि ज्ञान सुन्दरजी, प्र०–श्री रत्न प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला फलौदी (मारवाड) सन् १९४३
भद्रबाहु चरित्र–रत्ननन्दिकृत
भविष्य पुराण
भाव प्राभृत–श्रुतसागरी टीका
भाव सग्रह–आ. देवसेन (विमलसेन के शिष्य), दर्शनसार के कर्त्ता से भिन्न

मत्स्य पुराण–प्र० नन्दलाल मोर, ५ क्लाइव रोड, कलकत्ता १, सन् १९५४

जैन ग्रन्थ ग्रौर ग्रन्थकार, श्री फतेचन्द बेलानी, सन्मति प्रकाशन, जैन सस्कृति सशोधक मण्डल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस, १६५० ई०

जैन धर्म का मौलिक इतिहास, ग्रा० हस्तीमलजी म. प्रकाशक—इतिहास समिति, लाल भवन, चौडा रास्ता जयपुर, ई० १६७१

जैन परम्परानो इतिहास, भाग १,२–त्रिपुटी

जैन शिलालेख सग्रह भाग १ श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ माला समिति हीरा बाग, पो गिरगाव, बम्बई

„ भाग २ „

„ भाग ३ „

„ भाग ४ डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी की प्रस्तावना

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १–४, श्री जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन

त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित्र, ग्राचार्य हेमचन्द्र

तत्वार्थ श्लोक वार्त्तिक, विद्यानन्द प्र० गाधी नाथारग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

तत्त्वार्थ सूत्र, उमा स्वाति

तत्त्वार्थाधिगम स्वोपज्ञ भाष्य उमा स्वाति

तपागच्छ पट्टावली, धर्म सागर गरिण रचित स्वोपज्ञ वृत्ति सहित, पन्यास श्री कल्याण विजयजी द्वारा सम्पादित

तित्थोगालिय पइन्ना, हस्तलिखित, प० दलसुख भाई मालवणिया, सचालक-लालभाई दलपत भाई, भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर ग्रहमदाबाद के सौजन्य से प्राप्त

तिलोय पण्णत्ती भाग १, यतिवृषभ, जैन संस्कृति रक्षक सघ शोलापुर सम्पादक –ए एन उपाध्ये ग्रौर प्रो० हीरालाल स० २०१२

दर्शनशुद्धि सटीक

दर्शनसार, देवसेनाचार्य विरचित, प्र० जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई

दशवैकालिक चूर्णि–ग्रगस्त्य सिह रचित

दशवैकालिक निर्युक्ति–भद्रबाहु (द्वितीय)

दशवैकालिक, स० श्री घेवरचन्द बाठिया, साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ सैलाना, स० २०१४

दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति

दशाश्रुत स्कन्ध–निर्युक्ति–भद्रबाहु (द्वितीय)

दी गुप्ता एम्पायर–बाई ग्रार० के० मुकर्जी

The Journal of the Royal Asiatic Society, 1920

दिव्यावदान

दीपमालिका कल्प, जिनसुन्दरसूरि, सं० २००६

दुषमाकाल श्री श्रमण सघ स्तोत्र ग्रवचूरि (पट्टावली समुच्चय प्र० भाग) प्र० श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला वीरमगाव (गुजरात)

नन्दीचूर्णि, जिनदास महत्तर, पुण्य विजयजी म० द्वारा सम्पादित, प्रकाशक–प्राकृत ग्रन्थ परिषद वाराणसी ५, ग्रहमदाबाद ६, १६६६ ई०

नन्दी मलय गिरीया वृत्ति, प्र० राय धनपतसिंह

नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली ग्रज्ञात कर्त्तृक, षट्खण्डागम भाग १ की डा० हीरालाल जी की प्रस्तावना–श्री दरबारीलालजी कोठिया से प्राप्त

नन्दी सूत्र, ग्रा० श्री हस्तीमलजी म० द्वारा ग्रनूदित, प्रकाशक–राय ब० श्री मोतीलाल मूथा, भवानी पेठ, सतारा सिटी

नन्दी सूत्र–पू० घासीलालजी म. प्रकाशक–ग्रखिल भा श्वे स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट

नन्दी सूत्र हारिभद्रीया वृत्ति

नाट्यदर्पण

तस्कन्ध-ब्रह्महेमचन्द्र विरचित, माणिक्य चन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला

ुतावतार इन्द्रनन्दी कृत

ीमद्भागवत महा पुराण, गीता प्रेस गोरखपुर

शान्तिनाथ चरित्र

षट्खण्डागम-धवला टीका (पूर्ण), प्र -जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर

सबोध प्रकरण, आ हरिभद्र, प्रकाशक-जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद

स्कन्द पुराण

स्कध गुप्त का जूनागढ शिलालेख

स्कध गुप्त का भितरी का स्तम्भलेख

स्थानॉग सूत्र घासी लाल जी म द्वारा सपादित, भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्वार समिति, राजकोट द्वारा प्रकाशित

स्थानाग सूत्र-टीका अभयदेव सूरि, प्रकाशक राय धनपत सिंह

समत भद्र-पडित जुगल किशोर मुख्त्यार

समदर्शी आचार्य हरिभद्र- प सुखलाल सघवी डी लिट्, प्रकाशक राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर १९३३ ई

समय प्राभृत कुन्दकुन्दाचार्य, प्रथम सस्करण ई १९१४

समय प्राभृतम् और प्राभृत सग्रह, प्र माणिकचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला, (पुष्प १७), वम्बई

सयवायाग अभय देवीया टीका

समवायाग सूत्र-टीका अनुवाद, पू घासीलालजी म, प्र भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट

समवायाग, प्र रायबहादुर धनपत सिंह

सर्वार्थ सिद्धि-देवनन्दि पूज्यपाद (जिनेन्द्रबुद्धि) रचित, प्रकाशक-सखाराम नेमिचन्द्र जैन ग्रन्थमाला सोलापुर

साङ्गधर पद्धति

सुत्तपाहुड-आ कुन्दकुन्द प्रणीत, षट् प्राभृतादि सग्रह, प्रकाशक-माणिकचन्द्र दि जैन गन्थमाला बम्बई

सूत्रकृताग, आ जवाहर लाल जी म. द्वारा अनूदित, प्रकाशक-शम्भूमल गगाराम मूथा, बैंगलोर

सुत्तागमे प्रथमो असो स पुप्फभिक्खु, प्र सूत्रागम प्रकाशक समिति, रेल्वे रोड, गुडगाव छावनी, १९५३ ई

Sacred Books of the East, Vol 22 by Hermann Jacobi

हरिवश पुराण, आ जिनसेन (पुन्नाट सघीय) प्रणीत स प पन्नालाल जैन साहित्याचार्य प्र भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६२

हरिवश पुराण-कृष्ण द्वैपायन,

हरिषेण द्वारा कोशाम्बी मे उट्टंकित करवाया हुआ समुद्र गुप्त का (इलाहाबाद स्थित) स्तम्भ लेख

हिमवन्त स्थविरावली (हस्तलिखित), मुनिश्री कल्याण विजयजी से प्राप्त

History of the Guptas, by Dandekar

विशेष–सूची मे दिये गये ग्रन्थो के अतिरिक्त उपलब्ध सम्पूर्ण आगम साहित्य और अनेक ग्रन्थो से सहायता ली गई है। उन सब की सूची देना सभव नही।

मनुस्मृति–सं० स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, पुस्तक मन्दिर, मथुरा, स० २०१६
मलयगिरीया पिण्ड निर्युक्ति टीका
महापुराण–जिनसेन (धवलाकार) प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० १६५१
महापुराण पुष्पदन्त रचित
महाभारत कर्ण पर्व, गीता प्रेस गौरखपुर
महावीर चरित्, गुणचन्द्रगणि
महावीर चरित्-कवि रयधू (हस्त लिखित), प हीरालालजी शास्त्री, ब्यावर नसिया के सौजन्य से प्राप्त
महावशो-वौद्ध भिक्षु धेनुसेन (लका) रचित
मालविकाग्नि मित्रम्-कालिदास
मुण्डकोपनिषद् प्र० गीताप्रेस गोरखपुर
मुद्राराक्षस-विशाखदत्त
मूलाचार-वट्टकेर रचित
मेरुतु गीया स्थविरावली, जैन साहित्य सशोधक खण्ड २ अक २

Monier Monier Dictionary, by Sir Villiam Monier
मौर्य साम्राज्य का इतिहास, के पी जायसवाल द्वारा लिखित भूमिका

योग विन्दु सार
योग शास्त्र-हेमचन्द्राचार्य स्वोपज्ञ टीका सहित

रत्नमाला
रत्न सचय प्रकरण
राजवार्त्तिक-अकलक
ऋषि मण्डल स्तोत्र

लिंग पाहुड-पट् प्राभृतादि सग्रह, प्रकाशक माणिकचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला, वम्बई
लोक विभाग (सस्कृत) सिंहसूरर्षि रचित

वृहत्कथा कोश हरिषेणकृत, भारतीय विद्या भवन
वृहत्कथा मजरी-क्षेमेन्द्रकृत
वृहत्कल्प टीका-क्षेत्रकीर्तिकृता
वृहत्कल्पपीठिका-मलयगिरीया टीका
वृहत्कल्प सूत्र, पुण्य विजयजी म द्वारा सपादित, भाग १ अत्मानद जैन सभा, भावनगर सन् १६३३-१६४२.
वृहद् आरण्यकोपनिषद्

वसुदेव हिण्डी, प्रथम अश-सघदास गणी, प्र श्री जैन आत्मानन्द सभा सन् १६३०
वायुपुराण, दूसरा खण्ड, स. श्रीराम शर्मा, प्र. सस्कृति सस्थान, वरेली (उ प्र), १६६७-ई.
वासवदत्ता–भासरचित

विक्रम चरित्रम्-शुभ शील गणि रचित, (हस्त लिखित), आचार्य श्री विनय चन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर के सौजन्य से प्राप्त
विक्रम स्मृति ग्रन्थ, प्रकाशक-सिन्धिया ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, ग्वालियर
विचार श्रेणि (परिशिष्ट सहित), जैन साहित्य सशोधक, ख २, अक ४ मे प्रकाशित
विधिपक्ष पट्टावली-भावसागररचित
विशेपावश्यक भाष्य मलधारी हेमचन्द्र टीका
विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ टीका, जिनभद्र क्षमाश्रमण, लालभाई दलपत भाई भारतीय स वि. अहमदावाद

V. A. Smith's Ashoka, P I. Cambridge History.

वीर निर्वाण और जैन कालगणना, मुनि कल्याण विजयजी प्रकाशक–क वि. शास्त्र समिति, जालोर (मारवाड) सवत् १६८७
वीर वशावली अथवा तपागच्छ वृद्ध पट्टावली, जैन साहित्य सशोधक, खड १, अक ३ मे प्रकाशित
वीर वर्द्धमान चरित्र, भट्टारक श्री सकलकीर्ति

श्राद्ध दिनकृत्य

101) श्रीमती लीलावती वहन हीरालालजी जोधपुर
101) श्री नेमीचदजी पारसमलजी दफतरी रायचूर
100) " मागीलालजी के मेहता
101) " मागीलालजी जोधपुर
151) श्रीमती धर्मपत्नी श्री भवरलालजी सुराणा वीकानेर
501) श्री तेजराजजी उदयराजजी रूणवाल विजापुर
101) " जडावमलजी माणकचदजी वेताला बागलकोट
101) " छोटेलालजी पालावत अलवर
311) " शातीलालजी दुर्लभजी जवेरी जयपुर
201) " भीकमचदजी मोदी
100) श्रीमती अजीला देवी
101) श्री भवरलालजी छाजेड
100) " लादूरामजी
200) " हेमराजजी डागा जोधपुर
101) " चम्पालालजी पाली
201) " जमनी सहायजी सुराणा जयपुर
201) " गणेशमलजी चम्पालालजी
500) श्रीमती चक्का बाईजी जयपुर
501) श्री एम भण्डारी एण्ड सन्स मद्रास
101) " मागीलालजी डागा जोधपुर
501) " खुशालचदजी वावूलालजी वरमेचा लासलगाव
101) श्रीमती विदाम बाई बोथरा कवर्धा
151) श्री वीरेन्द्र कुमारजी पारख दिल्ली
201) " महेन्द्र कुमारजी लोढा आगरा
171) " पदमचदजी नाहर दिल्ली
151) श्रीमती विद्याकुमारी जयपुर
101) श्री वैकुण्ठ नाथजी पाडे जयपुर
251) " धर्मचदजी जैन वम्बई
151) " जिनुभाई जैन वम्बई
151) श्रीमती धापुवाईजी पुष्कर
201) " धापुवाईजी आचलिया, गोयला
125) " वरजुबाई पीपाडा, भिणाय
201) " अनोपबाई बाफणा माडलगढ
101) " जडाव कु वरबाई चोरड़िया जोधपुर
151) " रुखमाबाई भसाली जोधपुर
151) " नीमजीवाई मूथा जोधपुर
201) " सु दरबाई गाग अहमदाबाद
101) श्री मिश्रीमलजी मूथा लाक
501) " सुमन कुमारजी कु भट मद्रास
302) " डी सुगनचदजी जैन बेंगलोर
201) " किसनलालजी वम्व विल्लीपुरम
501) श्रीमती मनोहर बाई डागा जोधपुर
201) श्री मगनराजजी धरमचदजी नाहर कोसाणा
101) " ज्ञानचदजी चोरडिया जयपुर
201) " जे शातीलालजी महावीर प्रसादजी मैसूर
302) " हुकमीचदजी डोसी बेंगलोर
402) " एल के जवाहरलालजी मोतीलालजी बेंगलोर
201) " टी पुखराजजी एण्ड कम्पनी मैसूर
201) " चदनमलजी उमेदराजजी मैसूर
201) " एच वी घीसूलालजी एण्ड सन्स मैसूर
201) " श्री मागीलालजी प्रकाशचदजी रुणवाल मैसूर
201) " मिश्रीलालजी फूलचदजी डल्ला मैसूर
201) श्रीमती सायरबाई, पत्नी श्रीतेजराजजी भडारी, मैसूर
101) श्री जुगराजजी पुखराजजी मैसूर
101) " चम्पालालजी सुराणा मैसूर
101) " के प्रकाशचदजी एण्ड कम्पनी मैसूर
201) " माणकचदजी पुखराजजी छलाणी मैसूर

३. अर्थ सहायकों की सूची

स्तम्भ सदस्य

3001) श्री वर्द्धमान स्थानक वासी जैन सघ बालोतरा
3000) " इन्द्रनाथ जी मोदी जोधपुर
3000) " गणेशमलजी जयवन्तराजजी एदलाबाद
3000) " पृथ्वीराजजी कवाड मद्रास
3000) " मुनिमलजी सिघवी जोधपुर
3101) " भन्डारी एण्ड सन्स मद्रास
3001) " पी. एम दुगड मद्रास
3001) " सुरेशमलजी दुगड मद्रास
3001) " किरोडीमलजी उमरावमलजी (मद्रास) ट्रस्ट मार्फत किरण कुमारी सुराणा
3000) " मोहनमलजी दुगड चेरिटेबल ट्रस्ट मद्रास
3000) " दलीचदजी उकारलालजी राका सैलाना

सहायक संरक्षक सदस्य

1000) श्री फतेचंदजी मूलचदजी सुराणा पाली
1501) " भुरालालजी धर्मीचन्दजी पालडेचा धनोप
1001) " लालचदजी भवरलालजी गोठी मद्रास
1000) " माणकचदजी नाहर बरेली
1000) " थानचदजी मेहता जोधपुर
1502) " सुगनमलजी भोपालचदजी पगारिया बेगलोर
1001) " मूथा कालूरामजी चादमलजी रायचूर
1501) " मुकनचदजी खुशालचदजी रायचूर
1001) श्री जालमचदजी रिखवचदजी बाफणा भोपालगढ
1001) श्रीमती गुलाबबाई, पत्नी श्री चोथमलजी बोहरा रायचूर
1001) श्री आनदराजजी मूथा बम्बई
1001) श्रीमती पानकवर बाई बिलाडा
1000) श्री हस्तीमलजी तपसीचदजी नाहर कोसाणा
1001) " सुगनमलजी गणेशमलजी भण्डारी बेगलोर
1000) " ताराचदजी गेलडा ट्रस्ट मद्रास
1001) " इ दरचदजी धनराजजी धोका आधोनी
1003) " भवरलालजी सुरजमलजी भण्डारी, चेतपेठ
1002) " घेवरचदजी जसराजजी गोलेछा, बेगलोर
1001) " तिलोकचदजी सचेती मद्रास
1001) " -शोक कुमारजी कु भट मद्रास
1001) " कल्याणमलजी कनकमलजी चोरडिया मद्रास
1001) " चेनराजजी मेहता मद्रास
1001) " सुमेरमलजी चोरडिया मद्रास
1001) " रिखबचदजी काकरिया मद्रास
1001) " गजराजजी मूथा मद्रास

साधारण सदस्य

150) श्री मोहनमलजी भवरलालजी देवलिया कला
200) श्रीमती कचन कुमारी सुराणा जयपुर
100) श्री जतनलालजी मोहनलालजी नवलखा जयपुर
101) " चोथमलजी मुलतानमलजी छाजेड़ सुदापुर

४. 'प्रथम भाग' पर प्राप्त विद्वानों की सम्मतियाँ

महाराष्ट्र मंत्री एवं प्रवर्तक श्री विनय ऋषिजी म सा

ग्रन्थ क्या है, मानो साहित्यिक विशेषताओ से सपृक्त एक महनीय कृति है, जो भारती भण्डार मे, विशेषत जैन साहित्य मे श्री वृद्धि के साथ साथ एक महती आवश्यकता की सपूर्ति करती है ।

यह ग्रन्थ इतिहास, पुरातत्त्व और शोधनकार्य के साथ ही साथ अध्येता विद्वज्जनो एव साधारण पाठको की ज्ञान-पिपासा को एक साथ पूर्ण करता है । ' ' यह नवोदित सर्वोत्तम ग्रन्थ रत्न है ।

आत्मार्थी मुनि श्री मोहन ऋषिजी म. सा

बहुत वर्षो की साधना और तपश्चर्या के पश्चात् श्री उपाध्यायजी की कृति समाज के सामने आई है । इतनी लगन के साथ इतना परिश्रम आज तक शायद ही अन्य किसी लेखक ने किया होगा ।

भावी पीढी के लिये उनकी यह अपूर्व देन सिद्ध होगी ।

पं रत्न श्री प्रतापमलजी म. सा

... पुस्तक प्रथम दर्शन से ही चित्त को आकर्षित करने वाली है । चौबीस तीर्थंकरो से सम्बन्धित सम्पूर्ण जानकारी इसी ग्रन्थराज मे उपलब्ध है ।

इतिहास-जिज्ञासुओ के लिये पर्याप्त सामग्री का यह एक अपूर्व भण्डार है ।

सम्यग्दर्शन (सैलाना) २० मार्च, १९७२
समीक्षक. श्री उमेश मुनि 'अणु'

इतिहास की नूतन विधा पश्चिम जगत् की देन है । फिर भी यह मानना भ्रान्त होगा कि प्राचीन भारत के मनीषी, इतिहास रूप साहित्य विधा से बिलकुल अपरिचित थे । वैदिको ने पुराणो मे इतिहास निबद्ध करने का प्रयत्न किया । जैन आचार्यो ने कालचक्र के अवसर्पिणी उत्सर्पिणी रूप विभागो के अनुसार घटना क्रम को सयोजित करके, इतिहास को सुरक्षित करने का प्रयास किया ।

....यह तीर्थंकर खण्ड है । इसमे तीर्थंकरो के पूर्व भवो और जीवन के विषय मे लेखन हुआ है । तीर्थंकरो के पूर्वभवो को आज के इतिहासविद् शुद्ध इतिहास के रूप मे स्वीकार नहीं कर सकते क्योकि आधुनिक इतिहास-लेखन भौतिकवाद की भित्ती पर प्रतिष्ठित है ।

भ० महावीर के विषय मे प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री का विपुल मात्रा मे उपयोग किया गया है । प्रभु वीर के भक्त राजाओ का परिचय भी दिया गया है । कुछ भ्रांतियो (मांसाहार, पासत्य, श्रेणिक और कूणिक के धर्म आदि से सम्बन्धित) का निरसन भी किया गया है ।

201) श्री रांका ओटो फाइनेन्स कारपोरेशन बेगलोर
101) " पुखराजजी चम्पालालजी मूथा बेगलोर
101) " मीठालालजी राजेन्द्र प्रसादजी बेगलोर
201) " मोहन क्लोथ कारपोरेशन बेगलोर
101) " मिश्रीलालजी सुरजमलजी मरलेचा बेगलोर
201) " सम्पतलालजी सिरेमलजी मरलेचा बेगलोर
101) " कस्तुरचदजी कुदनमलजी लुकड बेगलोर
101) " जेठमलजी चोरडिया बेगलोर
201) " शकरलालजी खीचा बेगलोर
201) " सेठ शम्भुमलजी गगारामजी बेगलोर
101) " चम्पालालजी चेतनप्रकाशजी डूगरवाल बेगलोर
101) " हिम्मतमलजी भवरलालजी बाठिया बेगलोर
101) " भवरलालजी शकरलालजी बेंगलोर
101) " नवरतनमलजी बेगलोर

101) श्री गोविंदरामजी प्यारेलालजी मेहर बेगलोर
101) " बिरदीचदजी अर्जुनलालजी पितलिया बेगलोर
101) " हीरालालजी बन्सीलालजी बैंकटलालजी धोका बेगलोर
101) " सूरजमलजी कुन्दनमलजी बाफणा बेगलोर
101) " मिश्रीलालजी मदनलालजी कटारिया बेगलोर
201) " हीरालालजी चादमलजी बेगलोर
101) " बदनमलजी धरमीचदजी भण्डारी बेगलोर
101) " जवाहरलालजी जयप्रकाशजी दफ्तरी बेगलोर
101) " चम्पालालजी मगलचदजी सुराणा नागौर
101) " कानमलजी छगनलालजी सुराणा नागौर

इनके अतिरिक्त तीन सज्जनो ने क्रमश: 100), 351) एव 100) की राशिया प्रदान की है, जो अपने नाम का प्रकाशन नही चाहते ।

तीर्थंकरो के जीवन की प्रामाणिक सामग्री प्राप्त कराने के लिये आचार्यश्रीजी ने जो महान परिश्रम उठाया है, उसे देख कर कोई भी व्यक्ति धन्यवाद दिये विना नही रह सकता।

डॉ० रघुवीरसिह, एम ए डी लिट्, सीतामऊ (मध्यप्रदेश)

२७ जनवरी, ७२ का पत्राश

अब तक जैन धर्म का प्रामाणिक पूरा इतिहास कही भी और विशेष कर हिन्दी मे तो अवश्य ही देखने को नही मिला था, अतएव इस ग्रन्थ के प्रकाशन से वह बहुत बड़ी कमी कई अंशो मे पूरी होने जा रही है। अत इस ग्रंथ के प्रकाशन का मै हृदय से स्वागत करता हूँ। हर्मन जेकोबी आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने अवश्य ही जैन धर्म के इतिहास की ओर कुछ ध्यान दिया था, तथापि इधर प्राचीन भारतीय इतिहास विषयक संशोधको और इतिहासकारो ने जैन धर्म के इतिहास तथा तत्सम्बन्धी आधार-सामग्री की प्राय उपेक्षा ही की है। जैन धर्म के इतिहास की आधार सामग्री अधिकतर अर्ध मागधी आदि प्राच्य भाषाओ मे प्राप्य है एव उनका सम्यक् ज्ञान और अध्ययन नही होने के कारण भी इतिहासकारो ने उक्त सामग्री मे प्राय जानकारी की ओर ध्यान नही दिया था, तथापि जो कुछ ज्ञात हो सका है उससे यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे तो अवश्य ही जैन धर्मावलम्बियो की भारतीय इतिहास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, अतएव प्राचीन भारतीय इतिहास के उस पहलू का पूरा पूरा अध्ययन किये विना तत्सम्बन्धी सही परिप्रेक्ष्य की जानकारी नही हो सकेगी। मेरा विश्वास है कि उस दृष्टि से भी जैन धर्म का यह मौलिक इतिहास विशेष रूप से उपयोगी और सहायक होगा। अत इसके आगे के भागो की भी प्रतीक्षा रहेगी।

प्रागैतिहासिक काल के विवरण को जैन ग्रंथो के आधार पर प्रस्तुत कर उस काल पर आगे शोध करने वालो को तत्सम्बधी अधिक जानकारी और अध्ययन मे बहुत बडी सहायता दी गई है। प्रारम्भिक तीर्थंकरो के काल आदि की समस्या अवश्य उठती है। तत्सम्बधी जैन परम्पराओ का अब तक अध्ययन और विश्लेषण नहीं हुआ, क्योंकि सुनिश्चित रूप मे सुबोध ढग से वह इतिहासज्ञो को सुलभ नही थी। अत अब इस मौलिक इतिहास मे प्रस्तुत विवरण के आधार पर वह भी भविष्य मे सम्भव हो सकेगा।

जैन धर्म के तत्त्वो आदि की भी सरल सुबोध ढग से व्याख्या की गई है। यो इस ग्रन्थ को बहुविध जानकारो से परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। जैन धर्म ही नही भारतीय सस्कृति और पुरातन परम्पराओ के इस पहलू विशेष की जानकारी के इच्छुको के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होगा। अत यह बात निस्सकोच कही जा सकती है कि हिन्दी साहित्य की विशेष उपलब्धि के रूप मे इस ग्रन्थ को विशेष स्थान प्राप्त होगा।

पं. हीरालाल शास्त्री (नसियां, ब्यावर)

मैने इसका आद्योपान्त अध्ययन किया। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मे एतद् विपयक ग्रन्थो का मनन करके **जिस निष्पक्षता से यह ग्रंथ लिखा गया हैं, उसके लिये इसके लेखक-निर्देशक आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज एव सम्पादक मण्डल का जैन समाज सदा ऋणी रहेगा।** प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे होने वाले शलाका पुरुषो एव अन्य प्रसिद्ध पुरुषो का चरित-चित्रण करके सक्षेप मे **अनेक ग्रन्थो के सार का दोहन** कर लिया गया है। आज

भ० महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध के निर्वाण काल को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है।

पूज्य श्री की सैद्धान्तिक दृष्टि इस लेखन में बराबर स्थिर रही है। भाषा प्रवाहपूर्ण और सरस है। कथा-रस-प्रेमी और इतिहास-प्रेमी दोनो की रुचि को सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य है-इस ग्रन्थ मे। इतनी विशाल पृष्ठभूमि पर तीर्थंकरों के विषय में एक ही ग्रन्थ में प्रमाण पुरस्सर आलेखन का मेरी दृष्टि में यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास है। ऐतिहासिक अन्वेषको के लिए, यह ग्रन्थ बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है।

इसमें पहली बार गवेषणात्मक ढंग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया गया है। इसी क्रम मे जैनेतर स्रोतो का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से लिखते हुए तथ्यों की अतिरंजता से बचा गया है। सक्षेप मे कहे तो ग्रन्थ में इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे तीर्थकरो के बारे मे उपलब्ध तथ्यों, साक्ष्यो आदि का समावेश करते हुए एकांगी दृष्टिकोण न अपना कर सही मूल्यांकन करने मे सफलता प्राप्त की है।

तथ्यों के प्रतिपादन को शैली सुबोध और रोचक है जो लोक भाषा की समन्वित छटा साधारण पाठकों को भी सपूर्ण ग्रन्थ पढने के लिये आकर्षित करती है। हमें विश्वास है कि इतिहास के विद्यार्थी की तरह ही साधारण पाठको द्वारा भी ग्रन्थ का पठन-पाठन किया जायेगा।

मुद्रण निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है।

मालव केशरी श्री सौभाग्य मुनिजी महाराज सा.

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास, तीर्थंकर-खण्ड" देखा। मन प्रसन्नता से भर उठा। तीर्थकरो की ये जीवनिया इतिहास के अध्येताओ के लिये तर्कसम्मत और उपयोगी सिद्ध होगी। सरस सुबोध शैली एव सरल भापा विद्वान् आचार्य महाराज की अपनी विशेषता है। प्रयास बहुत ही सुन्दर है।

मधुकर मुनिजी

... इतिहास का आलेखन वस्तुत. सरल नही माना जाता। उसके आलेखन मे प्रमुख आवश्यकता होती है तटस्थता की और सजग रहने की।

अनेक पुरातन व नव्य भव्य ग्रन्थो का अध्ययन-अवलोकन करके आचार्य श्री जी ने जो यह ग्रन्थ तैयार किया है, उसमे वे काफी सफल हुए है, ऐसा मेरा अभिमत है।

जैन साध्वी श्री उमराव कंवरजी म सा.

... इस इतिहास के सम्यक्तया पठन से जैन धर्म की मौलिक इतिवृत्तात्मक परम्परा का सुविशद ज्ञान हो जाता है। वस्तुत: एतद्विपयक अभूतपूर्व इतिहास का निर्माण कर के परम श्रद्धेय गुरुदेव ने जैन समाज को ही नही अपितु जैनेतर जिज्ञासुओ को भी उपकृत किया है।

परम विदुषी महासतीजी श्री उज्वल कुमारीजी महाराज सा.

चौबीस तीर्थंकरो के दिव्य जीवन सुललित और साहित्यिक भाषा मे तथा भव्य भावो मे प्रस्तुत ग्रन्थ मे लिखे गये है। यह ग्रन्थ लिखकर आचार्य श्री जी ने एक वडी भारी आवश्यकता की पूर्ति की है।

भी उल्लेख्य है। भावो को व्यवस्थित रूप मे प्रकट करने वाली प्रवाहपूर्ण ऐसी भाषा बहुत कम विद्वानो के ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है। ...

समालोच्य रचना एक ऐसे अभाव की पूर्ति करती है, जो सैकडो वर्षो से जैनमनीषियो को खटक रहा था लेकिन आस्था-विश्वास की कमी के कारण कोई निष्ठावान् इतिहास का विद्वान् आगे बढने का साहस नही कर पा रहा था। इस ग्रन्थ मे मौलिकता का प्राधान्य है। साहित्यसाधना के लिये समर्पित सन्त ही ऐसे महान् कार्य कर सकते है।

परिस्थितियो का चित्रण इस रचना की एक विशेषता है। इस इतिहास से ऐसे कई तथ्य प्रकाश मे आए है जो ऐतिहासिक पीठिका को बलवती बनाते है जिसमे प्रसिद्ध इतिहासकारो को भी अपनी मान्यताओ को परिवर्तित करना होगा। आचार्य श्री की यह साहित्य-साधना युग-युगो तक स्मरणीय रहेगी। ऐसे महिमामय ग्रन्थ को प्रकाशित कर जैन इतिहास समिति साधुवाद के सर्वथा योग्य है।

डॉ० महावीर सरन जैन एम ए, डी फिल, डी लिट्

अध्यक्ष– स्नातकोत्तर हिन्दी एव भाषा विज्ञान विभाग,

जबलपुर विश्वविद्यालय

... जैन धर्म का मौलिक इतिहास, तीर्थकर खण्ड मैंने आद्योपान्त पढा। जैन धर्म के चौबीस तीर्थकरो के सम्बन्ध मे प्रचुरमात्रा मे नये तथ्यो का उद्घाटन एव विवेचन हुआ है। इस इतिहास की सब से बडी विशेपता यह है कि इसमे उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग तथा दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ की मान्यताओ का प्रतिपादन किया गया है।

समीक्षा

आकाशवाणी, जयपुर

समीक्षक-स्व० श्री सुमनेश जोशी

.. प्रस्तुत खण्ड मे चौवीस तीर्थकरो के सम्बन्ध मे प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थो के प्रकाश मे अनुशीलनात्मक प्रामाणिक और सुव्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की गई है और साथ ही उन बातो का निरसन किया गया है जो भ्रामक थी। आचार्यश्री ने तय किया है कि वर्तमान ग्रन्थ सामान्य पाठको के लिये सरल, सुबोध शैली मे प्रस्तुत किया जाय, उन्हे इस प्रयास मे पूर्ण सफलता मिली है। परिशिष्ट मे जो चौबीस तीर्थकरो के सम्बन्ध मे अलभ्य ऐतिहासिक सामग्री वर्गीकृत ढग से दी है, उसने ग्रन्थ की महत्ता को कई गुना बढा दिया है।

जैन परम्परा के तीर्थकरो के सम्बन्ध मे एक साथ इतने व्यवस्थित रूप से सभवत पहली बार ही इतिहास ग्रन्थ तैयार किया गया है। जैन और जैनेतर उन सभी लोगो के लिये ग्रन्थ अत्यन्त महत्व का है जो जैन परम्परा के चोबीसो तीर्थकरो के जीवनवृत्त, कठोर तप साधना और उनके उदात्त चरित्रो को जानना चाहते है।

श्री कैलाशचन्द्र जैन

.... इसको पढने से मुझे अनेक महत्वपूर्ण नई बातो की जानकारी प्राप्त हुई है। बहुत अच्छा होता कि इस ग्रन्थ मे यह भी विचार किया जाता कि जैन पुराणो के

के समय मे ऐसे ही जैन इतिहास के ग्रन्थ की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की जा रही थी, उसकी पूर्ति करके इतिहास समिति ने एक बडी कमी की पूर्ति की है, ग्रन्थ की छपाई-सफाई आदि बहुत उत्तम है, इसके लिए आप सर्व धन्यवाद के पात्र है। आशा है कि इसका द्वितीय भाग भी इसी के समान सर्वांग सुदर निकलेगा।

श्री अगरचन्द नाहटा

पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। काफी श्रम से तैयार की गई है। इससे कुछ नये तथ्य भी सामने आये है। दिगम्बर श्वेताम्बर तुलनात्मक कोष्टक उपयोगी है। ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी। आशा है इसका दूसरा भाग भी शीघ्रही प्रकाशित किया जायेगा।

जैन सन्देश (शोधांक) ३२, दि. २७ ९ ७३
समीक्षक-डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

··· चौवीस तीर्थकरो का चरित्र आधुनिक ऐतिहासिक शैली मे प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। यथा सम्भव श्वेताम्बर एव दिगम्बर उभय आम्नायो के साधनस्रोतो का उपयोग करते हुए दृष्टि को तुलनात्मक बनाये रखने की भी चेष्टा की गई है। ग्रन्थ के अन्त मे सक्षेप से महावीर निर्वाणकाल का भी विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध मे हमारी पुस्तक जैन सोर्सेज आफ दी हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया का भी उपयोग किया जा सकता था तथापि ग्रन्थ अति उत्तम, पठनीय एव सग्रहणीय हैं।····

श्री श्रीचन्द जैन, एम. ए , एल-एल बी
प्राचार्य एव उपाध्यक्ष, हिन्दी विभाग
सान्दीपनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उज्जैन (म.प्र.)

·······वस्तुत इतिहास लिखना तलवार की धार पर तीव्रगति से चलना है। इस कठिन साधना मे सफलता उसी विद्वान् को प्राप्त होती है, जिसके मानस मे सत्योपलब्धि की ललक अग्नि-ज्वाला के समान प्रज्वलित रहती है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. ने जिस सुनिश्चित एव व्यापक दृष्टिकोण को अपना कर जैन धर्म का मौलिक इतिहास लिखा है, वह उनकी सतत साधना का एक अविनश्वर कीर्तिस्तम्भ है। इसमे उनके विस्तृत अध्ययन, निष्पक्ष चिन्तन, अकाट्य तर्कशीलता एव अन्तर्मुखी आत्मानुभूति की निष्कलक छवि प्रस्फुटित हुई है। जिस प्रकार व्यग्र तूफानो की कसमसाहट मे नाविक का चातुर्य परीक्षित होता है, उसी प्रकार सहस्राधिक विरोधी प्रमाणो की पृष्ठभूमि मे एक मानवतावादी, दार्शनिक और ऐतिहासिक सत्य की स्थापना करना इतिहासकार की विवेकशीलता का द्योतक है। पूज्य हस्तीमलजी महाराज की लेखनी मे यह वैशिष्ठ्य सर्वत्र विद्यमान है। विद्वानो की यह एक मान्यता सी है कि इतिहास मे पर्याप्त शुष्कता होती है। फलत. पाठक उसके अनुशीलन से घवडाते है। लेकिन पूज्य आचार्य की शैली पूर्णरूपेण सरस है, भाषा प्राञ्जल है। ग्रन्थ मे सर्वत्र भापा शैली की

किन्तु-इस ग्रन्थ के तीनो परिशिष्ट कई तथ्यो का विहगावलोकन प्रस्तुत करते है। दिये गये तथ्य तुलनात्मक है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दृष्टिकोण को अनासक्त रूप मे प्रस्तुत करते है।

तथ्यो के प्रतिपादन की शैली सुबोध और रोचक है। इतिहास की नीरसता और शुष्कता की अपेक्षा साहित्य और सहज लोकभाषा की समन्वित छटा दिखायी देती है। इससे ग्रन्थ की पठनीयता मे वृद्धि हुई है। जैन विचार, आचार और सम्बन्धित महापुरुषो को लेकर उक्त ग्रन्थ मौलिक है और अपना पृथक स्थान रखता है।

हमे विश्वास है इसका इतिहास और धर्म के मर्मज्ञो मे समादर होगा और जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदाय इसकी समग्रता से प्रभावित होकर अधिक निकट आयेगे।

छपाई निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है, मूल्य सर्वथा उचित है।

श्रमण (वाराणसी) फरवरी, १९७२
समीक्षक-श्री हरिहरसिह

इस पुस्तक मे विद्वान् लेखक ने वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरो के जीवन सम्बन्धी घटनाओ का प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थो के आधार पर सुव्यवस्थित एव प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। ब्राह्मण एव जैन ग्रन्थो के आधार पर तीर्थकर अरिष्टनेमि की वशावली भी दी गई है। पुस्तक मे बहुत सी बातो का समुचित ढग से निराकरण किया गया है, जो अब तक संदेहात्मक थी। सभी तीर्थंकरो के बारे मे एक साथ इतने सुव्यवस्थित ढग से पहली ही बार लिखा गया है।

ऐतिहासिक तथ्यो की गवेषणा के लिये लेखक मे ब्राह्मण व बौद्ध साहित्य का भी उपयोग किया है। पुस्तक के तीन परिशिष्ट बडे ही महत्व के है। यह पुस्तक साधारण पाठको एव विशिष्ट अध्येताओ के लिये समान उपयोगी है। भाषा-शैली सरल एव प्रवाह पूर्ण है। ऐसे ग्रन्थ को प्रकाश मे लाने के लिये लेखक, सपादक और प्रकाशक बधाई के पात्र है।

जैन सन्देश २४ फरवरी, ७२
समीक्षक : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

…… यह प्रथम खण्ड है। इसमे २४ तीर्थकरो का इतिवृत्त आगमिक साहित्य के आधार पर दिया गया है। श्वेताम्बर साहित्य मे उक्त सम्बन्ध मे जो कुछ सामग्री मिलती है उसे बडे ही सुन्दर ढग से उपस्थित किया गया है। यथा स्थान दिगम्बर मान्यताओ और मत भेदो का भी निर्देश है। कही भी शैली मे साम्प्रदायिकता का अभिनिवेश नही आने पाया है।

अन्तिम पृष्ठो मे तीर्थकर को लेकर विविध मान्यताभेद श्वेताम्बर तथा दिगम्बर ग्रन्थो के आधार पर चार्टो द्वारा प्रदर्शित किये गये है जो बहुत उपयोगी है। पुस्तक पठनीय है, सग्राह्य है। लेखन की तरह प्रकाशन भी आकर्षक है। इस समय इसी तरह के सुन्दर प्रकाशनो की आवश्यकता है। हम इतिहास समिति को उसके इस सुन्दर प्रकाशन पर बधाई देते है।

आधार पर तीर्थंकरो से सम्बन्धित सामग्री अभी की खोज की गई पुरातात्विक सामग्री से कहा तक मेल खाती है। ऐसा करने से इस ग्रन्थ का महत्व अधिक बढ जाता।

अनेकान्त
श्री परमानन्द जैन शास्त्री

...... ग्रन्थ मे यथास्थान मतभेदो और दिगम्बर मान्यताओ का निर्देश किया गया है। लेखन शैली मे कही भी कटुता और साम्प्रदायिक अभिनिवेश का उभार नही होने पाया है। भाषा सरल एव मुहावरेदार है। उसमे गति एव प्रवाह है।

परिशिष्ट के चार्ट बहुत उपयोगी है। पुस्तक पठनीय और सग्राह्य है।

डॉ० कमलचन्द सोगानी

... इतिहास समिति, जयपुर एक बहुत ही उत्तम कार्य मे लगी है। आचार्यश्री के अथक परिश्रम ने ऐसी उत्तम पुस्तक हमे प्रदान की है।

तीर्थंकरो के परम्परागत इतिहास पर अभी तक कोई पुस्तक ऐसी व्यवस्थित देखने को नही मिली। इसमे लेखक ने सभी दृष्टियो से तीर्थंकरो के चरित्र लिखने मे सफलता प्राप्त की है। फुट नोट्स के मूल ग्रन्थो के सन्दर्भ से कृति पूर्ण प्रामाणिक बन गई है। ...

तीर्थंकर (इन्दौर) जनवरी, १९७२
समीक्षक : डॉ नेमीचंद जैन

आलोच्य ग्रन्थ इस दशक का एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रकाशन है। इसमे जैन तीर्थंकर-परम्परा को लेकर तुलनात्मक और वैज्ञानिक पद्धति से तथ्यो को आकलित, समीक्षित और मूल्याकित किया गया है। यो जैन धर्म के इतिहास को लेकर कई छुटपुट प्रयत्न हुए है, किन्तु उक्त ग्रन्थ का इस संदर्भ मे अपना स्वतन्त्र महत्व है। इसकी सामग्री प्रामाणिक, विश्वसनीय, व्यवस्थित और वस्तून्मुख है।

ग्रन्थ की महत्ता इसमे नही है कि इसने किस तीर्थंकर की कितनी सामग्री दी है वरन् इसमे है कि इसने पहली बार इतनी प्रामाणिक, वैज्ञानिक, विश्वसनीय, तुलनात्मक और गवेषणात्मक ढग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया है। समग्रता और समीक्षात्मक दृष्टि उक्त ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। दूसरी बात यह भी महत्वपूर्ण है कि इसमे न केवल अथक श्रम और सूक्ष्म आलोडन के साथ तथ्यो की समीक्षा हुई है वरन् सारा प्रकाशन एक सुव्यवस्थित ऐतिहासिक अनुशासन से बद्धमूल है। स्वतन्त्र गवेषणात्मक दृष्टि के कारण ही जैनेतर स्रोतो का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से लिखे जाने पर भी तथ्यो की अतिरजना से बचा गया है। आचार्य श्री हस्तीमलजी के सुयोग्य निर्देशन का मणि-कांचन योग सर्वत्र द्रष्टव्य है। उनके द्वारा लिखे गये प्राक्कथन ने ग्रन्थ के महत्व को स्वयमेव बढा दिया है। प्राक्कथन मे कई मौलिक तथ्यो पर पहली बार विचार हुआ है, यथा "तीर्थंकर और क्षत्रियकुल" "तीर्थंकर और नाथ सम्प्रदाय"। परिशिष्टो ने ग्रन्थ की उपयोगिता मे वृद्धि की है। प्राय जैन ग्रन्थो मे इतने व्यापक और तुलनात्मक परिशिष्ट नही देखे जाते

५. शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४	१४	हृदयथिग्र	हृदयग्र थि
२००	१६	त्रक्षे	क्षेत्र
२०१	२५	भ्रुमे	मुभे
२२२	१५	जम्बूकुसार	जम्बूकुमार
२५०	नीचे से २	डडीसा	उडीसा
२६६	२	रहती है	रहती थी
२९२	८	विन्ध्याचल	विन्ध्याचल
४०४	१७	अभिप्सित	अभीप्सित
४१४	नीचे से ६	भद्रबाहु	स्थूलभद्र
५३५	,, ८	तिर्वाण	निर्वाण
५४७	,, १	लगभ	लगभग
५५०	१०	१८	१७ (२१)
५५२	१५	१८	१८ (२२)
५५५	नीचे से १०	प्रतिकाना	प्रतिमाना
५७३	३	कुण्डमाण्डपाक	कूष्माण्डपाक
५८९	१०	२३	१९ (२३)
६९४	नीचे से ३	वज्र	रक्षित
६०७	,, १	Movier	Monier
६३१	१	२०	२० (२४)
६४८	५	२१	२१ (२५)
६५३	१३	२२	२२ (२६)
६५४	१०	२३	२३ (२७)
६५६	नीचे से ६	थम	प्रथम
६६३	१	आर्य गोविन्द	(२८) आर्य गोविन्द
६६४	१८	२४	२४ (२९)
६७४	१५	२५	२५ (३०)
६७४	२५	२६	२६ (३१)
६७५	१७	२७	२७ (३२)
७०३	२२-२३	पट्टावली	पट्टावली

श्री स्थानकवासी जैन (अहमदाबाद) २० फरवरी, २७

··· आपणा स्था० जैन समाज मा जैन परम्पराना इतिहास नी खूब जरूरत छे, ते ध्यान माँ लई आचार्यवर पू. श्री हस्तीमलजी महाराज सा. आ दिशा माँ पोतानो प्रयास शुरू कर्यो छे। दरेक तीर्थंकर ना समय नी बनेली विशिष्ट घटनाओ नो सप्रमाण उल्लेख कर्यो छे। परिशिष्टमा तीर्थंकरो नी जाणवा योग्य विस्तृत माहिती आपी छे। प्रमाणो साथे रजु करेल आ इतिहास आवकार पात्र छे। दरेक ग्रन्थालयो माटे दर्पण रूप छे। पू. श्री ना आ भगीरथ प्रयास ने अमे आवकारीए छीए।

डॉ० भागचन्द्र जैन एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

······ इसमे यत्र-तत्र जैनेतर साहित्य का भी भरपूर उपयोग किया गया है। शास्त्र के विपरीत न जाने का विशेष ध्यान विद्वान लेखक ने रखा है। फिर भी दिगम्बर जैन परम्परा के और बौद्ध तथा वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे समाहित ऐतिहासिक तथ्यो को यथास्थान उद्घाटित करने का महाराज सा० का प्रयत्न सराहनीय है।

भाषा, भाव, शैली और विषय की दृष्टि से लेखक निःसन्देह अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे सफल हुआ है। ऐसे महनीय ग्रन्थ के लिए लेखक और सम्पादक मण्डल धन्यवाद के पात्र है।